A Dhanwantari Special devoted to the treatment part of Charaka Samhita with translation of the original text and exhaustive up-to-date notes]

अनुवादक, व्याख्या[illegible]

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेदवाचस्पति

अध्यक्ष—आरोग्याश्रम सिकन्दराराऊ तथा पुरदिलनगर चिकित्सालय पुरदिलनगर (अलीगढ़)

सम्पादक

वैद्य देवीशरण गर्ग आयुर्वेदोपाध्याय

ज्वालाप्रसाद अग्रवाल बी. एस-सी.

जनवरी—फरवरी

चरकोक्त मान

चरकचिकित्साङ्क में सर्वत्र पल, द्रोण, प्रस्थ, आढकादि शब्दों को मूल में जैसा लिखा है वैसा ही इसलिए दे दिया है कि वाचक को पाठ लगाने में सुविधा हो। पर व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम यथावश्यक यहां पर श्री त्रिवेदी जी द्वारा सम्पादित और धन्वन्तरि कार्यालय द्वारा प्रकाशित सुप्रसिद्ध भैषज्यकल्पनाङ्क से चरकीय मान और आधुनिक स्वरूप प्रगट कर रहे हैं। विशेष ज्ञान के लिए भैषज्यकल्पनाङ्क का अवलोकन करना चाहिए।

४ माषा = १ शाण (आधुनिक ३ माषा)

२ शाण = १ कोल, क्षुद्रक, वटक या द्रंक्षण (आधुनिक ६ माषा)।

२ कोल = १ कर्ष, पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्पाणि, तिन्दुक, बिडालपद, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह या उदुम्बर (आधुनिक १ तोला)।

२ कर्ष = १ शुक्ति, अर्धपल, या अष्टमिका (आधुनिक २ तोला)।

२ शुक्ति = १ पल. मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी या बिल्व (आधुनिक ४ तोला)

२ पल = १ प्रसृति या प्रसृत (आधुनिक ८ तोला)।

२ प्रसृति = १ कुडव, अञ्जलि, अर्ध शराव, या अष्टमान (आधुनिक १६ तोला)।

२ कुडव = १ शराव, मानिका, या अष्टपल (आधुनिक ३२ तोला)

२ शराव = १ प्रस्थ, १६ पल (आधुनिक १? छटांक ४ तोला)।

४ प्रस्थ = १ आढक, भाजन, कंसपात्र या ६४ पल (आधुनिक ३ सेर ३ छ० १ तो०)

४ आढक = १ द्रोण, कलश, नल्वण, अर्मण उन्मान, घट या राशि, २५६ पल (आधुनिक १२ सेर १२ छ० ४ तो०)।

२ द्रोण = १ शूर्प या कुम्भ या ६४ शराव या ५१२ पल (आधुनिक २५ सेर ६ छ० ३ तोला)।

२ शूर्प = १ द्रोणी, वाही या खारी १०२४ पल (आधुनिक १ मन ११ सेर ३ छ० १ तोला)।

४ द्रोणी = १ खारी या ४०९६ पल (आधुनिक ५ मन ४ सेर १२ छ० ४ तो०)।

१ भार = २००० पल (आधुनिक २ मन २० सेर)

१ तुला = १०० पल (आधुनिक ५ सेर)।

मात्रा—जिन योगों में मान की निश्चित मात्रा नहीं दीगई वहां आयुर्वेदीय कल्प विज्ञान के आधार पर मान का निर्णय किया जाना चाहिए।

द्रवद्वैगुण्य—द्रव या तरल पदार्थों का जहां प्रयोग है वहां द्रवद्वैगुण्य मानकर चलने वाले दुगुना पदार्थ ले सकते हैं। तरलों से अभिप्राय जल और जलीय घोलों से लेना चाहिए ताकि योग निर्माण में उनके प्रयोग से अच्छी क्रिया होजावे तथा अवशेष मन्थ में जितना लिखा है उतना ही रखें जैसे ४ गुने जल में सोंठ उबाल चतुर्थांश शेष रखने को कहा हो तो ८ गुने [illegible] कर उसका अष्टमांश शेष रखें इससे योग में पूरा ओषधिखार आग [illegible]ारिष्टों में जिन्हें उबालकर संधान करना हो द्रवद्वैगुण्य अच्छा काम

[illegible]य के बिना यथावत् योग का निर्माण करना सदैव श्रेयस्कर है।

★ प्रकाशकीय-निवेदन

१—पांच माह के कठिन परिश्रम, दौड़-धूप, विपुल धनव्यय के परिणाम स्वरूप तैयार हुआ इस वर्ष का विशेषाङ्क "चरक चिकित्साङ्क" कृपालु ग्राहकों, आयुर्वेद-विद्वानों तथा आयुर्वेद प्रेमियों की सेवा में उपस्थित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है वैद्यसमाज इसका समुचित स्वागत करेगा।

२—इस विशेषाङ्क के सम्पादन में श्री. त्रिवेदी जी ने जो कठिन परिश्रम किया है उसे हम शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ हैं। इस परिश्रम के फलस्वरूप आपके वजन में १० पौण्ड की क्षति हुई है इसी से विद्वत् समाज अनुमान लगा सकता है।

३—हमारा अनुमान था कि चरक-चिकित्साध्याय ६०० पृष्ठों में आजायगा किन्तु वह सुरसावत् बढ़ता ही गया और बड़ी कठिनता से ७०४ पृष्ठों में पूर्ण हो सका है। स्थान—सङ्कोच के कारण अनेकों विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण लेख इच्छा होते हुए भी प्रकाशित नहीं कर सके हैं। इसका हमको अत्यधिक खेद है।

४—इस विशेषाङ्क को हमने समय पर प्रकाशित करने की घोषणा की थी लेकिन बड़ी मशीन के होने पर भी पृष्ठ-संख्या अधिक बढ़ जाने के कारण विशेषाङ्क समय पर प्रकाशित न कर सके। पहिले जैसा विशेषाङ्क तो हम इस बार समय से पूर्व ही प्रकाशित कर देते। हमको विश्वास है कि हमारे कृपालु पाठक विशेषाङ्क की महानता और विशालता के सामने विलम्बजन्य कष्ट को भुला देंगे। आप विश्वास रखें आगामी अङ्क बहुत शीघ्र प्रकाशित होकर, धन्वन्तरि समय पर ही प्रकाशित होने लगेगा।

५—इतना बड़ा—विशाल विशेषाङ्क कल्याण के अतिरिक्त कोई भी मासिकपत्र प्रकाशित नहीं कर सका। कल्याण की ग्राहक संख्या १ लाख से अधिक है। वार्षिक मूल्य ७॥) है, धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य ५॥) इस अवस्था में इतना बड़ा विशेषांक प्रकाशित करना हमारे लिए दुःसाहस ही कहा जायगा।

६—इस विशेषाङ्क के प्रकाशन में हमको कितना व्यय करना पड़ा है उसका अनुमान यदि आप थोड़ा विचार करें तो स्वयं लगा सकते हैं। बाजार में पुस्तकों का मूल्य देखेंगे तो इतनी बड़ी पुस्तक आपको कम से कम २०) में मिलेगी। इतना व्यय हमने अपने ग्राहकों, शुभचिन्तकों के भरोसे ही किया है। यदि इस अवसर पर आपने हमारी सहायता नहीं की तो धन्वन्तरि की यह स्थिति बनाए रखने में हम असमर्थ हो जांयगे। यदि आप चाहते हैं कि आपका धन्वन्तरि इसी प्रकार शान-बान से प्रकाशित हो और आयुर्वेद का प्रचार करते हुए आपको उत्तम साहित्य प्रदान करे तो कम से कम प्रत्येक ग्राहक को २–२ नवीन ग्राहक बनाकर हमारी सहायता करनी चाहिए। हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है अब हमारे ग्राहकों की बारी है। आपके लिए यह कार्य कोई कठिन भी नहीं है। केवल थोड़ा ध्यान देने का काम है। इतना बड़ा विशेषाङ्क जिस चिकित्सक या आयुर्वेद प्रेमी के समक्ष रख कर आप ग्राहक बनने का आग्रह करेंगे यह कभी सम्भव नहीं कि वह धन्वन्तरि का ग्राहक न बन जाय। यदि आप चाहें और यह निश्चय करलें कि २ ग्राहक अवश्य बनाने हैं तो आप एक सप्ताह में ही २ ग्राहक अवश्य बना सकते हैं।

७—कतिपय व्यक्ति ग्राहक बनाने का पारिश्रमिक रूप में पुरुष्कार चाहते हैं। आप स्वयं विचारिये इतने अधिक पृष्ठ देने के बाद धन्वन्तरि की ऐसी स्थिति कहां जो आपको पारिश्रमिक प्रदान कर सके। इस बार तो आपको आयुर्वेद सेवा के नाम पर ही यह परिश्रम करना पड़ेगा। धन्वन्तरि के ग्राहक बढ़ेंगे तो धन्वन्तरि की शक्ति बढ़ेगी और हम फिर धन्वन्तरि के द्वारा आयुर्वेद का प्रचार और भी अधिक कर सकेंगे। ग्राहक बनाने से आयुर्वेद का प्रचार भी है तथा भविष्य में धन्वन्तरि के द्वारा और भी उत्तम साहित्य प्राप्त करने का आपको भी लाभ है।

८—इस विशेषाङ्क के साथ रिप्लाई कार्ड भेज रहे हैं। आप जो ग्राहक बनावें उनके पते लिखकर इस कार्ड पर भेजदें। अच्छा हो यदि आप नवीन ग्राहक से ५॥) मनियार्डर से ही भिजवादें।

निवेदक—
वैद्य देवीशरण गर्ग।

चरक-चिकित्साङ्क

की

विषयानुक्रमणिका

३

विशिष्ट विज्ञापन स्तंभ

सब वैद्य, हकीम और डाक्टर
अपने रोगियों की सफल चिकित्सा
करके धन और यश प्राप्त कर सकते
हैं
मूल्य सूची
क. होमियोपैथिक औषध पेटिका
औषधियों और पुस्तक सहित १२) रुपये
ख. पैकिंग और डाक खर्च अलग २॥) रुपये
कुमार एण्ड कम्पनी

आयुर्वेदिक जगत की क्रान्तिकारी खोज

"हलधर"

हम भारतवासियों को राजनैतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त हुई किन्तु आर्थिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि हम इन क्षेत्रों में विदेशियों के आधीन रहेंगे और उपर्युक्त क्षेत्र की पराधीनता के साथ-साथ हमारा रुग्ण समाज पाश्चात्य विज्ञान ऐलोपैथिक की ओर पूर्ववत ही आकर्षित होता जा रहा है, क्योंकि उसका वाह्यआवरण इतना चटक-मटकदार है कि लोग बाद की हानि को न देखते हुए तात्कालिक लाभ को देखकर आयुर्वेदिक औषधियों को छोड़ उसी ऐलोपैथी को अपनाने में लगे हैं। यदि आयुर्वेदिक समाज ने इस समय किञ्चित भी उपेक्षा की तो निश्चय ही वर्षों की गुलामी सहते पर भी जो आयुर्वेद विज्ञान अपने को जीवित रख सका वही अब स्वतन्त्रता के बाद कहीं लुप्त न हो जाय। इस ओर आयुर्वेद प्रेमियों को सतर्क रहना होगा।

इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर ही मैं एक ऐसे हलधर नामक अन्तःक्षेपक का वर्षों के परिश्रम के बाद निर्माण करने में सफल हो सका हूं जो कि वर्तमान काल में निर्मित ऐलोपैथिक पैन्सिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन आदि नामक इन्जेक्शन भी उतने सफल नहीं हो सके जितना कि यह इन्जेक्शन हलधर का प्रयोग। परीक्षण आदि से अब यह सिद्ध हो चुका है कि आयुर्वेदिक जगत भी अब अपना पद पुनः प्राप्त कर सकता है। मैं अपने अन्वेषण कार्य में तभी सफल हो सकूंगा जब कि वैद्य-वर्ग का मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

सम्प्रति हलधर का प्रयोग निम्न रोगों में किया गया और बराबर अन्यान्य रोगों में भी होता जा रहा है। वे रोग निम्न हैं—हर प्रकार का कर्णस्राव, प्रदर, वमन, हिक्का, कास, श्वास, जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा, क्षय, सब प्रकार के व्रण और घातकार्बुद (cancer) तक में पूर्ण सफल हो रहा है। यह मेरे ऊपर धन्वन्तरि जी की कृपा एवं गुरुजनों का आशीर्वाद ही है कि मेरे वर्षों का परिश्रम सफल हो रहा है। अब इसके आगे मैं वैद्य समाज पर इस बात को छोड़ता हूँ कि वह मुझे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करे और मुझे आयुर्वेद के अन्वेषण में उत्साहित करे।

हाल ही में एक घातकार्बुद (cancer of the throat) का रोगी जिसकी दशा अत्यन्त सोचनीय थी। डाक्टरों एवं वैद्यों से चिकित्सा में असफल होने पर तथा उसको दूध और पानी निकलना भी कठिन था। उसने अपनी क्षुधा शांत करने के लिए दूध जबरन पीने का प्रयास किया नतीजा यह हुआ कि दूध बजाये गले के नीचे जाने के नाक से निकल पड़ा और साथ में उसकी आंखों से (ये शब्द कहते हुए कि जब दूध तक अन्दर नहीं जाता तब प्राण रक्षा होना कठिन है) आंसू भी बहने लगे। इसके सम्बन्धियों में से एक उसे "दिहिन्द रिसर्च लैबरेटरीज" में लाया और पूरा वृतांत कह सुनाया जिसके अनुसार डाक्टरों ने उसे (cancer of the throat) से पीड़ित बताया और पटना या इन्दौर जाने की सलाह दी, दिहिन्द रिसर्च लेबोरेटरीज के अध्यक्ष ने हलधर का इन्जेक्शन लगाकर दूसरे दिन पुनः आने का आदेश देकर उसे बिदा किया। दूसरे दिन जब रोगी आया तो उसने कहा 'मेरे मुँह में बारबार जो चिपचिपा सा पानी भर आता था वह भी कम हो गया और आसानी से मैं दूध पी सका, रात्रि में नींद भी आई'। तीसरे दिन दूसरा इन्जेक्शन लगाने पर उसके

गले की सूजन कुछ बढ़ गई मुंह में पानी भी अपेक्षाकृत अधिक आने लगा, ज्वर १०३ होगया बेचैनी बढ़ गई। पश्चात् एक दिन छोड़कर उसको तीसरा इंजेक्शन लगाया गया इसमें २ सी. सी. हलधर तथा २ सी. सी. वासा कुल मिलाकर ४ सी. सी. मांशपेश्यन्तर्गत लगाया गया ४ घण्टे बाद उसके मुँह से गाढ़ा गाढ़ा पीले रङ्ग का रक्तमिश्रित पूय निकलना आरम्भ हुआ रोगी ने अपने गले को अपने हाथ से सूँथा जिससे काफी मात्रा में पूय निकला, फलस्वरूप एक ही घंटे में रोगी को बड़ी शान्ति मिली। वासायुक्त ४ सी. सी. वाला चौथा इन्जेक्शन भी लगा दिया गया है हालत बहुत सन्तोषजनक है इससे ५० % लाभ हुआ है। पेथोलोजिस्ट द्वारा इसके रक्त और थूक का परीक्षण हो चुका है सम्पूर्ण विवरण १२ इन्जेक्शनों का कोर्स पूरा होने पर दिया जावेगा।

एक ५६ वर्षीया स्त्री जिसके जननेन्द्रिय में अर्बुद था जिसका परीक्षण पटना स्थित कैंसर के अस्पताल में हो चुका था उसको भी अभी ३ इन्जेक्शन हलधर लगाये गये हैं जिनका फल देखते हुए ऐसी आशा है कि रोग को हटाने में पूर्ण सफलता प्राप्त होगी।

हलधर अन्तःक्षेपण के प्रयोगात्मक अनुभव:—

श्री यज्ञदत्त जी शर्मा आयुर्वेदाचार्य सरकारी औषधालय हरसौरा जिला अलवर—

मेरा एक भतीजा जिसकी आयु १० वर्ष है वह देहली में रहता था, उसको वहां पर क्षयज व्रण (टी. बी. का व्रण) हो गये। व्रण से हर समय पूय जाना, ज्वर, दुर्बलता इत्यादि लक्षण थे वैसे यह केश सर्जीकल था किन्तु डाक्टरों ने भी ऑपरेशन की जोखिम न उठाकर स्ट्रेप्टोमाइसीन के इन्जेक्शन लगाने की सलाह दी और ३० इन्जेक्शन लगाये भी, उस समय अस्थायी लाभ भी हुआ किन्तु एक माह पश्चात् फिर वही दशा होगई। इस लड़के को मैंने घर लाकर "हलधर" का प्रयोग किया। एक दिन छोड़कर मैं इन्जेक्शन करता रहा, ३-४ इन्जेक्शन के पश्चात् चमत्कारिक लाभ मालूम हुआ। मेरा साहस और विश्वास बढ़ा और मैंने इस क्रम से १२ एम्पुलस लगा दिये, अब व्रण सूख गये हैं। हैल्थ बहुत अच्छी है जैसे अच्छे स्वास्थ्य वाले बच्चे की होती है। इस प्रयोग से मैं बहुत प्रभावित हुआ और भारतीय आयुर्वेद के भविष्य पर विश्वास हुआ। आयुर्वेद के इस नवीन आविष्कार के लिये मैं आपको बधाई देता हूं।"

+ + + +

श्री मनोहरलाल जी जैन आयुर्वेदशास्त्री बीना बजरिया से लिखते हैं:—

श्री मान्यवर बनवारीलाल जी शर्मा अध्यक्ष, हिन्दू रिसर्च लैबोरेटरीज, झांसी!

मैंने आपका "हलधर" एक पुराने बहते हुए कान के रोग में प्रयोग किया, आश्चर्यजनक सफलता मिली। (याने एक वाचमैन का कान ७ वर्ष से बह रहा था) किन्तु "हलधर" का एक इंजेक्शन देने के बाद थोड़ा सा लाभ मिला तीन इंजेक्शन देने के बाद आशातीत लाभ हुआ।"

+ + + +

वैद्य गोविन्दनारायन धर्मे, वैद्यवाचस्पति, छीतरपुर, विन्ध्यप्रदेश से लिखते हैं:—

आपके इंजेक्शन मंगाये थे, मलेरीन, सुधारक, हलधर परीक्षाओं में उत्तम हैं। श्लीपद तथा दूसरे इंजेक्शनों का प्रयोग करके फल लिखा जावेगा।

आपके इंजेक्शनों को देखकर अति प्रसन्नता हुई कारण कि जहां स्ट्रेप्टोमाइसीन के इंजेक्शन ४ देने पड़ते हैं वहां आपका "हलधर" इंजेक्शन एक ही कार्य करता है। धन्यवाद, कृपया नीचे लिखे इंजेक्शन शीघ्र भेजें। पत्र को तार समझें।

कविराज डा० किशनलाल गर्ग L. M. P. (H.) प्रोप्राइटर मॉडर्न मेडिसन स्टोर झांसी लिखते हैं:—

"एलोपैथिक औषधि विक्रेता होने के नाते मुझे आयुर्वेदिक इंजेक्शनों पर विश्वास नहीं था। मेरी स्त्री को गत २ माह से लगातार रक्तप्रदर की शिकायत थी करीब १॥ माह तक अच्छी से अच्छी औषधियां और एलोपैथिक इंजेक्शनों का प्रयोग कराया किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। आखिर एक मित्र के आग्रह से हिन्द रिसर्च लैबोरेटरीज में बने हुए "हलधर" इंजेक्शन को लगवाया। बिना कुछ खाने की दवा दिये हुए केवल इंजेक्शन देने पर पहले ही दिन ५०% लाभ हो गया उसके बाद यथा-क्रम २ इंजेक्शन और देने के बाद मेरी स्त्री बिल्कुल निरोग होगई। मैं आयुर्वेद के इस आविष्कार पर पंडित जी को बधाई देता हूं।"

\+ \+ \+ \+

श्री जी. वी. राजन ऐक्सीउयूकेटिव ऑफीसर कैन्ट्रनमैन्ट बोर्ड झांसी लिखते हैं:—

"वीटौल "हलधर" एक अपूर्व इंजेक्शन है जो कि यदि पेन्सीलीन से उत्तम नहीं है तो उसके समान गुणकारी अवश्य है। मेरा एक आश्रित कर्मचारी जो कि कष्टसाध्य भगन्दर से पीड़ित था और जिसका सिविल हॉस्पीटिल में दो बार ऑपरेशन भी हो चुका था इस पर भी रोगमुक्त न हो सका। वीटौल हलधर के ६ अन्तःक्षेपण लगने से उसे आशातीत लाभ हुआ अब केवल ३ इंजेक्शन लगने शेष हैं और मुझे पूर्ण आशा है कि वह मेरा कर्मचारी कोर्स पूरा कर लेने पर पूर्ण रूपेण रोग मुक्त होजावेगा।" हस्ताक्षर—जी. वी. राजन।

\+ \+ \+

इसी प्रकार "हलधर" की सफलता जिस जिस रोग में हुई उसका पूरा विवरण न देकर केवल रोग और रोगी का नाम देकर संक्षिप्त में पूर्ण विवरण दिया जारहा है।

१—श्री मुरारीलाल जी आयु ६३ वर्ष ४ महीने से बांया कान बह रहा था २ सी. सी. हलधर विशेष के ६ इंजेक्शन लगाने से पूर्ण लाभ होगया।

२—श्रीमती रामदुलारी उम्र २८ साल अनियमित मासिकधर्म तथा अत्यार्तव से पीड़ित थी उनका ४ दिन में करीब करीब २ सेर रक्त निकल चुका था जिसके कारण उनकी बैठने तक की सामर्थ्य नहीं थी केवल २ इंजेक्शन "हलधर" उदम्बर के देने से पूर्ण लाभ होगया।

३—पलटन के एक सूबेदार की पत्नी नाम छोटो उम्र ३५ साल हाथों में भयानक फुंसियां थीं जिसको ४ वर्ष हो चुके थे खुजाने पर रक्त बहने लगता था "हलधर" विशेष के ६ इंजेक्शन देने पर रोग समूल नष्ट होगया।

४—सरदार सुआनसिंह उम्र २८ साल ५—श्रीमती रामकली साहू उम्र २५ साल; दोनों जीर्ण ज्वर तथा क्षय के रोगी थे इनको क्रमशः हलधर विशेष के १२-१२ इंजेक्शन लगाये गये इसके उपरांत दोनों पूर्ण स्वस्थ्य होगये।

हलधर के अलावा वातव्याधि और अर्धाङ्गवात के लिए इंजेक्शन "वातौल।"

सर्वाङ्गशोथ अथवा किसी भी शोथ विशेष में इंजेक्शन "शोथारी।"

विषम ज्वर में "मलेरीन।"

हृदय-दौर्बल्य में "मुक्ता" तथा "जवाहर मोहरा" आदि इंजेक्शन विशेष उपयोगी हैं।

विशेष जानकारी के लिये

धन्वन्तरि के विशेषांक

१–नारीरोगाङ्क (द्वितीय संस्करण)

[पृष्ठ संख्या ३७२ । चित्र संख्या २६ । लेखक–संख्या–८७]

नारीशरीररचना (सचित्र); अल्पार्तव-नष्टार्तव पर पं० शिवशर्मा जी का सफल प्रयोग; श्री० पं० गोवर्द्धन जी छांगाणी के स्त्रीरोगनाशक दो सफल प्रयोग, आयुर्वेदवृहस्पति श्री पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल द्वारा लिखित सूतिका-सन्निपात पर स्वानुभूतपूर्ण विवेचन एवं चिकित्साक्रम, स्वर्गीय वैद्य गोपाल जी कुंवर जी ठक्कुर के स्त्रियों के सामान्य रोगों पर पांच सफल-सरल प्रयोग, श्री० कविराज हरिदत्त जी जोषी आयुर्वेदाचार्य कलकत्ता द्वारा लिखित योष---पार-विवेचन एवं चिकित्सा, श्री० पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा अमृतधार के नारीहितकारी चुटकुले, क... प्रतापसिंह जी रसायनार्य के दो सफल प्रयोग, पं० श्रीदत्त जी शर्मा आयुर्वेदार्य लिखित हिस्टीरिया (मनोविभ्रम) विषयक सारपूर्ण लेख, श्री० पं० उपेन्द्रनाथदास काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ का बाधकरोग चिकित्सा, कविराज हरदयाल जी वैद्यवाचस्पति लिखित "क्या गर्भस्थ शिशु में इच्छित परिवर्तन सम्भव है", वैद्य घनानन्द जी पंत आयु० वृहस्पति का गर्भिणी-परिचय, श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी B. A. आयुर्वेदाचार्य का 'गर्भाशय के विकार और उपचार'; धात्री–विज्ञान, मूत्रातिसार, स्तन-विद्रधि, आर्तव-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा, नालछेदन विधि, आर्तवपरिज्ञान, स्त्रीरोग प्रतिकार–

आदि-आदि

लेख इतने सारपूर्ण एवं अनुभवपूर्ण है, जिसमें से कोई सा भी एक लेख पढ़ने से आप इस विशेषांक का मूल्य वसूल समझेंगे । इन लेखों के अतरिक्त—

- प्रदर पर १३ लेख तथा ६ विद्वानों के सफल प्रयोग
- हिस्टीरिया पर ६ लेख, तथा हमारी पेटेण्ट औषधि हिस्टेरियाहर सैट की तीनों औषधियों के प्रयोग
- बन्ध्यापन-बाधक रोग पर चार लेख, तथा पुत्रदाता सफल प्रयोग
- गर्भस्राव-गर्भपात एवं अकाल प्रसव पर तीन लेख
- सोमरोग–मूत्रातिसार पर तीन लेख
- कष्टार्तव–अति आर्तव पर चार लेख
- प्रसूति-ज्वर पर छः लेख
- गर्भजन्य आक्षेप पर तीन लेख
- गर्भाशय विकृति, श्रोणिगुहा की विकृतियां, मक्कल शूल, स्त्रियों में जननेन्द्रिय रोग–उपदंश-सुजाक

विविध लेखों में बहुत ही उपयोगी साहित्य दिया गया है। इस विशेषांक का सम्पादन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि यह विशेषांक वैद्यों के साथ-साथ साधारण पठित समाज के लिए भी उपयोगी हो सके। यही कारण है कि इसका द्वितीय संस्करण छापना पड़ा और वह भी शीघ्र समाप्त होने वाला है। इस विशेषांक को पढ़ने से सम्पूर्ण स्त्रीरोगों का बड़ी सुगमता से ज्ञान होजाता है तथा जन-साधारण एवं पठित स्त्रियां भी अपने तथा पड़ोसियों के कष्टों को कम पैसों में और असानी से दूर कर सकती हैं। २०×३०=८ पेजी साइज के ३७२ पृष्ठ और आकर्षक चित्रों से युक्त इस विशेषांक का मूल्य केवल ६) है। पोस्ट व्यय प्रथक।

२–बालरोगाङ्क (द्वितीय संस्करण)

[पृष्ठ संख्या ३२४, चित्र संख्या २३ लेखक संख्या ४८]

यह विशेषांक चिकित्सा-चन्द्रोदय के विख्यात लेखक स्वर्गीय बाबू हरिदास जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। चिकित्सा-चन्द्रोदय जिन्होंने पढ़ा है वे समझते हैं कि बाबू हरिदास जी की लेखनी में क्या शक्ति थी और उनके द्वारा सम्पादित विशेषांक कितना अधिक उपयोगी हो सकता है। इस विशेषांक की प्रसंशा आयुर्वेद के उद्भट विद्वानों ने की है तथा वैद्यसमाज ने इतना अधिक पसंद किया कि पहिला संस्करण उसी वर्ष समाप्त होगया था जिस वर्ष यह प्रकाशित हुआ।

बालो बलं हि राष्ट्रस्य, डा० गणपतिसिंह वर्मा लिखित "बालक कैसे बनता है", श्री० हरिदास जी लिखित तीस पृष्ठ का अनुभूत बालरोग चिकित्सा, मंथरज्वर, उदरकृमि, रोहिणी (डिफ्थीरिया), बालशोष (सूखारोग), शीतला (माता), खसरा (रोमान्तिका), डब्बा (पसली चलना), ग्रहबालग्रह, दन्तोद्गम के समय के रोग आदि सम्पूर्ण बालकों के विशिष्ट रोगों पर विद्वान लेखकों ने सुविस्तार प्रकाश डाला है। रोग-विवेचन के साथ-साथ अनुभवी चिकित्सकों ने सभी रोगों की सफल चिकित्सा-विधि दी है। चित्रों द्वारा विषय को सुगमता से समझने योग्य बनाने में विशेष परिश्रम किया गया है।

इस विशेषांक के पढ़ने से आप अपने बालकों को स्वस्थ-सुन्दर बनाने में सहज ही सफलता प्राप्त कर सकेंगे। छोटे-मोटे रोगों के लिए डाक्टर वैद्यों का दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता नहीं होगी और आपके खर्च में बहुत बचत होगी। वैद्य-डाक्टर इसे पढ़कर बालरोग विशेषज्ञ बन सकेंगे।

किसी भी विशेषांक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होना ही उसकी महान उपयोगिता का जीता-जागता प्रमाण है। आपके पास यदि यह विशेषांक नहीं है तो अविलम्ब और अवश्य मंगा लीजियेगा। हर वैद्य एवं गृहस्थी इस विशेषांक से लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ६) मात्र।

हमारा आग्रह है

कि सभी पठित मातायें इन दो विशेषांक को अवश्य पढ़ें। नारीरोगांक तथा बालरोगांक ये दोनों विशेषांक हर गृहस्थ के यहां रहने आवश्यक हैं। समय पड़ने पर ये विशेषाङ्क अपने सच्चे मित्र की भांति सहायक होते हैं। वैद्यों-डाक्टरों को तो अवश्य ही पढ़ने चाहिए।

अन्य विशेषाङ्क

३. पुरुषरोगांक ,, पृष्ठ,, १८८,, ६)
४. गुप्तसिद्ध प्रयोगांक प्र. भाग ,, २६६,, ६)
५. गुप्तसिद्ध प्रयोगांक द्वि. भाग ,, १६०,, २)
६. ,, तृ. भाग ,, १३०,, २)
७. भैषज्य कल्पनांक ,, ३६७,, ४)
८. ,, ,, (परिशिष्टांक) ,, ७२,, १)
९. संक्रामक रोगांक ,, ३०४,, ४)
१०. कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक ,, १०४,, ४)
११. सिद्ध चिकित्सांक ,, २६४,, ४)
१२. इन्जेक्शन विज्ञानांक प्र. भाग ,, १६४,, २)
१३. विष-चिकित्सांक प्र. भाग ,, ६६४,, ४)
१४. ,, ,, द्वि. भाग ,, १८८,, १)
१५. यकृतप्लीहारोगांक ,, १५४,, २)
१६. चिकित्सा समन्वयांक ,, ३५४,, ४)
१७. ,, ,, द्वि. भाग ,, १५२,, २)

मंगाने का पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

लोकसभा के स्पीकर

लोकनायक श्री जी० वी० मावलङ्कर महोदय का सन्देश

कैम्प मौर्वी हाउस
राजकोट
जनवरी ३.१९५०

प्रिय श्री गर्ग,

आपका (पत्र) चरकचिकित्साङ्क नामक विशेषाङ्क के सम्बन्ध में हस्तगत हुआ। मुझे प्रसन्नता है कि आप एक विशेषाङ्क प्रकाशित कर रहे हैं। मैं जनता से उसके अत्यधिक स्वागत की कामना करता हूँ।

आपका शुभैषी
(ह०) जी० वी० मावलङ्कर

Dear Sri Garg.

Yours about the special number of the Dhanwantari Charak Chikitsank to hand. I am glad you are issuing a special number. I wish it very fauourable response by the public

Yours Sincely
Sd. G. V. Mavalankar.

आयुर्वेद जगत् के कर्णधार

वैद्यरत्न डाक्टर शिवशर्मा डी. एस-सी.ए.

अध्यक्ष अखिल भारतीय आयुर्वैदिक कांग्रेस, बम्बई।

☆

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि इस वर्ष धन्वन्तरि चरकचिकित्सांक नामक विशेषांक का प्रकाशन करने जारहा है। धन्वन्तरि के विशेषांक सदैव अपनी एक विशेषता रखते हैं। मेरा विश्वास है कि वह सफलतापूर्वक इस विशेषांक को प्रकाशित करेगा और समग्र वैद्य-समाज उसे अपनावेगा।

(ह०) शिवशर्मा

दक्षिणभारत की सुप्रतिष्ठित विभूति

माननीय श्री के० हनुमन्थैया

मुख्यमन्त्री मैसूर सरकार

*

के० हनुमन्थैया
चीफमिनिस्टर, मैसूरस्टेट

कुमारकृप
५ वीं जनवरी १९५४

सन्देश

विद्वत्तापूर्ण तथा लाभदायक सामयिक प्रकाशन के द्वारा विगत लगभग तीन दशकों से धन्वन्तरि आयुर्वेद के उत्थान के लिए उत्तम सेवा कर रहा है। चरकचिकित्सास्थान का प्रकाशन आयुर्वेद के कार्य के लिए निस्सन्देह एक स्थायी योगदान है। धन्वन्तरि के सम्पादक इस महान् ग्रन्थ को एक विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशन के प्रति न्यायपूर्वक गर्व का अनुभव कर सकते हैं।

मैं विशेषाङ्क की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

हस्ताक्षर — के. हनुमन्थैया।

message

"DHANWANTARI" has been doing good service to the advancement of Ayurveda for nearly three decades by the periodical publication of scholarly and useful articles. The publication of Chikitsasthan is undoubtedly a permanent contribution to the cause of Ayurveda. The Editor of Dhanwantari could legitimately feel proud for publishing this great medical classic in the form of a Special Number of Dhanwantari.

I wish the Special Issue all success.

(K. HANUMANTHAIYA)

हिन्दी और गौरक्षा के उन्नायक

आदरणीय सेठ गोविन्ददास जी का सन्देश

राजा गोकुलदास भवन
जबलपुर ५—१—५५

प्रिय गर्ग जी,

आपका पत्र क्रमांक ३९१ विशे० दिनांक २७-१२-५४ का छपा हुआ मिला। "धन्वन्तरि" का विशेषांक निकाल रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई। मैं समझता हूं, इससे वैद्य जगत एवं जनता को अधिक लाभ होगा। मैं इस विशेषांक की सफलता के लिये कामना करता हूं।

विश्वास है, आप प्रसन्न हैं।

भवदीय
(ह०) गोविन्ददास
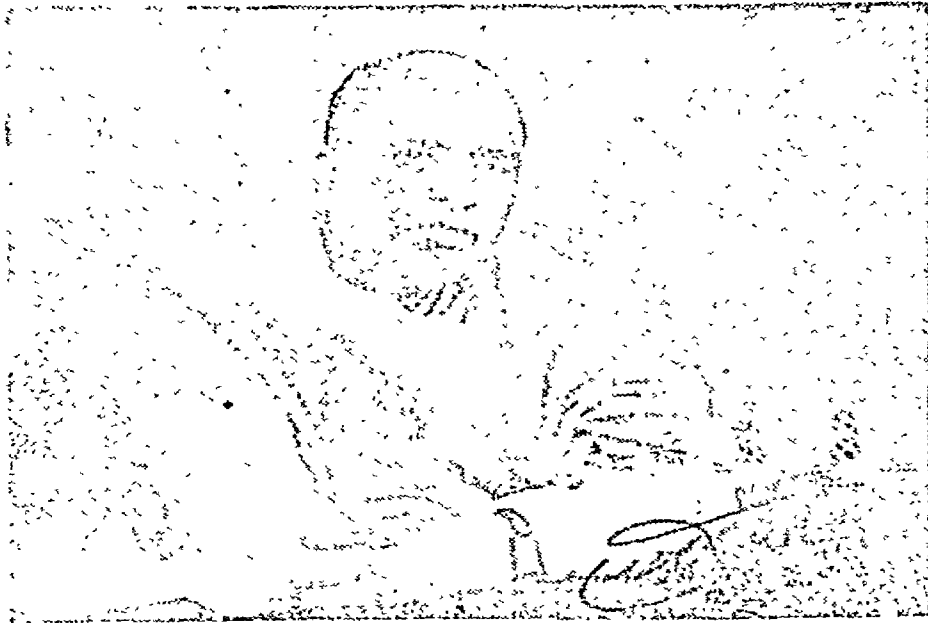
औद्योगिक रसायनशास्त्र के अप्रतिम विद्वान्,

आदरणीय डा० सद्गोपाल जी

एम.एस-सी, डी.एस-सी, एफ.आर.एच.एस.आदि
सीनियर रिसर्च आफीसर-इन्चार्ज केमिस्ट्री
आफ फौरेस्ट प्रौडक्ट्स ब्रान्च

फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट
देहरादून २०—१२—५४

प्रियवर त्रिवेदी जी,

आपका पत्र सं० १३२, दिनांक १४-१२-५४ का समयानुसार मिला। यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि 'धन्वन्तरि' मासिक पत्र का 'चरकचिकित्सांक' आपकी अध्यक्षता में सम्पादित हो रहा है। 'प्रकाशक' को आपसे अधिक अच्छा चुनाव मिलना दुर्लभ था। चरकचिकित्सा के वैशिष्ट्य में सच्ची आस्था रखने वाले 'आयुर्वेदाचार्यों' का प्रबल अकाल सा ही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके अनथक परिश्रम से यह सत्प्रयत्न अवश्यमेव सफल होकर भारत की विशिष्ट देन—'चरक चिकित्सा' के पुनर्जन्म में विशेष रूपेण निमित्त कारण बनेगा।

भगवान् आपको दिव्य आशीर्वाद देकर आयुर्वेदोन्नति की अग्रायता और पुनरुत्थान में सामर्थ्यवान बनावें।

आपका शुभैषी
(ह०) सद्गोपाल

प्रातःस्मरणीय प्रताप के प्रदेश में विकसित

माननीय श्री मोहनलाल सुखाडिया

मुख्य मन्त्री राजस्थान सरकार

★

मुख्य मन्त्री,
गवर्नमेंट आफ राजस्थान ।

जयपुर
५—१—१९५५

प्रिय श्री देवीशरण जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि धन्वन्तरि मासिकपत्रिका का विशेषाङ्क 'धन्वन्तरि चरक चिकित्साङ्क' आप प्रकाशित करने जारहे हैं। आयुर्वेद सम्बन्धी जानकारी प्रसारित करने में जो कार्य आपकी पत्रिका ने देश में किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी पत्रिका उत्तरोत्तर इसी प्रकार जनता की सेवा करती रहेगी। मेरी शुभ कामनायें आपके साथ हैं।

आपका,
(ह०) मोहनलाल सुखाडिया.

आदरणीय श्री पं. व्यासनरायण शुक्ल

बी. एम. ए. एस. आयुर्वेदाचार्य
मन्त्री—मध्यप्रदेश (रजिस्टर्ड वैद्य हकीम संघ)
श्री दुर्गा आयुर्वेद मन्दिर

नागपुर १६ दिसम्बर १९५४

धीमान त्रिवेदी जी

सस्नेह नमस्कार,

आपका पत्र मिला समाचार विदित हुआ। इस वर्ष आपके कुशल संपादकत्व में धन्वन्तरि का 'चरक चिकित्साङ्क' प्रकाशित हो रहा है यह परम प्रसन्नता का विषय है। धन्वन्तरि आयुर्वेद साहित्य की जिस रूप में सेवा कर रहा है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। मुझे विश्वास है कि यह विशेषाङ्क भी अपने विषय का अनोखा साहित्य होगा।

(ह०) व्यासनारायण शुक्ल।

★ विशेषाङ्क सम्पादक ★

आयुर्वेदाचार्य श्री पण्डित रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

ए. एम. एस., एम. एस-सी. ए.

जिन्होंने अपने जीवन के उदयकाल में ही विशेषाङ्क परम्परा में प्राण फूंककर विश्व के समक्ष एक ऐसे जीवित, जागृत, सप्राण और पुष्ट आयुर्वेद का स्वरूप प्रगट किया है तथा विशिष्टता से युक्त ऐसी विशेषाङ्क शृङ्खला का सृजन किया है कि बड़े से बड़े विद्वान् के मुख से बरबस साधुवाद निकलने लगता है। अहर्निशि १६ घण्टे परिश्रम करके उन्होंने विगत ३ मास के अल्पकाल में इस सर्वाङ्गसुन्दर चरकचिकित्साङ्क की कल्पना की है जो उनकी अप्रतिमप्रतिभा और उद्भट विद्वत्ता का परिचायक है।

— देवीशरण शर्मा।

चरक चिकित्साङ्क

सम्पादक की लेखनी से—

☆

न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमुत्पद्यते

"केवल ज्ञान के थोड़े से अंश से सम्पूर्ण ज्ञेय विज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।"

विमानस्थान का यह वाक्य उस समय हमें भले प्रकार ज्ञात था जिस समय विगत पच्चीस वर्ष से आयुर्वेदीय पत्रकारिता को उन्नति की ओर अग्रसर करने का श्रेय लेने वाले अपने परममित्र श्री देवीशरण गर्ग ने मेरे समक्ष यह विचार उपस्थित किया कि इस बार वे चरक के चिकित्सा-स्थान को अनुवादित करके अपने सहस्रावधि पाठकों के समक्ष एक नवयुग की सूचना के रूप में उपस्थित करते हुए इस महान् ग्रन्थ से होने वाली लक्षाविध वर्षों से अजस्र-धारा के समान अविरल प्रवाह के साथ असंख्य प्राणियों को शस्यश्यामल वसुन्धरावत् स्वाभिसिञ्चन से पुलकित करने वाली, कीर्ति की वल्लरी जिसकी सहज सहचरी बनती चली आई है और जिसने देववाणी के अपने कलेवर को जगत् की विविध लिपियों में परिणत कर वसुधैवकुटुम्बकम् के सर्वमान्य सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से स्पष्टतापूर्वक रखकर तथा अपनाकर एक ऐसा वातावरण तैयार किया है जिसके कारण व्यक्ति का विश्वास बढ़ा है, मानव की महानता ने मूर्तरूप धारण किया है और उसने प्राप्त किया है कष्टों से त्राण तथा व्यथाओं से विराग।

बहुत धन व्यय करना पड़ेगा आपको इसके लिए। कागज जितना आप आजतक विशेषाङ्कों में लगाते आये हो वह इस बार थोड़ा पड़ जायगा और जो इस कार्य को करेगा उसकी आफत आजायगी। कार्य कठिन है—मैंने कहा, 'पर मेरे लिए नहीं'—उत्तर मिला। पर साथ ही उन्होंने कहा कि आप चिन्ता न करें इसके लिए मैंने एक विद्वान् को तैयार कर लिया है और वे शीघ्र ही इसमें जुट जायगे। विजयगढ़ के समीप ही बाग के गांव में उत्पन्न अपने विद्वान् परमभागवत् पिता की सन्तान, नादानमहलरोड लखनऊ में निवास करने वाले आयुर्वेदीय ज्ञान के भण्डार श्री पं०

सरयूप्रसाद जी त्रिपाठी के शिष्य, साहित्य और आयुर्वेदशास्त्र पर जिनका पूरा अधिकार है ऐसे पण्डितराज श्री रामचन्द्र जी वैद्यशास्त्री उस कार्य को पूरा करेंगे। शास्त्री जी से मिलने पर ज्ञात हुआ कि वे इस कार्य को करेंगे। शास्त्री जी का चरक का अपना एक विशिष्ट और अगाध अध्ययन है और नित्य नियम पूर्वक चरक के अध्यायों का पाठ करते हैं। मुझे विश्वास था कि यह सिद्धहस्त चिकित्सक, समता और सौम्य की मूर्ति इस कार्य को पूरा करके अवश्य ही कुछ नवयुग की नवीन भेंट प्रस्तुत करेगा।

पर वैसा नहीं हुआ। शास्त्री जी उस कर्म में नहीं जुटे और एक दिन पुनः देवीशरण जी ने समाचार भेजा कि मैं तैयार रहूं। वार्ता हुई। जितना अवकाश इस कार्य के लिए आपके पास है और जितनी सुविधाएँ मुझे आपसे प्राप्त हो सकती हैं अन्यत्र नहीं अतः यह कार्य भी आपको उठाना पड़ेगा। सम्पूर्ण चरक पर कई बार कलम उठाने का दुःसाहस करने वाला यह व्यक्ति भविष्यत्कालीन आपत्ति के पर्वतों से टकराकर चूर-चूर होने का लेशमात्र भी विचार न करता हुआ देवीशरण जी के प्रेमपाश में उलझ गया। स्वीकृति देदी गई। कार्यारम्भ होगया।

पहला अध्याय उठाया गया। उसका एक पाद समाप्त हुआ लगभग सात दिन में। दूसरे पाद में चार दिन लगे यहां तक कि दोनों अध्यायों के अनुवाद और वक्तव्यों में लगभग एक मास निकल गया। लेखकों के लिए एक छोटी सी लेख-सूची तैयार करके छपा कर भेज दीगई ताकि मनोनीत विषय पर अपनी कृपा सदैव की तरह इस बार भी करें। उनसे लेख एक जनवरी १९५५ तक मांगे गये थे। लेखकों के उत्तर बड़े विलक्षण विचित्र और विशिष्टता से परिपूर्ण थे। श्री वैद्यनाथीय आयुर्वेद साहित्य के सृजन में जिनको आचार्य श्री यादव जी के बाद सर्वाधिक श्रेय प्राप्त हुआ है उन श्री रणजितराय देसाई ने लिखा— **"आप आयुर्वेद जगत् में इस अङ्क द्वारा नये युग का अवतार कर रहे हैं ऐसा मेरा नम्र मत है।"**

उत्तर प्रदेश की आयुर्वेदीय प्रणाली द्वारा चलने वाले औषधालयों के सरकारी सञ्चालक और आयुर्वेद के योग्य विद्वान् और पूज्य श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी जी ने लिखा—**आप अपने गुणों से तथा योग्यता से अवश्य सफल हो सकेंगे ऐसी मुझे आशा है।** काशी में आयुर्वेदीय अध्यापन को प्राचीन परिपाटी के अनुसार चलाने वाले आयुर्वेद के सच्चे भक्त तैयार करने वाले आचार्य श्री पण्डित लालचन्द जी वैद्य ने लिखा—**"प्रिय त्रिवेदी सुखी रहो–बढ़ो, फलो और फूलो।**

हमारे परममित्र श्री पं० विश्वनाथ जी द्विवेदी, वाइस प्रिंसीपल स्टेट आयुर्वेद कालेज ने लिखा—**"लेख सूची कुछ जँची नहीं। चिकित्सावैचित्र्य या विशेषता में एक दो लेख से काम नहीं चल सकता। चरकचिकित्सा केवल चिकित्सा खण्ड में ही सीमित नहीं है और भी स्थानों में कई रोगों की चिकित्सा है अतः उन्हें भी साथ ही सङ्कलन करना चाहिए।**

मेरे पूज्य अग्रज, पितृतुल्य श्री वैद्य बंशीधर तिवारी वैद्यराज ने कहा—**"बैठे बिठाए मुसीबत मोल ले लेता है। चरक पर लिखना मजाक नहीं है। सब स्वास्थ्य गिर जायगा। भविष्य में इतने बड़े कार्य न लेकर स्वास्थ्य सुधार की ओर ध्यान देना जितना त्रिवेदी के लिए आवश्यक है उसे वह समझता नहीं।**

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह जहां विराजते थे उसी कुर्सी पर सुशोभित अनेक पुस्तकों के रचयिता बन्धुवर श्री अत्रिदेव गुप्त ने बड़ा मार्मिक पत्र लिखा—**आहारे व्यवहारे च त्यक्ता लज्जा सुखी भवेत्। आप जिस विषय पर लेख कहें मैं लिख दूं परन्तु पारिश्रमिक क्या होगा यह स्पष्ट होना चाहिए–आखिर इस पत्र के विज्ञापन से पैसा प्राप्त होता है आदि।** काशी में बैठ कर पैसे की अहर्निशि कामना करने वाला मालवीय जी के पवित्र नाम का उन्नायक वह विश्वविद्यालय! और उसके ये अधिकारी!! पत्र पढ़ कर मैं रोपड़ा था उस काल में।

श्री पं० सत्यानारायण मिश्र आयुर्वेदाचार्य एक सुलझे हुए विचारों के बड़े सरल हृदय के अपने मित्र हैं। उन्होंने एक नया ही प्रकरण रखा जिससे मेरे हृदय की पहले पत्र द्वारा छाई अवसाद की रेखा हट सी गई **विशेषाङ्कों**

गत दो वर्षों से मेरे लेख के सामने एक गलत चित्र छपता चला आता है इसमें सुधार होना चाहिए।

इच्छावर (भोपाल) के वैद्यराज श्री मिश्रीलाल गुप्त ने इसे दुरूह कार्य बतलाया। और सबसे अधिक प्रसन्नता हुई मुझे श्री धनञ्जय आरोग्यभवन पठानकोट के अध्यक्ष श्री पं० देवदत्तशर्मा वैद्यशास्त्री के द्वारा भेजे गये पत्र पर जिन्होंने सूची के बाहर के 'चरक की आवृत दोष कल्पना' नामक विषय पर एक सर्वाङ्गसुन्दर संक्षिप्त और नवीन विचारसरणि का प्रकाशक लेख भेजते हुए लिखा—**इसी पत्र के साथ साथ ही लेख भेज रहा हूं पहुँच अवश्य दीजिए।** जहां आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् ऐसा कहते कहते शेष शारदा भी थक जाते हैं उनके लेख ३-३ मास में प्राप्त होते हों वहां यह जनता का प्रतिनिधि वैद्यकीय वृत्ति को एक ओर रखकर तुरत ही लेख भेजने में समर्थ हुआ हो उसे कोटि कोटि साधुवाद कहने को जी चाहता है।

वहीं अनेक उपाधियों से अलंकृत विद्वज्जन समादृत कविराज श्री हरदयाल वैद्य ने लिखा—**किसी भी विषय पर उक्त अवधि के भीतर लेख भेजना असम्भव है।**

काकड़वाडी बम्बई के विद्यावारिधि श्री ऋषिमित्र जी शास्त्री ने चरक भगवान् के जीवनवृत्त पर, **कुछ नये प्रमाणों के अन्वेषण के लिए समय अपेक्षित है'** ऐसा लिखकर समय लिया और लेख भी प्रदान किया।

प्रिय मित्र श्री अशोककुमार जी आयुर्वेदालङ्कार लश्कर ग्वालियर ने **'आपने स्मरण किया वा सेवा के लिए निमन्त्रण दिया तदर्थ धन्यवाद** ऐसा कह कर जहां विश्राम लिया वहीं आदरणीय पूज्यपाद श्री पण्डित सत्यनारायण जी शास्त्री जिनके चरणों में बैठकर मुझे चरक के पूर्वार्ध पढ़ने का और चरक के रहस्यों को समझने का अवसर प्राप्त हुआ है के अगस्त्यकुण्ड निवास से मेरे लिखे पत्र को लेकर लिखने वाले आयुर्वेदाचार्य श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री ने लिखा—**'मेरा लेख भेजना आप उचित समझते हों तो लिखें मैं भेजवूं अन्यथा नहीं भेजूंगा क्योंकि आप मुझे भूलसा गए हैं।'** पवित्रता, सरलता और विद्वत्ता की मूर्ति काशीनाथ को कौन भूलने का दुस्साहस करेगा?

'किन्तु आपका पत्र बहुत विलम्ब से प्राप्त हुआ' कह कर छूटने वाले भण्डारा जिले के श्री बिहारीलाल शर्मा तथा उसी प्रकार के कितने साथी निकले।

और विद्या के सागर के समान विशाल (उसके जल की तरह कड़वे नहीं) और लब्धप्रतिष्ठ हमारे देश के आयुर्वेदीय विद्वानों में उच्चस्तरीय लेखों की परम्परा स्थापित करने वाले इन्द्रप्रस्थपुरी के चाकचक्य में लीन आचार्य ने लिख ही तो डाला—**"पारिश्रमिक प्रदान करने की गोलमोल घोषणा न कर साफ साफ लिखिए कि प्रथम पारितोषिक इतना होगा, द्वितीय तृतीय इतना होगा इत्यादि तब आपको लेख अच्छे मिलेंगे। मुझे लेख लिखने का अवसर नहीं मिलता और एकाध स्थान से लेखों पर पारितोषिक भी मिला या सो लेना उचित न समझ मैंने लौटा दिया पर पारितोषिक की घोषणा स्पष्ट होने पर ही आयुर्वेद की उन्नति होगी। पारितोषिक जांचने वालों के नाम भी साथ में देने चाहिए।**

बेलगांव के श्री पं० भैरूंलाल व्यास जी, **मुझे आनन्द हुआ कि आपने असुविधा होने पर भी मुझे समय दिया पर मैं उसका उपयोग परिस्थितिवश कर न सका,** लिखकर छूट गये।

हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः के साथ, **आयुर्वेद स्वयमेव उन्नत है। हाँ, उसके सम्पर्क में आकर हम अपने व्यक्तित्व को बनाते हैं जिसका सभी श्रेय आप सरीखे स्नेही विद्वानों पर ही निर्भर है। आज की स्थिति में यत्किञ्चित् अनवधानता आयुर्वेद पर आवरण डाल देगी। इसका प्रतिकार आप लोग जितने सहल तरीके से कर सकते हैं उतना ही हम लोगों के लिए कष्टसाध्य है आदि** आदि के साथ बड़ा सुन्दर पत्र आयुर्वेदाचार्य और अपने परम स्नेही श्री गुलराज शर्मा मिश्र नागपुर द्वारा प्राप्त हुआ।

आदरणीय श्री कृष्णप्रसाद त्रिवेदी परिव्राजक रूप में विचरण करने के कारण लेख नहीं भेज सके।

लाखाभवन जबलपुर के वैद्य पं० चन्द्रशेखर जी जैन ने पारिश्रमिक स्वरूप और लेख लिखने के लिए चरकसंहिता ग्रन्थ भिजवाने के लिए इङ्गित किया।

सफलता की हार्दिक कामना, उज्ज्वल भविष्य एवं अभिवृद्धि की सदैव कामना करते हुए काशी के चोटी के जनप्रिय वैद्य ब्रजमोहन दीक्षित महोदय ने पत्र दिया।

टैम्पलरोडपुरी (उडीसा) में जगन्नाथ के ही एक रूप नलिनाक्ष् सेन गुप्ता हमारा सहपाठी और चरक में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होने वाला बन्धु हिन्दीभाषा में उत्तर लिखने का प्रयत्न करता हुआ लिखता है—हमारा पत्र अवश्य ही यथास्थान पहुँची होगी और तुमने उसको स्वीकार भी किया होगा में तो अपनी लेख चरक चिकित्सा का विशेषता पर समाप्त कर चुका अब रह गिया प्रधान (चूंकि में इसी को अधिक फर्ष्टकर समझता हूँ) फर्म उसको fair (ठीक) करना। आदि ऐसी मनोरञ्जक भाषा भारतीय विविधता का एक सुन्दर नमूना है।

एटा से एक मित्र लिखते हैं—रेल्वे के इञ्जन को छोटे बड़े तथा उच्च व साधारण श्रेणी के सब डिब्बों को मिलाकर सबका भारवाहन करना पड़ता है वैसे ही आप जैसे आचार्य को आयुर्वेदरूपी गाड़ी में इञ्जन बनकर हम जैसे साधारण डिब्बों को भी खींचना पड़ेगा और हमारा मार्गदर्शन कराना होगा।

मेरे एक साथी लिखते हैं—मैंने अभी विषय नहीं तय किया है। नपुंसकता, षंढता, श्वेतप्रदर, शीघ्रपतन आदि लेख धन्वन्तरि को दे दिये हैं। आदि।

काशी के और भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् वैद्य श्री दुर्गादत्त जी शास्त्री विशेष कार्य में व्यस्त रहने के कारण लेख भेजने में असमर्थ रहे। कलकत्ते के श्री पं० हरिवक्ष जी जोशी घर में लड़के की शादी के उत्सव में व्यस्त रहे। बालाघाट के श्री हुर्षुल मिश्र प्रान्त में वैद्यों के सङ्गठन के कार्य में गुंथे रहने के कारण हमारी बात कुछ देर से सुन सके। आगरे के श्री शिवकुमार जी वैद्य का स्वास्थ्य जबतक चरकचिकित्साङ्क निकला तब तक ठीक नहीं रहा। हमारे वैद्य एम. एल. ए. श्री मदनगोपाल जी साकेत अन्यमनस्क होने के कारण विषय सोचने की ओर आरम्भ में ध्यान न दे सके। जबलपुर के श्री मूलशङ्कर त्रिपाठी महोदय को समय की न्यूनता की विशेष शिकायत रही।

गिलानी के आचार्य श्री नित्यानन्द जी के पास हमारे द्वारा भेजा गया पत्र फाइल में ही दबा रहा। खन्ना के श्री धर्मदत्त जी शर्मा चौधरी के पास जो मैंने पत्र भेजा था वह कहीं पड़ा रहा पर वह मिला और लेख भी आया।

और सबसे बढ़िया पत्र है आचार्य श्री यादव जी का जिनको मैं गुरुवत् मानता हूं और अपने गुरुओं से भी बढ़कर मान देता हूं इनको जो विशेषाङ्क के छपे हुए फर्मे एक के बाद एक मैंने देखने के लिए भेजे थे उस पर ३ फरवरी को वे लिखते हैं—आपके भेजे हुए चरक चिकित्साङ्क के फारम फल रजिस्टर बुकपोस्ट से वापिस भेज दिये हैं। मेरी प्रकृति ठीक नहीं है। फारम देखने का अवकाश नहीं है। अतः बिना देखे ही वापिस भेजे है। भविष्य में भी कुछ न भेजा करें।

—यादव जी का आशीर्वाद।

उपरोक्त शब्द कार्य करते करते शिथिल ऐसे सिंह का चित्रण करते हैं जिसके पराक्रम की धाक सर्वत्र छाई हुई हो पर जिसके नख रद जराजीर्ण होने के कारण आगे को कुछ आशा नहीं। पर मैं इस चित्र को खींचते हुए कांप जाता हूँ। क्या यादव जी का सहयोग आगे न मिलेगा? भविष्य में भी कुछ न भेजा करें किस विभीषिका की ओर सङ्केत करता है? मुझे विश्वास है कि आयुर्वेद जो कायाकल्प में विश्वास करता है पुनः इस नरकेसरी को पराक्रम के गौरवशाली अध्याय लिखने को बाध्य करेगा और तब मेरे भेजे हुए फारम लौटकर बिना देखे ही नहीं चले आवेंगे।

अपने परम आदरणीय विद्वज्जन समादृत महानुभावों से चरक सम्बन्धी मुझे इतना साहित्य प्राप्त हुआ है कि यदि उसका प्रकाशन कर दिया जावे तो इतना ही बड़ा एक विशेषाङ्क और तैयार किया जासकता है। मैं नीचे (अप्रकाशित) लेख और लेखकों की क्रमबद्ध सूची (कापी की पृष्ठ संख्या के साथ) प्रकाशित करता हूँ। यदि भूल से कोई लेख मेरे पास कार्य करने वालों की असावधानी से नामान्वित न हो पाया होगा तो उसे आगे भूल सुधार में प्रकाशित कर दिया जावेगा—

१—चरक संहिता का इतिहास (२२ पृष्ठ)—श्री रघुवीरशरण शर्मा वैद्य बुलन्दशहर।

२—चरक का उदयकाल और चरक की जीवनी (१४ पृष्ठ)—वैद्य पं सभाकान्त झा वैद्यशास्त्री कलकत्ता।
३—चरकसंहिता तथा चरकमहर्षि (६ पृष्ठ)—श्री वैद्यनाथ भेड़ा आयुर्वेदाचार्य बम्बई।
४—चरकभगवान का जीवनवृत्त और चरकसंहिता का उदय (१० पृष्ठ)—श्री वैद्य रामेश्वर बद्रीसिंह सूर्यवंशी लखनऊ
५—चरक भगवान् का जीवनवत्त (३ पृष्ठ)—श्री वैद्य नानकचन्द वैद्यशास्त्र देहली।
६—आचार्य विशाल बुद्धि (८ पृष्ठ)—कवि० हरिकृष्ण सहगल देहली।
७—महर्षि चरक का काल तथा चरकसंहिता का उदय (६ पृष्ठ)—श्री ऋषिमित्र शास्त्री बम्बई।
८—चरक का प्रादुर्भाव (६ पृष्ठ)—कवि० ललिताप्रसाद पान्थरी ढगसोलीपट्टी गढ़वाल।
९—निसर्गोपचार के मार्गदर्शक महर्षि (६ पृष्ठ)—आयुर्वेद शिरोमणि श्री सी० के० दिवाकर हैदराबाद।
१०—चरकस्तु चिकित्सिते (४ पृष्ठ)—श्री पं० रामचन्द्र वैद्यशास्त्री अलीगढ़।
११—चरक साहित्य (पृष्ठ ७)—कवि० पुरुषोत्तमदेव मुल्तानी हैदराबाद।
१२—चरक पर लोकमत (पृष्ठ ४)—राजवैद्य श्री वेदव्यास शास्त्री जालंधर।
१३—आयुर्वेद में चरकसंहिता सर्वश्रेष्ठ (पृष्ठ ७)—कवि० श्री धर्मदत्त वैद्यशास्त्री खन्ना
१४—चरकसंहिता विमर्श (पृष्ठ९) श्री. आ. सोमदेव लखनऊ।
१५—चरक में रसविज्ञान (पृष्ठ ६)—डा० वेदव्यास शास्त्री जालंधर।
१६—चरक में होम्योपैथिक रहस्य (पृष्ठ ८)—आयुर्वेदाचार्य मदनगोपाल वैद्य फैजाबाद।
१७—चरक चिकित्सा की विशेषताएँ—आचार्य श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी जी लखनऊ।
१८—चरकचिकित्सा की विशेषताएँ (पृष्ठ ६)—श्री ताराशङ्कर वैद्य काशी।
१९—चरक चिकित्सा की विशेषताएँ (पृष्ठ ३)—रायबहादुर श्री पं० श्रीदत्त शर्मा ऋषिकेश।
२०—चरक चिकित्सा की विशेषताएँ (पृष्ठ ५)—विद्यार्थी श्री घनानन्द पन्त देहली।
२१—चरक चिकित्सा की विशेषताएँ (पृष्ठ १२)—श्री प्रो० सत्येश्वरानन्द लखेड़ा देहरादून।
२२—चरक चिकित्सा की विशेषताएँ—कवि० श्री नलिनाक्ष-सेनगुप्त पुरी (उड़ीसा)।
२३—चरक चिकित्सा पर मेरा अनुभव (पृष्ठ ८)—श्री हर्षुल जी मिश्र जबलपुर।
२४—चरक चिकित्सा प्रणाली पर एक विहंगम दृष्टि (पृष्ठ ९)—श्री वेदव्यासदत्त शास्त्री जालंधर।
२५—चरक चिकित्सा पर मेरा अनुभव (पृष्ठ ६)—आचार्य कमलापति शास्त्री जहानाबाद (गया)।
२६—चरक चिकित्सा पर मेरे अनुभव (पृष्ठ ८)—श्री वैद्य लीलाधर शर्मा कलकत्ता।
२७—चरक चिकित्सा के सिद्धान्त (पृष्ठ ३१)—श्री पं० हरिनारायण शर्मा प्रतापगढ़ (अवध)।
२८—चरक चिकित्सा के सिद्धान्त (पृष्ठ ११)—कवि० महेन्द्रनाथ पाण्डेय प्रयाग।
२९—चरक चिकित्सा के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन (पृष्ठ १०)—श्री गिरिजादत्त वैद्यशास्त्री बक्सर (आरा)।
३०—चरक चिकित्सा सिद्धान्तावलोकन (पृष्ठ १६)—श्री पं० रामावतार पाण्डेय महेशपुर (गाजीपुर)।
३१—चरकोक्त असाध्य लक्षणों को आधुनिक चिकित्सा कहाँ तक साध्य कर सकी है? (पृष्ठ १८)—श्री वैद्य मुन्नालाल गुप्त कानपुर।
३२—चरकोक्त दैवव्यपाश्रय चिकित्सा (पृष्ठ ६)—आ. श्री रामेश्वरप्रसाद शास्त्री डीडवाना (राजस्थान)।
३३—चरकउत्तरार्द्ध की कुछ शङ्काएं और उनका समाधान (पृष्ठ ९) आचार्य श्री लालचन्द वैद्य काशी।
३४—चरक की आवृत दोषकल्पना (पृष्ठ ६)—श्री. देवदत्त शर्मा पठानकोट।
३५—चरकोक्त बस्तिचिकित्सा (पृष्ठ ९)—वैद्यरत्न कवि. प्रतापसिंह जी इन्दौर।
३६—चरक सम्मत आतुरालय व्यवस्था (पृष्ठ ९) श्री

धरेन्द्रमोहन भट्ट बतौली (सरगूजा)।
३७—चरकोक्त आतुरालय व्यवस्था (पृष्ठ ८)—श्री सतीशचन्द्र सांख्यधर लखनऊ।
३८—चरकीय मान और मात्रा (पृष्ठा ११)—कवि० महेन्द्रकुमार शास्त्री बम्बई।
३९—मान (पृष्ठ ६) तथा मात्रा (पृष्ठ ८)—श्री सत्यनारायण मिश्र कानपुर।
४०—चरकमान कल्पना और मात्रा (पृष्ठ १०)—श्री. जगदीशनारायण त्रिपाठी प्रतापगढ़ (अवध)
४१—चरक सम्मत चिकित्सक एवं शारीर (पृष्ठ ४)—श्री पं० हरिदत्त शास्त्री कानपुर।
४२—चरक का एक श्लोक (पृष्ठ २)—श्री ताराचन्द लोढ़ा किशनगढ़।
४३—चरक के ३ योग (पृष्ठ १)—प्रो० श्रीकृष्ण त्रिवेदी देहली।
४४—चरकोक्त वातजन्य पाण्डुरोगी की सफल चिकित्सा (पृष्ठ ४)-वैद्य गोवर्द्धन हंसराज घटा।
४५—चरकोक्त पाण्डु चिकित्सा (पृष्ठ ७)—वैद्य शतानन्द शर्मा टीकरीकलां (अलीगढ़)।
४६—धन्वन्तरि वन्दना—श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी वैद्या हैदराबाद।
४७—चरकस्तुवन्—कवि० गौरीशङ्कर श्रीवास्तव बीना।
४८—कविता तथा अनुभूत योग (पृष्ठ २)—केहरकवि सरदार आत्मासिंह खरड़े (अम्बाला)।

अस्तु, न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमुत्पद्यते की छाया में विचार करने पर हमें ऐसा लगता है कि चरक का विशेषाङ्क रूप में प्रकाशन उस विज्ञान की पूर्ति कैसे कर सकेगा जो अवयव मात्र से जाना जाना सम्भव नहीं है। वस्तुतः चरक के सम्पूर्ण कलेवर को विशेषाङ्क रूप देने से कुछ ज्ञानोत्पत्ति की सम्भावना रहती है पर यहां तो स्थान का सङ्कोच, समय का सङ्कोच, इसीलिए चरक चिकित्सास्थानमात्र का प्रकाशन तय किया गया और निश्चित हुआ कि चरकसंहिता के सम्बन्ध में विविध विद्वानों के चोटी के कुछ लेख आरम्भिक १०० पृष्ठों में प्रकाशित कर दिए जावें। उसी दृष्टि से सूची बनी, सूची के अन्दर अनेकों त्रुटियां होने पर भी विद्वानों ने उसके अनुसार जो लेख भेजे उनकी सूची ऊपर दे दी गई है। उसमें उन लेखों का समावेश नहीं किया जासका जो विशेषाङ्क में स्वतः ही बोल रहे हैं कि हम इस स्थान पर उपस्थित हैं। सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने कराने की लालसा पूर्ण न हुई केवल ज्ञानावयव का प्रकाश कर पाये हैं। चरक पर हमारी अपनी व्याख्या और वक्तव्य को भी बहुत कुछ संक्षिप्त होना पड़ा है। इस सबके कारण सम्पूर्णता की ओर प्रयास करते हुए भी अवयवावयवांश मात्र ही आज उपस्थित किया जारहा है। अनेकों मित्रों और सहयोगियों के लेख रखे हुए हैं नत नेत्र हम विचार करते हुए किसी भी प्रकार विशेषाङ्क के साथ उनका समावेश कर नहीं पा रहे अतः कुछ अवसाद, कुछ खिन्नता, कुछ क्लिन्नता के साथ हम अपने चिरप्रतीक्षारत पाठक के औत्सुक्य की दिशा को मोड़ने के लिए विशेषाङ्क का यह रूप प्रकाशित कर रहे हैं। यद्यपि यह सम्पादकीय वक्तव्य न होकर प्रकाशकीय वक्तव्यवत् हो चला है फिर भी विशेषाङ्क की अभिनव छटा मे पर्याप्त पाठक-परितोष होना सम्भव है। यत्नपूर्वक छापे की अशुद्धियों को रोका गया है पर इस काल में इस देश में नैपुण्यप्राप्ति में लगभग दो दशक का समय और लग सकता है। **चित्राङ्कित विचार प्रस्तुतीकरण इसविशेषांक की एक नई व्यवस्था है जो पर्याप्त व्यय के पश्चात् साध्य होसकी है।** हमारा विचार है कि भविष्य में बृहत्त्रयी और लघुत्रयी के विशेष स्थानों को उठा कर इसी प्रकार चित्रित और वक्तव्य विभूषित करके आयुर्वेदजगत् के समक्ष उपस्थित करके नई शृङ्खला का सूत्रपात करें। यह विशेषाङ्क उसी दिशा की ओर इस क्षेत्र में प्रथम चरण है।

चरकस्तु चिकित्सिते

चरक की जीवनी पर विचार विद्वज्जन कर लेंगे पर चरक की चिकित्साशैली का विचार कर लेना हम सभी के लिए परमावश्यक होगा। हम क्यों चरकसंहिता में व्याप्त चिकित्सा को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। आद्योपान्त चरकसंहिता पढ़ जाने पर आपको कोई स्ट्रेप्टोमाइसीन या पैनीसिलीन का नुस्खा नहीं मिलेगा। पर, जो मिलेगा वह एको-

माइसीन और टैरामाइसीन को भी टैरीफाइड कर देगा। चरक की अपनी चिकित्सा में कितनी गति है उसका अन्दाज कल्पों की निम्नलिखित शक्तिमर्यादा से आंका जासकता है—

१—ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते।
—च० चिकि० २६-१७३।

२—जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम्।
—चिकि० २९-६९

३—सप्ताच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति।
—चिकि० ३०-७५

४—रसायनस्यास्य नरः प्रयोगा-
ल्लभेत जीर्णोऽपि कुटी प्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं
बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य॥
—चिकि० १। १७४

५—अस्य त्रिवर्ष प्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वाभयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीष्वपत्यवान् भवति। —चिकि० १। २४

६—जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः।
स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक्चरूपिणी॥
—चिकि० १। ३। १२-१३

७—षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः स्वयं चास्य सर्वं वाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति गतिर्योजन सहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति। —चिकि० १। ४-६

८—जरापरीतोऽप्यबलो योगेनाऽनेन विन्दति।
नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति॥
—चिकि० २-२-१६

९—रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां
दाहं च पीता शमयन्ति सद्यः। —चिकि० ४-७३

१०—लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान्
क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलं प्रयोगात् —चिकि० ६-४३

११—हन्यादेतत्सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः।
योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम्॥
—चि० ७-१४९

१२—रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति।
—चि० ८-१११

१३—अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम्।
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च॥ —च० ९-४७

१४—गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद्यासां स्रियेत वा।
धन्या वल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः॥
—चि० ११-७६

१५—दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते।
दुःखप्रसविनीनां वन्ध्यानां चैव गर्भदम्॥
—चि० १६-४५

१६—ते च सर्वव्रणान्हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः।
—चि० १६-९०

१७—हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशुनियच्छति।
—चि० १७-१२४

१८—तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम्। —चि० १८-६०

१९—पञ्चकासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्षणयोनिजम्।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगाश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत्॥
—चि० १८-४५

२०—जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान्विरेचनास्थापनयोश्चबस्तिः।
—चि० १९-६८

२१—एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्।
कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः॥
—चि० २३-८६

२२—तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान्हन्ति वातात्मकान् गदान्।
—चि० २८-१६३

कहना नहीं होगा कि इन उपरोक्त थोड़े से उद्धरणों में प्राचीन भारत का वह गौरव और समृद्धि से परिपूर्ण युग झांक रहा है जब हमारे काय-चिकित्सकों के पास विश्व भर से आर्तजन उसी प्रकार आते थे जिस प्रकार स्विटजरलैण्ड और इङ्गलैण्ड के वैद्यों के पास संसार भर से रोगीजन पहुँचते हैं। चरकीय चिकित्सा की इस मार्मिकता को वही

समझ सकता है जो सम्पूर्ण चरक के साथ घुल-मिल गया है जो उसके एक एक शब्द में रहस्य ही रहस्य का अनुभव करता है और जिसने अपनी जीवनगति पूर्णतः चरकीय वाणियों के अनुकूल ढालने का यत्न किया है।

चरकसंहिता में ज्ञान का विस्तृत क्षेत्र समाया हुआ है। वह ज्ञान सर्वतोमुखी है। ज्ञान की कोटि बहुत उच्च है और उस कोटि तक पहुँचने के लिए चरक पाठक को आहूत करता है हाथ पकड़कर उसे अपने पास बुलाता है और हृदय खोल कर सब कुछ उँडेल देता है। चिकित्सा स्थान का २७ वां अध्याय ऊरुस्तम्भ चिकित्सित है। यह बहुत छोटा अध्याय है पर संहिताकार ने जो कष्ट इसके निर्माण में किया है वह महान् है जो शक्ति लगाई है वह विपुल है। इसका आरम्भ है—

श्रिया परमया ब्राह्म्या परया च तपःश्रिया।
अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम्॥

धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम्।
अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान्॥

उपरोक्त श्लोकों का एक एक अक्षर तौल तौल कर चुन चुन कर रखा गया है। उपमा और उपमान अद्भुत है भाषासौष्ठव देखते ही बनता है। आचार्य से शिष्य ने अपना संशय पूछा है। साधारण आचार्य से नहीं उस आचार्य से जो परम ब्राह्मी श्री तथा श्रेष्ठ तपःश्री से सोने के सुमेरु पर पड़ी चन्द्र सूर्य की किरणों के समान प्राप्त छटा से युक्त है। जो धी, धृति, स्मृति, विज्ञान, ज्ञान, कीर्ति तथा क्षमा का मानो निवासस्थान हो। शब्दों में कितना ओज, व्यक्ति की गुणाभिव्यक्ति का कितना सरसप्रवाही, और प्रभावी रूप है।

शिष्य अग्निवेश जिसको अधिकांश संहिता पढ़ा दी गई है २७ वें अध्याय में आकर प्रश्न करता है, भगवन्! क्या कोई ऐसा भी रोग है जो साध्य तो हो पर जहां पञ्चकर्म व्यर्थ होजावें। अभी तक उसने यही सुना कि स्नेहनस्वेदन वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन और शिरोविरेचन द्वारा ही रोगों से रक्षा होती है। शङ्का कितने स्वाभाविकरूप में रखी गई है वह देखते ही बनता है।

'अस्त्यूरुस्तम्भ इति' में गुरु उत्तर देते हैं। शिष्य! ऊरुस्तम्भ एक ऐसा रोग है जिसमें पञ्चकर्म व्यर्थ सिद्ध होता है। फिर उसकी उत्पत्ति में कालभूत स्निग्धोष्णलघुशीतादि की एक पूरी लिस्ट दी गई है। उसके बाद—

स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह।
रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः॥

कि स्नेहादि कारणों से आम एकत्र होकर वातादि दोषों की गति को रोक कर और मेदोधातु के साथ कोष्ठ में उत्पन्न होकर भारी होने के कारण ऊरुओं में अधोगामी सिराओं द्वारा पहुँचता है। उत्कटबलयुक्त कुपित और अवरुद्ध दोष उस आम को जंघापाद ऊरु में पूर देते हैं जिसके कारण व्यक्ति अल्पविक्रम और गतिशून्य होजाता है। यहां पुनः उपमा दी है—

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा।
तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः॥

एक बड़े तालाब के समान निश्चल क्षोभरहित ऊरु का हो जाना। यह उपमा आचार्य के भावाभिव्यक्ति परम्परा का बड़ा मार्मिक दृश्य उपस्थित करती है आचार्य आत्रेय उदाहरण दे-देकर बहुत सरलतापूर्वक अग्निवेश की बुद्धि में ऊरुस्तम्भ रूप घोर व्याधि का समस्त ज्ञान प्राप्त करने के अंकुर जमा रहा है। पाठन शैली का यह प्रकार कितना भव्य है इसे आधुनिक झांकें।

'देहं निहन्त्यसून्' कहकर फिर ऊरुस्तम्भ की गम्भीरता की ओर उसे साधारण न समझकर उसके द्वारा होने वाली अपरिमित हानि की ओर भी लक्ष किया गया है। ध्यान-निद्रातिस्तैमित्यादि से उसके पूर्वरूप स्पष्ट किए गये हैं। और साथ ही दी है एक सावधानी— **वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा॥** कि यह वातव्याधि नहीं है अज्ञानवश स्नेहन करा दिया तो पैरों में सुप्ति इतनी बढ़ जायगी कि उसके पैरों का उठाना भी कठिन होजायगा। फिर इसके लक्षण गिनाए हैं। **अन्यनेयौ हि सम्भग्नावूरू पादौ च मन्यते।** और फिर एक और चेतावनी दी है **ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्**

और फिर उपदेश दिया है कि—साधयेदन्यथा नवम् ।

इस स्पष्ट चित्रण से यहां एक और रोग की विभीषिका प्रत्यक्ष होजाती है वहीं दूसरी ओर उसको ठीक करने के लिए उसका नवीन होना परमावश्यक होजाता है। पुराना ऊरुस्तम्भ जिसमें दाह-अरति-तोद-वेदनादि लक्षण आगये हों तो वह अवश्य मार डालता है। नये ऊरुस्तम्भ में क्या किया जाय? इसे बताने के पूर्व क्या न किया जाय वह गिनाया गया है—

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम् ।
न चैव वमनम्........ ....॥

क्यों न किया जाय इसका भी मार्मिक उत्तर दिया गया है—

वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च ।
तत्स्यस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥

क्योंकि स्नेहन वमन विरेचन बस्तिकर्म से बढ़ा हुआ कफ एक समस्या बन जाता है उसका उद्धरण इनमें से किसी उपाय से शक्य नहीं है।

न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात् ।

का अनूठा उदाहरण फिर पेश है कि गीली जगह से जल का निकालना कठिन है वैसे ही ऊरुओं में व्याप्त आम-युक्त समेदकफ का निर्हरण नहीं हो सकता।

फिर क्या किया जाय?

तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा ।
युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात्कफामयोः ॥

कुछ भी करने के लिए आचार्य सबसे पहले युक्त्यपेक्षी भिषक् चाहता है। जो कोई युक्ति कर सके। फिर उसी युक्त्यपेक्षी भिषक् को सिद्धान्त समझा देता है कि जैसे नीचे स्थान में रखे पानी को बाहर की ओर बहाकर निकालना कठिन है उसी प्रकार इस रोग के कफ और आमदोष पंचकर्मों द्वारा निकालने की चेष्टा व्यर्थ है। नीचे स्थान का जल उलीचा जाता है सुखाया जाता है और शान्तिपूर्वक धीरे धीरे नष्ट किया जाता है। यही यहां भी करो यह आदेश है। संशमन, क्षपण और शोषण करो। दोष को शान्त करो, क्षीण करो, सुखादो।

किससे करें?

रूक्षण कैसे हो—इसे स्पष्ट कर दिया है कि—

सदा रूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान् ।

शाकैरलवणैर्वद्याज्जलतैलोपसाधितैः ॥
सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्रारग्वधपल्लवैः ।
वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च फुलकादिभिः ॥

इनके अतिरिक्त फिर कफ और आमदोषनाशक हरड, मधूदक, पिप्पली, समङ्गा, सेमर, वेल, बैरोजा, सुगन्धवाला, देवदारु, चन्दन, धाय, कूठ, तालीसपत्र, जटामांसी, मोथा, लोध, पद्माख, कुटकी, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, वचा, चव्य, चित्रक, पिप्पलीमूल, भल्लातक, गुञ्जा, मदनफल, दन्ती, इन्द्रजौ, कुटजत्वक, दधिमण्ड, मूर्वा, अतीस, स्वर्णक्षीरी, तेजबल, पाठा, गूगल, प्रियंगु, नखी, त्रिफला, इन औषधियों के विविध योगों का प्रयोग करने को लिखा है। विविध योगों का संगठन ऐसे किया गया है कि यह ऊरुस्तम्भनाशक बने अर्थात् कफ को और आम तथा मेदस् का संशमन, क्षपण या शोषण करदे। शोषण और क्षपण से जहां कफ सूखेगा वहां मनुष्य में रूक्षता का अत्यधिक सञ्चार हो जावेगा। रौक्ष्य के कारण वातोत्पत्ति होगी। वातव्याधि के दो मुख्य लक्षण होते हैं एक पीड़ा का होना और दूसरा अनिद्रा का उत्पन्न होजाना। अतिशय रूक्षणकर्म करने से ये दोनों ही आसकते हैं और वैद्य के सामने एक भयंकर समस्या उत्पन्न होजासकती है उसे दूर करने के लिए वातव्याधिहर चिकित्सा करना स्नेहन और स्वेदन करना उचित ठहराते हुए आचार्य लिखते हैं—

रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः ।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥

वातामयनाशक अनिद्रा और अरतिहर कौन स्निग्ध योग दें जो कफदोष का उन्नयन भी न करे ऊरुस्तम्भ को बढ़ावे भी नहीं और शान्त भी होजावे। एक दूसरे के विपरीत स्थिति उत्पन्न होने में जो उपाय चरकसंहिता में उपलब्ध हैं वे अद्वितीय हैं। इस स्थिति को दूर करने वाला एक प्रयोग हम सुनाते हैं—

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा ।
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत् ।
सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वाऽपि ना पिबेत् ॥

उपरोक्त योग में पीलुपर्णी से पाठा तक जितने द्रव्य हैं उनसे तैल सिद्ध किया गया है। यह तैल वातनाशक तथा कफ

को भी अधिक बढ़ाने वाला नहीं है फिर भी स्नेह के कारण कफ की वृद्धि की शंका मिटाने के लिए उसे सक्षौद्र लेने को कहा है। क्षौद्र (शहद) कफनाशक और योगवाही है। ऊरुस्तम्भ का कफ क्षौद्र के अनुपान के कारण बढ़ नहीं सकेगा। क्षौद्र का इस प्रकार उपयोग करना तथा एक छोटी सी क्षौद्र वाली युक्ति का काम में ले आना चरक की बहुत बड़ी विशेषता है इसको आधुनिक नहीं समझ पाते। कुष्ठादि तैल भी सक्षौद्र है। ये योग ऊरुस्तम्भ की रूक्ष चिकित्सा के अतिशय करने के कारण उत्पन्न रौक्ष्य के नाश करने के लिए हैं—

रौक्ष्यान्मुक्त ऊरुस्तम्भातातश्च सविमुच्यते।

तैलों में सरसों का तैल पसन्द करना भी अपने अर्थ रखता है जिसे पाठक भले प्रकार जानते हैं। सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि जो चरक सैकड़ों घृतयोगों के प्रयोग का पक्षपाती है ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा में मानो घृत को भूल ही गया है। ऊरुस्तम्भ को देखकर कोई भी उसे घृत प्रयोग विरोधी ही मानने को बाध्य हो सकता है। घृत कफ-कारक होने से ऊरुस्तम्भ में सवथा वर्ज्य है। अन्यत्र कफज व्याधियों में पञ्चकोल से शृत घृत इसलिए वर्ज्य नहीं है कि उनमें कफ का निर्हरण वमन विरेचनादि से सम्भव है। पर इस व्याधि में तो कफ ऊरुओं में मेद के साथ बंधा पड़ा है उसे निकालने का उपाय क्षपण और शोषण से ही सम्भव है। जो दोनों कार्य घृत नहीं कर सकता।

सैन्धवाद्य और अष्टकट्वर ये दो तैल बिना शहद के अनुपान के भी लिखे हैं पर उनमें जिन ओषधियों का प्रयोग हुआ है वे घोर कफनाशक हैं।

आन्तर प्रयोगों के साथ बाह्य प्रयोगों की महत्ता आचार्य ने ऊरुस्तम्भ क्या कहीं भी कम नहीं की। यहां उसने उत्सादन, प्रलेपन, सेचन, ही नहीं बताये व्यायाम भी बताये हैं तैराया भी है, चलाया भी है। हर प्रकार से कफ को सुखाने का प्रयत्न कर रोग को शान्त किया गया है—

तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।

सब कुछ लिखने के बाद आचार्य शान्त नहीं होते वे एक मार्ग का दर्शन कराकर अपने शिष्य को एक सिद्धान्त-रूपी टॉर्च भी थमा देते हैं ताकि फिर वह स्वबुद्ध्या पथ पर वीतशङ्क चलता चला जाय। यह है उनका सिद्धान्त वाक्य—

श्लेष्मणः क्षपणं यत्स्यान्न च मारुतकोपनम्।
तत्सर्वं सर्वदा कार्यं मूरुस्तम्भस्य भेषजम्।
शरीरं बलमग्निं च कार्यंणा रक्षता क्रिया॥

अर्थात् जो कफ का क्षीण करने वाला है और जो वात की वृद्धि न करे वह सब ऊरुस्तम्भ का इलाज है। शरीर और उसके बल तथा अग्नि की रक्षा करते हुए ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा की जानी चाहिए।

इतना सब लिखने के बाद यह ऊरुस्तम्भ प्रकरण आचार्य ने समाप्त किया है। उपरोक्त वर्णन से हमें आचार्य की पाठनशैली, विचारशैली और चिकित्साशैली का यथार्थ सुविमल स्पष्ट ज्ञान होजाता है कि—

★ आचार्य के पास वक्ष्यमाण विषय का एक स्पष्ट चित्र है।

★★ आचार्य को स्वयं किसी प्रकार की शङ्का नहीं है।

★★★ आचार्य प्रतिपाद्य विषय के समझाने में कोई कोर कसर शेष नहीं रखते। उदाहरण देकर, उपमाओं के द्वारा जैसे भी बनता है आचार्य शिष्य को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

★★★★ आचार्य ने सिद्धान्त का सदैव समर्थन किया है चिकित्सा के उच्च आदर्शों को बढ़ाया है।

★★★★★ आचार्य ने वैज्ञानिक का जो सर्वाङ्ग-सुन्दर स्वरूप आज के युग में हो सकता है उसे अपने कर्तृत्व से ज्ञान और तप के प्रकाश में उसे पूरा का पूरा उतारा है।

चरकसंहिता में सिद्धान्तों की बाढ़ है, बुद्धि का उपयोग करने की पुकार है और पग पग पर सावधानी बरतने के

लिए निर्देश किया गया है। बुद्धि के उपयोग की महत्ता नीचे के कुछ वाक्यों से भले प्रकार आजावेगी —

१—कालविन्निर्हरेत्सद्यः सर्पिषतः क्षीरवस्तिभिः।

—चिकि० ५-१३

२—निदान दोषर्तु विपर्ययक्रमैर्दवाज्ञरेत्तं बलदोष कालवित्।

—चि० १२-१५

३—वर्णं प्रशाङ्गस्थया चिकित्सेत्। —चि० १२-८४

४—बल कालविशेषज्ञा भिषक्तत्र प्रयोजयेत्।

५—तत्र दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत्।

—चि० १४-८५

६—...कि ज्ञःशोधनैस्तीक्ष्णैः .... ।

—चि० १६-१११

७—प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः। —चि० २०-३६

८ देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः।

—चि० २१-१३७

९—यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्।
ससाध्यासाधयेद्व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित्॥

—चि० २४-१८८

१०—रोगदोषबलापेक्षो मात्राकालाग्निकोविदः।

—चि० २५-१०४

११—युक्त्यपेक्षी भिषक्कुर्यात्। —चि० २६-२४

१२—चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित्।

—चि० २९-२५४

ऊपर के बारहों उद्धरणों में वैद्य को कोई न कोई संज्ञा विशेष देकर पुकारा गया है। यह सब संज्ञाएँ उसके बुद्धि वैशिष्ट्य का प्रकर्ष करने की दृष्टि से दी गई हैं। साथ इनसे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में देश, काल, बल, प्रकृति, सात्म्य, साध्यासाध्यता, मात्रा, अग्नि आदि पर विशेषरूप से विचार करने वाले और उचित परामर्श देने वाले विद्वान् प्राप्त होते थे।

चरकसंहिता की सबसे बड़ी विशेषता जो हमें देखने को मिलती है वह यह है कि आचार्य ने जिस विषय को उठाया है उसकी छोटी छोटी बात को भी बिना छोड़े वर्णन किया अध्याय २८ में गिनाए हैं उनमें अस्थिगत, सिरागत, स्नायुगत, शुक्रगत, मज्जागत, मांसगत रक्तगत, त्वचागत, पक्वाशयगत, आमाशयगत, गुदगत, कोष्ठगत और गुदगत सभी प्रकार की वात के लक्षण दिये हैं और चिकित्सा भी दी है। गर्भगत कुपितवात की चिकित्सा देते देते आचार्य ने बालशोष का (बच्चों के सूखा रोग का) भी नुस्खा बताया है—

गर्भशुष्के तु पातेन बालानां चापि शुष्यताम्।
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः॥ —चि० २८-९२

यदि भारतीय माताएँ गर्भावस्था में वातकोप रोकने के लिए मिश्री गंभारी के फल और मुलहटी से शृत दूध पिया करें और वही अपनी सन्तान को पिलावें तो क्यों सहस्रों रुपये की विदेशी औषधों की आवश्यकता पड़े।

हृदय में वात का प्रकोप होने पर दिल हिलने लगता है धड़कन प्रगट होजाती है मृत्यु के साक्षात् दर्शन तक हो सकते हैं ऐसी अवस्था में—

हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम्।

को याद रखने वाला प्राणी शालपर्णी से सिद्ध दुग्ध का नित्य सेवन करता हुआ अपनी और अपने पैसे की कितनी सरलता से रक्षा कर सकता है।

मेरे चिकित्सालय पर एक लड़की हनुग्रह से पीड़ित आई। उसका मुख खुला हुआ था बन्द नहीं होता था। एक विद्वान् डाक्टर वहीं उपस्थित थे। बोले वैद्य जी आप इसे करता तुरत ठीक देंगे पर यह बताओ कि क्या यह क्रिया पश्चिमी विद्वानों की देन नहीं है। मैंने कहा यही क्रिया ऐसी है जिसके बल पर मैं पश्चिमीय विद्वानों को भारतीय शास्त्रों की चोरी करता हुआ देखता हूँ। लिखा है—

हनुमूले स्थितो बन्धात् स्रंसयत्यनिलो हनू।
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात्स्तब्धवेदनम्॥

—चि० २८-४७

कि हनुमूल में स्थित वायु हनु (jaw) को बन्धन से हटाकर विवृतास्यता (खुले मुख वाला हनुग्रह कर देता है)।

हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं संवृतवक्त्रताम् ।

हनु को स्तब्ध करके जकड़कर सन्धि के हटने से (by displacement of the temporomandibular joint संवृतवक्त्रता (बन्द मुख वाला हनुग्रह) भी कर देता है ।

मैंने कहा महाशय जी दोनों चरकसंहिता की देन है जिस पर पश्चिमी विद्वानों ने अपना अधिकार जमा लिया है । विवृतास्यता (डिस्लोकेशन आव जौ) तथा संवृतास्यता (लौक जौ) दोनों को इस देशवासी पहचानते थे । वे बोले माना कि वे पहचानते थे पर उसका इलाज तो अब निकला है । थोड़ा सा खीझ तो गया पर फिर मैंने कहा प्रियवर आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इसकी जो चिकित्सा है उसके लेख का अक्षर अक्षर चुराया हुआ है—सुनिए चरक की चिकित्सा हनुग्रह की—

व्यादितास्ये हनुंस्विन्नमंगुष्ठाभ्यां प्रपीडयेत् ।
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नमनं हितम् ॥
स्रस्तं स्वं गमयेत् स्थानं स्तब्धं स्विन्नविनामयेत् ।

—चि० २८-९९

अर्थात् खुले मुख वाले हनुग्रह में हनु को स्विन्न करके दोनों अंगूठों (को मुख में डाल उन) से पीड़ित करे दोनों तर्जनी अंगुलियों से उठाकर चिबुक का उन्नमन करे । (इससे) ढीला होकर हनु अपने स्थान को चला जाता है । अब इसी का अक्षरशः अनुवाद जो पश्चिमी विद्वानों ने किया है उसे उन्हीं की भाषा में यों पढ़िये —

These dislocations are reduced by placing well padded thumbs inside of the mouth on the lower molar (back) teeth with the fingers running along the jaw bone as lever. The thumbs should be pressed downward towards the patient's lips and the fingers upward towards the patient's nose. Give a twisting motion to the jaw and at the same time with the wrist and the elbows press backward towards the neck. The jaw gliding over the ridge of the bone may be felt and just as this occurs the jaw usually snaps into place. When this motion is noted it is desirable to move the thumbs outwardly towards the cheeks to avoid the thumbs being crushed between the molars.

यह उदाहरण इसीलिए दिया गया है कि आधुनिक युग में आचार्यों द्वारा खोजे गये ज्ञान को आधुनिकों ने अपनी छाप के साथ प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है । चाहिए यह कि जो ज्ञान जिस स्रोत से प्राप्त हुआ है हम उस स्रोत का स्मरण करते हुए आगे जो कुछ हम उसकी वृद्धि कर सकते हैं कर लें ।

पाश्चात्यविज्ञान और वैद्य

कृत्स्नो हि लोका बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् ।

—चि० ८-१२

अवश्य ही सम्पूर्ण लोक बुद्धिमानों का आचार्य (गुरु) तथा मूर्खों का शत्रु (होता है) । अस्तु, वैद्य को तो सम्पूर्ण विश्व को अपना गुरु मानकर उससे ज्ञान प्राप्त करके उसका उपयोग करना चाहिए । जब वैद्यगण समाज के प्रत्येक घटक से विरोध करते हैं और पश्चिमीविज्ञान की आचार्यता स्वीकार न कर उसके विरोध में खड़े होकर उटक बैठक करने लगते हैं तो वे निस्सन्देह अपनी अबुद्धिमत्ता अर्थात् मूर्खता का ही परिचय देते हैं । यह सम्पूर्ण लोक के लिए घोषणा है । इस मर्त्यलोक में भारतवर्ष ही नहीं विश्व का इस अखिल ब्रह्माण्ड का पूरा पूरा ही समावेश इसमें होता है । चरक संहिताकार का कथन है कि विश्व के कोने कोने में व्याप्त ज्ञान के भण्डार को बुद्धिमान बनकर ग्रहण करले अबुद्धिमान् बनकर उससे शत्रुता न करे ।

न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारम् ।

क्योंकि, आयुर्वेद का पार नहीं । कुछ ग्रन्थों के बन्धन में आयुर्वेद को बांधा नहीं जासकता । इटली के भूखण्ड में बैठकर यदि कोई प्राणवर्धक वस्तु का निर्माण करता है

या स्वीडन की गली में किसी श्वासनाशक द्रव्य का कोई आविष्कार करता है या कोई कैलीफोर्निया की घाटी में उगी किसी संजीवनी को प्रकाशित करता है या टस्मानियां के निकट समुद्र से किसी विशेष जल-जीव द्वारा किसी रोगसंहार में सहारा मिलता है तो क्या उसे आयुर्वेद के आधार पर ग्रहण नहीं किया जावेगा ?

परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्

दूसरों से भी उपलब्ध करना चाहिए। अर्थात् दूसरों के पास जो आयुवर्द्धक सम्पत्ति है उसकी भी उपलब्धि कर लेनी चाहिए। **तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्, एतच्च कार्यम्।** इस कारण से प्रमादहीन निरन्तर इस विशेष कार्य में जुट जावे। यही कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार आचारसौष्ठव और दोषरोपण से दूर रहकर इस ज्ञान के सङ्कलन की शास्त्रीय आज्ञा है।

यदि हम चरकसंहिता को आद्योपान्त पढ़ें तो हमारे मन की सङ्कीर्णता जो इतर क्षुद्रजनों के द्वारा पैदा की गई है नष्ट होजावेगी। जो अपना शत्रु हो उससे भी प्राणवर्द्धक पदार्थ प्राप्त कर लेने की बुद्धि को वैद्य के अन्दर होना परमावश्यक बतलाया गया है। सुनिए—

अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।

इसलिए बुद्धिमान वैद्यों को अमित्र (विरोधी) का भी धन्य, यशवर्द्धक, आयुवर्द्धक, पौष्टिक, लोकानुमत, उपदेश किए वचन को सुनना चाहिए और करना चाहिए। इसे हम स्पष्ट करते हैं। आज आयुर्वेद विरोधी वर्ग है ऐलोपैथों का। पर उनके पास कई धन्य, प्राणवर्द्धक, यशवर्द्धक, पौष्टिक और लोकानुमत पदार्थ हैं पैनीसिलीन, औरियोमाइसीन, स्ट्रैप्टोमाइसीन, क्लोरैम्फैनीकौल, सल्फानीलैमाइड, सल्फाडायजीन, सल्फापिरीडीन, सल्फामिज़ेथीन, डी डी टी., क्विनीन, डिजीटैलिस, एड्रीनलीन विविध हारमोनजन्य द्रव्य, शल्य-शालाक्य-प्रसूति-काय-भूतविद्या-अगदतन्त्र और रसायन सम्बन्धी अनेक पदार्थ हैं तो क्या उन्हें हमें ग्रहण नहीं करना चाहिए ? यदि इस काल में आत्रेय, अग्निवेश या स्वयं चरक ही होते तो वे अपने ही वाक्यों के अनुसार इन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते। कारण यह कि उनका दृष्टिकोण विशाल था।

सम्पूर्ण ज्ञान सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने वेद के रूप में अपने मुख से गाया। ब्रह्मा के द्वारा आयुर्वेद भी गाया गया। अतः आयुवर्द्धक जो कुछ भी कहीं मिलता है वह सब ब्रह्मदत्त ज्ञान है। हम भी ब्रह्मदत्त पदार्थ की प्राप्ति के अधिकारी हैं। अस्तु, हमको आधुनिक ज्ञान को लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।

> **दीर्घजीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्।**
> **इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्॥**

दीर्घजीवन की इच्छा करता हुआ उग्रतपा भरद्वाज ऋषि इन्द्र को शरण्य और देवेश्वर जानकर गया। यदि भरद्वाज शुभ गुणों के आकर शरणागतवत्सल देवराज के पास जाकर ब्रह्मप्रदत्त ज्ञान को लाकर भारतीय वैद्यों को दे सकता था तो आज का रामनाथ आस्ट्रिया में जाकर किसी विशिष्ट औषधि का अध्ययन कर लौटता है तो क्यों उसे हम ग्रहण न करें ? हमारा लक्ष्य है प्राणियों की आयु का वर्धन और '**प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च** स्वास्थ्य का संरक्षण और विकारों का प्रशमन करना ही तो इसका प्रयोजन है। कहने का तात्पर्य यह है कि आप अपनी ईर्ष्या और घृणात्मक प्रवृत्ति से समाज का कल्याण नहीं रोक सकते और न अपने साथ शास्त्र को घसीट सकते हैं।

भिषक् भिषजा सह सम्भाषेत

(एक वर्ग का) चिकित्सक (दूसरी पद्धति के अथवा अपने ही वर्ग के) चिकित्सक के साथ सम्भाषण करे। शास्त्र ने यह आज्ञा क्यों दी है ? इसलिए दी है कि इससे चिकित्सक के ज्ञान की वृद्धि हो और वह अधिक लोक-कल्याण कर सके।

आयुर्वेद एक देशीय वस्तु नहीं

संकुचित, पीड़ित, दूषित मनोवृत्ति वाले व्यक्ति यदि त्रिफला त्रिकुटा देकर अपनी जीविका कमाते हैं तो वे वैद्य नहीं, अपने पेट भरने वाले हैं। बेचारों को कोई व्यवसाय न मिलने के कारण उनकी प्रवृत्ति इसमें हुई है। पेट पालना,

संसार के विद्वानों द्वारा घोर परिश्रम के बाद उत्पन्न लोक-कल्याणकारक ज्ञान की निन्दा करना और आयुर्वेद की सेवा में ही संलग्न अपने ही समीप के बन्धु को भी गाली देना यह वैद्य का न तो स्वरूप है और न लक्षण ही। भारतवर्ष में इस समय तो लाखों ऐसे व्यक्ति भरे हुए हैं जो अपने को वैद्य नाम से प्रगट करते हुए आयुर्वेद का गला घोंटते हैं।

आयुर्वेद को भारत तक सीमित करने वाले ये वैद्य नामधारी आयुर्वेद शत्रु हैं। आज इनकी प्रगति के अनुसार पढ़े लिखे समाज से निकलकर आयुर्वेद अब मूर्खों तक सीमित होता चला जारहा है। आधुनिक प्रगति के एक एक पहलू की निन्दा करने में यह वैद्यनामधारी लगा हुआ है और अकारण अपना दायरा छोटा करता जारहा है। आयुर्वेद के विद्वान् और जिन्होंने इसके प्रचार में अपना जीवन खपाया है वे अनुभव करने लगे हैं कि अब आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल नहीं दिखता। इसकी उज्ज्वलता कहां लुप्त होगई? हीरे को मैले की टोकरी में डाल देने के बाद हीरे की उज्ज्वलता कब तक टिक सकती है? उसे कौन अपने मुकुट में जड़वाने का साहस कर सकता है? हमारा बल घट रहा है पौरुष घट रहा है, विद्या घट रही है और कला क्षीण होरही है। इसी कारण इस संकुचित मनोवृत्ति के कारण हमारे अपने नाश का वातावरण उत्पन्न हुआ है। आयुर्वेद को मूर्खों तक सीमित रखकर सिहाने वाले नामधारी वैद्यों के कानों में मूर्ख कही जाने वाली परम चतुर ग्रामीण जनता की भी आज यह पुकार सुनी जाने लगी है कि हमें वैद्य नहीं चाहिए, डाक्टर चाहिए। आप संसार की प्रगति से आखें बन्द रखकर छकड़े में बैठे गर्दभ स्वर से समाज के कल्याण की बात कहते रहिए न बोल सकने वाले गाड़ी के बैल सुनते रहेंगे शेष तो उधर फटकेंगे ही नहीं। वे तो चाकचक्य से परिपूर्ण रँगीली दुनियां को भी बतलाने वाले शोभा, श्री और विद्या से परिपूर्ण कारों और वायुयानों में बैठने वाले समुद्र पार जाने वाले लाखों रुपया और बीसियों बहुमूल्य वर्ष खपाकर ज्ञानार्जन करने वाले तपस्वियों के चरणों में सिर रखेंगे। क्योंकि आप हरड़ का चूरण देते हैं इसलिए आपका मान हो, क्योंकि आप प्रगतिशील वर्ग की [illegible] करते हैं इसलिए आपका मान हो, क्योंकि आप विदेशी भाषा और विदेश से आये हुए ज्ञान के घोर शत्रु हैं इसलिए आपका मान हो! अथवा आप जैसे बुद्धिशत्रुओं को सागर में लेजाकर डुबादिया जाय इसलिए कि आयुर्वेदरूपी जो अमूल्य रत्न को आपने बरबस भूमि में गाड़ रखा है उसे तुम्हें डुबाकर भूमि खोदकर निकाल लिया जावे और उसे जनस्वास्थ्य संरक्षण निमित्त रोग के कारक घटकों और [illegible] शुओं के लिए वज्रवत् प्रयोग में लाया जावे।

इतना समय बीतने पर भी वैद्य केवल अपने पेट भरने में लगे रहे और आयुर्वेदोन्नति में बाधक रहे उनकी लाभ हानि का कच्चा चिट्ठा यह है कि आज आयुर्वेद विरोधियों की शक्ति और साहस बढ़ा है। हम अपने ही देशभक्त नेताओं को आयुर्वेद के प्रति अधिक निष्ठ नहीं बना सके यह जो विभिन्न प्रदेशों में आयुर्वेद का प्रचार सरकारी गैर-सरकारी विधि से होरहा है वह नामधारी वैद्यों के परिश्रम का फल नहीं है। वह तो युगानुयुग से संचित और वर्द्धित आयुर्वेद स्नेहरूपी क्षुप जो प्रत्येक भारतीय के हृदय-प्राङ्गण में उग रहा है उसी के पुष्पों का सुरभि का द्योतक है सरकार आयुर्वेद के लिए जो करना चाहती है उसमें बाधक होता है पदलोलुप नामधारी वैद्य जो उसकी निराधार कटु आलोचना करता रहता है। सरकारी कोई भी आयुर्वेद के लिए पदवी आई कि उस पर एकदम अयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति होजाती है। वह अयोग्य अधिकारी नामधारी वैद्यों से माला पहनने में उन्हें लैक्चर देने में और उनके द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करने में लगा रहता है। कोई भी आधुनिककालीन वैद्य अधिकारी खुलकर यह कहने में समर्थ नहीं होता कि आयुर्वेद का विनाश जितना उसके पुत्र कर रहे हैं दूसरा कोई नहीं कर रहा आयुर्वेद के समक्ष यदि आज कोई समस्या है तो वह है। बढ़ती हुई स्वेच्छाचरता।

बड़े बड़े विद्वानों ने नवीन प्रणाली के आयुर्वेद विद्यालय स्थापित किए थे। उनमें आयुर्वेद के साथ एलोपैथी भी पढ़ाई जाती थी। छात्र दोनों का समान अध्ययन कर संसार में प्राप्त ज्ञान का अर्जन करते रहे। उनके छात्रजीवन में जो गुरु लोग आयुर्वेद का ज्ञान देने आये उन्होंने आयुर्वेद की छाप उन पर लगाई नहीं उसको योग्य रूप से रखने में अस-

मर्थ केवल अपने लिए ही परिडत ऐसे वैद्य अध्यापक रूप में आयुर्वेद विद्यालयों में रहा करते हैं। दूसरी ओर नवीन ज्ञान से परिपूर्ण बैठने, उठने, कपड़ा पहनने, बात करने की सभ्यता से युक्त मनोविज्ञान को समझने वाला डाक्टरवर्ग रहता है। वह जो कुछ जानता है बड़े विचार पूर्वक रखता है उसमें रुचि उत्पन्न करता है और वह अपने प्रभाव में छात्रों को ले आता है। विद्यार्थी–जीवन से ही यह नवीन वैद्य प्रगतिपरक आचरण करने लगता है उनकी दकियानूसी प्रगति-विरोधी प्रवृत्तियों से घृणा होजाती है इसी घृणा के वेग मे आयुर्वेद भी बहने लगता है। और स्नातक होकर जो रूप हमे इस वैद्य के प्राप्त होते हैं आयुर्वेदाभिमानियों का जी खट्टा होजाता है तथा वद्यनामधारियों का पारा चढ़ जाता है। इस स्नातक समुदाय का दोष नहीं जिसका स्वरूप यह आज प्रगट हुआ है। यह दोष है सबसे पहले आयुर्वेदाध्यापकों का जो गुरुजी गुरुजी सुनते हुए नहीं अघाते और केवल अपने मन में अपने को संसार भर से बुद्धिमान मानकर बैठे रहते हैं। ग्रन्थों का वाच्याभास करके कक्षा से अपना पिण्ड छुडा कर डटाडट प्रैक्टिस मे जुटे रहते हैं। इस दौर मे एक और साझीदार हैं और वह है यह नामधारी वैद्य जिसने आज आयुर्वेद को मूर्खों तक सीमित रखने का प्रयत्न कर रखा है और जो प्रगति के नाम से जलता है। हजारों रुपया खर्च करने के बाद स्नातक जब समाज के सम्मुख आता है तो वह बुद्धिमान् श्रीमान् व्यक्तियों की खोज करता है ताकि आनन्दपूर्वक जीवन निर्वाह की समस्या हल हो। अस्तु, वह प्रगतिपरक वेशभूषा और भाषा का प्रयोग करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार आयुर्वेद या ऐलोपैथी का उपयोग करता है। इधर नामधारी वैद्य उसके विरोध में खड़े होजाते हैं उधर एलोपैथ उसे कोसना आरम्भ कर देते हैं और परिणामस्वरूप उसे इन दोनों से घृणा होजाती है। परिणाम मिलता है कि आयुर्वेद की कमाई से बना एक पुत्र आयुर्वेद विरोधी कैम्प में या उस कैम्प में जिसमें आधुनिकता की छाप है चला जाता है। अच्छे आचार्यों को नियुक्त कीजिए। नामधारी वैद्यों का तिरस्कार कीजिए और देखिए कि आयुर्वेद भारत के मूर्खों की कृपा पर अवलम्बित न रह कर जगत् के विद्वानों के जीवन का आधार बन जाता है।

इंग्लैण्ड का बर्नार्डशा, फ्रांस का रोम्यांरोलां, रूस का टाल्स्टाय, यूनाइटेड स्टेट्स आव अमेरिका का अब्राहम लिंकन तथा इटली का मारकोनी अपने बुढ़ापे को दूर कर स्वस्थ सबल जीवन बनाने के लिए च्यवनप्राश क्यों न खायेंगे। वे द्राक्षासव का पान क्यों न करेंगे वे गन्ध तैलों के साथ बने तैलों का अभ्यंग क्यों न करेंगे और वे क्या हितमित भोजन की आयुर्वेदीय वचनावली का पालन कर दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिए उद्यमशील होंगे। संकोच की मूर्ति नामधारी वैद्य समाज इनके पास पहुंच सकेगा? नहीं। कौन जावेगा? आधुनिक आयुर्वेद विद्यालयों से निकले हुए स्नातक जायेंगे और विश्व के कोने कोने में आयुर्वेद का प्रचार करेंगे। अंग्रेजी बोलेंगे, फ्रेंच बोलेंगे, जर्मन बोलेंगे, रूसी बोलेंगे, अफ्रीका के नीग्रो लोगों की बोली बोलेंगे और स्थापित करेंगे स्थान स्थान पर अपने चिकित्सालय और देंगे सन्देश विश्व के बन्धुओं को—

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा शाश्वतश्चायुषो वेदिता; अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात् एष चार्थसंग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति; गुरु लघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां च द्वन्द्वानां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथोक्तं गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामेवमेवेतरेषाम् इत्येष भावस्वभावो नित्यः स्वस्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनां सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः। न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते अन्यत्राव बोधोपदेशाभ्याम्; एतद्द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। स्वाभाविकं चास्य लक्षणकृतक यदुक्तमिह चाद्येऽध्याये। यथाग्नेरौष्ण्यमपां द्रवत्वं भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य, यथोक्तं-गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामित्येवमादि। सू ३०।२५

और वह समय भी आवेगा जब अफ्रीका के बसूटोलैण्ड या नाइजीरिया का निवासी उपरोक्त आयुर्वेदीय गद्य का अर्थ काशी के पण्डितों के बालकों को सिखाया करेगा और इटली जापान कैनाडा या पीरू में आयुर्वेद के विद्यालय बनेंगे और यह आयुर्वेद विद्या जिसको संकोच होते होते इस अधोगति को प्राप्त करा दी गई है भारतीयों की अपनी करनी के कारण

जहां से निकल जावेगी और विश्व में अपना एक स्वरूप स्थापित करेगी।

भारतीय एलोपैथों की घूटी

भारत में जो ऐलोपैथ बैठे हैं विशेषकर वे जो आयुर्वेद के शत्रु पहले हैं वैद्यों के बाद में, उनसेकुछ कहना व्यर्थ है। पर जो आयुर्वेद को प्रेम करना चाहते हैं पर नामधारी वैद्यों से घृणा करते हैं उनसे कुछ कहा जासकता है। वे चरकसंहिता को आद्योपान्त पढ़ डालें एक बार नहीं तीन बार। वे देखेंगे कि यह ग्रन्थ अतीव निष्पक्षतापूर्वक जगतभर के मनुष्यों के कल्याण के लिए लिखा गया है। इसके लेखकों का दृष्टिकोण बहुत व्यापक रहा है। वे जीवन को कितना सुखद बनाना चाहिए इसे जानते थे और इस जीवन का क्या उद्देश्य है इसे समझते थे। उन्होंने जो परिभाषाऐं उपस्थित की हैं वे अद्वितीय और पूर्ण हैं उनमें लाखों बरस का काल भी परिवर्तन नहीं लासका।

उदाहरण के लिए सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है—सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः। अर्थात् परीक्षकों द्वारा बहुत प्रकार से परीक्षा करके हेतुओं द्वारा सिद्ध करके जो निर्णय स्थापित किया जाता है वह सिद्धान्त कहलाता है। कितनी संक्षिप्त सरल और सदैव अटल रहने वाली यह व्याख्या है। फिर इसके चार भेद सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगम सिद्धान्त की ओर जब लक्ष्य किया जायगा तो ज्ञानाभिवृद्धि और मनस्तोष दोनों मिलेंगे

एक और वाक्य ध्यान देने का है

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥
—नि० ८-२४

जो प्रयोग व्याधि (के कुछ लक्षणों का) शमन करे (तथा) अन्य अन्य (अनेक लक्षणों को) उत्पन्न करदे (तो) वह (प्रयोग) विशुद्ध नहीं। शुद्ध तो (वह होता है जो (रोग का) शमन करदे तथा (दूसरे किसी विकार का) कोप न करे। क्या इस ऋषिवाक्य को ग्रहण करने में आपको आपत्ति है? मार्फीन का इञ्जेक्शन जहां शूल का शमन कर देता है वहां टट्टी पेशाब बन्द कर देता है और श्वसनक केन्द्र को अवसादित कर देता है। इमैटीन का इञ्जैक्शन जहां आमातिसार का तथा एण्टामीबा हिस्टोलिटीका का नाशक है वहां हृदय का अवसादक है एण्टीटिटैनिकसीरम टिटैनसनाशक है वहां शौक का प्रदाता भी है। ट्राईवेलेंट आर्सनिक के इञ्जैक्शन जहां फिरङ्ग को नष्टकरते हैं वहां दुर्जय स्किनरैश को उत्पन्न करते हैं। स्ट्रैप्टोमाइसीन जहां यक्ष्मा के जीवाणुओं को मूर्च्छित करता है वहां श्रवणेन्द्रिय का संहार कर देता है। क्या आपको अपनी ये सब अशुद्धियां पसन्द हैं। क्या जब आप स्वयं बीमार पड़ते हैं और इन इञ्जैक्शनों का प्रयोग करते हैं तब आपको इनके द्वारा होने वाले रिऐक्शनों (प्रतिक्रियाओं) का भय सवार नहीं रहता? फिर जब आप बाहर के लोगों से चार पैसे मांगकर संसार में धनी बने बैठे हैं तो फिर अपने बाबा का धन जो उससे सहस्रों गुना बड़ा है जमीन में गड़ा हुआ पड़ा है उसे निकालकर अधिक सम्पन्न बनने में आपको क्या आपत्ति है? भाई, आयुर्वेद के उद्धार में तो आप जैसे व्यक्तियों को डटना है जो समाज की प्रगति के सहारे चलकर अपने कोष को बढ़ाते हुए जीवन की आर्थिक समस्या से युक्त हुए बैठे हैं। मान लीजिये कि आप एक सिविलसर्जन हैं। आपको पन्द्रहसौ रुपया वेतन मिलता है। आप विलायत से अपारामित ज्ञान लेकर भारत में पधारे हैं तो ५०) नित्य सरकार से पाकर और लगभग इतना ही बाहर फीसों से प्राप्त करके आप आर्थिक समस्या से युक्त और ज्ञान में परिपूर्ण बैठे हैं। यदि अपने पश्चिमी ज्ञान की टॉर्च को अपने ही तपस्वी और खोजी ऋषियों द्वारा बनाए आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर आप डाल दें तो आप संसार के समक्ष आयुर्वेद को अधिक चमका सकेंगे या दो दो पैसे की पुड़िया सबेरे से शाम तक बेचकर और दुनियां की नई सभ्यता को कोस कर डाक्टरों-होम्योपैथों और सरकार को गालियां देकर अपने मुंहमियां मिट्ठू बनने वाले नामधारी और स्वयंभू वैद्य जिन पर न ज्ञान है न बल न शक्ति और न वह व्यापक दृष्टिकोण जो ऋषियों के पास था। संसार भारत से रखता है कि उसका ज्ञान मिले। पश्चिम चमत्कार है पर चमत्कारों के बल पर जीवित नहीं रहा जासकता

जीवित रहने के लिए जीवन की परम्परा चाहिए, एक वातावरण चाहिए, एक निश्चित लक्ष्य चाहिए यह सब करने के लिए भारतीय शास्त्रों में आपका ज्ञान भरा पड़ा है। आप उसका उपयोग कीजिए और संसार को ऋषियों की दृष्टि प्रदान करके इसे समृद्ध बनाइये।

जब ऋषि कहते हैं—

उष्णमश्नीयात्—गरम खाना खाओ।

उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते—क्योंकि गरम खाया हुआ भोजन स्वाद देता है।

भुक्तं चाग्निमौदार्यमुदीरयति—खाते ही उदारतापूर्वक अग्नि को उदीर्ण करता है।

क्षिप्रं च जरां गच्छति—तथा शीघ्र ही पाक को प्राप्त हो जाता है पच जाता है।

वातं चानुलोमयति—तथा वात का अनुलोमन करता है।

श्लेष्माणं च परिशोषयति—तथा कफ को सुखाता है।

तस्मादुष्णमश्नीयात्—उस कारण से गरम खाना खाओ।

इन वाक्यों को पढ़कर सिविलसर्जन भाई आप नाच उठेंगे। थोड़े शब्दों में बहुत कुछ आचार्य तब देगये जब उन पर न कलम थी, न कागज था, न स्याही थी न प्रैस था। आप अपनी फिजियालौजी का ज्ञान लगाकर **भुक्तञ्चाग्निमौदार्यमुदीरयति** का नया अर्थ निकालिए। वातं च अनुलोमयति में वात कौन पदार्थ है जिसका अनुलोमन यह गरम खाना करता है इसे ढूंढिए। आप देखसकते हैं। आप शास्त्र का वास्तविक अर्थ कर सकते हैं नामधारी वैद्य नहीं कर सकता।

आप आज के अधोगतिग्रस्त नामधारी वैद्य की बुराई करते हैं। फिर आइये हम आपके साथ हैं। हम इसलिए साथ हैं कि भगवान् पुनर्वसु आत्रेय स्वयं हमें प्रेरित करते हैं कि हम आपका साथ दें—

तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्ति बाह्येन भेषजम्।
धीमता किञ्चिदादेयं जीवितारोग्यकांक्षिणा॥

सू० १। १२५

इस कारण बुद्धिमान् जीवन और आरोग्य की आकांक्षा रखने वाला युक्तिबाह्य (औषध के प्रयोग को न जानने वाले) वैद्य द्वारा प्रयुक्त थोड़ी औषध का भी प्रयोग न करे।

कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः।
सशेषमातुरं कुर्यान्नि त्वज्ञमतमौषधम्॥

सू० ११।१२६

इन्द्र का वज्र सिर पर गिरने पर भी कदाचित् व्यक्ति बच जावे पर अज्ञ (मूर्ख वैद्य) द्वारा प्रयुक्त औषध से रोगी नहीं बचता। और भी सुनिये—

वरमात्मा हुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता।

अपने शरीर को समिधा मान उससे हवन कर लेना अर्थात् अग्नि में जल जाना श्रेष्ठ है पर मूर्ख की चिकित्सा में प्रवृत्त होना श्रेष्ठ नहीं।

पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु॥

सू० ९।१५

जिस प्रकार अन्धा हाथ से टटोल टटोल कर डरता हुआ चलता है या जैसे पतवारहीन नौका हवा जिधर लेजाती है उधर भटकती है वैसे ही अज्ञ (मूर्ख वैद्य) डरता हुआ चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त होता है। उसे केवल यदृच्छा से ही अकस्मात् सफलता मिलती है।

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः।
सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि॥

—सू० ११।५८

छद्मचर (imposters in vaidya's robes), सिद्धसाधित (vainglorious pretender) तथा वैद्य के गुणों से युक्त तीन प्रकार के वैद्य संसार में होते हैं।

तान् कालपाशसदृशान् वर्जयेच्छास्त्र दूषकान्।

—सू० ३०।८१

उन काल की फांसी के समान शास्त्र दूषकों को त्याग दे।

चरक सूत्रस्थान अध्याय २९ में उपसंहारात्मक ये श्लोक भी दर्शनीय हैं—

भिषक्छद्मप्रविश्यैवं व्याधितांस्तर्कयन्ति ये।
वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिको द्विजान्॥
श्रुतदृष्ट क्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः।
वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनचरा भुवि॥

वृत्तिहेतोर्भिषङ्मानपूर्णान् मूर्खविशारदान् ।
वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥

छद्मचरभिषक् रोगियों को इसी प्रकार फांसते हैं जैसे शाकुन्तिक (व्याध) जाल को फैलाकर पक्षियों को। वे शास्त्र श्रवण, कर्मदर्शन, चिकित्सा, काल, मात्रा इनके ज्ञान से रहित होते हैं। उनका त्याग करना चाहिए ये पृथ्वी पर यमदूत बनकर विचरते हैं। इसलिए विद्वान् रोगी इन अपूर्ण मूर्ख विशारद (unlettered laureates) वैद्यों को छोड़ दे। वे तो वायु पिये (क्रोधी) सर्प हैं (जो जायगा उसे बिना डँसे न छोड़ेंगे)।

इतना सब लिखने वाले आचार्यों ने सद्वैद्य की बड़ी बड़ी महिमा गाई है। और उनका यह प्रसिद्ध वाक्य—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥
—सू० १-१३२

जो आरोग्यदान करती है वह ही युक्त औषध है तथा जो रोगों से मुक्त करदे वही श्रेष्ठ वैद्य है। इतना स्पष्टरूप से नामधारी वैद्यों का खण्डन करके—

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥
सू० २९।१२

जो शास्त्रवेत्ता, चिकित्साभ्यास में दक्ष, पवित्र, कर्म में कुशल, जितहस्त तथा जितेंद्रिय हैं उनको नित्य नमस्कार किया जाना चाहिए।

सिविलसर्जनमहोदय, आप उपरोक्त सद्वैद्य के प्रशंसक बनिए आपके लिए भी चरक ने मर्यादा बांधी है—

सर्वरोग विशेषज्ञः सर्वकार्य विशेषवित् ।
सर्वभेषजतत्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत् ॥
वि० ७।१८

राजा के प्राणों का पति, राजवैद्य, राष्ट्रपति या राज्यपाल का चिकित्सक होने की क्षमता सर्वरोग विशेषज्ञ (specialist in every disease) सर्वकार्यविशेष का वेत्ता (versed in all therapeutic measures) तथा सब औषधियों के तत्व को जानने वला (conversant with the real properties of medicines) ही रख सकता है।

शास्त्ररूपी ज्योति को अपनी बुद्धि रूपी आंखों से देखने वाला वैद्य ही सफलता प्राप्त किया करता है।

अस्तु, आयुर्वेद के अगाध ज्ञान सागर से मोती निकालने वाले कुशल, कर्मठ, उत्साही तथा ईमानदार गोताखोर चाहिए। चरकसंहिता के सम्पुटों से इन मोतियों को निकालने वाला चाहिए। निकाल कर बाजार में रखने वाला चाहिए। परख करने वाले मिल ही जायेंगे और यह संसार की श्रेष्ठतम सुन्दरतम रमणियों के हारों में सुशोभित होकर और नरपुङ्गवों के मुकुटों में जड़े जाकर भारत की प्रभा को संसार भर में अपनी छवि से प्रसारित कर विश्व का कल्याण करेंगे। है कोई ऐसा जो अर्पण करे अपने को इस पूत कार्य में और बने देश का सच्चा सपूत ?

शाश्वतोऽयमायुर्वेदः

यह आयुर्वेद शाश्वत है इसका किसी ने जन्म दिया हो ऐसा नहीं स्वयं चलता आया है और चलता चला जावेगा।

न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा ।
सू० ३०।२५

कभी भी ऐसा नहीं हुआ जब आयु का प्रवाह न रहा हो और न कभी ऐसा हुआ जब बुद्धि का प्रवाह न रहा हो।

जीवन और उसके संरक्षण की बुद्धि अनन्तकाल तक चली जावेगी और अनन्तकाल से ही वह प्रारम्भ हुई है। जीवनधारा और बुद्धिधारा का प्रवाह अजस्र रहा है।

ऋग्वेद प्रगट करता है—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥

आकृति विहीन जीवन जब आकृतियों से परिपूर्ण हो जाता है तो उस जीवन को जब यह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था किसने देखा था ? पृथ्वी से श्वास और रक्त (जीवन के स्वरूप) बनाये गये हैं पर कहां से वह आत्मा आई जिसने इन्हें उत्पन्न होने की आज्ञा दी ? कौन उस सर्वज्ञ विभु के पास गया है इस प्रश्न को पूछने के लिये ?

कितने मार्मिक शब्द हैं ? अर्थात् कोई पता नहीं कब से विश्व का सृजन हुआ है। कुत आजाता कहां से इसकी उत्पत्ति हुई कुत इयं विसृष्टि कहां से इसका सृजन हुआ! इसे कोई नहीं जानता। फिर आयुर्वेद का इतिहास

अनादि है।

न चैव ह्यास्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारम्।

आयुर्वेद का पार नहीं है फिर भी हमें अपने इतिहास का निर्माण करना है। उस इतिहास का क्रम चरक में इस प्रकार है—

ब्रह्मा—दक्षप्रजापति—अश्विनीकुमार—इन्द्र—भरद्वाज।

भरद्वाज ने अहमर्थेनियोज्येयम् मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त कीजिए ऐसा ऋषियों की उस सभा में कहा जो अङ्गिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, भृगु, काश्यप, आत्रेय, गौतम आदि विद्वानों की उपस्थिति में हुई थी। यायावर से शालीनता धारण करने के कारण जो रोगोत्पत्ति होती चली जारही थी और जिसके शमनोपाय में ऋषि असमर्थ हो रहे थे उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार किया कि इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है तभी देश के प्राणियों की स्वास्थ्यरक्षा सम्भव है। इन्द्र के पास जाने की स्वयंसेवक के रूप में भरद्वाज के द्वारा स्वयं इच्छा प्रगट करने के कारण ऋषिभिः स नियोजितः ऋषियों ने उसकी नियुक्ति करदी। इन्द्र के पास जाकर उसे आशीर्वाद देकर बतलाया कि—

व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयङ्कराः।
तद्ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो॥

क्योंकि सब जीवों को भयान्वित करने वाली व्याधियां उत्पन्न होगई हैं अतः हे देवाधिदेव! मुझे उनके शमन का उपाय बतलाइये। भरद्वाज गये थे रोगों का शमनोपाय जानने के लिए और देवराज ने इनको स्वास्थ्य रक्षण और रोग शामक दोनों प्रकार का स्वस्थातुरपरायण त्रिसूत्रीय हेतु-लिंग औषध के ज्ञान को पढ़ाया। भरद्वाज ने वह ज्ञान अनेकों ऋषि महर्षियों को दिया सबने और स्वयं भरद्वाज ने भी उससे पर्याप्त लाभ उठाया। भरद्वाज के एक शिष्य पुनर्वसु आत्रेय हुए उन्होंने आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उसी को अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि नामक छै शिष्यों को पढ़ाया। अब तक ब्रह्मा से आत्रेय तक यह विषय मुख द्वारा ही बतलाया और समझाया जाता था अब अग्निवेश ने सर्वप्रथम एक संहिताग्रन्थ का निर्माण किया बाद में शेष पांच गुरुभाइयों ने भी अपने अपने तन्त्रों का निर्माण किया। वर्तमान चरकसंहिता वास्तव में अग्निवेश तन्त्र है। अग्निवेशतन्त्र बन जाने पर सबसे पहले ऋषियों ने इसे मान्यता दी। महर्षियों के द्वारा प्रशंसित अग्निवेशतन्त्र को देवर्षियों और देवों ने भी स्वीकार किया और फिर तीनों लोकों के प्राणियों ने इस तन्त्र की प्रशंसा उसी प्रकार की जिस प्रकार पैनीसिलीन के आविष्कार की समस्त विश्व ने प्रशंसा की। इस प्रकार अग्निवेश आयुर्वेदीय साहित्य के सर्व प्रथम लिपिबद्ध करने वाले हुए।

अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार चरक ने किया। कालान्तर में चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ का तीन भाग ही शेष रह गया। उसको पञ्चनदपुर निवासी दृढबल ने पूरा करके १७ अध्याय चिकित्सा स्थान के तथा १२-१२ अध्याय कल्पस्थान और सिद्धिस्थान के इस प्रकार ४१ अध्यायों को लिखकर चरकसंहिता का उत्तरभाग पूर्ण किया।

चरकसंहिता पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी उठाई है। इनमें भट्टार हरिश्चन्द, स्वामी कुमार, शिवदाससेन, जेज्जट, चक्रपाणि, श्री कृष्णभिषक्, गङ्गाधर कविराज, योगीन्द्रनाथ, जयदेव आदि प्रसिद्ध हैं।

हम इन विविध शास्त्रज्ञों के सम्बन्ध में धन्वन्तरि के एक विशेष अङ्क में प्रकाश डालेंगे जो चरक जीवन अंक के नाम से प्रकाशित होगा। वैसे जितना ज्ञान आवश्यक है डा० परमानन्दन ने अपने लेख में उसे पृष्ठ ४१ से ५० तक स्पष्टतः रख दिया है।

प्राचीन भारत कितना वैभवपूर्ण था उसका उदाहरण केकय देश के अश्वपति नामक राजा के द्वारा उपस्थित छान्दोग्योपनिषत् में आये एक वक्तव्य के द्वारा ठीक ठीक समझ में आ सकता है।

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्न विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी।" —छान्दोग्य ५-११

कि मेरे प्रदेश में न लोभी, न शराबी, न अग्निहोत्र कर्म न करने वाला, न अविद्वान्, न गुण्डा (स्वेच्छाचारी) (और न कोई) व्यभिचारिणी स्त्री बसती है। इससे यह प्रगट है कि उस काल में बड़े बड़े विद्वान् और योग्य व्यक्ति और शासक रहते थे। उनकी चिकित्सा में बड़े बड़े वैद्य लगे रहते थे अतः वहां दकियानूसी मूर्खों और छद्मचरों को कोई गुञ्जाइश नहीं थी। आयुर्वेद विद्वज्जनों की वस्तु है आज

के अन्धकारपूर्ण युग में जब वेदशास्त्र विद्या धन वित्त सभी का स्वाहा परतन्त्रता की अँधेरी में होगया तो फिर आयुर्वेद की भी यह अधोगति हुई तो कौन अनुचित हुआ।

विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके

आज संसार में अनेकों चिकित्साशास्त्र प्रचलित हैं। इनमें किसे ग्रहण किया जाय। होम्योपैथी लें या ऐलोपैथी वायोकैमिस्ट्री या नेचुरोपैथी के शास्त्र का अध्ययन करें। इसका उत्तर चरक संहिता में आचार्य ने बहुत सुन्दर दिया है।

विविधानिहि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके। संसार में अनेकों चिकित्साशास्त्र प्रचलित हैं। **यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितम्** उनमें से जिसे वह महान्, यशस्वी, धीरपुरुषों से सेवित, बहुविषययुक्त, आप्तजनों (great men) द्वारा पूजित माने **त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्** जो मन्द-मध्य-तीक्ष्ण तीन प्रकार की शिष्य की बुद्धियों के लिए हितकर हो **अपगतपुनरुक्तदोषम्** पुनरुक्ति का दोष जिसमें न हो **आर्षम्** जो ऋषि द्वारा प्रणीत हो **सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमम्** जिसमें सूत्र तथा भाष्य का संग्रह क्रम भले प्रकार रचा हो—**स्वाधारम्**—जो अपने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अधिष्ठित हो **अनवपतितशब्दमकष्टशब्दम्**—जिसमें असभ्यतापूर्ण या कष्टदायक शब्द न हों **पुष्कलाभिधानम्**—जो बहुत ज्ञान से पूर्ण हो **क्रमागतार्थम्** प्रकरणानुसार विषयों का जिसमें सन्निवेश हो **अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्** जो विषय के तत्व प्रगटीकरण मुख्यतया करता हो **सङ्गतार्थम्** अर्थ ठीक ठीक लगता हो **असंकुलप्रकरणम्** असम्बद्ध प्रकरण से रहित हो **आशुप्रबोधकम्** शीघ्र अर्थ का ज्ञान जो कराता हो **लक्षणवच्चोदाहरणवच्च** जिसमें लक्षण और उदाहरण एक साथ दिये हों **तदभिप्रपद्येत् शास्त्रम्** वैसा शास्त्र ही चुनना चाहिए। **शास्त्रं हि एवं विधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्** इस प्रकार का शास्त्र निर्मल सूर्य के सदृश अन्धकार का नाश करके सब कुछ प्रकाशित कर देता है।

ऊपर जो व्याख्या दी गई है चरकसंहिता पर ज्यों की त्यों ठीक उतरती है।

आरोग्यशाला

हमने इस विशेषाङ्क में जिसमें प्रकाशकों की इच्छा से बहुत अधिक पृष्ठ लग चुके हैं यत्न करके कुछ विद्वानों के लेखों का भी समावेश कर दिया है जिनमें चरक सम्मत आतुरालय तथा उनकी व्यवस्था वाला श्री जोशी जी का एक बहुत सुन्दर लेख भी दिया गया है। उससे पाठक पर्याप्त लाभ उठावेंगे ही। प्राचीनकाल में आतुरालय या आरोग्यशाला इस नाम से सभी लोग परिचित थे। **नन्दी पुराण** में आरोग्यशाला का बड़ा सुन्दर वर्णन आया है—

> **आरोग्यशालां कुरुते महौषधपरिच्छदम्।**
> **विदग्धवैद्यसंयुक्तां भृत्यावसथसंयुता॥**

बहुत औषधों से परिपूर्ण परिच्छद (ड्रैसिंग) का सामान, योग्य वैद्य, भृत्य वासस्थान से युक्त आरोग्यशाला का निर्माण करता है। इसमें कौन कौन अधिकारी रहने चाहिए उन्हें भी गिनाया गया है—

> **वैद्यस्तु शास्त्रवित् प्राज्ञो दृष्टौषधपराक्रमः।**
> **ओषधीमूलवर्णज्ञः स्युद्धरणकालवित्॥**
> **रसवीर्यविपाकज्ञः शालिमांसौषधीगणे।**
> **योगविद्दहिनां देहं यो धिया प्रविशेद्बुधः॥**
> **धातुपथ्यामयज्ञश्च निद्राविदतन्द्रितः।**
> **व्याधीनां पूर्वलिङ्गज्ञस्तदुत्तरविधानवित्॥**
> **देशकालविधानज्ञश्चिकित्साशास्त्रवित्तथा।**
> **अष्टाङ्गायुर्वेदवेत्ता सुष्टियोगविधानवित्॥**

तथा इस प्रकार आरोग्यशाला का निर्माण करने वाला दानी महानुभाव अपने सात पूर्व कुलों के साथ ब्रह्मसदन (स्वर्ग) में निवास करता है।—

> **आरोग्यशालभवनो कुर्याद्यो धर्मसंश्रयः।**
> **प्रयाति ब्रह्मसदनं कुलसप्तकसंयुतः॥**

यही नहीं स्कन्दपुराण में तो सब समान से युक्त अस्पताल बनवाने वाले को प्राप्त होने वाले दैवीय अनेकों लाभ बतलाये गये हैं—

> **आरोग्यशालां यः कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृताम्।**
> **सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफलं शृण॥**
> **यत्पुण्यमहदाप्नोति न तत्सर्वैर्महामखैः।**

आरोग्यदान के लिए अन्न औषध देने वाले दाता

सदैव सुख प्राप्त किया ही करते हैं-अन्नौषधप्रदातारः सुखं यान्ति निरामयाः। — (अगस्त्य)

भारत के प्राचीन राजे महाराजे आरोग्यशाला बनवाया करते थे उनमें वैद्यों को रखते थे औषध और भोजन का पूरा प्रबन्ध करते थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने शिलादित्यद्वितीय का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसने सम्पूर्ण भारत में सब सड़कों के किनारे नगरों तथा ग्रामों में औषध-वैद्य-खाद्य-पेय से परिपूर्ण औषधालय खुलवा दिये।

नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमुपलभ्यते।

संसार में ऐसा कोई द्रव्य उपलब्ध नहीं होता जिसका उपयोग औषधि रूप में न किया जासकता हो। इस विशेषांक में हमने यत्न किया है कि संस्कृत में लिखे सभी नामों का देशी भाषा में प्रचलित नामकरण कर दिया जावे। पर कहीं कहीं जहां द्रव्यों में सन्दिग्धता है हमने संस्कृत नाम ज्यों का त्यों रखा है ताकि वैद्यगण स्वयं मेधा से सोचकर उनके प्रदेश में जो औषध लीजाती हो उसी को लें। वनस्पति के अतिरिक्त जीवों में भी नामभेद मिलता है अतः हमने इसमें भी यही नियम बरता है।

चरकसंहिता में लगभग १३०० नाम उद्भिज्ज द्रव्यों और उनके पर्यायों के आये हैं। लगभग ४०० वनस्पतियों का प्रयोग चरकसंहिता के अन्दर किया गया है। इन औषधियों के द्वारा आचार्य ने ४०० से कुछ ऊपर योगों का वर्णन किया है। आचार्य ने चिकित्सा के इन विविध प्रयोगों में तथा स्वतन्त्र पथ्यापथ्य के निर्देशन में लगभग १५० प्रकार के जीवजन्तुओं का भी नामोल्लेख किया है। इन औषधों और जीवों के द्वारा लगभग १५० प्रकार के रोग जिनके उतने ही भेद प्रभेद होंगे उनका भी वर्णन चरकसंहिता में किया गया है।

चरक का चिकित्सास्थान केवल मात्र चिकित्सा प्रकरण नहीं है। वह ज्ञान का भण्डार, रोगों के रहस्यों का उद्घाटन-कर्त्ता, उनकी पहचान का प्रदर्शनकर्त्ता और उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा का अभिकर्ता है। ज्यों वह रोग विशेष हुआ उसमें जो मूल कारण है उसका पूरा पूरा विचार करके तब आचार्य ने आगे को हाथ बढ़ाया है। ऐसी सुन्दर वैज्ञानिक रीति से विषय का विवेचन किया गया है कि चकित रह जाना पड़ता है साथ में बड़े सुन्दर सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है जो आधुनिक विचारकों के सर्वथा अनुकूल पड़ता है।

उदाहरण के लिए सिद्धान्त लिखा है—

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति।

—चि० १५-२३६

प्रातःकाल किए भोजन के न पचने पर भी सायंकाल को किया गया भोजन दूषण नहीं करता।

आधुनिक फिजियालौजी के विद्वान् जानते हैं कि उदर में आहार जाने पर रक्त का एक तृतीयांश आयतन उदरक्षेत्र में पहुँच कर भोजन का परिपाक करने में सहायता करता है। इसे पैरासिम्पैथैटिक ऐक्टिविटी कहते हैं। शारीरिक अन्य क्रिया व्यायाम, विचार, इतस्ततः अङ्गविक्षेपणादि कार्यों से सिम्पैथैटिक ऐक्टिविटी का बोध होता है। दिन में जब सिम्पैथैटिक एक्टिविटी का आधिक्य होगा तो भोजन के पचने में बाधा आवेगी। पर रात्रि में जब भारतीय आयुर्वेदीय विचारधारा के अनुसार शयन परमावश्यक घटना है पूर्ण विश्राम पैरासिम्पैथैटिक क्रिया को बढ़ा देता है और रोगी का दिन का न पचा हुआ भोजन तो पच ही जाता है शाम का खाया भी समाप्त होजाता है। पर आधुनिक फिजिया-लौजिस्ट को भी आश्चर्य में डालने वाली तो वह घटना है जो आज के प्रयोगों के ही अनुकूल उसने जो उपरोक्त सिद्धान्त के लिए कारण दिया है—

दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्॥
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः।
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः॥
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः।
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति॥

—चि० १५

चरकसंहिता असंख्य प्रयोगों का भण्डार है। चरक संहिता पग पग पर वैज्ञानिक विचारणा को लेकर चली है। चरकसंहिता में सिद्धान्तों का ऐसा सुन्दर और हृदयग्राही विवेचन मिलता है जो इतर नहीं मिलता। सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि चरक ने जितने रोग या रोग के लक्षण

दिये हैं उन सबका दोषदूष्य मल की दृष्टि से विचार करके दोषधातुमल सिद्धान्त को इतना पुष्ट कर दिया है कि हम बिना जीवाणुवाद या अन्य किसी वाद का प्रश्रय दिये सरलता पूर्वक बिना कुछ संसार से मांगे अपना कार्य चला सकते हैं। विकेन्द्रित समाज के लिए जो अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ अपने ही अन्दर पूर्ण करना चाहता है चिकित्साप्रणाली के लिए चरकीय पद्धति अर्थात् आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली को अपनाना पड़ेगा।

चरक ने रोगनाश के लिए सर्वपक्षीय विचार प्रस्तुत किए हैं। आहार-विहारजन्य दूषण, सात्म्यासात्म्यजन्य दूषण प्रकृतिजन्य दूषण, कालाकालजन्य दूषण, देश-विदेशजन्य दूषण किस किसको उसने नहीं गिनाया। सब दृष्टियों से रोग के हेतुओं को बतलाकर फिर उसने रोग उसके निजागन्तुक स्वरूप को समझाया है। पूर्वरूप और दोषात्मक अथवा दूष्यात्मक वा परिस्थित्यात्मक सभी प्रकार के लक्षण दिये हैं। साध्य है वा असाध्य इसका विवेचन किया है—

१—सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा।
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः॥
—चिकि० २८-२३०

२—यदा वाहार्तितीवार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम्॥
— चि० २७-२६

३—सर्वास्त्वातिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः॥
—चि० २२-१८

४—नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः॥
—चि० १८-३०

५—पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति।
—चि० १६-३१

६—यत्ककणान्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्।
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति॥
—चि० ७-१६

फिर दिया है आचार्य ने चिकित्सा का वह सूत्र जिसके लिए पश्चिम आज भी ललचा रहा है। एक ही वाक्य में किस प्रकार चिकित्सा की जाय उस प्रणाली को कह देना और उसी के बल पर कालपाश से रोगी को जीवन-प्रदान करा देना भारतीय चिकित्सा के आकर ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता है। देखिये—

१—लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्।
कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपयेत्॥
—चि० २१-४४

२—सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम्।
दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत्॥
कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये।
पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः॥
—चि० २४-१०८

३—कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णेनैव विजयेत्॥
—चि० ८-१२०

४—स्नेहस्वेदनवस्त्यादि वातजास्वनिलापहम्।
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च॥
श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः।
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत्॥
—चि० ३०-४२

और फिर चिकित्सा करते समय समय पर सावधान करने की चरकीय प्रणाली—

१—न घृतं बहुदोषाय देयं यत्र विरेचयेत्।
तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत्॥
—चि० २१-४८

२—बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे दोषभूतजे॥
—चि० ६-६३

और फिर आस्तिकता की पग पग पर फूटती हुई झलक—

१—विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान्सर्वान् व्यपोहति॥
—चि० ३-३१०

२—भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम्।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम्॥
—चि० ६

और फिर आचार का पग पग पर उपदेश—

भक्त्या मातृपितृणां च गुरूणां पूजनेन च ।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ॥
—चि० ३-३१३

साथ ही मनोवैज्ञानिक आधार पर चिकित्सा का स्थान स्थान पर समर्थन—

१—हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ।
—चि० ३-३१६

२—तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ।
—चि० २८-२०७

३—नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरूपगूहनैः ।
श्रोण्यरूकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः ॥
—च० २४-१३४

४—अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम् ।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥
—चि० ६-८६

यही प्रगट करता है कि इसका लेखन उन महर्षियों के हाथ से हुआ है जिन्हें आप्त पुरुष कहकर पुकारते हुए शास्त्र कहता है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥
—सू० ११

एक विद्वान् जब कहता है कि अगर आज के चिकित्सक अपनी फार्माकोपिया से आधुनिक दवाओं और रसायन द्रव्यों को निकालकर फेंक दें और चरक की विधियों से चिकित्सा करें तो उनके लिए परिश्रम में कमी के साथ साथ संसार में आधुनिक दवाओं के कारण होने वाले पङ्गु जीर्ण रोगियों की भी कमी हो जावेगी।

'If the physicians of the present day would drop off from the pharmacopeia all the modern drugs and chemicals and treat their patients according to the methods of Charaka there would be less work for the undertakers and fewer chronic invalids in the world.' Dr. Clark M. D.

चरकसंहिता में जहां आवस्थिकी चिकित्सा का वर्णन स्थान स्थान पर किया गया है तो गुच्छ डादिया है। रोग की चिकित्सा करते करते यदि अवस्था विशेष होने लगे तो क्या करें। उपद्रवों में क्या करें। कहां किस दशा में वैद्य को क्या करना है इतना खोलकर रख दिया है कि अगर आंखें हैं तो वैद्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। कोष्ठगत वात का अलग इलाज है, बाहुशीर्षगत वात का अलग इलाज है नाक से रक्त जाने पर अन्य विचार हैं और मूत्र से रक्त जाने पर अलग नुसखा है सारा ग्रन्थ आश्चर्यों से परिपूरित अनुभव की अकाट्य चट्टान पर इस प्रकार रचा गया है कि लाखों वर्षों के आंधी, पानी, ओले, तूफान, वज्राघात, तुषारपात, झञ्झावात कोई न उसका बिगाड़ सके हैं और न बिगाड़ने वाले।

चिकित्सा में उसने क्या क्या प्रयोग नहीं किया। सूअर की विष्ठा से लेकर हीरा तक जहां जी चाहा है आचार्य का मस्तिष्क विचरा है। गेंडुए से लेकर सिंह तक को उसने भक्ष्य बना दिया है कङ्कड़ों पर उसने रोगियों को चलाया है कहीं नदी में तैराया है कहीं पर्वतों वनों उपवनों के रमणीय दृश्य उपस्थित किए हैं; कहीं प्रमदाओं के सहवास और गन्धानुलेपन का विधान किया है तो कहीं झरनों धारागृहों और टबों में बैठे प्राणी के सन्ताप को दूर करके उसको कोड़े लगवा कर सांप से कटवाकर उसके मानसिक सन्ताप को शान्त किया है। आचार्य ने क्या क्या नहीं कहा या क्या क्या कहा है लिखने को सहस्रों पृष्ठ चाहिए और चाहिए अक्षय कुबेर की स्वर्ण राशि।

सबसे बढ़कर उसने संसार में सुख और शान्ति की कल्पना को मूर्तरूप दिया है उसने इहलोक और परलोक दोनों को सम्हालकर निःश्रेयस् और अभ्युदय की ऐसी रम्य झांकी हमारे समक्ष रखी है कि हम गूंगे के रसगुल्ले की तरह

अवाक् रह जाते हैं। काढ़ों, तेलों, घृतों, वस्तियों, चूर्णों, गुटिकाओं और न जाने क्या क्या का बाह्य और आभ्यन्तर कराया है। उसने आज की प्राकृतिक चिकित्सा को जन्म दिया आज की होम्योपैथी, हकीमी और एलोपैथी उसकी ऋणी है। जो लोग चरकसंहिता को रसशास्त्र से शून्य मानते हैं उन्होंने चरकसंहिता न देखी है, न पढ़ी है, न वे जानते हैं कि यह ग्रन्थ कैसा है। चरक ने बड़े से बड़ा रोग केवल पानी पिला कर भी अच्छा किया है और मोतियों का लेप करवा कर भी ठीक किया है। संसार में जितने औषधि के वर्ग हैं; बनाने के प्रकार हैं उन सबका आदि प्रगटायक चरकसंहिता का निर्माण करने वाला आचार्य है।

हमने कई महत्त्व के विषयों का समावेश अपने सम्पादकीय में नहीं किया क्योंकि ४-५ लेख जो आगे समाविष्ट हैं उनमें वे विषय आजाते हैं। विहार के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य डाक्टर परमानन्द शास्त्री ने चरकसम्मत समाज की कल्पना में जो विस्तृत ज्ञानराशि का सङ्कलन किया है उसके कारण हम उनके विशेष आभारी हैं। हमें भारतवर्ष के हर कोने से लेख प्राप्त हुए हैं जिनका उल्लेख हमने पहले कर दिया है। बड़ी इच्छा थी कि वे सब इस विशेषाङ्क के कलेवर में ही बंधकर निकलते। पर वैसा करना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सका। इसमें ५०० पृष्ठ छपाने थे और छप गये हैं ७०० पृष्ठ। धन्वन्तरि परिवार ने बड़ी कृपापूर्वक मेरे आग्रह पर २०० पृष्ठ का अतिरिक्त भार उठाया है। बड़े से बड़ा आयुर्वेद पत्र जितने वर्ष भर में पृष्ठ देता है उससे अधिक पृष्ठ इस विशेषाङ्क में पाठक स्वयं देख सकता है। अस्तु लेखकों में से बहुतों का यह आग्रह होने पर भी कि हमारा लेख विशेषाङ्क में ही छपे हम उनकी आज्ञा के पालन में असमर्थ होगये हैं उसके लिए वे मेरे प्रिय और आदरणीय गुरु पूजनीय और सहयोगी क्षमा प्रदान करें। आगे के अंकों में वे लेख चलेंगे। और मुझे विश्वास है कि उनसे धन्वन्तरि के पाठकों को बड़े बड़े रहस्यों का उद्घाटन होगा।

धन्वन्तरि ने जो विशेषांक वैशिष्ट्य स्थापित कर दिया है उसने उसे आयुर्वेदीय जगत् में सर्वोपरि स्थान पर बैठा दिया है इसे वे सभी जानते हैं जो इस पत्रकार संसार में अपना अपना भाग पूर्ण कर रहे हैं। इसके लिए मैं पत्र के यशस्वी सम्पादक श्री देवीशरण गर्ग और उनके भरत के समान अनुज और सहयोगी श्री ज्वालाप्रसाद जी को हृदय से धन्यवाद देता हुआ यह कामना करता हूं कि इस युगलमूर्ति के द्वारा आयुर्वेदोन्नति का यह शुभकार्य वर्षानुवर्ष अबाधगति से चलता रहे, दोनों शतायु हों फूलें फलें और अपने वंश और परम्परा की धवल कीर्ति प्रसारित करते हुए साधु विद्वज्जनों के आशीर्वाद के भाजन बने रहें।

जिन महानुभावों ने अपने शुभ सन्देश भेजे हैं तथा सफलता की कामना की है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ जिनके आधार पर यह सब बन पड़ा है उन चरक टीकाकार चक्रपाणिदत्त, जल्पकल्पतरुकार कविराज गङ्गाधर स्वर्गीय भाई जयदेव विद्यालङ्कार और गुलाबकुंवर बा आयुर्वेद सोसाइटी के अध्यक्ष डा० प्राणजीवन मानेकचन्द मेहता तथा उसके सुयोग्य विद्वान् साथियों का आभार मानता हुआ मैं अपना नातिविस्तृत संक्षिप्त वक्तव्य समाप्त करता हूं। यदि इसके द्वारा तनिक भी आयुर्वेदीय रहस्यों का उद्घाटन होसका और उससे आयुर्वेदीय विचारधारा को थोड़ासा भी प्रोत्साहन मिला तो मैं अपने को धन्यसमझूंगा। इतिशुभम्।

चरक सम्मत आतुरालय तथा उनकी व्यवस्था

लेखक—वैद्य श्री० पं० अम्बालाल जोशी, आयुर्वेदकेशरी, साहित्यायुर्वेदरत्न, जोधपुर।
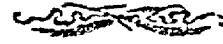
आज राज्य सरकारों पर आश्रित ऐलोपैथी की विशाल बिल्डिगों की ओर देख देख कर कुछ मुग्ध-मन व्यक्ति यह समझने लगे हैं कि चिकित्सालयों के ये विशाल भवन पाश्चात्य विज्ञान की देन मात्र है। वैद्यों की ये छोटी छोटी झोंपड़ियां, उनकी समझ में, आपनी उस चली आने वाली परम्परा का ही रूप है, जिसे हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रारम्भ किया था।

वस्तुस्थिति में यह बात ऐसी नहीं है। आज का वैद्य तथा आयुर्वेद निराश्रित है। उसे आश्रय है अपने बाहुबल का, अपने मस्तिष्क का तथा आश्रय है अपने स्वप्योपार्जित परंपरागत ज्ञान का, जिनके बल पर वह आज तक अपने अस्तित्व को रख सका है। आज के ये बड़े बड़े आतुरालय आयुर्वेद की ही देन है; अवश्य सभ्यतानुसार कुछ नूतनतायें भी इसमें आ सकी हैं।

आज की ही तरह उस समय भी आतुरालयों का बनवाना पुण्य का कार्य समझा जाता था।

आरोग्यशालां यः कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृतम्।
सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफलं शृणु॥

इस प्रकार इन आरोग्य भवनों का निर्माण किसी चतुर तथा विज्ञवास्तुकला-विशारद को बुला कर उसके निरीक्षण में सुदृढ़ भवन, जिसमें केवल एक ओर से वायु का प्रवेश हो करवाया जाता था रोगियों के कमरे में धूप, वायु, धूल तथा वर्षाजल का खुला प्रवेश न हो। रोगियों का कमरा (रोगीशयन-कक्ष) इतना बड़ा हो जिसमें आने जाने वाले व्यक्ति बिना किसी आपत्ति के चल-फिर सकें। भवन का निर्माण शहर की घनी बस्ती से दूर तथा आस पास में कहीं ऊंचे ऊंचे मकान न हों ऐसे स्थान पर हुआ करता था। संभवतः उस समय अन्य सुविधाओं को देखते हुए एक मंजिल का भवन ही आतुरालयों के लिये प्रशस्त गिना जाता था। आतुरालय में जलागार के सिवाय, ऊखल, मूसल आदि से सुसज्जित रसोईघर, तथा रोगियों की सुविधानुसार शौचालय, स्नानागार आदि का भी होना परमावश्यक था। (च. सू. १५।५)

उपरोक्त औषधालय में प्रवेश पाने वाले (in-door) रोगियों मात्र को औषधि नहीं दी जाती थी वरन् बाह्य विभागीय (out-door) रोगियों को भी चिकित्सक की सुविधायें प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। प्रत्येक चिकित्सालय में ऐसे रोगियों को औषधि प्रदान करने की पूर्ण व्यवस्था थी। कई मनुष्य तो रोगी न होने पर भी वर्ष में तीन बार तथा आवश्यकतानुसार संशोधन चिकित्सार्थ (preventive measures) चिकित्सालय में बुलवा लिये जाते थे। जिनमें से कुछ को विरेचन आदि दिया जाता था, कुछ को पुनः शारीरिक परीक्षा के लिये बुलाया जाता था तथा कुछ को रसायन औषधियों के प्रयोग द्वारा रोग-निरोध के लिये समर्थ बनाया जाता था।

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णं स्वरौदार्यं देहेऽन्द्रियबलं परम्॥
(च. चि. १)

× × ×

तस्यां संशोधनैः शुद्धं सुखी जातबलं पुनः।
रसायनं प्रयुंजीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्॥
च. चि. १-१३

औषधालय में रहने वाले रोगियों के लिये विशेष प्रकार के बिछौने तथा मंच हुआ करते थे जो रोगियों को आराम देने के लिये बहुत उपयुक्त थे।

रोगी-कक्ष में प्रकाश के लिये दीपक का प्रबंध भी रहा करता था। उसको प्रसन्न रखने के लिये उत्साह-प्रद कहानियां, गीत, तथा अन्य मनोरंजक सामग्री जुटाई जाती थी। रोगी के पथ्य तथा सफाई की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। आवश्यकता-नुसार रोगी को पेय, लेह्य, चोष्य आदि पदार्थ दिये जाते थे। द्रव दिये जाने वाले रोगी को धीरे-धीरे मधुर, लवण, अम्ल आदि द्रव्य भी दिये जाने लगते थे। इस ओर वैद्य का ध्यान अधिक रहता था आजकल की आरोग्यशालाओं की तरह प्रत्येक रोगी को एक ही प्रकार का पथ्य (खिचड़ी तथा दूध) नहीं दिया जाता था परन्तु आवश्यकता पड़ने पर रोगी के पथ्यापथ्य का साप्ताहिक विवरण भी तैयार रखना पड़ता था। रोगी के क्षौर, नख, तथा वस्त्रों की सफाई की ओर भी उस समय के चिकि-त्सकों का ध्यान रहता था।

रोगी के कमरे में प्रकाश के साथ अन्य आव-श्यक चीजों जैसे जलपात्र, पुष्प, पुष्पमालायें आदि का भी सम्यक् प्रबंध हुआ करता था। सोते हुए रोगी का मस्तक पूर्व या उत्तर की ओर हुआ करता था पूर्ण स्वस्थ होने के लिये रोगी में नियमित गुण होने भी आवश्यक थे।

> स्मृतिर्निर्देशकारित्वम भीरुत्वमथापि च।
> ज्ञापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाःस्मृताः॥
>
> च० सू० ६।८

रोग की पूर्व पीठिका को स्मरण रखना, वैद्य के निर्देश का पालन करना, रोग से भयभीत न होना, रोगों को जानना ये आतुर के चार आवश्यक गुण हैं।

उपरोक्त गुणों से पूरित रोगी के पूर्ण स्वस्थ लाभ कर लेने पर आरोग्यशाला से उसे घर जाने की आज्ञा देदी जाया करती थी। चरक ने इस प्रसङ्ग को अत्यन्त सुन्दर तथा आनन्ददायक ढङ्ग से चित्रित किया है।

> बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखो-षितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विजनुपह-तवस्त्रसंवीतमनुरूपालङ्कारालङ्कृतंसुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेदथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥
>
> (च० सू० १५।१६)

बल वर्ण से युक्त, प्रसन्न मन वाले, सुखपूर्वक रहे, भुक्त भोजन को अच्छी प्रकार से पचाये हुए रोगी को (ऐसा जानकर) सिर पर्यन्त स्नान किये हुए गात्र में चन्दन लगाकर पुष्पमाला धारण करा-कर, उज्ज्वल तथा नवीन वस्त्र पहनाकर, योग्य अलं-कारों से विभूषित कर, उसके सुहृदजनों को दिखाकर बाद में उसे इच्छानुसार आहार-विहार करने की वैद्य छुट्टी दे।

औषधालय में भरती करते समय रोगी का वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) नहीं देखा जाता था। अवश्य, गरीबों, गर्भिणी स्त्रियों, नेत्रहीन रोगियों, अनाथों तथा वृद्धों को प्रधानता दी जाती थी। (च० सू० १५।१७)

वैद्य रात-दिन रोगी का निरीक्षण करता रहता था। अन्य अनुचर विशेष अवस्था की सूचना उसे समय समय पर दे दिया करते थे। वैद्य का चरित्र उच्चतम था।

> श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
> दाक्ष्यं शौचमितिज्ञेयं वैद्ये गुण चतुष्टयम्॥
>
> + + +
>
> तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्म दर्शने।
> भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते॥
>
> च० सू० ६।५,१२

गुरु ज्ञान प्राप्त, बहुदृष्ट, कार्य-दक्ष तथा पवित्र विचारों वाला वैद्य प्राणाभिसर कहलाता था। राजा भी वैद्य के इस कार्यों में रुचि लिया करता था. मास में तीन-चार बार रोगियों से मिलता, उनसे दुख-सुख की बातें पूछता तथा औषधालय की व्यवस्था को

सुन्दरतम रखने में सहयोग देता। उस समय शुचिता का मानदण्ड भी उच्चतम था। प्रधानतया औषधालय उन्हीं रोगियों के लिए चलता था जो व्यक्तिशः वैद्य का व्यय वहन करने में तथा अपनी समूल्य चिकित्सा कराने में समर्थ नहीं होते थे।

वैद्यों उपवैद्यों के सिवाय उक्त आरोग्यशाला में परिचारकों की उपस्थिति भी रहा करती थी। परिचारक के गुणों का उल्लेख करते हुए महर्षि चरक संक्षेप में कहते हैं—

'शीलवान्, पवित्र आचार वाला, निपुण तथा रोगी के अनुकूल अपने आपको बना लेने वाला, सेवा कुशल, सर्व कर्मों में निर्मल ज्ञान वाला, भात पकाने तथा स्नान कराने में कुशल, अङ्ग दबाने में निपुण, आसानी से रोगी को शय्या से उठाने तथा सुलाने में समर्थ, आवश्यकता पड़ने पर ओषधि पीसने में निपुण, तथा रोगी को ओषधि पिलाने में विज्ञ परिचारक ही उपयुक्त होता था।

"उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि।
शौचं-चेति चतुष्कोऽयं गुणाः परिचरे जने।"
च० सू० ६।७

गीत, वाद्य, स्तोत्र, श्लोक आख्यानों, इतिहासों, पुराणों की वार्ताओं द्वारा रोगी को प्रसन्न रखने में समर्थ; रोगी के अभिप्राय को तथा देश, काल को जानने वाला सभी उपकरणों का यथावश्यक यथास्थान समय पर एकत्रित कर रखने वाला सभ्य पुरुष एक सफल परिचारक माना गया है।

इस प्रकार चिकित्सा के चारों पाद (वैद्य, ओषधि, परिचारक तथा रोगी) प्रशस्त थे अतः रोग को जीतना बड़ा सरल था—

'भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगीपादचतुष्टयम्।
गुणवत् कारणज्ञेयं विकारव्युपशान्तये॥
च० सू० ६।२

औषधालय में प्रयोगार्थ ओषधियों के सिवाय तीतर, बटेर, हिरण, कालपुच्छक, मृग मातृका, मेढा, सुन्दर नीरोग जीवद्वत्सा सुशील गाय (जिसके रहने का स्थान, घास तथा पानी भी उतना ही शुद्ध तथा सुव्यवस्थित हों) जलपात्र, आचमनी, जलागार (कोठी), मटक (मिट्टी का घड़ा) थाली, कड़ाही, धातु की गागर, कड़छी, चटाई, ढक्कन, तैल पकाने का पात्र, मथनी, चमड़ा, ओढने का वस्त्र, कपड़ा, सूत का धागा, कपास, रुई, ऊन, तकिये सहित बिछौने, रोगी के पास रखने का जलपात्र, पीकदान सोने बैठने का उचित प्रबंध, स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंग प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुलोमन, शिरोविरेचन, मूत्र-मल त्याग आदि कर्मों की परिचर्या तथा उससे सम्बन्धित सुविधायुक्त सामान, अच्छी तरह धोये हुए सिल-बट्टे, मुलायम तथा बीच में खुरदरी शिलायें, शस्त्र, यंत्र, धूम नेत्र, बस्ति, नेत्र, उत्तर बस्ति का उपकरण, बुहारी, तराजू द्रव नापने के पात्र, घृत, तैल, वसा, मज्जा, शहद, फाणित, लवण (सैंधव), ईंधन, जल, सीधु, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, दही का मण्ड, दही का घोल, धान्याम्ल, गौ आदि के मूत्र, शाली तथा साठी चांवल, मूंग, उड़द, जव, तिल, कुलथी, बेर, द्राक्षा, गांभारी, फालसा, हरड़, आंवला, बहेड़ा, भिन्न भिन्न प्रकार के स्नेह, स्वेदन वमन, विरेचन, दीपन, पाचन, उपशमन तथा वातहरद्रव्य, तथा 'उपकरण' उपद्रवों का विचार कर अन्य भी जो कुछ उपयोगी साधन हैं उन सब को एक स्थान पर एकत्रित करना परमावश्यक था।
(च सू. १५/६-७)

आतुरालय में धारा-गृह (shower bath room) भूमि गृह (under-ground celler) सुशील तथा रम्य घरों का भी उचित प्रबंध था। वैडूर्य, मुक्ता, माणिक्य, आदि ठंडे पानी के बर्तन में ठंडे होने के लिये डाले रहते। (च. चि. ३।१६०)

आवश्यकता पड़ने पर रोगी के लिये शीतल वायु वाले उपवन में भी, वायु सेवन की व्यवस्था की जाया करती थी। इसका तात्पर्य यह है कि आतुरालय के पास ही उद्यान का भी होना आवश्यक था।

दाहयुक्त ज्वर वाले रोगी को चन्दन के शीतल जल द्वारा ठंडे किये गये रेशमी बिछौने पर लिटाया जाता था, अथवा धारा-गृह (फव्वारे द्वारा स्नान करने वाले कक्ष) में या बर्फ द्वारा ठंडे किये गये जल का अभिषेक कराया जाता था।

(च. चि. ३।१५६)

मदात्यय में वात प्रधान व्याधि होजाने पर उस रोगी को बिस्तरे पर लिटाकर गरम कपड़े ओढ़ा दिये जाते थे। या उसे अन्तर्गृह में गरम कर सुला दिया जाता था।

(च. चि. २४।४८)

दाहरोग में जलयंत्र (fountain) तथा वायु को बहाने वाले यंत्रों (fans) तथा धारागृहों, शीत गृहों आदि की यथाशक्य योजना हुआ करती थी।

(च. चि. २४ ५५—५६)

शल्यशालाक्यगृह (surgical ward)—काय-चिकित्सालय की तरह शल्य-शालाक्य विभाग भी पूर्णतया सुव्यवस्थित तथा सुचालित था। आज की तरह उस समय भी शल्य-शालाक्य-गृह औषधालय का एक स्वतंत्र अंग था जो शल्य चिकित्सकों की देख रेख में चला करता था। चरक उन वैद्यों को 'धान्वन्तरीय' नाम से संबोधित करता है। "इदं धान्वन्तरीयाणामधिकार:" यद्यपि इसका स्पष्ट विवरण चरक में उपलब्ध नहीं होता फिर भी 'सुश्रुत' को देखकर कोई भी व्यक्ति उस समय में शल्य शालाक्य गृह होने से इनकार भी नहीं कर सकता।

आरोग्यशाला के शल्य विभाग में बड़े बड़े रोगों जैसे अर्श, भगंदर, अश्मरी आदि की शल्य चिकित्सा हुआ करती थी। शल्यशाला में विभिन्न यंत्रों तथा शस्त्रों का रहना परमावश्यक था। सभी यंत्र प्रखर तथा शुद्ध किये होते थे। शाला में रहने वाले यंत्रों तथा शस्त्रों में से कुछ के नाम ये हैं—

१. स्वस्तिकयंत्र—२४ थे, प्रमाण १८ अंगुल, अस्थि शल्यों के उद्धारणार्थ प्रयोग में लाये जाते थे। जैसे—अ. (१) व्याल मुख (२) मृगमुख, उदाहरणार्थ—सिंह, व्याघ्र, वृक, तरक्षु, ऋक्ष, द्वीपि, मार्जार, शृगाल तथा मृग।

ब. पक्षी मुख—काक, कंक, कुरर, चास, भास, शशघाती, उलूक, चिल्ल, श्येन, गृध्र, क्रौंच, भृंगराज अंजलीकर्ण, अवभंजन, नन्दीमुख।

२. संदंश यंत्र—२ प्रकार के, प्रमाण, १६ अंगुल प्रयोग-स्नायुगत शल्योद्धरणार्थ। (अ) अनिग्रह (ब) सनिग्रह

४. नाड़ीयंत्र—२० प्रकार के, प्रमाण विभिन्न, प्रयोग-विभिन्न जैसे—स्रोतगत शल्य उद्धरणार्थ, रोग दर्शनार्थ, आचूषणार्थ, क्रियासौकर्यार्थ। (अ) एकतो मुखानि (ब) उभयतो मुखानि

उदाहरणार्थ—अलाबु, शृंग, सन्निरुद्ध, गुद-बस्ति, उत्तर बस्ति, आदि।

५. शालाक्य यंत्र—२८ प्रकार, प्रमाण विभिन्न, भिन्न २ प्रयोजनार्थ।

(अ) दीर्घ, (ब) गण्डूपद (स) सर्पफण (द) सर-पुंख (इ) बडीश मुख (फ) तोष्णी (ज) खल्ल मुख-(च) जाम्बवदन (आ) अंकुशवदन. (ज) मुकुलाग्र (क) परिमण्डल आदि.

उपयंत्र—२५ प्रकार के; यंत्रों के सहायतार्थ कार्य में आने वाले।

(१) रज्जु (२) वेणी (३) पट्ट (४) चर्मान्त (५) वल्कल (६) लता (७) वस्त्र (८) अष्ठीलाश्म (६) मुगदर (१०) पाणितल (११) पादतल (१२) अंगुली (१३) जिह्वा (१४) दन्त (१५) नख (१६) मुख (१७) बाल (१८) अश्वकटक (१६) शाखा (२०) ष्ठीवन (२१) प्रवाहण (२२) हर्ष (२३) क्षार (२४) अग्नि (२५) भैषज आदि।

शल्य क्रिया के बाद रोगी की सुख सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। देवों, बड़ों, गुरुओं, तथा ब्राह्मणों को नमस्कार कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद शान्ति से रोगी का शल्यकर्म प्रारम्भ किया जाता था। मधुर-भाषी मित्रों द्वारा उसकी सुश्रूषा हुआ करती थी। इस

प्रकार उस समय का शल्य विभाग पूर्ण संतोष-जनक था।

इस विभाग में भी चिकित्सकों, परिचारकों वस्त्र सफाई, तथा सुविधाजनक वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार व्यवस्था थी जैसे काय-चिकित्सा आरोग्य कक्ष में।

सूतिकागृह (obstetric ward)—चरक के समय में सूतिकागार का भी प्रबंध सुव्यवस्थित था। सूतिकागार भी उसी बृहदातुरशालय का ही एक विभाग था। प्रसूतिगृह का वर्णन चरक के शब्दों में इस प्रकार है -

"योग्य वास्तु-कला विशारदों के निरीक्षण में प्रसूतिगृह का निर्माण होना चाहिए। सूतिकागार के पास ही शौचशाला, स्नानागार, पाकशाला का भी निर्माण होना चाहिए। प्रसूतिकक्ष का मुख पूर्व की ओर या उत्तर दिशा में होना चाहिए। सूतिका-गृह निर्वात, धूप रहित, तथा सर्व ऋतुओं में सुखकर होना चाहिए। रूप, रस, गंध वाली सुन्दर भूमि में सूतिकागृह का निर्माण होना परमावश्यक था। बिल्व, तेन्दुक, इंगुदी, भल्लातक, वरुण, खदिर की लकड़ियों तथा अन्य श्रेष्ठ लकड़ियों के द्वार वाला विशाल भवन होना चाहिए। सुन्दर आलेपनयुक्त स्वच्छ खिड़कियों से युक्त, अग्नि, जल आदि की जहां उचित व्यवस्था हो ऐसा सुन्दर घर होना उपयुक्त है।

(च० शा० ८।३२)

सूतिकागृह में घृत, शहद, पांचों लवण, विडङ्ग, देवदारु, कूठ, सोंठ, बच, चव्य, चित्रक, बिल्व, हिंगु, सरसों लहसुन, निर्मली, कर्णिका, कदम्ब, अलसी कुलथी, सुरा, आसव, आदि का तथा इनके सिवाय अन्य प्रसूति के लिए उपयोगी यंत्र भी तैयार रहने चाहिए। सूतिकागृह में भी अन्य कक्षों की तरह दीपक, तथा बिस्तर, ओढ़ने आदि का भी उचित प्रबंध रहता था।

(च० शा० ८।३३)

सूतिकागृह में रहने वाली परिचारिकायें भी सम्पन्न हुआ करती थीं। उनके गुण चरक के कहे अनुसार ये थे।—"बहुवार प्रसवा, सौहार्दयुक्त, मैत्रीभाव वाली, निरन्तर अनुरक्त, अनुकूल आचरी, समयोचित कार्य कुशल, वत्सला, विषादरहित, क्लेश सहने वाली परिचारिका का ही वहाँ रहना उचित है।"

(च० शा० ८।३४)

नवग्रह-पूजन, शान्तियज्ञ, गुरुजनों का आशीर्वाद, देवों, ब्राह्मणों तथा अन्य पूजनीयों की स्वस्ति प्राप्त करने के बाद ही शीघ्र प्रसवा उस कक्ष में प्रवेश करे।

(च० शा० ८:३५)

कुमारागार (nursery room)—सूतिकागृह के पास ही कुमारागार का होना माना गया है। यह भवन भी चरक में 'वास्तु विद्या कुशल व्यक्तियों के निरीक्षण में ही बनाया जाना चाहिए। भवन की दृढ़ता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। एक ओर से हवा का प्रवेश वाला तथा काफी प्रकाशयुक्त कक्ष होना चाहिए। हिंसक पशुओं के प्रवेश, तथा दाढ़ दांत वाले अस्वस्थ पशुओं, तथा हानि पहुंचाने वाले कीट पतंगों, चूहों आदि के प्रवेश से वह कमरा बचा हुआ रहना चाहिए। बच्चों को भय पैदा करने वाले शब्द, चित्र तथा खिलौने वहां नहीं रहने चाहिए। सुवैद्यों, धात्रियों तथा परिजनों का वहां रहना आवश्यक था। मूत्रागार, स्नानागार, मलत्याग स्थान, पाकशाला आदि का भी वहां उचित प्रवन्ध होना चाहिए। भवन लिपा, पुता स्वच्छ तथा सुन्दर होना चाहिए।

(च० शा० ८।५३)

बच्चों के सोने बिछौने तथा ओढ़ने के वस्त्र अत्यन्त हलके, स्वच्छ, ऋतु अनुकूल तथा नरम होने चाहिए। गन्दे वस्त्रों को या तो बदल ही दे अन्यथा उन्हीं को धोकर धूप में सुखाले और पुनः पहिना दे। आवश्यकता पड़ने पर वस्त्रों को जीवाणुनाशक धूप में धूपित करे। बालक के मणिधारण तथा क्रीड़ा के खिलौने भी विशेषतौर से तैयार किये होने चाहिए।

(च० शा० ५४, ५५)

अध्ययन करने के बाद ही कुमारागार की रचना का आदेश दिया है। प्राचीन कुमारागार आज के कुमारागार के समान ही प्रशस्त था समय ने कुछ नूतनता लादी हो परन्तु वैज्ञानिक विचारणा में आज भी कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं आता।

पंचकर्म विभाग—चरक के समय में बृहदारोग्यशाला का एक हिस्सा पंचकर्म के लिए सुरक्षित था। 'पंचकर्म के लिए सभी उपयोगी तथा सहायक वस्तुओं का संग्रह तैयार रखने का आदेश भगवान आत्रेय ने अग्निवेश को दिया है कारण सभी वस्तुएं समय पर खरीद कर लाई जाना इतना सुकर नहीं है।

(च. सू. १५।४)

आतुरालय के इस विभाग का निर्माण भी योग्य वास्तुकला विशारद की देख-रेख में ही होना चाहिए। भवन सुदृढ़, वायु के खुले प्रवेश को तीन ओर से रोकने वाला, एक ओर से हवादार, धूप वर्षा आदि के प्रवेश को रोकने वाला होना चाहिए। बिछौने, तकिये, चद्दर, ओढ़ने आदि से सुसज्जित मंच शयन-कक्ष में रहना चाहिए तथा उसके पास में रखा पीकदान, जलपात्र, आदि विशुद्ध रहना चाहिए।'

(च. सू. १५)

तराजू, नाप का वर्तन, स्नेहन, स्वेदन, वस्ति आदि के पूरे सामानों का भी वहां रहना आवश्यक था। प्रत्येक कर्म के लिए अलग-अलग उपविभाग भी थे। वमन कराने वाले व्यक्ति को पहले स्नेहन तथा स्वेदन करावे। यदि इसी बीच में उसे कोई रोग आघेरे तो पहिले उसकी चिकित्सा करे। फिर उसे स्नेहन कराना चाहिए।

चरक ने स्नेहन के योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। स्नेहन के लिए घृत, तैल, वसा आदि का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार बताया है। २४ तथा ६४ स्नेहों की विचारणा के साथ ही चरक ने ऋतु तथा व्याधि पुरुष के अनुसार उत्तम मन्द तथा मध्यम मात्रा में लवणयुक्त स्नेहन करने का भी आदेश दिया है। दोष विकृति के अनुसार स्नेहन का विस्तृत उल्लेख चरक में पाया जाता है।

स्नेहन के बाद स्वेदन का विस्तृत वर्णन चरक में है। वात तथा कफ के रोगी को स्वेदन अधिक लाभप्रद है। दोषों की विकृति के अनुसार महान् दुर्बल तथा मध्यम स्वेद दिया जाता है। स्वेद देते हुए वैद्य रोगी के हृदय की परीक्षा करता रहे। स्वेदन के लिए भूगर्भ गृह उष्ण गृह, वा जेन्ताकों तथा बन्द कुटी का रहना उपयुक्त था। स्वेद के लिये विभिन्न ओषधियों के क्वाथ जल का प्रयोग भी प्रशस्त बताया है।

उपनाह के लिये चर्म, कौशेय (रेशम) तथा ऊन का उपयोग करे। चरक ने तेरह प्रकार के स्वेदों का उल्लेख किया है--शंकर, प्रस्तर, नाडी, परिषेक, अवगाहन, जेंताक, पत्थरघन, कर्षू, कुटी, भू, कुंभिका कूप, होलाक।

शंकरस्वेद—ऊनी वस्त्रों से, चर्म से तथा लोमसहित अन्य चर्मों से।

प्रस्तर—शमी धान्य, अर्क पत्र आदि पर रेशमी वस्त्र ढँककर स्वेद करावे।

नाडी—कथित वाष्प को नाडीद्वारा रोगी के पास पहुँचाकर स्वेद करावे।

परिषेक—क्वाथ को वायूलिका, कुम्भी, वा प्रनाड़ी में डालकर।

अवगाह—वातहरी द्रव्यों में दूध, तेल, घृत, मांस डालकर कोष्ठक में स्नान करावे।

जेंताक—भूमि परीक्षा के बाद पूर्व या उत्तर दिशा में गड्ढा खोदकर एक गुप्त घेर बनावे। १६ हाथ की ऊंचाई में बारियों से युक्त कमरा बनावे। फिर उसमें आग जलाकर गरम करे। फिर स्वेद ले।

प्रस्तरघन—प्रस्तर शिला को वातनाशक काष्ठों से गरम कर रोगी को उस पर लिटा कर स्वेद करे।

कर्षू—मंच के नीचे गड्ढा खुदवावे फिर उसमें निर्धूम अंगारों को भर कर स्वेद करे।

कुटी—गोल आकार की छोटी कुटी (विना झरोकों की) बनाकर बीच में शय्या बिछाकर, मृग-

छाला, प्रवार, रेशमी वस्त्र, कम्बल से ढककर चारों ओर अग्नि रखदे।

भू—प्रस्तर घन स्वेद की ही विधि।

कुंभी—जल पूरित कुंभी को भूमि में गाड़ कर ऊपर मंच बिछादे, फिर लोहे को तपा तपा कर कुंभी में बुझाता रहे।

कूप—हाथी, अश्व, गौ, खर के कण्डों को जलाकर स्वेदित करे।

होलक—मंच के नीचे निर्धूम अग्नि रखकर रोगी को स्वेदित करे।

इस प्रकार के स्वेदन के पश्चात् वैद्य रोगी को, क्रमशः वमन, विरेचन, तथा नस्य करावे। इन सभी कर्मों का विस्तृत वर्णन चरक में मिलता है परन्तु इन सबका यहां उद्धरित करना संभव नहीं। वह एक स्वतन्त्र लेख का विषय बन जाता है। इस प्रकार चरक की पंचकर्मपद्धति अपनी एक विशेषता रखती है और इसीलिये ज्ञातव्य भी है। जो आज के किसी चिकित्साशास्त्र में नहीं मिलती।

कुटी प्रवेश—

आज भी आयुर्वेद की स्थायी निधि कुटीप्रवेश रसायनविधिविज्ञान है। अन्य चिकित्सायें भी आज इस ओर मुँह ताक रही हैं और चाहती हैं कि हमें भी इसका कुछ प्रसाद प्राप्त होजाय। परन्तु वैद्यों से यह क्रिया लुप्त सी होती जारही है। रसायन दो प्रकार से सेवन किया जाता है (१) वातातपिक तथा (२) कुटि-प्रावेशिक। वातातपिक का संक्षिप्त वर्णन हम अपने बाह्य विभागीय चिकित्सालय के वर्णन के साथ कर आये हैं वर्ष में एक बार विरेचन लेकर मनुष्य रासायनिक औषधियों का पथ्य के साथ सेवन करे।

नगर के उत्तर-पूर्वी भाग में शुभ तथा रम्य भूमि में कुटी का निर्माण किया जाता था। बृहद आरोग्यशाला का भी एक भाग जो उत्तर पूर्व की ओर हो तथा आतुरालय से कुछ दूर हो इस प्रयोग के लिये उचित कहा जा सकता है। कुटी की दीवारें ऊंची तथा आकार बड़ा (चौड़ी) होना चाहिए। कुटी बड़ी तथा तीन गर्भ वाली होनी चाहिए। कुटी का दरवाजा क्रमशः पूर्व पश्चिम तथा उत्तर की ओर होना चाहिए। कुटी में प्रकाश तथा वायु के प्रवेश के लिये छोटी छोटी खिड़कियां होनी चाहिए जो एक आदमी की लम्बाई से ऊपर हो। सब ऋतुओं में सुखप्रद, प्रकाशपूर्ण, चित्त को आनन्द देने वाली, अवांछनीय शब्द, रस, गंध आदि के प्रवेश से निषिद्ध, अगम्य स्त्री प्रवेश से वर्जित, मनुष्यों के प्रवेश से वर्जित, इष्ट उपकरणों से युक्त, वैद्य, औषधि तथा ब्राह्मणों के द्वारा प्रवेश प्राप्त, फालतू साज (सजावट) शैया से विहीन कुटी ही चरक की वह कुटी है जिसमें निवास कर मनुष्य जरा और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

उत्तरायण के शुक्ल पक्ष में शुभ दिन (तिथि) नक्षत्र वाले मुहूर्त और करण से युक्त समय में, क्षौर कर्म कराने के बाद धृति स्मृति के बल का आश्रय लेकर, श्रद्धायुक्त, एकाग्रमन वाला होकर, पुरुष मानसिक दोषों से दूर होकर, सब प्राणियों में मैत्री के भाव स्थापित कर, देव द्विज तथा गुरुजनों की पूजा अर्चना कर तथा गौ-ब्राह्मणों तथा देवी देवताओं की प्रदिक्षणा कर तथा इनका आशीर्वाद प्राप्त कर, इस कुटी में प्रवेश करे।

इस कुटी में संशोधन आदि औषधियों का सेवन कर शुद्ध होकर तथा नीरोग होकर रसायन का सेवन करे। कुटी में केवल एक घृत-दीप तथा कुछ धार्मिक पुस्तकें मात्र हों। जरा मृत्यु को जीतने का इच्छुक व्यक्ति कुटी-प्रवेश द्वारा रसायन सेवन किया करते थे। (च० चि० १)

कुटी प्रावेशिक रसायन से आयु की वृद्धि होती है, शरीर निरोग होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, तथा कार्य शक्ति तथा स्फूर्ति आती है। वैद्यों को चाहिए आज भी इस ओर ध्यान दें तथा लाभ प्राप्त करें।

मानसिक चिकित्सालय (Mental Hospital)

आधुनिक मानसिक-विज्ञाताओं का दावा है कि वे इस शास्त्र में बहुत आगे बढ़ गये हैं परन्तु चरक का अध्ययन उन्हें भी आश्चर्यान्वित कर सकता है।

चरक का मानसिक चिकित्सालय वृहद् आरोग्य-शाला का ही एक अङ्ग माना जाता था, परन्तु उक्त भवन से कुछ दूर इसका निर्माण होता था। इस चिकित्सालय की दीवारें ऊँची-ऊँची हुआ करती थीं जहां से निकल कर रोगी भाग न जाय, तथा अन्यों को चोट न पहुंचा दे।

"उन्माद के रोगी को अन्य रोगियों से अलग एक कमरे में जहां वायु तथा धूप का प्रवेश खुला न हो रखना चाहिए। रोगी के कमरे में अन्य शस्त्र आदि वस्तुऐं नहीं होनी चाहिए। रोगी को परिचारक धर्मशास्त्र की वार्ता से आश्वासित करे। उसे अद्भुत दृश्य दिखावे तथा विभिन्न प्रकार से उसके मानसिक क्लेश को भुलावे। अधिक उन्माद होने पर उसे चाबुक, अग्नि, जल आदि से भयभीत करे। सर्प, सिंह, गज अथवा शस्त्रों से उसे भयभीत कर दिमाग में झटके लगावे। यहां तक कि आवश्यकता पड़ने पर राजाज्ञा का स्वांग रचाकर उसे मृत्यु तक का भय दिखावे। प्रिय वस्तुओं का वियोग प्रदर्शित कर उसके मस्तिष्क में उथल-पुथल मचावे।

(च० चि० ६।४१)

यदि रोगी का उन्माद उग्र हो तो उसे अन्धकार में रखे। आवश्यकता होने पर उसे अंधेरे कमरे में जहां लोह आदि धातुओं अथवा लकड़ी के सामान न हों, वहां नर्म मजबूत पट्टी से बांध कर लिटा देना चाहिए। वस्तुतः चरक की मानसिक चिकित्सा अपनी विशेषता रखती है जो आज भी किसी देश की मानसिक-चिकित्सा के समाने गर्व से रखी जा सकती है।

तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयं।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः॥

च० चि० ६।२०

रोगी के अनुकूल मित्रों से जो आप्त धर्म अर्थ के वक्ता हैं, उसे विज्ञान धर्म तथा धैर्य और स्मृति से युक्त करे। रोगी के चित्त को प्रसन्न रखने के लिये उसे वाटिका भ्रमण भी करावे परन्तु जल, अग्नि, वृक्ष व पर्वत से सदैव उसका परिचारक सतर्क रहे तथा उसकी रक्षा करता रहे।

चरक ने उन्माद में स्नेहन पर बहुत जोर दिया है। वस्तुतः पंचकर्म तथा रसायन की सहायता से मानसिक रोगी की चिकित्सा बड़ी आसानी से तथा स्थायी तौर पर हो सकती है। यज्ञ तथा पूजन भी इस रोग के नाश में सहायक हो सकते हैं।

युद्धकालीन चिकित्सालय—इसके सिवाय आयुर्वेद में युद्धकालीन चिकित्सालयों का भी संकेत मिलता है, जो आजकल के चिकित्सालयों से काफी साम्य रखता था। वैद्य का निवास तथा उसका चिकित्सा कैम्प राजा के निवास के पास होता था। उसके चिकित्सा गृह पर एक विशेष रङ्ग का झण्डा रहा करता था जिससे यह पता चले कि यह चिकित्सालय है। राजा की पूरी देख-रेख इस चिकित्सालय पर रहा करती थी। चिकित्सालय के वैद्य तथा भृत्य भी एक विशेष प्रकार की पट्टी या वस्त्र रखा करते थे जिससे यह दूर से ही ज्ञात हो जाय कि ये परिचारक या चिकित्सालय से सम्बन्धित व्यक्ति है। इन सबका विस्तृत विवरण सुश्रुत में मिलता है।

संक्रामक रोग चिकित्सालय—संक्रामक रोग के पीड़ितों को अन्य रोगियों से दूर रखने का आयुर्वेदीयों को पूर्ण ज्ञान था।

बृहदारोग्यशाला
आतुरालय (indoor)
चिकित्सालय (out door)
पुरुष विभाग
male ward
स्त्री विभाग
female ward
रोगी चिकित्सा
curative
रोग-निरोधक
preventive
कायचिकित्सा विभाग
medical
शल्यचिकित्सा विभाग
surgical
कायचिकित्सा
medical
शल्य चिकित्सा
surgical
साधारण
काय-चिकित्सा
medical outodor
लघु शल्य-
चिकित्सा
minor surgery
रोगी चिकित्सा
relief
treatment.
पंचकर्म
curative
treatment
कुटि प्रवेश चिकित्सा
rejuvenation
preventive treatment
शल्य विभाग
शालाक्य विभाग
मूढ़गर्भ तथा अन्य
प्रसुति शल्य चिकित्सा
सामान्य शल्य-
साध्य चिकित्सा
कौमारभृत्य
शल्य साध्य
चिकित्सा
त्रैमासिक स्वास्थ्य-
परीक्षा
शोधन
चिकित्सा
बल-वर्धक
चिकित्सा
रोगिणी चिकित्सा
प्रसुति चिकित्सा
कौमारभृत्य
बालक
पुरुष
स्त्री

चरक सम्मत बृहदारोग्यशाला का मानचित्र

चरक सम्मत आतुरालय तथा उसकी व्यवस्था नामक लेख से सम्बन्धित

चित्रकार— श्री. पं. पन्नालाल जोशी ।

चरक सम्मत समाज की कल्पना

लेखक—आचार्य परमानन्दन शास्त्री विद्यावाचस्पति, डी० लिट्०
सञ्चालक—इण्टर नेशनल आयुर्वैदिक रिसर्च, पटना ।

आत्रेय सम्प्रदायाचार्य चरक की उपलब्ध संहिता के आधार पर समाज की कल्पना एक ऐसा विषय है, जिसका विवेचन करते समय यह परमावश्यक होजाता है कि हम आचार्य चरक के समय की सामाजिक अवस्था का वास्तविक परिज्ञान प्राप्त करलें। कारण, आचार्य चरक के समय की सामाजिक अवस्था को यथावत् हृदयंगम किये बिना उनके द्वारा उत्प्रेक्षित समाज की कल्पना उस समाज की परिकल्पना जिसे हम राजनीतिक दृष्टिकोण से रामराज्य की परिकल्पना कह सकते हैं सर्वथा असम्भव ही बनी रहेगी। और इस दृष्टिकोण से उपलब्ध चरक संहिता का अध्ययन-अनुशीलन करने में आचार्य चरक का काल जान लेना भी आवश्यक कोटि में आपड़ता है।

कहना न होगा कि उपलब्ध चरकसंहिता पुस्तकों में 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते'—यह स्थान स्थान पर लिखा मिलता है जिसमें 'प्रतिसंस्कृते' पद में का 'प्रति' उपसर्ग वीप्सार्थक है। यह पद संकेतित करता है कि प्रकृत संहिताग्रन्थ का बारम्बार संस्कार किया गया था।

अग्निवेश का समय

निःसन्देह इस ग्रन्थ के मूल रचयिता 'अग्निवेश' थे जिनका काल पाणिनि के काल से अवश्य ही प्राचीन माना जायगा। कारण हम देखते हैं कि पाणिनिप्रोक्त गर्गादिगण (पा. सू. ४-१-१०५) में जतूकर्ण पराशर अग्निवेश आदि शब्द आये हैं जो प्रसिद्ध चिकित्सा सम्प्रदायाचार्य आत्रेय पुनर्वसु के ६ शिष्यों में से तीन हैं, जिनके सम्बन्ध में चरक

संहिता के निम्नलिखित श्लोक विशेष महत्व के हैं—

"अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः।
तन्त्रस्यकर्त्ता प्रथममग्निवेशस्ततोऽभवत्॥

अथभेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः ॥
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत् सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥

× × ×

तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणिपरमर्षिभिः ।
भवाय भूतसङ्घानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ॥"
—चरक. सूत्र. अ० १ ।

(अर्थात् सभी प्राणियों में मैत्री बुद्धि रखने वाले पुनर्वसु आत्रेय ने सभी प्राणियों पर दया का अनुभव करके इस पवित्र आयुर्वेद का ६ शिष्यों को उपदेश दिया। अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि—इन ६ शिष्यों ने मुनि के उस उपदेश वचन को ग्रहण किया। अग्निवेश की बुद्धि विशेष थी-मुनि आत्रेय के उपदेश में कोई अन्तर नहीं था। अग्निवेश ही सर्वप्रथम आयुर्वेदतन्त्र का कर्त्ता हुआ। इसके पीछे भेल आदि बुद्धिमान् शिष्यों ने भी अपने-अपने तन्त्र बनाकर बहुत से ऋषियों के साथ विराजमान आत्रेय मुनि को सुनाया। पुण्यकर्मा अग्निवेश आदि ऋषियों द्वारा भली-भांति गुम्फित आयुर्वेदशास्त्र को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका प्रसन्नता से अनुमोदन भी किया कि ग्रन्थ ठीक प्रकार से रचित हुआ है।

+ + +

महर्षियों द्वारा अनुमोदित उक्त ऋषियों के शास्त्र परम कल्याण के लिए पृथ्वी पर प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए।)

इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि उपलब्ध चरक संहिता के आयुर्वेदावतरण प्रकरण में अङ्गिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, अश्वलायन, पारिक्षिभिक्षु, आत्रेय, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र आश्व (श्म) रथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिल्य वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य, बैजवापि, कुशिक, बादरायण बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, कांकायन, कैकशेय, धौम्य, मारीचिकश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैंगि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय और मैमतायनि इन ५० ऋषियों में से अधिकांश वैदिक ऋषि ही हैं, और भरद्वाज की गाथा तो ऐतरेय ब्राह्मण में भी अतिसुस्पष्ट मिलती है। इसलिए यह कहना भी सर्वथा सुसङ्गत ही माना जायगा कि 'अग्निवेश का काल अन्ततः सूत्रयुग से पहले का तो अवश्य ही है।

ऋग्वेद और शतपथ में अग्निवेश

यों तो हमें ऋग्वेद (५, ३४, ६) में अग्निवेश की सन्तान के रूप में आग्निवेशि की चर्चा मिलती है, जिस अग्निवेश को अग्निवेशतन्त्र के रचयिता के रूप में भी नहीं माना जा सके, इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है; प्रत्युत् ऋग्वेद में आयुर्वेद का व्यापक सम्बन्ध रहने के कारण इस अग्निवेश को ही प्रकृत अग्निवेशतन्त्र का रचयिता मानकर उनका काल वह वैदिककाल कहा जा सकता है जब कि 'सप्तसिन्धु' में मानवावतार केवल सम्पन्न हुआ था—हिमालय नगाधिराज किंवा राजशेखर का मध्य देश भी सर्वथा जल से बाहर नहीं ही हो पाया था। पर यदि हम आत्यन्तिक आधुनिकीकरण की दृष्टि से भी अग्निवेश के काल का निर्धारण करने को उद्यत हों तो भी हमें शतपथब्राह्मण (१४) में उपलब्ध आग्निवेश्य वंश प्रवर्त्तक के रूप में उन्हें मानना ही पड़ेगा, जिनके सम्बन्ध में यूरोपीय ऐतिहासिक पण्डितों के अनुसार शतपथब्राह्मण के रचनाकाल अन्ततः ईशा पूर्व ७०० होने से न्यूनतः साढ़े सौ वर्ष ईशापूर्व काल अवश्य ही कहा जायगा। आयुर्वेदीय विश्वकोषकार ने (भाग २, पृ० १०६६) भी इसे शब्दान्तर में यह लिखते हुए स्वीकार ही किया है कि 'धन्वन्तरि' और आत्रेय से लेकर आगे के काल को हम संहिता काल वा आर्ष काल कहेंगे। इतिहासकारों ने आज से २५०० वर्ष पूर्व एकाधिक

सहस्र व्यापी इस युग का समय बताया है।

चरक द्वारा प्रतिसंस्कार

इस अग्निवेशतन्त्र के प्रतिसंस्कर्त्ता चरक के सम्बन्ध में भी यह सर्वथा निश्चय नहीं हो सका है कि प्रतिसंस्कर्त्ता चरक अमुक-न-अमुक काल में उत्पन्न हुए थे। यह भी वाद है कि प्रतिसंस्कर्त्ता चरक एक ही नहीं हुए हैं बल्कि उनका भिन्न-भिन्न काल है। और वैयक्तिक रूप से मैं भी इस वाद को अधिक सत्य मानता हूँ।

भावमिश्र का मत

सोलहवीं शताब्दी में उत्पन्न प्रसिद्ध वैद्य भावमिश्र ने अपने निबन्ध ग्रन्थ भावप्रकाश में आयुर्वेदाचार्यों के उपवर्णनप्रसंग में लिखा है कि साङ्गवेद और अथर्ववेदाङ्ग आयुर्वेद को जानने वाले शेष ने पृथिवी वृत्तान्त को जानने के लिए अवतार धारण कर मुनिपुत्र के रूप में जन्म ले, आत्रेय के शिष्य अग्निवेश आदि के द्वारा रचित आयुर्वेद-तन्त्रों को लेकर उनका संस्कार एवं संग्रह कर चरकसंहिता नामक ग्रन्थ रचा था।

अनेक चरकों की कल्पना

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि चरक शब्द का अर्थ 'सामान्यतः चिकित्साशास्त्रज्ञ' होता है; और दो एक स्थलों में व्यक्त्यन्तर में भी चरक शब्द का व्यवहार देखा जाता है। परन्तु यह भी बात सही नहीं है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। कारण, यदि चरकशब्द वैद्यशब्द का पर्याय होता तो कोषों में वैद्यशब्द के पर्याय के रूप में उसका उल्लेख अवश्य कहीं न कहीं मिल जाता, और मिल जाता सुश्रुत प्रभृति आयुर्वेद के अन्यान्य आचार्यों के सम्बन्ध में भी उक्त शब्द का प्रयोग भी। पर ऐसा तो है नहीं, बल्कि चरकसंहिता के प्रणेता—प्रतिसंस्कर्त्ता-व्यक्ति विशेष में ही रूढ बना यह शब्द स्वभावतः उसी अर्थ को प्रतीत कराता है। इसलिए व्यक्त्यन्तर में दृश्यमान चरकशब्द का प्रयोग भी लाक्षणिक ही मानना चाहिए।

आयुर्वेदीय विषयों का अथर्ववेद में विशेष उपलम्भ होने से कश्यप और सुश्रुत की संहिताओं के समान ही चरकसंहिता में भी अथर्ववेद का इस विषय में प्राधान्यकीर्त्तन चरकशाखीय होने पर भी चरकाचार्य का व्याहत नहीं होता। अतः, गोत्रनाम से 'आत्रेय' की तरह शाखा नाम से 'चरक' के रूप में प्रसिद्धि भी संभव है। किं वा उनका रूढ नाम ही चरक रहा होगा। ऐसा कुछएक विद्वानों का मत है।

परन्तु आयुर्वेद के मूलग्रन्थों और उनपर किये गये विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-अनुशीलन का यथासाध्य परिशीलन करने के उपरान्त मैं व्यक्तिगतरूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि आत्रेय सम्प्रदाय के चिकित्सकों को 'चरक' की उपाधि मिला करती थी, और इन चरक उपाधिधारी आयुर्वेद के विद्वानों द्वारा काले-काले अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार होता आया है। यही कारण है कि आचार्य चरक के सम्बन्ध में विभिन्नकालप्रज्ञापक विभिन्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनका यथार्थ समन्वय मेरे निष्कर्ष को मानकर उन पर अनुकूल विचार करने से ही सर्वथा सम्भव है।

चरक के सम्बन्ध में मुख्य दो पक्ष

आचार्य चरक के काल-निर्णय प्रसङ्ग में हमें दो पक्ष विशेष प्रधान मिलते हैं—एक है बौद्ध साहित्यों की विदेशों में विकीर्ण सामग्रियां, जिनमें आचार्य चरक को सम्राट् कनिष्क का राजवैद्य माना गया है, और दूसरा है ब्राह्मणपन्थी विद्वत्परम्परा जिसमें आचार्य को पतञ्जलि का एक दूसरा नाम माना है। परन्तु ये दोनों ही पक्ष अभी तक विवादास्पद ही रहे हैं, अतः यहां भी इन पर कुछ विचार कर देना अप्रासङ्गिक नहीं ही होगा।

कनिष्क के राजवैद्य चरक

हां, तो चीनी स्रोतों से पता चलता है कि प्रतिसंस्कर्त्ता आचार्य चरक प्रसिद्ध राजा कनिष्क

(१०० ई.?) के राजवैद्य थे, और इन्होंने सम्राट् की रानी के मूढगर्भ रोग का इलाज भी किया था।

[इस सम्बन्ध में—जर्नल एशियाटिक, पेरिस, १८९६ में प्रकाशित 'सिल्वन लेवी' का—नोट्स सुर-लेस्ट इण्डो-स्काइथ्स-नामक लेख पृ० ४४७ तथा पृ० ४८० पादटिप्पणी, बुलेटिन एका० मेडिका, १८९७, में प्रकाशित 'लिटार्ड' का—लेमेडिसिन चरक, नामक निबन्ध जूलियस जौल्ली का—'चरक'। तथा नकाकुसु का 'इत्सिंग (ऑक्सफोर्ड, १८९६) पृ० ५९ का विशेष अध्ययन करना चाहिए।]

परन्तु डाक्टर ए. बी. कीथ ने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृ० ४०६ में इस काल निर्णय पर अपनी असम्मति देते हुए लिखा है कि 'अभाग्यवश हम ऐसी कथाओं की श्रद्धा नहीं बता सकते हैं, जब कि ये हमें इतने विलम्ब से सम्प्राप्त होती हैं।"

कहना न होगा कि यदि आचार्य चरक सम्राट् कनिष्क के राजवैद्य होते तो 'उपायहृदय' नामक ग्रन्थ में भैषज्य विषय प्रसंग से सुश्रुत का स्मरण करते हुए आर्य नागार्जुन ने चरक की चर्चा क्यों नहीं की है?, यह एक सन्देहजनक प्रश्न अवश्य है। साथ ही किसी भी ऐतिहासिक पुरातत्व सामग्री से चरक की कनिष्क कालिकता सिद्ध नहीं होती।

प्रसिद्ध दार्शनिक आलोचक श्री सुरेन्द्रनाथदास गुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिष्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी,' भाग १, में चरकाचार्य को न्यायसूत्रकार गौतम का पूर्ववर्त्ती माना है, जिस गौतम को डाक्टर देवसहाय त्रिवेद ने अपने नए प्रकाशित 'प्राङ्मौर्य विहार' नामक ग्रन्थ (पृ० ६६) में प्राङ् मौर्यकालीन माना है, और इन्हें याज्ञवल्क्य समकालीन मान लिया जाय तो अन्ततः कलिपूर्व ८९६ वर्ष इनका भी काल सिद्ध होता है। अक्षयकुमार मजुमदार ने हिन्दू हिष्ट्री (पृ० ४७४-७५; ५६१) में चरक का समय १४०० ईसा पूर्व वर्ष माना है।

चरक और पतञ्जलि

कुछ लोग "चरके पतञ्जलिः" इस प्रकार के नागेश भट्ट के लेख एवं 'पातञ्जल महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रेऽहिपतयेनमः।' इस प्रकार से चरक चतुरानन चक्रपाणिदत्त का मंगलाचरण आदि कई एक प्रमाणों के बल पर चरक और पतञ्जलि को एक मानते हैं। परन्तु यह भी कई लोगों को ठीक नहीं जँचता।

इस सम्बन्ध में मारीच कश्यप संहिता के उपोद्घात प्रकरण में नेपालराजगुरु श्री हेमराज शर्मा ने चरक और पतञ्जलि के व्यक्तिभेद साधन में उपयोगी कतिपय तर्कों का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि—

(क) यदि चरक और पतञ्जलि एक ही व्यक्ति रहते तो योग और व्याकरण में पतञ्जलि नाम से व्यवहार और वैद्यक में इस परम्परा का अनुपालन नहीं कर उससे भिन्न चरक नाम से व्यवहार में कोई कारण नहीं जँचता।

(ख) महाभाष्य में 'गोनर्दीयस्त्वाह' इस प्रकार लेख मिलता है. जो गोनर्द देश 'एङ् प्राचां देशे' (पा० सू० १, १, ७५) के भाष्य के अनुसार पूर्व देश में था, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीयुत भण्डारकर इसे 'गोण्डा' मानते हैं। कश्मीर के प्राचीन इतिहास में 'गोनर्दराज' का उल्लेख हुए रहने के कारण कश्मीर प्रदेश ही गोनर्द देश है, ऐसा कुछ ऐतिहासिकों का मत है। यदि पतञ्जलि ही चरक होते तो अपने को कहीं भी, एक स्थान पर भी गोनर्दीय क्यों नहीं लिखा?

(ग) यह भी विचारणीय है कि चरकसंहिता में पाञ्चाल, पाञ्चनद, काम्पिल्य आदि प्रदेशों का उल्लेख है, पर 'गोनर्द' का कहीं पर भी नहीं। यदि चरक का ही नामान्तर गोनर्दीय होता तो महाभाष्य में 'गोनर्दीयस्त्वाह, के समान ही, कहीं एक स्थान पर

भी 'चरकस्त्वाह' लिखना क्योंकर भूल जाते।

(घ) इसीप्रकार चरकसंहिता और व्याकरण महाभाष्य में लेखशैली भी भिन्न-भिन्न दीखती है। महाभाष्य में बीच बीच में लोकोक्तिपूर्ण तथा सहसा दुर्बोध लेख मिलते हैं, और चरकसंहिता में सरल प्राञ्जल रचना मिलती है।

(ङ) यह भी विचारणीय है कि व्याकरण में महाभाष्य सदृश विस्तृत ग्रन्थ, योग में योगसूत्र जैसा मूर्धन्य ग्रन्थ लिखकर वैद्यकाचार्य पतञ्जलि, अपना कोई नया ग्रन्थ नहीं लिखकर, केवल अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार करके ही आत्मसन्तोष क्यों कर पासकते ?

(च) शिवदास ने 'तदुक्तं पातञ्जले'—कह कर जिस श्लोक का उद्धरण दिया है वह रस विषयक है, और वह वर्त्तमान चरकसंहिता में उपलब्ध नहीं होता। फलतः पतञ्जलि का रसतन्त्र विषयक कोई ग्रन्थ था, यह विदित होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि धातुरसायनाचार्य पतञ्जलि ने चरकसंहिता में रस–धातु आदि का विषय प्रवेश क्योंकर नहीं किया ? या रस वैद्यक नामक ग्रन्थान्तर में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है, इस प्रकार का ही कोई एकाध सन्दर्भ निर्माण क्यों नहीं किया ?

(छ) रसवैद्यक को पातञ्जलतन्त्र और अग्निवेश तन्त्र के प्रतिसंस्कृत रूप को चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्धि पाने का भी तो कोई मान्य कारण अवश्य होना चाहिए।

(ज) जो विषय वा देशादि जिससे विशेष परिचित किं वा परिशीलित रहता है, वह उसके हृदय में अनुस्यूत होकर बारंबार उपस्थायी होता है। जैसे महाभाष्य में पाटलिपुत्र का बारंबार उल्लेख देखने से उसके विशेष परिचय वा वहाँ निवास के कारण हृदय में उपस्थान का उन्नयन होता है। एक व्यक्ति के द्वारा अनेक विषयों पर ग्रन्थ निर्माण किये जाने पर एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थ से सम्बद्ध विषय के उपन्यास के प्रस्ताव पर 'यह अमुक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित है'—इस प्रकार दोनों की एक वाक्यता बतलाने का निबन्धकारों का सम्प्रदाय है। इसी प्रकार अनेक निबन्धकर्त्ताओं के जो विषय—उक्तियां वा युक्तियां—अत्यन्त प्रिय होते हैं, वे अनेक प्रकरणों में संक्रान्तकर उपन्यस्त हुए देखे जाते हैं। जैसे–भामतीकार की व्यापक विरुद्धोपलब्धि युक्ति दर्शनान्तरों में भी कुछ रूप बदलकर बहुत स्थानों में उपन्यस्त मिलती है। इसी प्रकार यदि चरक और पतञ्जलि दोनों अभिन्न होते तो महाभाष्य का लेख चरक में और चरक का लेख महाभाष्य में पद पद पर क्यों नहीं मिलते ?

(झ) यद्यपि अग्निवेशसंहिता का चरक ने केवल प्रतिसंस्कार किया था, अतः मूलग्रन्थ परवश होने के कारण अपनी लेखनी का ससङ्कोच विकास ही कर्त्तव्य था; इसलिए व्याकरण प्रस्थान के आचार्यत्व की निदर्शक उक्तियां, शब्द विशेष या अन्यान्य चिन्ह चरकसंहिता में प्रवेशनीय नहीं थे—ऐसा भी कहा जा सकता है। फिर भी महाभाष्य के लेख में सूत्रपरवशता से स्वेच्छापूर्वक अपनी वाग्धारा, उदाहरण, साधक वचन, लोकोक्ति आदि से व्याख्यान कौशल दिखलाने वाले भाष्यकार ने चरक संहितानुकूल भावानुबद्ध वैद्यक विषय अवसर प्राप्त स्थलों में भी क्यों नहीं उल्लिखित किया ?

(ञ) भाष्यकारने 'ह्वः सम्प्रसारणम्' (पा.सू. ६-१-३२) सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर 'अन्तरेणापि निमित्त शब्दं निमित्तार्थो गम्यते' (अर्थात् बिना निमित्त शब्द के प्रयोग के भी निमित्त का अर्थ प्रतीत होता है।—ऐसा कहकर 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षोज्वरः ज्वर निमित्तमिति गम्यते, नड्वलोदकं पादरोगः, पादरोग निमित्तमिति गम्यते, आयुर्वै घृतम्, आयुर्निमित्तमिति गम्यते'—इत्यादि उदाहरण दिये हैं। यहां 'आयुर्वै घृतम्' के समान 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ...

नड्वलोदकं पादरोगः, यह भी प्राचीन आचार्य वाक्य का ही उद्धरण है, ऐसा जान पड़ता है। वहां निमित्त निमित्ती के अभेदोपचार प्रदर्शक अन्य वाक्यों में भी सम्भव रहने पर ऐसा कहना आचार्य का वैद्यक सम्प्रदाय का ज्ञाता होना बतलाता है। किन्तु इसी से इनकी चरकाचार्यता नहीं सिद्ध होती है। यदि दोनों ही एक होते तो ऐसी बातें अपने वैद्यक ग्रन्थ में असाधारणता से क्यों लिखते ? दधित्रपुस, का ज्वरप्रकरण के रूप में, 'नड्वलोदक' का पादरोग के कारण के रूप में चरकसंहिता में उल्लेख क्यों कर नहीं मिलता है ? इसी प्रकार उत्कन्दक नामक रोग महाभाष्य में उल्लिखित एवं भावप्रकाश आदि में लभ्यमान भी चरकसंहिता में क्यों नहीं मिलता ? महाभाष्यकार द्वारा परिचय, निवास किं वा प्रेम से बारंबार उल्लिखित पाटलिपुत्र चरकसंहिता में क्योंकर एक स्थान पर भी उपलब्ध नहीं है ? गर्गादिगण में पठित अग्निवेश आदि पदों का आवश्यक देय उदाहरण भी भाष्यकार ने क्यों नहीं दिया ? स्थलत्रय में अन्यत्र उपन्यस्त आग्निवेश्य का वैद्याचार्य के रूप में परिचय भाष्यकार ने कहीं भी क्यों नहीं दिया ? चरक निर्दिष्ट अन्यान्य आचार्यों का असाधारण नाम भी तो भाष्यकार ने नहीं दिया है ?

(ट) क्रतूक्थादि (पा० सू० ४-२-६०) सूत्र के व्याख्यान के सिलसिले में उक्थादिगण में प्रविष्ट 'आयुर्वेद' शब्द का ठगन्त रूप नहीं बतलाना, वहीं 'विद्यालक्षण' इत्यादि वार्तिक सम्बन्धि विधोदाहरण में आयुर्वेद विद्या का अनुपादान, 'रोगाख्यायांण्वुल् बहुलम्' (पा० सू० ३-३-१०८) सूत्र की व्याख्या में रोगवाचक शब्दों का उदाहरण नहीं देना, रोगाख्यापनयने (पा० सू० ५-४ ४६) में सम्बद्ध एक भी उदाहरण का नहीं देना भाष्यकार के ही चरकाचार्य होने में कौतुक उत्पन्न करता है।

(ठ) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा. सू. २-३-६२) सूत्र में 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्या' इस वार्तिक के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त तैत्तिरीयसंहिता वाक्य से रजस्वलापालनीय धर्मशास्त्र सम्मत नियम तथा उसके अपालन से होने वाली हानियों का सविशेष वर्णन महाभाष्य में उपलब्ध है, जो सुश्रुतसंहिता में उसी अनुकूल निर्दिष्ट है। किन्तु चरकाचार्य ने 'जातिसूत्रीय' अध्याय में उन महाभाष्य में सविशेष उपन्यस्त रजस्वला नियमों को सामान्यतः ही कहा है। फल नहीं बताये हैं, और पात्रांश में भी विसम्वाद देखा जाता है।

(ड) चरकसंहिता में घनीभाव लेकर पुरुषत्व प्रदर्शित है। प्रसव मातृधर्म होने से 'माता सूते' ऐसा प्रयोग होता है। किन्तु 'स्त्रियाम्' (पा. सू० ४-१-३) सूत्र के भाष्यानुसार प्रसव को पुरुषधर्म मानकर 'पुमान् सूते' होना चाहिए—इस प्रकार चरक और पतञ्जलि की प्रक्रिया में भी भेद है। अतः उपदर्शित साधक बाधक प्रमाणों के अनुसार दोनों में अभेद साधनापेक्षया भेद मान लेना ही अच्छा है, यह मेरा (नेपाल राजगुरु का) दृष्टिकोण है। देखिए—मारीच काश्यपसंहिता, उपोद्घात पृ० ८४-९०।

पतञ्जलि और चरक का ऐक्य

इस संबन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि चरकाचार्य को पतञ्जलि के रूप में मानने वालों का भी पक्ष इतना कोमल नहीं है, जिसे साधारण तर्कों के बल पर उड़ा दिया जा सके।

शब्द ब्रह्मवेत्ता तथा पातञ्जल महाभाष्य के उद्धारक भगवान् भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में—

> "कायवाग्बुद्धि विषया ये मलाः समवायिनः।
> चिकित्सा लक्षणाध्यात्म शास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥"
>
> (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड)

इस पद्य के द्वारा शास्त्रत्रय को कारणत्रयगत मलविशोधक के रूप में बताते हैं, वह तीनों ही शास्त्र भगवान पतञ्जलि प्रणीत हुए हैं, इसे परम्परा

प्रचलित एक प्रसिद्ध पद्य भी मुक्तकण्ठ बतलाता है। पद्य यों है—

"योगेन चित्तस्य पदेन वाचां कायं मलं चैव हि वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि ॥

इसी बात को पातञ्जल योगसूत्र वृत्ति के रचयिता भोजदेव ने भी "वाक्चेतो विदुषां मलः फणभृतां पत्रैव येनोद्धृतः ।" के द्वारा तथा चरक चतुरानन श्री चक्रपाणिदत्त ने भी—

"पातञ्जलमहाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृतैः ।
मनो वाक् काय दोषाणां हर्त्रेऽहिपतयेनमः ॥"

इस मंगलाचरण के द्वारा की है। यहां भी चक्रपाणिदत्त जैसे प्रामाणिक टीकाकार ने पातञ्जल सूत्र और महाभाष्य की रचना तथा चरक प्रतिसंस्कार की चर्चा कर मेरे उस अनुभव का स्पष्टीकरण कर दिया है कि चरकसंहिता का एक संस्कार भगवान् पतञ्जलि ने भी किया था। यों तो पतञ्जलि और चरक के ऐक्य के पुजारी इसका अर्थ करेंगे कि चरकरूप से अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार करके काय-दोषों के हरण करने वाले पतञ्जलि को नमस्कार श्री चक्रपाणिदत्त ने किया था, और इसकी पुष्टि में भावप्रकाश में चरकावतार की कथा जोड़ देंगे।

इसी प्रकार पतञ्जलिचरित आदि ग्रन्थों में भी पतञ्जलि को आयुर्वेदोद्धारक लिखा गया है, जो चरक पतञ्जलि की एकता का पोषक है।

नव्य व्याकरण के स्तम्भ आचार्य भट्ट नागेश भट्ट ने कई स्थानों पर—'तदुक्तं चरके पतञ्जलिना'। कह कर अपने लघुमंजूषानामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ में चरक का उद्धरण दिया है जो उपलब्ध चरकसंहिता में भी उपलब्ध है।

बोद्धार्थ के वाच्यत्व निरूपण प्रसङ्ग में नागेश ने—'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्'। [चरक० सूत्र० अ० १] का उद्धरण किया है। और स्फोट बाद में—'चरकेऽप्युक्तम्'।—कहकर—

सामान्य मेकत्वकरं 'विशेषस्तु पृथक् त्वकृत्' [वहीं] का तथा—'एतद्बीजमप्युक्तं तत्रैव'।—कहकर—तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषश्च विपर्ययः'।—[वहीं] का उद्धार किया है। दोनों ही ये उद्धरण वर्त्तमान चरकसंहिता में भी उपलब्ध हैं। फिर भला भर्तृहरि से नागेश तक की प्रसिद्ध परम्परा को केवल कुछ एक सारहीन तर्कों के बल पर कैसे अयुक्त करार कर दिया जासकता है?

प्रतिकूल तर्कों का निराकरण

पाठकों के विवेचनार्थ अब उन तर्कों का यथा-साध्य उत्तर देना भी मेरा कर्त्तव्य होजाता है जिनका निराकरण किये बिना यथार्थ साधन करना भी असम्भव सा ही रहेगा। पाठक क्रमानुसार उन तर्कों का उत्तर यहां देखें।

(क) पतञ्जलि और चरक की अभिन्नता के पक्ष में भी यह प्रश्न नहीं उठता है। कारण, व्याकरण में शेष. पतञ्जलि और गोनर्दीय शब्द से पतञ्जलि का निर्देश आया है और वैद्यक में चरक और पतञ्जलि इन दो शब्दों से। योगशास्त्र में तो केवल पतञ्जलि शब्द से ही व्यवहार है। यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि चरकसंहिता का वर्त्तमान रूप दृढबल प्रतिसंस्कृतरूप है, जिसमें 'चरकप्रतिसंस्कृत' पद में अनेक चरकों द्वारा प्रतिसंस्कार किये जाने का ऐतिहासिक बीज संकेतित करने को पतञ्जलि का पृथक् निर्देश नहीं मिलता। यह तो केवल परवर्त्ती व्यक्तियों का दोष होसकता है कि वैद्यक में विशेषतः चरक शब्द से ही पतञ्जलि का भी व्यवहार किया जासका। पतञ्जलि ने स्वयं तो कहीं भी अपना नाम नहीं ही दिया है। व्याकरण में सूत्रार्थों के उद्धारार्थ शेष का अवतार धारणकर महाभाष्य रचना का इतिहास है, तो आयुर्वेद में भी शेष का ही जनस्वास्थ्यरक्षार्थ अग्नि-वेशतन्त्र के उद्धार की कथा मिलती ही है। फिर

अकारण चरक नाम से व्यवहार को लेकर आपत्ति उठाना ठीक नहीं है।

(ख) महाभाष्य में उल्लिखित 'गोनर्दीयस्त्वाह' के गोनर्दीय को कैयट ने पतञ्जलि के रूप में माना है। परन्तु यह भी कहा जाता है कि 'गोनर्दीय' एक आचार्यान्तर थे, जिनके मत का उल्लेख स्थान-स्थान पर पतञ्जलि ने किया है। यदि पतञ्जलि स्वयं को गोनर्दीय मानते होते तो प्रत्येक सिद्धान्तभाष्य के कथन के अवसर पर वैसा कहते। महाभाष्य के अनुशीलकों को यह स्पष्ट मालूम है कि 'गोनर्दीय' का नाम लेकर कहा हुआ एक भी मत सिद्धान्तमत नहीं माना गया है और न उस मत को परवर्त्ती वैयाकरणों ने ही सिद्धान्तमत माना है। फलतः गोनर्दीयस्त्वाह' चरकसंहिता में एक स्थान पर भी नहीं मिलना व्यक्त्यान्तर साधन में हेतु नहीं मानना चाहिए। पातञ्जलयोगसूत्र में भी कहीं गोनर्दीय नहीं है, तो क्या उसके रचयिता पतञ्जलि कोई दूसरे माने जासकते हैं?

(ग) चरक में 'गोनद' देश का नहीं; अपितु 'गोनर्द गिरिवर्त्तक' की चर्चा (सूत्रस्थान० अ० २७, मांसवर्ग में) है, जो यह प्रमाणित करता है कि चरक गोनर्दगिरि से विशेष सुरुचि रखते थे। फलतः यह व्यक्ति भेद साधन के बजाय व्यक्त्यैक्य का साधन ही करता है। यदि महाभाष्य में 'चरकस्त्वाह; का नहीं होना किं वा चरकसंहिता में 'गोनर्दीयस्त्वाह' का नहीं होना ही व्यक्त्यान्तरसाधक तर्क माना जाय, तो पातञ्जलयोगसूत्र में भी वैसा नहीं होने से उसे भी अन्यकृत मान लेना पड़ेगा! प्रत्युत् मेरा तो व्यक्तिगत यही मत है कि उपरोक्त मांसवर्गीय गोनर्दशब्द चरक और पतञ्जलि के व्यक्त्यैक्य का ही स्पष्टतः साधन कर रहा है।

(घ) चरकसंहिता और पातञ्जल महाभाष्य की शैली में परस्पर वैषम्य के बल पर यदि व्यक्त्यान्तर कल्पना कर ली जाय तो तुल्यन्यायात पातञ्जल महाभाष्य और पातञ्जलयोगसूत्र के रचयिता में भी भेद मानना आवश्यक पड़ जायगा, क्योंकि वहां भी शैली भेद सुस्पष्ट है।

(ङ) आयुर्वेद में अग्निवेश तन्त्र की मर्यादा से परिचित होने से उसका उद्धार प्रति संस्करण के द्वारा करना आवश्य ही एक बहुत बड़ा कार्य था, जिस पर यदि भगवान् पतञ्जलि ने आत्मसन्तोष किया तो सर्वथा समुचित ही किया था! साथ ही, यह भी तो अभी तक निश्चित नहीं हो सका है कि पतञ्जलि ने अन्य वैद्यक ग्रन्थ नहीं ही लिखा था। शिवदास वैद्य द्वारा समुद्धृत पातञ्जल वचन उपलब्ध चरक संहिता में नहीं रहने से रस विषयक एक ग्रन्थ पतञ्जलि ने और लिखा था, ऐसा भी प्रवाद है ही। इसी प्रकार चरक की मंजूषा नाम की एक व्याख्या भी पतञ्जलि कृत रहने की बात कुछ लोग करते हैं। फलतः यह तर्क भी अनैक्य साधक नहीं हो सकता है।

(च) पतञ्जलि ने चरकसंहिता के काय चिकित्सा प्रधान रहने के कारण काष्ठौषधि प्रयोग बहुल रहने से उसमें रस-धातु आदि का विषय प्रवेश कराना शस्त्रकर्म सम्बन्धी संक्षिप्त विषय प्रवेश कराने की अनवसरता के समान ही अनौचित्यपूर्ण समझा था, और इसीलिए रसवैद्यक पर पृथक् ग्रन्थ लिखकर रस धातु सम्बन्धी अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य का प्रदर्शन भी किया था; और दोनों के परस्पर अतिशय असम्बद्ध प्रमाणित करने को ऐसा कोई भी सन्दर्भ नहीं लिखा जिससे दोनों ही कर्मों की परस्पर सम्बद्धता प्रकट हो सके।

(छ) पतञ्जलि का स्वकृत स्वतन्त्र निबन्ध पातञ्जलतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ था, और अग्निवेश तन्त्र को चरक नाम से प्राप्तप्रतिष्ठ काय चिकित्सा के श्रेष्ठ पण्डितों द्वारा पूर्वकाल में भी प्रतिसंस्कृत देखकर आयुर्वेदोद्धारक शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने प्रतिसंस्कार कर दिया था, जिसका इतिहास इसकी एक प्राचीन परम्परा में अक्षुण्ण है, और अपने नाम

से उसे प्रसिद्ध कर उसकी मर्यादा को नष्ट करना उन्होंने उचित नहीं समझा था।

(ज) यह ठीक है कि विशेष परिचित विषय, देश, उक्ति वा तर्कों का बारम्बार उपस्थापन ग्रन्थकार किया करते हैं, और एक ग्रन्थ में उपस्थित ग्रन्थान्तर सम्बद्ध विषय का निर्देश करते समय एक दूसरे ग्रन्थान्तर का सन्दर्भ डाल दिया करते हैं। किन्तु यह तभी देखा जाता है कि जब वैसे विषय की उभय ग्रन्थ सम्बद्धता समान रूप से अनुगण रहती है। परन्तु जहां वह बात नहीं रहती वहां इस प्रकार का निर्देश नहीं किया जाता है। फलतः शब्द की परिशुद्धि का साधक ग्रन्थ व्याकरण महाभाष्य और शारीर शुद्धि साधक ग्रन्थ चरकसंहिता में किसी भी विषय की समान सम्बद्धता उन्हें प्रतीत नहीं हुई थी, अतः उन्होंने ग्रन्थान्तर का निर्देश नहीं किया है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में जहां शब्द के नित्यत्व वा कार्यत्व के प्रश्न पर विवाद चल पड़ा था, वहां भगवान् पतञ्जलि ने व्याड़िकृत संग्रह की चर्चा करनी नहीं ही भूली थी, और लिखा था कि 'संग्रहे तावत् प्राधान्येने परीक्षितम्। नित्यो वास्यात, कार्यो वास्यात्' किन्तु उन्हें व्याकरण महाभाष्य में भी उन्हें दूसरा ऐसा अवसर नहीं मिला था जहां किसी ग्रन्थान्तर की चर्चा करते। इसीलिए वहां ग्रन्थान्तर की चर्चा नहीं की। केवल आनुषङ्गिक भाव से शब्द-प्रयोग के रूप में वैद्यक सम्बन्धी बातें भी दी हैं, जिन्हें महाभाष्य के अनुशीलक जानते ही हैं। इसी प्रकार चरकसंहिता में शब्द शुद्ध्यादिका प्रकरण ही नहीं आया है, जहां व्याकरणमहाभाष्य का सन्दर्भ रूपेण निर्देश करने की आवश्यकता उपस्थित होती। आयुर्वेद के आचार्यों का मत मतवाद विचार के अवसर पर स्थान-स्थान पर दिया ही है, जो सर्वथा उनकी परम्परा के अनुकूल हुई है। हां दार्शनिक विचारधारा का साम्य तो दोनों ग्रन्थों में मिलता है, जिसे 'अद्वैतवादी चरक' शीर्षक उपस्तम्भ में यहीं देखना चाहिए।

(झ) चरकसंहितानुकूल भावानुवद्ध वैद्यक विषयों का क्या कहना, दार्शनिक विषय अवसर प्राप्त स्थलों में जिस बारीकी से चरक में दिखाये गये हैं, उन्हें चरकसंहिता के अनुशीलक भलीभांति जानते हैं, यहां उद्धृत करना व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने को चरकसंहिता का विमान स्थान, रोगभिषक्जितीय अध्याय नामक अष्टम अध्याय, जिसमें दर्शनशास्त्रीय विषय भी हैं, देखना चाहिए। मेरी तो यह मान्यता है कि उपलब्ध चरकसंहिता में जो भाषा का सुन्दर प्रवाह, विचार की सुन्दरतम सरणि, दार्शनिक गहनविषयों का सुस्पष्ट समुल्लेख मिलता है वह भगवान् पतञ्जलि के प्रतिसंस्कार से ही आसके हैं। अन्यथा सुश्रुत आदि अन्य आयुर्वेद ग्रन्थों में भी इस प्रकार की विशेषता क्यों नहीं पाई जाती है ? आलोचकों को इस पर भी ध्यान देना चाहिए।

(ञ) आचार्य पतञ्जलि ने 'दधित्रपुस' को ज्वर कारण तथा 'नड्वलोदक' को पादरोग कारण के रूप में चरकसंहिता में इसलिए नहीं दिया कि उन्हें उसकी कारणता पर विश्वास नहीं था। महाभाष्य में वैसा उदाहरणमात्र-प्रयोग दिखलाने के भाव से किया था, इस स्पष्ट युक्ति के रहते उसके बूते पर अनैक्य साधन व्यर्थ है। रही उत्कन्दरोग की चर्चा नहीं करने की बात, सो तो वह प्रयोग छान्दस है, ऐसा व्याकरण महाभाष्य में बतलाकर स्वयं चरकसंहिता में उसका उल्लेखकर उल्लंघन क्योंकर करते ? उत्कन्दक का चरकसंहिता में उल्लेख नहीं कर महाभाष्य के लेख की ही मर्यादा रखी थी, जो वैपरीत्येन दोनों के ऐक्य का ही समर्थन करता है। पाटलिपुत्र का योगदर्शन में निर्देश नहीं रहना यदि व्यक्त्यन्तर साधक हेतु नहीं माना जाता तो चरकसंहिता में उसका नहीं रहना भी व्यक्त्यन्तरसाधकहेतु नहीं ही हो सकता है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने प्रयुक्तानामे वान्वाख्यानम्। यथाऽलक्षणमप्रयुक्ते' का सिद्धान्त प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार उन्हें वे ही प्रयोग देने

उचित भी थे जिनका प्रयोग आप्त-आचार्यों ने कर दिए हुए हों—अपना प्रयोग तो उन्हें दिखाना ही नहीं था। फलतः उन्होंने अग्निवेश आदि शब्दों से बनाकर अपना कल्पित उदाहरण या उनका अनावश्यक परिचय नहीं देकर भी अपनी मर्यादा का परिपालन ही किया है। उसके आधार पर व्यक्त्यन्तर साधन का प्रयास करना व्यर्थ है।

(ट) आयुर्वेद शब्द का ठगन्तरूप वा आयुर्वेद विद्या का वार्त्तिकोदाहरण में अनुपादान महाभाष्य में इसलिए है कि भाष्यकार ने अप्रयुक्त शब्दों का साधन कहीं भी नहीं दिखाया है, बल्कि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रयुक्तों का ही साधुत्व प्रदर्शन किया है। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उपलब्ध महाभाष्य महावैयाकरण भर्तृहरि का प्रतिसंस्कृत रूप है, जिसमें वैयाकरण परम्परानुसार पिशाच लिखित पिप्पलपत्र-अभिलेखों का शीर्ण होना तथा भक्षित होना भी एक विशिष्ट कारण है, जो महाभाष्य में सभी अपेक्षित बातों की अनुपलब्धि का एक गुप्त इतिहास बतलाता है। फलतः यह कौतुक करना भी व्यर्थ है।

(ठ) व्याकरण महाभाष्योद्धृत रजस्वला नियमों का चरक के जाति सूत्रीय अध्यायोक्त नियम से मेल नहीं खाना भी व्यक्त्यैक्य में बाधक नहीं ही मानना चाहिये। कारण चरक ने जाति सूत्रीय अध्याय में प्रतिज्ञा ही ऐसी की है कि—"श्रेयसीं प्रजामिच्छतोस्तन्निर्वृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः" (चरक शारीर. अ० ८) अर्थात्—उत्तम सन्तान चाहने वाले स्त्री-पुरुष के उत्तम सन्तानोत्पादनकारक कर्म बतायेंगे।' फलतः उसमें सन्तानोत्पादनोपयोगि कर्मों का निर्देश करना ही समुचित था न कि रजस्वला के नियमों का सविस्तर गुणदोषप्रदर्शनपूर्वक प्रदर्शन। आनुषङ्गिक या आवश्यक भाव से जो कुछ थोड़ा रजस्वला नियम बताना चाहिए, उसका तो निदर्शन आचार्य चरक ने किया ही है। फिर यह तर्क भी साधक नहीं।

(ड) चरकसंहिता के अनुसार 'माता सूते' और महाभाष्य के अनुसार 'पुमान् सूते' इस प्रक्रियाद्वैध को लेकर व्यक्तिद्वैध मानना भी अनुचित है। क्योंकि वहीं महाभाष्य में इन प्रयोगों के प्रयोजक धर्मों को क्षणिक माना है। भाष्यकार ने स्वयम् कहा है कि—"कश्चिदपि सत्वादिधर्मः कश्चिन् मुहूर्त्तमात्रमपि नावतिष्ठते, यावद्‌नेन वर्धितव्यमपायेन युज्यत इति।" फलतः लिङ्गसाधक सत्व विशेष के केवलान्वपि होने के कारण विवक्षावशेन व्यवहार विशेष की कल्पना व्याकरण सम्प्रदाय सम्मत होने से भाष्यानुसार भी 'माता सूते' प्रयोग का होना सुसाध्य है। इस लिये इसके आधार पर कुछ निर्णय करना अनुचित है। फलतः दोनों में अभेद साधनापेक्षया भेद मान लेना ही अच्छा है, यह नेपाल राजगुरु का लेख मुझे मान्य नहीं जँचता।

नागार्जुन द्वारा अनुल्लेख

अब रही उपायहृदय में नागार्जुन द्वारा आचार्य चरक का उल्लेख नहीं रहने के आधार पर चरक को कनिष्ककालिक नहीं मानने की बात, सो तो बौद्धों द्वारा एकान्तः ब्राह्मण सम्प्रदाय के आचार्यों का अनुल्लेख हुआ है, जिसे सभी ऐतिहासिक अध्येता जानते हैं। फलतः यह भी तर्क मान्य नहीं होना चाहिए।

मध्यम मार्ग

सारांश, चरक के सम्बन्ध में काल भेद सूचक जो भी मान्य पक्ष मिलते हैं, उनके सम्मानार्थ यही मानना उचित है कि चरक नाम से कई आचार्य समय-समय पर हुये हैं, और उनके द्वारा चरकसंहिता का बारंबार प्रतिसंस्कार हुआ है। अस्तु:—

वैदिक तथा परवैदिक समाज

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक कालीन समाज का अनुशीलन करने वालों को यह स्पष्ट भासित होचुक

है कि वैदिक कालीन समाज विशेषतः आरण्यवास पसन्द करता था। राजा वंशपरम्परानुसार होता था जो समाज में श्रेष्ठ माना जाता था। राजा पुरोहित से मन्त्रणा कर राज्य-सञ्चालन करता था, फलतः पुरोहित की भी प्रमुखता थी। ऋग्वैदिक काल में लोग प्रकृति के उपासक थे, जो बाद में इन्द्र, अग्नि सोम, रुद्र, विष्णु आदि देवताओं के उपासक बने। मृत्यु के बाद के लोक का कुछ अन्दाजा लोगों में नहीं आया था। यव और धान्य का भोजन प्रधान था, यव की सुरा तथा सोम मादक द्रव्य के रूप में उपयुक्त होते थे। जातिवाद का प्रारंभ वैदिककाल में ही प्रारम्भ हो चुका था, और पुरुषसूक्त में, जिसे कुछ लोग प्रक्षिप्त भी कहते हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-इन चार वर्णों की चर्चा आती है। परन्तु आरम्भ काल में द्विज और शूद्र के रूप में दो भेद ही प्रधानतः रहे। परन्तु ब्राह्मण काल में चातुर्वर्ण्य पर पर्याप्त बल दिया गया—यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद के काल में ही निषाद, पुञ्जिष्ठ आदि सङ्कर जातियों का वर्गीकरण होचुका था। स्त्रियाँ यद्यपि पुरुषाधीन हुआ करती थीं, पर एक पत्नीव्रत का ही अधिक प्रचार था। जवानी आने पर विवाह का विधान था। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पादन था। और वैदिककाल में भी निःसन्तान को निर्लोक माना जा चुका था। आत्मसंयम द्वारा चारित्र्य निर्माण पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पर वैदिक काल में वैदिक कालीन सामाजिक संघटनोपयोगी प्रचलनों में कुछ अधिक परिष्कार किया गया, और सामाजिक स्तर उन्नत करने को सामाजिक बन्धन की नयी-नयी कड़ियाँ जोड़ी गयीं और सामाजिक स्थिरता के ही पावन उद्देश्य से उन्हें यथासमय यथावश्यक कड़ा किया जाता रहा।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बहुतसा परिष्कार हुआ, और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों की कल्पना कर मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया, और इसी की पुष्टि में पुनर्जन्म और परलोक की सुन्दर कल्पना भी की गयी। और इसी सामाजिक व्यवस्थान के स्थिरीकरण क्रम के आधार पर व्यवस्थित समाज का काल निर्धारण किं वा स्वरूप निर्धारण ऐतिहासिक अनुशीलक विद्वान् करते आये हैं, जिनसे विश्व साहित्य का भण्डार ही भरा पड़ा है।

और इसी पृष्ठभूमिपर समुपलब्ध सामग्रियों का अनुशीलन-अध्ययन कर सामञ्जस्य दृष्टि से उनका वर्गीकरण एवं विवेचना करने से ही यथार्थ वस्तुस्थिति का यथार्थ परिज्ञान प्राप्त करना संभव है, अतः इसी दृष्टिकोण से चरकसंहिता का अध्ययन कर मैंने चरक संमत समाज का जैसा रूप देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है उसे ससन्दर्भ संक्षिप्त रूप में लिपिबद्ध करने की चेष्टा की है जिसकी सफलता पाठक ही बता सकेंगे।

उपलब्ध चरकसंहिता के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से/अनुशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहदारण्यक (अ० १, ब्रा० ४, म० २।३) के 'सर्वमयत्वहेतु पुरुष में शक्ति विकाश होकर प्रकृति और पुरुष के द्विधा विभाग और उससे विराट् की उत्पत्ति' की वैदिक परम्परा को—जिसमें प्राच्य एवं पाश्चात्य सृष्टि -सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक सुन्दर सादृश्य परिलक्षित होता है और क्रिश्चियन धर्म के प्रधान ग्रन्थ 'बायविल' के सृष्टि प्रकरणोक्त' आदम और हवा' के जन्म वृत्तान्त से भी जिसका अनुपोषण होता है—हम आचार्य चरक के काल में भी सृष्टिवाद में परिपालित पाते हैं।

आचार्य चरक स्पष्ट लिखते हैं—

'प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः।'

—चरक० शा० अ० १।

अर्थात्—अनादित्वहेतु परमात्मा का उत्पत्ति कारण कोई भी नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि बृहदारण्यक जहाँ 'सएकाकी नैव रेमे' (अर्थात्—वह अकेला रमण नहीं कर सका) कह कर द्विधाभावपुरः

सर विराट्सर्ग का कथन करता है, वहां आचार्य चरक—

"अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तुहेतुजः ।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुमदन्यथा ॥
तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्नकुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तद्व्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥
अव्यक्तमात्माक्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद्यदन्यत् तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥"

—चरक० शारीर० अ० १ ।

(अर्थात्—अनादि पुरुष नित्य, एवं हेतुजात पुरुष अनित्य होते हैं । वह अनादि पुरुष सत्, अहेतुक और नित्य, तथा—हेतुज पुरुष असत् हेतुज अर्थात् कार्य और अनित्य, ऐसा कहकर निर्दिष्ट होता है । अनादि पुरुष नित्यत्व के चलते किसी भाव से ज्ञेय नहीं है—अर्थात् इन्द्रिय आदि किसी पदार्थ के द्वारा उसकी धारणा नहीं की जा सकती है । वह अव्यक्त और अचिन्त्य है । और जो इन्द्रियग्राह्य है, वह व्यक्त माना जाता है । आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय माना जाता है । इस आत्मा से जो भी भिन्न पदार्थ है वह समुदित ही व्यक्त माना जाता है । व्यक्त और अव्यक्त के और भी दो लक्षण हैं । जो इन्द्रियग्राह्य है वह ऐन्द्रियिक पदार्थ व्यक्त, और जो इससे विभिन्न, अर्थात्—अतीन्द्रिय और लिंगग्राह्य, वह अव्यक्त होता है ।)

के द्वारा उस उभयात्मक पुरुषसर्ग का विशद-विवेचन करते पाये गये हैं । इसी प्रकार सुख-दुःखादि उपभोग के विषय में सभी उपनिषदों के सारभूत ग्रन्थ, श्री मद्भगवद् गीता में—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

—गीता० अ० १३ श्लोक २१ ।

(अर्थात्-प्रकृति में आसक्तियुक्त पुरुष प्रकृति से जायमान गुणों का उपभोग करता है । इस पुरुष के सद् और असद् योनियों में जन्म का कारण भी इसका गुणों के साथ संग या आसक्ति ही है ।)

के द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित मिलता है, उससे भी अधिक सुस्पष्ट इस सम्बन्ध में आचार्य चरक का मत है, जो मानस मल का ज्ञानपूर्वक निराकरण कर सुख भोग का सरल उपाय दिखलाता है ।

आचार्य चरक लिखते हैं—

"रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यान्तु सत्ववृद्ध्या निवर्त्तते ॥
अत्रकर्मफलंचात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्रमोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥
एवं यो वेद तत्वेन सवेद प्रलयोदयौ ।
पारम्पर्यं चिकित्सां च ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन ॥"

—चरक० शारीर० अ० १ ।

(अर्थात्-पुरुष रजस् और तमस् के साथ जब संयुक्त होता है, तो महाभूतादि चतुर्विंशतिक राशि का संयोग, अनन्त प्रकार का, होता है । और रजस् एवं तमस् से निराकृत होकर पुरुष सत्त्व वृद्धि द्वारा उस संयोग का निराकरण करता है । तात्पर्य यह कि रजस् और तमस् के साथ पुरुष का संयोग होने पर चतुर्विंशतिक पुरुष की सृष्टि होती है, और रजस् एवं तमस् का अभाव होने पर सत्व बुद्धि के द्वारा पुरुष की मुक्ति होती है । इसी चतुर्विंशतिक पुरुष में कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोह, सुख-दुःख, जीवन-मरण और सत्त्व प्रतिष्ठित है । जो इसे तत्वतः जानता है, प्रलय, सृष्टि, पारम्पर्य, चिकित्सा एवं यावत् ज्ञातव्य विषय को जान लेता है ।)

यहां यह स्मरणीय है कि आचार्य चरक का उपर्युक्त चतुर्विंशतिक राशिमय तत्व सांख्य का सुप्रसिद्ध चतुर्विंशतिकतत्व है जिसके सम्बन्ध में सांख्याचार्यों का कहना है कि चतुर्विंशति तत्वज्ञ, चाहे जिस किसी आश्रम में हो, जटी हो, मुण्डी हो, कि वा शिखावान

हो, सभी पातकों से मुक्त होता है। सारांश यह कि विवेक से मुक्ति और अविवेक से बन्धन सांख्याचार्यों ने माना है। परन्तु आचार्य चरक अनादि पुरुष को नित्य मानते हैं जिन्हें इच्छादि से संयोग होकर सादि पुरुष की उत्पत्ति होती है। वह अविवेकवश संसार में उलझ कर छटपटाया करता है, और विवेक से वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक का स्पष्ट कथन है कि—

'पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः।
आत्मा ज्ञः करणैर्योगाद् ज्ञानंतस्य प्रवर्त्तते ॥
करणानामवैमल्याद् अयोगाद्वा न वर्त्तते ॥
पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिन्ने नास्तिदर्शनम्।
तद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥
करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्त्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥
नैकः प्रवर्त्तते कर्त्तुं भूतात्मानाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्त्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन ॥'

—चरक० शरीर० अ० १।

(अर्थात्—राशिसंज्ञक पुरुष मोह, इच्छा और द्वेष से कृत कर्म से उत्पन्न होता है। आत्मा ज्ञानवान् है; करणसमूह के संयोग से उसका ज्ञान प्रवर्त्तित होता है। किन्तु कारणसमूह के मालिन्य अथवा असंयोग होने से आत्मा का ज्ञान नहीं जनम पाता। जिस प्रकार दर्पण मलिन होने पर एवं जल गन्दा होने पर उसमें दर्शक को अपने प्रतिबिम्ब का दर्शन नहीं होता। इसी प्रकार चित्त विकृत होने पर आत्मा को ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती। मन, बुद्धि, बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इन्हें करण कहते हैं। इस करण-समूह के साथ कर्त्ता (आत्मा) का संयोग होने पर कर्म, सुख-दुःख का अनुभव एवं बुद्धिप्रवर्त्तन हुआ करता है। जीवात्मा अकेला किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, और न किसी कर्मफल का भोग ही करता है। अपि तु संयोगवश ही समुदाय प्रवर्त्तित होता है; संयोग बना कुछ भी नहीं होता है)।

और इसीलिए आचार्य चरक स्पष्ट शब्दों में यह भी कहते हैं कि—

"येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहंकारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥"

[वहीं]

(अर्थात्—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रभृति द्वन्द्वों के विषय में जिनकी अत्यन्त आसक्ति होती है, और जो अहंकारपरायण होते हैं, उन्हें ही बारंबार जन्म-मृत्यु घटित होते हैं। किन्तु जो उक्त द्वन्द्व विषय में अनासक्त एवं अहंकारशून्य होते हैं, उन्हें इस प्रकार बारंबार जन्म-मरण नहीं होता। अर्थात् उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है)।

कहना न होगा कि आचार्य चरक के मत से सुख-दुःख, जरा, व्याधि प्रभृति के चक्कर में पुरुष स्वतः पड़ा करता है—कोई भी अन्य उसका कारण नहीं होता है। फलतः यदि पुरुष ज्ञान से काम ले और उपधाओं को परित्याग करने की दिशा में अग्रसर हो तो उसे सांसारिक दुःखादि की बाधा नहीं ही सता सकती है। इसलिये आचार्य चरक ने स्पष्ट कहा है कि—

"यथास्वेनात्मनात्मानं सर्वाः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽन्यस्य तन्त्रकः ॥
वशी तत् कुरुते कर्म यत्कृत्वा फलमश्नुते।
वशी चेतः समाधत्ते वशीसर्वं निरस्यति ॥"

[वहीं]

(अर्थात्—प्राणी स्वयं ही स्व-स्व आत्म द्वारा अपने को समुदय योनि में प्राण के साथ सम्मिलित करता है। अर्थात्—प्राणी अपने ही चलते योनि विशेषों में जन्म ग्रहण करता है। अन्य कोई अन्य का संघटक नहीं होता। आत्मा वशी (जितेन्द्रिय) रहने पर भी वही सब कर्म करता है, जिसे उसे ही भोगना भी पड़ता है। वही चित्त का समाधान (संयम) करता है, और वशी होकर ही सभी कर्मों के झंझटों से निरस्त होता है)

और आचार्य चरक के ही शब्दों में—

"उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।
त्यागः सर्वोपधानाञ्च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥"
[वहीं]

(अर्थात्—उपधा ही दुःखों एवं दुःखाश्रय शरीरों का उत्पादक कारण है। अतएव सभी उपधाओं—अर्थात् इच्छा-द्वेषादिकों-का त्याग ही सभी दुःखों का नाशक है)।

के द्वारा उपधा को सभी दुःखों का कारण बताया गया है, और उसके परित्याग को, दृष्टान्त देकर, अवश्य कर्त्तव्य के रूप में निर्देश करते हुए आचार्य चरक ने ही स्वयं कहा है कि—

'कोपकारो यथाह्यंशून् उपादत्ते वधप्रदान् ।
उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः ॥
यस्त्वग्निकल्यानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्त्तते ।
अनारम्भादसंयोगात् तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥"
[वहीं]

(अर्थात्—कोपकार कीट (मकड़ा) जिस प्रकार अपने वधप्रद सूत्र समूह का उत्पादन करता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञ व्यक्ति भी इन्द्रियार्थसमूह से तृष्णा का उपार्जन कर नित्य दुःख भोगा करता है। किन्तु जो ज्ञानवान् होते हैं, वे इन्द्रिय समूह को अग्नि के समान विपज्जनक विवेचना कर उससे निवृत्त होते हैं। कर्मों के अनारम्भ और असंयोग हेतुक उन्हें कुछ भी दुःख भोगना नहीं पड़ता है)।

इसलिये नानाविध रोगों के प्रादुर्भाव होने से मानवों की तपस्या, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत एवं आयु के उचित उपयोग में सम्प्राप्तविघ्न मानव समाज के उद्धारार्थ आचार्य चरक ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थों का एक मात्र साधनोपाय, आरोग्य को सम्प्राप्त कराने का एक सुगम उपाय बताया था—एक मध्यम मार्ग ऐसा आविर्भूत किया था जिस पर चलकर मानवमात्र का सर्वविध कल्याण अनायास साधित होजा सकता था। आचार्य चरक ने उस पीड़ित समाज के उद्धार करने के लिए एक ही आवाज उठायी थी वह भी यही कि जीवन यात्रा के संचालन में थोड़ा अधिक सावधान हो जाते जांय। उनका कथन है:—

नगरीनगरस्येव रथस्येव रथीसदा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥
—चरक. सूत्र. अ० ५।

(अर्थात्—नगरी जिस प्रकार अपने नगर की रक्षा में सदा जागरूक रहता है, और रथी जैसे रथ के प्रति सदा यत्नवान् रहता है, इसी प्रकार मेधावी पुरुष अपने शरीर के हित के सम्बन्ध में जो कुछ भी कर्त्तव्य हो उसके प्रति सदा यत्नवान् रहें।)

और इस यत्न के मूल में उन्हें एक बात और ख[illegible]ती थी जो थी धर्म के प्रति क्रमशः उत्पन्न हो रहे लोगों के मन में अनास्था के भाव! और वेदों के संविभागकर्त्ता भगवान् बादरायण वेदव्यास के समान ही पीड़ित मानवता के उद्धारार्थ भगवान् चरक ने भी एक बार 'हाक्रोश' किया था कि:—

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येवं न च कश्चित् शृणोति मे ।
ग्रन्थादर्थश्चिकित्सा च सक्रिमयं न बुध्यते ॥
—चरक. सिद्धि. अ० १२।

(अर्थात्—भुजा उठाकर मैं चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हूँ कि मेरे इस ग्रन्थ से अर्थज्ञान एवं चिकित्सा ज्ञान प्राप्त कर सुख लाभ करें। मगर कोई इस बात को बूझ नहीं रहा है) जिसमें स्पष्ट शब्दों में ही उन्होंने बता रखा है कि:—

वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्मा विरोधिनः ।
शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते ॥
—चरक. सूत्र. अ० ५।

(अर्थात्—धर्म के अविरोधी जो भी जीवन यात्रा के उपाय हों, उनका अनुसरण करना कर्त्तव्य है।

और शम और अध्ययन में मनो-निवेश करें और इस प्रकार सुख लाभ में समर्थ हों)।

आचार्य चरक की यह भी मान्यता थी कि निष्पाप व्यक्ति ही यथार्थ रूप से सुखोपभोग कर सकता है; इसीलिए उन्होंने अपनी संहिता में निष्पाप आचरण बनाने पर अधिक जोर डाला है। उन्होंने पुण्यात्मा को 'पुण्य शब्द' शब्द से संकेतित किया है और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसकी प्रशंसा भी की है। आचार्य चरक की उक्ति है कि—

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुंक्तेचिनोति च ॥
—चरक, सूत्र० अ० ७।

(अर्थात्—जो व्यक्ति मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों के सम्बन्ध में निष्पाप हैं, वे 'पुण्य-शब्द' हैं। वे ही धर्मादि का संचय कर सकते हैं, और सुखपूर्वक धर्म, अर्थ और काम का उपभोग कर सकते हैं)।

और इसी लिए उन्होंने कुछ समाज में संग्राह्य लोगों की सूची भी दी है, और असंग्राह्य व्यक्तियों की तालिका भी बता दी है। आचार्य चरक कहते हैं कि—

बुद्धिविद्यावयःशीलधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः ।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥
[वहीं]

(अर्थात्— जो व्यक्ति विद्या, बुद्धि, वयस, शील और समाधि से सम्पन्न हों, जो वृद्धोपसेवी हों, वृद्ध, स्वभावज्ञ, शोकादि से रहित हों, जो सभी भूतों के प्रति प्रसन्न वदन हों, प्रशान्त, शंसित व्रत, सन्मार्ग के उपदेष्टा हों, और जो पुण्य श्रवण और पुण्य दर्शन हों—ऐसे महापुरुषों का सहवास—सेवन

पापवृत्तवचःसत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः ।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः ॥
परापवादरतयः परनारी प्रवेशिनः ।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥
[वहीं]

(अर्थात्—जिन लोगों का आचरण, वाक्य और मन पापमय हो, जो खल, कलहप्रिय, मर्मोपहासी (जिनके उपहास से मर्म में उपघात पहुंचे), लुब्ध, परश्रीकातर, शठ, परापवादनिरत, परनारीगामी, निर्दय और धर्म का परित्याग कर चुकने वाले हों—इन नराधमों का सहवास-सम्पर्क नहीं करना चाहिये)।

चरित्र सुधार का सुन्दर उपाय

आचार्य चरक की मान्यता थी कि समाज में समाज विरोधी तत्वों का अस्तित्व समाज के लिए सर्वथा घातक हुआ करता है, जिसका अन्त करने के लिए समाज को सतत जागरूक रहना चाहिए, और उसका सर्व सुलभ तरीका यही है कि समाज विरोधी तत्वों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाय। उनका खयाल था कि इस प्रकार की सामाजिक चिकित्सा से समाज विरोधी तत्वों को आत्मसुधार की दिशा में अन्तःप्रेरणा मिलेगी, और वह वैसे कर्मों से विरत होने का प्रयास करेगा। सम्भवतः वह अपने समाज के किसी वृद्ध के समक्ष उपस्थित होकर अपने सुधार के हेतु प्रश्न करे, या स्वयं ऐसी चेष्टा करे कि उसका सुधार हो तो उसका भी उपाय परम कारुणिक आचार्य चरक ने लिखा है। चरक लिखते हैं—

उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥
क्रमेणापचितादोषाः क्रमेणोपचितागुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥
—चरक० सूत्र० अ० ७।

रहने पर भी क्रमशः उससे विरत हों, और हितकर विषय का क्रमशः अभ्यास करें। अभ्यास का क्रम यह है कि अहित विषय का त्याग एवं हितकर विषय का अभ्यास करने का क्रम पादांशिक रहना चाहिए। अर्थात्—अभ्यस्त तथा अनभ्यस्त विषय का एकाएक त्याग वा ग्रहण नहीं कर चतुर्थ भाग क्रम से त्याग वा ग्रहण करना चाहिए। और उसके बाद क्रम से एक दिन का अन्तर, दो दिनों का अन्तर, तीन दिनों का अन्तर, और तदुपरान्त चार-पांच दिनों का अन्तर एक दिन के क्रम से त्याग वा ग्रहण करे। इस प्रकार क्रमानुसार हितकर विषय का अभ्यास तथा अहितकर विषय का परित्याग करने से दोषों का ह्रास एवं गुणों का उपचय होता है; और दोषों का पुनरुद्भव नहीं होता, और गुणों का स्थायित्व उत्पन्न होता है।)

निःसन्देह आचार्य चरक का उपर्युक्त नुशखा ऐसा महत्वपूर्ण है कि इसके सेवन से अनायास वैयक्तिक जीवन नरक से स्वर्ग की ओर अग्रसर होकर ही रहता है, और सामाजिक परिवर्त्तन लाने को भी ऐसा सुन्दर उपाय आजतक किसी दूसरे आचार्य ने नहीं बताया था। यह तो भगवान् चरक की परम कारुणिकता का ही प्रभाव है जिससे द्रवित होकर आचार्य ने हमें सभी कुटेवों के परित्याग एवं सुटेवों के अपनाने का सरल रास्ता बता दिया है।

नास्तिक्य महापाप

आचार्य चरक के मत से नास्तिक्य सबसे बड़ा पाप माना जाता है, जो मनुष्य को सद्सद् विवेक करने के योग्य नहीं रहने देता है।

आचार्य चरक ने स्पष्ट कह दिया है कि—

"पातकेभ्यः परञ्चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः।"

—चरक० सू० अ० ११।

(अर्थात्—पातकों से भी बड़ा पाप नास्तिक्य का स्वीकार करना है।) आचार्य चरक का सदा इस ओर अधिक दबाव रहा है कि मनुष्य धर्म प्रवण हों। आचार्य ने आरम्भ से अन्त तक के जीवन का जो कर्त्तव्य सूत्ररूप से बतलाया है, उसका अनुपालन सचमुच जीवन को प्रशस्त जीवन बना देता है।

चरक लिखते हैं—

"गुरुशुश्रूषाया मध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मनसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेऽन्द्रिय मनोऽर्थ बुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनः समाधाविति। यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टि कराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्त्तुम्। तथा कुर्वन् इह चैवयशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम्॥"

—चरक०,सूत्र० अ० ११।

(अर्थात्—गुरुशुश्रूषा, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, दार-परिग्रह, अपत्योत्पादन, भृत्यपरिपोषण, अतिथि संस्कार, दान, परधन में अलोभ, तपस्या, अनसूया, कायिक-वाचिक मानसिक सत्कार्य में अनालस्य, देह-इन्द्रिय-मन-रूप रसादि इन्द्रिय विषय एवं बुद्धि और आत्मा की परीक्षा, एवं योग प्रभृति धर्मकार्य अवहित चित्त से सम्पादन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त भी जो भी आचरण साधु जनसम्मत, स्वर्ग-जनक, वृत्ति और पुष्टि का करने वाला कहकर निर्दिष्ट हुए हों उन सदाचारों का प्रतिपालन करना कर्त्तव्य है। ऐसा करने से इह लोक में यश और परलोक में स्वर्ग का लाभ होता है।)

आस्तिक्य से अलौकिक लाभ

उक्त प्रकार के आस्तिक्य के अवलम्बन से केवल यश और स्वर्ग की सम्प्राप्ति ही आचार्य चरक ने नहीं बतायी है, अपि तु इसके अवलम्बन करने वालों को चरक के मत से या तो औषध सेवन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, या औषधों के सेवन से उपयुक्त लाभ उठाने वालों को इसका अवलम्बन अपरिहार्य ही रहता है।

आचार्य चरक लिखते हैं कि—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥
याज्यशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम् ।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम् ।
समजागरणस्वप्ननित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञ मनहंकृतम् ।
शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥

(चरक. चिकित्सा, अ. १)

(अर्थात्—सत्यवादी, अक्रोध, मद्य और मैथुन से विरत, अहिंसक, अपरिश्रान्त, प्रशान्त, प्रियवादी, यज्ञ और शौच में परायण, धीर, दाता, तपस्वी, देवता-गाय ब्राह्मण आचार्य-गुरु और वृद्धजनों की सेवा में निरत, अहिंसा परायण, सतत कारुण्य-वेदी, नित्य समजागरणशील और सम निद्राशील, नित्य दूध-घी भोजन करने वाला, देशकाल प्रमाणज्ञ, युक्तिज्ञ, अहङ्कारशून्य, सदाचारी, असङ्कीर्ण, जिसकी इन्द्रियां अध्यात्म प्रवण हैं, आस्तिक, जितेन्द्रिय, वृद्धों के उपसेवक, और धर्मशास्त्रपरायण पुरुष 'नित्य रसायन' होते हैं—ऐसे लोगों को अन्य किसी प्रकार के रसायन का सेवन आवश्यक नहीं होता है ।)

और जिन लोगों का शरीर और मन शुद्ध नहीं रहता वह व्यक्ति यदि रसायन का सेवन भी करता है तो उसे यथोक्त फल प्राप्त नहीं होता है । चरक का मत है कि:—

"यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषान् शारीरमानसान् ।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥
योगाह्यायुः प्रकर्षार्था जरारोगनिवर्हणाः ।
मनः शरीर शुद्धानां सिद्ध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥"

[वहीं]

(अर्थात्—शारीरिक और मानसिक दोष निवर्जित नहीं होने से उस व्यक्ति को कभी भी रसायन सेवा का फल प्राप्त नहीं होता है । जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दोषों से रहित एवं संयतात्मा रहते हैं, उन्हें ही आयुः प्रकर्ष जनक एवं जरारोग निवारक राशायनिक योगों का सेवनफल सम्प्राप्त होता है ।)

षोडशविध सत्वपुरुष

आचार्य चरक के मत से आस्तिक और नास्तिक भेद से द्विविध व्यक्ति पुनः मन और शरीर कृत विशेष से शुद्ध सत्व, राजस और तामस भेद से षोडश भेदों में बांटे गये हैं जिनका लक्षण भी आचार्य चरक ने दिया है । इनमें शुद्ध सत्व के ब्राह्म आदि, भेदों में कल्याणांश, आसुर आदि ६ भेदों वाले राजस सत्वों में रोषांश और पाशव आदि तीन भेदों वाले तामस सत्वों में मोहांश की प्रबलता रहती है । पाठकों के परिचय के लिए उनका केवल भाषात्मक लक्षण यहां दिया जा रहा है । संस्कृत लक्षण जानने को चरकसंहिता शारीर स्थान के चतुर्थ-अध्याय का अध्ययन करना चाहिए ।

१. ब्राह्मसत्व

शुचि, सत्य परायण, जितेन्द्रिय, विवेचक, ज्ञान-विज्ञान वचन-प्रतिवचन की शक्ति से सम्पन्न, काम क्रोध-लोभ-मान-मोह-ईर्ष्या-हर्ष अपर्ष से अनभिभूत और सभी भूतों को समदृष्टि से देखने वाला 'ब्राह्मसत्व' होता है ।

२. आर्षसत्व

यजन-अध्ययन-व्रत-होम-ब्रह्मचर्य के प्रतिपालक, अतिथिव्रती, मद-मान-राग-द्वेष-मोह-लोभ-रोष से अनभिभूत, प्रतिभा-वचन-विज्ञान की उपधारणाशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति 'आर्षसत्व' होता ।

३. ऐन्द्रसत्व

ऐश्वर्यशाली, आर्द्यवचन अर्थात् ऐसी वाणी

बोलने वाला जिसका सभी समादर करें, यागशील, शूर, ओजस्वी, तेजःसम्पन्न, अक्लिष्टकर्मा, दीर्घदर्शी और धर्मार्थ काम निरत व्यक्ति 'ऐन्द्रसत्व' होता है।

४. याम्यसत्व

यथा नियम आचरण करने वाला, प्राप्तकारी अर्थात् अवसरोचित कर्म करने वाला प्रत्युत्पन्नमति अयाप्रतिवार्य उन्नतिशील, स्मृतिमान्, ऐश्वर्यशाली, राग-ईर्ष्या- द्वेष मोह द्वारा अनभिभूत व्यक्ति 'याम्यसत्व' होता है।

५. वारुणसत्व

शूर, धीर, शुचि, अशुचिद्वेषी, याज्ञिक, जल विहार प्रिय, अक्लिष्टकर्मा, यथास्थान क्रोध और अनुग्रह करने वाला व्यक्ति 'वारुणसत्व' होता है।

६. कौबेरसत्व

उचित स्थान में मान और उचित स्थान में उपभोग करने वाला, परिवार सम्पन्न, सुखविहारी, धर्मार्थकामपरायण शुचि, जिसका क्रोध और अनुग्रह यथास्थान प्रकाश में आता हो वैसा व्यक्ति 'कौबेर सत्व' होता है।

७ गान्धर्वसत्व

नृत्य-गीत-वाद्य-गल्प इनका प्रिय श्लोक आख्यायिका इतिहास-पुराण इनके विषयों से अभिज्ञ, गन्ध-माल्य-अनुलेपन-वस्त्र-स्त्री-विहार में नित्यानुरक्त और असूयाशून्य व्यक्ति गान्धर्वसत्व' होता है।

८–आसुरसत्व

शूर, प्रचण्ड, असूयाकारी, ऐश्वर्यवान्, बहुभोजी उग्रस्वभाव, निर्जय और आत्मम्भरि अर्थात् अपने का ही भरण करने वाला स्वार्थी-व्यक्ति 'आसुरसत्व' होता है।

९–राक्षससत्व

क्रोधालु, दीर्घकाल तक स्थायी क्रोध वाला, सामान्य कारण पर भी अन्य को प्रहार करने वाला, क्रूर स्वभाव, आहार में अतिशय रुचि रखने वाला, मांस भोजन का अतिशय प्रेमी, अतिनिद्रालु, अतिपरिश्रमी, और ईर्ष्यापरायण व्यक्ति 'राक्षससत्व' होता है।

१०–पैशाचसत्व

अत्यन्त अलस, स्त्रैण (मौन), स्त्रियों के साथ निर्जन स्थान में वास करने की इच्छा रखने वाला अशुचि, शुचिद्वेषी, भीरु, भय प्रदर्शक और विहारशील व्यक्ति 'पैशाचसत्व' होता है।

११–सार्पसत्व

क्रोध की अवस्था में शूर और अक्रोध अवस्था में भीरु रहने वाला, तीक्ष्ण प्रकृति, बहुत परिश्रमी, सन्त्रस्त दृष्टि और आहार-विहारपरायण व्यक्ति 'सार्पसत्व' होता है।

१२–प्रैतसत्व

आहारप्रिय, जिसका स्वभाव-आचार-और विहार दुःखजनक हो, असूयापरायण हिताहित विवेक सम्बन्धी ज्ञान से शून्य, अत्यन्त लोभी और अकर्मशील व्यक्ति 'प्रैतसत्व' होता है।

१३–शाकुनसत्व

सर्वदा कामनासक्त, निरन्तर आहार-विहार में निरत, अनवस्थित, क्षमाहीन और सञ्चयविहीन व्यक्ति 'शाकुनसत्व' होता है।

१४–पाशवसत्व

सभी विषयों में निराकरणशील, अधमदेश-घृणित आचार-घृणित आहार–विहार और मैथुन में आसक्त और निद्रालु व्यक्ति 'पाशवसत्व' होता है।

१५–मात्स्यसत्व

भीरु, निर्बोध, आहार लुब्ध, अनवस्थित, कामक्रोधासक्त, भ्रमणशील और जलप्रिय व्यक्ति 'मात्स्य सत्व' होता है।

१६. वानस्पत्यसत्व

आलसी, केवल आहार में रुचि रखने वाला, समुदाय बुद्ध्यङ्गविहीन व्यक्ति 'वानस्पत्यसत्व' होता है।

आर्थिक-सामाजिकभेद

आचार्य चरक के अनुसार आर्थिक एवं सामाजिक भेद से इनके भी दो भेद होते हैं—एक परिच्छदवान्, अर्थात्—धनजनादि सम्पन्न का, और दूसरा परिच्छदरहित, अर्थात्—धनजनादिहीन का।

आचार्य चरक ने चिकित्सा विशेष की व्यवस्था करते हुए इनके लिए क्रमशः कुटी प्रवेश विधान और सूर्य मारुतिक विधान का निर्देश किया है।

आचार्य चरक लिखते हैं:—

"समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्।
कुटीप्रवेशः क्षमिणां परिच्छदवतां हितः॥
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः।
ताभ्यां श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः॥"
—चरक० चिकित्सा० अ० १।

(अर्थात्—जो समर्थ, नीरोग, धीमान्, संयतात्मा, क्षमावान् तथा धनजनादि सम्पन्न हैं, उनके लिए कुटीप्रावेशिक रसायन ही उत्कृष्ट है। एतद् भिन्न व्यक्तियों के लिए सूर्य मारुतिक विधान है। इनमें पहला अर्थात्—कुटीप्रावेशिक श्रेष्ठतर है, किन्तु उसका पालन कठिन होता है)।

वर्ण और आश्रम

आचार्य चरक ने यद्यपि कहीं पर भी अपनी संहिता में चातुर्वर्ण्य या चतुराश्रम का विशिष्ट उल्लेख नहीं किया है, पर उनकी उपलब्ध संहिता के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि आचार्य चरक वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म के कट्टर परिपोषकों में से थे। उन्होंने आस्तिक्य और सदाचार के परिपालन का उपदेश करके ही उस पर जोर नहीं दिया है, अपि तु आयुर्वेदाध्ययन के विधेयत्व कथन के अवसर पर त्रिवर्ग साधक आयुर्वेद का अध्ययन त्रिविध द्विजातियों के द्वारा ही करने का विधान किया है।

आचार्य चरक लिखते हैं कि—

"स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः। तत्रानुग्रहार्थं प्रजानां ब्राह्मणैः, आत्मरक्षार्थं राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः।

तत्र च यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थापकानांधर्म प्रकाशानां वा मातृपितृभ्रातृबन्धुगुरुजनस्य वा विकारप्रशमने यः प्रयत्नवान् भवति, यच्चायुवदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य परोधर्मः। या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थानामवाप्तिरात्मरक्षणं च, या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादात्मरक्षा सोऽस्यार्थः। यत्पुनरस्य च विद्वद्ग्रहण यशः शरण्यत्वं, च या च सम्मान शुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते सोऽस्य काम इति।"
—चरक० सूत्र० अ० ३०।

(अर्थात्—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, इन तीन जाति के लोगों द्वारा आयुर्वेद का अध्ययन किया जाना चाहिए। इनमें ब्राह्मण जीव कल्याण के लिए, क्षत्रिय आत्मरक्षा के लिए, और वैश्य जीविका के लिए आयुर्वेद का अध्ययन करें। अथवा—साधारणतः धर्म-अर्थ और काम परिग्रह के लिये सभी (त्रिवर्ण) आयुर्वेद पढ़ें।

वहां अध्यात्मवेत्ता, धर्मपथस्थ तथा धर्मप्रकाशक आदिकों का एवं माता-पिता-भ्राता-बन्धु और गुरुजन का रोग छुड़ाने के सम्बन्ध में यथायोग्य यत्न करना, आयुर्वेदोक्त अध्यात्म विषयों का नियत अनुध्यान करना, अध्ययन करना और उपदेश देना;—इस कार्य समुदय द्वारा आयुर्वेद से धर्म लाभ होता है किसी राजा वा धनी व्यक्ति की चिकित्सा के द्वारा जो कुछ भी सुखोपहार निमित्त अर्थ प्राप्ति होती है वह, एवं आश्रित प्राणियों की चिकित्सा द्वारा रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं,जो यह अर्थलाभ है। और चिकित्सा

द्वारा पण्डितों के निकट जो समादर प्राप्त होता है, यशस्वी और लोगों का शरण्य बनना होता है, एवं बन्धुगण एवं प्रिय व्यक्ति वर्ग के रोग निवारण से जो कामना की पूर्त्ति होती है, वह कामलाभ है)

आधुनिक धनार्जन-क्रम का वर्जन

उपर्युक्त चरक वचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आचार्य चरक धनी व्यक्तियों से इनाम के रूप में सम्प्राप्त धन को ही किसी प्रकार ग्राह्य मानते थे। आज जिस प्रकार से फीस के नाम पर मरीजों से धन लूटने का सिलसिला चला हुआ है, वह आचार्य चरक को कभी भी स्वीकार नहीं था, उन्होंने अन्यत्र भी स्पष्ट शब्दों में रोगी से धन लेने की कठोर वर्जना की है।

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा।
पीतमत्यग्निसन्तप्ता भक्षिता वाप्ययोगुडाः॥
न तु श्रुतवतां वेशं बिभ्रता शरणागतात्।
गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात्॥"
—चरक० सूत्र अ० १।

(अर्थात्—सर्प विषपान वा क्वथित ताम्रपान करना भला है, किं वा अग्निसन्तप्त लौह गुड़िकाएँ खालेना भला है। मगर वैद्य का वेश धारण कर रोग पीड़ित व्यक्ति से अन्न-पान वा वित्त का ग्रहण करना भला नहीं है।)

सम्भव है, आचार्य चरक के समय में भी वैद्य प्रतिच्छाय वैद्य थे जो रोगी से धनादि लिया करते थे, जिनकी ओर चरक का 'श्रुतवतां वेशं बिभ्रत्' शब्द सङ्केत कर रहा है।

धर्म प्रचारकों का अस्तित्व

उपर्युक्त आयुर्वेदाध्ययन प्रयोजक आचार्य चरक के वचन से यह भी सङ्केत मिलता है कि समाज में धर्मोपदेशक भी पृथक् हुआ करते थे जिनके योग-क्षेम का भार समाज पर निर्भर करता था। जो भी हो, इस सम्बन्ध में विशेष विचार की आवश्यकता है।

चार आश्रम

आचार्य चरक ने सामाजिकों द्वारा धर्मानुष्ठान पर जोर देकर यह सूचित तो कर ही दिया है कि चार आश्रम एवं उसका धर्म भी अनुपालित करना चाहिए। किन्तु एक स्थान पर वानप्रस्थ और गृहस्थ इन दो आश्रमों की चर्चा पर उसे और भी दृढ़ कर दिया है।

रसायनाधिकार में आचार्य चरक का कहना है कि:—

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः।
शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः॥"
—चरक० चिकित्सा० अ० १।

(अर्थात्—वानप्रस्थ और गृहस्थ यदि प्रयत और संयतात्मा हों, और यदि ये रसायन ओषधियां उनके देश में ही उत्पन्न हों, तो द्रोणीप्रावेशिक रसायनोक्त ओषधियों का प्रभाव वे सहन कर सकते हैं।)

परिवार और बान्धव

आचार्य चरक ने माता, पिता, भाई, गुरुजन, परिजन आदि के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्त्तव्य का जैसा सुन्दर निदर्शन किया है वह आयुर्वेदाध्ययन फलसूचक वचन से भी सुस्पष्ट हो जाता है, अतः एतत्सम्बन्ध में अन्य प्रमाण लेख विस्तार भय से यहां नहीं दिया जारहा है।

पुत्र और कलत्र

आचार्य चरक के अनुसार प्रत्येक पुरुष को बहु-पुत्रवान् होना उत्तम माना गया है, और पुत्रहीन व्यक्ति को निष्फल जीवन ही बताया है।

आचार्य चरक कहते हैं कि:—

"अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः॥
चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातु सन्निभः।
निष्प्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्यः पुरुषाकृतिः॥

अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्चना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते ॥
—चरक० चिकित्सा० अ० २।

(अर्थात्–अपुत्रक पुरुष छायाहीन, फलहीन, एक शाखा विशिष्ट (ठूंठ) और पूतिगन्ध युक्त वृक्ष के समान है। अपुत्रक पुरुष चित्रलिखित दीप के समान है, जल शून्य सरोवर के समान है; धातु के समान दीखते हुए अधातु के समान है; और तृण निर्मित पुरुष के समान वह समझा जाता है। अपुत्रक पुरुष को प्रतिष्ठा रहित, एक चक्षु, नग्न, शून्य, और निष्क्रिय मानना चाहिए। देखिये चित्र पृष्ठ१४६)

एक ओर तो इस प्रकार अपुत्रक जीवन को व्यर्थ एवं उपहासास्पद बताया है, और दूसरी ओर बहुपुत्रवान् की भूरि-भूरि प्रशंसा भी लिखी है।

चरक लिखते हैं कि—

"बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः ॥
मङ्गल्योऽयं प्रशस्तोऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ॥
प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विभवः कुलम्।
यशोलोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्य संश्रिताः ॥"

(देखिये पृष्ठ १४६ वक्तव्य ३४)

(अर्थात्—बहुसन्तान विशिष्ट पुरुष को बहुमूर्ति, बहुमुख, बहुक्रिय, बहुचक्षु, बहुज्ञान और बहुआत्मक समझा जाता है। बहुपुत्र विशिष्ट पुरुष संसार में यह कह कर प्रशंसित होते हैं कि—'ये मंगलमय हैं, प्रशस्त हैं, धन्य हैं, वीर्यवान् हैं, बहुशाखा विशिष्ट हैं। प्रीति, बल, सुख, जीविका, विस्तार, ऐश्वर्य, कुल, यश, लोकसमूह भाविसुख—फल और तुष्टि--यह सभी कुछ ही सन्तान पर आश्रित है।)

औरस पुत्र ही पुत्र

कहना न होगा कि चरक ने पुत्र को आंख से तुलना देकर यह दिखा दिया है कि जैसे अपनी आंख नहीं रहने से दूसरे की आंख से कुछ विशेष फल नहीं होता, उसी प्रकार अपने पुत्र के स्थान पर दूसरे के पुत्र को पुत्र मानना व्यर्थ है। उक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य चरक की दृष्टि में औरस पुत्र ही पुत्र है—उन्हें दशविध पुत्र जो धर्मशास्त्रकारों ने बताया है उस पर या तो आस्था नहीं थी या दशविधपुत्रवाद से बहुत पहले आचार्य चरक होगये हैं ऋग्वेद में भी तो परसन्तान को सन्तान न मानने का संकेत है ही।

पुत्र-प्रयोजना भार्या

इसी लिए कि पुत्र, आचार्य चरक के मत से धर्म अर्थ-प्रीति और यश का आधार माना जाता है। फलतः इस पुत्र के भी प्रतिष्ठानभूत पत्नी की प्रशंसा करना भी आचार्य ने नहीं भूला था।

इनका कहना है कि—

"स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥"
—चरक चिकित्सा अ० २।

(अर्थात्—स्त्री में ही विशेष रूप से प्रीति रहती है, स्त्री में ही सन्तान प्रतिष्ठित है। धर्म अर्थ-लक्ष्मी और लोक सकल स्त्री में ही तो प्रतिष्ठित हैं।)

इसलिये आचार्य चरक ने 'अतुल्यगोत्रस्य' (चरक० शरीर० अ०२) पुरुष का 'अतुल्यगोत्रा (चरक० चिकित्सा० अ०२) नारी के साथ सहवास का विधान किया है और सन्तानोत्पादक वृष्य योगों की भी लम्बी सूची दी है। अवश्य ही आचार्य चरक का अतुल्यगोत्रागमन का सिद्धान्त—

"अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥५२॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् ॥"
—याज्ञवल्क्य स्मृति० अ०२।

इस योगियाज्ञवल्क्य के विवाहप्रकरणोक्त वचन से अनुप्राणित हैं, और 'अन्यं पुमांसमिच्छन्ति

(चरक० शारीर० अ० ८) नारी को गर्भ धारणायोग्या कह कर अनन्यपूर्विका परिणय की ओर संकेत किया है।

इसी प्रकार अतिबाला, अतिवृद्धानारी से किं वा अतिबाल और अति वृद्ध से सम्भोग किये जाने का आचार्य चरक ने स्पष्ट विरोध किया है। आचार्य चरक जातिसूत्रीय अध्याय में कहते हैं कि—

"अतिबालामतिवृद्धां...वर्जयेत्। पुरुषेऽप्येतएवदोषाः ॥"

—चरक ० शारीर० अ०८।

(अर्थात्—मैथुन में अति बालिका और अति वृद्धा...का परित्याग करना चाहिए। पुरुष में भी ये ही दोष वर्जित हैं।)

इतना ही नहीं आचार्य चरक ने १६ वर्ष से पूर्व और सत्तर वर्ष के बाद स्त्री-सम्भोग का निषेध किया है।

आचार्य चरक कहते हैं—

नर्रो वै षोडशाद्वर्षात् सप्तत्याः परतो न च।
आयुष्कामोनरः स्त्रीभिः सम्भोगं कर्तुमर्हति ॥

—चरक० चिकित्सा० अ० २।

(अर्थात्—आयुष्य को चाहने वाला पुरुष १६ वर्ष से पहले और सत्तर वर्ष के बाद स्त्री संभोग नहीं कर सकता है।)

और उन्होंने इस वर्जन का कारण भी बताया है कि—

"अतिबालोह्यसम्पूर्ण सर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपतप्येत सहसा तड़ागमिव काजलम् ॥
शुष्कं रूक्षं यथाकाष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥"

(देखिये वक्तव्य ४६)

(अर्थात्—बालक का समस्त धातु ही असम्पूर्ण रहता है, अतः उस अवस्था में स्त्रीसंयोग करने से अल्प जल वाले तालाब के समान ही वह शीघ्र सूख जाता है। और जिस प्रकार सूखा, रूखा, कीट भक्षित, और जर्जर काठ स्पर्श मात्र से ही विशीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार वृद्ध पुरुष स्त्रीगमन करने से सद्यः विशीर्ण हो जाता है।)

आयु-विभाग

इस प्रकरण में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आचार्य चरक ने ३० वर्ष तक बाल्यावस्था और ३१ से ६० तक युवावस्था और ६१ से १०० तक वृद्धावस्था मानी है।

आचार्य चरक का कहना है—

"तद्वयो यथावस्थान भेदेन त्रिविधम्—बाल्यं मध्यं जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातु प्रायमाषोडशवर्षम्, विवर्धमान धातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थित सत्वमात्रिंश द्वर्षमुपदिष्टम्। मध्यं पुनः समत्वागत बलवीर्यपौरुष पराक्रमग्रहणधारण स्मरण वचन विज्ञान सर्व धातु गुणं बल स्थितमवस्थित सत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातु प्रायमाषष्टिवर्षमुद्दिष्टम्। अतः परं परिहीयमाण धात्विन्द्रिय बलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचन विज्ञानं भ्रश्यमान धातुगुणं वातधातु प्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते—आवर्षशतम् ॥"

——चरक. विमान अ. ८।

(अर्थात्—अवस्थाभेद से वयस् तीन प्रकार का बाल, मध्य और जीर्ण होता है। बाल्यावस्था भेद से ३० वर्ष पर्यन्त मानी जाती है। उसमें भी १६ वर्ष पर्यन्त रसरक्तादिधातु परिपुष्ट नहीं होते, मूंछ-दाढ़ी नहीं उगी रहती, देह सुकुमार रहता, क्लेश सह्य नहीं होता, बल असम्पूर्ण रहता है, और कफ का आधिक्य रहता है। उसके बाद धातु-गुणों में वृद्धि होती है, प्रायः अस्थिर (चंचल) रहता है—३० वर्षों तक। उसके बाद ६० वर्ष तक मध्यावस्था होती है। इस अवस्था में बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहणशक्ति, धारणाशक्ति, स्मरण, वचन, विज्ञान और सर्व धातुगुण समत्व को प्राप्त होते हैं, बलअवस्थित

होता है, चित्त स्थिर होता है, धातु गुण समूह क्षीण नहीं होता है, और पित्त धातु का आधिक्य होता है। ६१ से १०० तक जीर्णावस्था मानी जाती है। इसमें क्रमशः धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य पौरुष, पराक्रम ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन और विज्ञान क्षीण होते हैं, धातु गुण समूह का ध्वंस होता है, और, वात धातु का आधिक्य होता है।)

विवाह योग्य वयस्

यद्यपि आचार्य चरक ने अपनी संहिता में स्त्री वा पुरुष के विवाह का योग्य वयस कहीं भी नहीं बताया है, फिर भी ऐसा अनुमान करना सर्वथा संगत होगा कि पुरुष का विवाह ३० वर्ष में या उसके बाद और कन्या विवाह १६ वर्ष में या उसके बाद आचार्य चरक का साधारण्येन अभिप्रेत था। और बालक का विवाह किसी भी हालत में १६ से पूर्व कराना वे नहीं पसन्द करते थे।

आचार्य चरक ने युवती और शिक्षिता नारी को वृष्यतमा माना है; और वयस्, रूप, वचन और चेष्टा से मनोहारिणी स्त्री को भाग्य से वश्य के रूप में बताया है।

आचार्य चरक कहते हैं कि:—

'सुरूपायौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता॥

★ ★ ★

वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा॥

★ ★ ★

समान सत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः॥'

[चरक० चिकित्सा० अ० २]

(अर्थात्—सुरूपा, सुयौवना, सुलक्षणा, वश्या और सुशिक्षिता स्त्री वृष्यतमा होती है।······ जो स्त्री (...) ... से ...... वा हावभाव से पुरुष के हृदय में प्रवेश कर जाती है।···जो स्त्री समान-सत्त्व वाली होती है; वशीभूत होती है; और प्रिय गुणों से मन को प्रसन्न कर देती है—वह स्त्री वृष्यतमा होती है।)

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस चरक ने निगूढ़ कामशास्त्रीय सिद्धान्त—कि "पुरुष विशेष के संसर्ग गुण से ही स्त्रियों का रूपादिगुण वर्धित होता है" को—

"नानाभुक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम्।
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः॥"

—चरक० चिकित्सा० अ० २।

के द्वारा प्रतिवाद न करते हुए भी विवाह का विशेष वयस् कण्ठतः नहीं बताया है।

भोजन-पान और वस्त्र

साधारणतः भोजन-पान के सम्बन्ध में आचार्य चरक ने कोई विशेष बन्धन नहीं ही रखा है। 'मात्राशी' और 'हिताशी' होने का उनका सामान्य उपदेश है, जिसका तात्पर्य यह है कि उतना ही खाना खाना चाहिए जितना यथा समय आसानी से पच जाय और वही खाना खाना भी चाहिए जो शरीर को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, तत्काल वा कालान्तर में अपकार नहीं पहुँचाये। 'मात्राशीस्यात्' और 'हिताशीस्यात्' यह आचार्य चरक का सूत्रोपदेश है और विशेष उपदेश और भोजन-पान के गुणदोष तो समग्र चरकसंहिता में बिखरे पड़े हैं। उनका एकत्र संग्रह करना केवल निबन्ध का कलेवर बढ़ना ही होगा।

हां, तो चावल, जौ, आदि अनाज, साग-सब्जियां, फल, दूध और उसके विकार मांस और मद्य ही भोजन-पान की वस्तुओं में साधारणतः आते हैं, जिनमें मद्य को सकल साधारण का पेय पदार्थ बतलाते हुए भी आचार्य चरक ने धनियों के लिए भी उसका ... विधान ... है।

आचार्य चरक का कहना है कि:—

"विधिर्वसुमतामेष भविष्यद् विभवाश्च ये।
यथोपपत्तिकैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥"
—चरक० चिकित्सा० अ० २४।

(अर्थात्–जो धनी हैं और जो भावी धनी हैं, वे ही मात्रा से हितमद्य के यथोपपत्तिक वस्तुओं के साथ मद्य पिएँ।)

फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से आचार्य चरक ने मद्यपान का वर्जन ही किया है। मद्यपान के दोष-गुणों की विस्तृत विवेचना करने के उपरान्त आचार्य चरक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

"निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यः स्याज्जितेन्द्रियः।
शरीर मानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥"
[वहीं]

(अर्थात्—जो व्यक्ति सब प्रकार के मद्यों से निवृत्त होकर जितेन्द्रिय होता है, वह बुद्धिमान् व्यक्ति शरीर और मानस व्यक्तियों से आक्रान्त नहीं होता है।)

इसी प्रकार मांस भक्षण आचार्य चरक द्वारा अप्रतिषिद्ध रहने पर भी मांस भक्षण से विरत होना ही आचार्य चरक का वास्तविक सम्मत पक्ष है। क्योंकि हम देखते हैं कि आचार्य चरक ने वैद्य को अमांसभक्षी बनने का गुरुपदेश (चरक० विमान० अ० ८ में) दिया है; और 'अहिंसा प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमा' से (चरक० सूत्र० अ० ३० में) प्राणवर्धकों में अहिंसा को श्रेष्ठतम कहकर भगवान् मनु के उस वचन का स्मरण करा दिया है।

जिसमें मनु ने कहा है कि:—

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥"
—मनु० अ० ५ श्लोक० ४८।

(अर्थात्—बिना प्राणियों की हिंसा के मांस उत्पन्न नहीं होता है, और प्राणिवध स्वर्गसाधक नहीं; इस हेतु मांस का विशेषेण वर्जन करना चाहिए)।

वस्त्र के सम्बन्ध में भी आचार्य चरक ने साधारणतः निर्मल वस्त्र धारण करने का विधान किया है। उनका कहना है कि—

"काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।
श्रीमत्पारिषदं हृद्यं निर्मलाम्बरधारणम् ॥"
– चरक० सूत्र० अ० ५।

(अर्थात्—निर्मल वस्त्र का परिधान, अभिलषणीय यशस्कर, आयुष्कर, अलक्ष्मीनाशक, उल्लासकारक, सभ्यता जनक और प्रशस्त है)। और निर्मल योग से अभिप्राय उनका श्वेत वस्त्र से है जिसे स्त्री पुरुष दोनों के लिए परिधेय कहा है। किन्तु अध्ययनार्थी के लिए 'कषाय सम्वीत:' (चरक० विमान० अ० ८) होना, तथा मुमुक्षु के लिए 'प्रच्छादनार्थं धातुराग निवसनं' (चरक० शारीर० अ० ५) के द्वारा गेरुआ वस्त्र धारण करना उपदिष्ट हुआ है।

संस्कार और प्रवृत्ति

चरकसंहिता के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने वालों से यह छिपा नहीं है कि आचार्य चरक ने गृह्य और श्रौत कर्मों के अनुष्ठान, की ओर विशेष ध्यान दिलाया है; और स्थान-स्थान पर अपने वचनों से यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिखाया है कि वैदिक संस्कार और तदनुकूल प्रवृत्ति रखना मानव का एक स्वाभाविक सा गुण होना चाहिए।

जातिसूत्रीय अध्याय में गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण आदि संस्कारों का प्रत्यक्ष विधान हुआ है, और इच्छानुकूल रूप वर्णादिमान् पुत्र की उत्पत्ति के अनुकूल जो विधान आचार्य चरक ने बताये हैं, और स्थान-स्थान पर दैवव्यपाश्रय चिकित्सा, शान्तिक, पौष्टिक आदि की जिस पद्धति से चर्चा की है, उनसे संस्कार और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश मिलता है।

आचार्य चरक, जैसा कि उनके लेखों से स्पष्ट होता है,इन पर इतनी ही अधिक आस्था रखते थे कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि—'सम्यक् कर्मणां ह्विदेशकालसम्पदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वम्'— (चरक० शारीर० अ० ८) अर्थात्—यथास्थान और यथासमय यथाविधान कर्मों का अनुष्ठान होने से इनका फलदातृत्व निश्चित है। इसलिए आचार्य चरक ने तो न केवल,—'यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्तावा—···तच्चानुष्ठेयम्।' (चरक० शारीर० अ० ८) अर्थात्-और भी जो कुछ भी ब्राह्मण वा आप्त व्यक्ति कर्त्तव्य बतायें...उसका अनुष्ठान करना चाहिए, के द्वारा लौकिक प्रचलनों को मानने को ही बाध्य किया है, अपि तु उनके ग्रन्थानुसार यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक शान्तियों को तुला की एक कोटि पर और अनुभवी शल्य चिकित्सक के शल्य प्रयोग को दूसरी कोटि पर रखने से भी आचार्य नहीं हिचकिचा सके थे।

गर्भशल्यापहरण प्रकरण में आचार्य चरक ने लिखा है कि—

'मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके। परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके ॥ (चरक० शारीर० अ० ८)

अर्थात्—अथर्ववेद विहित मन्त्रादि का प्रयोग गर्भशल्य का संशमन विधान है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। बहुअनुभवी शस्त्र-चिकित्सक के द्वारा उसको निकाल देना गर्भशल्य का संशमन विधान है, ऐसा कुछ लोगों का मत है।' जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि दोनों ही पक्ष समान महत्व के हैं, और इसी लिए दोनों को समान रूप से उद्धृत किया है। इससे अव्यवहित पूर्व वाक्य कि-तस्य गर्भवाल्यस्य जरायु प्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके' अर्थात—जरायु को भलीभांति गिरा देना ही इस गर्भशल्य की चिकित्सा कुछ लोग बताते है, में का 'आहु:' यह आदरप्रदर्शक बहुबचनयुक्त पद यह संकेत करता है कि आचार्य चरक, चाहे जिस प्रयोग से जरायु प्रपातन होजाय वही चिकित्सा है, इसी वाद को मानते थे—उनकी दृष्टि में वैदिक तन्त्र-मन्त्र और लौकिक शस्त्र प्रयोग दोनों ही समान फलप्रद थे।

भूगोल तथा देश विभाग

आचार्य चरक ने यद्यपि भूगोल सम्बन्धी कुछ विशेष बातें स्पष्ट नहीं कहीं हैं। फिर भी उनकी संहिता से ऐसा जान पड़ता है कि, उस समय में भारत के समीपवर्त्ती पश्चिमी एवं मध्यएशियायी देशों से सम्बन्ध वाणिज्य-व्यापार आदि का हुआ करता था। बाह्लीक (आधुनिक बलख) के प्रसिद्ध वैद्य कांकायन की चर्चा तो चरक ने कई स्थानों पर की है और ऋषि समाज के बीच उनका भी नाम गिनाया है, किन्तु शाद्वल, चीन, यवन, शक और शूलीक जाति के लोगों की सात्म्य वस्तुओं की चर्चा कर यह स्पष्ट करदी है कि भारतीय वैद्य उन दिनों इन तमाम देशों के लोगों के भोजन-पान के विषय विभिन्न वस्तुओं की जानकारी रखा करते थे। आचार्य चरक कहते हैं कि:—

बाह्लीकाः शाद्वालाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥"
—चरक० चिकित्सा० अ० ३०।

(अर्थात्—बाह्लीक, शाद्वल, चीन, शूलीक, यवन और शक जाति के लोगों को मांस, गेंहूँ, माध्वीक, शल्य और अग्नि—यह सब सात्म्य है।)

अवश्य ही पद्य में का शस्त्र और वैश्वानर पद शस्त्रकर्म और अग्निकर्म नामक चिकित्सा भेद का सङ्केत करता है जिसका सन्दर्भ आचार्य चरक ने चिकित्सासात्म्य का परिज्ञान कराने को दिया है। आचार्य चरक के मत से चिकित्सक के लिये देशादि का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है; कारण, उसका परिज्ञान रहे विना चिकित्सा में गलतियाँ हो जा सकती हैं।

आचार्य चरक ने भारतीय देश को भी आठ भाग में बांटकर उनका पृथक् पृथक् सात्म्य बतलाया है—यद्यपि उनका प्राच्य, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और मध्यदेश—यह चार भाग ही यथार्थ में चार खण्ड माने जाने चाहिए।

आचार्य चरक कहते हैं कि—

सत्स्यसात्म्यास्तथाप्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः।
अश्मकावन्तिकानान्तु तैलाज्यं सात्म्य मुच्यते॥
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्।
सात्म्यं दक्षिणतः पेया मण्डश्चोत्तरपश्चिमे॥
मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः॥"
—चरक० चिकित्सा० अ० ३०।

(अर्थात्—प्राच्य देशवासियों को मत्स्य का सात्म्य; सिन्धु देश वासियों को दुग्ध सात्म्य; अश्मक और अवन्ति देश के लोगों को तेल और खटाई का सात्म्य; मलयदेश वासियों को कन्द-मूल-फल का सात्म्य, दाक्षिणात्यों को पेया सात्म्य; उत्तर पश्चिम प्रदेशीय लोगों को मण्ड सात्म्य, मध्यदेश में जौ-गेहूं और गोरस का सात्म्य है।)

यद्यपि अक्षरानुयायी आलोचकगण इसी अध्याय में—

"अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरक संस्कृते॥
तानेतांन्कापिलबलः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥"

(अर्थात्—इस संहिता के १७ अध्याय, कल्प और सिद्धि स्थान चरक संस्कृत अग्निवेशतन्त्र में नहीं मिलते हैं; अतः कापिलबल दृढबल ने इसे पूरा किया था।)

इस प्रकार लिखा मिलता है, अतः इस पर विशेष आस्था नहीं करेंगे। मगर मैं तो व्यक्तिगत ऐसा मानता हूँ तन्त्र के 'यथातथ पूरणार्थ' प्रयत्नशील वैद्य दृढबल ने अवश्य साधारण बातें ही उस पूर्यमाण अंश में रखी होंगी, अतः इस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, और शारीर के वक्ष्यमाण सन्दर्भ से अनुपुष्ट रहने के कारण इस अंश को सर्वथा प्रक्षिप्त मानना भी उचित न होगा। यह तो विशिष्य कहना सर्वथा कठिन है कि आचार्य चरक के मत से केवल इतने ही जनपद थे। किन्तु यह तो सर्वथा मुक्त-संशय होकर कहा जा सकता है कि भारत के विभिन्न जनपदों में गमनागमन प्रचुर मात्रा में हुआ करता था। फलतः सुडौल-सुन्दर आदि शारीरिक गुण विशिष्ट पुरुषों को देखकर स्त्रियों के मन में यह भावना उत्पन्न होती थी कि उन्हें भी उस प्रकार के पुत्र उत्पन्न हों। कारण, आचार्य चरक ने उक्त आकांक्षा की पूर्ति का साधन विधान भी दिया है।

आचार्य चरक कहते हैं कि—

"या या यथाविधं पुत्र माशासीत, तस्यास्तस्यास्तां पुत्राशिषमनुनिशाम्य तांस्तान् जनपदान् मनसानुपरिक्रामयेत्। ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनापदानां मनुष्याणा मनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानां माहारविहारोपचार परिच्छदान् 'अनुविधत्स्वेति' वाच्या स्यात्।"

—चरक० शारीर० अ० ८।

अर्थात्—जो जो स्त्री जिस-जिस प्रकार के पुत्र की आकांक्षा करे, वह वह स्त्री उन उन पुत्रकामनाओं से उसी प्रकार के जनपद का, विषय मन ही मन चिन्ता करे। और जो जो स्त्री जिस जिस जनपद के मनुष्य के सदृश पुत्र के लाभ की इच्छा करे, उससे उसी-उसी जनपदों के आहार-विहार, उपचार और परिच्छद आदि का अनुकरण करे, यह उपदेश देना चाहिए।)

औषध का व्यापार

चरकसंहिता के अध्ययन के आधार पर यह भी कहा जायगा कि उस काल में अन्य विक्रेय

वस्तुओं के समान ही चिकित्सा एवं चिकित्सोपकरणभूत सामग्रियों का भी विक्रय हुआ करता था। ऊपर यह बताया जा चुका है कि वैश्यों को धनार्थ आयुर्वेदाध्ययन का जो उपदेश है वह धन तो वैश्य अपनी वाणिज्य वृत्ति के माध्यम से ही उपार्जन कर सकेंगे। साथ ही आचार्य चरक ने क्रयालयों अर्थात्—हाट-बाजारों–में भी औषध सम्भार विक्रय का संकेत किया है।

उपकल्पनीयाध्याय में आचार्य चरक ने लिखा है कि—

"न हि सन्निकृष्टेकाले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयालये सुकरमाशु सम्भरणमौषधानां यथावदिति।"

(अर्थात्—आपत् सहसा उपस्थित होने पर क्रयालय अर्थात् हाट बाजार निकट रहने पर भी वहां से तत्काल औषध सामग्री का यथावत् संग्रह करना सुकर नहीं है।)

और एक स्थान पर आचार्य चरक ने वृत्त्यर्थ वैद्य द्वारा चिकित्सापण्य विक्रय की निन्दा भी की है जो समन्वयवादी विचारधारा से विवेचना करने पर ब्राह्मण वैद्य द्वारा चिकित्सापण्य विक्रयपरक है। आचार्य चरक कहते हैं कि—

कुर्वन्ति ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥
——चरक० चिकित्सा० अ० १।

(अर्थात्—जो चिकित्सक जीविका के लोभ से चिकित्सापण्य विक्रय करता है, वह सोने की राशि को छोड़ खाक की राशि की उपासना करते हैं।) निःसन्देह, भैषज्य विज्ञान का उद्देश्य, उसके उद्भावकों की दृष्टि में धन कमाना नहीं, अपि तु धर्मार्थ-काम-मोक्षोपार्जन था, जिसकी साधनप्रक्रिया ऊपर बतायी जाचुकी है। (देखिए वक्तव्य ३१ पृष्ठ १४२)

शिक्षा-व्यवस्था

चरक के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य-इन तीन जातियों को ही अध्ययन का अधिकार था। उसके अनुसार उपनयन संस्कार के बाद वेदाध्ययन करने से वे द्विजाति कहलाते थे, और जब उन्हें आयुर्वेद का ज्ञान होता था तो 'त्रिज' कहे जाते थे।

आचार्य चरक ने लिखा है कि—

विद्या समाप्तौ भिषजस्तृतीया जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना॥
विद्या समाप्तौ ब्राह्म्यं वा सत्त्वमार्षमथापि वा।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यस्त्रिजः स्मृतः॥
——चरक० चिकित्सा० अ० १।

(अर्थात्—आयुर्वेद विद्या की समाप्ति करने पर वैद्य की तीसरी जाति होती है। क्योंकि पूर्वजन्म से ही तो किसी को वैद्य की उपाधि नहीं मिलती। विद्या समाप्त करने पर ज्ञान होने से ब्राह्म्य वा आर्ष बल आजाता है, अतः वैद्य को 'त्रिज' कहा गया है।

केवल यही नहीं, वेदाध्ययन जनित शब्द को (चरक० इन्द्रिय० अ० १२ में) आचार्य ने शुभशकुन माना है, और शिक्षित स्त्री को वृष्यतमा कहा है। वैद्य को जाते समय रास्ता में वेदाध्ययन सुनने की संभावना तभी संभव मानी जासकती है, जब कि जनता में वेदाध्ययन का आम प्रचार हो। फलतः यह कहा जासकता है कि चरक के काल में द्विजाति बालक अमूमन अपने घरों में वेदध्वनि किया करते थे।

साथ ही शास्त्र परीक्षा एवं तद्विध सम्भाषा आदि का जिस प्रकार निर्देश आचार्य चरक ने किया है वह भी इस बात का द्योतक है कि उन दिनों बहु-शास्त्राध्ययन एक साधारण बात थी। संभवतः आयुर्वेदिक समय, याज्ञिक समय और मोक्ष शास्त्रिक समय का परिज्ञान प्रत्येक सद्वैद्य के लिये आवश्यक था जिसे विरुद्ध नामक वाक्य दोष के परिज्ञानार्थ आचार्य चरक ने आवश्यक माना है। आचार्य [illegible]

उदाहरण, उपनय, निगमन—इनमें से एक से न्यून को गिनकर यह भी संकेत किया है कि उन दिनों आन्वीक्षिकी का अध्ययन कम से कम वैद्य के लिये अवश्य ही अनिवार्य था।

इसी तरह न्यून के विपरीत अधिक नामक वाक्य दोष के कथनावसर पर उसका दृष्टान्त आचार्य ने दिया है कि आयुर्वेद सम्बन्धी भाषण करते हुए बार्हस्पत्य वा औशनस् या अन्य ही कुछ असम्बद्धार्थ कहा जाय वह अधिक नामक वाक्यदोष है, जिसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि तद्विधसम्भाषा में पण्डितवर्ग कभी-कभी एक शास्त्र के विचारावसर पर अन्य शास्त्र का निष्प्रयोजन प्रमाण दिया करते थे। यह प्रकरण यह भी बतलाता है कि आचार्य चरक के समय बार्हस्पत्य और औशनस अर्थशास्त्र ही था—कौटिल्य अर्थशास्त्र का नामोनिशान तक भी नहीं था।

शास्त्रों की परीक्षा

आचार्य चरक ने यह देखा था कि शास्त्र के नाम पर बहुत से अनपेक्षित शास्त्र भी प्रचार में थे, इसलिए आचार्य ने शास्त्रपरीक्षा पर भी जोर दिया है।

आचार्यचरक (चरक० विमान०अ०८) के मत से "श्रेष्ठ, यशस्वी और धीर पुरुषगण जिसे पढ़ते हों; जो अर्थ-बहुल हो—अर्थात् जिसके अध्ययन से बहुत से विषय अभिप्रेत हों; आप्तजन जिसका सम्मान करते हों, अल्पबुद्धि, मध्यबुद्धि और विपुलबुद्धि—इन तीनों प्रकार के शिष्यों का जो बुद्धिगम्य हो; जिसमें पुनरुक्ति दोष नहीं हो; जो ऋषिप्रणीत हो; सूत्र का भाष्य और संग्रहक्रम जिसमें सुसम्बद्ध हो, जिसका आधार अर्थात्—अध्याय समूह सुग्रथित रहे; जिसमें कुछ भी प्रक्षिप्त नहीं कर दिया गया हो; जिसके शब्दों के उच्चारण वा श्रवण में कष्टबोध न हो; जो आसानी से बोधगम्य हो; जिसके विषय शृंखलाबद्ध हों; अर्थतत्त्व के निश्चय के विषय में जो प्रधान हो; जो संगतार्थ हो; जिसके प्रकरण सभी अमिश्रित हों; जो शीघ्र अर्थबोध करादे; जो लक्षण और उदाहरण से युक्त हो, उसी शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।"

आचार्य चरक ने "मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च" (वहीं) शास्त्राभ्यास करने का विधान किया है। और वैद्यों के लिए तो शास्त्राध्ययन के साथ-साथ जङ्गलों में घूम-घूमकर जङ्गली जातियों, अजप, अविप और गोपजाति के लोगों से भी जड़ी-बूटियों का परिज्ञान करने का इशारा किया है।

आचार्य चरक लिखते हैं कि—

"ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः॥
न नामज्ञानमात्रेण रूपमात्रेण वा पुनः।
ओषधीनां परां प्रीतिं कश्चिद्वेदितुमिच्छति॥
योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते।
किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वदा भिषक्॥
योगमासान्तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥"

—चरक० सूत्र० अ० १।

(अर्थात्—बकरिहारे, भेड़िहर, गोआले एवं अन्यान्य जाति के लोग ओषधियों का नाम रूप जानते हैं। किन्तु नाम वा रूप जानने से ही ओषधी का सम्यक्ज्ञान होता है, यह बात नहीं है। जो ओषधियों का नाम रूप जानें, और उनके गुण और कर्म के अनुसार उनके प्रयोग में समर्थ हों, उसी योगज्ञ व्यक्ति को ओषधी का तत्त्ववित् कहा जाता है। और जो वैद्य सर्वप्रकार से ओषधी का तत्त्व जानते हैं, जो इनके नाम, रूप और योग जानकर देश-काल-पात्र की विवेचना कर इनका प्रयोग करते हैं, वे ही श्रेष्ठ वैद्य कहे जाते हैं।

जङ्गलों में जाकर वनस्पतियों का अनुसंधान करने की प्रथा तक्षशिला के प्राचीन विश्वविद्यालय में भी प्रचलित थी; और तिब्बती—उपकथाओं के आधार पर, यह कहा जाता है कि, जीवक कुमारभृत्य को वर्षों जङ्गलों में घूमना इसके लिए ही पड़ा था।

सुख और दुःख

आचार्य चरक ने प्रवृत्ति को दुःख और निवृत्ति को ही सुख माना है। और इस प्रकार के ज्ञान को सत्य ज्ञान माना है।

उनका कहना है कि—

"प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम्"।

—चरक० शारीर० अ० ५।

अर्थात्—प्रवृत्ति दुःख है, और निवृत्ति सुख है—यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्यज्ञान है। इसलिए आचार्य चरक ने जाति, रूप, वित्त, बुद्धि, शील, विद्या, कुल, वयस् और वीर्य और प्रभावादि सम्पन्न होने का अभिमान जो अहङ्कार कहलाता है; और माता-पिता-भाई-स्त्री-पुत्र-बन्धु-मित्र-भृत्य का समुदाय मेरा है, और मैं उसका हूँ—यह अभ्यवपान, मोह-इच्छा द्वेषात्मक कर्ममूलक प्रवृत्ति को त्यागकर निवृत्ति को ही सुख मान कर उसमें आस्था करने का उपदेश दिया है। आचार्य चरक ने इसे ही विद्या नाम से पुकारा है। उनका कहना है कि—

"शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमक्षरम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानञ्च सा मता॥"

—चरक० शरीर० अ० ५।

(अर्थात्—शुद्धसत्व व्यक्ति की जो बुद्धि प्रवर्त्तित होती है, वही शुद्ध और सत्वबुद्धि है, जिस सत्य-बुद्धि द्वारा अति बलवान् महामोहमय तमस (अज्ञान) का विनाश किया जाय; जिस बुद्धि के द्वारा योगसाधन किया जाता है, जिसके द्वारा सांख्य वा तत्त्वज्ञानी बना जाता है, जिसके द्वारा अहङ्कार और पुनर्जन्म का कारण (प्राक्तनकर्म संस्कार) अवगत हो जिसके द्वारा अन्य किसी विषय का अवलम्बन करने का प्रयोजन ही नहीं रह जाता है, जिसके द्वारा सभी वस्तुओं का परित्याग करने में समर्थ हुआ जाय और जिस बुद्धि के द्वारा नित्य, अजर, शांत और अक्षर ब्रह्म लाभ किया जाय वही शुद्ध सत्त्वबुद्धि ही विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान कहकर अभिहित होती है।)

आचार्य चरक की अध्यात्मविद्या

आचार्य चरक ने सांख्य और योग—इन दो ही दर्शनों की चर्चा की है, और उसमें 'ब्रह्म' का एक शब्द ऐसा जोड़ डाला है कि लोगों में इस प्रकार का सन्देह होने लगता है कि आचार्य चरक द्वैतवादी—सांख्ययोगवादी—थे या अद्वैतवादी ब्रह्मवादी। कारण, सांख्य—योगमें ब्रह्म की चर्चा आती ही नहीं है, और ब्रह्मवाद में सांख्य और योग साधन वाली उपरोक्त बात आचार्य चरक की बिल्कुल तुच्छ बन जाती है। परन्तु जो लोग आचार्य चरक, भगवान् पतञ्जलि के अध्यात्मविद्या सम्बद्ध वचनों का समन्वयात्मक अनुशीलन करने वाले हैं, उनका यही मत है कि आचार्य चरक सांख्यवादी थे।

आचार्य चरक ने 'ज्ञाऽज्ञयोः प्रकृति विकारयोः... असामान्य दर्शन विशेषः" (चरक. शारीर. अ. ५) अर्थात्—ज्ञ और अज्ञ (अर्थात्-प्रकृति और पुरुष) तथा प्रकृति और विकार में 'अभेद बुद्धि करना विशेष नामक मोहादि परिणाम है, ऐसा कह कर सांख्योक्त 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञ विज्ञान' को अपवर्ग साधक माना है, और अपवर्ग प्राप्त पुरुष विशेष को ही ब्रह्म माना है। आचार्य चरक ने स्पष्ट कहा है कि 'निवृत्तिरपवर्गस्तत्परं प्रशान्तंतत्तदक्षरं तद्ब्रह्म समोक्षः।' (चरक. शारीर. अ. ५) अर्थात्—निवृत्ति अर्थात् कर्मफल—त्याग ही अपवर्ग है, वह परम प्रशान्त, वह अक्षर अर्थात्—नित्य, वाही ब्रह्म और वही मोक्ष है।

आत्माद्वैतवाद

कुछ लोगों का कहना है कि औपनिषदिक अद्वैत-की छाप भगवान् पतञ्जलि के महाभाष्य पर पड़ी दीख पड़ती है। 'धातोःकर्मणःसमान कर्तृकादिच्छायां वा' (पा. सू. ३-१-१) के अन्दर 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' इस वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि 'अथवा सर्वं चेतनावत्। एवं हि आह-कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति, सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति, आस्कन्द कपिलकेत्युक्ते तृणमास्कन्दति अयस्कान्तमयः संक्रामति, ऋषिःपठति-शृणोत ग्रावाण इति।' कैयट ने 'सर्वस्येति' की व्याख्या करते हुए 'आत्माऽद्वैत दर्शनेऽनेतिभावः' ऐसा लिख कर भाष्यकार को एकात्मवादी होने का स्पष्टीकरण किया है। अन्य स्थानों पर भी यथावसर पतञ्जलि द्वारा आत्माद्वैत का कथन हुआ है, जिनका निबन्धाकृति विस्तार-भय से उद्धरण नहीं किया जारहा है। और इसी पृष्ठभूमि पर चरक और पतञ्जलि के अनैक्यवादी विचार धारा से विचार करने पर या यों भी पतञ्जलि के आत्माद्वैतवाद और चरक के आत्माद्वैत में विल्कुल साम्य ही दीखता है। क्योंकि हम देखते हैं कि सांख्य-योग की सरणि में भी, जैसे—जड़ांश के नानाकार होने पर भी 'एका प्रकृतिः' का अबाधित प्रमेयात्मक ज्ञान होता है, उसी प्रकार चेतनांश में भी, पुरुष बहुत्व साधित होने पर भी, चैतन्याधार पर 'एकःआत्मा' साजात्य लेकर व्यवहार किया ही जा सकता है। पातञ्जल-योगसूत्र में "क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः [पा. यो. सू. १ पाद २४ सूत्र] के द्वारा जिस पुरुष विशेष को ईश्वर की उपाधि देकर षड्विंशात्मक तत्त्व की उद्भावना की गई मिलती है वह ईश्वर भी दूसरे शब्दों में ब्रह्मभूतमुक्त पुरुष का ही संज्ञान्तर कहा जायगा।

आचार्य चरक ने—

लोके विततमात्मानं लोकञ्चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥
पश्यतः सर्वभवान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥"
—चरक. शारीर. अ. ५।

(अर्थात् —जो आत्मा को समस्त जगत में और समस्त जगत को आत्मा में व्याप्त देखते हैं, एवं ब्रह्म को पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ और अन्यान्य समुदाय पदार्थ अर्थात् जड़ प्रकृति के परिणाम भूत विषयों को अवर अर्थात् निकृष्ट कहकर विवेचना करते हैं, उनकी ज्ञानजनित शान्ति कदापि विनष्ट नहीं होती। वे सभी अवस्थाओं में सर्वदा सर्वप्राणी को समभाव से देखते हैं। उस शुद्ध सत्त्व ब्रह्मभूत पुरुष में धर्माधर्मजनक किसी भी कर्म का संयोग नहीं होता।)

के द्वारा जिस ब्रह्मभूत सत्त्व का परिचय दिया है, वह निःसन्देह पातंजल योगसूत्रोक्त ईश्वर को अभिप्रेत करता है जिसको अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पांच क्लेशों और कर्म विपाक से कोई नाता नहीं रह जाता है।

दुःख और उसका कारण—

ऊपर की पंक्तियों में यह बताया जा चुका है कि प्रवृत्ति ही दुःखों का मूलकारण है, जिसे हम सांसारिक विषयों की आसक्ति के रूप में कह सकते हैं। इसलिए आचार्य चरक ने 'एवंमहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नाति वर्त्तते प्रवृत्तिम्।' (चरक. शारीर. अ० ५), अर्थात्—इस प्रकार अहङ्कारादि द्वारा विभ्रान्त होकर मनुष्य प्रवृत्ति का अतिक्रम नहीं कर पाता है, के द्वारा स्पष्ट रूप से अहङ्कारादि को दुःख का कारण बताया है।

आचार्य चरक ने 'विविधाशितपीतीय' अध्याय में सुखार्थ प्रवृत्तिमान् मनुष्यों को असुख फल क्योंकर मिलता है, इसकी सुन्दर विवेचना की है।

आचार्य चरक लिखते हैं कि—

"सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।

ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥
हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥"
श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाढर्यं धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाग्विशुद्धिःशमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ।
लौकिकं नाश्रयन्ते ते गुणा मोहतमःश्रितम् ।
तन्मूला वहवश्चैव रोगाः शारीरमानसाः ॥"

—चरक० सूत्र० अ० २८ ।

(अर्थात्—जीवसमुदाय इच्छा से सुख के हेतु लालायित रहता है। तब ज्ञान और अज्ञानता निबन्धन ही वह हित वा अहित आचरण करता है। जो परीक्षक हैं, वे विशेष विवेचना करके हितावलम्बन करते हैं; और जो रजोगुण और मोह से आवृत आत्मा वाले होते हैं वे अहित प्रिय के अनुवर्त्ती होते हैं। जो परीक्षक हैं, उन्हें श्रुति, बुद्धि, स्मृति, दृढ़ता, धृति, हितनिषेवण, वाक्शुद्धि, क्षमता और धैर्य—ये सारे ही गुण उन्हें आश्रयण करते हैं। जो रजोगुण और मोह से आश्रित होते हैं, उन लौकिक व्यक्तियों को ये समस्त गुण कभी भी आश्रय नहीं करते। कारण, दैहिक और मानस सभी प्रकार के रोग ही तन्मूलक अर्थात्–तमोमोहाश्रित होते हैं।)

इसलिए आचार्य चरक ने धर्म-अर्थ-काम-इस त्रिवर्ग के सेवन में भी हिताहित विवेचना करने का उपदेश दिया है। आचार्य चरक ने स्पष्ट कहा है कि—"बुद्ध्याहिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानाञ्चोपसेवने प्रयतितव्यम्। नह्यन्तरेण लोकेत्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा, तस्मादेतच्चानुष्ठेयम्। तद्विद्य वृद्धानाञ्चोपसेवने प्रयतितव्यम्। आत्मदेशकालबलशक्ति ज्ञाने चेति।" (चरक० सूत्र० अ० ११) अर्थात्—बुद्धि के द्वारा हित और अहित की विवेचना करके अहित धर्मार्थ काम के परिहार और हितों के उपसेवन में प्रयत्नशील होना चाहिए। क्योंकि लोक में धर्मार्थ काम के बिना किसी प्रकार का न तो मानस सुख ही उत्पन्न होता है, और न दुःख ही। अतएव धर्मार्थ काम के अनुष्ठान में सयत्न हों; एवं उसके लिए तद्वैद्य वृद्धों की उपसेवा में यत्नवान् हों और आत्मा-देश, काल, बल और शक्ति के ज्ञान के प्रति मनोयोगी होना चाहिए।

कहना न होगा कि बुद्धि का ही कार्य है हिताहित का विवेचन करना जो यदि वह बुद्धि सात्त्विक रही तो यथावत् विचार कर सकती है; और बुद्धि के रजस् वा तमस् से अभिभूत रहने पर विपरीत ज्ञान-अर्थात्–हित को अहित और अहित को हित के रूप में परिग्रह हुआ करता है। योगी और सांसारिक के दृष्टिकोणों में जो आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है वह इसी कारण कि योगी की बुद्धि शुद्ध सत्त्वात्मक रहती है और संसारी की बुद्धि में रजस् और तमस् का विशेष सम्मिश्रण रहता है। इसलिए आचार्य चरक ने दुःख के कारणों के विवेचन के प्रकरण में ठीक ही लिखा है कि:—

"धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥
विषयाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥
विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थात् धृतिर्हि नियतात्मिका ॥
तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥"

—चरक० शारीर० अ० १ ।

(अर्थात्—धी, धृति और बुद्धि का विनाश, कालकर्म अर्थात् शीतोष्ण वर्षा की अयथासम्प्राप्ति वा परिणति, एवं असात्म्यइन्द्रियार्थसंयोग–ये तीन दुःख के कारण जानने चाहिए। नित्यानित्य एवं हिताहित विषय में जो विषम भाव से अभिनिवेश, अर्थात्–नित्य पदार्थको अनित्य और अनित्य पदार्थ को नित्य, हित विषय को अहित और अहित विषय को हित के रूप में समझना ही बुद्धिभ्रंश समझना

चाहिए। कारण, बुद्धि समभाव से ही समुदाय विषय देखती है। धृतिभ्रंश होने पर विषय प्रवण चित्त को अहित विषय से निवृत्त करने में समर्थ हुआ नहीं जा सकता है। कारण चित्त को संयत करने वाली शक्ति ही धृति है। जिसकी आत्मा रजोमोहावृत्त होकर यथार्थ ज्ञान में स्मृति भ्रष्ट हो उसे स्मृतिभ्रंश कहते हैं। कारण, स्मृति में ही स्मरणीय विषय अवस्थित रहते हैं।)

और एक शब्द में संक्षेपतः सभी दुःखों का कारण आचार्य चरक ने प्रज्ञापराध को माना है।

आचार्य चरक कहते हैं कि—

"संग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्म वाङ्मनः शरीर-जमहितमनुपदिष्टं यत्तच्च मिथ्यायोगं विद्यादिति त्रिविधं विकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्।"

—चरक० सूत्र० अ० ११।

(अर्थात्—अतियोग और अहित के सम्बन्ध में जो कहा जा चुका है, उसके अतिरिक्त वाक्य-मन और शरीर का जो समस्त कर्म उल्लेख नहीं किया गया है, अथ च यदि वह अहितजनक हो तो वह भी वाक्य-मन और शरीर का मिथ्यायोग समझना चाहिए। शारीरिक, मानसिक और वाचिक इन त्रिविध कर्मों के इस प्रकार विविध योग को भी प्रज्ञापराध मानना चाहिए)।

और इस प्रज्ञापराध का विषय बतलाते हुए प्रायः सभी अहित कर्मों को प्रज्ञापराध माना है।

आचार्य चरक का कथन है कि—

"धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥
उदीरणं गतिमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः।
सेवनं साहसानाञ्च नारीणाञ्चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्।
परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालदेशसञ्चारी मैत्रीसंक्लिष्ट कर्मभिः।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः।
तज्जं वा कर्मयत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देह कर्म च॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥
बुद्धया विषमविज्ञानं विषमञ्च प्रवर्त्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥"

—चरक० शारीर० अ० १।

(अर्थात्—धी-धृति-स्मृति विभ्रष्ट व्यक्तिगण जो सभी अशुभ कर्म करते हैं, उसे प्रज्ञापराध जानना चाहिए। यह प्रज्ञापराध सभी दोषों का प्रकोप करने वाला है। गतिमान् वेग का उदीरण और उदीर्ण वेग का निग्रह, दुःसाहसिक कार्य सम्पादन, अतिरिक्त स्त्रीसंग, कार्य काल का अतिक्रम, अयथाभावेन कार्यारम्भ, विनय और आचार का विलोप, पूज्य व्यक्ति का अपमान करना, जान बूझकर भी अहितकर विषयों का सेवन, औन्मादिक कारणों का अतिसेवन, असमय में और अनुपयुक्त स्थान में विचरण, नीच-कर्मा व्यक्तियों के साथ मित्रतास्थापन, इन्द्रियोप-क्रमणीयोक्त सदाचार का परित्याग, ईर्ष्या, अभि-मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद, भ्रम वा उससे जनित निन्दित कर्म समूह, दैहिक निन्दित कर्म, एवं रजोमोहजनित इसी प्रकार के अन्य निन्दित कर्म समूह को पण्डितगण व्याधिजनक प्रज्ञापराध कहते हैं। बुद्धि द्वारा किसी विषम विज्ञान वा विषम कार्यारम्भ देखने से उसे मनोगोचर प्रज्ञापराध समझना चाहिए।)

आचार्य चरक ने न केवल शारीर और मानस किं वा निज और आगन्तुक भेद वाले सभी रोगों का कारण प्रज्ञापराध को माना है अपि तु जनपदोध्वंसक रोग, जिसे हम आधुनिक शब्दावली में महामारी

वा एपीडेमिक कहते हैं, का भी कारण प्रज्ञापराध ही माना है।

आचार्य चरक ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि—

"सर्वेषामप्यग्निवेश ! वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः । तन्मूलञ्चासत्कर्म पूर्वकृतं तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव ।...तथा शस्त्र प्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति ।...तथाभिशाप प्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति ।" — चरक० विमान० अ० ३ ।

(अर्थात्—अग्निवेश ! देश, काल, वायु और जल—इनका जो वैगुण्य होता है, उसका भी मूल अधर्म है। उस अधर्म का भी कारण पूर्वजन्मकृत असत्कर्म, और उसका भी मूलकारण प्रज्ञापराध ही है।...इसी प्रकार शस्त्र प्रभव अर्थात्-युद्धादि-जन्य जो जनपदोद्ध्वंस होता है उसका भी अधर्म ही कारण है।...इसी प्रकार अभिशापज जनपदोद्ध्वंस का भी अधर्म ही हेतु होता है ।

और इसी लिए आचार्य चरक ने संक्षिप्त रूप में सभी दुःखों का प्रतीकार बतलाते हुए कहा है कि:—

"शरीरसत्त्व प्रभवास्तु दोषास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ।
रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्यानोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्तिकश्चित् ॥
तयोरवृत्तिः क्रियते परास्यां धृतिस्मृतिभ्यां परमाधिया च ।
सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वंगदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम् ।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्काल युक्तं य दिनास्ति दैवम् ॥"
—चरक० शारीर० अ० ३ ।

(अर्थात्—शारीरदोष और मानसदोष का असद्भाव होने से रोग का पुनरुद्भव नहीं होता। अर्थात्—रोगारम्भक वातादि शारीरदोष अथवा रजःप्रभृति मानसदोष भी सम्पूर्णरूप से निवारित होता है। इस तरह शरीर वा मानसरोग की पुनरुत्पत्ति नहीं होती है। शरीर और मन का प्रवाह अनादि है, किन्तु उत्कृष्ट धृति, स्मृति और बुद्धि द्वारा उस शरीर और मन का प्रवाह निवृत्त होता है। अर्थात्-पराधृति, स्मृति और बुद्धि के द्वारा जीव का आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष होता है। यथोक्त द्विविध आश्रय, अर्थात्–शरीर और मन, वर्तमान रहने पर भी यदि रोगोत्पत्ति के पूर्व ही उसका नित्यप्रतीकार कर दिया जाय, अर्थात्–शारीर और मानसदोष का निवारण किया जाय, एवं तत्काल फलप्रद कोई दैव बलवान् नहीं रहे, तो जितेन्द्रिय व्यक्ति को कोई रोग नहीं सता सकता है।

और इसीलिए आचार्य चरक ने अनुपालनीय सर्वसाधारण सदाचार का, और यथाकथञ्चित् उस सदाचार के उल्लंघन से उत्पन्न रोगों के निराकरण में उपयोगी वैद्य समाज के भी विशिष्ट आचार का, उपदेश किया था ताकि समाज का सर्वविध कल्याण होसके।

चरकोक्त सदाचार

आचार्य चरक ने इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (चरक०सूत्र० अ० ८) में विस्तारपूर्वक तथा प्रकरणवश अन्यान्य अध्यायों में भी संक्षिप्त सदाचार का उपदेश दिया है जिसका यहां भी संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक ही है। आचार्य चरक ने कहा है कि मनुष्य को—"प्रति दिन देवता, गो, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य की पूजा, अग्निहोत्र, दोनों समय सन्ध्योपासन; मृत्तिका और जल से शरीर के मलस्थान और पैरों का धोना; एक पक्ष में तीन बार केश, मूंछ-दाढ़ी, नख का कटाना; नित्य-परिष्कार वस्त्रधारण, सदा प्रसन्न मन रहना, साधुवेश और शोभित केश होना; माथा, कान, नाक, पांव आदि में नित्य तेल लगाना; आगन्तुक व्यक्ति से मधुर शब्द में प्रथम संभाषण करना; सभी के प्रति सर्वदा प्रसन्न रहना; विपद्ग्रस्त व्यक्ति के उद्धार में सदा सयत्न होना; होम, यज्ञ, दान, अतिथि-सत्कार करना; पितरों को पिण्डदान करना; समयानुकूल हित, परिमित और मधुर बोलना, जितेन्द्रिय और धार्मिक होना; किसी की विद्या व धनादि पर ईर्ष्या न करना; दुश्चिन्तारहित, निर्भीक, धीमान्, सलज्ज, महोत्साही, कार्यकुशल, क्षमावान्, धार्मिक और आस्तिक होना; विनय, विद्या, बुद्धि, कुल और वयस्

में अधिक व्यक्ति की तथा सिद्ध एवं आचार्य की उपासना करना; छत्र, दण्ड, उष्णीष और पादुका का धारण करना; यात्रा के समय सामने ४ हाथ स्थान के प्रति दृष्टि रखकर ही विचरण करना; सदा मङ्गलाचारयुक्त होना; श्रान्तिबोध होने से पूर्व ही श्रमकर कर्म त्याग देना, सभी भूतों से बन्धु जैसा व्यवहार करना; क्रुद्ध को विनय, भीत को आश्वासन और दीन दुखी को अनुग्रह करना; प्रतिज्ञापालक बनना; सामगुण प्रधान होना; दूसरों का परुष वचन सहन करना; प्रशस्त गुणदर्शी तथा रागद्वेष के हेतु का विनाशकरना; झूठ न बोलना; पराया धन नहीं लेना; परस्त्री-अभिलाषी न होना; किसी की स्त्री को देखकर कातर न होना; किसे से भी शत्रुता नहीं करना; पापकर्म न करना; पराया दोष न बोलना; किसी का रहस्य भेद न करना; अधार्मिक, राज द्विष्ट, उन्मत्त, पतित, भ्रूणघाती, क्षुद्रात्मा, दुष्ट—इनका सङ्ग न करना; दुष्ट सवारी पर भी नहीं चढ़ना; जानुसम ऊँचे वा कठिन आसन पर न बैठना; आस्तरण और उपधान से हीन, अप्रशस्त और असमशय्या पर न सोना; पहाड़ की चोटी विषम उच्चस्थान और ऊँचे पेड़ पर नहीं चढ़ना; उग्रवेग जल में नहीं पैठना; सत्कुलोत्पन्न की छाया न लाँघना; अग्निराशि के सम्मुख नहीं जाना; ऊँचे स्वर से नहीं हँसना; शब्दयुक्त वायु का त्याग न करना; बिना मुंह ढके जँभाई, छिक्का वा हँसी न करना; नाक न खोंटना; दांत न कटकटाना; नख से नख न बजाना; हड्डी पर अभिघात न करना, भूमि में न कुरेदना; नख से तृण न खोंटना; ढेले को न चूरना; विकृत अङ्गभंगी न करना; उज्ज्वल ज्योतिः पदार्थ वा अपवित्र या अप्रशस्त आग को न देखना; शव देखकर न हुङ्करना; चैत्य, ध्वज, गुरुजन, पूज्यव्यक्ति वा अप्रशस्त की छाया में न जाना; देवालय, चैत्यस्थान, चत्वर, चतुष्पथ, उपवन, श्मशान और वध भूमि में रात में न जाना; शून्य घर वा जङ्गल में अकेला न जाना; पापाचारी स्त्री, मित्र और भृत्य का सम्पर्क न करना; उत्तम व्यक्तियों से विरोध न करना; निकृष्ट की उपासना न करना; कपटी से मैत्री न करना; अनार्य का आश्रय न लेना; किसी को न डराना; अतिसाहस, अतिनिद्रा, अतिजागरण और अपरिमित पान-भोजन न करना; ऊर्ध्वजानु होकर चिरकाल तक न रहना; सांप, दांत और सींग वाले जानवर के निकट न जाना; पूर्ववायु, सम्मुख धूप, हिम और जोरों से बहते वायु को न सेवना; कलह न करना; असावधान होकर आग न सेवना; जूठे मुंह वा अधोमुख होकर आग न जलाना; श्रान्ति दूर हुए बिना, पहले से मुंह जलालुप्त किये बिना कि या नङ्गा होकर स्नान न करना; स्नान वस्त्र से माथा न पोंछना; केशों को पकड़ कर न खींचना; स्नानकर उसी वस्त्र को न पहनना; रत्न, घृत, पूज्य वा मांगल्य वस्तु वा फूल बिना स्पर्श किये यात्रा न करना; पूज्य वा मंगल पदार्थ को दक्षिण में और अपूज्य और अमंगल को वाम में कर न जाना; हाथ में रत्न धारण, स्नान, जप, होम किये बिना, और पितर गुरुजन, अतिथि और आश्रित को दान दिये बिना, तथा पवित्र गन्ध माल्य बिना पहिने, हाथ, पांव, मुंह बिना धोये, अशुद्ध मुख उत्तर मुख बैठकर या अन्यमनस्क होकर भोजन न करना; अभक्त, अशिष्ट, अशुचि और क्षुधित परिचारक से वेष्टित होकर भोजन न करना; भोजन पात्र अपवित्र, भोजन स्थान अप्रशस्त और भोजन काल अनुपयुक्त रहते भोजन न करना; बहुजनाकीर्ण स्थान में बैठकर भोजन न करना; अग्नि में अग्नाहुति दिये बिना, वेद विधान से अन्न का प्रोक्षण किये बिना और मन्त्र द्वारा भोज्य पदार्थ को अभिमन्त्रित किये बिना भोजन न करना; अन्न की निन्दा किये बिना ही भोजन करना; कुत्सित अन्न का वा प्रतिकूल लोगों के निकट में भोजन न करना; मांस, हरे पदार्थ, शुष्क साग, शुष्क फल को छोड़ बासी कुछ न खाना; दही, मधु, नमक, सत्तू, घी— इनके अतिरिक्त किसी भी वस्तु को साराकासारा न

खालेना; रात में दही न खाना; केवल सत्तू न खाना; रात में, भोजन के बाद, अधिक परिमाण में, दोबार करके, उदकान्तरित कर, और दांतों से काटकर सत्तू न खाना; वक्रभाव में रहकर छींक, भोजन और शयन न करना; मल—मूत्रादि का वेग होने पर अन्य कार्य न करना; वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, ब्राह्मण और गुरुजन के सम्मुख होकर थूकना किं वा पाखाना-पेशाब नहीं करना; रास्ते पर न मूतना; बहुत जनों के सामने वा भोजन काल में, जप, होम, अध्ययन, बलि या दूसरे मांगलिक कार्य के अवसर पर नाक से नकटी या श्लेष्मा न निकालना; स्त्री की अवज्ञा वा अधिक विश्वास, उससे गुप्त बातें करना, या उसे अधिकारिणी या सर्वेसर्वा बनाना इत्यादि न करना; रजस्वला, रोगग्रस्ता, अपवित्रा, अप्रशस्ता, अनभिमतरूपा, अनभिमत आचार करने वाली, अदत्ता, अकामा किं वा पर पुरुष कामी स्त्री से संभोग नहीं करना; परस्त्री गमन न करना; पशुयोनि में या योनि से अन्य स्थान में गमन नहीं करना; चैत्य, चत्वर, चौरास्ता, उपवन, श्मशान, बध्यभूमि, जल, औषधालय, ब्राह्मणगृह, गुरुगृह, देवालय में, प्रातः और सायं काल में, निषिद्ध तिथियों में, अशुच अवस्था में, वृष्य औषध सेवन किये विना, मैथुन संकल्प प्रबल न रहने पर, लिंगोत्थान आदि प्रहर्ष उपस्थित नहीं हुए भी, अभुक्तावस्था में, अति भोजन कर, विषम स्थानस्थित होकर, मलमूत्र के वेग से पीड़ित रहते हुए, श्रम, व्यायाम वा उपवास से क्लान्त रहने पर और अनिर्जन स्थान में मैथुन न करना; साधु और गुरुजन का परिवाद वा निन्दा न करना; अशुच अवस्था में मारण-मोहन आदि अभिचार कर्म, चैत्य पूजा, सामान्यतः पूजा, और वेदाध्ययन न करना; असमय में बिजली कड़कने, दिग्दाह, ग्राम दाह, भूकम्प, महोत्सव, उल्कापात या शनि, गुरु, राहु, केतु इन महाग्रहों के सञ्चार में, नष्टचन्द्र-तिथियों में, दोनों सन्ध्या समयों में, और गुरुमुखी, न होने पर अध्ययन न करना; अध्ययन काल में उच्चारण स्खलित न होने देना; स्वर को अतिमात्र नत विश्वर, लुप्तपद, अतिद्रुत, अति विलम्बित, अति-क्षीण, अति उच्च वा अति नीच नहीं होने देना; अध्ययन के समय वा नियम का उल्लंघन न करना; रात में कुस्थान में विचरण न करना; सन्ध्याकाल में आहार, अध्ययन, स्त्रीसंभोग वा निद्रा न करना; बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, क्लिष्ट वा नपुंसक के साथ मैत्री न करना; मद्य, जुआ और वेश्या में प्रसक्ति न करना; गुह्य कथा व्यक्त न करना; किसी की अवज्ञा न करना; अहङ्कारी न होना; अदक्ष; अप्रसन्न और असूयक न होना; ब्राह्मण और दया-दाक्षिण्य आदि गुणयुक्त लोगों की निन्दा न करना; गाय के प्रति दण्ड न उठाना; बूढ़ों, गुरुजनों, गणों और राजों की शिकायत न करना, इनकी अधिक प्रशंसा भी न करना; बान्धव, अनुरक्त, विपत्ति के सहायक और रहस्यवेत्ता का परित्याग न करना; अधीर वा उद्धत स्वभाव का न बनना; भरणीय व्यक्ति का भरण-पोषण करना; आत्मीय जनों पर अविश्वास न करना; अकेला सुखभोग न करना; दुःखप्रद चरित्र, आहार वा व्यवहार में निरत न होना सबके प्रति विश्वासी वा अविश्वासी न बनना; सदा विचारी बन काल न नष्ट करना; अपरीक्षित विषय में आग्रह न करना; इन्द्रियों का वश न होना; मन को अधिक चञ्चल न बनाना; ज्ञानेन्द्रियों का अति संचालन न करना; अतिशय दीर्घसूत्री न होना; क्रोध वा हर्ष का अनुवर्त्ती होकर कार्य न करना; शोक के वशीभूत न होना; कार्य सिद्धि में अधिक आनन्द और असिद्धि में अधिक दुःख न करना; सर्वदा आत्म-प्रकृति स्मरण करना; कार्य और कारण के सम्बन्ध में निश्चित बुद्धि होना; हेतु और आरम्भ के विषय में तत्पर रहना; काम करके आश्वस्त न होना; पराक्रम वा साहस न छोड़ना; परापवाद का स्मरण न करना, अशुच होकर घी, अरवा चावल, तिल, कुश और सरसों द्वारा होम न करना; "अग्नि हमारे शरीर से न जाय; वायु हमारे प्राण का धारण करें,

विष्णु बलाधान करें, इन्द्र वीर्यप्रदान करें, मंगलमय जल हमारे शरीर में अनुप्रवेश करें" इस प्रकार प्रार्थना वाक्यों में अपनी मंगलकामना करना; "आपोहिष्ठाः" मन्त्र से आचमन कर दो बार ओठ का मार्जन कर पांव पर जलाभ्युक्षण कर मस्तक, चक्षु, कान आदि इन्द्रिय स्थानों का जल से स्पर्शकर आत्मा, हृदय और माथे पर जल सींचना; ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, करुणा और हर्ष पर होना; और मानापमान, जयपराजय, सुख-दुःख आदि से मुह्यमान न होते हुए प्रशम या शान्ति में परायण होना" कर्त्तव्य बताया है। और इसका फल भी आचार्य चरक ने स्पष्ट कहा है कि "—तदनुष्ठानं युगपत् सम्पादयत्यर्थ द्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयञ्चेति।" (चरक० सूत्र० अ० ८), अर्थात्—इस सदाचार के अनुष्ठान से एक साथ ही आरोग्य और इन्द्रिय जय दोनों ही होता है।

वैद्यों का आचार

और इस कथित आचार के परिपालन में प्रज्ञापराध आजाने से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा का भार उठाने का दारोमदार जिस वैद्य को बनाया जाय उसके कर्त्तव्य का भी उपदेश आचार्य चरक ने स्वयं दिया है कि:—

"शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्॥
विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड् गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्त्तते॥
विद्यामतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः॥
स वैद्यशब्दं सद्‌भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः॥
—चरक. सूत्र. अ. ९।

अर्थात्—शस्त्र, शास्त्र और जल, गुण दोष प्रवृत्ति के हेतु ये पात्रापेक्षी होते हैं। प्रज्ञावान् व्यक्ति के हाथों में पड़ने पर ही ये फलप्रद होते हैं। अतः वैद्य को चाहिए कि चिकित्साकार्य के हेतु बुद्धि का परिमार्जन करे। जिस वैद्य की विद्या, युक्ति, विज्ञान स्मृति, तत्परता और क्रिया—ये ६ गुण होते हैं, उसका साध्य कभी नहीं बिगड़ता है। विद्या, बुद्धि, बहुदर्शन, अभ्यास, सिद्धि और सद्गुरु का आश्रय—इनमें एक-एक गुण भी वैद्यत्व के लिए पर्याप्त होता है। किन्तु यह समस्त गुण जिसमें विद्यमान होता है, वही वैद्य शब्द का उपयुक्त पात्र और प्राण तथा सुख का दाता होता है।)

निःसन्देह इस प्रकार का वैद्य ही आचार्य चरक के इस चिकित्सासूत्र का कि—

"विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥
स एव कुपितोदोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चापि विकारान् कुरुते बहून्॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्॥ × × ×
नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः॥"
—चरक. सूत्र. अ. १८।

(अर्थात्—रोग का नामकरण करने में असमर्थ होने पर भी चिकित्सक को लज्जा नहीं करनी चाहिए क्योंकि सभी रोगों का नामकरण हो भी नहीं सकता है। कारण, एक ही प्रकुपित दोष समुत्थान विशेष और अधिष्ठान विशेष से बहुत से विकारों को पैदा करता है। इस हेतु रोग की प्रकृति, अधिष्ठान और समुत्थान विशेष का अध्ययन कर चिकित्सा करने में प्रवृत्त हों। × × × प्राणियों के देह में वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष नित्य विद्यमान रहते हैं। वे प्रकृतिस्थ हैं वा विकार प्राप्त हो चुके हैं, पण्डित को इसे समझने की विशेष चेष्टा करनी चाहिए।)

यथावत मर्म अवगत कर रोगों की चिकित्सा करने में सफल हो सकते हैं। किन्तु ऐसे वैद्यों के लिए भी आचार्य चरक ने आचार विशेष का उपदेश दिया है कि—

"अहरहरुत्तिष्ठिता चोपविशताच सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम्। जीवितहेतोरपिचातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम्। मनसापि च परस्त्रियो नाभि गमनीयाः, तथा सर्वमेव परस्वम्। निभृतवेश परिच्छदेन भवितव्यम्। अशौण्डेनापापेना पापसहायेन। च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्यधन्य-सत्यहितमितवचसा देशकाल विचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसम्पत्सु नित्यं यत्नवता न च कदाचिद्राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वा प्यौषधमनुविधातव्यम्। एवं सर्वेषामत्यर्थं विकृतदुष्टदुःखशीलाचारापचाराणामनपवादप्रतिकाराणांमुमूर्षूणाञ्चतथैवा-सन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां वा। नच कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्रावाऽध्यक्षेण। आतुरकुलञ्चानुप्रविशता विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्धंच पुरुषेण सुसंवीतेनावाक्‌शिरसा स्मृतिमता स्तिमितेनावेक्ष्यावेक्ष्य मनसा समाचरता बुद्ध्या सम्यगनुप्रवेष्टव्यम्। अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित्प्रणिधातव्यानि, अन्यत्रातुरादातुरोपकार्थादातुर गतेवन्येषु वा भावेषु। न चातुरकुल-प्रवृत्तयो वहिर्निश्चारयितव्याः। ह्रसितञ्चायुषः प्रमाणमातुरस्य जानतापि न खलु वर्णयितव्यम्, तत्रयत्रोच्यमानमातुरस्यान्यस्य वाप्युपघाताय सम्पद्यते। विज्ञानवतापि च-नात्यर्थमात्मनो ज्ञानेन विकत्थितव्यम्। आप्तादपि हि विकत्थ्यमानावत्यर्थमुद्विजन्त्येके। न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारम्। तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्। एतच्च कार्यमेवंभूयश्चः वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्यो प्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्य मायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपविशतोवचः श्रोतव्यमनुविधातव्यञ्चेति॥"

—चरक० विमान० अ० ८।

(अर्थात्—उठते बैठते सभी समय सर्वान्तःकरण से रोगी के आरोग्य साधन में यत्न करे। अपने जीवन की रक्षा के हेतु भी रोगी का अभिद्रोह न करे। मन से भी परस्त्रीगमन और परधनग्रहण न करे। विनीत वेश और परिच्छद रखे। मद्यपान न करे। पापाचरण न करे। पापी की सहायता भी न करे। मनोरम, निर्दोष, धर्म संगत, प्रशंसनीय, सत्य, हितकर और परिमित बात बोले। देश और काल का विचार कर कार्य करे। स्मृतिमान् बने। ज्ञानोत्पत्ति के उपकरणों के उत्कर्ष में यत्नवान् हो। राजद्विष्ट वा राजद्वेषी और महाजनद्विष्ट वा महाजनद्वेषी व्यक्ति की चिकित्सा न करे। अत्यन्त विकृताचारी, दुष्ट स्वभाव दुःशीलाचारी, अपचारी और अपवाद का प्रतीकार नहीं करने वाले मुमूर्षु और जिस स्त्री का स्वामी वा अध्यक्ष उपस्थित न हो इनकी चिकित्सा न करे। स्वामी वा अध्यक्ष की अनुमति के विना स्त्री जाति से कुछ भी योग्य वस्तु न ले। रोगी की अवस्था के ज्ञाता और रोगी के घर प्रवेश करने की अनुमति जिसे प्राप्त हो, ऐसे व्यक्ति के साथ रोगी के घर जाय। परिष्कृत परिच्छद पहने, मस्तक अवनत किए, स्मृति स्थिर रख, मृदुभाव से, सभी बातों को देखते और मन ही मन विचार करते रोगी के घर जाय। प्रवेश कर रोगी, उसके उपकरण, आतुरगत भाव इनके अतिरिक्त और किसी भी विषय पर वाक्य, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को न लगाये। रोगी के कुल से सम्बद्ध किसी भी बात को बाहर में प्रकाश न करे। रोगी की आयु नष्ट हो रही है, यह भी वहां न बोले जहां रोगी वा उसके किसी व्यक्ति की इससे प्राणहानि की संभावना हो। अपनी विद्वत्ता की प्रशंसा न करे, क्योंकि आप्त के भी आत्मश्लाघा से कुछ लोग विरक्त होते हैं। आयुर्वेद का पार नहीं है. अतः अप्रमाद भाव से उसमें प्रवृत्ति रखे। किसी अन्य व्यक्ति की एवं विध प्रवृत्ति की असूया न करे, उसके निकट से शिक्षा ले। बुद्धिमान् के लिये सभी आचार्य और मूर्ख के लिये सभी शत्रु दीखते हैं, अतः प्रशंसनीय, यशस्कर, आयुष्कर, जीवनोपयोगी और लोक हितकर वाक्य शत्रु भी कहे तो उसे सुने और उसका प्रतिपालन करे।)

उपसंहार

कहना न होगा कि आचार्य चरक ने अपने

—शेषांश पृष्ठ ८३ पर।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति—चरकमुखापेक्षिणी है।

लेखक आचार्य श्री० पं० ब्रजमोहन दीक्षित ए० एम० एस० ज्ञानवापी, काशी।
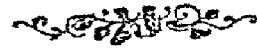
पुरानी बात है। जब सारा विश्व लड़खड़ाते पैरों खड़ा होना सीख रहा था, भारत के मनीषी विज्ञान की चरम सीमा पार कर लोक परलोक की ग्रंथियां सुलझा रहे थे। पूर्व का आलोक दिग्-दिगन्त पार कर विश्व के कोने कोने से भ्रम व अज्ञान रूपी अन्धकार दूर कर सभ्यता का प्रसार करने में लगा था।

मानव की उत्पत्ति व विकास के साथ साथ उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को सुरक्षित रखने के लिये चिकित्साशास्त्र का भी आरंभ तथा विकास मानव के साथ ही हुआ। इतना ही नहीं प्राणि वर्ग के प्रमुख सदस्यों की सुरक्षा का भी विधान उस शास्त्र में निहित था जिसका नाम आयुर्वेद हुआ।

मानव तथा आयुर्वेद इन दोनों का आरम्भ पूर्व-परम्परानुसार ब्रह्मा जी से हुआ। इसके पश्चात् यह अनादि तथा अमानवकृत विश्व का आदि चिकित्सा शास्त्र आवश्यकतानुसार क्रमशः विकसित तथा प्रसारित हुआ।

आयुर्वेद तथा चरक

अग्निवेश तथा सुश्रुत आदि का समय आयुर्वेद का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। जिस समय आयुर्वेद अष्टाङ्गपूर्ण तथा वैभव सम्पन्न था। यह काल ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व था। इसी समय चिकित्साशास्त्र की "अग्निवेश संहिता" नामक प्रथम पुस्तक महर्षि अग्निवेश द्वारा लिखी गई। आगे चल कर कालप्रभाव से इसमें कुछ त्रुटियां आगईं। कुछ भाग लुप्त हो गया, कुछ विकृत होगया जिसका पुनः संस्कार महर्षि चरक ने किया और तब से यह संहिता इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह विश्व के पुस्तकालयों में

चिकित्साशास्त्र की प्रथम और सबसे प्राचीन पुस्तक है। इसके पश्चात् लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पहिले भावमिश्र आदि के समय तक आयुर्वेद का गौरव अक्षुण्ण रहा यद्यपि उसकी प्रगति रुक गयी थी। देश में अशान्ति के कारण सभी व्यवस्थायें अस्त-व्यस्त थीं जिनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

आयुर्वेद का विदेशी रूप

आक्रमण के समय या यात्री के रूप में आये विदेशियों ने प्रभावित हो इसका प्रचार अपने अपने देशों में किया और इस प्रकार यूनानी, तिब्बी, एलोपैथी आदि इसकी अनेक संज्ञायें हुईं।

आयुर्वेद किस प्रकार यूनान ले जाया गया और वहां के संग्रहालय से किस प्रकार शल्य संबन्धी यंत्र-

शास्त्र बृटिश संग्रहालय में लाये गये और इस ज्ञान का प्रसार यूरोप में किस प्रकार हुआ इसका लम्बा तथा रोचक इतिहास है। केवल भारतीय इतिहासकार एवं वैद्य ही नहीं उन-उन देशों के निष्पक्ष विद्वानों ने भी स्वीकार किया है और प्रमाणपूर्वक तथ्य उपस्थित किये हैं कि चिकित्सा विज्ञान की मातृभूमि भारत है। उन सब तथ्यों व प्रमाणों को प्रस्तुत कर लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं यहां तो केवल यही दिखाना है कि विश्व का सबसे प्राचीन चिकित्साशास्त्र आयुर्वेद और उसकी प्रथम पुस्तक चरक है।

आधुनिकविज्ञान की पृष्ठभूमि

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान क्यों चरक मुखापेक्षी है, इसे जानने के पहले उसकी पृष्ठभूमि जानना आवश्यक है। पूर्व विवरण से यह तो स्पष्ट ही है कि यह विज्ञान आयुर्वेद का ही एक रूप है जो यूनान होता हुआ यूरोप पहुँचा। किन्तु भौतिकवादी यूरोप में सत्व, रज, तम, पञ्चमहाभूत, आत्मा, मन, इन्द्रियां लोक परलोक आदि की कोई उपयोगिता नहीं समझी जा सकी, जिन पर आयुर्वेद आधारित है। इसके आधार भूत अध्यात्मतत्व को छोड़ वहां के विद्वानों ने इसका विकृतरूप प्रचलित किया। फलतः वहां आधारहीन चिकित्सा विज्ञान का ही विकास तथा प्रसार हुआ।

चरक की चिकित्सा का आधार

चरक ने गर्भाधान का निम्न प्रकार लिखा है—

"तत्रपूर्वं चेतना धातुः, सत्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते"

—च० शा० अ० ४।

अर्थात्—गर्भाधान के समय सबसे पहले आत्मा मन के द्वारा पञ्चमहाभूतों के साथ सम्मिलित होता है। जिनका क्रम इस प्रकार है—

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्त। प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतः सत्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादींश्चतुरः। तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते। ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादींश्चतुरः सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति।

—च० शा० अ० ४।

अर्थात्—पञ्चमहाभूत संग्रह के समय यह आत्मा अन्य महाभूतों से पहिले आकाश को ही ग्रहण करता है। जिस प्रकार सृष्टि रचना के समय सत्व साधन सम्पन्न परमात्मा सबसे पहले आकाश का निर्माण करता है फिर क्रमशः स्पष्ट गुण वाले वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी उत्पन्न करता है उसी प्रकार देह धारण के समय जीवात्मा पहले आकाश और फिर क्रमशः चार महाभूतों को ग्रहण करता है। यह क्रिया बहुत ही सूक्ष्म समय में सम्पन्न होती है।

इस प्रकार पञ्चमहाभूतों का यह समवाय मन और आत्मा के साथ जीवन पर्यन्त सुख दुःख का अनुभव करता है। इसे ही आयुर्वेद मानव कहता है जिसके लिए चिकित्साशास्त्र का विधान है। इन्हीं पञ्चमहाभूतों को आयुर्वेद ने त्रिधातु या त्रिदोष रूप से स्वीकार किया है। आकाश और वायु की अधिकता से वात, अग्नि और जल की अधिकता से पित्त तथा जल और पृथ्वी की अधिकता से श्लेष्मा होता है। इसी प्रकार पञ्चमहाभूत या त्रिधातु से ही यह शरीर बना हुआ है। यही त्रिधातु विकृत हो त्रिदोष कहलाते तथा रोग उत्पन्न करते हैं।

आधुनिक चिकित्सापद्धति की विफलता

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, चिकित्साशास्त्र के इस मूल आधार को छोड़, जीवाणु, विटामिन की कमी, नाना प्रकार के विष-संस्कार आदि की भूल-भुलैया में फँस मल, मूत्र, रक्त, श्लेष्मा आदि में रोग के कारणों को ढूंढ़ता फिरता और कभी कभी सबकी परीक्षाओं के अनन्तर भी किसी निर्णय पर न पहुँच हताश तथा निराश हो असफलता के निविड़ अन्धकार में विलीन होजाता है। ऐसी दशा में इसे विज्ञजन विज्ञान कहने में भी हिचकते हैं।

सफलता मिलने पर भी केवल उनके जीवाणुओं व विष को नष्ट करने वाली ओषधियों की खोज में लग जाता है। और बन्दर, शृगाल, चूहों आदि पर उनका प्रयोग कर सफलता मिलते ही मानव-शरीर पर धड़ल्ले से प्रयोग आरम्भ हो जाता है। रोग के निमित्त कारणों को नष्ट कर वे शरीर के उपादान कारणों (वात, पित्त, कफ) पर क्या प्रभाव डालती हैं, आगे चलकर शरीर की क्या स्थिति होगी, शरीर की जीवनीय शक्ति पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, इन बातों पर विचार ही नहीं किया जाता। फलतः आज कुछ पुराने रोगों पर विजय का गर्व करने वाला विज्ञान नये नये किन्तु अति भयङ्कर रोगों की शृंखला का सृजन ही नहीं करता वरन् सामान्य रोगों में सहन शक्ति के अभाव तथा शारीरिक विशिष्ट निधियों के ह्रास से रोगी की तत्काल मृत्यु का कारण भी होरहा है।

अभी कुछ दिन पहले ही एक नवीन व्याधि का आतङ्क लखनऊ निवासियों के मस्तिष्क में दूर भी न हो पाया था कि उससे भी तीक्ष्ण नई व्याधि का दारुण प्रश्न सामने आगया। चिकित्सा का अवसर दिये बिना ही यह व्याधि, विज्ञान को बिना अपना नाम पता बताए ऐसे प्राणियों को अपना कलेवा बना रही है जिनके शरीर भयानक रोगों की संहारक ओषधियां क्लोरोमायसिटीन, स्ट्रेप्टोमायसिटीन, औरोमायसीन, सल्फा द्रव्य आदि पहले से ही उपस्थित हैं। यह निश्चित है कि जिन्होंने ऐसी प्रतिक्रियात्मक ओषधियों का प्रयोग नहीं किया उन्हें ऐसी व्याधियां नहीं हो होतीं। मलेरिया जैसे सामान्यरोग से मृत्यु, हार्टफेल आदि आज की सामान्य घटनायें हो गई हैं।

चरक की उपयोगिता

इस विभीषिका से आज पाश्चात्य जगत् के विज्ञमनीषी भी चौंक उठे हैं और इसके विरुद्ध आवाज उठाने लगे हैं। इससे त्राण पाने के लिये वे चिन्तित हैं और मार्ग की खोज में हैं। निश्चय ही उन्हें कुछ दिनों बाद भूलभटक कर इसी परिचित मार्ग की ओर मुड़ना होगा। चिकित्सा की पूर्णता के लिये चिर-उपेक्षित अपनी मातृभूमि की शरण आना पड़ेगा और विश्व की इस पहली पुस्तक के पन्ने उलटने पड़ेंगे।

निश्चय ही अपने उद्गम स्थान को छोड़ कोई भी वस्तु अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती। उसमें अनेक दोष आ जाते हैं जिससे वह आगे चलकर समाज के लिये उपयोगी नहीं रह जाती। ठीक यही दशा पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान की है। अपने उपजीवक आयुर्वेद को छोड़ उसने बड़ी प्रगति की। किन्तु वही प्रगति आज समाज के लिये अभिशाप हो रही है। उपजीव्य अधिक दिनों तक स्वतः अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, यह तर्कसम्मत सिद्धान्त असत्य नहीं इसलिये इस पर गम्भीर विचार करना ही होगा। आधुनिक चिकित्सा की चकाचौंध से दृष्टि हटा आयुर्वेद के प्रशान्त वातावरण में मानव स्वास्थ्य का सत्यं शिवं सुन्दरम्, सूत्र ढूंढ़ना ही होगा जिससे समाज का वास्तविक कल्याण होसके। इसमें हठवादिता व दुराग्रह को स्थान नहीं। निष्पक्ष विचारपूर्वक सत्य की खोज ही सच्चे अर्थ में विज्ञान है जिसका आश्रय लिये बिना जनकल्याण की कामना दुराशामात्र है।

चरक का दृष्टिकोण

आइये अब हम थोड़ा चरक का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करें। उसकी दृष्टि में वात, पित्त, कफ सर्व शरीर व्यापी हैं। इनकी समावस्था स्वास्थ्य और इनकी विषमता ही रोग है। इस प्रकार किसी भी आहार विहार औषध से इन्हें सम बनाये रखना ही चरक चिकित्सा का मौलिक सिद्धान्त है। किसी भी कारण से हो इनकी विषमता ही रोग का प्रत्यक्ष कारण है जिसे दूर करना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। इससे रोग का नाश तो होगा ही दोषों की समता

से स्वास्थ्य उत्तम होगा। इसमें विषमता उत्पन्न करने वाले कारण गौण हैं जिन्हें निमित्त कारण कहते हैं। इनके ज्ञान व सतर्कता की आवश्यकता अवश्य है किन्तु केवल इनके नाश से दोषों की विषमता नष्ट नहीं होती। इसीलिये रोग के उग्र लक्षण शान्त होने पर भी स्वास्थ्य लाभ नहीं होता और यह विषमता मनुष्य को सदा के लिये रोगों का अड्डा बना देती है।

दोषों के इस ज्ञान के अभाव में रोगी तथा स्वस्थ का आहार विहार भी निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि समुचित आहार विहार का सेवन किया जाय तो रोग उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रहती। इस प्रकार के आहार विहार वाले मनुष्य के दृढ़ दोष साम्य को रोगोत्पादक जीवाणु व विषसञ्चारादि शीघ्र विषम नहीं बना पाते जिससे शरीर में प्रविष्ट होकर भी वे निष्क्रिय पड़े रहते या मर जाते हैं। आधुनिक परीक्षाओं से भी यह स्पष्ट है। कहा जाता है प्रतिरोधक शक्ति की दृढ़ता से जीवाणु रोग उत्पन्न नहीं कर सके। कुछ भी कहा जाय किन्तु वह सब यही दोषसाम्य है। इसकी सुरक्षा पर चरक ने विशेष बल दिया है।

कहा जा चुका है कि पञ्चमहाभूत ही त्रिदोष हैं। जिस प्रकार ये शरीर में व्यापक हैं उसी प्रकार समस्त सृष्टि इन्हीं के द्वारा निर्मित है। समस्त आहार द्रव्य एवं ओषधियां इन्हीं से बनी हैं इसलिये इन दोनों का संबंध स्वाभाविक है।

संसार के सारे द्रव्यों का वर्गीकरण छः रसों के ही अन्तर्गत है। १ मधुर २ अम्ल ३ लवण ४ कटु ५ तिक्त ६ कषाय। इनमें पृथ्वी जल की अधिकता से मधुर, पृथिवी अग्नि की अधिकता से अम्ल, जल अग्नि की अधिकता से लवण, वायु और आकाश की अधिकता में तिक्त, वायु और अग्नि की अधिकता से कटु तथा वायु और पृथ्वी की अधिकता से कषाय रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ये षड्रसात्मक पाञ्चभौतिक द्रव्य शरीर में पहुंच अपने अपने महाभूतों को पोषण देते तथा विरोधी महाभूतों का ह्रास करते हैं। चरक ने लिखा है—मधुर अम्ल, लवण रस वायु को; कषाय, मधुर तिक्त, रस पित्त को कषाय; कटु, तिक्त रस कफ को शान्त करते हैं। इसी भांति विपरीत क्रम के यही तीन तीन रस इन्हीं दोषों को बढ़ाते हैं।

कितनी सरल तथा सुबोध पद्धति है आहार एवं औषध निर्णय की। इसी प्रकार दोषों के अलग अलग लक्षण लिख दिये गये हैं जिन्हें देख कर सरलता से बिना किसी प्रपञ्च के थोड़े समय में ही शारीरिक दशा का ज्ञान हो जाता है और औषध निर्णय में कठिनाई नहीं होती।

यही अपनाने योग्य मार्ग

यह केवल पुस्तक में लिखा ज्ञान नहीं। न केवल तर्क और अनुमान की कसौटी में ही खरा उतरने वाला है अपि तु प्रत्यक्ष भी है। जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप बताया गया है उस ऋतु में उस दोष को शान्त करने वाले आहार विहार से शान्ति मिलती है। स्वस्थ पुरुष में भिन्न दोषों को घटाने-बढ़ाने वाले आहार विहार ओषधि से वे दोष घटते-बढ़ते तथा उनके लक्षण शरीर पर प्रकट होते हैं। बढ़े हुए उन उन दोषों के लक्षणों को देख उनको शान्त करने वाले औषध, आहार, विहार से वे शान्त होते हैं।

यह त्रिकालाबाधित सत्य है। यही अपरिवर्तनशील-सिद्धान्त है जो किसी भी चिकित्सापद्धति का आधार बन सकता है। प्रत्येक आधुनिक औषध इसी कसौटी पर कसी जानी चाहिए। रस, गुण, वीर्य, विपाक के आधार पर इसका निर्णय होने पर ही इसका प्रयोग होना आवश्यक है तभी मानव-कल्याण सम्भव है। प्रयोगशालाओं की परीक्षा-नलिकाओं में सिद्ध या जन्तुओं पर किये गये प्रयोग मानव शरीर पर सफल नहीं हो सकते। आत्मा, मन, इन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत उन नलिकाओं में पकड़ कर

—शेषांश पृष्ठ ८३ पर।

चरक चिकित्सा के सिद्धान्त

लेखनकलाशिरोमणि चौ० तेजबहादुरसिंह D. I. M., S. B. I. M. S.
भूतपूर्व सम्पादक धन्वन्तरि इञ्जैक्शन विज्ञानाङ्क ।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥
एवं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति ।
समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं कुरुते क्रिया ॥
—चरक सूत्र० १६। श्लो०३३ ।

जिस क्रिया के करने से शरीरस्थ धातुएं साम्यावस्था में आजायँ, उस क्रिया को विकारों की चिकित्सा कहा जाता है। चिकित्सा कर्म वैद्यों का काम होता है जिस प्रकार भी शरीर की धातुएं विषम न होने पाएँ और जो विषम हैं वे साम्यावस्था में आजाएं, समस्त धातुओं की समता बनी रहे, इस अभिप्राय के हेतु चिकित्सा कर्म किया जाता है।

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः ।
देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥
—सूत्र० २० श्लो २६.

जो वैद्य रोग को भली प्रकार समझ लेता है, तथा सर्व प्रकार से ओषधियों के ज्ञान में भी कुशल है, और देशकाल का विचार कर चिकित्सा करता है उसको चिकित्सा में सिद्धि अवश्य ही मिलती है, इसमें संशय नहीं है।

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥
—सूत्र० २० श्लो० २४ ।

पहले रोग की परीक्षा करके फिर ओषधि की परीक्षा करे, फिर इन दोनों की भली प्रकार निश्चिति करके ज्ञानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।

महर्षि चरकाचार्य के चिकित्सा के सिद्धान्तों को जानने के लिए सम्पूर्ण चरक-शास्त्र का मन्थन करना होता है; फिर भी चरकसागर का सार सम्पूर्ण रूप से समझ में नहीं आपाता। यही इसकी गहन विशालता है। फिर अन्त में जो चिकित्सास्थान के तीस अध्याय दिये गये हैं. इन सबों में हमें केवल मात्र भिन्न-भिन्न रोगों की चिकित्सामात्र ही मिलती है; परन्तु अपने जिन सिद्धान्तों के आधार पर उत्तरार्द्ध के उस चिकित्सास्थान कल्प एवं सिद्धि स्थान की रचना एवं कल्पना की गई है, उनका वर्णन तो चरक के पूर्वार्द्ध में ही अधिकांश में मिलता है। इसको अन्य सिद्धान्तों से कोई प्रयोजन नहीं, केवल चिकित्सा के सिद्धान्तों से ही है। अतः हम एक क्रम से, अति संक्षेप में उनको पाठकों के सन्मुख रखने का साहस करेंगे।

सिद्धान्त शब्द से जो आशय हमने चरक के मतानुसार माना है वह चरक के ही शब्दों में इस प्रकार है। "सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्षितंहेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः ससिद्धान्तः" अर्थात् परीक्षा करके परीक्षकों ने जो निर्णय स्थापित किया हो, वही सिद्धान्त कहलाता है। इतनी परिभाषा से स्पष्ट है कि चरक के सभी सिद्धान्त जो हम आगे कहेंगे, अथवा जो भी चरक में यत्र तत्र पाठक देखेंगे, वे सभी परीक्षा की कसौटी पर असंख्य बार कसे जाकर स्थापित किये गये हैं। यों ही अललटप्प और बेसिरपैर के नहीं हैं। इन सिद्धान्तों को जानने के लिये हमें भी परम निष्ठा के साथ चरक द्वारा वन्दनीय वैद्य की तरह, और उनके आदेशों के अनुरूप होना आवश्यक है।

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।
जितहस्ताजितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥

ऐसा ही वैद्य प्राणाभिसर, रोगहन्ता, आयुर्वेदविद् कहा गया है। ये सिद्धांत ऐसे ही वैद्य के जानने के लिये हैं, इन सिद्धान्तों को जान लेने पर वैद्य सिद्धि प्राप्त कर

सकता है और वैद्य कहलाने का अधिकार उसको हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यह तो वैद्य और सिद्धान्तों की चर्चा संक्षेप में हुई, अब चिकित्सा को लीजिये, चरक की चिकित्सा का सूत्रपात जहां से होता है, और जहां से यह अवतरण हुई है उसका उल्लेख स्वयं चरकाचार्य ने इस प्रकार किया है।

तत्र भिषजा पृष्टे नैवञ्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या वेदोह्याथर्वणः स्वस्त्ययनवलि ' ' मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।

सूत्र ३० श्लो० १६।

सारांश यह कि अथर्ववेद ही आयुर्वेद की आत्मा माना गया है। क्योंकि अथर्ववेद में चिकित्सा वा निर्देश स्वस्तयन, बलिदान, मंगलकर्म, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, मन्त्रादि से किया गया है, तथा आयु के हितार्थ उसमें चिकित्सा का उपदेश किया गया है अतः यह स्पष्ट है कि चरक ने भी अथर्ववेद के अनुसार, उसी के सिद्धान्तों के आधार पर अपनी चिकित्सा विधि अपनाई है। और चरक के मत में सारांश रूप में—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥

सूत्र ६। श्लोक ३

अर्थात् विकृत धातुओं को चारों पादों (वैद्य औषधि परिचारक और रोगी) के उचित योग से साम्यावस्था में लाना ही चिकित्सा है। यह आयुर्वेद

[पृष्ठ ७७ का शेषांश]

समय के दुखी समाज के समुद्धारार्थ जो उपर्युक्त सदाचार और वैद्याचार का सुन्दर उपदेश दिया था और जिस प्रकार समुत्पन्न वासमुत्पत्स्यमनि रोगों की चिकित्सा अपनी संहिता में बतायी थी उसके अनुपालन करने से न केवल आचार्य चरक के शब्दों में—

दीर्घमायुर्यशः स्वास्थ्यं त्रिवर्गंचापि पुष्कलम्।
सिद्धिञ्चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिनापठन् ॥

(चरक० सिद्धि० अ० १२)

अर्थात्—दीर्घायु, यश, स्वास्थ्य, धर्म, अर्थ काम अनुत्तम सिद्ध को किंवा एक शब्द में धर्मार्थ काममोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त किया जा सकता है, अपि तु प्रसिद्ध अमेरिकन डाक्टर एच० कार्क के शब्दों में कि—"यदि आजकल की सम्पूर्ण औषधियों और रासायनिक प्रयोगों को छोड़कर हम चरक के मतानुसार चिकित्सा करें तो संसार में चिरकालीन रोगियों की संख्या और अकाल मृत्यु बहुत ही कम हो जाय" और हम ऐसा समाज बना सकते हैं, जिसमें रोग, शोक परिताप, वैषम्य आदि दुर्गुणों में से एक भी नहीं दीख पड़ेगा।

[पृष्ठ ८१ का शेषांश]

नहीं लाये जासकते जिनके साथ इनका साम्य हो सके। ये तो तर्क की कसौटी पर या त्रिकालज्ञान के आधार पर ही सिद्ध होते हैं। महर्षियों ने अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा सम्पादित त्रिकालज्ञान के आधार पर इन सिद्धान्तों तथा द्रव्यगुण का निर्णय किया है। इसी आधार को मानकर किसी भी चिकित्सा का मार्ग सफल हो सकता है। भले ही आधुनिक मन्त्र, तन्त्र, परीक्षण सहायक सिद्ध हों। इनसे परिज्ञान में सुविधा मिल सके किन्तु वे निर्णायक नहीं हो सकते। उनके निर्णय पर चलने से खतरा उठाना ही होगा। इसलिये आज की सारी खोज को यदि अभिशाप के स्थान पर वरदान बनाना है तो चरक की शरण जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।

मानवहित तथा रोगियों के कल्याण के लिये एकमात्र यही सुनिश्चित, चिरपरीक्षित एवं निर्दोष दृष्टिकोण तथा मार्ग है जिसके अभाव में बाह्याडम्बर से परिपुष्ट आधुनिक चिकित्साप्रणाली अपने उद्देश्य में प्रायः विफल आज भी चरकमुखापेक्षिणी है।

की चिकित्सा के सिद्धान्त का साररूप में एक निचोड़ है।

इससे भी अधिक चरक की चिकित्साशैली की एक और विशेषता है और वह यह है कि उन्होंने रोग होजाने पर उसकी चिकित्सा करने पर जोर देने की अपेक्षा स्वस्थदशा में आरोग्य की रक्षा का यत्न करने पर अधिक जोर दिया है।

विषमस्वस्थवृत्तानामेते रोगास्तथा परे ।
जायन्तेऽनातुरस्तस्मात् स्वस्थवृत्तपरो भवेत् ॥

ताकि स्वास्थ्य बना रह कर रोग होने का भय ही न हो। चिकित्सक और राज्य का यही कर्त्तव्य होने से रोगों के आक्रमण से जनता जनार्दन को पहले ही बचा लिया जा सकता है। परन्तु अब तो पहले रोग को उदय होने दिया जाता है, फिर उसका प्रादुर्भाव होते ही उसकी चिकित्सा के लिये सरकार और चिकित्सक प्रयत्नशील होते हैं। यही कारण है वर्ष में बारम्बार होने वाले रोगों को हम नष्ट नहीं कर पाये हैं, और जिन देशों में चरक के उपरोक्त सिद्धान्तों का अनुकरण एवं पालन किया गया है जैसे अमेरिका वहीं पर बहुत से रोग जैसे विशूचिका इत्यादि का बीसियों वर्ष हुए लोप हो चुका है। और वहां के निवासियों की आयु का अनुपात भी बढ़ गया है, वहां पर रोगोत्पत्ति से पूर्व ही स्थान, जल, वायु, खान-पान की सामग्री की तथा मनुष्यों के स्वास्थ्य की शुद्धि की उत्तमता पर ही अधिक व्यय होता है। चरकाचार्य के उपदेश स्वस्थ एवं आतुर दोनों के लिये आयु सम्बन्धी सभी दशाओं को ठीक रखने के लिय विस्तार से यत्र तत्र दिये हुए हैं। और अन्त में चरक ग्रंथ के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए, अर्थात् जिस हेतु यह ग्रंथ रचा गया है उस अभिप्राय का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है,

धातु साम्य-क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥

सारांश धातु-साम्य करण ही चरक का ध्येय है। रसरक्तादि की साम्यावस्था तथा दोषों को साम्यावस्था में रखने की ही आवश्यकता पर अधिक जोर उन्होंने दिया है। इसके लिए चिकित्सक को चिकित्सा के सिद्धान्तों को जानने से पूर्व हेतु, लिंग औषध ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य रूप से परमावश्यक है। क्योंकि इन्हीं के ज्ञान से चिकित्सा में सिद्धि प्राप्त होती है।

हेतु (causes) लिंग (symptoms,) औषधि (materia medica (pharmacology & therapeutics) के ज्ञान के बारे में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं और न यह हमारे विवेचन का विषय ही है। परन्तु उनका विशेष ज्ञान हुए बिना चिकित्सा में प्रवृत्ति निष्फल और व्यर्थ ही होती है। ये भी तभी काम दे सकते हैं जब रोगोत्पत्ति होजाए, वैसे तो स्वस्थ दशा में "त्रयउपस्तम्भ" अर्थात [आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य] के उचित पालन से बल वर्ण और आयु की वृद्धि होगी, और रोग नहीं होगा (चरक) यह विषय स्वस्थवृत्त (hygiene) का है, परन्तु स्थूल सिद्धान्त रूपमें है। चिकित्सक को चिकित्सा क्षेत्र में इससे भी अनभिज्ञ नहीं रहना चाहिए।

ये तो हुई आयुर्वेद के सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों की बात, अब उन रोगों को संक्षेप में लेते हैं जिनके कारणों से चिकित्सा सिद्धान्तों का गहन सम्बन्ध है इनके जाने बिना चरकचिकित्सा जानना भी नितान्त असम्भव है। संक्षेप में, रोग शारीरिक आगन्तु एवं मानसिक तीन प्रकार के माने गए हैं। इनकी चिकित्सा-विधि भी भिन्न है।

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैव्ययुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसोज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥

—सूत्र. १। श्लोक ५६।

शारीरिक, आगन्तु व्याधि की चिकित्सा तो औषधि द्वारा एवं मानसिक रोगों की ज्ञान विज्ञान, धैर्य, स्मृति समाधि द्वारा करनी चाहिए। मानसिक व्याधि [रज, एवं तम] के कारण उत्पन्न मानी गई है। यही उस समय की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा थी जिसे आजकल psychiatry कहते हैं, और इस प्रकार की चिकित्सा करने वालों को psychiatrist कहते हैं। ये केवल मानसिक व्याधियों की ही चिकित्सा

करते हैं। चरक के इस प्रकार के साधनों में और आजकल के साधनों में विशेष अन्तर है, रोगी को समाधि तक की शरण लेने की व्यवस्था उस युग का वैद्य समाज करता है। आज चरक के ये साधन स्वप्न और स्वयं चिकित्सक की समझ में आने ही असम्भव हैं। हमें ज्ञान विज्ञान, धैर्य,स्मृति, समाधि की व्याख्या से प्रयोजन नहीं है।

यहीं पर इस सिद्धान्त का अन्त नहीं होजाता है। अपि तु एक कदम और आगे बढ़ने का भी संकेत है जहां पर मानसिक व्याधियों के प्रतिकार का साधन और सिद्धान्त दिया है।

मानसं प्रति भैषज्य त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनाञ्च सर्वशः॥
—सूत्र ११। श्लोक १२।

यहां मानस रोगों का उपाय त्रिवर्ग [धर्म-अर्थ-काम] का उचित सेवन माना गया है। यह मन पर प्रभाव डालने वाले उपाय हैं, जिनसे ज्ञान विज्ञानादि का उदय मन में होजाता है। अस्तु

चरक चिकित्सा की दूसरी विशेषता यह देखने में आती है कि उन्होंने रोगियों को साध्य, याप्य कष्टसाध्य और असाध्य में विभक्त करके असाध्य रोगियों की चिकित्सा न करने का आदेश यत्र तत्र दिया है, उनका कहना है कि असाध्य रोगी की चिकित्सा करने से वैद्य

अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥
सूत्र १०। श्लोक ६।

अर्थात्—असाध्य रोगी की चिकित्सा करने से वैद्य का स्वार्थ, विद्या, यश की हानि होकर अपयश फैलता है, और उद्योग व्यर्थ जाता है, अतः असाध्य में यत्न करना वृथा है। हमें उसकी अलोचना करने का अधिकार यद्यपि नहीं है। फिर भी इतना कहे हुए विना नहीं रह सकते कि आज के युग में अनेकों नवीन उपचारों के बल पर चरक सम्मत असाध्य लक्षणों को याप्य साध्य और सुख साध्य सम्भव बना लिया गया है। इसमें शल्यकर्म का भी सहारा लिया जाता है। इतना कहने पर ही यह बात यहां समाप्त नहीं होती, चरक महाराज ने इन्द्रियस्थान में अरिष्ट लक्षणों का उल्लेख करते हुए बारम्बार असाध्य रोगियों को त्यागने, उनके अवश्य मृत्यु को प्राप्त होने की भविष्यवाणी करते हुए स्पष्ट वाक्यों में उन्हें त्याज्य घोषित कर दिया। और अध्याय के अध्याय इसी ओर अधिक बल देने के निमित्त रच डाले हैं। क्योंकि उनकी सम्मति में—

नत्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते।
मरणञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्ट पुरः सरम्॥
इन्द्र २। श्लोक ३

अर्थात्—मृत्यु विना अरिष्ट लक्षणों के नहीं होती और कोई अरिष्ट ऐसा नहीं है जिसका परिणाम भी अवश्य मृत्यु न हो। अतः चिकित्सा त्यागने का आदेश है ताकि वैद्य के यश और श्रम की हानि न हो। जब असाध्य को त्याग दिया जायगा तब साध्य कष्टसाध्य एवं याप्यसाध्य ही रोगों की चिकित्सा का उल्लेख चरक में है असाध्य का नहीं इनकी चिकित्सा विधि ही चरक के चिकित्सा स्थान के तीसों अध्यायों में की गई है जिसको महर्षि आत्रेय ने अपने अनुभव के आधार पर सिद्धान्त रूप में इस प्रकार वर्णित किया है:—

इदं चे दं चनः प्रत्यक्षं-यदनातुरेण भेषजेनातुरं मुपचारामः। क्षाममक्षामेण कृशं च दुर्बलमाप्याययामः॥ स्थूलं मेद स्विनमपतर्पयामः। शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून्पूरयामः। व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः। व्याधीन्मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः। तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति॥ —सूत्र १०। श्लोक ६-७

अर्थात्—"यह साक्षात अनुभव है कि हम रोगी को रोग से विपरीत गुणवाली औषधि से और 'कम शक्ति वाली औषधि से चिकित्सा कर लेते हैं। इसी प्रकार कमजोर और दुर्बल को तर्पण औषधि द्वारा पुष्ट करते हैं, स्थूल और मेद वाले को रूक्षण

कर कृश कर लेते हैं। तथा उष्ण विकार शीतल क्रिया द्वारा शीत से पीडित को उष्ण क्रिया द्वारा आरोग्य लाभ देते हैं। यदि रसरक्तादि धातुएँ क्षीण होगई हों तो औषधि द्वारा बढ़ा देते हैं। बढ़ी-हुई हों तो कम कर देते हैं, यदी धातुएँ विषम होगई हों तो साम्यावस्था में लाकर ठीक कर देते हैं। रोग के कारण से विपरीत चिकित्सा कर रोग मुक्त कर उस प्राणी को स्वस्थ कर देते हैं; रोगानुसार चिकित्सा करने पर ही हमारी चिकित्सा परम लाभदायक होती है।

ये सामान्य सिद्धान्त रोगोन्मूलन के भगवान् आत्रेय जी के द्वारा कहे गये हैं,ये हैं असाध्य को छोड़ शेष साध्य रोगों के लिए। क्योंकि आगे निदानस्थान में 'नासाध्यः साध्यतां याति' असाध्य साध्य नहीं हो सकती, परन्तु 'साध्योयाति त्वसाध्यताम्' साध्य असाध्य हो सकते हैं, कहकर कहा है कि—

परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते।

असाध्य किसी भी चिकित्सा द्वारा साध्य नहीं हो सकता। कितना सुनिश्चित सिद्धान्त! असाध्य एवं अरिष्टयुक्त रोगी को त्याग दिया जाय! कोई भी आधुनिक चिकित्सक इस पर गम्भीर शङ्का उठाए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि जैसा हम पहले कह आए हैं अनेकों रोगों के लक्षणों को जिन्हें चरक ने असाध्य घोषित कर दिया है, आधुनिक चिकित्सा सुखसाध्य करने में सफलता प्राप्त कर रही है। ऐसे स्थानों पर चरक एक श्लोक कहकर बात को बना लेते हैं।

इमानि लिंगानि नरेषु बुद्धिमान्निशामयेतावहितो मुमूर्षुषु।
क्षणेन भत्वा ह्युपयान्ति कानिचिन्न चाफलं लिंगमिहास्ति किञ्चन॥

—इन्द्रिय ८। श्लो २५।

अर्थात् बहुत से लक्षण (अरिष्ट के) ऐसे हैं जो बार बार आते हैं और नष्ट होजाते हैं, और बहुत से ऐसे हैं जो एकबार आकर फिर मृत्यु के ही साथ जाते हैं, सारांश यह कि चिकित्सा करनी ही चाहिए। सम्भव है कि वह असाध्य लक्षण क्षणिक देर रहने वाला हो।

अब हम चिकित्सा के अन्य सिद्धान्तों की ओर आते हैं। चरक ने जहां भूत भविष्यत् की चिकित्सा का वर्णन किया है (शारीर०) वहां इन रोगों को जानने की भी विधियाँ दी हैं, अस्तु उनको यहां देना असंगत है, अब हम सर्वप्रथम रसरक्तादि धातुगत रोगों की चिकित्सा के सिद्धान्तों को लेते हैं। क्योंकि ये आहारजन्य अथवा आहारोपरान्त होने वाले रोगों की श्रेणीमें आते हैं अतः इनको ही सर्वप्रथम लेते हैं—

रस रक्तगत विकारों में चिकित्सा सिद्धान्त—

रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम्।
विधशोणितकेऽध्याये रक्तजानां भिषग्जितम्॥

—सूत्र २८। श्लो २८।

अर्थात्—रसजन्य विकारों में लंघन कराना ही सर्वोत्तम औषधि है, और रक्तजनित रोगों में विध शोणितीयाध्याय में वर्णित चिकित्सा द्वारा उपाय करने चाहिए। पाठक वह देखलें।

मांस मेदजनित विकारों में—

मांस जानान्तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म्म च।
अष्टौनिन्दितिकेऽध्याये मेदोजानां चिकित्सितम्॥

—सूत्र २८। श्लो २९।

मांसजनित विकारों में शोधन, शस्त्रक्रिया, क्षार कर्म द्वारा चिकित्सा करना चाहिए, और मेदजनित विकारों में अष्टौनिन्दितीय अध्याय में वर्णित चिकित्सा के आधार पर चिकित्सा करनी चाहिए।

अस्थिगत विकारों में—

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पंचकर्माणि भेषजम्।
वस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥

—सूत्र २८। श्लो ३०

अस्थिगत् विकारों में पञ्चकर्म, तिक्तकगण एवं दूध और घृत की वस्तियों के प्रयोग द्वारा (साधित घृत एवं क्षीर) चिकित्सा करनी चाहिए।

मज्जा-शुक्रगत विकारों में—

मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम् ।
अन्नं व्यवाय व्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥
—सूत्र २८ । श्लो ३१ ।

मज्जा और शुक्रगत रोगों में मधुर और तिक्त औषधों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। एवं हित अन्न, उचित मैथुन व्यायाम और समय पर संशोधन उचित मात्रा में कराना चाहिए।

इन्द्रियजनित रोगों की चिकित्साविधि पठकों को इसी विशेषांक में त्रिमर्मीय चिकित्सित अध्याय में वर्णित विधि देखना चाहिए। इनके अतिरिक्त स्नायु शिरा कण्डरा के विकारों की चिकित्सा वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में वर्णित चिकित्सा के आधार पर और मलजनित विकारों का उपाय वर्णित वेगान् धारणीय अध्याय में पठक देखें। यहां तो संकेतमात्र ही है. हम यदि यहां वह सब लिखने बैठें तो लेख का कलेवर बढ़ जायगा अतः पठकगण उन-उन अध्यायों में इनकी चिकित्सा विधियों को देखने का कष्ट करें।

धातुगत रोगों की चिकित्सासूत्रों के उपरान्त हम दोषों की (वात, पित्त, कफ) विकृति के कारण उत्पन्न रोगों एवं विकृत दोषों की चिकित्सा विधियों को लेते हैं। इनमें सामान्य चिकित्सा विधि जो चरक ने दी है वह यह है।

'प्रायस्तिर्य्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ।
तेषु न त्वरया कुर्य्याद्देहाग्निबलवित् क्रियाम् ॥
प्रयोगैः क्षपयेद्वा ता सुखं वा कोष्ठमानयेत् ।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान्यथास्वं तं हरेद्बुधः ॥
—निदान ८ । श्लो ३७ ।

प्रायः दोष तिर्यक्गामी होने से रोगी को बहुत दिनों तक दुखी करते हैं उनमें देह अग्नि बल की परीक्षा करके चिकित्सा करने वाला वैद्य जल्दबाजी से काम न ले। ऐसे समय में जबकि दोषतिर्यक्गामी होगए हों औषध के प्रयोग से उनको शनैः शनैः उनके अपने अपने कोष्ठों में ले आना चाहिए। कोष्ठों में ले आने के उपरान्त उनको जिस प्रकार वे निकाले जाते हैं (वात को स्नेहन, पित्त को रेचन, एवं कफ को वमन द्वारा) उनको निकाल डालना चाहिए।

अब हम प्रत्येक दोष की सविस्तर चिकित्सा विधि लेते हैं। चरक में वात रोगों के जो सामान्य चिकित्साक्रम हैं वे इस प्रकार हैं।

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमत् । स्वेद स्नेहास्थापनानुवासननस्तः कर्म भोजनाभ्यङ्गोत्सादन परिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्राकालञ्च प्रमाणीकृत्यास्थापनानुवासनन्तुखलु सर्वथोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ॥'
—सूत्र २० । श्लोक १४

वात विकारों में मधुर अम्ल लवण स्निग्ध और उष्ण द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक, स्वेदन, स्नेहन, आस्थापन, अनुवासन, नस्यकर्म, उष्णस्निग्ध भोजन, अभ्यंग, उत्सादन, और परिषेकादि से मात्रा एवं काल को विचारकर वात विकारों को जीतना चाहिए। वातनाशक समस्त उपायों में वैद्य आस्थापन और अनुवासन बस्तिकर्म को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

यह वातविकारों को शमन करने का उपाय दिया है इसके अतिरिक्त एक स्थान पर और भी हमें उपाय मिलते हैं। जोकि औषध आहार विहार सम्बन्धी सिद्धान्तों से और भी महत्व के हैं।

स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि तद्वदभ्यवहार्य्याण्युपनाहनो पवेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडनवित्रासन विस्मापनविस्मारणानि (psychiatry) सुरासव विधानं स्नहाश्चनेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयोपहिताः तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशः प्रयोगार्था बस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता चेति । विमान ६ । श्लोक। २०

पीछे से वात प्रसंग चल रहा है. उसी सिलसिले में यह वर्णन है वायु को जीतने के लिये वातहर स्नेहन और स्वेदन क्रिया विधि पूर्वक करनी चाहिए तथा चिकने गरम मधुर खट्टे लवण युक्त

पदार्थों द्वारा मृदु संशोधन करे। चिकने गरम आहार खिलावे, वातनाशक लेप, बंधन, मर्दन, परिषेक, अवगाहन, संवाहन और पीड़न, वित्रासन, विस्मापन, विस्मारण मद्य एवं आसव अनेक वातनाशक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। वातनाशक स्नेहपाकी घृत एवं तैलों का सेवन कराना चाहिए। अथवा वातनाशक द्रव्यों से सौ अथवा सहस्रबार साधित तैल घृत एवं तैलों द्वारा वस्ति प्रयोग या अन्य सुखकारी प्रयोग उपचार करके वायु को शमन करना चाहिए।

इसका फल क्या होगा और किस प्रकार ये वात नाशक प्रयोग वायु के विकार को दूर करेंगे इसकी भेपजविज्ञानीय (Pharmacological) व्याख्या इस प्रकार की है।

तदादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलंछिनत्ति। तत्रावजिते वातेऽपिशरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा वनस्पतेर्मूलेछिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफल पलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्।

—सूत्र २०। श्लोक १५

क्योंकि आस्थापन एवं अनुवासन से प्रयुक्त औषध कर्म पक्वाशय में प्रविष्ट होकर विकार करने वाले वायु को आमूल नष्ट कर देती हैं। जब पक्वाशयगत वैकारिक वायु नष्ट होजाता है तब जैसे वृक्ष की जड़ काट देने से उसके टहनियां अवरोह फूल पत्ते इत्यादि नष्ट होजाते हैं वैसे ही शरीरान्तर्गत वातविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं।

इसी लिये वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में मूल रूप में वातज विकारों को शमन करने का यह सिद्धान्त देदिया है।

केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जापानैर्नरंततः॥

वायु की विशेष चिकित्सा, तथा चिकित्सा का विस्तृत भेपजविज्ञान द्रव्य गुण प्रभाव के लिये पठक इसी विशेषांक में वातव्याधि चिकित्सास्थान में दिये गए श्लोक ७२ से १०२ तक को देखें और मनन करें, पुनः उनको यहाँ लिख कर लेख को बढ़ाना ठीक नहीं, यद्यपि उनका यहां उल्लेख अत्यावश्यक ही है, पठक वहां देख लें। क्योंकि वहां पर विस्तार से और विशेष रूप से उन सिद्धान्तों का उल्लेख है।

अब हम पैत्तिक विकारों को शान्त करने के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं।

तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेह विरेकप्रदेहपरिषेकावगाहादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य विरेचनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधान तमं मन्यन्ते भिषजः॥

—सूत्र २०। श्लो० १६

पैत्तिक्य विकारों की चिकित्सा मधुर कडुवे, कषैले और शीतल द्रव्यों द्वारा करनी चाहिए। पित्त को शमन करने वाले स्नेहन विरेचन प्रलेप परिषेक अभ्यंग अवगाह द्वारा मात्रा काल विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए। पित्तनाशक सम्पूर्ण चिकित्साओं में विरेचन सब से उत्तम चिकित्सा मानी गई है।

उसको और भी विस्तार से स्पष्ट करते हुए विमानस्थान अ० ६ में स्पष्टीकरण करते हुए कहा-है।

तस्यावजयनम्—सर्पिष्पानं सर्पिषा च स्नेहनमधश्च दोषहरणं मधुरतिक्तकषायशीतानाञ्चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगोमृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानाञ्चोपसेवा मुक्तामणिहारावलीनाञ्च परम शिशिर वारिसंस्थितानां धारणमुरसा क्षणे क्षणे चाग्र्यचन्दन प्रियंगुकालीयमृणालशतवातवारिभिरुत्पलकुमुद कोक····· सौम्यानां च सर्वभावानामिति॥

—विमान ६ श्लो० २३।

यह और भी विस्तार से पैत्तिक विकारों को शमन करने का उपाय है; इसमें औषध आहार विहार का सुन्दर संकलन किया गया है, अनेकों उपायों के समूह तो पैत्तिक शान्ति के निमित्त चरक

के चिकित्सा में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं वे इन्हीं में से किसी न किसी रूप में हैं।

इनके उपयोग और विशेषकर पित्त विकारों में विरेचन के प्रयोग से जो भी भेषज-विज्ञान चरक ने लिखी है वह भी देखिये। नीचे का श्लोक विरेचन के लिये ही विशेष करके है।

तद्ध्यादितएवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलञ्चापकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहञ्चशीती भवति तद्वत् ॥

—सूत्र २० श्लो २०।

विरेचक औषध आमाशय में पहुंचकर वैकारिक पित्त को जड़ से उखाड़ कर विरेचन द्वारा निकाल देती है, और आमाशय में बढ़े हुए पित्त को जीत लेने पर शरीरान्तर्गत (generalised) पित्त विकार शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि के नष्ट होने से अग्नि का स्थान भी स्वयं शीतल हो जाता है।

इसके अतिरिक्त चिकित्सा स्थान में जगह जगह पाठकों को पित्तशान्ति के अन्य सामान्य एवं विशेष रोग निमित्त सिद्धान्त पढ़ने को मिलेंगे, उनको यहां देने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि सब उपरोक्त सिद्धांतों के ही अनुरूप और प्रकार से ही हैं।

अब तीसरा दोष कफ का रह जाता है, उसका विकार शान्त करने के लिए जो सिद्धान्त मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :—

तं कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत् स्वेदनवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य। वमनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः।

उस कफ को कटु तिक्त कषाय, तीक्ष्ण, उष्ण तथा रूक्ष उपायों द्वारा शान्त करे। स्वेदन वमन शिरोविरेचन व्यायाम आदि कफनाशक उपायों से काल और मात्रा का विचार करके चिकित्सा करे। कफनाशक सभी उपायों में वैद्यजन वमन को ही सर्वोत्तम मानते हैं, क्योंकि इसके अतिरिक्त :—

तस्यावजयनम् विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्य्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि तथैव धावनलंघनप्लवनपरिसरणजागरणानि युद्धव्यवाय-व्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां मद्यानामुपयोगः सर्वशश्चोपवास-स्तथोष्णवासः सधूमपानः सुख प्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥

—विमान ६ श्लो० २६।

कफ को जीतने के लिये अनेक प्रकार के विधिपूर्वक तीक्ष्ण और उष्ण संशोधनों को करे, प्रायः-रूक्ष पदार्थों का कटुतिक्तकषायरस वाले आहार करे। भागना लंघन, उछलना, कूदना इत्यादि विहारों का पालन करे, इससे कफ शान्त होता है। वैसे सामान्यतया कफज विकारों में वमनकर्म सर्वश्रेष्ठ है इससे:—

तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति।

क्योंकि वामक औषध प्रथम ही आमाशय में प्रवेश करके वैकारिक कफ को जड़ से उखाड़ फेंकता है (और फिर शरीरान्तर्गत कफज विकार स्वयं शान्त होते चले जाते हैं)

ये संक्षेप में दोषों के विकारों को शान्त करने के उपाय और सिद्धान्तों का वर्णन किया है, और अब अन्य स्थानगत विकारों की चिकित्सा के सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। प्रथम हम स्रोतों के दूषित हो जाने पर चिकित्साविधि लेते हैं। ये सिद्धान्त यत्र-तत्र मिलते हैं। अतः प्राणवाही, जलवाही, एवं अन्नवाही स्रोतों के दूषित होने पर :—

प्राणोदकान्नवहानां दुष्टानां श्वासकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोपिकी ॥

अर्थात्—प्राणवाही, जलवाही, अन्नवाही स्रोतों के दूषित होने पर प्राणवाही में श्वासरोग के समान, जलवाही स्रोतों के दूषित होने पर तृषानाशक, और अन्नवाही स्रोतों के दूषित होने पर आमदोषनाशक

चिकित्सा करने से लाभ होता है।

रसरक्तादि धातुओं के वहन करने वाली स्रोतों के दूषित होने पर—

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
दूषितस्रोतसां कुर्यात्तद्यथास्वमुपक्रमम्॥

के अनुसार, विविधाशितपीतीय अध्याय में वर्णित चिकित्सा जोकि रसरक्तादिकों की है, उसी क्रम से करने से लाभ होता है। इसका उल्लेख हम इसी लेख में पीछे कर आए हैं, यहां पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त मूत्रमल स्वेद-वाहक स्रोतों के दूषित होने पर—

मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी।
तथातिसारकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सकी॥

मूत्रवाही स्रोतों के दूषित होने पर मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा के समान, मलवाही स्रोतों के दूषित होने पर अतिसार रोग की चिकित्सा के समान और स्वेदवाही स्रोतों के दूषित होने पर ज्वर के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

ये सामान्य सिद्धांत दोषधातु एवं स्रोतों के दूषित होजाने पर, उनकी चिकित्सा करने के विषय में हैं, इनके अतिरिक्त और भी असंख्य छोटे-मोटे सिद्धांत हैं जिनको पृथक् पृथक् द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक अवस्थाओं में लागू किया जाता है। इनके मूलसिद्धान्त सभी ऊपर के लिखे गए विधानों में आगये हैं। मनन करने और विचार करने के लिये तो और भी बातें जाननी आवश्यक हैं, जिनके बिना चिकित्सा में सिद्धि नहीं मिलती, अतएव जब तक वैद्य इनको नहीं जानेगा तब तक वह अधिकार-पूर्ण रूप से चिकित्सा नहीं कर सकता। और वे हैं:—

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिमाणमथापि च॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान्प्रवक्ष्यते॥

अर्थात् परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग-विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास इन सबों का उचित मात्रा में ज्ञान जब तक वैद्य को नहीं होगा तब तक उसे चिकित्सा में सिद्धि नहीं मिलती।

यही आजकल के clinical methods, एवं रोग निश्चित औषध, व्यवहार इत्यादि का चरककाल में दूसरा रूप था, जिसके सहारे प्रथम रोग एवं उपचार और प्रयुक्त होने वाली औषध की परीक्षा करके तब रोगी को रोगमुक्त करने का परिश्रम किया जाता था। आज इनको कोई नहीं करता और ये सब बातें ग्रन्थों में केवल विद्यार्थियों को रटने, एवं परीक्षकों को परीक्षा लेने मात्र के लिये शेष रह गई हैं, इनका व्यवहारिक ज्ञान लोप होगया!! इसी से कहा है:—

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्चदोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिंगोपशान्तिषु॥
—सूत्र २६ श्लोक ४२।

जो वैद्य रसों के विकल्पों को जानता है और (रोगों के) दोषों के विकल्प को जानता है वह रोग-निदान, लक्षण, उपाय करने में मोह को प्राप्त नहीं होता। अस्तु,

हमने संक्षेप में सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है, जिनका जानना एक वैद्य कहलाने वाले को परमावश्यक है, इसके अतिरिक्त अर्थात् रोगी की चिकित्सा कर उसे निरोग करने के अतिरिक्त चरक महाराज ने स्वस्थ मनुष्य को और अधिक दीर्घायु, स्मृति, मेधा आरोग्यता, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर और उदारता इनकी प्राप्ति के भी देह और इन्द्रियों के बल की प्राप्ति, वाक्सिद्धि, योग्यता, और कान्तिदायक, रसादि धातुओं की वृद्धि करने के उपाय जिसे रसायन चिकित्सा कहते हैं। का भी वर्णन चिकित्सास्थान के प्रथम अध्याय में, जिसकी सम्पूर्ण टीका और कलेवर आचार्य रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी ने इसी विशेषांक में की है, मिलता है।

चरक की चिकित्सा शैली

आचार्य शिरोमणि श्री पं० विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदशास्त्राचार्य
वाइसप्रिंसीपल स्टेट आयुर्वेद कालेज मकबूलगंज, लखनऊ।

महर्षि चरक की चिकित्सा शैली पर विचार करते समय हमें उस प्राचीन शैली की तरफ आकृष्ठित होना पड़ता है जो कि महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के सम्प्रदाय के द्वारा परिचालित थी। और महर्षि आत्रेय के शिष्य वर्गों ने अपनाकर अपने नाम से संहिताओं के रूप में साहित्य सृजन किया। जिनमें अग्निवेशसंहिता एक थी और महर्षि चरक ने उसका प्रतिसंस्कार करके चरकसंहिता संज्ञा दी थी। अतः इसमें की परिचालित शैली स्वतः चरक की नहीं अपितु आत्रेय सम्प्रदाय की शैली है।

प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से लिखी गई यह प्रणाली, सार्वभौम आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली की उपादेयता, वैज्ञानिकता, तथा क्रमबद्धता की पोषिका है। इसके सिद्धान्त, इसके विचार, इसके प्रयोग, इसकी युक्तियाँ यह सर्व प्राचीन चिकित्सा प्रणाली की परिपूर्णता की पोषिका हैं। इनका ही विवरण हम नीचे देने की चेष्टा कर रहे हैं—

मानवसृष्टि का इतिहास, उसका प्रसार और उसके कल्याण की भावना से उत्पन्न आयुर्वेद प्रत्येक दृष्टिकोण से चिकित्सा के सिद्धान्त की पूर्ति में अपनी समता रखता है। चिकित्सा के पुंजीभूत दो प्रधान लक्ष्य चरक में दृष्टिगोचर होते हैं:—

(१) स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्य रक्षा (२) रोगी के रोग का निवारण। इन दो सिद्धान्तों की पूर्ति में चरक के साहित्य की प्रौढ़ता को हम निम्नलिखित दृष्टि से देखते हैं:—जहां तक स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्यरक्षा का प्रश्न है चरक की प्रथम जिज्ञासा दीर्घजीवन प्राप्त करने की विधि का, व स्वस्थपुरुष के नियमावली के संकलन का संबन्ध प्रकट करता है। अत 'दीर्घ जीवितीयमध्याय व्याख्यास्यामः' यह प्रथम प्रतिज्ञा है। इस निमित्त सूत्रस्थान में—स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का पूर्णरूप से विवरण दिया गया है। दिनचर्या, ऋतुचर्या, रात्रिचर्या व व्याधित होने के मूलभूत विषय हिताहित आहार, विहार, इनकी कमी से होने वाले रोग, उनका परिमार्जन, चिकित्सा के सूत्रों का परिचय उनका प्रयोग तथा सद्वृत्त की शिक्षा देकर शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लक्ष्य की पूर्ति का विवरण दिया गया है।
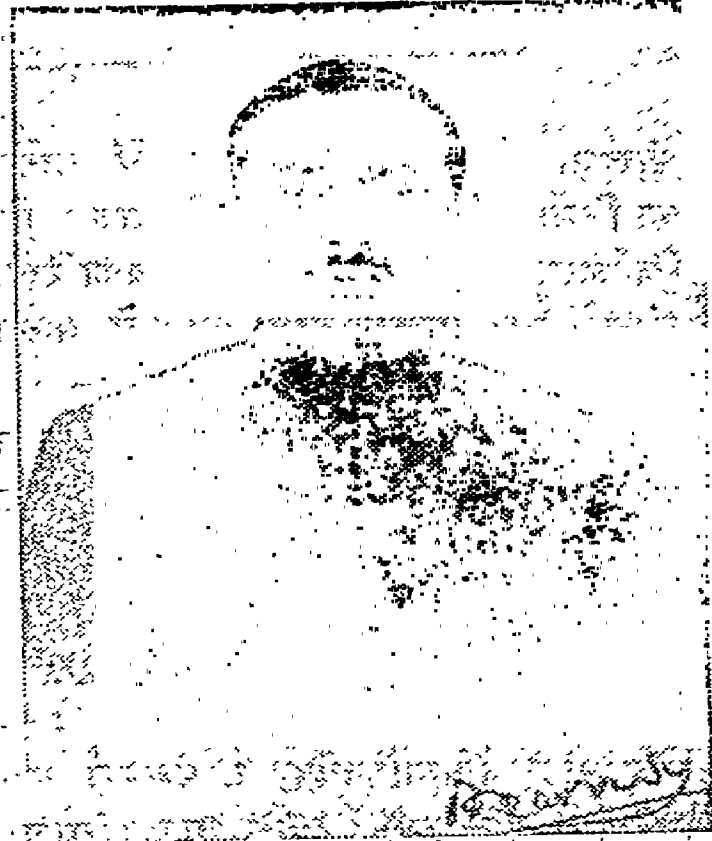
व्याधित के व्याधि परिमोक्षार्थ-विभिन्न चिकित्सा प्रणालियों का संकलन भी दृष्टिगोचर होता है। इस निमित्त चरक की शैली में अपनापन है, विचार गांभीर्य है साथ ही साथ वैज्ञानिकता के प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार कर मानवता की रक्षा का—उपदेश दृष्टिगोचर होता है। व्यापारिकता, मानव जाति की उपेक्षा और आत्मार्थ चिकित्सा सीखने का निर्देश कहीं नहीं होता, जैसा कि आज के माडर्न साइंस-आफ मेडिसिन में दिखाई पड़ता है।

चरक ने कभी भी चिकित्सा से व्यापारिक दृष्टिकोण नहीं रखा है। यहां मानव जाति के कल्याण की भावना है। आयुर्वेद सीखने की इच्छा रखने वालों को त्याग व तपस्या की भावना लेकर चिकित्सा में प्रेरित होने का उपदेश चरक में दृष्टिगोचर होता है। यह उपदेश आधुनिक चिकित्सकों को चरक से

सीखना पड़ेगा। अतः चरक में प्रत्येक दिशा से व्याधिमोचणार्थ उपक्रम निश्चित किये गये हैं चिकित्सा के निमित्त जिन अधिकारियों, साधनों व संभारों की आवश्यकता है चरक ने प्रतिपादित किया है। क्रमशः इन पर प्रकाश डालेंगे:-

आतुरालय चिकित्सार्थ आतुरालय या हास्पिटल का होना आवश्यक है अतः चरक ने कई प्रकार के आतुरगृहों का विवरण दिया है। यथा-

१-सामान्य आतुरालय २-राजार्ह या राजमान्य आतुरालय ३-प्रसूतगृह ४-कौमारगृह ५-मानस रोगी गृह, ६-रासायनगृह (कुटीर) ७-वारागृह ८-स्वेदनगृह (जेन्ताकस्वेद) ९-पंचकर्म भवन (वमन-विरेचन वस्तिगृह) १०-पशुगृह (गौशाला) ११-पक्षिगृह १२-उपवन १३-परिचारकगृह १४-चिकित्सकगृह १४-औषधभण्डारगृह १५-औषधनिर्माण गृह (कल्पनिर्माण गृह) प्रत्येक के संभार के संग्रह का क्रम--भी बतलाया है जिनमें छोटी छोटी आवश्यक वस्तुओं को लेकर उत्तमोत्तम प्रशस्त यंत्रशस्त्रादि जलौका औषध के संग्रह का होना निर्दिष्ट है।

चिकित्साकर्म में प्रयुक्त होने वाली संज्ञाओं का निरूपण जो अभी भी आज की वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति नहीं पासकी है। यह उस समय प्रचलित थी जब कि आधुनिक चिकित्सा का कहीं नामोनिशान तक न था। इसकी दो प्रकार की संज्ञावली है:—

१—जोकि क्रिया कर्म संबन्धी है—

२—जो औषधिगुणधर्म प्रदर्शक है।

क्रियाकर्म सम्बन्धी —

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, लंघन, नस्य,तर्पण,अपतर्पण, कवल, गण्डूष, धूम्रपान,प्रतिसारण,पिण्डी,आश्च्योतन, अंजन,पूरण, परिषेचन, प्रलेपन,संशोधन,संशमन, बृंहण, स्तम्भन, स्वेदन, वस्ति, स्नेहवस्ति, अनुवासनवस्ति, उत्तरवस्ति, पिच्छावस्ति, लेखन, विरंजन, पुटपाक (स्नेहन लेखन-प्रसादन-रोपण) शिरोवस्ति, सवर्णीकरण, कृष्णीकरण, रंजन-स्नान, अभ्यंग,व्यायाम, उद्वर्त्तन, उद्घर्षण, आदि अनेकों कर्मों का निर्देश किया गया है।

२—औषधिगुणधर्म संबन्धी—

जीवनीय, बृंहणीय, लेखनीय, भेदनीय, संधानीय,दीपनीय,वर्ण्य,कण्ठ्य,बल्य,हृद्य, तृप्तिघ्न,अर्शोघ्न, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न क्रिमिघ्न, विषघ्न. स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, शुक्रजनन, शुक्रशोधन, स्नेहोपग, स्वेदोपग, विरेचनोपग, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग, शिरोविरेचनोपग, छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, हिक्कानिग्रहण, पुरीष विरजनीय, पुरीषसंग्रहणीय, मूत्रविरेचनीय, मूत्रसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, कासहर, श्वासहर, शोथहर, ज्वरहर, श्रमहर, दाहप्रशमन, शीतप्रशमन, उदर्दप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन, शूलप्रशमन, शोणितस्थापन, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन, प्रजास्थापन, वयःस्थापन, रसक्रिया इत्यादि। चिकित्सकगण इन शब्दों के अर्थ, परिभाषा और प्रयोग से अच्छी तरह परिचित हैं अतः इनकी व्याख्या व्यर्थ है। उस समय का ध्यान कीजिये जब किसी देश में चिकित्साविज्ञान तथा भारतीय चिकित्सकों ने इतने क्रियार्थ व गुणवाची शब्दों के साथ साथ इनका क्रियात्मक प्रयोग अनुभव व व्यवहार करके भारतीय चिकित्साविज्ञान की ध्वजा को फहराया था।

३—निदान की कला—

के ऊपर दृष्टिपात करें तो आज के वैज्ञानिक आविष्कारों की स्थिति में भी चरक की रोग निर्णय की प्रणाली निर्भ्रान्त और सर्वाग्रणी दृष्टिगोचर होती है। भारतीय चिकित्सा पद्धति के चरमोन्नतिकाल में जहां उत्कृष्ट साधन रोग निर्णय के थे, कुछ चिकित्सकों की संग्रह-वृत्ति ने उसे धूमिल व संशयात्मक बना दिया और आज सुशिक्षित वैद्य भी यह नहीं समझ पाते कि पंचलक्षणों के अतिरिक्त रोग निर्णय के और भी विधान हैं। श्री माधवकर का संग्रह आयुर्वेद के संग्रहों में सबसे अधिक दुर्ग्रह बन गया। और बड़ा से बड़ा वैद्य भी रोगनिर्णय में नाड़ी और निदान

पंचक के सिवा कुछ भी नहीं सहायता चरकोपदिष्ट मार्गका लेता। और आयुर्वेद के नाम पर अपनी सम्मति देकर नवीन यंत्रादि के अपनाने की सम्मति शीघ्र देदेता है। पाठक विचारें कि संसार की कौन सी पद्धति रोगनिर्णयार्थ चरक का मुकाबला करती है।

रोग की परीक्षा के लिये चरक निम्नलिखित परीक्षायें चाहते हैं:—

ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी
(Sensary and motor nervous reaction tests)

इन्द्रिय	इन्द्रि-यार्थ	मानसिक	शारीरिक–	व्याधि
		सत्व	आकृति	पूर्वरूप
चक्षु	वर्ण	भक्ति	बल	रूप
कर्ण	स्वर	शौच		वेदना
नासा	गंध	शील	आरम्भ	उपद्रव
रसना	रसन	आचार	गौरव	छाया
त्वक्	स्पर्शन	स्मृति	लाघव	प्रतिच्छाया
		ग्लानि	आहार	निमित्त
कर्मेन्द्रिय		तन्द्रा	आहारपरि-	शकुन
(mote		स्वप्न	णाम	भेषज
or		निद्रा	उपाय	संवृत्ति औ-
act		हर्ष	अपाय	षधनिर्माण,
ion)		रौद्य	आयु	भेषजवि-
			आयुपरि-	कार युक्ति
			णाम	गुणदोष
			प्रकृति	विवेचना
			विकृति	प्रत्यक्ष
				अनुमान
				उपदेश
				युक्ति

इस प्रकार ५५ परीक्षण साधनों का निर्देश करके अंत में चिकित्सक की बुद्धि व युक्ति के ऊपर विशेष भार देकर छोड़ देते हैं। व्याधि निर्णयार्थ इन्हें करने की सूचना देते हैं।

दूतशकुनादि दृष्टिकोण से—

इनके से परीक्षा करने का निर्देश चरक इन्द्रिय स्थान अध्याय १ में किया गया है। पुनः विमानस्थान में ८ अध्याय में प्रत्यक्ष व अनुमान का आश्रय लेकर उपदेशपूर्वक परीक्षा करने का क्रम अपनाने की आज्ञा दी है। यहां पर ही दशविध-परीक्षा का निर्देश इन्होंने किया है जो भिषक् आदि में करके तब चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए। वे हैं—

कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यफल, अनुबंध, देश, काल, प्रवृत्ति, उपाय–इनकी परीक्षा के बाद, इनमें सयत्न वस्तु व विचार संग्रह करके चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए।

इन उपदेशों को व इनके विवरण को पूर्णरूप से व्याख्या करने के बाद चरक ने व्याधि की सामान्यगणना की है और उसमें ४६ रोगों व १२० के लक्षणों का निर्देश नामपूर्वक किया है। इन्हें निदान व चिकित्सास्थान में विस्तारपूर्वक वर्णन देकर व्याधि की प्रत्येक स्थिति का ज्ञान कराया गया है। और चिकित्सा में प्रवृत्त होने से पूर्व सर्व प्रकार के संभार की कल्पना का उपदेश चरक में मिलता है।

रोगी के लिये भी उपदेश है और वह है कि चतुष्पाद सम्पन्न से ही चिकित्सा कराना चाहिए। जो चिकित्सक षोडशगुणसम्पन्न न हो उससे चिकित्सा कराना उचित नहीं है।

चरक ने कहीं भी चिकित्सक नामधारी छद्म चिकित्सक को चिकित्सा करने का निर्देश नहीं किया है। चरक के काल में भी छद्मवेशधारी चिकित्सक थे किन्तु उन्हें भी उपदेश दिया है कि वह असली वैद्य बनें।

योग्य चिकित्सक के लक्षण में—

अधिगत तन्त्रेणोपासित तन्त्रार्थेन, दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन, शास्त्रंनिगदता, राज्ञानुज्ञातेन, नीच नख, रोम्णा, शुचिना, शुक्लवस्त्र परिहितेन, छत्रवता, दण्डहस्तेन, सोपानत्केनानुद्धतवेशेन, सुमनसा, कल्याणाभि व्याहारेण, कुहकेन, वन्धुभूतेन भूतानां, सुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या। यह

लक्षण वैद्य के सुश्रुत ने दिये हैं ठीक इससे कई गुना गुण सम्पन्न वैद्य की दिशा व योग्यता का प्रतिपादन चरक ने सूत्रस्थान के खुड्डाक चतुष्पाद, महाचतुष्पाद व दशप्राणायतनीयाध्याय में किया है—जिनमें प्रधान "य इमे कुलीनाः पर्यवदातश्रुताः परिदृष्टकर्माणो, शुच्यो, जितहस्ता, जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः, प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञास्ते प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम्।

पुनश्च—

तथा विधा हि—

केवले शरीरज्ञाने, शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने, प्रकृतिविकार ज्ञाने च निःसंशयाः सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य प्रत्याख्येयानां च रोगाणां समुत्थानपूर्वरूपलिंगवेदनोपशय विशेषविज्ञाने व्यपगतसंदेहाः। इत्यादि

इस प्रकार उचित वैद्य के लक्षण को पूर्ण व्याख्या सहित लिखकर चरक ने वैद्य के एक समुचित शिक्षा व प्रत्यक्ष क्रिया व सुसहायवान होने का मानदण्ड निर्दिष्ट किया है।

चिकित्सा—

चिकित्सा कर्मार्थ जिन दोष अंशांश कल्पना के अनुसार औषध के निरूपण का चरक ने पथप्रदर्शन किया है किसी भी पद्धति में प्राप्त नहीं है।

औषधि की कल्पना में—

पंचविधकषाय कल्पना, चूर्ण, वटी-वटक मोदक, पाक, लेह, आसव-अरिष्ट, घृत तैल आदि की कल्पना चरक ने की है, पूर्ण वैज्ञानिक है। यही नहीं एक वस्तु से सैकड़ों की कल्पना करने का विवरण ओषधिविशेषज्ञ चरक ने कल्पस्थान में किया है।

फलों से (मदनफलादि) से तैंतीस योग, उनचालीस जीमूतक के, इक्ष्वाकु के ४५, धामार्गव के साठ, श्यामात्रिवृत् (निशोथ) की एक सौ कल्पना, अमलतास के द्वादश, लोध्र के षोडश, राजवृक्ष के बीस, सप्तला व संखिनी के उनचालीस दंती द्रवन्ती के एक सौ सोलह इत्यादि की कल्पना का निर्देश कर-चरक ने जो रेकार्ड चिकित्सा जगत में उपस्थित किया है आधुनिक जगत को चरक से सीखना है।

मापक (स्केल)—

चिकित्सा की कल्पना में प्राचीन चिकित्सकों ने एक शारीरिक मापदण्ड ही रखा है। मक्खी-मच्छर-कीट- पतंग की रोगकारिता के भेद विभेद ज्ञान सम्पन्न इन चिकित्सकों ने उनका पीछा न कर एक ऐसे स्केल को अपनाया है जो अपनी कोई समता नहीं रखता। वह है शारीरिक स्थितिस्थापक द्रव्यों की क्षय व वृद्धि व उसके लक्षण। जिन्हें त्रिदोष, त्रिधातु या वात-पित्त-श्लेष्म की संज्ञा दी गई है।

इसका कारण यह है कि प्राचीन चिकित्सक समझते थे कि कोई भी आक्रमण हो वह व्याधि उत्पादनार्थ शरीर पर ही प्रभाव डालते हैं। ये प्रभावकारी हेतु अनेक होते हैं किन्तु प्रभाव शरीर साम्य स्थिति पर ही पड़ता है। अतः शरीर की साम्यस्थिति निबंधनार्थ सारी चेष्टाओं का उपक्रम है। चरक की प्रतिज्ञा है—

"धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्"।

यही कारण कि जहां आधुनिक चिकित्सक विदेशों के ओषधि भण्डार व अन्वेषणों के मुखापेक्षी रहते हैं हमारे चिकित्सक अंशांश कल्पना का वातहर पित्तहर श्लेष्महर ओषधियों की कल्पना करके छोटी छोटी ओषधियों से चिकित्सा प्रारम्भ करके कठिन रोगों में भी लाभ उठाते हैं।

किसी रोग का साहित्य जो चिकित्सा-विधि से संपर्क रखता है चरक एक वैज्ञानिक क्रम उपस्थित करके—रोगोत्पादक हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय व संप्राप्ति को बतलाकर चिकित्सा का श्रीगणेश रोग होने की कल्पना से पूर्व से ही करना सिखलाता है। जबकि आधुनिक चिकित्सक पूर्वरूपावस्था (इनक्युबेशन पीरियड) में हाथ पर हाथ रखे बैठ रहते हैं।

चरक के ज्ञान गांभीर्य का अवगाहन करने से पूर्व उसके उपदेशों को पालन करना उचित है। एक

नई शिक्षा जो संसार को चरक ने दी है आज भी नई है और भारतीय चिकित्साप्रणाली के सिवाय अन्य किसी पेथी में नहीं है और आज भी संसार के लिये नई वस्तु है वह है, रसायन व वाजीकरण औषधियों की उत्पत्ति प्रयोग व प्रयोजन; कल्पादि का विवरण।

जीवन को अभिनव रूप में रखना आज का विज्ञान नहीं बतला सका है। उन्होंने अब चेष्टा करना प्रारम्भ किया है किन्तु वह शरीर की कुछ ग्रन्थियों को पुनः स्थापित करने या उनके हारमोन्स का प्रयोग तक सीमित रही है। यदि आधुनिक चिकित्सा जीवित रहना चाहती है तो उसे चरक के पथ का अनुसरण करना पड़ेगा। औषधियों के सक्रिय भागों का शरीर में निक्षेप करना मात्र की चिकित्सा तो एकांश मात्र है अतः शरीर में अभिनव स्फूर्ति व प्रत्येक जीवित कोष को सजीव करने के लिये चरक की कल्प प्रणाली अपनाये बिना कोई पूरा नहीं हो पाता। कषाय कल्पना भी इसी प्रकार की है। औषध अंश को जल में घुलाकर सूक्ष्म रूप में प्रयोग करना, रस-क्रिया क्वाथ-स्वरस के रूप में प्रयोग करना तथा जब इससे काम नहीं चलता चूर्ण के रूप में करना या तैल घृत में, आसव अरिष्ट में उसके गुणों का संग्रह कर प्रयोग करना यह उपदेश चरक ने दिया है।

चिकित्सावैशिष्ट्य—चरक की चिकित्साशैली का संक्षेपतम दर्शन इस लेख में मिलता है। अब आगे चरक की वैज्ञानिकता की प्राच्य व पाश्चात्य स्थिति की तुलना में एक दो बातें आपके सामने रक्खेंगे।

(१) आधुनिक जगत—

वातनाड़ी संस्थान के क्रिया ज्ञान को अपनी बपौती समझता है किन्तु चरक की झांकी 'वातकलाकलीय' में संदर्शन करके समझ सकते हैं कि यह तब भी ज्ञात थी जब कि पाश्चात्य जगत सो रहा था। आज ढाई सहस्र वर्ष पूर्व नाड़ीसंस्थान की स्वयं परिचालित क्रिया (आटोमैटिक नर्वस सिस्टम) का ज्ञान चरक ने बतलाया था किन्तु लांगले की लेखावली के पूर्व आधुनिक जगत इसे जानता तक न था। वातकलाकलीय अध्याय में देखिए। पञ्चधा वायु की क्रिया में देखिए यह सब स्पष्ट है।

आज ज्ञान आधुनिक जगत को यह होगया है कि मस्तिष्क में का बांया भाग शरीर की कर्मेन्द्रिय संतुलन को शरीर के दक्षिण भाग पर करता है और दक्षिण भाग बांये पर करता है किन्तु शरीर शास्त्र के ज्ञाता चरक ने इसे कई हजार वर्ष पूर्व कर चवधे की चिकित्सा में कहा था—

> हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा।
> कुर्याच्चेष्टा निवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च॥
> गृहीत्वा वा शरीरार्द्धं शिराः स्नायुं विशोष्य च।
> पादं संकोचयत्येकं, हस्तं वा तोदशूलकृत॥
>
> —च० चि० २८।

इसे ही सुश्रुत और स्पष्ट लिखते हैं—

> अधोगयास्तिर्यग्गाः धमनी ऊर्ध्वदेहगाः।
> यदाप्रकुपितोऽत्यर्थं, मातरिश्वा प्रपद्यते॥
> तदान्यतरपक्षस्य संधि बंधान्विमोक्षयत्।
> हन्तिपक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः॥
>
> —सु० नि० १।

वातकलाकलीय भेद—

> सर्वा हि चेष्टा वातेन संप्राणः प्राणिनां स्मृतः।

(All the life activities of the body are performed by the normal vata which is said to be the life of living being.)

All locomotion due to vata:—

(१) प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्—the impellar of upward & downword movement.

(२) क्षेप्ता बहिर्मलानाम्—(the eleminator of excrement).

(३) हर्षोत्साहयोर्योनिः—origin of all excitation and animation.

(४) सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः—the inspirator of all the senses.

(५) नियन्ता प्रणेता च मनसः—the controler & conductor of the mind.

(६) सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा—the conveyer of all the sense stimuli.

इत्यादि वायु के कर्म वातसंस्थान की क्रिया कुशलता को स्पष्ट करता है। जो आज से ५०-६० वर्ष पूर्व आधुनिक चिकित्सक भ्रान्तिपूर्वक मानते थे।

(२) आज रक्तभार व ब्लडप्रेशर के विषय में भ्रान्त बने हुए आधुनिक चिकित्सकों को जिन्हें आज भी रक्तभार की उचित चिकित्सा नहीं ज्ञात है चरक उपदेश देता है कि रक्त से उत्पन्न तीन रोग होते हैं—

१- मद (Blood Pressure)। २—मूर्च्छा। ३—संन्यास।

यदा तु रक्तवाहीनि रस संज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा।
मदमूर्च्छायसंन्यासस्तेषां विद्यात् विचक्षणः॥
—च० सू० अ० २४।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट ज्ञात है कि रक्त व रसवह व संज्ञावह स्रोतसों में दोषयुक्त कुपित मलों के पहुँचने से मद-मूर्च्छा व संन्यास होते हैं।

मद के वर्गीकरण को भी चरक ने किया है यथा—

दोषज—

वातमदाविष्ट—सक्तभाषण, अनल्पभाषण, द्रुतभाषण, चलचेष्टा, स्खलनचेष्टा, रूक्ष श्याव, अरुण आकृति।

पित्तमदाविष्ट—सक्रोधपरुष भाषण, संप्रहार, कलिप्रिय-रक्त-पीत असिताकृति।

श्लेष्ममदाविष्ट—स्वल्पवचन, असंवद्धवचन, तन्द्रा, आलस्यसमन्वित, पाण्डु, प्रध्यान तत्पर।

सन्निपात मदाविष्ट - सर्व लक्षण युक्त।

मद्यमदाविष्ट—मद्य पानज मद।

विषज मदाविष्ट—शरीर विष, आहार विष, जन्तु विष, व्याधिविषज मद।

चिकित्सा का निर्देश भी देखिए—

स्रंसन, लेखन, धूम, मंजन, कवल ग्रह, पंचकर्म यह विशेष किया है।

तिक्त सर्पिः प्रयोग—षटपलघृत प्रयोग, त्रिफला प्रयोग, घृतशर्करा प्रयोग, शिलाजतु प्रयोग, कौम्भ सर्पिः प्रयोग, रक्तावसेक। सर्वोपरि क्रम रक्तशोधन।

इसी प्रकार उन रोगों की सर्वाङ्गपूर्ण चिकित्सा जिनको आज का आधुनिक जगत निरोग नहीं कर पाता, चरक पूर्ण उपक्रम उपस्थित करता है। यथा—

(१) आमवात की चिकित्सा का सफल प्रयोग आज भी आधुनिक चिकित्सा न कर सकी है, चरक इसको सम्मानपूर्ण रीति से निरोग करता है।

(२) वातव्याधि की चिकित्सा अभी आधुनिक चिकित्सा न कर पाई है। चरक का निर्भ्रान्त उपदेश वातव्याधि को प्रशमन करता है। वातनाड़ी संस्थान के ज्ञाता आधुनिक अहमन्य चिकित्सक आज वातव्याधि की चिकित्सार्थ वैद्यों के पास रोगियों के पैसे चूसकर भेजते हैं। चरक का अनुयायी गर्वोन्नत हो उन्हें निरोग करता है।

(३) संग्रहणी की चिकित्सा आधुनिक जगत नहीं कर पा रहा है। सल्फा ग्रुप उसे धोका देरहे हैं। अन्य सहयोगी विधियां निराश कर रही हैं। वैद्य पर्पटी कल्प; पाचनदीपन, ग्राही, दोषसंशन औषधि प्रयोग कराके तक्र व दुग्ध भोजी रोगी की प्राणरक्षा करता है।

चरक ने वस्तिचिकित्सा के प्रयोग को करके समग्र संसार को चकित कर रखा है। चरक के चाहको एक बार चरक की सम्मति लेकर चलो तो संसार में आयुर्वेद की विजय वैजयन्ति फहरा उठेगी यही चरक की शैली का महत्व है। चरक आधुनिक औषधि अंश का प्रयोग करके रोगहरण नहीं करता। वह आभ्यन्तर व बाह्य दोषहरण स्थानीय दोषहर दोनों प्रकार की औषधों का प्रयोग कर उसे रोग रहित करता है।

पंचकर्म की पद्धति का प्रचारक चरक अपनी इस अद्यावधि अभिनव कृति का प्रचार डंके की चोट करता है।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

रसायनाध्याये प्रथम पादः

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) अभयामलकीय (नामक प्रथम) रसायनपाद का व्याख्यान करेंगे ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

वक्तव्य—(१) चरकसंहिता कायचिकित्सा का प्रधान ग्रंथ है, कायचिकित्सा आयुर्वेदीय अष्टांग में प्रमुख स्थान रखता है, भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेशादि शिष्यों को आयुर्वेद का जो सम्पूर्ण व्याख्यान दिया है चरकसंहिता उन्हीं का मूर्तरूप है। आजकल जैसे व्याख्यानटिप्पणी लैक्चर नोट्स—Lecture-notes लेने का विधान विश्वविद्यालयीय छात्रों में प्रचलित है वह प्राचीनकाल में भी था। चरकसंहिता आत्रेय जी के व्याख्यानों के नोट्स की एक उपकृति मात्र है। चरकसंहिता के चिकित्सास्थान का आरम्भ ज्वरादि रोगों की चिकित्सा से न होकर रसायन सम्बन्धी प्रथम और वाजीकरण सम्बन्धी द्वितीय अध्याय के साथ किया गया है। प्रथम अध्याय में ४ पाद हैं:—१–अभयामलकीय रसायनपाद २–प्राणकामीय रसायनपाद, ३–करप्रचितीय रसायनपाद तथा ४–आयुर्वेद समुत्थानीय रसायनपाद। द्वितीय अध्याय में भी चार पाद हैं:—१–संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद २–आसिक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद ३–माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद तथा ४–पुमान् जातबलादिक वाजीकरणपाद।

चिकित्सास्थान में रसायन वाजीकरण का प्रसङ्ग आत्रेयजी

ने क्यों उठाया इसका उत्तर यों दिया जाता है कि रसायन सहस्रवर्ष या उससे भी अधिक आयुष्य प्रदान करने की सामर्थ्य वाली है अतः यह मृत्यु नामक रोग को जीत कर अधिक काल तक जीवन प्रदान करने की क्षमता रखती है रोग की चिकित्सा जहां साधारण आरोग्य लाभ नामक फलप्रदान करती है यह रसायन चिकित्सा आयुष्य प्रदान कर महाफल प्रदान करती है। रसायनादि के वर्णन के रूप में वस्तुतः आचार्य ने स्वस्थ शरीर रहे, जरा न हो इस दृष्टि को सामने रख कर रसायन वाजीकरण का वर्णन किया है। रोगनाशक चिकित्साक्रम से रोग प्रतिषेधात्मक बलवर्द्धक, आयुष्य विधान

को प्रधानता देने के विचार से ही यह क्रम अपनाया गया है।

भेषज के पर्याय भेद
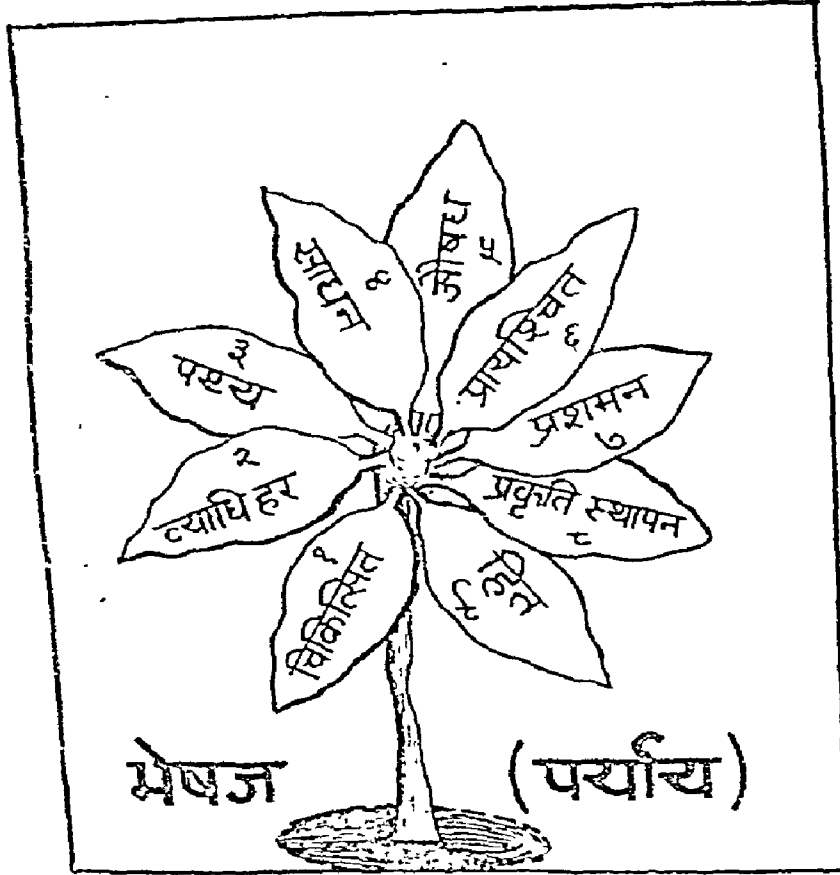
चिकित्सितं व्याधिहरं, पथ्यं साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं, प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥२॥
विद्याद्भेषजनामानि; भेषजं द्विविधं च तत्।
स्वस्थस्यौजस्करं किञ्चित्किञ्चिदार्तस्य रोगनुत् ॥३॥

चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, (और) हित ॥२॥ (ये नव) भेषज के नाम समझने चाहिए। कुछ स्वस्थ को ओज करने वाला और कुछ दुःखी के रोग का नाश करने वाला (इस दृष्टि से) वह भेषज दो प्रकार का (होता है) ॥३॥

वक्तव्य—(२) रसायन वर्णन से चिकित्सास्थान का आरम्भ जिस दृष्टि से किया गया है उसकी कल्पना कुछ भेषज के पर्यायों से तथा कुछ भेषज के दो भेदों के प्रकाशित करने से स्पष्ट होगई है। रसायनपादोक्त भेषज पथ्य, साधन, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, हित इन पर्यायों में से किसी न किसी श्रेणी में तो आती ही है। भेदों का विहङ्गावलोकन किया गया है। स्वास्थ्यवर्द्धक औषधि तथा रोगनाशक औषधि। रसायन वाजीकरण स्वास्थ्यवर्द्धक होने से भेषजीय भेद में आते हैं। अतः आरम्भ इनसे ही किया गया है।

पर्यायों का कविराज गङ्गाधर ने अच्छा विवेचन किया है। चिकित्सितम् अर्थात् रोगनिवृत्तिजनकव्यापारकरणम्; व्याधिहरं व्याधीन् हरति यत् तत्; पथ्यं पथिषु स्रोतः सु हितम्; साधनं रोगाः साध्यन्तेऽनेनेति साधनम्; प्रायश्चित्तं दुःखेषु प्रायो योऽग्निरिव तत् प्रायश्चित्तं चित्यो ह्यग्निरुच्यते; प्रशमनं प्रकर्षेण शमयति येन तत्; प्रकृतिस्थापनं प्रकृतौ लोकानां धातून् स्थापयति येन तत्; हितं पोषकम्; भेषजं भिषजां रोगापनयनार्थमिदं यत् तत्, औषधं ओषधिभिर्निष्पन्नं व्याधिहितम्। अतः आयुर्वेद के आकर ग्रन्थों में भी अन्य शास्त्रों की परम्परानुसार ही सार्थक शब्दों का प्रयोग पर्य्यायादि में होता है।

चक्रपाणिदत्त ने स्वस्थस्यौजस्कर का बड़ा सरल और विपुल अर्थ प्रदान किया है—स्वस्थत्वेन व्यवह्रियमाणस्य पुंसो जगदिस्वाभाविकव्याधिहरत्वेन तथा प्रहर्षव्यवायत्त्यिस्त्वानुपचितशुक्रत्वाद्यप्रशस्तशारीरभावहरत्वेन 'ऊर्जः' प्रशस्तं भावमादधातीति स्वस्थस्योर्जस्करम्।

अभेषज के भेद

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम् ॥४॥

और अभेषज दो प्रकार (की होती है जिसमें एक) बाधन (कहलाती है और दूसरी) सानुबाधन (कहलाती है।) ॥४॥

वक्तव्य—(३) भेषज अर्थात् मानव का कल्याण करने वाले पदार्थों वा प्रक्रियाओं का उपयोग करना जो बल वीर्य बढ़ा कर अथवा रोगों का नाश करके मनुष्य के स्वास्थ्य का संरक्षण करती है। भेषज की कल्पना को और अधिक स्पष्ट करने के लिये 'अभेषज' (the opposite of medicine) अथवा भेषज की विपरीतकारिणी दो अवस्थाओं का भी बोध कराया गया है। अभेषज के दो रूप सामने रक्खे गये हैं एक 'बाधन' अथवा तदात्वमात्र बाधक रूप जो उसी काल उत्पन्न होकर सद्यः कष्ट के कारक होते हैं। इसी को सद्यः प्राणहरतया बाधकारकम् कहा गया है जो तुरत प्राणनाश की बाधा उपस्थित करदे जैसे विष

सेवन, बिजली के तार से छूजाना, अग्नि संस्पर्श, शस्त्रास्त्र लग जाना, आघात आजाना अथवा किसी रोग के घातक जीवाणु ... हो जाना जिसका सञ्चयकाल अति समीप हो।

...री 'सानुबाधन' है। यह कालानुबन्धेन बाधाकरम् कही ... यह वह अवस्था है जिसमें रोगकारक अभिकर्त्ता का तुरत परिणाम कोई नहीं निकलता, पर्याप्त काल के पश्चात् परिणाम होता है। सानुबाधन अवस्था या द्रव्य दीर्घकालावस्थायि विकारकारि होते हैं। उदाहरण के लिये—एक व्यक्ति किसी कुष्ठी के सम्पर्क में आया ... किसी क्षत में होकर कुष्ठकारी बैसीलस लैप्रा ... पर यह कुष्ठकारी दण्डाणु तुरत कुष्ठोत्पत्ति नहीं करता। जीवाणु प्रवेश के पश्चात् दस-बीस-पच्चीस वर्ष के सञ्चयकाल के पश्चात् कहीं कोढ़ के लक्षण प्रगट होंगे। इसी प्रकार यक्ष्मा इसका उपसर्ग बाल्य जीवन में लगजाता है शरीर की जब तक विजय वाहिनी शक्ति कार्य करती रहती है रोगी स्वस्थ रहता है। पर ज्योंही यक्ष्मादण्डाणु को योग्य वातावरण मिला कि उसने यक्ष्मा का अपना महा भयानक रूप प्रगट कर दिया। अस्तु तत्काल रोगकारक अवस्थाएँ जिन कारणों से होती हैं वे बाधन अभेषज के अन्दर और जो विलम्ब पूर्वक रोगोत्पादन करती हैं ऐसी अवस्थाओं के हेतु सानुबाधन नामक अभेषज के अन्तर्गत कहे जाते हैं।

द्विविध भेषज के लक्षण
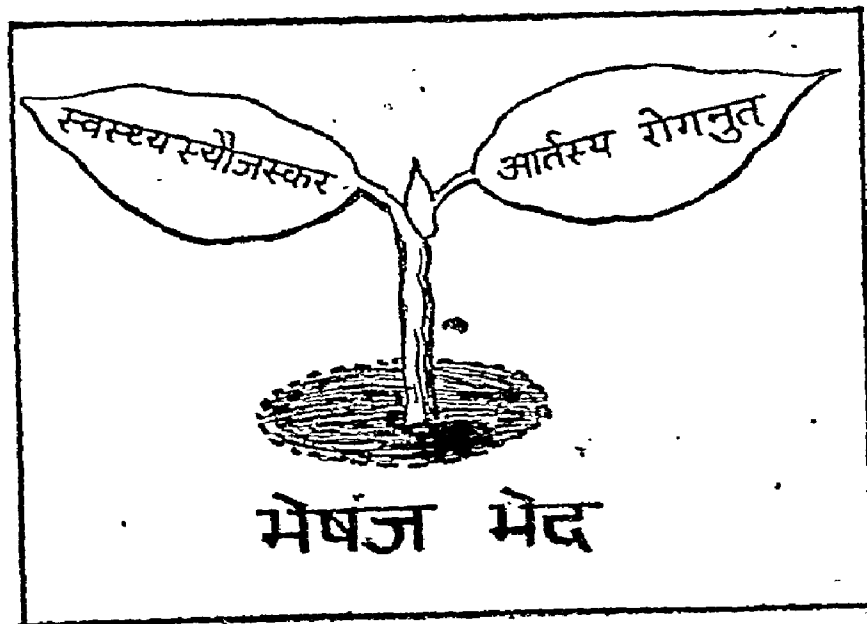
स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।
प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् ॥५॥
प्रायः शब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ॥६॥

जो (पहले) स्वस्थस्यौजस्कर (भेषज बतलाई गई है) प्रायः वह वृष्य होती है तथा वही रसायन (भी) होती है। प्रायः (करके ही दूसरे प्रकार की आर्तस्य रोगनुत् नामक) दूसरी (भेषज) रोगों के प्रशमन (करने में हितकारी) मानी गई हैं। (यहां) 'प्रायः' शब्द विशेषार्थ (बाहुल्य) वाची है (वैसे) भेषज के दोनों प्रकार दोनों प्रकार के कार्य करने वाले हैं।

वक्तव्य—(४) ऊपर तीसरे श्लोक में भेषज के जो दो प्रकार बतलाये हैं उनमें स्वस्थस्यौजस्कर को ही वृष्य अथवा रसायन संज्ञा दी गई है। आर्त्तस्य रोगनाशक जो दूसरा वर्ग भेषज का कहा है वह रोगों को दूर करता है। दोनों प्रकार की भेषज के गुण प्रायशः पाये जाते हैं। केवल जितने गुण लिखे हैं उतने ही मिलें तो प्रायः का कोई उपयोग नहीं रह जाता। प्रायः बतलाता है कि स्वास्थस्यौजस्कर न केवल ओजवर्धक ही है अपितु वह रोगनाशक भी है। और आर्त्तस्यरोगनुत् ओषधियां ऊर्जस्कर भी मिल जाती हैं। क्षतक्षीण रोगनाशक सर्पिर्गुड रसायन और वृष्य भी है। कासहर अगस्त्यहरीतकी स्वयं रसायन भी है।

रसायन सेवन के लाभ

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्।
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ॥७॥

व्यक्ति रसायन (सेवन) से दीर्घजीवन, स्मरणशक्ति, बुद्धि, आरोग्य (तनदुरुस्ती), तारुण्यावस्था (नवयौवन-नौजवानी), प्रभा का विकास, वर्ण का निखार, स्वर की श्रेष्ठता, उत्तम शारीरिक बल, उत्तम इन्द्रिय (पञ्चज्ञानेन्द्रियजन्य तथा पञ्चकर्मेन्द्रियजन्य) बल, वाक्सिद्धि, लोकवन्द्यता (और) कान्ति प्राप्त करता है।

वक्तव्य—(५) उपरोक्त श्लोक में रसायन के द्वारा होने वाले लाभों का वर्णन किया गया है। रसायन सेवी पुरुष के भव्य

चित्र को भी यथास्थान देखा जा सकता है। जिन वैद्यों ने हमारे गुरुवर वैद्यरत्न डा० कविराज प्रतापसिंह प्राणा-

चार्य रसायनाचार्य के दर्शन किये हों ये समझ सकते हैं कि रसायनसेवी का क्या प्रत्यक्ष स्वरूप हुआ करता है। लगभग ६५ वर्ष की अवस्था में भी वे किसी भी युवक से कम तेजस्वी नहीं हैं। दूसरा उदाहरण अपने प्रदेश के आयुर्वेदीय तन्त्र के सञ्चालक स्वनामधन्य गुरुदेव श्री पं० दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम एस-सी- आयुर्वेदाचार्य का है। उनकी भव्य, शालीन और तेजोमयी मूर्ति का दर्शन करने पर पुनः ग्रन्थ द्वारा रसायनसेवी के गुणों का वर्णन पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। आयुर्वेदीय लोक के सर्वस्व आयुर्वेद-बृहस्पति श्री पं० शिवशर्मा की भव्य मूर्ति भी रसायनसेवी पुरुष का जीता जागता उदाहरण है। अधिक काल तक जीना, जब तक जीना तब तक जो पढ़ा है या जिससे मिलन हुआ है उसकी स्मृति रखना, अपने जीवन के अन्तिम काल तक बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवसाय में संलग्न रहती हुई प्रगट हो, देखने से आयु अधिक नहीं है यही बोध हो, बिना क्रीम पाउडर पोते शरीर का रंग खिलता हुआ टमाटर सा रखा हो, टमाटर की सी ही चमक (कान्ति) और छवि (प्रभा) हो। स्वर इतना प्रबल हो कि लाउड-स्पीकर (ध्वनि प्रक्षेपक यन्त्र) की कोई आवश्यकता ही न पड़े। नागपुर में तत्कालीन स्वास्थ्य-मन्त्री श्री बारलिंगे महोदय ने एक चिकित्सक

रसायनसेवी का रंग और प्रभा खिलते टमाटर जैसी होती है।

सम्मेलन विविध चिकित्सा पद्धतियों के समन्वय का विचार करने की दृष्टि से बुलाया था। कविराज जी के साथ मैं भी था। खचाखच भरे हुए वहां के हाल में जिस स्वरौदार्य का परिचय कविराज जी ने दिया वह वर्णनातीत है। लाउडस्पीकर एक ओर पटक समितिषु दुर्निवारवीर्य की उक्ति को चरितार्थ करते हुए उनकी वाग् लहरी दिगदिगन्त में गूंज उठी और आयुर्वेद के सम्मान की यथावत् रक्षा इस रसायनाचार्य ने इस रूप में का कि उसका वर्णन करने को अपना शब्द भाण्डार छोटा पड़ रहा है। रसायनसेवी जो कहता है वह होता है। वह लोकवन्द्य होता है। जिधर निकलता है शिर झुकाते हैं। वैद्यरत्न और पद्मविभूषण

पं० दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम. एस-सी.

कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री

रसायन का लक्षण

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥८॥

श्रेष्ठ रसरक्तादि धातुओं की निश्चित प्राप्ति का उपाय रसायन है।

वक्तव्य— (६) उपरोक्त वाक्य में सूत्ररूप से रसायन की सामर्थ्य का अन्दाज बतला दिया गया है। व्यक्ति को स्वस्थ शरीर पाने के लिये प्रशस्त रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र नामक सप्तधातुओं की प्राप्ति परमावश्यक है। रसायन का प्रयोग इन शुभ धातुओं की प्राप्ति के ही निमित्त किया जाता है। उत्तमोत्तम देहधारक धातुओं को वह सब सामर्थ्य प्राप्त है जो रसायनसेवी को उपरोक्त गुणों से मण्डित कर सके। रसायन अर्थात् रसरक्तादीनां धातूनामयनं तद्र-रसायनम्। रसायन तो रस आदि धातुओं का भण्डार होती है। रस वह धातु जिससे रक्त का तरलभाग प्लाज्मा (plasma) बनता है, मानवजीवन के लिए कितना महत्त्व-पूर्ण है इसे फिजियालोजी (शरीर व्यापारशास्त्र) का एक साधारण विद्यार्थी भी जानता है। सम्पूर्ण शरीर को उत्कृष्टतम रस की प्राप्ति रसायन से होती है इसे भूल जाने पर चरक की

जैसे अत्युच्च पद क रसायनसेवियों के पद-चुम्बन करते हैं। चरक-
चतुरानन प्रातः-स्मरणीय पूज्य गुरुवर्य श्री कविराज **पं० सत्य-**
नारायण शास्त्री काशी की एक महान् विभूति हैं वाक्सिद्धि
और प्रणति मानो प्रभु की ओर से उन्हें अर्पण की गई हो। उस
दिन दर्शनानन्द आयुर्वेद कालेज के लिए २४ सहस्र रुपयों की
मांग फोन पर बैठे-बैठे सिद्ध की। स्वतन्त्र देश का प्रथम
राष्ट्रपति उन्हें प्रणाम कर गर्व का अनुभव करता है। आयु-
र्वेदोक्त रसायन का यथाविधि सेवन करने वाले मनीषियों
में कतिपय लिखे गये हैं। अपनी यह रसायन विद्या प्रत्येक
वैद्य को न केवल जाननी ही चाहिए अपि तु इससे लाभ भी
उठाना चाहिए।

गङ्गाधर कविराज कहता है कि कपालरञ्जनादिकन्तु भेषजं न रसायनम् अर्थात् खोपड़ी रंगने वाले पदार्थ रसायन नहीं है। यज्जरा व्याधि विध्वंसि भेषजंत द्रसायनम् जो बुढ़ापा रूपी रोग का विध्वंस करके व्यक्ति को बलिष्ठ दीर्घायुष्य युक्त मेधावी तेजस्वी यशस्वी बनावे वह रसायन है।

आयुर्वेद-बृहस्पति श्री पं० शिवशर्मा

चिकित्सा को समझना नितान्त कठिन होजाता है। इसलिए हम अपने वक्तव्यों में इन सरलतम आदि शब्दों की ओर विशेष ध्यानाकर्षण कर रहे हैं।

वाजीकरण के लक्षण और गुण

अपत्यसन्तानकरं यत् सद्यः सम्प्रहर्षणम्।
वाजीवातिवलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः ॥९॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
जीर्य्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद्येन दृश्यते ॥१०॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान्।
भवत्यसौ बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥११॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।
यशः श्रियं वलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥१२॥

जो पदार्थ पुत्रपौत्रादिक करने वाला, तुरन्त (पुनः पुनः कामोद्दीप्ति करके मेहनोत्थान रूप) हर्षोत्पादन करने वाला, जिसके द्वारा अश्व के समान अत्यन्त वलवान् (होकर) लगातार (अत्यन्त कामवेग से युक्त होने के कारण एक वार मैथुन करने के उपरान्त पुनः-पुनः) स्त्रियों से समागम करता है, जिसके द्वारा (मनुष्य अति रतिशक्तिधारी वन कर) स्त्रियों को अत्यन्त प्रिय हो जाता है, जिसके सेवन करने से (मनुष्य) पुष्ट हो जाता है, जिस औषध के सेवन से वृद्ध होने पर भी (सन्तति रूप) फलदायक कभी नष्ट न होने वाला वीर्य दिखलाई देता है; जिसके कारण जैसे विशाल शाखा-प्रशाखायुक्त चैत्य की तरह प्रजाओं में वहुत मान्य और बहुत सन्तानवाला वह (व्यक्ति) हो जाता है, इह लोक में जो अपत्य समूह (सन्तानवर्ग) का मूल कारण है और जिसके द्वारा परलोक में अनन्तता प्राप्त करता है, वह यश, श्री, वल और पुष्टि (का साक्षात स्वरूप) वाजीकरण है।

वक्तव्य—(७) उपरोक्त चार श्लोकों में वाजीकरण की महिमा गाई गई है। रसायन जहां व्यक्ति की अपनी आयु को बढ़ाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है वहां वाजीकरण व्यक्ति के वंश की वृद्धि की दृष्टि से परम आवश्यक भूमि पर अपने पैर रखता है। सन्तानोत्पत्ति के लिए व्यक्ति के पास अक्षय और फलप्रद (fertile) शुक्र की उपस्थिति परमावश्यक है। वाजीकरण सेवी व्यक्ति बुढ़ापे तक सन्तानोत्पत्ति करने में समर्थ, वीर्य से पूर्ण रहा करता है। फलवान् शुक्र के कारण वह अनेक सन्तानों का जनक होता है। सन्तानोत्पत्ति का क्षेत्र स्त्री है। क्षेत्र की तुष्टि में असमर्थ पिता दीर्घजीवी और स्वस्थ सन्तानोत्पादन में असमर्थ रहता है। वाजीकरणसेवी पुरुष की स्त्रियां गुलाम बन जाती हैं। वह एक स्त्री के साथ अनेक बार और अनेक स्त्रियों के साथ निरन्तर मैथुन कर उन्हें पूर्णतः सन्तुष्ट करने की क्षमता से युक्त हो जाता है। कई स्त्रियों में रमण कर उन्हें सुखी बनाने वाले इस व्यक्ति को बहुत सन्तान होती है उसकी वंश वृद्धि के साथ मानवृद्धि भी होती है। तात्पर्य यह निकला कि गार्हस्थ्य धर्म परायण सुखी जीवन की इच्छा रखने वालों के लिए और उन देशों में जहां सन्तानोत्पादन पुरस्कार का कारण माना जाता है तथा उन जातियों में जिनका अस्तित्व धीरे धीरे समाप्त होता चला जारहा है वाजीकरण प्रयोग की महती आवश्यकता रहती है। सम्प्रति भारतवर्ष में सन्तानवृद्धि स्वयं एक समस्या बन गई है। वाजीकरण प्रयोगों से तो इस समस्या की और भी वृद्धि होने की आशङ्का बढ़ सकती है। हमें तो इस समय रसायन सेवन की जितनी आवश्यकता प्रगट हो रही है उसका शतांश भी वाजीकरण सेवन की नहीं। दीर्घजीवन और बहुप्रजता हमारे प्राचीन भारत की सुख-समृद्धि और वैभव वृद्धि की ओर स्पष्ट सङ्केत है।

स्वस्थस्यौजस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम्।
यद् व्याधि निर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥१३॥
चिकित्सितार्थ एतावान् विकाराणां यदौषधम्।
रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च ॥१४॥
अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात्।
तदसेव्यं निषेव्यन्तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥१५॥

यह स्वस्थ की ओज बढ़ाने वाली औषध के दो प्रकार (रसायन तथा वाजीकरण) वतलाये गये हैं। जो आर्त्तस्य रोगनाशन करने वाली औषध (है) वह चिकित्सित में (आगे जहां से रोगों की चिकित्सा का वर्णन आरम्भ होगा) कहा जावेगा। विकारों की

जो औषध है (वह बस) इतना चिकित्सित् का अर्थ है। (अब आगे रसायनविधि तथा वाजीकरण ही का वर्णन किया जावेगा। जो ऊपर कही हुई औषध या भेषज से) विपरीत (है उसे अभेषज) समझना चाहिये। वह (अभेषज) असेवनीय है। जो औषध सेवनीय है (उसका मैं) वर्णन करूंगा।

रसायन प्रयोग की दो विधियां

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः।
कुटी प्रावेशिकञ्चैव वातातपिकमेव च ॥१६॥
कुटी प्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते।
नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥१७॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे।
दिशि पूर्वोत्तरस्याञ्च सुभूमौ कारयेत्कुटीम् ॥१८॥
विस्तारोत्सेधसम्पन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्।
घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम् ॥१९॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम्।
इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥२०॥
अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजित।
मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥२१॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः।
विधूय मानसान् दोषान् मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥२२॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम्।
देवगोब्राह्मणान् कृत्वा ततस्तां प्रविशेत्कुटीम् ॥२३॥

ऋषिगण रसायनों का दो प्रकार का प्रयोग जानते हैं (एक) कुटीप्रावेशिक तथा उसी प्रकार (दूसरा) वातातपिक।

पहले पहल कुटीप्रावेशिक (रसायन) की विधि का वर्णन किया जायगा। (वह वर्णन इस प्रकार है कि) राजा, वैद्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विज; पुण्यकर्म साधु (स्वभावी व्यक्तियों) के निवास योग भयरहित प्रशस्त (आवश्यक) उपकरण (जहां सदैव सरलतापूर्वक) प्राप्य हों (ऐसे) नगर में; पूर्वोत्तर दिशा में अच्छी भूमि पर, विस्तृत, ऊंची कुर्सीवाली, तीन गर्भ वाली, छोटे-छोटे झरोखों से युक्त, मोटी-मोटी दीवालों वाली (जो) प्रत्येक ऋतु में सुखप्रद, सुप्रकाशित, मनोहारी, अनुचित निन्द्य समाचारों की पहुंच के परे, महिला समाज से दूर, इष्ट उपकरणों से भरपूर, वैद्य-औषध और ब्राह्मणों से सुसज्जित, एक कुटी बनवावें।

तत्पश्चात् उत्तरायण शुक्ल पक्ष में शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभलग्न शोधकर, क्षौरकर्म (हजामत) करवा कर, धृति और स्मृति के बल का आश्रय लेकर श्रद्धापूर्वक, एकाग्रचित्त से, मानसिक (चिन्तादि) दोषों को त्याग कर, सब भूतों में मित्रता का (ही) चिन्तन करते हुए, आदि में देवपूजा कर (फिर) विद्वानों को पूज, देव-गो-ब्राह्मण की प्रदक्षिणा कर के तब उस कुटी में प्रवेश करे।

वक्तव्य-(८) रसायन को चरक ने दो मोटे विभागों में बांट दिया है एक कुटी प्रावेशिक रसायन प्रयोग विधि है। कुटी प्रावेशिक विधि तभी सफल हो सकती है जब उसे राज्याश्रय प्राप्त हो, जहां सद्वैद्य बराबर मिल सकते हों, इस विधि की उच्चता को समझने में समर्थ व्यक्ति जहां रहते हों तथा जो पर्याप्त सम्पन्न हों ताकि वे कुटी प्रवेश के लिए तैयार रहें। पुण्यकर्मा और साधुस्वभाव के व्यक्तियों का होना इसलिये परमावश्यक है कि कुटी प्रवेश कार्य की महत्ता को समझना उसकी प्रशंसा करना तथा सहायता करना भी परमावश्यक है। सब सामग्री जहां प्राप्य हो और जो भय रहित प्रदेश हो वहीं यह विधि स्वतन्त्रता और सफलतापूर्वक चल सकती है।

उत्तरी भारत में जहां वायु पूर्व पश्चिम बहुधा चलती है कुटी का मुख पूर्व दिशा में हो तथा दक्षिणीभारत में जहां उत्तर दक्षिण वायु का आवागमन विशेष होता है वहां कुटी उत्तराभिमुखी बनवाई जानी चाहिए। पूर्व या उत्तर किसी भी दिशा में जहां वायु प्रवेश की सुविधा हो कुटी का प्रधान द्वार स्थापित किया जा सकता है। इस कुटी में स्थापत्यशास्त्र का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। उत्तम भूमि, विशाल क्षेत्र, ऊंची कुर्सी, मोटी दीवाल, छोटे-छोटे वातायन. तीन गर्भ, प्रकाश से भरपूर; ये सभी कुटी को ऋतु-

रसायन-सेवन के लिए उपयुक्त कुटी
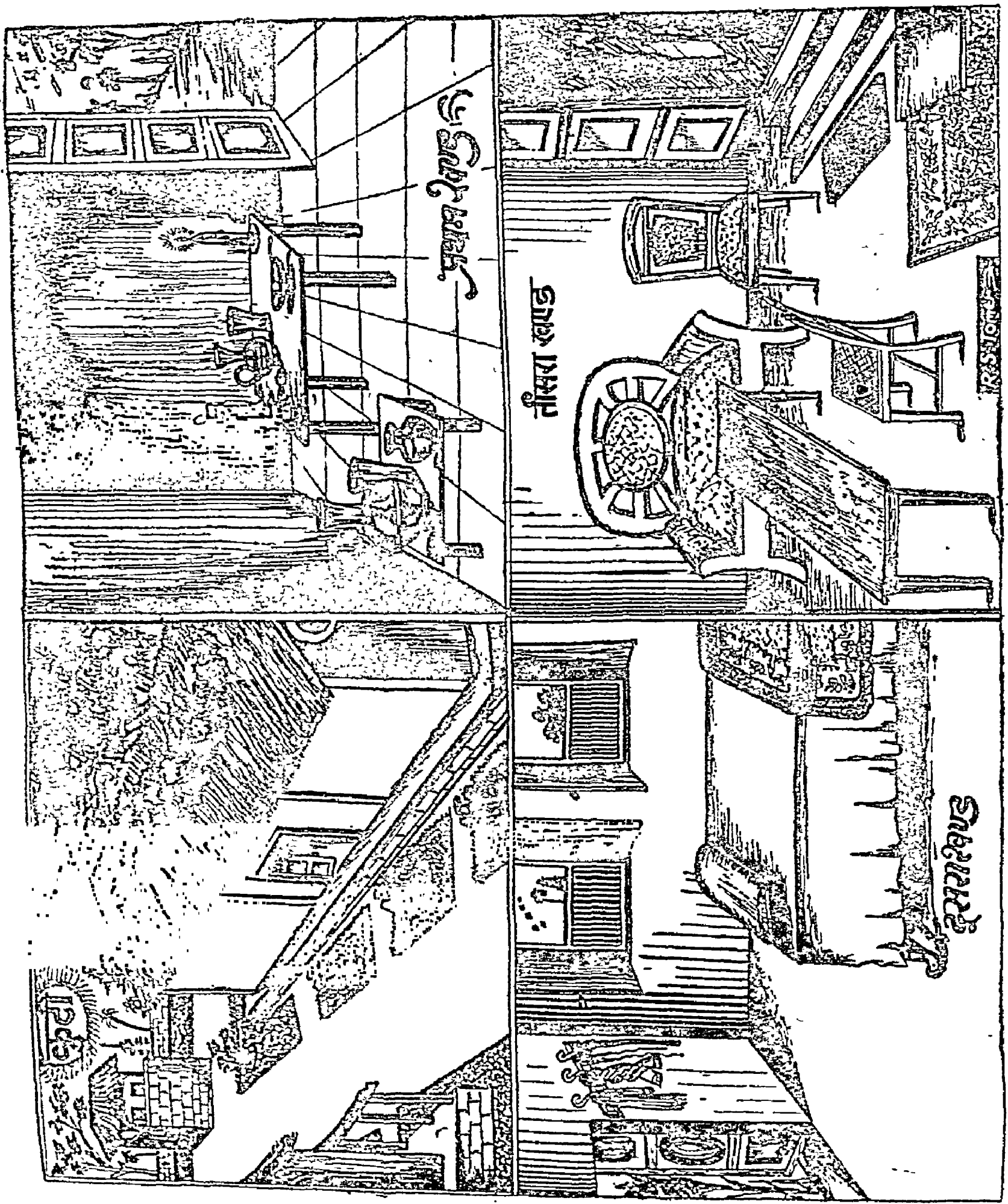
सुखा बनाने की दृष्टि से हैं। वर्षा, ग्रीष्म तथा शरदृतु इन तीनों में से किसमें किस गर्भ में रहा जा सकता है इस विचार से ही तीन गर्भों का सङ्केत है।

कुटी शरीर को ही सुखी न करे अपि तु वह मन को भी सुखी रखे इस दृष्टि से वातावरण का मनोहारी होना, घर बाहर की दुःखकर खबरों की जहां गति न हो सके इसकी ओर भी अच्छा संकेत कर दिया गया है।

रसायन का एक लक्ष्य है कि व्यक्ति को दीर्घायुष्य और तारुण्य की प्राप्ति हो। दीर्घायुष्य के लिए निश्चिन्तमना होना और तारुण्य के लिये परिपक्व ओज से युक्त होना परमावश्यक है। अस्तु निन्द्य समाचारों की पहुंच के परे तथा स्त्रियों की छाया से दूर पुरुष के लिये और पुरुष की छाया से दूर स्त्री के लिये कुटी का विधान किया गया है। कन्या, मां और पत्नी में भेद है। तथा अपने गृह की स्त्रियों में तथा वाराङ्गनाओं में अन्तर है। स्त्री वर्जित कुटी का अर्थ ऐसी कुटी जहां ऐसी स्त्रियों की पहुंच न हो जो शुक्र-स्खलन-प्रवृत्ति-परक हों। उदाहरण के लिए आधुनिक आतुरालयों में स्त्री नर्सों की उपस्थिति। नर्स कितनी ही चरित्र सम्पन्न और साध्वी हो पर उसे देख कर मन में अनेक तर्क-वितर्क करने वाला व्यक्ति अपना शुक्र स्वप्न में या जागृतावस्था में अवश्य स्खलित कर सकता है। अपनी माता या माता के समकक्ष मौसी, चाची, ताई, दादी, काकी, बुआ अथवा कन्या के समकक्ष भतीजी, भानजी आदि कुटी व्यवस्था में भाग ले सकती हैं।

कुटी एकांत में बनती है अतः उसमें उपकरण [equipment] भरपूर होना चाहिए। नगर से ५-१० मील दूर या जङ्गल में अथवा पर्वत पर कुटी होने पर यह आवश्यक है कि सब आवश्यक उपकरण जुटा दिए गये हों।

कुटी में अधिकारी वैद्य होगा, तथा उसके कार्यकर्ता द्विज होंगे। द्विजन्मा और एकजन्मा इन दो शब्दों में स्वच्छता और पवित्रता का महत्त्वमात्र निर्दिष्ट है। यज्ञोपवीत धारी व्यक्ति द्विज है। यज्ञोपवीत धारण का शास्त्रीय अर्थ है कि वह व्यक्ति आचरण से ही शुद्धता, पवित्रता और स्वच्छता का ध्यान रखने वाला है। सवेरे उठेगा, उठते ही जङ्गल में जावेगा, नित्यकर्मोपरांत स्नान करेगा, ईश्वर से डरेगा। स्वच्छता और पवित्रता की मूर्ति के दर्शन मात्र से ही रसायनसेवी को पर्याप्त सान्त्वना मिलेगी। नियमपरायण द्विज वैद्य के सम्पूर्ण आदेश को शुचितापूर्वक तथा शीघ्रतया पालन करता है यह उसमें जन्मजात सद्गुण होता है इसीलिए यह विधान है। पर यदि जन्म से अद्विज और कर्म से द्विजोत्तम व्यक्ति वैसा करने में कुशल हो जैसा कि आज के भारत में प्रायशः देखा जाता है तो उसका उपयोग किया जा सकता है। जिस काल में चरक की रचना हुई थी तब समाजसङ्गठन में मुहम्मदी अहमदी, मूसाई, ईसाई सम्प्रदायवादियों का नाम भी नहीं था। आदिम निवासी जैसा वर्ग भी नहीं था। कर्मों के अनुसार स्वच्छताप्रिय वर्ग द्विज और अशौचकर कार्य करने में निपुण नियमोपनियमों से बाहर शुद्ध वर्ग का विभाग कर अतः उन्होंने द्विजों को ही यह मान्यता दी। पर आज द्विजवत् जीवन व्यतीत करने वाला मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, जर्मन, जापानी, सवर्ण, असवर्ण कोई भी कुटीप्रावेशिक विधि की सेवा में लिया जा सकता है।

कुटी बन जाने पर उसमें प्रवेश करने के लिए कुछ नियमों का भी ऊपर वर्णन किया गया है कि कब कुटी में प्रवेश किया जाय, क्षौरादिकर्म, मानसिक एकाग्रता, श्रद्धा, निश्चिन्तता सबमें मित्रता, देवपूजन, द्विज वन्दन, देवगो-ब्राह्मण प्रदक्षिणा करना आदि का विधान है। प्रत्येक का क्या रहस्य है यह विस्तारभय से लिखा नहीं जायगा पठक स्वयं ही इसका चिन्तन कर सकते हैं।

रसायन सेवी के लिए संशोधन का विधान

तस्यां संशोधनः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः।
रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥२४॥
हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम्।
वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२५॥
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेह स्वेदोपपादितः।
तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥२६॥

त्रिरात्रं यावकं दद्यात् पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा ।
सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥२७॥
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत् ।
वयः प्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥२८॥

उस कुटी में वमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनादि पञ्चकर्म रूप संशोधन के द्वारा शुद्ध होकर, पुनः शारीरिक बल प्राप्त करके सुखी [पूर्ण स्वस्थ] होने पर रसायन का प्रयोग करना चाहिए। उस संशोधन कर्म को [अब मैं] कहूंगा।

स्नेहन [और] स्वेदन किया हुआ जन्तु हरड़ों के चूर्ण, सैन्धवलवण, आमले, गुड, बालवच, वायविडङ्ग, हल्दी, छोटी पीपल (और) सोंठ [इन सबके चूर्ण को] गरम जल के साथ पिये। इससे शुद्ध हुए शरीर (वाले जन्तु) के लिए और जो कि शोधनोपरान्त पेयादि द्वारा संसर्जन कर्म भी कर चुका है उसके लिये जब तक मल निकल कर कोष्ठ शुद्ध होजाय तब तक तीन रात्रि, पांच दिन या सप्ताह भर घृत के साथ पुराना यवान्न देना चाहिए। (इस प्रकार) उसका कोष्ठ शुद्ध जान कर, रोगी के आयु प्रकृति (औ) सात्म्य को जानने वाला वैद्य जिसका जो यौगिक हो (अर्थात् जिसके लिए जो योग्य पड़े) उस रसायन का उपयोग करे।

वक्तव्य—(६) रसायन सेवन का कौन अधिकारी है अर्थात् किस अवस्था का व्यक्ति रसायन सेवन कर सकता है इसे प्रत्यक्ष रूप में नहीं लिखा गया पर यतः कुटी प्रवेश के पश्चात् व्यक्ति को शोधनादि पञ्चकर्मों को करवा कर कोष्ठशोधन सर्वप्रथम कराना पड़ेगा, अतः शोधन की दृष्टि से बाल और वृद्ध वर्ज्य हैं अर्थात् बालकों तथा वृद्धों को छोड़कर शेष सभी व्यक्ति रसायन का कुटीप्रावेशिक विधि से सेवन कर सकते हैं। यौवन या प्रौढ़ावस्था रसायन सेवन के लिए सर्वसम्मत काल हैं—

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम् ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥

जरापक्वशरीरी के लिये रसायन बहुधा व्यर्थ रहती है। यही कारण है कि **महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी महाराज** का कल्प पूरा लाभ दिखाने में समर्थ नहीं रहा। पर शास्त्र में च्यवन ऋषि के वृद्ध होजाने पर ही रसायन सेवन का उल्लेख है जो यह सिद्ध करता है कि संशोधन कर्म को सहने में जो बाल और वृद्ध असमर्थ हों इनके लिए कुटीप्रवेशिक रसायन सेवन व्यर्थ है पर जो संशोधनकर्म के कष्टों को झेल कर भी पुनः बल प्राप्त कर सुखी होते हैं उनके लिए वह सार्थक है—वस्तु वृद्धो बालो वा नातिबलहीनः संशोधनसहः स स रसायनाधिकारी चेति।

रसायनसेवी के लिये संशोधन के पांचों कर्म परम महत्व के माने गये हैं। क्योंकि—

अविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः ।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवार्पितः ॥ —सुश्रुत ।

संशोधनकर्म बिना किये हुए प्रयुक्त की गई रसायन विधि उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार बिना शुद्ध किये हुए मैले कपड़ेको रंगना। मैले कपड़े पर जैसे रंग नहीं चढ़ता वैसे ही मल युक्त शरीर पर रसायन का प्रभाव नहीं होता।

ऊपर जो हरड़, सैंधव, आमले, गुड़, बच, विडङ्ग, हल्दी पीपल तथा सोंठ ये नौ पदार्थ लिए हैं इनकी मात्रा का आचार्य ने उल्लेख नहीं किया। कुछ भाष्यकार ऐसा मानते है कि हरीतकी शेष आठ द्रव्यों से अधिक और शेष द्रव्य समभाग लिये जावें। जितनी हरड़ उतने ही शेष आठ द्रव्य लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना कर यथामात्रा प्रयोग करना सदैव लाभ प्रद है। पर, यदि रोगी की वय, प्रकृति सात्म्यासात्म्य का विचार करके वैद्य उपरोक्त द्रव्यों से व्यवस्थापत्र तैयार करता है तो उसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न मात्राओं का निर्धारण करना पड़ेगा। हमारे आचार्यों ने जब सम्पूर्ण वैद्यकशास्त्र का ज्ञान दे दिया तो फिर किस योग में कितनी कौन वस्तु पड़े इसे कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं। किसी को मस्तिष्क की अशान्ति होगी वहां बचा अधिक रहेगी जिसके उदर में कृमि होंगे वहां विडङ्ग और हरीतकी की विशेषता करनी पड़ेगी, जहां अग्निमांद्य या अग्निसन्धुक्षण की कमी होगी वहां शुण्ठी और पिप्पली का उपयोग विशेष करना पड़ेगा। अतः संशोधन के व्यवस्थापत्र में व्यक्ति व्यक्ति में द्रव्यवैभिन्न के अनुसार मात्रा वैभिन्य की कल्पना बहुत शुभ और वैज्ञानिक है।

एक बात जो परम आवश्यक है वह यह है कि बिना पूर्णरीत्या कोष्ठ की शुद्धि किये रसायन का उपयोग कदापि न करना चाहिए। यदि वैद्य कोष्ठ शुद्धि में असमर्थ रहता है या रोगी उस प्रक्रिया को सहन नहीं कर पाता तो उसे रसायन सेवन का अधिकारी न जान कर पहले उसे नीरोग और सुखी बना लेना चाहिए तत्पश्चात् आगे के विधि विधानों में लाना चाहिए। अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज के भारत में जहां निर्धनता, गोवध, कृत्रिमघृत, कृत्रिमचावल, तम्बाकू, मद्य और व्यभिचार बाहुल्य हो रहा है वहां रसायन सेवन के अधिकारी बहुत ही कम व्यक्ति हैं।

हरीतकी ★ के गुण

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणांशिवाम्।
दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ॥२९॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्।
सर्वरोग प्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ॥३०॥
कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥३१॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम्।
कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥३२॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन्।
श्वयथुं तमकं छर्दि क्लैब्यमङ्गावसादनम् ॥३३॥
स्रोतो विबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः।
स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥३४॥

हरड़ पञ्चरसों से युक्त, उष्ण, लवण (नामक छठे रस से) रहित, मङ्गलकारक, वातादि दोषों का अनुलोमन करने वाली, हलकी, अग्निप्रदीपक, पाचन करने वाली, आयु बढ़ाने वाली, पुष्टि देने वाली, श्रेष्ठ यौवन को स्थिर करने वाली, सर्व रोग शान्त करने वाली, बुद्धि बल, मनोबल, ज्ञानेन्द्रियबल तथा कर्मेन्द्रिय बल देने वाली जाननी चाहिए।

कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष, पांडुरोग, मद, अर्श, ग्रहणी, जीर्ण विषम ज्वर, हृद्रोग, शिरोरोग, अतीसार, अरुचि, प्रमेह आनाह प्लीहा वृद्धि, नया उदररोग, कफ प्रसेक, स्वर भङ्ग, विवर्णता, कामला, कृमिरोग शोथ, तमकश्वास, वमन, नपुंसकता, अङ्गों की थकावट विविधस्रोतोरोध, हृत्प्रदेश अथवा छाती का श्लेष्मावृत होना तथा स्मृति और बुद्धिभ्रंश इनको हरीतकी शीघ्र जीत लेती है।
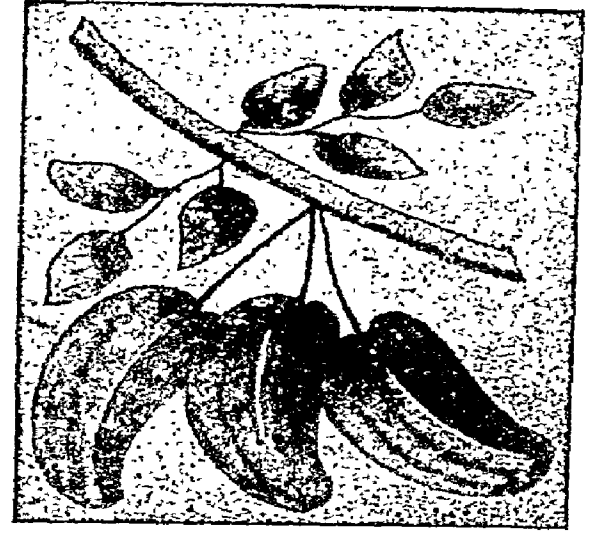
वक्तव्य-(१०) ऊपर हरड़ के गुणों का वर्णन किया गया है। चरक संहिता में सूत्रस्थान के १३ वें तथा २५ वें तथा विमानस्थान के आठवें अध्याय में हरीतकी का नामोल्लेख अवश्य हुआ है पर उसके गुणों का विशद वर्णन कहीं न हो कर इसी स्थल पर मिलता है। रसायन की दृष्टि से द्रव्यों का वर्णन करने वाले पदार्थों में सर्वप्रथम हरीतकी के विवेचन का कारण बतलाते हुए चरक टीकाकार चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि, "यद्यपि आमलकं वयस्थापनानाम् इत्युक्तम् तथापि रोगहरत्वे हरीतक्येवोत्कर्षवतीति कृत्वा हरीतक्यग्रेऽभिहिता।" यद्यपि वयःस्थापक द्रव्यों में आमला प्रधान है ऐसा सूत्रस्थान अध्याय १३ में बतलाया है तो भी रोगहरण में जो चरक का प्रतिपाद्य है हरीतकी अत्यधिक उत्कर्षवती मानी गई है इसी कारण इसका आदि में उल्लेख है।

हरीतकी के जो गुण सामने आये हैं उनमें लवण विरहित पंचरसान्वित उष्ण, माङ्गल्य, धन्यता-लघुतादि गुणों की विवक्षा के साथ आयुष्य, पौष्टिक, वयःस्थापक, बुद्धीन्द्रियबलदायक गुण वैशिष्ट्य बतला कर जिन जिन रोगों में इसका प्रयोग होता है उसे देख कर ऐसा लगता मानो है

★हरस्य भवने जाता हरितेति स्वभावतः।
हरते सर्वरोगांश्च तेन नाम्ना हरीतकी।

इसमें आमले के विटामिन सी (vitamin C) की तरह कोई अतीव महत्त्वपूर्ण रत्न छिपा पड़ा है। इसकी गन्ध, पीतिमा, पंचरसता अवश्य ही वैज्ञानिकों के लिये गवेषणा का पूरा सामान उपस्थित करने में समर्थ है। आचार्यों ने प्रत्येक दृष्टि से इसके गुणों की खोज की है। आधुनिक वैज्ञानिक अपने यन्त्रों के नवीन चाकचक्य द्वारा अवश्य ही संसार के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन दे सकते हैं।

जिन गुणों का ऊपर प्रकटीकरण किया गया है उनके प्रकाश में यह द्रव्य, उरस् (respiratory system) हृदय तथा स्रोतस् (cixculatory system); मूत्रप्रजननाङ्ग (genito-uricary system), प्लीहा (spleen) यकृत् (liver), उदर (gastro-intestinal tract) तथा चर्म (skin) के रोगों पर विशेष करके व्यवहृत होता है। यह हृदय और उरस् के उपलेप में बहुत लाभदायक बतलाया गया है जिसका अर्थ है कि फुफ्फुसच्छद या हृच्छद में जब जल भर जाता है जिसे प्लूरिसी तथा पैरीकार्डाइटिस कहते हैं वहां हरीतकी का उपयोग शास्त्रकार बतलाते हैं। निकट भविष्य में हरीतकी से प्राप्त तत्व का इन्जेक्शन इन रोगों की अमोघ औषध होगी इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

उपरोक्त संस्थानों पर कार्य करने वाली हरीतकी कोई कारण नहीं कि आयुष्य, स्मृतिभ्रंशनाशक, शिवा और धन्या न हो।

हरीतकी के सेवन का विरोध

अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्री मद्यविषकर्शिताः।
सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ॥३५॥

अजीर्ण से पीडित, रूक्षभोजन करने वाले, स्त्रीप्रसङ्ग, मद्यपान (अथवा) विष द्वारा दुर्बल बनाए हुए, तथा जो क्षुधा, तृषा (अथवा) गर्मी से पीड़ित हों वे अभया का सेवन न करें।

आमलक के गुण

तान्गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि।
यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥३६॥

अतश्चामृतकल्पानि विद्यात् कर्मभिरीदृशैः।
हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च ॥३७॥
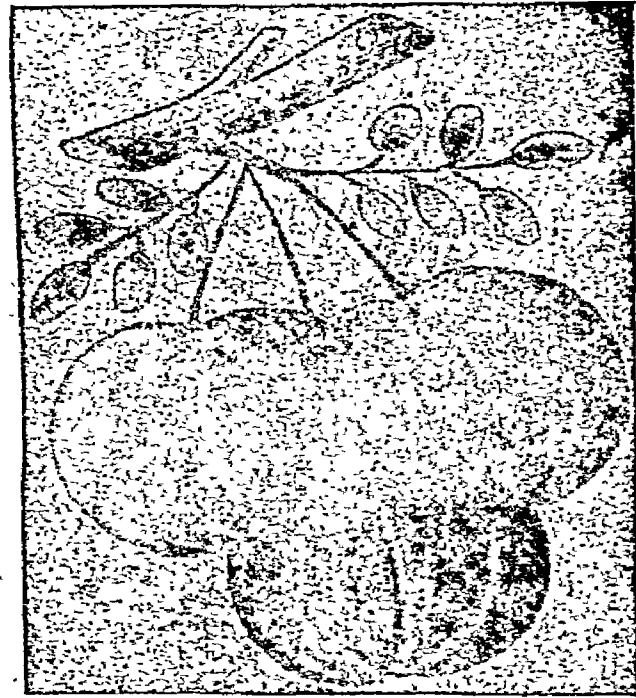
हरीतकी के जो (जो गुण तथा कर्म) कहे गये हैं वे वे गुण तथा वही वही कर्म आमलकी में भी समझना चाहिए (पर) वीर्य का विपर्यय अवश्य (रहता है अर्थात् हरीतकी वीर्य में उष्ण कही गई है पर आमलकी शीतल होती है।)

अतः वैद्य ऐसे कर्मों के कारण (अथवा इन हेतुओं के कारण) हरीतकी तथा आमलों के अस्थिरहित फलों को अमृतकल्प (अमृत के समान) जाने।

वक्तव्य--(११) हरीतकी के जितने गुण बतलाये हैं वे सभी आमलकी में भी होते हैं केवल आमलकी वीर्य में शीतल होती है। इसका अभिप्राय यह कि जहां वात और कफ प्रधान व्यक्तियों को रसायन सेवन की आवश्यकता पड़े वहां हरड तथा जहां कफ और पित्त प्रधान व्यक्तियों से पाला पड़े वहां आमलकी का प्रयोग सर्वसाधारणतया करना चाहिए। चरक संहिता में लगभग १२८ स्थानों पर आमलकी का वर्णन आया है। सूत्रस्थान के २७ वें अध्याय में इसके गुणों के सम्बन्ध में निम्नश्लोक मिलते हैं—

विद्यादामलके सर्वान् रसांल्लवणवर्जितान्।
स्वेदमेद कफोत्क्लेदपित्तरोग विनाशनम् ॥
रूक्षं स्वादु कषायाम्लं कफपित्तहरं परम् ॥

ओषधि ग्रहण करने की विधि

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः।

तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥३८॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि।
आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च ॥३९॥
यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च।
तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम् ॥४० ॥

गिरिराज हिमालय ओषधियों की उत्कृष्ट भूमि (है) इस लिये उसमें उत्पन्न हुए, यथाकाल उत्पन्न हुए, रस और वीर्य से परिपूर्ण सूर्य-वायु-छाया जल से परिपुष्ट (किये गये) तथा जो कीड़ों से अखादित, जो सड़ न गये हों, और जो व्रण रहित, विकार रहित (हों) उन्हें ग्रहण करना चाहिए। उन फलों के उत्तमोत्तम प्रयोग और कर्म में वर्णन करूंगा।

प्रथम ब्राह्मरसायन

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान्द शपलोन्मितान्।
हरीतकीसहस्त्रं च त्रिगुणामलकं नवम् ॥४१॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्।
विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥४२॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम्।
पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामेरण्डमेव च ॥४३॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तं सशतावरीम्।
शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ॥४४॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत्।
भागान् यथोक्तान् तत सर्व्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि ॥४५॥
दशभागावशेषन्तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम्।
हरीतकीश्च ताः सर्व्वाः सर्व्वाण्यामलकानि च ॥४६॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः।
विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत् ॥४७॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शंखपुष्प्याः प्लवस्य च।
मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा ॥४८॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च।
भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा ॥४९॥
सितोपलासहस्रञ्च चूर्णितं तुलयाधिकम्।
तैलस्य द्व्याढकञ्चात्र दद्यात् त्रीणि च सर्पिषः ॥५०॥
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत् सर्वं मृदुनाग्निना।
ज्ञात्वा लेह्यमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ॥५१॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्द्धं तत् सर्वं घृतभाजने।
तिष्ठेत्संमूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ॥५२॥
या नोपरुन्ध्यादाहारमेकं मात्रा जरां प्रति।
षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ॥५३॥
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः।
रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः ॥५४॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः।
वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः ॥५५॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः।
ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ॥५६॥
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत्।
दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते ॥५७॥

पांचों प्रकार के पंचमूलों को दस-दस पल, हरीतकी के फल नवीन एक सहस्र, (नवीन) आमले (हरीतकी से) तीन गुने (ले)।

शालपर्णी, कण्टकारी बड़ी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी छोटी, (और) गोखरू पांचवां (मिलाकर) विदारिगन्धाद्य गण (प्रथम लघु पंचमूल समझना चाहिए। बेलगिरी, अरनी, श्योनाक (या अरलू) गम्भारी और पाटला (इन पांच बिल्वादि ओषधियों से बृहत्पंचमूल नामक दूसरा पंचमूल समझना चाहिए)। पुनर्नवा (सांठ की जड़) मुद्गपर्णी-माषपर्णी, बला (तथा) एरण्ड (इन पुनर्नवादि पांचों ओषधियों से तृतीय पंचमूल समझना चाहिए)। जीवक, ऋषभक दोनों, मेदा, (तथा) शतावरी सहित जीवन्ती (इन पांचों जीवकादि ओषधियों से चतुर्थ पंचमूल समझना चाहिए)। सरकण्डा, ईख, दाभ, कांस तथा शालिधान की ही जड़ (को तृणपंचमूल नामक पांचवा गण समझना चाहिए)। इस प्रकार इन पांच पंचमूलों को जितना, (ऊपर ४१ वें श्लोक में) कहा है उतने प्रमाण में ले।

इन सब (पांचों पंचमूल हरीतकी तथा आमलों) को दसगुने जल में (द्रवद्वैगुण्य की दृष्टि से बीस गुने जल में) पकावे (जल) दसवां भाग शेष रहे तो

वस्त्र से छानकर रस को ग्रहण करे तथा सब हरड़ों और सब आमलों के फलों की गुठलियां निकाल कर कूर्चन से भले प्रकार कूट कर उस क्वाथ में मिलाकर इन अधोलिखित चूर्णों को डाले —

मंडूकपर्णी, पिप्पली, शङ्खपुष्पी, कैवर्तमोथा, साधारण मोथा, विडङ्ग, चन्दन और अगर, मुलहठी, हल्दी, बालबच, नागकेसर, छोटी इलाइची, तथा दालचीनी प्रत्येक के ४-४ पल भाग लेकर (चूर्ण करके) पिसी हुई मिश्री एक हजार एकसौ पल, तैल २ आढक (द्रवद्वैगुण्य से ४ आढक) गोघृत तीन आढक (द्रवद्वैगुण्य से ६ आढक) मिलावे।

इन सबको (कलई किए हुए) तांबे के पात्र में (डालकर) मृदु अग्नि के द्वारा सिद्ध करे। बिना जला अवलेह जैसा (हो जाने पर पात्र को नीचे उतार ले और) शीतल हुआ जानकर (उसमें) मधु का प्रमाण स्नेह (घी तथा तैल) की मात्रा का आधा ले। इन सबको मिलाकर घी के पात्र में रखे। इसको मात्रा और काल के अनुसार प्रयोग करे।

जो मात्रा (किसी) एक आहार के पाचन के प्रति बाधा या उपरोध न करे (उतनी ही प्रयोक्तव्यमात्रा इस रसायन की जाननी चाहिए)। और इस रसायन की (सेवन की हुई मात्रा जब) पच जावे (तब) दूध के साथ साठी (के भात का) भोजन करना उचित है।

वाणप्रस्थी बालखिल्य आदि तथा अन्य तपस्वी ऋषि इस रसायन को पाकर दीर्घायु हुए थे (अपने) जराजीर्ण शरीर को छोड़कर वे नवीन तारुण्यावस्था को प्राप्त हुए थे। वे तपस्वी तन्द्रा, थकावट और श्वास से रहित नीरोग, एकाग्रचित्त, मेधावी, स्मृतिमान् बलवान होकर बड़ी श्रद्धा से ब्राह्मतप और ब्रह्मचर्य को चिरकाल तक पालन करते थे।

दीर्घायुष्य के इच्छुक को इस ब्राह्मरसायन का प्रयोग करना चाहिए (क्योंकि) वह दीर्घ जीवन, तारुण्यावस्था तथा इष्ट कामनाओं को प्राप्त करता है।

(१२) वक्तव्य—चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय का सर्वप्रथम व्यवस्थापत्र ब्राह्मरसायन ही है। इसमें पांचों पञ्चमूल, दस-दस पल एक सहस्र हरीतकी, तीन सहस्र आमले दस गुने जल में पाक करके शेष जो एक भाग जल बचेगा उसे छानकर हरड़ और आमलों के बीज निकाल कपड़े में छान उसे भी क्वाथ जल में मिलादो। फिर मण्डूकपर्णी आदि द्रव्यों का चूर्ण और चीनी डालकर तथा तैल एवं घृत भी डालकर मन्दाग्नि पर पाक कर अवलेह बनालें। ठण्डा होने पर मधु मिलालें। इसे यथा काल और यथा मात्रा प्रयोग में लावें।

४१ से ५२ वें श्लोक तक ब्राह्मरसायन पदार्थों का उल्लेख और निर्माण प्रक्रिया का वर्णन है। ५२ वें श्लोक की दूसरी पंक्ति से ५३ वें श्लोक तक काल मात्रा और पथ्य व्यवस्था दी गई है। ५४ से ५७ तक इस रसायन के सेवन का ऐतिहासिक रूप बतलाकर गुण वर्णन कर यथावश्यक प्रशंसा व्यक्त की गई है।

ब्राह्मरसायन का यह प्रथम योग निस्सन्देह लाभदायक सिद्ध हुआ है। यह योग स्वादिष्ट, पचने में सरल और गुणों में जैसा लिखा है वैसा ही है भी।

द्वितीय ब्राह्मरसायन

यथोक्त गुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमना तपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्। तदामलक सहस्र स्वरसं परिपीतं, स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरी शङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयंगुप्ताऽमृताचन्दनागुरु मधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवतीयूथिका चूर्णाष्ट भाग संयुक्तं, पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरस परिपीत मनातप शुष्कं द्विगुण सर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृति कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा। पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टमभागसंयुक्तमर्द्धकर्षवृद्धया यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य, जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुते इति ॥५८॥

भवन्ति चात्र—

इदं रसायनं ब्राह्म्यं महर्षिगणसेवितम् ।
भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः ॥५९॥
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः ।
श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षञ्चास्य प्रवर्तते ॥६०॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः ।
सभवत्यविषञ्चास्य गात्रे सम्पद्यते विषम् ॥६१॥
(इति द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्)

जैसे पहले कहे जा चुके हैं वैसे गुण वाले आमलों को एक हजार (लेकर दोलायन्त्र में लटका कर या) पिष्ट स्वेदन विधि द्वारा दुग्ध की भाप से अच्छी तरह स्विन्न करके छाया में सुखाकर गुठली निकाल कर चूर्ण कर लेना चाहिए। इस आमलक चूर्ण को एक हजार आमलों के स्वरस की भावना देकर शालपर्णी, पुनर्नवा, जीवन्ती, नागबला, ब्रह्मसुवर्चला, मण्डूकपर्णी, शतावरी, शङ्खपुष्पी, पिप्पली, वचा, विडङ्ग, कौंच, गिलोय, चन्दन, अगुरु, मुलहठी, महुआ के फूल, नील कमल, पद्म, चमेली, जूही, यूथिका इनके आमलकी चूर्ण से अष्टमांश चूर्ण के साथ मिलाकर पुनः नागबला के एक हजार पल स्वरस की भावना दे छाया में सुखा चूर्ण से द्विगुण गोघृत अथवा चूर्ण के बराबर मधु तथा घृत मिलाकर राब (फाणित) के सदृश करके पवित्र दृढ़ घी से चुपड़े पात्र में (रखकर) नीचे भूमि में (गड्ढा खोद कर) राख की ढेरी में योग्य रक्षा का विधान करते हुए अथर्ववेदज्ञ (वैद्य) पन्द्रह दिन तक स्थापित करदे। पन्द्रह दिन समाप्त होने पर (उसे) उखाड़ कर स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रवाल, काललोह (फौलाद) का (इनकी शोधित मारित भस्मों का) कुल आठवां भाग मिलाकर व्यक्ति के अग्निबल के अनुसार यथोक्त विधि से आधा आधा कर्ष बढ़ाते हुए प्रति दिन सवेरे प्रयोग करता हुआ तथा (उसके) पच जाने पर घृत सहित साठी चावलों (के भात को) दूध के साथ सेवन करता हुआ यथोक्त (रसायन के) गुणों को समाप्त करता है।

और यहां (इस सम्बन्ध में श्लोक) है (कि)—

महर्षिगण द्वारा सेवित यह ब्राह्म रसायन (जो कोई) प्रयुक्त करता हुआ (चलता है वह) नीरोग दीर्घायु, महाबलशाली, प्रजाप्रिय, मनोरथ सिद्ध (करने में समर्थ) चन्द्र (और) सूर्य के समान कान्ति (वाला) हो जाता है। सुने हुए को (वह तुरत) याद कर लेता है। उसका मन ऋषि के समान चलने लगता है वह पर्वत जैसे सार वाला (अर्थात् दृढ़) और पवन के समान पराक्रमशाली हो जाता है तथा उसके शरीर में विष (प्रभाव रहित) निर्विष हो जाता है।

यह दूसरा ब्राह्म रसायन है।

वक्तव्य—(१३) जो व्यक्ति रसशास्त्र को चरकसंहिता के बाहर का विषय मानते आये हैं वे आंख खोलकर इस द्वितीय ब्राह्मरसायन में **कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टमभागसंयुक्तम्** के प्रकाश में अपना मत सुधार सकते हैं। यह प्रयोग कल्पविदों के लिये एक अपूर्व देन है। वह यह कि उसी वस्तु के सूखे चूर्ण में उसी वस्तु के ताजे रस की भावना देना। यह प्रयोग प्राचीन ऋषियों की अनोखी सूझ को प्रकट करता है। आमलों को पिष्टस्वेद द्वारा अर्थात् स्थाली पर छिद्रित दूसरी स्थाली या कपड़ा जमाकर उसमें आमलों या हरड़ों या दोनों को भरदें पहली स्थाली में दूध छोड़ दें। दूध की भाप से आमलों आदि को स्विन्न या गलाने की तरकीब भी नई और निराली सूझ है। आमलों की सात भावना देने के लिये **कविराज गङ्गाधर** बतलाते हैं। पर यतः यहां स्पष्ट एक सहस्र आमलों के स्वरस का निर्देश है अतः वैसा चल नहीं सकता नागबला के १००० पल रस का जो निर्देश है वह द्रव द्वैगुण्य से दुगुना लिया जा सकता है। अष्टाङ्ग संग्रह में द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषावा के स्थान में द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रेण पाठ है जिसके अनुसार २ भाग घृत और १ भाग शहद लेने का आग्रह है। इन मतमतान्तरों से एक बात निश्चित है कि ब्राह्मरसायन द्वितीय में एकबार आमलों की भावना से एक प्रकार का; ७ बार से दूसरे प्रकार का; नागबला का रस जितनी मात्रा में लिखा है उससे तीसरी प्रकार का; द्रव द्वैगुण्य से चौथी प्रकार का; दो गुने घृत डालने से

पांचवीं प्रकार का; बराबर शहद और घी डालने से छटी प्रकार का; १ भाग घृत और २ भाग शहद से सातवीं प्रकार का; तथा भस्मों में से प्रत्येक को अष्टमांश डालने से आठवीं प्रकार का और सब मिला कर १।८ भाग डालने से नवीं प्रकार का तथा अवलेह के केवल अष्टमांश में ही भस्में डालने से दसवीं प्रकार का यह योग बनेगा। इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण आयुर्वेदीय योगों की कोटिनिर्धारण (standardisation) करने की कोई हिम्मत तक नहीं करता।

च्यवनप्राश

बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यः पाटलिर्बला।
पर्ण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्राबृहतीद्वयम् ॥६२॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु।
अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शटी ॥६३॥
मुस्तं पुनर्नवा सैला मेदेचन्दनमुत्पलम्।
विदारीवृषमूलानि काकोली काकनासिका ॥६४॥
एषां पलोन्मितान् भागान् शतानामलकस्य च।
पञ्चदद्यात्तदैकध्यं जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६५॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्।
तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः ॥६६॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्वा चार्द्धतुलां भिषक्।
मत्स्याण्डिकायाः पूताया लेहवत्साधुसाधयेत् ॥६७॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते प्रदापयेत्।
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा ॥६८॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात्।
इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः ॥६९॥
कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते।
क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्द्धनः ॥७०॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम्।
पिपासां मूत्रशुक्रस्थान् दोषांश्चाप्यपकर्षति ॥७१॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम्।
अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥७२॥
मेधां स्मृतिकान्तिमनामयत्व-
मायुः प्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धि-
वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥७३॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगा-
ल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं-
बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥७४॥
(इति च्यवनप्राशः।)

बेलगिरी, अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (अरलू) गम्भारी, पाढल, बला, चारपर्णियां (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), पिप्पली, गोखुरू, दोनों बड़ी कटेरियां (कण्टकारी बड़ी तथा ऊंटकटारा किसी के मत में छोटी बड़ी कटेरी), काकड़ासिंगी, भूमिआमलकी, मुनक्का, जीवन्ती, पुष्करमूल, अगर, हरड़, गिलोय, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, कचूर, मोंथा, पुनर्नवा (सांठ), इलाइची सहित मेदा महामेदा, चन्दन, नीलोत्पल, विदारीकन्द, अडूसे की जड़, क्षीरकाकोली, काकनासा, इन ओषधियों के प्रत्येक के १-१ पल भाग तथा आमले ५०० (गिनती में) ले। इन सबको १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में एक साथ पकावे। इन ओषधियों का (सम्पूर्णसार भाग—रस) निकला हुआ जान कर उसके रस को (छानले) और उन आमलों को निकाल कर (आमलों की गुठली निकाल कर घी तैल मिले हुए १२ पल में (आमलों की लुगदी को) भूनकर (काढ़े के रस को डाल) आधी तुला (५० पल) मछली के अण्डे जैसी श्वेत और दानेदार खांड डाल कर वैद्य अवलेह के समान शनैःशनैः पकावे। (अवलेह) तैयार होजाने पर (उतार कर) शीतल होने पर इसमें ६ पल मधु डाले। तथा ४ पल वंशलोचन, २ पल पिप्पली, दालचीनी इलाइची तेजपत्र नागकेशर (चारों मिलाकर) १ पल डालें।

इस प्रकार (निर्मित) इस च्यवनप्राश को परम रसायन कहा है और वह विशेष रूप से कास और श्वासनाशक बतलाया जाता है। क्षतक्षीणों, वृद्धों, बालकों का (वह) अङ्ग पुष्ट करने वाला है। स्वरक्षय, उरस् रोग, हृदय के रोग, वातरक्त, प्यास तथा मू-

और शुक्र के दोषों को नष्ट करता है।

इसकी वह मात्रा प्रयोग करनी चाहिए जो भोजन लेने में बाधक न हो। उसके प्रयोग से बहुत वृद्ध च्यवनऋषि पुनः युवा हो गये थे। इस रसायन को कुटी-प्रवेश विधि से प्रयोग करे तो मेधा, स्मरण शक्ति, कान्ति, नीरोगता, आयुवृद्धि, इन्द्रियों का बल स्त्रियों (को भोगने) में परम हर्ष, अग्नि की वृद्धि, वर्ण, निर्मलता तथा, वात का अनुलोमन प्राप्त होता है। तथा वृद्धावस्था के कारण प्राप्त रूप को छोड़कर नवीन यौवन के रूप को धारण करता है।

(यह च्यवनप्राश है।)

वक्तव्य—(१३) धन्वन्तरि भैषज्यकल्पनाङ्क के पृष्ठ २६०, २६१, २६२ तथा २८० वें पृष्ठ पर च्यवनप्राश का वर्णन विस्तार से किया गया है। पठकों से प्रार्थना है कि वे च्यवन-प्राश का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से भैषज्यकल्पनाङ्क पढ़ लिया करें।

आमलकरसायन

अथामलकहरीतकीनाम् आमलकविभीतकानाम् हरीतकी विभीतकानाम् आमलकहरीतकीविभीतकानां वा पला-शत्वग्वनद्धानां मृदावलिप्तानां कुकूलस्विन्नानामकूलकानां पलसहस्रमुदूखले संपोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासम्प्र-युक्तं भक्षयेदनन्नभुग्यथोक्तेन विधिना; तस्यान्ते यवाग्वा-दिभिः प्रत्यवस्थापनम्[1] अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च अयञ्च रसायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः ससर्पिष्कोऽतःपरं यथा-सुखविहारः कामभक्षः स्यात्।

अनेन प्रयोगेण ऋषयः पुनर्युवत्वमवापुर्बभूवुश्चानेक वर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमु-दिताश्चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तपः ॥७५॥

(इति चतुर्थामलकरसायनम्।)

आमले और हरड़ (पहला), आमले और बहेड़े (दूसरा), हरड़ और बहेड़े तीसरा अथवा आमले हरीतकी और बहेड़े (चौथा योग बनाने के लिये) ढाक की (ताजी) छाल में लपेट कर (ऊपर से) मिट्टी लीपकर (या उपलों) की अग्नि में स्विन्न कर (तत्पश्चात् उनकी) गुठली निकाल कर एक हजार पल (में से बचे हुए) को ओखली में कूटकर दही, घी, शहद, तिल कल्क, तिल तैल और शर्करा मिला कर (ठीक ठीक कल्प सिद्ध करके) बिना कुछ अन्न खाये हुये यथोक्त विधि से (इन चारों में से किसी को) सेवन करे। उसके पश्चात् यवागू आदि के द्वारा (इन रसायनों में से किसी को भी सेवन करने वाले को वैद्य) प्रकृतावस्था में ले आवे। घृत से अभ्यङ्ग (मालिश) तथा जौ के आटे से उत्सादन (उबटन करे)। इस रसायन का प्रयोग अधिक से अधिक (दिन में) दो बार पाचकाग्नि के बल को देख कर (करे)। और भोजन के समय (मुद्ग) यूष के साथ अथवा दूध के साथ घृतयुक्त साठी (का भात भक्षण करे) तत्पश्चात् शरीर-स्वास्थ्य के अनुकूल विहार और इच्छानुसार भोजन करने वाला हो जाय।

इस प्रयोग के द्वारा ऋषिगण पुनः युवा होगये थे, सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहने वाले तथा विकारों से रहित हुए थे। वे शरीर, बुद्धि और इन्द्रियबल से युक्त होकर अत्यन्त निष्ठापूर्वक श्रेष्ठ तप करते रहे थे।

वक्तव्य—(१४) ये चार रसायन योग हैं अथवा चौथा आमलकरसायनयोग है इस सम्बन्ध में साधारण भ्रम लगा-तार चलता चला आरहा है। परन्तु यतः इसके घटकों में कमी बेशी की गुञ्जाइश है अतः यह एक योग न होकर कई प्रकार के योगों का अवश्य सृजनकर्ता है अतः इसका शीर्षक चत्वारि रसायनानि जितना उचित है उतना अन्य नहीं।

इन रसायनों में आमला, हरीतकी तथा बहेड़ा ये त्रिफला के तीनों घटकों का ही प्रयोग किया गया है। इनकी मात्रा १००० पल मिलित होनी चाहिए पर वह गुठली निकाल कर हो या बिना गुठली निकाले इसका स्पष्ट सङ्केत

1 प्रकृत्यवस्थापनम्—गंगाधर।

न होने से अपने विचार से बिना गुठली निकाले ताजे फल मिलित १००० पल लिए जावें। दधि, घृत, मधु, पलल, शर्करा तैल इन द्रव्यों का कोईप्रमाण नहीं लिखा गया है। उसका कारण यह है कि दही डालकर यदि सम्पूर्ण १००० पल पदार्थ तैयार कर लिया जाता है और यथामात्रा उसका प्रयोग किया जाता है तो यह योग महीनों चलेगा और खराब हो जावेगा। इसी कारण निश्चित पदार्थ बनाने का सूत्र पूरा-पूरा नहीं दिया गया।

प्राचीन काल में रसायन प्रयोग सामूहिक रूप से किया जाता था। ५०–१०० ऋषि मिले, कुटियों का निर्माण हुआ वैद्य ने एक साथ १००० पल आमलों का नुस्खा डाल दिया और वह थोड़े समय में ही समाप्त हो गया फिर दुबारा योग बना लिया। प्राचीन कल्पना के अनुसार ही चरक के अधिकतर योग लिखे हुए हैं।

चाहिए यह कि यथावश्यकता नित्य ताजे आवले लेकर उन्हें स्विन्न कर दधि घृत मधु पलल शर्करा तैल मिला रसायन बना प्रयोग करावें। जहां यह सुविधा न हो वहां इन रसायन द्रव्यों में शरीर के लिए अहानिकर संरक्षक द्रव्यों (preservatives) का भी उपयोग करें ताकि योग सड़ न जावे।

हरीतक्यादियोग

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहेण पिप्पली-मधुमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभक क्षीरशु-क्लाकल्कसम्प्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसम्प्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नन् जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रिय बुद्धिबलमतुल-मुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुराप्नुयादिति ॥

—(इति पञ्चमो हरीतकी योगः)

हरड़, आमले, बहेड़े (और) पांचों पञ्चमूलों (जिनका वर्णन श्लोक ४२ से ४४ तक प्रथम ब्राह्मरसायन में कर चुके हैं) के क्वाथ में पिप्पली, मुलहठी, महुआ, काकोली, क्षीरकाकोली, कौंच के बीज, जीवक, ऋषभक, क्षीर विदारी के कल्क को डाले आठगुना दूध और विदारी स्वरस में घृत के साथ (एक) कुम्भ (२४ शराव) (योग) सिद्ध करके अग्निबलापेक्षी मात्रा में प्रयुक्त करते हुए (सेवित औषधि के) जीर्ण होने पर घी दूध के साथ शालि (वा) साठी (के चावलों का भात) गर्म जल के अनुपान के साथ भक्षण करते हुए (व्यक्ति) बुढ़ापा, बीमारी, पाप, अभिचार (इनके) भय से दूर होकर, अतुल शरीरबल, बुद्धिबल, (और) इन्द्रिय बल प्राप्त करके निर्बाध सब कार्य करते हुए दीर्घायु को प्राप्त करता है।

(यह पांचवां हरीतकी योग है।)

वक्तव्य—(१५) इस योग के वर्णन में मात्राओं का सर्वथा अभाव है। इसी कारण कुम्भम् शब्द से २ द्रोण मानकर घी की सिद्धि आचार्यों ने प्रदर्शित की है। चरक संहिता में अनेकों घृत योगों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। उस रूप में इसका वर्णन न करना यह सिद्ध करता है कि यह हरीतक्यादि घृत का योग न होकर हरीतकी योग ही है। पहले त्रिफला और पांचों पंचमूलों का क्वाथ करना है। क्वाथ बन जाने पर उसमें विदारीकन्द का स्वरस तथा दूध आठ गुना डालना है एक कुम्भ प्रमाण घृत आवश्यक है। चक्रपाणिदत्त स्वयं इसपक्ष के समर्थक हैं। पर सम्पूर्ण
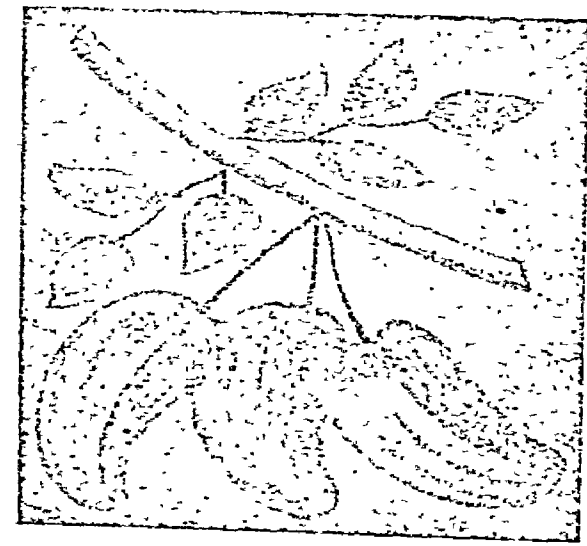
वक्तव्य पढ़ने से यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि पंचम हरीतकी योग एक घृत योग है। हां इस योग में घृत का प्रयोग होसकता है। मान भी लिया कि २४ शराव या २ द्रोण घृत इसमें पड़ना है तो अन्य औषधियों का मान कितना रहे इसका ऊहापोह नहीं किया गया। पिप्पली आदि का कल्क एक चतुर्थांश डालना चाहिए। क्वाथ कल्क और घृत को एक

साथ पका कर जो योग तैयार हो उसका सेवन करना ही अभीष्ट जान पड़ता है।

हरीतक्यादियोग द्वितीय

हरीतक्यामलकबिभीतकहरिद्रा स्थिरावचा[1] विडङ्गामृतवल्लीविश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरस शतपरिपीतमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकान्नमश्नीयात्, त्रिवर्षप्रयोगादस्यवर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषं भवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अधृष्योभूतानां भवति ॥७७॥

भवन्ति चात्र

यथामराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ॥७८॥
न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ॥७९॥
न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं सदेवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षयम् ॥

हरड़, आमले, बहेड़े, हल्दी, शालपर्णी, बच (या बला), विडङ्ग, गुडूची, सोंठ, मुलहठी, पिप्पली (और) सफेद कत्थे से सिद्ध दुग्ध से निकाले घी के साथ मधु शर्करा मिलाकर आमले के स्वरस से सौ बार भावना दिये आमलक चूर्ण को (समभाग) तथा लोहभस्म ¼ भाग मिला कर हथेली में आने लायक (१ तोला मात्र) सवेरे-सवेरे खाकर यथोक्तविधि से सायङ्काल मूँग की दाल या दूध के साथ या घी मिला कर शालि या साठि (के चावलों का भात) खाये। इसके तीन वर्ष प्रयोग से सौ वर्ष पर्यन्त बुढ़ापे से रहित आयु बनी रहती है, सुना हुआ याद रहता है, सब रोग शान्त होजाते हैं, शरीर में विष निर्विष हो जाता है, शरीर पत्थर के समान दृढ़ता प्राप्त करता है। और वह प्राणियों से अपराजित रहता है।

और यहां (श्लोक) हैं (कि):—

जिस प्रकार देवों के लिये अमृत, नाग लोगों को सुधा, वैसे ही प्राचीनकाल में महर्षियों के लिये रसायनविधि थी। प्राचीनकाल में रसायनसेवी महर्षि हजारों वर्षों तक बुढ्ढे नहीं होते थे, न दुर्बल होते थे, न बीमार पड़ते थे और न मृत्यु को ही प्राप्त हुए थे। जो रसायन का विधिपूर्वक सेवन करता है वह व्यक्ति इस लोक में न केवल दीर्घ आयु (ही) प्राप्त करता है अपि तु देवर्षियों से सेवित शुभ गति को तथा अक्षय ब्रह्मपद को (भी) प्राप्त करता है।

प्रथम रसायनपाद के विषय

तत्र श्लोकः।

अभयामलकीयेऽस्मिन् षड् योगाः परिकीर्त्तिताः।
रसायनानां सिद्धानामायुर्यैरनुवर्त्तते ॥८१॥

उक्त विषय में श्लोक है—

इस अभयामलकीय अध्याय में सिद्ध रसायन के छै योग कहे गये हैं जिनके (प्रयोग) से (दीर्घ) आयु बनी रहती है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्यायेऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः ॥१॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा बनाये चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किये (इस शास्त्र के) चिकित्सा स्थान में, रसायनाध्याय में अभयामलकीय नाम का प्रथम पाद (समाप्त हुआ)।

१—बला।

रसायनाध्याये द्वितीयः पाद

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (इस) प्राणकामीय (नामक द्वितीय) रसायनपाद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥ १ ॥

रसायन सेवन का फल

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानम् अमृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमबद्धमांसहरमन्तरग्निसंधुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम् । अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणाञ्चेष्टतमा बभूवुः, स्थिरसमसुविभक्तमांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः सर्वक्लेशसहाश्च ॥ २ ॥

हे प्राणों की इच्छा करने वालो ! मुझसे कहे जाते हुए, दूसरे अमृत के समान, देवताओं को हितकारी, कल्पनातीत, अद्भुत प्रभावकारी, दीर्घायुष्य करने वाले, स्वास्थ्यकारक, वयस्थापक, निद्रा-तन्द्रा-क्लम-श्रम, आलस्य और दुर्बलता के दूर करने वाले, वात, पित्त (और) कफ की समता करने वाले, स्थिरता करने वाले, शिथिल मांस को दूर करने वाले, जाठराग्नि को प्रज्वलित करने वाले, प्रभा वर्ण और स्वर को उत्तम करने वाले इस रसायन के विधान को सुनो। इस (रसायन के उपयोग में लाने से) च्यवन आदि महर्षिगण पुनः यौवन को प्राप्त हुए थे और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय हुए थे (और वे) दृढ़ समता से युक्त भले प्रकार विभक्त मांस (पिण्डली वाले) संगठित दृढ़ शरीर वाले, अत्यन्त प्रसन्न बलवान् वर्ण युक्त इन्द्रिय वाले सर्वत्र अपराजित पराक्रम वाले और कष्टों को सहन करने वाले (हुए थे) ॥२॥

रसायन का शरीरदोषनाशकत्व

सर्वेशरीरदोषाभवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांसतिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षाभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाशनाध्यशनप्रियाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसंक्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम् । अतो निमित्ताद्धि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्यते रक्तं विष्यन्दते चानल्पं मेदः न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा शुक्रं न प्रवर्तते क्षयमुपैत्योजः । एवम्भूतो ग्लायति सीदति निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितोऽनारतमाशु चैव श्वसित्यसमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसानां नष्टस्मृति बुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति । तस्मादेतान् दोषानवेक्षमाणः सर्वान् यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच ॥३॥

खट्टे, नमकीन, चरपरे, खारे, सूखे शाक, मांस, तिल, पलल, पीठी के अन्न भोजन करने वालों; अंकुरितधान्य, नये (उत्पन्न हुए) शूक धान्य और शमीधान्य, विरुद्ध असात्म्य रूक्ष क्षार युक्त (अथवा) अभिष्यन्दकारी (द्रव्यों के) खाने वालों; गीला, भारी सड़ा, बासा खाने वालों; विषमाशन (और) अध्यशन (जिन्हें) प्रिय लगता है, दिन में नित्य सोने वालों, नित्य स्त्री और मद्य का सेवन करने वालों; विषम मात्रा में अधिक व्यायाम करने से जिनका शरीर क्षुब्ध होचुका है उनका; भय, क्रोध, शोक, लोभ, मोह (और) बहुत श्रम करने वालों को (उपरोक्त वर्णित) ग्राम्याहार के कारण शरीर के सम्पूर्ण दोष (अर्थात् वात, पित्त और कफ) उत्पन्न होते हैं।

(ग्राम्याहार के) इन कारणों से (व्यक्ति की) मांस पेशियां शिथिल हो जाती हैं, अस्थि सन्धियां ढीली हो जाती हैं. रक्त विदग्ध हो जाता है, पर्याप्त बढ़ा हुआ मेद बह निकलता है, मज्जा अस्थियों में एकत्र नहीं होती है, न वीर्य की प्रवृत्ति होती है, ओज क्षय को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति होजाने पर, वह (व्यक्ति) ग्लानियुक्त होजाता है, शिथिल होजाता है, निद्रा-तन्द्रा तथा आलस्य से घिर कर उत्साह-हीन हुआ हांपने लगता है। (वह व्यक्ति) शारीर अथवा मानसी चेष्टाओं में असमर्थ (होजाता है)। (उसकी) बुद्धि, स्मरणशक्ति और छाया नष्ट होजाती है। (मानो कि वह) रोगों का अधिष्ठान् भूत होकर (अपनी) सम्पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं कर पाता है।

अस्तु, इन दोषों को निरखता हुआ यथोक्त सब अहितकारी आहार विहारादिकों को त्याग करके (ही वह) रसायनों को उपयोग में लाने के योग्य होता है। इस प्रकार कह कर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय बोले।

वक्तव्य—(१६) चरक संहिता के चिकित्सास्थान के प्रथम अध्याय का दूसरा रसायन पाद प्राणकामीय नाम से प्रसिद्ध है। प्राणकामाः शब्द से इस पाद का आरम्भ होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। इस पाद में प्राणों को स्वस्थ रखने वालों के लिए रसायनोपयोग की व्यवस्था की गई है। यहां जिन-जिन योगों का वर्णन किया जावेगा वे उसी प्रकार मानवों के लिए हितकर हैं जैसे अमृत देवताओं के लिए हितकारी है। इसके द्वारा होने वाले लाभों का यथोचित वर्णन दूसरे सूत्र में करके तीसरे सूत्र में ग्राम्य आहार से होने वाली हानियों का वर्णन किया गया है। और इन हानियों के हेतुओं को त्याग कर रसायन सेवन पर बल दिया गया है।

आमलकघृत

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्ण-रसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कपाद-सम्प्रयुक्तेन सर्पिषः साधयेदाढकम्। अतः परं विदारी स्वरसेन जीवन्ती कल्क सम्प्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरी कल्कसंयुक्तेन। अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्र चतुर्भाग सम्प्रयुक्तं सौवर्णे राजते मार्त्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्। तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्। जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्।

अस्य त्रिवर्षप्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति श्रुतमवतिष्ठते सर्वामयाः प्रशाम्यन्त्यप्रतिहतगतिश्च स्त्रीष्वपत्यवान् भवति ॥४॥

सुभूमि (हिमालय) में उत्पन्न, यथाकाल (माघ-फाल्गुण में पकने वाले) गन्ध, वर्ण, रस [जिनके] नष्ट नहीं हुए, रस से परिपूर्ण, वीर्य में पूर्ण प्रमाण (वाले) आमलों से एक चतुर्थांश पुनर्नवा का कल्क लेकर एक आढक (गोघृत) सिद्ध करले। तत्पश्चात् विदारी स्वरस के साथ जीवन्ती कल्क डालकर फिर चौगुने दूध से, बला और अतिबला के (चौगुने) कषाय से शतावरी कल्क (चतुर्थांश) डाल-डालकर। इसी क्रम से एक-एक द्रव्य से १००-१०० या १०००-१००० पाक कर के घृत सिद्ध करे उसके बाद शर्करा और शहद घृत का चतुर्थांश मिला सोने, चांदी या मिट्टी के शुद्ध

दृढ़ और घी से चुपड़े घड़े में (उस घी को) रखदे। इसे (रसायन सेवन की) पहले कही विधि के अनुसार (व्यक्ति की) जाठराग्नि का विचार करके सवेरे-सबेरे प्रयोग करे । पच जाने पर दूध घी के साथ शालि या साठी के चावलों (का भात) खावे ।

इस (आमलक घृत) के तीन वर्ष (तक) प्रयोग करने से (व्यक्ति की) आयु सौ वर्ष अजर (बुढ़ापे से रहित होकर) रहती है । (वह) जो सुनता है (वह उसे) याद रहता है, सभी रोग शांत होजाते हैं, स्त्री (संभोग) में (उसकी) अपराजित गति रहती है और (वह) सन्ततिवान् होता है ।

वक्तव्य—(१७) ऊपर एक आमलक घृत का वर्णन दिया गया है । इसके निर्माण का प्रकार क्या हो इसके सम्बन्ध में दो मत हैं । एक मत तो यह कहता है कि इसे कल्प-शास्त्र के विविध नियमों के अनुसार निर्माण किया जाय अर्थात् घी १ आढक न लेकर २ आढक लें, इसमें चतुर्गुण (८ आढक) आमलकी स्वरस डाला जावे और पुनर्नवाकल्क चतुर्थांश (आधा आढक) पड़े । इसी प्रकार विदारीकन्द का स्वरस ८ आढक, घृत २ आढक जीवन्ती कल्क ½ आढक, बला कषाय ८ आढक, अतिबला कषाय ८ आढक, शतावरी कल्क ½ आढक लेकर घृतसिद्ध किया जाय । घृत से चौगुने दूध में उसे सिद्ध किया जावे। यह मत ही प्रायशः मान्य है क्योंकि इसके अनुसार बने हुए आमलक घृत में अत्यधिक गुण वैशिष्ट्य पाया जाता है। दूसरा मत यह है कि जहां चौगुना कहा है वहां दूध चौगुना लिया जाय तथा शेष सब तरल घृत के समान लिए जांय। इस मत वालों का कथन है कि जब शतपाक या सहस्रपाक का विधान है तो द्रवद्वैगुण्य या द्रवचातुर्गुण्य की कोई आवश्यकता नहीं।

शतपाक या सहस्रपाक से अभिप्राय आमलकी, विदारी-कन्द, दुग्ध, बला, अतिबला इनके कषायों में क्रमशः पुनर्नवा जीवन्ती, शतावरीकल्क डालकर १००-१०० या १०००-१००० बार पाक करना है ।

यह प्रयोग चक्रपाणिदत्त के मत में तीन वर्ष निरन्तर प्रयुक्त किया जाना चाहिए । कुछ लोग समय की मर्यादा नहीं बांधते उनकी दृष्टि में इसे चाहे जब लेने से फल-प्राप्ति अभिप्रेत है या इसे जन्म भर लेना लक्षित नहीं होता इसी कारण त्रिवर्ष प्रयोगात् को ही मान्य ठहराया गया है । इसी आमलकघृत की प्रशंसा में नीचे के २ श्लोक और हैं जो योग की महत्ता पर मुहर लगाते हैं ।

भवतश्चात्र

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च ।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तपूजासुखचित्तभाक्च ॥५॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी ।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरञ्च समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥६॥

(इत्यामलकघृतम्)

यहां और दो श्लोक (हैं) :—

इस (शतपाकी या सहस्रपाकी आमलकघृत के) योग का सेवन करने वाले पुरुष का शरीर बृहत्, लोहे के समान दृढ़, इन्द्रियां स्थिर और सबल, (वह) दूसरों के द्वारा न पराजित होने वाला, रूप में अत्यन्त कान्तियुक्त, प्रशंसा से युक्त, पूजनीय, सुखी चित्त से युक्त, बल महान्, (उसके) वर्ण की विशुद्धि (सब में) अग्रणी (रहती है), (उसका) स्वर घन गर्जना का अनुकरण करने वाला (होता है), (उसको) सन्तति बहुत और दृढ़ (शरीर वाली) होती है । यह आमलक घृत (है)।

आमलकावलेह

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसम्प्रयुक्तं, पलाश-तरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातप-शुष्कमनस्थिचूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां संनीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः । तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत्, पौर्वाह्णिकः प्रयोगो नापराह्णिकः सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिः ।

अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, सम

पूर्वेण ॥७॥ (इत्यामलकावलेहः)

एक हजार आमले एक हजार पिप्पलियों के साथ, नये ढाक के क्षारोदक में डुबाकर रक्खे । तत्पश्चात् (जितने समय में) क्षारोदक (इन दोनों के) भीतर प्रवेश करे (तब तक उसमें रखकर) आमलों को अस्थि (गुठली) रहित करके, छाया में सुखा (दोनों का) चूर्ण बना चौगुने मधु और घृत में मिलाकर चौथाई भाग खांड से युक्त कर घी चुपड़े पात्र में रखकर छै मास तक भूमि के अन्दर स्थापित करदे। उस छै मास (के समय) के बीत जाने पर उस (व्यक्ति) के अग्निबल के अनुसार मात्रा खावे। (यह) प्रयोग पूर्वाह्न(सवेरे)में करने का है अपराह्न (दोपहर बाद) का नहीं और आहार विधि (भी) सात्म्य की अपेक्षा रखती है।

इसके प्रयोग से १०० वर्ष बुढ़ापा रहित आयु रहती है। यह (भी) पूर्व (प्रयोग) के समान है। (यह) आमलकावलेह है।

वक्तव्य – (१७) पलाश तरुण क्षारोदक बनाने की विधि यह है कि किसी नये तरुण ढाक को मय छाल के काट कर जलाकर राख कर ले, उस राख में ४ या ६ गुना जल घोल कर रखदे। नितर जाने पर धीरे-धीरे जल को अलग करले। इस जल को फिर कई बार (२१ बार तक) छान ले ताकि इसमें राख का गदलापन न आ सके। यह जल फिर थोड़ा उबाल ले उबालते-उबालते आधा या इतना रह जाने पर जिसमें १००० आमले और पिप्पली सरलता से डूब सकते हों उतार कर ठण्डा करले। यही क्षारोदक है। यदि पलाश का क्षार ही मिल जावे तो जितना आमलों और पिप्पली का वजन हो उसका सोलहवां भाग क्षार लेकर ६ गुने जल में डाल कर जल तैयार करे तथा इसमें दोनों को डुबादे यदि डूबने लायक जल न हो तो इसी प्रकार तैयार करके जल और डाल दें।

शहद और घी दोनों बराबर-बराबर लेकर आमलकी, पिप्पली चूर्ण से चौगुना लिया जायगा। परन्तु एक बात का ध्यान रहे कि मधु को पहले चूर्ण के साथ घोटकर फिर घृत को धीरे-धीरे एक रस कर दिया जावे। इनके मिलने के बाद इस अवलेह का एक चौथाई भाग शर्करा मिला दे। अच्छे बर्तन में रखकर मुख बन्द करके ६ महीने जमीन में गाड़ देने का विधान है।

आमलकचूर्ण

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्याम् एकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात् तद्वर्षान्ते सात्म्य पथ्याशी प्रयोजयेत्।

अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥८॥

इक्कीस रात्रि तक एक एक हजार आमलों का स्वरस पिया हुआ आमलों का एक आढक चूर्ण दो दो आढक मधु घृत (के साथ) एक करके आठवां भाग पिप्पली चूर्ण (तथा) चौथाई भाग खांड (या मिश्री) से भले प्रकार युक्त करके घी चुपड़े (अथवा घी के) पात्र में स्थित करके पावस ऋतु में राख के ढेर में रख देवे उसे वर्षा ऋतु के अन्त में सात्म्य (तथा) पथ्य भोजन करने वाला पुरुष प्रयोग करे।

इसके प्रयोग से पूर्व योगों के समान (ही) सौ वर्ष (तक) (सेवन करने वाले का) जरारहित जीवन रहता है।

वक्तव्य—(१८) 'आमलकसहस्र स्वरस परिपीतम्' के स्थान में कुछेक, 'आमलक स्वरस परिपीतम्' ऐसा मानते हैं पर जब १ आढक आमलों का स्पष्ट विधान है तो आमलक स्वरस का भी स्पष्ट विधान आचार्य ने कर दिया हो तो क्या आश्चर्य है।

विडङ्गावलेह

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानाम ध्यर्द्धाढकं सितोपलायाः सर्पिस्तैलमध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं

पूर्वेण यावदाशीः ॥९॥ (इति विडङ्गावलेहः)

वायविडङ्ग के दानों का चूर्ण एक आढक, एक आढक (ही) पिप्पली के दानों का चूर्ण, डेढ़ आढक चीनी, गोघृत, तिल तैल, (और) मधु (तीनों अलग अलग) एक एक आढक (इन छहों को एकत्र करके घी के पात्र में पावस ऋतु में राख के ढेर में दबा देना चाहिए। (शेष गुण उपयोग आदि) सब पूर्वोक्त (रसायन योगों के) समान फल दायक (जानें)। यह विडङ्गावलेह (है)।

द्वितीय आमलकावलेह

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्गतण्डुल चूर्णानामध्यर्द्धेन चाढकेन शर्करायाः द्वाभ्यां द्वाभ्यामाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रम्। अत ऊर्द्धं प्रयोगः।

अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥१०॥ (इत्यामलकावलेहोऽपरः)

जैसा (पूर्व में) कहा जा चुका है (वैसे) गुणों वाले एक हजार आमलों को ढकनयुक्त, भाप (जिसमें-से) बाहर न निकले (ऐसी) गीले ढाक की लकड़ी की (एक) द्रोणी में जङ्गल के कण्डों की अग्नि द्वारा (उनका) स्वेदन करना चाहिए। उन आमलों को भले प्रकार (जो) स्विन्न (हो चुके हैं तथा) शीतल (होने पर जिनसे) बीज निकाले जा चुके हैं उनको) कूट कर एक आढक पिप्पलीचूर्ण तथा एक आढक विडङ्ग चूर्ण का तथा डेढ़ आढक शर्करा का, दो दो आढक तैल, शहद तथा घी का मिलाकर पवित्र दृढ़ घी के पात्र में एकीस रात्रि पर्यन्त स्थापित करदे, तत्पश्चात (इसका) प्रयोग करे।

इसके प्रयोग से सौ वर्ष तक बुढ़ापे से रहित (अर्थात् पूर्ण तारुण्यावस्था में व्यक्ति का जीवन) ठहरता है। यह सब पूर्वोक्त योगों के ही समान है। (यह दूसरा आमलकावलेह है)

नागबलारसायन

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धमधुरकृष्णमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशान चैत्योषरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्य सञ्जातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् चले सुमुहूर्त्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्।

संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥११॥ (इति नागबलारसायनम्।)

जाङ्गल देश में कुशाओं से आच्छादित चिकनी काली मीठे स्वाद वाली मिट्टी वाली अथवा स्वर्ण वर्ण (की पीली) मिट्टी वाली विष हिंस्र प्राणी-वायु-जल अग्निदोष से दूर, जोत-बांबी-मरघट-चैत्य-ऊसर और रहने के मकान से रहित भूमि पर, ऋतु के अनुसार सुखकर वायु-जल और धूप से सेवित (स्थान पर) उत्पन्न (परन्तु) क्षति से अग्रस्त. समीप में जिसके कोई बड़ा वृक्ष उठा हुआ नहीं है, अधिक बाल (कच्ची) भी जो नहीं है, जो जीर्ण नहीं हुई, परिपक्व वीर्य से युक्त, पुराने (सड़े) पत्ते जिसके गले हुए हों। (और) जिन पर नये पत्ते न निकल सके हों ऐसी नागबला की मूलों को जमीन से वैद्य पवित्र होकर माघ वा फाल्गुण मास में मन पर संयम रख कर देवताओं का अर्चन करके, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके, चल मुहूर्त में उखाड़े। उनकी त्वचा को भले प्रकार धोकर (उसके) कल्क को पलमात्र या कर्षमात्र प्रमाण में अच्छी तरह पीस कर तथा दूध के साथ घोलकर, प्रातःकाल प्रयोग करे। अथवा नागबला मूलत्वचा को चूर्ण बना कर दूध से पिये अथवा घी-शहद मिला कर भक्षण करे। (इस योग के जीर्ण हो जाने पर दूध घी के साथ-साथ
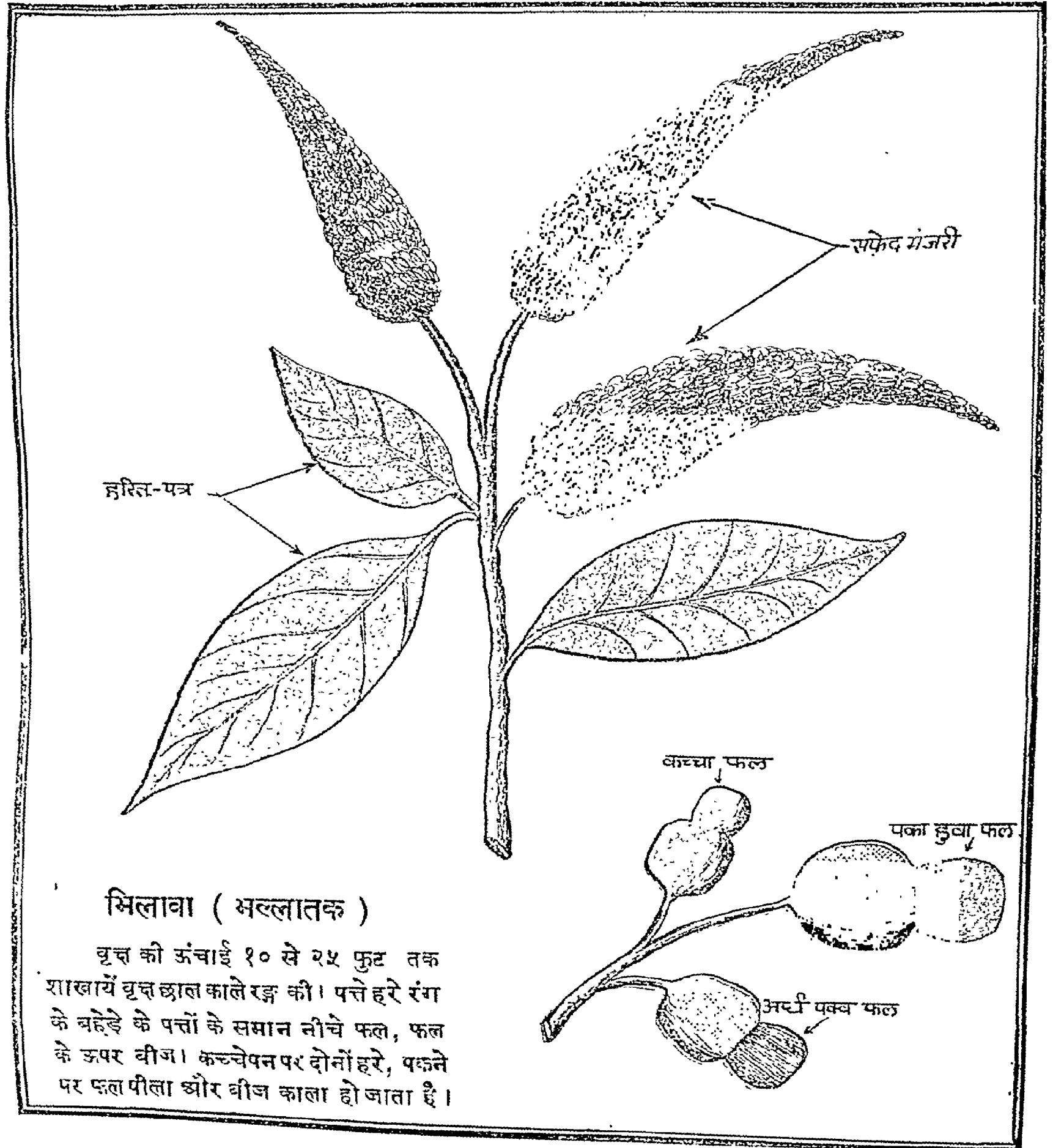
भिलावा (भल्लातक)

वृक्ष की ऊंचाई १० से २५ फुट तक शाखायें वृक्ष छाल काले रङ्ग की। पत्ते हरे रंग के बहेड़े के पत्तों के समान नीचे फल, फल के ऊपर बीज। कच्चेपन पर दोनों हरे, पकने पर फल पीला और बीज काला हो जाता है।

शालि या साठी के चावलों (का भात) खाय।

इसके एक वर्ष (निरन्तर) प्रयोग से सौ वर्ष अजर (तारुण्यपूर्ण) जीवन (लेकर व्यक्ति) ठहरता है। शेष सब पूर्व योगों के समान (जानना चाहिए)।

(यह नागबलारसायन–है।)

वक्तव्य—(१६) कौनसी नागबला (गंगेरन) रसायन की दृष्टि से ग्राह्य होती है, कहां से उखाड़ना चाहिए, प्रयोगार्थ किस भूमि में उत्पन्न गंगरेन लेनी चाहिए, उखाड़ने वाला व्यक्ति कैसा हो। आदि अनेक बातों पर यहां सविस्तर प्रकाश डाला गया है। आजकल नागबला को इन सब विधियों के बाद उखाड़ने की पद्धति को विश्राम मिल चुका है। भारतीय वैज्ञानिक युगानुयुग से वनस्पतियों में जीव की कल्पना को मानते आये हैं। अतः देवतार्चन, स्वस्तिवाचन आदि क्रियाओं द्वारा नागबला के जीवन समर्पण को पूर्ण तेजस्वी रूप देने के लिए ही यह विधान दिया गया है। नागबलामूल की त्वचा को धोकर गोदुग्ध में घोलकर अथवा उसके चूर्ण को फांक कर ऊपर से गोदुग्ध पीने के लिए कहा गया है। घी और शहद के साथ इसका भक्षण करना भी श्रेयस्कर माना गया है। इसका १ वर्ष पर्यन्त प्रयोग रसायनोक्त गुणों का प्रदानकर्ता लिखा गया है। नागबला के दुग्ध में घोलकर, चूर्ण बनाकर या मधु घी के साथ लेने के तीन प्रयोग दिये गए हैं।

बलादि रसायन योग

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासन स्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश नागबलयाव्याख्याताः।

बला, अतिबला, लाल चन्दन, अगरकाष्ठ, धव, तिनिश (आबनूस), खदिर (कत्था), सीसम, विजयसार तथा पुनर्नवान्त (जिसके अन्त में पुनर्नवा है ऐसी) ओषधियों का नागबला के द्वारा व्याख्यान हो चुका है।

वक्तव्य—(२०) पुनर्नवान्त ओषधियों का वर्णन चरकसंहिता सूत्रस्थान के षड्विरेचनाश्रितीय अध्याय में दशवयस्थापन ओषधियों के अन्तर्गत आचुका है।

अमृताभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति।

उपरोक्त वर्णन की दृष्टि से गिलोय, हरड़, आमला, रास्ना, श्वेत अपराजिता, जीवन्ती, शतावरी, ब्राह्मी, शालपर्णी और पुनर्नवा ये दस वयःस्थापन करने वाली ओषधियां होती होती हैं।

इस प्रकार यहां बला से आरम्भ कर पुनर्नवा तक १६ ओषधियों का वर्णन है। असन पर्यन्त अथवा पुनर्नवा पर्यन्त ओषधियों के स्वरस ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। नागबला की तरह ही इनमें से एक एक द्रव्य को पयसा आलोड्य चूर्णीकृतानि। पयसा वा मधुसर्पिर्भ्यां संयोज्य प्रयोग करना चाहिए।

स्वरसविधि

स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिश्चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम् ॥१२॥

(बलादि १६ ओषधियों के स्वरसों का जो ग्रहण करने का पूर्व में आदेश दिया गया है उन ओषधियों के ताजा प्राप्त न होने के कारण) स्वरसों के अभाव में यह स्वरस विधि (ग्रहण करनी चाहिए) एक आढक (ओषधियों का) चूर्ण, एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से दो आढक) जल एक दिन–रात (अर्थात् २४ घण्टे मिला कर रखने के बाद हाथ या लकड़ी के हथौड़े या रई से) मृदु बनाकर मसल कर (कपड़े से) छान कर (जो तरल मिले उसे) स्वरस के समान प्रयोग में लाना चाहिए।

भल्लातकक्षीर

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यव पल्वे माषपल्वे वा निधापयेत्। तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः पूर्वं दशभल्लातकानि आपोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषान्तर्मुखमभ्यज्य।

तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशत्प्रयोज्यानि । नातः परमुत्कर्षः प्रयोगविधानेनासहस्रपरो भल्लातक प्रयोगः । जीर्णे च सर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशननुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः ।

तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण । (इति भल्लातकक्षीरम् ।)

(जन्तुओं से) अनुपहत (बिना खराब किए), नीरोग, रस, प्रमाण और वीर्य से परिपूर्ण पकी जामुनों के समान वर्ण वाले भल्लादकों को ज्येष्ठ अथवा आषाढ़ के मास में एकत्र करके जौ अथवा उड़दों की राशि में रखदे । उनके चार महीने रखे रहने के उपरान्त अगहन अथवा पूस के महीने में (निकाल कर) शीतल, चिकने (तथा) मधुर (आहार) द्वारा संस्कार किए शरीर (वाले) को आरम्भ करे । पहले-पहल दस भिलावों को कूट कर आठ गुने जल से अच्छी तरह पकावे, उनका आठवां भाग रस शेष (होने पर) छान कर (अपने) मुख के भीतरी भाग को गाय के घी से लेप करके (उस काढ़े को) गाय के दुग्ध के साथ पिये ।

उनको एक-एक भिलावे के उत्कर्ष (और) अपकर्ष के द्वारा दस भिलावों को तीस पर्यन्त प्रयोग करना चाहिए । इसलिए (तीस से) बढ़कर न प्रयोग करे । (इस) प्रयोग विधान (के अनुसार) एक हजार तक भिलावों का प्रयोग (है) । (प्रयोग किए भल्लातक चीर के) जीर्ण होने पर घी दूध के साथ शालिपष्टिक का भोजन उपयोग में लाना चाहिए । प्रयोग पूर्ण होने पर दो बार दूध पीना चाहिए ।

उसके प्रयोग से सौ वर्ष बुढ़ापे से रहित तरुण जीवन ठहरता है । शेष सब पूर्व योगों के समान (जानना चाहिए) ।

वक्तव्य—(२१) भिलावे एक प्रकार के तीक्ष्ण द्रव से युक्त फल हैं । उनका साधारणतया स्पर्शमात्र भी छाले उत्पन्न कर देता है । ऋषिगण इस तथ्य को जानते थे तथा वे यह भी जानते थे कि भल्लातक उच्च कोटि के रसायन हैं अतः उन्होंने पूर्ण परिपक्व वीर्यरस जाम्बव वर्ण फलों को लेकर एक विशेष विधान द्वारा उन्हें वर्षाभर जौ या उड़द के ढेर में बन्द रख कर फिर आठगुने जल में औट अष्टावशेष रहने पर दूध मिला प्रयोग करने का आदेश दिया गया है ।

जो इस रसायन का सेवन करेगा उसे इसकी उग्रवीर्यता का पूर्ण परिचय कराया गया है ताकि उसे कोई दिक्कत न पड़े । ऋतु अगहन पूस की ठण्डी है रसायनसेवी ने शीतल मधुर और चिकने द्रव्य खाकर अपने शरीर को उष्णोग्रवीर्य भिलावों को ग्रहण करने के योग्य बना लिया है । फिर दूध और काढ़ा मिलाकर पीने के पूर्व भी मुख में गाय का घी भर लिया है ताकि मुंह न जले । आजकल भिलावे के काढ़े को कैपसूलों में भरकर लिया जासकता है ऊपर से दुग्ध पिया जा सकता है । पर कैपसूल जब फूटेगा तो अन्दर क्या बीतेगी ? इसका सहज अनुमान नहीं लगाया जा सकता पर मुख से पीने में उदर की सह्यासह्यता का परिज्ञान साथ-साथ होता रहता है ।

भिलावों का यह कल्प १० से आरम्भ होकर १-१ बढ़ कर तीस तक पहुंचता है फिर एक एक उतर कर १० तक आता है । कुल मिलाकर १००० भिलावों का उपयोग करना । उससे अधिक नहीं । १० से आरम्भ कर ३० तक ४२० भिलावे होते हैं । २९ से १० तक उतरने में ३९० भिलावे होते हैं इस प्रकार ८१० भिलावे में कल्प पूर्ण होता प्रतीत होता है । इसे पूरा १००० का करने के लिए पहले पांच दिन १०-१० भिलावे देकर फिर एक-एक बढ़ाया जावे तथा तीस भिलावे पांच दिन और देकर तब उतारना चाहिए ।

भल्लातकक्षौद्र

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत् । तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत तमष्टभागमधुसम्प्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात् ।

तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥१४॥ (इति भल्लातकक्षौद्रम् ।)

भले प्रकार जर्जर किये (कूटे) गये भल्लातकों को पिष्ट स्वेदन (पेंदी में छिद्र युक्त पाताल यन्त्र) में

भरकर, भूमि में कण्ठ तक गाड़े हुए घी चुपड़े दृढ़ घड़े के ऊपर (उसको) रखकर ऊपर से एक (छिद्र-वाले) सकोरे (शराव) को रखकर काली मिट्टी लेप (सुखा) कर गोबर (कण्डों) की अग्नि में उपस्वेदन करें। उन (भिलावों) का जो स्वरस (नीचे गढ़े हुए घड़े में) टपके उसका आठवां भाग शहद और दो गुना घी (डालकर एकीकरण करके) खाय।

उसके प्रयोग से सौ वर्ष तक अजर (जरा रहित) जीवन (लेकर व्यक्ति संसार में) टिकता है। (सेवन विधि आहारादि शेष सब) पूर्व (रसायन योगों) के समान (जानना चाहिए)।

(यह भल्लातक क्षौद्र है।)
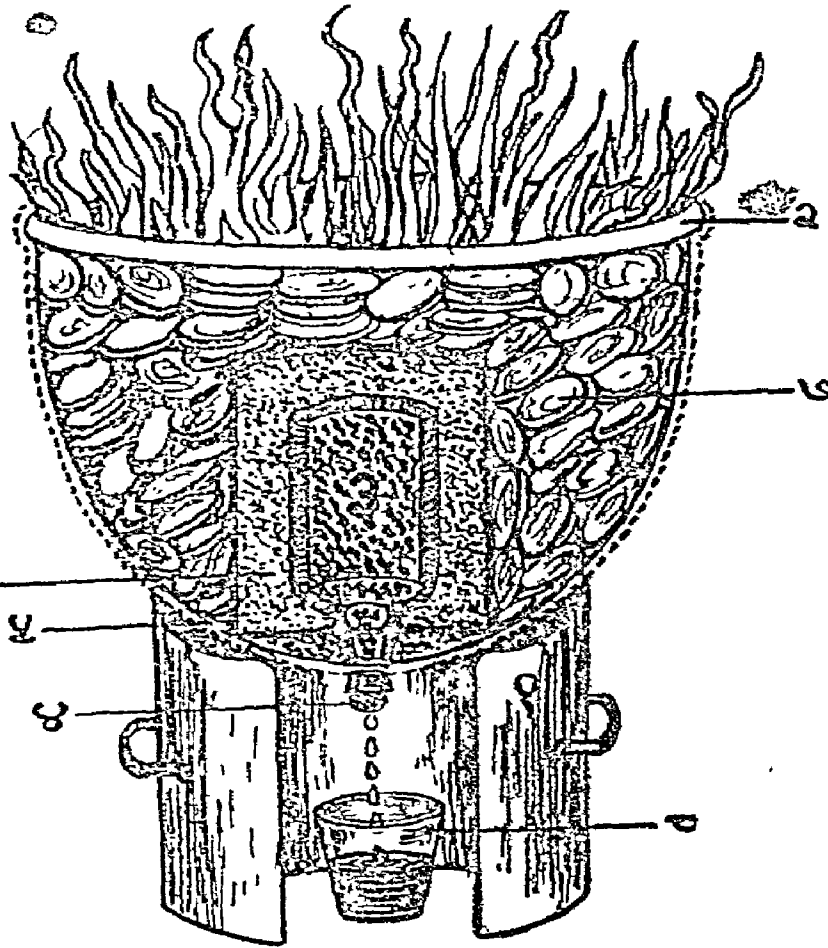
भल्लातक तैल

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यादिति समानं पूर्वेण ॥१५॥

(इति भल्लातक तैलम्।)

(उपरोक्त चित्र के अनुसार पाताल यंत्र से प्राप्त) भिलावे का स्वरस, तिलतैल एक-एक आढक, दूध (चार आढक) के साथ मुलहठी कल्क केवल एक अक्ष (एक तोले लेकर एक बार फिर इसी प्रकार) सौ पाक करें। शेष पूर्व योगों के समान।

(यह भल्लातक तैल है।)

भल्लातक विधान

भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं भल्लातकतैलमेवं गुडभल्लातकं भल्लातकयूषो भल्लातकसर्पिर्भल्लातकपललं भल्लातकशक्तवो भल्लातकलवणं भल्लातकतर्पणमिति भल्लातकविधानमुक्तम् ॥१६॥ (इति भल्लातक विधिः।)

भल्लातक क्षीर, भल्लातक क्षौद्र, भल्लातक तैल गुड भल्लातक, भल्लातक यूष, भल्लातक घृत, भल्लातक पलल, भल्लातक सक्तु, भल्लातक लवण और भल्लातक तर्पण इस प्रकार भल्लातकों (के प्रयोग करने की) विधि कही गई है।

(यह भल्लातक विधि है।)

वक्तव्य—(२२) सोलहवें गद्यांश में दस भल्लातक योगों का निर्देश किया गया है। इनमें भल्लातक क्षीर, भल्लातक क्षौद्र और भल्लातक तैल का वर्णन पहले हो चुका है। गुड भल्लातक का योग बनाने के लिये पातालयन्त्रोत्थ भल्लातक तैल को चतुर्गुण गुड के साथ पकाकर लड्डू बना प्रयोग करने की ओर निर्देश है। भल्लातक यूष को भल्लातक क्षीर के दूध के स्थान पर मांस यूष का प्रयोग करके बना सकते हैं भल्लातक स्वरस को घी (भल्लातक तैल पाक की तरह) के साथ सिद्ध करने से भल्लातक घृत बनता है तैल-पाक अथवा घृत-पाक की सब विधियां धन्वन्तरि भैषज्य कल्पनाङ्क में बहुत विस्तारपूर्वक तथा सचित्र समझाई गई हैं पाठक वहीं देखें। भल्लातक के पाताल यन्त्र द्वारा प्राप्त स्वरस को तिल कल्क के साथ मिश्रित करने से भल्लातक पलल बनता है इसी प्रकार भल्लातक सक्तु बनते हैं। सैन्धा नमक से साथ भिलावों को इस प्रकार रख दिया जावे जैसा आम का अचार रख दिया जावे तो भल्लातक लवण बनता है। खीलों के साथ भल्लातक स्वरस को मिलाकर भल्लातक तर्पण बनाने का विधान है।

प्राचीन काल में भल्लातक के ये अनेक प्रयोग जीवितैषणा रखने वाले ऋषि मुनियों में बहुत प्रचलित रहे होंगे ऐसा प्रतीत होता है।

भल्लातक के गुण

भवन्ति चात्र—

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्नि समानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥१७॥
एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः।
रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान् प्रयोगान्प्रकल्पयेत् ॥१८॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥१९॥
(इति भल्लातक विधिः।)

और यहां (श्लोक) हैं—

तीक्ष्ण, पाक करने वाले अग्नि के समान (गरम) भिलावे विधिविधानपूर्वक प्रयोग (करने) से अमृत तुल्य होजाते हैं। इन (भिलावों) के (जो) ये दस प्रयोग बतलाये गये हैं उन प्रयोगों को व्याधि का ज्ञाता, प्रकृति का ज्ञाता तथा सात्म्य का ज्ञाता (वैद्य) उपयोग में ले। न (तो कोई) कफज रोग है (और) न कोई विबन्ध (दोष मलादि के द्वारा स्रोतोवरोध) है जिसको मेधा और अग्नि का बढ़ाने वाला भिलावा शीघ्र न नष्ट करदें। (यह भल्लातकविधि-है।)

रसायन सेवन का फल

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनद्या महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ॥२०॥
ज्ञानं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्मध्यानमेव च।
दीर्घायुषो यथाकामं संभृत्य त्रिदिवं गताः ॥२१॥
तस्मादायुः प्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः।
रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥२२॥

प्राचीन काल में वृद्धच्यवन आदि महर्षि जीवन की कामना वाले होकर इन्हीं कल्याण करने वाले रसायन योगों के द्वारा अपरिमित काल जीवी हुए थे तथा ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य, अध्यात्म और ध्यान जितनी इच्छा उतना करके स्वर्ग को गये थे। अतः जीवन की कामना रखने वालों और सुख चाहने वालों को आयुवृद्धि के लिये दत्तचित्तता से विधिपूर्वक रसायनविधि का सेवन करना चाहिए।

द्वितीय रसायन पाद के विषय

तत्र श्लोकः—

रसायनानां संयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा।
निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा ॥२३॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि):-(सम्पूर्ण) प्राणियों के हित को चाहने वाले महर्षियों के द्वारा (इस) प्राणकामीयरसायनपाद में रसायनों के सैंतीस सिद्ध प्रयोग कहे गये हैं।

इत्यग्निवेशकृतेतन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः ॥१-(२)॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत (इस) शास्त्र में चिकित्सास्थान रसायनाध्याय में प्राणकामीय नामक दूसरा रसायनपाद (समाप्त हुआ)।
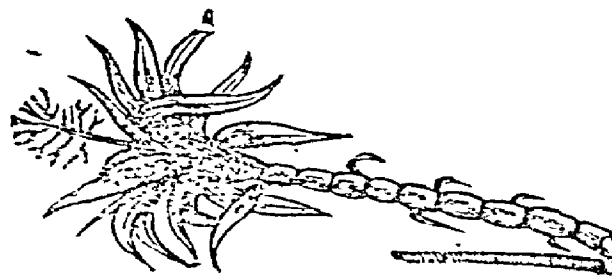
रसायनाध्याये तृतीयः पादः

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) करप्रचितीय (नामक तृतीय) रसायनपाद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

आमलकायसब्राह्मरसायन

करप्रचितानां यथोक्त गुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्। अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रजननानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानां औषधगणानां चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः कृत्तानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्यचित्रकविडङ्गानाञ्च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्। तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंशविदलशरतेजनाग्निभिर्वा साधयेत्। यावदपनयाद्रसस्य तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य्य शोषयेत्, सुशुष्कं तत्कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयः स्थाल्यां निधापयेत् सम्यक्। तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसम्प्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ॥२॥

तत्र श्लोकाः।

एतद्रसायनं पूर्व्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः।
जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः ॥३॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयाः।
यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ॥४॥
इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम्।
जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥५॥

(इत्यामलकायसं ब्राह्मरसायनम्।)

माघ या फागुन के महीने में, यथोक्त गुण वाले हाथ से तोड़े हुए (स्वयं भूमि पर गिरे हुए जो न हों अपितु हाथ से तोड़े गये हों ऐसे), गुठली निकाल दी गई है (जिनकी), सुखाकर चूर्ण किए गये, २१

बार अपने ही (आंवलों के) रस से परिपीत (भावित होने के पश्चात्) पुनः सुखाकर चूर्ण किये हुये आमलों का एक आढक ग्रहण करे। तत्पश्चात् षड्विरेचना-श्रितीय (नामक सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में) कहे गये जीवनीय, बृंहण, दुग्धजनक, शुक्रवर्द्धक, वयःस्थापक, ओषधिगणों की ओषधियां (तथा) चन्दन, अगर, धव, आबनूस (तिनिश), कत्था, सीसम, विजयसार के काष्ठों के अणु जैसे बारीक काटे गये तथा हरड़, बहेड़ा, पिप्पली, वचा, चव्य, चित्रक, वायविडङ्ग इन सबको मिला कर एक आढक (लेकर) दसगुने (द्रव द्वैगुण्य से बीस गुने) जल में सिद्ध करे। उसमें एक आढक (द्रव द्वैगुण्य से दो आढक) अवशिष्ट छने रस में उन आमलों के चूर्ण को देकर जब तक रस का शोषण हो (तब तक) गोबर (के उपलों की अग्नि से अथवा फटे हुए बांस, सरकण्डा वा तेजबल की अग्नि से पाक करे।

बिना जले उसको नीचे उतार कर लोहे की थालियों में फैला कर सुखावे। भले प्रकार सूखे हुए

उस (चूर्ण को) काले हरिण के चर्म पर रखी शिला पर बारीक पीस कर लोहे की स्थाली में ठीक से रख दें। इस चूर्ण को आठवां भाग लोहभस्म मिला कर शहद और घी के साथ अग्निबल का विचार करके प्रयोग करे।

यहां (आगे अधोलिखित) श्लोक (और हैं)– पूर्वकाल में इस रसायन का वसिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु और उनके सदृश अन्य (महर्षियों ने) प्रयोग करके इसके प्रभाव से आत्म-संयमी, श्रमरोग वृद्धावस्था से मुक्त और अत्यन्त बलशाली (होकर) जब तक इच्छा रही (तब तक) तप करते रहे।

सहस्र वर्ष (जीवन देने वाले), जरा (और) व्याधियों का प्रशमन (करने वाले तथा) बुद्धि (और) इन्द्रियों को बल देने वाले इस रसायन को ब्रह्मा जी ने किया था।

(यह आमलकायस ब्राह्मरसायन है।)

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च।
रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ॥६॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं न हि किञ्चिद्रसायनम्।
ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिद्धयत्यप्रयतात्मनाम् ॥७॥

प्राचीन समय में महर्षि ने रसायन के प्रयोग से तप, ब्रह्मचर्य, ध्यान और प्रशम के द्वारा, दीर्घ-कालिक आयु से युक्त रहा करते थे। ग्रामीण, अन्य विविध कार्यों में फँसे हुए तथा असंयमी पुरुषों को रसायन थोड़ा (सा भी) सिद्धिदायक नहीं होता।

केवलामलकरसायन

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत्सदा।
सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी यतेन्द्रियः ॥८॥
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीतिथिम्।
त्र्यहोपवासी शुक्लस्य प्रविश्यामलकी वनम् ॥९॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम्।
गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात् ॥१०॥
तदाह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम्।
शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्तिमृदूनि च ॥११॥
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्तिभक्षयेत्।
जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः ॥१२॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः।
स्वयञ्चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक् च रूपिणी ॥१३॥

ब्रह्मचारी, इन्द्रियसंयमी व्यक्ति एक वर्ष पयोवृत्ति-पूर्वक (केवल गो दुग्धपान करता हुआ) मन से सदा ब्रह्मगायत्री का जप करता हुआ, गायों के बीच में बसे। वर्ष के अन्त में पूस, माघ या फागुन की शुक्लपक्ष की तिथि (पूर्णिमा) को तीन दिन उपवास कर के आमलों के वन में प्रवेश करके मोटे आमलों के फल (जिस पर लदे हों उस) वृक्ष पर चढ़ कर शाखा में लगे फलों को हाथ से पकड़ कर अमृत के आने तक ओङ्कार का जप करता हुआ बैठे। उस समय (कम से कम) एक क्षण के लिए (तो) आमलों में अवश्य ही अमृत बस जाता है। अमृत का संयोग होने से मिश्री और मधु के समान मीठे, स्निग्ध तथा मृदु (वे आमले) होजाते हैं। उन आमलों को जितनी संख्या में वह खाता है उतने ही सहस्र वर्ष तक वह यौवन प्राप्त करता हुआ जीता है। इन आमलों को तृप्तिपूर्वक खाकर तो वह देव समान हो जाता है और उसके पास श्री (लक्ष्मी), वेद, तथा मूर्तिमती सरस्वती अपने आप उपस्थित रहती है।

(यह केवलामलक रसायन—है।)

वक्तव्य—(२३) प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र तथा धार्मिक ग्रन्थों में अमृत की बड़ी सुन्दर कल्पना की गई है। अमृत एक ऐसा तरल है जिसे लेकर स्वयं भगवान् धन्वन्तरि समुद्र से उत्पन्न हुए थे। समुद्र को देवता तथा दानवों ने इस अमृत के लिए ही मथा था। समुद्रमन्थन के उस प्रसङ्ग को अमृत मन्थन के नाम से पुकारा जाता है। अमृत को सेवन करने के कारण ही देवता अमर हो गये हैं। यह एक ऐसा दिव्य तरल है कि जिसके सेवन करने से मृतक भी सजीव हो उठता है। देव-दानवों के युद्ध में मरे हुओं को जीवित करने के लिए अमृत का ही उपयोग किया जाता था। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीन ग्रन्थावली में

अमृत के गुणों पर जितना साहित्य मिलता है वह इस बात को सिद्ध कर देता है कि अमृत कोई कपोल कल्पित वस्तु न होकर एक वास्तविक पदार्थ रहा था और जो आयुष्य वर्द्धन में अन्यतम उपकारक रहा था तथा जिसका सारा संग्रह देवताओं के ही पास था।

केवलामलकीय रसायन का वर्णन करने में हमें अमृत के स्थान का पता लगता है। आमलों के सघन वन पहले होते थे। उनमें पूस माह या फागुन के महीने में अत्यधिक पुष्ट आमलों के अन्दर एक क्षण के लिए अमृत आता था। अमृत आने से फल चिकना और कोमल होजाता था तथा जिसे खाने से शहद या मिश्री का स्वाद आने लगता था। व्यक्ति जितने ऐसे आमले खा लेता था उतने ही हजार वर्ष वह जीवित रहता था। पर जिसे अमृततत्वयुक्त कई आमले मिल जाते थे वह तो देवताओं के समान अमरत्व प्राप्त कर लेता था। अमृतयुक्त आमलों को साधारण रूप में सेवन करने का कोई लाभ प्रतीत नहीं होता। आचार्यों का कथन है कि जो अधिक जीवन की आशा रखता है उसे १ वर्ष निरन्तर गायों में बसना चाहिए और केवल गोदुग्ध का ही सेवन करना चाहिए। साथ ही उसे ब्रह्मचर्य का पालन और जितेन्द्रिय बनकर रहना चाहिए। अमृत भक्षण करने से तीन दिन पूर्व उसे निराहार रहना भी परमावश्यक बताया गया है। सम्पूर्ण वर्ष पर्यन्त व्यक्ति को गायत्री का जप करते रहने की भी शिक्षा दी गई है। उसे स्वयं पेड़ पर चढ़ना और आमले को हाथ में पकड़ कर तब तक प्रणवमन्त्र (ओ३म्-ओ३म्) का जप करने का आदेश है जब तक आमला खूब मुलायम और चिकना होजावे क्योंकि तभी उसमें अत्यल्प काल के लिए अमृत आता है।

अमृत कहां मिलता है? इस प्रश्न का सबसे सुन्दर उत्तर है कि वह ताजी डाल से स्वयं प्रयोगकर्त्ता के द्वारा तोड़े गए आमलों में रहता है। तोड़ने के तुरन्त बाद ही उसका सेवन किया जाय तब तो वह अमृत उसमें रहता है अन्यथा देर होजाने पर वह उसको छोड़कर हट जाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों और रिसर्च स्कालरों का कर्त्तव्य है कि वे अगर अमृत की खोज आरम्भ कर एक ऐसे तत्व तक पहुँचना चाहते हैं जो उन्हें हजारों वर्ष जिन्दा रहने की शक्ति दे दे तो उन्हें आमले के ताजे फलों को तोड़ कर जांच करनी चाहिए। यह जांच पूस माघ अथवा फागुन की पूरनमासी के दिन करनी चाहिए।

अमृत किसे प्राप्त हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर भी ऊपर दिया गया है अर्थात् ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, साल भर गायों में रहने वाले और गोदुग्ध ही पीने वाले को जिसे अमृत प्राप्ति से तीन दिन पूर्व निराहार रहना होगा।

लौहादिरसायन

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवांक्षारे चलावणे।
क्रमेणचेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षारएव च ॥१४॥
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि वापयेत्।
चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधसमानि च ॥१५॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ॥१६॥
युक्तानि लेहवत्कुम्भे स्थितानि घृतभाविते।
संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तथैव च ॥१७॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः।
संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ॥१८॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्।
एष एव च लोहानां प्रयोगः सम्प्रकीर्तितः ॥१९॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च।
आयुः प्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत् ॥२०॥
नाभिघातैर्न चातंकर्जरया न च मृत्युना।
स धृष्यः स्याद्गजप्राणः सदा चाति बलेन्द्रियः ॥२१॥
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाधनः।
भवेत्समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम् ॥२२॥

तीक्ष्णलोह के चार अङ्गुल दीर्घ तिल बराबर मुटाई वाले पत्रों को अग्नि के वर्ण का लाल (तपाकर) बारी-बारी से त्रिफला स्वरस, गोमूत्र, यवक्षारोदक, सैन्धवलवण-जल (अथवा ज्योतिष्मती के क्षारीय जल) इङ्गुदी (हिंगोट) के क्षारीय जल तथा पलाशक्षार (के जल) में बुझावे। (बुझाते बुझाते जब अञ्जन के समान काली आभा होजाय (तब

उनका) सूक्ष्म चूर्ण (पीस कर) करलें। उस चूर्ण को मधु के साथ और आंवलों के स्वरस से युक्त करके घी से चुपड़े घड़े में अवलेह के समान भर दे और साल भर तक जौ की राशि के नीचे रखदे। बुद्धिमान् (वैद्य को) प्रति मास (उस घड़े को) हिला-कर सर्वत्र आलोडित करना चाहिए। एक साल बीतने पर उसका घी और शहद के साथ सवेरे-सवेरे बल के अनुसार (मात्रा में) प्रयोग करना चाहिए। इस (रसायन के) पच जाने पर सात्म्य भोजन (करना चाहिए) यह ही धातुओं का प्रयोग कहा गया है। इसी ही विधि से स्वर्ण और रजत का आयु-वर्द्धक, सर्व-रोगनाशक और सिद्ध प्रयोग (बनता है)।

जो व्यक्ति लोहादि रसायन का एक वर्ष तक प्रयोग करता है वह न चोटों से, न रोगों से, न वृद्धावस्था से और न मृत्यु (ही) से पराभूत होता है। वह गज के समान प्राणवाला सदैव अत्यधिक बलशाली इन्द्रियों वाला, धीमान, यशस्वी, वक्ता, श्रुतधर और अत्यन्त धनी होजाता है।

(यह लौहादिरसायन—है।)

वक्तव्य—(२४) चरक संहिता में लोहादि रसायन के नाम से जो ऊपर वर्णन किया गया है वह चरक पद्धति से लोहभस्म, रजतभस्म और स्वर्णभस्म के निर्माण का प्रकार है। लोक में धातुओं का शरीर में उपयोग करने की दृष्टि से यह आदि प्रयोग मालूम होता हैं। लोह, स्वर्ण और रजत कितने समय से हमें ज्ञात थे और कितने समय से खानों से उन्हें निकालने की विद्या में हम भारतीय कुशलहस्त थे इसका भी थोड़ा अनुमान हमें मिल जाता है। तीक्ष्ण लोह का निर्माण जहां आज के युग में भी सरल कार्य नहीं है तब अति प्राचीनकाल में इनका निर्माण कैसे होता था उस पर आज का विश्व आश्चर्य भले ही करे पर अपने विचार से प्राचीन भारतीय प्रक्रियाओं के ही शोधित रूप को आज के कारबर बरतने हैं ऐसा मानना पड़ेगा। लोह, रजत और स्वर्ण के पत्रों को त्रिफलादि क्वाथों के तरलों में बुझाने की प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक कि धातुपत्र पूर्णतः चूर्ण होने लायक कुरकुरे या भुरभुरे नहीं होजाते फिर उन्हें मधु और आमलकी स्वरस यथावश्यक के साथ मिला मिट्टी के घृत भावित पात्र में रखना, जौ के ढेर में दबाना, हर महीने खूब चला देना और तब प्रयोग करना पूर्णतः सङ्गत है। इस प्रकार करने से धातु की भस्म रसायन रूप धारण कर लेती है। एक वर्ष में यह रसायन बनती है और साल भर तक ही इसे प्रयोग करने का आदेश है तब जाकर कहीं उपरोक्त गुणों को प्राप्त करने में स्वस्थ व्यक्ति समर्थ होता है इसका प्रयोग करने के पूर्व कुटी प्रवेश की सब प्रक्रियाएँ अवश्य पूर्ण कर लेनी चाहिए।

ऐन्द्री रसायन

ऐन्द्री मत्स्याक्षिको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला।
पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम् ॥२३॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेम सर्पिर्विषैर्विना।
द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ॥२४॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदैकध्यं प्रयोजयेत्।
घृत प्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ॥२५॥
जराव्याधि प्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम्।
आयुष्यं पौष्टिकं धन्यं स्वरवर्ण प्रसादनम् ॥२६॥
परमोजस्करं चैतत् सिद्धमैन्द्रं रसायनम्।
नैनं प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ॥२७॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः
प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः
शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ॥२८॥

(इत्यैन्द्रं रसायनम्।)

ऐन्द्री (नामक दिव्यौषध), मछेछी, ब्राह्मी, बाल वच, ब्रह्मसुवर्चला (नामक दिव्यौषध), पिप्पली, सैन्धव लवण, स्वर्ण (के पत्र) शङ्खपुष्पी, वत्सनाभ विष, गोघृत। इनमें से स्वर्ण, घृत और वत्सनाभ को छोड़ (शेष सब) तीन तीन जौ (बराबर), स्वर्ण के पत्र २ जौ, विष तिल प्रमाण लेना चाहिए तथा गाय का

घी एक पल लेवे उस सबको (यथा विधि कूट कपड़छान कर घी मिलाकर) एकत्र करके प्रयोग करे। (इस औषध के) पच जाने पर खूब घी तथा शहद और अन्न (का प्रयोग) हितकर होता है।

यह सिद्ध ऐन्द्री रसायन बुढ़ापा और रोग शान्त करने वाली, अत्यन्त स्मृति (और) बुद्धिवर्द्धक, आयुदाता, पौष्टिक, अभ्युदयदाता, स्वर (और) वर्ण को शुद्ध करने वाली, अत्यन्त ओजवर्द्धक है। इस रसायन को न कृत्या (अभिचारयोग), न दरिद्रता, न विष (और) न रोग (ही) पराभूत कर-पाते हैं।

इस रसायन (के प्रयोग) से कुष्ठ सहित श्वित्र, उदररोग, गुल्म, पुराना प्लीहोदर, और विषमज्वर; तथा मेधा स्मरण शक्ति और ज्ञाननाशक तथा अत्यंत बलवान् वातरोग; शान्त होजाते हैं।

(यह ऐन्द्री रसायन—है।)

वक्तव्य—(२५) इस ऐन्द्री रसायन के निर्माण में कई बाधायें इसलिये आती हैं कि ऐन्द्री, मत्स्याक्षक तथा ब्रह्मसुवर्चला नामक विशिष्ट ओषधियां आज तिरोहित हो चुकी हैं। कविराज गङ्गाधर ऐन्द्री से इन्द्रायण, तथा ब्रह्मसुवर्चला से सूर्यभक्ता (हुलहुल) ग्रहण करते हैं। अष्टाङ्ग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने ब्रह्म सुवर्चला का अर्थ मण्डूकपर्णी दिया है। यतः यह एक मेध्य योग है अतः ये तीनों ओषधियां भी मेध्य होनी चाहिए।

मेध्य रसायन योग

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः
क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूल पुष्प्याः
कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥२९॥
आयुः प्रदान्यामयनाशनानि
बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि
मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥३०॥

मण्डूकपर्णी के स्वरस का प्रयोग करे, (अथवा) गाय के दूध के साथ मुलहठी का चूर्ण (अथवा) गिलोय के स्वरस (का प्रयोग करे अथवा) जड़ और फूलों के साथ शंखपुष्पी के कल्क का प्रयोग करे।

ये (चार) मेध्य रसायनें आयुवर्द्धक, रोग-नाशक, बलवर्द्धक, अग्निवर्द्धक, वर्ण-प्रसादक, स्वर-सुधारक (हैं तथा चारों में) शङ्खपुष्पी (सबसे अधिक) बुद्धिवर्द्धक है।

पिप्पलीरसायन

पञ्चाष्टौ सप्तदश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥३१॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥३२॥
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा।
जेतुं कासं क्षयं श्वासं शोषं हिक्कां गलामयान् ॥३३॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम्।
वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ॥३४॥
(इति पिप्पलीरसायनम्।)

रसायन के गुणों की खोज करने वाला, ५-८-७ अथवा १० पिप्पलियों को घी और शहद के साथ एक साल भर प्रयोग करे। रसायन के गुणों को पाने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति द्वारा ढाक के क्षारीयजल से भावित, घी में भूनी, घी शहद (अथवा अकेले शहद) के साथ प्रातःकाल (एक-बार) भोजन से पहले (तथा दूसरी बार) भोजन के बाद में तीन तीन (उक्त प्रकार भावित और भुनी हुई), पिप्पलियां कास, क्षय, शोष, श्वास, हिक्का, गल-रोग, अर्श, संग्रहणी, पाण्डु, विषमज्वर, स्वरभङ्ग, प्रतिश्याय, शोथ, गुल्म (तथा) वातबलासक (नामक रोगों को) जीतने के लिये प्रयोग की जानी चाहिए।

(यह पिप्पलीरसायन—है।)

पिप्पलीवर्द्धमानरसायन

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम्।
वर्धयेत् पयसा सार्द्धं तथैवापनयेत् पुनः ॥३५॥

जीर्णे-जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ॥३६॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः शृता मध्यबलैर्नरैः।
चूर्णीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति ॥३७॥
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्त्तितः।
प्रयोगो यस्त्रिपर्य्यन्तः सकनीयान् स चाबलैः ॥३८॥
बृहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम्।
वयसःस्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥३९॥
(इति पिप्पलीवर्द्धमान रसायनम्)

दशपैप्पलिक दिन (दस पिप्पलियों वाले प्रथम दिन) से दश दिन तक गाय के दूध के साथ (१०-१० पिप्पली की प्रतिदिन) क्रमिक वृद्धि द्वारा (पिप्पलियां) बढ़ावे तथा फिर (दश दिन पूर्ण होने पर १०-१० पिप्पलियों का क्रमिक ह्रास करता हुआ दशपैप्पलिक दिन तक) घटावे। यह एक हजार पिप्पलियों का रसायन योग है। (सेवन की हुई पिप्पलियों के) जीर्ण होने पर दूध और घी के साथ साठी के चावलों (का भात) खावे ॥

दोष और व्याधि (का ध्यान रख कर) बलवान् व्यक्ति को पीसकर, मध्यम बल वाले व्यक्ति को उबाल कर तथा अल्प बल वाले व्यक्ति को चूर्ण करके इन पिप्पलियों का सेवन करना चाहिए। दस पिप्पलियों का प्रयोग श्रेष्ठ, छै का मध्यम तथा तीन तक प्रयोग कनिष्ठ है और उसे अल्प बल व्यक्ति के द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए।

वक्तव्य—(२६) ऊपर वर्द्धमान पिप्पली योग का वर्णन किया गया है। बलवान् व्यक्ति १०-१० पीपल पीस कर दूध के साथ प्रयोग करे। १० दिन में १०० तक पहुंच कर १०-१० कम करता हुआ १० तक पहुंच जावे- १०+२०+३०+४०+५०+६०+७०+८०+९० +१००=५५० तथा ९०+८०+७०+६०+५० +४०+३०+२०+१०=४५० कुल १००० पिप्पलियां हुईं। जो मध्यम बल पुरुष हैं वे दूध में उबाल कर पिप्पलियों का प्रयोग करें। उनके लिये १० की मात्रा अधिक पड़े तो वे ६ पिप्पली एक साथ लें। और ६-६ ही बढ़ावें। अल्प बल व्यक्ति ३ पीपलों का चूर्ण करके ३-३ बढ़ाता हुआ दुग्ध के साथ प्रयोग करे। ६-६ पिप्पली प्रयोग करने वालों को १३ दिन ६-६ पिप्पली बढ़ा, चौदहवें दिन से ६-६ पिप्पली घटाना चाहिये इस प्रकार के २५ वें दिन ६ पर आने से १००४ पिप्पलियों का योग बनता है। ३-३ पिप्पलियां लेने वाला व्यक्ति १९ वें दिन तक ३-३पिप्पली बढ़ा कर २० वें दिन से घटाना आरम्भ करे तो ३९ वें दिन ३ पिप्पलियों पर पहुँचेगा और इस प्रकार कुल १०२९ पिप्पलियों का प्रयोग होगा।

त्रिफलारसायन प्रथम

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ते द्वे बिभीतके।
भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्य्यामलकानि च ॥४०॥
प्रयोजयन् समामेकां त्रिफलाया रसायनम्।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च ॥४१॥
(इति त्रिफलारसायनम्।)

भोजन पचने पर एक हरड़, भोजन के पहले दो बहेड़े और भोजन करने के तुरत बाद चार आमले घी और शहद के साथ (इस प्रकार इस) त्रिफला की रसायन को एक वर्ष तक प्रयोग करता हुआ सौ बरस तक पूर्णत: अजर तथा नीरोग ही जीवित रहे (अर्थात् उपरोक्त विधि से हरड़ बहेड़े और आमलों का प्रयोग करने वाला निस्सन्देह सौ बरस तक रोग और जरा रहित जीता है।)

(यह प्रथम त्रिफला रसायन-है।)

त्रिफलारसायन द्वितीय

त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम्।
तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत् क्षौद्रोदकाप्लुतम् ॥४२॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते।
अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम् ॥४३॥
(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

नई लोहे की कड़ाही को त्रिफला के कल्क से आलेपित कर (पोत) दें। उस रात्रि दिन (अर्थात २४ घण्टे लगे) लेप को शहद और जल में घोलकर

पिये। अत्यन्त स्नेह (चिकनाई) से युक्त भोजन (उक्त रसायन के) जीर्ण होने पर प्रशस्त होता है। (इस रसायन के) सालभर के अभ्यास से अजर और नीरोग सौ वर्ष तक (व्यक्ति) जीवे (अर्थात् जीवित रहता है।)

(यह द्वितीय त्रिफलारसायन-है।)

तृतीय त्रिफलारसायन

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा।
त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥४५॥

(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

त्रिफला को मुलहठी, वंशलोचन, पिप्पली, मधु, घृत और मिश्री भी के साथ मिलाकर, किया प्रयोग सिद्ध रसायन (है)।

(यह तृतीय त्रिफलारसायन—है।)

चतुर्थ त्रिफलारसायन

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा।
विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ॥४५॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा।
भवत्यायुष्प्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ॥४६॥

(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

स्वर्ण सहित सम्पूर्ण लोह (रजत, वङ्ग, सीसा, ताम्र, यशद, लोह) के साथ वचा, विडङ्ग, पिप्पली, त्रिफला, सैन्धव लवण, घी शहद से सालभर प्रयोग करने से यह (रसायन) मेध्य, स्मृतिप्रदात्री, बलप्रद, आयुप्रद, धन्य, जरारोगनाशक होती है।

(यह चतुर्थ त्रिफलारसायन-है।)

शिलाजतुरसायन

अनम्लञ्च कषायञ्च कटुपाके शिलाजतु।
नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः ॥४७॥
हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरं कृष्णायसादपि।
रसायनं तद्विधिभिस्तद् वृष्यं तच्च रोगनुत् ॥४८॥
वातपित्तकफघ्नैश्च निर्यूहैस्तत् सुभावितम्।
वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा ॥४९॥
प्रक्षिप्तोद्धृतमप्येनत् पुनस्तत्प्रक्षिपेद्रसे।
कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना ॥५०॥
पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह।
तत्पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम् ॥५१॥
जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्।
मेधास्मृतिकरं बल्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत् ॥५२॥
प्रयोगः सप्त सप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः।
निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥५३॥
पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता।
जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्यामतः परम् ॥५४॥
हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः।
जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतुः ॥५५॥
मधुरश्च सतिक्तश्च जवापुष्पनिभश्च यः।
कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निस्रवः ॥५६॥
रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते।
ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः पच्यते कटु ॥५७॥
यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः।
कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥५८॥
गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः।
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥५९॥
यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु।
विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥६०॥
शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत् ॥६१॥
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदमाः परम्।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥६२॥

पयांसि शुक्तानि रसाः सयूषा—
स्तोयं समूत्रं विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्ता—
स्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ॥६३॥
न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः
शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य।

तत् कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ॥६४॥
(इति शिलाजतुरसायनम्)

शिलाजतु ईषत् अम्लरसयुक्त अथवा अम्लरस रहित, कषायरसयुक्त, (और) पाक में कटु (कड़वा) है। न अधिक उष्ण, न अधिक शीत वीर्य (वह होता है)। स्वर्ण, रजत, ताम्र (तथा) श्रेष्ठ कृष्ण लोह (इन) चार धातुओं से उसकी उत्पत्ति (होती है)। वह विधि (पूर्वक प्रयोग करने) से रसायन, वृष्य और रोगनाशक (है)। उसे वातनाशक, पित्तनाशक तथा कफनाशक सभी अथवा एक एक कषाय से भले प्रकार भावित करने से वह अत्यन्त वीर्यशाली हो जाती है।

इसको (किसी क्वाथ में) डालकर निकाल ले फिर उसे थोड़े गरम क्वाथ में डालदे। इस विधि से सात दिन तक उसको भावना (दे)। पूर्वोक्त रसायन विधि के अनुसार चूर्ण की हुई (भस्म बनाई हुई) धातुओं के साथ शिलाजतु को गोदुग्ध के साथ पीने पर वह सुखपूर्ण दीर्घायु देता है। (यह) जरा और व्याधि को शान्त करने वाला, देह को अत्यधिक दृढ़ बना देने वाला, मेधा और स्मरण शक्ति देने वाला, बल्य (है) उसे गोदुग्ध सेवी प्रयोग करे।

(शिलाजतु) का पर, मध्य तथा अवर (क्रमशः) सात सप्ताह तीन सप्ताह तथा एक सप्ताह (इस प्रकार तीन तरह) का प्रयोग कहा गया है। (उसकी तीन प्रकार की मात्रा (अर्थात्) एक पल, अर्द्ध पल तथा एक कर्ष की मानी गयी है।

इस शिलाजतु की जातियों के विधि सहित भेद को इसके पश्चात् कहूंगा। सूर्य (की धूप से) तप्त स्वर्णादि पर्वतीय धातुऐं लाख के समान कोमल, चिकना और स्वच्छ जिस मल को चुआती हैं वह शिलाजतु है। जो मधुर और तिक्त, तथा गुडहल के फूल के समान विपाक में कटु और शीतवीर्य (होती है) वह स्वर्ण का स्राव (है) रजत का शिलाजतु कड़ुआ, सफेद, शीतल (तथा) विपाक में मधुर पाक होती है। ताम्र का शिलाजतु मोर की गर्दन की आभा वाला तिक्त, उष्ण वीर्य तथा विपाक में कटु (होती है)। जो (शिलाजतु) गुग्गुल की आभा वाला रस में लवण मिश्रित तिक्त, विपाक में कटु, शीतवीर्य और वह लोहे का शिलाजतु सर्वश्रेष्ठ (होती है)।

सब शिलाजतुओं में गोमूत्र की गन्ध (आती है) (वे) सब कर्मों में प्रयुक्त होती हैं। रसायन के प्रयोग में अन्तिम (आयस्) शिलाजतु विशिष्ट होती है। स्वर्ण आदि धातुओं से उत्पन्न शिलाजतु यथाक्रम वात पित्त में, कफ पित्त, में, कफ में तथा सान्निपातिक (तीनों दोषों) में विशेष रूप से हितकर है।

शिलाजतु के प्रयोग काल में विदाही, भारी (पदार्थ) छोड़दे और कुलथी तो सदैव के लिये ही त्याग दे। क्योंकि कुलथी आदि पत्थरों से अत्यन्त विरोध रखने के कारण पत्थर भेदन की सामर्थ्य लोक में (स्पष्ट) दिखाई देने के कारण उनका प्रयोग निषिद्ध है।

शिलाजतु को घोलने के लिये विविध दूध, विविध मट्ठे, यूष सहित मांसरस, जल, गोमूत्र, विविध कषाय श्रेष्ठ हैं कार्य का उचित विवेचन करके उन उनकी योजना करनी चाहिये। संसार में साध्य लक्षण वाला ऐसा कोई रोग नहीं है जिसे शिलाजतु बलपूर्वक न जीतले। उसका समयानुकूल एवं विधिपूर्वक, प्रयोग करने से वह स्वस्थ को विपुल बल देती है।

(यह शिलाजतु रसायन—है।)

वक्तव्य—(२७) ऊपर शिलाजतु का वर्णन किया गया है कि वह एक प्रकार का मल है जो पर्वतों से सूर्य की प्रचण्ड धूप के कारण स्रवता रहता है। स्वर्ण, रजत, ताम्र और लोह इन चार धातुओं का इसमें समावेश होता है। उक्त चार धातुओं के ही अनुसार इसके ४ भेद होते

है जिनमें लौहजनित शिलाजतु बहुत उपयोगी माना जाता है। शास्त्रकार ने चारों भेदों के स्वरूप और गुणों का विशद वर्णन किया है। प्राचीनकाल में शिलाजतु का जितना अध्ययन किया जाचुका था उसका प्रमाण हमें इन श्लोकों में मिलता है। शिलाजतु का शोधन उसे दूध, मद्वा, रस विविध क्वाथादिक में आलोडन करने से हो जाता है।

तृतीय रसायनपाद के विषय

तत्र श्लोकः—

करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा।
रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः ॥६५॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)—

महर्षि ने करप्रचितीय नामक पाद में सिद्ध रसायन (योगों के) १६ प्रयोग अच्छे प्रकार बतलाये हैं।

इत्यग्निवेश कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सा-स्थाने रसायनाध्याये करप्रचितीयो नाम रसायनपाद-स्तृतीयः ॥१—(३)॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत (इस) शास्त्र में चिकित्सास्थान रसायनाध्याय में करप्रचितीय नामक तीसरा पाद (समाप्त हुआ।)

रसायनाध्याये चतुर्थः पादः

अथात आयुर्वेद समुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्या-स्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) आयुर्वेदसमुत्थानीय (नामक चतुर्थ) रसायनपाद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

रसायनज्ञाननिमित्त ऋषियों का इन्द्र के पास गमन

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौष-ध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः।

ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृत-मात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्य-मुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरा-नुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्ध-चारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्त-ममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य-पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः ॥२॥

(प्राचीन काल में) किसी समय शालीन (घरों में

रहने वाले) तथा यायावर (इधर उधर चलगृह लिए घूमने वाले) ऋषिगण ग्राम (वा नगर) की ओषधि तथा आहार के उपभोक्ता होकर स्थूपन्न, आलसी, तथा नातिनीरोग (बहुत स्वस्थ नहीं ऐसे) प्रायः करके होगये थे।

वे सभी करने योग्य कार्यों में असमर्थ होजाने से ग्रामवासजनित अपने दोष को मानकर भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, कृष्णगौतम आदि महर्षि ग्राम्यदोष से रहित, शिव, पुण्य, उदार, पवित्र, जिन्होंने अच्छे कार्य नहीं किये हैं उनसे अगम्य, गङ्गा का जहां उद्भव हुआ है, देव गन्धर्व-किन्नरों से सेवित, अनेक (मूल्यवान) रत्नों के समूह वाले, कल्पना से परे अद्भुत प्रभाव वाले, ब्रह्मर्षि-सिद्ध-चारण सेवित, दिव्यतीर्थ और दिव्यौषधियों के उत्पत्तिस्थल, शरणागत को आश्रय देने वाले, इन्द्र से रक्षित अपने पूर्व निवास स्थान हिमालय में गये।

ऋषियों को इन्द्र का उपदेश

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरवरोऽब्रवीत्—स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम्। अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं च वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च। ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानां तत् कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां स्वशरीरमवेक्षितुं कालः कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम्। आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां प्रजापतिरश्विभ्यां प्रजापतयेब्रह्मा प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदानाध्ययनसञ्चयं मत्वा पुण्यतममायुः प्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हन्त्यथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति ॥३॥

देव श्रेष्ठ सहस्राक्ष इन्द्र ने उन (ऋषियों) को कहा—हे ब्रह्मवेत्ता, ज्ञान और तपोबल रूपी धन वाले ब्रह्मर्षियो, आपका स्वागत (है) ग्रामवासकृत ग्लानि, तेजहीनता, स्वरभेद, वर्णमलिनता, दुःखानुबन्धी अनारोग्य आप में निश्चित रूप से (आगया) है। क्योंकि ग्राम्यवास अमङ्गलजनक है अतः आप पुण्य कर्मियों ने प्रजापर उपकार किया है। अपने शरीर पर ध्यान रखने का यह काल है। और आप ब्रह्मर्षियों को आयुर्वेदोपदेश का भी यही काल है। अश्विनीकुमारों ने अपने तथा प्रजा के उपकार के लिये मुझे आयुर्वेदोपदेश किया था। प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को और ब्रह्मा ने प्रजापति को (आयुर्वेदोपदेश) किया था। प्रजाओं के आयु को अल्प, जरा-व्याधि बहुल, आरोग्यरहित, दुख के अनुबन्धवाली और अल्प होने से थोड़े तप, दम, नियम तथा अध्ययन के सञ्चयवाली मानकर, ब्रह्मा ने मैत्री, करुणा अपने ब्राह्म, अत्यन्त उत्तम, पवित्र, उदार, न क्षीण होने वाले कर्म का उद्देश्य रखकर प्रजापति को जिसका उपदेश किया था। उस अत्यन्त पवित्र, आयुवर्द्धक, जराव्याधिनाशक, ऊर्जस्कर, अमृतरूप, शिव, शरणागतवत्सल, और उदार आयुर्वेद को मुझसे सुनने के लिये और फिर उपधारण करने के लिए तथा प्रजा के अनुग्रह के लिये आयुर्वेदोक्त ज्ञान का प्रकाश करने के लिये आप योग्य हैं।

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्वएवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ॥४॥

देवराज इन्द्र के उस (उपरोक्त) वचन को सुनकर सभी ऋषियों ने देवश्रेष्ठ को ऋचाओं द्वारा सन्तुष्ट किया और आनन्दित होकर उसके वचन का अभिनन्दन किया।

इन्द्रोक्त रसायन

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः संक्रमय्योवाचैतत् सर्वमनुष्ठेयम्, अयञ्च शिवः कालो रसायनानां दिव्याश्चौषधयो हिमहिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्याः। तद्यथा ऐन्द्री ब्राह्मी पयस्या क्षीरपुष्पी श्रावणी महाश्रावणी

शतावरी विदारी जीवन्ती पुनर्नवा नागबला स्थिरा वचा छत्रा अतिछत्रा मेदा महामेदा जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः । षण्मासात्परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसम्पदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावान् आवहन्ति सिद्धाः ॥५॥

(इतीन्द्रोक्तरसायनम् ।)

तत्पश्चात् इन्द्र ने उस आयुर्वेदामृत को ऋषियों को सम्यक् क्रम से कहा । यह सब करना चाहिए । वीर्य से सम्पन्न, हिमालय से उत्पन्न रसायन तथा दिव्य ओषधियों का (ग्रहण करने का) यह शुभ समय (है) । जैसे—ऐन्द्री, ब्राह्मी, क्षीरकाकोली, क्षीरपुष्पी, मुण्डी, महामुण्डी, शतावरी, विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, शालपर्णी, वचा, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा, और जीवनीय द्रव्यों का दूध के साथ छै मास प्रयोग करने से (वे) दीर्घायु, तरुण-वय, नीरोगता, स्वरवर्ण श्रेष्ठता, पुष्टि, बुद्धि, स्मरणशक्ति, उत्तम बल, और अन्य प्रिय भावों को देती हैं ।

(यह इन्द्रोक्तरसायन—है ।)

द्रोणीप्रावेशिकरसायन

ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा आदित्यपर्णी नामौषधिर्या 'सूर्यकान्ता' इति विज्ञायते सुवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारी नामौषधिः 'अश्वबला' इति विज्ञायते या [1]बल्वजसदृशपत्रा काष्ठगोधानामौषधिः गोधाकारा सर्पा नामौषधिः सर्पाकारा सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा[2] स सोम इव हीयते वर्धते च पद्मानामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च। अजानामौषधिः अजश्रृङ्गी इति ज्ञायते । नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरपुष्पा लता प्रतान बहुलेति ।

आसामोषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रे पलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत । तत्र प्रलीयते षण्मासेन पुनः

१ पुनरजसदृशपत्रा—ग । २ पञ्चदशपर्णः—ग

सम्भवति तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनम् । षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृति बल प्रभाभिः । स्वयञ्चास्य सर्ववाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति दिव्यञ्चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति गतियोजनसहस्रं दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ॥६॥

(इति द्रोणीप्रावेशिकरसायनम् ।)

भवन्ति चात्र—

दिव्यानामोषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः ।
शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात्सोढुमकृतात्मभिः ॥७॥
ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि ।
भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ॥८॥
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः ।
शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ॥९॥
यास्तु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च कर्मणा ।
मृदुवीर्यतरास्तासां विधिज्ञयः स एव तु ॥१०॥
पर्य्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा ये समर्थाः सुखार्थिनः ।
रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ॥११॥

जो स्वर्ण (के समान पीत) दुग्धवाली कमल के समान पत्र वाली ओषधि (है वह) ब्रह्मसुवर्चला (है) । सूर्यकान्ता इस नाम से जो ओषधि जानी जाती है (जिसका) दुग्ध स्वर्ण (के) समान (होता है और जिस पर) सूर्य जैसे मण्डलाकृतिक (गोल) पुष्प (लगते हैं वह) आदित्यपर्णी नाम वाली ओषधि (है) । जो अश्वबला इस नाम से जानी जाती है (जिसके) बल्वज (के समान) पत्र होते हैं (वह) नारी नामकी ओषधि (है) । गोह के आकार की काष्ठगोधा नामक ओषधि (है) । सर्प के आकार की सर्पा नामवाली ओषधि (होती है) । सोम नाम का ओषधिराज पन्द्रहपर्वों (या पत्तों) वाला चन्द्रमा के समान (ही) घटता तथा बढ़ता है । पद्मा नाम की ओषधि पद्मा (कमल) के आकार की, पद्मा जैसी लाल तथा पद्म की गन्ध (वाली होती है) । अजा नाम की ओषधि अजश्रृङ्गी इस नाम से जानी जाती है । नीला नाम की ओषधि नीले दूध (और) नीले पुष्पों (वाली तथा जिसकी) बेल का प्रसार

बहुत बीच में (होता है)।

इन (उपरोक्त) ओषधियों में से जिस-जिस को प्राप्त कर सके उस उसके ही स्वरस को तृप्ति होने तक पीकर, चिकनी बनाई गई, ढक्कन से युक्त, नीले ढाक से बनी द्रोणी में नंगा होकर सो जावे। वहां (वह) विलीन हो जाता है तथा छै मास के बाद पुनः उत्पन्न होजाता है। उसका पूर्वस्थिति में लाने का कार्य बकरी के दुग्ध से करे। (इस प्रयोग से) छै मास के प्रयोग से वय, वर्ण, स्वर, आकृति बल और प्रभा से वह देवता के से आकार का हो जाता है। और स्वयं इसका सब वाणी-वैशिष्ट्य प्रगट होजाता है। इसके नेत्र और कर्ण दिव्य हो जाते हैं। एक सहस्र योजन तक (चलने की) इसकी गति तथा उपद्रवरहित दस सहस्र वर्ष की आयु (होजाती है)।

(यह द्रोणीप्रावेशिक रसायन—है।)

और यहां (ये श्लोक) होते हैं—

जो दिव्य ओषधियों का प्रभाव (है) वह आप जैसे (महर्षियों से ही) सहा जा सकता है। असंयत् आत्मावालों के द्वारा नहीं सहा जासकता है। अपने कामों में लगे रहते हुए आप लोगों को (उपरोक्त) ओषधियों का सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त होगा। पवित्र, मन को अपने वश में रखने वाले वाणप्रस्थी तथा गृहस्थ अपने देश में उत्पन्न इन ओषधियों को सेवन करने के लिए निश्चित रूप से समर्थ (हैं)। जो ओषधियां भूमि के गुणों से तथा उन (वाणप्रस्थ-गृहस्थादि) के मध्यम प्रकार के कर्म से अत्यन्त मृदु वीर्य होती हैं उनके सेवन की विधि (जो पूर्वोक्त है) वही जाननी चाहिए। जो सुखार्थी व्यक्ति इन ओषधियों को खोजने अथवा प्रयोग करने के लिए असमर्थ (हैं) उनके लिए यह दूसरी रसायनविधि प्रशस्त है।

अपर इन्द्रोक्तरसायन

वल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयांश्च या दश।
वयसः स्थापनानाञ्च खदिरस्यासनस्य च ॥१२॥
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च।
मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ॥१३॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च।
ऋद्ध्या नागबलायाश्च हरिद्राया धवस्य च ॥१४॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च।
इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ॥१५॥
रसाः पृथक् पृथक् ग्राह्याः पलाशक्षार एव च।
एषां पलोन्मितान्भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ॥१६॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः।
तत्साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ॥१७॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम्।
स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च ॥१८॥
शर्कराचूर्णपात्रञ्च प्रस्थमेकं प्रदापयेत्।
तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं सम्मूर्च्छितञ्च तत् ॥१९॥
सुचौक्षे मार्त्तिके कुम्भे मासार्द्धं घृतभाविते।
मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥२०॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च।
मुक्ता वैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥२१॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम्।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥२२॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्।
सत्त्वस्मृतिशरीराग्नि बुद्धीन्द्रिय बलप्रदम् ॥२३॥
परमूर्ज्जस्करञ्चैव वर्णस्वरकरं तथा।
विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतप्रदम् ॥२४॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च
प्रजाप्रियत्वञ्च यशश्च लोके।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद्
रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ॥२५॥

(इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम्।)

(षडविरेचनशताश्रितीय अध्याय में वर्णित) वल्य, जीवनीय, बृंहणीय, वयःस्थापनीय गणों (में से प्रत्येक की १०-१० ओषधियों) के, कत्था और विजयसार के, खजूरों, महुआ के फूलों, मोथा और कमलों के, मुनक्कों, विडङ्गों, वचा और चित्रक के

शतावरियों, क्षीरकाकोली, पिप्पलियों और अगर के ऋद्धि और नागबला के, हल्दी और धव के, त्रिफला तथा कण्टकारी के, विदारीकन्द और चन्दन के ईखों, सरकण्डे की जड़ों, कम्भारी और तिनिश (आबनूस) के स्वरसों तथा ढाक के क्षार को अलग-अलग ग्रहण करना चाहिए। इनमें से प्रत्येक का पल बराबर भाग गाय का दूध (सबका) चौगुना मीठे तेल के २ आढक और गाय के घी के (भी) दो (आढक) इन सबको एकत्र करके पकावे (तथा इनसे) सुसिद्ध तैल (उतार छान कर) निकाल ले। इसमें सौ बार अपने (अर्थात् आमलों के) रस से भावित आमलकीचूर्ण । (एक) आढक और (उतना ही) ताजा शहद (उस तैल में) तथा (एक) आढक मिश्री का चूर्ण डालना चाहिए। पिप्पली सहित वंशलोचन एक प्रस्थ डाले। इस (सबको) मिला कर (एक रस करके) दृढ़ निर्मल पवित्र मिट्टी के घी चुपड़े घड़े में आधे महीने रख कर स्वर्ण, ताम्र, प्रवाल, लोहा, स्फटिक, मुक्ता, वैडूर्य और शङ्ख तथा रजत की भस्मों को (उपरोक्त योग के भार से) सोलहवीं मात्रा डाल कर परिश्रम तथा स्त्री प्रसङ्ग छोड़ कर फिर इसकी (व्यक्ति अपनी) जठराग्नि (की पाचक शक्ति) के बराबर मात्रा को आगे प्रयोग करे। (उसके) जीर्ण हो जाने पर घी दूध से साठी (के चावलों का भात) खावे।

मनोरथ सिद्धि, तरुणावस्था, लोकप्रियता, तथा समाज में यश की इच्छा करने वाले, वृष्य, आयुष्य, उत्तम मन-स्मरणशक्ति-शरीरस्थ-अग्नि-बुद्धि-इन्द्रिय और बल प्रदान करने वाले, अत्यन्त ओजकारक तथा वर्ण और स्वर को करने वाले, सब रोगों को शमन करने वाले, विष (तथा) दरिद्रता को नष्ट करने वाले, सम्पूर्ण वाणी-वैशिष्ट्यप्रदाता, इस अत्यन्त वीर्यवान् ब्राह्मरसायन का यथावत् प्रयोग करना चाहिए।

(यह दूसरा इन्द्रोक्त रसायन—है।)

वक्तव्य—(२८) रसायनाध्याय का यह चौथा पाद 'आयुर्वेद समुत्थानीय' नाम से प्रसिद्ध है। इस पाद में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि बड़े-बड़े महर्षियों ने दीर्घायुष्य की खोज के लिए न केवल अध्ययन ही प्रगाढ़ किया अपि तु आजकल जैसे लोग विविध चिकित्साशास्त्रविषयों की उच्चशिक्षा लेने विलायत जाते हैं उसी प्रकार वे भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव आदि आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् अश्विनीकुमार के शिष्य के पास गये। यह शिष्य देवताओं का राजा स्वयं इन्द्र रहा। इन्द्रलोक हिमालय पर्वत में ही स्थित भूभाग था या किसी दूसरे लोक में वायुयान द्वारा वहां पहुँचा जाता था कह नहीं सकते। पर इन्द्र हिमाच्छादित वनस्पतियों से पूर्ण गिरिशृङ्गों में ही था। इन्द्र ने महर्षियों को देख कर समझ लिया कि ग्राम बसाकर रहने की पद्धति अपनाने से ही लोक में शैथिल्य, विस्वरता, विवर्णता और अनेक रोगों की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि के आदिक्रम का भी इससे पता चलता है कि आरम्भ में महर्षिगण हमारे पूर्वज यायावर (वनपर्यटक) वृत्ति का पालन करते थे बाद में वे शालीन (ग्रामवासी) बने। साथ ही इससे आयुर्वेद की गहन प्राचीनता का भी पता चलता है। वन्य से ग्राम्यजीवन की ओर आने वाली इस अति प्राचीन सृष्टि को लाखों बरस लगे होंगे, उसी काल में देवराज इन्द्र की सेवा में ज्ञान-लाभ के लिए वे वास्तविक खोजी (रिसर्चर) पहुंचे होंगे।

इन्द्र भगवान् ने प्रथम तो आयुर्वेद ज्ञान की उत्पत्ति बतलाई कि कैसे प्रजा के अनुग्रह के लिए ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को तथा अश्विनीकुमार ने उसको यह विद्या दी तथा फिर इस आयुर्विद्या के गुणों का वर्णन किया कि यह पुण्यतम है, आयुवर्द्धक है, जरानाशक, रोगनाशक, ऊर्जस्कर, अमृत, शिव, शरण्य, उदार गुणों से युक्त है। आज की चिकित्सा प्रणालियां केवल व्याधिप्रशमन कर सकती हैं आयुवर्द्धन, जरानाश, ओजसवृद्धि आदि गुणों से वे रहित हैं।

तत्पश्चात् इन्द्र ने हिमालय में उत्पन्न ऐन्द्री, ब्राह्मी आदि ओषधियों के ६ मास दुग्ध से प्रयोग करने के कारण होने वाले उत्तम गुणों का वर्णन किया जो

प्रथम इन्द्रोक्तरसायन कहलाती है। फिर उसने द्रोणी प्रावेशिक विधि में ब्रह्मसुवर्चलादि हिमालयोत्पन्न दिव्य ओषधियों के प्रयोग को करने के पश्चात् ढाक की द्रोणी (टब) में लेटने मूर्च्छित होने ६ महीने पीछे जागने का वर्णन आया है। यह वर्णन इतना विलक्षण है कि इसे साधारण ओषधियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। दिव्य ओषधियों में ही यह चमत्कार है कि व्यक्ति १० हजार वर्ष तक जीने वाला बनाया जा सके। द्रोणी प्रावेशिक विधि तथा कुटी प्रावेशिक विधियां आयुर्वेद की वे विभूतियां हैं जिनमें योग की परम आवश्यकता पड़ती है और व्यक्ति हजारों वर्ष जीने की सामर्थ्य पाता है। खेद कि इन्हें हम पूर्णतः भूल गये।

इन्द्र ने दूसरे जिस रसायन योग का वर्णन किया है वह बड़ा सरल और प्रयोग की दृष्टि से भी साधारण से साधारण व्यक्ति उसे ले सकता है।

हिमालय पर्वत पर निश्चितरूप से दिव्यौषधियां हैं उनकी विधिवत् खोज की जाय तो बहुत कुछ मिल सकता है। अभी वैद्य कृष्णपाल जी ने आबू पर्वत की दो ऐसी बूटियों का वर्णन मुझे सुनाया है जिनमें एक को हाथ में लेने से आंखों से दिखना बन्द हो जाता है तथा जड़ी हटाते ही व्यक्ति पुनः देखने लगता है तथा दूसरी को छूने से जल ही जल प्रगट होता है। वे इन्हें शीघ्र हस्तगत करने वाले हैं। यदि ऐसी ओषधियां केवल किंवदन्ती मात्र न होकर वास्तव में हैं तो परिश्रमी विद्वानों को फिर से अपनी पुस्तकों की रचना करने को बाध्य होना पड़ेगा।

दिव्यौषधियों की थोड़ी सी पहचान तो ऊपर के वर्णन में दी गई है जैसे ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा अथवा सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा स सोम इव हीयते वर्धते च। पर इतने से यह कौन-कौन से द्रव्य हैं इनका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। यदि हिमालय की वनस्पतियों के परिज्ञान में कोई राजकीय संस्था जुट जाय तो निस्सन्देह इनका पता लग सकता है तथा यह भी हो सकता है कि वे अन्य नक्षत्रों पर उगने वाले पदार्थ हों ऐसी अवस्था में जब एटोमिक शक्ति से अथवा पारद शक्ति से वायुयान उड़-उड़ कर विविध लोकों में पहुँचने लगेंगे तो इन पदार्थों से साक्षात्कार हो जाय।

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्।
कुटीप्रवेशः क्षमिणां परिच्छदवतां हितः॥२६॥

समर्थों, नीरोगों, बुद्धिमानों, आत्मसंयमियों, क्षमाशीलों, धन-जन से सम्पन्नों का कुटी-प्रवेश (विधि का अपनाना) हितकर [है]।

अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः।
तयोःश्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु दुष्करः॥२७॥

पर जो इनसे अन्यथा (विपरीत) स्थिति वाले होते हैं उनका (हित) वातातपिक विधि (करती है)। दोनों (कुटी प्रवेश तथा वातातपिक) में पूर्व विधि (कुटी प्रावेशिक) (वातातपिक से) श्रेष्ठतर है (परन्तु) वह अत्यन्त कठिन है।

रसायनविधिभ्रंश में कर्तव्य

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि।
यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम्॥२८॥

यदि (किसी प्रकार) कुटीप्रवेशरसायनविधि के बिगड़ने से व्याधियां उत्पन्न होजांय तो रसायन विधि छोड़ कर इन व्याधियों की यथावश्यक चिकित्सा करनी चाहिए।

आचाररसायन

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥२९॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्य्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥३०॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥३१॥
देशकाल प्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम्।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥३२॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥३३॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुंक्ते यो रसायनम्।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते॥३४॥
(इत्याचाररसायनम्।)

सत्यवादी, क्रोधरहित, मद्यमैथुन से निवृत्त, अहिंसक, श्रमरहित, शान्त, प्रियभाषी, जप करने वाला, पवित्रतापरायण, धीर, नित्यदान करने वाला, तपस्वी, देवता–गाय ब्राह्मण-आचार्य-गुरु तथा वृद्ध पुरुषों की पूजा में रत, नित्य अक्रूरतापरायण, नित्य प्राणियों पर करुणा की दृष्टि रखने वाले, समान जागरण और समान निद्रा वाले, नित्य दुग्ध तथा घृत का भोजन करने वाले, देश-काल तथा मात्रा के ज्ञाता, युक्ति के जानने वाले, अहङ्काररहित, उत्तम आचार वाले, सङ्कीर्णता से रहित, आध्यात्मिक विषयों में इन्द्रियां प्रबल जिनकी हैं, आस्तिक, जितेन्द्रिय तथा वृद्धों के उपासक (और) धर्मशास्त्रपरायण, व्यक्ति को नित्य रसायनसेवी (ही) जानना चाहिए। जो व्यक्ति (उपरोक्त) इन सब गुणों से युक्त होकर जो रसायन का प्रयोग करता है वह पूर्वोक्त सम्पूर्ण रसायन के गुणों को पा लेता है।

(यह आचार रसायन–है।)

वक्तव्य—(२१) ऊपर आत्रेय भगवान् द्वारा उपदिष्ट अग्निवेश द्वारा लिखित आचाररसायन को चरक ने प्रगट किया है। सत्य बोलने से लेकर धर्मशास्त्रपरायणता तक उन्होंने ३६ गुणों अथवा आचारों को गिनाया है। इन आचारों का पालन करना सहज कार्य नहीं पर यदि वैसा करने में कोई समर्थ हो तो फिर उसे रसायनसेवन की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। क्रोध न करना, अहिंसा वृत्ति ब्रह्मचर्य, बराबर सोना जागना, घी-दूध का सेवन आदि गुण वास्तव में ऐसे गुण हैं जिनका पालन पुरुष को सब कुछ प्रदान कर सकता है।

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्छारीरमानसान्।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥३५॥
योगा ह्यायुः प्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः।
मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥३६॥
तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु।
अरुजेभ्योऽद्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च ॥३७॥

बिना स्थूल (तथा सूक्ष्म) शारीर और मानस दोषों को निकाले जीव, रसायन के गुणों से कभी युक्त नहीं होता। (अर्थात् जब तक शरीर में कोई शारीरिक रोग या मानसिक अशान्ति है तब तक रसायन का प्रयोग करना व्यर्थ रहता है।)

आयु दीर्घ करने वाले, जरारोगनाशक (रसायनयोग) शुद्ध शरीर तथा शुद्ध मन वाले संयमी व्यक्तियों में (ही) सफलता प्राप्त करते हैं।

हतमनोबुद्धिस्वभाव वाले हतभागियों में तथा हमें कोई रोग नहीं हम क्यों ओषधि लें ऐसा विचार रखने वालों को, तथा जो पवित्रता का व्रत लेकर द्विज नहीं बन गये अथवा द्विज बनने की अवस्था से पूर्व निरे बालक ही हैं तथा जिनकी शुश्रूषा रसायन सेवन काल में (उनके नितान्त कोमल होने के कारण) नहीं हो सकती है उनको यह (रसायन का) उपदेश नहीं होवे।

वैद्य और उसकी मान्यता

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥३८॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम्।
अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥३९॥
अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ।
यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥४०॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥४१॥
चिकित्सितस्तु शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा।
सोमान्निपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥४२॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥४३॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥४४॥

जो रसायनसंयोग, तथा जो वृष्ययोग और जो रोगों की ओषधि कही गई है वह सब वैद्य के आश्रित है। इसलिये बुद्धिमान्, आयुर्वेद पारङ्गत प्राणाचार्य को इन्द्र ने (जिस प्रकार) अश्विनीकुमारों (को उसी प्रकार) अपनी सामर्थ से भी अधिक पूजे।

देवभिषक् अश्विनीकुमार यज्ञवाह कहे जाते हैं क्योंकि यज्ञ के (दक्ष प्रजापति के) कटे सिर को फिर से जोड़ दिया था। पूषा (सूर्य) के गिरे हुए दांतों की, भग के नष्ट हुये नेत्र की और इन्द्र के भुजस्तम्भ की इन्होंने ही चिकित्सा की थी। शीतल किरण वाले चन्द्रमा जिसको राजयक्ष्मा होगई थी (इन्होंने ही) चिकित्सा की थी। चन्द्र के सोम गुण के नष्ट होजाने (के कारण दुखी होने पर उसे) इन्होंने ही फिर से सुखी किया था। च्यवन भार्गव (नामक ऋषि) वृद्ध होने पर भी कामी बनने से वर्ण और स्वर से रहित होकर विकार ग्रस्त होगये थे उनको (इन्होंने) पुनः युवा कर दिया। इन तथा अन्य अनेक कार्यों के द्वारा वैद्यों में श्रेष्ठ अश्विनीकुमार इन्द्रादि महान् आत्माओं के पूज्य होगये थे।

ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि तथा नाना हवींषि च।
धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥४५॥
प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते।
सौत्रामण्याञ्च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ॥४६॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः।
स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथान्या हि देवताः ॥४७॥
अमरैरजरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः।
पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति ॥४८॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः।
किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः ॥४९॥

सोमपान के पात्र (ग्रह) स्तोत्र, मन्त्र तथा अन्य विविध हवि, धूपदीप, पशुओं का संकल्प ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अश्विनीकुमारों के लिये किया करते हैं। प्रातःकाल के यज्ञ में इन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ सोम को पीता है। सौत्रामणि नामक यज्ञ में भगवान् (स्वयं) अश्विनीकुमारों के साथ आनन्द मनाता है। प्रायः द्विज, इन्द्रदेवता, अग्निदेवता, तथा अश्विनीकुमारों की ही स्तुति करते हैं। तथा अन्य देवता की नहीं। जब भिषक् अश्विनीकुमार अजर, अमर, बुद्धिमान, संयतात्मा देवताओं से इन्द्रसहित पूजे जाते हैं तो मृत्यु, रोग, बुढ़ापा जिन्हें अवश्य होते, जिन्हें प्रायः दुःख घेरे रहते हैं ऐसे सुखार्थी मर्त्यलोकवासियों के द्वारा निज शक्ति से अधिक वैद्यों की क्यों न पूजा की जावे।

प्राणाचार्य

शीलवान्मतिमान्युक्तोद्विजातिः शास्त्रपारगः।
प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥५०॥

प्राणियों के द्वारा (जो) शीलवान्, बुद्धिमान्, युक्त, शास्त्र में पारङ्गत, द्विज तथा गुरु के समान पूजनीय (होता है) वह ही प्राणाचार्य कहलाता है।

वैद्य

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ॥५१॥

विद्या समाप्त होने पर वैद्य की दूसरी जाति कही जाती है। वैद्य पूर्वजन्म से ही बिना विधिवत् विद्या पढ़े वैद्यशब्द नहीं प्राप्त करता।

वक्तव्य—(३०) गङ्गाधर कविराज ने द्वितीया जाति के स्थान पर तृतीया जाति शब्द का व्यवहार किया है। इस सूत्र का तात्पर्य समझाते हुए उसने लिखा है कि साङ्गानां वेदानामध्ययनेन यज्ज्ञानं सा विद्या, साङ्ग आदि वेदों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विद्या कहलाती है। वह विद्या परा और अपरा दो प्रकार की होती है। अपरा में वेद और वेदाङ्ग का अध्ययन तथा परा में तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रश्य-मगोत्रमवर्ण्यम् आता है। अतः तृतीया जाति की दृष्टि से वह कहता है—

तद्द्विविद्याविधायाय अध्ययनेन समाप्तौ सत्यां भिषजस्तृतीया जातिः वैद्यत्वे न पुनर्जन्मत उच्यते। जिस प्रकार षड्विधा-नात्मक उपनयन संस्कार वेदारम्भ आदि से द्विज बनता है वैसे ही वेदादि की समाप्ति पर ब्राह्मणत्ववत् वैद्यत्व को वैद्य धारण करता है। कहने का तात्पर्य यह कि क्योंकि द्विज ही आयुर्वेद पढ़ने के अधिकारी रहे। द्विजत्व के आगे विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न होने से उनकी अब तृतीय जाति बन गई।

द्वितीय जाति का समर्थन करने वालों का अर्थ इतना ही है कि प्रथम मानव जाति में जन्म लिए व्यक्ति ने जब

आयुर्वेद में दक्षता प्राप्त करली तो वह द्विज होगया और उसकी दूसरी जाति बन गई।

चाहे वह द्वितीय अथवा तृतीय जाति का अधिकारी बने पर किसी भी दृष्टि से जन्मतः उसे वैद्य के अधिकार प्राप्त नहीं होते। न वैद्यः पूर्वजन्मतः का पाठ करने वाले परम्परागत वैद्यत्व के गद्दीदारों को बरबस उनकी गद्दी से उखाड़ने वाला यह शास्त्र वाक्य है ऐसा जानें।

विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः स्मृतः॥५२॥

(परापरात्मक अथवा आयुर्वेदीय) विद्या की समाप्ति पर (व्यक्ति) ब्राह्मसत्व अथवा आर्षसत्व (जिनका वर्णन शारीरस्थान चतुर्थ अध्याय में+हो चुका है) को ज्ञान के कारण निश्चित रूप से प्राप्त करता है इसी लिए वैद्य द्विज कहलाता है।

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्।
प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम्॥५३॥

दीर्घ आयु की इच्छा करने वाला कोई भी बुद्धिमान्, प्राणाचार्य (वैद्य) की अभिध्या (पराई वस्तु पाने की इच्छा) न करे, न आक्रोश [निन्दा] करे और न [उसका] अहित [ही] करे।

वैद्य के प्रति कर्त्तव्य

चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥५४॥

जो पुरुष चिकित्सा होजाने पर धनादि उपकार की प्रतिज्ञा करके अथवा न करके वैद्य के लिये (कुछ भी) प्रत्युपकार नहीं करता उसकी संसार में मुक्ति नहीं। (अर्थात् इलाज कराने के पश्चात् वैद्य को कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिए यह प्राचीन परम्परा है जो ऐसा नहीं करता उसे संसार में नीची निगाह से देखा जाता है।)

वैद्य का कर्त्तव्य

भिषगप्यातुरान्सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन्नायुरनुत्तमम्॥५५॥

(अपने लिए) अत्युत्तम आयु की इच्छा करता हुआ वैद्य भी यत्नपूर्वक सभी रोगियों को अपने पुत्र के समान (समझकर) रोगों से अवश्य ही रक्षा (करने का पूरा पूरा यत्न) करे।

आयुर्वेदोपदेश और महर्षि दृष्टि

धर्मार्थं चार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥५६॥

मोक्ष (नामक) कभी न नष्ट होने वाले स्थान की इच्छा करने वाले धर्मात्मा महर्षियों ने धर्मार्थ तथा अर्थकामार्थ आयुर्वेद को प्रकाशित किया है।

नार्थार्थं नापिकामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥५७॥
कुर्वते ये तुवृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥५८॥

जो धन प्राप्ति के लिए नहीं (और) न (जो किसी) कामना की प्राप्ति के लिए (ही है) अपि तु (जो) प्राणिमात्र के प्रति दया के लिए चिकित्सा में प्रवृत्त होता है वह सबको लांघ जाता है। (अर्थात् विना किसी इच्छा को लेकर जो वैद्य अपनी वृत्ति में लग जाता है वह अपने सब साथियों को पीछे छोड़ देता है तथा बहुत यश, प्रचुर धन और अन्त में मोक्ष तक प्राप्त कर लेता है। चिकित्सा निष्काम भाव से करने के लिए है।)

परन्तु जो जीवननिर्वाहरूप साधन मानकर चिकित्सा को बाजारू बिक्री का पदार्थ बना कर

+ब्राह्म सत्वस्यलक्षणम्—तद्यथा शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञान वचनप्रतिवचनसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात्।

आर्षसत्वस्यलक्षणम्—इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारण शक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्।

बेचते हैं वे स्वर्ण के ढेर को छोड़ कर राख का ढेर पाते हैं।

जीवनदान

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
छित्वा वैवस्वतान्पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति ॥५९॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥६०॥

दारुण रोगों से यमालय की ओर (बरबस) खींचे जाते हुए प्राणियों के यमपाशों को काटकर जो वैद्य जीवन प्रदान करता है उसके समान धर्म तथा अर्थ का दाता इस लोक में नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि जीवन से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है।

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्त्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥६१॥

जो वैद्य भूतदया को परमधर्म मान कर चिकित्सा में प्रवृत होता है वह (अपने सब मनोरथों में) सिद्धि प्राप्त करने वाला अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।

वक्तव्य—(३१) आयुर्वेद व्यवसाय में प्रवृत्त होने वालों के लिए आचार्यों ने एक दृष्टि यह दी है कि उनको वैद्यकीय वृत्ति को अपनी जीविका का ऐसा साधन न बना लेना चाहिए जैसा कि अन्य बाजारू लोग करते हैं। चिकित्सा किसी पंसारी की दूकान नहीं है कि इस हाथ पैसा देना और उस हाथ नमक मिर्च धनियां ले लेना। रोगी बेचारा अपना कष्ट लेकर आता है। वैद्य का धर्म है कि वह उसकी जेब न टटोल कर उसके कष्ट को इस प्रकार दूर करने में जुट जाय मानो कि उसके परम प्रिय पुत्र को ही वह कष्ट हुआ हो। यदि वह उसे दारुण कष्टसाध्य रोग से भी उबार लेगा तो वह स्वयं बहुत बड़े यश और फल का भागी होगा। वैद्यक परम भूतदया मानकर वैद्य को करनी चाहिए। दूसरी ओर उन्होंने रोगी को भी आदेश दिया है कि वचन दिया हो या न दिया हो उसे वैद्य का प्रत्युपकार अवश्य करना चाहिए अन्यथा उसकी निष्कृति होनी सम्भव नहीं है।

आधुनिक काल में भारत में जिस डाक्टर वर्ग का उदय हुआ है इसने भूतदया को ताक में रख दिया है। एक हजार रुपया मासिक सरकारी वेतन पाने वाला सिविल सर्जन अपने घर पर मिलने वाले रोगी से भी सोलह रुपये प्राप्त करने का अधिकारी है। डिस्पेंसरी का डाक्टर जिसे सैकड़ों फीसें नित्य मिलती हैं अपने पास की पड़ी झोंपड़ी के रोगी को देखने के लिए रिक्शा चाहिए और चाहिए फ़ीस, न केवल अपने लिए बल्कि अपने कम्पाउण्डर तथा कम्पाउण्डर के साथ आये व्यक्ति के लिए। डाक्टरों की बढ़ती हुई इस आय ने नवीन वैद्य स्नातकों को अधिक धन प्राप्त करने के लिए डाक्टरी बाना धारण करने को बाध्य किया है अन्यथा उन्हें साधारण वैद्य रूप में बैठने पर रोटियों का गुजारा होना भी कठिन दिखाई पड़ा है। शेष वैद्यों में भी जो भूतदया-परकता घट कर अर्थलिप्सा बढ़ी है उसका आदि कारण यह बृटिशजनित पाश्चात्यचिकित्साधीत डाक्टरी वर्ग के उदय की परिणति मात्र है।

वैद्य भूतदया के बल पर सब कुछ लुटाता चला जावे और वही रोगी अर्थ लोलुप डाक्टर को थैलियां भेंट करता रहे ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

यदि भूतदया वाली चरकीय शिक्षाएँ मैडीकल कालेजों में स्नातकों को पढ़ाई जायँ और इतर डाक्टरगण उनका आदर्श सामने रखें तो कोई कारण नहीं कि प्राचीन छटा का अभिनव दर्शन पुनः होसके।

चतुर्थ पाद के विषय

तत्रश्लोकौ—

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिं शुभम्।
अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ॥६२॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः।
आयुर्वेदसमुत्थाने तत् सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥६३॥

वहां (इस विषय में) दो श्लोक (हैं):—

आयुर्वेद का समुत्थान, शुभ दिव्यौषधिविधि, अमृत से अल्प (ही) गुणकारी (और) सिद्ध रत्न रसायन (इन्द्रोक्त रसायन) जो देवराज इन्द्र ने सिद्धों (और) ब्रह्मचारियों को कहा था वह सम्पूर्ण

—शेषांश पृष्ठ १४३ पर।

चरकसंहिता

द्वितीयोऽध्यायः

वाजीकरणाध्याये प्रथमः पादः

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) संयोगशरमूलीय नाम के प्रथम वाजीकरण पाद का व्याख्यान करेंगे ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

वाजीकरण की आवश्यकता

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥२॥
पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः।

आत्मवान् व्यक्ति सदैव वाजीकरण की इच्छा करे। क्योंकि धर्म-अर्थ-प्रीति और यश भी इसी के आश्रित है। यह पुत्र-प्राप्ति का (भी) कारण है और ये (धर्मार्थ प्रीति यश नामक) गुण पुत्र में ही अधिष्ठित रहते हैं।

वाजीकरण में स्त्री की महत्ता

वाजीकरणमग्र्यञ्च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ॥३॥
इष्टाः ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन प्रतिष्ठिताः ॥४॥
संघातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते।
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम्।
स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ॥५॥
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता ॥६॥

जो स्त्री (पुरुष को) प्रहर्षण देने वाली है वही क्षेत्र (कहलाती है) तथा वह श्रेष्ठ वाजीकरण है। क्योंकि एक-एक भी प्रिय विषय अत्यन्त प्रीतिदायक

[पृष्ठ १४२ का शेषांश]

आयुर्वेदसमुत्थानीय नाम के (चतुर्थ) पाद में भले प्रकार प्रकट किया गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थ ॥१—(४)॥

समाप्तश्चायं रसायनोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरक प्रतिसंस्कृत इस शास्त्र के चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय में आयुर्वेद समुत्थानीय नामक चतुर्थ रसायनपाद (समाप्त-हुआ) ॥

यह रसायन नामक प्रथम अध्याय समाप्त (हुआ)।

माना गया है तो जो स्त्री शरीर में संघातरूप से (सम्पूर्णतया) स्थिति हैं उनका क्या कहना ? क्योंकि इन्द्रियों के विषयों का सङ्घात स्त्रियों में ही है अन्यत्र नहीं। जो इन्द्रिय विषय स्त्रियों में आश्रित है वह अधिक प्रीतिजनक (होते हैं) स्त्रियों में विशेष प्रीति, स्त्रियों में सन्तान की स्थापना, स्त्रियों में धर्म, अर्थ, लक्ष्मी तथा लोक प्रतिष्ठित हैं जो सुन्दर रूप वाली युवती है जो शुभ चिन्हों से युक्त है, जो आज्ञाकारिणी है और जो शिक्षित है वह स्त्री अत्यन्त वृष्य (या वृष्यतमा) मानी गई है।

वक्तव्य—(३२) इस अध्याय में वाजीकरण का वर्णन होगा 'अवाजी वाजीवात्यर्थं मैथुने शक्तः क्रियते तेन तद् वाजीकरणम्' यह वाजीकरण का अर्थ है। इसके सम्बन्ध में हम वक्तव्य (७) में बहुत कुछ लिख चुके हैं।

पुरुष में मैथुन शक्ति बढ़ाने के लिये जितने भी साधन हैं उन सबमें अधिक महत्वपूर्ण स्त्री मानी गई है। मनुष्य को स्त्री जितनी सुन्दर लग सकती है उतनी दूसरी वस्तु नहीं अतः सुन्दर स्त्री के कारण उसमें जो उत्तेजना प्रत्यक्ष आसकती है अन्य साधनों से नहीं। स्त्री के गाने सुनने के लिये लोग असंख्य धन खर्च करते हैं। कर्णेन्द्रिय के विलास में स्त्री महत्वपूर्ण योग देती है। स्त्री संसर्ग के समय स्त्री की गन्ध कौन इत्र-फुलेल से कम महत्त्व रखती है ? स्त्री संस्पर्श के बराबर अमित सुखकर संस्पर्श हीरे का भी नहीं। स्त्री ओष्ठ का रसपान नाना व्यञ्जनों से कहीं बढ़कर है। तात्पर्य यह कि स्त्री सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को अकेले ही विकसित करके व्यक्ति को तृप्त कर सकती है। इसी कारण शास्त्रकारों ने उसे 'वृष्यतमा' माना है।

गमनयोग्य स्त्री

नानाभक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम्।
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः ॥७॥
वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमङ्गना।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा ॥८॥
हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया।
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः ॥९॥
या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणांप रैर्गुणैः।
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ॥१०॥
यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते ॥११॥
याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम्।
अपूर्वामिव यां याति नित्य हर्षातिवेगतः ॥१२॥
गत्वा गत्वापि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति।
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः ॥१३॥
अतुल्यगोत्रां वृष्याञ्च प्रहृष्टां निरूपद्रवाम्।
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः ॥१४॥

समाज (के प्रत्येक घटक) की भक्ति (रुचि) भिन्न भिन्न (होती है) और दैवकृपा से (मनोऽनुकूल) उस उस पुरुष को प्राप्त करके स्त्रियों के रूप आदिक गुण बढ़ने लगते हैं (इसका अर्थ यह भी है कि यदि किसी स्त्री को उसके मन के अनुकूल पुरुष की प्राप्ति न हुई तो उसका रूप, उसकी वाणी उसकी कमनीयता लावण्य आदि धीरे धीरे क्षीण भी होने लग सकते हैं)।

जो उत्तम स्त्री वय, रूप, हावभाव, दैववश, या किसी विशेष कर्म से भी शीघ्र (किसी के) हृदय में प्रवेश कर जाती है, या जो पुरुष के हृदय को उत्सव रूप आनन्द से भर देती है, या जो समान मनःशयः (काम) वाली है, या जो समान मन वाली है; या जो (स्त्री अपने पुरुष के लिये) वश्या है; या जो (अपने पुरुष के) प्रिय भावों से प्रसन्न होती है; या जो पर (श्रेष्ठ) गुणों के द्वारा (अपने पुरुष की) सारी इन्द्रियों की पाश (बन कर बैठ गई है अर्थात् जिसने पुरुष को इस प्रकार अपने प्रेम में फांस लिया है कि वह बेचारा उस स्त्री के अतिरिक्त अन्य कुछ सोच ही नहीं सकता जैसे जहांगीर और नूरजहां), पुरुष जिससे वियुक्त (वियोग) होने पर व्यथित होकर जगत् को स्त्री शून्य मानने लगता है (जैसे राजा अज ने इन्दुमती के वियोग पर माना था); जिसके बिना पुरुष मानो इन्द्रियों से रहित हो गया हो ऐसे शरीर का धारण करता है

(जैसे कि लैला मजनूं का किस्सा लोक में प्रचलित है); जिसे देखकर शोक, बेचैनी, उद्वेग और भय से पुरुष अभिभूत नहीं होता, जिसे पाकर विश्वास को (वह पुरुष) पाता है; जिसको देखकर अत्यन्त हर्षान्वित हो जाता है; नित्य हर्ष के अतिवेग से जिस स्त्री को (पुरुष) अपूर्व (मानो पहले कभी इतना आनन्द न आया हो) के समान भोगता है; जिसके साथ बार बार गमन करने पर भी (पुरुष) सन्तुष्ट नहीं होता (अर्थात् अनेक बार के मैथुन के बाद भी जिसकी पुरुष को पुनर्मैथुनेच्छा बराबर बनी रहती है) ऐसी स्त्री उस पुरुष के लिये वृष्यतमा (मानी जाती है)। क्योंकि मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं (इस कारण किसी के लिये कोई और किसी के लिये कोई स्त्री वृष्यतमा हुआ करती है)।

अपत्यार्थी (सन्तान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति) को ऋतु स्नान करके शुद्ध हुई, अतुल्यगोत्रा, वृष्या कामवासना से युक्त, उपद्रवरहित, नीरोग स्त्री का भोग करना चाहिए।

वक्तव्य—(३३) ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि कोई एक स्त्री निश्चित रूप से सब लोगों के लिए वृष्यतमा नहीं हो सकती। मजनूं लैला पर जान देता था। पर लैला एक बहुत काली स्त्री थी जिसकी ओर आंखें करके देखना भी कितनों ही को सुहाता न था। अस्तु व्यक्ति की स्त्री सम्बन्धी रुचि अलग-अलग होती है। इसी कारण कितनी ही स्त्रियां किसी पुरुष को देखकर उससे मुग्ध होकर काम-याचना करती हैं पर पुरुष उनमें से किसी से भी प्रहृष्ट नहीं होता। नपुंसकों की चिकित्सा करने से पूर्व वैद्य को यह प्रश्न करना कि मेहनोत्थान का प्रधान कारण उसका अपनी स्त्री में रुचि न रखना तो नहीं है क्योंकि सैकड़ों वसन्तकुसुमाकर और कामिनीविद्रावणरस व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं यदि व्यक्ति को गमनार्थ उपस्थित स्त्री में रुचि नहीं हो। तलाक आधुनिक समाज का इसलिए एक आवश्यक अङ्ग बनता जारहा है कि स्त्री की वृष्यतमता में विवाहित पुरुष को तथा पुरुष के पुंस्त्व में स्त्री को भयङ्कर सन्देह होने लगा है।

अतुल्यगोत्रता, वृष्यता, प्रहृष्टता, निरुपद्रवता, नीरोगता तथा ऋतुस्नानकृता स्त्री के सेवन का शास्त्रीय उपदेश है। अपने गोत्र वाली बहिन, भानजी, भतीजी, मौसी की लड़की इनमें अपना रक्त होने से विवाह नहीं करना चाहिए। प्रकृति ने फूलों में बीज बनाने के लिए जो विधान रखा है उसमें क्रौस पोलीनेशन (cross polination) जिसमें एक पेड़ का पराग दूर के पेड़ पर पहुँचाने से उत्पन्न बीजों को सबल किया है। उसी पेड़ का पराग उसी पेड़ के स्त्री सूत्रों से ग्रहण करने से पतले बीज पैदा होते हैं। अतः अतुल्यगोत्रता वैज्ञानिक आधार पर आधारित सत्य है। वृष्यता और प्रहृष्टता इन दो गुणों की वृद्धि स्त्री नहीं कर सकती तो दाम्पत्य जीवन ही व्यर्थ होजासकता है तथा तलाक की तैयारी होसकती है अतः इन दो गुणों का ध्यान भी रखना पड़ेगा। नीरोगता और शुद्ध स्नान की हुई स्त्री का सम्भोग स्वास्थ्य के साधारण गुणों की दृष्टि से परमावश्यक है। रुग्ण स्त्री के सम्पर्क से कोई भी संक्रामक या औपसर्गिक रोग लग सकता है। निरुपद्रवता समाज की व्यवस्था की दृष्टि से सरकारी कानून की अवहेलना न हो इसलिए लिखा गया है। किसी सुन्दर लड़की के साथ बलात्कार का यत्न कितने उपद्रव उत्पन्न कर सकता है इसका ज्ञान सभी को है। फिर भी अंगरेजी स्कूलों में पढ़ने वाले तरुण और तरुणियां इसके शिकार देखे जाते हैं।

सन्तानहीन व्यक्ति की निन्दा

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथाद्रुमः।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः॥१५॥
चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः।
निष्प्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्यः पुरुषाकृतिः॥१६॥
अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते॥१७॥

जैसा छाया रहित, एक शाखा वाला और फल-विहीन दुर्गन्धित अकेला वृक्ष (हतभाग्य) होता है वैसा ही बिना सन्तान पुरुष (हतभाग्य) होता है। निष्प्रज (सन्तानहीन) पुरुष चित्र में बने दीप के समान (जिससे कोई प्रकाश नहीं आ सकता), सूखे तालाब

के समान (जो किसी प्यासे की प्यास नहीं बुझा सकता), अधातु होकर धातु सदृश (देखने में तो धातु सोना या चांदी जैसा लगे पर हो काठ पर सुनहरी रुपहरी पालिश), पुरुष की आकृति में जो तृण का समूह जानना चाहिए। जिसको सन्तान नहीं है उस व्यक्ति को प्रतिष्ठारहित, नंगा, शून्य, एकेन्द्रिय (जैसे कि काणा) और निष्क्रिय मानना चाहिए।
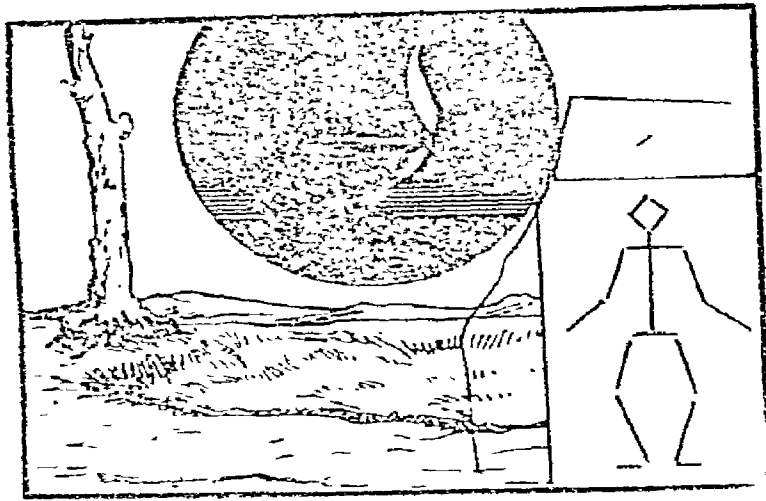
वक्तव्य—(३४) विना शाखवृक्ष, चित्रदीप, शुष्क सरोवर, धातु रूप अधातु, तृणपूली, प्रतिष्ठारहित, नग्न, शून्य, एकेन्द्रिय, निष्क्रिय आदि विशेषण जो प्राचीन काल में सन्तानहीन को दिए जाते थे उसका भावार्थ यह था कि हर व्यक्ति कम से कम एक बच्चा अवश्य पैदा करे। प्राचीन काल में मानव शक्ति का बहुत बड़ा अर्थ था। जिस जाति में अधिक व्यक्ति होते थे वही प्रभुत्ववाली होती थी। आज ऐसा समझा जाता है कि समय बदल गया है और देश में जो सन्तति है उसी के लिए भूमि भरण-पोषण दृष्टि से छोटी पड़ रही है। यदि प्राचीनों के दृष्टिकोण को अपनाया गया तो जनवृद्धि की गम्भीर समस्या देश के नेताओं के सामने आजायगी। अपना उद्देश्य या शास्त्र का मन्तव्य कदापि देश में समस्या उत्पन्न करना नहीं रहा। शास्त्र कहता है कि सन्तानहीन कोई न रहे तथा सन्तान की स्वास्थ्य-कोटि सदैव सर्वश्रेष्ठ रहे। अस्तु स्वस्थ नीरोग और जीवन संघर्ष को झेलने में समर्थ सन्तति सदैव राष्ट्र कल्याणाकांक्षिणी ही होगी और उससे राष्ट्र की उन्नति ही होगी। हम तो वसुधैव कुटुम्बकम् के मानने वाले हैं। ज्यों-ज्यों सन्तति बढ़ेगी वसुधा जो एक कुटुम्ब ही है जहां खाली जगह मिलेगी बसेंगे और वहीं वेदध्वनि करेंगे। भारत की भूमि छोटी भले पड़े पर इस पृथ्वी पर तथा पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य नक्षत्रों पर पर्याप्त भूमि पड़ी हुई है जहां भारतीयों को जाकर बसना ही चाहिए। वहां के व्यक्तियों को अपना कुटुम्बी मानकर न कि उनको शत्रु मान नष्ट करके जैसा कि इतर लोगों ने आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, अमेरिका के मूल निवासियों के साथ किया था।

बहुप्रज व्यक्ति की प्रशंसा

बहुमूर्त्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः ॥१८॥
मङ्गल्योऽयं प्रशस्तोऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ॥१९॥

बहुप्रज (बहुत सन्तान वाला पुरुष), अनेक मूर्तियों वाला, अनेकों मुखों वाला, अनेकों समूहों वाला, बहुत सी क्रियाओं वाला, अनेकों नेत्रों वाला, बहुत ज्ञान वाला, और बहुत आत्माओं वाला (होता है)। बहुप्रज पुरुष इस प्रकार स्तुति किया जाता है कि यह मङ्गल्य, यह प्रशस्त, यह धन्य, यह वीर्य्यवान्, तथा यह बहुत शाखाओं से युक्त (है)।

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिविस्तारो विपुलं कुलम्।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः ॥२०॥
तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणाश्चापत्यसंश्रितान्।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ॥२१॥

प्रीति, बल, सुख, जीविका, विस्तार, विपुल कुल, यश, सुख है उत्तरफल जिनका ऐसे लोक, तथा तुष्टि (ये सभी) अपत्य के आश्रित (हैं)। अस्तु अपत्य (सन्तान) तथा अपत्याश्रित गुणों की इच्छा करने वाला तथा कामसुख चाहने वाला नित्य वाजीकरण (सेवन करने वाला) हो।

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान्।
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ॥२२॥

इसके पश्चात्, मैथुन सुख देने वाले, सिद्ध, वीर्य-वर्द्धक, (और) अपत्यवर्द्धक वाजीकरण संयोगों को कहूँगा। (अर्थात् वाजीकरण के सम्बन्ध में प्रारम्भिक विषय प्रवेश समाप्त होचुका है और अब आगे वृष्य वाजीकरण योगों का वर्णन किया जावेगा)।

बृंहणी गुडिका

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका।
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका ॥२३॥
जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला।
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा ॥२४॥
एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम्।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् ॥२५॥
तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली।
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी ॥२६॥
विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक्-पृथक्।
सर्पिषश्चाढकं दद्यात् क्षीरद्रोणञ्च तद्भिषक् ॥२७॥
साधयेत् घृतशेषञ्च सुपूतं योजयेत् पुनः।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् ॥२८॥
पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च।
त्वगेलाकेशराणाञ्च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः ॥२९॥
मधुनः कुडवाभ्याञ्च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक्।
पलिका गुडिकास्त्यानास्तायथाग्नि प्रयोजयेत् ॥३०॥
एष वृष्यः परो योगो बृंहणो बलवर्द्धनः।
अनेनाश्व इवोदीर्णो लिङ्गमर्पयते स्त्रियाम् ॥३१॥

(इति बृंहणीगुडिका।)

सरकण्डे की जड़, ईख की जड़, काण्डेक्षु (गन्ना पोंडा) इक्षु बालिका (ईख की बाल) शतावरी, क्षीर-काकोली, विदारीकन्द, कटेरी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, शालपर्णी, ऋद्धि, गोखुरू, रास्ना, कौंच के बीज, पुनर्नवा, अलग-अलग इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन पल के भागों को एक आढक नये उड़दों को एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में पकावे और चौथाई भाग शेष रखे। फिर उसे वस्त्र में छान कर काढ़े का जल अलग करके रखलें)। तत्पश्चात् (उसमें) वहां मुलहठी, मुनक्का, अंजीर, पिप्पली, कौंच के बीज, महुआ, खजूर, शतावरी, का कल्क (जितना घृत लिया जावे उसका चतुर्थांश) विदारीकन्द-आमले और ईख का स्वरस तथा घृत अलग-अलग १-१ आढक (द्रवद्वैगुण्य से २-२ आढक) और दूध १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) देवे। वैद्य उस सबको घृत शेष रहने तक पकावे। (पक जाने पर) ठीक से छान कर फिर उसमें शर्करा के तथा वंशलोचन के चूर्णों को वैद्य १-१ प्रस्थ, ४ पल पिप्पली, १ पल कालीमिर्च, और आधा-आधा पल दालचीनी, इलायची तथा नागकेसर के चूर्ण तथा दो कुडव मधु से १-१ पल की कठिन गुडिकाएं बना कर उसे अग्नि के अनुसार प्रयोग में लावे।

यह योग अत्यन्त वृष्य, बृंहण (और) बल बढ़ाने वाला है। इसके (सेवन से) यह घोड़े की तरह कामवेग द्वारा उत्थित पुरुष प्रजननेन्द्रिय को स्त्रियों को अर्पित कर सकता है।

(यह बृंहणी गुडिका—है।)

वक्तव्य—(३५) इस योग के निर्माण के ३ पहलू हैं। पहले शरमूल से लेकर नये उड़द तक जल में पाक कर काढ़ा बनाना है फिर मधुक द्राक्षा से शतावरी तक कल्क बना विदारीकन्द आदि के स्वरस मिला घी दूध डालकर घृत पाक करना है। घृत के सिद्ध होजाने पर उसमें मिश्री वंशलोचनादि डाल मधु मिला कर गोली बना देनी है। मात्रा अग्नि के अनुसार रखनी है।

वाजीकरणघृत

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम्।
जीवकर्षभकौ मेदां वीरामृद्धिं शतावरीम् ॥३२॥
मधुकञ्चाश्वगन्धाञ्च साधयेत् कुडवोन्मिताम्।
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः ॥३३॥

विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च ।
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥३४॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक् ।
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत् पलम् ॥३५॥
पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत् ।
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ॥३६॥
(इति वाजीकरणं घृतम् ।)

नये उड़द का (१ आढक), नये कौंच के बीज का १ आढक जीवक- ऋषभक, मेदा, शालपर्णी ऋद्धि, शतावरी, मुलहठी और असगन्ध (प्रत्येक) कुडव बराबर (लेकर आठ गुना जल डालकर चौथाई शेष रहने तक क्वाथ) सिद्ध करे। उस रस (काढ़े) में १ प्रस्थ गाय का घी, गाय का दूध १० प्रस्थ, विदारी स्वरस १ प्रस्थ और १ प्रस्थ ईख का स्वरस डालकर मन्द-मन्द अग्नि से घी सिद्ध करे। सिद्ध हुए घी को पात्र में रखदे। शर्करा, वंशलोचन और शहद का अलग-अलग ४-४ पल और पिप्पली का १ पल (पीसकर) डालदे।

जो अक्षय शुक्र और उत्तम जननेन्द्रिय बल चाहे वह इसके (चाहने) के पहले १ पल (उपरोक्त) घृत को चाट कर तब अन्न का उपयोग करे (तो अवश्य ही अक्षय शुक्र और इन्द्रिय की पूर्ण पुष्टि उसे प्राप्त होगी)।

(यह वाजीकरण घृत—है।)

वाजीकरण पिण्डरस

शर्करा मापविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम् ।
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत् ॥३७॥
तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे ।
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः ॥३८॥
एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्द्धनः ।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत् ॥३९॥
शिखितित्तिरहंसानामेवं पिण्डरसो मतः ।
बलवर्णस्वरकरः पुमांस्तेन वृषायते ॥४०॥
(इति वाजीकरण पिण्डरसाः ।)

शर्करा, उड़द की दाल, वंशलोचन, दूध, घी (और) छठवां गेहूँ का आटा (इन सबको एकत्र मांड कर) उत्कारिका बना घी में तल ले। उनको अधिक न पका कर तोड़ कर मधुर उष्ण कुक्कुट मांसरस में डाल दे ताकि (वह) रस गाढ़ा हो जावे। यह पिण्ड रस वृष्य, पौष्टिक और बलवर्धक (है)। इसके कारण घोड़े जैसे उदीर्ण बलवान् लिङ्ग को (पुरुष स्त्री की योनि में) समर्पण करे।

इसी प्रकार (मुर्गे के मांसरस के ही समान) मोर, तीतर, (और) हंसों के बलवर्ण स्वर कर पिण्ड रस माने गये हैं जिनसे पुरुष बैल की तरह (मैथुन करने में समर्थ) हो जाता है।

वक्तव्य—(३६) मनुष्य को पुष्ट और अधिक कामी बनाने के लिए एसेंस आव चिकिन्स (essence of chikens) करके जो पदार्थ बाजार में मिलता है वह कुक्कुट शावकों का मांसरस ही है। प्राचीन काल में कुक्कुट, मोर, तीतर और हंसों के मांसरस में इस शक्ति को पहचान लिया गया था तथा उसको अधिक गुणवान् करने के लिए शर्करा उड़द वंशलोचन दूध घी और गेहूँ के आटे की बनी और घी में सिकी पकौड़ियों के मिलाने का जो विधान है वह और भी लाभदायक सिद्ध हुआ है।

वृष्यमाहिषरसः

घृतं माषान् सवस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे ।
भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि ॥४१॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः ।
एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः ॥४२॥
(इति वृष्यमाहिषरसः ।)

बकरे के अण्डकोषों के साथ घी को (तथा) उड़द (के बड़ों) को भैंसे के मांसरस में पकावे। उस रस को छान कर अनार आदि फलों के खट्टे रस, थोड़ा नमक, धनियां, जीरा, सौंठ मिलाकर ताजी घी में भूने। यह वृष्य, बल्य और बृंहण उत्तम मांसरस (बनता है।)

(यह वृष्य माहिषरस—है।)

वक्तव्य—(३७) इस वृष्य माहिषरस में उड़द के साथ-साथ बकरे के अण्डकोषों को पकाने का भी विधान है। बकरे के अण्डकोषों में जो तत्त्व पाया जाता है वह अवश्य ही पुरुष को वृष्य बना देगा इस सिद्धान्त पर अवलम्बित यह उपयोग है। आजकल नपुंसकता दूर करने के लिए टैस्टोस्टरोन (testosterone) आदि अण्डकोषीय सत्त्वों का प्रचलन चिकित्सा कूपमण्डूकों की देन कहां तक है यह उनका आविष्कार है या नकल या थोड़ी अकल के साथ की गई चालाकी है। पाठक स्वयं सोचें।

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे।
कुक्कुटान् बर्हिणरसे हांसे बार्हिणमेव च ॥४३॥
नवसर्पिषि संतप्तान् फलाम्लान् कारयद्रसान्।
मधुरान् वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्द्धनान् ॥४४॥
(इति वृष्यरसाः।)

चिड़ियों को तीतर के रस में, तीतरों को मुर्गे के रस में, मुर्गों को मोर के रस में और मोरों को हंसों (के रस) में ताजे घी में छोंक कर यथासात्म्य खट्टे फल रसों अथवा मधुर रख कर इन बलकारक सुगन्धयुक्त मांसरसों को बनावे।

(ये अन्य वृष्यरस—हैं।)

वृष्य चटकमांस

तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः।
न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि ॥४५॥
(इति वृष्यमांसम्।)

जो (पुरुष) चिड़ियों के मांस को तृप्त होकर (खाता है तथा) पीछे से दूध पीता है उसके लिङ्ग में शैथिल्य तथा शुक्रक्षय रात्रि में नहीं होता (अर्थात् वह रात भर अपने पुष्ट लिङ्ग से स्त्रियों का द्रावण करता हुआ भी अपने शुक्र को नष्ट नहीं करता)।

(यह वृष्यमांस—है।)

वृष्य माषयोग

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान् ॥४६॥
(इति वृष्यमाषयोगः।)

जो (व्यक्ति) पर्याप्त घी के साथ साठी चावलों का भात (खड़े) उड़द की दाल से खाकर रात्रि को दूध पीता है वह कामातुर होकर सारी रात जागता (बिना लिङ्ग शैथिल्य मैथुन करता रहता) है।

(यह वृष्यमाष योग—है।)

वृष्य कुक्कुटमांस प्रयोग

न ना स्वपिति रात्रिषु नित्यस्तब्धेन शेफसा।
तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि ॥४७॥
(इति वृष्यः कुक्कुटमांस प्रयोगः।)

मगर के वीर्य (नाके के अण्डे के रस) में भुने मुर्गे के मांस से तृप्त पुरुष स्तब्ध लिङ्ग होकर रात भर सोता नहीं है। (अर्थात् रातभर अपने सततोत्थ जननेन्द्रिय के द्वारा स्त्रियों में रत रह सकता है।)

(यह वृष्य कुक्कुटमांस प्रयोग-है।)

वृष्य अण्डरसाः

निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत्।
हंस बर्हिणदक्षाणामेवमण्डानि भक्षयेत् ॥४८॥
(इति वृष्योऽण्डरसः।)
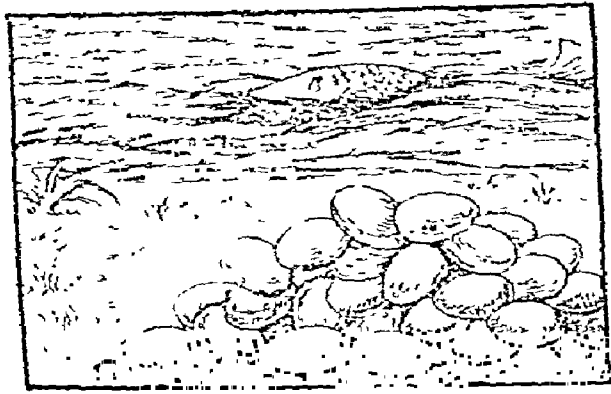
मछली के अण्डे के रस को निकालकर घी में भूनकर भखे (खावे) इसी प्रकार हंस, मयूर, कुक्कुटों के अण्डों को भखे (तो उसका लिङ्ग रात भर प्रहृष्ट रहेगा)।

(यह वृष्यअण्डरस है।)

वक्तव्य—(३८) वीर्य के द्वारा वीर्य पुष्ट होता है इस सरल सिद्धान्त के बल पर पक्षी के वीर्य का मूर्तरूप अण्डा खाने से मनुष्य मैथुन करने में पूर्ण समर्थ होसकता है, यह निष्कर्ष निकाला गया और मनुष्य ने अपने स्वार्थवश अण्डों को अपने खाद्य की तथा सुखोपभोग की सामग्री बना डाला। जल जीवों के (मगर मछली के) अण्डे तथा हंस, मोर, मुर्गे इनके अण्डे खाकर वेश्यागामी कितने कुकर्म नहीं करते यह सर्व विदित है। बैल या घोड़े के समान उग्रवीर्य मैथुन में अप्रतिहत शक्ति सञ्चय कर स्त्री का हृदय जीतने के लिये अण्डे के प्रयोग प्रशस्त हैं।

भवतश्चात्र

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे
वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले।
वृषायते तेन परं मनुष्य
स्तद्बृंहणञ्चैव बलप्रदञ्च ॥४९॥
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं
बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः
क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥५०॥

यहां दो श्लोक हैं:

स्रोतों की शुद्धि से विमल शरीर होने पर, जब पुरुष यथाकाल, मित (मात्रा के अनुसार) वृष्य पदार्थ का सेवन करता है (तब) उसके द्वारा मनुष्य अत्यन्त वृषता प्राप्त करता है (अतः) वही (वृष्य-पदार्थ) बृंहण और बलप्रद (होता है)। इसलिये आरम्भ में बल के अनुसार शोधन करना चाहिए। क्योंकि जैसे मैले वस्त्र में (प्रयुक्त) रंग (ठीक नहीं चढ़ते वैसे ही) मलिन देह में प्रयुक्त वृष्य योग (भी) नहीं सिद्ध होते।

वक्तव्य—(३९) उपरोक्त दोनों श्लोकों को वास्तव में इस अध्याय के आरम्भ में कहना चाहिए था पर आत्रेयजी ने प्रथमपाद के उपसंहार रूप में इस महत्व की बात का भी उपदेश कर दिया है। सैकड़ों अण्डे खाकर, पचासों मुर्गे और बतख पेट में झोंककर कई मुअरों का कलेवा करने के उपरान्त भी व्यक्ति कहता है कि वैद्य जी मुझे बचाओ मेरी इन्द्रिय स्त्री के सामने आते ही गिर जाती है। ऐसे समय वैद्य यदि पुंस्त्ववर्द्धक अन्य पदार्थ दे या पाश्चात्य विद्या अधीत सूचीवेध द्वारा औषधि प्रयोग करे तो भी अधिक सफलता नहीं मिलती। मैले कपड़े पर दो रुपये का पीला रंग उतना नहीं खिलेगा जितना उजले कपड़े पर दो आने का। अस्तु, शरीर की मलिनता को दूर करना प्रथम धर्म है, वह दूर नहीं तो धातुओं के द्वारा प्राप्त अन्तिम शुक्रधातु पूर्णतः पवित्र नहीं बनेगी। शोधन के उपरान्त ही वृष्य पदार्थों का उपयोग पर्याप्त तथा पूरा पूरा असर दिखाता है।

प्रथम पादोक्त विषयाः

तत्रश्लोकौ—

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव वा।
ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये ॥५१॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः।
उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः ॥५२॥

वहां दो श्लोक (हैं)—

वाजीकरण का सामर्थ्य, जिसको जो स्त्री क्षेत्र (है), सन्तानरहित पुरुषों के जो दोष और पुत्र वाले पुरुषों के जो गुण और पन्द्रह वीर्यापत्य-वर्द्धक पुष्टि और बलदायक योग वे शरमूलीय (वाजीकरण) पाद में कहे गये हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सा स्थाने वाजीकरणाध्याये संयोगशरमूलीयो नाम वाजीकरण पादः प्रथमः ॥२—(१)॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत इस शास्त्र के चिकित्सास्थान में वाजीकरणाध्याय में संयोग शरमूलीय नामक प्रथम वाजीकरणपाद (समाप्त हुआ)।
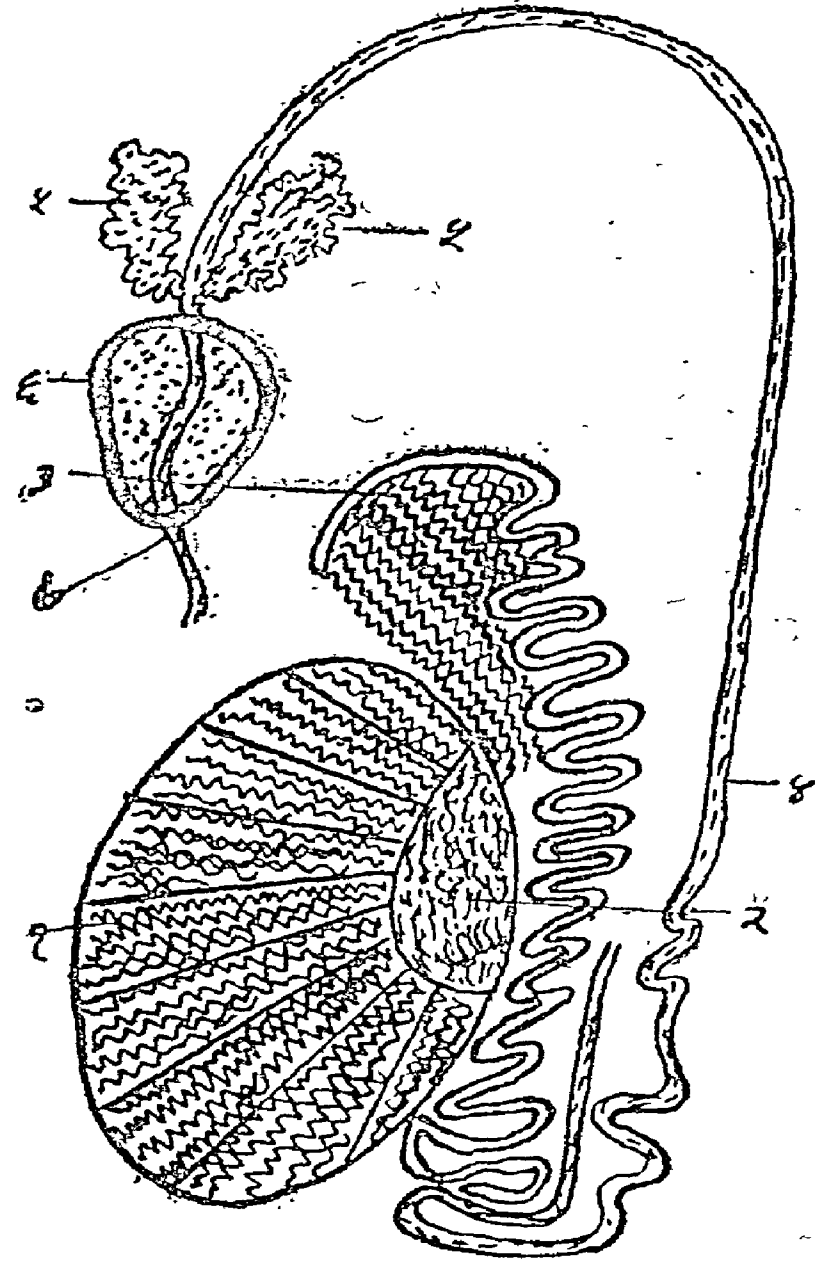
वीर्यजनक तन्तुजाल

नं० १ वे बारीक-बारीक नलियां हैं, जिनमें वीर्य (रस) जम कर शुक्र (कृमिरूप) होता है। नं०२ वह रस अभी रक्त में से छनकर वीर्य रूप ही है। नं० ३ (जो चित्र में ७ सा दीखता है) उन बारीक नलियों का दूसरा सिरा है, जिसके किनारे-किनारे से शुक्र संग्रह करके नं० ४ शुक्रवाहिनी चलती है और नं० ५ वह स्थान हैं, जहां वह फैल-फूटकर 'शुक्राशय' हो जाती है। नं० ६ मद-ग्रन्थि है और नं० ७ (जो अंग्रेजी के 6 की तरह लिखा है) मदग्रन्थि से आगे शिश्न की ओर नली जारही है और मत्रनली में मिल जाने वाली है।

अथात आसिक्तक्षीरीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) आसिक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

षष्टिकादि गुडिका

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम् ।
उलूखले समापोथ्य पीडयेत्क्षीरमर्दितम् ॥२॥
क्षुण्णं विमृदितं क्षीरे पीडयेत् सुसमाहितः ।
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह ॥३॥
बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च ।
बलायाः शूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च ॥४॥
ऋद्धयर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च ।
शतावर्य्या विदार्य्याश्च द्राक्षाखर्ज्जूरयोरपि ॥५॥
संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत् तत्र चावपेत् ।
तुगाक्षीर्य्याः समानानां शालीनां षष्टिकस्य च ॥६॥
गोधूमानाञ्च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः ।
सान्द्रीभूतञ्च तं कुर्य्यात् प्रभूतमधुशर्करम् ॥७॥
गुडिका बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्ज्जयेत् ।
ताः यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः ।
पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम् ॥८॥

(इत्यपत्यकरा षष्टिकादि गुडिका ।)

वैद्य दूध से सिक्त लगभग पके कुछ गीले सफेद साठी के चावल को ओखली में कूटकर मर्दित दूध को निचोड़ ले (फिर दुबारा) कूट (दुग्ध से गीला करके) मृदु बनाकर (फिर से) निचोड़ ले। उस छने हुए साठी के रस को एकत्र लेकर (समभाग) गाय के के दुग्ध साथ कोंच के बीजों के स्वरस (या क्वाथ), उड़द के (इसी प्रकार प्राप्त) स्वरस के साथ, बला, मुद्गपर्णी माषपर्णी, जीवन्ती, जीवक, ऋद्धि, ऋषभक, काकोली, गोखुरू, मुलहठी, शतावरी, विदारीकन्द, अंगूर के (स्वरस या क्वाथ के) साथ बराबर की मात्रा में मिलाकर सिद्ध करे तथा वंशलोचन उड़द, शालि, षष्टिक और गेहूं (इन सबके) चूर्ण को (तब तक) डाले (जब तक) वह रस गाढ़ा होजावे। गाढ़े हुए उस रस को खूब मधु और शर्करा मिलावे। फिर इसकी बेर बराबर गोलियां (बनाकर) घी में तल ले। उनको अग्निबल के अनुसार दूध और मांस रस का सेवन करने वाला प्रयुक्त करता हुआ बुड्ढा (व्यक्ति) भी अपने से उत्पन्न विपुल सन्तान देखता है।

(यह अपत्यकारिणी षष्टिकादि गुडिका—है।)

वक्तव्य (४०) यह योग मांसादिक से विरहित और बनाने में बड़ा सरल तथा खाने में बहुत सुस्वादु बनता है। ताजी चावलों को रात को भिगो दो सवेरे खरल में घोटकर कपड़े में रस छान लो। जितना रस उतना दुग्ध और डाल दो। पहले इतना भर दुग्ध डालना चाहिए कि वह फूल जांय और दुग्ध उनमें सूख जाय। जाड़ों के आरम्भ में जब

धान पकता है उस समय यदि इस प्रयोग को किया जाय तो दूधल धान लिया जासकता है। जिसमें भीतर चावल का अंश दुग्ध के रूप में विद्यमान हो। आसिक्तक्षीरीय आपूर्ण अशुष्क षष्टिक का अर्थ खेत से प्राप्त दूध से भरा हुआ करीब-करीब पका हुआ गीला साठी भी होता है। बङ्गाल-विहार-ब्रह्मादि देशों में ऐसा ही चावल लेना चाहिए। चावल के पूरा पकने के पहले उसका दूध निकाल पकवान बनाने की उधर प्रथा भी है। दुग्ध के साथ सिक्त या अपने दुग्ध से सिक्त जहां जैसा सम्भव हो वैसा अर्थ कर लेना चाहिए। गर्मियों में चावल को दिन में ही दुग्ध में भिगो देना चाहिए और घोट-घोट कर कपड़े में छानते जाना चाहिए। कई बार दुग्ध डालना फिर घोटना तब छानना इससे साठी का सब चावल रस रूप में छन जाता है। इस रस के बराबर गोदुग्ध से खर्जूर रस तक ले। सबको मिलाकर कड़ाही में डाल पकावे जब गाढ़ा होने लगे तो उसमें वंशलोचन उड़द का आटा, साठी के चावल का आटा और गेहूं का आटा सबको पीस-घोट-कपड़छान करके रखें और थोड़ा-थोड़ा करके उसमें तब तक डालते जांय कि वह गाढ़ा होजाय। या यों कहिए कि उपरोक्त स्वरसों को उबाल कर नीचे उतार कर रखलें और इन आटों को तसले में डाल स्वरस के साथ गूंथ लें। साथ में यथावश्यक शहद और खांड भी डाललें। जब यह बरी सेकने के बराबर गीला होजावे तब कड़ाही में घी छोड़ कर पकौड़ियां सेंकलें। यह योग अपत्यकरी गुटिका के नाम से प्रसिद्ध है और इसके सेवन से बुड्ढा भी सन्तानोत्पादन में समर्थ होजाता है।

वृष्यभक्ष्य योग

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥९॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि।
षष्टिकानाञ्च चूर्णानि चूर्णं गौधूमिकं तथा ॥१०॥
एभिः पूपलिकाः कार्य्याः शष्कुल्यो वर्त्तिकास्तथा।
पूपा धानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ॥११॥
एषां प्रयोगाद्भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ॥१२॥
(इति वृष्य पूपलिकादि योगाः।)

वैद्य चटकों के, साथ ही हंसों के मुर्गों के, मोरों के तथा शिशुमारक नाके के वीर्य को गोघृत वराह कुलिङ्ग की वसा भी और साठी के चावल का आटा तथा गेहूँ का आटा इकठ्ठा करले (सब को मांड़कर) पूपलिका, पूड़ी, बत्ती, पूप, धाना आदि विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थ बनावे। इन भक्ष्य पदार्थों के प्रयोग से स्तम्भन युक्त वीर्य से पूर्ण उपस्थेन्द्रिय से घोड़े के समान जब तक इच्छा तब तक पुरुष स्त्री में गमन करता है।

(ये वृष्यपूपलिकादि योग-हैं)
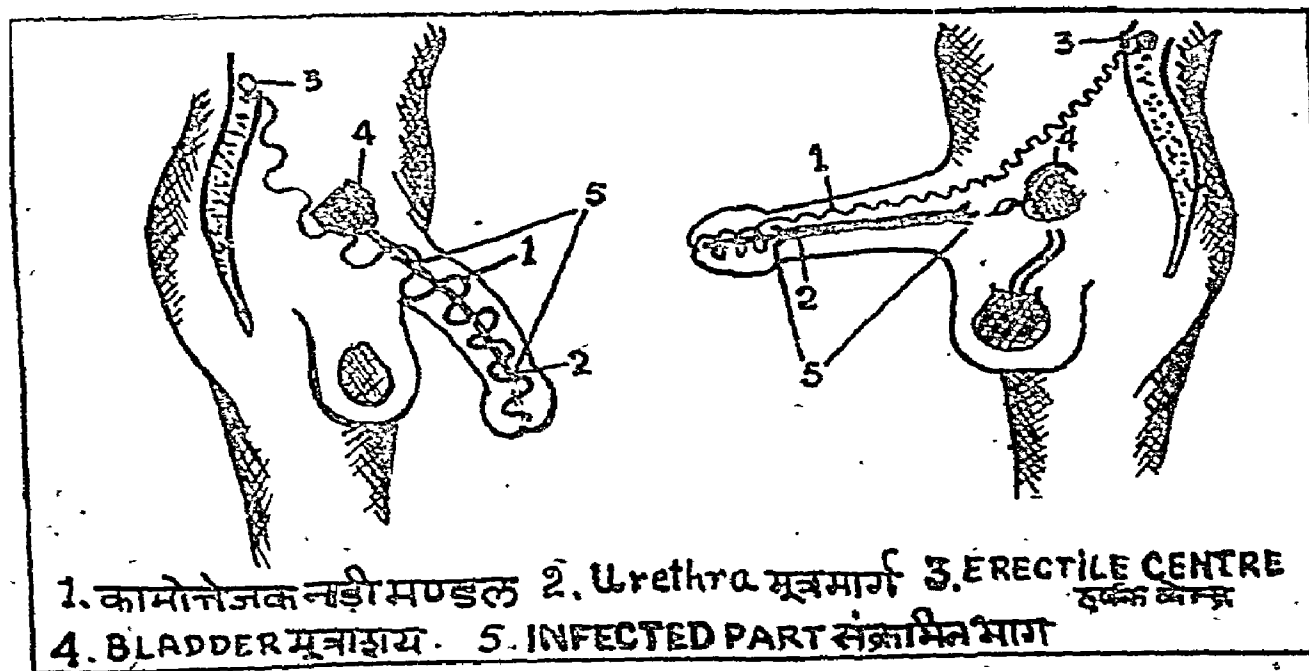
कामोत्तेजना-दायक नाड़ियां दिखाते हुए इसमें नं. ५ से वह भाग दिखाया गया है जहां पर सुजाक आदि रोगों में विकृति उत्पन्न होजाती है।

अपत्यकररस

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम् ।
शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत् प्रस्थसम्मितम् ॥१३॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत् प्रस्थावशेषितम् ।
शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत् प्रसृतैस्त्रिभिः ॥१४॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च ।
तत् पाययेत् सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ॥१५॥
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति ।
नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ॥१६॥

(इत्यपत्यकरः स्वरसः ।)

कौंच के बीच, उड़द, खजूरें, शतावरी, सिंघाड़े, मुनक्का (सब मिलाकर) १ प्रस्थ (१६ पल), दूध १ प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २ प्रस्थ), जल १ प्रस्थ (द्रव द्वैगुण्य से २ प्रस्थ लेकर) पकावे । एक प्रस्थ शेष रहने पर शुद्ध वस्त्र द्वारा छानकर शर्करा, वंशलोचन और ताजा घी की ३ प्रसृति (६ पल) मिलावे । उसे शहद मिलाकर पिलावे । साठी के अन्न का भोजन करावे । बुढ़ापे से घिरा हुआ साथ ही दुर्बल व्यक्ति इस योग के द्वारा सुविपुल सन्तान प्राप्त करता है तथा युवा के समान (लैङ्गिक) हर्ष को प्राप्त होता है ।

(यह अपत्यकर स्वरस है ।)

वक्तव्य—(४१) यह योग शाकाहारियों (vegeterians) के लिए बड़े काम का है ।

वृष्यक्षीर

खर्ज्जूरीमस्तकं माषान् पयस्याञ्च शतावरीम् ।
खर्ज्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम् ॥१७॥
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत् सलिलाढके ।
तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत् ॥१८॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद् घृताढ्यं षष्टिकौदनम् ।
सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः ॥१९॥

(इति वृष्यक्षीरम् ।)

बुद्धिमान् १-१ पल खजूर के मस्तक (से प्राप्त मीठे रस) को, उड़दों को, क्षीरकाकोली शतावरी को, खजूरों, महुआ के फूलों, मुनक्कों तथा कौंच के बीजों को १ आढक (द्रव द्वैगुण्य से २ आढक) जलमें पकावें । उससे चतुर्थांश (शेष रहने पर उसे) १ प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २ प्रस्थ) दूध को पकावे । दूध मात्र शेष उसको अधिक घी के साथ शक्कर मिलाकर साठी चावल के भात के साथ खावे । यह अत्यन्त वृष्य माना गया है ।

(यह वृष्य क्षीर—है ।)

वृष्यघृत

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम् ।
खर्ज्जूरं मधुकं द्राक्षां पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२०॥
शृङ्गाटकीं विदारीञ्च नवं सर्पिः पयो जलम् ।
सिद्धिं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥२१॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम् ।
वृष्यं बल्यञ्च वर्ण्यञ्च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ॥२२॥

(इति वृष्यं घृतम् ।)

जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, मुण्डी, महामुण्डी, पिण्ड खजूर, मुलहठी, मुनक्का, पिप्पली, सोंठ सिंघाडा और विदारीकन्द को (बराबर बराबर) लेकर (उससे चार गुना) ताजा घी (घी के चार गुने)

य को (और उतने ही) जल को (लेकर) पकावें, घी च रहने पर उसका चतुर्थांश शक्कर और मधु (मिला र) साठी के भात के साथ मिलाकर बल के अनु- ार उपयोग करे। (यह) वृष्य बल्य, वर्ण्य, कण्ठ्य ौर उत्तम बृंहण (योग है)।

(यह वृष्यघृत— है।)

वक्तव्य–(४२) इस योग में श्रावणी और महाश्रावणी ; सम्बन्ध में मतभेद है। कोई इन्हें दिव्यौषधियों में लेते हैं र वैसा करके इन्हें अलभ्य पदार्थ बना योग को न बनाने की म्मति देना अव्यवहार्य है। राजनिघण्टु में दोनों का र्णन इस प्रकार है:—

श्रावणी स्यान्मुण्डितिका भिक्षुः श्रवणशीर्षिका।
श्रवणा च प्रव्रजिता परिव्राजी तपोधनाः॥
श्रावणी तु कषाया स्यात् कटूष्णा कफ पित्तनुत्।
आमातीसारकासघ्नी विषच्छर्दिविनाशिनी॥
महाश्रावणिकाऽन्या सा महामुण्डी च लोचनी।
कदम्बपुष्पी विकचा क्रोडचूडा पलङ्कषा॥
नदीकदम्बो मुण्डाख्या महामुण्डतिका च सा।
छिन्न ग्रन्थिनिका माता स्थविरा लोभनी तथा।
भूकदम्बोऽलम्बुषा स्यादिति सप्तदशाह्वया॥
महामुण्ड्युष्णातिक्ता च ईषद्गौल्या मलच्छिदा।
स्वरकृद्रोचनी चैव मेहहृच्च रसायनी॥

महामुण्डी रसायनी तथा मुण्डी विषघ्नी होने के कारण वृष्यघृत के योग में ठीक ठीक खप सकती हैं तथा दोनों वीर्य का शोधन करती हुई योग में अपना महत्वपूर्ण स्थान रख सकती हैं।

दधिसर प्रयोग

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसन्निभं दोषवर्जितम्।
शर्कराक्षौद्रमरिचस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान्॥२३॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे।
मार्ज्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने॥२४॥
पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम्।
वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते॥२५॥

(इति वृष्यो दधिसरप्रयोगः।)

बुद्धिमान् शरत्कालीन चन्द्रमा के समान निर्दोष दही की मलाई को शक्कर, शहद, कालीमिर्च, वंश- लोचन (यथावश्यकता) युक्तिपूर्वक मिलाकर नये घड़े में पवित्र कपड़े में से छानकर (रखे तथा) शीतल (होजाने पर) घृतपूर्ण साठी के भात पर डाले (और सेवन करे अथवा) यथामात्रा (जितना हितकर हो) उस रसाला(दधिसर योग) को साठीभात खाकर पिये। वर्ण, स्वर, बल से युक्त होकर पुरुष उसके कारण बैल के समान रतिसामर्थ्य पा लेता है।

(यह वृष्य दधिसर प्रयोग–है।)

वक्तव्य--(४३) दधिसर और रसाला का एक ही अर्थ है। आजकल जो लस्सी करके बाजार में मिलती है वह एक वृष्य योग का ही भ्रष्टरूप है। लस्सी में दही बूरा और बर्फ रहता है। दधिसर या रसाला में दही के ऊपर की मलाई, मिश्री, शहद, कालीमिर्च, वंशलोचन कहीं कहीं सोंठ, कपूर सुगन्धित इत्र आदि डालने का भी विधान है। दही में केवल चीनी डालना प्राचीन पद्धति के अनुकूल नहीं है। चीनी कफकारक है। कफ की वृद्धि रोकने के लिए कफनाशक शहद का मिलाना परमावश्यक है। खाद्य द्रव्यों में बहुधा जहां चीनी या शक्कर डालने का विधान है वहां मधु भी लिखा हुआ मिलता है।

वृष्य षष्टिकौदन प्रयोग

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते॥२६॥

(इति वृष्यः षष्टिकौदन प्रयोगः।)

चन्द्रमा की श्वेत किरण के समान शुभ्र साठी के भात को घृत बहुल मिश्री मधु मिलाकर दूध के साथ प्रयुक्त करने वाला बैल की तरह मैथुन कर्म में सामर्थ्यवान् होजाता है।

(यह वृष्यषष्टिकौदनप्रयोग–है।)

वृष्या पूपलिका

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम्।
युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च॥२७॥

पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः ।
य इच्छेदश्ववद्गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः ॥२८॥
(इति वृष्यपूपलिकाः ।)

जो मनुष्य घोड़े के समान स्त्री गमन तथा हाथी के समान वीर्यक्षरण करना चाहे (वह) मगर के अण्डे को मुर्गी के अण्डे के (स्वरस के) साथ मिला कर साठी के आटे के साथ ताजा घी डाल मांड कर तप्त घी में पुए सेक वारुणी के मण्ड के साथ खावे ।
(यह वृष्यपूपलिका-है ।)

वक्तव्य—(४४) जो लोग अंडे में अनेक गुणों का अधिष्ठान देखते हैं उन्हें यह न भूलना चाहिए कि ऋषियों ने अंडे की शक्ति को भले प्रकार पहचान लिया था मगर के अण्डों और कुक्कुटाण्डों की शक्ति का रहस्य जानने के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव अवश्य किये थे यह भी इन वक्तव्यों से सिद्ध होता है ।

भवन्ति चात्र—

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः ।
अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः ॥२९॥
एतैः प्रयोगैर्विधिवद्धपुष्मान्,
वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः ।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो
भवेत् समर्थञ्च वराङ्गनासु ॥३०॥
यद्यच्च किञ्चिन्मनसः प्रियंस्याद्
रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः ।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं
प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम् ॥३१॥

और यहां (इस विषय में) श्लोक हैं—

आसिक्तक्षीरिक (वाजीकरण) पाद में जो प्रयोग कहे गये हैं वे आठों सन्तान की कामना करने वालों तथा पौरुष चाहने वालों के द्वारा प्रयोग किए जाने चाहिए ।

इन विधिपूर्वक (किये गये) प्रयोगों से मनुष्य डीलडौलवाला, वीर्य से युक्त, बलवर्णयुक्त आठ बरस के (जवान) घोड़े के समान हर्ष से युक्त स्त्रियों में मैथुन के लिये समर्थ होता है । जो जो कुछ मन को प्रिय हो रमणीय वनप्रदेश, सरिता के तट, गिरिश्रृङ्ग, प्रिय (इष्ट) स्त्रियां, आभूषण, सुगन्धित मालाऐं और प्रिय मित्र वे सब इस वाजीकरण में योग्य (माने जाते) हैं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये आसिक्तक्षीरीयो नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः ॥२-(२)॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय में आसिक्तक्षीरीय नामक द्वितीय वाजीकरण पाद (समाप्त हुआ ।)
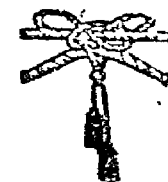
वाजीकरणाध्याये तृतीयः पादः

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) माषपर्णभृतीय (नामक तृतीय) वाजीकरणपाद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

वृष्य गोदुग्ध

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम्।
समान वर्णवत्साञ्च जीववत्साञ्च बुद्धिमान् ॥२॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम्।
इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीराञ्च धारयेत् ॥३॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा।
शर्करामधु सर्पिर्भिर्युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥४॥

बुद्धिमान् प्रथम प्रसूता (गृष्टि-एक बार व्याई), पुष्ट, चार स्तनवाली, अपने रंग के बछड़े वाली और जीवित बछड़े वाली, लाल अथवा काली, ऊपर को बढ़े हुये सींगों वाली, देखने में जो दारुण (भयङ्कर) नहीं ऐसी, गन्ने खाने वाली अथवा अर्जुन के पत्ते चरने वाली तथा गाढ़े दूध वाली गाय को पाले। उस गाय का अकेला दूध ही उबाल कर अथवा बिना उबाले हुए ही शक्कर, शहद घी के साथ मिलाकर (प्रयोग करना जो है) वह उत्तम वृष्य (होता है।)

वक्तव्य—(४५) ऊपर प्रशस्त गाय का स्वरूप वर्णन किया गया है। काली गौ जीवित समान वर्ण के बछड़े वाली बढ़िया वह मानी जाती है जिसका दूध गाढ़ा हो। गाढ़ा दूध वही गाय दे सकती है जो उड़द के पत्ते या ईख या अर्जुन के पत्ते चारे में खाती है। गोदुग्ध ही यदि वृष्य नहीं होगा तो क्या गर्दभी दुग्ध वृष्य होगा। वृष्य अर्थात् बैल जैसी मैथुन शक्ति देने वाला। बैल में शक्ति का कारण है गोदुग्ध अतः गोदुग्ध को परमवृष्य कहना भी उतना ही सङ्गत है जितना उसे केवल वृष्य मानना।

वाजीकरण दृष्टि से उटा या कच्चा दूध घी मिश्री मधु डालकर ही लेना चाहिए। केवल बूरा या चीनी मिलाकर दूध पीने की अपनी पद्धति नहीं है।

वृष्य क्षीरयोग प्रथम

शुक्लैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्द्धनैः।
क्षीरसञ्जननैश्चापि पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥५॥
युक्तं गोधमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम्।
पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ॥६॥
(इति वृष्यक्षीर प्रयोगः प्रथमः)

अक्षय शुक्र (लाभ) की इच्छा करने वाले को शुक्ल (जीवककर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गमाषपर्णीवृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति), जीवनीय (जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति) बृंहण (क्षीरिणी राजक्षवकबलाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनी भद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति) बलवर्धन (ऐन्द्र्यषभ्यतिरसर्ष्य प्रोक्तापयस्याश्वगन्धा स्थिरा

रोहिणी बलादियलेति) और क्षीर सञ्जनन (क्षीर-शशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलमिति) ओषधि समूहों से अलग अलग सिद्ध किया गया गोदूध गेहूँ (के भुने) आटे के साथ घी शहद शक्कर (यथामात्र) मिलाकर बारी बारी से प्रयोग करना चाहिए। (कहने का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त गणों में वर्णित ओषधियों में से किसी को कई को या अन्य वर्णित वैसे ही गुणवाली ओषधियों को जितना ले उसका अठगुना दूध और चौगुना जल डाल औटे जब दूध मात्र शेष रहे तो छान कर रख ले फिर गेहूं के आटे को घी में भूने भुन जाने पर उसमें इस दूध और शक्कर को डाल दे गाढ़ा होने पर उतार ले नीचे शहद मिला सेवन करे, यह क्रम एक के बाद दूसरी ओषधि से लगातार करता जावे।)

क्षीरयोग द्वितीय

मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम्।
श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमान् शालिषष्टिकान् ॥७॥
पयस्यर्द्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते।
विवर्जयेत्पयःशेषं तत्पूतं क्षौद्रसर्पिषा ॥८॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः सप्ततिकोऽपि वा।
विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च हृष्यति ॥९॥

मेदा, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, विदारीकन्द, कटेरी गोखुरू, क्षीरविदारी, शहद, गेहूं, शालि, षष्टिक एक एक कर्ष परिमाण को आधे जल युक्त १ आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) दूध में पकाकर दूध शेष रहने पर उतारले। उसे छानकर मधु घृत के साथ शक्कर मिलाकर पीने से सत्तर वर्ष का भी बुढ्ढा विपुल सन्तान प्राप्त करता है तथा युवा के समान हृष्ट होता है।

क्षीरयोग तृतीय

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम्।
अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥१०॥

सोने के पत्रों को (तपाकर तथा बुझा बुझा कर) उबाला हुआ उसी (पूर्वोक्त लक्षणों वाली) गाय का दूध घी शक्कर शहद के साथ सिद्ध सन्तान जनक (हो जाता है)।

वृष्य पिप्पलीक्षीरयोग

त्रिंशत्सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः।
भृष्टाः सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः ॥११॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति नाक्षरत् ॥१२॥
(इति वृष्यपिप्पलीक्षीरयोगः।)

अच्छी पिसी तीस पिप्पलियों को तिल तैल और गोघृत एक पल में भूनकर, शक्कर शहद मिलाकर (दोहनी के ऊपर कपड़े पर रखकर) उसी पर दूध की निकाली हुई धारा को दुहकर डालते हुए बल के अनुसार पीने से ऊपर से साठी का भात, घी, दूध के साथ खाने से रात भर जननेन्द्रिय शीघ्र वीर्यपात करने वाला, तथा शिथिल पुरुष नहीं देखता।
(यह वृष्य पिप्पलीक्षीर योग—है।)

वृष्यपायसयोग

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च, रसे क्षीरचतुर्गुणे।
घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः ॥१३॥
(इति वृष्यपायसयोगः।)

गोदुग्ध से चारगुने गोखुरू और विदारीकन्द के स्वरस के साथ पकाई गई खूब घी वाली उड़द और साठी के चावल की खीर वृष्य होती है।
(यह वृष्यपायसयोग—है।)

वृष्यपूपलिका

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम्।
कुडवश्चूर्णितानां स्यात् स्वयंगुप्ता फलस्य च ॥१४॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः।
गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ॥१५॥
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत् सर्वं क्षीरमर्दितम्।
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्व्यः स्युर्यस्य योषितः ॥१६॥

जीवनीय जीवकऋषभकादि, स्नेहोपग मृद्वीकादि, हृद्य आम्र आदि सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में लिखित वर्गों के द्रव्यों का चूर्ण मिलित १ कुडव, कौंच के बीजों का चूर्ण १ कुडव, उड़द का चूर्ण १ कुडव, तिल और मूँग का चूर्ण दो-दो कुडव, गेहूं तथा शालि चावलों का चूर्ण एक-एक कुडव ले। गाय का घी १ कुडव सब दूध में माँड़ कर पूए सेक ले। जिसको बहुत स्त्रियां हों वह (उनको) खावे।

(यह वृष्यपूपलिकायोग—है।)

घृतशतावरीयोग

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत्।
शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥१७॥

(इति घृतशतावरीयोगः।)

शतावरी के भीतर घी भर कर (अथवा एक प्रस्थ घी तथा चतुर्थांश शतावरी लेकर) दसगुने दूध में पकावे। उसे शर्करा, पीपल और शहद मिला कर (प्रयोग करे यह) उत्तम वृष्य (योग है)।

(यह घृतशतावरी योग—है।)

मधुकयोग

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम्।
प्रयुंक्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ॥१८॥

(इति वृष्यमधुकयोगः।)

एक कर्ष मुलहठीचूर्ण बराबर भाग घी शहद मिलाकर जो प्रयोग करता है और पीछे से दूध (पीता है) वह पुरुष हर समय वेगवान् रहता है।

(यह वृष्य मधुकयोग—है।)

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा।
सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ॥१९॥

घी-दूध का सेवन करने वाला, निडर, रोगरहित, नित्य स्त्री का सेवन करने वाला नवयुवक जो स्त्री-गमन का सङ्कल्प (किए हुए है) वह पुरुष नित्य स्त्रियों में वृष के समान मैथुन करता है।

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योन्यानुवर्तिनः।
कलासु कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये ॥२०॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः।
ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः ॥२१॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः।
तैर्नरः सह विस्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥२२॥

जो एक प्रकार से कार्य करने वाले हैं, जिनके सब प्रयोजन सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, जो एक-दूसरे के अनुसार आचरण करते हैं, जो कलाओं (कामवासनापूर्ति के नाना विध कौतुकों) में कुशल और आयु तथा मन से समान होते हैं, कुल-महत्ता-दाक्षिण्य-शील-शौच से युक्त हैं, जो नित्य कामुक होते हैं, जो नित्य हर्ष से युक्त रहते हैं, जो शोक से रहित हैं, जिनकी सब व्यथाएँ दूर हो चुकी हैं, जिनका स्वभाव एक समान है, जो परस्पर अनुरक्त रहते हैं, जो प्रिय हैं और जो मधुरभाषी हैं उन मनुष्यों के साथ पूर्ण विश्वास और आनन्द से (रहने वाला) पुरुष वृष के समान रतिक्षम बन जाता है।

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः।
गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥२३॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणाञ्चाभरणस्वनैः।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ॥२४॥

तैलमालिश, उबटन, स्नान, पुष्पमाला, (तथा) आभूषणों से; घर, शय्या (तथा) आसन के सुखों से; बिना फटे नये सुन्दर वस्त्रों से, पक्षियों के मनोरम कलरवों से, तथा स्त्रियों के अलङ्कारों की ध्वनियों से, तथा प्रिय सुन्दर स्त्रियों के पैर दबाने से (पुरुष) वृष के समान रतिक्षम होजाता है।

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः।
जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ॥२५॥
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः।
उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः ॥२६॥
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगन्धिनः।
रतिभोगक्षमा रात्र्यः सङ्कोचागुरुवल्लभाः ॥२७॥

सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः
फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः ।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः
सत्त्वं विशालं निरुपद्रवञ्च ॥२८॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः
स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य ।
वयो नवं जातमदश्च कालो
हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥२९॥

मतवाले भौंरों से गुञ्जित कमलों वाले सरोवर, चमेली कमल की सुगन्धियों (से वासित) शीतल तहखाने तथा (ऊँचाई से गिरने के कारण श्वेत) फेन से भरी हुई सरिताएँ, नीली चोटियों वाले पर्वत, (आकाश में) उठते हुए नीले मेघ; चन्द्रमा के उदय से रमणीय बनी हुई रातें, कुमोदिनियों की सुगन्ध वाली सुखस्पर्शी हवाएँ, रति भोग के योग्य रातें, माता पिता गुरु आदि के सङ्कोच से रहित कामिनियाँ (अथवा सङ्कोच—केशर तथा अगर का लेप जिनमें प्रिय लगता है ऐसी रति भोग्य निशाएँ), सुख देने वाले, (मन चाही वस्तु की प्राप्ति में) सहायता करने वाले, कोयल की कुहू-कुहू से व्याप्त, पवित्र प्रचुर खान-पान सामग्री से युक्त, सङ्गीतज्ञों के रागों से युक्त, सुगन्धभरी सुमनमालाओं को(प्रदान करने वाले) वन प्रदेश; उपद्रवरहित विशाल मन, प्रयोजन की सिद्धि, नयी कामवासना, और स्त्री ये सब कामदेव के आयुध हैं।

नई उम्र और मस्ती से भरने वाला (वसन्त का) समय ये मनुष्यों के हर्ष के प्रधान कारण हैं।

तृतीयपाद के विषय

तत्र श्लोकः—

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दशपञ्च च ।
माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः ॥३०॥

वहां (उक्त विषय में) श्लोक (है कि)—

प्रहर्ष के कारण, शुक्र और बल प्रदान करने वाले १५ योग इस माषपर्णभृतीय (नाम के) पाद में बतलाये गये हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंकृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः ॥२—(३)॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय में माषपर्णभृतीय नामक तृतीय वाजीकरणपाद (समाप्त हुआ)।

वाजीकरणाध्याये चतुर्थः पादः

अथातः पुमान्जातबलादिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) पुमाञ्जातबलादिक (नामक चतुर्थ) वाजीकरणपाद का व्याख्यान करेंगे ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ।

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत् ।
यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ॥२॥

पुरुष बलप्राप्त करके जिस प्रकार स्त्रियों में तब तक चाहे (यथेच्छ) गमन करे और जिस प्रकार (वह) शीघ्र सन्तान वाला होवे उसका उपदेश किया जावेगा ।

न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः ।
बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ॥३॥
सन्ति चाल्पाश्रयाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः ।
प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ॥४॥
नराश्चटकवत्केचिद्व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् ।
गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ॥५॥
कामयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः ।
केचित्प्रयत्नैर्वाह्यन्ते वृषाः केचित्स्वभावतः ॥६॥
तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान् ।
सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्द्धनान् ॥७॥

क्योंकि बलप्राप्त सभी पुरुष सन्तान वाले नहीं (होते)। (और) बड़े शरीर वाले बली (पुरुष) स्त्रियों (के गमन) में दुर्बल होते हैं छोटे शरीर वाले स्त्रियों (के गमन) में बलवान् (और) बहुप्रज होते हैं। (कुछ) प्रकृति (स्वभाव से ही) दुर्बल होते हैं। (और कुछ) रोग के कारण दुर्बल होते हैं। कुछ पुरुष चटक (चिड़िया) की तरह बहुत बार स्त्री गमन करते हैं। कुछ (जो) बहुत स्त्रीगामी नहीं (हैं) हाथी के समान (बलपूर्वक) शुक्रप्रसेक करते हैं। कुछ (कामिनीविद्रावण मदनानन्दमोदकादि) कामवर्द्धक योगों के द्वारा बल प्राप्त करते हैं+कुछ अभ्यास से (बार-बार रमण करने से), कुछ (स्त्रीमुखचुम्बनालिङ्गनकुचमर्दनशोफसंस्पर्शनसंयोजनादि) प्रयत्नों के द्वारा मैथुन सामर्थ्य प्राप्त करते हैं (और) कुछ स्वाभाविक रूप से वृष (के समान मैथुन करने में समर्थ) होते हैं ।

इसलिए दुर्बलों को बल देने वाले, (तथा) बलवानों को पर्याप्त बल बढ़ाने वाले सुखोपभोगकारी प्रयोगों को (हम) कहेंगे ।

पूर्वं शुद्धशरीराणां निरूहैः सानुवासनैः ।
बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यादिवर्द्धनान् ॥८॥

+कामयोगबलाः के स्थान पर जिन्होंने कालयोगबलाः पाठ माना है वहां कुछ लोग काल पाकर ऋतुविशेष में बलवान होते हैं ऐसा अर्थ लेना चाहिए ।

पहले अनुवासन सहित निरूहों के द्वारा शुद्ध किये गये व्यक्तियों को (वैद्य) बल देखकर शुक्रवर्द्धक तथा सन्तान प्रदाता (योग) प्रदान करे।

वक्तव्य—(४६) गंगाधर ने निरूहान् सानुवासनान् पाठ दिया है और उसका कहना है कि वमन विरेचनादिक से शुद्ध शरीरवालों के लिए शुक्रापत्यवर्द्धक निरूह और अनुवासन योग प्रयुक्त करना चाहिए। आरम्भिक वृष्य योग जो इस पाठ में मिलता है वह बस्तियोग होने से उसका कथन ही अधिक ठीक मालूम पड़ता है।

वृष्यबस्तियां

घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः ।
बस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम् ॥९॥

घी, तैल, मांसरस, दूध, शक्कर, शहद से युक्त बस्तियाँ दूध मांस रसादि भोजियों (non-vegetarians) को देनी चाहिए।

वृष्य मांसगुडिका

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे ।
कोलवद्गुलिका कृत्वा तप्ते सर्पिषि भर्जयेत् ॥१०॥
भर्ज्जनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे ।
घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसाधिते ॥११॥
यथा न भिन्द्याद् गुडिकास्तथा तं साधयेद्रसम् ।
तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥१२॥
मांसानामेवमन्येषां मेद्यानां कारयेद्भिषक् ।
गुडिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्द्धनः ॥१३॥

सूअर के मांस को पीस कर मरिच और सैन्धव लवण लगाकर बेर बराबर गोली करके तप्त घी में भूनें। भूनने से कठिन हुई उनको फिर खूब घी पड़े हुए सुगन्धित, दही और अनार के रस से सिद्ध मुर्गे के मांसरस में डालकर गोली जिस प्रकार न टूटे वैसे (पुनः) उस रस को पकावे। उस (रस) को पीता हुआ और उन (गोलियों) को खाता हुआ पुरुष अक्षयशुक्र प्राप्त करता है।

वैद्य इसी तरह अन्य मेदस्वी प्राणियों के मांस की रसयुक्त गोलियाँ बनावे। उनका प्रयोग (भी) शुक्रवर्द्धक होता है।

वृष्य माहिषरस

माषानंकुरिताञ्छुद्धान् वितुषान् साजडाफलान् ।
घृताढ्ये माहिषरसेदधिदाडिमसारिके ॥१४॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तो धान्यजीरकनागरैः ।
भुक्तः पीतश्च स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम् ॥१५॥
(इति वृष्यमाहिषरसः।)

(पानी में भिगोने के कारण) अंकुरयुक्त, छिलकारहित, शुद्ध उड़द और कौंच के बीजों को दही और अनार के रस से संस्कृत खूब घी पड़े हुए भैंसे के धान्य जीरक सौंठ से युक्त मांसरस में छोड़ दे। (घन भाग से) खाया और (द्रव भाग से) पिया वह रस अक्षय शुक्र (की उत्पत्ति) करता है।
(यह वृष्यमाहिषरस—है।)

वक्तव्य—(४७) अंकुरित उड़दों के द्वारा शुक्रवृद्धि तथा अंकुरित कौंच के बीजों द्वारा वृषता उत्पन्न करने का यह प्राचीन प्रयत्न ह्वीटजर्म (wheetgerm) द्वारा प्राप्त विटामीन ई (vitamin E) के आधुनिक प्रयत्न के कितना समीप है तथा गेहूँ के अङ्कुरों के अतिरिक्त इन दो के अङ्कुरों में भी वह तत्व जो नपुंसकता का नाश कर अक्षय वीर्य की वृद्धि करता है पर्याप्त मिलता है यह सिद्ध होरहा है।

वृष्य मत्स्ययोग

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि शफरीर्वा सुभर्ज्जिताः ।
तप्ते सर्पिषि यः खादेत् स गच्छेत् स्त्रीषु न क्षयम् ॥१६॥
(इति वृष्यमत्स्यमांसानि।)

जो ताजी (बड़ी) मछलियों का मांस अथवा शफरी (नामक छोटी मछली) तप्त घी में भुनी हुई खावे वह स्त्रियों में शुक्रक्षय को न प्राप्त करे।
(यह वृष्यमत्स्य मांस है।)

घृतभृष्टान् रसेच्छागे रोहितान् फलसारिके ।
अनुपीतरसान् स्निग्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥१७॥

घी में भुनी अनार आदि फलों से संस्कृत बकरे के स्निग्ध मांस रस को पीई हुई रोहू मछलियों को सन्तान का इच्छुक प्रयोग करे।

पूपलिका योगद्वय

कुट्टकं मत्स्यमांसानां हिंगुसैन्धवधान्यकैः ।
युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिका पचेत् ॥१८॥
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत् ।
रसे चानुगते मांसं पोथयेत् तत्र चावपेत् ॥१६॥
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिंगु नवं घृतम् ।
माषपूपलिकानां तद्गर्भार्थमुपकल्पयेत् ॥२०॥
एतौ पूपलिका योगौ बृंहणौ बलवर्द्धनौ ।
हर्षसौभाग्यदौ पुत्र्यौ परं शुक्राभिवर्द्धनौ ॥२१॥

१—मछली के मांस के छोटे छोटे टुकड़ों को हींग, सेंधा नमक धनिये के साथ गेहूँ के आटे में सान घी में पूड़ी सेकले। (अथवा मछलियों के टुकड़ों में हींग नमक धनियां डाल कचौड़ी की तरह भरकर सेकले)।

२—मछलियों को स्निग्ध अम्ल लवण रस युक्त भैंसे के मांस में पकावे। (जब) रस सूख जावे (तब) उस मांस को कूटे और वहां मिर्च जीरा धनियां थोड़ी हींग ताजा घी डालदे। उड़द के आटे के गर्भ में (भरकर) कचौड़ियां बनावे।

ये दोनों पूपलिका योग बृंहण, बलवर्द्धक, हर्ष-दायक, सौभाग्यदायक, पुत्रदायक (तथा) अत्यन्त शुक्रवर्द्धक (हैं)।

वृष्या माषादि पूपलिका

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकयष्टिकम् ।
शर्करायां विदार्याश्च चूर्णानि क्षुरकस्य च ॥२२॥
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिका पचेत् ।
पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां पराम् ॥२३॥
(इतिवृष्या माषादिपूपलिकाः।)

उड़द, कौंच के बीज, गेहूं, शालि, साठी, मुलहठी, शर्करा, विदारीकन्द और तालमखाना (इन) सबके चूर्ण निर्मल दुग्ध में मांड घी में पूड़ियां पकावे। दुग्धानुपान से सेवन की गई वे शीघ्र ही अत्यन्त वृषता को कर देती हैं।

(यह वृष्यमाषादि पूपलिका—है।)

वक्तव्य—(४८) शाकाहारियों के लिए तथा अधिक झञ्झट की निर्माणपद्धति न होने से इसे सरलतापूर्वक बनाकर प्रयोग में लाया जा सकता है।

वृष्य योग

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः ।
प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च ॥२४॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च ।
तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्त्तिके घृतभाजने ॥२५॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत् ।
एष वृष्यः परं योगो बल्यो बृंहण एव च ॥२६॥
(इति वृष्ययोगः।)

शर्करा की एक तुला, गौघृत की एक तुला, विदारीकन्द के चूर्ण का एक प्रस्थ, पिप्पली का भी एक प्रस्थ, वंशलोचन का आधा आढक, तथा ताजे मधु का भी आधा आढक लेवे। उस सबको मिलाकर घी से चुपड़े मिट्टी के पात्र में रखे। उसकी मात्रा (अपनी) अग्नि के समान सवेरे-सवेरे प्रयोग करे। यह परम वृष्य बल्य और बृंहण योग है।

(यह वृष्य योग—है)।

अपत्यकर घृत

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः ।
श्वदंष्ट्रायाश्च निष्क्वाथाञ्जलेषु च पृथक् पृथक् ॥२७॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः ।
शर्करामधुयुक्तं तदपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥२८॥
(इत्यपत्यकरं घृतम्।)

(एक-एक प्रस्थ) शतावरी के, विदारीकन्द के, उड़द और कौंच के बीज दोनों के, तथा गोखुरू के

क्वाथों को अलग-अलग (४-४ प्रस्थ) जलों में साध कर (चतुर्थांश शेष रहने पर) एक प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २ प्रस्थ) गाय के घी (तथा) अठगुने दूध में पुनः (क्वाथों को डालकर सिद्ध करके) शक्कर शहद के साथ सन्तान चाहने वाला प्रयोग करे।

वृष्यगुडिका

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्।
सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत् ॥२९॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरसस्य च।
पिप्पल्याः सजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम् ॥३०॥
गुडिका कारयेद्वैद्यो यथास्थूलमुदुम्बरम्।
तासां प्रयोगात् पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥३१॥
(इति वृष्यगुडिकाः।)

एक आढक घी को सौगुने विदारीकन्द के स्वरस में पकावे। (सिद्ध होने पर) फिर सिद्धघृत को सौगुने गोदुग्ध में सिद्ध करले। शक्कर, वंशलोचन, शहद, ईख का रस और पिप्पली कौंच के बीज सहित (सबका घी से) एक चतुर्थांश भाग मिलाकर गूलर के फल जैसी मोटी गोली वैद्य बनाले। उसके प्रयोग से व्यक्ति चटक के समान ध्वजहर्षवाला होजाता है।

(यह वृष्यगुडिका—है।)

वृष्य उत्कारिका

सितोपलापलशतं तदर्द्धं नवसर्पिषः।
क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम् ॥३२॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले।
शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्द्दनेनोपादयेत् ॥३३॥
शुद्धाः उत्कारिका कार्य्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः।
तासां प्रयोगाद्गजवन्नारीः सन्तर्पयेन्नरः ॥३४॥
(इति वृष्योत्काकिाः)

१०० पल मिश्री को उसका आधा ताजे घी को चतुर्थांश शहद मिलाकर चौथाई (२५ पल) जल के साथ गाढ़ा होने तक पकावे। (फिर) गेहूँ के आटे के एक चौथाई भाग को पवित्र चिकने पत्थर के धरातल पर फैला (इसमें उपरोक्त चाशनी डाल-डाल कर मांड कर (लोई काटकर) चन्द्रमण्डल के समान बेले और (सेक-सेक कर) उत्कारिका (बिस्कुट) बनाले। उसके प्रयोग से पुरुष स्त्रियों को हाथी के समान तृप्त करे।

(यह वृष्यउत्कारिका—है)

वीर्य उत्पादक अङ्ग

(अण्ड तथा अण्डधारक रज्जुक अवयव)
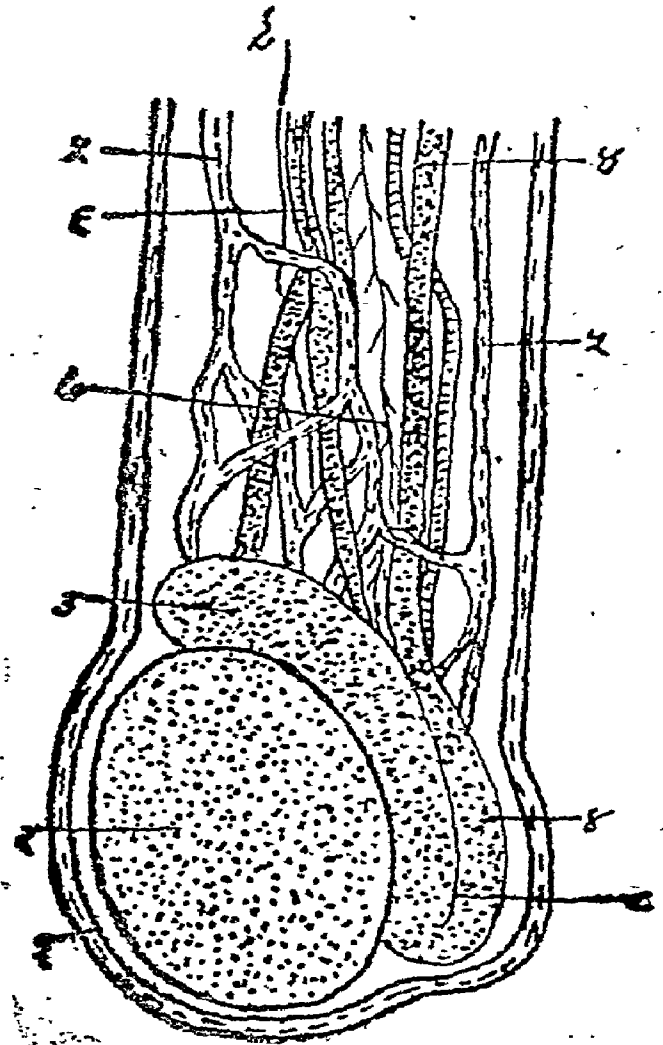
१—वृषणकोष २—शुक्रग्रन्थि ३—उपांड, ४—उपांड पुच्छ ५—अशुद्धरक्तवाहीसिरा ६—शुद्ध रक्तवाही धमनी ७—ज्ञानवाहीनाड़ी ८—शुक्रनली ९—नाड़ियां

वृष्य का लक्षण

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु ।
हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते ॥३५॥

जो थोड़ा सा भी मधुर, स्निग्ध, जीवनीय, बृंहण, गुरु, चित्त का हर्षकारी (है) वह सब वृष्य कहलाता है ।

मैथुन के नियम

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्भावितः प्रमदां व्रजेत् ।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥३६॥
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं वाऽनुशयीत ना ।
तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रञ्च बलमेव च ॥३७॥

अस्तु, इस (ऊपर लिखे मधुरस्निग्धादि वृष्य) द्रव्यों के द्वारा भावित (संस्कृत देह) व्यक्ति अपने कामवेग से प्रेरित और स्त्रीगुणों (मधुर आलाप हाव भावादिकों) से रीझ कर स्त्री गमन करे ।

स्त्रीगमन के पश्चात् स्नान करके, दूध पीकर अथवा मांस रस पीकर तत्पश्चात् सोजावे । इस प्रकार उस पुरुष का शुक्र तथा बल भी खूब बढ़ जाता है ।

शुक्र विकास

यथा मुकुल पुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते ।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम् ॥३८॥

जैसे कलिकारूप फूल की सुगन्ध नहीं प्राप्त की जाती (पर) उसके विकसित होने से तो (सुगन्ध) प्राप्त होजाती है वैसे ही देहियों के शुक्र को (जानना चाहिए)। अर्थात् शिशु, बाल, किशोर अथवा कुमारावस्था में व्यक्ति का व्यक्तित्व कलिकावत् होने से उसमें वीर्य रूप सुगन्ध पाई नहीं जाती पर जैसे कली फूल बनती है वैसे ही बालक जब जवान होता है उसमें सुगन्धरूप शुक्र प्रगट हो जाता है ।

मैथुन की आयुमर्यादा

नर्ते वै षोडशाद्वर्षात् सप्तत्याः परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्त्तुमर्हति ॥३९॥
अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ॥४०॥
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्ज्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्य्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥४१॥

आयुष्काम व्यक्ति (जिसे आयु को अधिक चलाने की इच्छा है उसके लिए आगे मर्यादा बतलाई जाती है पर जो मरने पर उतारू हुआ हो उसके लिए कोई नियम नहीं) सोलह वर्ष (की आयु होने) से बिना और सत्तर (बरस) की (आयु होने के) पीछे स्त्रियों के साथ सम्भोग करने के योग्य नहीं होता । अर्थात् १६ वर्ष से नीचा बालक और सत्तर बरस से ऊँचा बुड्ढा स्त्रीसमागम न करे यदि उसे जिन्दा रहना हो तो ।

क्योंकि जैसे तालाब का थोड़ा जल सहसा उपतप्त हो (सूख) जाता है (वैसे ही) स्त्री समागम करता हुआ अपूर्णधातु वाला अतिबाल (भी सहसा सूख जाता है) ।

जैसे कीड़ों से खाया हुआ, सूखा, रूखा अतिजीर्ण काष्ठ स्पर्श करने से शीघ्र छिन्नभिन्न होजाता है वैसे ही स्त्रीसमागम करता हुआ (सूखा, रूखा, जराजीर्ण) बुड्ढा (भी स्त्री का स्पर्श करते ही नष्टभ्रष्ट हो जाता है) ।

वक्तव्य—(४६) चरक ने पुरुष की मैथुन करने की आयु की मर्यादा लिखी है । देश के कर्णधारों का धर्म है कि वे अपने कानूनों का निर्माण करते समय चरकोक्त वाक्यों का स्मरण न भूलें । १६ से पहले और ७० के बाद में विवाह का अर्थ बालक या बुड्ढे के जीवन के साथ खिलवाड़ । जो लोग बाल विवाह के पक्षपाती हैं यदि वे घर में १६ वर्ष की आयु से पूर्व लड़का लड़की को एक खाट पर सोया हुआ देखना चाहते हैं वे अपने बालक को अकाल ही कालकवलित और अपनी लड़की या पुत्रवधू को विधवा देखना चाहते हैं । तथा जो बुड्ढे अपने व्याह का स्वांग रचाते हैं वे दो चार बार मैथुनानन्द भोग यमलोक की सैर के लिए उतारू हुए फिरते हैं और पुरुष पुरातन की वधू के स्वाभाविक रूप से चञ्चला

होने का प्रमाण देकर समाज में वर्णसाङ्कर्य उत्पन्न कर पितरों को नर्क में डालने का यत्न करते हैं।

शुक्रक्षय के कारण

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्म्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणाञ्चातिनिषेवणात् ॥४२॥
क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात् स्त्रीदोषदर्शनात् ।
नारीणामरसज्ञत्वादभिचारादसेवनात् ॥४३॥
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते ।
देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा ॥४४॥

बुढापे से, चिन्ता से, रोगों से, परिश्रमजन्य कृशता से, अनशन से, और अधिक स्त्री सम्भोग करने से (मनुष्य का) शुक्र नाश को चला जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है।

धातु क्षीणता से, भय से, अविश्वास से, शोक से, स्त्री में दोष देखने से, स्त्रियों के अरसज्ञ होने से, अभिचार (अथवा अविचार) से, (बहुत दिन तक स्त्री) सेवन न करने से, और मैथुन करके तृप्त होजाने से भी, स्त्री गमन की शक्ति नहीं उपजती (क्योंकि) हर्ष, शरीर (और) मन के बल की अपेक्षा रखता है तथा मैथुनशक्ति हर्ष से उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—(५०) जिन लोगों को सन्तान उत्पन्न नहीं होती तथा दोष स्त्री में न होकर पुरुष में ही होता है। उन्हें यह देखना चाहिए कि उनके शुक्र का नाश होरहा है शुक्र बनता नहीं है अथवा स्त्री से मैथुन करने के लिए लिङ्ग में शक्ति आने में कमी है। तथा मैथुन करते समय वीर्य का ठीक से क्षरण भी होता है। ऊपर शुक्रनाश के कारण गिनाए गए हैं। वृद्धावस्था शुक्रक्षय का प्राकृतिक कारण
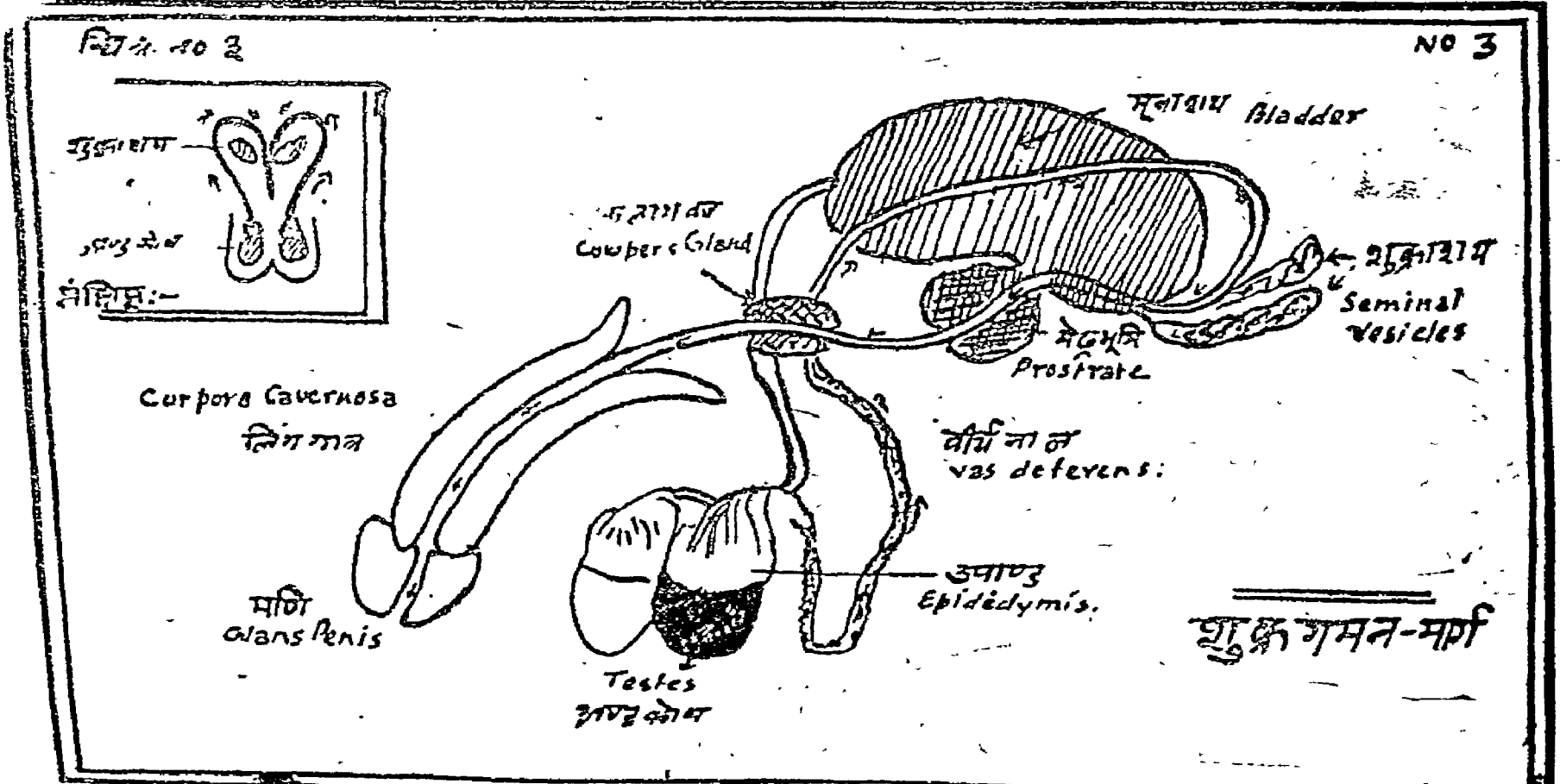
संभोग के समय वीर्य अण्डकोष से चल कर वीर्य-नाल में होता हुआ शुक्राशय में पहुंचता है और वहां मेढ्-भूमि के प्रसारित होने की बाट जोहता है। क्योंकि उसके संकुचित होने से वीर्यनाल का मार्ग अवरुद्ध होजाता है। मेढ्भूमि के प्रसारित होते ही वीर्य झटके के साथ लिंगमार्ग से निकल पड़ता है जिसे 'स्खलित' होना कहते हैं।

है। चिन्ता, रोग, श्रम, अनशन, मैथुनाधिक्य वैकारिक कारण हैं। वैद्य को शुक्रक्षीण व्यक्ति के यथार्थ कारण का ज्ञान करालेना चाहिए। बहुत बड़े सेठों में सन्तान नहीं होती कारण कि वे अपनी व्यापारिक चिन्ता में इतने लीन रहते हैं कि शुक्रधातु की कमी हो जाती है। मशीनों पर काम करने वालों में जहां मृत्यु प्रतिक्षण सामने खड़ी हो अथवा हवाई जहाज पर अधिक चढ़ने वालों तथा उनके ड्राइवरों में यह दोष उत्पन्न हो सकता है यदि वे अधिक चिन्ताशील रहेंगे। अतिरुग्णता शुक्रक्षय का स्वाभाविक कारण है। देखने में खूब हृष्ट पुष्ट पहलवान लोगों को सन्तान नहीं होती। उसका कारण उनका बेतहाशा परिश्रमशील होना है। अत्यधिक अनशन काल में स्त्री सम्भोग प्रायः सन्तानोत्पत्तिकारी नहीं होता है। निरन्तर अनशनकारी व्यक्ति यमालय की ओर ताकता है कि सुरतालय की ओर ? अति मैथुनसेवियों को भी शुक्रनाश प्रायः रहा करता है।

शरीरबल अथवा तथा मनोबल दोनों ही मेहनोत्थान-जन्य हर्ष के प्रदाता हैं। हर्ष ही मैथुन करने की शक्ति का देने वाला है। इस तथ्य को सामने रख कर ही आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक विधियों से शीघ्रपात रोकने की चेष्टा की जाती है। स्त्री को देखते ही जिनके वीर्य का पात हो जाता है उनका मनोबल बहुत अल्प है ऐसा मानना पड़ेगा। स्त्री के साथ चिपटने से ही जिनका वीर्य नष्ट हो जाता है उनका मनोबल पहले की अपेक्षा अधिक होने पर भी अपर्याप्त है। कुछ लोग योनि में इन्द्रिय जाने तक रुके रहते हैं पर तत्काल पतितवीर्य देखे जाते हैं उनका मनोबल भी अपर्याप्त होता है। पर जो मैथुन कार्य चलते रहने पर शीघ्र हांफ या थक जाते हैं उनका देहबल कम मान लेना चाहिए। जो स्त्री को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सकते उनका देहबल और मनोबल दोनों ही दोषी हैं।

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥४५॥

जैसे गन्ने में रस, दही में घी, तिल में तेल वैसे स्पर्श ज्ञान वाले शरीर में (नख केश आदि स्पर्शज्ञान रहित स्थानों को छोड़कर) सर्वत्र शुक्र अनुगत (व्याप्त) रहता है।

तत्स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासङ्कल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥४६॥
हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद्गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥४७॥
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात्प्रसिच्यते।
चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥४८॥

वह शुक्र स्त्री पुरुष के संयोग होने पर चेष्टा और सङ्कल्प से निचोड़ा जाने पर अपने स्थान से भीगे कपड़े से जैसे जल (इस प्रकार) चूने लगता है। १-हर्ष, २-भोगेच्छा, ३-सरता, ४-पिच्छिलता, ५-गुरुता, ६-सूक्ष्मता, ७-बहिर्गमनशीलता तथा ८—वायु की शीघ्र गति इन आठ कारणों से शुक्र देह से निकलता है।

(भिन्न भिन्न योनियों में) घूमने वाले, विश्वरूप (आत्मा) का जो (शुक्र) रूप द्रव्य (निर्माणकारी अंश) कहा जाता है।

विशुद्ध शुक्र के लक्षण

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्।
शुक्लं च वहु यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥४९॥

जो शुक्र गाढा, मधुर, स्निग्ध, आमगन्धरहित गुरु, पिच्छिल, श्वेत और परिमाण में बहुत वह अवश्य फलवान् (सन्तान का उत्पादनकर्त्ता) होता है।

वाजीकरण शब्द की निरुक्ति

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥५०॥

पुरुष जिसके द्वारा घोड़े के समान स्त्रीगमन सामर्थ्य प्राप्त करता है और जिसके द्वारा अभ्यधिक (अधिक समय तक और अनेक बार) स्त्रीगमन करता है वही वाजीकरण है।

चतुर्थपाद के विषय

तत्रश्लोकौ—

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः।
यत्पूर्वं मैथुनात्सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ॥५१॥
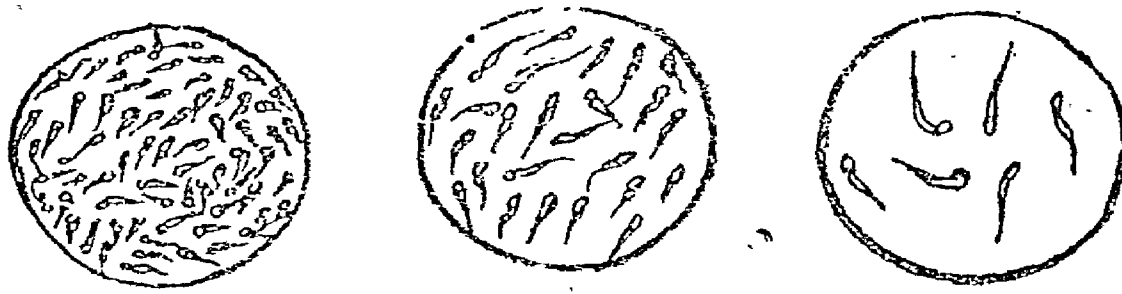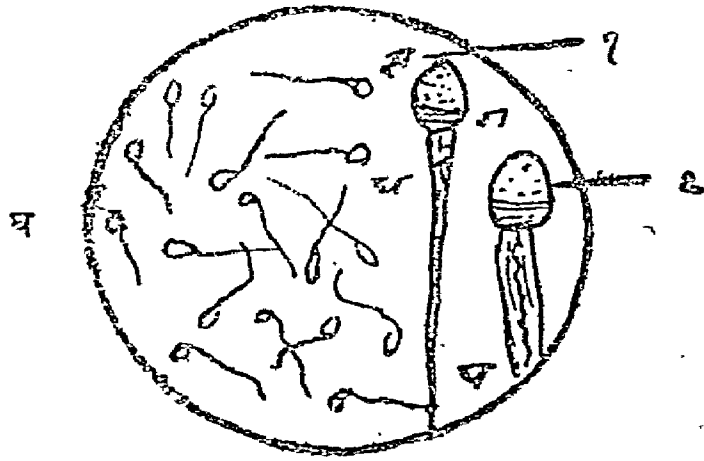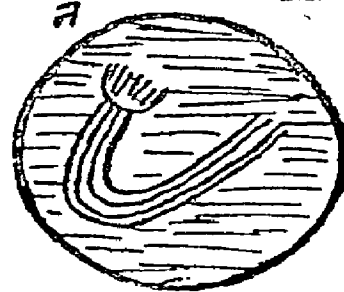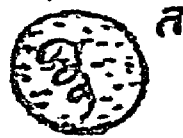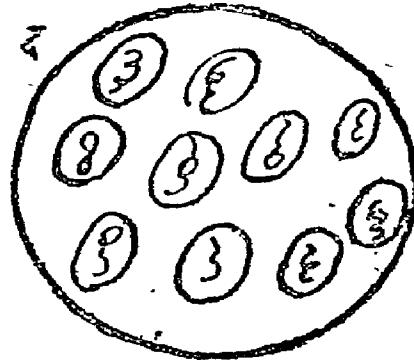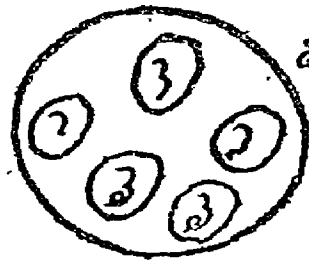
यदा न सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः।
निरुक्तञ्चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ॥५२॥

वहां (उस विषय में) दो श्लोक (हैं)—

वाजीकरणयोगों के उपदेश का हेतु, उत्तम बारह योग, जो मैथुन से पहले सेवन करना चाहिए, (जो) मैथुन के बाद सेवन करना चाहिए, जब स्त्रियों का सेवन न किया जाना चाहिए वह सम्पूर्ण शुक्र का विनिश्चय और वाजीकरण की निरुक्ति इस पुमान् जातबलादिक चतुर्थ पाद में कही गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरण-पादश्चतुर्थः ॥ २-(४) ॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत, चरक प्रतिसंस्कृत, चिकित्सा स्थान में, वाजीकरणाध्याय में पुमाञ्जातबलादि नामक चतुर्थ वाजीकरणपाद (समाप्त हुआ)।

समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ॥२॥

यह द्वितीय वाजीकरणाध्याय समाप्त हुआ।

चरकसंहिता
चिकित्सास्थानम्
तृतीयोऽध्यायः

ज्वरचिकित्सा

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (इस) ज्वर चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

अग्निवेश का प्रश्न

विज्वरं ज्वरसन्देहं पर्य्यपृच्छत् पुनर्व्वसुम् ।
विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥२॥

शारीर मानस व्याधियों से रहित, एकान्त में, शान्त, बैठे हुये पुनर्वसु को अग्निवेश ने हाथ जोड़ कर ज्वर नामक व्याधि विशेष सम्बन्धी सन्देह को पूछा।

वक्तव्य--(५१) दो प्रकार की भेषज आरम्भ में बताई जा चुकी है। एक स्वस्थस्यौजस्कर और दूसरी आर्त्तस्यरोग नाशक। स्वस्थस्यौजस्कर के दोनों प्रकार रसायन तथा वाजीकरण का वर्णन विगत दो अध्यायों में किया जाचुका है। रोग नाशक भेषज का आरम्भ इस अध्याय से हुआ है। आरम्भ करते समय शान्तचित्त, नीरोग, ज्ञानविज्ञानवेत्ता भगवान् पुनर्वसु आत्रेय को अग्निवेश ने ज्वर सम्बन्धी शंकाओं के समाधान के लिये प्रश्न पूछा है। आगे इन प्रश्नों को लिखा जायगा।

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्व्वरोगाग्रजो वली ।
ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥३॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ।
प्रकृतिञ्च प्रवृत्तिञ्च प्रभावं कारणानि च ॥४॥

पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम् ।
व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ॥५॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य चौषधं सक्रियाक्रमम् ।
विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक् पृथक् ॥६॥
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः ।
प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः ॥७॥
याश्चापि पुनरावृत्तं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् ।
जगद्धितार्थं तत्सर्वं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥८॥

पहले (निदानस्थान में) आपने शरीर, इन्द्रिय (तथा) मन को तपाने वाले, सब रोगों का बड़ाभाई बलवान् ज्वर को रोगों का प्रधान कहा है। जीवधारियों के शत्रु, प्रलय (मृत्यु और) उदय (जन्म) में अवश्यम्भावी उस ज्वर की प्रकृति को तथा प्रवृत्ति को तथा प्रभाव को और कारणों को, पूर्वरूपों

को, अधिष्ठान को, बलवान् होने के काल को, स्वरूपज्ञापक लक्षण को, विस्तारपूर्वक प्रकारभेद से तथा अलग अलग भेद के लक्षण को, आमज्वर के, जीर्णज्वर के लक्षण को, क्रियाक्रम सहित औषध को, छोड़ते हुए तथा शान्त ज्वर के जो जो और अलग-अलग चिन्ह (हैं उन) को, ज्वरमुक्त व्यक्ति को जितने समय तक जिन जिन बातों से रक्षा करनी चाहिए; तथा प्रशान्त ज्वर जिन कारणों से पुनः लौट आता है जो क्रियाएँ भी पुनः लौटे उस ज्वर को शान्त करती हैं उन सबको हे प्रभो! लोकहित के लिये कहने के लिये आप योग्य हैं।

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्।
ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत् सौम्य निखिलं शृणु ॥९॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर गुरु ने कहा। ज्वराधिकार में जो कथनीय (है) उस सबको हे सौम्य (अग्निवेश! तू) सुन।

ज्वर के पर्य्याय

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च।
एकोऽर्थो नामपर्य्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥१०॥

ज्वर, विकार, रोग, व्याधि और आतङ्क इन विविध नाम पर्य्यायों के द्वारा एक ही अर्थ कहा जाता है।

ज्वर की प्रकृति

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः।
देहिनं न हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥११॥
क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्तोऽयमात्मजः।
कर्म्मभिः क्लिश्यमानानां पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणाम् ॥१२॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता,

उस (ज्वर के) शारीरिक दोष (वात, पित्त और कफ तथा) मानसिक दोष (रजोगुण तथा तमोगुण) प्रकृति (समवायिकारण) बतलाये गये हैं। क्योंकि, निर्दोष मनुष्य को ज्वर नहीं आता।

स्वकृत कर्मों से उत्पन्न अधर्म के कारण अनेक प्रकार के ज्वर दुःख लक्षणों के कारण क्लेश पाने वाले मनुष्यों के मृत्यु के कारण होने से अपना यह आत्मज, क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा (पाप से उत्पन्न) और मृत्यु कहा गया है।

प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात्।
निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ॥१३॥

ज्वर की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) परिग्रह से (होती है)। तथा दारुण रुद्रकोप से होती है यह पहले निदान स्थान में कहा जा चुका है।

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्।
दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥१४॥
तपोविघ्नाशनाः कर्त्तुं तपोविघ्नं महात्मनः।
पश्यन्समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः ॥१५॥
पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः।
यज्ञेन कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥१६॥
ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्यश्चाहुतयश्च याः।
यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ॥१७॥
अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्।
रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ॥१८॥
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः।
बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम् ॥१९॥
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः।
दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ॥२०॥
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्।
वाग्भिः स्तुवन् स्थितो यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः ॥२१॥
शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः।
क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ॥२२॥
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि।
जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ॥२३॥

दूसरे (त्रेता) युग में एक हजार दिव्य वर्षों के क्रोधरहित व्रत में स्थित हुए महादेव जी की ओर तप में विघ्न डालकर जीने वाले असुरों ने (उस)

महासना के तप में विघ्न डालने के लिए दौड़ लगाई। (यह सब) देखते हुए (भी एक तो) दक्ष प्रजापति ने उपेक्षा की। (दूसरे) देवताओं के कहने पर भी (अपने) यज्ञ में निश्चितरूप से दिये जाने वाले माहेश्वर भाग को नहीं दिया। पशुपति (भगवान् शङ्कर की स्तुति की) जो ऋचाएँ (हैं) तथा जो शिव जी की आहुतियां (हैं) यज्ञसिद्धिप्रदा उन (ऋचाओं तथा आहुतियों) के बिना ही उसने यज्ञ किया।

तत्पश्चात् व्रतपूर्ण कर महादेवजी ने दक्ष के यज्ञ के व्यतिक्रम (गड़बड़घोटाला) को जानकर (उस) आत्मवेत्ता रुद्र ने अपने रौद्ररूप को प्रगट करके ललाट में स्थित नेत्र खींचकर निकालकर (अर्थात् खोलकर) उन असुरों को प्रभु ने जलाकर क्रोधाग्नि से दहकता हुआ यज्ञनाशक (वीरभद्र नामक एक) बालक को उत्पन्न किया।

उस वीरभद्र नामक बालक से यज्ञ नष्ट होगया तथा देवगण व्यथित (होगये); दाह और दुःख से पीड़ित जीवधारी इधर-उधर दौड़ने लगे।

तत्पश्चात् सप्तर्षियों के साथ देवतागण (तब तक) ईश्वर, विभु को वाणी से स्तुति करते हुए स्थित रहे जब तक शिवजी शैव भाव में स्थित न होगये। जगत् के कल्याण के लिए शिवरूप में स्थित भगवान् को जानकर हाथ जोड़कर क्रोधाग्नि (अर्थात् वीरभद्र) बोला कि मैं आपका क्या (कार्य) करूं ?

भगवान शङ्कर उस (वीरभद्र नामक) क्रोध को बोले (कि तू) संसार में आरम्भ में जन्म तथा (बाद में) मृत्युकाल में तथा अपचारादि अपथ्य करने पर (बीच में) ज्वर हो जायगा।

वक्तव्य— (५२) ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में यह एक पुरानी कथा है। पुराणों के ताले बन्द हैं उनके भीतर क्या है जानने के पहले ताली चाहिए जिसे गुलामी और परस्पर द्वन्द्व के हजारों वर्षों में हम अज्ञान के सागर में फेंक चुके हैं अतः पौराणिक गाथाओं का जो रहस्य है वह समझना कठिन होगया है। दक्ष प्रजापति का असुरों को न मारना अशान्ति उठती रहने देना, भगवान् शङ्कर का शान्तिव्रत में आसीन होना, शङ्कर भाग को यज्ञ में प्रजापति द्वारा न दिया जाना, व्रतपूर्ण होने पर शङ्कर का तीसरा नेत्र खोल क्रोध से वीरभद्र का जन्म जिसके द्वारा असुरों का संहार किया जाना तथा यज्ञ का विध्वंस होना फिर देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर शिव का सन्तुष्ट होकर वीरभद्र को ज्वर रूप में रहने का आदेश देना। जन्म मृत्यु के समय तथा अन्य अपचार करने वालों में इसका प्रादुर्भाव होना यह सब कपोल-कल्पित मौर्ख्य इसलिए नहीं है कि इनका वर्णन चिकित्सा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ में हुआ है जिसका उपदेश विश्व के माने हुए विद्वान भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने श्रीमुख से किया है। इतने उच्च ग्रन्थ का निर्माता इस गप्प में विश्वास करता था यह नहीं कहा जासकता। इसके पीछे अवश्य कोई सारगर्भित तत्त्व छिपा हुआ है।

प्रशान्त महासागर के बीकिनी टापुओं के क्षेत्र में युनाइटेड स्टेट्स आव अमेरिका के वैज्ञानिकों ने जो एटम या हाइड्रोजन बमों के परीक्षण किये उसका परिणाम हजारों मील दूर जापान तक पहुंचा। वहां रैडियोऐक्टिव कणों से युक्त वर्षा हुई और लाखों रुपये की बहुमूल्य मछलियां मर गई। जब एक बम का इतना घातक परिणाम हो सकता है तो सम्भव है रुद्र नामक घोर अशान्ति के प्रकटायक शङ्कर ने क्रुद्ध होकर किसी विशेष शक्ति को प्रगट किया हो जिसने असुरों का विनाश और दक्ष यज्ञ का विध्वंस किया पर जब शिव नामक परम शान्ति के निधान शङ्कर ने लोकोपकारक रूप सम्हाला तो उसने वह माया समेट ली।

पर उसका परिणाम प्राणियों पर हुआ और वह निरन्तर होता चला आता है। प्राणी जब पैदा होता है या मरता है अथवा कुपथ्य सेवन करता है तो उसको ज्वर अवश्य होता है। वीरभद्र नामक किसी भयङ्कर एटौमिक या उसी प्रकार की किसी शक्ति की उत्पत्ति के उपरान्त विश्व में ज्वर की सृष्टि हुई हो यह असम्भव कल्पना नहीं है।

ज्वर का प्रभाव

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा।

ज्वरप्रभावो, जन्मादौ निधने च महत्तमः ॥२४॥

(भोजन के प्रति) अरुचि के साथ (तथा शरीर में) अङ्गमर्द के साथ (शारीरिक) तापांश (टैम्परेचर का बढ़ना), प्यास (का लगना तथा) चित्त में कष्ट (का होना यह) ज्वर का प्रभाव (है वह प्रभाव) जन्म के समय तथा मृत्यु के समय मोह अत्यधिक (बढ़ जाता है।)

वक्तव्य—(५३) अनौपाधिका शक्ति का नाम प्रभाव है। सन्तापादि प्रभाव का व्यपदेश है। कभी कभी ये सब प्रभाव नहीं भी देखे जाते। संताप वातश्लेष्म ज्वर में थर्मामीटर से नहीं भी आता पर अन्दर उपतप्तता पाई जाती है। जन्मते समय बालक का टैम्परेचर न भी बढ़े तो भी उसे महत्तमः अत्यन्त मोह अवश्य व्याप्त रहता है। वह मोह धीरे धीरे जाता है। मृत्युकाल में मोहाधिक्य होने के बाद बोलना बन्द और जीवात्मा की विदाई का दृश्य देखा जाता है यह सब ज्वर के प्रभाव के अन्तर्गत ही आता है।

प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।
निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः॥२५॥

(अग्निवेश के प्रश्नों के अनुसार) ज्वर की प्रकृति, तथा ज्वर की प्रवृत्ति और ज्वर का प्रभाव बतला दिये गये हैं। निदानस्थान में ज्वर के आठ कारण (अलग अलग) विभागपूर्वक पहले कह चुके हैं।

ज्वर का पूर्वरूप

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः।
ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥२६॥
अविपाकास्यवैरस्यं हानिश्च बलवर्णयोः।
शीलवैकृतमल्पञ्च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥२७॥

आलस्य, अश्रुपूर्ण नेत्र, जृम्भा, गौरव, क्लम, ज्वलन-आतप-वायु-जल (इन चारों में) अनिश्चित रूप में प्रेम (अथवा) घृणा, अविपाक, मुख की विरसता, बल की हानि, वर्ण की हानि और स्वभाव का थोड़ा पलट जाना अथवा विकृति हो जाना यह) ज्वर से प्रथम प्रगट होने वाला लक्षण (पूर्वरूप) है।

वक्तव्य—(५४) चरकसंहिता निदान स्थान में ज्वर के पूर्व रूपों की विशद रूपेण चर्चा की गई है पर क्योंकि अग्निवेश ने अपने प्रश्न में पुनः पूर्वरूप के सम्बन्ध में पूछ लिया है इस कारण को थोड़ा सा स्मरण दिलाने की दृष्टि से दो श्लोकों में उसका वर्णन कर दिया गया है। यह पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाना चाहिए—

पूर्वोक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समुपगीयते।
तद्व्यक्ति व्यवसायाथ द्विरुक्तं तन्न गह्यते॥

पाठक को तस्येमानि पूर्वरूपाणि से सन्तापार्तमनुबध्नन्ति तक निदानस्थान के इसके विस्तृत विवरण को देख लेना चाहिए। वहां एक महत्व की बात यह दी है कि यह पूर्वरूप प्राक्सन्तापात् (टैम्परेचर बढ़ने से पहले पहले) होता है पर कभी कभी सन्ताप के साथ भी देखा जासकता है।

ज्वर का अधिष्ठान

केवलं समनस्कञ्च ज्वराधिष्ठानमुच्यते।
शरीरम्।

मनसहित सम्पूर्ण शरीर को ज्वर का अधिष्ठान कहा जाता है।

वक्तव्य—(५५) ज्वर कहां रहता है? उसका अधिष्ठान क्या है? इसका उत्तर आचार्य ने समनस्ककृत्स्नशरीर दिया है। वातादिदोषजन्य अथवा दण्डाभिघातजन्य ज्वर शरीरस्थ होता है ऐसा कहने वालों को भी यह न भूलना चाहिए कि ज्वर जितना शरीर को तपाता है उतना ही मन को भी सन्तप्त करता है। अस्तु, चाहे वह शोकोत्पन्न हो अथवा अभिघातोत्पन्न वा निज सभी का अधिष्ठान मनसहित सारा शरीर ही हुआ करता है। आत्मा, बुद्धि, अहंकारादितत्त्व ही उससे बचे रहते हैं।

बलकालस्तु निदाने सम्प्रदर्शितः॥२८॥

(ज्वर के) बलवान् (वेगवान्) होने का काल तो निदानस्थान में (ही) प्रदर्शित कर दिया गया है।

ज्वर का प्रात्यात्मिक लक्षण

ज्वरप्रात्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः।
ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥२९॥

शारीर सन्ताप (और) मानससन्ताप (यह) ज्वर का प्रात्यात्मिक लिङ्ग (अपना निज का लक्षण) है। क्योंकि ज्वराविष्ट प्राणी बिल्कुल सन्तप्त नहीं होता है (ऐसा) नहीं है। अर्थात सभी प्राणियों को विना किसी अपवाद के ज्वर आने पर तपना पड़ता है।

वक्तव्य—(५६) आत्मा-आत्मा इति प्रत्यात्मं तस्येदं प्रात्यात्मिकम्। प्रात्यात्मिक का अर्थ आत्मा का अपना। ज्वर का प्रात्यात्मिक लक्षण अर्थात् ज्वर रूपी वीरभद्र का अपना निजी लक्षण। यह लक्षण सन्ताप (टैम्परेचर) का बढ़ना माना गया है। कोई भी ज्वर विना सन्ताप के नहीं होता। शारीरज्वर में थर्मामीटर काम करता है पर मानस-ज्वर में सन्ताप शब्द से पीड़ा ग्रहण की जाती है। मन का पीड़ित होना अर्थात् ज्वर से व्यथित होना। किसी लड़की के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए तरुण को जो कामज्वर लगा होता है उसी के कारण वह चिल्लाता है कि मुझे उसके पाने का बुखार चढ़ा हुआ है। शरीर ठण्डा है पर मन झुलस रहा है कामाग्निरूप भट्टी में वह बुरी तरह जलता चला जारहा है। इसी प्रकार क्रोधाग्नि की लपटें जाने कितने पुरुषों को आये दिन बुखार नहीं बुला देतीं शरीर का नहीं—मन का। अतः ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण सन्ताप है। जिसे ज्वरस्त्वेक एव सन्ताप लक्षणः ऐसा निदानस्थान में कह दिया है। निज और आगन्तुक अनेक कारणों से कहीं सर्दी, कहीं दर्द कहीं कम्प, कहीं दाह, कहीं घुमनी आदि जो लक्षण मिलते हैं वे तत्तत् कारणभूत लक्षण होते हैं। सन्ताप ही ज्वर का प्रथम और अन्तिम प्रत्यात्म लक्षण है।

ज्वर के भेद

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः।
पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा ॥३०॥
अन्तर्वेगो वहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते।
प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ॥३१॥
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥३२॥
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः।
भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ॥३३॥

प्रकार भेद से शारीर (और) मानस दो प्रकार का ज्वर (होता है)। और पुनः सौम्य तथा आग्नेय दो प्रकार (ज्वर के) देखे गये हैं। फिर अन्तर्वेग-वहिर्वेग प्राकृत-वैकृत तथा साध्य-असाध्य ऐसे दो (दो) प्रकार का (ज्वर) कहा जाता है। तत्पश्चात्, दोष और काल के बलाबल से १—सन्तत,२—सतत, ३—अन्येद्युष्क, ४—तृतीयक (तथा) ५—चतुर्थक पञ्चविध (ज्वर) देखा गया है। तदनन्तर, ज्वर सातधातु रूप आश्रय भेद से सात प्रकार का माना गया है। तथा फिर कारण भेद से भिन्न होने पर (ज्वर) आठ प्रकार का होता है।

वक्तव्य—(५७) निदानस्थान में ज्वर के भेद संक्षेप में कहे गए थे वही अब यहां विस्तारपूर्वक बतलाये जारहे हैं। अंगरेजी ढङ्ग से ज्वर के वर्णन करने का प्रकार बड़ा सरल है। सन्ताप की दृष्टि से इन्होंने ३ प्रकार माने हैं एक-वे जिनमें सन्ताप निरन्तर रहता है और तापांश एक-दो डिग्री से अधिक अन्तर पर २४ घण्टे में नहीं रहता। यह **कन्टीन्यूड (continued)** फीवर है। इसे अविसर्गी ज्वर कह सकते हैं। दूसरा प्रकार रैमिटेण्ट (remittent) फीवर का है जिसमें दिन-रात में ज्वर में उतार चढ़ाव ही आते हैं पर थर्मामीटर नार्मल पर कभी नहीं आपाता। इसे **अविराम-ज्वर** कह सकते हैं। तीसरा **इण्टरमीटेण्ट (intermittent)** फीवर है जिसमें दिन रात में एकबार किसी भी समय ज्वर नार्मल तक पहुँच जाता है अर्थात् जब ज्वर बिल्कुल भी न रहे ऐसी अवस्था भी आजाती है। इसे सविराम या **अल्पविसर्गीज्वर** भी कहते हैं। उन्होंने ज्वर के कारणों की दृष्टि से दो और प्रकार माने हैं एक वह प्रकार जिसमें ज्वर का कारण **स्थानिकशोथ** होता है और दूसरा जिसमें रोग के जीवाणुओं की विषरक्तता (टौक्जीमिया) कारण होता है।

पर, आयुर्वेद में कई दृष्टियों से ज्वर के भेद किये गये हैं। एक वह जिसमें शारीर और मानस ज्वर आते हैं। शारीर और मानसज्वर के फिर दो भेद सौम्य (शीतपूर्वक) ज्वर और दूसरा आग्नेय (दाहपूर्वक) ज्वर। इस प्रकार

ज्वर के ४ भेद हुए। ये चार फिर अन्तर्वेग और बहिर्वेग के क्रम से दो-दो प्रकार के होने से ज्वर के ८ भेद होगए। आठों में कुछ प्राकृतज्वर होते हैं कुछ वैकृत इस प्रकार १६ भेद हुए। १६ भेदों में साध्य और असाध्य करके प्रत्येक के २-२ भेद हुए अस्तु कुल ३२ भेद बने। दोषकाल बलाबल से प्रत्येक के सन्तत सततादि ५-५ भेद होने से ज्वर के ३२×५=१६० भेद हुए। धातुओं के भेद से इनके ७-७ भेद होकर १६०×७=११२० प्रकार के ज्वर बने। कारण भिन्नता से ८ प्रकार के ज्वर होने से ११२०×८=८९६० प्रकार के ज्वर हुए। आयुर्वेदीय वैद्य के यह देखना पड़ता है कि ज्वर मानस है या शारीर। मानलो कि शारीर है। शारीर में भी शीतपूर्वक है या दाहपूर्वक है तो शारीर दाहपूर्वक ज्वर ऐसा लिया जायगा। फिर ज्वर का बाहर क वेग या अन्तर को है माना कि बहिर्वेगी है तो शारीर दाहपूर्वक बहिर्वेगी ज्वर ऐसा कहना पड़ेगा। प्राकृत वैकृत में प्राकृत होने से साध्यासाध्य में साध्य होने से तो हम कहेंगे कि अमुक रोगी को शारीर दाहपूर्वक-बहिर्वेगी-प्राकृत-साध्य ज्वर है। दोषकाल बलाबलानुसार सन्तत स्वरूप का, धातुदृष्टि से रसधातुगत और कारण भेद से द्वन्द्वज वातपैत्तिक है। अब निदान की दृष्टि से उस रोगी के ज्वर का पूरा नाम लिखने के लिए हमें लिखना पड़ेगा कि अमुक रोगी को शारीर-दाहपूर्वक-बहिर्वेगी-प्राकृत-साध्य-सन्तत-रसधातुगत-द्वन्द्वज वातपैत्तिक-ज्वर है। किसी को मानस-शीतपूर्वक-बहिर्वेगी-वैकृत-साध्य-सतत-रसधातुगत-वातिकज्वर हो सकता है। किसी को शारीर शीतपूर्वक-अन्तर्वेगी-वैकृत-असाध्य-सन्तत-मेदोधातुगत सन्निपातिक ज्वर हो सकता है। इस प्रकार आयुर्वेदीय कल्पना से ज्वर ८९६० भेदों में बांटा जासकता है।

मनोदेह सन्ताप लक्षण

शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानसः।
वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ।
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहसन्तापलक्षणम् ॥३४॥

शारीरज्वर पहले शरीर में (तथा) मानस ज्वर (पहले) मन में उत्पन्न होता है। वैचित्य (चित्त का अन्य विषय चिन्तारत रहना), अरति (मनकी अनवस्थितता) ग्लानि (अहर्ष) ये तीन मानस ज्वर के लक्षण हैं। इन्द्रियों की विकृति (कान से ठीक न सुनना, आंख से ठीक न देखना, जीभ का स्वाद ठीक-ठीक प्रगट न होना, घ्राण कर्म, गमन, आदान कर्म, मेहनोत्सर्ग आदि में व्यतिक्रम होजाना) यह शारीर ज्वर का लक्षण है।

वक्तव्य —(५८)– कुछ विद्वानों ने शारीर और मानस ज्वर इस द्विविध ज्वर वर्णन में मानस ज्वर के लक्षण वैचित्य, अरति तथा ग्लानि रख लिए हैं तथा इन्द्रियविकृति इन्द्रिय सन्ताप का लक्षण बतलाने का यत्न किया है। पर यहां प्रकरणानुसार शारीर और मानस इन दो ज्वरों का वर्णन करना है अस्तु इन्द्रियसन्ताप नाम से अलग ज्वर का प्रकार मान कर हमें नहीं चलना चाहिए।

ज्वर के सौम्य–आग्नेय दो प्रकार

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः।
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः ॥३५॥
योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोम संश्रयात् ॥३६॥

वातपित्तात्मक ज्वर शीत को, वातकफात्मक ज्वर उष्ण को तथा पित्तकफात्मक अथवा मिश्रित लक्षणों वाला ज्वर शीत तथा उष्ण दोनों को ही चाहता है। वायु परम योगवाही है। संयोग से दोनों ही अर्थों को कर देती है। तेज से युक्त दाह करता है तथा सोम से युक्त शीत को करता है।

वक्तव्य—(५९) केवल वात से आरम्भ या कफ से आरम्भ ज्वर स्वयं के स्वभाव के शीतल होने के कारण सौम्य रूप उष्ण की इच्छा करता है पर जब वातकफात्मक व्याधि होती है तो वहां विशेष करके उष्ण पदार्थों की इच्छा बलवती हो जाती है। इसी प्रकार केवल पित से आरम्भ ज्वर में जितनी शीतल वस्तुओं की इच्छा होती है उससे कहीं अधिक वातपैत्तिक रोगों में होती है क्योंकि वायु के योगवाही होने के कारण-स्वरूप पैत्तिक उष्ण-गुण और वृद्धिंगत होगया। अतः शीतपूर्वक ज्वर वे जिन में

व्यक्ति उष्ण पदार्थों की इच्छा करता है। दाहपूर्वक वे ज्वर जिनमें व्यक्ति शीत द्रव्यों के ग्रहण करने की इच्छा करता है।

अन्तर्वेगज्वर लक्षण

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः।
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥३७॥

शरीर के भीतर अधिक दाह, प्यास, प्रलाप, श्वासाधिक्य, चक्कर आना, अस्थिसन्धियों में शूल, स्वेद का न निकलना, दोष तथा मल की रुकावट, इनको अन्तर्वेगज्वर के लक्षण जानना चाहिए।

बहिर्वेगज्वर लक्षण

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनाञ्च मार्दवम्।
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥३८॥

शरीर के बाह्य भाग में अधिक सन्ताप, तृष्णा आदिक (प्रलापश्वसनभ्रम सन्ध्यस्थिशूल, अस्वेद, दोषवर्चस् विनिग्रह) लक्षणों की मृदुता और सुखसाध्यता ये बहिर्वेग ज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—बाह्य ज्वर में सन्तापाधिक्य होने पर भी अन्तर्वेग ज्वर के प्रकरण में वर्णित लक्षणों की स्थिति बहुत कोमल स्वरूप की होती है। अन्तर्वेग की अपेक्षा बहिर्वेग ज्वर की स्थिति अधिक साध्य कही जाती है।

प्राकृत ज्वर

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।
कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः ॥३९॥

वसन्त (और) शरद में उत्पन्न प्राकृत ज्वर, तो सुखसाध्य (होता है) काल की प्रकृति को लेकर ही प्राकृत ज्वर कहा जा रहा है। अर्थात् जो दोष जिस ऋतु में प्रकोप करते हैं उसी-उसी दोष के उसी-उसी ऋतु में प्रकुपित होने से होने वाला ज्वर प्राकृत ज्वर कहलाता है।

वक्तव्य—(६१)—प्राकृतिक ज्वर के साथ ही उसकी सुख साध्यता भी खोल दी गई है। वातज्वर यद्यपि वर्षा-ऋतु में होता है और तभी वात के प्रकोप का काल भी है। पर वह कष्टसाध्य होता है। और प्राकृत ज्वर नहीं माना जाता। जतूकर्ण ने "सौम्याग्नेयौ उष्णशीतकामो जीर्णस्त्रयोदशे दिवसे वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः" के द्वारा वसन्त और शरद के ज्वरों को ही प्राकृत माना है शेष को वैकृत ही संज्ञा दी है।

उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति।
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते ॥४०॥

उष्ण (काल तथा आहारादिक) के द्वारा बढ़ा हुआ पित्त शरद् ऋतु में कुपित होता है। शीतकाल में सञ्चित हुआ कफ भी वसन्त ऋतु में प्रकुपित होता है।

वर्षास्वम्ल विपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा।
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्य तेजसा ॥४१
ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः।
प्रकृत्यैव विसर्गाच्च तत्र नानशनाद् भयम् ॥४२॥
अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः।
हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति ॥४३॥
तस्माद्वसन्ते कफजो ज्वरः समुपजायते।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ॥४४॥
आदावन्ते च मध्ये च ज्ञात्वा दोषबलाबलम्।
शरद्वसन्तयोर्विद्वान् ज्वरस्य प्रतिकारयेत् ॥४५॥

वर्षा में अम्लविपाक वाले जलों के कारण तथा ओषधियों के कारण सञ्चित् पित्त शरद ऋतु के सूर्य के तेज से उद्रिक्त (कुपित) होकर शीघ्र ज्वर उत्पन्न कर देता है। (काल के स्वभाव से तथा वायु के प्रशान्त होने से और कफ के सञ्चय का आरम्भ होने से) उसका कफ अनुबन्ध (होता है)। प्रकृति के कारण और विसर्ग काल होने से (विसर्गस्य प्रकृत्यैव हो तो विसर्ग कालीन प्रकृति होने से) वह चिकित्सा में) अनशन (लंघन) से (कोई) भय नहीं (होता)।

हेमन्त ऋतु में मधुर जलों और ओषधियों के

द्वारा सञ्चित हुआ वह कफ वसन्त ऋतु में सूर्य से सन्तप्त होकर कुपित होजाता है। इसलिए वसन्त में कफ ज्वर उत्पन्न होता है। आदान के (इस) मध्य काल में उस (कफ ज्वर) का भी (सूर्य की सहस्रों किरणें जीवों को मध्यम बल से रौद्य और उष्णता प्रदान करती हैं इसलिये) वात पित्त का अनुबन्ध होता है।

विद्वान् वैद्य शरद् और वसन्त ऋतु के आदि में, अन्त में तथा मध्य में दोषों का बलाबल जानकर प्रतिकार (चिकित्सा) करे।

वक्तव्य-(६२) शरद के आरम्भ में और वसन्त के अन्त में प्राणियों के बल की वृद्धि होती है जो बात शरद के अन्त में पड़ती हैं वही वसन्त के आदि में होती है। दोनों का मध्य एक सा रहता है। वसन्त के आदि में वात पित्त दुर्बल मध्य में मध्यम अन्त में प्रबल; शरद के आदि में कफ निर्बल मध्य में मध्यम और अन्त में प्रबल होगा; वसन्त में पहले कफ प्रबल, मध्य में मध्यम, अन्त में निर्बल, शरद् के आरम्भ में पित्त प्रबल, मध्य में मध्यम और अन्त में निर्बल होता है।—

कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतोज्वरः।

काल की प्रकृति को लेकर प्राकृत ज्वर बताया गया है।

वैकृतज्वर

प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ॥४६॥
हेतवो विविधास्तस्य निदाने सम्प्रदर्शितः।

(वर्षा ऋतु में) वायु से उत्पन्न हुआ (प्राकृतज्वर) प्रायः कष्ट साध्य है (तथा) अन्य काल में उत्पन्न हुआ (कफज वा पित्तज ज्वर) वैकृतज्वर (भी कष्ट साध्य है) उस (वैकृतज्वर) के अनेकों कारण निदान स्थान में प्रदर्शित किये जा चुके हैं।

साध्यासाध्य ज्वर

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥४७॥
हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः।
ज्वरः प्राणान्त कृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥४८॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहस्तथैव च।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ॥४९॥
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः।
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ॥५०॥

बलवानों में (तथा) अल्पदोष से पीड़ित प्राणियों में विना किसी उपद्रववाला ज्वर साध्य (होता है)।

जो ज्वर बहुत से बलवान् कारणों से उत्पन्न हुआ, बहुत लक्षणों वाला और शीघ्र इन्द्रियों (की क्रियाओं का) नाशक (हो वह) प्राणों का नाश करने वाला (असाध्य ज्वर हो जाता है)।

मनुष्य को प्रलाप, भ्रम, श्वास से युक्त तीक्ष्ण (वातिक) ७ दिन में (पित्तज) १० दिन में तथा (कफज) ज्वर १२ दिन में मार डालता है।

क्षीण मांसबल (वाले का), सूजे हुए का, अन्त-र्वेग से युक्त का, दीर्घरात्रानुबन्धी (दीर्घ काल तक रहने वाला) ज्वर और जो बलवान् केशों में मांग बनाने वाला (अथवा क्लेश को सीमान्त तक पहुं-चाने वाला) ज्वर (वह) असाध्य (होता है)।

सन्ततज्वर

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्व्वदेहानुगाः स्तब्धाः ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥५१॥
दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥५२॥
कालदूष्य प्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥५३॥
यथाधातूस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे ॥५४॥
स शुद्धयावाऽप्यशुद्धया वा रसादीनामशेषतः।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥५५॥
यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्व्वशः।
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥५६॥

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥५७॥
इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्यः, उपक्रामेत्तु सन्ततम् ।
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥५८॥

(ज्वर के जो पञ्चविध भेद ३२ वें श्लोक में इसी अध्याय में कह आये हैं उनका वर्णन करते समय अब सन्तत ज्वर को पहले लिया जाता है)।

गुरु दोष रसवाही स्रोतों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में जाकर फैलकर (और वहां) निश्चल होकर सन्तत ज्वर को करते हैं।

अत्यन्त कठिनाई से सहाजाने वाला वह सन्तत ज्वर शीघ्रकारी होने से ७ दिन, १० दिन अथवा १२ दिन में शीघ्र शान्त होजाता है या मार डालता है।

काल, दूष्य (रसरक्तादि धातुएँ) प्रकृति से सन्ततज्वर को दोषतुल्य होता है (तथा) यह प्रत्यनीक (विरोधी) चिकित्सा से हीन होता है। इसलिए (उसको) अति दुस्सह जानना चाहिए। अर्थात् सन्ततज्वरकारक दोष के अनुकूल ही काल रहता है, शरीर की उन्हीं धातुओं में इसका अधिष्ठान होता है जिनके वह दोष समान पड़ता है तथा उन्हीं प्रकृति वाले पुरुषों में इसका आगमन होता है जो उस दोष के अनुकूल ही हों अर्थात् विरोध न काल करता है न दूष्य और न रोगी की प्रकृति और न वैसी कोई औषधि ही है अस्तु सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् के अनुसार पूर्णतः अनुकूल परिस्थिति होने से रोगी को सन्ततज्वर पर्याप्त कष्ट देता है रोगी उसके वेग को सहन करने में बहुत दुख पाता है इसीलिये सन्ततज्वर को सुदुस्सह संज्ञा दीगई है।

सन्ततज्वर में, वातादि दोष, जिस प्रकार रस-रक्तादि धातुओं को (नियमपूर्वक प्राप्त होते हैं) वैसे ही मूत्र तथा मल को (भी) नियमानुसार एक ही काल में प्राप्त होते हैं।

वह (सन्ततज्वर) रसादिकों की सम्पूर्णरूपेण शुद्धि से अथवा अशुद्धि से सप्ताहादि कालों में शमन प्राप्त करता है या मार डालता है। (अर्थात् यदि दोष रसादि धातुओं का पाक करते हैं तो धातुपाक होने से सप्ताहादि समय में रोगी मरजाता है और यदि वे दोष मलमूत्रादिक मलपाक करते हैं तो रोग शान्त होजाता है।)

जब उपरोक्त सन्ततज्वर के बारह आश्रय अतिशुद्ध नहीं होते अथवा सर्वथा शुद्ध नहीं होते तब बारहवें दिन अव्यक्त लक्षण वाला विसर्ग (मोक्ष) करके दुःखसाध्य होता हुआ (वह ज्वर) दीर्घकाल तक भी बना रहता है।

ऐसा समझकर वैद्य चिकित्सा करने में सावधान होकर पहले तो अपतर्पण से सन्तत ज्वर की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—(६३) सन्ततज्वर का जो वर्णन अग्निवेश के सम्मुख भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उपस्थित किया है वह एक बहुत बड़ी बीमारी का वर्णन है। वह क्यों दुस्सह है और उसकी चिकित्सा करना क्यों कठिन है तथा वह कैसे शान्त होता तथा वह कब मार डालता है इस पर आचार्य ने थोड़े वाक्यों में भी बड़ी सारगर्भित व्याख्या उपस्थित करके वैद्य को अपतर्पण से चिकित्सा आरम्भ करने की आज्ञा दी है।

आरम्भ में सन्ततज्वर की सम्प्राप्ति बतलाई गई है कि एक-एक बार उल्बण हुए तीनों दोषों में से कोई भी एक या दो अथवा तीनों मिलकर जब आम और गुरु हो जाते हैं तो वे उसी अस्वस्थ रूप में रसवाहीस्रोतसों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं और फिर जब तक मलपाक अथवा धातुपाक नहीं होता जो दस बारह या सात दिन लेता है वे वहीं स्थिर होजाते हैं। रोग का स्वभाव शीघ्र ही स्वस्थ कर देने या मार देने का होता है।

वात का अनुबन्ध होने से और दोष दूष्यों का निःशेषतया संशोधन होने से सात दिन में रोगी का सन्तत ज्वर नष्ट हो जाता है पर यदि संशोधन का अभाव रहा तो ७ दिन में रोगी

स्वयं नष्ट होजाता है। पितदोषजन्य अनुबन्ध होने से दोष दूष्य की निश्शेष शुद्धि होने से १० दिन में रोग की शान्ति शुद्धि न होने पर १० दिन में रोगी की शान्ति होजाती है। कफ का अनुबन्ध होने से दोष दूष्य की निश्शेषेण शुद्धि से १२ दिन में रोगी रोग से मुक्त अन्यथा १२ दिन में रोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

जो अविसर्गी (अर्थात् जिसका मोक्ष बीच में न हो जो लगातार चलता रहे और एक निश्चित समय लेकर पूरा हो वह) सन्ततज्वर कहलाता है।

सन्ततज्वर एक कष्टदायक ज्वर है इसे नहीं भूलना है। सन्तत में काल, दूष्य, प्रकृति तथा दोष ये चारों तुल्य भाव वाले होते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह है कि जिस दोष का जिस ऋतु में राज्य होता है उस ऋतु में उसीके लक्षणों से युक्त जो अविसर्गी ज्वर उत्पन्न होता है वह प्रायशः सन्तत ज्वर ही होता है। काल वसन्त है दूष्य रस धातु है पुरुष की प्रकृति श्लेष्मल है और ज्वर में कफोल्बणता है चारों के मिलने से अविसर्गी ज्वर चल रहा है। यह सन्ततज्वर है इसका शमन अथवा रोगी का मरण बारह दिन में होगा। इसकी सुदुस्सहता का एक महत्व का कारण है कि यह सन्तत स्वयं निष्प्रत्यनीक है। इसकी कोई प्रत्यनीक भेषज नहीं है। अर्थात् इसे शमन करने वाली एक ओषधि या योग नहीं मिलता। काल, दूष्य, प्रकृति और दोष आपस में समान हैं अर्थात् एक से दूसरे की वृद्धि होने वाली है एक दूसरे का काट नहीं करता। दोष कफ का हो और काल शरद् का हो और दूष्य रक्त हो तो सन्ततज्वर नहीं बनेगा। निष्प्रत्यनीकता (अविरोधिता) का होना सन्ततज्वर के लिए अवश्यम्भावी है। प्रत्यनीक को हमने दो अर्थों में दिखलाया है एक अविरोधी गुण और दूसरा अविरोधी ओषधि। इनमें अविरोधी गुण को मत अधिक मिलते हैं ओषधि के मत कम हैं। होसकता है आगे ७-१० या १२ दिन के स्थान पर ३ या ४ दिन में ही यह ज्वर काबू में आने लगे अतः ओषधि या भेषज को मानकर चलना सर्वदा के लिए सुदुस्सहता का बताने वाला नहीं है पर ऐसी स्थिति का बनना जिसमें दोष दूष्य काल प्रकृति में अविरोध और समानता हो तो रोग निस्सन्देह बहुल प्रबल होगा। नहर और बरसाती नाले का अन्तर समझने से काम बन जायगा। नहर में जल आने के मार्ग एक या दो ही होते हैं पर जाने के मार्ग कई होने से वह मर्यादित रहती है। वहां अतुल्य दोष दूष्यता का आभास मिल सकता है। बरसाती नाले में सभी छोटी बड़ी नालियां खुलती हैं। पानी के वितरण का कोई प्रबन्ध नहीं होता पर पानी की समेट हर ओर से होती है इस कारण उसका दृश्य बहुत भयानक होजाता है यहां दोष-दूष्य तुल्यता का आभास किया जा सकता है।

सन्ततज्वर में रसवाहीस्रोतसों के द्वारा गुरु दोषों का अनुगमन धातुओं को ही नहीं उनके मलों को विशेष कर पुरीष और मूत्र तक एक ही काल में होता है। वे रसादि धातुयें यदि शुद्ध होगईं, (मलपाक होगया) तो रोग की शान्ति और यदि अशुद्ध रहीं (धातुपाक होगया) तो रोग के कारण मृत्यु होजाया करती है। शुद्धि अशेष (पूर्णरूपेण) होना वाञ्छनीय है। पर न ज्वर टूटा न मृत्यु हुई ऐसा बारह दिन के बाद भी जो उसकी अन्तिम मर्यादा है देखा गया तो अति शुद्धि वा सम्पूर्ण शुद्धि के अभाव में थोड़ी शुद्धि होने के कारण उसका उपशय दुर्लभ होजाता है और वह दीर्घकालानुबन्धी होजाता है।

सन्ततज्वर का इतना विचार करके तब वैद्य को चिकित्सा की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। चिकित्सा करना यदि निश्चित ही किया जावे तो वह अपतर्पण से आरम्भ हो।

सन्ततज्वर रसधातु के आश्रित प्रधानतया होता है और वह शेष ६ धातुओं तक जासकता है। वह स्वयं एक दोषज, द्विदोषज और त्रिदोषज इन रूपों में भी मिल सकता है। दोष दूष्य काल प्रकृति तुल्यता उसकी दुस्सहता की दृष्टि से अनिवार्यतया प्राप्त नियम है इसमें अपवाद को बहुत कम स्थान है। दोष के समान धर्म वाला कभी काल कभी दूष्य कभी प्रकृति पड़जाने से निश्चित अवधि तक ज्वर कभी नहीं उतरने पाता।

सततज्वर

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्।
स प्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम्।

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ॥५६॥

रक्तधातु में आश्रित हुआ विरोधी दोष प्रायः सततक ज्वर को अपने काल में वृद्धि और क्षय को प्राप्त होने वाला कर देता है। सततज्वर दिन रात में दो बार आता है।

वक्तव्य—(६४) सन्ततज्वर में जैसे दोष दूष्य काल प्रकृति की तुल्यता के कारण ज्वर को हर समय चढ़े रहने का अवसर मिलता था वैसे सतत ज्वर में हर समय नहीं चढ़ा रहता; अपि तु, वह २४ घंटे में दो बार चढ़ता और दो बार ही उतरता है। यहां दूष्य रक्त धातु निश्चित है। दोष निश्चित नहीं और न काल निश्चित है। मान लो कि पैत्तिक सततज्वर है। पित्त के कोप का काल दिन में १२ और रात्रि में १२ बजे का है। रोगी की भी पैत्तिक प्रकृति है। दोष-काल और प्रकृति के कारण ज्वर बड़े वेग और पूर्ण सामर्थ्य से मध्यदिन तथा मध्यरात्रि में २ बार चढ़कर उतरेगा। रोगी की प्रकृति श्लैष्मिक हो तो ज्वर पहले रोगी के बराबर जोर से नहीं चढ़ेगा। यदि वातिक दोष हो तो ज्वर सन्ध्याकाल में और भोर से पूर्व बढ़ेगा। श्लैष्मिक होने पर प्रभात तथा पूर्वरात्रि में ज्वर वेग अधिक होगा। दूष्य रक्त होने से श्लैष्मिक प्रकृति के व्यक्ति में ज्वर का वेग कम रहेगा। यदि ऋतु शरद् हुई तो पित्ताधिक्य के कारण कफज सततज्वर को कफज प्रकृति के व्यक्ति में बहुत थोड़ा स्थान मिलेगा उसे दोनों समय ज्वर बढ़ेगा पर कफ दोष रक्त धातु पर कम प्रभाव डालेगा थोड़ा प्रभाव ऋतु निकाल देगी रहासहा रोगी की प्रकृति खतम कर देगी।

अन्येद्युष्कज्वर

कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम्।
अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः ॥६०॥
स प्रत्यनीकं जनयत्येककालमहर्निशम्।

काल, प्रकृति तथा दूष्यों में से किसी एक द्वारा बल पाकर विरोधियुक्त दोष मेदस्वाही सिराओं का अवरोध करके अन्येद्युष्क ज्वर को दिन रात में एक बार उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—(६५) यहां दूष्य मेदोवाही सिराएं हैं रक्त अनुबन्ध रूप में है। काल, प्रकृति और दोष और दूष्य में पर्याप्त विरोध होने के कारण ज्वर केवल एक बार आपाता है। रक्ताश्रित दोष अल्पबल होता है वह मांस में भी जाता है तथा मेदोवाही सिराओं का अवरोध करके अन्येद्युष्क को करता है जो सप्रत्यनीक भेषज द्वारा साध्य होता है। यह ज्वर प्रतिदिन केवल एक बार आता है।

तृतीयक-चतुर्थक ज्वर

दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्य्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥६१॥
गतिर्द्व्येकान्तराऽन्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः।
अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम् ॥६२॥
मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम्।
संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ॥६३॥
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः।
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ॥६४॥
अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति।
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ॥६५॥
स वृद्धिं बलकालञ्च प्राप्यदोषस्तृतीयकम्।
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ॥६६॥
कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः।
पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥६७॥
कफपित्तान् त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥६८॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं] द्विविधं ज्वरः।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसम्भवः ॥६९॥
विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः।
त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम् ॥७०॥

अस्थि और मज्जागत दोष (क्रमशः) तृतीयक तथा चातुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।

चातुर्थक, तृतीयक, और अन्येद्युष्क के दोष की गति दूसरे आचार्यों ने अन्य प्रकार से कही है।

रक्त को आश्रित बनाकर भी दोष अन्येद्युष्क ज्वर को करदेता है। मांसवाही स्रोतसों में जाकर तृतीयक उत्पन्न करता है तथा मेदस् स्रोतों को

आश्रित करके चातुर्थक ज्वर को भी उत्पन्न करता है।

अन्येद्युष्क प्रतिदिन (एक बार) आने वाला है। तृतीयक एक दिन छोड़कर (आता है)। दो दिन विश्राम करके जो ज्वर आता है वह चातुर्थक (कहा जाता है)।

जैसे बीज भूमि में पड़ा रहता है और काल पाकर अंकुरित होता है उसी प्रकार दोष धातु में पड़ा रहता है तथा काल पाकर कुपित होता है।

वह दोष प्रत्यनीक (विरोधी) के बल का नाश होने से वृद्धि और बल के काल को प्राप्त कर तृतीयक तथा चातुर्थक ज्वर करता है।

वेग करके निर्बल (गतबल) होने पर अपने अपने स्थान में जाकर लीन हुए दोष अपने समय में फिर वढ़कर मनुष्य में ज्वर उत्पन्न करते हैं।

त्रिक का ग्रह (त्रिक में जकड़न पीड़ा) करके (होने वाला) कफपित्त से, पृष्ठ का ग्रह करके वातकफात्मक तथा शिरोग्रह करके (होने वाला) वातपित्त से (इस प्रकार) तृतीयक ज्वर तीन प्रकार (का होता है)।

श्लैष्मिक होने पर पहले पिण्डलियों (जङ्घाओं) में (तथा) वातोत्पन्न होने पर पहले शिर में अपना प्रभाव दिखलाता है (इस प्रकार) चातुर्थक ज्वर दो प्रकार का होता है।

अस्थि तथा मज्जा इन दो धातुओं में स्थित वातपित्तकफ एक एक करके (इन) तीन प्रकार का धातु एक एक जिसको उत्पन्न करता है वह दूसरा चतुर्थक-विपर्यय नामक ज्वर विषमज्वर ही है।

वक्तव्य—(६५) ऊपर तृतीयक और चातुर्थक ज्वरों का जो वर्णन उपस्थित किया गया है उसमें कितनेक भेद प्रभेद, कारण उदाहरण आदि बतलाकर विषय को समझाने का प्रयास किया गया है। तृतीयक और चातुर्थक इन दोनों ज्वरों में दूष्य अस्थि और मज्जा अथवा अस्थिगत मज्जा है। दो दिन का अन्तर देकर चातुर्थक एक दिन के अन्तर से तृतीयक और नित्य आने से अन्येद्युष्क ज्वर बनता है। तृतीयक ज्वर मांसवाही स्रोतों को तथा चातुर्थक ज्वर मेदोवाही स्रोतों में होकर सम्पूर्ण शरीर में फैलते हैं।

समय पाकर ज्वर आने पर भूमि और बीज का उदाहरण दिया गया है। अर्थात् दोष के अनुकूल समय और क्षेत्र मिलने पर ही उसका वेग ज्वररूप में प्रगट होता है। तृतीयक या चातुर्थक के बनने में प्रत्यनीक बल का क्षय होना तथा दोष के बल तथा काल का बढ़ना होता है। एक बार वेगपूर्वक ज्वर आने के बाद दोष अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित होजाते हैं और फिर समय पाकर बल-पाकर ज्वरोत्पादन में समर्थ होते हैं।

तृतीयक ज्वर में द्वन्द्वज दोषों का महत्व बतलाते हुए उसके ३ भेद त्रिकशूलपूर्वक (कफपित्त), पृष्ठशूलपूर्वक (वातकफ) तथा शिरोवेदना पूर्वक (वातपित्त) भी दिए गए हैं। इस प्रकार चातुर्थक ज्वर जंघाशूलपूर्वक (श्लैष्मिक) तथा शिरःशूलपूर्वक (वातिक) दो प्रकार के प्रभाव वाला कहा गया है।

ज्वर की विपर्यय परम्परा का भी इङ्गित किया गया है। त्रिविधधातु एक-एक करके अस्थि मज्जा में निवास करके इसे उत्पन्न करते हैं। स मध्ये ज्वरयत्यही आदावन्ते च मुञ्चति ऐसा तन्त्रान्त में इसका स्वरूप समझाया गया है। विपर्यय तो किसी भी ज्वर के मिल सकते हैं। जैसे अन्येद्युष्क जो एक बार वेग करता है। उसका विपर्यय होगा जब वह २४ घंटे में एक बार थोड़ी देर को उतरे शेष काल बराबर चढ़ा रहे। विपर्ययों का ज्ञान रोगी को प्रत्यक्ष देखकर उसके तापांश का चार्ट (temperature chart) बराबर रखने से सदैव होसकता है।

पञ्चविध ज्वरों की सान्निपातिकता

प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः।
सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ॥७१॥

पञ्चविध ज्वर प्रायः सन्निपात से देखा जाता है (अर्थात् पांचों प्रकार के ज्वर बहुधा त्रिदोषज होते हैं बहुधा में कभी-कभी द्विदोषज अथवा एक-दोषज भी होते हैं इसका भी समावेश कर लेना चाहिए) त्रिदोषात्मक सन्निपात में भी जो सबसे प्रबल होता है वही दोष कहा जाता है।

वक्तव्य—(६६) सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ये पांच ज्वर विषमज्वर कहलाते हैं क्योंकि इनका ज्वर विषमतया बढ़ता घटता रहता है। ज्वर वैषम्य का इनमें सामान्य पाया जाता है। विषमसंज्ञक सभी ज्वर (और ज्वर ही क्या अन्य भी सभी रोग) त्रिदोषजनित होते हैं। वात, पित्त और कफ तीनों ही अपने बलाबल के साथ रोगोत्पत्ति में भाग लेते हैं। क्योंकि शरीर की प्रत्येक अवस्था इन तीनों दोषों की स्थिति के अनुसार बनती बिगड़ती है अतः एक दोष में विकृति का परिणाम शेष दोनों दोषों की क्रियाशक्ति के अवरोध या कोप में लगती है। अस्तु रोग व ज्वर सभी सान्निपातिक मान लेने चाहिए। पर सन्निपातात्मक होने पर भी जो दोष अधिक प्रबल होता है उसी के अनुसार उसका नामकरण कर दिया जाता है।

ज्वरकारी घटक

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्।
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ॥७२॥

ऋतु, अहोरात्र और दोषों के, तथा मन के बलाबल से तथा प्राक्तनकर्मवशात् उस उस काल को ज्वर प्राप्त होता है।

वक्तव्य—(६७) यह श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है। हम आए दिन देखते हैं कि एक रोगी को अभी सन्तत चल रहा था वह कुछ काल बाद सतत में बदल गया। सतत अन्येद्युष्क में चला गया। अन्येद्युष्क काल दोष दूष्य प्रकृति तुल्यता से सन्तत बन गया। अन्येद्युष्क से तृतीयक, तृतीयक से चातुर्थक, चातुर्थक का सतत आदि आये दिन देखा जाता है। तं तं कालं ज्वरस्य प्राप्ति के कारणभूत घटकों का गणन यहां कराया गया है। उनमें एक ऋतु, दूसरा रातदिन तीसरा मन और चौथा प्राक्तनकर्म है इनके बलाबल के परिणामस्वरूप एक ज्वर दूसरा रूप धारण कर लेता है।

सन्ततादि पांचों ज्वर उत्तरोत्तर दुर्बल होते हैं। एक दुर्बल ज्वर ऋतु, अहोरात्र, दोष तथा मन के बलवान् होने से पूर्व पूर्व प्रबल ज्वर को प्राप्त कर ले सकता है। जिस काल को जो ज्वर प्राप्त कर लेता है उसी नाम से उसका फिर बोध होने लगता है। इसी प्रकार ऋत्वादि की निर्बलता होने पर उत्तरोत्तर ह्रास की प्राप्ति होती है। सन्तत की प्रबलता में ऋत्वादिकों का बलवान् होना तथा चातुर्थक की दुर्बलता में उनका दुर्बल होना ही मुख्य हेतु होता है। वातप्रधान चातुर्थक प्रावृट् काल में तृतीयक अन्येद्युष्क, सतत सन्तत कोई भी रूपी लब्धबल होने पर लेसकता है। पित्त की प्रधानता होने पर शरत्काल में पित्त प्रधान ज्वर के काल में परिवर्तन पाया जा सकता है। वातप्रधान सन्तत या सतत शरद् या वसन्त में अल्पबल होने के कारण अन्येद्युष्क तृतीयक या चतुर्थक बन सकता है। पित्तप्रधान अन्येद्युष्क हेमन्त वसन्त में अल्पबलवान् हो चतुर्थक बन सकता है। कफप्रधान चतुर्थक ग्रीष्म वा शरद् में बिल्कुल नष्ट भी हो सकता है।

अहोरात्र के बल को पाकर चतुर्थक तृतीयक बन जाता है। अहोरात्र की दुर्बलता तृतीयक को चतुर्थक और चतुर्थक को बिल्कुल नष्ट कर देती है। रूक्षोष्णगुणयुक्त कुपितवातप्रधान चातुर्थक होने पर ग्रीष्मऋतु में दिन का बल लेकर तृतीयक होसकता है। शीतगुण से कुपित वातज तृतीयक पित्तप्रधान शरदृतु के अहोरात्र में चातुर्थक रूप ले सकता है। कफप्रधान हेमन्त वसन्त ऋतु के अहोरात्र बल को पाकर अन्येद्युष्क सतत बन सकता है। वातप्रधान सन्तत शरद वसन्त कालीन अहोरात्र में हीनबल होकर सतत वा अन्येद्युष्क में परिणत हो सकता है। अहोरात्र केवल एक ही न लेकर कई मिला कर समझनी चाहिए।

वातप्रधान चातुर्थकज्वर वाला व्यक्ति यदि दोष प्रकोपक व्यायामापतर्पण विहार और रूक्ष लघु अन्नाहार करता है तो उसका वातदोष बल पाकर तृतीयक रूप को धारण कर सकता है। पित्तप्रधान कट्वम्ल सेवन से पित्त बल प्राप्त करके और कफ प्रधान गुरु मधुर द्रव्यादि सेवन करके उसी प्रकार काल वैषम्य कर सकते हैं। वातप्रधान सन्ततादि में यदि मधुराम्ल गुर्वादि द्रव्य सेवन किए जावें तो अल्पबल वात सततकादि को उत्पन्न कर सकता है। पित्तप्रधान सन्तत तिक्तमधुरकषायादि के सेवन से पित्त के अल्प-

बल होने से सततकादि उत्पन्न कर सकता है इसी प्रकार कफ प्रधान सन्तताादिक सततादिक में बदल सकते हैं यदि कटुतिक्तकशायादि द्रव्यसेवन से कफ अल्पबल कर दिया जावे।

मन के द्वारा भी सन्तत का सतत और सतत का सन्तत बन सकता है। सन्तत ज्वरी को यदि लाटरी दस हजार रुपया मिल जाय तो उसका ज्वर अन्येद्युष्क तक होसकता है। तृतीयकज्वर वाले के किसी प्रिय की मृत्यु का समाचार सन्तत्ज्वर का कारण होसकता है। **गंगाधर कविराज** के न तु ऋत्वाद्वलाद्व्याधिबलम् अबलाद्व्याधेरबलमिव मनसो बलाद्व्याधिबलमबला द्व्याधेरबलमिति ख्यापितम्—शब्दों को नहीं भूलना चाहिए। प्रमोदित चित्त ज्वरी का ज्वर दुर्बल रहेगा तथा विषण्णचित्त ज्वरी का ज्वर प्रबल होजायगा यह सर्वसाधारण नियम है।

जहां ऋतु, अहोरात्र, दोष और मन ये चारों घटक उत्तरदायी न हों पर सन्तत सतत या सतत सन्तन में बदल जाय तो वह व्यक्ति के प्राक्तनकर्म के बलाबल के कारण होता है ऐसा मान लेना चाहिए। जिसे आधुनिक (idiopathic) कह कर छोड़ देते हैं वह प्राक्तनकर्म के अन्तर्गत लेना चाहिए। रोग के वृद्धि अथवा क्षय का ऐसे कारण से होना जिसे बुद्धि में बिठाना चिकित्सक को किसी प्रकार भी सङ्गत न हो वह प्राक्तनकर्म के मत्थे डालकर छुटकारा पाया जासकता है।

आश्रयभेद से सप्तविध ज्वर वर्णन

रसाश्रितज्वर

गुरुत्वं शीतमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ।
रसस्थिते वहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम् ॥७३॥

(जब ज्वर) रसधातु में स्थित होता है। (तब) शरीर को गुरुता, शीत, उद्वेग, अवसाद, वमन, अरुचि, अङ्गमर्द, बहिस्ताप (और) जृम्भा (नामक लक्षण होते हैं)।

वक्तव्य—(६८) दोष कुपित होकर किसी न किसी धातु में अपना आश्रय ढूंढ कर रोग के स्वरूप को प्रगट करते हैं। ज्वरकारी दोष जब रसधातु में अपना आश्रय बनाते हैं उस समय शरीर जिन-जिन विपत्तियों का अनुभव करता है उनका परिगणन यहां किया गया है। अन्न से सर्व प्रथम जो पदार्थ बनता है पाचन क्रिया के परिणामस्वरूप वह रस है। यह रस रसवहाओं द्वारा रक्त में मिलकर शरीर का पोषण करता है। दोष सर्व प्रथम पचनसंस्थान में ही रसधातु से मिल जाते हैं। वे चाहे वातिक हों पैत्तिक या श्लैष्मिक रस धातु को प्रभावित करने के कारण एक दम ठण्ड लगकर ज्वर चढ़ जाता है। शीतम् के स्थान पर कुछ दैन्यम् का प्रयोग करते हैं वे रसधातु के प्रत्यक्ष कर्मों को भूल जाते हैं। नमक का पानी चढ़ाने के बाद जो कसकर जाड़ा लगता है उसका कारण रसधातु की स्थिति में परिवर्तन है। दोष यहां भी उसकी स्थिति में परिवर्तन लाकर शीतोत्पत्ति का कारण बनते हैं। रसधातु पूर्ण परिपक्व रूप नहीं लेपाने से अथवा आम दोषों के रहने से गुरुता, अवसाद आते हैं जिनका परिणाम अङ्गमर्द और जृम्भण में होता है। उद्वेग और बहिस्ताप रसाश्रित ज्वर की अपनी विशेषतायें हैं।

रक्ताश्रितज्वर

रक्तोष्णाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः।
दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंस्थिते ॥७४॥

(जब ज्वर) रक्त में स्थित होता है (तब) लाल रंग की उष्ण पिडकाएँ, तृष्णा, बार बार रक्तसहित थूकना, दाह, शरीर का लाल पड़जाना, भ्रम, मद, प्रलाप (नामक लक्षण होते हैं)।

वक्तव्य—(६९) ज्वरकारी दोष जब अपना आश्रय रक्त को बना लेता है तब जो स्थिति होती है वह बड़ी भीषण और दुखदायी होती है। अँगरेजी के चिकित्सक जिस स्थिति को टाक्जीमिया (toxaemia) कहते हैं जिसका नवीन हिन्दी नाम विषरक्तता है कहते हैं वही यह स्थिति है। ज्वर तथा वे चिह्न जो रसाश्रित ज्वर के कहे हैं पाये जाते ही हैं साथ ही शरीर पर लाल पिडकाओं की उत्पत्ति जो स्पैसीफिक फीवर्स (specific fevers) विशिष्ट ज्वरों में प्रायशः देखी जाती है जैसे मोतीझरा के

दाने, खसरा के दाने, मसूरिका के दाने आदि मिलती है। शरीर के भीतर दाह और राग का होना व्रणशोथ इन्फ्लेशन का प्रधान लक्षण है। वह भी मिल सकता है। तीव्र ज्वर के कारण भ्रम, मद, प्रलाप होते ही हैं कभी-कभी रोगी मुख से बार बार रक्त थूकता है अर्थात् फुफ्फुस से रक्तागम यह रक्ताश्रित ज्वर की पहचान मानना चाहिए।

क्या ये सभी उग्र लक्षण रोगी में मिलने ही चाहिए? इसका उत्तर दोष दूष्य काल प्रकृति मानस प्राक्तन दृष्टि का निष्प्रत्यनीक रूप में मिलना है। यदि इनमें से कुछ प्रत्यनीक भाव में स्थित हुए तो ये सब लक्षण एक साथ नहीं मिलेंगे।

आजकल जो अनेक जीवाणु विषाणुजनित रोग चल रहे हैं जिनके आगे आइटिस (itis) प्रत्यय का प्रयोग होता है उन्हें हम रक्ताश्रित ज्वर में मान सकते हैं।

मांसाश्रितज्वर

अन्तर्दाहः सतृण्मोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता।
दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ॥७५॥

अधिक प्यास मोह, ग्लानि के साथ अन्तर्दाह, मल प्रवृत्ति, दुर्गन्ध, गात्र विक्षेप (पिण्डिकोद्वेष्टन) मांसस्थित ज्वर में होता है।

वक्तव्य—(७०) मांस में आश्रित ज्वरकारी दोष होने के कारण मांसधातु की क्रिया में व्याघात आता है। उसी के परिणामस्वरूप मल का कई बार त्याग, शरीर की पेशियों में उद्वेष्टन (Spasms) का आना और शरीर के भीतर अत्यधिक जलन पड़ना देखा जाता है। हैजा होने के कारण मांसधातु को जब रसधातु ठीक प्रकार आप्यायित नहीं कर पाती तथा शरीर में रसाभाव होजाता है तब जो लक्षण देखे जाते हैं जैसे प्रबल तृष्णा, मोह, भयङ्कर दाह, पेशियों का उद्वेष्टन, ग्लानि, मलत्याग वह सब भी इसमें होता है। पर साथ में तीव्र ज्वर भी चढ़ा होता है। ज्वर रहित ये सब लक्षण विसूचिका के पर सज्वर होने पर ये सब लक्षण मांसाश्रित ज्वर के जानने चाहिए।

मेदसाश्रित ज्वर

स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापारत्यभीक्ष्णशः।
सगन्धस्यासहत्वञ्च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ॥७६॥

जब ज्वर मेदोधातु में आश्रित होजाता है तब स्वेद, तीव्रप्यास, प्रलाप,निरन्तर शूल, अपने शरीर की गन्ध को स्वयं ही न सहना, ग्लानि और अरुचि (नामक लक्षण उत्पन्न होजाते हैं)।

वक्तव्य—(७१)—मेदोधातु में स्थिति ज्वर भी एक गम्भीर अवस्था है। हरसमय पसीना चलना, दुर्गन्ध, प्रलाप, और शूलाधिक्य। कोई-कोई अरति के स्थान पर वमी कहते हैं। ये विशेषतया देखे जाते हैं।

अस्थिगतज्वर

विरेकवमनेचोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम्।
विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ॥७७॥

जब ज्वर अस्थिधातु के आश्रित होता है तब वमन विरेचन दोनों, अस्थिभेद के साथ कण्ठ का कूजना, गात्रविक्षेप तथा श्वासाधिक्य (नामक लक्षण विशेषतया देखे जाते हैं)।

वक्तव्य—(७२) जब ज्वर अस्थि तक पहुंच जाता है तो वमन विरेचन एक साथ आरम्भ होते हैं गात्र का विक्षेप श्वास हड़फूटन आदि जो लक्षण दिये गए हैं वे सब बहुत गम्भीर स्वरूप के होते हैं।

मज्जागतज्वर

हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्।
मर्म्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ॥७८॥

मज्जागत ज्वर में हिक्का, श्वास, कास, आखों के आगे अंधेरा का अधिक दीखना, मर्मों में छेदने जैसी पीड़ा, बाहर शैत्य मालूम पड़ना और भीतर दाह होना (ये लक्षण देखे जाते हैं)।

वक्तव्य—(७३) बाहर देखने पर शरीर का धरातल ठण्डा पर थर्मामीटर लगाने पर ज्वर १०४ से कम न आवे यह बहुत गम्भीर अवस्था है जो ज्वर के अस्थिधातु तक

आश्रित होने की सूचना देती है। श्वसनसंस्थान के कास श्वास और हिक्का का होना इस रोग में बहुधा पाया जाता है।

शुक्राश्रितज्वर

शुक्रस्थानगतः शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च।
प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः ॥७६॥

वह रसादि धातुओं में फैलनेवाला ज्वर जब शुक्र स्थान में प्राप्त होता है तब वह वीर्यस्राव करके और प्राणों को विनष्ट करके वात, पित्त, कफ तीनों दोषों के साथ चला जाता है।

वक्तव्य—(७४) यह ज्वर मारक होता है। मृत्यु के पूर्व वीर्यस्राव होता है यही शास्त्र से ज्ञात होता है।

धात्वाश्रित ज्वरों की साध्यासाध्यता

रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्चयः।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिद्धयति ॥८०॥

जो रस और रक्त के आश्रित ज्वर होता है वह साध्य (होता है) तथा, मांस, मेदस् के आश्रित ज्वर भी साध्य होते हैं। अस्थि और मज्जागत ज्वर कष्टसाध्य होते हैं तथा शुक्रस्थ तो कदापि भी नहीं ठीक होने से असाध्य होता है।

[द्वन्द्वजज्वरलक्षण]

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्ट विधोज्वरः।
समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणलक्षणम् ॥८१॥

पहले (निदान स्थान में) हेतुओं और लक्षणों के साथ ज्वर आठ प्रकार का कह दिया गया है। संक्षेप में (वहां इन आठ में से जिन ज्वरों का) उपदेश किया गया है (उनके) विस्तार के साथ लक्षण सुन।

वातपित्तज्वर लक्षण

शिरोरुक्पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम्।
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छाभ्रमोऽरुचिः।
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः ॥८२॥

सिर में दर्द, पर्वों का भेदनवत् शूल, दाह, रोमहर्ष, कण्ठ का तथा मुख का शोष, वमन, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, निद्रानाश, अधिक वाचालता, जृम्भा (ये सब) वातपैत्तिक ज्वर के लक्षण (हैं)।

वक्तव्य—(७५) तृष्णा, दाह मूर्च्छा, भ्रम पैत्तिक; शूल शोष, जृम्भा, स्वप्ननाश, प्रलाप, रोमहर्ष वातिक तथा वमन बीच के भावों से उत्पन्न होने वाली है। रोग में सब लक्षण नहीं मिलते।

वातश्लेष्मज्वर

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणाञ्च रुक्।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥८३॥

ठण्ड लगना, गुरुता, तन्द्रा, गीलापन, पर्वों में दर्द, सिर की जकड़न, जुकाम, खांसी, पसीने का न आना तथा मध्यवेग वाले ज्वर का रहना वातकफज्वर के लक्षण (हैं)।

वक्तव्य—(७६) आजकल जुकाम या प्रतिश्याय के साथ जिन रोगों में रक्त के अन्दर इयोसीनोफिलिया (eosinophilia) बढ़ जाती है उनका समावेश वातकफज्वर में किया जाता है। इन्फ्लुएञ्जा के रोग में जिन लक्षणों का पाश्चात्य वैद्य वर्णन करते हैं वे अधिकांश ऊपर वर्णित हैं। जैसे ज्वर १०२ से १०४ तक, आंखों और नाक से पानी चलना जिसे ठण्ड या शीत लगने में लिया जाता है, दौर्बल्य, ग्लानि, किसी-किसी में श्वसनसंस्थानगत कास, श्वास, ब्रोंकाइटिस मिलते हैं। हृद्गत पेशीशोथ, नाड़ीद्रौत्य या नाडीमान्द्य, भ्रम, मूर्च्छा आदि। उदरगत अतिसार वमन कामला। कर्णशूल, नाड़ीपाक, पर्वपाकादि देखे जाते हैं।

श्लेष्म पित्तज्वर लक्षण

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः।
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥८४॥

बार बार दाह, बार बार शीत, बारबार स्वेद, बारबार स्वेदाप्रवृत्ति, मोह, कास, अरुचि, प्यास, कफ और पित्त का (वमन अथवा मल अथवा दोनों से) निकलना, मुख का लिपा हुआ सा और मुख का स्वाद तिक्त होना, तन्द्रा (ये सब) कफ पित्तज्वर के लक्षण (हैं)।

वक्तव्य—(७७)-यह ज्वर बहुधा शरदऋतु के अन्तिम भाग कार्तिक और अगहन में होता है। इसके कुछ लक्षण मलेरिया के से हैं और कुछ जुकाम के।

इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः सन्निपातज उच्यते।
सन्निपात ज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य च।
प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक्पृथक् ॥८५॥

इस प्रकार ये (पहले) द्वन्द्वज ज्वर कहे गये हैं। (अब) सन्निपातजज्वर कहा जाता है। तेरह प्रकार के पहले सूत्र रूप में कहे गये सन्निपातज्वर को अब मैं आगे उनके अलग अलग (लक्षणों के साथ) कहूँगा।

सन्निपातज्वर लक्षण

[वातपित्तोल्बण मन्दकफ सन्निपात]

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्।
वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥८६॥

वातपित्तोल्बण कफमन्द ज्वर में भ्रम,प्यास,दाह, भारीपन, सिर में भारी दर्द (इन) लक्षणों को जाने।

[वातश्लेष्मोल्बण हीनपित्त सन्निपात]

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासादाहरुग्व्यथाः।
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥८७॥

वातकफप्रधान हीनपित्त व्याधि में जाड़ा लगना, खांसी, अरुचि, तन्द्रा, प्यास, दाह, रोग की बेचैनी तथा दर्द (इन लक्षणों को वैद्य) जानते हैं।

[पित्तकफोल्बण मन्दवात सन्निपात]

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थि वेदना।
मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥८८॥

पित्तकफप्रधान मन्दवात (सन्निपातज्वर में) वमन, शैत्य, बारबार दाह प्यास, मोह, हड्डियों में दर्द इन लक्षणों को (वैद्य) मानते हैं।

[वातोल्बण मन्दपित्त मन्दकफ सन्निपात]

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः।
वातोल्बणे स्याद्द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥८९॥

वातप्रधान कफपित्तहीन (सन्निपातज्वर में) सन्धिशूल, अस्थिशूल, शिरःशूल, प्रलाप, गुरुता, भ्रम, प्यास, गले और मुख का सूखना (ये लक्षण) होते हैं।

[पित्तोल्बण कफवातहीन सन्निपात]

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः।
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥९०॥

पित्तप्रधान वातकफहीन त्रिदोष में मल-मूत्र में रक्त का जाना, दाह, स्वेदन, प्यास, बलक्षय, और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं।

[कफोल्बण वातपित्तहीन सन्निपात]

आलस्यारुचि हृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः।
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्रा कासेन चादिशेत् ॥९१॥

कफप्रधान मन्दवातपित्त सन्निपात को आलस्य अरुचि, जी मिचलाना (सूखी वमन), दाह, वमी, बेचैनी, चक्कर, तन्द्रा, खांसी इनके द्वारा जानना चाहिए।

[श्लेष्मोल्बण हीनवात पित्तमध्य सन्निपात]

प्रतिश्याच्छर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्याग्निमार्दवम्।
हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥९२॥

कफप्रधान मध्यपित्त हीनवात (सन्निपात में) जुकाम, कै, थकान, सुस्ती, भूख की कमी, अग्नि का गिरना (ये) लक्षण माने जाते हैं।

[पित्तोल्बणमध्यकफ हीनवात सन्निपात]

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः।
हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिकं मतम् ॥९३॥

पित्त प्रधान मध्यकफ हीनवात (सन्निपात में) मूत्र और आंखों का पीलापन, दाह, प्यास, भ्रम, अरुचि (ये) लक्षण माने जाते हैं।

[वातोल्बण हीनपित्त मध्यकफ सन्निपात]

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापच्छर्घरोचकौ ॥
हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥९४॥

वातप्रधान मध्यकफ हीनपित्त (सन्निपात में) सिर में दर्द, कम्पन, श्वास, प्रलाप, वमन, अरोचक (ये) लक्षण माने जाते हैं।

[श्लेष्मोल्बण वातमध्यहीनपित्त सन्निपात]

शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक् ।
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥९५॥

कफप्रधान वातमध्य हीनपित्त (सन्निपात में) शीत लगना, शरीर-गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थि-शूल, शिरःशूल (ये) लक्षण माने जाते हैं।

[पित्तोल्बणकफहीन मध्यवात सन्निपात]

पर्वभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ।
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥९६॥

पित्तप्रधान मध्यवात हीनकफ (सन्निपात में) पर्वभेद, अग्निमान्द्य, प्यास, दाह, अरुचि, भ्रम (ये) लक्षण माने जाते हैं।

[वातोल्बण पित्तमध्य हीनकफ सन्निपात]

श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् ।
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥९७॥

वातप्रधान मध्यपित्त हीनकफ (सन्निपात में) श्वास का बढ़ना, खांसी का आना, जुकाम का होना मुख का सूखना, पसली में पीड़ा (ये) लक्षण माने जाते हैं।

वक्तव्य—(७८) ऊपर जो बारह प्रकार के सन्निपात भेद दोषों की अंशांश कल्पना के आधार पर लिखे गये हैं वे चरक के काश्मीर पाठ के अतिरिक्त इतर चरकग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। यह पद्धति यदि सर्वत्र बरती जाय तो ग्रन्थों के आकार बहुत बढ़ जायं। यह पद्धति प्रकृतिसम-समवायात्मक है इसमें एक दोष के जो लक्षण पहले वर्णित हैं उन्हीं का पिष्टपेषण फिर से करना पड़ता है। विकृतिविषम-समवायारब्धक वर्णन करने की अपनी परम्परा है अर्थात् वर्ण्य विषय में उन नवीन लक्षणों को ही प्रगट किया जाता है जिनको दोष के कथन मात्र से स्पष्ट समझना कठिन होता है। वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक ज्वर के लक्षण दे दिये गये ही हैं फिर उनमें से थोड़े लक्षणों को मिला मिला कर पुनः रखना प्रकृतिसमसमवायात्मक लक्षण कहलाता है। द्वन्द्वज ज्वरों में भी जो वर्णन है वह भी इस दोष से अछूता नहीं है। फिर भी उक्त वर्णन से हमें प्रकृतिसमसमवायात्मक पद्धति को जानने का अवसर मिल जाता है।

सामान्य सन्निपातज्वर लक्षण

सन्निपात ज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम् ।
क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ॥९८॥
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने ।
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ॥९९॥
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ।
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ॥१००॥
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ।
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ॥१०१॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ।
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ॥१०२॥
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ।
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपात ज्वराकृतिः ॥१०३॥

(अब आगे सन्निपात ज्वर के लक्षण कहूंगा। क्षण में दाह, क्षण में शीत, अस्थिसन्धि (तथा) सिर में शूल, मैले रक्तवर्ण विस्फारित अश्रुपूर्ण नेत्र, दोनों कान शब्द और पीड़ायुक्त, गला कांटों से भरा हुआ सा, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास अरुचि, भ्रम, जिह्वा (काली) जली हुई जैसी स्पर्श में खुरदरी, शरीरस्थ पेशियों के लोच (tonicity of the body muscles) की बहुत कमी (अतः

शिथिलता) कफमिश्रित रक्त और पित्त का थूकना सिरका लुढकाना, प्यास, निद्रानाश, हृदय में व्यथा, स्वेदमलमूत्र का थोड़ा और देर में दिखलाई देना। अङ्गों में अधिक कृशता का न होना (पेशियां श्लथ तो हो जाती हैं पर सूखती नहीं अर्थात् रोग नया ही होता है जीर्ण स्वरूप का नहीं), कण्ठ से निरन्तर घड़ घड़ की गूंज का आना, (शरीर पर) श्यावरक्तवर्ण के कोठों (rashes) या मण्डलों (wheels) दिखाई देना, जीभ का टूटना (बोलना बन्द हो जाना), मुख नासा आदि स्रोतों में (अथवा सूक्ष्म स्रोतसों में) पाक (inflammation) होना, पेट का भारी होना, दोषों का देर में परिपाक होना, (ये सब) सन्निपात ज्वर का लक्षण है।

वक्तव्य—(७६) सन्निपात का जो वर्णन यहां उपस्थित किया गया है सब स्पष्ट है और वह एक अत्यन्त गम्भीर अवस्था की ओर इङ्गित करता है जिससे प्राणी की रक्षा करना बहुत कम सम्भव है। जिनमें ये सब लक्षण होते हैं ऐसे भी सन्निपात रोगी देखे जाते हैं। तथा जिनमें कुछ कम होते हैं वे भी देखे जाते हैं। कुछ में उपद्रवस्वरूप हिक्का का होना अथवा अंग का मारा जाना आदि भी देखने में आता है।

सन्निपात की साध्यासाध्यता

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्व्वसम्पूर्ण लक्षणः।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्तथोऽन्यथा ॥१०४॥

पूरे पूरे लक्षण (हों) दोष (शरीर में) बंध (स्थिर हो) गये हों जठराग्नि नष्ट होगई हो (तो ऐसी अवस्था में) सन्निपातज्वर असाध्य (होता है) और इसके विपरीत (अवस्था हो अर्थात् दोषों की स्थायी स्थिति न हो, अग्नि दीप्त हो सब लक्षण न हों तो) कष्टसाध्य (होता है)।

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः।
संसर्गसन्निपातानां तया चोक्तं स्वलक्षणम् ॥१०५॥

निदानस्थान में जो तीन प्रकार के पृथक् (वात पित्त कफ) दोषजन्य ज्वर के लक्षण कहे गये हैं वैसे ही द्वन्द्वज और सन्निपातज ज्वरों के (अपने) लक्षण (प्रकृतिसम समवेत की दृष्टि से) कह दिये हैं (ऐसा जानकर अनुमान से ही इनके द्वन्द्वज-सन्निपातज ज्वरों के—लक्षण समझलें और जो विकृति विषमारब्धक ३ द्वन्द्वज और १ सन्निपात इस प्रकार चार के लक्षण ऊपर (बतला दिये गये हैं)।

आगन्तुज्वर

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः ॥१०६॥
शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टचरत्नितलद्विजैः।
तद्विधैश्चहते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ॥१०७॥
तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं सरुजं कुरुते ज्वरम् ॥१०८॥
कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥१०९॥
कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः।
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्य लक्षणाः ॥११०॥
भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम्।
विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसम्भवैः ॥१११॥
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्।
चिकित्सया विषघ्न्यैव सशमं लभते ज्वरः ॥११२॥
अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्त्तते।
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः ॥११३॥
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम्।
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः ॥११४॥
प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि।
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा ॥११५॥
वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके।
यथाकर्म्म प्रयोगेण लक्षणं स्यात्पृथग्विधम् ॥११६॥
ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम्।
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ॥११७॥
क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम्।
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे ॥११८॥

केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः ।
पश्चात्तुल्यन्तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु ॥११९॥
कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम् ।
कामादिजानां रोगाणां मन्येषामपि तत्स्मृतम् ॥१२०॥
मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरःप्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दुष्यति ॥१२१॥
देहे चाभिहते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरःप्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥१२२॥
ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणा ।
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ॥१२३॥

जो अष्टम आगन्तुज्वर (है) वह अभिघात, अभिषङ्ग, अभिचार (और) अभिशाय (भेद) से चार प्रकार का कहा गया है।

शस्त्र, मिट्टी का डेला, चाबुक, लकड़ी, मुट्ठी, थप्पड़, दांत और इनके समान अन्यों से शरीर को चोट लगने पर (अभिघातज) ज्वर होता है। उस अभिघातज ज्वर में वायु प्रायः रक्त को दूषित करता हुआ दर्द के साथ सूजन, विवर्णता (अङ्ग के रङ्ग का बदलना या विशेष करके अङ्ग का लाल पड़ जाना) और बेचैनी के साथ ज्वर को (उत्पन्न) कर देता है।

काम, शोक, भय, क्रोध, इनसे पीड़ित व्यक्ति का जो ज्वर (है) वह तथा जो भूतबाधा (रोग के जीवाणुओं) से उत्पन्न होने वाला (वह भी) अभिषङ्ग ज्वर जानना चाहिए। काम, शोक (और) भय से वायु, क्रोध से पित्त, (तथा) जीवाणु बाधा से जीवाणुजन्य सामान्य लक्षण वाले तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। वह भूताभिषङ्गीय अष्टविध लक्षण भूताधिकार (भूतोन्माद प्रकरण) में कहा गया है। विषवृक्ष की वायु के स्पर्श से तथा अन्य विषोत्पन्न पदार्थों के स्पर्श से सम्बद्ध व्यक्ति का ज्वर भी एक आचार्य अभिषङ्गज्वर (मानते हैं)। विषघ्नी चिकित्सा के द्वारा वह पुरुष शान्ति लाभ करता है।

सिद्धऋषिमुनियों के अभिचार (हिंसार्थक अथर्वमन्त्र प्रयोग) तथा अभिशाप से जो घोर सन्निपात ज्वर होता है वह बहुत दुस्सह समझना चाहिए। सन्निपातज्वर का जो लक्षण (पूर्व) कहा गया है वह उसका लक्षण माना गया है। मन, इन्द्रिय और शरीर की अनेकों अन्य पीड़ायें अभिचार तथा अभिशापजज्वर में देखी जाती हैं अभिचार के प्रयोग को स्वयं देखकर सुनकर एवं अनुमान से अथवा प्रशमनोपायों द्वारा, जाना जाता है। अभिचार और अभिशाप के विविध प्रकार होने के कारण इनसे उत्पन्न ज्वर में उस कर्म के प्रयोग के अनुसार अलग-अलग तरह के लक्षण होते हैं।

ध्यान अर्थात् प्रिय के पाने की चिन्ता, बार-बार गहरी श्वासों का आना, ये दो लक्षण कामज्वर में माने गये हैं। शोकज्वर में बहुत अश्रु आना, भयज्वर में बहुत त्रास होना, क्रोधजज्वर में चेहरे का अत्यधिक तमतमा जाना, भूतावेशज्वर में अमानुषी क्रियाएं करना, (तथा) विष से उत्पन्न ज्वर में मूर्च्छा, मोह, मद और ग्लानि (इन सबकी) अधिकता (के लक्षण उत्पन्न होते हैं)।

इन कामादि ज्वरों में से किन्हीं में इन लक्षणों के पहले, किन्हीं में बाद में और किन्हीं में साथ-साथ सन्ताप (ज्वर) उत्पन्न होता है। कामादि ज्वरों का जो लक्षण कहा गया है वह कामादि जनित अन्य रोगों का भी माना गया है।

कामादि से मन के दूषित होजाने पर जब तक वातादि दोषों से शरीर दूषित नहीं होता तब तक ज्वर पहले ही उतना बलवान् नहीं होता। वातादि दोषों के द्वारा देह के दूषित होने पर जब तक मन कामादिकों से दूषित नहीं होता तब तक ज्वर पहले तथा उतने बल को नहीं प्राप्त होता।

वे आगन्तु ज्वर, पहले केवल बाद में निज दोषों के लक्षणों से मिश्रित और हेतु एवं औषध में भिन्नता वाले होते हैं। (अर्थात् आगन्तु ज्वर पूर्व में स्वतंत्र होते हैं बाद में दोषों के कोप के कारण उत्पन्न हुए

लक्षणों से मिल जाते हैं तथा ये ज्वर निदान एवं चिकित्सा की दृष्टि से निज ज्वरों से भिन्न हुआ करते हैं)।

वक्तव्य—(८०) प्राचीन ऋषियों ने ज्वर के दो प्रकार और कर दिये हैं एक वे जिनकी उत्पत्ति में मूल कारण प्रकुपित दोष है और दोषों का प्रकोप शरीरस्थ दूषण के कारण होता है इन्हें **निजज्वर** करते हैं। दूसरे ज्वरों की उत्पत्ति में बाह्य कारण प्रधान हैं तथा आन्तरिक कारण गौण हैं। दोषोत्पत्तिबाद में होती रहती है। इन बाह्य कारण जन्य ज्वरों को ही **आगन्तुज्वर** कहा जाता है। बाह्यकारण भी ४ प्रकार के बतलाये हैं एक जिसमें आघात (trauma) प्रधान है। किसी भी प्रकार की चोट का परिणाम वायु की वृद्धि होना और वायु के द्वारा रक्त का दूषित होना और चोट के स्थान पर शूल, विवर्णता और सूजन का आजाना तथा सम्पूर्ण शरीर में ज्वर का बन जाना होता है। दूसरा कारण है मन की परिस्थिति विशेष में बनी अवस्था जिसे **अभिषङ्ग** कहते हैं। काम क्रोध मद शोक भय भूतबाधाएं तथा विष इनके कारण मन का खिन्न होना वात या पित्त का बढ़ना अथवा भूत सम्बन्धी व्याधि का होना अथवा विषजन्य लक्षण इसमें देखने में आते हैं। तीसरी अवस्था वह है जिसमें मन्त्रों के प्रयोग से अथवा चौथी अवस्था में शाप देकर व्यक्ति का अनिष्ट किया जाता है। अभिचार कहो या अभिशाप ये दोनों विधियां योगशक्ति और तपस्या की बहुत ऊंची देन रही हैं जो भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती थीं पर आज अपना देश भी इन विधियों को भूल गया !! इनमें ज्वर त्रिदोषात्मक होता है। आधुनिक काल में आगन्तु ज्वरों के सम्बन्ध में बहुत विचार होने लगा है जिसके कारणों हजारों भूतों का नया-नया ज्ञान और इनके द्वारा उत्पन्न ज्वरों का वर्णन खूब पाश्चात्य ग्रन्थों में देखने में आता है।

ज्वर की सम्प्राप्ति

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्ति स्थानान्निरस्य च ॥१२४॥
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम्।
स्रोतांसि रुद्ध्वा संप्राप्ताः केवलं देहमुल्वणाः ॥१२५॥
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥१२६॥

(शरीर को मलिन बनाने में जो प्रमुख भाग लेते हैं वे मलरूपस्थित) वातपित्तकफ (ज्वरनिदान में कहे गये अपने अपने निदान के अनुसार) अलग अलग अथवा (दो दोषों के संसृष्ट हेतुओं के अनुसार) दो-दो मिल कर या (तीनों दोषों के निदान से) तीनों मिलकर (धात्वाहारपरिणामस्वरूप आद्य) रस नामक धातु को अनुगमन करके (रसधातु को पचाने वाली और उससे सम्पूर्ण शरीर को उष्ण बनाने वाली रसस्थ) अग्नि को (अपने) स्थान से निकाल कर अपनी ऊष्मा के द्वारा शरीर भर की ऊष्मा को बलवान् बनाकर स्रोतसों का अवरोध करके अपने मन से अधिक बढ़कर तथा सम्पूर्ण देह में फैलकर (वे) शरीर (भर) में अत्यधिक सन्ताप (उत्तप्तता) उत्पन्न करते हैं। तब पुरुष सर्वाङ्ग उत्तप्त हो जाता है। और उसी के कारण उसे ज्वरित (ज्वर से पीड़ित) कहा जाता है।

वक्तव्य—(८१) अध्याय १५ में बतलाया जायगा कि किस प्रकार प्रसाद भूत कफ पित्त तथा वात और मलभूत कफ पित्त तथा वात क्रमशः उदर में जाठराग्नि की अन्न पर क्रिया होकर तैयार किये जाते हैं। प्रसादभूत दोष रस नामक आद्यधातु में सञ्चरण करके धातुओं को आप्यायित करते हुए उनकी अग्नियों की क्रियाओं को समभाव में प्रोत्साहित कर मानवीय स्वास्थ्य का संरक्षण करते हैं। जाठराग्नि की क्रिया प्रसादभूत या मलभूत दोषोत्पादन तक सीमित रहती है। क्योंकि प्रसादभूत दोषोत्पत्ति के स्थान पर मलरूप दोषोत्पादन अधिक होरहा है इसके कारण रस-धातु में पहुंचे हुए मल प्रतिक्रियावश सम्पूर्ण कोष्ठ की अग्नि को जाग्रत कर देते हैं। इससे शरीर की स्वाभाविक अग्नि-क्रिया विकृत होकर सम्पूर्ण शरीर ही उत्ताप से पूर्ण हो जाता है। जाठराग्नि ही दौड़-दौड़ कर त्वचा को गरम कर ज्वर करती है यह व्यर्थ का आरोप है। मधुकोशकार

ज्वर की सम्प्राप्ति
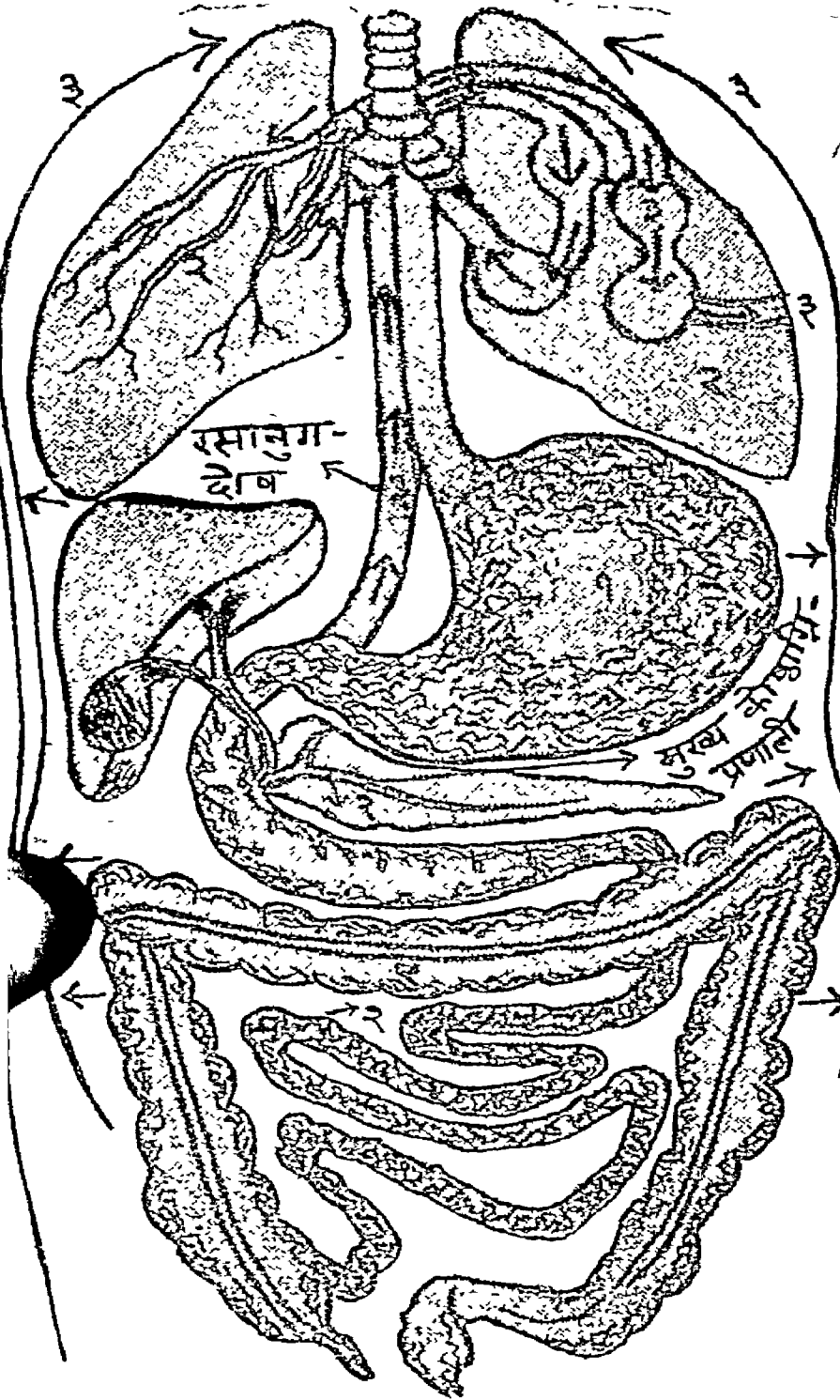
सव्यथा शोथ वैवर्ण्य करोति सरुजं ज्वरम् ॥ यहां वायु के द्वारा रक्त का दूषित होना रोग, शोथ, लाली और ज्वर का उत्पन्न होना यह सब बिना जाठराग्नितक पहुंचे कैसे होगया ? इसका उत्तर है रक्तस्थ ऊष्मा। अपने स्वाभाविक कार्य से छुट्टी पाकर रसाग्नि को उत्तेजित करने में समर्थ हुई रसाग्नि वा रक्ताग्नि ने संपूर्ण शरीर में स्थित धात्वग्नियों को दूषित करके उनको भी कार्यमुक्त कर शरीर को उत्तप्त कर दिया। दूध का इञ्जैक्शन लगाने के बाद ज्वर क्यों आता है ? शरीर मांसधातु में एक अविशिष्ट प्रोभूजिन (nonspecific protein) को सहन नहीं कर सकता है इससे मांस में स्थित धात्वग्नि स्वकार्य छोड़ उत्तापन कार्यारम्भ कर देती है। दूध की प्रोटीन उसी में जब रसवाही स्रोतों द्वारा ग्रहण की जाती है तो सारा शरीर उत्तप्त होजाता है। नमक का पानी जब हैजे में नस द्वारा चढ़ाया जाता है तब रोगी का ताप क्यों बढ़ जाता है ? इसलिए कि इस पानी को जो बाहर से आया है रसधातु ग्रहण करते हुए भी पूर्णतः अपने अनुकूल नहीं मानती और मलभूत दोषरूप वह धात्वग्नि के उत्ताप का कारण बनता है। अस्तु कोष्ठाग्नि से धात्वग्नि का ही ग्रहण करना चाहिए। रसाख्यं धातुमन्वेत्य अर्थात् रसनामानमाद्यं धातुमनुगम्य मलाः पक्तिं रसाग्निं स्थानात् स्वस्थानात् निरस्य उत्क्षिप्य तेनोष्मणा देहोष्मां शरीरस्थधात्वग्नीनां वर्द्धयन्ति ज्वरं च उत्पादयन्ति। मूल कारण

कोष्ठाग्निमित धात्वाद्यग्नि निरासार्थमिति कहकर कोष्ठाग्नि से धात्वाद्यग्नि को लेने के लिए कहता है अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति इससे भी रस का दूषित होकर रसस्थधात्वग्नि का उत्तेजित होकर सर्व शरीर को उत्तप्त कर देना ही ज्वर है ऐसा बतलाया गया है। ज्वर होने में मलरूप दोषोत्पादन में जाठराग्नि की आदि विकृति मानी जा सकती है पर आगन्तु ज्वरों में तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्।

यहां मलीभूत दोष हैं ये दोष रसाग्नि को उत्तेजित कर सम्पूर्ण शरीरस्थ अग्नियों को भड़काकर ज्वरोत्पादन करते हैं। जाठराग्नि बेचारी तो यहां तक दुर्बल होजाती है कि उसके कारण कुछ भी पचता नहीं। लंघन काल में एक टुकड़ा रोटी का मौत क्यों लाता है। इसलिए कि रोगी की जाठराग्नि शान्त पड़ी है। शरीर एक घनघोर अवस्था में पड़ा है उसकी धात्वग्नियां अपने वैरी से

लड़ रही हैं वे शारीरिक व्यापार को तिलाञ्जलि दिये बैठी हैं। वह टुकड़ा एक बाह्यवस्तु होने से दोषों का प्रकोप और बढ़ा देता है पहला प्रकोप शान्त हुआ नहीं स्रोतस् अवरुद्ध पड़े हैं परिणामतः ज्वर बढ़ता है दोषों का दूषण बढ़ता है और दारुण्य का प्रादुर्भाव होकर व्यक्ति चल बसता है। यह भी कहा जासकता है कि आमाशय में टुकड़े के जाते ही जाठराग्नि प्रबल होगई और उसने शरीर में ज्वर की वृद्धि करदी पर जो अवस्था चल रही है उसमें आमाशय की रस-धातु में रुकी हुई रसाग्नि भी तो है उसका प्रकोप भी तो होसकता है जो अधिक उपयुक्त है। जब रसादि धातुओं से दूषित मल हट जाते हैं तो रक्ताग्नि से आप्यायित क्षेत्र स्वाभाविक पाचकाग्नि की उत्पत्ति करते हैं भूख आती है और रोगी स्वस्थ होजाता है।

ज्वर में स्वेद का अभाव

स्रोतसां संनिरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति।
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे ॥१२७॥

स्रोतों के रुक जाने से यथा अग्नि के अपने स्थान से च्युत होजाने से प्रायशः तरुणज्वर में स्वेद नहीं आता।

वक्तव्य—(८२) स्वेदवाहीस्रोतस् स्वयं दूषित दोषों से अवरुद्ध हैं। धात्वग्नियां अपने स्वाभाविक व्यापार के करने में असमर्थ हैं इस कारण नवीन ज्वर में पसीना आता नहीं। यदि पसीना ले आया जायगा तो स्रोतोरोध दूर हो जायगा दोषों की मलिनता पसीने से निकल जायगी और ज्वर नष्ट हो जायगा इसी आधार पर स्वेदल द्रव्यों को देने का विधान है। वमन विरेचनादि पञ्चकर्म स्नेहन स्वेदन सब स्रोतोरोध नाश कर व्याधि नष्ट करने के लिए इसी सिद्धान्त पर प्रयुक्त होते हैं। प्रायशः शब्द इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि कहीं कहीं जैसे पित्तानुबन्धीज्वर में प्रस्वेदागम होता है।

आमज्वर

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च।
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥१२८॥
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्।
लालाप्रसेको हृल्लासः क्षुन्नाशो विरसं मुखम् ॥१२९॥
स्तब्धसुप्तगुरुत्वञ्च गात्राणां बहुमूत्रता।
न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्यलक्षणम् ॥१३०॥

अरुचि और अविपाक और पेट का भारीपन और हृदय की अविशुद्धि तथा तन्द्रा और आलस्य भी। अविसर्गी बलवान् ज्वर (मल रूप) दोषों का अप्रवर्तन, लालास्रावाधिक्य, जी मिचलाना, क्षुधानाश मुख की विरसता, गात्रों का स्तब्ध-सुप्त तथा भारीपन, और बहुत मूत्र का आना, मल का जीर्ण न होना, और ग्लानि (क्षीणमांसता) आमज्वर का (यह) लक्षण (है)।

वक्तव्य—(८३) व्याधियों की आयुर्वेदीय कल्पना है किसी भी प्रकार दोषों का दूषित होकर मलरूप बनना। मलों का शरीर में स्थित स्रोतसों में बिगाड़ करना। यही बिगाड़ रोग विशेष कहलाता है। दोषों के कोपक कारण इकट्ठे होने से मलरूप हुए वातपित्तकफ अलग-अलग तीनों या दोनों मिलाकर रसधातु में अनुगमन करके उसकी अग्नि को निकाल स्वाभाविक क्रियाओं को रोककर ज्वरोत्पत्ति करते हैं। ज्वर या रोग जब तक मलरूप दोषों के कारण रहकर शरीर पर शासन करता है तब तक दोषों की या कहिए रोगों की आमावस्था रहती है इस आमावस्था में जो-जो चिन्ह देखे जाते हैं उनका यहां एकत्रीकरण किया गया है। आमावस्था में ज्वर है यह समझ लेना परमावश्यक है। जो वैद्य आयुर्वेदीय पद्धति से चिकित्सा कैसे की जाती है इसे जानने के लिए आतुर है उसे दोषों की आम, पच्यमान और परिपक्वावस्था को समझ लेना चाहिए। जीवन भर जिसने कोई ऐलोपैथिक या होम्योपैथिक औषधि न दी हो पर जो दोषों की इन तीन अवस्थाओं में भेद करने में असमर्थ है वह आयुर्वेदीय चिकित्सक नहीं है ऐसा मानना ही चाहिए। अरुचि अविपाक गौरव, हृदयाविशुद्धि, तन्द्रा आलस्य, ज्वर की अविसर्गता, ज्वर का बलवान् होना, दोषों की अप्रवृत्ति, लालाप्रसेक, हृल्लास, क्षुधानाश, मुखवैरस्य, स्तब्धगात्रता, सुप्तगात्रता, गुरुगात्रता, मूत्र बहुलता, विड-जीर्णाभाव, ग्लानि की कमी ये लक्षण सबके सब आम ज्वर में एक ही साथ देखने में नहीं आते। कुछ कभी और कभी

तथा दोषों के भेद से थोड़ा बहुत भेद भी मिलता है। पर सर्वसाधारण नियम यह है कि ज्वर जब तक लगातार चले, शरीर और मन भारी हों दोषों की प्रवृत्ति का कोई लक्षण न दिखाई दे, भूख बिल्कुल न हो आलस्य बहुत हो तो ज्वर अभी आमावस्था में है दोष पचे नहीं हैं ऐसा मान लेना चाहिए। आम, निराम, पच्यमान, पक्व शब्दों का प्रयोग दोषों की तत्तदवस्था का वाचक है न कि रोग की। आम ज्वर अर्थात् वह ज्वर जिसमें दोष आमरूप में स्थित हैं तथा शरीर का स्वाभाविक प्रतीकार ज्वर को छोड़ अभी आरम्भ नहीं हुआ। दूषक जीवाणु या पदार्थ का शरीर में प्रवेश होना ज्वर का उत्पन्न होना सकल स्वाभाविक क्रियाओं के करने में मन का न लगना शरीर का साथ न देना और पचन संस्थान द्वारा हड़ताल कर देना यह आमव्याधि के सर्व-सामान्य लक्षण हैं।

पच्यमानज्वर

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
[illegible]प्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥१३१॥

[illegible] का अधिक वेग, अधिक प्यास, प्रलाप, [illegible]न (श्वास क्रिया की द्रुतता), भ्रम, मलप्रवृत्ति, उत्क्लेश (जी मचलाना यह) पच्यमान (ज्वर) का लक्षण (है)।

वक्तव्य—(८४) दोषों की आमस्थिति के साथ जब शरीर की स्वाभाविक प्रतीकारिता अथवा संघर्ष शक्ति का युद्ध होने के काल में जो शरीर की दशा रहती है उसका वर्णन रोग की पच्यमानावस्था है। द्वन्द्व होने में तेजी बढ़ती ही है ज्वरकारी शक्तियां शरीर पर अपना शासन (होल्ड) करने के लिए यत्नशील होती हैं शरीर की रक्षक शक्तियां अपने सब आयुधों के साथ जिसमें ज्वर भी है अपनी जीवन रक्षा के लिए कट-कट कर लड़ती हैं। निदान् ज्वर बढ़ जाता है। धात्वग्नियां उत्तेजित हुई हुई हर क्षण पानी मांगती हैं। मस्तिष्क जो इन सब व्यापारों का कार्यालय है शत्रुओं से युद्ध करने में इतना दत्तचित्त होजाता है कि कुछ उसके नीचे के भाग अनियन्त्रित होजाते हैं और विद्रोह कर बैठते हैं। प्रलाप उसी विद्रोह का मूर्तरूप है। प्रलाप में रोगी के मस्तिष्क के कुछ केन्द्र अव्यवस्थित होने के कारण या उन पर अधिक और अपूर्व बोझ पड़ने के कारण डकराने लगते हैं और व्यक्ति कुछ भी बोलने लगता है कुछ भी देखने लगता है सुनने की शक्ति में कमी आजाती है। श्वसनकेन्द्र उत्तप्त होकर जल्दी-जल्दी चल पड़ता है अधिक कष्ट के कारण दिमाग चकराता रहता है पोषकतत्त्वों की कमी उत्क्लेशोत्पादनकारिणी होती ही है अतः उत्क्लेश होता है। मल की भी प्रवृत्ति होने लगती है। यह पच्यमानावस्था जीवन संघर्ष का मूर्त रूप है। इसी के आगे मलपाक से जीवन रक्षा और धातुपाक से रोगकारी हेतुओं की रक्षा (अपनी मृत्यु) होती है। अब वे चिकित्सक विचार करें जो जीवन संघर्ष में रमे हुए शरीर के विविध लक्षणों को रोकने में लगे रहते हैं वे इस प्रकार मूलव्याधि को रोकने में लगते हैं या शरीर द्वारा किये गये रोगनाशक प्रयत्नों में भी बाधक बनते हैं।

निरामज्वर

क्षुत्क्षामता लघुत्वञ्च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥१३२॥

भूख लगना, गात्रों की क्षामता (दुर्बलता) तथा लघुता, ज्वर की मृदुता, दोषों की प्रवृत्ति (तथा) आठवां दिन (यह) निरामज्वर (का) लक्षण (है)।

वक्तव्य—(८५) शरीर रक्षकों द्वारा प्रायः आठवें दिन तक आमरूप दोषों को निराम कर दिया जाता है। जब दोष निराम होजाते हैं, तो भूख लगने लगती है। शरीरक्षमता शक्ति बढ़ जाती है, देह हल्की होजाती है, ज्वर की उग्रता घट जाती है तथा वात, पित्त, कफ, मल, मूत्र, प्रस्वेद आदि की प्रवृत्ति होने लगती है। जब तक दोषों की निरामता नहीं आती तब तक जो ज्वर रहता है वह तरुण ज्वर कहलाता है। 'अष्टाह' शब्द उपलक्षण मात्र है। कुछ ज्वर ७ कुछ १० और कुछ १२ दिन में शान्त होना जब लिखा है तब ८ वें ११ वें और १३ वें दिन उसमें निरामता आवेगी साथ ही ७ दिन में ज्वर की मुक्ति जहां बताई है वहां तो छठे दिन भी निराम होकर सातवें दिन ज्वर से मुक्ति होगी। पर यदि हम अष्टाह को मानें भी तो यह समझना चाहिए

कि वातज्वर सबसे शीघ्र निराम होता है उसकी मर्यादा ७ दिन की होने से अतः आठवां दिन निरामता की दृष्टि से सबसे पहली मर्यादा है। कोई भी ज्वर ७ दिन के पूर्व निराम नहीं हो सकता. मलेरिया दूर करने के लिए डाक्टर कुनैन का प्रयोग करते हैं वे देखते हैं कि रोगी का ज्वर छूटकर नार्मल पर आगया पर रोगी को भूख बिल्कुल नहीं आई अरुचि, गौरव, आलस्य, सुप्ताङ्गता ज्यों की त्यों बनी है। इससे समझा जासकता है कि रोगी के रोग की निरामावस्था नहीं आई रोग का एक लक्षण शान्त अवश्य कर दिया गया है। निराम होने का अर्थ ज्वर की पूर्णतः उतर जाना नहीं है। निराम होने पर ज्वर चला जायगा यह तो निश्चित हो जाता है पर ज्वर रह सकता है और पूर्णतः नष्ट होने में कुछ समय और लेसकता है। यह न भूलना चाहिए। दोषों की मलरूपता का ह्रास होरहा है, शरीर की विजयवाहिनी प्रतीकारिता शक्ति प्रबल हो उठी है और रोगी के जीवन की आशा बलवती होगई है यही निरामता का अर्थ है।

नवज्वर में निषिद्ध

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायांश्च विवर्जयेत् ॥१३३॥

नये ज्वर में (तरुण ज्वर में जब तक दोष निराम न हो जावें तब तक) दिन में सोना, नहाना, तैल मालिश, अन्नसेवन, मैथुन, क्रोध करना, हवा का झोंका (exposure), व्यायामों तथा कषाय (रस प्रधान) द्रव्यों को छोड़ दे।

ज्वर में लंघन

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोक श्रमोद्भवात् ॥१३४॥

(धातु) क्षयजनित, वातिक, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज (तथा) श्रमज ज्वरों को छोड़कर (शेष किसी भी) ज्वरावस्था में आरम्भ लंघन ही कहा गया है।

वक्तव्य—(८६) लङ्घन का अर्थ भोजन छोड़ना ही नहीं है अपितु इसमें चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ, पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ की दृष्टि से लङ्घन लेना चाहिए। पर जो वैद्य वातज, मानसिक आदि ज्वरों को छोड़ शेष में रोगी का अन्नपानादिक बन्द करा देते हैं वे बड़े सुभीते से अपने रोगी को ज्वर से मुक्त कर लेते हैं। वैद्यनामधारी कितनेक व्यक्ति जो बिना सोचे लंघन कराते हैं उनके कितने ही रुग्ण वातिक लक्षणों अथवा सन्निपातावस्था से उत्पीडित देखे जाते हैं। शहरों में डाक्टरीयता का प्राबल्य है रोगी को पूर्ण लंघन कराना अर्थात् अपनी चिकित्सा से रोगी को हटाना है ऐसा माना जाता है अतः स्थिति का विचार कर सूत्रस्थान में वर्णित लंघनबृंहणीयाध्याय के अनुसार चलना चाहिए।

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले।
विज्वरत्वं लघुत्वञ्च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥१३५॥

लंघन के द्वारा दोषों का क्षय होजाने पर (तथा) जाठराग्नि के प्रज्वलित होजाने पर इस रोगी को विज्वरता, लघुता और क्षुधा उत्पन्न होजाती है।

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥१३६॥

प्राणाविरोधी (जो प्राण या बल का क्षय न करे ऐसे) लंघन के द्वारा इस रोगी की चिकित्सा करे क्योंकि जिसके लिये यह चिकित्साक्रम (कहा गया है वह) आरोग्य बल के अधीन है। (कहने का तात्पर्य यह है कि उतना लंघन कराना चाहिए जितने में रोगी के प्राणसाधक बल का नाश न हो यदि प्राणों पर आ बनी तो सब व्यर्थ हो जायगा)।

तरुणज्वर में करणीय

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥१३७॥

तरुण ज्वर में (जब तक दोषों की आमावस्था बनी हुई हो) लंघन, स्वेदन, काल (जब तक दोष निराम हों उतने समय की प्रतीक्षा), यवागू, तिक्तरस, (ये सब) अपक्व दोषों के पाचन करने वाले हैं। (अर्थात् लंघनादिक पांचों ज्वरपाचन संज्ञावाले होते

हैं अतः जहां पाचन देने का विधान हो वहां इन्हीं का उपयोग करना होता है)।

ज्वर में जल का विधान

तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे।
मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः श्रृतम् ॥१३८॥
दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥१३९॥

वातज्वर, कफज्वर, वातकफज्वर इनमें प्यास से पीड़ित (रोगी) को गरम जल देना चाहिए। मद्य से उत्पन्न (ज्वर), तथा पैत्तिक (ज्वर) में तिक्त द्रव्यों के साथ गरम करके ठण्डा किया हुआ जल देना चाहिए।

क्योंकि वे दोनों (शीतल और उष्ण जल) दीपन, -न, ज्वरघ्न, स्रोतोविशोधक, बल्य, रुचिदायक, ताने वाले और कल्याणकारी (होते हैं)।

षडङ्गपानीय

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।
श्रृतशीतं जलं दद्यात् पिपासा ज्वरशान्तये ॥१४०॥

मोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, सुगन्धवाला, (और) सोंठ (सब मिलाकर १ कर्ष) से जल (१ प्रस्थ द्रवद्वैगुण्य से २ प्रस्थ) उबालकर (आधा रहने पर) शीतल किए उसको प्यास (तथा) ज्वर की शान्ति के लिए देना चाहिए।

ज्वर में वमन

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत् ॥१४१॥
अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद् भृशम् ॥१४२॥

आमाशयस्थ बहिर्गमनोन्मुखउत्क्लेशकारी, कफ प्रधान ज्वरकारी दोषों का ज्ञान करके वम्य (वमन कराने योग्य पुरुषों के उन दोषों को) योग्य समय में वमनों के द्वारा निर्हरण करे।

तरुणज्वर में अनुत्क्लिष्ट हैं दोष जिनके ऐसे व्यक्तियों का वमन (कराना) हृद्रोग, श्वास, आनाह और अत्यन्त घबराहट उत्पन्न कर देता है।

सर्व्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः।
दोषाः फलेभ्यः आमेभ्यः स्वरसा इव सात्ययाः ॥१४३॥

सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए, आमसहित, धातुओं में स्थित, सुखपूर्वक जिनका निर्हरण कठिन है ऐसे दोष कच्चे फलों के स्वरसों के समान मृत्युदायक (होते हैं)। (अर्थात् जिस प्रकार कच्चे फल का स्वरस निकालने से वह फल निरर्थक होजाता है उसी प्रकार कच्चे दोषों के निर्हरण का यत्न प्राणघातक सिद्ध हो सकता है। अतः निराम दोष का निर्हरण अर्थात् परिपक्व फल के रस का चूषण करना चाहिए इससे रोगी स्वस्थ और फल की गुठली से आगे पेड़ बनने की आशा से फल की भी मृत्यु नहीं होती)।

ज्वर में यवागू प्रयोग

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत्।
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्व्वाभिरादितः ॥१४४॥
यावज्ज्वरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥१४५॥
ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्नि दीपनाः।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः ॥१४६॥
स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट् प्रशान्तये।
आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥१४७॥
ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात् तस्मात् पेयाभिरादितः।
ज्वरानुपचरेद्धीमानृते मद्यसमुत्थितात् ॥१४८॥
मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥१४९॥

वमन किये हुए, लंघन किये हुए, (अथवा वमन लंघन दोनों किये हुये व्यक्ति) को अन्नदानकाल में चतुरपुरुष ज्वर मृदु होवे तब तक अथवा छै दिन बीत जाने तक तत्तत् अवस्था के अनुरूप ओषधियों

से सिद्ध यवागुओं में प्रथम मण्ड से आरम्भ करके उपचर्या करनी चाहिए। उन यवागुओं से उस (रोगी) की जाठराग्नि समिधा से अग्नि (जैसे प्रदीप्त होती है उस) के समान प्रदीप्त होती है।

तथा वे यवागुएँ लघु तथा औषधिसंयोग के कारण अग्निसंदीपन (होती हैं) वातमूत्रपुरीष तथा दोषों का अनुलोमन (करने वाली होती हैं) द्रवोष्ण होने से स्वेदन के लिए; द्रवता से तृषाप्रशमन के लिए; आहाररूप होने से प्राणों के लिए, सरत्व से युक्त होने से लाघव (हलका करने) के लिए, तथा ज्वर में सात्म्य होने से ज्वरनाशक होती (हैं)। अतः बुद्धिमन् वैद्य मद्यजनित ज्वर को छोड़कर (शेष) ज्वरों को आदि से पेयाओं से उपचार करे।

मदात्यय में, नित्य मद्य सेवन करने वालों में, ग्रीष्मकाल में पित्त की अधिकता, कफ की अधिकता (अथवा पित्त और कफ दोनों की अधिकता) में तथा ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में ज्वर होने पर यवागू हित-कारक नहीं है।

तर्पणविधान

तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं लाजसक्तुभिः।
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ॥१५०॥
ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम्।
तनुना मुद्ग यूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥१५१॥

(जहां यवागुओं का निषेध कर दिया गया है) वहां पहले ज्वरनाशक फलों★ के स्वरसों से युक्त शहद शक्कर के साथ लाजासत्तुओं के द्वारा (बनाये गये) तर्पण को प्रयोग करना चाहिए। उसके पश्चात् सात्म्य और बल का विचार करने वाला वैद्य तर्पण पच जाने पर (यह देखकर कि अब रोगी को तर्पण पचने लग गया है तथा अन्य सात्म्य पदार्थों को पचाने का बल उसमें आ गया है) पतली मूंग की दाल के यूप से अथवा जांगल (पशुपक्षियों के मांस) के रस से भोजन करावे।

दन्तधावनविधान

अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम्।
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्विपरीतं प्रियं च यत् ॥१५२॥
तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः।
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत् ॥१५३॥
विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत्।
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात् ॥१५४॥

भोजन के कालों में, जो इस (रोगी) के मुख का रस हो उससे विपरीत (रस वाली) तथा जो इसको प्रिय (हो) वह दांतौन इसके लिए करवानी चाहिए। जो दांतौन भिन्न-भिन्न रसों का ज्ञान कराती है वह इस (रोगी) के मुख की शुद्धि और खानपान में रुचि (उत्पन्न) कर देती है।

वृक्षशाखाग्र (दतुअन या दांतौन) के द्वारा मुख को शुद्ध करके तथा बार-बार दही के तोड़, गन्ने के रस, मद्य आदि से (मुख को) प्रक्षालित करके जैसा आवश्यक वैसा आहार प्राप्त करे।

कषायविधान

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद्भिषक्।
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्न प्रतिभोजितम् ॥१५५॥

वैद्य (यावज्ज्वर मृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः के भावार्थ का ध्यान रखते हुये) छै दिन व्यतीत हो जाने पर (सिद्धौषधयवागूमण्ड पेयादि अथवा तर्पणादि) लघु भोजन किये हुए ज्वरित व्यक्ति को (अगले दिन) पाचन कषाय (दोषों का पचाने वाला काढ़ा) अथवा शमनीय कषाय (दोषों को शमन करने वाला काढ़ा) पिलावे।

कषायों में कषायरस निषेध

स्तम्यन्ते न विपच्यन्त कुर्वन्ति विषमज्वरम्।

★ द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः।
तर्पणार्हेषु कर्त्तव्यं तर्पणं ज्वरशान्तये ॥

दोषाबद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे ॥१५६॥
न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ।
यः कषायकषायःस्यात् सवर्ज्यस्तरुण ज्वरे ॥१५७॥

तरुणज्वर में बढे हुए दोष कषाय के द्वारा स्तम्भन करने के कारण स्तब्ध हो जाते हैं (वे) पचते नहीं हैं तथा विषमज्वर कर देते हैं। कल्पना के उद्देश्य से (जो) कषाय (क्वाथ या काढ़ा कहा जाता है उसका यहां) प्रतिषेध नहीं किया जाता है (परन्तु) जो कषायरस प्रधान कषाय होता है वह तरुणज्वर में वर्जनीय (है)।

ज्वर में यूष-विधान

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ।
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥१५८॥

ज्वर की शान्ति के लिए दस दिन तक हितकारक (दाडिम आमलकादि से) खट्टे किये गये अथवा (बिना) खट्टे (मूंग मसूर चना कुलथी की दालों के) यूषों अथवा (शश्कर, ऐण लावा आदि) जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस रस के द्वारा (पुराने शालि-षष्ठिक आदि का) हलका अन्न खाना चाहिए।

ज्वर में घृत-विधान

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥१५९॥

इसके बाद (१० दिन बाद) दोषों के परिपक्व होजाने पर मन्दकफ वातपित्तोत्तरावस्थायुक्त ज्वर में (यह अवस्था दस दिन बाद बहुधा सभी ज्वरों में पाई जाती है —चक्रपाणि) घृतपान अमृत के समान है।

वक्तव्य—(८७) केवल कफ की मन्दावस्था में तथा जब वात या पित्त अथवा दोनों ही खूब बलवान् होगये हैं। और उनके कारण शरीर का ज्वर अभी शान्त न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में रूक्षता के विनाश के लिए तथा ज्वर शान्ति के लिए घृतपान एक परम आवश्यक विधान है। लिखा भी है—

ज्वराः कषायैर्वमनैः लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।
रूक्षस्य येन शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥

अस्तु, कषाय, वमन, लङ्घन, लघुभोजन सब देने पर भी जो रूक्ष ज्वर शान्त नहीं होता उसको वैद्य घी के द्वारा जीतता है। यहां घृतपान का विधान है घी का अनुवासन और अभ्यङ्ग करने का निषेध है। घृतपान दोषों के निराम होने पर ही करना चाहिए।

ज्वर में मांसरस-प्रयोग

निर्दशाहमपिज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत् ॥१६०॥
यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ।
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत् ॥१६१॥

वैद्य दस दिन बीते भी जानकर (तथा रोगी को) कफ प्रधान (और) अलंघित (जानकर पहले कहे हुए) घी को न पिलावे। उसका कफ के लघु होने तक (शोधनीय वा शमनीय) कषायों के द्वारा उपचार करे। तथा मांसरस के साथ भोजन देवे। क्योंकि बल दोषों के निग्रह के लिये पर्याप्त है और वह (मांसरसयुक्त भोजन) बलकारक है।

ज्वर में दुग्ध-प्रयोग

दाह तृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्ध प्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥१६२॥

दाह और तृषा से पीड़ित रोगी के वातिक पैत्तिक अथवा वातपैत्तिकज्वर को अथवा बँधे होने पर भी अपने स्थान से चलित दोष को (और) निराम (ज्वर) को दूध से जीते।

वक्तव्य—(८८) दूध कहां देना है यह उपरोक्त श्लोक में बतलाया गया है। आज प्रत्येक ज्वर में चाहे वह दोषी हो या आगन्तु, सन्तत हो या सतत दूध पिलाने की प्रथा चल पड़ी है। उसका परिणाम, जो वैद्य हैं वे आये दिन देखते रहते हैं। दोषों की निरामता के पूर्व दुग्धप्रयोग दोषों को पर्याप्त काल तक साम रखता है। जो ज्वर ७ दिन के लंघन से जाना चाहिए वह निरन्तर दुग्धप्रयोग के

कारण २७ दिन तक बना रहता है ऐसा अनेक बार देखा है। जो दाह और प्यास से पीड़ित रोगी हो, जिसका ज्वर श्लेष्मानुबन्धी न होकर पित्त या वातानुबन्धी हो ऐसे स्थलों पर चाहे दोषबद्ध हों प्रच्युत हों अथवा बद्धप्रच्युत हों वा निराम हो गये हों दुग्ध दिया जा सकता है। दोषों की बद्धता उनकी सामावस्था का द्योतक है दोषों का प्रच्यवन सामता से निरामता की ओर गमन का द्योतक है। जब दोष पूर्णतः बद्ध हों तब दूध का प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है पर जब वे थोड़ा भी प्रच्युत होने लगें या निराम होगये हों तो दूध का प्रयोग किया जा सकता है। पहले लंघन, फिर यूषादि तब फिर घृतपान अथवा मांसरस का पान और सबके पश्चात् दुग्ध प्रयोग करें।

शिशु या बालक जो दूध पर ही जीवित रहता है उसके लिए उपरोक्त नियम नहीं है। यतः वह दूध ही खाता और पीता है उसके दोषों की साम और निराम अवस्थाओं का विना कोई ध्यान दिये दुग्धपान कराना चाहिए। दूध के तत्व मिलकर स्थायी स्वरूप के दोष और धातुओं का निर्माण करते हैं जिनके वे स्थायी हो चुके हैं उनके लिए यह विधान है। पर जिनके स्थिर होना शेष हैं और दुग्ध ही एकमात्र अवलम्ब है उनके लिए दूध का उपयोग कदापि न रोकना चाहिए।

ज्वर में विरेचन

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरम्।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥१६२॥

जब इन क्रियाओं से ज्वर का प्रशमन न प्राप्त हो (तथा) बल, मांस और अग्नि अक्षीण (अदुर्बल जिसके हों) उसके (ज्वर को) विरेचन द्वारा शमन करे।

ज्वर में निरूहबस्ति

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥१६३॥

ज्वर से क्षीण का हित न वमन (है) न विरेचन (है)। (यदि) इष्ट हो तो दूध के द्वारा अथवा निरूहण के द्वारा उसके मलों को (दोषों को) दूर करे।

वक्तव्य - (८६) ऊपर १६२ वें श्लोक में अक्षीण मांसाग्नि ज्वररोगी की चिकित्सा में विरेचन का समावेश कर दिया गया है। १६३ वां सूत्र उसका थोड़ा सा निषेध करता हुआ क्या करणीय है उसकी ओर इङ्गित करता है। ज्वर ने जिसे क्षीण कर दिया है—बलक्षीण से अभिप्राय है तो वमन और विरेचन दोनों ही अहितकारक हैं। वहां दो उपाय बतलाये हैं एक दुग्धपान और दूसरा निरूहण। दुग्धपान जिन अवस्थाओं में हितकर नहीं होता उनमें निरूहण और जहां निरूहण अनुपयुक्त हो वहां दुग्धपान का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों ही बद्धप्रच्युत वा निराम दोष होने पर प्रयोक्तव्य हैं।

निरूहो बलमग्निञ्च विज्वरत्वं मुदं रुचिम्।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ॥१६४॥

दोषों के पक जाने पर प्रयुक्त हुई निरूहबस्ति बल, अग्नि, विज्वरत्व, मोद, और रुचि को शीघ्र ले आती है।

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्।
स्रंसनं त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान् ॥१६५॥

पित्ताशयगत पित्त अथवा कफपित्त को स्रंसन दूर करे। (तथा) पक्वाशय में स्थित तीनों दोषों को बस्ति दूर करे। (कहने का तात्पर्य यह है कि जब दोष पित्ताशय में स्थित हों और वे कफ या पित्त में से कोई हों या दोनों हों तो उनके दूर करने का उपाय है विरेचन कर्म तथा जब तीनों दोषों में से कोई एक, दो या तीन पक्वाशय में स्थित हों तो बस्तिकर्म करना श्रेयस्कर है।

ज्वर में अनुवासन

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥१६६॥

पुराने ज्वर में, कफपित्त के क्षीण होने पर प्रदीप्त अग्नि वाले रूक्ष और ग्रथित मलवाले (रोगी) के लिये अनुवासन देना चाहिए।

दोषाबद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे ॥१५६॥
न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ।
यः कषायकषायःस्यात् सवर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥१५७॥

तरुणज्वर में बढे हुए दोष कषाय के द्वारा स्तम्भन करने के कारण स्तब्ध हो जाते हैं (वे) पचते नहीं हैं तथा विषमज्वर कर देते हैं। कल्पना के उद्देश्य से (जो) कषाय (क्वाथ या काढ़ा कहा जाता है उसका यहां) प्रतिषेध नहीं किया जाता है (परन्तु) जो कषायरस प्रधान कषाय होता है वह तरुणज्वर में वर्जनीय (है)।

ज्वर में यूष-विधान

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ।
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥१५८॥

ज्वर की शान्ति के लिए दस दिन तक हितकारक (दाडिम आमलकादि से) खट्टे किये गये अथवा अखट्टे (मूंग मसूर चना कुलथी की दालों के) यूषों अथवा (शम्बर, ऐण लावा आदि) जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस रस के द्वारा (पुराने शालि-षष्टिक आदि का) हलका अन्न खाना चाहिए।

ज्वर में घृत-विधान

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥१५९॥

इसके बाद (१० दिन बाद) दोषों के परिपक्व होजाने पर मन्दकफ वातपित्तोत्तरावस्थायुक्त ज्वर में (यह अवस्था दस दिन बाद बहुधा सभी ज्वरों में पाई जाती है —चक्रपाणि) घृतपान अमृत के समान है।

वक्तव्य—(८७) केवल कफ की मन्दावस्था में तथा जब वात या पित्त अथवा दोनों ही खूब बलवान् होगये हैं। और उनके कारण शरीर का ज्वर अभी शान्त न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में रूक्षता के विनाश के लिए तथा ज्वर शान्ति के लिए घृतपान एक परम आवश्यक विधान है। लिखा भी है—

ज्वराः कषायैर्वमनैः लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।
रूक्षस्य येन शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥

अस्तु, कषाय, वमन, लङ्घन, लघुभोजन सब देने पर भी जो रूक्ष ज्वर शान्त नहीं होता उसको वैद्य घी के द्वारा जीतता है। यहां घृतपान का विधान है घी का अनुवासन और अभ्यङ्ग करने का निषेध है। घृतपान दोषों के निराम होने पर ही करना चाहिए।

ज्वर में मांसरस-प्रयोग

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत् ॥१६०॥
यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ।
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत् ॥१६१॥

वैद्य दस दिन बीते भी जानकर (तथा रोगी को) कफ प्रधान (और) अलंघित (जानकर पहले कहे हुए) घी को न पिलावे। उसका कफ के लघु होने तक (शोधनीय वा शमनीय) कषायों के द्वारा उपचार करे। तथा मांसरस के साथ भोजन देवे। क्योंकि बल दोषों के निग्रह के लिये पर्याप्त है और वह (मांसरसयुक्त भोजन) बलकारक है।

ज्वर में दुग्ध-प्रयोग

दाह तृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्ध प्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥१६२॥

दाह और तृषा से पीड़ित रोगी के वातिक पैत्तिक अथवा वातपैत्तिकज्वर को अथवा बँधे होने पर भी अपने स्थान से चलित दोष को (और) निराम (ज्वर) को दूध से जीते।

वक्तव्य—(८८) दूध कहां देना है यह उपरोक्त श्लोक में बतलाया गया है। आज प्रत्येक ज्वर में चाहे वह दोषी हो या आगन्तु, सन्तत हो या सतत दूध पिलाने की प्रथा चल पड़ी है। उसका परिणाम, जो वैद्य हैं वे आये दिन देखते रहते हैं। दोषों की निरामता के पूर्व दुग्धप्रयोग दोषों को पर्याप्त काल तक साम रखता है। जो ज्वर ७ दिन के लंघन से जाना चाहिए वह निरन्तर दुग्धप्रयोग के

वक्तव्य—(६०) १६४, १६५ तथा १६६ वें श्लोकों में ज्वर में कब बस्ति देना चाहिए इसका विचार किया गया है। निरूहबस्ति जिसमें दोष दूष्य के विचार से नाना द्रव्यों के संयोग से तरल बनाकर उसका एनीमा चढ़ाया जाता है। यह बस्ति दोषों के परिपक्व होने पर ही प्रयोग करनी चाहिए। दूसरी अनुवासनबस्ति पुराने ज्वर में कफ और पित्त जहां बिल्कुल नष्ट होगये हों पर अग्नि जहां पर दृढ़ हो और मल जहां रूखा और गांठोंदार हो गया हो वहां प्रयोक्तव्य है। बस्तियां पक्वाशयस्थ दोषों का हरण करती हैं जो इस छोटे से तत्त्व को जान लेता है, वही वास्तव में चिकित्सा आयुर्वेदीय ढंग से क्या होती है इसे समझ सकता है।

जो लोग घनघोर ज्वर में जब दोष पक्वाशयगत ही हों वहां या जहां दोषों का आमरूप ही चल रहा हो वहां एनीमा देकर बहुत बड़ी हानि करते हैं। चरक की यह छोटी सी सीख तो बड़े से बड़े एम. डी. को भी मान लेनी चाहिए।

ज्वर में शिरोविरेचन

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च।
जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥१६७॥

जीर्ण ज्वर में (तेरह दिन से अधिक दिन का ज्वर होने पर) सिर के भारी होने पर, शिरःशूल में, इन्द्रियों के स्वविषय में प्रवृत्त होने में कमी आने पर (अर्थात् जब इन्द्रियां बंध सी जावें जैसा कि जुकाम में देखा जाता है) रुचिकर शिरोविरेचन को देना चाहिए।

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने।
विभज्य शीतोष्णतया कुर्य्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥१६८॥

जीर्णज्वर में वैद्य को शीत (और) उष्ण के अनुसार विभाग करके (ठण्डे या गरम) अभ्यङ्गों को और प्रलेपों को परिषेक तथा अवगाहन (के अवसर) पर करना चाहिए।

अर्थात् जब शीतपूर्वक आने वाला ज्वर जीर्ण स्वरूप को प्राप्त करले तब उष्ण अगर आदि द्रव्यों के द्वारा तथा जब ज्वर दाह के साथ आते हुए जीर्ण स्वरूप धारण करले तो चन्दनादिक शीतल द्रव्यों से मालिश या प्रलेप करके फिर परिषेक या स्नान रोगी को कराना चाहिए।

तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः।
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ॥१६९॥

उन (अभ्यङ्ग, प्रदेह, परिषेक, अवगाहन) के द्वारा, बहिर्मार्गगत ज्वर शीघ्र शान्ति प्राप्त करता है। अङ्गों को सुख प्राप्त करता है बल तथा वर्ण बढ़ता है।

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम्।
त्वङ्गात्रशेषा येषाञ्च भवत्यागन्तुरन्वयः ॥१७०॥

जिनका जीर्णज्वर त्वचामात्र में शेष (रह गया है) और आगन्तु जिनका कारण होता है (ऐसे ज्वर) धूपन तथा अञ्जन के योगों द्वारा शान्ति प्राप्त करते हैं।

इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः।
येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु ॥१७१॥

इस प्रकार ज्वरघ्न सिद्ध चिकित्साक्रम प्रकाशित किया गया है। (चिकित्सा में प्रयुक्त) जिनका यह क्रम (बतलाया गया है) उन द्रव्यों का (वर्णन) आगे सुनो।

यवागू योग

रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह।
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥१७२॥
लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम्।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः ॥१७३॥
अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम्।
सृष्टविट्पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत् ॥१७४॥

ज्वरवाले को यवागू, भात (तथा) लाजा के लिए ज्वरघ्न पुराने शालि आदि साठी के चावलों के साथ प्रशस्त होते हैं।

(जिसकी) अग्नि अल्प (हो ऐसा) क्षुधायुक्त ज्वर का रोगी पहले पिप्पली (तथा) सोंठ के साथ पकाई हुई सुखपूर्वक पचनेवाली लाजा की पेया पिये।

अम्लता चाहने वाला उस (लाजाओं की पेया) को ही अनार आदि अम्लपदार्थ तथा सोंठ के साथ (पिये)।

अथवा पतला दस्त करने वाला पैत्तिक प्रकृति का व्यक्ति (लाजा की) शीतल मधुयुक्त (पेया) को पिये।

पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्ववस्तिशिरोरुजि।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत् ॥१७५॥

पार्श्वशूल, वस्तिशूल (तथा) शिरःशूल में गोखुरू और कटेरी (की जड़) से सिद्ध की गई ज्वरनाशक लाल शालि चावलों की पेया को पिये।

ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत् साम्लां शृतां नरः।
शालपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पल धान्यकैः ॥१७६॥

ज्वरातिसार से पीडित व्यक्ति शालपर्णी (किसी-किसी के मत में पृश्निपर्णी), बला, बेल (की जड़), सोंठ, कमल (नीलोफर और) धनिए के साथ पकाई हुई खट्टी पेया को पिये।

शृतां विदारिगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः।
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत् ॥१७७॥

कास, श्वास तथा हिक्का से पीडित और ज्वरित (व्यक्ति) विदारिगन्धादिगण (विदारीगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्। विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रा पञ्चमं गणम्॥) से पाक की हुई दीपनी तथा स्वेदनी (पसीना लाने वाली) पेया को पिये।

विबद्धवर्च्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम्।
सर्पिष्मतीं पिबेत् पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम् ॥१७८॥

बद्धमल वाला (कब्ज-constipation से पीडित) ज्वरी दोषों का अनुलोमन करने वाली जौ के साथ पिप्पली तथा आमलों के द्वारा पकाई गई घृत युक्त पेया को पिये।

कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत् पेयां शृतां ज्वरी।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः ॥१७९॥

कोष्ठ में सशूल मलबद्ध (constipation with pain) होने पर ज्वरी मुनक्का, पिप्पलीमूल, चव्य, आमले और सोंठ के साथ पकी हुई पेया को पिये।

पिबेत् सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके।
बलावृक्षाम्लकोलाम्ल कलशी धावनी शृताम् ॥१८०॥

अथवा परिकर्तिका (intestinal colic कौलिक शूल) के साथ ज्वर होने पर बेल (की जड़) के साथ बला, तिन्तडीक, खट्टे बेर, पृश्निपर्णी (और) कटेरी (मूल) से पकाई पेया को पिये।

अस्वेदनिद्रास्तृष्णार्त्तः पिबेत् पेयां सशर्कराम्।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम् ॥१८१॥

(जिसे) न पसीना (और न) निद्रा (आती है और जो) प्यास से व्याकुल (है वह) घी में छौंक (भूनी) मिश्री सहित सोंठ (और) आमलों से सिद्ध की गई पेया को पिये।

वक्तव्य—(६१) ऊपर १० पेया लिखी गई हैं। यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः के अनुसार इन दसों पेयाओं में स्थिति के अनुसार विशेष ओषधियों से सिद्ध मण्डों या पेयाओं का विधान किया गया है कहना नहीं होगा कि पेया के बराबर हलका, सुपाच्य अन्य कोई भोजन का क्रम नहीं है। यह पेया कैसे बनानी चाहिए यह पाक-शास्त्र का विषय होते हुए भी वैद्य को नित्य पूछने का विषय होने के कारण समझ लेना चाहिए। यवागू की साधना में श्लोक है कि—

क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके।
पादशेषेण तेनास्य यवागूरुपकल्पयेत् ॥

एक अञ्जलि क्वाथ्य द्रव्य को एक आढक जल में पका कर चौथाई शेष रहने पर पिलाना यवागू की उपकल्पना कहलाता है। यह ऊपर क्वाथ्य साध्य यवागू बतलाई गई है। कल्क साध्य यवागू की उपकल्पना के लिये—

कर्षार्द्धं वा कणाशुण्ठ्योः कल्क द्रव्यस्य वा पलम्।
विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम्॥

तीक्ष्णवीर्य पदार्थ आधा कर्ष, मध्यमवीर्य पदार्थ एक कर्ष तथा मृदुवीर्य पदार्थ एक पल प्रमाण लेकर एक (या दो प्रस्थ द्रव द्वैगुण्य से) जल से पकाने का विधान है।

चक्रपाणि ने वृद्धव्यवहार पूजित एक और परिभाषा दी है कि—

यदप्सु श्रृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते।
कर्षमात्रं ततो दत्त्वा साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि॥
अर्द्धश्रृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादि संविधौ॥

षडङ्गादि जिन पदार्थों को जल में औटाकर शीतल करके प्रयोग किया जाता है वहां कर्षमात्र पदार्थों को १ प्रस्थ जल में औटाने पर आधी जल जाने पर पान या पेयादि में प्रयोग करना चाहिए।

पेया, यवागू आदि में लालशाली के पुराने चावल या साठी के चावलों का प्रयोग करना चाहिए। जहां इन्हें खट्टा करना हो वहां उतना खट्टा पदार्थ डालना चाहिए जितनी कि आवश्यकता हो।

पेया कहां कौन देनी है इसका विशेष ध्यान देना परमावश्यक है। ज्वरातिसारी, बद्धमली और परिकर्तिका से पीडित ज्वरवान् रोगी की अवस्थाओं के भेद से भिन्न भिन्न पेयाओं को देने का विधान है।

यूष में प्रयोक्तव्य अन्न

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्।
यूषार्थं यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्॥१८२॥

यूष जिनको सात्म्य है ऐसे ज्वरपीड़ित रोगियों को यूष के लिये मूंग, मसूर, चना, कुलथी, मोंठ के साथ देना चाहिए। (अर्थात् मूंग, मसूर, चना, कुलथी और मोंठ की दालें यूष में प्रयोग की जा सकती हैं।)

ज्वरित हितकारी मांस

लावान् कपिञ्जलानेणांश्च कोरानुपचक्रकान्।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषतः शशान्॥१८३॥
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्।
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः॥१८४॥

विचक्षण वैद्य योग्यकाल में (मांस लेने में जिन्हें विरोध न हो ऐसे) मांससात्म्य ज्वरितव्यक्ति के लिये ज्वरनाशक लावा, कपिञ्जल, एण, चकोर, उपचक्रक, कुरङ्ग, कालपुच्छ, हरिण, पृषत, खरगोश के थोड़ी खटाई अथवा बिना खटाई के बने मांसरसों को देवे।

कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरक्रौञ्चवर्त्तकान्।
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः॥१८५॥

ज्वर में कोई कोई वैद्य लोग कुक्कुट (मुर्गों, मयूरों, तीतरों, क्रौंचों, बतकों को (उनके मांस के) गुरु, (तथा) उष्ण होने से अच्छा नहीं समझते अर्थात् इन पक्षियों के मांसों को ज्वर में देते नहीं हैं।—परन्तु—

लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत्।
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित्॥१८६॥

यदि ज्वर में लंघनों के कारण वायुदोष का बल अधिक हो जावे (तो) मात्रा, विकल्प (और) काल का जानने वाला वैद्य उन (मुर्गा, मोर, तीतर, कौंच और बतख के मांसों) को भी देवे।

हितकर पेय

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्।
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम्॥१८७॥

प्यासे के पीने के लिए गरमजल अथवा मद्यसात्म्य वाले के लिए यथादोष तथा यथाबल मद्य देनी चाहिए।

नवज्वर में अपथ्य

गुरूष्णस्निग्धमधुरान् कषायांश्च नवज्वरे।
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत्।
अन्नपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः॥१८८॥

प्रायः नवज्वर में गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर,

कषाय आहारों को दोषपाक के लिए (ताकि प्रकुपित दोषों का ठीक ठीक पाक होकर वे अपने साम्य को प्राप्त करलें इसलिये) त्याग देना चाहिए।

(यह उपरोक्त) ज्वरघ्न (और) सिद्ध अन्नपान का क्रम प्रकाशित किया गया है।

ज्वरनाशक कषाय

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः।
पाचयं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत्।
सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभाम् ॥१८६॥
किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम्।
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये ॥१६०॥

अब आगे ज्वर नाशक क्वाथ कहेंगे।

ज्वर की शान्ति के लिए (१) मोथा (और) पित्त-पापड़ा पिये, या (२) सोंठ के साथ पित्तपापड़ा अथवा (३) दुरालभा के साथ पित्तपापड़ा पिये; अथवा (४) चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ, (अथवा) (५) पाठा, खस, सुगन्धवाला पिये।

वक्तव्य—(६२) उपरोक्त सूत्रों में पाक्य और शीत-कषाय दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पाक्यम् पाकेन निष्पाद्यं क्वाथरूपम् पाक्य वह जो पकाकर काढ़ा किया गया हो। द्रव्यं संक्षुण्णमुष्णोदक प्रक्षिप्य निशा स्थितम् शीतकषायः गर्म जल में द्रव्य को उबाल रात भर रख सवेरे छान कर जो काढ़ा प्रयोग किया जाता है वह शीतकषाय होता है।

ऊपर जो पांच कषाय लिखे गये हैं इन्हें गङ्गाधर तीन ही मानता है। पहला यथावत्, दूसरे में (२) तथा (३) का समावेश और तीसरे में (४) और (५) को मिला देता है। परन्तु चक्रपाणिदत्त ने पांच क्वाथ माने हैं तथा इनके गुणों को भी बतलाते हुए कहा है कि प्रथम योग पित्तज्वर में, द्वितीय पित्तप्रधान ज्वर में, तृतीय मन्दाग्नि-युक्त पित्तकफज्वर में, चतुर्थयोग शीतप्रधान ज्वर में तथा पञ्चमयोग दाहप्रधान ज्वर में देना चाहिए। कुछ लोग पांचों या तीनों कषायों को सज्वरावस्था में कहीं भी देना उचित मानते हैं। इनके गुण आगे १६१ वें श्लोक में भी देखें। चक्रपाणिदत्त ने क्वाथ सम्बन्धी भैषज्यकल्पना से सम्बद्ध अनेक महत्त्व की बातों का प्रकाश किया है उस सबके लिये धन्वन्तरि कार्यालय द्वारा प्रकाशित हमारे द्वारा सम्पादित भैषज्यकल्पनांक को देखना अपेक्षित है।

ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः।
तृष्णारुचिप्रशमना: मुखवैरस्यनाशनाः ॥१६१॥

ये (पांचों कषाय जिनका वर्णन ऊपर किया गया है वे) ज्वरघ्न, कषाय दीपन, दोषों को पचाने वाले, तृष्णा और अरुचि का प्रशमन करने वाले तथा मुख की विरसता को नष्ट करने वाले हैं

नोट—ऊपर जिन पांच कषायों का वर्णन किया गया है उन सभी में यद्यपि दीपनादि गुण घटते हैं पर (१) में दीपन (२) दोष पाचन (३) में तृष्णाशमन (४) में अरुचिनाशन और (५) में मुख की विरसता नष्ट करने के विशेष गुण व्याप्त हैं। गंगाधर की दृष्टि से ३ कषाय लेने से पहले में दीपन पाचन, (२-३) में तृष्णा अरुचि प्रशमन और (४-५) में मुखवैरस्य नाशन के गुण ज्वर-घ्नता के साथ-साथ लिखे जा सकते हैं।

विषमज्वरघ्न पञ्चकषाय

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी।
पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी ॥१६२॥
निम्बः पटोलं त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ।
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥१६३॥
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्द्धश्लोकसमापनाः।
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधान् ज्वरान्।
सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ॥१६४॥

(१) इन्द्रजौ, पटोलपत्र, कटुकी (सन्तत)
(२) पटोलपत्र, सारिवा, मोथा, पाढल, कटुकी (सतत)
(३) नीम, पटोलपत्र, त्रिफला, मुनक्का, मोथा, इन्द्रजौ (अन्येद्युष्क)।
(४) चिराइता, गिलोय, चन्दन, सोंठ, (तृतीयक)

(५) गिलोय, आमला, मोथा (चातुर्थक)

आधे-आधे श्लोक में समाप्त होने वाले पांच कषाय सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चातुर्थक (इन) पञ्चविध ज्वरों को शीघ्र शमन करते हैं।

वत्सकादिहिम

वत्सकारग्वधौ पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम्।
मूर्वामतिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम् ॥१९५॥
वचां मुस्तमुशीरं च मधुकं त्रिफलां बलाम्।
पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ॥१९६॥

इन्द्रजौ-अमलतास, पाठा, श्वेतवचा, कटुकी, मूर्वा, अतीस, नीम, पटोलपत्र, धमासा, वचा, मोथा, खस, मुलहठी, हरड़, बहेड़ा, आमला, बला इसके ज्वरनाशक क्वाथ अथवा शीतकषाय को मनुष्य पिये।

मधूकादिहिम

मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्यारिष्टं परूषकम्।
त्रायमाणामुशीरं च त्रिफलां कटुरोहिणीम्।
पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते ॥१९७॥

महुआ के फूल, मोथा, मुनक्का, गम्भारी की जड़, फालसे, त्रायमाण, खस, हरड़, बहेड़ा, आमला, कटुकी एक रात बसाकर (शीतकषाय या हिम बना) पीकर व्यक्ति ज्वर से शीघ्र मुक्त होजाता है।

जात्यादिकषाय

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयासकम्।
विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत् ॥१९८॥

विबद्ध (बंधे हुए हैं) दोष (जिनके ऐसा) ज्वर रोगी चमेली के पत्ते, आमले, मोथा और धमासा इनके साथ गुड़युक्त कषाय पिये। (इसके पीने से दोषों की बद्धता दूर होकर दोष निराम किए जासकते हैं)।

त्रिफलादिकषाय

त्रिफलां त्रायमाणाञ्च मृद्वीकां कटुरोहिणीम्।
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः।
त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥१९९॥

त्रिफला, त्रायमाण, मुनक्के और कटुकी, यह कषाय पित्त तथा कफ को हरता है। निशोथ तथा मिश्री मिलाकर अनुलोमन करता है। और पित्तकफज्वर को नष्ट करता है।

बृहत्यादियोग

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम्।
कोलवल्ली च योगोऽयं सन्निपातज्वरापहः ॥२००॥

छोटी बड़ी कटेरी, इन्द्रजौ, मोथा, देवदारु, सोंठ और गजपिप्पली, यह योग सन्निपातज्वर नाशक है।

नोट—यह योग क्वाथरूप प्रयोक्तव्य है।

सन्निपातज्वरघ्न शठ्यादिगण

शटी पुष्करमूलञ्च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा।
गुडूची नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी ॥२०१॥
एष शठ्यादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते ॥२०२॥

कचूर, पुष्करमूल और छोटी कटेरी, काकड़ासिङ्गी दुरालभा, गिलोय, सोंठ, पाढल, चिराइता, कटुका, यह शठ्यादिवर्ग (कषाय बनाकर पीने से) सन्निपात-ज्वरनाशक (है तथा इसका प्रयोग) खांसी, हृत्प्रदेश की जकड़न, पार्श्वशूल, श्वास (तथा) तन्द्रा (आदि रोगों) में प्रशंसनीय (है)।

सन्निपातज्वर में बृहत्यादिगण

बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा।
वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥२०३॥
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः।
कासादिषु च सर्वेषु दद्यात्सोपद्रवेषु च ॥२०४॥

(छोटी बड़ी) कटेरी दोनों, पुष्करमूल, भारंगी, कचूर, काकड़ासिंगी, दुरालभा, इन्द्रजौ, पटोलपत्र कटुकी (यह) सन्निपातज्वरनाशक बृहत्यादिगण कहा गया है। (इसे) उपद्रवसहित कास आदि (श्लोक २०२ में वर्णित) सभी में देना चाहिए।

कषायाश्च यवाग्वश्च विपासाज्वरनाशनः ।
निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत् ॥२०५॥

भेषजचतुष्क षड्विरेचनशताश्रितीय पञ्चाशन्महाकषाय नामक सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में पिपासाज्वरनाशक (तृष्णानिग्रहण और ज्वरघ्न जो) कषाय बतलाये गये हैं तथा (अपामार्गतण्डुलीय नामक द्वितीय अध्याय में जो) यवागू कहे गये हैं वैद्य उनको प्रयोग करे ।

घृतप्रयोग

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥२०६॥

रूक्ष (ज्वरी) के जो ज्वर कषायों, वमनों, लङ्घनों (तथा) लघु भोजनों के द्वारा न शान्त हों उनकी औषध घी (है) । क्योंकि—

रूक्षं तेजोज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च ।
यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः ॥२०७॥

ज्वरकारी तेज रूक्ष (होता है) तथा तेज के द्वारा रूक्षित (बने हुये) का जो धातु अनुबल होता है वह वायु स्नेह से नष्ट होता है ।

वक्तव्य—(६३) जहां कषायादि द्वारा ज्वर का शमन करना कठिन होजाता है वहां घृत प्रयोग करने के लिए चरक का आदेश है । घी वहां कैसे कार्य करता है इसी का दिग्दर्शन सरल शब्दों में इस श्लोक में किया गया है । तेज शब्द से पित्त, अग्नि, स्नेह, शक्ति, द्युति, धाम और ग्रीष्म का ग्रहण किया जाता है पर यहां हम तेज से ऊष्मा को ग्रहण करेंगे । रूक्षस्वरूप की यह ऊष्मा ही सर्वत्र ज्वर करने वाली होती है । यही ऊष्मा आमाशय से विक्षिप्त रसाग्नि सम्पूर्ण देह में व्याप्त होती है और ज्वरोत्पत्ति करती है ।

स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः ॥

इस प्रकार अधिक सन्ताप की वृद्धि इस ऊष्मा के द्वारा होती है । ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरोनास्त्युष्मणा विना के सिद्धान्त से ऊष्मा पित्त से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है क्योंकि सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णम् आदि शब्दों में भी पित्त और ऊष्मा का अकाट्य सम्बन्ध कर दिया गया है । पर साधारणतया पित्त स्निग्ध होता है । पर जब वह निराम होजाता है तब वह निःस्नेह या स्निग्धता से रहित होजाता है । पित्त के साथ द्रवता के कारण स्निग्ध गुण रहा करता है । इस अवस्था में पित्त की स्निग्धता बाहर चली जाती है । निःस्नेह पित्त की ऊष्मा रूक्ष होजाती है । ऐसी ही अवस्था व्याधि के प्रभाव से अजीर्णावस्था में जैसे मदात्यय में वात पित्त का होना भी देखी जाती है । अस्तु आरपाणि के शब्दों में ज्वरोष्मणा रूक्षितेषु धातुषु बलवान् मारुतो ज्वरानुबन्धं विषमज्वराणां योऽन्यतमं कुर्यात् । ज्वरोष्मा के द्वारा रूक्षित धातुओं में वायु विषमज्वरों के अन्यतम ज्वरानुबन्ध को कर देती है फिर रूक्ष ज्वर से तेज के द्वारा ज्वर और काल के सम्बन्ध से ज्वरियों में जिस धातु का बल बढ़ता है वह वात होता है । वह वात स्नेह के द्वारा वध्य है, घी में स्नेह पाया जाता है वह उसका विनाशक होता है । 'च' से अर्थ रूक्ष ज्वरकारी तेज से ही अभिप्राय है । वायु के साथ 'धातु' शब्द का प्रयोग वायु की धारणात्मकता के कारण है क्योंकि धारणात्मक वायु का ही महात्यय सम्भव है । पश्चात् बल जिसका हो वह अनुबन्ध होता है । जब बारहों दिन तक कषायादि देने पर भी ज्वर वृद्धिगत ही होता है तब विरूक्षणता के कारण वायु की भी वृद्धि होजाती है । ज्वरोष्मा में पित्त धर्म की शान्ति घृत में स्थित शैत्य से होती है । घृत का स्नेहांश पित्त के द्वारा उत्पन्न रौक्ष्य को दूर करता है तथा वायु का भी शमन करता है ।

अन्य आचार्यों ने ऐसा कहा है कि पित्त दो प्रकार का होता है सद्रव तथा निर्द्रव । सद्रव पित्त सस्नेह होता है वह लंघनादि से अधोभाग द्वारा निर्हरित होजाने से रूक्ष होजाता है । यदि 'रूक्षंतेजः, से पित्त और 'अनुबलो धातुः' से अनुबन्ध रूप कफ का ग्रहण करते हैं तो वह अनुबन्ध कफ, रूक्ष पित्त तथा वात ये सभी स्नेह द्वारा साध्य होता है ।

'चक्रपाणिदत्त' द्वारा जो ऊपर वक्तव्य दिया गया है

वह घृत की शरीर पर होने वाली आयुर्वेदीय क्रिया (Pharmacological action of ghee in fevers according to Ayurveda) का बड़ा सुन्दर चित्रण है।

कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः।
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणाः शिवाः ॥२०८॥

घृत से योजित ये सभी अग्निवर्द्धक, कल्याणकारक कषाय ज्वर शान्ति के लिये प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य--(९४) पहले जितने ज्वरनाशक काढ़े लिख दिये हैं वे सब यदि प्रयोग करने पर भी ज्वर को निकालने में असमर्थ रहें तो फिर उन्हीं काढ़ों में घी का समावेश करके प्रयोग करना चाहिए। घी का प्रयोग कैसे करें। कविराज का कथन है कि कि घी की योजना का मतलब है कि क्वाथ में पड़ने वाले द्रव्यों के द्वारा घी सिद्ध करलें पर वैसा यहां भाव लेने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती काढ़ा ही यदि घृत से स्निग्ध कर लिया जावेगा तो वह भी ज्वर के तेज से उत्पन्न रौक्ष्य को दूर करने में कुछ न कुछ समर्थ होगा ही अतः काढ़े में घृत डाल कर प्रयोग करना चाहिए पर जहां इससे कोई लाभ न हो तो ज्वरहर जो कई योग चरक ने लिखे हैं उनका ही प्रयोग करना चाहिए।

पिप्पल्यादिघृत

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी।
कलिङ्गकास्तामलकी शारिवाऽतिविषा स्थिरा ॥२०९॥
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका।
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति ॥२१०॥
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम्।
अंसाभितापमग्निञ्च विषमं सन्नियच्छति ॥२११॥

पिप्पली, चन्दन, मोथा, खस, कुटकी, इन्द्रजौ, भुँइआंवली, सारिवा, अतीस, शालपर्णी, मुनक्का, आमले, बेल, त्रायमाण, छोटी कटेरी (इन सबको समान भाग लेकर कल्क करलें उसमें चतुर्गुण जल डालकर औटें जब काढ़ा एक चतुर्थांश रह जाय तब छान लें। इस क्वाथ का चौथाई भाग गाय का घी लेकर सिद्ध करलें) सिद्ध किये हुये इस घृत से शीघ्र जीर्णज्वर नष्ट होता है। (तथा यह घृत) क्षय, कास, शिरःशूल, पार्श्वशूल, हलीमक, स्कन्धों की तपन, तथा विषम (हुई पाचक) अग्नि को दूर करता है।

वासादिघृत

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम्।
पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ॥२१२॥
पिप्पलीमुस्तमृद्वीका चन्दनोत्पलनागरैः।
कल्कीभूतैश्च विपचेद् घृतं जीर्णज्वरापहम् ॥२१३॥

पियाबांसा, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आमला, त्रायमाण, जमासा, (सब समानभाग लेकर चारगुने जल में) पकाकर (शेष बराबर जल बच रहने पर छान कर वह कषाय तथा) उस कषाय से दो गुने दूध के द्वारा (सम्पूर्ण द्रव का चतुर्थांश गाय के) जीर्णज्वर नाशक घी को पिप्पली, मोथा, मुनक्का, चन्दन, कमल, सोंठ, (सब समान भाग तथा सब मिलाकर घी से चतुर्थांश लेकर उस) के किये गये कल्क के द्वारा पकावे।

बलादिघृत

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम्।
निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम् ॥२१४॥
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात् तामलकीं शटीम्।
द्राक्षां पुष्करमूलञ्च मेदामामलकानि च ॥२१५॥
घृतं पयश्च तत् सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम्।
तृष्णाकासशिरःशूल पार्श्वशूलांसतापनुत् ॥२१६॥

बला, गोखुरू, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, कटेरी छोटी, शालपर्णी, नीम, पित्तपापड़ा, मोथा, त्रायमाण, दुरालभा को (समभाग लेकर चारगुने जल के साथ औटाकर एक भाग शेष (कषाय करके भूमिआमलकी, कचूर, मुनक्का, पुष्करमूल और मेदा तथा आमलों को (समभाग लेकर सम्मिलित कल्क काढ़े का सोलहवां भाग हो) कल्क के लिये दें।

घृत (कल्क से चारगुना) तथा गोदुग्ध (घृत से चारगुना) तथा कल्क और कषाय उन सबसे सिद्ध (किया हुआ) घी ज्वरहर, तृष्णा-कास-शिरःशूल-पार्श्वशूल और अंसताप नाश करने वाला है।

ज्वर में संशोधन योग्य अवस्था

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वञ्चाधश्च बुद्धिमान्।
दद्यात् संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते ॥२१७॥

बुद्धिमान् बहुत दोषों वाले ज्वररोगियों के लिये कल्पस्थान में जो ऊर्ध्व और अधः संशोधन कहा जायगा उस संशोधन को उचित काल में देवे।

ज्वर में वमनयोग

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा।
युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये ॥२१८॥
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना।
ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा ॥२१९॥

१—मदनफल को पिप्पलियों या इन्द्रजौ अथवा मुलहठी के साथ उष्णोदक से युक्त ज्वर शान्ति के लिये (इस) वमन (करने वाले) को पीना चाहिए।

२—ज्वर में (मदनफल सहित) मधुयुक्त जल से या (मदनफल सहित) ईख के रस से अथवा (मदनफल सहित) नमक युक्त जल से (अथवा मदन-युक्त) मद्य से अथवा (मदन युक्त) तर्पण से वमन (कराना) हितकारी है।

ज्वर में विरेचनयोग

मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत्।
रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम् ॥२२०॥
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा।
पिबेद्वा क्षौद्रमावाप्य सघृतं त्रिफलारसम् ॥२२१॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा।
त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ॥२२२॥
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम्।
पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षरसं नरः ॥२२३॥

(१) मुनक्कों तथा आमलों का रस अथवा (२) आमलों का घी से छौंका हुआ रस विरेचन (के योग के रूप में) पिये। (३) अथवा शहद घी से युक्त निशोथ चूर्ण को चाटे (४) अथवा शहद मिलाकर घी सहित त्रिफला का रस पिये। ज्वर रोगी (५) अमलतास (के गूदे) को दूध के साथ (६) अथवा (अमलतास को) अंगूरों के रस से (७) अथवा निशोथ (और) त्रायमाण को दूध से पिये। (८) मुनक्के के रस के साथ हरड़ का चूर्ण पीकर (९) अथवा गरम दूध के अनुपान से अंगूरों या मुनक्कों का रस पीकर मनुष्य ज्वर से मुक्त हो जाता है।

दुग्धयोग

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात्।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूली शृतं पयः ॥२२४॥
एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात् सपरिकर्त्तिकात्।
पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्बिल्वशलाटुभिः ॥२२५॥
त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम्।
वर्च्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ॥२२६॥
सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम्।
शृतं पयः सखर्ज्जूरं पिपासाज्वरनाशनम् ॥२२७॥
चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः।
धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ॥२२८॥
जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम्।
पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ॥२२९॥

(ऊपर जो योग दिये हैं उनमें जहां कोई मात्रा नहीं लिखी गई वहां द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाकेत्वयं विधिः॥ की दृष्टि से द्रव्यों से अठगुना दूध तथा दूध से चौगुना जल ले औटाना चाहिए जब पकाते पकाते दूध मात्र शेष रह जाय तब उसे छान कर पिलाना चाहिए। हम नीचे चरकोक्त क्षीरयोगों का वर्णन करते हैं)।

(१) ज्वर पीड़ित रोगी पञ्चमूल (लघु या बृहत्) के साथ उबाले हुए दूध को पीकर कास, श्वास, सिर-दर्द, पसली का दर्द और पुराने ज्वर से मुक्त होता है।

(२) एरण्डमूल से उबाला गया दूध (और) उसी प्रकार कच्चे बेल के फल के साथ (उबाला गया दूध) पीकर परिकर्तिकायुक्त ज्वर से (व्यक्ति) मुक्त होता है।

(३) त्रिकण्टकाद्य पय—गोखुरू, बला, छोटी कटेरी, गुड़ (और) सोंठ से साधित दूध, मल तथा मूत्र के विबन्ध को नष्ट करने वाला (अर्थात् पाखाना और पेशाब खोलने वाला तथा) शोफ (और) ज्वर को हरने वाला होता है।

(४) नागराद्य पय—सोंठ सहित, मुनक्कासहित, घी शहद (और) शक्कर सहित (तथा) पिण्डखजूर सहित उबाला हुआ दूध पिपासा और ज्वर का नाशक होता है।

(५) चौगुने पानी के साथ पकाया गया दूध ज्वरहर होता है तथा—

(६) धारोष्ण दूध शीघ्र वातपित्त को जीत लेता है।

सर्वसाधारण नियम—दूध सब प्रकार के जीर्णज्वरों का उत्तम शामक होता है। उसे शीतल या गरम करके अथवा यथादोष ओषधियों के द्वारा उबाल कर पीना चाहिए।

बस्तियोग

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान्।
पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ॥२३०॥

दोष के पक्वाशय में स्थित होने पर ज्वरनाशक निरूहों और अनुवासन वस्तियों को और जो वस्तियां सिद्धिस्थान में कही जावेंगी (उनको) प्रयोग में लावे।

पटोलादिबस्ति

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरं चतुरंगुलम्।
ह्रीवेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च ॥२३१॥
स्थिरा बला च तत्सर्वं पयस्यर्द्धोदके शृतम्।
क्षीरावशेषं निर्य्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा ॥२३२॥
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च।
वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम् ॥२३३॥
शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु।
गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः ॥२३४॥

पटोलपत्र और नीम के पत्ते, खस, अमलतास, हाऊबेर, कुटकी, गोखुरू और मदनफल, शालपर्णी और बला इन सबको (दूध से आठवां भाग लेकर) आधे दूध और आधे पानी में उबालकर दूधमात्र शेष रहने पर उस निर्य्यूह को शहद घी (यथावश्यक) के साथ मिलाकर मदनफल, मोथा, पिप्पली, मुलहठी, इन्द्रजौ के (बारीक पीसे गये यथावश्यक—अष्टमांश) कल्क के साथ ज्वरनाशक बस्ति दे। (इससे) मार्ग के शुद्ध होजाने पर, दोषों का हरण होजाने पर, धातुओं के विशेषकरके प्रसादित होजाने पर, शूल रहित लघु अङ्ग वाला व्यक्ति शीघ्र ज्वररहित होजाता है।

आरग्वधादिबस्ति

आरग्वधमुशीरञ्च मदनस्यफलं तथा।
पर्ण्यश्चतस्रो मधुकं निर्य्यूहमुपकल्पयेत् ॥२३५॥
प्रियंगुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका।
कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो बस्तिरुत्तमः ॥२३६॥

अमलतास, खस और मदनफल, चारों पर्णियां (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी तथा मुद्गपर्णी) तथा मुलहठी इनके क्वाथ को तैयार करे। (इस क्वाथ में) प्रियंगु, मदनफल, मोथा, सोंफ, मुलहठी (का बारीक) कल्क। घी, गुड़, शहद (यथावश्यक मात्रा में) मिलाकर दी गई बस्ति उत्तम ज्वरघ्न होती है।

गुडूच्यादिनिरूह

गुडूचीं त्रायमाणाञ्च चन्दनं मधुकं वृषम् ।
स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनञ्चेति साधयेत् ॥२३७॥
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक् ।
पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुरस्य च ॥२३८॥
ईषत्सलवणं युक्तं निरूहं क्षौद्रसर्पिषा ।
ज्वरप्रशमनं दद्याद्‌बलस्वेदरुचिप्रदम् ॥२३८॥

गिलोय त्रायमाण, चन्दन, मुलहठी, अडूसा, शालपर्णी, बला, पृश्निपर्णी, और मदन को (कषाय रूप में) सिद्ध करले। वैद्य जाङ्गल पशुपक्षियों के (समभाग) मांसरस के सहित उस रस को पिप्पली, मदनफल, मोथाओं के तथा मुलहठी के (मात्रानुकूल) कल्क थोड़ा नमकयुक्त शहद और घी (यथा मात्रा) के साथ ज्वरशामक, बलप्रद, स्वेदल, रुचिदायक बस्ति दे।

जीवन्त्याद्यनुवासन

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मदनं वचाम् ।
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम् ॥२४०॥
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद्भिषक् ।
आनुवासनिकं स्नेहमेतद् दद्याज्ज्वरापहम् ॥२४१॥

जीवन्ती, मुलहठी, मेदा, पिप्पली, मदनफल, वचा, ऋद्धि, रास्ना, बला, बेल, सौंफ, शतावरी का कल्क करके (कल्क से १६ गुने) दूध, (और उतने ही) जल को (लेकर कल्क के चौथाई भाग) घी तथा मीठा तेल को वैद्य पकावे। यह ज्वरनाशक आनुवसनिक स्नेह (बस्ति) देवे।

पटोलाद्यनुवासन

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च ।
मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम् ॥२४२॥

पटोलपत्र नीम दोनों के द्वारा तथा गिलोय मुलहठी तथा मदनफल के द्वारा (१६ गुना जल डालकर उबाला गया चार भाग) मीठा तेल ज्वरघ्न अनुवासन होता है।

चन्दनाद्यनुवासन

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः ।
सिद्धः स्नेहोज्वरहरः स्नेहवस्तिः प्रशस्यते ॥२४३॥

चन्दन, अगर, गम्भारी, पटोलपत्र, मुलहठी, कमल के द्वारा (यथाविधि) सिद्ध की गई ज्वरनाशक स्नेहवस्ति श्रेष्ठ कही जाती है।

ज्वर में नस्यादि

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे ।
शिरोविरेचनं कुर्य्याद् युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम् ॥२४४॥
यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्त्तयः ।
मात्राशितीये निर्दिष्टा प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ॥२४५॥
अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् ।
यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम् ॥२४६॥
सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम् ।
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ॥२४७॥

युक्तिज्ञ वैद्य भेषजचतुष्क के अन्तर्गत (अपामार्गतण्डुलीय अध्याय में अपामार्गस्य बीजानि से आरम्भ होकर ज्योतिष्मती नागरञ्चेति तक विमान स्थान के रोगभिषग्जितीय अध्याय में (पुनरपामार्गपिप्पली मरिचेभ्य से शिरोविरेचनमुपदशन्ति तक) जो शिरोविरेचन कहा गया है उस (में जो नस्य) ज्वर नाशक हैं) उन्हें करे।

और जो नावनिक अरण्डतैल तथा जो धूमवर्त्तियों (सूत्रस्थान के) मात्राशितीय अध्याय में बतलाई गई हैं वे सब ज्वर में भी प्रयोग करनी चाहिए।

शीत ज्वर-उष्णज्वर इस प्रकार ज्वर को दो भागों में विभाजित करके रोगी की इच्छा के अनुसार अभ्यङ्गों, प्रदेहों, और परिषेकों को करे।

वैद्य सहस्र वार धुला हुआ घी या चन्दनादि तैल को दाहपूर्वक ज्वर के प्रशामक अभ्यंग को देवे।

चन्दनादितैल

अथ चन्दनादितैलमुपदेक्ष्यामः। तद्यथाः—

चन्दनशैलेयभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीर-शारिवामधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिनकु-मुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरु-कानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेत्रवेतसवानीरगु-न्द्राककुभासनाश्वकर्णस्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदि-रकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थन्य-ग्रोधधातकीदूर्वेत्कटशृंगाटकमंजिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजकौ-ञ्चादनबदरीकोविदारककदलीसंवर्त्तकारिष्टशतपर्वाशीतकु-म्भिकाशतावरीश्रीपर्णीरोहिणीश्रावणीमहाश्रावणीशीतपा-कयोदनपाकीकालाबलापयस्याविदारीजीवकर्षभकक्षुद्रसहामेदा महामेदामधुरसर्ष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटज-पटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्ज्जूरमृद्वीकापियालप्रियंगधन्व-नात्मगुप्तामधूकानामन्येषाञ्चशीतवीर्य्याणां यथालाभमौष-धानां कषायं कारयेत्।

तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव कल्केन कषायार्द्ध मात्रं मृद्वग्निना साधयेत् तैलम्।

तत्तैलमभ्यंगादेव सद्यो दाहज्वरं प्रशमयति।
एतैरेव चौषधैरश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः

प्रदेहं कारयेत्। एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाह परिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ॥२४८॥

(इति चन्दनादि तैलम्।)

अब हम चन्दनादि तैल का उपदेश करेंगे जैसे—

रक्तचन्दन, छरीला, श्वेतचन्दन, तगर, पीत चन्दन, भारङ्गी, पद्माख, खस, सारिवा, मुलहठी, पुंडरियाकाठ, नागकेशर, बालक, जंगलीकमल, श्वेतकमल. नलिनी, कुमोदिनी, नीलकमल, पुंड-रीक, लालकमल. कमलनाल, कमलदण्ड, कमल-कन्द, सिवार, कसेरू, अनन्तमूल, कुश, कांस, ईख, दाभ, सरकंडा, नरसल, शालिधान की जड़, जामुन, बेंत, पानीयामलक, जलबेंत, गुन्द्रा, अर्जुन, विजयसार, क्षुद्रशाल, स्यन्दन (तिन्दुक), ढाक, शाल-वृक्ष, ताड़, धव, तिनिश, कत्था, सफेदकत्था, कदम्ब गम्भारीफल, राल, पाकर, बरगद, सिरस, गूल पीपल, जटायुक्त बरी, धाय, दूब, उत्कट, सिंघाड़ मजीठ, मालकांगनी, कमलबीज. छोटे कसेरू, बे कोविदार, केला, मोथा, नीम, सौंफ, जलकुम्भी शतावरी. कम्भारी, कुटकी, मुण्डी, बड़ी मुण्डी गन्धदूर्वा, नीलापियाबांसा, नलिका, बला, क्षीरका कोली, विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, मूंगपर्णी मेदा, महामेदा, मूर्वा, अतिबला, मल्लिका, मोचरस अडूसा, मौलश्री, कुटज, पटोलपत्र, नीम, सेंमर नारियल, खजूर, मुनक्का, चिरोंजी, प्रियंगु. धन्वन कौंच के बीज. महुआ तथा अन्य जो शीतवीर्य (पदार्थ) प्राप्त हो सकें उनका कषाय करावे।

उस कषाय से दूने दूध से तथा उन्हीं (उपरोक्त द्रव्यों) के कल्क से क्वाथ से आधा तैल मन्द मन्द अग्नि से सिद्ध करले।

उस तैल के अभ्यंग से ही शीघ्र दाहज्वर शान्त हो जाता है।

मोटी पीसी गई तथा शीतल इन्हीं ओषधियों से लेप करावे। और इन्हीं ओषधियों से शृतशीत जल (करके) अवगाह तथा परिषेक के लिये प्रयोग करे।

(यह चन्दनादि तैल—है)।

दाहशामक उपचार

मद्यारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्चसद्योदाह-ज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात् ॥२४९॥

भवन्तिचात्र—

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च।
कदलीनाञ्च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥२५०॥
चन्दनोदकशीतेषु शीते धारागृहेऽपि वा।
हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्तः संविशेत् सुखम् ॥२५१॥
हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च।
चन्दोदक शीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत् ॥२५२॥

स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि ।
शीतवातावहैर्व्यजयेच्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥२५३॥

मद्य (spirit), काँजी, दूध, दही, घी, जल का सेक तथा अवगाह शीतस्पर्शी होने के कारण शीघ्र दाहज्वर को दूर कर देते हैं।

और यहां (श्लोक) हैं कि—

दाह से पीड़ित, अत्यन्त शीतल लाल कमल के पत्तों पर, पद्म तथा उत्पल (नामक कमल) के पत्तों पर तथा केलों के पत्तों पर, और चन्दन के जल से शीतल किए विमल रेशमी वस्त्रों पर, ठण्डे धारागृह में अथवा बर्फ के जल से सिक्त (वायुवाले) कमरे में सुखपूर्वक सोवे।

चन्दनोदक से शीतल किये गये स्वर्ण, शङ्ख, प्रवालों, मणियों तथा मोतियों के (जहां तक शीतल रहें गरम न हों ऐसे) संस्पर्शों को स्पर्श करे।

मालाओं द्वारा, नीलकमलों से, पद्मों से, चन्दन के जल की वर्षा करने वाले, शीतल वायु (के झकोरे) चलाने वाले विविध पङ्खों से भी हवा करे।

वक्तव्य—(६५) आचार्य ने दाहशामक उपचार का जो रूप प्रगट किया है, यद्यपि उसका विस्तृत विचार वक्तव्य (६६) में किया जायगा, वह देखते ही बनता है। घोर दाह से पीडित रोगी को शराब या स्प्रिट से आंखें और सिर बचाकर नहलवाना अथवा शराब से तर करके पट्टी सिर पर रखना, माथे पर चन्दन के जल की ठण्डी पट्टी रख देना, बर्फ को शरीर पर मलना या बर्फ से सींचे या बर्फ को छूकर आने वाली हवा के झकोरों से युक्त कमरे में सुलाना वही तरीके हैं जिन्हें आज भी उच्च समाज में व्यवहार में लाया जाता है।

नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः ।
अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः ॥२५४॥
प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः ।
सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः ॥२५५॥
शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च ।
वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः ॥२५६॥

विमलजलवाली नदियाँ, तालाब, कमलसर, तथा ह्रद अवगाहन में हितकर (हैं) दाह, तृष्णा, ग्लानि (और) ज्वरनाशक (हैं)। चन्दन के इत्र से तर अनुकूल आचरणवाली मणि (तथा) मोतियों के आभूषण पहने हुए, प्रिय नवयुवतियां श्रेष्ठ कामयुक्त भावों से सान्त्वना प्रदान करें। शीतल अन्नपान, शीतल उपवन और शीतल वायु तथा शीतल चन्द्रकिरणें दाहज्वरनाशक (होती हैं)।

अगुर्वादि तैल

अथोष्णाभिप्रायाणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः—

अगुरुकुष्ठतगरनलदपत्रशैलेयकध्यामकहरेणकस्थौणेयकक्षेमकैलावराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वश्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारीबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मन्तकशिग्रुमातुलुंगमूषकपर्णीतिलपर्णीपीलुपर्णीमेषशृंगीहिंस्रादन्तशठभल्लातकरावतकास्फोतकण्डीरात्मगुप्ताकाकाण्डैषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसुरसकवककण्डीरकुठेरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहारोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचांगेरीतिलबदरकुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषांञ्चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत् ।

तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत् ।

तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं ज्वरितमभ्यञ्ज्यात्, तस्य शीतज्वरः प्रशाम्यति ।

अब गरम पदार्थों की इच्छा वाले ज्वर रोगियों की अभ्यंगादि चिकित्साओं का (हम) उपदेश करेंगे—

अगर, कूठ, तगर, नरसल, तेजपत्र, छरीला, कत्तृण, रेणुका, ग्रन्थिपर्णी, हल्दी, बड़ी इलाइची,

प्रियंगुपत्र, गुग्गुलु, तमालपत्र, यमानी, रूसा की पत्ती, चीड़, सलई, देवदारु, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी, पाढल, पुनर्नवासफेद, पुनर्नवालाल, कटेरीछोटी, कटेरीबड़ी, शालपर्णी, पृश्नपर्णी मासपर्णी, मूँगपर्णी, गोखुरू, अरण्ड, सहँजन, वरुण, आक, कटकरञ्ज, तिल्वक, कचूर, पोकरमूल, गण्डीर (गांडर-सरसों का शाक या दूब) लाल अरण्ड, पत्तूर, महानिम्ब, अश्मन्तक, लाल सहँजन बिजौरा, मूषकपर्णी (दन्ती) तिलपर्णी (लाल चन्दन) पीलुपर्णी, मेढासिंगी, हींस, जम्बीरीनीबू, भिलावा, हस्तिशुण्डी, हाफरमाली, करेलो, कौंच, श्वेतदूब, सरकण्डे की जड़, कंजा, धनियां, अजमोद, छोटी इलाइची, सुमुख, सुरस (तुलसी), कवक, कण्डीर, कुठेरक (श्वेत पर्णास) कालमालक, कालापर्णास, क्षवक (छांचियामूल), फणिज्भक, सुगन्धतृण, अदरख, पिप्पली, सरसों, असगंध, रास्ना, वृक्षरुहा, अवरोहा (लाजवन्ती) वालवच, बला, अतिबला, गिलोय, सोंफ, शीतवल्ली, नाकुली, सर्पगन्धा, श्वेत अपराजिता, मालकाँगनी, चीता, तालमखाना, खट्टीचांगेरी तिल, वेर, कुलथी, उडद इन तथा अन्य प्रकार के उष्णवीर्य द्रव्यों का यथावश्यक कषाय बनावे।

सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय (मदिराभेद) मेदक (मदिराभेद) दधिमण्ड (दही का तोड़), कांजी, कटूवर (ससार तक इन तरल पदार्थों को कषाय के बराबर) मिलाकर उस कषाय से तथा उसी कषायोक्त द्रव्यों के (कषाय से सोलहवां भाग) कल्क से तैल (कषाय का चौथाई) हिसाब से एक पात्र (एक आढक) पकाले।

सुखोष्ण उस तैल से उष्ण अभिप्राय वाले ज्वर रोगी को मालिश करे। उसका शीतज्वर शांत हो जाता है।

एतैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत् एतैरेव च शृतं सुखोष्णं सलिलमवगाहनार्थं परिषेकार्थञ्च प्रयुञ्जीत शीतज्वर प्रशमार्थम् ॥२५७॥

(इत्यगुर्वादि तैलम्।)

बारीक पीसे हुए सुखोष्ण इन्हीं औषधों से प्रलेप करावे। शीतज्वर के प्रशमन के लिये इन्हीं से उबाले सुखोष्ण जल को अवगाहन तथा परिषेक के लिये प्रयोग में लावे।

(यह अगुर्वादि तैल—है।)

शीतनाशक उपचार

भवन्ति चात्र—

त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निर्दशितः।
मात्राकालविदा युक्तः स च शीत ज्वरापहः ॥२५८॥
सा कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं ज्वरम्।
शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा घनाः ॥२५९॥
चारूपचितगात्र्यश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा।
आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरं ज्वरम् ॥२६०॥
स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च।
शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्ग बल योजनात् ॥२६१॥

और यहां (श्लोक) हैं:

(सूत्र स्थान अध्याय चौदह में) स्वेदाध्याय में तेरह प्रकार का स्वेद बतलाया गया है। मात्रा और काल के ज्ञाता वैद्य द्वारा प्रयुक्त किया गया वह शीतज्वरनाशक (होता है)।

वह कुटी (जिसका वर्णन स्वेदाध्याय में किया गया है)★ वह शयन, वह बिछौना, अगर की मोटी बत्ती के धूप शीत ज्वर को शीघ्र शान्त कर देते हैं।

चारु, उपचितगात्रोंवाली तरुण प्रमदाएँ आलिङ्गन से (अपने) यौवन की गर्मी द्वारा शीतज्वर को शीघ्र शान्त कर देती हैं।

★अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम्।
घनभित्ति कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः सम्प्रलेपयेत् ॥
कुटीमध्ये भिषक्शैया स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत्।
प्रावाराजिनकौशेयकुथकम्बलगोणिकैः ॥
हसन्तिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्तां च सर्वशः।
परिवार्यान्तरारोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥

स्वेदन, वातकफनाशक अन्नपान, (वातकफ के) संसर्गबल की योजना से शीतज्वर को जीत लेते हैं।

वक्तव्य-(६६) जिस ज्वर में दाह की अधिकता होती है वहां दाहनाशक तथा जिस ज्वर में शीत की अधिकता होती है उसमें शीतनिवारक उपचारों को करना आयुर्वेदीय चिकित्सा का सर्वसाधारण सिद्धान्त है। जिस ज्वर में दाहाधिक्य होता है वह बहुधा पित्त के अनुबन्ध से युक्त होता है। जिस ज्वर में शैत्याधिक्य होता है वहां रूक्षता विशेष होने से वात और स्निग्धता विशेष होने से कफ का अनुबन्ध माना जाता है। अस्तु पित्तनाशक क्रियाक्रम दाहज्वर में तथा वातशामक वा कफशामक अथवा वातकफ नाशक क्रियाक्रम शीतज्वर में करने के लिए ऊपर के श्लोकों में ऊहापोह किया गया है।

यदि हम उपरोक्त सरलसिद्धान्त के प्रकाश में पुनः १४६ वें श्लोक को पढ़ें—

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत्।
यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम्॥

तो दो प्रकारों में ज्वर को विभाजित करके यथाभिलाष शीत अथवा उष्ण अभ्यङ्ग, प्रदेह, अथवा परिषेक के करने का रहस्य समझ में आजावेगा।

ज्वर के दाह को शान्त करने के जो विधान बतलाये गये हैं उनमें चन्दनादितैल की मालिश, चन्दनादितैल में पड़ने वाले द्रव्यों के लेप, उन द्रव्यों के काढ़ों से स्नान मुख्य हैं। चन्दनादितैल के साथ १०० से ऊपर द्रव्यों का समावेश करते हुए अन्येषां च शीतवीर्याणाम् कहकर अन्य जो शीतवीर्य द्रव्य रह गये हैं उनके प्रयोग के लिये भी मार्ग खोल दिया गया है। ये सभी बहुधा शीतवीर्य हैं और उनका उपयोग उनके अन्दर निहित शरीरदाह और ताप को शान्त करने की दृष्टि से ही किया गया है। लौका, ककड़ी, खीरा, पेठा ये द्रव्य भी शीतल होने से इनका उपयोग भी तैल में किया जा सकता है। दाहज्वरप्रशमन के लिये सहस्रधौतघृत, चन्दनादितैल, चन्दनादिप्रदेह, चन्दनादि कषायावगाह के अतिरिक्त मद्य या स्प्रिट में स्नान कांजी में स्नान, दही में स्नान, घृतस्नान, जलस्नान, तालाब में स्नान, पद्मपत्रों, कमल के फूलों, कुमोदिनी के फूलों में में लेटना, चन्दन के जल से शीतल हुए वस्त्रों का प्रयोग, तथा हेमाम्बुसिक्तसदन, बर्फीले जल से सिंचित हवावाले कमरे का प्रयोग जिसे आजकल एयरकण्डीशण्ड (air-conditioned) प्रकोष्ठ कहते हैं तथा धारागृह फुहारेंदार घर का प्रयोग करने का विधान है। आचार्यों ने इनके अतिरिक्त हेम,शंख, प्रवाल,मणि,मुक्ता,चन्दनोदक से शीतल हुए पदार्थों का स्पर्श, सुमनमाला प्रयोग; चन्दनोदक की वर्षा करने वाले वायु चालक पंखों का उपयोग, नदीतडागादि का स्नान चन्दन के लेप से लिपी और आभूषणों से सजी तरुणियों का आलिङ्गन, शीतलअन्नपान और शीतलवायु और चन्द्र-किरणों के सेवन तक का वर्णन कर दिया है। लू के कारण जिसका तापांश १०५° से १०७° तक चला जाता है या मलेरिया में १०८° तक हो जाता है वहां आज जो उपचार किये जाते हैं उनकी तुलना प्राचीनकालीन ऋषिप्रणीत वाक्यों से कीजिए।

दाहशामक उपचारों को बताने के बाद शैत्यशामक उपचारों का वर्णन किया गया है। अगुर्वादितैल उसका उदाहरण है। इसमें लगभग १०० उष्णवीर्य द्रव्यों के द्वारा कषाय बनाकर उससे सिद्ध तैल की मालिश, उन द्रव्यों के लेप, कषाय में अवगाहन परिषेक आदि की व्यवस्था बतलाई गई है। गर्मी पहुँचाने की आधुनिक पद्धति फोमेण्टेशन (fomenttation) है आचार्य ने १३ प्रकार के स्वेदों को इसके लिए लिख दिया है उसमें भी कुटीस्वेद की विशेष व्यवस्था की है। यौवन की ऊष्मा से मदमस्त तरुणियों का आलिङ्गन, वात या अथवा कफनाशक अन्नपानों का प्रयोग बतलाया गया है। अग्नि का प्रयोग या अग्निवर्द्धक द्रव्यों का उपयोग शैत्यहर होता है।

यह जो कुछ कहा गया है वह विज्ञान की किस तराजू में नहीं तोला जा सकता? जो चिल्लाते हैं कि बीसवींशती के चाकचक्यपूर्ण वातावरण में युगों के पुराने आयुर्वेद की आवश्यकता नहीं उनसे तनिक पूछा जाय कि आज क्या पचासवीं-शती में भी शीतशामक वा दाहशामक चरकोक्त किस उपचार

को निकाला जा सकता है या हटाया जासकता है ? उत्तर आज और तब भी नकारात्मक ही होगा।

वातज्वर और लङ्घन

निरामे★ वातजे चैव पुराणे क्षयजे ज्वरे।
लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ॥२६२॥

निराम, श्रमज, वातज, पुराने क्षयज और क्षतज ज्वर होने पर(जहाँ) लङ्घन हितकारक न जाने (वहाँ) उनका शमन औषधों द्वारा उपचार करे।

वक्तव्य—(६७) इसी अध्याय के श्लोक १३४ में आचार्य ने क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ज्वरात् ऋते ज्वरे आदौ लङ्घनमेव उपदिष्टम् कहा है। यहां पुनः निराम, श्रमज, वातज, पुराण, क्षयज वा क्षतज ज्वरों में लङ्घन को न करने का उपदेश है। तो क्या श्लोक १३४ तथा २६२ में पुनरुक्ति दोष नहीं आता ? उत्तर है—नहीं। क्योंकि श्लोक १३४ में ज्वरकारी दोषों की सामावस्था में कहां लंघन नहीं करने चाहिए इसका विचार किया गया है तथा श्लोक २६२ में ज्वर की निरामावस्था होने पर भी कहां लंघन नहीं करना है उसे स्पष्ट किया गया है। दोषों की सामता नष्ट होकर वे निराम होगये हों पर यदि ज्वर वातिक हो, पुराना हो क्षयजन्य अथवा क्षतज हो तो भी लङ्घन नहीं करने देने चाहिए ऐसा **गङ्गाधर कविराज** का अभिप्राय है।

परन्तु जो निरामे शब्द का प्रयोग न करके 'वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे' ऐसा पाठ करते हैं वे यह कह सकते हैं कि ज्वर की सामावस्था में लंघन कराया ही इसलिए जाता है कि दोष निराम होजायं तथा जब दोष स्वयं निराम हों तो फिर लंघन वातजादि में ही क्या अन्यत्र भी ग्राह्य नहीं हैं इसी से वे 'निरामे' शब्द के महत्व को स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं कि पुनः यहां लंघन निषेधकारी ज्वरों का उल्लेख इसलिये किया गया है कि अत्र आचार्य वातजादि की विशेष चिकित्सा बतलाना चाहते हैं।

ऐसी अवस्था में **गङ्गाधर** के द्वारा लङ्घन सम्बन्धी जो स्पष्टीकरण किया है उसी से हम अपनी तुष्टि करेंगे—निरामे सर्व्वस्मिन्नेव ज्वरे नैरास्ये मध्यावस्थायां, वातजे च सर्व्वावस्थे एव, पुराणे द्वादशदिनादूर्ध्वञ्च सर्व्वस्मिन्नेव ज्वरे, क्षयजे च ज्वरे सर्व्वासु सामाद्यवस्थासु लङ्घनं हितं न विद्यात्।

विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद्गत्वा रसं नृणाम्।
ज्वरं कुर्व्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः ॥२६३॥

जिस कारण से मनुष्यों की आमाशयस्थ ऊष्मा को बाहर फेंककर, रस में जाकर, दोष ज्वर कर देते हैं उस कारण से (ही) अग्नि का (पचाने का) बल घट जाता है।

यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि।
न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः ॥२६४॥
पक्तिस्थानात्तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम्।
न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात् पचति वा लघु ॥२६५॥

जैसे इंधन से युक्त भी (पूर्णतः) प्रज्वलित अग्नि हवा द्वारा बाहर की ओर प्रेरित होने से भात को भले प्रकार नहीं पकाती है वैसे ही दोषों के द्वारा मनुष्यों की ऊष्मा पाचन के स्थान से बाहर को फेंकी जाकर खाये हुये अन्न को नहीं पकाती अथवा लघु (आहार) को भी) बड़े कष्ट से पकाती है।

वक्तव्य—(६८) हमने ज्वर की सम्प्राप्ति बतलाते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्वर में उत्तापवृद्धि का कारण मुख्यतः रसाग्नि का बहिर्मुखी होना है। आमाशय पक्ति वा अग्नि का स्थान है। यहां अन्न को पचाने की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ अग्नि का जन्म होता है। यह अग्नि भस्मकादि रोगों में पूर्ण प्रबल होने पर भी रसाग्नि को दुष्ट नहीं करपाने से ज्वर को उत्पन्न करने में असमर्थ रहती है। पर ज्वर में दोष सर्व प्रथम अन्न के पचाने के कार्य में लगी ऊष्मा को अपने स्थान से और कार्य से उसी प्रकार च्युत कर देते हैं जैसे वायु चूल्हे की आग को च्युत करके पतीली के चावलों के पकने में बाधा डालती है। परिणामस्वरूप अग्नि का अपना बल कम होजाता है। जिसके कारण अन्न का पचाना उसके लिए कठिन होजाता है। हल

★वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे।

के साबूदाने के पचाने में भी देर लग जाती है।

दोषाः रसं गत्वा ज्वरं कुर्वन्ति इस वाक्य को अवश्य समझना पड़ेगा। कि दोषों ने आमाशयस्थ अग्नि के कार्य को तो बिगाड़ दिया उसे बहिर्मुखी बना दिया पर स्वयं ज्वर उत्पन्न करने में रसधातु में जाकर ही समर्थ हुए रस में स्थित रसाग्नि को भड़का कर।

अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः ॥२६६॥

अस्तु (आमाशयस्थ) अग्नि के बल की रक्षा के लिए लंघनादिक्रम हितकारक (होता है)।

सप्ताहेन हि पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः।
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥२६७॥

सप्तधातुओं में गये हुए दोष एक सप्ताह में पच जाते हैं इसीलिये आठवें दिन ज्वर निराम कहा जाता है।

वक्तव्य—(९९) श्लोक २६३ से २७३ तक के गङ्गाधर द्वारा मान्य नहीं हैं क्योंकि चरकसंहिता का जो क्रम है उसमें उनका ठीक-ठीक इस स्थान पर समावेश हो नहीं पारहा। ज्वरिते षडहेऽतीते लघ्वन्न प्रतिभोजितम् कहने वाला निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि भी कहे। पर छै दिन बीतने के बाद लघ्वन्नादि देने का जो विधान है उससे ७ वां या ८ वां दिन निरामता का होगा ऐसा चल सकता है पर इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जो सप्तधातुगत दोषों का पाक १ सप्ताह में लिखा गया है वह रस से रक्त-रक्त से मांसादि में न होकर एक साथ (युगपत्) सामभाव की क्षीणता प्रगट होती है। पहले दिन जो सामता है वह दूसरे दिन नहीं दूसरे दिन जो दोषों में आमत्व रह गया है वह तीसरे दिन नहीं इत्यादि। इसीलिए ज्वरिते षडहेऽतीते का व्याख्यान है। आठवें दिन तो पूर्णतः निरामावस्था प्रायः मिल जाती है। पर यह निरामता वातजन्य होगी या पित्त वा कफ जन्य। ७, १० और १२ दिन की जो मर्यादा है वहां ७ दिन वात के लिए निश्चित हैं। अस्तु मोटे तौर पर वात दोष का प्रकोप सम्पूर्ण धातुओं से घटाकर उसकी सामावस्था नष्ट करने तक ७ दिन लगते हैं और आठवें दिन वह ज्वर निराम होजाता है। कहने का तात्पर्य यह निकला कि सर्वसाधारण सभी ज्वर ७ वें दिन तक तथा वात अवश्यमेव निराम होजाता है यदि अल्प कोई उपद्रव साथ में न हुआ और अनुबन्ध शुद्ध वातिक हुआ तो। ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि में प्रायः शब्द इसी लिए रक्खा गया है।

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः।
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः ॥२६८॥
एतस्मात्कारणाद्विद्वान् वातिकेऽप्यादितो ज्वरे।
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत् सहसा नरम् ॥२६९॥

उदीर्ण (अथवा प्रवृद्ध होरहे हैं जिसके) दोष अग्नि (है जिसकी) अल्प (वह) विशेष करके गुरु (पदार्थ) खाता हुआ ऐसा व्यक्ति (या तो) सहसा प्राणों से मुक्त होजाता है (मर जाता है) अथवा चिरकाल तक क्लेश पाता रहता है।

इस कारण से विद्वान् (वैद्य) वातिकज्वर में भी आरम्भ से व्यक्ति को न अधिक गुरु (और) न अधिक स्निग्ध सहसा खिलावे।

वक्तव्य—(१००) इन दो सूत्रों ने स्पष्ट कर दिया कि वातिकज्वर का प्रकरण चल रहा है इससे भी जहां कि लंघन निषिद्ध रहता है नातिगुरु नातिस्निग्ध पदार्थ देने से पुनः हानि हो सकती है।

ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम्।
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यंगादीनुपक्रमान् ॥२७०॥

वातजज्वर में तो आदि में क्रम को अनपेक्षित छोड़कर भी अनुबन्धरहित (उपद्रवरहित रोगियों) को अभ्यङ्गादि उपचार करे।

पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम्।
जीर्णज्वरहरं कुर्यात् सर्वशश्चाप्युपक्रमम् ॥२७१॥

तथा कषाय पिलाकर मांसरस (अथवा फलरस) को खिलावे। और सब प्रकार का जीर्णज्वरनाशक उपक्रम भी करे।

अवातजज्वर चिकित्साक्रम

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णः कफाधिकः।
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम् ॥२७२॥

तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ।
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत् ॥२७३॥

कफप्रकृति वाले, अवातज (अर्थात् कफज या पित्तज तथा) ऊष्मा जिनकी मृदु होगई है (ऐसे व्यक्तियों) का अनुष्ण (कम गरम या शीत) ज्वर (एक) सप्ताह में भी परिपक्व नहीं होता ।

उसको यथोक्त क्रम से (जैसा पहले बताया गया है) लंघन, अल्पाशन आदि द्वारा दस दिन तक चिकित्सा करके (फिर) कषायादिकों से उपचार करे ।

सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ।
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति ॥२७४॥

कफज और कफपित्तज जो जो ज्वर साम हैं उनमें प्रत्येक (रोगी को) लंघनीयाध्याय (सूत्रस्थान २२ वें अध्याय) में वर्णित लंघन को कराना चाहिए ।

वक्तव्य—(१०१) इस श्लोक में साम दोषों को निराम करने के लिये लंघन करने की आज्ञा दी गई है। यद्यपि सामकफ, सामपित्त अथवा सामकफपित्त के सम्बन्ध में यह आदेश है पर टीकाकार इसे सामता से पूर्ण एक दोषज, द्वन्द्वज तथा सान्निपातिक सभी ज्वरों पर एकसा लागू करने के पक्षपाती हैं। वातज्वर में भी लंघन आवश्यक हो सकता है इसे पहले देखा जाचुका है। शास्त्र में 'सामेवातेऽपि लङ्घनम्। कहा गया है अस्तु आमदोषज वातज्वर में लंघन कराना आवश्यक होता है। 'कफजे तु निरामेऽपि लंघनम्, से कफजदोष निराम होने पर भी लंघन साध्य है। तथा 'सामे पित्ते लङ्घनं कुर्य्यादेवामपक्त्यर्थम्' से सामपित्त के आम को पकाने के लिए लंघन कराना चाहिए यह स्पष्ट निर्देश होने से और कफ पित्त दोनों द्रव धातु होने से लंघन खूब सह लेते हैं—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्' अस्तु साम दोषों में तथा विशेषकर कफ, पित्त वा कफपित्तज द्वन्द्वज ज्वर में लंघन की महत्ता स्पष्ट स्वीकार की गई है। लंघनीय कौन हैं इस पर एक पुराने सूत्रस्थान के वाक्य को स्मरण कर लेने में कोई हानि नहीं:—

प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमलाः संसृष्टमारुताः ।
बृहच्छरीरा बलिनो लंघनीया विशुद्धिभिः ॥

अर्थात् जिनमें बहुत, कफ, पित्त, रक्त, मल । इनमें से कई या कोई) हो, वात से संसृष्ट, स्थूल शरीरी, बलवान् ये विशुद्धियों द्वारा लंघनीय हैं ।

ज्वरचिकित्सा के सिद्धान्त

वमनैश्च विरेकैश्च वस्तिभिश्च यथाक्रमम् ।
ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान् ॥२७५॥
संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ॥२७६॥
वर्द्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।२७७॥

वमनों के द्वारा, विरेचनों के द्वारा तथा बस्तियों के द्वारा क्रमशः कफ-पित्त-वात से उत्पन्न ज्वरों को बुद्धिमान् (वैद्य) ठीक करे ।

द्वन्द्वज (तथा) सन्निपात ज्वरों को तर-तम तथा समके (भेदों) से जानकर दोष के क्रम की अपेक्षा (का ध्यान रखने वाला वैद्य) यथोक्त ओषधियों के द्वारा जीते ।

एक दोष के वर्द्धन के द्वारा, तथा बढ़े हुए दोष का क्षपण (ह्रास) करने के द्वारा अथवा कफस्थान की आनुपूर्वी (पहले) चिकित्सा करने के द्वारा सन्निपात (त्रिदोषजनित) ज्वर को जीते ।

वक्तव्य—(१०२) श्लोक २७५ ज्वरकारी प्रकुपित कफ दोष को वमन योगों से; ज्वरकारी प्रकुपित पित्त दोष को विरेचन योगों से तथा ज्वरकारी प्रकुपित वातदोष को बस्तियों से सुधारने का विधान है ।

श्लोक २७६ में द्वन्द्वज और त्रिदोषज ज्वरों में दोषों की मध्यबलता अधिकता और न्यूनता को देखकर दोषों का जैसा क्रम हो उसी के अनुसार चिकित्सा करने के लिए इङ्गित है ।

श्लोक २७७ में सन्निपातज्वर के जीतने के सम्बन्ध में बड़ा सरल विधान दिया है कि जो दोष गिरता सा हो उसे उठाना, जो दोष कुपित सा हो उसे गिराना तथा यदि वैसा

क्रम न हो तो पहले दोषों की आमता को नष्ट करने का और कफदोष को उचित स्थान तक लाने का यत्न करना बतलाया गया है।

द्वन्द्वज या त्रिदोषज ज्वर में दोषों का तर, तम और सम विचार कर चिकित्सा करने का आदेश दिया गया है। एकोल्बणोल्बण तर दोष द्वन्द्वज में मिलता है जहां दो दोषों की उल्बणता होते हुये भी एक उल्बण दोष दूसरे उल्बणदोष से कहीं अधिक उल्बण है। सन्निपातज में द्व्युल्बणतरता भी देखी जाती है। कहीं एक दोष वृद्ध दूसरा वृद्धतर और तीसरा वृद्धतम होता है। कहीं तीनों दोष अपनी अपनी सीमाओं को लांघ जाते हैं। चरकोक्त सन्निपातवर्णन में दोषों का यह सम-तर-तमभेद सरलतापूर्वक देखा जासकता है।

जिस सन्निपातज्वर में तीनों दोषों की उल्बणता हो उसकी चिकित्सा शास्त्रकारों ने नहीं बतलाई। क्योंकि प्रायशः त्रिदोष-शामक कोई द्रव्य नहीं हुआ करता। जो वात में सुपथ्य है वह श्लेष्मा के लिये अपथ्य है। जो पित्त के लिये पथ्य है वह श्लेष्मा के लिये अपथ्य है। अथवा तिक्तकषाय रस कफ पित्तहर है वह वातकारक है। मधुररस वातपित्तहर है वह कफकारक है। आमलकादि जो त्रिदोषशामक हैं उनका त्रिदोषशमन का गुण बहुत थोड़ा होता है जब कि त्रिदोष अत्यन्त आत्ययिक रोग है उसके बराबर बलशाली प्रतिद्रव्य का होना आवश्यक है सो वैसा नहीं मिलता।

तब फिर सन्निपात की चिकित्सा कैसे की जाय इस विषय का विचार करके ही वर्द्धने नैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च को लिखा गया है। सन्निपातज्वर के २५ प्रकार किये जा सकते हैं एकोल्बल छै द्व्युल्बण छै, इन बारहों में प्रकुपित दोष का क्षपण करने से ज्वर का वेग घटाया जा सकता है। और ये प्रायः साध्य किए जा सकते हैं। पर जो १३ प्रकार के सन्निपात और रह जाते हैं जिनमें तरतमसमभेद होने पर भी साधारणतया तीनों दोषों की उल्बणता पाई जाती है वहां त्रिदोषहर द्रव्य के अभाव के कारण चिकित्सा कठिन रहती है। फिर भी जो दोष वृद्ध हो उसे बढ़ाकर चिकित्सा करनी चाहिए।

जहां कफ वृद्ध, वात वृद्धतर और पित्त वृद्धतम हो वहां कफ को बढ़ाने के लिये मधुररसप्रधान ओषधियां वात और पित्त दोनों का हरण कर सकती हैं।

वृद्धतम दोष का क्षपण भी इसी आधार पर लिखा गया है। वृद्धतम दोष यदि रोका नहीं जायगा तो वह मार डाल सकता है।

कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा को जो प्रगट किया गया है वह समसन्निपात में करना चाहिए। कफस्थान आमाशय के ऊर्ध्वभाग को कहते हैं। कफस्थानानुपूर्व्या जयेत् का तात्पर्य कफस्थानं प्रथमं जयेत् ऐसा लेना चाहिए। स्थान के ग्रहण से स्थानी का भी ग्रहण हो जाता है इस कारण कफस्थान जीतने का मतलब कफ नष्ट करने से है। कफ को जीतने का सीधा विधान नहीं बतलाकर ज्वर का आदि-कारण आमाशय का दूषित होना होने से आमाशय का विचार कर चिकित्सा करने के लिये अनुरोध है। अतः स्थानानुगुण से ज्वर चिकित्सा करनी चाहिए। स्थानिदोषापेक्षया हि स्थानमेव प्रथमं चिकित्स्यम्। तथा स्थानं जयेद्धि पूर्वम्। इन वाक्यों से स्थानी की अपेक्षा स्थान को सुधारने की ओर स्पष्टतया लक्ष्य किया गया है। लघ्वन्नपानादि का ज्वर के आरम्भ में प्रदान करने का सार भाव यह है कि स्थान का पहले शोधन हो।

ज्वर से व्यतिरिक्त सन्निपातावस्थाओं में सम होने पर भी वात की चिकित्सा पहले करने का विधान है—

वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्।

तथा जहां कफस्थानानुपूर्वीचिकित्सा की जारही हो वहां जो शेष दोष उल्बणता को प्राप्त हो उसका क्षपण और क्षीयमाण दोष का वर्द्धन करना चाहिए भेल के द्वारा इसका निम्न स्पष्टीकरण किया गया है—

सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्य्यादामकफापहम्।
पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥

अर्थात् सन्निपातज्वर की चिकित्सा का आरम्भ आम-कफ नाशक विधान से करे जब श्लेष्मा क्षीण हो चुके तो फिर पित्तानुपूर्वी चिकित्सा करे और फिर वात को शान्त करे।

पित्तानुपूर्वी चिकित्सा पर सुश्रुत ने विशेष जोर दिया है:

शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु ।
दुर्निवारतमं तद्धि ज्वरार्त्तेषु विशेषतः ॥

यह चरक और सुश्रुत चिकित्सा का एक मौलिक अन्तर है। शल्यचिकित्सा में शल्यज रोगों में ओषचोष पैत्तिक लक्षण रोगी को चैन नहीं लेने देते। अस्तु ज्वर का समवाय होने पर सन्निपातज्वर में पित्तानुपूर्वी चिकित्सा का समर्थन सुश्रुत करता है।

दोषवर्द्धन और दोषक्षपणकारी जिस चिकित्सा की ओर सङ्केत किया गया है, वह विशुद्ध चिकित्सा नहीं है। क्योंकि जहां एक दोष का शमन और दूसरे का उदीरण किया जाता है वह अविशुद्ध तथा जहां दोष का शमन तो हो पर कोप न हो वह विशुद्ध चिकित्सा मानी जाती है।

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं यद्यप्यन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेन्न प्रकोपयेत् ॥

कुछ वर्द्धन शब्द में वर्द्ध (मूलच्छेदकारक अर्थात् संशोधन) चिकित्सा को तथा एक दोष से एक एक दोष का संशोधन ऐसा भाव लेते हैं। क्षपण से वे शमन चिकित्सा मानते हैं। और ऐसा मान विशुद्ध चिकित्सा के अन्तर्गत ही चिकित्सा करते हैं। पर यह अर्थ सन्निपातज्वर की प्रचण्डावस्था में कितना सम्भव है इसे वे भी समझ सकते हैं।

कर्णमूलशोथचिकित्सा

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥२७८॥
रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ।
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ॥२७९॥

सन्निपातज्वर के अन्त में दारुण कर्णमूलशोथ उत्पन्न होता है उससे कोई ही छुटकारा पाता है।

रक्तावसेचनों से कफपित्तघ्न घृतपानों से, प्रलेपों से और कवलग्रहों (कुल्लों) से शीघ्र जीते।

वक्तव्य—(१०३) कश्चिदेव प्रमुच्यते का अर्थ कोई बचता है अर्थात् प्रायः सब जिनको दारुण कर्णमूलशोथ होता है मर ही जाते हैं ऐसा लेते हैं। जब यही अर्थ ठीक हो तो फिर शीघ्र जीतने की दृष्टि से जो रक्तावसेचनादि उपचार बताए हैं वे सब व्यर्थ होजावेंगे। रोग है कठिन है बहुधा अनेकों सन्निपातज्वरियों को यह होता है कोई ही कदाचित इसके उपसर्ग से छूटता हो ऐसा भाव लेनें से आगे के श्लोक का तारतम्य ठीक बैठ जाता है।

दारुण कर्णमूलशोथ जहां एक उपद्रव है पर यहां उसका वर्णन कफानुपूर्वी चिकित्सा को रोक कर पित्तानुपूर्वी चिकित्सा अथवा कफपित्तानुपूर्वी चिकित्सा करने की दृष्टि से किया गया है। विस्फोटक ज्वर का भी निर्देश इसी दृष्टि से करते हुए उसकी चिकित्सा भी कफपित्तानुपूर्वी करने का विधान है।

चरकसंहिता में रक्तावसेचन या रक्तमोक्षण का केवल यहीं नाम लिया गया है सो नहीं है कई स्थलों पर इसका उल्लेख है। नीचे के श्लोक में वह रक्तावसेचन कहां और कैसे करना चाहिए इसका भी वर्णन है—

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति।
शाखानुसारी तस्याशु मुञ्चेद्बाह्वोः क्रमात् सिराम्॥२८०॥

जिसका ज्वर शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष (इन उपचारों के द्वारा) नहीं शान्त होता है उस शाखानुसारी (ज्वर) का बाहु की सिरा को क्रम से (वेध कर) शीघ्र (रक्त) निकाल दे।

वक्तव्य—(१०४) दाहपूर्वकज्वर को नष्ट करने के लिए शीतोपचार; शीतपूर्वक ज्वर को नष्ट करने के लिए उष्णोपचार; वातजन्यज्वर को नष्ट करने के लिए स्निग्धोपचार, कफजन्यज्वर को नष्ट करने के लिए रूक्षोपचार शास्त्रज्ञों ने बताये हैं। इन सभी उपचारों के द्वारा भी जो ज्वर नष्ट न होवे उसे शाखानुसारी जानना चाहिए। "शाखानुसारी" इत्यत्र यद्यपि 'शाखारक्तादयो धातवः' इत्युक्तम्, तथापीह रक्तदूषको विशेषेण ज्वर ज्ञेयः।" इन शब्दों में चक्रपाणिदत्त शाखानुसारी शब्द की व्याख्या करता है। गङ्गाधर शाखानुसारी को रक्तानुसारी तथा जामनगरीय चरक टीका में इसे fever of the peripheral type कहा है।

जब दोष रक्ताश्रित होते हैं तब उनका शमन करने का एक मात्र साधन रक्तमोक्षण चरक मानता है। वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त रक्त भी दोषवत् स्थित होकर प्रकोप करता हुआ ज्वर का कारण बनता है तब रक्तमोक्षण द्वारा उसकी शान्ति होती है।

शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति इस प्रकार भी द्वितीय चरक का भी पाठ भेद मिलता है।

विस्फोटकादि ज्वरचिकित्सा

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः।
तत्रादौ सर्पिषःपानं कफपित्तोत्तरो न चेत् ॥२८१॥

जो ज्वर विसर्प से, अभिघात से और विस्फोटकों से (उत्पन्न होता है तथा जो ज्वर) अगर कफ-पित्त प्रधान न हो (अपि तु वातप्रधान हो तो) वहां आरम्भ में घी का पान (कराना चाहिए)।

जीर्णज्वर में चिकित्सा निर्देश

दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते।
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत् ॥२८२॥

शरीरस्थधातुओं की दुर्बलता से जीर्णज्वर बना रहता है इस कारण से बल्य, बृंहण आहारों के द्वारा उसको ठीक करे।

वक्तव्य–(१०५) ऊपर एक बड़े महत्व का इङ्गित कर दिया गया है। ज्वरजीर्ण क्यों होजाता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—देहस्थधातुओंकी दुर्बलता से। शरीर की रसरक्तमांसादि धातुओं में जो दोषसाम्य की स्थिति है वह जब नष्ट होजाती है तब आमाशयस्थ अग्नि के द्वारा प्रवृद्ध हुई रसाग्नि भड़क कर साधारणतया ज्वरोत्पत्ति करती है। इस ज्वर को निश्चित अवधि के भीतर शान्त होजाना चाहिए। पर जब रसाग्नि के साथ-साथ शेष धात्वग्नियां भी निरन्तर धधकने के कारण प्राणशक्ति को घटाकर निज-निज धातुओं को दुर्बल कर देती हैं तो दोषों की साम्यावस्था की प्राप्ति की सम्भावना घट जाती है। असाम्यदोष ज्वर की प्रगति को पहले की तरह बनाए रखते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति मृत्युपर्यन्त प्राणवायु को प्राप्त करता है। यह प्राणवायु सम्पूर्ण धातुओं में प्रत्येक क्षण अनुवर्तित रहती है। स्वस्थावस्था में इसका उपयोग शरीरव्यापार-सम्पादन तथा निज और समीपस्थ धातु की वृद्धि में होता है। पर यह सब कार्य रोगावस्था में शान्त रहते हैं। ज्वर बराबर बना रहने के कारण धातुएं अपने स्वाभाविक कार्य को लौटाने में असमर्थ होजाती हैं और वे प्राणवायु के साथ अपनी अपनी अग्नियों का संधुक्षण कर ज्वरावस्था बनाए रखती हैं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं धातुएं दुर्बलतर क्षीणतर होती जाती हैं तथा ज्वर के दूर होने की आशा घटती जाती है।

आयुर्वेद ऐसी स्थिति में पुकार उठता है—बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत्। धातुओं को बल दो। उनका उपबृंहण करो। बल्य और बृंहण आहार प्रदान करो मेरे अग्रज **श्री पं० बंशीधर तिवारी** सैकड़ों स्ट्रैप्टोमाइसीन के डाईहाइड्रो सल्फेट यौगिक की सूचियां कुचवाकर आये हुए यक्ष्मा के जीर्णज्वर से पीडित रोगी को घी की पूड़ियां आलू के सुस्वादु शाक से खिलाते हैं बलदायक आहार, पुष्टिकर पदार्थ, अग्नि का यथावत् सन्धुक्षण कराते हुए बिना एक भी सुई के प्रयोग किए जीर्णज्वरी को ठीक कर लेते हैं।

विषमज्वर चिकित्साक्रम

कर्म्मसाधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ।
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥२८३॥
वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः।
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ॥२८४॥
विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च।
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरे पित्तोत्तरं जयेत् ॥२८५॥
वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम्।
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ॥२८६॥
योगाः पराः प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः।
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्यते ॥२८७॥

क्योंकि तृतीयक चातुर्थक विषमज्वर में आगन्तु (infection) का अनुबन्ध प्रायशः (रहता है अतः

आगन्तु अनुबन्ध नाशक शास्त्रोक्त) साधारण कर्म (से ही उनको) नष्ट करे।

वातप्रधान विषमज्वर को स्निग्ध (तथा) उष्ण घृतों, अनुवासनसहित बस्तियों तथा अन्नपानों द्वारा शान्त करे।

पित्तोत्तर (पित्तप्रधान) विषमज्वर को तिक्त (रसप्रधान) शीत (वीर्य) विरेचनों, दूध, संस्कृत घृत के द्वारा जीते।

कफोत्तर (कफप्रधान) विषमज्वर में कषाय (रस प्रधान), उष्ण (वीर्य) वमन (योग), पाचन (योग) तथा रूक्ष अन्नपान (तथा) विशेष लंघन को प्रशस्त (कहा जाता है)।

(आगे) विषमज्वरनाशक श्रेष्ठ योग कहे जावेंगे। मतिमान् (वैद्य) को दोषादिकों को (ठीक-ठीक) विभक्त करके उन्हें प्रयोग में लाना चाहिए।

वक्तव्य—(१०६) जहां विषमज्वरों का वर्णन किया गया है वहां उन्हें सन्तत, सतत अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक इन पांच भागों में विभक्त करके स्वरूप का ज्ञान हमको करा दिया है। पर आयुर्वेदीय चिकित्सा दोषदूष्य मल परक होने से विषमज्वरों की चिकित्सा की विधि को यहां उसी रूप में स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

आचार्य ने तृतीयक और चातुर्थक इन दो ज्वरों को औपसर्गिक या आगन्तुज निश्चित रूप से मान कर यह आज्ञा दी है कि आगन्तुज ज्वरनाशक जो भी साधारणतया उपक्रम चलते हैं उनका वहां पालन किया जाय। कहना नहीं होगा कि ये उपक्रम एण्टीसैप्टिक, तथा विशेषकर एण्टी-विषमज्वरकारी जीवाणुकन्य होंगे ही।

तत्पश्चात् उसने पांचों विषमज्वरों की चिकित्सा वातोत्तर, पित्तोत्तर, कफोत्तर करके समझाई है। किस विषमज्वर में कौन दोष प्रधान है इसे देखना वैद्य का कार्य है। दोषादीन् प्रविभज्य ते विषमज्वरनाशनाः पराः योगाः मतिमताः प्रयोक्तव्याः। मतिमान् वैद्य इसका ध्यान देकर वातप्रधान विषमज्वरों में घी, बस्तियां, अनुवासन और अन्नपान का प्रयोग करे। वात के दो दुर्गुण रूक्षता और शीतलता को दूर करने के लिए स्निग्धोष्ण योग दे, यह विशेष रहस्य की बात है। पित्तप्रधान विषमज्वरों में दूध, घी, विरेचन योग जो दे वे तिक्तशीत हों कफप्रधान विषमज्वरों में वमन, पाचन, अन्नपान आदि कषायोष्ण और रूक्ष हों।

विषमज्वरघ्नयोग

सुरा समण्डा पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधाः।
तित्तिरिश्च मयूरश्च प्रयोज्या विषमज्वरे ॥२८८॥
पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत्।
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा ॥२८९॥
नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम्।
पिबेज्ज्वरस्यागमने स्नेहस्वेदोपपादितः ॥२९०॥
सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वावाच्छर्दयेत्पुनः।
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत् ॥२९१॥
सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा वा तदहः स्वपेत्।
आस्थापनं यापनं वा कारयेद् विषमज्वरे ॥२९२॥
पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत्।
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम् ॥२९३॥
पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः।
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे ॥२९४॥
लशुनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम्।
मेद्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणाञ्च भक्षणम् ॥२९५॥
हिंगुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा।
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत् ससैन्धवा ॥२९६॥
सैन्धवं पिप्पलीनाञ्च तण्डुलं समनःशिलम्।
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे ॥२९७॥
पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी।
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् ॥२९८॥
ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत्।
मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद् विषमज्वरे ॥२९९॥
मणीनामोषधीनाञ्च मंगल्यानां विषस्य च।
धारणादगदानाञ्च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ॥३००॥

विषमज्वर में पीने के लिये समण्ड सुरा और भक्षण के लिये मुर्गा, और तीतर तथा मोर प्रयोग

करने चाहिए।

(गुल्म प्रकरण में वक्ष्यमाण) षट्पल घृत पिये, हरीतकी का प्रयोग करे अथवा त्रिफला का कषाय या गुडूची का स्वरस (प्रयोग करे)।

स्नेहस्वेदोपपादित (विषमज्वरी) ज्वर के आगमन (के समय) नील, यमानी, निशोथ, और कुटकी को (इनका क्वाथ बनाकर) पिये। अथवा घी की बहुत सी मात्रा को पीकर फिर वमन कर दे अथवा भरपेट खाना खाकर फिर वमन करदे।

अथवा उस दिन भोजन के साथ मद्य पीकर सोवे। अथवा विषमज्वर में आस्थापन या यापना (बस्ति) दे। दूध के साथ बिल्ली का शकृत् उस दिन (जिस दिन ज्वर आने वाला हो) पिये। अथवा बैल का गोबर दही के तोड़ या सुरा के साथ सैंधव-लवण मिलाकर पीवे।

विषमज्वर में पिप्पली का, तथा त्रिफला का, दही का, तक्र (मट्ठे) का, घी का, पञ्चगव्य का (अथवा) दूध का प्रयोग (किया जासकता है)।

तैल के साथ (भूने गये) लशुन का भोजन के पूर्व उपसेवन और चर्बी वाले उष्णवीर्य मांसों का भक्षण। सैंधव नमक मिलाकर हींग के बराबर शेर की चर्बी की नस्य; पुराना घी उसके समान (भाग) सिंह की चर्बी सैंधवनमक मिला नस्य करनी चाहिए।

सैंधवलवण, पिप्पलियों के दाने, मनःशिला (तीनों बराबर बराबर लेकर) तैल में पीसकर (प्रयोग करना) विषमज्वर में अच्छा माना जाता है।

गुग्गुलु, नीम के पत्ते, बालबच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ (समभाग के साथ) घी से धूपन ज्वर-नाशक (होता है)।

जो धूम, और जो धूपन, और जो नावन, और अञ्जन का निर्देश मनोविकार (उन्मादापस्माराधिकार) में किया गया है वह विषमज्वर में भी करना चाहिए।

मणियों का, ओषधियों का, माङ्गलिकों का, विष का धारण करने से, तथा अगदों का सेवन करने से ज्वर न होवे।

ज्वर में दैवव्यपाश्रयक्रम

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ॥३०१॥
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान्सर्वान् व्यपोहति ॥३०२॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयञ्जयति ज्वरान् ॥३०३॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्य्येण तपसा सत्येन नियमेन च ॥३०४॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ॥३०५॥

ईश्वर, देव (भगवान् शङ्कर) को, उमा (पार्वती जी) सहित, (नन्द्यादि) अनुचरों सहित, (ब्राह्मी माहेश्वरी आदि आठों) मातृकाओं के सहित (विशेष आचार से) पवित्र होकर पूजता हुआ विषमज्वर से शीघ्र मुक्त होजाता है।

सहस्रशीर्ष, चराचरपति, सर्वव्यापक विष्णु को (महाभारत के शान्तिपर्व में बतलाये उनके) सहस्र नाम (स्तोत्र) के द्वारा स्तुति करता हुआ, (व्यक्ति) सब ज्वरों को दूर भगा देता है।

ब्रह्मा, दोनों अश्विनीकुमारों, इन्द्र, अग्नि, (पर्वतराज) हिमाचल, (माता) गङ्गा, मरुद्गणों तथा (अन्य) इष्ट देवताओं को (इष्ट्या पाठभेद करने से इन सबको यज्ञ के द्वारा) पूजता हुआ ज्वरों को जीत लेता है।

माता-पिता की भक्ति से, गुरुओं की पूजा के द्वारा, तथा ब्रह्मचर्य से, तप से, सत्य से, नियम-पालन से, जप-होम-दान से, वेदों का श्रवण करने से तथा साधुओं के दर्शन से (मनुष्य) ज्वर से शीघ्र मुक्त होजाता है।

धातुगतज्वर चिकित्सा

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासञ्च कारयत् ।
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च ॥३०६॥
विरेचनं सोपवासं मांसमेदः स्थिते हितम् ।
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ॥३०७॥

रसस्थ ज्वर में वमन और लंघन करावे । रक्तस्थ में सेक प्रलेप दोनों तथा संशमन करावे । मांस (तथा) मेद में स्थित (ज्वर) में लंघन के साथ विरेचन हितकर (है) । अस्थिमज्जागत में अनुवासन सहित निरूह (वस्तियां) देनी चाहिए ।

वक्तव्य—(१०७) रसरक्तस्थ, मांसमेदस्थ तथा अस्थिमज्जस्थ इस प्रकार तीन विभागों में धातुगतज्वरों को लेकर उनकी चिकित्सा के सूत्र बतला दिये गये हैं । साम रस रक्तस्थ ज्वरों को वमन तथा लंघन सेक तथा प्रदेहों से तथा निराम रसरक्तस्थ ज्वरों को संशमनकर्म से जीतना चाहिए । मांसमेदगतज्वर लंघन तथा विरेचन और अस्थिमज्जागत ज्वर निरूह अनुवासन वस्तियों से सिद्ध होना लिखा है । कहने का तात्पर्य यह है कि रसरक्तस्थ ज्वरों में कफ और आमनिर्मूलक उपचार करना चाहिए । मांसमेदस्थ ज्वरों में पित्तहर उपचार करना चाहिए तथा अस्थिमज्जागत ज्वर वातशामक चिकित्सा चाहते हैं ।

शापादिज्वर चिकित्सा

शापाभिचाराद् भूतानामभिषंगाच्च यो ज्वरः ।
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्व्वमौषधमिष्यते ॥३०८॥

शाप से, अभिचार से, तथा भूतों के अभिषङ्ग से जो ज्वर (होते हैं) वहां सब दैवव्यपाश्रय औषध (चिकित्सा) इष्ट मानी जाती है ।

अभिघातज्वरो नश्येत् पानाभ्यंगेन सर्पिषः ।
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसौदनः ॥३०९॥
पानाद्वा मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः ।
क्षतानां व्रणितानां च क्षत व्रणचिकित्सया ॥३१०॥

अभिघातज्वर (traumatic fever) घृत के पीने (और) मलने से, रक्तावसेचन से, मद्य से, तथा सात्म्य मांसरस और भात से नष्ट होता है । मद्यसात्म्य (जिनको है) उनके मद्यपान से तथा मांसरस भोजनों से, क्षत से पीड़ित तथा व्रणितों (घाव वालों) का क्षतव्रण चिकित्सा के द्वारा (ज्वर नष्ट होता है) ।

आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ।
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ॥३११॥

कामज, शोकज (और) भयज ज्वर आश्वासन से, प्रिय की प्राप्ति से, वातदोष के प्रशमन से तथा हर्षोत्पादक (प्रसङ्गों) से शान्ति को प्राप्त होते हैं ।

काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ।
सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः ॥३१२॥

क्रोध से उत्पन्न ज्वर, इष्ट, मन को प्रिय, पित्त-नाशक उपक्रम तथा सद्वाक्यों के द्वारा शान्ति प्राप्त करता है ।

कामात्क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात् कामसमुद्भवः ।
याति ताभ्यामुभाभ्याञ्च भयशोकसमुद्भवः ॥३१३॥

क्रोधज्वर काम से, कामज्वर क्रोध से, भय-शोकज ज्वर इन दोनों से (अर्थात् भय से शोकज तथा शोक से भयज ज्वर) नाश को प्राप्त होता है ।

ज्वर की स्मृतिनाशपूर्वक चिकित्सा

ज्वरस्य वेगं कालञ्च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः ।
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम् ॥३१४॥

जो (व्यक्ति) ज्वर के वेग और काल को याद करता हुआ ज्वर से ग्रसित होता है उसकी तो प्रिय विषयों के द्वारा तथा विचित्र विषयों के द्वारा (ज्वर की) स्मृति नष्ट करदे ।

वक्तव्य—(१०८) विषमज्वर में बहुधा यह देखा जाता है कि रोगी जिसको बहुत समझ नहीं होती वह ज्वर के चढ़ने के काल तथा वेग का स्मरण करता रहता है परिणामस्वरूप उसे ठीक समय पर अवश्य ज्वर आजाता है । ज्वर के वेग के इस निश्चित समय को हटाने के लिए चित्र

विचित्र विषय चुन कर उसमें रोगी को भुला देने से उसे बहुधा ज्वर का वेग आना रुक जाता है। यह एक ऐसा टोटका है जो बहुधा लाभ करता हुआ देखा जाता है।

ज्वरमोक्ष के लक्षण

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते।
श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः॥३१५॥
प्रलपत्युष्णसर्व्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि।
विसंज्ञो ज्वरवेगार्त्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते॥३१६॥
सदोषशब्दञ्च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्।
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः॥३१७॥
बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः।
स क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम्॥३१८॥
कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये।
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम्॥३१९॥

ज्वरमोक्ष के समय व्यक्ति कूजता हुआ वमन करता है, चेष्टा करता है हाँफता हुआ, विवर्ण स्विन्न अङ्ग (वाला होकर) कांपता है। बार-बार मूर्छित हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर अत्यन्त उष्ण (होजाता है तथा वह) प्रलाप करता है तथा शीताङ्ग भी (वह) हो जाता है। ज्वर वेग से पीडित (वह) संज्ञाहीन (हो जाता है तथा) क्रोधयुक्त दिखाई देता है। दोष-युक्त, शब्दयुक्त, पतला मल वेगपूर्वक (वह) स्रवता है। इन लक्षणों को विचक्षण वैद्य ज्वरमोक्ष में जाने।

प्रायः नवीन बहुदोषयुक्त बलवान ज्वर वह (लंघनादि) चिकित्सा से दोषों के पाक (होने पर) सुदारुण (रूप में व्यक्ति को) त्यागता है।

दोषवश वेगकरके क्रमानुक्रम से (धीरे-धीरे) जो शान्त होते हैं उन चिरकारी ज्वरों का अदारुण मोक्ष होता है।

वक्तव्य—(१०६) श्लोक ३१५ से ३१६ तक ज्वर-मोक्ष के सुदारुण और अदारुण रूप समझाये हैं। नवीन बलवान् ज्वर जब शरीर से जाता है तो वह कभी कभी बड़े भयानक लक्षणों को उत्पन्न करता है। इन लक्षणों के कारण कभी-कभी तो मृत्यु तक होजाती है। क्रियादोषपक्त्या चिकित्सा द्वारा दोषों का परिपाक यथावत् समय से पूर्ण सम्पन्न होने पर ही यह देखा जाता है। श्वसनकज्वर में जब तीक्ष्ण एण्टीबायोटिक पदार्थ का प्रयोग कर दिया जाता है या आन्त्रिक ज्वर के सन्ताप को किसी सन्तापहर द्रव्य द्वारा तोड़ दिया जाता है तो बड़े दुःखपूर्ण वातावरण के साथ ज्वर का मोक्ष होता है। इसे सुदारुणज्वरमोक्ष (fever coming down with crisis) कहते हैं।

पुराने ज्वरों में जहां दोषों की शान्ति क्रम-क्रम से होती है अदारुणज्वरमोक्ष (fever coming down with lysis) हुआ करता है।

ज्वरमोक्ष का यह वर्णन आचार्यों की सूक्ष्म और अनु-भव का कितना सुन्दर सम्मिलन है।

ज्वरमुक्त के लक्षण

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम्।
युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम्॥३२०॥

क्लम (मन तथा शरीर की ग्लानि और) सन्ताप से रहित, (ज्वरजन्य शारीरिक तथा मानसिक) कष्ट से दूर, विमल (होचली हैं) इन्द्रियां जिसकी, प्राकृतिक सत्व से युक्त पुरुष को अज्वर (ज्वरमुक्त) समझे।

ज्वर में वर्जनीय

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च।
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्ज्जयेत्॥३२१॥
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च।
तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च॥३२२॥
व्यायामञ्च व्यवायञ्च स्नानं चंक्रमणानि च।
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्॥३२३॥

सज्वर और ज्वरमुक्त, विदाही, भारी असात्म्य और विरुद्ध अन्नपानों को छोड़ दे। मैथुन, अधिक चेष्टा करना, स्नान, और अधिक भोजनों को (त्याग

दे)। ऐसा करने से (सज्वर का) ज्वर शान्ति को प्राप्त होता है तथा (ज्वरमुक्त का) शान्त हुआ ज्वर उत्पन्न नहीं होता है।

व्यायाम, मैथुन, ★स्नान, चंक्रमण (भ्रमण) तथा (विदाही, गुरु, असात्म्य, विरुद्ध अन्नपानादिक) ज्वरमुक्त (व्यक्ति) जब तक बलवान् न होजाय (तब तक) न सेवन करे।

ज्वर के पुनरावर्तन में कारण

असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते।
वर्ज्यमेतन्नवस्तस्य पुनरावर्त्तते ज्वरः ॥३२४॥

इन वर्जनीय (पदार्थों) को जो असञ्जातबल (दुर्बल) ज्वरमुक्त (व्यक्ति) सेवन करता है उसका नया (छूटा हुआ) ज्वर फिर लौट आता है।

दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्त्तते।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्त्तते पुनः ॥३२५॥

अथवा जिसका ज्वर (ज्वरारम्भक) दोषों के असम्यक्तया निर्हृत होने (ठीक रूप से न निकाले जाने) पर शान्त होगया है उस पुरुष का थोड़े अपचार (अपथ्य) से भी फिर लौट आता है।

ज्वर पुनरावतन की हानियां

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं दीनचेतसम्।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः ॥३२६॥
अथवा विपरीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः।
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाप्यपकुर्वते ॥३२७॥
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम्।
कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम् ॥३२८॥
एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः।
अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ॥३२९॥

पुनः लौटकर आया हुआ ज्वर चिरकाल से पीड़ित, दुर्बल, दीनचेता उस (व्यक्ति) को अल्पकाल में ही मार डालता है। अथवा मल क्रम से धातुओं में ही विपाक को प्राप्त होजाते हैं (और) वे ज्वर को नहीं करते हुए भी (अन्य) अपकार करते हैं। (जैसे-) दीनता, शोथ, ग्लानि, पाण्डुता, अनन्नकामता, कण्डू, उत्कोठ, पिडका तथा अग्निमार्दव वे करते हैं।

इसी प्रकार दूसरे भी गये हुए रोग (अतिसार रक्तपित्तादि) व्यक्तियों के दोषों के ठीक से न निकलने से थोड़े से भी अपथ्य-सेवन से पुनः लौट आते हैं।

ज्वरनिवृत्ति पर सावधानी

निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम्।
यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत् ॥३३०॥

इसलिए ज्वर के निवृत्त होजाने पर भी अवस्था के अनुसार, बल के अनुसार, (रोगी की) प्राण (शक्ति) के अनुसार दोष (जो प्रकोप कर चुका हो उस) का हरण करे अथवा प्रयोगों के द्वारा (उसकी) शान्ति पास लावे।

वक्तव्य—(११०) जो दोष श्लोक ३२५ के अनुसार दुर्हृत कहे गये हैं जिनका हरण ठीक से नहीं हुआ उनकी दृष्टि से तो 'हरेद्दोषम्' ऐसा आया है। दोष का हरण करने के दो विधान हैं—संशोधन तथा संशमन। अतः यहां हरेत् तथा शमं नयेत् से इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए।

इस श्लोक ने हमारे सामने एक बात स्पष्ट करदी है कि ज्वर की निवृत्ति रोग की निवृत्ति नहीं है। रोग की निवृत्ति तो दुष्ट दोषों का निःशेष निर्हरण ही है। बहुत सी औषधियां टैम्परेचर को स्वस्थांश पर ले आने में तो समर्थ होती हैं पर रोगी पूर्ण स्वस्थ नहीं होपाता। अस्तु निवृत्तज्वर होने पर भी दुर्हृत दोषों को संशोधन या संशमन कर्म के द्वारा नष्ट करने पर विशेष जोर दिया जा रहा है।

वैसा न करने से पुनः ज्वर का आवर्त (relapse) सम्भव है।

★ स्नान भी ज्वरमुक्त के लिए निषिद्ध है—
स्नानमाशु ज्वरं कुर्य्यात् ज्वरमुक्तस्य देहिनः।
तस्मान्मुक्तज्वरः स्नानं विषवत् परिवर्ज्जयेत् ॥

पुनरावृत्तज्वर की चिकित्सा

मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना बस्तयो हिताः ।
हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः ॥३३१॥
अभ्यंगोद्वर्त्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च ।
हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ॥३३२॥
गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते ।
लङ्घनोष्णोपचारादि क्रमः कार्यश्च पूर्ववत् ॥३३३॥

पुनः आने वाले ज्वर में मृदु संशोधनों से शुद्धि (तथा) यापना बस्तियां हितकर (हैं)। तथा लघु यूष (और) जाङ्गल (पशु पक्षियों के) मांसरस हितकर (हैं) तथा अभ्यङ्ग, उद्वर्त्तन, स्नान, धूपन, अञ्जन, तथा तिक्तघृत हितकर (हैं)।

गुरु, अभिष्यन्दी, असात्म्य (पदार्थों के) भोजन से पुनः (ज्वर के) आजाने पर लंघन उष्णोपचारादि चिकित्साक्रम पूर्ववत् करना चाहिए।

किराततिक्तादि क्वाथ

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता ।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्तकं ज्वरम् ॥३३४॥

चिरायता, कुटकी, मोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय, (इनका क्वाथ) अभ्यासपूर्वक (लगातार) पीने से (ये औषधियां) पुनरावर्तकज्वर को नष्ट कर देती हैं।

उक्त अनुक्त चिकित्सा निर्देश

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः ।
ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात् तत्तच्चिकित्सितम् ॥३३५॥

ज्वरपीड़ितों की उस अवस्था (विशेष) में ज्वर चिकित्सा के क्रम का ध्यान रखने वाला विचक्षण वैद्य वह चिकित्सा करे।

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद् दारुणो ज्वरः ।
तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक् ॥३३६॥

ज्वर रोगों का राजा, सब प्राणियों का नाश करने वाला (तथा) दारुण (माना जाता है) इसलिए वैद्य विशेष रूप से उसके प्रशमन में यत्न करे।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकः—
यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम् ।
आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया ॥३३७॥

वहां श्लोक (है कि)—

प्रश्न के अनुसार यथाक्रमपूर्वक (भगवान् पुनर्वसु) आत्रेय के द्वारा अग्निवेश के लिये प्राणियों के हित (करने की) कामना से ज्वरचिकित्सा कही गई (है)।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्र चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने ज्वरचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा बनाये चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किये (इस शास्त्र के) चिकित्सास्थान में ज्वरचिकित्सित नाम का तीसरा अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

चतुर्थोऽध्यायः

रक्तपित्त चिकित्सा

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) रक्तपित्तचिकित्सित (नामक अध्याय) का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

रक्तपित्तविषयक प्रश्न

विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम् ।
प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥२॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः ।
वक्तव्यं यत्परं तस्य वक्तुमर्हसि तद्गुरो ॥३॥

अग्नि (के समान) दीप्त, मोहरहित, जितात्मा, पञ्चनद (प्रदेश) में परिभ्रमण करते हुए उस (भगवान्) पुनर्वसु आत्रेय को प्रणाम करके अग्निवेश बोला—

"हे भगवन् ! (आपने) लक्षणसहित रक्तपित्त का निदान (निदान स्थान में) कह दिया है। हे गुरु ! जो महत्त्वपूर्ण (अन्य चिकित्सा सम्बन्धी) वक्तव्य (हो) उसका प्रवचन करने के लिए (आप) योग्य हो ।" (अर्थात् रक्तपित्त का निदान लक्षण सहित आप कह चुके हैं शेष चिकित्सा आदि जो शेष रह गया है उसे कहने की कृपा कीजिए) ।

गुरुरुवाच—

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च ।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥४॥

गुरु बोले—

"हेतु-लक्षण-ज्ञेता (वैद्य) महावेगवाले, अग्निवत् शीघ्रनाशकारी, महारोग रक्तपित्त को शीघ्र (चिकित्सा या उपचार द्वारा) ठीक करे ।"

रक्तपित्त के हेतु

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लञ्च कटूनि लवणानि च ।
घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥५॥

उष्ण, तीक्ष्ण और अम्ल, कटु तथा लवण, आतप और अन्न का विदाह (ये) पूर्व (निदान स्थान में ही) बतलाये गये (रक्तपित्त के) हेतु (हैं) ।

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते ।

तद्योनित्वात्प्रपन्नञ्च वर्द्धते तत्प्रदूषयत् ॥६॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते ।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥७॥
संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥८॥

उन हेतुओं के कारण प्राप्त वेग (उत्क्लिष्ट हुआ) पित्त (द्वितीयधातु) रक्त को पहुंचता है। और वहां पहुंच कर उसे दूषित करता हुआ उसी से उत्पन्न (समान योनि) होने के कारण बढ़ने लगता है। उसकी ऊष्मा के द्वारा स्विन्न द्रवीभूत हुई धातु, धातु-धातु से चूती है। उससे युक्त होकर वह पित्त अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है। रक्त के संयोग से, रक्त को दूषित करने से और गन्ध तथा वर्ण में (रक्त के) समान होने से मनीषियों ने उस पित्त को रक्तपित्त कहा है।

वक्तव्य—(१११) ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती हुई बहुधा देखी जाती है। जीर्णज्वरियों को रक्तपित्त से पीड़ित बहुधा देखा जाता है इस कारण से तथा 'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति, ज्वरो नास्त्युष्मणा विना' नामक वाक्य को आधार मान कर ही आचार्य ने ज्वर के पश्चात् रक्तपित्त की चिकित्सा का वर्णन करना उचित ठहराया है। ज्वर को आचार्य ने 'रोगराट्' की उपाधि से विभूषित किया है। रक्त-पित्त को उन्होंने 'महागद' कह कर पुकारा है ऐसी अवस्था में 'रोगराट्' के वर्णन के अनन्तर 'महागद' का ही वर्णन उपस्थित किया जा सकता है इस आधार पर ज्वर के बाद रक्तपित्त प्रकरण आरम्भ किया गया जान पड़ता है।

रक्तपित्त से क्या ग्रहण करें ? क्या रक्तपित्त रक्तसहित पित्त होता है ? क्या रक्त और पित्त को रक्तपित्त संज्ञा दी जाती है ? अथवा क्या रक्तगतपित्त रक्तपित्त है ? ऐसे अनेक प्रश्न मन में उठ सकते हैं।

पर 'पित्तं यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभते तथानु-व्याख्यास्यामः' कहकर आचार्य स्वयं यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जिस प्रकार पित्त उत्पन्न होकर रक्तपित्त नामक संज्ञा प्राप्त करता है उसी का व्याख्यान हम करते हैं। पित्त ही रक्तपित्त

पित्ताशय एवं पित्तस्रोत
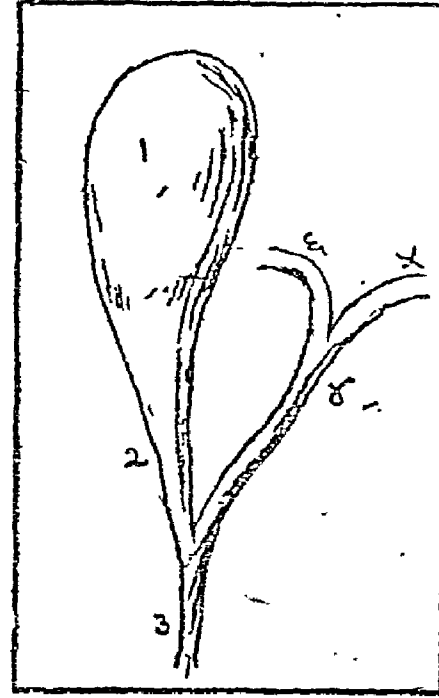
१–पित्ताशय
२–पित्तनाल
३–संयुक्त स्रोत
४–याकृत स्रोत
५–वाम याकृत वाहिनी
६–दक्षिण याकृत-वाहिनी

का नाम ले लेता है। जौ, कोरदूष, अत्यन्त उष्ण अन्न, सेम, उड़द, कुलथी सूप रुक्षार, दही, तोड़ कांजी, कट्ठ, अम्ल पदार्थ, सूअर, भैंसा, भेड़, मछली के मांस, पिण्याक, मूली, सरसों, लशुन, कंजा, सहँजन, शराब, सिरका, पीठी के पदार्थ, उष्णाभितप्त द्रव्य तथा इसी प्रकार के शास्त्र वर्णित अन्य वस्तुओं का जो व्यक्ति सेवन करता है उसका ही पित्त प्रकोप को प्राप्त करता है। यह प्रकुपित होकर रक्त में पहुं-चता है। इसका गन्ध और वर्ण रक्त जैसा ही होता है अतः ज्यों ही रक्त के साथ इसका सम्पर्क आता है रक्त का आयतन (volume) अपने स्वाभाविक आयतन से अधिक बढ़ जाता है। पित्त की उत्पत्ति यकृत्प्लीहादिक अङ्गों से बताई गई है और रक्त की भी प्रचुरता यहां रहती है अस्तु दोनों की उत्पत्ति में समानधर्मता रहने के कारण रक्त और पित्त पर-स्पर एक दूसरे की वृद्धि कर देते हैं।

रक्त में पित्त की उपस्थिति जहां स्वयं रक्त को बढ़ाती है वहां उसके बढ़ने के कई कारण और भी हैं। जिनमें एक है रक्त में पित्त की उपस्थिति से उत्पन्न एक ऐसी उत्तेजना जिसके कारण धातु-धातु से प्रसेक बहने लगता है। अर्थात्

मांस, मेद, अस्थि, मज्जादि धातुओं का द्रवांश रक्त की ऊष्मा के कारण स्विन्न होकर रक्त में मिल कर उसके आयतन को और भी बढ़ाता रहता है। दूसरा है समान योनित्व—रक्त और पित्त की उत्पत्ति एक सी योनि से होने के कारण जब उस योनि में पित्त का प्रकोप होरहा है तो वहीं रक्त का भी प्रकोप होगा।

मानवी शरीर में

यकृत्प्लीहा का स्थान
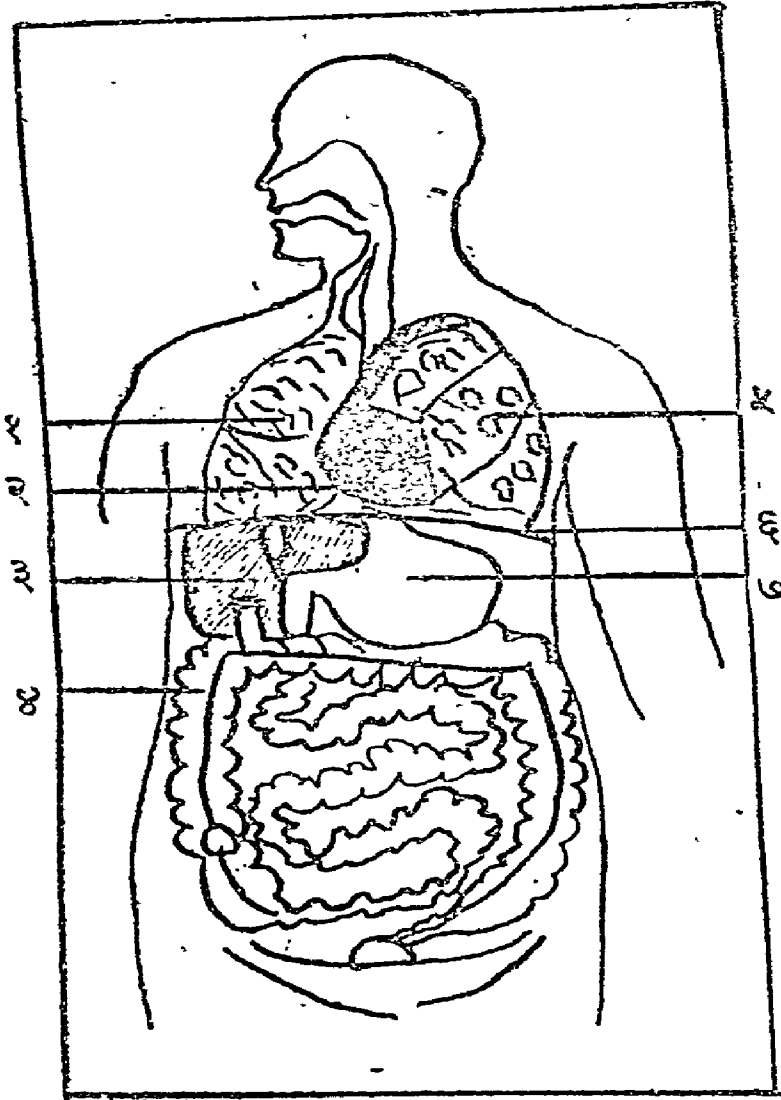
१—दक्षिण फुफ्फुस (right lung)
२—हृदय (heart)
३—यकृत (liver)
४—क्षुद्रान्त्र (small intestine)
५—वाम फुफ्फुस (left lung)
६—महा प्राचीरिका
७—आमाशय (stomach)

स्वयं रक्त में द्रवांश की अधिकता होते रहने से तथा रक्त के स्वाभाविक घटकों में कुछ पित्तोपस्थिति के कारण अन्तर आने से रक्त दूषित होजाता है। और तल्लोहित-संसर्गात्, लोहित प्रदूषणात्, लोहितवर्णगन्धानुविधानात् च लोहितपित्तमाचक्षते।

अस्तु आयुर्वेद कल्पना के अनुसार रक्तपित्त में पित्त की वृद्धि उसका रक्त में पहुंचना और साक्षात् रक्त में उपस्थित होकर रक्त को दूषित करना देखा जाता है।

रक्तपित्त के पूर्वरूपों में दाह, शुक्ताम्लगन्धरसता, वमन, स्वरभेद, गात्रसाद, परिदाह, मुख से धुएं की तरह निकलना प्रतीत होना, मुख का लोहित या आमगन्धी होना, अंगों का लाल, हरा या पीला रूप ले लेना, पिडिकोत्पत्ति आदि जो देखे जाते हैं वे भी पित्त की प्रबलता और उसके कोप के प्रमाण हैं।

जहां पित्त का प्रत्यक्ष विशिष्ट अनुबन्ध नहीं रहता और रक्तस्थ अग्नि ही दूषण का कारण होती है वहां जो रक्तस्राव का लक्षण मिलता है वह आचार्य ने रक्तार्श, असृग्दर, रक्तष्ठीवन आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

व्यवहार में प्रत्यक्षरूप से किसी भी रक्त-पित्ती से पूछने पर पता चल सकता है कि वह शरीर में गर्मी का अधिक अनुभव करता है। अन्दर से हाथ पैरों के तलवे मानो जल रहे हों। कलेजा जला जारहा हो ऐसा वह बतलाता है और चाहता है कि रक्तागम को चाहे बाद में रोका जाय पर उसकी वह जलन मिटा दी जाय। यह अन्तर्दाह वात और पित्त से व्यतिरिक्त शुद्ध पित्त के कारण हुआ करता है।

रक्तपित्त का स्थान

प्लीहानञ्च यकृच्चापि तदधिष्ठाय वर्त्तते।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥६॥

वह (रक्तपित्त) प्लीहा को तथा यकृत को भी अधिष्ठान बनाकर होता है। क्यों कि प्राणियों

रक्तवाही स्रोतों के वे मूल (होते
)।

यकृत् और प्लीहा

१-२-३—यकृत (liver)
४—पित्ताशय (gall bladder)
५—पित्तप्रणाली (common bile duct)
६—क्लोमरस प्रणाली (pancreatic duct)
७—क्लोम (pancreas)
८—प्लीहा (spleen)
९—१०—प्लीहा धमनी तथा शिरा

वक्तव्य—(११२) रक्तपित्त में प्रकुपित पित्त का रक्त के साथ मिश्रित होने या संसर्ग स्थापित करने का कौन अधिष्ठान हो सकता है इसका विचार ऊपर के श्लोक में किया गया है। क्योंकि आयुर्वेदीय कल्पना से यकृत् तथा प्लीहा रक्तवाही स्रोतसों के जन्म स्थल होते हैं अस्तु यही दोनों रक्तपित्त के मूल अधिष्ठान हैं। यकृत् पाचकपित्त का तथा प्लीहा रञ्जक पित्त का भण्डार होता है। पित्त की दुष्टि का मुख्य रूप पाचक पित्त की दुष्टि या रंजक पित्त की दुष्टि में प्रगट होता है साधक पित्त बहुत कम दुष्ट होता है। भ्राजक पित्त इन दोनों की दुष्टि के बाद दुष्ट होता है। आलोचक पित्त की दुष्टि भी देर में होती है। अतः यकृत् का पाचकपित्त पूर्वोक्त अनेकों कारणों से दुष्ट हो आयतन वृद्धि कर रक्त के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है। प्लीहास्थ रंजकपित्त भी इसी प्रकार रक्त के निकट पहुंच सकता है।

यह सत्य है कि अस्थि-मज्जा में रक्त के लाल कणों का विकास होता है तथा जालकान्तश्छदीयसंस्थान श्वेत-कणों के लिए उत्तरदायी है पर बने हुए रक्त के लालकणों के साथ पित्त की मिलावट यकृत्, प्लीहा या अन्य जाल-कान्तश्छदीय संस्थान में कहीं भी हो सकती है। इन दोनों स्थानों पर ही वास्तव में पित्त के साथ रक्त का सीधा सम्पर्क आता है। एक में जब रक्त पाचकपित्त के निर्माण के लिए यकृत् कोशाओं में प्रवेश करता है और दूसरे में जब रक्त का रञ्जक अंश निकल-निकल कर इकट्ठा होता और रक्त के दुर्बल कण कटते रहते हैं।

दोषसम्बद्ध लक्षण विशेष

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं
पिच्छिलञ्च कफात्तिम्।
श्यावारुणं सफेनञ्च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥१०॥
रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभञ्च पैत्तिकम्।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥११॥

पाण्डु सहित, गाढ़ा, चिकना, स्नेहयुक्त कफान्वित; और श्याव, अरुण, फेनसहित, तनु, रूक्ष वातिक, कषायाभ, कृष्ण, गोमूत्र के समान, मेचक (काला चमकदार कपड़ा), गृहधूम और अञ्जन की आभा वाला पैत्तिक, दो दोषों के संसर्ग से

संसर्गलिङ्ग, तीन दोषों के मेल से सान्निपातिक रक्तपित्त (होता है।)

साध्यासाध्य लक्षण

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते।
यत् त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१२॥
गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता।
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरागतिः ॥१३॥
सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः साध्यमूर्ध्वगम्।
याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥१४॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च।
वर्तते तामसंख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥१५॥
यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते।
तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥१६॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्।
यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥१७॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्।
क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥१८॥
यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति।
मार्गान्मार्गं चरेद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥१९॥
एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्।
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥२०॥

(उक्त) एक दोषलक्षणयुक्त (रक्तपित्त) साध्य (तथा) द्विदोष (लक्षणयुक्त) याप्य कहाजाता है। जो त्रिदोष (लक्षणयुक्त रक्तपित्त होता है वह) असाध्य (कहा जाता है)। मन्दाग्नि वाले का अति वेगवान् वह (रक्तपित्त) व्याधियों के द्वारा क्षीण देह वाले का (रक्तपित्त), वृद्ध का (रक्तपित्त), अनशन करने वाले का (रक्तपित्त) भी असाध्य होता है)।

रक्तपत्ति की ऊर्ध्व और अधः (दो) ही (प्रकार-की) गति दिखलाई गई है। ऊर्ध्वागति सप्तविध द्वार वाली तथा अधरागति द्विद्वार वाली (होती है)। सिर में (मुख, नासा-२, नेत्र-२, कर्ण-२) सात छिद्र, नीचे (गुद तथा उपस्थ के) दो छिद्र (हैं) तथा (स्त्री में योनि नामक एक छिद्र और है), ऊर्ध्वग (रक्तपित्त) साध्य, अधोग याप्य (तथा) दोनों (ऊर्ध्वग और अधोग) मार्गों से (जो) जाता है (वह रक्तपित्त तो) असाध्य (होता है)।

जब सब छिद्रों से तथा रोमकूपों से भी जो (रक्तपित्त) होता है तब उसकी असंख्य गति को आन्तिकी (अन्त करने वाली) कहते हैं।

जो (रक्तपित्त) दोनों मार्गों (ऊर्ध्व तथा अधः) से अति मात्रा में निकलता है। शवगन्ध सदृश। अतीव कृष्ण रक्त। कफवात दोनों से संसृष्ट। और जो कण्ठ में भी लग जाता है। और जो निदान स्थान में कथित सभी उपद्रवों से युक्त होता है। हल्दी के से पीले, नीले, हरे, ताम्रवर्ण से आक्रान्त होता है और जो क्षीण पुरुष के खांसने के साथ (आरम्भ होता है) वह (रक्तपित्त) सिद्ध नहीं होता है।

जो (रक्तपित्त) दो दोषों से युक्त होता है अथवा जो बारबार शान्त होकर प्रकुपित होता है और जो (एक) मार्ग से (दूसरे) मार्ग को चले वह रक्तपित्त याप्य (होता है।)

बलवान् का, एक मार्गगामी, नातिवेग वाला, नई जिसकी उत्पत्ति हुई है, सुखकारक (हेमन्त-शिशिर) काल में उत्पन्न तथा उपद्रवरहित रक्तपित्त साध्य होता है।

रक्तपित्त का कारण

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षञ्च रक्तपित्तस्य कारणम्।
अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वंस्यादूर्ध्वगस्य तु ॥२१॥

प्रायशः स्निग्धोष्ण यह पूर्व कथित उद्‌र्ध्वग रक्त-पित्त का कारण (है)। तथा रूक्षोष्ण यह उत्तर कथित अधोग (रक्तपित्त का कारण है)

वक्तव्य—(११३) कहने का तात्पर्य यह है कि स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षञ्च इसमें दो पद हैं, जिसमें पूर्वपद स्निग्धोष्ण

तक तथा रूक्षोष्ण उत्तरपद है। उत्तरपद का सम्बन्ध अधोग रक्तपित्त से है तथा पूर्वपद का सम्बन्ध ऊर्ध्वग रक्तपित्त से है। अर्थात् अधोग रक्तपित्त रूक्ष तथा उष्ण कारणों से तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त स्निग्धोष्ण कारणों से उत्पन्न होता है। ऊपर जो प्रायः शब्द दिया हुआ है उसके अनुसार रूक्षोष्ण-मपि उत्तरमूर्द्ध्वगस्य हेतुर्भवति तथा स्निग्धोष्णमपि अधोगस्येति दर्शयति।

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्त्तते ॥२२॥

ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफ से संसृष्ट तथा अधोग रक्तपित्त वायु से युक्त होता है। दोनों मार्गों का गामी कफवात दोनों से ही होता है।

वक्तव्य—(११४) ऊर्ध्वगरक्तपित्त पूर्वपद के अनुसार स्निग्धोष्ण होता है। स्निग्धता स्निग्ध कफ के कारण है। अधोग रक्तपित्त उत्तरपद के अनुसार रूक्षोष्ण होता है। रूक्षता वात के कारण होती है।

ऊपर जितने श्लोकों में ये सब बातें बतलाई गई हैं उन सबको आत्रेय जी ने बड़े सरल शब्दों में स्वयं ही निदान स्थान में इसी प्रकार प्रगट किया है:—

मार्गौ पुनरस्य द्वावूर्द्ध्वञ्चाधश्च। तद् बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्द्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते। बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रतिपद्यमानं मूत्रवर्च्चोमार्गाभ्यां प्रच्यवते। बहुश्लेमवाते तु शरीरे श्लेष्म-वात संसर्गात् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते। द्वौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्व्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य। तत्र यदूर्द्ध्वभागं तत् साध्यं विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च। यदधोमार्गं तद् याप्यं, वमनोपक्रमणीयत्वदल्पौषधत्वाच्च। यदुभयमार्गं तदसाध्यं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति॥

रक्तपित्त चिकित्सा में रक्तस्तम्भक द्रव्य प्रयोग का निषेध

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः।
तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥२३॥
गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं मूत्रकृच्छ्रताम् ॥२४॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्।
बुद्धीन्द्रियोपरोधञ्च कुर्य्यात् स्तम्भितमादितः ॥२५॥
तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा।
रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता ॥२६॥

नहीं क्षीण हुआ है बल तथा मांस जिसका, जो खाता (पीता) है उस दोष से दुष्ट बाहर की ओर प्रवृत्त रक्तपित्त को आरम्भ में स्तम्भन करना योग्य नहीं है।

गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, आनाह, किलास, मूत्रकृच्छ्रता, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, वर्णनाश, भगन्दर, बुद्धि तथा इन्द्रियों का उपरोध आरम्भ से स्तम्भित रक्तपित्त कर देता है अतः बलवान् के बलदोष का विचार करने वाले तथा सिद्धि की इच्छा रखने वाले वैद्य को बढ़े हुए रक्त-पित्त की उपेक्षा करनी चाहिए।

वक्तव्य (११५) केवल उसी रोगी के रक्तपित्त की उपेक्षा करने के लिए शास्त्राज्ञा है जो शरीर से पुष्ट बलवान् यथावत भोजन करने वाला है। जो बलहीन और शरीर से कृश होगया है उसके रक्तपित्त को रोकने का ध्यान न दिया तो उसकी मृत्यु बहुत समीप बुलाई जासकती है। रक्तपित्त के आरम्भ होते ही संस्तम्भक उपचारों को न केवल साधारण हानिकारक अपितु विशेष हानिकारक माना गया है। १६-१७ प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में रक्तपित्तस्तम्भन को ही आदि कारण माना गया है।

रक्तपित्त के स्तम्भन के भी कई रूप हैं। एक तो औषधि प्रयोग द्वारा रक्त के अन्दर उस शक्ति का विकास कर देना जिसके कारण बहता हुआ रक्त स्कन्दित होजाय और रक्तपित्त की प्रवृत्ति घट जाय। दूसरा उसका एक बाह्यरूप है। नाक से बहते हुए रक्त को रोकने के लिए नाक में रुई लगा देना। ऐसा करने से पूतिनस्य होजाता है। गला रुँध जाता है। पेट में रक्तस्कन्दित कर देने से अरुचि, आनाह और ज्वर होजाता है। अधोगरक्तपित्त के रोकने से भगन्दर, अर्श, मूत्रकृच्छ्र देखे जासकते हैं। त्वचागत रोग जिनमें कुष्ट

किलास और विसर्प मुख्य हैं। इसी रक्तपित्तावरोध के कारण हो सकते हैं।

रक्तपित्त का स्वाभाविक परिणाम वर्णनाश ही होता है।

लङ्घनादि का विधान

प्रायेण तु समुत्क्लिष्टमलदोषाच्छरीरिणाम्।
वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात् तल्लङ्घ्यमादितः ॥२७॥
मार्गौ दोषानुबन्धञ्च निदानं प्रसमीक्ष्य च।
लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥२८॥

(यस्मात्) प्रायः मनुष्यों के आमदोष से उत्क्लिष्ट हुआ रक्तपित्त वृद्धिंगत होता है तस्मात् वह आदि से (ही) लंघनीय (होता है)।

(ऊर्ध्वग और अधोग) दोनों मार्ग, दोषों का अनुबन्ध, और निदान को भले प्रकार देखकर रक्तपित्त के आरम्भ में लंघन वा तर्पण का प्रयोग करे।

वक्तव्य—(११६) ऊपर जो दो श्लोक दिये हैं उनमें एक में लंघन करने की आज्ञा है। दूसरे में उसी आज्ञा को सुधार कर लंघन या तर्पण दोनों में एक करने का आदेश है। सामपित्त हो, कफदोष हो स्निग्धोष्ण निदान हो वहां लंघन किया जावे। पर जहां पित्त साम न हो दोष वात हो और निदान रूक्षोष्ण हो तो वहां तर्पण का प्रयोग किया जावे। लंघनबृंहणीय अध्याय में जो स्थल लंघनीय कहे गये हैं वहां लंघन और जो बृंहणीय बतलाये हैं वहां तर्पण करना चाहिए। संशोधन चिकित्सा लंघन से और संशमन चिकित्सा तर्पण से आरम्भ होती है। पित्त की सामता ऊर्ध्वग और अधोग जहां हो वहां लंघन तथा न हो वहां तर्पण करना चाहिए।

ह्रीबेरादिशृत

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम्।
केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे ॥२९॥

(रक्तपित्त में) प्यास बढ़ने पर हाऊबेर, चन्दन, खस, मोथा और पित्तपापड़ा इनसे क्वथित अथवा केवल औटकर शीतल किया हुआ जल (ही) देवे।

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगमे।
कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित् ॥३०॥

काल (हेमन्तादि), सात्म्य तथा (दोषों के) अनुबन्ध का ज्ञाता प्रकृतिकल्प (द्रव्यों के गुरुलाघवादि संस्कारों का) वेत्ता, (जहां लंघन देना आवश्यक हो वहां लंघन के पश्चात् और जहां लंघन कराना अनावश्यक हो वहां आरम्भ से ही) ऊर्ध्वग (रक्तपित्त) में पहले तर्पण और अधोग (रक्तपित्त) में पहले पेया देवे।

तर्पण के योग

जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः।
शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे स शर्करम् ॥३१॥

तर्पण के लिए खजूर, मुनक्का, महुआ तथा फालसों के साथ शृतशीत जल सशर्करा प्रयोग करना चाहिए।

तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत्।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत्पीतं काले व्यपोहति ॥३२॥

लाजाके चूर्ण के साथ घी शहद मिश्रित तर्पण दिलावे उसे (योग्य) समय पर पिया हुआ ऊर्ध्वग रक्तपित्त को नष्ट करता है।

मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत्।
दाडिमामलकैर्विद्वान् अम्लार्थं चानुदापयेत् ॥३३॥

विद्वान् अग्निमान्द्यवाले (तथा) अम्ल (पदार्थ) जिनके लिए सात्म्य (हैं) उनके लिये वह तर्पण खट्टा भी बनावे। अम्ल (खटाई) के लिये (रक्तपित्तशामक विटामिन सी के भण्डार) अनार और आमलों का उपयोग करे।

हितकर अन्न

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशातिकाः।
श्यामाकश्च प्रियंगुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ॥३४॥

शाली-साठी के चावल, नीवार, कोदों, कामनी, समां तथा प्रियङ्गु ये रक्तपित्तियों का भोजन (जहां

जैसा आवश्यक हो कालसात्म्यानुबन्धज्ञ प्रकृतिवित प्रयोग करता) है।

मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः।
प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥३५॥

सूंग, मसूर, चना, मोठ, अरहर रक्तपित्तियों के सूप (अथवा) यूष बनाने के लिये प्रशस्त (होती हैं)।

हितकर शाक

पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः ।
किराततिक्तकं शाकं गण्डीरं स कठिल्लकम् ॥३६॥
कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्याश्चाथ शाल्मलेः।
अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् ॥३७॥
शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम् ।
स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम् ॥३८॥

परवल, नीम, बेंत का कोमल अग्रभाग, पिलखुन, जलबेतस के पत्ते, चिरायता, गांडर का शाक, पुनर्नवा, कोविदार के फूल, गम्भारी तथा सेमर के फूल और जो अन्नपान के विधान में रक्तपित्तनाशक (पर्पटक गुडूची कारवेल्लक आदि) शाकवर्ग (है) वह सब शाकसात्म्य रक्तपित्तियों के शाक के लिए स्विन्न, घी के साथ छौंका या यूष की तरह पकाया हुआ प्रशस्त (होता है)।

हितकर मांस

पारावतान् कपोतांश्च लावान् रक्ताक्ष्यवर्त्तकान् ।
शशान् कपिञ्जलानेणान् हरिणान् कालपुच्छकान् ॥३९॥
रक्तपित्ते हितान् विद्याद् रसांस्तेषां प्रयोजयेत् ।
ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥४०॥

पारावत, कपोत, लावा, लाल बतखें (किसी के मत में लाल आंखवाली बतखें), खरगोश, कपिञ्जल, एण, हरिण, कालपुच्छ, रक्तपित्त में (ये सब) हितकारी जाने (और) उनके रसों का थोड़ा खट्टा अथवा खटाई रहित घी में भूनकर सशर्करा प्रयोग करे।

कफानुगे यूषशाकं दद्याद्वातानुगे रसम् ।

कफानुग (रक्तपित्त) में यूष तथा शाक और वातानुग में मांसरस देवे।

यवागू

रक्तपित्तेयवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥४१॥

अब रक्तपित्त में यवागुओं का कल्प कहा जायगा।

पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियंगुका ।
जलसाध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥४२॥
चन्दनोशीर लोध्राणां रसे तद्वत् सनागरे।
किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च ॥४३॥
धातकी धन्वयासाम्बु बिल्वानां वा रसे श्रृताः।
मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथवा ॥४४॥
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे ।
सिद्धाः पारावतादीनां रसे वास्युः पृथक् पृथक् ॥४५॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः ।
यवाग्वः कल्पना चैषा कार्य्या मांसरसेष्वपि ॥४६॥
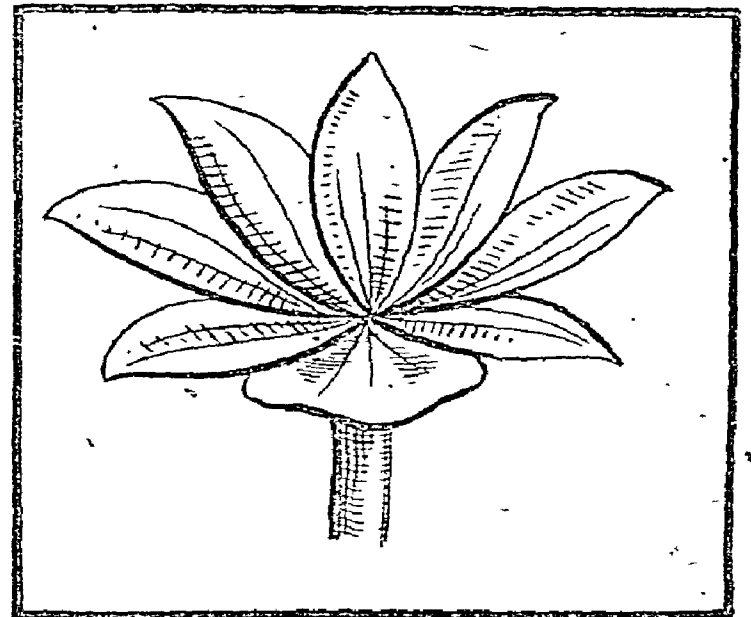
१—कमल और कुमोदिनी के केशर, पृश्निपर्णी, प्रियंगु, जल में सिद्ध करके उस रस में रक्तपित्तियों की पेया बनाई जावे।

२—उसी प्रकार (षडङ्ग पानीय विधान से द्रव्य

१ कर्ष जल २ प्रस्थ शेष १ प्रस्थ) चन्दन, खस, लोध्र तथा सोंठ सिद्ध रस में (पेया बनाई जावे)।

३—चिरायता, खस, मोथा के जलसाध्य रस में उसी प्रकार (पेया बनाई जावे)।

४—धाय, धमास, सुगन्धवाला, बेलगिरी के क्वथित रस में (पेया बनाई जावे)।

५—मसूर की दाल तथा पृश्निपर्णी से (सिद्ध पेया बनावे)।

६—अथवा शालपर्णी और मूङ्ग की दाल (की पेया बनाई जावे)।

७—रेणुका के स्वरस में (पेया बनाई जावे)।

८—अथवा घी में छोंक कर बला के स्वरस में (पेया बनाई जावे)।

९—अथवा पारावतादि (उपरोक्त) मांसरस में अलग-अलग पेया सिद्ध की जाती हैं।

इस प्रकार रक्तपित्तनाशक शहद, शकरयुक्त ठण्डी यवागुएँ कही गई हैं। यह कल्पना (पद्म किञ्जल्क आदि की विविध) मांस रसों के साथ भी करनी चाहिए।

मांसरस योग

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम्।
वातोल्वणे तित्तिरिः स्यादुडुम्बररसे शृतः ॥४७॥
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः।
रसे बिसोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ ॥४८॥

१—रक्तपित्तियों के मल विष्टम्भ (कब्ज) में बथुआ के साथ खरगोश प्रशस्त है।

वातोल्वण रक्तपित्त में—

२—गूलर के रस के साथ तीतर पकाया हुआ हो।
३—पिलखुन के क्वाथ में मोर,
४—बरगद के क्वाथ में मुर्गा,
५—कमल की जड़ (अथवा बेलगिरी) और नीलोत्पल के साथ बतख और कॅकड़ा दोनों के मांस रस हितकर होते हैं,

हितकर पेय

तृष्यते तिक्तकैः सार्द्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्।
सिद्धं विदारिगन्धाद्यैः शृतशीतमथापि वा ॥४९॥
ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च।
जलं पिपासवे दद्याद्विसर्गादल्पशोऽपि वा ॥५०॥

प्यास लगने पर तिक्तरसप्रधान द्रव्यों के साथ तृष्णानिग्रहणदशक (सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय) अथवा फलों का रस, अथवा विदारीगन्धादि (शालपर्ण्यादि) के साथ सिद्ध फलोदक अथवा केवल शृतशीत जल (देवे)।

(वात कफ इन दो) दोषों का अनुबन्ध तथा (रोगी का) बल जानकर प्यास लगने पर बहुत या थोड़ा (यथावश्यक) जल देवे।

रक्तपित्त में निदानपरिवर्जन

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किञ्चित् सम्प्रकाशितम्।
जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥५१॥

रक्तपित्त का जो कुछ निदान प्रकाशित किया है जीवन और आरोग्यकाम रक्तपित्तियों के लिए वह सेवनीय नहीं है।

वक्तव्य—(११७) आयुर्वेदीय चिकित्सा का रहस्य निदान परिवर्जन में बहुधा छिपा रहता है। और रोगों में निदानात्मक पदार्थ रोग करके रुक जाते हैं तथा रोग ठीक होने के बाद फिर उनका सेवन रोग न बुलाता हो पर श्वास तथा रक्तपित्त दो ऐसे रोग हैं जहां उन पदार्थों का प्रयोग अवश्य ही पुनः रोग की विभीषिका को सामने उपस्थित कर देगा। इसी कारण रक्तपित्त में निदान-परिवर्जन अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनुपेक्षणीय विषय है।

यव, कोद्दालक, कोरदूष, तथा अन्य अत्यन्त उष्ण, तीक्ष्ण अन्नपान, सेम उड़द कुलथी की दालें, क्षारसेवन, दही, दही का तोड़, उदश्वित्, कट्वर, खट्टी कांजी, सूअर, भैंसा, भेड़, मछली, गाय का मांस, पिण्याक, पिण्डालू, सूखेशाक, मूली, सरसों, लशुन, कब्जा, सहिंजन दोनों, खडयूष, भूतृण,

फणिज्झक, तुलसी, कुठेरक, गण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मधूलक, शुक्त, कुवल, बेर, खट्टे पदार्थ, पिष्टान्न, उष्णाभितप्त अतिमात्र, कई बार खाद्यपेयादिका सेवन, रोहणी, कपोत, तेल द्वारा में सिद्ध, कुलथी उड़द तिल जामुन बड़हल पके हुए, कच्चा दूध या अधिक गर्म जल तथा अन्य पित्तप्रकोपक कारण रक्त-के निदान में ही गिने जाते हैं।

इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तनुत्।
वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्य्यं बलवतां च यत् ॥५२॥

इस प्रकार रक्तपित्तनाशक अन्नपान क्रमानुसार कह दिया गया है।

बहु दोषयुक्त बलवानों का जो उपचार (है वह अब) कहा जाता है।

संशोधनकर्म

अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्।
बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ॥५३॥
काले संशोधनार्हस्यं तद्धरेन्निरुपद्रवम्।
विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च ॥५४॥

बल मांस (जिसका) अक्षीण (है जो) बहुत दोष (युक्त है), बलवान् (है) जिसका सन्तर्पण (अधिक खाने आदि) से उत्पन्न उपद्रवरहित रक्तपित्त (है तो उस) संशोधनयोग्य व्यक्ति के उस (रक्त-पित्त) को उचित समय पर ऊर्ध्वग (होनेपर) विरेचन के द्वारा तथा अधोग (होने पर) वमन के द्वारा हरण करे।

त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा।
त्रायमाणां गवाक्षीं वा मूलमामलकानि वा ॥५५॥
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम्।
रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः ॥५६॥

बुद्धिमान् वैद्य निशोथ, हरड़, अथवा अमलतास को फलियों को, त्रायमाण, इन्द्रायण की जड़ अथवा आमलों को खूब शहद शक्कर (के साथ) विरेचन (रूप में) प्रयोग करे। रक्तपित्त में उनका स्वरस विशेषरूप से प्रशस्त कहा जाता है। इस लिए उपरोक्त छै विरेचन द्रव्यों में से किसी या कई या सभी के स्वरस को मधु शर्करा प्रचुर मात्रा में मिलाकर ही पीना चाहिए।

वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः।
सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा ॥५७॥
वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु।
अधोगे रक्तपित्ते तु वमनं परमुच्यते ॥५८॥

१—मदनफल मिश्रित शहद शक्कर सहित मन्थ, मदनफल शक्कर सहित अथवा मदनफल और जल या ईख के रस के साथ मदनफल वमनकारक (है)।

२—इन्द्रजौ, मोथा, मदनफल, शहद अधोग रक्तपित्त में (इनके द्वारा) वमन श्रेष्ठ कहा जाता है।

ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिक्रमो हितः।
अधोगमे यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतोबली ॥५९॥

(विरेचन के पश्चात्) शुद्ध कोष्ठ वाले रोगी का ऊर्ध्वग रक्तपित्त में तर्पणादि क्रम हितकर (है)। (वमन के पश्चात् शुद्ध कोष्ठ वाले रोगी का) अधोगम रक्तपित्त में यवागु आदि (क्रम हितकारी है) यदि (उसकी) वात न बलवान् हो तो। (यदि वात की उल्बणता हो तो तित्तिरादिक मांस के योग जो पहले कह आये हैं उनका प्रयोग कराना चाहिए।)

संशमनकर्म

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्।
ज्वलनादित्यसन्तप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥६०॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्।
अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ॥६१॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनीक्रिया।
शस्यते रक्तपित्तस्य परं चातः प्रवक्ष्यते ॥६२॥

बलक्षीण, मांसक्षीण, शोक से कृश, पैदल चलने से कृश, ज्वलन से सन्तप्त, धूप से सन्तप्त, गर्भिणी, वृद्ध, बाल, रूक्षभक्षी, अल्पभक्षी, प्रमित (प्रमाण पूर्वक कुछ कम) भक्षी, शोष के अनुबन्ध से

युक्त अथवा किसी अन्य रोग से क्षीण रक्त-पित्तियों को जो अवम्य या अविरेच्य देखे उसको रक्तपित्त की संशमनीक्रिया प्रशस्त कही गई है और अब आगे (वही) कही जावेगी।

संशमनयोग

१—अटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः।
मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिवर्हणः ॥६३॥

अडूसा, मुनक्का, हरड़ का मिश्री सहित क्वाथ मधु मिलित श्वास, कास तथा रक्तपित्तनाशक है।

२—अटरूषकनिर्य्यूहे प्रियंगु मृत्तिकाञ्जने।
विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ॥६४॥

रक्तपित्तहर अडूसे के क्वाथ में प्रियंगु, सोरठी मिट्टी, रसाञ्जन लोध्र और शहद मिलाकर पिये।

३—पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तूकमुत्पलम्।
नागपुष्पञ्च लोध्रञ्च तेनैव विधिना पिबेत् ॥६५॥

पद्माख, कमलकेसर, दूब, बथुआ, नीलकमल, और नागकेसर तथा लोध को उसी प्रकार ही (अडूसे के क्वाथ में) पिये।

वक्तव्य—(११८) अडूसा का जहां प्रयोग लिखा गया है वहां बहुधा वैद्य उसके पत्ते डालते हैं। पत्तों तथा फूलों में इसका तत्व है यह सत्य है पर जो गुण इसकी जड़ की त्वचा में है वह अन्यत्र नहीं है।

४—प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद्रसे।
यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे ॥६६॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना।
युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद्गोऽश्वशकृद्रसम् ॥६७॥

४—पुण्डरियाकाष्ठ, मुलहठी, शहद, घोड़े की लीद के रस में, अथवा—

५—जमासा और भांगरे की जड़ गाय के गोबर के रस में तण्डुलोदक के साथ मिलाकर पीना।

६- अथवा शहद घी मिला गाय के गोबर के और घोड़े की लीद के रस को मिलाकर पीना। रक्तपित्तनाशक होता है।

७—खदिरस्य प्रियंगूणां कोविदारस्य शाल्मलेः।
पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपित्तिकः ॥६८॥

रक्तपित्तरोग से पीड़ित व्यक्ति कत्था, प्रियंगु, कोविदार तथा सेमर (इन चारों के) फूलों के चूर्णों को (अलग-अलग या एकत्र) मधु के साथ चाटे।

८—शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्ज्जूरयोरपि।
लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥६९॥

(रक्तपित्त से पीड़ित व्यक्ति) सिंघाड़ों, खीलों, मोथा खजूर दोनों भी, तथा कमलकेसर के चूर्णों को (अलग-अलग या एक साथ) शहद के साथ चाटे।

९—रक्तं लिह्याद् धन्वजानां मधुना मृगपक्षिणाम्।
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत् ॥७०॥

जाङ्गल पशुपक्षियों का रक्त (blood) चाटे। (तथा) गांठदार (clotted) रक्त होने पर शहद के साथ पारावत कबूतर की बीट चाटे।

वक्तव्य—(११९) ऊपर कई रक्तपित्तसंशामक योग देते-देते आचार्य ने जाङ्गल पशुपक्षियों के रक्त का प्रयोग भी बतला दिया है। जहां उग्रस्वरूप का रक्तपित्त चल रहा हो और संरक्षण के उपाय कारगर न होरहे हों वहां आजकल भी रक्तरस (plasma) का प्रयोग किया जाता है। चाहे फिर वह चटाया जावे अथवा सुई से अन्तःक्षिप्त कर दिया जावे। हौर्सब्लडसीरम (घोड़े के रक्तरस) का सूचीवेध रक्तस्राव को रोकने का एक सफल उपाय है।

आगे जो योग लिखे जारहे हैं वह चरकसंहिता का अपना वैशिष्ट्य है। किस अवस्था में क्या देना चाहिए इसका बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है।

सश्वासदाहतृषा में—

१०—उशीरकालीयकलोध्रपद्मक—
प्रियंगुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः
सशर्करास्तण्डुलधावनप्लुताः ॥७१॥

रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां
दाहञ्च पीताः शमयन्ति सद्यः ।

खस, पीला चन्दन, लोधपठानी, पद्माख, प्रियंगु, कायफल, शंख, गेरू अलग अलग चन्दन के बराबर (लेकर) मिश्री मिले तण्डुलोदक में आलोडित करके (वे) पीने पर शीघ्र तमकश्वास, प्यास और दाह से युक्त रक्तपित्त को शान्त कर देते हैं ।

११—किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं
प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ॥७२॥
ह्रीबेरमूलानि पटोलपत्रं
दुरालभा पर्पटकं मृणालम् ।
धनञ्जयोडुम्बरवत्सकत्वङ्
न्यग्रोधशालेययवासकत्वक् ॥७३॥
तुगालताकेशरतण्डुलीयं
ससारिवा मोचरसः समङ्गा ।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि
तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥७४॥
निशिस्थिता वा स्वरसीकृता वा
कल्कीकृता वा मृदिताः शृता वा ।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा
रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम् ॥७५॥

चिरायता, पठानीलोध मोथासहित, पौण्डरीक काष्ठ, श्वेतनील. कमलपुष्प, सुगन्धवालामूल, पटोल-पत्र, दुरालभा, पित्तपापड़ा, कमल की नाल, अर्जुन, गूलर, इन्द्रजौ, कुटज की त्वचा, बरगद, शालेय (जामुन या सोंफ), जमासे की जड़ की त्वचा, वंश-लोचन, मजीठ, नागकेशर, चौलाई, सारिवा, मोच-रस, लज्जावन्ती, उसी तरह से बनाकर अलग अलग चन्दन मिलाकर वहां (सश्वासदाहतृषायुक्त रक्तपित्त में) हितकारक हैं ।

ये सब गणानुसार (प्रत्येक द्रव्य के साथ चंदन मिलाने से एक गण बनता है) या अलग अलग रात्रि में (शीतकषायरूप में) रखकर, अथवा स्वरस निकालकर, अथवा कल्क करके, फांट बनाकर या क्वाथ करके (प्रयोग करने से) सर्वथा उदीर्ण रक्त-पित्त को शान्त करते हैं ।

वक्तव्य—(१२०) पृथक् पृथक् चन्दन तुल्यभागिकाः या पृथक्-पृथक् चन्दन योजितानि इन शब्दों से एक इङ्गित यह मिलता है कि श्लोक ७१ से ७४ तक जितने औषधियों के नाम दिए गए हैं इन सबके साथ अलग-अलग चन्दन मिलाकर एक-एक योग बन सकता है या फिर कई-कई मिला चन्दन के साथ अन्य मिश्रयोग बन सकते हैं । इन योगों को गण मान कर उनका क्वाथ, शीतकषाय, फाण्ट, स्वरस अथवा कल्क पंचविध कषाय कल्पना के किसी भी रूप में प्रयोग कर सकते हैं ।

१२—मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः
सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन ।
बलाजले पर्य्युषिताः कषायाः
सरक्तपित्तं शमयत्युदीर्णम् ॥७६॥

मूँगों को खील-जौ-पिप्पली-खस-मोथा-चन्दन सहित बला के स्वरस के कषाय में (एक रात) बसाकर (प्रयोग करने से) वह (शीतकषाय) उदीर्ण रक्तपित्त को शान्त करता है ।

१३—वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां
मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम् ।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव
पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥७७॥

वैडूर्यमणि-मोती-(अन्य) मणि-गैरिक-मिट्टी-शङ्ख-स्वर्ण-(तथा) आमलकों के (बसे हुए) मधूदक (शहदयुक्त जल अथवा) गन्ने का रस पान करने से रक्तपित्त शान्ति प्राप्त करता है ।

१४—उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां
पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः ।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो
रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥७८॥

खस, कमल, नीलकमल (तथा) चन्दन का जो (रात में जल में भीगने का) प्रसाद है और जो

(अग्नि में) पके मिट्टी के लौंदे (के जल में भिगोने) का प्रसाद है (अर्थात् उशीरादि का शीत कषाय अथवा लोष्ट के सम्पर्क का जो जल है) वह शहद मिला चीनी के साथ शीतल रक्त के अतिशय स्राव के प्रशमन के लिए देना चाहिए।

१५—प्रियंगुका, चन्दन लोध्रसारिवा-
मधूकमुस्ताभयधातकीजलम्।
समृत्प्रसादं सह यष्टिकाम्बुना
सशर्करं रक्तनिबर्हणं परम् ॥७६॥

प्रियंगु, चन्दन, लोध्र, सारिवा, महुआ, मोथा, हरड़, और धाय के फूल से वासित जल, मिट्टी से वासित जल तथा मुलहठी से वासित जल के साथ शक्कर मिलाकर परम रक्तनाशक (हो जाता है)।

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तै-
र्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च।
यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति
तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ॥८०॥

यथोक्त विविध कषाय योगों के द्वारा, अग्नि के दीप्त करने पर, श्लेष्मा के जीत लेने पर (भी) जो रक्तपित्त शान्ति प्राप्त नहीं करता है वहां वायु का अनुबन्ध होता है। वहां (निम्नलिखित) चिकित्सा करनी चाहिए।

वातानुबन्ध होने पर—

सशर्करं माक्षिकसम्प्रयुक्तं
विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा।
द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा
बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।
सजीवकं सर्षभकं सर्सर्पिः
पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ॥८१॥

(जब कफघ्न, अग्निसंदीपक सब चिकित्साएँ करने पर भी रक्तपित्त न रुके तो वातानुबन्ध होने पर) शर्करा सहित मधु मिलाकर निम्न प्रयोग करने चाहिए—

१६—शालपर्णी आदि पञ्चमूल का क्वाथ, अथवा
१७—मुनक्का का क्वाथ, अथवा
१८—सोंठ का क्वाथ, अथवा
१९—बला का क्वाथ, अथवा
२०—गोखुरू का क्वाथ, अथवा

मिश्री और घी के साथ—

२१—जीवक और ऋषभक के साथ (क्षीरपाक विधि से) पकाये हुए दूध का प्रयोग करना चाहिए।

मूत्रमार्ग से रक्त आने पर—

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा,
शृतं पयो वाप्यथ पर्णिनीभिः।
रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु
यन्मूत्रमार्गात् सरुजं प्रयाति ॥८२॥

२२—शतावरी (तथा) गोखुरुओं के साथ पकाया हुआ,—

२३—अथवा पर्णियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी और मुद्गपर्णी) के साथ पकाया हुआ—

दूध विशेषकरके तो जो मूत्रमार्ग से दर्द के साथ निकलता है (उस) रक्त को शीघ्र नष्ट करता है।

मल मार्ग से रक्त आने पर—

विशेषतो विट्पथसंप्रवृत्ते
पयोहितं मोचरसेन सिद्धम्।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा
ह्रीवेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥८३॥

विशेष करके गुद से पर्याप्त निकलने वाले (रक्त) में-

२४—मोचरस के द्वारा सिद्ध दुग्ध,

२५—अथवा बरगद की जटाओं (के साथ सिद्ध दुग्ध)

२६—अथवा बरगद के अंकुरों (के साथ सिद्ध दुग्ध)

२७—अथवा सुगन्धवाला, नीलोफर (और) सोंठ (के साथ सिद्ध दुग्ध)

हितकारक (माना गया) है।

रक्त के अतिस्राव में—

कषाययोगान्पयसा पुरा वः
पीत्वा तु चाद्यात्पयसैव शालीन्।
कषाय योगैरथवा विपक्व-
मेतैः पिबेत्सर्पिरतिस्स्रुते च ॥८४॥

अथवा रक्तपित्त के अतिस्राव में कषाययोगों को दूध के साथ पहले पीकर (फिर) दूध से ही शालिचावलों (के भात) को खावे। अथवा इन्हीं कषाययोगों के द्वारा पका हुआ घी पीवे।

वासाघृत

वासां सशाखां सपलाशमूलां
कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः।
प्रदाय कल्कं विपचेद्घृतं तत्
सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥८५॥

शाखा सहित, पत्र और जड़ के साथ पियाबांसा का (यथाविधि) कषाय करके और इसी के फूलों का कल्क देकर घृतपाक करे। वह शहद के साथ ही रक्तपित्त को नष्ट कर देता है।

अन्य घृतयोग

पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं
तस्यैव कल्केन मधूद्रुमेण।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं
तद्वत् समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ॥८६॥

ढाक के पत्तों के वृन्त के स्वरस के द्वारा (और) उसी के कल्क से सिद्ध अथवा महुआ के वृक्ष के वृन्तों के स्वरस और इन्द्रजौ के कल्क से सिद्ध अथवा उसी प्रकार लज्जावन्ती (या मजीठ) नीलकमल और लोध्र के (स्वरस तथा कल्क से) सिद्ध घृत (रक्त-पित्त में) चाटे।

स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव
सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे।
सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि
सर्व्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ॥८७॥

त्रायमाणा (के घृत निर्माण की) विधि, तथा गूलर सहित पटोलपत्र (के घृत निर्माण की) विधि वही है (जैसी कि ऊपर बतलाई गई है) तथा पित्तज्वर नाशक सब घृतयोग रक्तपित्त में श्रेष्ठ होते हैं।

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि
सेकावगाहाः शयनानि वेश्म।
शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्यं
पित्तज्वरे यत् प्रशमाय दिष्टम् ॥८८॥
तदुक्तपित्ते निखिलेन कार्य्यं
कालं च मात्रां च पुराः समीक्ष्य।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्य—
स्ते रक्तपित्तं शमयन्ति सद्यः ॥८९॥

पित्तज्वर में शमन करने के लिए अभ्यङ्गयोग, परिषेक, सेक, अवगाहन, शयन, (धारा) गृह, और श्रेष्ठ बस्तिविधान उपदिष्ट (कहे गये) हैं वह सम्पूर्ण-तया रक्तपित्त में करना चाहिए। तथा मात्रा और काल को पहले देखकर जो सर्पिर्गुड (तथा अभ्यं-गादि योग) उरःक्षत के रोगियों के लिए हित-कर (हैं) वे शीघ्र रक्तपित्त को शान्त कर देते हैं।

ग्रथित रक्तपित्त में—

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते
कण्ठागते स्याद्ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च
क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य ॥९०॥

रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध होने पर तथा ग्रथित (गांठदार रक्त) कण्ठ में आजाने पर युक्ति-पूर्वक प्रयुक्त नीलकमल की नाल के क्षार का शहद घी मिलाने पर प्रयोग करना चाहिए।

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां
तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः।

तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य
क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥६१॥

श्वेत और नीलकमल की मृणाल और पुंकेसरों तथा ढाक के तथा प्रियंगु के तथा महुए के तथा विजयसार के (अथवा शणस्य पाठ मानने पर सन के फूलों के) क्षारों को उसी विधि से (मधु घृत मिला) प्रयोग करना चाहिए।

शतावर्य्यादिघृत

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं
काकोलिमेदे मधुकं विदारीम्।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य
घृतं पचेत् क्षीरचतुर्गुणं ज्ञः ॥६२॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं
तद्रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात्।
यत् पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा
सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि ॥६३॥
(इति शतावर्य्यादि घृतम्।)

शतावरी, अनार, तिन्तिडीक, काकोली, मेदा, महामेदा, मुलहठी, विदारीकन्द, तथा बिजौरे नीबू की जड़ को पीसकर चतुर्गुण (पद्धति) को जानने वाले [illegible] (कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण द्रव प[illegible]ड़ता है इस नियम को समझने वाला) घी का पा[illegible]क करे। वह घृत रक्तपित्त, कास, ज्वर, आनाह, विबन्ध, [illegible]था उदरशूल को नष्ट कर देता है। तथा जो पाँचों [illegible]कार के पञ्चमूलों से सिद्ध घृत (होता है) वह भी श[illegible]तावर्य्यादि घृत के समान ही गुणकारी होता है।

(यह शत[illegible]वर्य्यादि घृत—है)।

नासा से प्रवृत्त रक्तपित्त में

कषाययोगा य इहोपदिष्टा–
स्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः।
घ्राणात् प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं
यदा भवेन्निःसृतदुष्टदोषम् ॥६४॥

जो यहां कषाययोग कहे गये हैं वे नाक से प्रवृत्त सपित्त रक्त जब दुष्ट दोष निकालकर शुद्ध होवे (तब) अवपीड़ (द्रव्य कूट रस निकाल नाक में डालने की क्रिया) वैद्य प्रयोग करे।

रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे
दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः।
रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः
स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः ॥६५॥

रक्त में दुष्ट दोषों की उपस्थिति होने पर (उस रक्त को) अवपीडों द्वारा स्तम्भित कर देने पर दुष्ट प्रतिश्याय, शिरःशूल, सपूयरक्त, शवगन्ध और दुष्ट कृमि तथा नासा का नाश होता है।

वक्तव्य–(१२१) नाक से रक्त का स्राव होने पर या अन्यत्र कहीं से भी रक्त का स्राव होने पर उस रक्त को उसी समय रोकने की आयुर्वेदीय प्रथा नहीं है जब तक यह स्पष्ट रूप से पता न चल जाय कि रक्तपित्त का रूप भीषण होने वाला है और उसके परिणामस्वरूप मृत्यु अनिवार्य है। दुष्ट दोषों की निवृत्ति होजाने पर ही रक्तपित्त का उपाय करना चाहिए। जो चिकित्सक प्रदुष्ट रक्त को निकलने से पहले ही अवपीड़ादि रक्तस्तम्भक क्रियाओं द्वारा रक्तस्राव रोक देते हैं वह रक्त अस्थियों के विवरों में जम जाता है। उस पर स्ट्रेप्टोकोकाय या स्टैफिलोकोयाय या अन्य पूयकारी जीवाणु अपना अधिकार जमाकर पूयोत्पत्ति कर देते हैं। पूय

फिर इतर पराश्रितों के प्रवेश से कीड़े पड़ जाते हैं नाक से भयङ्कर कष्टदायक शवगन्ध तक आने लगती है तथा अन्त में घ्राणनाश तक होसकता है।

नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं
सचन्दनं स्यात्तु सिलाजलेन।
नस्यं तथाम्रास्थिरसःसमङ्गा
सधातकी मोचरसः सलोध्रः ॥९६॥
रसस्य नस्यं
क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव।
पलाण्डुमूलं
नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥९७॥
प्रियालतैलं मधुकं पयश्च
सिद्धं घृतं माहिषमाजिकं वा।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं
ससारिवैः स्यात्कमलोत्पलैश्च ॥९८॥

नीलकमल, गेरू, शंख युक्त, चन्दन सहित मिश्री के जल के साथ नस्य है तथा आम की गुठली का रस, लज्जावन्ती, धाय के फूल के साथ, लोध्र सहित मोचरस (भी नस्य है)। अंगूर का रस, गन्ने का रस, दूध का और दूब के रस का (इन सबका अलग-अलग या मिलाकर) नस्य (होता है)। जवासे की जड़, प्याज की जड़, (अर्थात् प्याज) तथा अनारके फूल के रस को (भी) नस्य (रूपमें प्रयोग करना चाहिए) चिरौंजी के बीजों का
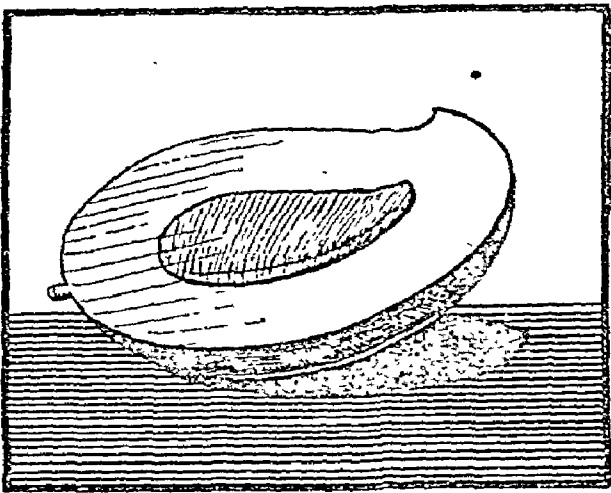
तेल,मुलहठी, और गोदुग्ध से सिद्ध भैंस या बकरी का सिद्ध घी आम की गुठली (आदि) पूर्वोक्त द्रव्यों सारिवा, कमल और नीलकमल (के स्वरस) तथा दूध के साथ नस्य (नाक से निकलने वाले रक्त-स्राव में लाभप्रद) होता है।

रक्तपित्त में प्रलेपादि योग

भद्रश्रियं लोहितचन्दनञ्च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्य्या मधुकं पयस्या ॥९९॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्य्या तृणमूलमृद्धिः ॥१००॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः
कषायवृक्षाःशिशिराश्चसर्वे ॥१०१॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथावगाहे घृततैलसिद्धौ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन्
भद्रश्रियादीनिभिषक्प्रदद्यात् ॥१०२॥

भद्रश्री (श्वेतचन्दन), लालचन्दन और पुण्डरिया काष्ठ, कमल, नीलकमल और खस, बेतस, सुगन्धवाला, कमल की दण्डी, दूर्वाभेद, मुलहठी, क्षीरकाकोली, शालि और गन्ने की जड़ें, जवासे तथा गुन्द्रा की जड़, नरसल और कुश कांस दोनों की जड़, वकमकाष्ठ (कुचन्दन), सिवार, अनन्तमूल, तगर, गन्धतृण की जड़, ऋद्धि, जल से उत्पन्न पौधों की जड़ें, फूल, तथा तलैयों की मिट्टी का लेपन; गूलर, पीपलवृक्ष, महुआ, लोध (आदि) सब कषाय रसप्रधान तथा शीतवीर्यवृक्ष (प्रलेपन में उपयोगी हैं)। प्रदेहकल्प (लेप), परिषेक, अवगाहन में भद्रश्री आदि उपरोक्त द्रव्यों से सिद्ध घी (अथवा) तैल रक्तपित्त की शान्ति की इच्छा करता हुआ वैद्य प्रदान करे।

शीतोपचार

धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं
वनं च रम्यं जलवातशीतम्।
वैदूर्य्यमुक्तामणिभाजनानां
स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः ॥१०३॥
पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां
क्षौमं च शीतं च कदलीदलानि।

प्रच्छादनार्थं शयनासनानां
पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः ॥१०४॥

प्रियंगुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः
प्रियाणां च वराङ्गनानाम् ।

दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः
पद्मोत्पलानां च कलापवाताः ॥१०५॥

(रक्तपित्त से उत्पन्न) दाह में अत्यन्त शीतल धारागृह, भूमिगृह (तहखाना), जलवायु से शीतवीर्य रमणीक वन, बर्फ के जल से शीतल किये वैदूर्यमुक्ता-मणि के बने पात्रों के स्पर्श; शयन तथा आसनों के प्राच्छादन के लिए जल से उत्पन्न पौधों के पत्र तथा पुष्प, शीतल रेशमी वस्त्र, केले के पत्ते श्वेतकमल [illegible]लकमलों के पत्र प्रशस्त (होते हैं)।

दाह में प्रियंगु, चन्दन से लिप्त प्रिय सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श, शीतल जल, पद्म तथा उत्पल के बीजनों की वायु प्रशस्त (होती है)।
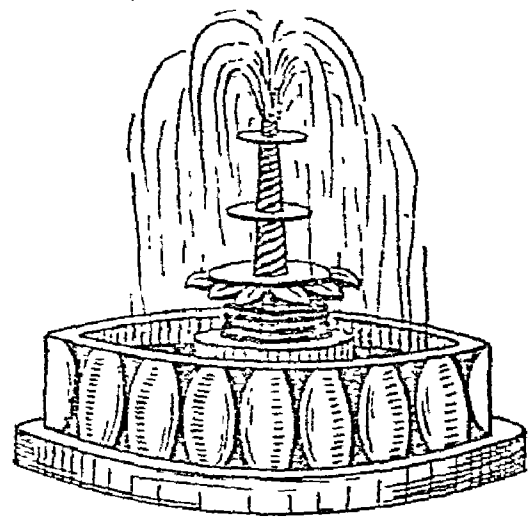
सरिद्ध्रदानां हिमव-
द्दरीणां चन्द्रोदयानां
कमलाकराणाम् ।
मनोऽनुकूलाः शिशि-
कथाः राश्चसर्वाः
रक्तं शमयन्ति
पित्तम् ॥१०६॥

सरिताओं, ह्रदों, हिमालय की कन्द-राओं, चन्द्र के उदय कमल के आकर (तालाबों) की तथा शिशिर पदार्थों की मन को भाने वाली कथाएँ रक्तपित्त को शान्त करती हैं।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौ:

हेतुं वृद्धिं संख्यास्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य ।
मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्य्यं क्रमञ्चैव ॥१०७॥
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनञ्च शमनञ्च ।
गुरुरुक्तवान् यथावच्चिकित्सितं रक्तपित्तस्य ॥१०८॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)

हेतु, वृद्धि, संख्या, स्थान, लक्षण, दूषित रक्त-पित्त के, दोनों मार्ग, साध्य, असाध्य, याप्य, चिकित्सा का क्रम, इष्ट तथा वर्जनीय अन्नपान, संशोधन और संशमन इनको गुरु (पुनर्वसु आत्रेय ने) रक्त-पित्त के चिकित्साध्याय में यथावत् क[illegible]ा है।

वक्तव्य—(१२२) रक्तपित्त के इस अध्याय में आचार्य ने बड़े विचार के साथ चिकित्सा का क्रम लि[illegible] है। कोई कहे कि चरक के इस अध्याय में किसी रक्तस[illegible]ापक तौर को मैं ढूंढना चाहता हूं तो वह कैल्सियम के [illegible] यौगिक संयोग मुक्ता, शंख आदि, शीतवीर्य विटामिन सी तथा [illegible] विटामीन के के भण्डार, रक्तसेवन, रक्तरस का प्रयोग जो [illegible] आजकल के आधुनिक चिकित्सक करते हैं वह सब ढूंढ स[illegible] है साथ ही प्राकृतिक शीतोपचारों का सेवन, बर्फ का [illegible] जलवायु का परिवर्तन तथा अन्य शीतकर भाव जो ने[illegible] पैथ कर सकते हैं वे सब भी यहां निहित हैं पर इन स[illegible] बढ़ कर भी है रक्तपित्त के रोगी की ठीक-ठीक सम्भाल [illegible] उसकी चिकित्सा के क्रम की ठीक ठीक निश्चिति वह [illegible] संहिता की अपनी विशेषता है जो अन्यत्र पाई जानी [illegible] समय दुर्लभ है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकि[illegible]स्थाने रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसं[illegible]त का [illegible]निक (इस) शास्त्र में चिकित्सास्थान में रक्तपित्तचिकि[illegible]रा नामक चतुर्थ अध्याय (समाप्त हुआ)।
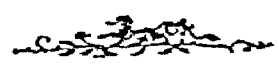
चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

(पञ्चमोऽध्यायः)

गुल्म चिकित्सा

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) गुल्मचिकित्सित (नामक पाँचवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः
पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिवर्हणार्थं
प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥२॥

सब प्राणियों के पितातुल्य शरण देने योग्य, भूत तथा भविष्यत्काल के प्रभु, वक्ताओं में श्रेष्ठ पुनर्वसु ने गुल्म नष्ट करने के लिए सिद्ध चिकित्सा विशेषरूप से कही ।

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा ।
तैरेव वृद्धैः परिपीडनाद्वा ॥
वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा ।
बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥३॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा
शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ॥
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः
कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥४॥

पुरीष, कफ (तथा) पित्त (के) अतिपरिस्राव से, अथवा उनके ही प्रवृद्ध होने से (हुए) परिपीडन से, अथवा अधोगत वेगों के उदीरण को रोक लेने से, अथवा बाह्य अभिघात या बाह्य अतिपीडन

से, अथवा अतिमात्रा में रूक्ष अन्नपान के सेवन करने से, शोक से, (वमनादिक) पञ्चकर्म के मिथ्या होजाने से, विषम अथवा अतिमात्र चेष्टाओं से कोष्ठ में वायुप्रकोप को प्राप्त होती है ।

कफं च पित्तं च स दुष्टवायु–
रुद्धूय मार्गान् विनिबद्धय ताभ्याम् ।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं
करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥५॥

वह कुपित अथवा दुष्ट वात कफ तथा पित्त को (अपने अपने) स्थान से हटाकर उन दोनों से मार्गों को बांध कर हृदय, नाभि, उदर के दोनों पार्श्व, बस्ति में शूल को कर देता है और मार्ग के बद्ध

होने के कारण नीचे की ओर नहीं जाता।

वक्तव्य--(१२३) गुल्म के इस चिकित्सा प्रकरण में आत्रेय जी ने उसकी सम्प्राप्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। रक्तजगुल्म को छोड़कर शेष सभी प्रकार के गुल्मों का आदि कारण हुआ करता है--**वात की दुष्टि।** वात की दुष्टि के कई कारण आचार्य ने यहां तथा निदान-स्थान में बतलाये हैं। दुष्टवायु पक्वाशय, बृहदन्त्रादि मार्गों को छोड़कर ग्रहणी में पित्त अथवा तथा आमाशय में प्रवेश कर जाती है। प्रवेश के पश्चात् ग्रहणी से पित्त को चलायमान कर देती है तथा आमाशय से कफ को। ये दोनों विमार्गगामी होने के कारण मार्गों के अवरोधक बन जाते हैं मार्ग के अवरुद्ध होजाने से बस्तिप्रदेश में, पार्श्व में, उदर में, हृदय के प्रदेश में अथवा नाभि में अर्थात् उदर के सम्पूर्ण क्षेत्र में कहीं भी कोई न कोई गुल्म (या गोला सा) उठ [illegible] है उसमें बहुत शूल होता है। संक्षेप में वायु का दुष्ट होकर कफ और पित्त को अपने स्थान से निकाल मार्गावरोध कर देना जिसका परिणाम शूलयुक्त गोले के उदर में कहीं भी बनने में होना है।

गुल्म की परिभाषा

पक्वाशये पित्तकफाशये वा
स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वा-
द्गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥६॥

पक्वाशय में, पित्ताशय में अथवा कफाशय में स्थित स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र, छूने से जाना जासकने वाला, परिपिण्डित (गोलाकार) होने से यथा-दोष (दोषानुसार वातज, पैत्तिक अथवा कफज आदि) नाम गुल्म प्राप्त करता है।

वक्तव्य--(१२४) उपरोक्त श्लोक में गुल्म से क्या लिया जाता है उसे स्पष्ट किया गय है। यह गुल्म की सर्वसाधारण परिभाषा है। गुल्म स्पर्शोपलभ्य (palpable to the touch) स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र एक पिण्ड होता है। यह पिण्ड पक्वाशय में नाभि के नीचे, पित्ताशय में नाभि-पर या पार्श्वों में अथवा आमाशय में जिसे हृदय प्रदेश कहते हैं वहां बनता है। स्वतन्त्र पिण्ड वह होता है जिसे हम हाथ से पकड़ कर इधर उधर हिला डुला सकते हैं। परतन्त्र पिण्ड वह होता है जो एक स्थान पर स्थित रहता है तथा अपनी स्थिति से तनिक भी टस से मस नहीं होता है। पेट में पनपने वाला अस्थायी या स्थायी गोला गुल्म नाम से विख्यात है। इसके विविध नाम विभिन्न दोषों के अनुसार रखे जाते हैं।

सुश्रुत ने इसकी परिभाषा और भी स्पष्टतया उपस्थित की है कि—

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि [illegible]ऽचलः।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति [illegible] कीर्तितः ॥

गुल्म के स्थान

बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा
स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।
पञ्चात्मकस्य प्रभवन्तु तस्य
वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकि[illegible]त्सितञ्च ॥७॥
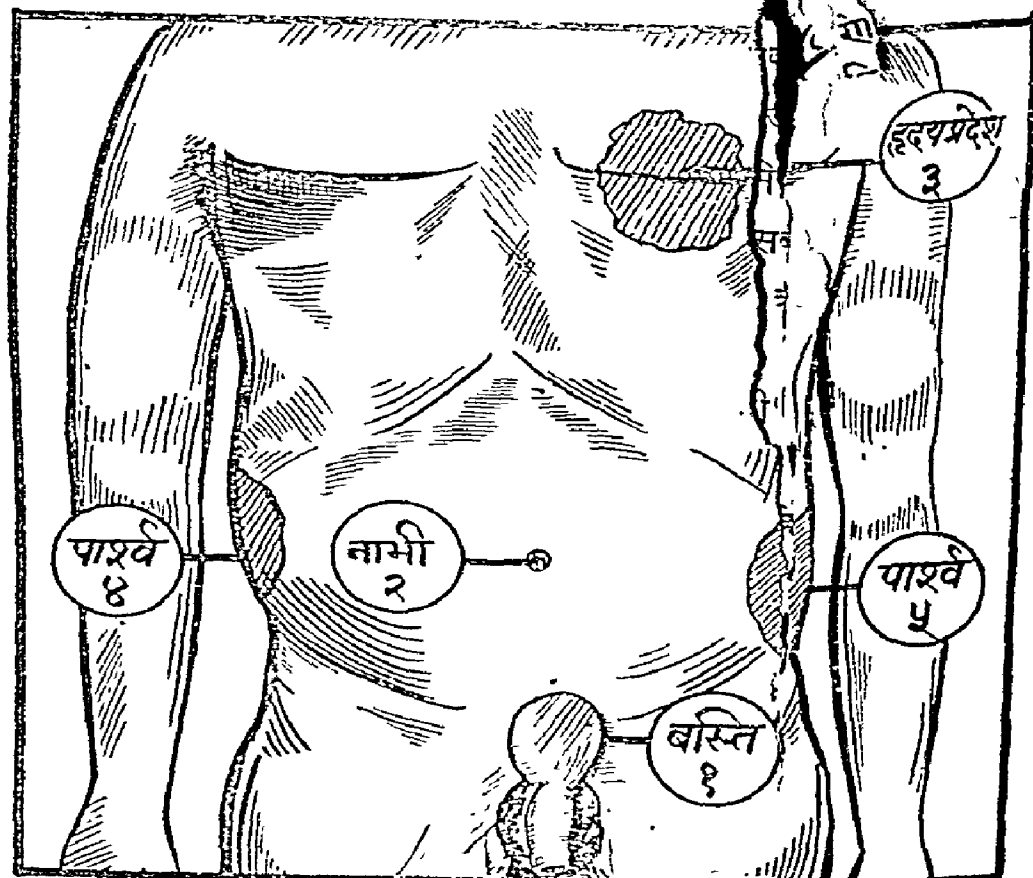
गुल्म के पांच स्थान

बस्ति में, नाभि (प्रदेश) में, हृदय में और दोनों पार्श्वों में गुल्म के पाँच स्थान होते हैं। पाँच प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, साग्निपातिक तथा रक्तज) के उस (गुल्म) के निदान, लक्षण और चिकित्सा को मैं कहूँगा।

वक्तव्य—(१२५) ऊपर जो पांच स्थान गुल्म के बतलाये हैं यह सरफेस-एनाटोमी की दृष्टि से क्षेत्रदर्शक हैं बस्ति क्षेत्र में रक्तजगुल्म गर्भाशय से संलग्न बीजकोष से निकलता है।

वातगुल्म

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं
विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च
निरन्नता चानिलगुल्म हेतुः ॥८॥

वात गुल्म

कभी (१) हृदयप्रदेश, कभी (२) नाभि-प्रदेश तथा कभी (३) वस्तिप्रदेश में पीड़ा होती हैं। गुल्म की आकृति वा रूप एक सा नहीं रहता, पीड़ा कभी थोड़ी कभी असह्य होती है।

रूक्ष अन्नपान (के द्वारा) विषमाशन (तथा) अशन करना, (शरीर की स्वाभाविक) चेष्टाओं का व्यतिक्रम (यदि विषमातिमात्र का सम्बन्ध विचेष्टनं के साथ श्लोक ४ की तरह करदें तो विषम चेष्टाऐं तथा अतिमात्र चेष्टाएं), वेगों का रोकना, शोक, अभिघात, मल का अत्यन्त क्षीण होना तथा अनशन यह वातगुल्म का हेतु (निदान) है।

यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं
विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरञ्च
हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥९॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं
भुक्तेमृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं
कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥१०॥

जो स्थानविकल्प (कभी किसी स्थान पर गोला कभी किसी स्थान पर उठा हुआ), संस्थानविकल्प (कभी छोटा कभी बड़ा स्वरूप का परिवर्तन), रुजाविकल्प (शूल का कभी एक स्थान पर होना कभी दूसरे पर) को, मलावरोध, वात का अवरोध, गले का सूखना, मुख का सूखना, श्यावारुणता, शीतपूर्वकज्वर तथा हृदय-कोख-पसली-कन्धे तथा शिर में शूल को कर देता है। जो (भोजन के) जीर्ण होने पर अत्यधिक प्रकोप और भोजन कर लेने पर सौम्यता प्राप्त कर लेता है वह गुल्म वात से उत्पन्न हुआ (जानना चाहिए)। और वहां रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु (पदार्थ) सुख उत्पन्न नहीं करते।

वक्तव्य—(१२६) वातगुल्म जाड़े के ज्वर के साथ पेट में कभी वस्तिप्रदेश में कभी पार्श्व में कभी हृदयक्षेत्र

में गोला सा उठता है। वह श्याव या अरुण अथवा श्यावारुण वर्ण का होता है। वह जहां जहां हृदय, कोख, पसली, में उत्पन्न होता है दर्द करता है तथा वातनाड़ियों से सम्बद्ध अंग जैसे कन्धे तथा सिर इनमें रिफर्डपेन (referred pain) होता है। भोजन पचजाने पर जब स्वाभाविक रूप से वायु बढ़ती है तब वातकोपपूर्वक इसका भी कोप होता है। पर कुछ खालेने के बाद यह प्रकोप शान्त होजाता है। अपानवायु तथा पुरीष का रुक जाना इसका एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। वातिक उदावर्त में जहां वायु का ऊर्ध्वगमन रुक जाता है और उदान अथवा समानवायु ही अधिकतर दोषपूर्ण रहती है वहां वातिकगुल्म में वायु की अधोगति रुक जाती है।

पित्तगुल्म

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष—
क्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं
पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥११॥

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, दाहकारक, रूक्ष (पदार्थ), क्रोध, अत्यधिक मद्यपान, धूप इनका प्रयोग; आम, अभिघात, तथा रुधिर की दुष्टि (ये सब) पित्त के गुल्म के निमित्त (कारण) कहे गये हैं।

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः
शूलं महज्जीर्यति भोजने च।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः
स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१२॥

ज्वर, प्यास, चेहरा तथा शरीराङ्गों का लाल होना, भोजन के जीर्ण होते समय अत्यन्त शूल, स्वेद, दाह और व्रण के समान स्पर्श की असहनशीलता, (ये) पैत्तिकगुल्म के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(१२७) पैत्तिकगुल्म में भी ज्वर एक आवश्यक लक्षण है। फूला हुआ भाग पके फ़ोड़ा सा पिराता है। रोग की वृद्धि और शूल भोजन के जीर्ण होते समय देखा जाता है।
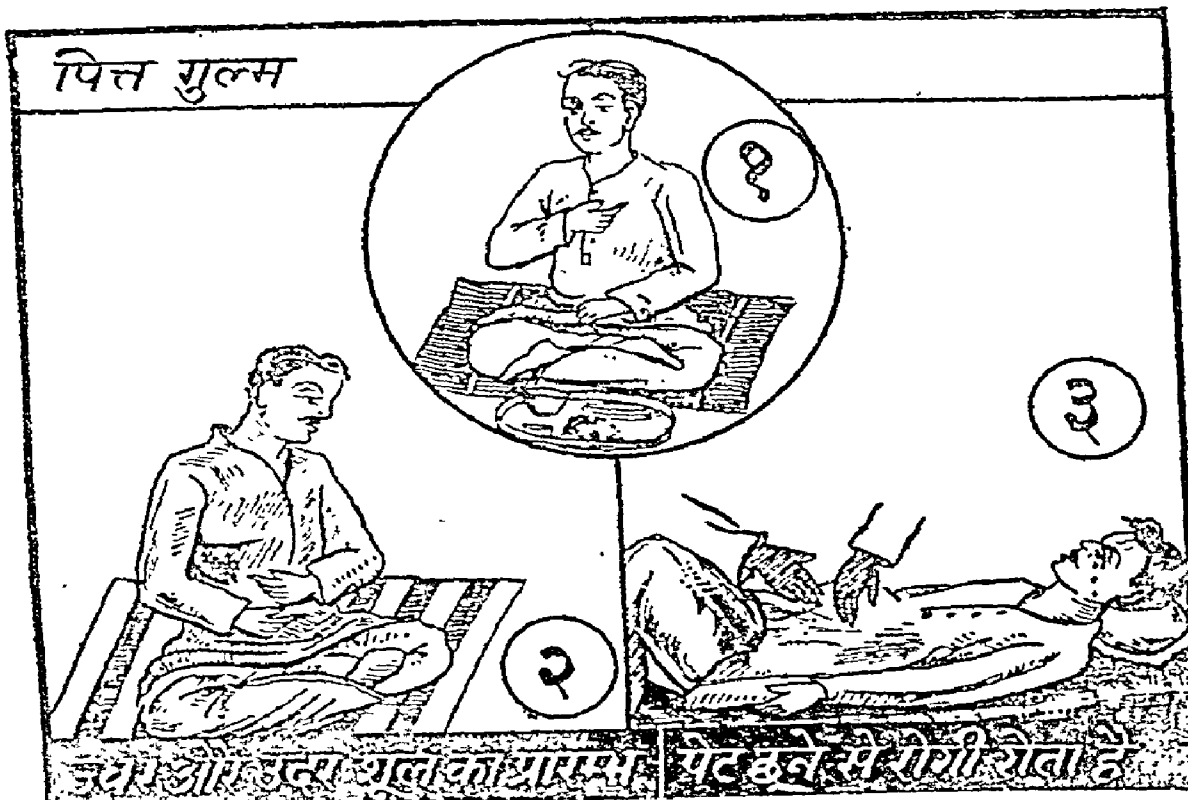
भोजन करने के बाद ज्वर और हल्का शूल प्रतीत होता है। शीघ्र ही तीव्रशूल होता है यहां तक की पेट छूने से भी रोगी रोता है।

कफगुल्म

शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टनञ्च
सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य
सर्वस्तु दिष्टो निचयात्मकस्य ॥१३॥

शीत, गुरु-स्निग्ध (पदार्थों का सेवन), क्रियाशीलता (body activities) का अभाव, तृप्तिपर्यन्त आहार (ठूँस-ठूँस कर खाना) और दिन का सोना। (ये) कफ से उत्पन्न गुल्म के हेतु (कहे गये हैं)।

तथा ऊपर वात, पित्त और कफगुल्मों के कारक जितने भी हेतु बतलाये गये हैं वे सभी सान्निपातिक गुल्म के कारण कहे गये हैं।

लिए (अर्थात् ठीक ठीक चिकित्सा करने के लिए) आदेश दे।

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसाद—
हृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं
गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१४॥

स्तैमित्य (भीगे कपड़े से लिपटा हुआ हो ऐसा अनुभव), शीतपूर्वा ज्वर, शरीर में अवसाद, मिचली आना, कास, अरुचि, भारीपन, शीतलता, थोड़ी पीड़ा, कठिनता (तथा) उन्नतता (ये सब) कफजन्य गुल्म के रूप हैं।

वक्तव्य—(१२८) कफगुल्म भी सज्वर होता है। इसमें कफज अन्य कई लक्षण होते हुए भी जो पेट में गोला बनता है वह बहुत बड़ा और खूब उठा हुआ होता है।

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे
द्विदोषजे दोषबलाबलञ्च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मां
स्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१५॥

द्विदोषज गुल्म में हेतु, लक्षण तथा दोषों का बलाबल विचार कर इन अपर (दूसरे) व्यामिश्रलिङ्गी (दो दो दोष वाले वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक) गुल्मों को औषध (की उचित) कल्पना के लिए (अर्थात् ठीक ठीक चिकित्सा करने के लिए) आदेश दे।

सन्निपातगुल्म

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्
घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनः शरीराग्निबलापहारिणं
त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१६॥

अत्यन्त वेदनायुक्त, दाहयुक्त, पत्थर के समान घन तथा उन्नत, शीघ्र विदग्ध होने वाले, दारुण, मन-शरीर तथा अग्नि के बल के हरण करने वाले त्रिदोषज गुल्म को असाध्य कह दे।

वक्तव्य—(१२९) यहां जो कई लक्षण दिये गये हैं ये विकृतिविषमसमवायात्मक सन्निपात गुल्म के लक्षण हैं जो उसकी असाध्यता के द्योतक हैं। पर जो गुल्म प्रकृति-समसमवायात्मकनिदान लिङ्गात्मक होता है। अर्थात् जिसमें ग्रन्थोक्त वात पित्त कफ गुल्म के लक्षण मिलते हुए भी जो सौम्य स्वरूप का होता है वह त्रिदोषजगुल्म साध्य माना जाता है।

शूल, दाह, घन, उठा हुआ, पत्थर सा कड़ा गुल्म
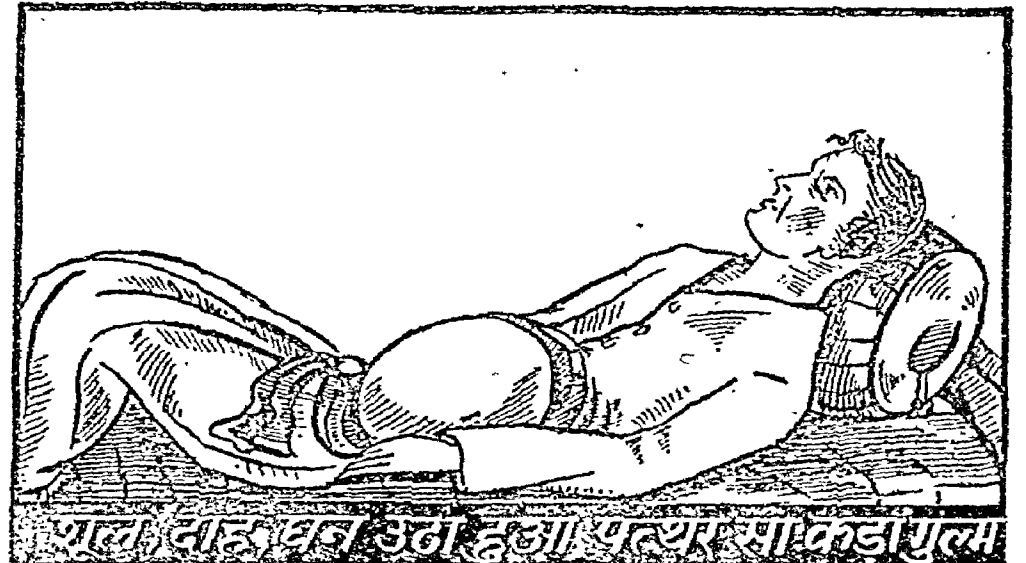
रक्तगुल्म

ऋतावनाहारतया भयेन
विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषै-
र्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥१७॥

ऋतुकाल में अनशन करने से, भय से, विरूक्षण के द्वारा, वेग का निग्रह करने से तथा संस्तम्भक (पदार्थ) सेवन करने से, वमन से, योनिदोषों से स्त्रीको रक्तजगुल्म होजाता है ।

वक्तव्य—(१३०) आधुनिक चिकित्सकों की खोज रक्तजगुल्म के सम्बन्ध में कोई औपसर्गिकता की सूचना नहीं दे पाई। यह न उपसर्गज है और न जीवाणुज। यह तो शरीर के अन्दर रहने वाले कारणों से ही बनता है। रक्तज से हमें यहां आर्तवज ग्रहण करना चाहिए। ऋतुकाल में जब कि ऋतुमती की एक विशेष चर्या है उसका पालन नहीं किया जाता। ऋतुमती जब भूखी रहती या रक्खी जाती है या अकस्मात् कोई भय का कारण बन जाता है तो स्वाभाविक बीज की बीजकोष को छोड़ गर्भाशय में प्राप्ति की गति रुक जाती है । वेगनिग्रहण विशेषकर मलमूत्र के वेगों का निग्रह, वमन तथा संस्तम्भनकारक योग जो स्त्री को देर तक मैथुन सामर्थ्य प्रदान करने के विचार से वाजीकरणसेवी प्रयोग कर सकते हैं उनके द्वारा भी बीज का ठीक से क्षरण नहीं होपाता। बीज का क्षरण न होते हुए भी स्त्री के शरीर में कुछ ऐसी मानसिक स्थिति बन जाती है कि उसे गर्भधारणा होगई है। मन के आदेश पर जो-जो कार्य शरीर गर्भ के सम्बन्ध में कर सकता है अर्थात् कोशा कोशा का विभेदन, रक्त की उपस्थिति, अन्य पदार्थों की सञ्चिति, मासिकधर्म की रोक और बीजकोश के एक भाग की वृद्धि वह सब गर्भ के ही अनुसार मासानुमासिक, वृद्धि-क्रम से चल पड़ती है। गर्भ के सब लक्षण स्त्री पर प्रगट होजाते हैं पर वह गर्भ न होकर रक्तजगुल्म (रक्त का गोला) बनता है। इसके लक्षणों को देखने से भी गर्भ का भ्रम होता है इसी कारण इसकी चिकित्सा दसवें मास के बीतने पर करने का शास्त्रीय आदेश है। कभी-कभी प्रसव के पश्चात् जब गर्भाशय अपनी प्राक्गर्भीयावस्था प्राप्त करने में असमर्थ रहता है और जब आम गर्भ का पात होजाता है उसके बाद भी गर्भाशय में वैसी अवस्था बन जाती है। वहां पर वायु दुष्ट होकर गर्भाशय के मुख को अवरुद्ध करके गुल्म की उत्पत्ति करती है। यह गुल्म सरुज और सदाह होता है इसे सुश्रुत ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

नवप्रसूताऽहितभोजनाया याचामगर्भं विसृजेदृतौवा ।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ॥

रक्तजगुल्म को हिमैटोमेट्रा (haemetometra) और ओवेरियन सिस्ट (ovarian cyst) दोनों में से कोई लेसकते हैं।

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः-
श्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
सरौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१८॥

जो अङ्गविशेष से नहीं (अपि तु सम्पूर्ण) पिण्ड-रूप ही देर से स्पन्दन करता है, शूलयुक्त, गर्भ के समान लक्षणयुक्त (होता है) रक्तज, स्त्रियों में ही होने वाला गुल्म (होता है)।

वह दसवां महीना बीत जाने पर (ही) चिकित्स्य (चिकित्सा करने योग्य होता है)।

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम् ।
प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वञ्च योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥१९॥

अस्तु, गुल्मियों की गुल्मनाशक सिद्ध चिकित्सा तथा गुल्मघ्न योगों को अब आगे मैं कहूँगा।

वातगुल्म

रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम्।
बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् ॥२०॥

रूक्ष (पदार्थों के सेवन) से उत्पन्न तथा व्यायाम (अथवा परिश्रम) से उत्पन्न तीव्रवेदनान्वित पुरीष और अपानवात विबद्ध (जिसमें होगये हैं ऐसे) वातिकगुल्म को आरम्भ से स्नेहों के द्वारा ठीक करे।

भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः।
स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्त्तव्यो गुल्मशान्तये ॥२१॥

(स्निग्ध) आहार तथा अभ्यङ्ग के द्वारा स्नेहपान, निरूहन, तथा अनुवासन के द्वारा स्निग्ध (हुए गुल्म से पीड़ित रोगी का) गुल्म की शान्ति के लिए वैद्य के द्वारा स्वेदनकर्म करना चाहिए।

स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्।
भित्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ॥२२॥

स्वेदन विधि

करके स्रोतों की मृदुता, जीतकर प्रकुपित हुई वायु को, भेदन करके विबन्ध को स्नेहन किये गुल्म रोगी का स्वेदन गुल्म को दूर कर देता है।

वक्तव्य—(१३१) गुल्म की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है वायु की उल्बणता। उल्बणता के नाश के लिए वायुशामक चिकित्साविधान अतीव आवश्यक है। स्नेहन करके स्वेदन करना ये जो दो प्रकार बतलाये गये हैं वे प्रवृद्ध वायु को ठीक कर सकते हैं। स्नेहन की कई विधियां हैं घृत या तैल पूरित भोजनों का लेना जैसे मालपुआ हलुआ आदि खिलाना, तैल की सारे शरीर पर मालिश करना, शुद्ध एरण्ड तैल का पान कराना, निरूहण या अनुवासन बस्तिकर्म करना। जैसे भी सम्भव हो तथा जिसमें रोगी को कम-से-कम कष्ट हो वहां स्नेहन के विधान का उपयोग करना चाहिए। स्निग्ध शरीर का स्वेदन कर देने के ३ उपयोग गिनाए गये हैं—१—स्रोतों का मृदु होजाना, २—कुपितवात की शान्ति तथा ३—मल और वात के विबन्ध का भेदन।

वातिकगुल्म में जो वैद्य स्नेहन और स्वेदन की प्रणाली को न अपना कर कुछ ऊंचे योग देने का यत्न करते हैं वे आयुर्वेद का गला घोंट कर अपना उल्लू सीधा करने का असफल प्रयत्न करते हैं।

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे।
पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये ॥२३॥

ऊर्ध्वनाभिज (क्षेत्र) में गुल्म होने पर स्नेहपान विशेषकरके हितकर (होता है) पक्वाशय (क्षेत्र) में (जब गुल्म होता है तब) बस्ति (हितकर होती है) तथा (जब) उदर (अर्थात् आमाशय तथा नाभिक्षेत्र में गुल्म होता है तब) दोनों (स्नेहपान तथा बस्तियाँ) हितकर होती हैं)।
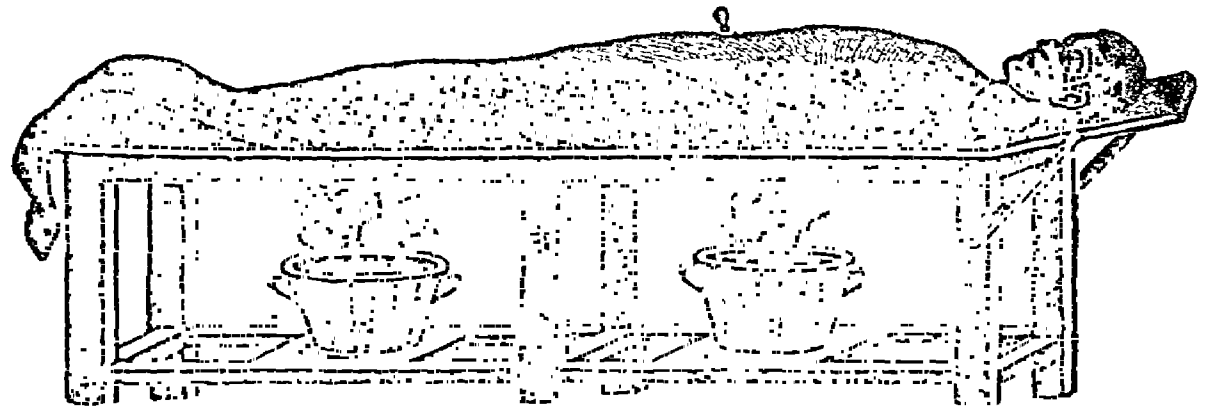
वक्तव्य—(१३२) नाभि से ऊपर स्नेहपान, नाभि से नीचे बस्तिप्रयोग तथा नाभि पर स्नेहपान और बस्ति दोनों यह प्रकार वातिकगुल्म के स्नेहन संस्कार में ध्यान देने योग्य है।

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्च्चसो।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ॥२४॥

वातिकगुल्म में जाठराग्नि की दीप्ति में वायु तथा पुरीष के विबद्ध होने पर स्निग्ध, उष्ण तथा बृंहण अन्नपानों को प्रयोग में लावे।

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः।
प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥२५॥

कफ तथा पित्त का रक्षण करते हुए वातिकगुल्म में बार-बार स्नेहपान, (तथा) अनुवासनसहित निरूह (वस्तियों) का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—(१३३) वातिकगुल्म में कफ अथवा तथा पित्त निरनुबन्ध रूप में पाये जाते हैं और उनका कोई विरोध नहीं होता इसलिए कफपित्त का क्षय न हो इसका विचार करते हुए अपि तु इनका अनुरक्षण या संरक्षण करते हुए ही बार बार स्नेहन, आस्थापन अनुवासन का प्रयोग करने की शास्त्राज्ञा है।

कफोवाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा।
यदिकुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥२६॥
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥२७॥

वात जब लगभग जीता जा चुका हो ऐसी अवस्था में अथवा चिकित्सा करते समय कफ, पित्त या रक्त ही यदि कुपित होजाता है (तो) वहां आदि में अन्त में तथा मध्य में वात की रक्षा करते हुए जो दोष उल्बण (प्रवृद्ध) हो तो उस उल्बण दोष के अनुसार वहां चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—(१३४) वातिकगुल्म में जब वात की जीत की जारही हो तब अथवा जब वातशान्ति के लिए स्नेहन स्वेदन कर्म किए जा रहे हों तो अधिक स्नेहन के कारण कफ और अधिक स्वेदन से पित्त अथवा रक्त का कोप होता हुआ देखा जासकता है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए इसका विचार ऊपर किया गया है। वहां यह बतलाया गया है कि वातशान्ति के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में जब कफरक्त अथवा रक्त का कोप हो तो दोषों की उल्बणता को देखकर कफनाशक, पित्तनाशक अथवा रक्तशामक चिकित्सा करनी चाहिए। पर इस चिकित्सा में आदि में अन्त में या मध्य में सदैव वायु के न बढ़ने देने का और उसका ठीक ठीक संरक्षण करने का विशेष ध्यान देना चाहिए।

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि।
हृल्लासं गौरवंतन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥२८॥

वातिकगुल्म में कुपित कफ यदि अग्नि को नष्ट करके अरुचि, हृल्लास (nausea), गुरुता तथा तन्द्रा को उत्पन्न करे तो उसको वमन से निकाल दे।

शलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे।
वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥२९॥

वातकफप्रधान गुल्म में शूल-आनाह-तथा विबन्ध में कफ और वातहर वर्तियां, गुटिकाएँ तथा चूर्ण हितकर होते हैं।

पित्तं वा यदि संवृद्धं सन्तापं वातगुल्मिनः।
कुर्याद्विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकैः ॥३०॥

वातगुल्म से पीड़ित जन का यदि बढ़ा हुआ पित्त सन्ताप को करे (तो) स्नेहयुक्त अनुलोमन द्रव्यों से वह विरेचन करने योग्य होवे। अर्थात् पित्त की वृद्धि यदि किसी वातगुल्मी को अधिक ज्वराक्रान्त करदे तो वहां स्निग्ध वातानुलोमक द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए।

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते।
न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥३१॥

वातादि की चिकित्सा भले प्रकार करने पर यदि गुल्म नहीं शान्त होता है (तो वह) रक्त के मोक्षण से शान्त होता है।

पित्तगुल्म चिकित्साक्रम

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्।
रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥३२॥

स्निग्धोष्ण पदार्थों के द्वारा उत्पन्न हुए पैत्तिक गुल्म में स्रंसन (विरेचन) कर्म हितकर है (परन्तु) रूक्षोष्ण पदार्थों के द्वारा उत्पन्न हुए (पैत्तिक गुल्म में) घृत श्रेष्ठ शामक (होता है)।

पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम् ।
कालविन्निर्हरेत् सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः ॥३३॥
पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत् ।
भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥३४॥

पित्त अथवा पैत्तिकगुल्म को पक्वाशय में स्थित जानकर काल का ज्ञाता (वैद्य) तिक्तरसयुक्त क्षीरबस्तियों के द्वारा शीघ्र निर्हरण करले । अग्नि-बल का ध्यान रखने वाला वैद्य सुखोष्ण तिक्तद्रव्य-युक्त दूध के द्वारा, अथवा तिल्वकघृत से विरेचन करावे ।

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥३५॥

प्यास, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमान्ध तथा अरुचि में भी गुल्मियों को रक्तमोक्षण करावे ।

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम् ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्तिरुक् ॥३६॥

(रक्तमोक्षण आदि क्रियाओं से) मूल के कट जाने पर गुल्म विदग्ध नहीं होते तथा क्षय को प्राप्त होते हैं। क्योंकि (दुष्ट) रक्त पाक को प्राप्त होता है (पर रक्तमोक्षण से) वह नहीं रहता है और इसीसे रोग (भी) नहीं रहता है ।

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः ।
समाश्वस्तं सशेषार्ति सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥३७॥

(रक्तमोक्षण के कारण) दोषहृत, क्षीण (व्यक्ति) को जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों के द्वारा तृप्त किये गये उस (व्यक्ति) को आश्वासन देकर शेष रोग के लिए फिर घृत का अभ्यास करावे ।

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च ।
यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥३८॥

रक्त तथा पित्त के अधिक बढ़े हुए होने से तथा चिकित्सा के न होने से यदि गुल्म पकने लगे (तो) वहां शस्त्रकर्म (ही) चिकित्सा (है) ।

अपक्व, पच्यमान, पक्वगुल्म

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः ।
अविवर्णः स्थिरः स्निग्धो ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥३९॥

गुरु, कठिन संस्थान (आकृति) वाला, गहरे मांस के अन्दर आश्रित, वर्ण गात्र के समान अविकृत, स्थिर, स्निग्ध गुल्म अपक्व कहा जाता है ।

दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशारुचिज्वरैः ।
विदह्यमानं जानीयाद्गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥४०॥

दाह, शूल, अरति, क्षोभ, निद्रानाश, अरुचि (तथा) ज्वर आदिकों से गुल्म को पच्यमान जाने तथा उसका उपनाहन (poulticing) करे ।

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते ।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शेबस्तिसन्निभे ॥४१॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात् ।
तत्रैव पिण्डिते शूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत् ॥४२॥

गुल्म में विदाहलक्षण होने पर, तुङ्गवत् बाहर की ओर समुन्नत होने पर, श्याव होने पर, किनारों पर लाल होने पर, छूने पर बस्ति (जलपूर्ण कुप्पी) (presence of fluid thrill), निपीडन (दबाने) पर (पुनः) उन्नत होने पर, स्तब्धता होने पर, सुप्तता होने पर, उसके पार्श्व भाग का पीडन करने से उस पिण्डाकार (गुल्म) में शूल होने पर (उस) गुल्म को परिपक्व कहे ।

धान्वन्तर (surgeon's) अधिकार

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥४३॥

वहां (गुल्म की पक्वावस्था में) कृतयोग्य (पारङ्गत) धान्वन्तरीय वैद्यों (शल्यक्रियाविद्—सर्जनों) का अधिकार गुल्म चिकित्साविधि में वेध, शोधन रोपण (आदि कार्यों) में (होता है) ।

वक्तव्य—(१३५) सुश्रुत ने विद्रधि और गुल्म की तुलना करते हुए यह बतलाया है कि गुल्म का पाक नहीं होता तथा विद्रधि पकती है—

विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधि गुल्मयोः।
तुल्यदोषसमुत्थानाद् विद्रधेर्गुल्मकस्य च ॥
कस्मान्न पच्यते गुल्मो विद्रधिः पाकमेति च।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥
विवरानुगतो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा।
एवं प्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाकं न गच्छति ॥
मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः।
मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्मः पाकं न गच्छति ॥
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते।
विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मश्चापि न पच्यते ॥

गुल्म एक गोलाकार विशाल अपने ही द्रव्यों के संचय के कारण बुद्बुद के समान उठता है वह अन्दर को ही सरण करने से पाक को प्राप्त नहीं होता उस प्रकार जैसे कि विद्रधि। गुल्म बरसों शरीर में पड़ा रहने पर भी किधर से ही फूटकर नहीं निकलता इस कारण उसे विद्रधि के समान पक्व संज्ञा नहीं दी गई क्योंकि विद्रधि तो पककर फूट जाती है और अपना मार्ग इतस्ततः बना लेती है। गुल्म तो गूढमांसाश्रित अपने प्रावर (कैपसूल) में बन्द होने से कम फूटता है। गुल्म का एक रूप अन्तर्विद्रधिवत् बन जासकता है इसी के लिए वेधन, शोधन-रोपण क्रियादि में सर्जरी की आवश्यकता है अन्यथा तो यह कायचिकित्सक (physician) द्वारा साध्यरोग है।

अन्तर्भागस्य चाप्येतत् पच्यमानस्य लक्षणम्।
हृत्क्रोडशूनताऽन्तस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गति ॥४४॥

और अन्तर्भाग (कोष्ठ) में स्थित पच्यमान (गुल्म) का भी (यह) लक्षण है। अन्तःस्थ गुल्म में हृत्क्रोडशूनता (हृदय क्षेत्र अथवा पार्श्वक्षेत्र या अन्य क्षेत्र का सूज जाना और सूजन के लक्षण प्रगट होना) तथा बहिःस्थ में पार्श्वभाग में (शोथ) का निर्गमन (होता है)।

वक्तव्य—(१३५) गुल्म औदरिकक्षेत्र में पांच स्थानों पर होने वाला (जैसा कि पूर्व में बता चुके हैं) रोग है। इसके यहां अन्तःस्थगुल्म तथा बहिःस्थगुल्म दो रूप और बतलाये गये हैं। अन्तःस्थ प्रायः हृदय के क्षेत्र में (हृदय के समीप वाले भाग में) तथा बहिःस्थगुल्म पार्श्वों में प्रगट होता है। अन्तःस्थ गुल्म की पच्यमानावस्था में भी ... गुल्म के लक्षण पाये जासकते हैं।

पक्वः स्रोतांसि संक्लिद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा।
स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः।
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान् ॥४५॥

पका हुआ गुल्म स्रोतों को भिगोकर ऊपर या नीचे की ओर भी जाता है। (सर्जन के शस्त्र से) अपने आप निकलने वाले उस दोष को हितकर भोजनों के द्वारा (तथा अन्य उपचारों से भी) दस या बारह दिन वैद्य उपद्रवों से रक्षा करता हुआ उपेक्षा करे। (अर्थात् १०-१२ दिन की अवधि में, शस्त्रकर्म द्वारा अपने आप सम्पूर्ण प्रवृत्त दोष निवृत्त होजाता है ऐसे फूटने वाले गुल्म की उपेक्षा तो करे पर कोई उपद्रव न उठ खड़ा हो उससे उसकी रक्षा करदे।)

अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम्।
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते ॥४६॥

इसके पश्चात् गुल्म का शोधन द्रव्ययुक्त घृत-पान हित (करता है)। शुद्ध (होने पर उस) का शहद सहित तिक्तद्रव्यसाधित घृत इष्ट होता है।

कफगुल्म चिकित्सा

[लंघन विधान]

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके।
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः ॥४७॥

शीतल, गुरु, स्निग्ध कफात्मक गुल्म उत्पन्न होने पर, अवम्य (तथा) शरीराग्नि मन्द हो जिसकी (उसको) आरम्भ से लंघन करे।

(वमनयोग्य गुल्मी)

मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः ॥४८॥

मन्दाग्नि, मन्द वेदना, गुरुता, कोष्ठ की आर्द्रता तथा उत्क्लेश (nausea) के साथ जिसकी अरुचि

(बढ़ी हुई हो) वह गुल्मी वमन के योग्य (होता है)।

उष्णैरेवोपचर्य्यश्च कृते वमनलङ्घने।
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः ॥४६॥

वमन (तथा) लंघन करने पर, उष्ण द्रव्यों से ही (गुल्मी का) उपचार करना चाहिए। कटुतिक्त औषधों के द्वारा (बनाए) आहार प्रयोग करने चाहिए।

वक्तव्य—(१३६) यतः गुल्मी शीत, गुरु तथा स्निग्ध कफात्मक व्याधि से पीडित है इसी कारण उष्णोपचार के लिए प्रार्थना की गई है। कटु और तिक्तद्रव्यसाधित आहार योगों की कल्पना उसी दृष्टि से है पर तिक्तरस स्वयं शीतवीर्य होने से क्योंकर कफगुल्म में लाभप्रद होसकता है इस पर गङ्गाधर लिखता है—

तिक्तो रसो यद्यपि शीतवीर्य्यत्वान्न शीतविपरीतः तथापि गुरुस्निग्धविपरीतत्वेन भूयसा लघुरूक्षत्वेन शीतवीर्यकार्यविजयात उपयुज्यते।

(स्वेदनविधान)

सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम्।
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेद्भिषक् ॥५०॥

वैद्य, आनाहसहित, विबन्धयुक्त, कठिन तथा उन्नत गुल्म को देखकर आदि में युक्तिपूर्वक स्वेदन करे, स्विन्न (होने पर उस) को विलीन करे।

लंघनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते।
घृतं सक्षारकटुकं पातव्यं कफगुल्मिना ॥५१॥

लंघन, वमन और स्वेदन करने पर अग्नि के सन्धुक्षित होने पर क्षारसहित कटु घृत को कफगुल्मी से पिलाना चाहिए।

स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः।
सस्नेहैर्बस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद् दाशमूलिकैः ॥५२॥

कफगुल्म को (अपने) स्थान से हटा हुआ जान कर विरेचनों से, अथवा दशमूल द्रव्यों से साधित सस्नेह बस्तियों से भी शोधन करे।

वृद्धेऽग्नावनिलेऽमूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम्।
गुडिकाचूर्णनिर्य्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् ॥५३॥

(लंघन, वमन, स्वेदन, विरेचन, बस्तिप्रयोगादि के द्वारा) अग्नि के बढ़ जाने पर (तथा) वात के अमूढ़ (अनुलोम) होने पर आशय को स्निग्ध जानकर (जो कि सस्नेहबस्ति स्नेहपानादिक से कर लिया गया है) कफ गुल्मियों को गुडिका, चूर्ण, निर्य्यूह (आदि) प्रयोग किये जाने चाहिए।

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्।
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्म्मभिः ॥५४॥

कृतमूल (जिसने जड़ पकड़ ली है), महावास्तु (बहुत स्थान जिसने घेर लिया है) कठिन, गीला, गुरु कफकृत गुल्म को क्षार, अरिष्ट (तथा) अग्नि-कर्मों के द्वारा जीते।

(कफगुल्म में क्षार विधान)

दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्बणे।
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ॥५५॥
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः।
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ॥५६॥
श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः।
छित्त्वाच्छित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात्क्षारयत्यधः ॥५७॥

कफोल्बण गुल्म में दोष, प्रकृति, गुल्म (तथा) ऋतु के योग को जानकर बलदोषप्रमाणज्ञ (वैद्य) क्षार को प्रयोग करे। शरीर बल (तथा) दोषों के वृद्धि (तथा) क्षय का ज्ञाता (वैद्य) एक दिन के अन्तर अथवा दो दिन के अन्तर अथवा तीन दिन विश्राम करके पुनः (क्षार प्रयोग करे)। मांस–दुग्ध–घृत खाने वाले के मधुर स्निग्ध कफ को क्षार क्षरत्व (गुण के कारण) काट-काट कर आशय से नीचे निकाल देता है।

(कफगुल्म में अरिष्ट विधान)

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम्।
प्रयोज्याश्चामशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ॥५८॥

अग्निमान्द्य में, अरुचि में, मद्यसात्म्य होने पर स्निग्ध आहार करने वाले कफगुल्मियों के आमदोष (अथवा मार्ग शुद्ध्यर्थ पाठ होने पर मार्गों) की शुद्धि के लिए अरिष्ट प्रयोग करने चाहिए।

[कफगुल्म में अग्निकर्म विधान]

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः।
वस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ॥५९॥
श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति।
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ॥६०॥

लंघन, वमनों, स्वेदनों, घृतपानों, विरेचनों, बस्तियों, गुटिका-चूर्ण-क्षार-अरिष्टसमूहों से भी जिसका कफगुल्म कृतमूल होने से शान्त नहीं होता है (अर्थात् जो कफगुल्म जड़ पकड़ गया है और कोई उपचार उस पर ठीक नहीं बैठता) उसका रक्तमोक्षण करने पर शरलोहों (शलाकादिकों) से दाह हितकारक (होता है ।)

औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ।
तयोःशमाच्च संघातो गुल्मस्य विनिवर्तते ॥६१॥

गुल्म में, कफ तथा वात को उष्णता तथा तीक्ष्णता के कारण अग्निकर्म शान्त करे तथा उन दोनों के शमन से गुल्म का संघात नष्ट होजाता है।

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्।
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम् ॥६२॥

यहां दाहकर्म में भी धान्वन्तरीय वैद्यों का अधिकार (है)। क्षार प्रयोग में क्षारतन्त्रवेत्ता वैद्यों का अधिकार (है)।

व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः।
सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥६३॥

दोषों के अनुबन्ध अनुबन्ध्य संयोग में (द्विदोषज, त्रिदोषज लक्षणों में) यही चिकित्साक्रम मिश्रित करके ही (किया जाना चाहिए)।

(अब) आगे (मैं) गुल्मनाशक सिद्ध योगों को कहता हूँ।

वातगुल्मनाशक चिकित्सा

[त्र्यूषणादिघृत]

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः।
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ॥६४॥

सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आमला, धनियाँ, विडङ्ग, चव्य (तथा) चित्रक से कल्क बनाए। (उसके चतुर्गुण). घृत को (घृत से चौगुने) दूध को (लेकर) सिद्ध किया गया घी वातनाशक (होता है)

[अपर त्र्यूषणादिघृत]

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पाञ्चमूलिकः।
द्विपञ्चमूलिको वापि तद्घृतं गुल्मनुत्परम् ॥६५॥

ये ही कल्क द्रव्य हों (जो श्लोक ६४ में कहे हैं) कषाय बृहत्पञ्चमूल अथवा दशमूल (हो) वह घृत परम गुल्मनाशक है।

षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि।
प्रसन्नया वा क्षीरोत्थं सुरया दाडिमेन वा।
दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत् ॥६६॥

अथवा जो राजयक्ष्मा में कहा गया है (उस) षट्पल घृत को पिये।

क्षीरोत्थ (मक्खन) अथवा दधिसर के द्वारा प्राप्त घृत को प्रसन्ना अथवा सुरा अथवा अनाररस के द्वारा (सिद्ध) करना चाहिए। (यह घृत) वातगुल्मनाशक है।

हिंगुसौवर्चलादिघृत

हिंगुसौवर्चलाजाजीबिडदाडिमदीप्यकैः।
पुष्करव्योषधन्याकवेतसक्षारचित्रकैः ॥६७॥
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम्।
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ॥६८॥
(इति हिंगुसौवर्चलाद्यघृतम्।)

हींग, कालानमक, जीरा, विडनमक, अनार, अजवाइन, पुष्करमूल, त्रिकटु, धनियाँ, वेतस, यवक्षार, चित्रक, कचूर, बच, अजमोद, इलाइची, और

तुलसी (इन द्रव्यों) के द्वारा (घृतकल्पना विधि से) दधि के साथ विपाचित घी वातगुल्मियों के शूल (तथा) आनाह को हर लेता है।

(यह हिङ्गुसौवर्चलादि घृत—है।)

हवुषादिघृत

हवुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः ।
साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम् ॥६९॥
मातुलुङ्गदधिक्षीरकोलमूलकदाडिमः ।
रसैस्तद्वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम् ॥७०॥
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान् ।
बस्तिहृत्पार्श्वशूलञ्च घृतमेतद्व्यपोहति ॥७१॥
(इति हवुषाद्यं घृतम् ।)

हाऊबेर, सोंठ, मरिच, पिप्पली, पृथ्वीका (हिङ्गुपत्री-स्थूलजीरक अथवा बड़ी इलाइची), चव्य, चित्रक, सेंधानमक, जीरकसहित पिप्पलीमूल, (तथा) अजवाइन के द्वारा बिजौरा नीबू, दही, गोदुग्ध, बेर, मूली (तथा) अनार (इन) के (घृत के बराबर भाग) रसों के द्वारा (कल्पविज्ञान के नियमों के अनुसार) घृत पकावे। वह (घृत) वातगुल्मनाशक, शूल, आनाह का मोक्ष करने वाला, योनिदोष, अर्शदोष, ग्रहणीदोष, श्वास, कास, अरुचि, ज्वरों को तथा बस्तिशूल, हृच्छूल (और) पार्श्वशूल को यह घी नष्ट करता है।

(यह हवुषादिघृत—है।)

पिप्पल्यादिघृत

पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम् ।
धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम् ॥७२॥
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो वातगुल्मं व्यपोहति ।
योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम् ॥७३॥
(इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।)

पिप्पलियां डेढ़ पिचु (कर्ष), अनारदाना दो पल, एक पल धनियां, पांच पल घी, सोंठ एक कर्ष, दूध चौगुना (द्रवद्वैगुण्य से आठगुना,) (इन सब से) सिद्ध घृत वातगुल्म, योनिशूल, शिरःशूल, अर्शों (तथा) विषमज्वर को नष्ट करता है।

(यह पिप्पल्यादि घृत—है।)

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः ।
ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम् ॥७४॥

घृतों के औषधगण जो ये कहे गये हैं वे चूर्ण योग, वे वर्तियाँ और वे कषाय गुल्मियों के (हैं)। अर्थात् ऊपर घृतयोगों में जो औषधिद्रव्य लिखे हुए हैं उनका प्रयोग घृत न बनाकर सीधे चूर्ण, वर्तियां या कषाय बना कर भी कर सकते हैं तथा उनसे गुल्म रोगियों को पर्याप्त लाभ पहुँच सकता है।

कोलदाडिमघर्माम्बुसुरामण्डाम्ल काञ्जिकैः ।
शूलानाहनुदः पेया बीजपूररसेन च ॥७५॥
चूर्णानिमातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा ।
कुर्य्याद्वर्तीः सगुडिका गुल्मानाहार्त्तिशान्तये ॥७६॥

बेर, अनार, गरम जल, सुरामण्ड, अम्ल, कांजी और बिजौरेनीबू के रस के द्वारा (तैयार की हुई) पेया शूल तथा आनाहनाशक (होती है)।

बिजौरे नीबू के रस में भावित चूर्ण, वर्तियां तथा गुटिकाएँ गुल्म, आनाह (तथा) पीड़ा की शान्ति के लिए (तैयार) करे।

हिंग्वादिचूर्ण

हिंगु त्रिकटुकं पाठां हपुषामभयां शटीम् ।
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ॥७७॥
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम् ।
द्वौ क्षारौ च लवणे द्वे चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥७८॥
चूर्णमेतत् प्रयोक्तव्यमनुपानेष्वनत्ययम् ।
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ॥७९॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके ।
आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च गुदयोनिरुजासु च ॥८०॥
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्ड्वामयेऽरुचौ ।
उरोविबन्धे हिक्कायां कासे श्वासे गलग्रहे ॥८१॥

हींग, सोंठ, मरिच, पिप्पली, पाठा, हाऊबेर, हरड़, कचूर, अजमोद, अजगन्धा, तिन्तिडीक,

अम्लवेतस, अनार, पुष्करमूल, धनियाँ, जीरा, चित्रक, बच, दो क्षार (सज्जीक्षार यवक्षार), दो लवण (कालानमक, सेंधानमक) तथा चव्य को एक चूर्ण करले।

पार्श्वशूल (pleurisy)वस्तिशूल (reunal colic) वातकफज (वातज तथा कफज) गुल्म, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुदशूल, तथा योनिशूल, ग्रहणी, अर्शविकार, प्लीहा, पाण्डुरोग, अरुचि, छाती की जकड़न. हिचकी, खांसी, श्वास, गलग्रह (आदि रोगों) में भोजन के पूर्व मद्य अथवा उष्णोदक के साथ पीना चाहिए अथवा हानि न करने वाले (किसी अन्य) अनुपान (द्रव्य) के साथ प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—(१३७) अनुपानेष्वनत्ययम् के स्थान पर कुछ विद्वानों ने अन्नपानेष्वनत्ययम् लिखा है वहां हानि करने वाले अन्नपान को पूर्व में खिला कर तत्पश्चात् मद्य या उष्णोदक पीना चाहिए ऐसा लिया जासकता है।

भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद्रसेन वा।
बहुशो गुटिका कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ॥८२॥
(इति हिंग्वादिचूर्ण गुटिका च।)

अथवा इस चूर्ण को बिजौरा (चकोतरा) के रस के साथ कई वार भावित (करके उस) को गुटिका (रूप) करना चाहिए। (वे गोलियां) उस चूर्ण से अधिक कार्मुक (कर्म करने में समर्थ गुणप्रद) होती हैं। (यह हिंग्वादिचूर्ण तथा हिंग्वादिगुटिका-हैं।)

मातुलुङ्गरसो हिंगु दाडिमं विडसैन्धवम्।
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम्॥८३॥

बिजौरे नीबू (चकोतरा) का रस, हींग, अनार, विड सैन्धव नमक, सुरामण्ड के साथ पीना चाहिए (यह) वातगुल्म की पीड़ा को नष्ट करता है।

शट्यादिचूर्ण गुटिका

शटीपुष्करहिंग्वम्लवेतसक्षारचित्रकम्।
धान्यकञ्च यमानीञ्च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥८४॥
सचव्यपिप्पलीमूलमजगन्धां सदाडिमाम्।
अजाजीञ्चाजमोदाञ्च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ॥८५॥
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः।
भावितं गुडिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसम्मिताम् ॥८६॥
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम्।
हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसोरुजाम् ॥८७॥
पाण्डवामयं कफोत्क्लेशं सर्व्वजाञ्च प्रवाहिकाम्।
पार्श्वहृद्वस्तिशूलञ्च गुडिकैषा व्यपोहति ॥८८॥

कचूर, पुष्करमूल, हींग, अम्लबेंती, यवक्षार, चित्रक, धनियाँ, अजवाइन, वायविडंग, सेंधानमक, बालवच, चव्य, पीपरामूल, अजगन्धा (वनयमानी या अजमोदभेद), अनार, जीरा और अजमोद को चूर्ण करके प्रयोग करे।

(अथवा उपरोक्त पदार्थों के चूर्ण को) चकोतरा के अथवा मधुशुक्त से पुनः भावित (करके उस) को खूब पीसकर बेर बराबर गुटिका करके (प्रयोग करे)।

यह गुटी गुल्म, प्लीहा, आनाह, श्वास, कास, अरोचक, हिचकी, हृद्रोग, अर्शो, विविध शिरःशूल, पाण्डुरोग, कफ मिचली, सर्व (दोषज) प्रवाहिका, पार्श्वशूल, हृच्छूल (angina pectores) तथा वस्तिशूल को नष्ट करती है।

नागरादियोग

नागरार्द्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च।
तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत्।
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलञ्च नाशयेत् ॥८९॥

पुरुष आधे पल सोंठ, तुष लुञ्चित (भुसी उतारे हुए) एक पल तिल, गुड एक पल पीसकर गरम दूध के साथ पिये (तो यह योग) वातगुल्म, उदावर्त, और योनिशूल को नष्ट करे।

पिबेदेरण्डजं तैलं वारुणीमण्डमिश्रितम्।
तदेवतैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः।
श्लेष्मण्यनुबले पूर्व्वं हितं पित्तानुगे परम् ॥९०॥

वातगुल्मी (कफ का अनुबन्ध रहने पर) सुरा-

मण्ड मिला हुआ एरण्ड तैल (castor oil) पिये अथवा उसी (एरण्ड) तैल को (पित्त का अनुबन्ध होने पर) दूध के साथ पिये। पहला (सुरामण्ड+एरण्ड तैल) कफ के अनुबन्ध में (तथा) दूसरा पित्तानुगमन में हित (होता है)।

लशुनक्षीर

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम्।
क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत् ॥९१॥
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्।
हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः ॥९२॥
(इति लशुनक्षीरम्)।

व्यक्ति (छिलका उतारकर) शुद्ध सूखे लहसन के चार पलों को अठगुने जल (युक्त) दूध में पकावे और दूध शेष (रहने) पर पिये। वह दूध वातगुल्म उदावर्त, गृध्रसी (sciatica) विषमज्वर (malarial fever), हृद्रोग, विद्रधि, शोथ को शीघ्र साध लेता है। (यह लशुनक्षीर—है।)
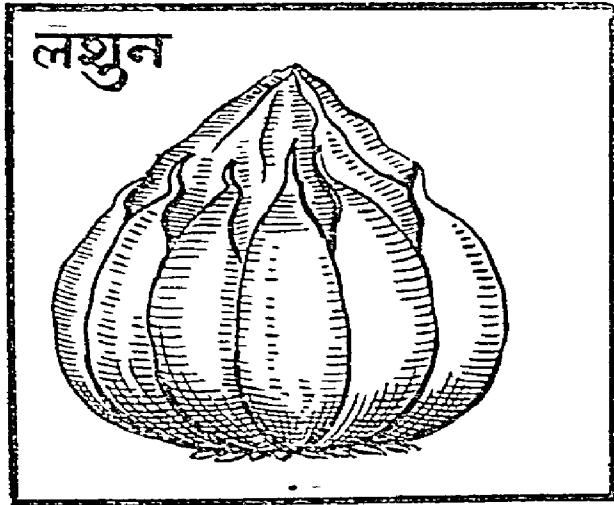
वक्तव्य—(१२८) क्षीरोदकेऽष्टगुणिते का अर्थ चार पल लशुन का आठगुना अर्थात् ३२ पल क्षीरोदक लेना बतलाया जाता है। इस क्षीरोदक में १६ पल दूध और १६ पल पानी होगा। समभाग (चार पल) दूध और आठगुना जल (३२ पल) डाल कर बनाए गये क्षीरोदक का प्रयोग अधिक लाभकारी होगा।

तैलपञ्चक

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम्।
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ॥९३॥

(उपरोक्त एरण्ड) तैल, प्रसन्ना, गायका मूत्र, कांजी, यवक्षार को एकत्र मिलाकर गुल्म, उदररोग (और) आनाह को ठीक करे।

शिलाजतुप्रयोग

पञ्चमूलीकषायेण सक्षारेण शिलाजतु।
पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्माद्विमुच्यते ॥९४॥

यवक्षार मिलाकर बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ से शिलाजीत पिये उसके प्रयोग द्वारा (रोगी) वातगुल्म से छूट जाता है।

वाट्यं यूषेण पिप्पल्या मूलकानां रसेन वा।
भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते ॥९५॥

(घी से) स्निग्ध यवमण्ड को (मूंग आदि के) यूष से, पिप्पलियों अथवा मूली के रस के साथ खाकर उदावर्त (तथा) वातगुल्म से (रोगी) छूट जाता है।

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद्वातगुल्मिनम्।
स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥९६॥
बस्तिकर्म परं विद्याद्गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्।
स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्योगुल्ममपोहति ॥९७॥
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरुहैः सानुवासनैः।
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः ॥९८॥
गुल्मघ्ना विविधा दिष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु वस्तयः।
गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके ॥९९॥
तानिमारुतजे गुल्मे पानाभ्यङ्गानुवासनैः।
प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित्परम् ॥१००॥

शूल, आनाह, विबन्ध से पीडित वातगुल्मी को स्वेद विधान में कहे गये नाडीस्वेद, प्रस्तरस्वेद (तथा) सङ्करस्वेदों के द्वारा स्वेदन करे।
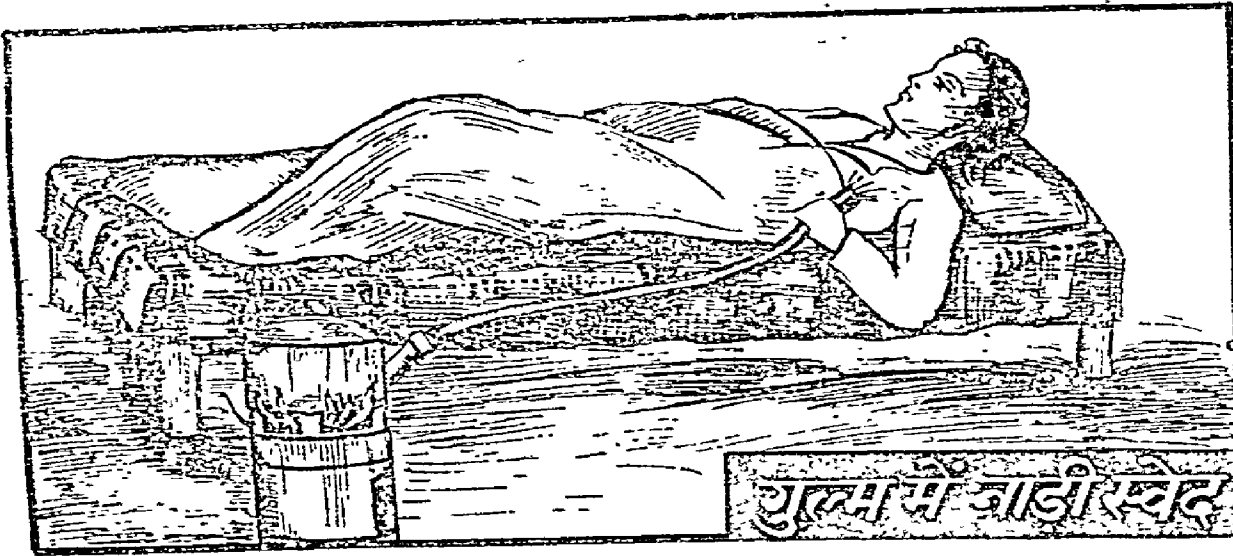
बस्तिकर्म को परम गुल्मघ्न जाने वह क्योंकि वात (दोष) को अपने स्थान में पहले जीतकर शीघ्र गुल्म को दूर करता है। इसलिए बारबार प्रयोग किए जाने वाले अनुवासन सहित निरूहों के द्वारा वात-पित्तकफात्मक गुल्म शान्त होते हैं।

विविध गुल्मघ्न सिद्ध बस्तियाँ सिद्धिस्थान में बतलाई गई हैं। वातरोगाध्याय में (बहुत से) गुल्मघ्न तैल कहे जावेंगे।

इन (तैलों) को वातगुल्म में पान-अभ्यङ्ग-अनुवासनों द्वारा प्रयुक्त करने से शीघ्र सिद्धि देते हैं क्योंकि (स्वयं) तैल परम वातनाशक (होता है)।

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च।
समलाय प्रदातव्यं शोधनं वातगुल्मिने ॥१०१॥

मलयुक्त वातगुल्मी के लिए नीलिनीचूर्ण संयुक्त पूर्वोक्त (त्रायमाणाद्यादिक) घृत ही को विरेचन के लिए देना चाहिए।

नीलिन्यादिघृत

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह।
शोधनार्थं घृतं देयं सविडक्षारनागरम् ॥१०२॥

नीलिनी, निशोथ, दन्ती, हरड़, कबीला के साथ (यथाविधि सिद्ध करके) घृत विड़लवण, यवक्षार-सोंठ डालकर देना चाहिए।

नीलिन्यादिघृत

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम्।
पचेद् विडङ्गं व्याघ्रीञ्च पलिकानि जलाढके ॥१०३॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ॥१०४॥
ततोघृतपलं दद्याद्य-वागू मण्डमिश्रितम्।
जीर्णे सम्यग्विरिक्तञ्च भोजयेद्रसभोजनम् ॥१०५॥
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान्।
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद् व्यपोहति ॥१०६॥
(इति नीलिन्याद्यं घृतम्।)

नीलिनी, हरड़, बहेड़ा, आमला, रास्ना, बला, कुटकी, वायविडंग और छोटी कटेरी को पलपल (लेकर) एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) जल में पकावे। उसके चतुर्थांश अवशिष्ट (क्वाथ को छानकर उस) के साथ एक प्रस्थ घी (का) विपाक करे। तथा एक प्रस्थ दही मिलाकर तथा १ पल सेहुण्ड (के) दूध के साथ (उसी घी का विपाक करे)।

इस घी (के एक) पल को यवागू मण्ड (के साथ) मिश्रित करके देवे। (उस घी के) जीर्ण होने पर तथा भले प्रकार विरेचन होने पर उसको मांसरस के भोजन को खिलाओ।

गुल्म, कुष्ठ, उदररोग, व्यङ्ग, शोफ, पाण्डुरोग, ज्वरों, श्वित्र (leucoderma), प्लीहोदर, उन्माद को यह घृत नष्ट कर देता है।

(यह नीलिन्यादि घृत है।)

वातगुल्म में भोजन

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः।
शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मचिकित्सितम् ॥१०७॥
हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम्।
समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम् ॥१०८॥

मुर्गे, मोर, तीतर, क्रौंच, बतखें, शालि चावल,

मद्य तथा घृत, वातगुल्म (की) औषध (हैं)। वातगुल्मियों के लिए उष्ण, पतला, चिकना भोजन मण्ड सहित मदिरापान अथवा धनिये के साथ पकाया गया जल हितकर (है)।

वक्तव्य--(१३९) ऊपर के दोनों श्लोकों में वातगुल्म से पीडित व्यक्ति के लिए अन्नपान की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। मुर्गा-मोर-तीतर-क्रौंच-बतख के मांस, शालि का भात, घी का प्रचुर प्रयोग भोजन में मद्यमण्ड-सहित पक्व धनिये का पानी पीने में बतलाये गये हैं। तरल भोजन (liquid diet) जो ताजे तैयार किए गये गरम हों और जिनमें कुछ घृत की चिकनाई पड़ी हो श्रेष्ठ माने जाते हैं। शराब बिना उसके मण्डभाग के प्रयोक्तव्य नहीं है। ऐसा भी आभास मिलता है।

मन्देऽग्नौ वर्द्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति।
तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्य्यान्नातिविलङ्घनम् ॥१०९॥
सर्व्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते।
या क्रिया क्रियते सिद्धि सा न याति विरूक्षिते ॥११०॥

अग्निमान्द्य में गुल्म बढ़ता है और दीप्ताग्नि में (वह) शान्त होजाता है इसलिए व्यक्ति न अधिक उदरपूरण करे न अधिक लंघन (ही करे)।

सर्व्वत्र गुल्म (विशेषकर वातगुल्म) में पहले स्नेहन (तथा) स्वेदन करने पर जो चिकित्सा सिद्धि करती है वह विरूक्षित (व्यक्ति) में प्राप्त नहीं होती है।

पित्तगुल्मचिकित्सा

(घृतयोग)

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत्।
वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा तिक्तकेन वा ॥१११॥

वैद्य पित्तगुल्म को घातक जानकर विरेचन (द्रव्यों) से सिद्ध अथवा तिक्त (रस प्रधान द्रव्यों) से सिद्ध घृत के द्वारा उपचार करे।

(रोहिण्यादि घृत)

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकत्रिफलात्वचः।
कर्षांशास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले ॥११२॥
द्वे पले च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि।
शृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम् ॥११३॥
पिबेत्संमूर्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः।
ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ॥११४॥

(इति रोहिण्याद्यं घृतम्।)

कुटकी, नीम, मुलहठी, हरड़, बहेड़ा, आमला (त्रिफला के इन तीनों द्रव्यों) की त्वचा और त्रायमाण, (प्रत्येक) एक कर्ष, पटोलपत्र (तथा) निशोथ (प्रत्येक) एक पल और दो पल मसूर (इन सबको) आठगुने जल में पकावे। पकाये हुए क्वाथ से घृत के बराबर तथा घी चार पल को मिलाकर (उसको) पिए। उससे पैत्तिकगुल्म शान्त होता है। और ज्वर प्यास, शूल तथा भ्रम, मूर्च्छा और अरुचि (भी शान्त होजाती है)।

(यह रोहिण्यादिघृत है।)

त्रायमाणादिघृत

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणा चतुष्पलम्।
पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः ॥११५॥
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा।
कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः ॥११६॥
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च।
पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत् ॥११७॥
पित्तरक्तभवं गुल्मं वीसर्पं पैत्तिकं ज्वरम्।
हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद् घृतोत्तमम् ॥११८॥

(इति त्रायमाणाद्यं घृतम्।)

चारपल त्रायमाण को दसगुने जल में पकाना चाहिए। पांचवां भाग रहे (काढ़े के) छने हुए (जल) को कुटकी, मोथा, त्रायमाण, दुरालभा के एक एक कर्ष (अलग अलग किए) कल्कों के द्वारा (तथा) भूमिआमलकी, खस, जीवन्ती, चन्दन (तथा) कमलों के कल्कों से तथा आमलों के रस का गोदूध का, घी का आठ आठ पल देकर पूर्णतः पकाले यह उत्तम घृत पित्तरक्त से उत्पन्न गुल्म (पित्तज तथा रक्तजगुल्म) को, विसर्प, पैत्तिकज्वर, हृद्रोग

कामला तथा कुष्ठ को नष्ट कर देता है।

(यह त्रायमाणादिघृत—है।)

आमलकादिघृत

रसेनामलकेक्षूणां घृतपादं विपाचयेत्।
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ॥११९॥

आमले (तथा) गन्नों के स्वरस के द्वारा चौथाई घी को हरड़ चतुर्थांश भाग छोड़कर पकावे। (इस प्रकार बना हुआ) वह पित्तगुल्मनाशक सिद्ध घी पिये।

द्राक्षादिघृत

द्राक्षां मधुकं खर्ज्जूरं विदारीं सशतावरीम्।
परूषकाणि त्रिफलां साधयेत्पलसम्मिताम् ॥१२०॥
जलाढके पादशेषं रसमामलकस्य च।
घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम् ॥१२१॥
साधयेत्तद्घृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम्।
प्रयोगात् पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत् ॥१२२॥

(इति द्राक्षाद्यं घृतम्।)

मुनक्का (अंगूर), मुलहठी, खजूर, विदारीकन्द, शतावरी सहित फालसे, हरड़, बहेड़ा, आमले, (प्रत्येक) पल बरावर (एक) आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) जल में साधे। चतुर्थांश शेष को आमले स्वरस को, गन्ने के रस को, दूध को चतुर्थांश हरड़ का कल्कसहित (२ प्रस्थ) घी को सिद्ध करे। वह सिद्धघृत शक्कर शहद चतुर्थांश भाग(मिलाकर) प्रयोग करने से सर्वपित्तविकारनाशक तथा पित्तगल्मनाशक (पाया जाता है)।

वासाघृत

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले।
शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत् ॥१२३॥
तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत्।
रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम् ॥१२४॥

(इति वासाघृतम्)।

जड़सहित अडूसे को कूटकर आठगुने जल में (उसे) पकावे। शेष आठवां भाग रहने पर उसके ही (अडूसे के) फूलों का कल्क डालदे।- उसके द्वारा सिद्ध शीतल घृत पित्तगुल्मनाशक, रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, कास (तथा) हृद्रोगनाशक (है)।

(यह वासाघृत--है)।

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम्।
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ॥१२५॥
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम्।
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥१२६॥

दो पल त्रायमाणा के दो प्रस्थ जल में पकाकर आठवां भाग रहने पर छानकर (उसको) बराबर दूध (के साथ) पिये। उसके ऊपर बल के अनुसार गरम दूध भी पिये। उससे दोषनिर्हरण किए गये व्यक्ति का पैत्तिकगुल्म शान्त होजाता है।

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत्।
लिह्यात्कम्पिल्लकं वापि विरेकार्थं मधुद्रवम् ॥१२७॥
दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम्।
चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य च ॥१२८॥
ये च पित्तज्वरहराः सतिक्ताः क्षीरबस्तयः।
हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ॥१२९॥
शालयो जाङ्गलं मांसं गव्याजे पयसी घृतम्।
खर्ज्जूरामलकं द्राक्षां दाडिमं सपरूषकम् ॥१३०॥
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं पानार्थं सलिलं शृतम्।
बलाविदारिगन्धाद्यैः पित्तगुल्मं चिकित्सितम् ॥१३१॥
आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके।
यवागूभिः खडैर्यूषैः सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ॥१३२॥
शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्ज्जयेत् ॥१३३॥

पैत्तिकगुल्म में विरेचन के लिए गुड़ के साथ अङ्गूर तथा हरड़ स्वरस को पिये। अथवा कबीला को मधु के साथ चाटे।

घृत के द्वारा, चन्दनादि तैल के द्वारा और मुलहठी से सिद्ध तैल के द्वारा पित्तगुल्मियों का अभ्यङ्ग दाहशामक (होता है)।

जो पित्तज्वरहर तिक्तरसप्रधान द्रव्यों से साधित क्षीरवस्तियां और जो सिद्धिस्थान में कही जावेंगी वे पित्तगुल्मियों के लिए हितकर (होती हैं)।

शालिचावल, जाङ्गल (जीवों का) मांस, गाय बकरी के दूध-घी-खजूर, आमले, अंगूर, अनार, फालसे, आहार के लिए प्रयोग करने चाहिए पान के लिए बला, विदारीगन्धादिगण की ओषधियों से उबालकर जल (का प्रयोग करना चाहिए)। (यह) पित्तगुल्म की चिकित्सा (है)।

आमयुक्त पित्तगुल्म में अथवा सामकफवातिक-गुल्म में लंघन होने पर यवागुओं, खंडों, यूषों से अग्नि को प्रदीप्त करे। सब दोषों का शमन (तथा) प्रकोप अग्नि पर आश्रित (होता है)। इसलिए अग्नि की रक्षा करे तथा निदानों को वर्जित करे।

कफगुल्मचिकित्सा

वमनं वमनार्हाय प्रदद्यात् कफगुल्मिने।
स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते ॥१३४॥
परिवेष्ट्य प्रदीपांस्तु वल्वजानथवा कुशान्।
भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत् ॥१३५॥
स गृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्।
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद्गुल्मं प्रमाणवित् ॥१३६॥
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत्।
मृद्नीयाद्गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत् ॥१३७॥

स्नेहन-स्वेदन किए शरीरवाले वमन-योग्य कफ गुल्मी के लिए वमन दे। (इस प्रकार करने से) गुल्म में शिथिलता आने पर जलते हुए बल्वजों अथवा कुशों को लपेट करके वैद्य कुम्भ (घड़े) में डालकर गुल्म को घड़े के मुख में लगादे वह गुल्म जब (घड़े में वायु के कम होजाने से) पकड़ा जावे तब घड़े को ऊपर को उठावे और (उसके आस पास) वस्त्र का अन्तर करके (चारों ओर अन्य भागों को बचाने के लिए गुल्म के चारों ओर कपड़े के गर्म भाप में उबाले हुए पैडों से अन्तर करके) प्रमाणवेत्ता सर्जन गुल्म को विमार्ग, अजपद, आदर्श (नामक) (शस्त्रों instruments) के द्वारा जितना आवश्यक हो पीड़न करे तथा काटे। केवल एक गुल्म को ही मले (तथा दबावे) आंत या हृदय को न छुए।

वक्तव्य—(१४०) ऊपर कफगुल्म की चिकित्सा बतलाते हुए ही उसके शस्त्रकर्म का साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर दिया गया है। कफगुल्म एक स्थूल निश्चित आकृति वाला उदरस्थ गोला है। उसे निकालने के लिए शस्त्रकर्म करना है। आंत या हृदयादिक किसी अङ्ग को बिना स्पर्श किए शस्त्रों की सहायता से गुल्म के उच्छेद करने का विधान है। आंतों के पास रखे हुए या वहीं बने हुए या गर्भाशय, बीजकोषादि में बने हुए कफगुल्म को काटने के पूर्व उसकी यथावत् स्थिति करनी पड़ती है। पहले उदर की ऊपरी त्वचा काटकर गुल्म के पास पहुँचकर फिर घड़े में तृण बल्वज को जला या आजकल स्प्रिट पोतकर दियासलाई दिखा चिपका देने से भी वही स्थिति पैदा होती है। घड़े में वायु का पीडन घटने से वह गुल्म को अपनी ओर खींचता है इससे गुल्म के चारों ओर की सीमा का ज्ञान होजाता है। गुल्म के इस प्रकार खिंच आने पर चारों ओर कपड़ों के विशुद्ध पैड(गद्दियां)लगाकर मर्दन और पीड़न करते हुए शस्त्रों की सहायता से इसका भेदन करना चाहिए। गुल्म निकल जाने पर खून रोकने का यत्न करना, सूचर करना आदि कितने ही आवश्यक कार्य करते हुए पेट को यथावत् बन्द करना पड़ता है। चरक ने गुल्मोच्छेद् पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है। इसका विशद वर्णन आधुनिक शल्य चिकित्सा के ग्रन्थों में देखना चाहिए। कौन इसे काटे उसके लिए प्रमाणवित् शब्द का प्रयोग किया गया है कि प्रमाण का ज्ञाता जिसने पहले अनेक बार यह शस्त्रकर्म किया हो या देखा हो वही इसे करे।

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च।
श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ॥१३८॥

तिल, अरण्डी के बीज, अलसी के बीज, सरसों से कफगुल्म को भले प्रकार लीप कर सुखोष्ण लोह

पात्रों से वैद्य स्वेद दे ।

वक्तव्य—(१४१) स्वेदन के अनेक प्रकार सामने आए हैं पर लोहे के सुहाते गरम पात्रों से सेकना महत्वपूर्ण है। पात्र इसलिए कहा है कि लोहे के बर्तन में आग थोड़ी सी रखकर सेका जासकता है।

स्नेहयोग

[दशमूलीघृत]

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम् ।
कफगुल्मं जयत्याशु सहिंगुविडदाडिमम् ॥१३९॥

दशमूल (के चतुर्गुण क्वाथ तथा एक चतुर्थांश कल्क से) पकाये हुए घी को सोंठ, मरिच, पिप्पली, सेंधा लवण, हींग, विडलवण (तथा) अनारदाने के (चूर्ण के) साथ (लेने से वह) शीघ्र कफगुल्म को जीत लेता है।

भल्लातकादिघृत

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ।
साध्यं विदारिगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके ॥१४०॥
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम् ।
विडङ्गं सैन्धवं हिंगु यावशूकं विडं शटीम् ॥१४१॥
चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् ।
प्रस्थञ्च पयसो दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४२॥
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ।
प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ॥१४३॥
(इति भल्लातकाद्यं घृतम् ।)

भल्लातकों के दो पल, विदारीगन्धाद्यपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी दोनों और गोखुरू) एक-एक पल को कूटकर एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से दो आढक) जल में पकाकर चतुर्थांश शेष उस (क्वाथ के) रस में कर्ष बराबर पिप्पली, सोंठ, वचा, वायविडंग, सेंधानमक, हींग, जवाखार, विडनमक, कचूर, चीते की छाल, मुलहठी, राइसुरई को पीसकर वैद्य एक प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से दो प्रस्थ) दूध देकर एक प्रस्थ घी को पकाले।

यह भल्लातकघृत अत्यन्त कफगुल्म हरने वाला प्लीहोदर, पाण्डुरोग, श्वास, ग्रहणी रोग (तथा) कासनाशक (है)।

(यह भल्लातकादिघृत—है।)

क्षीरषट्पलकघृत

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४४॥
क्षीरप्रस्थं च तत्सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम् ।
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम् ॥१४५॥
(इति क्षीरषट्पलकं घृतम् ।)

जवाखार सहित पीपर छोटी, पीपरामूल, चाभ, चीते की छाल, सोंठ, एक-एक पल (इन सब) के द्वारा एक प्रस्थ दूध से एक प्रस्थ घृत पकावे। वह घी कफात्मक गुल्म को नष्ट करता है ग्रहणी, पाण्डुरोगघ्न (है) प्लीहा कास ज्वर दूर करने वाला (है)।

(यह क्षीरषट्पलकघृत—है।)

मिश्रकस्नेह

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम् ।
जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम् ॥१४६॥
सर्पिरेरण्डतैलञ्च क्षीरञ्चैकत्र साधयेत् ।
ससिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत् ॥१४७॥
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च ।
प्रयोज्यो मिश्रकस्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम् ॥१४८॥
(इति मिश्रकस्नेहः ।)

एक-एक पल निशोथ, हरड़, बहेड़ा, आमला, दन्ती, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी छोटी, बृहती, बेलगिरी, गम्भारी, पाठा, श्योनाक, अरनी, चौगुने (द्रवद्वैगुण्य से अठगुने) जल में पकाकर चतुर्थांश रस रहने पर (आगे ह्युक्ते समभागविधानात् इस रस के बराबर बराबर) घी, अरण्डी का तेल (कास्टरौल) और दूध एकत्र पकावे। वह सिद्ध मिश्रकस्नेह शहद के साथ कफगुल्मनाशक (होता है तथा) कफवातात्मक विबन्ध, कुष्ठ, प्लीहा और उदररोग

में तथा योनिशूल में अधिक प्रयोग करना चाहिए।

कफगुल्म में विरेचनयोग

यदुक्तं वातगुल्मघ्नं स्रंसनं नीलिनीघृतम्।
द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम् ॥१४६॥
सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम्।
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधुविरिच्यते ॥१५०॥

जो वातगुल्मनाशक स्रंसन नीलिनीघृत (श्लोक १०१, १०२, १०३–१०४) कहा गया है उसको कफगुल्मियों के विरेचन के लिए दुगुना प्रयोग करना चाहिए।

सेहुण्ड के द्रव दुग्ध में निशोथ के चूर्ण को अच्छे प्रकार भावित करके शहद घी के साथ एक कर्ष चाटकर (व्यक्ति) अच्छी तरह विरेचन करता है।

दन्तीहरीतकी

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्चचाभयाः।
दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च ॥१५१॥
अष्टभागावशेषन्तु रसं पूतमधिक्षिपेत्।
दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत्तत्राभयाश्च ताः ॥१५२॥
तैलार्द्धकुडवञ्चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम्।
चूर्णितं पलमेकन्तु पिप्पली विश्वभेषजम् ॥१५३॥
तत् साध्यं लेहवत् शीते तस्मिंस्तैलसमं मधु।
क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात् ॥१५४॥
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम्।
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयम् ॥१५५॥
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम्।
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम् ॥१५६॥
कुष्ठप्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपसेविता।
निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनम् ॥१५७॥
(इति दन्तीहरीतकी।)

एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में २५ पल हरड़, उतने ही (२५) पल दन्ती के तथा उसीके अनुसार (२५ पल) चित्रक को (पोटली में बांध) पकाना चाहिए। आठवां भाग शेष रहने पर छाने

डोला यंत्र
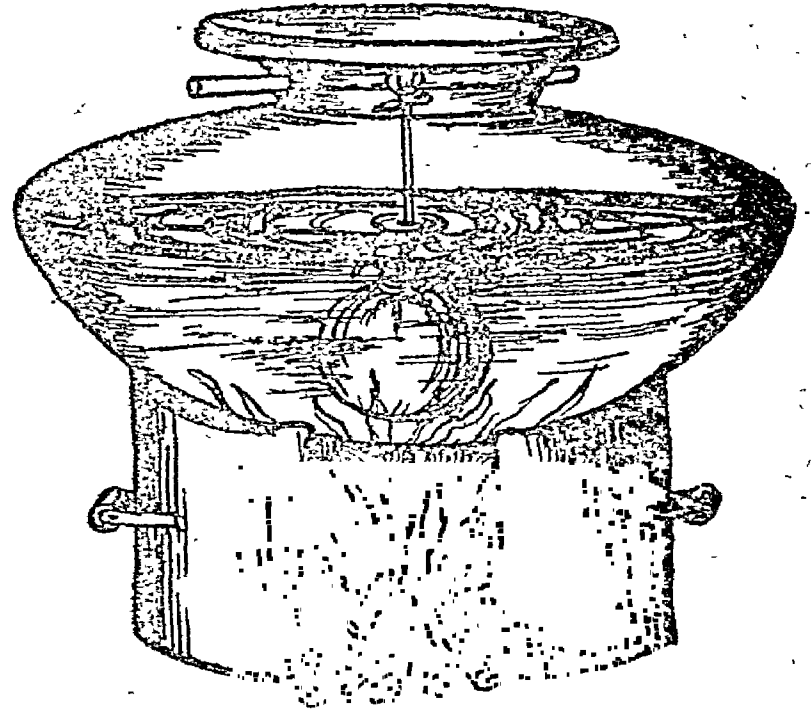
गये क्वाथ को फिर (कड़ाही में) डाले। दन्ती के बराबर (२५ पल पुराने पवित्र गुड को उसमें डाले। और वे हरड़ें (साजी बिना कुचली) और आधा कुडव मीठा तेल, निशोथ ४ पल, पिप्पली, सोंठ एक एक पल को भी (डालकर) उसे अवलेह के समान सिद्ध करना चाहिए। शीतल होने पर उसमें तैल के बराबर (आधा कुडव) शहद तथा दालचीनी, इलायची, तेजपत्र और नागकेसर (सब मिलाकर इनके) एक पल चूर्ण को डाले।

उस (अवलेह का) एक पल चाटकर तथा (अवलेह में पड़ी) एक हरड़ (गुठली निकाल) खाकर सुखपूर्वक स्निग्ध प्रस्थप्रमाण दोष का (अर्थात् एक प्रस्थ पुरीष का) रोगरहित विरेचन होता है।

यह सेवन की गई (दन्तीहरीतकी) गुल्म, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, अरुचि, हृद्रोग, ग्रहणीदोष, कामला (icterus) विषमज्वर, कुष्ठ, प्लीहा, आनाह को नष्ट करती है।

पतला मांसरस तथा भात इसका उपद्रवरहित क्रम (पथ्य) है।

(यह दन्तीहरीतकी—है।)

वक्तव्य—(१४२) दन्तीहरीतकी का कल्प चरक की एक मौलिक विशेषता है। इस योग में हरड़ के सौम्य विरेचक गुण को दन्ती और चित्रक के अग्निसंदीपक गुण के साथ मिलाकर कोष्ठ को स्निग्ध करते हुए निशोथ के भेदक गुण को कुछ हलका करते हुए कल्पना की गई है। पहले दोलायन्त्र में मोटी-बड़ी परिपक्व हरड़ों दन्ती तथा चीते की छाल को जल के साथ औटाया गया है। फिर काढ़े को छान कर अलग कड़ाही में डालकर गुड, तैल, पीपल, सोंठ के साथ अवलेह सिद्ध किया गया है। फिर नीचे उतार ठण्डा कर शहद तथा प्रक्षेप डाला गया है।

इसका एक पल तथा एक इसी की पड़ी हरड़ खाकर रात को सोजाने का विधान है इससे बिना किसी उपद्रव की एक प्रस्थ प्रमाण बंधी हुई टट्टी आती है। यह सुख विरेचक (laxative) है।

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम्।
अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शचिकित्सिते ॥१५८॥

कफगुल्मियों के (लाभ करने वाले) सिद्ध निरूह योग सिद्धस्थान में कहे जावेंगे। तथा सिद्ध अरिष्टयोग ग्रहणी तथा अर्श चिकित्सा (अध्यायों) में (कहे जावेंगे)।

यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम्।
द्विगुणक्षारहिंग्वम्लवेतसास्ताः कफे हिताः ॥१५९॥
य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम्।
सिद्धा निरत्ययः शास्ताः दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते ॥१६०॥

वातगुल्मियों के जो चूर्ण, गुटिकाएं कही गई हैं वे दोगुने जवाखार, हींग, अम्लवेंती (से युक्त होने) से कफ (गुल्म) में (भी) हितकर (होती हैं)।

जो ग्रहणीदोष में (कहे जायेंगे) वे क्षार कफ गुल्मियों के (भी) सिद्ध उपद्रवरहित प्रशस्त (योग हैं)। अन्त में (जब कोई उपाय न चले तो) दाह प्रशस्त होता है।

कफगुल्म में पथ्य

प्रपुराणानि धान्यानि जाङ्गलाः मृगपक्षिणः।
कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च ॥१६१॥
शुष्कमूलकयूषश्च विल्वस्य वरुणस्य च।
चिरविल्वांकुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च ॥१६२॥
बीजपूरकहिंग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः।
तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत् ॥१६३॥

अत्यन्त पुराने धान्य, जाङ्गल पशुपक्षी, कुलथी, पिप्पली, सोंठ, सूखीमूली, बेल, वरुण, चिरविल्व के अंकुर, अजवाइन, (अथवा) चित्रक मुद्गयूष तथा बिजौरा, हींग, अम्लवेंती, यवक्षार, अनारदाने के साथ मट्ठे, तैल, घी के साथ (अन्य) व्यञ्जन बनावे।

पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम्।
कफगुल्मी पिवेत् काले जीर्णं माध्वीकमेव च ॥१६४॥
यवानीचूर्णितं तक्रं विडेन लवणीकृतम्।
पिवेत् सन्दीपनं वातमूत्रवर्च्चोऽनुलोमनम् ॥१६५॥

कफगुल्मी समय पर लघुपञ्चमूल से पकाये जल को, पुराने वारुणी मद्य को तथा जीर्ण माध्वीक (मधु के सन्धान से बनी) मद्य को पिये।

अजवाइनचूर्ण से युक्त, विडलवण से नमकीन किये गये अग्निसन्दीपक, वात-मूत्र तथा पुरीष के अनुलोमक तक्र को पिये।

गुल्म की असाध्यता

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म्म इवोन्नतः ॥१६६॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः।
तृष्णातन्द्रा प्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति ॥१६७॥
गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम्।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम् ॥१६८॥

धीरे धीरे (क्रम से) सञ्चित (होता हुआ) अत्यन्त विपुल स्थान ग्रहण (कर लेता है)। दृढ़-मूलवाला, सिराओं के प्रतानों से युक्त, कच्छप के समान उठा हुआ गुल्म जब दुर्बलता, अरुचि,

हृल्लास, कास, वमन, अरति (बेचैनी), ज्वर (आदिकों) से तृष्णा, तन्द्रा, प्रतिश्याय से युक्त होता है (तब) वह सिद्ध नहीं होता है।

हृदय-नाभि-हस्त-पादों में (उत्पन्न हुआ) शोफ ज्वर, श्वास, वमन, अतीसार से पीडित गुल्मी को पकड़ कर (मृत्यु की ओर) खींचता है।

वक्तव्य—(१४३) गुल्म में असाध्यता का लक्षण तभी सम्भव है जब अन्य कई प्रकार के उपद्रव साथ साथ चल रहे हों और गुल्म का आकार बहुत अधिक बढ़ता चला गया हो तथा हृदय नाभि हाथ पैरों में शोथ आने लगा हो।

रक्तगुल्म चिकित्साक्रम

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे।
स्निग्धस्विन्नशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ॥१६९॥

रक्तजन्य गुल्म का तो गर्भकाल बीत जाने पर स्निग्ध स्विन्न शरीर वाले के लिये स्नेह विरेचन देवे।

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैल सर्पिषोः।
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ॥१७०॥

पलाशक्षार २ आढक, तैल तथा घी दोनों २ आढक यथाविधि पकाकर (इस सिद्ध मिश्रण की) गुल्म को शिथिल कर सकने वाली मात्रा का प्रयोग करे।

प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम्।
क्षारेणयुक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः ॥१७१॥
आभ्यां वा भावितान् दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान्।
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान् वा सुभावितान् ॥१७२॥
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः।
किण्वं वा सगुडंक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम् ॥१७३॥

यदि इससे (पलाशक्षार सिद्ध घृत से भी) गुल्म का प्रभेदन न हो तो (फिर) योनिविशोधन दे—

यवक्षार से युक्त अथवा पुनः सेहुण्डदुग्ध से युक्त तिलकल्क को अथवा इन दोनों से भावित कटुक मत्स्य अथवा सुअर तथा मछली दोनों के पित्तों से भले प्रकार भावित कपड़े के पिचुओं को योनि में लगावे।

अथवा अधोहर (विरेचन) द्रव्यों से और ऊर्ध्वहर (वमन) द्रव्यों से भावित अथवा शहद से युक्त (कपड़ों को योनि में धरे) किण्व (yeast) अथवा क्षारसहित गुड को योनिशोधन के लिये देवे।

रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा।
लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत् ॥१७४॥
बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम्।
अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद्गुल्मप्रभेदनम् ॥१७५॥

रक्तपित्तनाशक क्षार को शहद घी के साथ चाटे। लशुन, तीक्ष्णमद्य, तथा मछलियों को इसको (रोगी को) दिलावे। दूध गोमूत्रसहित (अथवा) क्षारसहित दशमूल की गुल्मभेदक बस्ति को रुधिर न दिखाई दे तो देवे।

प्रवर्त्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम्।
घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम् ॥१७६॥

रक्त निकलने पर मांसरस तथा भात देवे। घी तथा तैल से अभ्यङ्ग (तथा) पीने के लिए नयी सुरा को (देवे)।

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरीः क्रियाः।
कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहरी पुनः ॥१७७॥

रक्त के बहुत अधिक निकलने पर तो रक्तपित्तनाशक (तथा) वातरोग से पीड़ित स्त्री के लिए फिर सब प्रकार की वातहर क्रिया करनी चाहिए।

घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान्।
सुरां समण्डां पूर्वञ्च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥१७८॥
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा।
अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुवासनम् ॥१७९॥

घी तैल का सिंचन, मुर्गों तथा तीतरों को (भोजन निमित्त) मण्डयुक्तसुरा तथा अम्लद्रव्यों से सिद्ध घृत का पान (भोजन से) पूर्व प्रयोग करना चाहिए।

रक्त के अधिक प्रवृत्त होने पर तिक्तरसप्रधान द्रव्यों से साधित अनुवासनवस्ति अथवा जीवनीयपदार्थों के द्वारा सिद्ध घृत से उत्तरवस्ति दे ।

अध्याय के विषय

तत्रश्लोकाः—

स्नेहः स्वेदः सर्पिर्वस्तिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः ।
वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥१८०॥
सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च ।
रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगाः ॥१८१॥
उपाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यान्तरप्रभिन्नस्य ।
संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥१८२॥
स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च ।
सर्पिर्वस्तिर्गुडिकाः चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥१८३॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।
गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥१८४॥
यथान्नपानसेवा हेतूनां वर्ज्जनं यथास्वञ्च ।
नित्यश्चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्व्वकर्म्माणि ॥१८५॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यता न च योगाश्च ।
गुल्मचिकित्सितसंग्रह एतावान्व्याहृतोऽग्निवेशस्य ॥१८६॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक हैं (कि)—

वातगुल्मवालों को स्नेहन, स्वेदन, घृतवस्ति चूर्ण, बृंहण गुटिकाएँ, वमन, विरेचन, रक्तमोचण पित्तजन्यगुल्म में तिक्तसिद्ध घृतदूध विरेचन. निरूह. रक्त का मोक्षण आश्वासन (तथा) संशमन के योग; पक्वगुल्म का शस्त्रसहित उपनाह गुल्म के अन्दर भिन्न होने पर संशोधन तथा संशमन; कफजन्यगुल्म में स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लंघन, वमन, विरेचन, घृतवस्ति गुटिकाएँ चूर्ण क्षारसहित अरिष्ट पहले रक्तमोक्षण करके अन्त में दाह और स्त्रियों में होने वाले रक्तगुल्म का चिकित्साक्रम कह दिया है ।

पथ्यकर अन्नपान का सेवन, और अपने अपने निदान का परिवर्जन, नित्य अग्नि की रक्षा और गुल्म में स्नेहन किए गए को सब कर्म करना हेतु लक्षण सिद्धि चिकित्साक्रम साध्यता और असाध्यता और योग इतना गुल्मचिकित्सा का संग्रह अग्निवेश को कहा है ।

इत्यग्निवेशकृतेतन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने गुल्मचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत, चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में गुल्मचिकित्सित नाम का पाँचवाँ अध्याय (समाप्त हुआ) ।
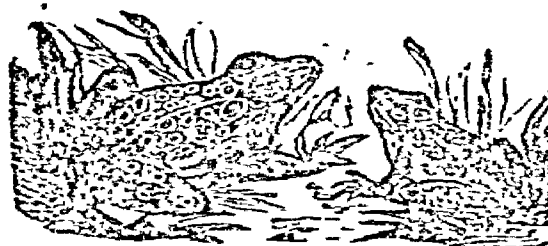
चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

षष्ठोऽध्यायः

प्रमेहचिकित्सा

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (इम)'प्रमेहचिकित्सित' (नामक षष्ठ अध्याय) का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः
पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः ।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गा-
नुवाच मेहान् शमनञ्च तेषाम् ॥२॥

(योग्य) काल (आने पर) मोह-मान-अनुशय (क्रोध) से रहित आशा (राग) शून्य, ज्ञान (और) तप (जिनका) विशाल (है ऐसे भगवान्) पुनर्वसु (आत्रेय) ने अग्निवेश के लिए, हेतु (निदान) लिङ्गों (लक्षणों) सहित प्रमेहों को तथा उनके शमन को बतलाया।

प्रमेह—हेतु

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि
ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतञ्च
प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्व्वम् ॥३॥

बैठने का सुख, निद्रासुख, दही, ग्राम्य-औदक-आनूप (पशु पक्षियों के) मांसरस, दूध (और उसके बने हुए खोया, रबड़ी, खुर्चन आदि पदार्थ), नये (खलिहान से तुरत आये) अन्न (तथा तुरत कुआ खोदकर प्राप्त किया) जल (तथा ताजी बने अन्यपेय) और गुडविकार (गुड के बने पदार्थ-चीनी, बूरा, और मिठाइयां जिनमें गुड बूरा चीनी खांड पड़ती

हो) तथा सब कफकारक (पदार्थ ये सभी) प्रमेह (के) हेतु (हैं)।

वक्तव्य—(१४४) छठे अध्याय में प्रमेह का वर्णन किया जारहा है। प्रकर्षेण प्रभूतं प्रचुरं वारम्वारं वा मेहति मूत्रत्यागं करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः इस शाब्दिक निरुक्ति के आधार पर विशेष करके अधिक मात्रा में अथवा अनेक बार मूत्र के परित्याग का लक्षण जिस रोग में प्राप्त होता है वह प्रमेह कहलाता है। प्रमेहप्रकरण में मूत्रसंस्थान (urinary system) के रोगों का उल्लेख कर दिया गया है। आयुर्वेद की अपनी मौलिक सूक्ष्मों का एक नमूना प्रमेह प्रकरण है।

निदानस्थान में चरकसंहिता में प्रमेह के अनेकों कारण बतलाये गये हैं। दक्ष प्रजापति के यज्ञ के विध्वंस करने के

लिए जैसे वीरभद्र ज्वर शंकर ने उत्पन्न किये थे वैसे प्रमेह को शङ्कर ने उत्पन्न नहीं किया पर वीरभद्र की माया के परिणामस्वरूप रक्तपित्त, गुल्म तथा प्रमेह और कुष्ठ की उत्पत्ति बतलाई जाती है—'हविः प्राशान्मेहकुष्ठयोर्जन्म'।

रक्तपित्त में पित्तदोष का प्रकोप जैसे सब प्रकार के रक्तपित्तों के करने में महत्त्व का भाग लेता है; गुल्म में जैसे वातदोष सब प्रकार के गुल्मों के करने में महत्त्व का भाग लेता है वैसे ही प्रमेह में त्रिदोषात्मक स्वरूप रोग का होते हुए भी कफ का महत्त्व का भाग रहा करता है। इसी कारण ऊपर जो प्रमेह के हेतु दिये हैं वे अधिकतर कफ-कारक हैं। कफ बढ़ाने के गुण के कारण कुछ लोग आस्या-सुखादि कारणों को केवल कफजप्रमेहों का हेतु समझते हैं परन्तु प्रमेह के त्रिदोषात्मक होते हुए भी श्लेष्मगुणभूयिष्ठ होने के कारण यहां जो हेतु दिये गये हैं वे सभी प्रकार के प्रमेहों पर यथावत् लागू होते हैं।

उदाहरण के लिए 'स्वप्नसुख' को लीजिए उसका साधारण अर्थ है खूब सोना। अधिक सोना कफकारक है अतः वह शीतप्रमेह (कफजप्रमेह) को उत्पन्न करता है। पर वैश्या के साथ सुखपूर्वक सोना क्या स्वप्नसुख या शयनसुख नहीं है? वेश्या के साथ सोने का परिणाम उष्णप्रमेह (पैत्तिक प्रमेह) में होकर सुजाक (gonorrhoea) की उत्पत्ति होती है। तथा स्वप्नसुख के कारण वीर्यपात होने के बाद वातिक-प्रमेह की उत्पत्ति कालान्तर में देखी जा सकती है।

प्रमेह—सम्प्राप्ति

मेदश्च मांसश्च शरीरजं च
क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णै-
स्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥४॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ
धातून् प्रमेहाननिलः करोति।
दोषो हि बस्तिं समुपेत्यमूत्रं
सन्दूष्य मेहान् कुरुते यथास्वम् ॥५॥

कफ मेद तथा मांस को तथा शरीर में उत्पन्न बस्तिगत क्लेद को तथा (शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस तथा ओज) को दूषित करके प्रमेह (विशेष करके कफजप्रमेहों) को करता है। (साथ ही उष्ण (अम्ललवणादिक) पदार्थों के द्वारा प्रकुपित हुआ पित्त उन्हीं (मेद-मांस-शरीरजक्लेद-शुक्र-शोणित वसा-मज्जा-लसीका-रस तथा ओज) को दूषित करके और भी (पित्तजप्रमेहों को कर देता है)।

दोषों में क्षीणता आने पर वायु धातुओं को बस्ति में खींच कर प्रमेहों को (विशेष करके वातिक प्रमेहों को) कर देती है।

दोष ही बस्ति को प्राप्त होकर (बस्ति में पहुँचकर) मूत्र को दूषित करके यथास्व (जैसा वह खुद है वैसे लक्षण वाले) प्रमेहों को करता है।

वक्तव्य—(१४५) प्रमेह सम्प्राप्ति की वास्तविक रूप का अवलोकन करने के लिए निदानस्थान का चतुर्थ अध्याय देखना ही चाहिए जहां आचार्य ने सरल शब्दों में विस्तारपूर्वक इस विषय का विवेचन किया है।

यहां हमें उपरोक्त दो श्लोकों के आधार पर कुछ मुख्य महत्त्वपूर्ण निर्णय प्राप्त होरहे हैं उनका उल्लेख हम करना चाहते हैं। जिनमें पहला यह है कि दोष के कोप के कारण चाहे कुछ भी रहें पर प्रमेह में दोष बस्तिगत मेद-मांस-क्लेद-रक्त आदि पर कार्य करता है। बस्ति शब्द यहां उपलक्षणात्मक है। बस्ति से वृक्क अभिप्रेत है। वृक्क की गुच्छिकाओं (renal glomeruli) में शरीरस्थ रक्त सब पदार्थों के लाभ-हानिकर अंशों के साथ प्राप्त होता है। वहां से छनने के बाद हानिकर द्रव्यों की छांट गुच्छिकाओं तथा नालिकाओं (renal tubules) में होजाती है शेष पदार्थ रक्त में पुनः मिल जाते हैं। बस्तिगत मेदांश, मांसांश, क्लेदांश, शुक्रांश, रक्तांश, वसांश, मज्जांश, लसीकांश, रसांश तथा ओजसांश, पर दूषित कफपित्त या वात की क्रिया होती है। दूषित हुआ कफ इनमें से कितनों को ही बस्ति में ही रोक देता है शेष पदार्थ पुनः शरीर में पहुंच जाते हैं। उत्तरबस्ति (वृक्क-किडनी) से अधोबस्ति (ब्लैडर) में मूत्र के साथ वे सब पदार्थ पहुंचकर बाहर मूत्र के साथ निकल जाते हैं। लगातार निकलने से शरीर में इन तत्वों

की कमी आती है और धातुओं तथा दोषों की लगातार कमी होने का ही नाम होता है— वायु की वृद्धि। कफज और पित्तज प्रमेहों की उत्तरावस्था वातजप्रमेह में समाप्त होती है। ज्यों ज्यों ये प्रमेह बढ़ते हैं वातजप्रमेह होने की आशा बढ़ती है। इस कारण वातजप्रमेह प्रायशः असाध्य माने जाते हैं।

प्रमेह में बहुमूत्रता एक सर्वसाधारण नियम है। कारण यह है कि कोई भी दोष जब बस्ति पर कार्य करके मेद मांस रस ओजसांशादिक को बाहर निकालता है तो उसके साथ शरीरज क्लेद बड़े परिमाण में स्वतः निकलता है। इस कारण बहुमूत्रता देखी जाती है।

क्लेद के साथ शरीरसंरक्षणात्मक शक्ति भी आती है। उसका निरन्तर ह्रास होने के कारण शरीर पर अनेक प्रकार की पिडिकाओं की उत्पत्ति भी कालान्तर में होजाती है जिसका अनुभव वैद्य को समय समय पर बराबर होता रहता है।

जो प्रमेह शीतल कारणों से कफ द्वारा कुपित होते हैं उन्हें **शीतमेह** तथा पित्तजन्य कारणों से उत्पन्न को **उष्णमेह** तथा रूक्ष कारणजन्य वातिकप्रमेह **रूक्षमेह** के नाम से प्रसिद्ध हैं।

साध्यासाध्यता

साध्या कफोत्था दश, पित्तजाः षट्,
याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वा—
न्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥६॥

समक्रियता से, विषमक्रियता से तथा महात्यय से वे क्रमानुसार कफोत्थ दस प्रमेह साध्य, पित्तज छै प्रमेह याप्य तथा पवन से प्राप्त चतुष्क साध्य नहीं (होता है)।

वक्तव्य—(१४६) साध्यासाध्य की दृष्टि से कफज दसों प्रमेह साध्य इसलिए होते हैं कि वहां समक्रियता रहती है। दोष कफ है जो उष्णरूक्ष पदार्थों से साध्य होता है। मेदमांस धातुएँ भी उष्णरूक्षादि से साध्य होती हैं इस प्रकार क्रिया में (चिकित्सा में) कोई वैषम्य न होने के कारण कफज प्रमेह पूर्णतः साध्य माने जाते हैं।

पित्तज प्रमेह विषमक्रियता के कारण याप्य कहे गये हैं। याप्य का अर्थ है जो जबतक चिकित्सा चले तब तक रोग दबा रहेगा तथा ज्यों ही इलाज बन्द हुआ कि रोग भी चालू होगया। पित्तजप्रमेह में रोगकारी पित्त स्वयं उष्ण है तथा जो मेदोमांसक्लेदशुक्र शोणित वसामज्जालसीकाओजरस दूष्य हैं उनके लिए रूक्षोष्ण उपचार चाहिए जो पित्त को और भड़का दे सकेगा अस्तु क्रिया या चिकित्सा में बड़ा वैषम्य उपस्थित होगया है उष्णक्रिया से लसीका को लाभ होता है परन्तु पित्त बढ़ता है शीतक्रिया करने से पित्तशान्त होता है पर ओज और क्लेद की वृद्धि होकर प्रमेह बढ़ सकता है। अतः यहां विषमक्रियता होने से रोग न नष्ट ही होता है और न रहता ही है। योग्य चिकित्सा उसे कुछ काल रोके रहती है थोड़े समय बाद चिकित्सा में शैथिल्य आता है तो रोग की वृद्धि होने लगती है यही पैत्तिक प्रमेह की याप्यता है।

वातिक प्रमेह असाध्य इसलिए कहे गये हैं कि वायु स्वयं एक घोर कष्टदायक होता है जब वह कुपित होजाता है। वायु के प्रकुपित होने के कारण विरुद्ध क्रम होने के कारण चिकित्सा होनी असम्भव होजाती है। वातिक प्रमेह में वसा, मज्जा, लसीका तथा ओज निरन्तर शरीर से निकलते रहते हैं। इन गम्भीर धातुओं के नित्यअपकर्ष के कारण शरीर की प्राणशक्ति नष्ट होजाती है और रोगी की प्राणरक्षा करनी नितान्त कष्टदायक होजाती है।

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जा रसौजःपिशितञ्च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेवमेहाः ॥७॥

प्रमेहियों के सपित्तकफवात दोष (हैं) तथा मेदस्, रक्त, शुक्र, क्लेदांश, वसा, लसीका, मज्जा, रस; ओजस और मांसपेशी (ये इनके) दूष्य (हैं) तथा प्रमेह (भी) बीस ही (प्रकार के हैं।)

प्रमेहलक्षण

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा
घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम्।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा
लालेव वा वालुकया युतं वा ॥८॥

विद्यात्प्रमेहान् कफजान् दशैतान्
क्षारोपमं कालमथापि नीलम्।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्त-
मेतान् प्रमेहान् षड्वदन्ति पित्तात् ॥९॥
मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा
लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं मूत्रयतीह वाता-
च्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु ॥१०॥

जल के समान, इक्षुरस के समान, घन, नीचे घन तथा ऊपर स्वच्छ, शुक्ल, सशुक्र, शीतल, मन्द-गतियुक्त, लाला के समान, अथवा बालुका से युक्त (इस प्रकार) इन दस प्रमेहों को कफज जाने।

क्षार के समान, काला, नीला, हल्दी के वर्ण का, मजीठिया रङ्ग का, और रक्त इन छै प्रमेहों को पित्त से उत्पन्न कहते हैं।

वातप्रमेहों में वात के कारण शेष धातुओं के क्षरण होजाने पर मनुष्य मज्जा से ओज से वसा से युक्त और लसीका से सतत सम्बन्ध वाला इस प्रकार चार प्रकार का मूत्र करता है।

वक्तव्य—(१४७) कफ के दस प्रमेहों का एक-एक लक्षण श्लोक ८ में दिया गया है। यथा—

१—उदकमेह—जलोपममूत्र
२—इक्षुमेह—इक्षुरसोपममूत्र
३—सान्द्रमेह—घनमूत्र
४—सान्द्रप्रसादमेह—नीचे घन ऊपर स्वच्छ मूत्र
५—शुक्लमेह—शुक्ल मूत्र
६—शुक्रमेह—सशुक्र मूत्र
७—शीतमेह—शिशिर मूत्र
८—शनैर्मेह—शनैः-शनैः मूत्रत्याग
९—लालामेह—लाला के समान मूत्र
१०—सिकतामेह—बालुकायुक्त मूत्र

पित्त के ६ प्रमेहों का भी इसी प्रकार वर्णन है—

१—क्षारमेह—क्षारोपममूत्र
२—कालमेह—कालामूत्र
३—रक्तमेह—लोहितमूत्र
४—हारिद्रमेह—हरिद्रावर्ण का मूत्र
५—माञ्जिष्ठमेह—मजीठिया रङ्ग का मूत्र
६—नीलमेह—नीलामूत्र

वात के ४ प्रमेहों का लक्षण निम्नलिखितरूप में प्रगट किया गया है—

१—मज्जमेह—मज्जायुक्त मूत्र
२—वसामेह—वसायुक्तमूत्र
३—ओजोमेह (मधुमेह)—ओजयुक्तमूत्र
४—हस्तिमेह—लसीकायुक्तमूत्र

वर्णं रसं स्पर्शमथापिगन्धं
यथास्वदोषं भजते प्रमेहः।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो
मज्जादि साद्गुण्यमुपैत्यसाध्यः ॥११॥

प्रमेह यथास्वदोष (अपने अपने दोषों के अनुकूल) वर्ण, रस, स्पर्श तथा गन्ध भी प्राप्त करता है। वात-कृत शूलसहित, श्याव, अरुण असाध्य प्रमेह मज्जा आदि (वसा, ओज, लसीका) के समान गुण को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—(१४८) वर्णरसस्पर्शगन्ध प्रमेहियों में अपने अपने दोष के अनुसार होती है पर जो प्रमेह असाध्य होने लगता है उसमें मज्जा ओज रस लसीका का साद्गुण्य (समरूपता) प्राप्त होने लगती है तथा उसका वर्ण श्यावारुण (dusky-red colour) होजाता है शूल होता है तथा वातिकप्रमेह के अन्य लक्षण उदित होजाते हैं।

प्रमेह-पूर्वरूप

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च
शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो
घनाङ्गता केशनखाभिवृद्धिः ॥१२॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो
माधुर्यमास्ये करपाददाहः।
भविष्यत मेहगदस्यरूपं
मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥१३॥

पसीना आना, शरीर में दुर्गन्ध, अङ्गों की शिथिलता, शैया-आसन तथा सोने के सुख में प्रीति, हृदय-नेत्र-जिह्वा-कर्ण इनका उपलिप्त (मानों कि कुछ लिपा हुआ हो—बोझसा प्रतीत) होना, शरीर का स्थूल होना, बाल तथा नखों का जल्दी जल्दी बढ़ना, शीतल पदार्थों में अधिक रुचि होना, गला तथा तालु का सूखना, मुख में मीठापन रहना, हाथ पैरों में जलन, और मूत्र पर चीटियों का दौड़ कर आना (ये) भविष्य (में होने वाले) प्रमेहरोग के लक्षण हैं।

प्रमेह-चिकित्साक्रम

स्थलः प्रमेही बलवानिहैकः
कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्यकार्यं
संशोधनं तस्य बलाधिकस्य ॥१४॥
स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्या
कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीत
मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्य्यम् ॥१५॥
गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं
मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन।
प्रमेहिणः स्युः परिबृंहणानि
कार्य्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम् ॥१६॥

जहां एक प्रमेही स्थूल (होने के कारण) बलवान तथा एक कृश (होने के कारण) अत्यन्त दुर्बल (हुआ करता है) वहां कृश का पूर्णतः बृंहण तथा उस बलाधिक का संशोधन करना चाहिए।

स्नेहन किये गये रोगी के मलशोधन के लिये (बलवान् प्रमेही की चिकित्सा में) कल्पस्थान में उपदिष्ट विविध योग प्रयोग करने चाहिए। मल के (वमन द्वारा) ऊपर को तथा (विरेचन द्वारा) नीचे को निकल जाने पर प्रमेहों में सन्तर्पण ही करना चाहिए।

प्रमेही को अपतर्पण से गुल्म, धातुक्षय, मेहनशूल, बस्तिशूल और मूत्रग्रह (retention of urine) भी होते हैं। (अतः) उसके अग्निबल को भले प्रकार देखकर खूब बृंहण करना चाहिए।

वक्तव्य—(१४६) आयुर्वेदचिकित्सा का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि बल देखकर जो स्थूल हों बलवान् दृढ हों उन्हें दोषों का निर्हरण वमन विरेचन बस्ति आदि कर्मों से करना चाहिए। दोषों के समभाव ग्रहण करने पर अग्निबल का विचार करके फिर उसे बृंहणीय द्रव्य जिसे सन्तर्पण कहा जाता है प्रदान करने चाहिए। कुछ लोग जो कृशकाय होते हैं उनका संशोधन न कराकर अग्निबल का ध्यान देकर सीधे सन्तर्पण से चिकित्सा करनी चाहिए। कृश का संशोधन-कर्म वात की उत्पत्ति तथा प्राणशक्ति का ह्रास कर सकता है अतः संशोधन करते समय बल का ध्यान परमावश्यक है। अग्निबल से अधिक बृंहण कराना एक नई समस्या उत्पन्न कर सकता है अतः वह भी विचार लेना चाहिए।

प्रमेही की चिकित्सा भी उसके स्थूलकाय होने पर संशोधनोपरान्त बृंहण तथा कृशकाय होने पर आदितः सन्तर्पणजन्य होती है। यदि सन्तर्पणज चिकित्सा के स्थान पर अपतर्पणज चिकित्सा का सहारा लिया गया तो गुल्म, धातुक्षय, लिङ्गशूल, वृक्कशूल, बस्तिशूल और मूत्रग्रह के उपद्रव हो जाते हैं यह जो उल्लेख है वह वैज्ञानिक विचारणा पर ही आधारित सत्य है। जिन लोगों को सुजाक होजाता है यदि उन्हें लंघनादि पर रख दिया जाय और जल का भी अभाव कर दिया जाय तो मूत्रमार्ग निश्चित रूप से निष्क्रिय होने से वहां की म्यूकसमेम्ब्रेन (mucous membrane श्लैष्मिक कला) को प्रमेहाणु (गौनोकोकाय) विदीर्ण करके व्रण बना गांठ डाल मूत्रमार्ग को अवरुद्ध कर देंगे। अथवा यदि अश्मरी का चूर्ण (सिकता) का स्राव होरहा है या कोई लसयुक्त पदार्थ निकल रहा है और मूत्रमार्ग शिथिल पड़ा है तो भी मूत्रमार्ग रुक सकता है। अश्मरी बन सकती है मूत्रमार्ग में वृक्क से शिश्न तक कहीं भी शूल होसकता है इस कारण अपतर्पणरहित सन्तर्पणयुक्त मूत्रमार्ग का संशोधन जहां तक सम्भव हो करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए यह शास्त्राज्ञा है।

प्रमेह में पथ्य

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही
तस्यक्रिया संशमनी प्रयोज्या।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः
प्रमेहशान्त्यैः लघवश्च भक्ष्याः ॥१७॥

जो प्रमेही संशोधन को अयोग्य होता है उसकी संशमनी चिकित्सा प्रयुक्त की जानी चाहिए। तथा प्रमेह की शान्ति के लिए मन्थ, कषाय, यवचूर्ण, अवलेह और लघु भक्ष्य पदार्थ (देने चाहिए)।

ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गा-
स्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः।
यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यं—
मद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान् ॥१८॥

जो विष्किर (बखेर कर खाने वाले मुर्गा, कबूतर तीतर, आदि), जो प्रतुद (मांसभक्षी गृध्र, बाज, काक, चील आदि) पक्षी उनके जाङ्गलज मनोज्ञ मांसरस के द्वारा रूक्ष यवान्न, यवमण्ड, सक्तु सहित अपूप भी खावे।

मुद्गादियूषैरपि तिक्तशाकैः
पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तींगुदीतैलयुतं प्रमेही
तथातसी सर्षपतैलयुक्तम् ॥१९॥
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं
यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही।
यवस्य भक्ष्यान् विविधांस्तथाद्यात्
कफप्रमेही मधुसम्प्रयुक्तान् ॥२०॥

मुद्ग आदि के यूष के द्वारा तथा तिक्तरस प्रधान-शाकों से पुराने शालियों का भात खाने को ले। प्रमेही को दन्ती (तथा) हिंगोट के तैल से युक्त तथा अलसी (और) सरसों के तैल से युक्त साठी के चावलों (के भात) के साथ अथवा (सवाँ आदि) तृणधान्य अन्न रूप होवे। प्रमेही यवप्रधान (मुख्यतया जौ खाने वाला) होवे। कफप्रमेही जौ के विविध मधु से मिश्रित भक्ष्यों को खावे।

निशिस्थितानांत्रिफला कषाये
स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम्।
तान् सीधुयुक्तान् प्रपिबेत् प्रमेही
प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ॥२१॥

त्रिफला कषाय में रात्रि भर स्थित, जौ का मधु मिश्रित तर्पण (बनावे) उसके प्रायोगिक (सतत सेवनीय) सीधुयुक्त (तर्पण) को प्रमेह के वध के लिए ही प्रमेही पिये।

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषाया—
स्तैर्भावितानां च पृथग्यवानाम्।
सक्तूनपूपान् सगुडान् सधानान्
भक्ष्यांस्तथान्यान् विविधांश्च खादेत् ॥२२॥

श्लेष्मप्रमेह में जो कषाय कहे गये हैं उनसे अलग अलग भावित जौ के गुड सहित सत्तुओं को पुओं को, भुने हुए जौ के साथ तथा अन्य विविध भक्ष्य पदार्थों को खावे।

खराश्वगोहंसपृषद्भृतानां
तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां
कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ॥२३॥

तथा (उसी प्रकार) गधा, घोड़ा, गाय, हंस, हरिण से खाये गये और मल के साथ निकले हुये जौ के विविध भक्ष्य पदार्थ खाने के लिए देने चाहिए तथा बांस के जौ (बीज) एवं गेहूं के बने भक्ष्य द्रव्य जौ की विधि से (देवे)।

वक्तव्य—(१५०) प्रमेह का सम्पूर्ण पथ्य जौ के ऊपर घूमता है—

यवः कषायो मधुरः सुशीतलः
प्रमेहजित्तिक्तकफापहारकः।

ये जो राजनिघण्टुकार ने जौ के गुण लिखे हैं वे प्रमेह विशेषकर कफजप्रमेह को नष्ट करने के लिए अनुपम हैं। निदान परिवर्जन आयुर्वेदचिकित्सा का प्रधान रूप है। कफजप्रमेह और ओज मज्जालसीकादि दूष्यों की उपस्थिति के

कारण सर्वत्र स्निग्धता का बोलबाला रहता है। जौ मधुर शीतल कषाय और रूक्ष तथा रस में तिक्त होने से कफनाशक साधारणतया और प्रमेहनाशक विशेष करके होता है।

जौ के साथ ही वेणुयव का वर्णन भी प्रमेहनाशक पथ्य के रूप में किया जाता है। यह वेणुबीज या वंशतण्डुल भी कहलाते हैं। इनके गुण भी प्रमेहनाशक हैं—

शीतः कषायो मधुरस्तु रूक्षो मेह क्रिमिश्लेष्मविषापहश्च।
पुष्टिं च वीर्य्यञ्चबलञ्च धत्ते पित्तापहो वेणुयवः प्रशस्तः॥

संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि
कालप्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति पित्तप्रभवान् विरेकः
सन्तर्पणः संशमनो विधिश्च ॥२४॥

उचित काल में प्रयुक्त वमन (नामक) संशोधन (तथा) लंघन कफप्रमेहों को तथा विरेचन, सन्तर्पण तथा संशमनविधि पित्त से उत्पन्न (प्रमेहों) को जीत लेते हैं।

मेहघ्नयोग

दार्व्वीसुराह्वात्रिफलाः समुस्ताः
कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत् प्रमेही।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां
पिबेद्रसेनामलकीफलानाम् ॥२५॥

दारुहल्दी, देवदारु, हरड़, बहेड़ा, आमला, मोथा के साथ कषाय उबालकर प्रमेही पिये अथवा शहद के साथ मिलाकर आमलों के फलों के रसों को पिये।

वक्तव्य—(१५१) ये दोनों योग किसी भी प्रकार के प्रमेह पर प्रयोग किए जासकते हैं।

कफमेहघ्न योग

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रं
पाठाविडङ्गार्ज्जुनधन्वनाश्च।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं
कदम्बशालार्ज्जुनदीप्यकाश्च ॥२६॥
दार्व्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च
सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा
पाठा च मूर्व्वा च तथा श्वदंष्ट्रा ॥२७॥

गोखुरू

यमान्युशीराण्यभयागुडूची
चव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते
दशोपदिष्टा मधुसम्प्रयुक्ताः ॥२८॥

(१) हरड़, कायफल, मोथा, लोध्र (उदकमेह),
(२) पाठा, विडङ्ग, अर्जुन, धन्वन (धामन) (इक्षुमेह),
(३) दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), तगर तथा वायबिडङ्ग (सान्द्रमेह)
(४) कदम्ब, शाल, अर्जुन तथा अजवाइन। (सान्द्रप्रसादमेह)
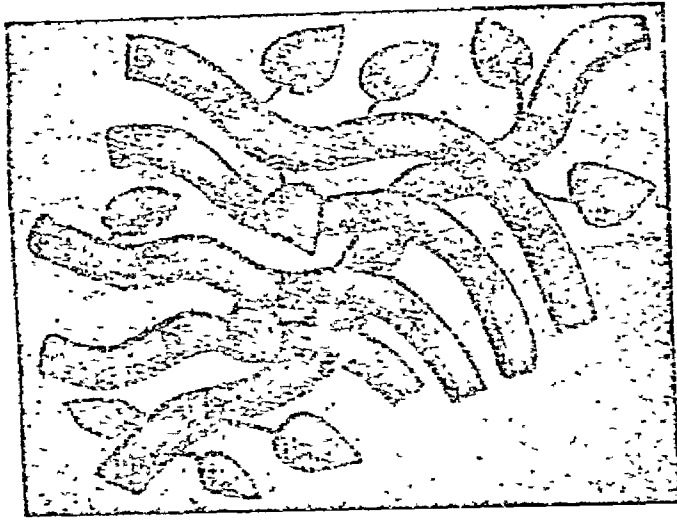
गिलोय

(५) दारुहल्दी, विडङ्ग, कत्था तथा धव (शुक्लमेह)

(६) देवदारु, कुष्ठ, अगर काष्ठ, चन्दन (शुक्रमेह)

(७) दारुहल्दी, अरणी, हरड़, बहेड़ा, आमला पाठा सहित (शीतमेह),

(८) पाठा, मूर्वा, तथा गोखुरू (सिकतामेह)

(९) यमानी, उशीर, हरड़, गिलोय (शनैर्मेह)

(१०) चव्य, हरड़, चित्रक, सप्तपर्ण (लालामेह)

कफमेहियों के वे श्लोक के चतुर्थपाद के द्वारा ही लिखे गये मधु के साथ (इस प्रकार) दस कषाय कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—(१५२) ऊपर जो दस प्रकार के क्वाथ बताए हैं वे जहां अलग अलग दसों कफजप्रमेह के ऊपर हैं पर उनमें से कोई कहीं भी प्रयुक्त किया जासकता है।

पित्तमेहघ्नयोग

उशीरलोध्रार्जुनचन्दनाना-
मुशीरमुस्तामलकाभयानाम् ।
पटोलनिम्बामलकामृतानां
मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ॥२९॥
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां
निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम् ।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां
प्रियंगुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥३०॥
अश्वत्थपाठासनवेतसानां
कटङ्कटर्युत्पलमुस्तकानाम ।
पैत्तेषु मेहेषु दश प्रदिष्टाः
पादैः कषाया मधुसम्प्रयुक्ताः ॥३१॥
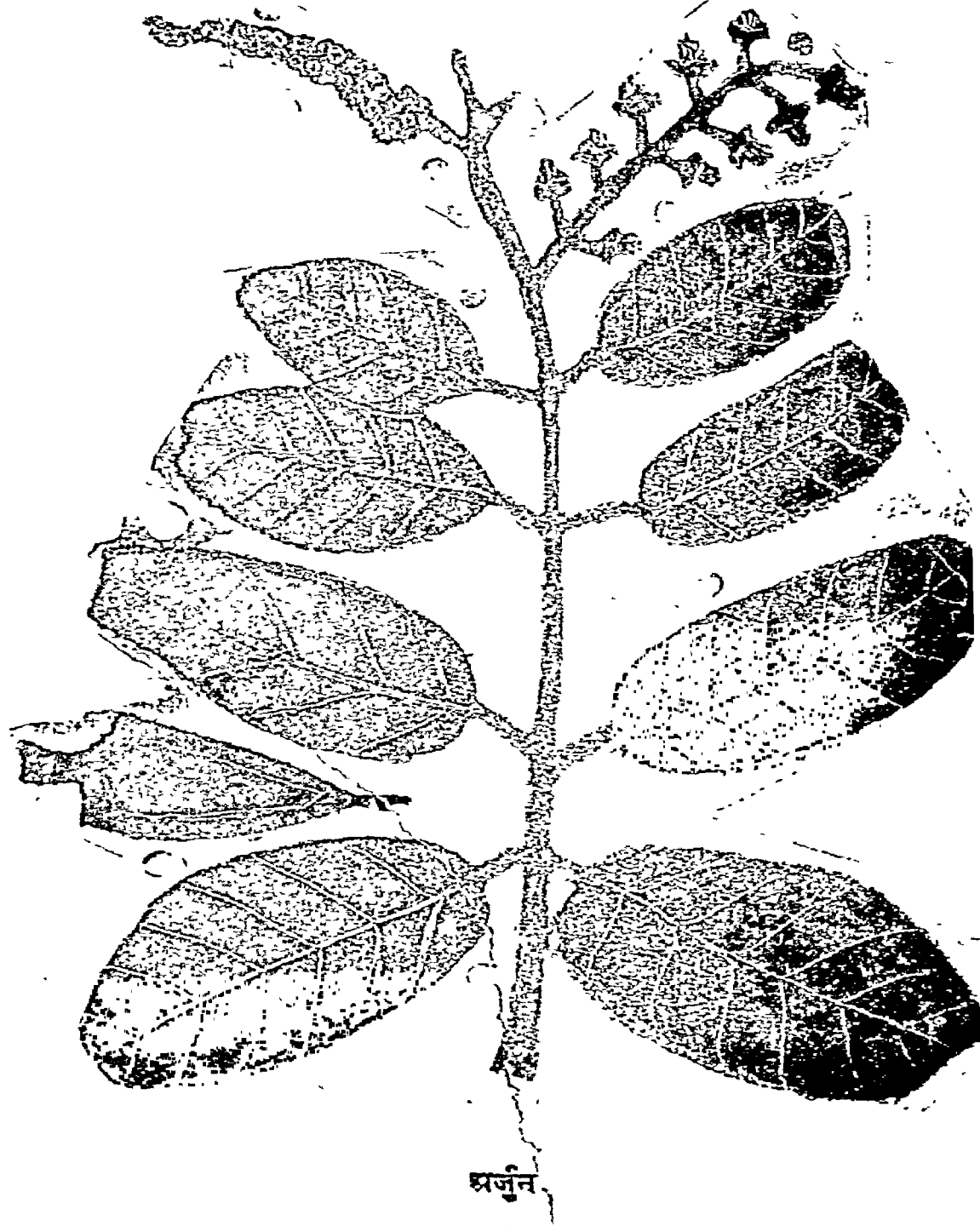
अर्जुन

(१) खस, लोध, अर्जुन, चन्दन
(२) खस, मोथा, आमला, हरड़
(३) पटोलपत्र, नीम, आमला, गिलोय,
(४) मोथा, हरड़, पद्माख, कुटजत्वक्,
(५) लोध, सुगन्धवाला, पीतचन्दन, धाय
(६) नीम, अर्जुन, अम्बाड़ा, हल्दी, कमल
(७) सिरस, राल, अर्जुन, नागकेसर
(८) प्रियङ्ग, पद्म, उत्पल, ढाक
(९) पीपल, पाठा, विजयसार, वेतस
(१०) दारुहल्दी, उत्पल, मोथा

के मधु डाले पैत्तिकप्रमेह में श्लोक के एक चतुर्थांश के द्वारा (बने हुए) दस कषाय कहे गये हैं।

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ
कषाययोगौ विहितास्तु सर्व्वे।
मन्थस्यपाने यवभावनायां
स्युर्भोजने पानविधौ पृथक् च ॥३२॥

पूर्व में (जो) दो कषाय योग (बतलाये गये हैं) वे तो सब प्रमेहों में (लाभकर) माने जाते हैं। (तथा) (शेष जो) सब (बाइस योग ऊपर कहे गये हैं उनको) मन्थ के पान में, जौ की भावना में, भोजन में, पानविधि में प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य (१५३) दार्वीसुराह्व त्रिफला समुस्ता वाला श्लोक २५ वां मेहघ्न दो कषायों का वर्णन करता है उसी से अभिप्राय है। और सबमें कफघ्न और पित्तघ्न १०-१० तथा २ दार्वीसुराह्वा वाले इस प्रकार बाईसों प्रमेहनाशक क्वाथों को प्रयोग किया जासकता है। इन क्वाथों की भावना जौ के आटे में देकर उसकी रोटी सेककर खाना, सत्तुओं में डाल मन्थ बनाकर पीना, साधारण जल की भांति प्रयोग करना आदि सब प्रयोग इनके किए जासकते हैं।

वातमेहघ्न चिकित्सा

सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव
योज्यानि मेहेष्वनिलात्मकेषु।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः
स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ॥३३॥

वातजन्यप्रमेहों में, सिद्ध तैलों तथा घृतों को ही प्रयोग करे। उन (वातप्रमेहियों) के मेदस् (तथा) कफ कषाय योगों के द्वारा (शान्त होते हैं) तथा वायु स्नेहों से शान्त होता है।

वक्तव्य—(१५४) अष्टाङ्गसंग्रह में वातप्रमेहघ्न क्रियाक्रम बड़ा सुन्दर दिया है—

वातजेष्वपि यापनार्थं कफपित्तोल्बरणेषु पित्तैकषायम्। तत्र वसामेहेऽग्निमन्थस्य। मज्जमेहेऽमृताचित्रकयोः कुष्ठ कुटजपाठाकटुरोहिणीमिश्रम्। हस्तिमेहे हस्तिसूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारम्। मधुमेहे कदरखदिर पुरकषायम्। कफानुगतेषु तु वसादिमेहेषु यथास्वकषायेण साधितानि तैलानि। पित्तानुगतेषु च घृतानि यमकं वा प्रयुञ्जीत। एतेन शेषेष्वपि मेहेषु स्नेहविकल्प उक्तो वेदितव्यः। तथा कषायसम्पृक्तैः स्नेहैः कफपित्तमूत्रमेदसामनिलस्य चोपशमो भवति ॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि
बैभीतरौहीतककौटजानि।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि
क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥३४॥

कफपित्त (नामक द्वन्द्वज) प्रमेह से पीड़ित (रोगी) कबीला, सप्तपर्ण, शाल से प्राप्त लकड़ी; बहेड़ा,
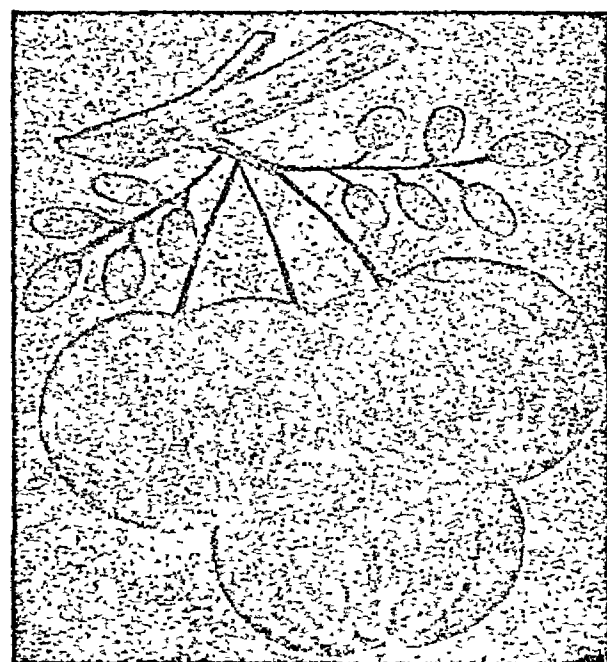
आंवला

रुहेडा,कुटज से प्राप्त छाल तथा कैथ के फूलों के चूर्णों को शहद के साथ चाटे।

पिबेद्रसेनामलकस्य चापि
कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं
मेही रसैर्जांगलजैर्मनोज्ञैः ॥३५॥

प्रमेहपीड़ित अक्षसमानि कल्कीकृतानि (एक कर्ष बराबर कम्पिल्लसप्तच्छदशाल–विभीतक रोहीतक कुटज–कपित्थपुष्प के चूर्णों को कल्क बनाकर) योग्य काल में आमलों के रस के साथ पिये तथा (औषध के) जीर्ण होजाने पर पुराने अन्न (जौ) को मन के लिए प्रिय (ऐसे) जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरसों के साथ खावे।

दृष्ट्वानुबन्धं पवनात्कफस्य
पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः।
तैलं कफे स्यात् स्वकषायसिद्धं
पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥३६॥

कफ का वा पित्त का वायु से अनुबन्ध देखकर स्नेहविधि की कल्पना करनी चाहिए। कफ का अनुबन्ध होने पर अपने पूर्वोक्त (कफनाशक) कषायों से सिद्ध तैल (और) पित्त का अनुबन्ध होने पर (पूर्वोक्त) पित्तनाशक कषायों के द्वारा (चिकित्सा) हो।

त्रिकण्टकाद्यस्नेह

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कै——
र्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः।
पाठापटोलार्ज्जुन निम्बमुस्तैः—
र्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥३७॥
मञ्जिष्ठया चागुरुचन्दनैश्च
सर्व्वैः समुस्तैः कफवातजेषु।
मेहेषु तैलं विपचेद्, घृतं तु
पैत्तेषु मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥३८॥

(१) गोखुरू-अश्मन्तक-सोमवल्क (सफेद कत्था) (२) भल्लातक-अतीस-लोध्र, (३) पाठा-पटोल-अर्जुन-नीम-मोथा, (४) हल्दी-पद्माख-अजवाइन, तथा (५) मजीठ-अगर-चन्दन इन सबों से (पाँचों पांचों के द्रव्य अलग-अलग अथवा एक साथ से) मोथा के साथ कफवातजमेहों में तैल को, पैत्तिक (मेहों में) घृत को तथा त्रिदोष के लक्षण होने पर मिश्रस्नेह (घृत तथा तैल) को (स्नेहकल्पनाविधि से एक भाग कल्क, चार भाग स्नेह, स्नेह से चार गुने क्वाथ के साथ) पकावे।

फलत्रिकादिक्वाथ

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां
मुस्तां च निःक्वाथ्य निशां सकल्काम्।
पिबेत्कषायं मधुसम्प्रयुक्तं
सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥३९॥

हरड़, बहेड़ा, आमला, दारुहल्दी, इन्द्रायन, अ. मोथा को क्वाथरूप बनाकर हल्दी के कल्कसहित मधु मिलाकर (उस) कषाय को बढ़े हुए सब प्रमेहों में पिये।

नोट——इस श्लोक को 'गङ्गाधर' ने नहीं पढ़ा।

लोध्रासव

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां
मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यमानीम्।
चव्यं प्रियंगुं क्रमुकं विशालां
किराततिक्तं कटुरोहिणीञ्च ॥४०॥
भार्गीनतं चित्रकपिप्पलीनां
मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम्।
कलिंगकान् केशरमिन्द्रसाह्वां
नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥४१॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा
पूते चतुर्भागजलावशेषे।
रसेर्द्धभागं मधुनः प्रदाय
पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः ॥४२॥
लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान्
क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलप्रयोगात्।

पाण्ड्वामयार्शास्यरुचिं ग्रहण्या
दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम् ॥४३॥
(इति लोध्रासवः ।)

लोध्र, कचूर, पोकरमूल, इलायची, मूर्वा, वायबिडंग, हरड़, बहेड़ा, आमला, अजवाइन, चव्य, प्रियंगु, सुपारी, इन्द्रायण, चिराइता, कुटकी तथा भारंगी, तगर, चित्रक, पिप्पलीमूल कूठ सहित अतीस, पाठासहित इन्द्रजौ, नागकेसर, इन्द्रायण, नख, तेजपत्र सहित मरिचकाली, तथा केवटीमोथा को १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में १-१ कर्ष बराबर (सब द्रव्य डालकर) पकाकर चतुर्थांश जल शेष छानने पर रस में (उस रस का) आधा भाग शहद का मिलाकर घी के (चिकने मिट्टी के) पात्र में एक पाख (जब तक पूर्ण सन्धान न होजाय तब तक) रखना चाहिए।

यह लोध्रासव (है इसके) दो पल (नित्य) प्रयोग करने से कफपित्त (कफ और पित्त) के प्रमेहों को शीघ्र नष्ट करे। (यह) पाण्डुरोग, अर्श, अरुचि, ग्रहणी दोष, किलास तथा विविध कुष्ठों को (भी नष्ट करता है) ।

क्वाथः स एवाष्टपलं च दन्त्या
भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात् ।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः
क्षौद्रं च तावत् पृथगासवौ तौ ॥४४॥

वही (लोध्रासव के प्रकरण में लिखा गया) क्वाथ और दन्तीमूल का आठ पल और आठपल मिश्री विशेष तथा उतना ही मधु (जितना लोध्रासव में डाला गया था) उसी प्रकार चार पल भिलावों का (आठपल मिश्री तथा उतना ही मधु) इस प्रकार अलग-अलग दो आसव (दन्त्यासव तथा भल्लातकासव यथाविधि सन्धान किए) हों।

प्रमेह में अनुपानद्रव्य

सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा
मधूदकं वा त्रिफलारसं वा ।
सीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही
माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा ॥४५॥

प्रमेही सारोदक (मोटे वृक्ष के जैसे नीम सफेद कत्था जामुन सीसम आदि के सार भाग से प्राप्त जल अथवा इनकी लकड़ी के बुरादे को औटाकर बनाया क्वाथ) अथवा कुशोदक या मधूदक (मधुयुक्त जल) अथवा त्रिफलारस, या सीधु वा निगद या बहुत पुरानी श्रेष्ठ माध्वीक (नामक मधु से बनी मदिरा) पिये ।

वक्तव्य—(१५५) प्रमेह में बहुमूत्र लक्षण रोकने के लिए साधारण जल के स्थान पर सारोदक कुशोदकादि पीने का विधान है।

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां
खादेद्यवानां विविधांश्च भक्ष्यान् ।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः
सन्तर्पणोत्थान् शमयेत् प्रमेहान् ॥४६॥
भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगान्
शुष्कांश्च सक्तून् न भवन्तिमेहाः ।
श्वित्रञ्च कृच्छ्रं कफजञ्च कुष्ठं
तथैव मुद्गामलक प्रयोगात् ॥४७॥
सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु योगा
मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः ।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु
सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः ॥४८॥

(जांगल) पशुपक्षियों के शलाका पर भूने गये मांस तथा जौ के विविध भक्ष्य (पकवान) खावे ।

संशोधनकर्म, अरिष्ट, कषाय तथा अवलेहों से सन्तर्पणजन्य प्रमेहों को शान्त करे ।

भूने हुए जौ को और सूखे (जौ के) सत्तुओं के प्रयोगों को (करने से) प्रमेह, श्वेतकुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र तथा कफजकुष्ठ नहीं होते हैं उसी प्रकार (इन रोगों में) मूंग और आमलों के प्रयोगों को (करे)।

(सूत्रस्थान के सन्तर्पणीय नामक २३ वें अध्याय में) सन्तर्पण से उत्पन्न रोगों में जो योग मेरे द्वारा

कहे गये हैं तथा (जो) मेदस्वियों के योग (सूत्र-स्थान के अष्टौनिन्दितीय नामक २१ वें अध्याय में) मेरे द्वारा कहे गये हैं वे योग कफ तथा पित्तज प्रमेहों में भी विकर्षण करने के लिये प्रयोग करने चाहिए।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढै-
रुद्वर्तनैः स्नान जलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यै-
र्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ॥४९॥

विविध व्यायाम के प्रयोगों से, प्रगाढ उद्वर्तनों से, स्नान तथा जलावसेचनों से दालचीनी, इलाइची, अगर, चन्दन आदि से विलेपनों के द्वारा प्रमेह शीघ्र नष्ट होते हैं।

प्रमेह में अपतर्पण

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः
प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु
मेहे॒ कार्याण्यपतर्पणानि ॥५०॥

बढ़ा हुआ क्लेद, मेदस् तथा कफ ये प्रमेह के हेतु (हैं) इसलिए इनको भले प्रकार देख कर वैद्य के द्वारा कफज (तथा) पित्तज प्रमेहों में अपतर्पण कार्य करने चाहिए।

वात (अनुबन्धजन्य) मेह चिकित्सा

या वातमेहान्प्रतिपूर्वमुक्ता
वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितानां
कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥५१॥

जो पूर्वोक्त वातोल्बणों की चिकित्सा है वही वातमेहों के प्रति (भी) विहित (है) क्योंकि अति कर्षणजन्य मेहों में वायु का कोप होता है। (यहां) असाध्य वातमेहों के प्रति विचार नहीं किया गया।

वक्तव्य—(१५६) कुछ लोगों ने उपरोक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ यह किया है—जो वातमेहों के प्रति पूर्व में चिकित्सा कही है उसे वातोल्बण की (भी) जाननी चाहिए।

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्तिमेहा-
स्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः।
हेतोरसेवा विहिता यथैव
जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥५२॥

जिन कारणों से प्रमेह उत्पन्न होते हैं प्रमेहों में उनको सेवन नहीं करना चाहिए। जैसे ही (शरीर स्वास्थ्य रक्षा के लिए) हेतुओं की असेवा (रोग से बचाती है वैसे ही तत्तत्) उत्पन्न रोग की चिकित्सा भी (हेतुओं की असेवा) होती है।

वक्तव्य—(१५७) रोग न होने के लिए जिस प्रकार अनिष्टकर पदार्थों के उपयोग को असेवनीय ठहराया है उसी प्रकार प्रकृति समसमवाय अथवा विकृतिविषमसमवाय में भी निदानपरिवर्जन को उपयुक्त माना गया है।

प्रमेह-रक्तपित्तनिर्णय

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥५३॥

प्रमेह के पूर्वरूपों के बिना ही हरिद्रा के वर्ण का रक्त (युक्त) जो मूते उसको प्रमेह न कहे क्योंकि वह रक्तपित्त का प्रकोप है। अर्थात् प्रमेह में रक्त का आना और रक्तपित्त में रक्त का आना इन दो अवस्थाओं में बिना प्रमेह के लक्षण के जो रक्त का निर्गमन हल्दी के से पीले वर्ण के मूत्र के साथ देखा जाता है अथवा पीतिमा लिए जो लाल वर्ण का रुधिर बिना पूर्वोक्त प्रमेह लक्षणों के आता है वह तो अधोग रक्तपित्त के अन्तर्गत ही लेना चाहिए। पित्तज प्रमेह में जो रक्त आवेगा या रक्तमेह बनेगा उससे पूर्व प्रमेह के सब लक्षण प्रगट अवश्य हो जायँगे।

मधुमेह-निर्णय

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं
मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्
सन्तर्पणाद्वा कफसम्भवः स्यात् ॥५४॥

प्रमेह को मधुर पिच्छायुक्त मधु के सदृश देखकर दो प्रकार का विचार होता है (कि या तो) दोषों के क्षीण होने पर (प्रमेह) वातात्मक है अथवा सन्तर्पण के कारण कफजनित (प्रमेह) है।

वक्तव्य—(१५८) श्लोक ५३ तथा ५४ में आचार्य ने उन शङ्काओं के समाधान का यत्न किया है जो व्यावहारिक रूप में वैद्य के सामने आती हैं। अवोग रक्तपित्त और रक्तमेह का अन्तर इसी दृष्टि से दिया है। फिर आगे मधुमेह वातिक और कफजमेह (लालामेहादि) के अन्तर को स्पष्ट किया है। मधूपममूत्र सपिच्छा यदि धातुओं की क्षीणता के बाद हो तो वह वातिक तथा सन्तर्पणजन्य कफ के प्रकोप के कारण व्यक्ति में नया ही हो तो कफज मानना चाहिए।

साध्यासाध्य-पुनर्विचार

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः
क्रमेण ये वात कृताश्च मेहाः।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः,
साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ॥५५॥

(सम्पूर्ण) पूर्वरूपसहित कफपित्तमेह तथा वातकृत जो मेह हैं वे क्रम से साध्य नहीं हैं, पित्तकृत तो याप्य (हैं) यदि मेदोधातु दुष्ट न हो तो वे साध्य होते हैं।

वक्तव्य—[१५९] यहां पुनः प्रमेहों की साध्यासाध्यता का विचार किया गया है। पहले तो कफजप्रमेह साध्य मान ये (साध्याकफोत्था दश—देखो श्लोक ६) पर यहां न ते साध्या ऐसा कहा है उसका कारण यह है कि यहां रोग के साथ-साथ उसके पूर्वरूपों का बराबर रहना असाध्यता का निदर्शक माना गया है। क्योंकि कहा है—

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥

कफज प्रमेहों की साध्यता की एक कसौटी और दी है कि यदि इतना सब होने पर भी मेदोधातु तक दुष्टि न पहुंची हो तो कफजप्रमेह साध्य हो सकते हैं।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥५६॥

मधुमेही (पिता) से उत्पन्न प्रमेही साध्य नहीं कहा गया। क्योंकि वह बीजदोष के कारण तथा और भी जो विकार कुलज होते हैं उनको भी कोई (कोई विद्वान्) असाध्य कहते हैं।

वक्तव्य—[१६०] मधुमेह शब्द से 'चक्रपाणिदत्त' के कथनानुसार सभी प्रमेहों का ग्रहण किया जा सकता है। मधुमेह स्वयं वातिक होता है अतः इतर जो प्रमेह होते हैं उनसे पीड़ित माता पिता की जो सन्तान होती है यदि वह जन्म से ही प्रमेही होगी तो वह भी साध्य स्वरूप की नहीं ठहराई जा सकती पर वैसा प्रायः देखा नहीं जाता मधुमेही की सन्तान तो मधुमेही मिलती है और वह मधुमेह बीजदोष से असाध्य ही रहता है।

प्रमेह-पिडका चिकित्सा

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता
रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः
शस्त्रेण संशोधन रोपणैश्च ॥५७॥

रोगाधिकार (कियन्तः शिरसीयं नामक सूत्र-स्थान के सतरहवें अध्याय) में मेरे द्वारा जो सात (शराविका, कच्छपिका—Carbuncle, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता यथा विद्रधि नामवाली) पिडकाएँ पृथक् से कही गई हैं वे योग्य सर्जनों (शल्यवेत्ताओं) के द्वारा शस्त्र (प्रयोग) द्वारा, संशोधन तथा रोपण (क्रियाओं) द्वारा चिकित्स्य हैं।

वक्तव्य—[१६१] प्रमेह पिडकाओं पर चरक कोई वैद्यकीय योग न प्रदान करता हुआ उनको कायचिकित्सा से निकालकर शल्यचिकित्सक के हाथ में सौंप देता है। संशोधन, रोपण, शस्त्र-कर्मादि को उसने छुआ भी नहीं जो उसकी निष्पक्षता का जीता जागता प्रमाण है।

षष्ठ अध्याय के विषय

तत्रश्लोकाः

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यतानुरूपश्च ।
मेही द्विविधस्त्रिविधं भिषग्जितमतिक्षपणे दोषः ॥५८॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्था मेहापहाः कषायाश्च ।
तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः ॥५९॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्त्तनानि गन्धाश्च ।
मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दिष्टमेतावत् ॥६०॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)—

प्रमेहों के हेतु दोष, दूष्य, साध्यता असाध्यता तथा पूर्वरूप, दो प्रकार का प्रमेही, तीन प्रकार की चिकित्सा उसके क्षीण (कृश) होने का दोष, भक्षण करने योग्य जौ की विकृतियां' मन्थ, मेहघ्न कषाययोग तथा तैल-घृत-लेह योग, (अन्य) भक्ष्य द्रव्य, श्रेष्ठ सिद्ध आसव व्यायाम की विधि, विविध स्नान उद्वर्तन और गन्ध (द्रव्यों का लेपन या प्रयोग), प्रमेहों की शान्ति के लिए प्रमेहचिकित्सित (नामक अध्याय) में इतना (सब) कहा है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते चिकित्सा-स्थाने प्रमेहचिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में 'प्रमेहचिकित्सित' नामक छठा अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

सप्तमोऽध्यायः

कुष्ठचिकित्सा

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः इति । ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) 'कुष्ठचिकित्सित' (नामक-अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनञ्च ।
शृण्वग्निवेश, सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम् ॥२॥

हे अग्निवेश ! विशेषरूप से स्पर्शन (त्वचा) का नाश करने वाले कुष्ठों के हेतु, द्रव्य, लक्षण, आश्रय, और प्रशमन सम्यक्तया (attentively) सुन।

कुष्ठनिदान

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥३॥

व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वोपसेविनाम् ।
शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ॥४॥
घर्मश्रमभयार्त्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ।
अजीर्णाध्यशिनाञ्चैव पञ्चकर्म्मापचारिणाम् ॥५॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ।
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ॥६॥
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ।
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ॥७॥

(परस्पर) विरोधी द्रव-स्निग्ध-भारी अन्नपानों को सेवन करने वालों के उपस्थित वमन तथा अन्य वेगों को रोकने वालों के, अत्यधिक भोजन करके व्यायाम और अत्यन्त तापसेवन करने वालों के, (नियमित) क्रम को छोड़ कर शीत, उष्ण, लंघन और आहारों को सेवन करने वालों के, धूप, परिश्रम, भय से पीड़ितों के, द्रुतगति से शीतल जल सेवन करने वालों के, अजीर्ण पर अध्यशन करने वालों के तथा पञ्चकर्मों के अपचार (दुरुपयोग) करने वालों के नया अन्न, दही, मछली, तिल, अम्ल सेवन करने वालों के, उड़द, मूली, पीठी के अन्न, तिल, दूध तथा गुड़ को भक्षण करने वालों के, अन्न के अजीर्ण होने पर भी मैथुन करने वालों के, दिन में सोने वालों के, विप्र तथा गुरुजनों का अपराध करने वालों के तथा पापकर्म करने वालों के —

कुष्ठ-सम्प्राप्ति

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः ॥८॥
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ।
न चैकदोषजं किञ्चित् कुष्ठं समुपलभ्यते ॥९॥

वातादि तीनों दोष दूषित होकर त्वचा, रक्त, मांस तथा क्लेद को दूषित करते हैं वह कुष्ठों का सात द्रव्यों के समुदाय का संग्रह है।

इनसे सात तथा ग्यारह कुष्ठ उत्पन्न होते हैं और कोई भी एक कुष्ठ एक दोषज नहीं मिलता।

कुष्ठ-पूर्वरूप

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः ।
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥१०॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।
दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥११॥

स्पर्शज्ञान का अभाव, अतिस्वेद अथवा अस्वेद, विवर्णता, कोठों का उभर आना तथा रोमहर्ष, कण्डू तोद श्रम क्लम व्रणों का अधिक शूल, शीघ्र उत्पत्ति, चिरस्थिति, दाह, अङ्ग सुप्तता, ये कुष्ठ के पूर्व रूप हैं।

अठारह कुष्ठ

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणैककुष्ठचर्माख्यकिटिभविपादिकालसकदद्रु-चर्मदलपामाविस्फोटकशतारुविचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥१२॥

अब आगे (निम्नलिखित) अठारह प्रकार के कुष्ठों के लक्षणों का उपदेश करेंगे।

१—कपालकुष्ठ
२—उदुम्बरकुष्ठ
३—मण्डलकुष्ठ
४—ऋष्यजिह्वकुष्ठ
५—पुण्डरीककुष्ठ
६—सिध्मकुष्ठ
७—काकणककुष्ठ
८—एककुष्ठ
९—चर्मकुष्ठ
१०—किटिभकुष्ठ
११—विपादिकाकुष्ठ
१२—अलसककुष्ठ
१३—दद्रुकुष्ठ
१४—चर्मदलकुष्ठ
१५—पामाकुष्ठ
१६—विस्फोटककुष्ठ
१७—शतारुकुष्ठ,
१८—विचर्चिकाकुष्ठ

कपालकुष्ठ

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ।
कपालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥१३॥

जो कृष्णारुण (blackish pink) खपड़े के सदृश, रूक्ष, कठिन, पतला, बहुत तोद वाला तथा विषम (आकार वाला) वह कपालकुष्ठ (नाम से) स्मरण किया जाता है।

उदम्बरकुष्ठ

रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं लोमपिञ्जरम्।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥१४॥

वेदना, दाह, लालिमा, कण्डू (pruritus) से युक्त कपिल (tawny वर्ण के) रोम (जिस पर उगे हुए हों), गूलरफल के तुल्य औदुम्बरकुष्ठ जानना चाहिए।
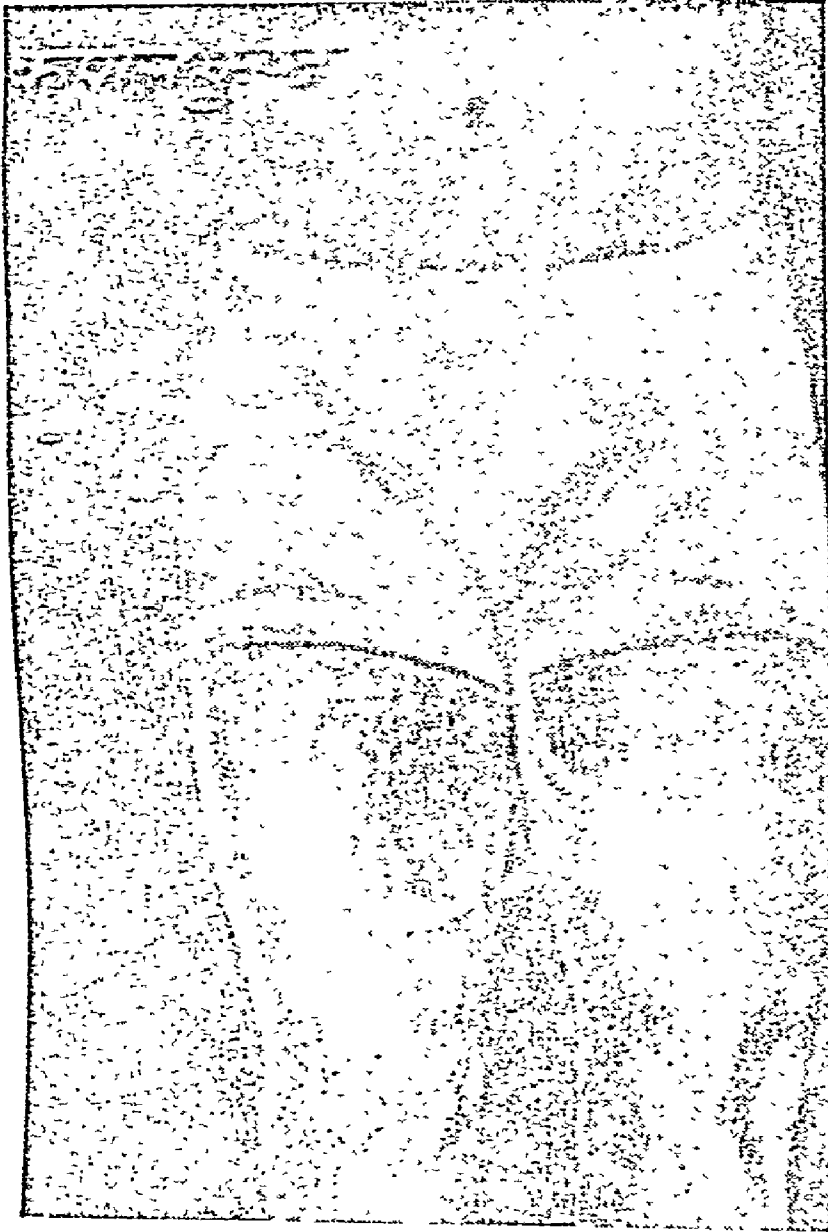
मण्डलकुष्ठ

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्।
कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥१५॥

श्वेतरक्त (सफेदी लिए लाल whitish red) स्थिर, घन, उच्चमण्डलाकार (गोल चकत्ते जिनके किनारे ऊँचे उठे हुए हों), कष्टदायक, एक दूसरे से चिपटे हुए कुष्ठ को मण्डल (कुष्ठ) कहा जाता है।

ऋष्यजिह्वकुष्ठ

कर्कशः रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम्।
यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥१६॥

जो (गाय की जीभ या गावजुबां की तरह) खर स्पर्श वाला, किनारा लाल भीतर श्याव (dark), वेदनायुक्त, ऋष्य (नीले अण्डकोष वाले हरिण—musk deer की) जीभ के आकार वाला वह ऋष्य-जिह्वकुष्ठ कहा जाता है।

पुण्डरीककुष्ठ

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीक दलोपमम्।
सोत्सेधञ्च सरागञ्च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥१७॥

(जो) श्वेतसहित लाल किनारे वाला पुण्डरीक कमल के (पुष्प) पत्र के समान, उठा हुआ तथा लालीयुक्त वह पुण्डरीक कुष्ठ कहलाता है।

सिध्मकुष्ठ

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति।
अलाबूपुष्पवर्णञ्च तत् सिध्मं भूयसोरसि ॥१८॥

श्वेतताम्र (coppery white coloured) पतला तथा घिसने पर जो रज (धूल जैसे कण) छोड़ता है और (जिसका) वर्ण अलाबू (तोरई या लौका) के पुष्प (जैसा होता है) वह सिध्मकुष्ठ छाती पर अधिकतर (होता है)।

काकणककुष्ठ

यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्।
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥१९॥
(इति सप्तमहाकुष्ठानि।)

जो काकणन्तिका (चोंटली-गुञ्जा के वर्ण का, न पकने वाला, तीव्रशूलयुक्त, त्रिदोषलक्षणयुक्त काकणक कुष्ठ वह कभी सिद्ध नहीं होता है।

(ये सात महाकुष्ठ-हैं।)

एकादशक्षुद्रकुष्ठ

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्।
तदेक कुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ॥२०॥
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्।
वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥२१॥
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं विदुः।
सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥२२॥
रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥२३॥
पामा श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भृशम्।
स्फोटाः श्वेतारुणाभासो विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ॥२४॥
रक्तं श्यावं सदाहार्त्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम्।
सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ॥२५॥

(इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि।)

१—जो स्वेदरहित, बहुत स्थान घेरने वाला, मछली के छिलकों के समान वह एक कुष्ठ (कहलाता है) ।

२—मोटा हाथी के चमड़े के समान चर्मकुष्ठ (हुआ करता है ।)

३—श्याव, किण (व्रणस्थान-scar) के समान खर स्पर्शवाला, कड़ा, किटिभकुष्ठ समझा जाता है ।

४—तीव्र वेदनायुक्त, हाथ-पैरों का फूटना (या फटना) वैपादिक (बिवाई) कुष्ठ (कहलाता है) ।

५—लालिमायुक्त, खुजलीयुक्त, (व्रणशोथ के समान थोड़ा थोड़ा व्रणशोथ अर्थात्) गण्डों से युक्त अलसककुष्ठ जाना जाता है ।

६—खुजली सहित लाली तथा पिड़कायुक्त उभरा हुआ मण्डल (चकत्ता) दद्रुकुष्ठ (कहलाता है) ।

७—और जो खुजलीसहित, स्फोट (eruption) युक्त, वेदनायुक्त, रक्तवर्ण का संस्पर्श असहन करने वाला (very tender to touch) वह चर्मदल कहलाता है ।

८—खूब खुजली वाली अनेक श्वेत-अरुण-श्याव पिडका वाली, पामा (होती है) ।

९—श्वेतारुणआभा वाले, पतली त्वचा वाले, स्फोट विस्फोट (कहलाते हैं) ।

१०—रक्तश्याव (dark-red coloured), दाह (तथा) पीडा से युक्त बहुत से व्रण से युक्त शतारुकुष्ठ (होता है) ।

११—खुजलीयुक्त, श्याव (वर्ण की) बहुत स्राव वाली पिडिका विचर्चिका (कहलाती हैं) ।

ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ— हैं ।

कुष्ठों में दोषविचार

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे ।
पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात्काकणन्तु त्रिदोषजम् ॥२७॥

अधिकता से वात के होने पर कपालकुष्ठ, कफ (के अधिक होने) पर मण्डलकुष्ठ, पित्त (अधिक होने) पर तो उदुम्बरकुष्ठ (तथा) काकणक तो त्रिदोषज जानना चाहिए ।

वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके ।
ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ॥२७॥

वातपित्त के अधिक होने पर ऋष्यजिह्व, कफपित्त के अधिक होने पर पुण्डरीक तथा वातकफ के अधिक होने पर सिध्मकुष्ठ उत्पन्न होजाता है ।

चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिभं सविपादिकम् ।
कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम् ॥२८॥

चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ, विपादिकासहित अलसक कुष्ठ को प्रायः वात और कफ की अधिकता वाला जानना चाहिए ।

पामाशतारुविस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा ।
पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ॥२९॥

पामा, शतारु, विस्फोट, दद्रु, चर्मदल बहुधा पित्तश्लेष्माधिक्य वाले तथा विचर्चिका कफप्राय (होती है)।

दाढ़ी में दद्रु

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम् ।
यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ॥३०॥

सब कुष्ठ त्रिदोषज हैं अपने-अपने लक्षणों से दोषों का बलाबल समझकर कुष्ठों की चिकित्सा की जाती है।

दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम् ।
तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परञ्चानुबन्धस्य ॥३१॥

कुष्ठों में जिस दोष का विशेष लक्षण बढ़ा हुआ देखे उसका ही शमन करे उसके पश्चात् अनुबद्ध (दोष का शमन करे)।

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनः कुष्ठानि ।
ज्ञायन्ते, तैर्हेतुर्हेतुस्तांश्च प्रकाशयति ॥३२॥

कुष्ठविशेष से दोष, फिर दोषविशेष से कुष्ठ जाने जाते हैं। उनके द्वारा हेतु और हेतु उनको प्रकाशित करता है।

वक्तव्य—(१६२) कुष्ठों के सम्बन्ध में आचार्य ने इतनी सरलता से और स्पष्टरूप से अपना भाषण प्रदान किया है कि कहीं भी कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। श्लोक ३२ ने जो शेष रह गया था उसे भी स्पष्ट कर दिया है। कुष्ठ के ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ करके जो १८ भेद दर्शाये हैं उतने में ही सम्पूर्ण कुष्ठों का समावेश होजावे सो बात नहीं है। कुष्ठ के नाम से आचार्य ने सम्पूर्ण त्वचा के रोगों का समावेश कर दिया है। त्वचा पर सैकड़ों प्रकार के रोग देखे जासकते हैं आधुनिक विद्याविशारदों की डरमैटोलोजी विषय की पुस्तकें इसका प्रमाण हैं। अस्तु अनेकों प्रकार के चर्मरोगों की पूरी कल्पना होने के बाद १८ भेदों का प्रकट करना बहुत महत्त्व रखता है। आयुर्वेद दोषदूष्य पर आधारित एक सरल चिकित्सा प्रणाली है। अतएव अनेक भेद न दर्शाकर श्लोक ३२ में मूल बात रखदी है कि कुष्ठ विशेष को देखकर दोषों का ज्ञान करो और दोष विशेष का ज्ञान करके कुष्ठ का अनुमान करो। हेतु से कुष्ठ तथा कुष्ठ से हेतु समझने का यत्न करके फिर श्लोक ३१ के अनुसार चिकित्सा करने का विधान बतला दिया गया है।

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

के द्वारा कुष्ठ की औपसर्गिकता सर्वविदित है ही।

कुष्ठोत्पत्ति में सप्तद्रव्य प्रमुखतया भाग लेते हैं इसकी सूचना श्लोक ८ ने आरम्भ में ही दे दी है। प्रकुपित वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्तधातु, मांसधातु तथा शरीरस्थ क्लेद या जल ये ७ द्रव्य हैं। कुष्ठ की त्रिदोषात्मकता को 'सर्वं-त्रिदोषजं कुष्ठम्' कह कर पहले स्पष्ट कर दिया गया है पर दोषों में तरतम भेद के कारण उनका दोषदृष्टि से विचार किया जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि त्वचा, रक्त, मांस और जल को एक साथ कुपितदोष दूषित करते हैं या एक के बाद दूसरे को? इसका उत्तर गङ्गाधर देता है—उच्यते, तैर्हेतुभिर्मिलितास्त्रयो दोषा दुष्टाः सन्तः पृथक् पृथगेव त्वगादीन् दूषयन्ति न तु युगपच्चतुरो दूषयन्ति।

एक प्रश्न और है कि सप्तद्रव्य संग्रह में जो वात, पित्त और कफ को भी द्रव्यस्वरूपेण लिखा गया है सो कहां तक युक्तियुक्त है? उसकी अनेक विध शास्त्रीय चर्चा चलाने की

आवश्यकता नहीं है केवल नर्तेऽनिलाद्रुङ् न विना च पित्तं पाकः कफञ्चापि विना न पूयः को ध्यानपूर्वक समझने से हमें पता लगता है कि पक्वव्रण में वातशूल का, पित्तपाक का और कफपूय का आधार है। अतः यदि वातादिक द्रव्यभूत कारण न हों तो पक्वव्रणशोथ में कफ से पूय का स्राव कैसे माना जा सकता है? तथा सश्लेष्मा कसनात् शुद्धः पवनः कास उच्यते भी नहीं कहा जासकता है। स्वधातु वैषम्यजन्य जितने विकार शरीर में मिलते हैं उनमें आगन्तु जो विशिष्ट है उसे छोड़कर सभी का सम्बन्ध प्रत्यक्षतया वातपित्तकफ के कारण आता है। आगन्तु में भी पहले उपसर्ग लगने के बाद दोष दूष्यों का सम्बन्ध आता ही है जिस प्रकार पञ्चमहाभूत शरीर समवाय पुरुष होता है वैसे ही सर्वत्र शारीर वा अशारीर व्याधियां भी दोषदूष्य दुखसमुदायात्मकता के कारण दोषदूष्य गुण कर्माश्रयादि समवायि हेतु होते हैं। वे विकृति को प्राप्त करके स्थान विशेष में संश्रित होकर दूष्य विशेष को प्राप्त करके संयोगविशेष से विशेष व्याधि को उत्पन्न करते हैं जिसके पूर्वरूप, रूप आदि दिखलाई देते हैं। जिस प्रकार वर्ति तैल के नाश से दीपकनाश होता है वैसे ही दोष आधारभूत निमित्त कारण रूप होने से उनके नाश करने से रोग का नाश भी सम्भव है। अस्तु तीनों दोषों को द्रव्यरूप में संग्रह करना कुछ गड़बड़ नहीं है।

रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं सङ्कोचनं तथायामः।
पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वञ्च ॥३३॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहोरागः परिस्रवः पाकः।
विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥३४॥
श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं चोत्सेधगौरवस्नेहाः।
कुष्ठेषु तु कफलिंगं जन्तुभिरभिक्षणं क्लेदः ॥३५॥

रूक्षता, शोष, तोद, शूल, संकोच (contraction) आयाम (dilatation) परुषता, खरता, रोमहर्ष, श्याव-अरुण वर्णता कुष्ठों में (ये) वात (के) लक्षण (होते हैं)।

दाह, रक्तवर्णता, स्राव (exudation) पाक, आमगन्धता, क्लेद, तथा अङ्गपतन पित्तकृत (लक्षण होते हैं)।

कुष्ठों में सफेदी, शीतलता, खुजली, स्थिरता, उठाव, गुरुता, स्निग्धता जन्तुओं द्वारा खाया जाना तथा क्लेद तो कफ (जनित) लक्षण (होते हैं)।

सर्वैर्लिंगैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम्।
तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ॥३६॥
वातकफप्रबलं यद् यदेकदोषोल्वणं न तत् कृच्छ्रम्।
कफपित्तवातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि ॥३७॥

बुद्धिमान् (वैद्य) सर्वलक्षणयुक्त-तृष्णादाह पीड़ित-अग्निमान्द्य वाले—जन्तुभक्षित दुर्बल (रोगी) को छोड़ दे।

जो वातकफोल्बण (अथवा) जो एक दोषोल्बण (कुष्ठ होते हैं) वे कष्टसाध्य नहीं होते। (तथा) कफपित्तोल्बण अथवा वातपित्तोल्बण (कुष्ठ) तो कष्टसाध्य होते हैं।

कुष्ठचिकित्साक्रम

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥३८॥

वातप्रधान (कुष्ठों में) घृत, कफप्रधान कुष्ठों में वमन और पित्तप्रधान (कुष्ठों में) आरम्भ में रक्त का मोक्षण तथा विरेचन (करावे)।

वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः।
प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ॥३९॥

कल्पस्थान में कथित कुष्ठियों के वमन विरेचन योग प्रयोग में लाने चाहिए। अल्प कुष्ठ में प्रच्छन (cupping) तथा बड़े में सिरावेधन प्रशस्त (होता है)।

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥४०॥

बहुत दोषवाला कुष्ठी प्राणों को रक्षित करते हुए कई बार (थोड़ा थोड़ा) संशोधित किया जाना चाहिए। क्योंकि यदि अत्यधिक मात्रा में दोषों का हरण होने पर वायु (कुपित होकर) दुर्बल को शीघ्र नष्ट कर देता है।

स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते।
वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ॥४१॥

कोष्ठ शुद्ध होने पर, रक्त के मोक्षण होने पर, स्नेह का पान (होता है)। क्योंकि शुद्ध कोष्ठ वाले दुर्बल कुष्ठी के शरीर में शीघ्र कर जाता है।

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु ।
कुटजफलमधुकमदनैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः ॥४२॥

हृदय में दोषों का उत्क्लेश होने पर, ऊर्ध्वभागीय कुष्ठों में इन्द्रजौ, मुलहठी (तथा) मदनफल से पटोल सहित नीम के स्वरस से युक्त (पदार्थों) के द्वारा वमन करानी चाहिए।

शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधुकं च वमनानि ।
कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥४३॥
सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवाश्च सीधूनि ।
शंसन्त्यधोहराणां यथाविरेकं क्रमश्चेष्टः ॥४४॥

(कुटजादि वामक द्रव्यों का) शीतकषाय, क्वाथ अथवा शीतरस पक्वरस नामक मद्य, शहद मुलहठी और वमन द्रव्य (प्रयोग में लाये जासकते हैं)।

कुष्ठों में विरेचन (करने) में निशोथ, दन्ती, हरड़, बहेड़ा और आमला प्रशस्त (कहे जाते हैं)। सौवीरक, तुषोदक, आसव तथा सीधु अधोहर विरेचनों के आलोडन की (वैद्य) प्रशंसा करते हैं। विरेचन के यथावत् (होजाने पर) (पेयादि का जो) क्रम (है वही) इष्ट (है अर्थात् करना चाहिए)।

दार्व्वी बृहती सेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः ।
सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥४५॥

दारुहल्दी, बड़ी कटेरी, खस के साथ, पटोल, नीम, मदनफल (और) अमलतास (इन सबका क्वाथ) स्नेह मिला इन्द्रजौ, जौ (तथा) मोथा (के कल्क) से कुष्ठी का आस्थापन करना चाहिए।

वातोल्बणं विरिक्तं निरूढमनु वासनार्हमालक्ष्य ।
फलमधुक निम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम् ॥४६॥

विरेचन किये, निरूहण किए अनुवासनयोग्य वातोल्बण (कुष्ठी को) देखकर पटोलपत्रसहित, मदनफल, मुलहठी, नीम, कुटज से स्नेह सिद्ध करें (और उससे अनुवासन दें)।

सैन्धवदन्तीमरिचं फणिज्झकः पिप्पली करञ्जफलम् ।
नस्यं स्यात् सविडङ्गं क्रिमिकुष्ठ कफप्रदोषघ्नम् ॥४७॥

सेंधानमक, दन्ती, मरिचकाली, मरुआ, पीपल, विडङ्ग सहित करंज बीज (से निर्मित) नस्य कृमि, कुष्ठ, कफ दोष नाशक होती है।

वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति ।
क्रिमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमांगस्थाः ॥४८॥

श्लोकस्थान (सूत्रस्थान) में कहे गये वैरेचनिक धूमों के प्रयोग करने के द्वारा उत्तमांग के कृमि कुष्ठ, किलास शान्त हो जाते हैं।

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः ।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ॥४९॥

प्रस्तर (तथा) नाड़ीस्वेदों से स्विन्न स्थिरकठिन मण्डलों (से युक्त कूर्च द्वारा घिसे गये (कुष्ठी) का (रक्तमोक्षण करके) रक्त का उत्क्लेश दूर करना चाहिए।

आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च ।
स्विन्नोत्स्विन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥५०॥

आनूप तथा जलज प्राणियों के मांसों की सुखोष्ण पोटलियों द्वारा स्वेदन किये गये उत्स्विन्न या उत्सन्न (फूले अथवा उभरे हुए) कुष्ठ को तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा लेखन करे।

रुधिरागमार्थमथवा शृंगालाबूभिराहरेद्रक्तम् ।
प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ॥५१॥

अथवा रक्तस्राव के लिए कुष्ठ को थोड़ा प्रच्छित करके सींग (या) तूंबी के द्वारा रक्त का आहरण करे (रक्त निकाल दे अथवा) कुष्ठ को (अल्प-प्रच्छान के बाद) जोंकों द्वारा विरेचन (शुद्धि) करे।

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम् ॥५२॥

संशोधित आशय-(कोष्ठ वालों) का रक्तदोष निर्हरण होगया है जिनका (ऐसे) कुष्ठों के प्रयोग में जो लेप आते हैं उनकी तुरत सिद्धि होती है।

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः ।
तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥५३॥

जिनमें शस्त्रकर्म नहीं किया जासकता, जो

स्पर्शेन्द्रिय ज्ञान को नाश करने वाले हैं उनमें रक्त और दोष (का रक्तमोक्षण, वमन विरेचनादि से) निर्हरण करके क्षार कर्म करना चाहिए।

पाषाण कठिन परुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च ।
पीतागदस्यकार्य्यो विषैः प्रदेहोऽगदैश्चानु ॥५४॥

पत्थर जैसे कठिन, परुष, सुप्त (स्पर्शज्ञानरहित) स्थिर और पुराने कुष्ठ में अगदपीत (विषघ्न द्रव्य पिलाने के वाद) विषों से प्रलेप करना चाहिए और वाद में (भी) अगदों से (चिकित्सा करनी चाहिए)।

स्तब्धानि सुप्त सुप्तान्यस्वेदन कण्डुलानि कुष्ठानि ।
कूर्च्चैर्दन्तीत्रिवृताकरवीरकरञ्जकुटजानाम् ॥५५॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा ।
घृष्टानि गोमयैर्वा ततः प्रदेहैः प्रदेह्यानि ॥५६॥

स्तब्ध, पूर्णतः सुप्त, अस्वेदित, खुजलीयुक्त कुष्ठों को दन्ती, निशोथ, कनेर, करंज, कुटजों के कूर्चों से अथवा चमेली, आक, नीम के पत्रों की से, शस्त्रों से अथवा समुद्रफेन से, या गोवर द्वारा घिसकर तब प्रदेहों से लेपन करना चाहिए।

मारुतकफ कुष्ठघ्नं कर्मोक्तं पित्तकुष्ठिनां कार्य्यम्।
कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनञ्च ॥५७॥
सर्पींषि तिक्तकानि च यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् कर्म ।
बाह्याभ्यन्तरमग्र्यं तत् कार्यं पित्तकुष्ठेषु ॥५८॥

वातकफ कुष्ठनाशक (जो) चिकित्सा कही गई है वह पित्त कुष्ठियों के लिए करनी चाहिए। कफपित्त रक्त निर्हरण तिक्तकषाय और प्रशमन (भी) करना चाहिए। तिक्तघृत और जो अन्य रक्तपित्तनाशक बाह्य या आभ्यन्तर श्रेष्ठ कर्म (हो) वह पित्तकुष्ठ में करना चाहिए।

वक्तव्य —(१६३) कुष्ठ पर चरक संहिता में अद्वितीय रामबाण कुष्ठनाशक योगों की भरमार नहीं है पर कुष्ठों का जितनी सरलता और तन्मयता के साथ विनाश का कार्यक्रम आयुर्वेदज्ञों द्वारा सम्पन्न होता है वह अन्यत्र नहीं मिलता। उसका कारण है कुष्ठचिकित्सा सम्बन्धी चरकीय वा आयुर्वेदीय विशेषता। पहले कुष्ठों के अठारह भेद बतला दिये हैं फिर भेदों का महत्व कम करके उनके अन्दर स्थित प्रकुपित दोषों तथा दोषों के अधिष्ठान दुष्ट हुए दूष्यों का परिगणन किया गया है और सारा बल दोष साम्य पर दिया गया है। यह जानते हुए भी कि कुष्ठ अथवा चर्म रोग औपसर्गिक होते हैं चिकित्सा का क्रम बिल्कुल सरल रखा गया है।

कुष्ठ में वात की अधिकता होने पर घृतपान, पित्त में विरेचन तथा रक्तमोक्षण और कफ में वमन का प्रयोग उपयुक्त माना गया है। संशोधन कर्म करते समय रोगी के बलाबल की ओर विशेष ध्यान रखने का संकेत है अन्यथा वायु की वृद्धि होकर रोगी की मृत्युतक होसकती है। स्नेहपान, कोष्ठशुद्धि, रक्तमोक्षण, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, धूमपान, शस्त्रकर्म, लेप, क्षारकर्म, विषप्रयोग, घर्षण, आदि सबका विधिपूर्वक वैज्ञानिकरीत्या विचार किया गया है।

हमारा वैद्यसमाज चरकसम्मतचिकित्सा न कर किसी मलहम या लोशन के चक्कर में पड़ा रहता है। आधुनिक चिकित्सक एग्जैमा तथा सोरियासिस पर सैकड़ों औषधों का प्रयोग महीनों करके थक चुका है। रोग के लक्षण उनकी दवाओं से कुछ काल के लिए थम जाते हैं और पुनः रोग भयंकर रूप में उपस्थित होता है। ऐसी अवस्था में उनको तथा सबको चरकोक्त विधियों से कुष्ठनाश का उपाय करना चाहिए इनसे रोग समूल नष्ट होता है।

कतिपय कुष्ठघ्न योग

दोषाधिक्यविभागादित्येतत् कर्म्म कुष्ठनुत् प्रोक्तम् ।
वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोष सामान्यात् ॥५९॥

दोषों की अधिकता के विभाग से यह कुष्ठघ्न चिकित्सा कही है। (अब) प्रायः (सब कुष्ठों में) त्वग्दोष समान होने से (मैं) कुष्ठ शामक (चिकित्सा) कहूंगा।

दार्व्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम् ।
अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुड़ तैला ॥६०॥

गोमूत्र से दारुहल्दी या रसौत अथवा सोंठ, मिरच, पीपल तैल सहित हरड़ एक मास प्रयोग की हुई कुष्ठ को नष्ट करती हैं।

पटोलमूलादि क्वाथ

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः
पृथक्पलांशं त्रिफला त्रिवृच्च ।
स्यात् त्रायमाणा कटुरोहिणी च
भागार्द्धिका नागर पादयुक्ता ॥६१॥
पलं तथैषां सहचूर्णितानां
जले भृतं दोषहरं पिबेन्ना ।
जीर्णे रसे धन्वमृगद्विजानां
पुराण शाल्योदनमाददीत ॥६२॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणी प्रदोष—
मर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
योगः प्रयोगेण निहन्ति चैषां
हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥६३॥
(इति पटोलमूलादि चूर्णम्) ।

पटोल की जड़, तथा इन्द्रायण की (जड़), हरड़, बहेड़ा, आमला और निशोथ, अलग-अलग एक पल; त्रायमाण और कुटकी अर्द्ध भाग (आधा-आधा पल) सोंठ चतुर्थांश (चौथाई पल) साथ-साथ चूर्ण की गई इन औषधियों का एक पल (यथा विधान) जल में (पकाकर) दोष हर (उस) क्वाथ को व्यक्ति पिये । (क्वाथ के) पच जाने पर जांगल पशु-पक्षियों के मांस के रस में, पुराने शालियों के भात को खावे । सब कुष्ठ, शोथ, ग्रहणीदोष, कष्टसाध्य अर्श रोग, और हलीमक इस योग के प्रयोग से नष्ट होते हैं तथा विषम ज्वर और हृच्छूल (angina pectores तथा) बस्तिशूल (renal colic भी नष्ट हो जाते हैं) ।

मुस्तादि भक्ष्य

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारुपञ्चमूल्यौ द्वे ।
सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशाला चित्रको मूर्वा ॥६४॥
चूर्णन्तुतर्पणभागैर्नवभिःसंयोजितं समध्वाज्यम् ।
सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत् प्रायोगिकं भक्ष्यम् ॥६५॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रंग्रहणीप्रदोषमर्शांसि ।
व्रध्नभगन्दरपिडका कण्डूकोठांश्च विनिहन्ति ॥६६॥
(इति मुस्तादिचूर्णम्) ।

मोथा, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, मजीठ, दारुहल्दी, पञ्चमूली दोनों (अर्थात् दशमूल), सप्तपर्ण, नीम की छाल, इन्द्रायण सहित चित्रक, मूर्वा, (सब बराबर भाग के) चूर्ण को नौ-भाग तर्पण (सत्तुओं) के साथ मधु घी मिलाकर योजना किय गया यह सिद्ध प्रायोगिक भक्ष्य कुष्ठ नाशक (है) तथा पाण्डुरोग सहित शोथ, श्वित्र (leucoderma), ग्रहणीदोष, अर्श, व्रध्न, भगन्दर, पिडका, कण्डू तथा कोठों को नष्ट कर देता है ।

त्रिफलादि चूर्ण

त्रिफलातिविषाकटुकानिम्बकलिङ्गकवचापटोलानाम् ।
मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्व्वाविशालानाम् ॥६७॥
भूनिम्बपलाशानां दद्याद् द्विपलं ततस्त्रिवृद् द्विगुणा ।
तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत् परमम् ॥६८॥

हरड़, बहेड़ा, आमला, अतीस, कुटकी, नीम इन्द्रजौ, बचा, पटोलपत्र, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी पद्माख, मूर्वा, इन्द्रायण, चिरायता, ढाक दो पल (प्रत्येक) देवे उसका दुगुना निशोथ (देवे) उसका फिर (दूना) ब्राह्मी (दे) वह चूर्ण परम सुप्ति नाशक (होता है) ।

वक्तव्य—(१६४) कुष्ट में जो संज्ञानाश (loss of sensation) होजाता है उसे दूर करने के लिए यह विशेष योग बतलाया गया है ।

कुष्ठ में रसप्रयोग

लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः ।
सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ॥६९॥
गन्धकयोगादथवा सुवर्णमाक्षिक योगाद्वा ।
सर्व्वव्याधिविनाशनमद्यात् कुष्ठी रसञ्च निगृहीतम् ॥७०॥

चमेली के स्वरस के साथ मधु मिलाकर गन्धक का प्रयोग तथा स्वर्णमाक्षिक धातु गोमूत्र के साथ सत्रह कुष्ठों का (घात करती है) ।

कुष्ठ का रोगी गन्धक के योग से अथवा स्वर्ण-माक्षिक योग से सर्वरोगनाशक पारद का सेवन करे ।

वक्तव्य-(१६५) पारद, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक कितने प्राचीन काल से कुष्ठ तथा औपसर्गिक रोग को दूर करने के लिए प्रयुक्त होते थे इसका ज्ञान उपरोक्त श्लोकों से होता है। 'पुनर्वसु आत्रेय' के समय से इन रसयोगों का प्रयोग होता था इसका पता भी हमें लगता है। यही नहीं नीचे वज्र (diamond) का कुष्ठ पर प्रयोग भी आंखें खोलने वाला है।

वज्रशिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन ।
सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात् कुष्ठी निगृह्य नित्यञ्च ॥७१॥

सर्वरोगघ्न हीरे को शिलाजीतसहित अथवा योगराजसहित (हीरे को) तथा यथावत् निगृहीत (पारद को) नित्य सेवन करे।

मध्वासव

खदिरसुरदारुसारं क्षपयित्वा तद्रसेन तोयार्थम् ।
क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपलिकै च ॥७२॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽसूनि ।
त्रिफलैले त्वङ्मरिचं पत्रं कनकञ्च कर्षांशम् ॥७३॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे ।
मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः ॥७४॥
(इति मध्वासवः।)

८-८ पल कत्था (तथा) देवदारु के सार (भाग) को (१ आढक जल में) क्वाथ बनाकर (चतुर्थांश शेष रहने पर) उस रस से जल का ग्रहण करके (जल रूप उस क्वाथ को) एक प्रस्थ शहद में डाले। वहीं लोहचूर्ण आठपल को तथा त्रिफला, एला, दालचीनी, मरिच, तेजपत्र, धत्तूर इनमें से प्रत्येक कर्ष बराबर डालदे (साथ ही) मधु के बराबर खांड (डाल) लोहे के पात्र में एक मास तक रखे हुए उस मध्वासव का आचरण करने (सेवन करने) से कुष्ठ, श्वित्र, में शान्ति प्राप्त होती है।

(यह मध्वासव—है।)

कनकविन्द्वरिष्ट

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य ।
द्रव्याणि चूर्णितानि च षट्पलिकान्यत्रदेयानि ॥७५॥
त्रिफलाव्योपविडङ्गरजनीमुस्तार रूषकेन्द्रयवाः ।
सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम् ॥७६॥
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत्ततो युक्त्या ।
मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण ॥७७॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च ।
ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकविन्दुम् ॥७८॥
(इति कनकविन्द्वरिष्टम्।)

कत्थे का काढ़ा १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) घृतभावित (पात्र) में रखकर हरड़, बहेड़ा, आमला और सोंठ, मरिच, पीपल, विडंग, हल्दी, मोथा, अडूसा, इन्द्रजौ, दारुहल्दी, दालचीनी और गिलोय इन चूर्ण किये छै पल द्रव्यों को यहां (खदिर कषाय में) छोड़े। वह सब एक मास तक धान्यराशि में रखे।

(इसे) सवेरे सवेरे युक्तिपूर्वक पिये। महाकुष्ठ को तो यह १ मास (प्रयोग) से तथा क्षुद्रकुष्ठ को एक पक्ष (प्रयोग) से नष्ट करता है। अर्श, श्वास, भगन्दर, कास, किलास, प्रमेह और शोषों को (भी नष्ट करता है) (इस) कनकविन्दु अरिष्ट को पीकर पुरुष स्वर्णवर्ण होजाता है।

(यह कनकविन्दुअरिष्ट—है।)

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथाऽपि पैत्तेषु ।
कृतमालक्वाथश्चाप्येष विशेषात् कफकृतेषु ॥७९॥

अमलतास (का) क्वाथ (से कनकविन्दु के समान अरिष्ट बनाकर भी वात-कफ (के) कुष्ठों में तथा पैत्तिकों में भी इसी प्रकार पिये विशेष करके इस क्वाथ को कफजनित कुष्ठों में पिये।

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रकः कुष्ठरोगविनिहन्ता ।
क्रमुकदशमूलदन्ती वरांगमधुयोगसंयुक्तः ॥८०॥

चित्रक के सहित हरड़ बहेड़ा आमला (से) गुड़ से बना हुआ त्रिफलासव, सुपारी, दशमूल, दन्ती, गुग्गुल (तथा) मधु के योग से संयुक्त होने पर कुष्ठ रोग को नष्ट करने वाला है।

वक्तव्य-(१६६) उपरोक्त त्रिफलासवादि कितनेक योगों में चरक ने जो मात्राओं का स्पष्ट निर्देश नहीं किया वह इस आर्षग्रन्थ की कमी न होकर बहुत बड़ी व्यावहारिक श्रेष्ठता
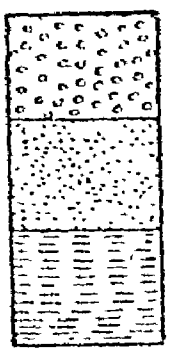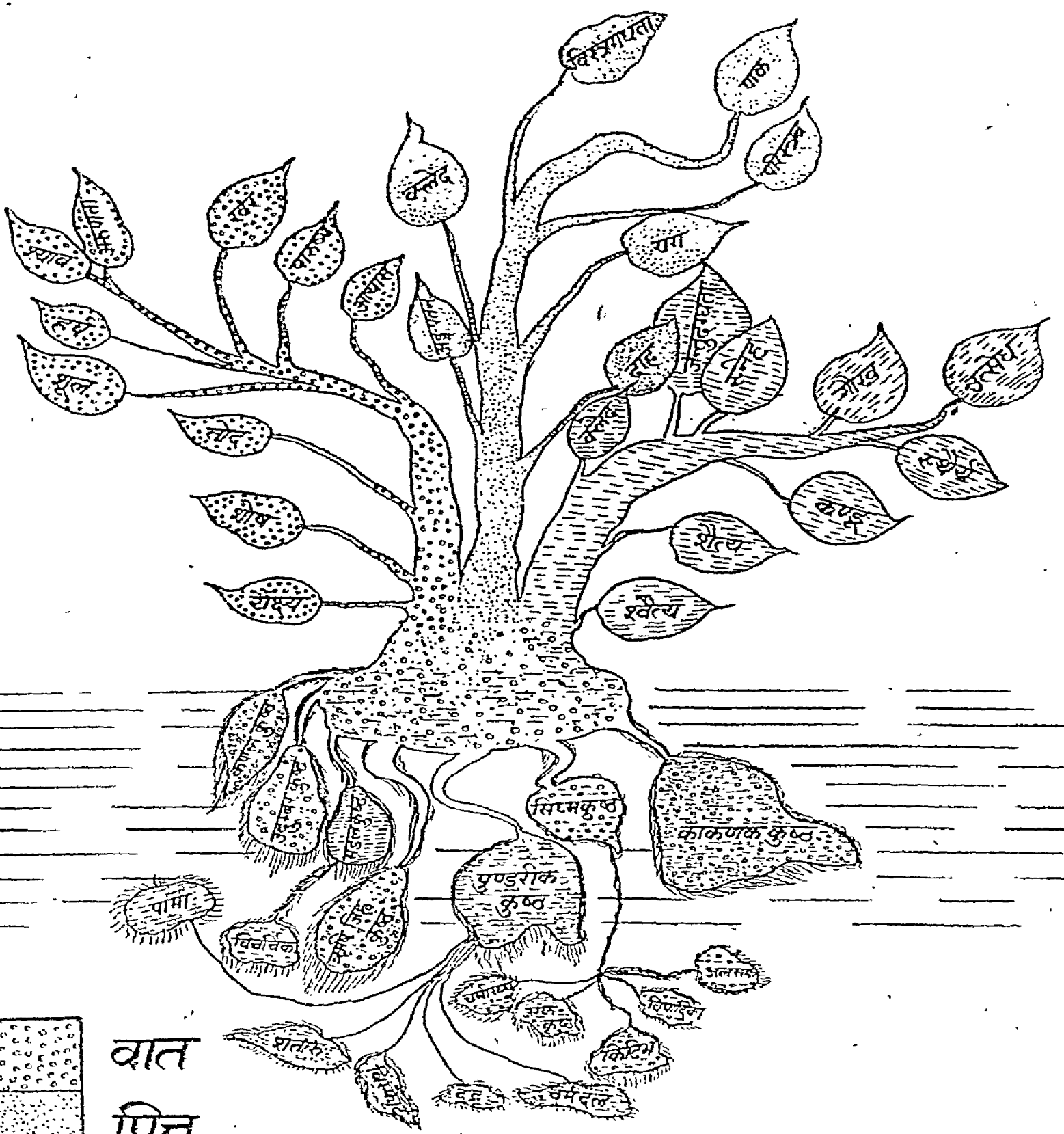
कुष्ठवृक्ष
(कुष्ठदोषनिरूपण)

का प्रदर्शन है। प्रकृति, सात्म्य, सत्व, देश बलादिक के वैभिन्य से अल्पाधिक जिस भी प्रकार का त्रिफलासव बनाना हो उसे उसके इस प्रकार योग देकर चिकित्सक के अधीन कर दिया है। रोगी की अवस्था विशेष में अमुक कम या अधिक उसी प्रकार दन्ती, दशमूलादि की मात्राओं में अन्तर कर दिया जा सकता है। कितनेक मेरे इस मत को अमान्य ठहरा सकते हैं पर यह भी एक दृष्टिकोण है जिसे आंखों से ओझल नहीं किया जासकता।

कुष्ठ में पथ्यापथ्य विधान

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात्
कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बै-
र्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव ॥८१॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि
मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः।
शस्ता न गुर्वम्लपयोदधीनि
नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च ॥८२॥

कुष्ठों में भल्लातक, त्रिफला सहित, नीम सहित, युक्त अन्न तथा घृत, लघुअन्न, शाक, तिक्त पदार्थ हितकर जाने। पुराने धान्य जाङ्गल (पशुपक्षियों के) मांस, पटोल सहित मूँग, प्रशस्त (हैं)। न गुरु-अम्ल दूध-दही; न आनूप मांस (तथा) मछलियां और गुड़ तथा तिल (ही प्रशस्त हैं अर्थात् ये अपथ्य हैं)।

विविधलेपयोग

एला कुष्ठं दार्व्वी शतपुष्पा चित्रको विडङ्गश्च।
कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव ॥८३॥

इलाइची, कूठ कडुआ, दारुहल्दी, सौंफ, चित्रक और वायविडङ्ग, रसौत तथा हरड़ (इनका) कुष्ठ (पर) आलेपन (करना) इष्ट (है)।

चित्रकादिलेप

चित्रकमेलां बिम्बीं वृषकं त्रिवृदर्कनागरकम्।
चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ॥८४॥
क्षारेण गवां मूत्रस्तु तेनास्य मण्डलान्याशु।
भिद्यन्ते विलयन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि ॥८५॥

चित्रक, इलायची, कुँदरु, अडूसा, निशोथ, आक, सोंठ, चूर्ण करके आठ दिन गोमूत्र में घोल कर छाने गये ढाक के क्षार की भावना देनी चाहिए। धूप में तप्त हुए इसके लेप से मण्डल शीघ्र फूट जाते तथा विलीन होजाते हैं।

मांस्यादिलेप

मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहाद्धूमः।
मूत्रं गो पित्तञ्च क्षारः पालाशः कुष्ठहा लेपः ॥८६॥

जटामांसी, कालीमरिच, सैन्धवलवण, हल्दी, तगर, थूहर, घर से (प्राप्त) धूम, मूत्र, गाय का पित्त और पलाशक्षार (इनका) लेप कुष्ठनाशक (होता है)।

त्रप्वादिलेप

त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती।
गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रञ्च मण्डलनुत् ॥८७॥

वङ्गभस्म, सीसभस्म, लोहभस्म, अञ्जीर, चित्रक, बड़ी कटेरी (इनका लेप मण्डल (कुष्ठ) नाशक (होता है) तथा गोहमांसरस लवण के साथ तथा देवदारु और गोमूत्र मण्डल (कुष्ठ) नाशक (होता है)।

कदल्यादिमेदकपान

कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन।
मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च क्लिन्ने च ॥८८॥
तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितं प्रलेपनं शस्तम्।
मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नञ्च ॥८९॥

केला, ढाक, पाटला, समुद्रफल के स्वच्छ क्षारोदकों से मांसों में, (चावल की) पिट्ठी में तथा सुराक्लिन्न में जल कार्य करना चाहिए (अर्थात् जैसे जल डालकर मांस, पिट्ठी किण्व आदि को औटाते हैं वैसे क्षारों के साथ इनको क्वथित करना चाहिए।) उनसे ठीक से उत्पन्न मेदक (का पान) तथा (नीचे बैठे) किण्व से प्राप्त प्रलेपन, तत्पश्चात् धूपसेवन प्रशस्त मण्डलकुष्ठघ्न तथा कृमिघ्न (माना जाता है)।

मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधं कलिङ्गयवाः।
दार्वी ससप्तपर्णी स्नानं सिद्धार्थकं नाम ॥९०॥

एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्घर्षः ।
त्वग्दोषशोथकुष्ठप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ॥९१॥

मोथा, मदनफल, हरड़, बहेड़ा, आमला, कंजा, अमलतास, इन्द्रजौ, दारुहल्दी, सप्तपर्ण (इनसे सिद्ध जल से स्नान) सिद्धार्थकस्नान (कहलाता है) इनका कषाय वमन, विरेचन, (करने वाला) तथा (इनके चूर्ण का) घर्षण वर्ण को बढ़ाने वाला त्वग्दोष, कुष्ठ, शोफ का नाशक और पाण्डुरोग को नष्ट करने वाला है।

कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनोलेपः ।
प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च ॥९२॥
करवीरमूलचल्कः कुटजकरञ्जात्फलं त्वचो दार्व्व्याः ।
सुमनः प्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥९३॥

कूठ, कंजे के बीज, चक्रमर्द (इनका) लेप कुष्ठ नाशक (होता है)।

चक्रमर्द के बीज, सैंधा नमक, रसौत, कैथ और लोध्रपठानी, कन्नेर के जड़ की छाल, कुटज (तथा) करञ्ज के फल, दारुहल्दी की छाल, चमेली के प्रवाल (कोमलपत्र) से युक्त लेप सिद्धकुष्ठनाशक होता है।

लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य ।
कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषूद्वर्तनालेपौ ॥९४॥

लोध का, धाय के फूलों का, इन्द्रजौ का, कटकरंज का तथा मालती (के फूलों) का कल्क कुष्ठों में उबटन (तथा) लेप दोनों में (प्रयुक्त होता है।)

शैरीषी त्वक्पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि ।
पिष्ट्वा च काकमाची चतुर्व्विधः कुष्ठनुल्लेपः ॥९५॥

सिरस की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्ते और मकोय (से अलग अलग) पीसकर चार प्रकार का (तैयार किया गया) लेप कुष्ठनाशक (होता है)।

दार्व्व्या रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य ।
आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य ॥९६॥
इति षट्कषाय योगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्चतिनिशस्य ।
स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य ॥९७॥

आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः ।
तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम् ॥९८॥

दारुहल्दी तथा रसौत का, नीम, पटोल, कत्था, अमलतास वृक्ष, कुटजवृक्ष दोनों का, त्रिफला का, सप्तपर्ण का ये छः कषाय योग कुष्ठनाशक (हैं) तथा सातवां तिनिश (आबनूस) का तथा आठवां कनेर का कषाय योग (कुष्ठी के) स्नान तथा पान में (हितकारक होता है)

इन्हीं कषायों का आलेपन, प्रघर्षण, अवचूर्णन कुष्ठ शान्ति के लिये तैल घृत पाक के योग में (भी-ये) उपयोग में लाये जाते हैं।

त्रिफलादिकषाय

त्रिफलानिम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी ।
एष कषायोऽभ्यस्तो निहन्ति कफपित्तजं कुष्ठम् ॥९९॥
एतैरेव च सर्पिः सिद्धं वातोल्वणं जयति कुष्ठम् ।
एष च कल्पो दिष्टः खदिरासनदारुनिम्बानाम् ॥१००॥

हरड, बहेड़ा, आमला, नीम, परवल, मजीठ, कुटकी, वालवच, हल्दी इनका कषाय नित्य अभ्यास में लाने पर कफपित्तज कुष्ठ को नष्ट कर देता है। इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृत वातप्रधान कुष्ठ को जीत लेता है। (इसी प्रकार) कत्था, विजयसार, देवदारु नीम का (भी) यह कल्क कहा गया है। अर्थात् कत्था आदि द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ कफपित्तजकुष्ठघ्न है और इनसे सिद्ध घृत वातजकुष्ठनाशक हुआ होगा।

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका ।
कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकासीसम् ॥१०१॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च ।
तिक्तालाबुकबीजं कम्पिल्लकसर्षपौ वचा दार्वी ॥१०२॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष चालेपः ।
उद्वर्त्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेव एवेष्टः ॥१०३॥

कूठ, आक, तूतिया (copper sulphate) कायफल, मूली के बीज, कुटकी, इन्द्रजौ, कमल, मोथा, बड़ी कटेरी, कनेर, कासीस (ferrous sulphate)

चक्रमर्द, नीम, पाठा, दुरालभा, चित्रक, विडंग, कड़वी तूंबी के बीज, कबीला, सरसों, बचा, दारुहल्दी, इनसे सिद्ध तैल कुष्ठनाशक है। और यह योग आलेपन उद्वर्त्तन, प्रघर्षण, अवचूर्णन इनका (चार विधियों से) ही (उपयोग) इष्ट (है)।

श्वेतकरवीराद्यतैल

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च।
कुष्ठेषूतैलयोगः सिद्धोऽयं सम्मतो भिषजाम् ॥१०४॥

सफेद कनेर का रस गोमूत्र, चित्रक और वायविडंग (से) सिद्ध यह तैल योग कुष्ठों में वैद्य सम्मत (है)।

श्वेतकरवीरपल्लवाद्यतैल

श्वेतकरवीर पल्लवमूलत्वग्वत्सको विडंगश्च।
कुष्ठार्कमूल सर्षपशिग्रुत्वग् रोहिणीकटुका ॥१०५॥
एतैस्तैलं सिद्धं कल्कैः पादांशिकैर्गवामूत्रम्।
दत्त्वा तैलचतुर्गुणमभ्यंगात् कुष्ठकण्डूघ्नम् ॥१०६॥
(इति श्वेतकरवीरपल्लवाद्यं तैलम्)।

सफेद कनेर के पत्ते, जड़ की त्वचा, इन्द्रजौ, और विडंग, कूठ, आक की जड़, सरसों, सहंजन (की जड़) की छाल, कुटकी, इनके चतुर्थांश कल्कों से तैल से चौगुना गोमूत्र देकर सिद्ध किया हुआ तैल मालिश से कुष्ठ और खुजली को नष्ट कर देता है।

(यह श्वेतकरवीरपल्लवादि तैल—है।)

तिक्तेक्ष्वाकुतैल

तिक्तेक्ष्वाक्वा बीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे।
बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥१०७॥
कासीसहिंगुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बरुविडंगम्।
लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव ॥१०८॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मूत्रे चतुर्गुणे साध्यम्।
कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गान्मारुतकफहन्त् ॥१०९॥
(इति तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैलम्।)

कडवी तुम्बी के बीज, दोनों तुत्थ, गोरोचन, हल्दी दोनों, बड़ी कटेरी के फल, अरण्डी, इन्द्रायण सहित चित्रक, मूर्वा, कासीस, हींग, सहंजन, सोंठ, मरिच, पीपल, देवदारु, तुम्बुरु, विडंग, लाङ्गली कुड़े की छाल, कुटकी इनके कल्कों से चौगुने गोमूत्र में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिए। (यह) कण्डु, कुष्ठनाशक है (तथा) मालिश से वात कफ को दूर करता है।

(यह तिक्तेक्ष्वाकु तैल—है।)

कनकक्षीरीतैल

कनकक्षीरी शैला भार्गीदन्त्याः फलानि मूलं च।
जातीप्रवालसर्षपलशुनविडंगं करञ्जत्वक् ॥११०॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वक्चित्रकास्फोताः।
गुञ्जैरण्डबृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि ॥१११॥
कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वावचाः सषड्ग्रन्थाः।
एडगजकुटजशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः ॥११२॥
हरितालमवाक्पुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंज्ञः।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम् ॥११३॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये।
सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुर्गुणं साध्यम् ॥११४॥
स्थाप्यं कटुकालाबुनि तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु।
भिन्द्याद्विषगभ्यङ्गात्क्रमींश्च कण्डूं च विनिहन्यात् ॥११५॥
(इति कनकक्षीरीतैलम्)

स्वर्णक्षीरी (कंकुष्ठ या सत्यानाशी), मनःशिला जयपाल, दन्ती की जड़, चमेली, शाखमूंगा, सरसों, लशुन, वायविडंग, कंजा की छाल, सप्तपर्ण, आक के पत्ते, आक की जड़ की छाल, नीम, चित्रक, आस्फोता (हाफरमाली या अपराजिता), गुञ्जा, अरण्ड, बड़ी कटेरी, मूली, तुलसी, अर्जक (तुलसी भेद) के बीज, कूठ, पाठा, मोथा, तुम्बुरु (धनियां), मूर्वा, बच, लाल-बच, चक्रमर्द, कुटज, सहँजन, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, भिलावे, चवक, हरताल, अन्धाहूली, तूतिया, कबीला, अमृतासंग (खर्पर) सोरठी मिट्टी, कसीस, दारुहल्दी की छाल, सज्जीलवण, इन सबके कल्क से कनेर की जड़ के क्वाथ में मीठा या सरसों का तेल चारगुना गोमूत्र (डालकर) सिद्ध करना चाहिए। सिद्ध हुआ वह तैल

कड़वी तुम्बी में स्थापित करना चाहिए। उससे मण्डलों को शीघ्र भेदन करे। वैद्य (उसके) अभ्यङ्ग से कृमि तथा कण्डू को नष्ट करे।

(यह कनकक्षीरी तैल— है।)

सिध्मलेप

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनः शिलं सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥११६॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो घर्मे।
मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनोः ॥११७॥

कूठ, तमालपत्र (तेजपत्र), मिर्चकाली, मैनसिल के साथ, कासीस सहित, तैल से युक्त को एक सप्ताह ताम्रपात्र में रखकर उससे लिप्त करके धूप में बैठने वाले का सिध्म एक सप्ताह में नष्ट हो जाता है। स्नान को छोड़कर शुद्ध शरीर वाले का नया किलास (सफेद कोढ़) एक मास में (नष्ट होजाता है)।

वक्तव्य—(१६७) चरक ने हरताल, मनःशिला, तूतिया, कासीस, मुरदासंग आदि खनिज द्रव्यों का प्रयोग विभिन्न वानस्पतिक द्रव्यों के साथ करके चर्मरोगों पर एक सफल चमत्कार किया है। कनकक्षीरीतैल का पाक गोमूत्र में होना। चक्रमर्द (chrysophanic acid प्रदाता क्षुप) करवीर, मदार आदि तीक्ष्ण पदार्थों की खोज और साथ ही तैल या लेप मालिश के बाद धूप सेवन की आज्ञा अवश्य ही सोये भारत की गौरव गाथाएं बताने के लिए पर्याप्त हैं। धूप की किरणें ultra violet rays विविध विध इन सबका महत्त्व धीरे धीरे प्रगट होरहा है।

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेंगुदीनां च।
कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरसारस्य ॥११८॥

कुष्ठों में सरसों, कंजा, कड़वी तोरइयों के, हिंगोट के, कत्थे के सार के तैल को हितकर कहते हैं।

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकः पयस्तुत्थम्।
एषघृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्ज्जरसः ॥११९॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन शाम्यतेऽभ्यक्ता।
चर्मैककुष्ठकिटिभं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥१२०॥

जीवन्ती, मजीठ, दारुहल्दी, कबीला, दूध, तूतिया, यह घृत तैल पाक सिद्ध कर लेना चाहिए। सिद्ध होने पर शिलारस, मोम के साथ देना चाहिए। उसके लगाने से विपादिका शान्त हो जाती है। चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभकुष्ठ, तथा अलसक-कुष्ठ से शान्त होता है।

किण्वं वराहरुधिरं पृथ्वीका सैन्धवं च लेपः स्यात्।
लेपो योज्यः कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठञ्च मण्डलनुत् ॥१२१॥

किण्व, सुअर का खून, बड़ी इलाइची, सैन्धव लवण का लेप (मण्डलकुष्ठनाशक) होता है तथा धनियां और कूठ लेप (रूप) प्रयोग करने योग्य है (और) मण्डलकुष्ठनाशक (है)।

पूतीकदारु जटिलाः पक्वसुरा क्षौद्रमुद्गपर्णी च।
लेपः स काकनासो मण्डलकुष्ठापहः सिद्धः ॥१२२॥

करञ्ज (की जड़) देवदारू, जटामांसी, (वक यन्त्र में परिपक्व) सुरा, शहद, मूँगपर्णी, काकनासा के साथ सिद्ध मण्डलकुष्ठनाशक लेप (तैयार होता है)।

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि।
खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥१२३॥
लाक्षारसाञ्जनैलाःपुनर्नवा चेति कुष्ठिनो लेपाः।
दधिमण्डयुताः सर्वे देयाः षण्मारुतकफकुष्ठघ्नाः ॥१२४॥

(१) चित्रक, सहंजन दोनों, (२) गिलोय, ओंगा, देवदारु, (३) कत्था तथा धव (४) श्यामालता, दन्ती, तथा द्रवन्ती (रतनजोत या जंगली अरण्ड) (५) लाख, रसोत, इलायची, (६) और पुनर्नवा, (ये) कुष्ठियों के लेप (हैं) दही के मण्ड से युक्त करके सभी देने चाहिए। (ये) छै वातज (तथा) कफज कुष्ठ-नाशक (हैं)।

एडगजादिलेप

एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपैः कृमिघ्नैश्च।
कृमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रूकुष्ठञ्च शममुपैति ॥१२५॥

चक्रमर्द, कूठ, सेंधानमक, कांजी, सरसों से तथा कृमिघ्नों (बायबिडंग अथवा अन्य कृमिनाशक पदार्थों) से मण्डल नामधारी कृमिजकुष्ठ तथा दद्रु-कुष्ठ शान्ति प्राप्त करते हैं।

वक्तव्य—(१६८) यह यद्यपि एक साधारण सा लेप है पर इसमें जिन पदार्थों का संयोग किया गया है वह बहुत बड़ी खोज का सूचक है। एडगज से प्राप्त क्राइसोफैनिक अम्ल आज भी दद्रु (ringworm) की जगद्विख्यात एकमात्र औषधि है। इसी प्रकार यदि कुष्ठ, सरसों और वायविडङ्ग के तत्वों का पता लगाया जाय तो वे भी दद्रुनाश अथवा अन्य मण्डलकुष्ठों के हनन में चमत्कारिक कार्य कर सकते हैं। यहां शोध आवश्यक है।

एडगजः सर्ज्जरसो मूलकबीजञ्च सिध्मकुष्ठानाम्।
काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ्मतमिदमुद्वर्तनं क्रमशो लेपाः ॥१२६॥

चक्रमर्द, राल, मूली के बीज अलग अलग कांजी से युक्त क्रमानुसार लेप सिध्मकुष्ठों के उद्वर्तन माने गये हैं। अर्थात् उपरोक्त तीनों पदार्थों में से किसी किसी के भी चूर्ण को कांजी में घोल सिध्मकुष्ठ पर लेप करके उबटन करने से लाभ होता है।

वासा त्रिफला पाने स्नाने चोद्वर्तने प्रलेपे च।
बृहतीसेव्यपटोलाः स सारिवा रोहिणी चैव ॥१२७॥

वासा, हरड़-बहेड़ा-आमला, बड़ी कटेरी, सुगन्धवाला, पटोलपत्र, अनन्तमूल और कुटकी पीने, नहाने, उबटन करने तथा प्रलेप में (कुष्ठरोगों में प्रयोक्तव्य है)।

खदिरावघातककुभरोहीतकलोध्रकुटजधवनिम्बाः।
सप्तच्छदकरवीराः शस्यन्ते स्नानपानेषु ॥१२८॥

कत्था, अमलतास, अर्जुन, रुहेड़ा, लोध, कुड़ा, धाय, नीम, सप्तपर्ण, कनेर स्नान तथा पानों में। (कुष्ठ रोगों में) श्रेष्ठ होते हैं।

जलवाप्यलोह केशरपत्रप्लव चन्दनं मृणालानि।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥ १२९॥

उत्तरोत्तर एक एक भाग बढ़ा कर लिये सुगन्ध वाला, कूठ, अगर, नागकेसर, तेजपत्र, मोथा, चन्दन कमलदण्ड पित्त तथा कफ के कुष्ठ में सिद्ध प्रलेपन (है)।

यष्ठ्याह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च।
स्नाने पाने च हिताः सुशीतलाः पित्तकुष्ठिभ्यः ॥१३०॥

मुलहठी, लोधपठानी, पद्माख, पटोल, नीम, चन्दन, (इनके) सुशीतल स्वरस पित्तकुष्ठियों के लिये स्नान, पान में हितकर (होते हैं)।

आलेपनं प्रियङ्गुर्हरेणुका वत्सकस्य च फलानि।
सातिविषा च ससेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका ॥१३१॥

प्रियंगु, रेणुका (सम्हालू) इन्द्रजौ, अतीस, सुगन्धवाला, चन्दनसहित कुटकी (का) आलेपन (कुष्ठों में किया जा सकता है)।

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु।
तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥१३२॥

दाह से जलते हुए कुष्ठों में तिक्त (पंचतिक्त, तिक्तषट्पल, महातिक्त नामक) घृतों से, (शत वा सहस्र) धौत घृतों से चन्दन मुलहठी पुण्डरिया काठ, नीलोफर (इनसे) युक्त तैलों से अभ्यङ्ग (किया जाना चाहिए)।

क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदले।
शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम् ॥१३३॥

चर्मदलसहित क्लेद में, अङ्ग (जहां) प्रपतित होता है (वहां), दाह में, विस्फोटक में, शीतल प्रदेह (तथा) सेक, सिरावेध, विरेचन (तथा) तिक्त घृत (प्रयोक्तव्य होते हैं)।

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम्।
कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम् ॥१३४॥

रक्तपित्त प्रधान कुष्ठों में कत्था (से साधित) घृत, नीम (से साधित) घृत, दारुहल्दी (से साधित) घृत, पटोल (से साधित) घृत, उत्तम सिद्ध चिकित्सा (होती है)।

त्रिफलात्वचोऽर्द्धपलिकाः पटोलपत्रञ्च कार्षिकाः शेषाः।
कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च ॥१३५॥
एष कषायः साध्यो दत्त्वा द्विपलं मसूरविदलानाम्।
सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः ॥१३६॥
ते च कषायेऽष्टपले चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम्।
यावत्स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम् ॥१३७॥

तद्वातपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रवलम् ।
ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान् हन्ति ॥१३८॥

हरड़, बहेड़ा, आमला के फलों की त्वचा तथा पटोलपत्र आधे आधे पल, शेष कुटकी, नीम, मुलहठी, त्रायमाण एक-एक कर्ष दो पल मसूर की दाल का देकर एक आढक (द्रव द्वैगुण्य से दो आढक) जल में यह कषाय सिद्ध करना चाहिए। अष्टम भाग शेष रहने पर छानकर रस ग्रहण करना चाहिए। उन दूने आठ पल (अर्थात् १६ पल) कषाय में चारपल घृत डाल पकाना चाहिए। जब तक आठ पल शेष रह जाय तब उसे कोसा पीना चाहिए। वह वातपैत्तिक कुष्ठ को, विसर्प, प्रबल वातरक्त को, ज्वर-दाह-गुल्म-विद्रधि-भ्रम-विस्फोटकों को नष्ट करता है।

तिक्तषट्पलकघृत

निम्बपटोलं दार्व्वीं दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम् ।
कुर्य्यादर्द्धपलांशां पर्पटकं त्रायमाणाञ्च ॥१३९॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत् पूते ।
चन्दनकिराततिक्तकमागधिकास्त्रायमाणाञ्च ॥१४०॥
मुस्तं वत्सकबीजं कल्कीकृत्यार्द्धकार्षिकान् भागान् ।
नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत्सिद्धं घृतं पेयम् ॥१४१॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शो ग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि ।
पामाविसर्पपिडिकाकण्डूमदगण्डनुत्सिद्धम् ॥१४२॥
(इति तिक्तषट्पलकं घृतम् ।)

नीम, पटोल, दारुहल्दी, दुरालभा, कुटकी, हरड़ बहेड़ा, आमला, पित्तपापड़ा और त्रायमाण को आधा आधा पल (अलग अलग इकट्ठा) करे। एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) जल (में डाल कर पकावे तथा) अष्टमांश रहे हुए रस छानकर उसमें चन्दन, चिरायता, पिप्पली, त्रायमाण तथा मोथा, इन्द्रजौ आधा आधा कर्ष भाग को कल्क करके छोड़ दे। (साथ ही) ताजा घी छै पल डाल कर इसे सिद्ध करके पीना चाहिए। (यह) कुष्ठ, ज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणी, पाण्डुरोग शोथहारी (है) तथा पामा विसर्प, पिडिका, कण्डू, मद, तथा सिद्ध गण्डनाशक है। (यह तिक्तषट्पलघृत—है।)

—पा मा—

महातिक्तघृत

सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्पाकं तिक्तरोहिणीं पाठाम् ।
मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥१४३॥
धन्वयवासं चन्दन मुपकुल्यां पद्मकं हरिद्रे द्वे ।
षड्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे ॥१४४॥
वत्सकबीजं यासं मूर्वाममृतां किराततिक्तञ्च ।
कल्कान्कुर्यान्मतिमान् यष्ट्याह्वं त्रायमाणाञ्च ॥१४५॥
कल्कश्चतुर्थभागो जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम् ।
द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम् ॥१४६॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलानि अर्शांसि रक्तवाहीनि ।
वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक्पाण्डुरोगञ्च ॥१४७॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम् ।
हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च ॥१४८॥
हन्यादेतत्सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः ।
योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम् ॥१४९॥

सप्तपर्ण, अतीस, अमलतास, कुटकी, पाठा, मोथा, खस, हरड़, बहेड़ा, आमला, पटोलपत्र, नीम, पित्तपापड़ा, धमासा, चन्दन, पिप्पली, पद्माख, हल्दी दारुहल्दी, वच, इन्द्रायण, शतावरी, दोनों सारिवा (अनन्तमूल तथा श्यामालता), इन्द्रजौ, वासा, मूर्वा, गिलोय, चिरायता, तथा मुलहठी, और त्रायमाण (इनका) बुद्धिमान् कल्क करे। घृत से चौथाई भाग (यह) कल्क (डाले) आठ गुना जल तथा आंवलों का

स्वरस दूना (और) सिद्ध होने पर (इस घृत को) पिलावे।

समय पर यथाबल पिया गया यह महातिक्तक घृत रक्तपित्त की प्रबलता से युक्त कुष्ठों, रक्तज अर्शों, विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डुरोग को तथा खुजली वाले विस्फोटकों को, उन्माद, कामला, ज्वर, कण्डू, हृद्रोग, गुल्म, पिडका, रक्तप्रदर तथा गण्डमाला तथा सैकड़ों योगों से भी अजित महाविकारों को शीघ्र हनन कर देता है।

(यह महातिक्तकघृत—है।)

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते शमने।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनुवर्तते साध्यम् ॥१५०॥

दोषों का निर्हरण करने पर, रक्तमोक्षण करने पर, बाहर और भीतर संशमन करने पर, योग्यकाल में स्नेहन करने पर साध्य कुष्ठ अनुवर्तन नहीं करता है।

वक्तव्य—(१६९) उपरोक्त श्लोक कुष्ठचिकित्सा का एक महत्वपूर्ण और सिद्धान्त वाक्य है। जो लोग चर्मरोगों पर एक के बाद दूसरा मलहम लगाते चले जाते हैं। या किसी पेटेंट दवा की खोज में परेशान फिरते हैं उन्हें चरक के इस वाक्य का स्मरण रखना चाहिए। दोषों का निर्हरण, रक्तमोक्षण, संशमन, स्नेहनपान इन चार प्रक्रियाओं का ठीक समय पर प्रयोग ही साध्य कुष्ठ से छुटकारा दिलाता है। कभी कभी जरासा चर्मदलकुष्ठ (एक्जैमा) बरसों तक चलता है। पर यदि सतर्कतापूर्वक उपरोक्त सब वधियों से चिकित्सा की गई तो वह अवश्य चला जाता है।

महाखदिरघृत

खदिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले।
तुलार्द्धाः सर्व्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः ॥१५१॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः कृमिहरस्तथा।
हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत् ॥१५२॥
सप्तपर्णश्च संक्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः।
अष्टभागावशेषन्तु कषायमवतारयेत् ॥१५३॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्।
महातिक्तककल्कैस्तु यथोक्तैः पलसम्मितैः ॥१५४॥
निहन्ति सर्व्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्।
महाखदिरमित्येतत् परं कुष्ठविकारनुत् ॥१५५॥

(इति महाखदिरं घृतम्।)

कत्थे की पांच तुला, शीशम (का बुरादा) तथा विजयसार (की लकड़ी का बुरादा) एक-एक तुला, कंजा, नीम, वेतस, पर्पट, कुटज, अडूसा, विडङ्ग, तथा हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आमला, निशोथ, सप्तपर्ण ये सब आधा-आधा तुला (इनको) जल के दस द्रोण (द्रव द्वैगुण्य से २० द्रोण) में पकाकर (जब) अष्टमांश शेष रहे तो क्वाथ को उतार ले। (उसे छानकर छने हुए रस में) बराबर भाग आमला स्वरस तथा एक आढक घी का (डालकर) महातिक्तकघृत के पूर्वोक्त कल्क द्रव्यों को एक एक पल लेकर उससे पकावे। यह महाखदिरघृत पीने, लगाने तथा सेवन करने से सब कुष्ठों को नष्ट करता है यह परम कुष्ठविकारनाशक (योग है)।

(यह महाखदिरघृत-है।)

वक्तव्य—(१७०) महाखदिरघृत सावधानी से बनाना चाहिए क्योंकि इसे पीने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। लोहे या तांबे के बर्तन में बिना कलई लगाये इसका बनाना अनुचित है। यह घृतयोग निस्सन्देह अपरिमित लाभ देता है।

प्रपतत्सु लसीकास्रु तेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु।
मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च ॥१५६॥

यदि गात्रों में लसीका बहती हो (जैसा कि वीपिंग एक्जैमा weeping eczema में देखा जाता है) यदि वे जन्तुओं (germs) द्वारा भक्षित हों तथा उनका प्रयत्न होरहा हो तो गोमूत्र, नीम, विडङ्ग इनसे स्नान, पान और लेपन (करना चाहिए)।

वक्तव्य—(१७१) चर्मरोगों में लसीका प्रवाह, जन्तुविद्रोह, तथा अङ्गपात प्रायः मिलता है अतः नीम विडङ्ग और गोमूत्र जैसे सरल तथा एण्टीसैप्टिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च ।
स्नाने पाने लेपे क्रिमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥१५७॥

अडूसा, कुटज, सप्तपर्णी, कन्नेर, कंजा, नीम और कत्था गोमूत्र के साथ स्नान, पान (और) लेपमें कृमिज कुष्ठ (parasitic skin disease) नाशक है।

पानाहार विधाने प्रसेचने धूपनेप्रदेहे च ।
कृमिनाशनं विडंगं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः ॥१५८॥
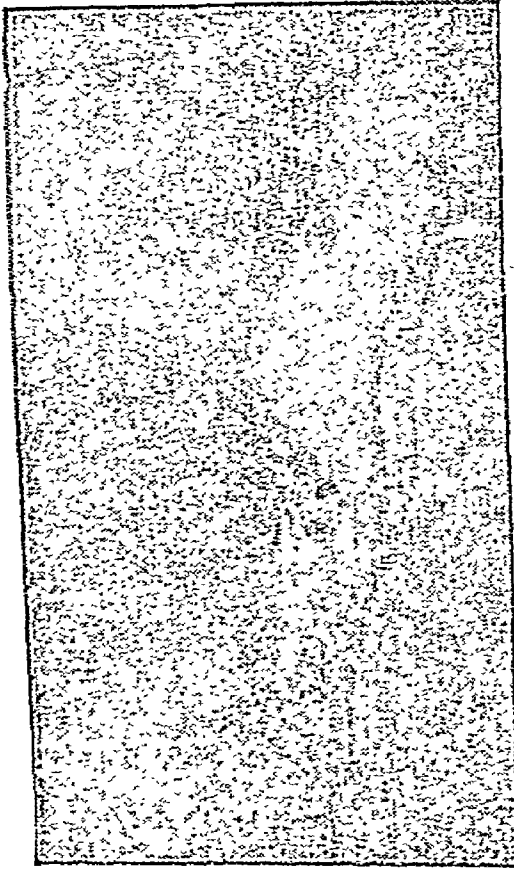
पानाहार के विधान में, प्रसेचन, (affusion) धूपन (fumigation) प्रदेह में कृमिनाशक विडङ्ग तथा कुष्ठघ्न कत्था विशेषता रखते हैं।

वक्तव्य—(१७२) वैद्यों को सैकड़ों अङ्गरेजी पदार्थों की अपेक्षा कृमिनाश के लिए विडङ्ग का मलहम या कत्थे अकेले का मलहम बनाकर लगाना चाहिए।

एडगजः सविडंगो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम् ।
उद्दालनं श्वदन्ता गोऽश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च ॥१५९॥

विडङ्गसहित चक्रमर्द, अमलतास की जड़ें, कुत्ते के दांत, गाय, घोड़ा, सुअर, ऊंट के दांत कुष्ठों के नाशक (उद्दालनकर्त्ता) हैं।

वक्तव्य—(१७३) पशुओं के दांतों को पीसकर उनके पाउडर का मलहम बना लगाने से चर्मरोगों में बहुत लाभ होता हुआ देखा जाता है। जहां अन्य उपचार बेकार हों चरकोक्त इन प्रयोगों को करना चाहिए।

एडगजः सविडंगो द्वे च निशे राजवृक्षमूलञ्च ।
कुष्ठोद्दालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम् ॥१६०॥

विडङ्ग सहित चक्रमर्द, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास की जड़ कूठसहित पिप्पली इन श्रेष्ठ कुष्ठोद्दालकों को प्रयोग करना चाहिए।

श्वित्रचिकित्सा

श्वित्राणां प्रशमार्थं प्रयोक्तव्यं सर्व्वतो विशुद्धानाम् ।
श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः ॥१६१॥
तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसन्तापम् ।
संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम् ॥१६२॥

सर्व्वतः (वमनविरेचनादि पञ्चकर्म से) विशुद्ध श्वित्र (से पीडित रोगियों) के प्रशमन के लिए (एडगज, विडंग, दोनों हल्दी अमलतासमूल का लेप) प्रयोग (विशेषरूप से) करना चाहिए।

श्वित्र (Leucoderma) में गुड़ के साथ मलयू (काष्ठोदुम्बरिका—कठगूलर) स्वरस श्रेष्ठ स्रंसन (laxative) पसन्द किया जाता है। भले प्रकार स्निग्ध हुआ (रोगी) बल के अनुसार उस रस को पीकर सूर्य के पैरों के ताप (अर्थात् धूप) का तीन दिन सेवन करे विरिक्त (विरेचन करता हुआ व्यक्ति) प्यास की इच्छा वाला होने पर पेया को पिये।

श्वित्रेऽङ्गे य स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्भिन्द्यात् ।
स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत् पक्षम् ॥१६३॥
मलपूमसनं प्रियंगुं शतपुष्पाञ्चाम्भसा समुत्क्वाथ्य ।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥१६४॥

अङ्ग में श्वित्र पर जो स्फोट (blisters) उत्पन्न हो जाते हैं उनको कांटे से छेदे। स्फोटों में स्राव हो चुकने पर सवेरे-सवेरे एक पखवाड़े तक कठगूलर, विजयसार, प्रियंगु, सौंफ जल से उबाल कर अथवा राब के साथ ढाक का क्षार बल के अनुसार पिये।

यच्चान्यत्कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम् ।
खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा ॥१६५॥

जो अन्य कुष्ठघ्न वह सभी श्वित्र के रोगियों का

लाभकर है। खदिर के (काथ से प्राप्त रस अथवा खदिर के वृक्ष से निकाले गये) जल को (कुष्ठघ्न पदार्थ के साथ) मिलाकर अथवा खदिरोदक (अकेले) का पीना श्रेष्ठ (होता है)।

वक्तव्य—[१७४] ऊपर श्वित्र की चिकित्सा का आरम्भ है। शरीर पर जो त्वचा के वर्णकद्रव्य का नाश होकर चूने जैसा सफेद दाग बन जाता है और जो बराबर बढ़ता रहकर मानव के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है वह श्वित्र या ल्यूकोडर्मा कहलाता है। इसे किलास भी कहते हैं। यह भी एक प्रकार का कुष्ठ ही है। आचार्यों ने इसके सम्बन्ध में भी पर्याप्त खोज की थी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इसकी चिकित्सा करने के पूर्व रोगी का सर्व्वतः विशुद्ध होना परमावश्यक है। वमन द्वारा आमाशय, विरेचन द्वारा क्षुद्रान्त्र, बस्ति द्वारा स्थूलान्त्र और शिरोविरेचन द्वारा नासा आदि के अस्थि कोटर शुद्ध करके वात, पित्त, कफ आदि दोषों को साधारण अवस्था में लाकर दूष्यों में बैठे हुए मलों को दूर करने की विशिष्ट पद्धति को अपनाने के बाद ही आगे के सब कार्य सिद्ध होते हैं। पञ्चकर्म के पूर्व स्नेहन और स्वेदन भी परमाश्यक हैं। जब साधारण शोधनकर्म पूर्ण होगया तब फिर मलपू या मलयू के स्वरस से विशेष स्रंसनकर्म का विधान बतलाया गया है।

मलपू के अन्दर श्वित्रनाशक गुण अन्य सैकड़ों दवाओं से अधिक है। काकोदुम्बरिका के १३ नाम राजनिघण्टु ने यों दिये हैं—

> कृष्णोदुम्बरिका चान्या खरपत्री च राजिका।
> उदुम्बरी च कठिना कुष्ठघ्नी फल्गुवाटिका॥
> अजाक्षी फल्गुनी चैव मलपूश्वित्रभेषजा।
> काकोदुम्बरिका चैव ध्वाङ्क्षनाम्नी त्रयोदश॥

और इसके गुण—

> काकोदुम्बरिका शीता पक्वा गौल्याऽम्लिका कटुः।
> त्वग्दोषपित्तरक्तघ्नी तद्वल्कं चातिसारजित्॥

मलपू और गुड़ पीने के बाद धूप का सेवन भी श्वित्रनाशक है। यह सभी जानते हैं कि जहां सूर्य की किरणें व्यक्ति पर सीधी पड़ती हैं वहां उसकी त्वचा काली पड़ जाती है। अर्थात् सूर्य की धूप का त्वचा के वर्णक या रञ्जक द्रव्य के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। इसे समझ कर आचार्यों ने धूप स्नान(Sun-bath)पर भी जोर दिया है। यूरोप आदि देशों में जहां सूर्यरश्मियों के लिए लोग लालायित रहते हैं लोगों की त्वचा चूने जैसी सफेद देखने में आती है। आजकल धूप के तत्व नीललोहितातीत किरणों (ultra violet rays) का प्रयोग भी चरक की नकल मात्र है। असन का नम्बर मलपू के बाद आता है।

> असनः कटुरुष्णश्च तिक्तो वातार्त्तिदोषनुत्।
> सारको गलदोषघ्नो रक्तमण्डलनाशनः॥

असन के बाद खदिर का नम्बर आता है। सफेद कोढ़ से पीड़ित व्यक्ति को कत्थे का सेवन अवश्य करना चाहिए। हमारे देश में जो पान खाने की बड़ी प्रथा चली हुई है उसमें त्वचा के रोगों पर विजय पाने के लिये तथा त्वचा के स्वास्थ्य की रक्षा के विचार से ही खदिर डालने का विधान आया हुआ है। हमारे पूर्वजों ने क्षय रोकने के लिए चूने का तथा त्वचा की रक्षा के लिए कत्थे का उपयोग पान में करके उसे बराबर प्रयोग में लाने का विधान रक्खा था।

समनःशिलं विडङ्गं कासीसं रोचनां कनकपुष्पीम्।
श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात्॥१६६॥

मैनशिल(red arsenic) के साथ विडंग, कासीस (ferrous sulphate) गोरोचन (ox-bile), सत्यानाशी सैन्धव के साथ श्वित्रों की शान्त के लिए लेपन दे।

कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुक्तम्।
हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः क्षारकं क्षारम्॥१६७॥

अथवा गधे की अस्थि जलाकर भस्म को केले के क्षार के साथ तथा गाय के रक्त के साथ मिलाकर लेप करे। अथवा मालती के मुकुलों (कलिकाओं) के क्षार को हाथी के मद में भिगोकर (लेपकरे)।

नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा।
मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्र॥१६८॥

अथवा कूठ के साथ नीलोफर सैन्धव के साथ हाथी के मूत्र में पीस (लेप करे)। अथवा गोमूत्र में पिसे मूली के बीज तथा वाकुची का लेप (करे)।

काकोदुम्बरिका वा सावल्गुजचित्रका गवां मूत्रे ।
पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन ॥१६६॥

अथवा कठगूलर वाकुची के साथ चित्रक, गोमूत्र में पिसी मैनशिल अथवा मोर के पित्त के साथ (पिसी मैनशिल का लेप करे)।

लेपः किलासहन्ता बीजान्यावल्गुजानि लाक्षा च ।
गोपित्तमञ्जनेद्वे पिप्पल्यः काललोहरजः ॥१७०॥

वाकुची के बीज, लाख, गाय का पित्ता, दोनों अञ्जन (सौवीराञ्जन तथा रसाञ्जन) पिप्पली, तीक्ष्ण लोहभस्म का लेप किलास को नष्ट करता है।

वक्तव्य—(१७५) मलपू और असन के अभ्यन्तर प्रयोग के बाद बाह्यप्रयोग द्वारा जो द्रव्य श्वित्र का वर्ण बदल सकते हैं उनमें अवल्गुजा या वाकुची मुख्य है। मनःशिला, कसीस, गौरोचन, अंजन, गौरक्त, खरास्थि, क्षार, हाथी का मद और मूत्र इन विचित्र द्रव्यों का भी प्रयोग करके देख लिया गया है। ये सब रंजक द्रव्य के रूप में लेपन के लिए लिखे गये हैं, इनमें तीक्ष्ण लोह की भस्म का होना भी यही इङ्गित करता है।

शुद्धया शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम् ।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रणश्यति क्षीणपापस्य ॥१७१॥

जिसके पापक्षीण हो गये हैं ऐसे किसी ही व्यक्ति का श्वित्र शुद्धि से, रक्तमोक्षण से, विरूक्षण से तथा सत्तुओं के भक्षण से नष्ट हो जाता है। अर्थात् श्वित्र सदैव दुरुपगम होते हैं और बड़ी कठिनाई से ठीक होते हैं।

वक्तव्य-(१७६) आधुनिक विचारक कहते हैं कि पहले से दुनियां बहुत आगे बढ़ गई है अस्तु हमें प्राचीन चरकादि के वचनों को छोड़ देना चाहिये पर चरक ने ऊपर श्वित्र की कष्टसाध्यता पर जो मत व्यक्त किया है वह आज भी उतना ही सत्य है जितना ईसा से हजारों वर्ष पूर्व।

दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः ।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥१७२॥

किलास, दारुण, अरुण, तथा श्वित्र तीन नामों से वह तीन प्रकार का जानना चाहिए और वह प्रायशः त्रिदोष वाला (होता है)।

श्वित्र कुष्ठ

दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते ।
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरुतच्चोत्तरोत्तरम् ॥१७३॥

श्वित्र दोष के रक्ताश्रित होने पर लाल, मांसाश्रित होने पर ताम्रवर्ण का तथा मेदोधातु के आश्रित होने पर श्वेत तथा लाल से ताम्र, ताम्र से श्वेत उत्तरोत्तर गुरु (कष्टसाध्य) होता जाता है।

वक्तव्य—(१७७) किलास वा श्वित्र के जो तीन भेद दिये हैं वे एक ही रोग की तीन विभिन्न अवस्थाएं हैं। आरम्भ में जब दोष रक्त में रहता है तब त्वचा पर लाल धब्बे पड़ जाते हैं इस अवस्था को दारुण या दारण कहते हैं। मांस में दोषों का अवस्थान होने पर धब्बे ताम्रवर्ण होजाते हैं इस अवस्था को चारण या अरुण अवस्था कहते हैं, बाद में जब मेदोधातुगत दोष मिलते हैं तो श्वित्र की वास्तविक अवस्था आती है।

श्वित्रसाध्यासाध्यता

यत्परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत् ।
यच्च वर्षगणोत्पन्नं तत् श्वित्रं नैव सिध्यति ॥१७३॥

जो परस्पर अभिन्न (मिला हुआ), बहुत क्षेत्र में हो जो लाल रोम युक्त हो, जो बहुत वर्षों से उत्पन्न

हुआ हो वह श्वित्र नहीं सिद्ध होता है।

अरक्तलोम तनु यत् पाण्डु नातिचिरोत्थितम्।
मध्यावकाशे चोच्छन्नं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते ॥१७४॥

जो श्वित्र लाल रोमों से रहित, पतला हो जो पाण्डुवर्ण का अधिक पुराना न हो, मध्य के भाग में जो उभरा हुआ हो वह साध्य कहा जाता है।

श्वित्रनिदान

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो
निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म
हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥१७५॥

तथ्यरहित (झूठ) बोलना, कृतघ्नता का भाव, देवतुल्य व्यक्तियों की निन्दा, गुरुजनों का अपमान तथा इस जन्म के पापकर्म तथा पूर्व कृत पापकर्म तथा विरुद्ध अन्न यह किलास का हेतु (होता है)।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये येषु चाधिका दोषाः।
कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः ॥१७६॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठं कुष्ठापहाश्च ये योगाः।
सिद्धाः किलास हेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः ॥१७७॥
इति संग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये।
स्मृतिबुद्धिवर्द्धनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय ॥१७८॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)—

हेतु, द्रव्य, विविधलक्षण, जो दोष जिन कुष्ठों में अधिक होते हैं, कुष्ठों में दोषों के लक्षण, संक्षेप से दोष निर्देश, साध्य, कष्टसाध्य, असाध्य कुष्ठ, तथा कुष्ठनाशक जो सिद्ध योग; किलास का हेतु, लिंग, गुरुता लघुता तथा चिकित्सा यह संग्रह कुष्ठनाशक अध्याय में महर्षि ने शिष्य अग्निवेश के लिए उसकी स्मरणशक्ति तथा बुद्धि की वृद्धि के लिए बनाया।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत इस शास्त्र में चिकित्सास्थान में कुष्ठचिकित्सित नामक सप्तम अध्याय (समाप्त हुआ)।
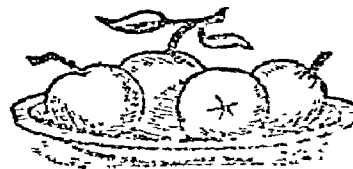
चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

अष्टमोऽध्यायः

राजयक्ष्मचिकित्सा

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) राजयक्ष्मचिकित्सित (नामक आठवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा था ॥१॥

राजयक्ष्मा-उत्पत्ति

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा।
कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥२॥
रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥३॥
दुहितॄणामसम्भोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥४॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमंशुमान्।
भार्य्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥५॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्त्तिनम्।
रजः परीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥६॥
सोऽभिभूतोऽतिमहता गुरुक्रोधेन निष्प्रभः।
देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥७॥
अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः।
प्रसादं कृतवान् सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ॥८॥
स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः।
ओजसा वर्द्धितोऽश्विभ्यां सत्त्वं शुद्धमवाप च ॥९॥

ऋषियों द्वारा कामवासना से युक्त चन्द्रमा के प्रति सुनी गई देवों से कही गई पौराणिक कथा (इस प्रकार थी कि) रोहिणी में अत्यन्त आसक्त शरीर का अनुरक्षण न करते हुए चन्द्र की देह स्नेह के

परिक्षय से क्षीणता को प्राप्त होगई। शेष अन्य (उसकी) पुत्रियों के साथ सम्भोग न करने से प्रजापति का क्रोध निःश्वास रूप से मूर्तिमन्त होकर मुख से निकला। क्योंकि अंशुमान् चन्द्रमा ने दक्ष प्रजापति की २८ कन्याओं को पत्नी रूप में स्वीकार किया था किन्तु सबों में उसने समान व्यवहार नहीं किया। गुरु से शप्त भार्याओं में विषम व्यवहार करने वाला रजोगुणयुक्त बलरहित चन्द्रमा में यक्ष्मा प्रविष्ट हुआ। अति महान् गुरु के क्रोध से अभिभूत कान्तिरहित वह चन्द्रमा देव, देवर्षि सहित गुरु (श्वसुर-प्रजापति) की शरण को गया। अब चन्द्रमा की निर्मल बुद्धि जानकर प्रजापति ने कृपा की। तत्पश्चात्

चन्द्रमा की अश्वनीकुमारों ने चिकित्सा की। वह चन्द्रमा राजयक्ष्मारूप ग्रह से विमुक्त हुआ अश्विनीकुमारों द्वारा ओज से वर्धित शुद्ध सत्व वाला होगया।

वक्तव्य—(१७८) यक्ष्मा की उत्पत्ति की आरम्भिक कथा भी अतिमैथुन सेवन तथा गुरुओं द्वारा शप्त होना ही है। अधिक सम्भोग के कारण हतवीर्य व्यक्ति को शप्त होने से उसकी रही सही कान्ति भी जाती रहती है। वीर्य की कमी के साथ कान्ति का अथवा ओज का ह्रास जब देवताओं को क्षतक्षीण या यक्ष्मा से पीडित बना सकता है तो साधारण मर्त्यवासियों का क्या कहना।

क्रोधोयक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः।
यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद् राजयक्ष्मा ततो मतः॥१०॥

क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग (इनसे) दुःखसंज्ञक एक (ही) अर्थ (का बोध होता है)। क्योंकि पूर्व में वह राजा को हुई थी (इस कारण से) वह राजयक्ष्मा माना गया है।

यक्ष्मा के चार कारण

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम्॥१२॥

(अपने) बल से अधिक कार्य करना, (प्राप्त) वेगों का रोकना, धातुओं का क्षय, चौथा विषमाशन (ये चार) यक्ष्मा के कारण जाने।

वक्तव्य—(१८०) आयुर्वेद की अपनी स्वतन्त्र परम्परा है। उसी के अनुकूल उसने यक्ष्मा के चार कारण प्रगट किए हैं। सर्वप्रथम उसने अयथाबलारम्भ या साहसजन्य यक्ष्मा का वर्णन उपस्थित किया है—

साहसजन्ययक्ष्मा

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः।
पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः॥१३॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते।
वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति॥१४॥

युद्ध, अध्ययन, भारवहन, पैदल चलना, लंघन,

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः।
लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान्॥११॥

वह यक्ष्मा अश्विनीकुमारों से तिरस्कृत (होकर) मर्त्यलोक में आगया है। (और वह) चार प्रकार के हेतु प्राप्त करके मनुष्यों को आक्रान्त करता है।

वक्तव्य—(१७९) उपरोक्त वक्तव्य से हमें यह भी आभास मिलता है कि यह रोग आरम्भ से ही किसी अन्य लोक का है वहां से फिर पृथ्वी पर आया है।

तैरना आदि से अथवा पतन से, चोट लगने से अथवा अन्य साहस के कार्यों से शक्ति से अधिक बलपूर्वक कार्य करने के कारण जीव का फेंफड़ा क्षत युक्त होजाता है। जिसके कारण पित्त तथा कफ इन दोनों दोषों का उदीरण करती हुई कुपित वायु दौड़ने लगती है।

वक्तव्य—(१८१) अपने देश में आजकल जो यक्ष्मा होरही है उसमें अयथाबलारम्भपूर्वक यक्ष्मा विशेष करके

होती है। उसका कारण यह है कि देश में आर्थिक स्तर बहुत नीचा है। व्यक्ति को पेट भरने के लिए बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है। यहां तक कि वह अपने बित से बाहर काम कर जाता है। युद्ध, अध्ययन, भार, अध्व, लंघन, प्लवन से बढ़कर उसे पेट पालने के लिए जुटना पड़ता है। कहीं वह मशीनों में जूझता है तो कहीं उसे दफ्तर में बैठना पड़ता है। इन सबके कारण उसका श्वसनसंस्थान विकृत होकर यक्ष्मा के लिए अच्छा स्थान बन जाता है। बल से अधिक श्वास रोकने के जो कार्य हैं जैसे भारी बोझ उठाना, लगातार जल्दी जल्दी कार्य करते चले जाना आदि जिनमें श्वास फूलने का अधिक डर रहता है रोगी के फेंफड़े में कुछ भाग विदीर्ण होकर क्षत बन जाता है। क्षत के पास गर्तिका (cavity) बनती है और यक्ष्मा का आधुनिक रूप प्रगट हो जाता है।

अयथाबलारम्भ वा साहसिक कार्यो से पहले उरःक्षत (bronchiectasis) बनती है उसके बाद फिर यक्ष्मा का नम्बर आता है।

सशिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः।
कण्ठोद्ध्वंसञ्च कासञ्च स्वरभेदमरोचकम् ।।१५।।
पार्श्वशूलञ्च पार्श्वस्थो वर्च्चोभेदं गुदे स्थितः।
जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरःस्थश्चोरसो रुजम् ।।१६।।
क्षणनादुरसः कासात् कफं ष्ठीवेत् सशोणितम्।
जर्जरेणोरसा कृच्छ्मुरः शूलातिपीडितः ।।१७।।
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते।
एकादशभिरात्मज्ञो भजेत्तस्मान्न साहसम् ।।१८।।

वह (कुपित वायु) सिर में स्थित हो शिरःशूल गले में आश्रय लेकर गले में लगातार धुंआ सा रहना; खांसी, स्वरभेद, अरुचि; पार्श्व में स्थित होकर पसली का दर्द; गुदप्रदेश में स्थित होकर मलभेदक, सन्धियों में स्थित जृम्भा तथा ज्वर को; वक्षस्थल में स्थित वक्षशूल को (उत्पन्न) करता है।

जर्जरवक्ष से कष्टदायक उरःशूल से पीडित रोगी खांसी आने से जो फेंफड़े के अन्दर क्षत होने से (आती है) रोगी रक्तयुक्त कफ थूकता है। इस प्रकार साहसजन्य यक्ष्मा इन ग्यारह लक्षणों से प्राप्त होता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति साहसिक कार्यों का सेवन न करे।

वक्तव्य--(१८२) ऊपर साहसिक यक्ष्मा का जो चित्र खींचा गया है और ग्यारह भी लक्षणों का कारण प्रकुपित हुआ वात तथा फेंफड़े का क्षतक्षीण होना है वह आयुर्वेद की अपनी मौलिक और यथार्थ कल्पना है।

वेगसन्धारणजन्य यक्ष्मा

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वाभयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदानरः ।।१९।।
तदा वेग प्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः ।।२०।।

जब व्यक्ति (राजा अफसर या पूज्य के समीप होने के कारण) लज्जावश, घृणावश अथवा भयवश वात-मूत्र-पुरीष के आगत वेग को रोक लेता है तब वेग के प्रतिघात (रुकावट) से ऊर्ध्व, तिर्यक् तथा अधः भाग को कफपित्त को प्रेरित करता हुआ कुपित वायु (निम्न) विकारों को उत्पन्न करता है—

प्रतिश्यायञ्च कासञ्च स्वरभेदमरोचकम्।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरसंसावमर्दनम् ।।२१।।
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दि वर्च्चोभेदं त्रिलक्षणम्।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यतेमहान् ।।२२।।

त्रिदोष लक्षण वाले प्रतिश्याय (जुकाम) खांसी, स्वरभेद, अरुचि, पसली का दर्द, ज्वर, कंधों की पीड़ा अङ्ग में हड़कल, बार-बार वमन तथा मलभेद ये ग्यारह लक्षण (होते हैं) जिनके कारण यक्ष्मा महान् कहा जाता है।

वक्तव्य—(१८३) वेगरोधजन्य यक्ष्मा का भी आदि कारण साहसिक यक्ष्मा की तरह कुपितवात है। जैसा पहले वह पित्तकफनाशक दोनों दोषों का उदीरण करके साहस-जन्य यक्ष्मा के ग्यारह लक्षणों की उत्पत्ति करता है उसी प्रकार यहां भी वेग रोकने से उत्पन्न कुपित होकर वात-प्रतिश्यायादि ग्यारह लक्षणयुक्त यक्ष्मा का कारण बनता है। महत्व की बात यह है कि साहसजन्य यक्ष्मा में जहां फेंफड़े में क्षत रहता है जिसके कारण खांसी और खून से मिला कफ बार बार निकलता है पर यहां क्षत का स्थान आन्त्रगत होने से बारबार वमन और विरेचन का होना लगा रहता है। ज्वर अंसावमर्दन, प्रतिश्यायादि रूप भी रहते हैं। पर साहसिक यक्ष्मा जैसा उनका रूप नहीं होता।

धातुक्षयजन्य यक्ष्मा

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात्।
अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते ॥२३॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्।
प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम् ॥२४॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्।
करोति चांससन्तापमेकादशगदानिमान् ॥२५॥
लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्।
सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षयप्रदम् ॥२६॥

ईर्ष्या, (मिलने की) उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक (तथा इसी प्रकार के अन्य मानसिक कारणों से तथा) अति दौर्बल्य से, अत्यन्त मैथुन से, लंघन करने से शुक्र तथा ओज क्षीण होजाता है।

इस प्रकार स्नेह के क्षय से वायु प्रबल होकर दोनों दोषों (कफ तथा पित्त) को उदीर्ण करता हुआ प्रतिश्याय, ज्वर, खांसी, अङ्गों में हड़कल, सिर में दर्द, श्वास, कंधों में जलन, इन ग्यारह रोग लक्षणों को करता है। ये ग्यारह लक्षण क्षय से उत्पन्न प्राणनाशक महा रोग राजयक्ष्मा को बतलाते हैं।

हर्ष | उत्कण्ठा | त्रास

भय | क्रोध | शोक | अतिकर्षण

वक्तव्य-(१८४) साहस और वेग-रोधजन्य यक्ष्मा का वर्णन करने के बाद धातुक्षयजन्य यक्ष्मा की सम्प्राप्ति देते हुए आचार्य ने मानसिक चिन्ताओं मैथुनातिरेक और अनशन को धातुओं का क्षीण करने वाला

माना है। धनीमानी व्यक्ति चिन्ताओं के कारण क्षीण होजाता है विलासी व्यक्ति अधिक स्त्रीसमागम करते-करते मर मिटता है। इन सब कारणों से शरीर का वीर्य और ओज नष्ट होता है। स्नेहयुक्त धातुओं में इन्हीं दोनों का प्राधान्य रहता है। स्नेहांश की कमी से धातुओं का पोषण नहीं होपाता जिससे रचनात्मक शरीरकार्य कम होता और पतनात्मक शरीरकार्य बढ़ता है। इसके कारण वायु का कोप आरम्भ होजाता है जो प्रतिश्यायादि लक्षणों की उत्पत्ति का कारण बनता है। यहां श्वासाधिक्य महत्व का लक्षण है। वीर्यपात के साथ-साथ मैथुन के बाद श्वास का बढ़ना प्रायः देखा जाता है उसी प्रकार धातुक्षय से भी श्वास बढ़ता है।

विषमाशनजन्य यक्ष्मा

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान्मारुतादयः ॥२७॥
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥२८॥
प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम्।
ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च ॥२९॥
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च।
कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ॥३०॥
इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम्।
रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः ॥३१॥

विविध अन्नपानों को विषमता से सेवन करने वाले व्यक्ति के वातादि दोष दारुण और कष्टसाध्य रोगों को उत्पन्न करते हैं। (आहार) वैषम्य से विषमभाव को प्राप्त हुए दोष रुधिरादि के स्रोतों को अवरोध करके रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा (शरीर की) धातुएँ पुष्ट नहीं होती हैं।

बासी सड़ा गला भोजन
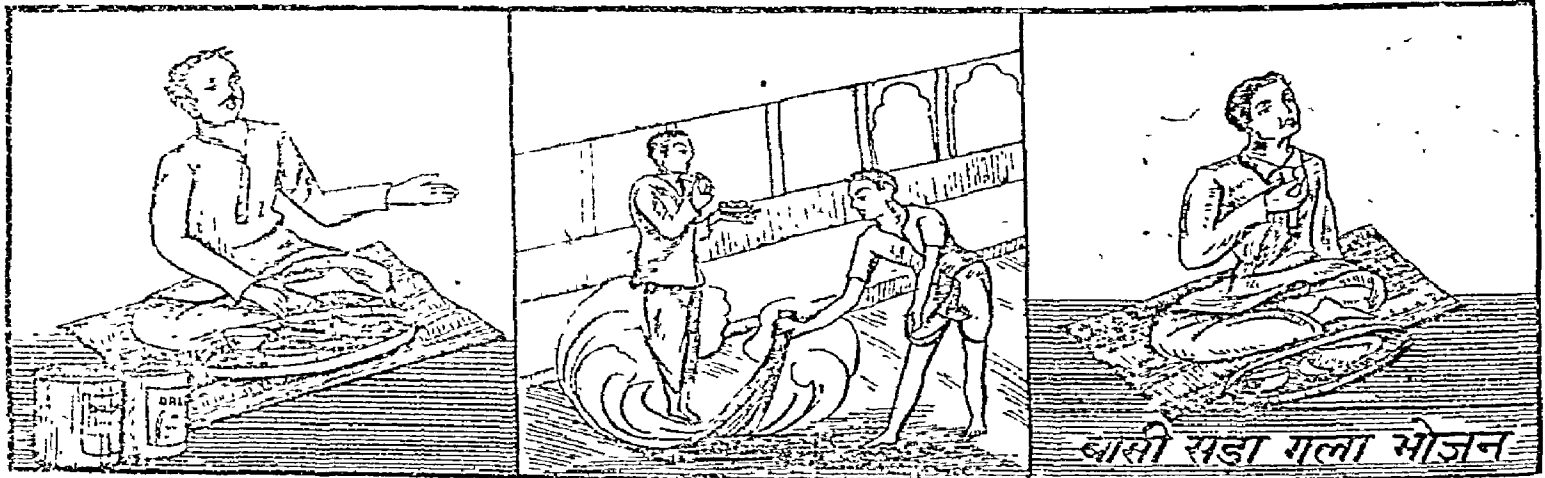
प्रतिश्याय, प्रसेक, खांसी, वमन, अरुचि, ज्वर, अंसताप, रक्तवमन, पार्श्वशूल, शिरःशूल तथा स्वरभेद भी कफ, पित्त तथा वातजन्य लक्षण यथाक्रम जाने।

इस प्रकार व्याधियों के समूह, रोगराज यक्ष्मा के हेतु से उत्पन्न ग्यारह प्रकार का लक्षण और चार प्रकार का हेतु कह दिया है।

वक्तव्य—(१८५) विषमाशन भी यक्ष्मा की उत्पत्ति कर सकता है। कहीं बैठकर खाना, कुछ भी खाना, बिना ठीक पकाए खाना, संयोगविरुद्ध, प्रकृतिविरुद्ध, करणविरुद्ध, राशिविरुद्ध, देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, उपयोग संस्थाविरुद्ध, उपशयविरुद्ध पदार्थों का सेवन विषमाशन में आता है। विषमाशन के कारण भी यक्ष्मा उत्पन्न हो सकता है यह आयुर्वेदीय विचार है जिसके पीछे बहुत कुछ सत्यांश है। अस्तु देश में जो टी० बी० की रोकथाम करना चाहते हैं उन वैद्यों को आयुर्वेदीय दृष्टि से यदि प्रचार करना हो तो बड़े बड़े विज्ञापनों द्वारा साहस, वेगरोध, धातुक्षय और विषमाशन से होने वाली हानियों की ओर विशेषरूप से संकेत देना पड़ेगा। भारतवर्ष में भोजन की उचित, निर्माणविधि, ठीक से सेवन आदि पर जो इतना जोर दिया

जाता रहा है. उसका एकमात्र कारण इस रोग के चंगुल में प्राणियों को न आने देने का दृढ़ विचार कार्य करता रहा है।

विषमाशनजन्य यक्ष्मा में प्रसेक का विशेष महत्त्व है।

चारों प्रकार की यक्ष्माओं के जो ग्यारह-ग्यारह लक्षण दिए गए हैं वे सभी त्रिदोषजन्य होते हुए भी पार्श्वशूल, शिरःशूल, स्वरभेद वातज; प्रतिश्याय, प्रसेक, कास, छर्दि, अरुचि कफज; तथा ज्वर, अंसताप, रक्तवमन पित्तज लक्षण होते हैं।

अब हम चारों प्रकार की यक्ष्माओं के लक्षणों को तालिका द्वारा व्यक्त करते हैं:—

क्रम	साहसजन्ययक्ष्मा	वेगरोधजन्ययक्ष्मा	धातुक्षयजन्ययक्ष्मा	विषमाशनजन्ययक्ष्मा
१	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल
२	कण्ठोद्ध्वंस	......	......	......
३	कास	कास	कास	कास
४	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद
५	अरुचि	अरुचि	अरुचि	अरुचि
६	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
७	मलभेद	मलभेद	मलभेद	......
८	जृम्भा	......	......	......
९	ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
१०	उरःशूल	......	......	......
११	रक्तवमन	......	......	रक्तवमन
१२	......	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
१३	......	अंसावमर्द	......	अंसताप
१४	......	अङ्गमर्द	अङ्गमर्द	......
१५	......	वमन	......	वमन
१६	......	......	श्वास	......
१७	......	......	......	प्रसेक

उपरोक्त तालिका को देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि यक्ष्मा में ज्वर, कास, शिरःशूल, स्वरभेद, अन्न से अरुचि, पार्श्वशूल, ये छै लक्षण प्रत्येक दशा में मिलते हैं। शेष लक्षणों में अवस्था और हेतु अनुसार भेद पाया जाता है।

यक्ष्मा—पूर्वरूप

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्।
अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥३२॥
घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥३३॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च।
प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥३४॥
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्।
स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥३५॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि।
शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥३६॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप प्रतिश्याय, दुर्बलता, दोष-रहित भावों में दोष का दर्शन करना, अपने शरीर में विकृतरूप का दर्शन, खाते हुए भी घृणा करना, बल और मांस की क्षीणता, स्त्रीप्रियता, मद्यप्रियता, मांसप्रियता, सुन्दर वस्त्र पहनने में प्रियता, प्रायः अन्नपान में मक्खी, घुन, बाल और तिनकों का गिर-जाना, केश और नखों का अभिवर्द्धन, स्वप्न में पक्षियों से, चिड़ियों से तथा हिंस्र पशुओं से पराभूत होना, बालों (तथा) हड्डियों के ढेरों तथा भस्म पर चढ़ना, जलाशयों का सूखते जाना, पर्वतों (और) वनों का क्षीण होते जाना, तारकाओं का गिरते जाना ऐसा जो देखना वह बहुरूप वाले राजयक्ष्मा का पूर्वरूप जानना चाहिए।

रूपं त्वस्य यथोद्देशं निर्देक्ष्यामि सभेषजम् ॥३७॥

इस (राजयक्ष्मा) का रूप उद्देश्य क्रम के अनु-सार चिकित्सा सहित मैं बतलाऊँगा।

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः ॥३८॥

जैसे शारीर धातुएँ अपनी अपनी ऊष्मा द्वारा परिपक्वता को प्राप्त होती हैं तथा जैसे अपने स्रोतस् के द्वारा धातु धातु से पुष्ट होती है।

स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणाञ्चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्त्तते ॥३९॥

तथा स्रोतसों के रुक जाने से तथा रक्तादि धातुओं के क्षीण होजाने से तथा धातुगत ऊष्मा के अपचय से राजयक्ष्मा प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य—(१८६) जिस प्रकार चतुर्विध आहार कोष्ठ में जाकर जाठराग्नि के द्वारा पाक को प्राप्त होकर उसके प्रसाद भाग से रसोत्पत्ति और किट्ट भाग से मलमूत्र उत्पन्न करता है। फिर वह रस अपनी ऊष्मा से पाक को प्राप्त होकर प्रसादांश से रक्त, रक्त अपनी ऊष्मा से पाक को प्राप्त होकर प्रसादांश से मांस बनता है। रस से रक्त का निर्माण रसस्थ अग्नि के द्वारा रसधातु के पाक से होता है। यह रस अपने ही (रसवाही) स्रोतसों द्वारा चलकर रक्तरूप में परिपक्व होता है। रक्त रक्तवाही स्रोतसों द्वारा चलकर रक्तस्थ ऊष्मा से पक कर मांस में परिणत होता है। मांस मांसाग्नि से पक-कर मांसवाही स्रोतसों द्वारा मेदोधातु में परिणत होता है। मेदोधातु अपनी ऊष्मा से पक मेदोवह स्रोतसों द्वारा अस्थि में परिणत होजाता है। अस्थि अपनी अग्नि द्वारा पकती है और अस्थिवाही स्रोतस् उसे मज्जा बना डालते हैं। मज्जा अपनी धात्वग्नि द्वारा पककर मज्जावाही स्रोतसों द्वारा शुक्र बन जाती है।

परन्तु यक्ष्मा में वैसा नहीं होता। यहां धातुक्षय किस प्रकार का होता है उसे चित्रित किया गया है। आहाररस केदारीकुल्यान्याय से रस-रक्त-मांस-मेदस्-अस्थि-मज्जा तथा शुक्र इन सात धातुओं में रसवाही स्रोतसों द्वारा युगपत् जाता है। रस से रक्त को जाने वाले स्रोतस् में अवरोध उत्पन्न होने पर रस रसाग्नि द्वारा रक्त में परिणत होकर नहीं बढ़ा अपितु स्रोतस् के रोध से रक्त निर्माण का कार्य रुक गया। रक्त का जो पोषण रस करता था वह रुक गया। अतः रक्त का क्षय होने लग गया। इसी प्रकार रसवाही स्रोतस् जब मांस धातु में जाते जाते रुक जाते हैं तो मांस का क्षय होने लगता है। इसी प्रकार मेदोक्षय, अस्थिक्षय, मज्जक्षय और शुक्रक्षय तक की अवस्था आजाती है।

स्रोतों का निरोध जहां धातुक्षय कर सकता है वहां रक्तादि धातु की क्षीणता भी धातुक्षय कर सकती है। जब रसधातु स्वयं अल्प है तो रक्तक्षय का कारण बन सकती है।

इसी प्रकार स्रोतस् ठीक हों, धातु का साधारण क्षय न हो पर यदि धातु को परिपक्व करने वाली ऊष्मा की कमी हो तो भी रस से रक्त, रक्त से मांस और इसी प्रकार अन्य धातुओं की पुष्टि होने से रह जाती है। और धातूष्मा के अपचय से भी धातुक्षय को भी सहारा मिलता है। किसी भी प्रकार का धातुक्षय अर्थात् यक्ष्मा का आरम्भ मान लेना चाहिए।

तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्।
मलीभवति तत् प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे ॥४०॥
तस्मात्पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः।
सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥४१॥

उस काल में जाठराग्नि कोष्ठ स्थित जिस अन्न को पकाती है वह प्रायः मल रूप होजाता है। और उसका थोड़ा सा (प्रसाद भाग) ओजरूप बनता है। इस कारण से राजयक्ष्मी के मल का विशेष रूप से संरक्षण करना चाहिए। क्योंकि सब धातुओं के क्षय से पीड़ित (व्यक्ति का) पुरीष बल ही उसका बल है।

वक्तव्य—(१८७) जिस पुष्ट आधार पर राजयक्ष्मा सम्प्राप्ति को आचार्य ने स्थापित किया है उससे पहचान लिया होगा कि धातु की अपनी ऊष्मा से परिपक्व अपने ही स्रोतस् से चले हुए धातु से दूसरी धातु तैयार होती है। पर जब स्रोतोरोध, धातुक्षीणता अथवा धातूष्मा का अपचय होजाता है तो धातु से प्रसादांश का निर्माण बहुत ही कम रह जाता है। प्रसादांश की कमी होने से धातु का किट्टांश बढ़ता है। जब रसधातु का गमन ही बाधा से होकर गुजर रहा हो तो उसका प्रसादांश तो जो बनेगा सो बनेगा ही पर अधिकांश रसधातु तो किट्टरूप पुरीष बन कर रह जायगी। मलाधिक्य इसी कारण से यक्ष्मा में अधिक मात्रा में देखा जाता है। मलभूत सर्व धातुओं की स्थिति को देखकर सहसा उसका निकाल देना भी खतरे से खाली नहीं है। इसी दृष्टि से पुरीष या विड्बल को यक्ष्मा के रोगियों के लिये वास्तविक बल विड्बल ही होता है।

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्त्तते ॥४२॥
जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः।
येषां सङ्घातयोगेन राजयक्ष्मेति कल्प्यते ॥४३॥

स्रोतों में रुक जाने पर अपने स्थान में स्थित रस बढ़ता है वह कासवेग से बहुरूपवाला होकर ऊपर की ओर प्रवृत्त होता है। इसके पश्चात् छै अथवा ग्यारह व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। जिनके एकत्र संघात (समूह) के होने पर वह राजयक्ष्मा इस नाम से कहा जाता है।

वक्तव्य—(१८८) ऊपर राजयक्ष्मा में खांसी या कास की उत्पत्ति कैसे होती है इसका विचार किया गया है। रसधातु ही संचय को प्राप्त होकर ऊर्ध्व गति लेकर कास का रूप धारण करता है ऐसा आचार्य का मत है। साथ ही स्वस्थानस्थरस ही यक्ष्मा के ६ या ११ रूपों में प्रगट होता है ऐसा भी माना जासकता है। रक्तभावगामी स्रोतस् के अवरोध के कारण रस स्वस्थान में ही बढ़कर रक्तपथ पर न जाकर एक ओर जहां रक्तक्षय बनावेगा वहां दूसरी ओर कासोत्पत्ति भी करेगा।

कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा।
छर्दनं रक्तकफयोः श्वासवर्च्चो गदोऽरुचिः ॥४४॥
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मणः षडिमानि तु।
कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्च्चोगदोऽरुचिः ॥४५॥

कास, अंसताप, विस्वरता, ज्वर, पार्श्वशूल, शिरःशूल, रक्तवमन, कफवमन, श्वास, मलभेद, अरुचि ये ग्यारह अथवा कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वरभेद, मलभेद तथा अरुचि ये छै यक्ष्मा के रूप हैं।

सर्वैरर्द्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥४६॥

मांस और बल के क्षीण होने पर सब (ग्यारह भी संघात योग से) आधों (छै के संघात योग से) अथवा तीन से भी रोगी वर्ज्य है पर इससे अन्यथा होने पर (अर्थात् बल और मांस क्षीण न होने पर) रोगी चिकित्स्य है चाहे उसे सब ग्यारह रूप ही क्यों न हों।

प्रतिश्याय से यक्ष्मा

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा।
मारुताध्मातशिरसो मारुतंश्यायते प्रति ॥४७॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षणः।
तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः ॥४८॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिक्लमः।
इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा चातः प्रजायते ॥४९॥

वात से पूर्ण शिर वाले रोगी के नासामूल में स्थित कफ, रक्त, या पित्त वायु के प्रति गमन करता है। इस कारण देह को कृश करने वाला घोर प्रतिश्याय उत्पन्न होजाता है। शिरःशूल, गुरुता, क्लेद से नासापुटकों का भर जाना, ज्वर, कास, कफ की वमन, स्वरभेद, अरुचि, क्लम, और

इन्द्रियों की असमर्थता उसके रूप (होता है) । अतः इनसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—(१८९) शिर में वात की व्याप्ति और घ्राण मूल में कफ, रक्त, पित्त की सञ्चिति के कारण प्रतिश्याय बनता है। जिसका स्वरूप घोर रहता है। उसके ग्यारह लक्षण ऊपर दे दिए हैं उसीसे आगे चलकर यक्ष्मा बन जाता है।

कास से यक्ष्मा

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीलकम् ।
कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥५०॥

खांसता हुआ राजयक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति पिच्छिल, गाढा, आमगन्धि, हरा, सफेदपीला कफ-युक्त रस को थूकता है ।

यक्ष्मा के तीन रूप

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५१॥

अंसों तथा पार्श्वों में जलन, हाथ पैरों में दाह, सम्पूर्ण शरीर में ज्वर ये राजयक्ष्मा के लक्षण हैं।

स्वरभेद

वातात् पित्तात् कफात् रक्तात् कासवेगात् सपीनसात् ।
स्वरभेदो भवेद्वाताद्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥५२॥
तालुकण्ठ परिप्लोषः पित्ताद्वक्तुमसूयते ।
कफाद्भेदो विवद्धश्च स्वर खुरखुरायते ॥५३॥
सन्नो रक्तविवद्धत्वात् स्वरः: कृच्छात् प्रवर्तते ।
कासातिवेगात् करुणः पीनसात्कफवातिकः ॥५४॥

वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, कासवेग से, प्रतिश्याय से स्वरभेद होजाता है। वात के कारण स्वर रूक्ष, दुर्बल और अस्थिर होता है। पित्त से (होने वाले स्वरभेद में) तालु और कण्ठ का दाह और बोलने में अनिच्छा होती है। कफ से (उत्पन्न स्वर-भेद में) कफ से बँधा हुआ खुरखुर करता हुआ स्वर होता है। रक्त से विवद्ध होने के कारण सन्न (दुर्बल) स्वर कठिनता से निकलता है। कास के अत्यन्त वेगवान् रहने से करुण स्वर (हो जाता है)। तथा प्रतिश्याय से उत्पन्न स्वरभेद कफ वात जन्य लक्षण से युक्त होता है।

पार्श्वशूल तथा शिरःशूल

पार्श्वशूलं त्वनियतं सङ्कोचायाम लक्षणम् ।
शिरःशूलं ससन्तापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम् ॥५५॥

राजयक्ष्मी का पार्श्वशूल संकोच और आयाम (इन श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया वाले) लक्षण से युक्त और अनियत स्वरूप का होता है। शिरःशूल सन्ताप और गौरव से युक्त होता है।

कण्ठ से रक्तागम

अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात् ।
कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसञ्चितः ॥५६॥
रक्तं विवद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते ।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात् कण्ठमेति च ॥५७॥

यक्ष्मी के शरीर में शैथिल्य व्याप्त होजाने पर, विषमाशन के कारण कण्ठ से रक्त तथा उत्क्लेश के कारण सञ्चित कफ निकलता है। विवद्धमार्गवाला होने से रक्तमांसादि धातुओं में नहीं पहुंचता और आमाशय में स्थित रक्त बहुत होने से उत्क्लिष्ट होकर कण्ठ की ओर जाता है।

वक्तव्य—(१९०) कण्ठ में सञ्चित रक्त कण्ठ से और आमाशय में सञ्चित रक्त अन्नप्रणाली से निकल कर क्रमशः रक्तष्ठीवन तथा रक्तवमन कर देता है। यह होता है रक्तवाही स्रोतसों में विबन्ध होने से और उसका स्वाभाविक कर्म मांस का आप्यायन बन्द होने से है।

वातश्लेष्माविवद्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति ।
दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते ॥५८॥

वक्ष के वात और कफ के विबद्ध होने से श्वास को प्राप्त होता है। और दोषों के द्वारा नष्ट हुई अग्नि से वह पिच्छायुक्त अतीसार हो जाता है।

वक्तव्य—(१९१) यक्ष्मा में श्वास और अतीसार ये दोनों उपद्रव कैसे होते हैं इसे स्पष्ट करने के लिये ऊपर का श्लोक दिया गया है। वात तथा कफ दोनों मिलकर उच्छ्वास पथ में रोध उत्पन्न कर देते हैं- इसी अवरोध के कारण श्वास की गति बढ़ जाती है। जब दूषित दोष अग्नि का नाश कर देते हैं तो पाकक्रिया सम्यक्तया नहीं होने पाती और रोगी को अतीसार होजाता है।

अरुचि

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वा हृदय संश्रितैः ।
जायतेऽरुचिराहारेद्विष्टैरर्थैश्च मानसैः ॥५९॥
कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात् ।
वाताद्यैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात् ॥६०॥

जिह्वा के हृदय (जिह्वा के मस्तिष्क में स्थित केन्द्र) में स्थित वात पित्त कफ (इन) अलग अलग दोषों से अथवा तीनों के मिलित रूप में स्थित होने से तथा द्विष्ट (अप्रिय) मानसिक विषयों के द्वारा (व्यक्ति को) आहार में अरुचि उत्पन्न होजाती है। (जिह्वा हृदय में वात पित्त कफ में से कोई भी विकृत रूप में अवस्थित होने पर) क्रम से कषाय, तिक्त, मधुर मुख का रस होजाने से वातादि अरुचि उत्पन्न होती है। मानसिक अरुचि विशिष्ट दोष के दर्शन से (उत्पन्न होती है) ।

वक्तव्य—(१६२) रुचि और अरुचि जीभ के कारण है। दोष जब जिह्वा के केन्द्र में बैठते हैं तो वात से कषाय-मुखता, पित्त से तिक्तमुखता और कफ से मधुरमुखता उत्पन्न कर देते हैं। मुख का इस प्रकार रस बिगड़ जाने से अरुचि उत्पन्न होजाती है। मानसिक अरुचि में भिन्न-भिन्न दोषों का अनुबन्ध रहता है। शोक और भय के कारण वातिक क्रोध से पैत्तिक तथा ग्लानि जन्य श्लैष्मिक अरुचि होगी।

वमन

अरोचकात् कासवेगाद् दोषोत्क्लेशाद् भयादपि ।
छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः ॥६१॥

अरुचि से, खांसी के वेग से, दोषों के उत्क्लेश से और भय से भी जो वमन उत्पन्न होती है वह अन्य विकारों का भी उपद्रव होती है। अर्थात् अरुचि, कासवेग, दोषोत्क्लेश भय के अतिरिक्त अन्य हिक्कादि लक्षणों से भी उत्पन्न होकर उपद्रव रूप में रहा करती है। वमन एक उपद्रव है जो यक्ष्मा में भी मिलता है।

यक्ष्मा की त्रिदोषता

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणान्तु बलाबलम् ।
परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥६२॥

सर्व (प्रकार की) यक्ष्मा त्रिदोषज (होती है) वैद्य अवस्थानुसार दोषों के बलाबल की परीक्षा करके शोषी (यक्ष्मी) का भले प्रकार उपचार करे।

यक्ष्मा साधारणोपचार

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये ।
पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणी शृणु ॥६३॥

प्रतिश्याय में, शिरःशूल में, कास में, स्वरभेद में तथा पार्श्वशूल में विविध साधारण चिकित्साकर्म (general treatment) सुनो।

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च ।
परिषेकावगाहांश्च पानकं वाट्यमेव च ॥६४॥
लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्स्नेहोपबृंहितान् ।
लावतित्तिरदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥६५॥
सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ।
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ।
तेन षड्विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ॥६६॥

(यक्ष्माज) प्रतिश्याय (तथा शेष पांच शिरःशूल, कास, श्वास, क्षय और पार्श्वशूल) में स्वेदन, अभ्यंग, धूम, आलेपन, परिषेक, अवगाह तथा पानक, (अथवा यावक), वाट्य (यवमण्ड) लावा, तीतर, मुर्गों और बतखों के लवण-अम्ल-कटु-उष्ण मांस रसों को तैयार करे। पिप्पली सहित, जौ सहित, कुलथी के साथ, सोंठ के साथ अनार और आमलों का स्वरस डालकर स्निग्ध बकरे के मांस का रस पिये उससे पीनसादि छै विकार नष्ट हो जाते हैं।

मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपसंस्कृतैः ।
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥६७॥
पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम् ।
धान्य नागरसिद्धंवा तामलक्याऽथवा शृतम् ।
पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥६८॥

मूलियों के अथवा कुलथियों के भले प्रकार बनाये गये यूषों से, जौ, गेहूँ, शालि अन्नों से सात्म्य के अनुसार उपचार करे। वारुणी का प्रसाद भाग अथवा पञ्चमूल से बना जल अथवा धनियां और सोंठ से सिद्ध

अथवा भूमिआमलकी औटाकर तैयार किये अथवा चारों पर्णिनियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) से औटे जल को पिये तथा (उसी जल से) अन्नों को पकावे।

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः ।
सङ्करस्वेद विधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥६९॥
स्वेदयेत् पत्रभङ्गेण शिरश्च परिषेचयेत् ।
बलागुडूचीमधुकश्रृतैर्वा वारिभिः सुखैः ॥७०॥
वस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ।
कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः ॥७१॥
औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम् ।
सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदे प्रयोजयेत् ॥७२॥
जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च ।
वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥७३॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाः सुसंस्कृताः ।
शस्यन्ते सचतुः स्नेहाः शिरः पार्श्वांसशूलिनाम् ॥७४॥

खिचड़ी, पूड़ी, उड़द-कुलथी-जौ की खीरों के द्वारा, सङ्करस्वेद की विधि से, कण्ठ-पार्श्व-वक्षस्थल तथा शिर का स्वेदन करे। और पत्रभङ्ग (पीस घिसकर वातहर पत्तों से द्रव बनाकर तैयार किये गये स्वरस) से सिर का परिषेक करे। अथवा बला, गिलोय मुलहठी से श्रृत सुखोदक से (सिर को परिषेक करे)। बकरा और मछलियों के सिरों से अथवा वातहर द्रव्यों से सिद्ध दुग्धों से कण्ठ, सिर तथा पार्श्व में नाडीस्वेद का प्रयोग करे।

अथवा औदक-आनूप जीवों के मांसों को पञ्चमूल क्वाथ को स्नेहयुक्त कांजी को नाडीस्वेद में प्रयोग करे। जीवन्ती, सोया, बला तथा मुलहठी का, वचा का वेशवार★ का, शालपर्णी (अथवा विदारीकन्द) का मूली का तथा औदक आनूप देशस्थ मांसों के चारों स्नेहों (तेल, घी, वसा, मज्जा) से युक्त सुसंस्कृत उपनाह (poultices) शिरःशूली, पार्श्वशूली तथा अंसशूलियों को हितकर होते हैं।

यक्ष्मा में लेप

शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगर चन्दने ।
आलेपनं स्यात् सघृतं शिरः पार्श्वांसशूलनुत् ॥७५॥

मुलहठी सहित, सोया, कूठ कड़ुआ, तगर और चन्दन (इनका) घृत के साथ लेप शिर-पार्श्व तथा अंसशूलनाशक है।

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम् ।
पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ॥७६॥
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा ।
शतावरी पयस्या च कतृणं मधुकं घृतम् ॥७७॥
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्त्तिताः ।
शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥७८॥

(१) बला, रास्ना, तिल, घी, मुलहठी, नीलकमल;
(२) गूगुल, देवदारु, चन्दन, केशर, घी;
(३) शालपर्णी, बला, विदारीकन्द, सहजन, पुनर्नवा, तथा;
(४) शतावर, क्षीरकाकोली, सुगन्धतृण, मुलहठी, घृत;

ये चार आधे आधे श्लोकों से (चार) प्रदेह बतलाये गये हैं

नाड़ी स्वेद

★अनस्थिपिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णामरीचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतः ॥
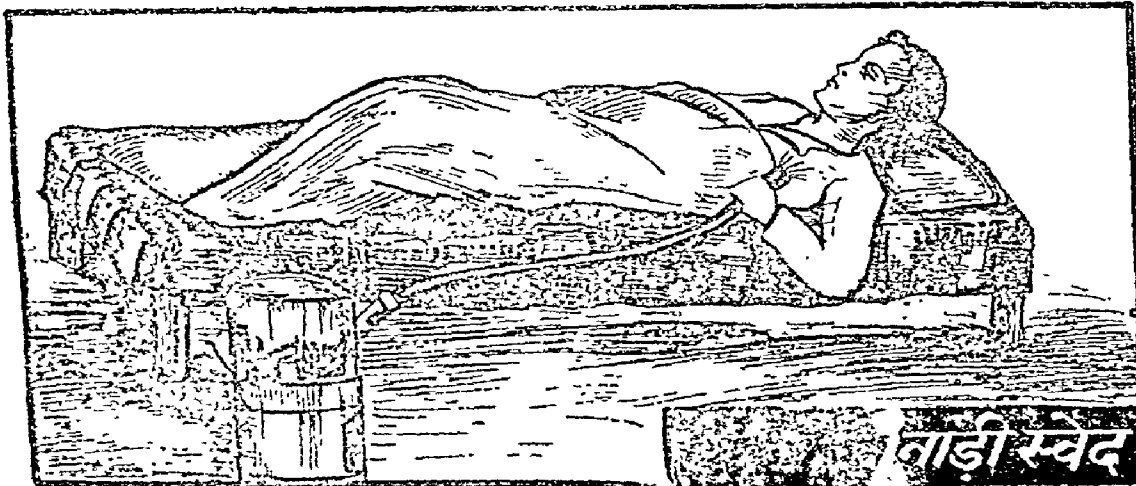
(जो) दोषयुक्त शिरःशूली तथा अंसशूलियों के लिए हितकर (होते हैं)।

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः।
तैलाभ्यङ्गयोगानि बस्तिकर्म तथा परम् ॥७९॥
शृङ्गालाबुज लौकाभिः प्रदुष्टं व्यधनेन च।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ॥८०॥

सिर, पसली और कन्धे की वेदनाओं में नस्य, धूमपान, भोजन के बाद स्नेहपान, तैल तथा अभ्यंग योग, तथा बस्तिकर्म श्रेष्ठ (होते हैं)। (दोषानुसार) सींगी, तुम्बी, जोंकों से अथवा शिरावेध से प्रदुष्ट हुआ रक्त उसका निर्हरण करना चाहिए।

प्रदेहः सघृतश्चेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः।
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ॥८१॥
प्रपौण्डरीकं निर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम्।
कशेरुकाः पयस्या च संसर्पिष्कं प्रलेपनम् ॥८२॥
चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा।
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ॥८३॥
माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिश्रुतेन वा।
परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनीक्रिया ॥८४॥

घृतसहित पदमाख, खस चन्दन से; अथवा घृत से मिश्रित दूब, मुलहठी, मजीठ, केशर से; घृतसहित पुण्डरीककाष्ठ, निर्गुण्डी, कमल, कसेरू, और क्षीरकाकोली का प्रलेप; चन्दनादि तैल से, शतधौत घृत से अभ्यङ्ग; दूध तथा मुलहठी के क्वाथ से सेक हितकर होता है। शीतल वर्षाजल से अथवा चन्दनादि द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक करना चाहिए। यह संशमनी क्रिया है।

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्षणम् ॥८५॥
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि।
अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ॥८६॥

दोषों की अधिकता वाले, स्नेहन स्वेदन कराये गये यक्ष्मा के रोगियों को जो कर्षण न करे ऐसा स्नेहयुक्त विरेचन सहित वमन प्रशस्त होता है।

(जबकि) शोषी मल के स्रंसन से भी (अपना) शरीर छोड़ देता है (फिर) बल बिना देखे दी गई विरेचन द्रव्य की मात्रा का क्या कहना है? अर्थात् वमन विरेचन के लिए प्रयुक्त औषध द्रव्यों की मात्रा रोगी के बलाबल को देखकर ही देना चाहिए। थोड़े भी मल का असावधानता से स्रंसन होने पर भी जहां क्षयी की मृत्यु की सम्भावना रहती है वहां मात्रा का विचार बहुत आवश्यक है।

योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत् ॥८७॥

संशुद्धकोष्ठी (क्षयरोगियों को) कास, श्वास, स्वरभेद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूलों में इन सिद्ध योगों को प्रयोग करना चाहिए।

बलाविदारिगन्धाद्यैविदार्या मधुकेन वा।
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात्स्वर्यमुत्तमम् ॥८८॥

बला, शालपर्णी आदि पञ्चमूल, विदारीकन्द से अथवा मुलहठी से सिद्ध सलवणघृत का नस्य उत्तम स्वर्य होता है।

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला।
क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम् ॥८९॥

पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, बड़ी कटेरी, बला, दुग्ध और घी इनसे सिद्ध (घृत) श्रेष्ठ स्वरदायक नस्य होता है।

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम्।
प्रयुज्यमानं बहुशो घृतं चौत्तरभक्तिकम् ॥९०॥

भोजन के बाद बहुत मात्रा में प्रयुक्त किया गया घी शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूलनाशक, कास तथा श्वास को दूर करने वाला होता है।

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च।
बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान् प्रबाधते ॥९१॥
भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्न्यभ्यवचारितम्।
रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम् ॥९२॥

दशमूल से, कफ से, तथा मांसरस से बलाकल्कयुक्त सिद्धघृत शीघ्र इन रोगों को बाधा पहुँचाता है यदि अग्नि का ठीक ठीक विचार करके खाने के ऊपर अथवा बीच में प्रयोग किया जावे। (इसी

प्रकार) दूध के साथ रास्नाघृत अथवा दूध के साथ बलाघृत (भी उसी प्रकार प्रयोग किया जाता है)।

लेहान् कासापहान् स्वर्यान् श्वासहिक्कानिवर्हणान् ।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु ॥९३॥

कासनाशक, स्वरवर्द्धक, श्वास-हिक्कानाशक, शिर-पार्श्व-अंसशूलघ्न अवलेहों को तथा स्नेहों को आगे सुन।

घृतं खर्ज्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम् ।
सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम् ॥९४॥

पिप्पलीसहित खजूर, मुनक्का, मिश्री शहद युक्त घी स्वरविकार, कास, श्वास तथा ज्वरनाशक (होता है)।

दशमूलादिघृत

दशमूलशृतात् क्षीरात् सर्पिर्यदुदियान्नवम् ।
सपिप्पलीकक्षौद्रं तत्परं स्वरविबोधनम् ॥९५॥
शिरः पार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम् ।
पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद्घृतम् ॥९६॥

दशमूल से पकाये दूध से निकले नया घी, अथवा पाँचों पञ्चमूलों के साथ पकाकर निकाले घी पीपल सहित मधु के साथ अत्यन्त स्वरबोधक शिर-पार्श्व-अंसशूलनाशक तथा कास-श्वास और ज्वर-हर होता है।

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकंवलम् ॥९७॥

पाँचों पंचमूलों का स्वरस, और चौगुने दूध में सिद्ध घी यक्ष्मा के सात रूप वाले बल को (अर्थात्–१–स्वरभेद २–शिरःशूल ३–पार्श्वशूल ५–कास ६–श्वास तथा ७–ज्वर को) जीत लेता है।

खर्ज्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृंगी दुरालभा ।
त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृंगाटगुडशर्कराः ॥९८॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करागुडः ।
नागरं चित्रको लाजाः पिप्पल्यामलकं गुडः ॥९९॥
श्लोकार्द्धविहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा ।
कास श्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा ॥१००॥

(१) खजूर, पीपल, दाख, हरड़, काकड़ासिंगी, दुरालभा;
(२) हरड़, बहेड़ा, आमला, मोथा, सिंघाड़ा, गुड, शक्कर;
(३) शालपर्णी, कचूर, पोकरमूल, तुलसी, शक्कर, गुड;
(४) सोंठ, चित्रक, खील, पीपल, आमलक, गुड, आधे श्लोकों से प्रगट इनको शहद और घी के साथ चाटने से वे (क्रमशः) कास, श्वास, स्वरभेद तथा पार्श्वशूल का नाश करते हैं।

सितोपलादिचूर्ण तथा लेह

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम् ।
अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा ॥१०१॥
चूर्णितं प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम् ।
सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ॥१०२॥

मिश्री, वंशलोचन, पिप्पली, इलायची, दालचीनी अन्त्य (अन्तिमत्वक्-दालचीनी) से प्रथम (सितोपला) तक (प्रत्येक) दो गुना (अर्थात् दालचीनी से २ गुना बहुला, बहुला से २ गुना दालचीनी से ४ गुना पिप्पली, पिप्पली से दो गुना वंशलोचन, वंशलोचन से दोगुनी मिश्री। तात्पर्य यह कि एक भाग दालचीनी दो भाग इलायची, चार भाग पिप्पली, आठ भाग वंशलोचन, १६ भाग मिश्री) लेकर उनके चूर्ण को (कपड़छान करके) श्वास, कास, कफ से पीडित, जिह्वा जिसकी सुप्त होगई है, अरुचि वाले, मन्दाग्नि से पीडित तथा पार्श्वशूली को चटावे अथवा खिलावे।

वक्तव्य—(१६३) चरक का यह योग सम्पूर्ण भारत वर्ष में व्याप्त है। मिश्री वंशलोचन पीपल इलायची और दालचीनी के द्वारा बना हुआ चूर्ण हिन्दू भारत का कोई ही ऐसा भाग होगा जहां यह न पहुंचा हो तथा कोई ही ऐसा व्यक्ति होगा जिसने इसे सेवन न किया हो। इसके घटक निश्चित हैं। पर कोई कोई मिश्री का अर्थ चीनी करने लगे हैं। वास्तव में सित उपल सफेद ढेले बनी हुई मिश्री ही सितोपला कहलाती है। चीनी जो मिलों से निकलती है

सितोपला नहीं है। वंशलोचन अपने देश में जितना आता है उसका अधिकांश इसी चूर्ण के बनाने में प्रयुक्त होता है। यह कैल्शियम (calcium) का सेन्द्रिय संयोग है जो सरलतया पचता है तथा टीबी के पैच में चूर्णीभरण में सहायता करता है। पिप्पली प्रसिद्ध अग्निमान्द्यनाशक तत्व प्रदान करती है। इलायची और दालचीनी फेफड़ों के शोधन में सहायक बनती हैं तथा सर्वाङ्गीण विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि योग सादा होते हुए भी बड़े मार्के का है। ज्वर श्वास कास जिह्वा रोग अरुचि को नष्ट करने में बहुत महत्व का सिद्ध हुआ है। इसके सुधार के सम्बन्ध में तथा अन्य इसका विशेष उपयोग जानने के लिए राजकीय ओषधि योग संग्रह (चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय काशी) का अध्ययन करना चाहिए।

हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्द्ध्वगे।
वासाघृतं शतावर्य्या सिद्धं वा परमं हिमम् ॥१०३॥

हाथ-पैर तथा अङ्गदाह में, ज्वर में तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में शतावरी से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा (रक्तपित्त चिकित्सा में कथित) वासा-घृत अत्यन्त हितकर (होता है)।

दुरालभादिघृत

दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम्।
भागान्पलोन्मितान्कृत्वा पलं पर्पटकस्य च ॥१०४॥
पचेद्दशगुणे तोये दशभागावशेषिते।
रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान् समावपेत् ॥१०५॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पली त्रायमाणयोः।
तामलक्याः किरातानां तिक्तस्य कुटजस्य च ॥१०६॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान् कर्षसंमितान्।
ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥१०७॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम्।
तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिर्व्यपोहति ॥१०८॥

दुरालभा, गोखुरू, तथा चारों पर्णियां (शालपर्णी, पृश्निपर्णी,मुद्गपर्णी,माषपर्णी), बला (प्रत्येक के) पल बराबर भागों को लेकर तथा पित्तपापड़े का भी एक पल (लेकर) दस गुने (द्रव द्वैगुण्य से २० गुने) जल में पकावे दसवां भाग शेष रहने पर छाने हुए उस क्वाथ में इन द्रव्यों के कल्कों को डालदे—एक एक कर्ष कचूर का, पुष्करमूल का, पिप्पली और त्रायमाण दोनों का भुईंआमलकी का, चिराइते का, कुटज के बीजों का और सारिवा का। उसके बाद उससे एक प्रस्थ घृत, दोगुना दूध (डालकर) पकावे।

ज्वर, दाह, भ्रम, कास, अंसशूल, शिरःशूल, पार्श्व-शूल, प्यास, वमन, अतिसार को यह घृत नष्ट करता है।

जीवन्त्यादिघृत

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च।
शटीं पुष्करमूलञ्च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥१०९॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्।
पिप्पलीञ्च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत् ॥११०॥
एतद्व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम्
रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति ॥१११॥

जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का तथा इन्द्रजौ, कचूर, पोकरमूल, तथा कटेरी, गोखुरू, बला, नीलोफर, भूमिआमलकी, त्रायमाण, दुरालभा तथा पिप्पली, बराबर भाग पीसकर (कल्क बनाकर कल्क से चार गुना घृत और घृत से चारगुना जल डालकर) वैद्य घृतपाक करे। यह श्रेष्ठ घृत रोगसमूहरूप. रोगेश यक्ष्मा से उत्पन्न ग्यारह प्रकार के लक्षणों को नष्ट कर देता है।

बलादिक्षीर

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम्।
साधयित्वा रसे तस्मिन् पयोगव्यं सनागरम् ॥११२॥
द्राक्षा खर्ज्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह।
सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्य्यञ्चैतत् प्रयोजयेत् ॥११३॥

(समभाग) बला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी के साथ (अठगुने जल को) पकाकर (चतुर्थांश शेष रहने पर) उस रस में शुण्ठीसहित मुनक्का खजूर घृत तथा पिप्पली के साथ पकाया गोदुग्ध मधुसहित प्रयोग में लावे। यह ज्वर कास-नाशक और स्वर्य्य (होता है)।

आजस्य पयसश्चैवं प्रयोगो जांगला रसाः ।
यूषार्थं चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः ॥११४॥
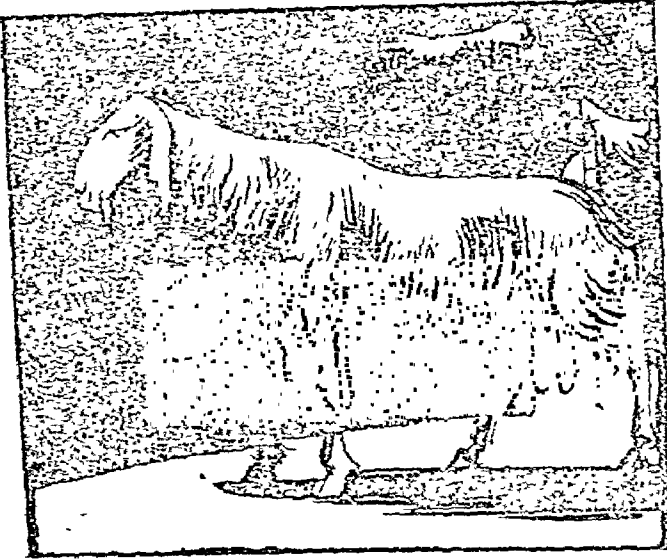
इसी प्रकार बकरी के दूध का प्रयोग (है)। (तथा) जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस चना, मूंग, मोंठ यूष के लिए उपयोग में लानी चाहिए।

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्व्वमुक्तः क्रियाविधिः ।
यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते ॥११५॥

ज्वरितों की शमनीय जो पूर्वोक्त चिकित्साविधि (है) वह घृतयुक्त होने पर यक्ष्मियों के ज्वर तथा दाहों में प्रशस्त कही जाती है।

कफप्रसेकचिकित्सा

कफप्रसेके बलवान् श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः ।
पयसा फलयुक्तेन माधुकेन रसेन वा ॥११६॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वामनीयोपसिद्धया ।
वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम् ॥११७॥
यवगोधूममाध्वीक शीध्वरिष्टसुरासवान् ।
जांगलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत् ॥११८॥
श्लेष्मणोऽतिप्रसेके तु वायुः श्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णेनैव निर्ज्जयेत् ॥११९॥

कफप्रसेक में बलवान् श्लैष्मिक पुरुष मदनफल युक्त दूध से अथवा मुलहठी के क्वाथ से अथवा वमनीय द्रव्य से सिद्ध की हुई घृतयुक्त यवागू से वमन करे। वान्त (वमन किया वह रोगी) अन्न के समय पर दीपन औषधयुक्त लघु अन्न लेवे। जौ, गेहूँ, माध्वीक, सीधु, अरिष्ट, सुरा, आसवों को, जांगल पशु-पक्षियों के मांस के शूल्य सेवन करता हुआ (व्यक्ति) कफ को जीते। श्लेष्मा के अति प्रसेक से वायु श्लेष्मा को बाहर फेंकता है उस कफप्रसेक को विद्वान् वैद्य स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यों से ही जीते।

वमनचिकित्सा

क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते ।
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥

जो चिकित्सा कफप्रसेक में वही वमन में प्रशस्त होती है। (साथ ही) हृद्य, वातघ्न तथा लघु अन्न-पान (भी हितकर होते हैं)।

अतिसारचिकित्सा

प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते ।
प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ॥१२०
तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिवर्हणान् ।
वक्त्रशुद्धिकरान् कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान् ॥१२१
सनागरानिन्द्रयवान् पाययेत्तण्डुलाम्बुना ।
सिद्धां यवागूं जीर्णे च चांगेरीतक्रदाडिमैः ॥१२२
पाठां विल्वं यमानीञ्च पातव्यं तक्रसंयुतम् ।
दुरालभा शृंगवेरं पाठा च सुरया सह ॥१२३
जम्ब्वाम्रमध्यं विल्वं च सकपित्थं सनागरम् ।
पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये ॥१२४
एतानेव च योगांस्त्रीन् पाठादीन् कारयेत् खडान् ।
सक्षुण्यधान्यान्सस्नेहान् साम्लान्संग्रहणान् परम् ॥१२५।
वेतसार्जुनजम्बूनां मृणाली कृष्णगन्धयोः ।
श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ॥१२६।
मातुलुंगस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत् ।
स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान्सांग्राहिकान् परम् ॥१२७॥
चांगेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत् ।
खडान्दधिसरोपेतान् ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ॥१२८॥
मांसानां लघुपाकानां रसाः सांग्राहिकैर्युताः ।
व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ॥१२९॥
स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम् ।

तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः।
इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥१३०॥

प्रायः अग्नि के नष्ट होने से पिच्छिल (slimy) अतीसार को (यक्ष्मा का रोगी) प्राप्त होता है। और (वह) मुख की विरसता प्राप्त करता है और न वह अन्न की इच्छा करता है। उसकी अग्नि प्रदीपन करने वाले अतीसारनाशक, मुखशुद्धिकर तथा अरुचि नष्ट करने वाले योगों को प्रयोग करे।

सोंठ के साथ इन्द्रयवों को तण्डुलोदक के साथ पिलावे। (उसके) जीर्ण होने पर, चांगेरी, तक्र तथा अनारों से सिद्ध यवागू पिलावे।

पाठा, बेलगिरी, अजवाइन, मट्ठा मिलाकर पीना चाहिए। दुरालभा, अदरख और पाठा सुरा के साथ (पिये)।

जम्ब्वादि चूर्ण—जामुन और आम के मध्यभाग (की गुठली) को; बेलगिरी, कैथ, सोंठ पेया के मण्ड के साथ अतीसार को नष्ट करने के लिए पीना चाहिए।

इन तीन पाठादि योगों से दाल के उपयोगी धान्यों के सहित स्नेहयुक्त, खटाई वाले और अत्यन्त संग्राहक खडों को बनावे।

वेतस, अर्जुन, जामुन, मृणाली (लामज्जक); सहंजन, गम्भारी, नदयन्ती (नवमल्लिका), जूही, बिजौरा, धाय और अनार के पत्तों को स्नेह, अम्ल, लवण से युक्त करके परम सांग्राहिक खण्डों को बनावे।

चांगेरी, इमली और दुद्धी इनसे अलग-अलग दही की मलाई घृत तथा अनार के रस से युक्त करके खड्डी तैयार करे।

व्यञ्जन के लिए लघुपाकी मांसरस संग्रहकारक द्रव्यों से युक्त प्रशस्त होते हैं। इसी प्रकार खाने के लिए लाल शालि चावल (का भात) (उत्तम है)।

पान—शालपर्णी आदि (पृश्निपर्णी बड़ी कटेरी छोटी कटेरी और गोखुरू) से क्वथित जल पीने में प्रशस्त है। मट्ठा, सुरा, इमली, अनार का रस इस प्रकार यह फटे मल वालों की दीपन तथा ग्राही ओषधि है।

अरोचकचिकित्सा

परं मुखस्य वैरस्य नाशनं रोचनं शृणु।
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्।
तद्वत् प्रक्षालयेदास्यं धारयेत् कवलग्रहान् ॥१३१॥
पिबेद्धूमं ततो मृष्टमद्याद्दीपनपाचनम्।
भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ॥१३२॥
त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम्।
दार्वी त्वचो यवानी च तेजोह्वा पिप्पली तथा ॥१३३॥
यमानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः।
श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ॥१३४॥
गुटिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम्।
एषामालोडितानां वा धारयेत् कवलग्रहान् ॥१३५॥
सुरामाध्वीकसीधूनां तैलस्य मधुसर्पिषो।
कवलान् धारयेदिष्टान् क्षीरस्येक्षुरसस्य च ॥१३६॥

अब आगे मुख की विरसता के नाशक (तथा) रोचक (योगों) को सुन।

दोनों समय (प्रातः सायं) मुखशोधक दातौन करे, उसी प्रकार मुख का प्रक्षालन करे (तथा) कवलग्रह धारण करे।

उसके उपरान्त धूम पिये। मृष्ट (स्वादिष्ट) दीपन पाचन, हितकारक बनाये गये औषध योग, तथा अन्न सेवन करे।

(१) दालचीनी, मोथा, इलायची, धनियाँ (२) मोथा, आमले, दालचीनी (३) दारुहल्दी, दालचीनी, अजवायन तथा (४) तेजबल तथा पिप्पली और (५) अजवायन और तिंतिडीक श्लोक के पाद से बतलाये गये रोचक मुखशोधक, ये पांच मुखधावक (योग हैं)।

इन (पांचों योगों में से किसी) की गुटिका को मुख में धारण करे अथवा चूर्ण से मुखशोधन करे अथवा (जल में) आलोडित किये गये इनके कवलग्रह धारण करे।

सुरा, माध्वीक, सीधु, तैल, शहद और घी, दूध तथा गन्ने के रस के अभीष्ट कवलों को धारण करे।

यमानीषाडव

यमानीं तिन्तिडीकञ्च नागरं साम्लवेतसम्।
दाडिमं बदरञ्चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ॥१३७॥
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गञ्चार्द्ध कार्षिकम्।
पिप्पलीनां शतैकञ्च द्वे शते मरिचस्य च ॥१३८॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत्।
जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ॥१३९॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम्।
कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥१४०॥
(इति यमानीषाडवम्।)

अजवाइन, तिन्तिडीक, सोंठ, अम्लवेंतीसहित अनार, खट्टे बेर (एक एक) कर्ष लेवे। धनियां, कालानमक, सफेद जीरा, तथा दालचीनी आधा-आधा कर्ष, पिप्पली १०० तथा कालीमरिच २०० तथा शर्करा के चार पल एकत्र चूर्ण करे। वह चूर्ण जीभ को शुद्ध करने वाला, हृद्य, भोजन में रुचि बढ़ाने वाला, हृदय-प्लीहा-पार्श्व के शूल का नाशक, विबन्ध आनाहनाशक, कास-श्वासहर, ग्राही (astringent), ग्रहणी (तथा) अर्श के विकार का नाशक (होता है)। (यह यमानीषाडव-है।)

तालीसादिचूर्ण

तालीशपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा।
यथोत्तरं भागवृद्धया त्वगेले चार्द्धभागिके ॥१४१॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा।
कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम् ॥१४२॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम्।
वम्यतीसारशूलघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥१४३॥
(इति तालीसाद्यचूर्णम्।)

तालीसपत्र, कालीमरिच, सोंठ, पीपल, वंशलोचन, एक दूसरे से एक भाग बढ़ाकर, दालचीनी (और) इलाइची आधा आधा भाग और पिप्पली से अठगुनी सफेद मिश्री मिलावे। वह चूर्ण कास-श्वास अरुचि को हरने वाला अत्यन्त दीपन, हृदयपाण्डु, ग्रहणीदोष शोष प्लीहोदर और ज्वर का नाशक, वमन, अतीसार, उदरशूलनाशक (तथा) मूढ़वात (चक्रपाणि के मत से ऊर्ध्ववात) का अवलोमन करने वाला (होता है)।

(यह तालीसादिचूर्ण-है।)

वक्तव्य—(१६४) तालीसादिचूर्ण में पिप्पलीशुभा से श्रेष्ठ पिप्पली ऐसा अर्थ अनुचित है। शुभा से वंशलोचन अभिप्रेत है। इसके निर्माण में दालचीनी आधा भाग, इलाइची आधा भाग, तालीसपत्र १ भाग, मिर्चकाली २ भाग, सोंठ ३ भाग, पीपल ४ भाग, वंशलोचन ५ भाग, सफेद शक्कर पीपल से आठगुनी ३२ भाग लेना चाहिए।

कल्पयेद्गुटिकां चैव चूर्णं पक्त्वा सितोपलैः।
गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः ॥१४४॥

चूर्ण को मिश्री में पकाकर तालीसादि गुटिका बनावे क्योंकि अग्नि के संयोग से गुटिकाचूर्ण की अपेक्षा अधिक हलकी मानी जाती हैं।

यक्ष्मोपयोगी मांस

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ॥१४५॥
शोषिणे बार्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान्।
गृध्रानुलूकांश्चापांश्च विधिवत् सूपकल्पितान् ॥१४६॥
काकांस्तित्तिरशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान्।
भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद्गण्डूपदानपि ॥१४७॥
लोपाकान् स्थूलनकुलान् विडालांश्चोपकल्पितान्।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥१४८॥
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवं विधांस्तथा।
मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥१४९॥
गजखड्गितुरंगाणां वेशवारीकृतं भिषक्।
दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये ॥१५०॥
मांसेनोपचितांगानां मांसं मांसकरं परम्।
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम् ॥१५१॥

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् ।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि ॥१५२॥
जानन् जुगुप्सां नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् ।
तस्मात् छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥१५३॥
बर्हितित्तिरदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः ।
खरगोमहिषाणाञ्च मांसं मांसकरं परम् ॥१५४॥
योनिरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके ।
तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मांसानि शोषिणे ॥१५५॥
प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ।
आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ॥१५६॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः ।
कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ॥१५७॥
विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ॥१५८॥

मांसाहार के विधान का ज्ञाता वैद्य शोष से सूखते हुए क्षीण मांस वाले (दुर्बल) रोगियों को भले प्रकार बनाये गये बृंहण मांसभोजी जीवों के मांस विशेषतया देवे ।
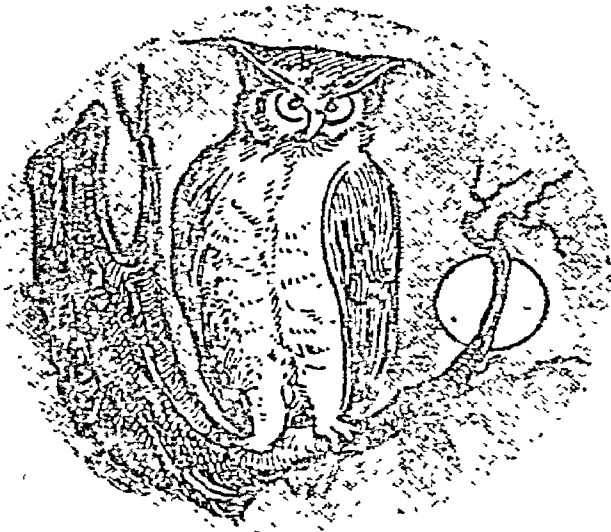
शोषी को मोर का मांस और विधि-पूर्वक अच्छी प्रकार बनाये गये दूसरे गिद्ध, उल्लू, और चाष (blue jays) के मांसों को भी मोर के नाम से देवे ।

कौओं को तीतर नाम से, सांपों के मांस को वर्मि (बड़ी मछली) के नाम से, तथा भुने हुए गेंडुओं को मत्स्य की आंतों के शब्द से देवे ।

वैद्य लोमड़ियों को मोटे न्यौलों को बिल्लियों को गीदड़ के बच्चों को खरगोश के नाम से प्रदान करे ।

मांस की वृद्धि के लिये सिंह, रीछ, लकड़भग्गा तथा व्याघ्रों को उसी प्रकार के अन्य मांसभोजी जीवों के मांस को मृग के नाम से देवे ।

हाथी, गेंडा, घोड़ों के वेशवार से संस्कृत मांस को मांस की वृद्धि के लिये वैद्य भैंसे के नाम से दे ।

विशेष करके मांस से उपचित अंगवाले पशु-पक्षियों का मांस अत्यन्त मांसकारक, तीक्ष्ण, उष्ण हलका और प्रशस्त (होता है) ।

अभ्यास न होने के कारण जिन अप्रिय मांसों को प्रयोग में लाया जावे उनमें उपधा (छल करना चाहिए) । ताकि वे उनको सुखपूर्वक खाये जासकें ।

जानता हुआ रोगी घृणा करके (उन्हें) नहीं ही खावे और खाये हुए को वमन करदे इससे छद्मपूर्वक पकाकर इन मांसों को देना चाहिए ।

मोर-तीतर-मुर्गों का, हंसों का, शूकर और ऊँट दोनों का गधा-बैल-भैंसे का मांस परम मांस-वर्द्धक (होता है) ।

अन्नपानादिकाध्याय में मांसों की अष्टविध योनि कही गई है उसको परीक्षण करके विद्वान् वैद्य शोषी को मांसों को देवे ।

वातप्रधान शोषी को प्रसह, भूशय, आनूप, जलीय और जलचारी जीवों के मांस आहार के लिए मात्रापूर्वक देने चाहिए ।

रक्तपित्त से पीडित शोष रोगियों के प्रयोग में प्रतुद, विष्किर, जाङ्गलदेशोत्पन्न पशु-पक्षी आने चाहिए ।

विधिपूर्वक, भलेप्रकार सिद्ध किये, मनोज्ञ, मृदु, रसवन्त, सुगंधित इन मांसों को (रोगी) भक्षण करे ।

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि वा ।
नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥१५९॥

केवल मांसभक्षण करने वाले और माध्वीक (मधु से बनी शराब) भी पीने वाले संयमी उदार चित्त के शरीर में शोषरोग चिरकाल तक नहीं ठहरता है ।

यक्ष्मा में प्रशस्त मद्य

वारुणीमण्डनित्यस्य वहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभते वलम् ॥१६०॥
प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिवेन्मांसानि भक्षयन् ॥१६१॥
मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसांमुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात सप्तधातवः ।
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ॥१६२॥

वारुणी के मण्ड को नित्य पीने वाले, बाह्य-शुद्धि का ध्यान रखने वाले, वेग न धारण करने वाले को यक्ष्मा बल प्राप्त नहीं करती है।

मां[illegible]क्षण करता हुआ अनुपान के लिए यथा-योग्य [illegible]न्न, वारुणी, अरिष्ट, सीधु, आसव और [illegible] पिये।

[illegible] तीक्ष्णता, उष्णता, विशदता, सूक्ष्मता के [illegible] स्रोतों के मुख का मन्थन करके (उनको) शीघ्र खोल देती है उनके खुलने से सातों धातुएँ पुष्ट होती हैं और धातुपोष के कारण धातुशोष शीघ्र शान्त होजाता है।

वक्तव्य—(१६५) यक्ष्मा में मद्य का उपयोग क्यों लाभदायक है इसे समझने के लिए हमें स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते के वक्तव्य संख्या १८६ को देखना पड़ेगा। यक्ष्मा में धातुक्षय का कारण है धातु की धात्वग्नि का शान्त होना तथा एक दूसरी धातु तक गमन के मार्गों का अवरोध। मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, विशद और सूक्ष्म इन चार गुणों के कारण स्रोतों के मुखों को खोलने में समर्थ होती है स्रोतों का अवरोध दूर होने से एक धातु से दूसरे धातु तक गमनागमन की कठिनाई दूर होने से धातु से धातु के पोषण की क्रिया पुनः चालू होजाती है और शोष पोष में बदल जाता है।

यक्ष्मानाशक कुछ बृंहण योग

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ।
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ॥१६३॥
सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायकः ।
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम् ॥१६४॥

मांसभक्षी जीवों के मांसरस में सिद्ध घी, अथवा मधु सहित दस गुने दूध से सिद्ध घी प्रयोग करे। मधुर द्रव्यों के साथ दूध और मांसरस से युक्त और दशमूलकषाय से सिद्ध घृत परम शोष-हर (होता है)।

पञ्चकोलादिघृत

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम् ॥१६५॥

जवाखार और दूध के साथ पिप्पली, पिप्पली-मूल, चव्य, चित्रक (और) सोंठ से (कल्प विज्ञाना-नुसार चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण द्रव डालकर सिद्ध किया गया) घी स्रोतों का शोधन (करता है)।

रास्नादिचूर्ण

रास्नावलागोक्षुरकं स्थिरावर्षाभूसाधितम् ।
जीवन्ती पिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद् घृतम् ॥१५६॥

बाइसुरई, खरैटी, गोखुरू, शालपर्णी, पुनर्नवा से साधित क्वाथ,जीवन्ती तथा पिप्पली (के कल्क से) दूध के साथ (विधिपूर्वक सिद्ध किया गया) घृत शोषनाशक (होता है)।

यवाग्वा वा पिवेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुनासह ।
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह ।
शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः ॥१६६॥

इन सिद्ध घृतों की मात्रा यवागू के साथ पिये अथवा मधु के साथ चाटे अथवा अन्न के साथ खावे। शोषियों की यह अन्नपानसम्बन्धी विधि बतलाई गई है।

यक्ष्मा में बहिर्मार्जनविधि

बहिः स्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥१६७॥
स्रोतोविवन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च ।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तः सुखैः करैः ।
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् ॥१६८॥
जीवन्तीं शतवीर्याञ्च विकशां च पुनर्नवाम् ।
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ॥१६०॥

विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ।
मांषास्तिलांश्च बिल्वञ्च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ॥१७१॥
यवचूर्णं द्विगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ।
एतदुत्सादनं कार्यं वर्णपुष्टिबलप्रदम् ॥१७१॥
गौरसर्षपकल्केन गन्धैश्चापि सुगन्धिभिः ।
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः श्रृतैः ॥१७२॥

अब आगे बहिर्मार्जन के सम्बन्ध में विधि कही जावेगी।

भले प्रकार अभ्यङ्ग कराये गये (शोषी को) स्रोतों के विबन्ध के खोलने के लिए तथा बल और पुष्टि के लिए स्नेह-क्षीर और जल के कोष्ठ (tub)- में अवगाहन करावे ।

उस टब या कोष्ठ से बाहर निकले हुए सुखपूर्वक बैठे हुए पुरुष को फिर मिश्रक स्नेहों से चुपड़कर हलके हाथों से (देह को) मर्दन करे तथा उत्सादन (उबटन) करे।

जीवन्त्यादि उत्सादन – जीवन्ती, श्वेत दूब (या शतावरी), मजीठ, पुनर्नवा, अपामार्ग, जयन्ती, मुलहठी, बला, विदारीकन्द, सरसों, कूठ, चावल, अलसी के बीज, उड़द, तिल और बिल्व इन सबको एकत्र चूर्ण करले तीन गुने जौ के चूर्ण सहित दही से मिलाकर और शहद के साथ इस पुष्टि वर्ण तथा बलदायक उबटन को करना चाहिए।

पीली सरसों के कल्क से और सुगन्धित द्रव्यों से और जीवनीय औषधों से ऋतु के अनुसार सुख देने वाले जलों से स्नान करना चाहिए।

यक्ष्मा में अन्नपान

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ।
स्पृश्यान् संस्पृश्य संपूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः ॥१७३॥
इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम् ।
इष्टमिष्टैरुपहृतं हितमद्यात् सुखप्रदम् ॥१७४॥

हारों के सहित गन्ध द्रव्यों से, वस्त्रों से तथा आभूषणों से अलंकृत होकर छूने वाले पदार्थों को छूकर वैद्यसहित देवताओं और द्विजों को पूजकर अभीष्ट व्यक्तियों द्वारा बनाये गये प्रियवर्ण, प्रियरस,
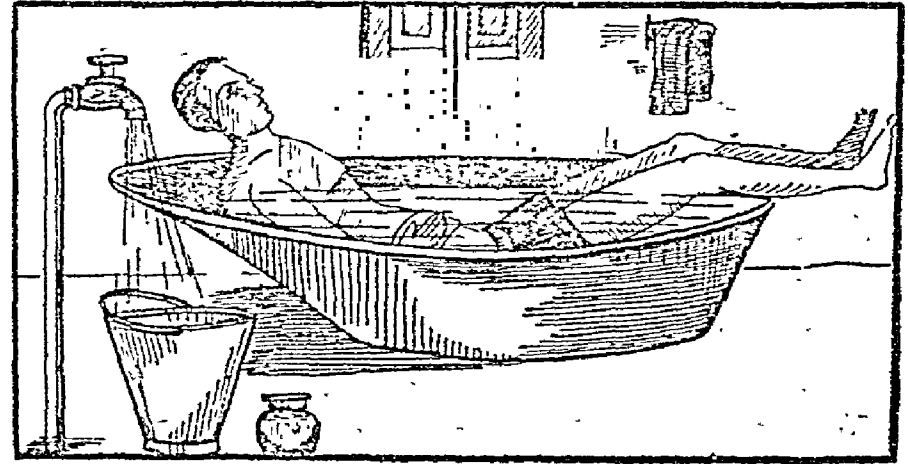
प्रियस्पर्श और प्रिय गन्धयुक्त तथा इष्ट और सुखप्रद अन्नपान को सुखपूर्वक खावे ।

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ।
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च ।
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि ॥१७५॥

एक वर्ष बीते धान्यों को शोषियों के लिये पकावे। क्योंकि जो लघु, जिनका वीर्य हीन नहीं हो पाया है, स्वादिष्ट, सुगन्धयुक्त तथा मन को हर्ष देने वाले (होते हैं) वे (ही) पथ्यतम (माने जाते हैं)।

यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
यक्ष्मिणस्तत् प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥१७६॥

क्षतक्षीण चिकित्साध्याय में जो पथ्य कहा जावेगा उसको यक्ष्मी के बल (और) मांस की अभिवृद्धि के लिये प्रयुक्त करना चाहिए।

यक्ष्मा में दैवव्यपाश्रयचिकित्सा

अभ्यंगोत्सादनः स्नानैरवगाहैर्विमार्ज्जनैः ।
वस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः ॥१७७॥
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ।
यथर्तुविहितैः स्नानैर्वासोभिरहितैः प्रियैः ॥१७८॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः ।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥१७९॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः ।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥१८०॥
सत्येनाचारयोगेन मंगल्यैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥१८१॥

अभ्यंग और उत्सादनों से, स्नानों से, अवगाहनों से (अन्तर्बाह्य) मार्जनों से, बस्तियों से दूध-घृत-मांस-मांसरस में पके भातों से, प्रिय मद्यों से, मनोज्ञ गन्धों के सेवन से ऋतु के अनुसार बताये गये स्नानों से, नवीन प्रिय वस्त्रों से; मित्रों तथा रमणीय प्रमदाओं के दर्शनों से, सुनने में प्रिय गाने बजाने के शब्दों से, हर्षण- आश्वासनों नित्य गुरुओं की उपासनाओं से, ब्रह्मचर्य से, दान से, तप से, देवार्चनाओं से, सत्य से, आचार योग से, मांगलिक कार्यों से तथा अहिंसा से भी, वैद्य एवं ब्राह्मणों की अर्चना से भी रोगराज यक्ष्मा निवृत्त होता है।

यक्ष्मा में वैदिकी इष्टि

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजितः ।
तां वेदविहितामिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥१८२॥

प्राचीनकाल में प्रयुक्त की गई जिस इष्टि से राजयक्ष्मा जीता गया था उस वेदविहित इष्टि को आरोग्य का चाहने वाला प्रयोग करे ।

अध्यायोक्त विषय

तत्रश्लोकौ—

प्रागुत्पत्तिर्निमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः ।
समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः ॥१८३॥
नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता ।
इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते ॥१८४॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)—राजयक्ष्मा की पुराकाल में उत्पत्ति, (उसके) हेतु, पूर्वरूप, लक्षणसंग्रह, संक्षेप से तथा (उसको) चिकित्सा विस्तार से कही गई है। (यक्ष्मा के) नाम का हेतु, असाध्यता, साध्यता, कष्टसाध्यता यह सम्पूर्ण संग्रह राजयक्ष्मचिकित्सिताध्याय में कहा गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने राजयक्ष्मचिकित्सितं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत (इस) शास्त्र में चिकित्सास्थान में राजयक्ष्मचिकित्सित नामक अष्टमअध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

नवमोऽध्याय

उन्माद चिकित्सा

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) उन्माद चिकित्सित (नामक नवम अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपो निवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः ।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः॥२॥

बुद्धिस्मृतिज्ञान और तप के स्थान, प्राणियों के लिए आश्रयस्वरूप (भगवान्) पुनर्वसु आत्रेय ने

अग्निवेश के लिए (उसके द्वारा) पूछे जाने पर यथा समय उन्माद के हेतु, आकृति (तथा) चिकित्सा बतलाई।

उन्माद-सामान्यनिदान

विरुद्ध दुष्टाशुचिभोजनानि
प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो
मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥३॥

विरुद्ध, दुष्ट, अपवित्र भोजन, देवता-गुरु तथा ब्राह्मणों का अपमान, भय, हर्षपूर्वक मानसिक अभिघात या विघात, और विषम चेष्टाऐं उन्माद के हेतु (होते हैं)।

सम्प्राप्ति

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा
बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि
प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥४॥

उन (मनोविघातकारी कारणों) के द्वारा हीन मानसिक बल वाले व्यक्ति के वातपित्तकफ (आदि) दुष्ट हुए दोष बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित करके, मनोवह स्रोतसों में आश्रय करके पुरुष की चेतनाशक्ति (मन) को शीघ्र प्रमोहित कर देते हैं।

वक्तव्य—(१६६) निदानस्थान में आचार्य ने उन्मादोत्पत्ति पर बहुत व्यापक प्रकाश डाला है। उन्माद की उत्पत्ति में प्रधान कारण कुपित हुए दोष हैं। ये दोष चेतना के अधिष्ठान हृदय पर अपना अधिकार जमाते हैं। और मनोवह स्रोतसों में जाकर मन को दूषित करके उन्माद को प्रेरित कर देते हैं। जिसका मन पहले से ही भावुकता में भरा हुआ है और विविध काम क्रोध शोक मोह हर्ष विषाद चिन्ता, उद्वेग आदि कारणों से दुर्बल होगया है वहां ही उन्मादोत्पत्ति के अधिक अवसर देखे जाते हैं। उन्माद प्रबलसत्व (strong willed) व्यक्ति का रोग न होकर अल्पसत्व (weak minded) प्राणियों का रोग होता है। कवि और भावुक कलाकार इसी कोटि में आते हैं।

सामान्यलक्षण

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च
पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयञ्च शून्यं
सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥५॥

बुद्धि का इतस्ततः चालन तथा मन का अत्यधिक चाञ्चल्य, दृष्टि का इतस्ततः व्याकुल होकर प्रेरित होना, तथा अधीरता, निरन्तर सम्बद्धासम्बद्ध भाषण, हृदयस्थान में शून्य (खाली) जैसा भासित होना (ये) सामान्यतया उन्मादरोग के लक्षण (होते हैं)।

समूढचेता न सुखं न दुःखं
नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम्।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो
भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥६॥

वह भ्रान्तचित्त न सुख, न दुःख, न आचारधर्म को प्राप्त करता है फिर शान्ति ही कहां प्राप्त हो? स्मृति और बुद्धि तथा संज्ञा के नष्ट होजाने से उसका चित्त इतस्ततः चक्कर खाता रहता है।

उन्मादव्युत्पत्ति

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीना-
मुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु
वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितञ्च ॥७॥

बुद्धि, मन, स्मृतियों के भ्रमस्वरूप उन्माद को आगन्तु तथा निज (दोषों से उत्पन्न) कहते हैं। उसकी पंचविध उत्पत्ति लक्षण तथा चिकित्सा अलग-अलग (मैं) कहूँगा।

वातोन्माद

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातु-
क्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥८॥

अस्थानहास्यस्मितनृत्यगीत
वागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्ष्ण्यारुणवर्णताश्च
जीर्णे बलञ्चानिलजस्य रूपम् ॥९॥

रूखा, थोडा, ठण्डा भोजन, (वमन तथा विरेचन), धातुक्षय, उपवास (अनशन) के द्वारा वायु अत्यन्त बढ़कर चिन्ता (काम-क्रोध-शोक-लोभ-भय-हर्ष) आदि (मानसिक भावों) से आक्रान्त हृदय को दूषित करके बुद्धि तथा स्मृति को भी शीघ्र उपहत कर देता है।

अस्थान (जहां आवश्यक नहीं उस स्थान) में हास, स्मितता, नृत्य, गीत, बातचीत, शरीरांग का झटकाना, रोना (आदि कर देता है उसमें) कठिनता, कालापन, और अरुणवर्णता (बढ़ती जाती है) तथा (अन्न के) जीर्ण होजाने पर (रोग के) बल का बढ़ना (ये सब) वात से उत्पन्न (उन्माद) के रूप (हैं)।

पित्तोन्माद

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतै-
र्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य
हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥१०॥
अमर्ष संरम्भविनग्नभावाः
संतर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः
पीता च भाःपित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥११॥

अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाही, उष्ण खाद्य पदार्थों से, सञ्चित हुआ पित्त उदीर्ण-वेग होकर अनात्म (दुर्बल वा दुष्ट मन वाले) व्यक्ति के हृदय में स्थित होकर पहले के समान शीघ्र ही अत्यन्त उन्माद को कर देता है।

अक्षमा, क्रोध, नंगे हो जाने का भाव, धमकाना, अभिद्रवण (जोर से दौड़ना) शरीर का गर्म होजाना रोष होना, घनी छाया, शीतल अन्न और जल की इच्छा होना, तथा पीली कान्ति होजाना (ये) पित्तोन्माद के लक्षण (हैं)।

कफोन्माद

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य
सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं
प्रमोहयन् सञ्जनयेद्विकारम् ॥१२॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च
नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते
नखादिशौक्ल्यञ्च कफात्मकस्य ॥१३॥

सम्पूरण द्रव्यों (दही दूध सत्तू आदि) से, मन्द चेष्टाहीन का मर्म (हृदय) में कुपित हुआ ऊष्मा के सहित कफ बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को भी उपहत करके मनको प्रमोहित करता हुआ (कफोन्माद नामक) विकार उत्पन्न कर देता है।

कफोन्माद से पीड़ित रोगी का बोलना तथा चेष्टा करना मन्द पड़ जाता है। अरुचि, स्त्रीप्रियता, एकान्तप्रियता, अत्यन्त निद्रा और वमन, अत्यधिक लालास्राव, भोजन करते ही रोग के बल का बढ़ना तथा नख नयन मूत्र पुरीष पर सफेदी आजाती है।

वक्तव्य-(१६७) सोष्मा कफः में ऊष्मा से कुछ लोग पित्त का ग्रहण करते हैं और कुछ ऊष्मा को शक्ति विशेष मानते हैं। केवल कफ उन्माद का कारण नहीं होता बल्कि ऊष्मा का सम्पर्क बहुत आवश्यक रहता है। ऊष्मा पित्ता-दृते नास्ति से हम ऊष्मा से पित्त का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिल गुणरूप कफ में ऊष्मा का लेश भी नहीं।

त्रिदोषोन्माद

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः
सर्वैः समस्तैः स तु हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति तादृग्
विरुद्ध भेषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१४॥

जो (उन्माद) त्रिदोष से उत्पन्न (होता है) वह अत्यन्त घोर (होता है)। (क्योंकि) वह तो सब एकत्र मिले हुए हेतुओं से होता है। वह सब रूपों को

धारण करता है विरुद्ध भैषज्यविधि वाला होने से वह वर्जनीय (है)।

वक्तव्य—(१६८) सन्निपातोन्माद को शास्त्रज्ञों ने एक भयङ्कर स्वरूप का असाध्य रोग ठहराया है। असाध्यता का महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इसकी उत्पत्ति में वात-पित्त-कफ तीनों के सभी हेतु लग जाते हैं और जितने भी लक्षण इन तीनों के पृथक् पृथक् दिये जा सकते हैं वे सभी उपस्थित हो जाते हैं इस कारण ही इसमें चिकित्साविधि एक दूसरे के विरुद्ध पड़ती है। क्योंकि यदि वातनाशक उष्णस्निग्धगुण वाली औषध का प्रयोग किया गया तो पित्त को बढ़ा देती है गुरु पिच्छिलस्निग्धगुणभूयिष्ट औषधि का प्रयोग किया गया तो वह कफ को बढ़ा देती है और शीतरूक्ष औषधि से वात बढ़ती है। वैसे तो सर्वत्र ही त्रिदोष की चिकित्सा बहुत कठिन होती है पर वह सन्निपातोन्माद में तो और भी कठिन होती है। रोगी की प्रकृति मुख्यरूप से इसका हेतु है।

आगन्तून्माद

देवर्षिगन्धर्व पिशाचयक्ष
रक्षः पितृणामभिधर्षणानि ।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि
मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥१५॥

देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस, (तथा) पितरों का आवेश मिथ्या प्रकार से किये गये नियम व्रतादि तथा पूर्वजन्म के कर्म आगन्तु उन्माद के हेतु (होते हैं)।

वक्तव्य—(१६६) देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाचादि जिनके कारण यह आगन्तून्माद उत्पन्न होता है वे क्या हैं और कैसे कार्य करते हैं यह शास्त्र अंगरेजियत के बढ़ने और तद्विषयक विद्वानों के घटने से कम होता जारहा है। इनका सम्बन्ध आगन्तुव्याधियों के साथ मिलता है जो आजकल संक्रामक रोगों की श्रेणी में आते हैं। अस्तु क्या ये विविध रोगकर जीवाणु हैं जो देव ऋषि गन्धर्व यक्षादि के प्रतिनिधि स्वरूप उतनी ही शक्ति से आक्रमण करने वाले हैं या गन्धर्व यक्षादि दैव शक्तियां स्वयं व्यक्ति में उन्माद करने के लिए प्रेरणा करती हैं स्पष्टतः नहीं कहा जासकता।

आगन्तु रोगों में दोषों का कोप बाद में होता है पहले रोगोत्पत्ति होजाती है। पहले उन्माद बाद में दोषों का अनुबन्ध होता है।

भूतोन्माद

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो
ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य
भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥१५॥

जो ज्ञानादि विज्ञान और बलादि से अमानुष वाणी विक्रम, वीर्य और चेष्टा वाला है तथा जिसका उन्माद काल अनिश्चित है उसको भूतजनित उन्माद कहना चाहिए।

वक्तव्य—(२००) भूतोन्मादी में अपौरुषेय गुणों की वृद्धि देखी जाती है। आदरणीय गुरुदेव श्री पं० सत्यनारायण शास्त्री जी ने चरक पढ़ाते समय एक व्यक्ति का वर्णन किया था कि जब वह इस उन्माद से अभिभूत हुआ तो सहस्रों श्लोक सुनाने लगा यद्यपि वह स्वयं निरक्षरभट्ट था।

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं
देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः ।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव
च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥१७॥
आघातकालो हि सपूर्वरूपः
प्रोक्तो निदानेऽथ सुरादिभिश्च ।
उन्माद रूपाणि पृथङ्निबोध
कालं च गम्यान् पुरुषांश्च तेषाम् ॥१८॥

दर्पण और सूर्यकान्तमणि इनमें जैसे छाया और धूप उसी प्रकार पुरुष के देह को बिना दूषित किये देवादि अपने गुण और प्रभाव से अदृश्य रहकर अति वेग से प्रवेश करते हैं।

पूर्वरूप सहित आवेश का काल निदानस्थान में कह दिया गया है। तथा देवादिकों से उत्पन्न उन्माद के रूप तथा काल को और उनके प्रवेश योग्य पुरुषों को पृथक्-पृथक् जानो।

वक्तव्य—(२०१) जैसे मणि में धूप घुसती है वैसे ही देवादिभूत मानव देह में प्रवेश करते हैं उनका प्रभाव तो देखा जाता है पर भौतिक रूप उनका मनुष्य में प्रगट नहीं होता। यह उदाहरण भी जीवाणु सम्बन्धी हमारी कल्पना को ही बल देता है।

देवोन्मत्तलक्षण

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यमकोपनमस्वप्न-भोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्ल-पद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात् ॥१९॥

वह जैसे दृष्टि से सौम्य, गम्भीर, जो पराभूत न हो सके, क्रोधरहित, न सोने वाला, भोजन की जिसे कोई इच्छा न हो, अल्प स्वेद वाला, अल्पमूत्र त्याग ने वाला, अल्प मल त्यागने वाला, शुभ गन्ध से युक्त खिले कमल के समान मुख वाला देवोन्मत्त जाने।

गुर्वाद्युन्मत्त

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपचेष्टा-हारव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात् ॥२०॥

गुरु, वयोवृद्ध, सिद्ध तथा ऋषियों के अभिशाप, अभिचार, अभिध्यान के अनुरूप चेष्टा, आहार, और वचन (बोलने वाला पुरुष) उसे उन्मत्त जाने।

पितृ-उन्मत्त

अप्रसन्न दृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवचनमनन्नाभि-लाषमरोचकाविपाकपरीतं च पितृभिरुन्मत्तं विद्यात् ॥२१॥

अप्रसन्नदृष्टि वाला, न देखने वाला, निद्राभिभूत, बोलते बोलते रुक जाने वाला, अनन्न (जो अखाद्य है) की जिसे अभिलाषा है और अरुचि अविपाक से युक्त पितरों से उन्मत्त जाने।

गन्धर्वोन्मत्त

चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमधृष्यं मुखवाद्य-नृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्म-हास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्॥२२॥

क्रूर, साहसी, तीक्ष्ण, गम्भीर, पराभूत जो न हो, मुख से बाजा बजाने वाला, नाचना, गाना, अन्नपान, स्नान, माला, धूपन और गन्ध में प्रीति-वाला, लालकपड़ा, बलिकर्म, हास्य, कथा, अनुयोग (पूंछ ताछ प्रश्नादि) में प्रेम रखने वाला तथा शुभगन्धवाला गन्धर्वोन्मत्त जाने।

यक्षोन्मत्त

असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपान-स्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्य-परिवादिनं रहस्यभाषिणं च यक्षोन्मत्तं विद्यात् ॥२३॥

बारम्बार सोना, रोना, हँसना, नाच, गायन, बाजा, पढ़ना, कथा, खाना, पीना, नहाना, माला पहनना धूपन तथा इत्र में प्रीति रखने वाला, लाल तथा आंसू भरी आंख वाला, ब्राह्मण और वैद्य की निन्दा करने वाला, तथा गुह्यबात को कहने वाला यक्षोन्मत्त जाने।

राक्षसोन्मत्त

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्रतिबलं शस्त्र-शोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्ष-सोन्मत्तं विद्यात् ॥२४॥

नष्ट हो गई है निद्रा जिसकी, भोजन और जल से द्वेष करने वाला, अन्न न खाकर भी अत्यधिक बलशाली, हथियार, रक्त, मांस, लालमाला का अभिलाषी और धमकाने वाला पुरुष राक्षसोन्मत्त जाने।

ब्रह्मराक्षसोन्मत्त

प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुति वेद-मन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्ष-सोन्मत्तं विद्यात् ॥२५॥

अट्टहास करने वाला, नाचना ही जिसका प्रधान कार्य हो (यदि अनृतवादिनम् पाठ लें तो झूठ बोलने वाला), देवता, ब्राह्मण, वैद्य से द्वेष करने वाला, उनका तिरस्कार करने से स्तुति, वेदमन्त्र तथा शास्त्रों के उदाहरणों के देने से, लकड़ी आदि से अपने को कष्ट देने से ब्रह्मराक्षसोन्मत्त जाने।

पिशाचोन्मत्त

अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धा-बद्धप्रलापिनं सङ्कुरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधि-

रोहणरतिं भिन्नरूक्षस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥२६॥

अस्वस्थ है मन जिसका, बैठने को जिसे कोई स्थान ही प्राप्त न हो (पसन्द न आवे), नाच-गायन और हास्य करने वाला, सङ्गत असङ्गत कुछ भी बोलने वाला, धूल-मिट्टी के ढेर, मलिन मार्ग, वस्त्र, तृण, पत्थर, काठ पर चढ़ने में प्रीति रखने वाला, फटे और रूखे स्वर वाले, नङ्गा, दौड़ता रहने वाला, एक स्थान पर न ठहरने वाला, दुख को कहने वाला तथा जिसकी होगई है नष्ट स्मरणशक्ति वह पिशाचोन्मत्त जानना चाहिए।

ग्रहावेशयोग्य व्यक्ति तथा काल

तत्र शौचाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः। स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः। मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः। गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं चौक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च। सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्य प्रियमतिवाक्करणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः स्वाध्यायतपो नियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्राह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिल क्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः। रक्षः पिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं स्त्रैणं लुब्धं शठं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु। इत्यपरिसङ्ख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥२७॥

उन आठ उन्मादों में शुद्ध आचार वाले, तप-तथा स्वाध्याय में पारंगत व्यक्ति प्रायः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तथा त्रयोदशी में छिद्र पाकर देव आविष्ट होते हैं।

स्नान, पवित्र एकान्तसेवी, धर्मशास्त्र, वेदवाक्य कुशल प्रायः छठ तथा नौमी में ऋषि (आविष्ट होते हैं।

माता, पिता, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य की सेवा करने वाले व्यक्ति में प्रायः दशमी तथा अमावस्या में पितर (आविष्ट होते हैं)।

स्तुति, गीत, वादित्र प्रिय परस्त्री, गन्धमाला में प्रीति रखने वाले एवं शुद्ध आचार वाले व्यक्ति में प्रायः द्वादशी और चतुर्दशी में गन्धर्व (आविष्ट होते हैं)।

सत्व, बल, रूप, गर्व, शौर्ययुक्त, माला, लेप, हास्य, में प्रेम रखने वाले, और अधिक बोलने वाले व्यक्ति में प्रायः शुक्लपक्ष की एकादशी में तथा सप्तमी में यक्ष (आविष्ट होते हैं)।

स्वाध्याय, तप, नियम, उपवास, ब्रह्मचर्य, देव, यती, गुरुपूजा से द्वेष रखने वाले, पवित्रता से भ्रष्ट, ब्राह्मण या अब्राह्मण होने पर मैं ब्राह्मण हूँ ऐसा बोलने वाला, अपने को शूर मानने वाला, देवालय, जलक्रीडा में प्रीति रखने वाला प्रायः शुक्ल पक्ष की पंचमी तथा जिस दिन पूर्ण चन्द्र दर्शन हो उस दिन ब्रह्मराक्षस (आविष्ट होते हैं)।

राक्षस और पिशाच तो दुर्बलमना, चुगली खाने वाले, स्त्रियों में आसक्त, लोभी, मूर्ख व्यक्ति में प्रायः द्वितीया, तृतीया तथा अष्टमी में (आविष्ट होते हैं)।

इस प्रकार अगणित ग्रहों में से अत्यन्त प्रसिद्ध ये आठ ग्रह कह दिये हैं।

असाध्य उन्माद लक्षण

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भात् निःशङ्कमन्येष्वात्मनि वा निपातयेत् सह्यसाध्यो विज्ञेयः। तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्र प्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानचर्माऽप्रतिहन्यमानवाणिः सततं विकूजन् दुर्बलस्तृषार्तः पूतिगन्धश्च स हिंसार्थिनोन्मत्तो ज्ञेयः। तं परिवर्जयेत् ॥२८॥

इन सबमें जो दोनों हाथ उठाकर क्रोध से भरा हुआ होने से निर्भय होकर अन्यों को अथवा अपने आपको मारता है उसे असाध्य जानना चाहिए।

और जो आंसूभरे नेत्र वाला, मूत्रेन्द्रिय से जिसके निकलना हो रक्त, जीभ हो जिसकी घायल, नाक जिसकी बह रही हो, त्वचा फट गई हो जिसकी, वाणी जिसकी किसी भी प्रकार रोकी न जासके, निरन्तर कूजता हुआ, रंग जिसका बिगड़ गया हो, प्यास से आकुल, और दुर्गन्ध जिससे उठ रही हो वह हिंसा चाहने वाला उन्मादरोग से पीड़ित जानना चाहिए। उसको (वैद्य) छोड़ दे।

उन्माद-चिकित्साक्रम

रत्यर्चनकामोन्मादिनौ तु भिषगभिचाराभिशापाभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत्। तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समास-विस्ताराभ्यां भेषजविधिमनुव्याख्यास्यामः ॥२९॥

(भूत गण) रतिकामना से तथा पूजाकामना से (दो रूप में) उन्मत्तों को तो वैद्य, अभिचार तथा अभिशाप (इन दोनों) से जान कर उसकी पूर्ति के लिए उपहार और बलि से युक्त मन्त्र तथा औषध विधि से चिकित्सा करे।

अब निज और आगन्तु कारणों से उत्पन्न होने वाले दोनों भी उन्मादों की संक्षिप्त तथा विस्तार से चिकित्साविधि को (हम) कहेंगे।

वक्तव्य—(२०२) आचार्य ने उन्माद का सम्पूर्ण वर्णन दो रूपों में प्रकट किया है। एक वह जो निज कारणों से दोषों के कारण उत्पन्न होता है जिसमें, वात, ऊष्मा सहित कफ तथा पित्त सक्रिय भाग लेते हैं। दूसरा जो आगन्तु कारणों से उन्माद उत्पन्न होता है वह बाह्य दैवी शक्तियों के कारण होता है। इन शक्तियों के अंश मानव शरीर में उसी प्रकार प्रवेश करते हैं जैसे दर्पण में प्रकाश या मणि में छाया करती है। भूत, देव, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, ब्रह्मराक्षस, और पिशाच मानवशरीर में विशेष तिथियों में विशेष अवसरों पर और व्यक्ति-विशेष का विचार कर प्रवेश पाते हैं। आगन्तु उन्मादों में ये दैवी शक्तियां या तो अपनी वासनापूर्ति के निमित्त अथवा अपनी पूजा कराने के लिए आती हैं। वैद्य को उन्माद को देखकर इन दैवीशक्तियों के भेद का ज्ञान कर लेना चाहिए तथा उनके अभिप्राय को भी जानकर उपहार, बलि, मन्त्र और औषध का प्रयोग करने की शास्त्राज्ञा है। उन्माद के इन विविध रूपों में वास्तविक दैवीशक्तियां कर्म करती हैं या नहीं यह इस समय कहना कठिन है। पर इतना सत्य है कि उपहार बलि, मन्त्र और औषध चारों से रोगी उन्माद रोग से दूर होते देखे गये हैं। आज का विज्ञान अब यह मानने लगा है कि भूत होते हैं और इनका अलग एक बड़ा संसार है। जब वे होते ही हैं तो फिर वे मानवसमाज पर भी अपनी दृष्टि डालकर उसके मन तथा बुद्धि को कुछ समय तक अपने अधिकार में रखकर उन्मादोत्पत्ति कर सकते होंगे।

वातोन्मादचिकित्सासूत्र

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्।
कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥३०॥

उन्माद विशेषज्ञ (वैद्य) वातज उन्माद में पहले स्नेहपान करे। मार्ग बद्ध होने पर स्नेहयुक्त मृदु-शोधन (देना चाहिए)।

कफपित्तोन्मादचिकित्सासूत्र

कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।
स्निग्धस्विन्नस्य कर्त्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥३१॥

कफपित्तोत्पन्न उन्माद में भी आदि में (स्निग्धस्विन्न शरीर वाले का) विरेचन सहित वमन करना चाहिए। शुद्ध होने पर पेया आदि का पथ्याहार रूप (संसर्जन क्रम करना चाहिए)।

निरूहान् स्नेहवस्तिञ्च शिरसश्च विरेचनम्।
ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत् ॥३२॥

(संसर्जनक्रम के) पश्चात् निरूहों को तथा स्नेह-वस्ति को और शिरोविरेचन को करे। तथा दोष के अनुसार उनका वारबार आचरण करे। अर्थात् कफोन्माद में वमन वारबार करावे। पित्तोन्माद में विरेचन वारबार करावे तथा वातोन्माद में स्नेहवस्ति वारबार करावे।

हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः।
मनः प्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञाञ्च विन्दति ॥३३॥

वसनादिकों से हृदय, इन्द्रिय, शिर (तथा) कोष्ठ में संशुद्धि होने पर मन प्रसन्न होजाता है तथा स्मृति तथा संज्ञा को प्राप्त करता है।

शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्।
ताडनं च मनोबुद्धि देहसंवेजनम् हितम् ॥३४॥

आचार का विभ्रंश होने पर (पहले शोधन करले फिर) शुद्ध का तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अंजन, ताडन तथा मन बुद्धि और शरीर का उद्विग्न (दुखी) करना हितकर (होता है)।

यः शक्तो विनयेत्पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः।
अपेतकाष्ठलोहाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे ॥३५॥

जो (उन्मादी) विलय करने में समर्थ है उसे सुदृढ़ सुखकारी वस्त्रों से बांधकर, लोहा, लकड़ी आदि जिससे निकाल दिये गये हैं उस तमपूर्ण (अँधेरे) कमरे में उसको बन्द कर रखा जावे।

तर्जनं त्रासनं दानं सान्त्वनं हर्षणं भयम्।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥३६॥

तर्जन, त्रास, दान, सान्त्वना, हर्ष, भय, विस्मय, उन्माद के हेतु का विस्मरण कराने वाले होने के कारण (रोगी के) मन को प्रकृति में ले जाते हैं।

प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूपाः पानं च सर्पिषः।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ॥३७॥

लेप, उबटन, मालिश, धूपन, तथा घी का पीना, (इन) मन, बुद्धि, स्मृति और संज्ञा को प्रबुद्ध करने वालों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—(२०३) आचार्य ने उन्माद की चिकित्सा के सम्बन्ध में ऊपर सिद्धान्तवाक्य दिये हैं। उन्माद जैसे रोग पर जब आज भी कोई विशेष महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-साफल्य हाथ नहीं लग पाया प्राचीन काल में आयुर्वेदज्ञों ने उस पर बहुत बड़ा साहित्य तैयार किया था। उन्माद की चिकित्सा में सर्वप्रथम शोधन का बड़ा महत्त्व है। यथादोष बार बार शोधन करने से मनःप्रसाद, स्मृति और संज्ञा लाभ प्राप्त होता है। शुद्ध हो जाने पर भी उन्माद में कमी न आने पर तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अंजन, ताडना, त्रासना, दान, सान्त्वना, प्रहर्षण आदि मनोबुद्धि शरीर को जगा देने वाले कार्यों को करने का विधान है। क्योंकि ये सब नयन्ति प्रकृतिं मनः के चारों ओर घूमते हैं। उन्माद में आयुर्वेदज्ञ मन को अपनी स्वाभाविक मानवीय स्थिति पर लाने का उपक्रम करता है। सम्पूर्ण उन्मादचिकित्सा मन को अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने में खर्च होती है। मन को प्रकृति में लाने वाली चिकित्सा साइकियाट्री (psyychiatry) कहलाती है जिसमें मनोविज्ञान (साइकोलौजी) के सिद्धान्तों का प्रशस्ततम प्रयोग होता है। आज की उन्माद चिकित्सा सिद्धान्ततः प्राचीन के सहारे खड़ी है।

सर्पिष्पानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।
अतः सिद्धतमान् योगान् शृणून्मादविनाशनात् ॥३८॥

(निजोन्माद भैषज्यविधि कहकर अब आगे आगन्तुनिमित्त दोनों प्रकार के उन्मादों की भैषज्य विधि कही जारही है) आगन्तु में घृतपानादि तथा मन्त्रादि विधि अभीष्ट (होती है) अब आगे उन्माद विनाशक अत्यन्त सिद्ध योगों को सुन।

हिंग्वादिघृत

हिंगुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम्।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥३९॥

हींग, कालानमक, सोंठ, मरिच, पिप्पली प्रत्येक २-२ पल से एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) गाय का घी चारगुने गोमूत्र में (यथाविधि) सिद्ध किया गया उन्माद का नाशक (होता है)।

कल्याणघृत

विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्।
स्थिरा नतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियंगुका ॥४०॥
नीलोत्पलैला मञ्जिष्ठा दन्तीदाडिमकेशरम्।
तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ॥४१॥
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ।
अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्षसमन्वितैः ॥४२॥
चतुर्गुणं जलं दत्त्वा घृतं प्रस्थं विपाचयेत्।
अपस्मारे ज्वरे कासे शोषे मन्दानले क्षये ॥४३॥
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके।
छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च ॥४४॥
कण्डूपाण्ड्वामयोन्माद विषमेहगदेषु च।
भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामचेतसाम् ॥४५॥

शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम् ।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम् ॥४६॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ।
(इति कल्याणकं घृतम् ।)

इन्द्रायण, हरड़, बहेड़ा, आमला, रेणुका, देवदारु, एलुआ, शालपर्णी, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, अनन्तमूल, प्रियंगु, नीलकमल, इलाइची, मजीठ, दन्ती, अनारदाना, नागकेसर, तालीसपत्र, बड़ी कटेरी, मालती के ताजे फूल, विडङ्ग, पृश्निपर्णी, कूठ, चन्दन तथा पद्माख इन २८ में से प्रत्येक एक-एक अक्ष प्रमाण द्रव्यों के कल्क से चारगुना जल देकर एक प्रस्थ गोघृत (यथाविधि) पकाले ।

अपस्मार में, ज्वर में, कास में, शोष में, मन्दाग्नि में, धातुक्षय में, वातरक्त में, जुकाम में, तृतीयक तथा चातुर्थक (विषमज्वरों) में, वमन-अर्श-मूत्रकृच्छ्रों में विसर्प से पीड़ितों में, खुजली-पाण्डुरोग-उन्माद-विष तथा प्रमेह (नामक) रोगों में भूताविष्ट चित्तवालों, गद्‌गद क्षीणवीर्य, तथा वन्ध्या स्त्रियों के लिए यह कल्याणकघृत प्रशस्त (होता है)। यह धन्य, आयु और बलप्रदाता, दरिद्रता पाप और राक्षसादिभूतों का नाशक, सर्वग्रहविनाशक तथा पुंसवन कर्मों में (भी) श्रेष्ठ (होता है)।

(यह कल्याणघृत—है ।)

महाकल्याणकघृत

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ॥४७॥
रसे तस्मिन् पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरं चतुर्गुणम् ।
वीरार्द्रमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभर्धिभिः ॥४८॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत् स्यात्कल्याणकं महत् ।
बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम् ॥४९॥
(इति महाकल्याणकं घृतम् ।)

(प्रथम सात ओषधियां छोड़कर) शालपर्णी आदि इन्हीं इक्कीस (कल्याण घृत की औषधों) को जल में पकाकर (प्राप्त हुआ जो) क्वाथ उसमें चारगुना प्रथमप्रसूता गाय का दूध, क्षीरकाकोली, गीला उड़द, (द्विमाष पाठ मानने पर काले हरे दोनों प्रकार के उड़द) काकोली, कौंच, ऋषभक, ऋद्धियां तथा मेदा के समभाग कल्क के साथ घृत पकावे । वह महाकल्याणकघृत विशेषरूप से बृंहण करने वाला और सन्निपात (उन्माद) को अत्यन्त हरने वाला है ।

(यह महाकल्याणघृत—है ।)

महापैशाचिकघृत

जटिलां पूतनां केशीं चारटीं मर्कटीं वचाम् ।
त्रायमाणां जयां वीरां चोरकं कटुरोहिणीम् ॥५०॥
वयःस्थां शूकरीं छत्रामतिच्छत्रां पलङ्कषाम् ।
महापुरुषदन्तां च कायस्थां नाकुलीद्वयम् ॥५१॥
कटम्भरां वृश्चिकालीं स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम् ।
सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥५२॥
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ।
बुद्धिस्मृतिकरञ्चैव बालानां चाङ्गवर्धनम् ॥५३॥

जटामांसी, हरीतकी, भूतकेशी, (शंखपुष्पी), चारटी (गुलाब या ब्रह्मयष्टी), कौंच, बचा, त्रायमाण जयन्ती, पृश्निपर्णी, चोरपुष्पी, कुटकी, क्षीरकाकोली, वाराहीकन्द, सौंफ, सोया, गुग्गुलु, शतावरी, छोटी इलाइची, नाकुली, गन्धनाकुली (सर्पगन्धा), सिरसभेद (कटभी), वृश्चिकाली और शालपर्णी लेकर उनसे (विधिपूर्वक) सिद्ध घृत चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रह, अपस्मारनाशक (होता है)। यह महापैशाचिक नाम वाला घृत अमृत जैसा बुद्धिवर्द्धक, स्मृतिवर्द्धक तथा बालकों के अङ्गों का वर्द्धक (होता है)।

(यह महापैशाचिकघृत—है)।

लशुनादिघृत (प्रथम)

लशुनानां शतं त्रिंशदभयास्त्र्यूषणात् पलम् ।
गवां चर्ममसीप्रस्थमाढकं क्षीरमूत्रयोः ॥५४॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थमेभिः सिद्धं प्रयोजयेत् ।
हिंगुचूर्णपलं शीते दत्त्वा च मधुमाणिकाम् ॥५५॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान् विषमज्वरान् ।
अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥५६॥
(इति लशुनाद्यं घृतम् ।)

(एक पुती) लहसुनों के १०० (नग), तीस हरड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली एक एक पल, गाय के चमड़े की भस्म एक प्रस्थ, गाय का दूध तथा मूत्र दोनों १ आढक (द्रव्यद्वैगुण्य से २ आढक) इन द्रव्यों से (यथाविधि) सिद्ध किया हुआ पुराने घी का १ प्रस्थ शीतल होने पर हींग का चूर्ण १ पल तथा शहद एक मानिका (१६ पल) डालकर प्रयोग करे। वह घृत पान-अभ्यंग तथा नस्यों के द्वारा दोषज, आगन्तुज उन्मादों को, विषमज्वरों को तथा अपस्मारों को शीघ्र मार देता है।

(यह लशुनादिघृत— है।)

लशुनादिघृत (द्वितीय)

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्द्धं निस्तुषीकृतम्।
तदर्द्धं दशमूलस्य द्वयाढकेऽपां विपाचयेत् ॥५७॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा।
कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः ॥५८॥
दाडिमाम्लसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्द्धकैः।
साधयेत् त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥५९॥
यवानीचव्यहिंग्वम्लवेतसैश्च पलार्द्धिकैः।
सिद्धमेतत् पिबेच्छूलगुल्मार्शोजठरापहम् ॥६०॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषकृमिज्वरान्।
वातश्लेष्मामयान् सर्वानुन्मादांश्चापकर्षति ॥६१॥
(इति द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम्।)

जो नष्ट न हुआ हो ऐसे एक पुतिया लशुन का छिल्का उतार कर (लिया गया) आधा तुला उसका आधा (चौथाई तुला) दशमूल (मिलित) का (लेकर) दो आढक जल में पकावे। चतुर्थांश शेष रहने पर १ प्रस्थ घृत, लशुन का रस एक प्रस्थ, उसका आधा बेर का रस, मूली का रस, चकोतरे का रस, बिजौरे का रस, खट्टे अनार का रस, मदिरा, दही का तोड़, तथा आधाआधा पल हरड़ बहेड़ा आमला (मिलित) देवदारु, सेंधानमक, त्रिकटु, अजवाइन, चव्य, हींग और अम्लवेंती के साथ सिद्ध यह शूल-गुल्म-अर्श-उदररोगनाशक घृत पिये। (यह घी) ब्रध्न (inguinal swellings), पाण्डुरोग प्लीहोदर, योनिदोष, कृमिरोग, ज्वरों, वात-कफ के रोगों तथा सब प्रकार के उन्मादों को नष्ट करता है।

(यह द्वितीय लशुनादिघृत—है।)

हिंग्वादिघृत

हिंगुना हिंगुपर्ण्या च सकायस्थवयःस्थया।
सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिंगुचोरकैः ॥६२॥

हींग, हिंगुपर्णी, और छोटी इलायची के साथ वयस्था (ब्राह्मी) से सिद्ध घी (उन्माद में) उसी प्रकार हितकारक होता है (जिस प्रकार) ब्राह्मी, हींग तथा चोरपुष्पी के द्वारा (सिद्ध घृत होता है)।

पुराणघृत और उन्मादरोग

केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेत् घृतम्।
पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद्ग्रहेऽपि वा ॥६३॥
विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद्घृतम्।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद्ग्रहनाशनम् ॥६४॥
गुणकर्माधिकं स्यानादास्वादात् कटुतिक्तकम्।
उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ॥६५॥
लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम्।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं तद्धि सर्वग्रहापहम् ॥६६॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद्वर्षशतस्थितम्।
दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम्।
अपस्मारग्रहोन्मादवातां शस्तं विशेषतः ॥६७॥

अथवा केवल पुराने घी को (उपरोक्त) इन (उन्मादनाशक ओषधियों से) सिद्ध करके पिलावे। (रोगी को) उत्तमा मात्रा (जो मात्रा रात दिन में जीर्ण हो जावे वह) पिलाकर गड्ढे या घर में ही बन्द करदे।

विशेषरूप से पुराने घी को वैद्य पिलावे। (क्योंकि वह) त्रिदोषनाशक (तथा) पवित्र होने के कारण ग्रहबाधानाशक (होता है)।

दस वर्ष रखा हुआ पुराना घी पीने से गुण तथा कर्म में अधिक (कार्य करने वाला होता है तथा)

पीने तथा स्वाद लेने से कटुतिक्त और उग्रगन्ध वाला (होता है)।

अधिक पुराना घी लाख के रस के समान (लाल) क्योंकि वह विरेचन करने वालों में श्रेष्ठ होता है अतः वह परम मेध्य और सर्वग्रहनाशक (होता है)।

जो सौ वर्ष तक रखा गया हो उसका असाध्य नामक कुछ भी नहीं होता है वह तो देखने से छूने से सब ग्रहों का नाश करता है तथा अपस्मार ग्रहबाधा और उन्माद से पीडितों को वह विशेष रूप से प्रशस्त (माना जाता है)।

वक्तव्य—(२०४) चरक ने मानसिक विकारों की शान्ति में पुराने घृत की बड़ी महिमा बतलाई है। उसने दस वर्ष तक के घृत का पिलाना तथा १०० वर्ष के घृत का देखना, छूना और सूंघना कहा है। १०० वर्ष पुराने घृत की उग्रता इतनी होती है कि उसे पिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस प्रकार आजकल तैलीय द्रव्यों के अन्तर्मांसीय क्षेपण या सुई द्वारा प्रयोग अनेक रोगों पर चलते हैं उसी प्रकार यदि १०० वर्ष पुराने घी के इन्जैक्शन पेशी में या त्वचा के नीचे दिया जाय अथवा जैसे होम्योपैथ बूंद-बूंद औषध प्रयोग करते हैं उस प्रकार इसको मदरटिंक्चर मानकर प्रयोग किया जाय तो उन्माद, अपस्मार आदि मानसिक रोगों में अवश्य और निश्चित लाभ होना सम्भव है।

जब १०० वर्ष पुराने घी का वर्णन आयुर्वेद करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन ऋषियों ने सौ वर्ष तक घृत को रख कर फिर उसका उपयोग रोगियों पर प्रत्यक्षतया करके देखा होगा। अस्तु, इससे यह भी सिद्ध है कि यह शास्त्र प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिक विचारणा पर आदि से ही अवलम्बित रहा है। उसने उग्रगन्धा लाक्षारसोपमवर्ण आदि जो दिये हैं वे अनुमान द्वारा न लिखकर प्रत्यक्ष की स्पष्ट मूल पर अङ्कित सत्य है।

आधुनिक वैज्ञानिकों को चरक की पुराणघृतप्रयोग की पद्धति का वास्तविक परीक्षण अवश्य करना चाहिए।

उन्माद में नस्य तथा अञ्जन योग

एतानौषधयोगान् वा विधेयत्वमगच्छति।
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत् ॥६८॥

यदि (उन्मादी) औषधयोगों के विधेय को (आज्ञा को) नहीं प्राप्त होता है (क्योंकि पागल आदमी का क्या भरोसा कि वह औषध पी ही ले तो) इन औषध योगों को (जिनका वर्णन आगे किया जावेगा) अञ्जन, उबटन, आलेपन, नस्य आदि में प्रयोग करे।

शिरीषादि नस्य तथा अञ्जन

शिरीषो मधुकं हिंगु लशुनं तगरं वचा।
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् ॥६९॥

बकरे के मूत्र से पिसे हुए सिरस, मुलहठी, हींग लहसुन, तगर, बचा और कूठ नस्य (तथा) अञ्जन हैं।

व्योषादि नस्य तथा अञ्जन

तद्वद्व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिंगुसर्षपाः।
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥७०॥

इसी प्रकार बकरे के मूत्र में पिसे सोंठ, मरिच, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, हींग, सरसों, सिरस के बीज उन्माद, ग्रहबाधा तथा अपस्मार के नाशक हैं।

अपामार्गादिवर्ति

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गं हिंग्वालं हिंगुपत्रिकाम्।
वर्तिः स्यान्मरिचार्द्धांशा पित्ताभ्यां गोश्रृगालयोः ॥७१॥
तयाञ्जयेदपस्मार भूतोन्मादज्वरार्दितान्।
भूतार्त्तानमरार्त्तांश्च नरांश्चैव दृगामये ॥७२॥

गाय और गीदड़ इन दोनों के पित्तों से सम भाग अपामार्ग, हींग, हरताल, हिंगुपत्री, तथा आधा भाग काली मिर्च पीसकर बत्ती बनावे उससे अपस्मार, भूतोन्माद, ज्वर पीडितों को, भूतोन्माद से पीडित और देवोन्माद से पीडित व्यक्तियों को तथा नेत्ररोग में अञ्जन करे।

मरिचयोग

मरिचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम्।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृते ॥७३॥

दोषजन्य उन्माद, भूतोन्माद तथा अपस्मार तथा विकृत देखने वाले को एक महीना गाय के पित्त के साथ धूप में रखी हुई कालीमिर्च (के चूर्ण) का अञ्जन करना चाहिए।

सिद्धार्थकादि अगद

सिद्धार्थको वचा हिंगु करञ्जो देवदारु च।
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम् ॥७४॥
समांशानि प्रियंगुश्च शिरीषो रजनीद्वयम्।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् ॥७५॥
नस्यमालेपनञ्चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा।
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः ॥७६॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते।
सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् ॥७७॥

पीली सरसों, वालवच, हींग, कंजा, देवदारु तथा, मजीठ, हरड़, बहेड़ा, आमला, श्वेत अपराजिता, कटभीवृक्ष की छाल, सोंठ, मिर्च, पीपल, और प्रियंगु, शिरीष के बीज, हल्दी, दारुहल्दी बराबर भाग बकरे के मूत्र से पीसा यह अगद पान, अंजन, नस्य, आलेपन तथा स्नान उबटन तथा अपस्मार विष उन्माद, कृत्या, दरिद्रता और ज्वर नाशक (होता है) और (यह) भूतों से होने वाले भय को नष्ट करता है तथा राजदरबार में प्रशस्त माना गया है। अथवा इन (द्रव्यों) के (कल्क से) गोमूत्र के साथ सिद्धघृत उसी कार्य को करता है।

वक्तव्य—(२०५) ऊपर जो कई अञ्जन और नस्य के योग लिखे गये हैं उनमें आचार्य ने तीक्ष्ण द्रव्यों के प्रयोग को इसलिए महत्त्व दिया है कि उनका प्रयोग रोगी को इतना बेचैन करदे कि वह होश में आकर पागलपन छोड़ बैठे। पशुओं के पित्त का प्रयोग चरक ने ही सर्वप्रथम आरम्भ किया है जिसका उपयोग इतर वैद्यक शब्द हकीमी में पर्याप्त होता है।

उन्माद में धूमयोग

प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्त्तिं कृतां पिबेत्।
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिंगुभिः ॥७८॥
शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकवस्तजैः।
मूत्रपित्तशकृल्लोम नखैश्चर्मभिरेव च ॥७९॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमञ्च कारयेत्।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः

मुखप्रसेक तथा प्रतिश्याय में गन्ध द्रव्यों से अथवा हींगसहित वैरेचनिक धूम में कही हींग सहित श्वेत अपराजिता आदि से तैयार की गई धूमवर्ति को पिये।

प्रायः वात तथा कफजन्य उन्माद में सेह्या, उल्लू, बिल्ली, गीदड़, भेड़िया, और बकरे से उत्पन्न मूत्र, पित्त, पुरीष, लोम, नाखून, तथा चमड़े से भी सेक, अञ्जन, प्रधमन, नस्य, तथा धूमपान करना चाहिए।

पित्तोन्माद चिकित्सा

पैत्तिके तु प्रशस्यते ॥८०॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च ॥८१॥
शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषये चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥८२॥

पैत्तिक उन्माद में तो तिक्त घृत (वातरक्त में वर्णित) जीवनीय घृत तथा मिश्रक स्नेह तथा शीतल मधुर और मृदु अन्नपान प्रशस्त होता है।

उन्माद में तथा विषमज्वर में और अपस्मार में भी शंख अथवा केशान्तसन्धि में ज्ञाता वैद्य सिरामोक्षण करे।

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत्सुखम्।
त्यक्त्वा स्मृतिमतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते ॥८३॥

घृतमांस से विशेषरूप से तृप्त रोगी को सुखपूर्वक निवात स्थान में रखदे। (इससे वह) स्मृतिभ्रंश बुद्धिभ्रंश छोड़कर संज्ञा को पाकर (उन्माद से) मुक्त होजाता है।

आश्वासयेत् सुहृद् वा तं वाक्यैर्धर्म्मार्थसंहितैः।
ब्रूयादिष्टं विनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि च ॥८४॥

अथवा धर्मार्थसंहत वचनों से मित्र उसे आश्वासन दे। इष्ट बोले, जिसके विनाश से उसे उन्माद

हुआ उसके विपरीत बोले (अथवा इष्ट के विनाश का समाचार दे) तथा अद्भुत दिखलावे।

वद्धं सर्षपतैलाक्तमुत्तानञ्चातपे न्यसेत्।
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैलभहतैलजलैः स्पृशेत् ॥८५॥
कशाभिस्ताडयित्वा वा सुवद्धं विजन गृहे।
रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥८६॥

रस्सी से बांध कर, सरसों का तैल (उसके शरीर पर) चुपड़ कर, धूप में चित्त लिटा दे अथवा कौंच की फली से, तप्त लोह शलाका से, तप्त तैल से अथवा तप्त जल से उसे छुए। एकान्त घर में अच्छे प्रकार बांध कर चाबुक से ताड़ना देकर बन्द करे क्योंकि ऐसा करने से इसका भ्रान्तचित्त शान्ति प्राप्त करता है।

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्।
त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥८७॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्ज्जयन्तो नृपाज्ञया ॥८८॥

दांत जिसके उखाड़ दिये गये हैं ऐसे सांप से, वश में कर लिये गये हैं जो उन सिंहों तथा हाथियों से हाथ में लिये शस्त्र के द्वारा चोरों से तथा शत्रुओं स उसे त्रास दिलाना चाहिए। अथवा पुलिस कर्मचारी ठीक से उसे बांधकर बाहर ले जाकर वध की धमकी देकर राजा की आज्ञा पाकर डरावें।

देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम्।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥८९॥

क्योंकि शरीर कष्ट के भयों से प्राणभय महान् कहा जाता है इस कारण प्राणभय उपस्थित होने से उसका सब प्रकार से भ्रष्ट या विगड़ा हुआ मन शान्ति पाजाता है।

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते।
तस्य तत्सदृशप्राप्त्या सान्त्वाश्वासैः शमं नयेत् ॥९०॥

प्रिय वस्तु के विनाश के कारण जिसका मन उपहत होता है उसका उस (प्रिय) के समान प्राप्ति से, सान्त्वना से, (तथा) आश्वासनों से शान्ति (की ओर) लेआवे।

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान्।
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥९१॥

काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या, लोभ से उत्पन्न उन्मादों को परस्पर विपरीत इन्हीं भावों से ही शांत करे। अर्थात् काम को काम से या शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्यादि से जीते, शोक को काम भय क्रोध से क्रोध को हर्ष ईर्ष्या काम से जीते।

वक्तव्य—(२०६) ऊपर श्लोक ८३ से ९१ तक उन्माद चिकित्सा के अमर सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। सुखदायक स्थान में उन्मादी को रखना धर्मसम्मत बात करना, आश्वासन देना, अद्भुत कर्म करना, विविधत्रास देना विविध मनोभावों के उद्रेक में अन्य उद्रेकों का उपयोग करना आदि वे क्रियायें हैं जिनसे वैद्य बहुधा उन्मादी को होश में लाया करते हैं। त्रास के विविधरूप जैसे सांपों, सिंहों, पुलिसमैन, कौंच की फली, तप्तशलाका, गर्म जल या तैल का स्पर्श आदि लोमहर्षक क्रियायें कराना सब वैद्यों के दम की बात नहीं तथा इसे बिना राजाज्ञा प्राप्त किए करना भी नहीं चाहिए अन्यथा बैठे बिठाए मुसीबत मोल लेनी पड़ सकती है। इन त्रासों के पीछे श्लोक ८९ की आत्मा पुकार रही है उसे वैद्य को समझ लेना चाहिए कि देहदुख भय से प्राणभय अधिक बड़ा है। प्राणभयकारक देहभय को सामने देखकर बिगड़ा हुआ मन भी शान्त होजाता है। आजकल की धक्काचिकित्सा (shock therapy) प्राचीन त्रासन विधान का ही एक रूप है। इष्ट के नष्ट होने से हुए उन्मादी को उस वस्तु की प्राप्ति कराना या उसका आश्वासन बँधाना आवश्यक होता है।

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे ॥९२॥

देश, अवस्था, सात्म्य, दोष, काल, बलाबल का विचार कर निज तथा आगन्तु उन्माद में यह चिकित्सा करनी चाहिए।

देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्।
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥९३॥

सर्पिष्पानादि तस्येह मृदुभैषज्यमाचरेत् ।
पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा ॥९४॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च ।
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ॥९५॥

बुद्धिमान् वैद्य देव, ऋषि, पितृ, गन्धर्वों द्वारा उन्मत्त का अञ्जनादि तीक्ष्ण और क्रूरकर्म से वर्जन करे। इसको घृतपानादि मृदु औषध करनी चाहिए। पूजा, बलिकर्म, उपहार, मन्त्र, अञ्जनविधि तथा शान्तिकर्म, इष्टि होम और जप, स्वस्त्ययन, वेदोक्त नियम तथा प्रायश्चित्तों का भी आचरण करे।

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रायशो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥९६॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये ।
तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते ॥९७॥

भूतों के अधिपति देव, ईश्वर, जगत्प्रभु को पूजता हुआ प्रायः व्यक्ति नित्य उन्मादजभय को जीत लेता है। अर्थात् जो व्यक्ति नित्य शान्तता से बैठकर भगवान् का नामस्मरण करता है वह कभी पागल नहीं होता। भजन से प्राप्त एकाग्रचित्तता (concentration of mind) के कारण ही उन्माद की आशंका सदा के लिए नष्ट होजाती है।

रुद्र के प्रमथ नामक जो गण लोक में विचरते हैं उनकी पूजा को करने वाला उन्मादों से मुक्त होजाता है।

बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरौषध्यगदधारणैः ।
सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः ॥९८॥
देवगोब्राह्मणानां च गुरूणां पूजनेन च ।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥९९॥

बलियों से, मंगल कर्मों से, होमों औषध तथा अगद धारण करने से, सत्याचरण से, ज्ञान, दान, नियम तथा व्रतों से, देवता-गाय-ब्राह्मणों तथा गुरुओं का पूजन करने से तथा सिद्ध मन्त्रों तथा औषध योगों से आगन्तु उन्माद शान्ति प्राप्त करता है।

यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मार चिकित्सिते ।
उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥१००॥

जो थोड़ा बहुत अपस्मार चिकित्सा में कहा जावेगा उसे हेतु और दूष्यों की समानता के कारण करना चाहिए।

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥१०१॥

मांस मदिरा से निवृत्त जो हितभोजी संयमी, पवित्र तथा सात्त्विक होता है वह निज या आगन्तु उन्मादों से युक्त नहीं होता।

वक्तव्य—(२०७) श्लोक ८३ में घृत मांस वितृप्तं वा तथा निवृत्तामिषमद्यो या दोनों में पूर्णतः विपरीतता है। इस दृष्टि से श्लोक ८३ की 'चक्रपाणि दत्त' की टीका बहुत अच्छा प्रभाव डालती है:—

मांसञ्च यद्यपि निवृत्तामिषमद्यो य इत्यादिनोन्मादे निषिद्धं तथाप्येवंविधेन प्रयोगेण मांसयोगमाह, यथा भय-हर्षयोरुन्मादकारणत्वेपि तौ पुनरुन्मादे विधेयत्वेनोच्येते सान्त्वनं हर्षेण भयम् इत्यादिना। अन्ये तु निवृत्तमांसत्वमागन्तून्माद-प्रशमनमिति व्याख्यानयन्ति। तेनेह निजे मांस विधानेऽनव-रोध इति व्याख्यानयन्ति। अन्ये तु मांससेवयोन्मादो भवतीति निवृत्तामिषमद्यो य इत्यनेनोच्यते। सोपदेशन्तु मांसमुन्माद प्रशमनमिति भिन्न विषयतया न विरोध इति वर्णयन्ति। किन्तु निदानोक्तस्यापि मांसस्य स्वजन्यव्याधिप्रशमकत्वं सुवि-रोधमेव तेन पूर्वमेव समाधानमात्र समीचीनमिति पश्यामः॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्माद लक्षणम् ॥१०२॥

इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, आत्मा, मन की प्रसन्नता धातुओं का प्रकृति में स्थित होना, उन्मादमुक्त के लक्षण (हैं)।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकः

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम् ।
निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥१०३॥

वहां श्लोक (है कि):—

वैद्यों में उत्तम भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने निज और आगन्तु कारण वाले उन्मादों के निदान, लक्षण

चिकित्सासहित कह दिये हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सित स्थाने उन्मादचिकित्सितं नामनवमोऽध्यायः ॥९॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत (इस) शास्त्र में चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चिकित्सास्थान में उन्माद चिकित्सित नामक नवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

दशमोऽध्यायः

अपस्मारचिकित्सा

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) अपस्मार चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। इस प्रकार भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

अपस्मारनिरुक्ति

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः ।
तमः प्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसम्प्लवात् ॥२॥

बुद्धि तथा मन के समावृत होजाने के कारण (कुछ काल के लिए) स्मृति के नष्ट हो जाने को (फेन वमन अङ्ग भङ्ग आदि) बीभत्स चेष्टा करने को जानकर चिकित्सक अपस्मार कहते हैं।

वक्तव्य—(२०८) जिस रोग में आवस्थिक (for the time being) रूप में व्यक्ति एक दम अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा अपने को जाने स्मृति जाती रहे अर्थात् संज्ञाहीन होजाय और उसकी मुखाकृति भाग आने से या अन्य चेष्टाओं से बिगड़ जाय इस रोग को अपस्मार (epilepsy) कहा जाता है।

अपस्मारसम्प्राप्ति

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात् ।
रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ॥३॥

चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा ।
मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्त्तते ॥४॥

हानिकारक अपवित्र भोजन करने से उन्मार्गगामी (अथवा अस्थिर) बहुत से दोषों से युक्त व्यक्तियों के मन पर रज और तम दोनों के द्वारा आघात पहुँचने पर हृदय में दोषों का आवरण होने पर तथा चिन्ता-काम-भय-क्रोध-शोक आदि उद्वेगों

से मन के अभिहत होने पर पुरुषों को अपस्मार प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य (२०९) आचार्य ने ऊपर दो श्लोकों में अपस्मार क्योंकर होता है इसका विचार किया है। हमें अपस्मार की सम्प्राप्ति जानने से पूर्व त्रिगुणात्मक प्रकृति और त्रिदोषात्मक शरीर व्यापार इन दोनों को भले प्रकार समझ लेना चाहिए। मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार वात, पित्त तथा कफ नामक तीन दोषों का अधिकार है वे चाहे जब व्यक्ति को स्वस्थ वा अस्वस्थ बना सकते हैं उसी प्रकार यह मानव शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति के भी आधीन है। त्रिगुणों में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन तीन का समावेश होता है। सतोगुण व्यक्ति में सब श्रेष्ठ गुणों का प्रतिनिधि और चैतन्य का बोधक है। भगवान् के सच्चिदानन्दस्वरूप में सत् का जो भाव है वही यहां अभिप्रेत है। रजोगुण समस्त शारीरक्रियाओं का द्योतक है। तथा तमोगुण व्यक्ति के अवसाद और निष्क्रियता का प्रत्यक्षरूप है।

अपस्मारी के मन को जो सतोगुण से पूरित और चैतन्य प्रधान रहता है रज और तम आवृत कर लेते हैं। यह मन हृदय में जो चेतना का स्थान है वहां निवास करता है। तमोभिभूत मन होते ही रोगी को अन्धकार ही अन्धकार कुछ क्षणों के लिए दीख पड़ता है फिर उसके बाद वह बिल्कुल ही तमोगुण के आधीन हुआ बेहोश होजाता है।

रजोगुण की वृद्धि का प्रधानकारण है मानसिक उद्वेगों की वृद्धि। कामवासना से पीड़ित स्त्री की जब कामशान्ति नहीं होती उसके मन में पुत्र प्राप्ति की कामना की पूर्ति नहीं होती या पुत्रादि होने पर भी मन भर मैथुनजन्य सन्तोष उसे नहीं प्राप्त होता तो उसका मन सतोगुणभूयिष्ठ न होकर रजोगुणभूयिष्ठ होजाता है तथा धीरे धीरे उसमें तमोगुण का भाव बढ़ता है और एकदिन उसे हिस्टीरिया या अपस्मार का दौरा हो ही जाता है।

अत्यन्त चिन्ताशील व्यक्ति भी बेहोश हुए देखे जाते हैं। पुत्रशोक से व्याकुल माता या पिता का बेहोश होकर स्मृतिशून्य होजाना, प्राणभय उपस्थित होने पर स्मृतिशून्य निश्चेष्ट, अवाक् रहजाना, क्रोध से भी उसी प्रकार अपस्मृति की उत्पत्ति मन पर उद्वेगों के प्रभाव के कारण उसके सतोगुण की कमी और रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि से सदैव सम्भव है।

शरीरस्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति का यह विकार मूलरूप में अशुचिकर अपवित्र भावों की प्राप्ति अहितभोजनादि के सेवन से कुपित हुए वातपित्तकफ नामक त्रिदोषजन्य ही होता है। त्रिदोषों का प्रकोप त्रिगुणात्मक प्रकृति के साम्य में वैषम्य की उपस्थिति का मन को प्रभावित करना उसमें कामशोकादि उद्वेगों का घृताहुतिवत् काम करना अपस्मार की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। प्रकुपित दोष अपस्मार में विशेष रूप से चेतनाधिष्ठान हृदय के क्षेत्र को आवृत करके मन को तमोभिभूत करते हैं। जो कार्य प्रकृतावस्था में निद्रा का होता है वही विकृतावस्था में देखा जाता है।

धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि।
सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥५॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि।
जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन्।
दोषवेगे च विगते सुप्तवत् प्रतिबुध्यते ॥६॥

अपस्मार के सामान्यलक्षण

धमनियों से आश्रित दोष क्योंकि हृदय को पीड़ित करते हैं (उन दोषों से) खूब पीड़ा पाता हुआ (इसलिए) मूढ़ हुआ व्यक्ति भ्रान्तचेतस् (व्याकुलमना) व्यथा को प्राप्त करता है। (वह मूढ धी होने के कारण) मिथ्याभूत रूपों को देखता है गिर पड़ता है, कांपता है (उसकी) आँखें और भौं टेढ़ी होजाती हैं (मुख से) लार का स्राव होने लगता है तथा हाथ पैरों को इधर उधर पटकता हुआ, दोषवेग के नष्ट होजाने पर जाग पड़ता है।

अपस्मारभेद

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः।
कम्पते प्रदशेद् दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥७॥
पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः।
सतृष्णोष्मानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥८॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्यन् शुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥९॥
सर्व्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥१०॥

वह अपस्मार अलग अलग दोषों से (वातिक पैत्तिक तथा श्लैष्मिक) और समस्त दोषों से (सान्निपातिक इस प्रकार) चार प्रकार का कहा जावेगा।

वायु से (वातिक अपस्मार में रोगी) कांपता है, दांतों को काटता है (मुख तथा नाक से) झाग वमन करता हुआ जोर जोर से श्वास लेता है (और बेहोश होने से पूर्व) कठिन, अरुण और काले रूपों को देखता है।

पैत्तिक अपस्मार वाला पीले झाग (निकालता है उसका) शरीर, मुखमण्डल तथा नेत्र पीले होते हैं। (वह) पीले (और) लाल रूप का (रुधिर का भी) दर्शन (करता है)। वह तृष्णासहित उष्ण होकर (चारों ओर) अग्नि से व्याप्त लोक को देखने वाला (होता है)।

श्लैष्मिक (अपस्मारी) सफेद झाग (निकालता है उसका शरीर, मुखमण्डल तथा नेत्र सफेद होते हैं। शीतल, रोमाञ्चयुक्त और गुरु अङ्ग वाला होकर श्वेत रूपों को देखता हुआ देर में होश में आता है।

इन (उपरोक्त) सब लक्षणों से युक्त त्रिदोषज अपस्मार जानना चाहिए। जो दुर्बल रोगी को हुआ हो, जो नवीन न हो वह असाध्य (होता है)।

वक्तव्य—(२१०) त्रिदोषज अपस्मार जिसमें सब लक्षण मिलें वह असाध्य होता है पर जिसमें एकदैशिक लक्षण हों चाहे फिर वह त्रिदोषज हो वह साध्य होता है। एक दोषज अपस्मार भी यदि क्षीण व्यक्ति को हो या जो बहुत दिन का पुराना होगया हो वह असाध्य हुआ करता है। समवेतसर्वलिङ्गमपस्मारं सान्निपातिकं विद्यात् तम् असाध्यमाचक्षते यह निदानस्थान में पहले कह दिया गया है।

अपस्मार के वेग का काल

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्मारांय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥११॥

प्रकुपित दोष पक्ष से, द्वादशाह (बारह दिन) से अथवा मास से अपस्मार के लिए थोड़े समय के लिए वेग (दौरा) करते हैं। अर्थात् अपस्मार का दौरा थोड़े अन्तर (समय) के लिए १२-१५ या ३० दिन अथवा और भी काल लेकर होता है।

अपस्मार चिकित्साक्रम

तैरावृतानां हृत्स्रोतो मनसां सम्प्रबोधनम् ।
तीक्ष्णैरादौ भिषक्कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः ॥१२॥
वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः ।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥१३॥
सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च ।
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान् संशमनान् शृणु ॥१४॥

उन दोषों के द्वारा आवृत्त हृदय स्रोत मन के (जगाने के लिए) आरम्भ में तीक्ष्ण वमनादिक कर्मों से वैद्य सम्प्रबोधन (कार्य) करे।

वातिक अपस्मार को वस्तिप्रधानकर्मों से, पैत्तिक अपस्मार को प्रायः विरेचनकर्मों से तथा श्लैष्मिक अपस्मार को प्रायः वमनकर्मों से ठीक करे।

सब प्रकार से सुविशुद्ध और भले प्रकार आश्वस्त हुए रोगी के अपस्मार की विमुक्ति के लिए संशमन योगों को (हे अग्निवेश ! तू अब) सुन।

पञ्चगव्यघृत

गोशकृद्रसदध्यम्ल क्षीरमूत्रैः समैर्घृतम् ।
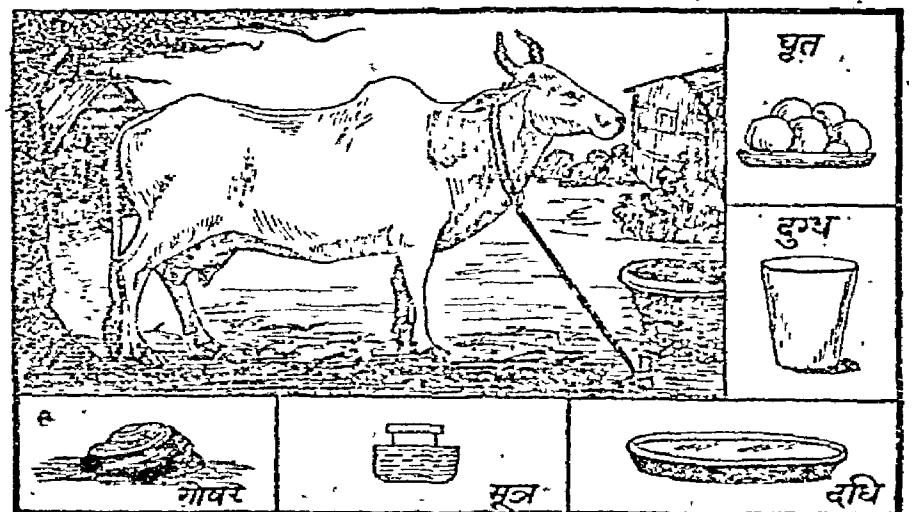
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥१५॥
(इति पञ्चगव्यघृतम् ।)

समान भाग गोबर रस, गोदध्यम्ल (खट्टे गाय के दही), गोदुग्ध, गोमूत्र से सिद्ध अपस्मार, कामला तथा ज्वरनाशक गोघृत (रोगी) पिये ।

महापञ्चगव्यघृत

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफलां रजन्यौ कुटजत्वचम् ।
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥१६॥
शम्पाकं फल्गुमूलञ्च पौष्करं सदुरालभम् ।
द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥१७॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च ।
श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ ॥१८॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम् ।
क्षिपेत्पिष्ट्वाक्षमात्राणि तैः प्रस्थं सर्पिषः पचेत् ॥१९॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः ।
पञ्चगव्यमितिख्यातं महत् तदमृतोपमम् ॥२०॥
अपस्मारे ज्वरे कासे श्वयथावुदरेषु च ।
गुल्मार्शः पाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥२१॥
शस्यते घृतमेतत्तु प्रयोक्तव्यं दिने दिने ।
अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम् ॥२२॥
(इति महापञ्चगव्यंघृतम् ।)

दोनों (लघु तथा महा) पञ्चमूल, हरड़, बहेड़ा, आमला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटज की छाल, सप्तपर्ण, अपामार्ग, नील, कुटकी, अमलतास, अंजीर की जड़, दुरालभा सहित पुष्करमूल, इनके २-२ पलों को १ द्रोण (द्रव्यद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर एक एक अक्ष बराबर पीस कर नारंगी, पाठा, सोंठ, मिर्च, पीपल, निशोथ समुद्रफल, तथा गजपिप्पली, अरहर, मूर्वा, दन्ती, चिराइता, चित्रक, दोनों सारिवा, रोहिषतृण, अजवाइन, मेंहदी, डाले और इनके द्वारा उसके समान मात्रा (१-१ प्रस्थ) से गोबररस, गाय का दध्यम्ल, गोदुग्ध तथा गोमूत्र द्वारा १ प्रस्थ घी पकावे । इस प्रकार वह अमृत के समान महापञ्चगव्य विख्यात है ।

अपस्मार में, ज्वर में, कास में, शोथ तथा उदर रोगों में, गुल्म, अर्श, पाण्डुरोग में, कामला में, हलीमक में यह घृत प्रशस्त है । दारिद्र्य ग्रह बाधा-रोगनाशक चातुर्थक विषमज्वरविनाशक (यह घी) दिन प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए ।

अन्य सिद्धघृत

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च ।
पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपापनुत् ॥२३॥

ब्राह्मी स्वरस वालवच-कुष्ठ-शंखपुष्पी (तीनों को समभाग चूर्ण) के साथ ही (विधिपूर्वक सिद्ध किया हुआ) पुराना घी उन्माद अलक्ष्मी अपस्मार तथा पाप का नाश करता है ।

वचाशम्पाक कैटर्य्यवयःस्था हिंगु चोरकैः ।
सिद्धं पलङ्कषायुक्तं वातश्लेष्मात्मको घृतम् ॥२४॥

वालवच, अमलतास (का गूदा), कैटर्य (नीम-भेद) गिलोय, हींग, चोरपुष्पी के साथ गुग्गुलु मिलाकर सिद्ध किया घृत वातकफात्मक (अपस्मार में लाभ करता है) ।

घृतं सैन्धवहिंगुभ्यां वार्षे बास्ते चतुर्गुणे ।
मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम् ॥२५॥

सेंधानमक तथा हींग के साथ मिलाकर चौगुने बैल तथा बकरे के मूत्र में सिद्ध घृत अपस्मार (तथा) हृद्ग्रहरोगनाशक है ।

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
क्षीरद्रोणे पचेत् सिद्धमपस्मारविनाशनम् ॥२६॥

तैल एक प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, जीवनीयगण की औषधियां एक एक पल बराबर लेकर उनके साथ १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) दुग्ध में पकावे सिद्ध (होने पर यह यमक) अपस्मार विनाशक (है) ।

कंसेक्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे ।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च सर्पिः प्रस्थं विपाचयेत् ॥२७॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति ।
तद्वत् काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम् ॥२८॥

उसी प्रकार कांस, विदारीकन्द, ईख तथा कुश के क्वाथ में उबाला हुआ घृत (वात-पित्तजन्य अपस्मार नाशक होता है)।

मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात्।
तद्वत् सिद्धो घृतप्रस्थः पित्तापस्मारभेषजम्॥२६॥

मुलहठी के दो पल कल्क में एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से दो द्रोण) आमलकी के रस से उसी प्रकार एक प्रस्थ सिद्ध घृत पित्तापस्मार की (अच्छी) भेषज (होती है)।

अभ्यङ्गः सार्षपं तलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे।
सिद्ध स्याद्गोशकृन्मूत्रः स्नानोत्सादनमेव च॥३०॥

चार गुने बकरे के मूत्र में सिद्ध सरसों का तैल अभ्यङ्ग तथा गोबर स्नान और गोमूत्र उत्सादन (के लिए ही प्रयोग करे)।

कटभीनिम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे।
सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते॥३१॥

कटभी (सिरस भेद), नीम, अरलु, लाल सहंजन (प्रत्येक की) छाल के (तैल से चौगुने) रस में तथा गोमूत्र के बराबर तैल सिद्ध किया हुआ अभ्यंग के लिए प्रशस्त होता है।

पलङ्कषादि तैल

पलङ्कषावचापथ्या वृश्चीकाल्यर्कसर्षपैः।
जटिलापूतनाकेशीलांगुली हिंगुचोरकैः॥३२॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम्।
मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे॥३३॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम्।
एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं सप्रलेपनम्॥३४॥

ब्राह्मी

दूध, गन्ने का रस दोनों के एक कंस (आढक द्रव में तथा) गम्भारी के आठ गुने रस में एक एक कर्ष जीवनीयगण की ओषधियों के साथ एक प्रस्थ घृत पकावे। वात तथा पित्त से उत्पन्न अपस्मार को (यह घृत) शीघ्र नष्ट कर देता है।

गुग्गुलु, बचा, हरड़, बिछुआ, मदार, सरसों, जटामांसी, हरड़ जटामांशी, कलिहारी, हींग, चोरपुष्पी, लशुन, शतावरी, द्रवन्ती, मांस खाने वाले पक्षियों की जितनी भी मिल सकें बीटों के साथ चारगुने बकरे के मूत्र में सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग अपस्मारनाशक

है। इन्हीं औषधों से प्रलेपन तथा धूपन करना चाहिए।

पिप्पली लवणं हिंगु शिग्रु हिंगु शिवाटिकाम्।
काकोली सर्षपान् काकनासां कैटर्य्यचन्दने ॥३५॥
शुनः स्कन्धास्थिनखरान् पार्शुकांश्चेति पेषयेत्।
वस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात्सधूपनः ॥३६॥

पिप्पली, सेंधालवण, हींग, सहंजन, हिंगुपत्री, काकोली, सरसों, काकनासा, नीमभेद (कैटर्य), चन्दन कुत्ते के कन्धे की हड्डी (कुत्ते के) नाखून तथा पसली बकरे के मूत्र के साथ पुष्य नक्षत्र में पीसले। अपस्मार में इससे प्रदेह तथा धूपन (करे)।

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः।
उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम् ॥३७॥

तुलसी, कूठ, हरड़, केशिनी (जटामांसी) चोरपुष्पी ये सब मूत्र से पीसी हुई (से) उत्सादन करे तथा गोमूत्र से ही अवसेचन करे।

जलौकः शकृता तद्वद्दग्धैर्वा वस्तरोमभिः।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः ॥३८॥

जलाये हुए जोंक की बीट से बकरे के रोमों से गधे की एड़ी से हाथी के नखों से तथा गाय की पूंछ के रोओं से (उत्सादन) करे)।

अपस्मार में नस्ययोग

कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्।
श्वश्रृगालविडालानां सिंहादीनाञ्च शस्यते ॥३९॥
भार्गी वचा नागदन्ती श्वेता श्वेता विषाणिका।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः।
योगास्त्रयोऽतः षड्विन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक् ॥४०॥
त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्झकैः।
श्यामापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रे च वस्तजे।
साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम् ॥४१॥
पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च।
भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम् ॥४२॥

कपिला गायों के मूत्र का नस्य परम हितकर होता है। कुत्ता, गीदड़, बिलौटों तथा सिंहों के मूत्रों का नस्य भी प्रशस्त होता है।

(१) भारंगी, बालबच, नागदन्ती।

(२) श्वेत अपराजिता, श्वेता, विषाणिका (कटभी तथा मरोड़फली)।

(३) (अथवा) मालकांगनी तथा नागदौन वे श्लोकपाद में कहे गये मूत्र से पेषित तीनों योग ६ बूंद या ५ बूँद नाक में वैद्य छोड़े।

हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मरिच, पीपल, दारुहल्दी, यवक्षार, फणिज्झक (मरुआ) निशोथ, अपामार्ग, करंजबीज, बकरे के मूत्र में साधित तैल का नस्य अपस्मारविनाशक (होता है)।

पीपल, बिछुआटी तथा कूठ पांचों नमक तथा भारंगी चूर्ण करके नस्य या प्रधमन (insufflation) करना चाहिए।

अपस्मार में अञ्जनयोग

कायस्थां शारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा।
सव्योषान् वस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्त्तीः प्रकल्पयेत् ॥४३॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते।
विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः ॥४४॥

इलाइची, शरदुत्पन्न मूंगों, मोथा, खस, त्रिकटु-सहित तथा जौओं को बकरे के मूत्र में पीसकर (आंख में आंजने के लिए) बत्ती बनाले। अपस्मारों में, उन्माद में, सर्पदष्ट में, गरविष से पीड़ित में विष पीये हुए में तथा जल में डुबकी भरे में ये बत्तियां अमृत के समान हैं।

मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिंगु शाद्वलाम्।
व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बास्तमेषार्षभैस्त्रिभिः ॥४५॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्।
किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च ॥४६॥

मोथा, गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आमला, इलाइची, हींग, दूब, सोंठ, मिर्च, पीपल, उड़दों जौओं को बकरा-मेंढा-बैल (इन) तीनों के मूत्रों से पीसकर के (बनाई गई) उस वर्ति को अपस्मार में, श्वेतकुष्ठ में तथा उन्माद में, और विषमज्वरों में प्रयोग करे।

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम् ।

पुष्य नक्षत्र में निकाला गया कुत्ते के पित्त का अञ्जन अपस्मारनाशक (होता है)।

धूपनयोग

तदेव सर्पिषायुक्तं धूपनं परमं मतम् ॥४७॥

वही (कुत्ते का पित्त) घी मिलाकर परम धूपन माना जाता है।

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद् भिषक् ॥४८॥

न्यौला, उल्लू, बिल्ली, गिद्ध, बिच्छू, सर्प और कौए की चोंच, पंख और मल के द्वारा वैद्य (अपस्मार में) धूपन करावे।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते ।
स्रोतांसि चास्य शुद्ध्यन्ति स्मृतिं संज्ञाञ्च विन्दति ॥४९॥

इन सिद्ध क्रियाओं से हृदय प्रबुद्ध (जागृत) होजाता है। और इस (रोगी) के स्रोतस् शुद्ध होजाते हैं तथा स्मृति तथा संज्ञा (होश) प्राप्त हो जाता है।

अपस्मार में आगन्तु का अनुबन्ध

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः ।
दृश्येत तस्य कार्यं स्यादागन्तून्मादभेषजम् ॥५०॥

दोष और लक्षणों से अधिक स्वरूप वाला जिसका आगन्तु अनुबन्ध (देवयक्षपिशाचादि का अनुबन्ध) दिखाई दे उसकी आगन्तून्माद जैसी चिकित्सा करनी होती है।

अतत्त्वाभिनिवेश

अनन्तमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः ।
भगवन्पूर्वमुद्दिष्टः सूत्रस्थाने महागदः ॥५१॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम् ।
तत्र नोक्तमतः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम् ॥५२॥

तत्पश्चात् अग्निवेश ने हाथ जोडकर यह कहा "हे भगवन्! पहले सूत्रस्थान में (आपने) अतत्त्वाभिनिवेश (नामक) जो महारोग कहा है उसका हेतु

आकृति तथा चिकित्सा वहां नहीं कही इसलिए (उसे) सुनने की (मैं) इच्छा करता हूँ (उसे) इस प्रकरण में (कृपया) कहिए॥"

शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः ।
महागदं सौम्य ! शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम् ॥५३॥
मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान् निगृह्णतः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥५४॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः ।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ॥५५॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते ।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढाल्पचेतसः ॥५६॥
विषमां कुर्वते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥५७॥

उपरोक्त वचन सुनकर भगवान् पुनर्वसु ने श्रवण के इच्छुक शिष्य के लिये कहा "हे सौम्य! हेतु आकृति तथा भेषजसहित महारोग (अतत्त्वाभिनिवेश) को (तू) सुन।"

गन्दा भोजन करने वाले का, प्राप्त वेगों को रोकने वाले का, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष आदि अतिसेवित हेतुओं से रज और मोह से ढंके हुए मन वाले व्यक्ति

के दोष हृदय का आश्रय करके मनोवह बुद्धिवह शिराओं (नाड़ियों) को दूषित करके (वहां पर) टिकते हैं। बढ़े हुए रज और तमोगुण से बुद्धि और सत्त्व में आवरण होने पर दोषों के कारण चित्त के व्याकुल होने पर मूढ़ अल्पचेत वाले व्यक्ति नित्य-अनित्य, इस हित-अहित में विषम बुद्धि कर देता है। महारोग को आप्त पुरुष अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं।

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्यवमनादिभिः।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥५८॥

स्नेहस्वेदनयुक्त, वमनादिकों से शुद्ध करके, संसर्जनकर्म किये गये इसको मेध्य अन्नपानों से ठीक करे।

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्।
तत् सेव्यं शङ्खपुष्पी वा यच्च मेध्यं रसायनम् ॥५९॥

ब्राह्मीस्वरस से युक्त जो (घृत पहले इसी अध्याय में श्लोक २३ में कहा गया है) और जो पञ्चगव्य (नामक स्वल्प, तथा महा पञ्चगव्यघृत) कहा है उसे सेवन करना चाहिए अथवा शंखपुष्पी और जो मेध्यरसायन (पहले कही गई हैं उन्हें सेवन करना चाहिए)।

हृदयस्यानुकूलाश्च कथाः सिद्धार्थवादिनः।
संयोजयेर्युर्विज्ञानं धैर्य्यस्मृतिसमाधिभिः ॥६०॥

सिद्धार्थवादी पण्डितजन की मनोनुकूल कथा तथा धैर्य, स्मृति समाधि के द्वारा विज्ञान को (बतलाने वाली कथा को) आयोजित करे।

प्रयोज्यं तैललशुनं पयसा वा शतावरी।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥६१॥

तैल (में भुना) लशुन, अथवा शतावर, अथवा ब्राह्मीरस अथवा कूठ का रस अथवा बालबच मधु मिलाकर दूध के साथ प्रयोग करनी चाहिए।

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः।
तस्माद्रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत् ॥६२॥

चिरकारी (chronic), कृतास्पद (जिसने घर कर लिया हो ऐसा) अपस्मार दुश्चिकित्स्य ही (होता है) इस कारण रसायन (योगों) के द्वारा प्रायः इसकी चिकित्सा करे।

सावधानी (caution)

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तौ सदा।
रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते ॥६३॥

जल, अग्नि, वृक्ष, पर्वतों से तथा अन्य विषम स्थानों से अपस्मारी तथा उन्मादी दोनों की ही सदा रक्षा करे क्योंकि (जलादि) वे शीघ्र प्राण हरने वाले होते हैं।

वक्तव्य—(२११) अपस्मार के रोगी को दौरा कहीं भी पड़ सकता है। हमारे गुरू विज्ञान के निर्देशक डाक्टर शाह की पत्नी रोटी बनाते बनाते दौरे से पीड़ित होकर जल गई, कितनेक व्यक्ति गंगास्नान करते करते दौरे से पीड़ित होकर प्राण दे बैठते हैं। पर्वत वृक्ष इनसे गिरना सदैव इन दौरों में देखा जाता है इस कारण अपस्मारी की इन सब स्थानों से सावधानी के साथ रक्षा करनी चाहिए। पागल आदमी की भी इसी दृष्टि से रक्षा परमावश्यक होती है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौ

हेतुः कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा।
सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषाञ्च भेषजम् ॥६४॥
महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम्।
मुनिर्व्यासममासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते ॥६५॥

वहां उपसंहारात्मक दो श्लोक (हैं कि)—

हेतु, जिस प्रकार प्रकुपित दोष अपस्मार को करते हैं (अर्थात् सम्प्राप्ति), सामान्य तथा पृथक्-पृथक् लक्षण उनकी चिकित्सा महारोग (अतत्त्वाभिनिवेश) से उत्पन्न लक्षण औषध सहित अपस्मार चिकित्सित (नामक अध्याय) में मुनि आत्रेय ने विस्तारपूर्वक तथा संक्षेप से कहा है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽपस्मार चिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में अपस्मार चिकित्सित नाम का दसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

एकादशोऽध्यायः

क्षतक्षीण चिकित्सा

अथातः क्षतक्षीण चिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) क्षतक्षीण चिकित्सित (नामक ग्यारहवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

उदारकीर्त्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित् ।
क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥२॥

उदारकीर्त्ति, परमार्थवेत्ता, ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षतक्षीण चिकित्सा के लिए यह चिकित्सा अध्याय कहा।

क्षतक्षीणनिदान

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।
पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः ॥३॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥४॥
अधीयानस्य वात्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीं वा तरतो हयैर्वा सहधावतः ॥५॥
सहसोत्पततोऽत्यर्थं तूर्णञ्चातिप्रनृत्यतः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च ॥६॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥७॥

धनुष द्वारा अत्यन्त आयास (परिश्रम) करते हुए, भारी बोझ धारण करते हुए, विषम और उच्च स्थानों से गिरते हुए, बलवानों के साथ युद्ध करते हुए, दौड़ते हुए बैल या घोड़े या अन्य किसी दमनीय को रोकते हुए, शिला, काष्ठ, पत्थर (मुद्गर, गदा आदि) को फेंकते हुए अथवा (उनसे) दूसरों को मारते हुए,

अत्यन्त उच्चस्वर से पढ़ते हुए या दूरतक शीघ्रता से जाते हुए, बड़ी नदी को तैर कर पार करते हुए, अथवा घोड़ों के साथ (घुड़दौड़ में) दौड़ते हुए, अचानक दूर तक छलांग मारते हुए, तेजगति से खूब नाचते हुए, तथा अन्य क्रूरकर्मों से अत्यन्त आहत हुए, स्त्रियों में अत्यधिक आसक्त रूक्ष, और अल्प मात्रा में खाने वालों के वक्षस्थल (फैफड़ों) में विक्षत (lesion घाव) होने पर बलवान् व्याधि उत्पन्न होती है।

उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते ।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥८॥
क्रमाद् वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते ।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधस्तथा ॥९॥

दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः ।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सास्रः प्रवर्त्तते ॥१०॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ।
अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥११॥

उसकी छाती में दर्द होता है वह फटती तथा टूटती है उसके बाद दोनों पार्श्वों में पीडा होती है शरीर सूखता तथा कांपता है । क्रमानुसार वीर्य, बल, वर्ण, तथा अग्नि नष्ट होजाती है । ज्वर रोग, मन की दीनता मलभेद, अग्नि का नाश (होता है) दुष्ट, श्याव, दुर्गन्धयुक्त पीला, गांठदार, बहुत सा खांसते हुए रोगी के बारबार कफ निकलता है इस प्रकार क्षत (वाला) वह शुक्र तथा ओज का क्षय होने से अत्यन्त क्षीण हो जाता है । अल्पव्यक्त लक्षण यह उसका पूर्व रूप है ऐसा माना गया है ।

वक्तव्य-(२१२) मुख्यतया क्षतक्षीण एक फुफ्फुसरोग (a disease of respiratory system) है । इसकी उत्पत्ति में श्वास का इतना रोकना कि दम उखड़ जाय मुख्य हेतु बताया है । धनुष का निरन्तर चढ़ाना, विषमोच्च स्थानों से गिरना, घोड़े या कार के पीछे दौड़ना, बड़ी नदी का तैरना और इसी प्रकार के ऐसे कार्य जिनमें बहुत अधिक परिश्रम पड़ता है साथ ही रूक्षाल्पप्रमित भोजन का मिलना और स्त्री के साथ बराबर रमणशील रहना इन सबके कारण उरस् (chest) में पीड़ाएँ होती हैं ऐसा लगता है मानो कोई उसे भेद रहा हो और फेंफड़े के अन्दर अवश्यमेव क्षत बन जाता है जो रोगी के बल वीर्य वर्ण और अग्नि को धीरे धीरे नष्ट करके उसे कृशकाय, दीन मरणासन्न बना देता है । दुष्ट श्याव दुर्गन्धित और सरक्तकफ का आना उरःक्षत जिसे आधुनिक भाषा में 'ब्रोंकिएक्टैसिस' कहते हैं का प्रकट रूप है । शुक्र और ओज के क्षीण होने से तथा क्षत के कारण व्यक्ति क्षीण होता चला जाता है ।

एक पहलवान् ने एक दिन दो मन से ऊंचा नाल उठाया ! लोगों के देखते देखते इस पराक्रम के कार्य को वह कर तो गया पर ऐसा करने में उसका दम उखड़ गया । फेंफड़े में फोड़ा होगया और क्षतक्षीण होने के कारण एक साल में मर गया । उसकी स्त्री विधवा बैठी हुई है । चरक के काल में इसे लोग भले प्रकार पहचानते थे । एक्सरे से देखने पर इसमें गह्वर (cavities) मिलते हैं । जिसे हम आज टी० बी० कहते हैं क्षतक्षीण उसी का एक रूप है । यक्ष्मा और क्षतक्षीण में शारीर विकृति के अनुसार अन्तर है । यक्ष्मा शरीर के प्रत्येक भाग में होसकती है पर क्षतक्षीण के स्थान निश्चित हैं । यक्ष्मा में क्षतक्षीण के लक्षण बहुतायत से मिलते हैं पर क्षतक्षीण के सभी रुग्ण यक्ष्मा में ही परिणत होजांय यह आवश्यक नहीं । अधिक आयास के कारण बने फोड़े के कारण बल वर्ण वीर्य ओज के क्रमिक विनाश से शुक्रक्षय होकर प्रतिलोमक्षय का रूप तो बनता है और क्षतक्षीण प्रायः यक्ष्मा में बदल जाते हैं (देखिए श्लोक ६४) पर यदि सावधानी रखी गई तो क्षतक्षीण को यक्ष्मा का रूप लेने से रोका जासकता है ।

क्षतक्षीण-विशिष्टलक्षण

उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥१२॥

क्षतक्षीण (रोग) में छाती में शूल, रक्त की वमन, (और) विशेष प्रकार की खांसी तथा रक्तसहित मूत्र का आना, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह (तथा) कटिग्रह भी मिलते हैं ।

साध्यासाध्यविचार

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥१३॥

अल्प लक्षण वाला, अग्नि (जिसकी) दीप्त (हो). (रोगी) बलवान् (हो और) रोग नया (हो वह) साध्य, एक वर्ष बीत जाने पर रोग याप्य तथा सम्पूर्ण लक्षणों (से युक्त) तो (असाध्य जान कर अवश्यमेव) छोड़ दे ।

वक्तव्य—(२१३) स्ट्रेप्टोमायसीन तथा आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्रैजाइड युग के पूर्व चरक ने जो बात कही है वह उतनी ही सत्य है जितनी तब थी । जिसके मुख से रक्तष्ठीवन चलता हो जो ढेर सा कफ निकाल कर फेंक देता

हो जिसका ओज वीर्य और बल क्षीण होगया हो तथा रोग पुराना हो वह तो खुदा की राह पर बैठा मानना चाहिए यश का इच्छुक वैद्य उसकी चिकित्सा व्यर्थ समझ कर ही करे। एक वर्ष पुराना रुग्ण जो बलवान् हो आजकल सरलता से बचा लिया जासकता है फुफ्फुसों के क्षतज भाग का उच्छेद करके शस्त्रकर्मपरायण व्यक्ति के द्वारा थोड़ा और भी लाभ होजावे पर कुछेक वर्ष से ऊपर दुर्बल रोगी की रक्षा प्रत्यक्षमत से तथा शास्त्रीय मत से बेकार ही होती है। नये उरःक्षती की बड़ी सुन्दर और सिद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति है जिसके उपयोग से अपरिमित तथा पूर्ण लाभ होसकता है।

लाक्षादियोग

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्।
सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्करम् ॥१४॥

छाती में क्षत मानकर लाख को शहद मिलाकर दूध के साथ तुरत पिये। (उसके) पच जाने पर शर्करा सहित दूध के साथ (अन्न) सेवन करे।

वक्तव्य-(२१४) लाख को उरःक्षत (bronchiectasis) पर आचार्य ने विशेषरूप से प्रयोग करने को कहा है। लाख एक तो घाव को भरती है, दूसरे यह रक्तस्थापक होने से रक्तष्ठीवन (haemoptysis) को रोकती है तीसरे यह क्षत में बनने वाले व्रण से उत्पन्न विष का विनाश करती है। हो सकता है लाक्षा में रक्तस्थापक व्रणरोपक कोई विशिष्ट-तत्व भरा हो जिसकी खोज करके उसका सूचीवेध द्वारा प्रयोग उरःक्षतनाश में एक नए चमत्कार की सृष्टि करदे। शोध की आवश्यकता है।

पार्श्वबस्तिरुजा चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥१५॥
लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम्।
त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥१६॥

पार्श्वशूल, बस्तिशूल, तथा पित्ताग्नि अल्प हो तो इस (लाक्षाचूर्ण) को सुरा के साथ मिलाकर देना चाहिए।

मलभेद (अतीसार) होने पर मोथा के साथ अतीस, तथा इन्द्रजौ के साथ पाठा (ले)।

अग्निप्रदीप्त (जिसकी हो वह उरःक्षत से पीड़ित व्यक्ति) लाख को घी, मोम, जीवनीयगण की दस औषधियों, मिश्री, वंशलोचन (तथा) समिता, (गेहूँ के आटे) को दूध में पकाकर पिये।

इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः।
शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत् क्षती ॥१७॥

उरःक्षत से पीड़ित रोगी तालमखाना, कमलकन्द की गांठ, कमलकेसर, चन्दन से पकाया शहद पड़ा दूध घाव के भरने के लिए पिये।

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम्।
ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥१८॥

जौ का चूर्ण लेकर घी में भूनकर दूध में सिद्ध करके अथवा सत्तुओं को दूध के साथ मिश्री शहद मिलाकर ज्वर में (और) दाह में (उरःक्षत से पीड़ित) पिये।

मधूकादियोग

कासी पार्श्वास्थिशूली च लिह्यात् सघृतमाक्षिकाः।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ॥१९॥

(जो उरःक्षत से पीडित) खांसीवाला, तथा पसलियों में शूल वाला (हो वह) घी और शहद के साथ महुआ, मुलहठी, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली तथा बला (के चूर्ण) को चाटे।

एलादिगुटिका

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा।
सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥२०॥
सञ्चूर्ण्य मधुना युक्ता गुटिकाः सम्प्रकल्पयेत्।
अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्ना दिने दिने ॥२१॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दि मूर्च्छां मदं भ्रमम्।
रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥२२॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतक्षयम्।
गुडिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तञ्च नाशयेत् ॥२३॥
(इत्येलादिगुटिका)

आधे आधे कर्ष छोटी इलाइची, तेजपत्र, दालचीनी तथा आधापल पिप्पली एक एक पल बराबर मिश्री

मुलहठी खजूर तथा मुनक्का (सबको) चूर्ण करके शहद से युक्त करके गुटिका बनालें। उसे एक गोली की कर्ष बराबर मात्रा को व्यक्ति दिन प्रतिदिन भक्षण करे।

कास श्वास ज्वर हिचकी वमन मूर्च्छा मद भ्रम रक्तष्ठीवन तृष्णा पार्श्वशूल अरुचि शोष प्लीहोदर आढ्यवात तथा स्वरभेद उरःक्षत, क्षय और रक्तपित्त को (यह) तर्पण करने वाली वृष्य गुटिका नष्ट करे। (यह एलादिगुटिका—है।)

अतिरक्तप्रवृत्तिनाशक योग

रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत्।
चटकाण्डरसं वाऽपि रक्तं वा छागजाङ्गलम् ॥२४॥
चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम्।
रक्तष्ठीवी पिबेत् सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥२५॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम्।

१—रक्त की अत्यधिक प्रवृत्ति होने पर मुर्गी का अण्डा (hen's egg) चिड़िया का अण्डा यूषों के साथ अथवा बकरे या जाङ्गल पशु-पक्षियों का रक्त पिये।

२—पुनर्नवा का चूर्ण, लाल शालिचावल, शक्कर (इनको) अंगूररस, दूध तथा घी से सिद्ध करके रक्तष्ठीवी पिये अथवा महुआ और मुलहठी दूध में उबाल कर या चौलाई का स्वरस पिये।

वक्तव्य -(२१५) फेंफड़ों से रक्त का स्राव अधिक होता है जो एक समस्या बनकर वैद्य के सामने खड़ी हो जाती है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त के नाम से इसका वर्णन पृष्ठ २२८ पर गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता किया गया है। रक्तरोधक रक्तपित्तप्रकरण में जो उपाय बतलाये हैं उनसे यहां वैशिष्ट्य है। यहां मुर्गी और चिड़ियों के अण्डों का स्पष्ट प्रयोग बतलाया गया है। पृष्ठ २३४ पर, 'रक्तं लिह्याद् धन्वजानां मधुना मृगपक्षिणाम्' में स्पष्टरूप से रक्त चाटने की ओर जो सङ्केत है श्लोक २४ में यहां बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। चाहे मुख द्वारा अथवा ठीक-ठीक परीक्षण के द्वारा मेंच करके सिरा द्वारा रक्त पिलाने से ही रक्तस्राव और तज्जन्य कमी को दूर करके प्राणरक्षा की जा सकती है। द्राक्षारस का जो प्रयोग प्राचीनकाल में होता था वही ग्लूकोज सौल्यूशन के रूप में आज भी विद्यमान है जो सद्यः प्राणकरानि द्रव्यों में महत्व का स्थान रखता है। तण्डुलीयक के स्वरस का प्रयोग रक्तरोधक विटामीन K (के) की ओर बरबस खींच लेता है। पालक, बथुआ और चौलाई इस जीवतिक्ति की खान हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में जो कुछ प्रयोग रक्तस्राव हैमोरेज (haemorrhage) रोकने के ब्लडट्रांसफ्यूजन, विटामीन के का प्रयोग और ग्लूकोज सौलूशन का सिरावेध से चढ़ाना आदि वे चरक के काल से ही चले आ रहे हैं और उनके सम्बन्ध में जितनी भी खोज आरम्भ हुई है उनका मूल चरक में रखा हुआ है यह उपरोक्त श्लोकों से प्रत्यक्ष हो गया।

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभ्रष्टं ससैन्धवम् ॥२६॥

मूढवात से पीड़ित रोगी सुरा में भूनी सेंधा नमक सहित बकरे की चर्बी (प्रयोग में लावे)।

क्षतक्षीण में कतिपय योग

क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनिले।
शृतक्षीरसरेणाद्यात् सक्षौद्रघृतशर्करम् ॥२७॥

कृश, क्षीण, क्षत है उर में जिसके (वह) तो वात के प्रबल होने पर निद्रा न आती हो तो उबाले हुए दूध की मलाई मधु घृत और शर्करा के साथ खावे।

शर्करा यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु।
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः ॥२८॥

मिश्री, जौ गेहूं दोनों (भुने हुए) जीवक ऋषभक दोनों शहद (इनसे बने मिष्टान्न को) उबाले हुए दूध के अनुपान से उरःक्षती तथा कृश (cachectic) चाटे।

क्रव्यादमांसनिर्व्यूहं घृतभ्रष्टं पिबेच्च सः
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्द्धनम् ॥२९॥

मांसरक्तवर्द्धक मांसाहारी पशुओं के घी में भुने मांसरस को पीपल (तथा) शहद मिलाकर वह (उरःक्षती) पिये।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियंगुभिः ।
तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ॥३०॥
साश्वकर्णैः शृतात् क्षीराद्दध्नाज्जातेन सर्पिषा ।
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः ॥३१॥

क्षतोरस्क (उरःक्षत से पीडित) क्षीण शुक्रवाला मनुष्य शालि चावलों के भात को (उस) घी के साथ खावे (जो) बरगद-गूलर-पीपल-पाकर-शाल प्रियंगु-ताल-मस्तक-जामुन की छाल और चिरोंजियों से पद्माख के सहित तथा अश्वकर्ण (पीले शाल) के साथ औटे हुए दूध से (जमाकर, मथकर) निकाला गया हो।

यष्ट्याह्वनागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम् ।
पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते हितम् ॥३२॥

मुलहठी-नागबला दोनों के काथ में समभाग दूध को (छोड़ कर) क्षीरकाकोली-पिप्पली-वंशलोचन कल्क से सिद्ध घृत उरःक्षत में हितकर (होता) है।

कोललाक्षारसे तद्वत् क्षीराष्टगुणसाधितम् ।
कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वक्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम् ॥३३॥

बेर की लाख के रस में, आठगुना दूध (तथा) श्योनाक-दारुहल्दी की छाल-कुटज की छाल इन्द्रजौ के कल्क से साधित घी (भी उरःक्षत में लाभप्रद होता है)।

अमृतप्राशघृत

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम् ।
चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके ॥३४॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम् ।
ऋद्धिं परूषकं भार्गीं मृद्वीकां बृहतीं तथा ॥३५॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम् ।
बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि ॥३६॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान् ।
धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः ॥३७॥
कुर्यात् प्रस्थोन्मितं तेन घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा ॥३८॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैला हेमत्वङ्मरिचानि च ।
विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः ॥३९॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् ।
सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥४०॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥४१॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत् ।
पुत्रदं छर्दिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥४२॥
(इत्यमृतप्राशघृतम् ।)

जीवक, ऋषभक, श्वेतमुसली, जीवन्ती, सोंठ, कचूर, चारों (शाल-प्रश्नि-मुद्ग-माष) पर्णियां, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, लाल सफेद पुनर्नवा, मुलहठी, कौंच के बीज, शतावर, ऋद्धि, फालसा, भारंगी, मुनक्का, तथा बृहती, सिंघाड़ा, भुईआमलकी, क्षीरकाकोली, पिप्पली, बला, बेर, अखरोट (की मींगी), खजूर, बादाम (की मींगी), पिस्ता (तथा उसी प्रकार के) अन्य सूखे फल (चिलगोजा, काजू आदि) एक एक कर्ष लेकर उसके कल्कों को करले।

आमलों का रस, क्षीरविदारी का रस, ईख का रस, बकरे के मांस का रस, गाय का दूध सबको १-१ प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २-२ प्रस्थ) करे उससे एक प्रस्थ गाय के घी का पाक करे।

घृतपाक शीतल होने पर आधा प्रस्थ शहद आधा तुला शक्कर तथा २-२ कर्ष तेजपत्र, नागकेसर, दालचीनी तथा कालीमिर्च चूर्ण करके डालकर उसे मात्रा के अनुसार सदैव पुरुष चाटे।

यह अमृतप्राश मनुष्यों का अमृतघृत (है) दूध मांस खाने वाले को अमृत के समान रस वाला (यह घृत अवश्य) खाना चाहिए।

(जिसका) वीर्य नष्ट (होगया है, क्षतक्षीण, दुर्बल, व्याधि से कृश (convalescent), स्त्री में अत्यन्त आसक्त, कृशों, वर्ण स्वर से हीन को (घृत से) बृंहण करे।

खांसी, हिचकी, ज्वर, श्वास, दाह, तृष्णा, रक्त-पित्त नाशक (यह घृत) पुत्रदाता, वमन (और) मूर्च्छा

हरने वाला तथा योनिमूत्ररोगनाशक (होता है)।
(यह अमृतप्राशघृत—है।)

श्वदंष्ट्रादिघृत

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम् ।
दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिराम् ॥४३॥
पलिकं साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥४४॥
शतावर्यर्द्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्रुक्शूलनुत् ॥४५॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शः कासशोषक्षयापहः ।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्व खिन्नानां बलमांसदः ॥४६॥
(इति श्वदंष्ट्रादिघृतम् ।)

गोखुरू, खस, मजीठ, बला, गम्भारी, गन्धतृण, दाभ की जड़, पृश्निपर्णी, ढाक, ऋषभक, शालपर्णी, प्रत्येक १-१ पल लेकर क्वाथ करे, चारगुने दूध के साथ उनके क्वाथ में कौंच के बीज, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावरी, ऋद्धि, मुनक्का, मुण्डी, कमलकन्द के कल्कों से सिद्ध एक प्रस्थ घी वात, पित्त, हृदयजन्य शूलनाशक, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, कास, शोष, क्षयनाशक होता है तथा धनुष-स्त्री-मद्य-भार तथा पैदल बराबर चलते रहने से कष्टप्राप्त (क्षत-क्षीण व्यक्तियों के) बल और मांस का दाता (होता है)। (यह श्वदंष्ट्रादिघृत–है।)

मधुकादिघृत

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत् ।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥४७॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत् ।
समसक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम् ॥४८॥

आठ पल मुलहठी (मधूक पाठभेद होने से महुआ के फूल) एक प्रस्थ मुनक्कों के क्वाथ में आठ पल पीपलीकल्क में एक प्रस्थ घी पकावे। सिद्ध होने पर तथा शीतल होने पर अलग अलग आठ पल मधु शक्कर दोनों को मिलादे। समानभाग सत्तू मिलाया हुआ वह घृत क्षतक्षीण तथा रक्तगुल्म में हितकर होता है।

सर्पिर्गुड [प्रथम]

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसैर्घृतम् ।
अजागोपयसोश्चैव सप्तप्रस्थान् पचेद्भिषक् ॥४९॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेच्च तत् ।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥५०॥
वयः स्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम् ।
घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥५१॥
लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमुष्माणं निरुणद्धि च ॥५२॥
क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु ।
त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैःस्त्यानानि योजयेत् ॥५३॥
सर्पिगुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत् ।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥५४॥
(इति प्रथम सर्पिर्गुडः।)

आमला, विदारीकन्द, ईख और (दसों) जीवनीय (द्रव्यों के) स्वरसों के साथ तथा बकरी-गाय के दूधों के साथ, सात प्रस्थ ही घृत पकावे। सिद्ध और शीतल होने पर उसमें मिश्री तथा शहद दो-दो प्रस्थ डाले।

(यह घृत यक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, कास, प्रमेह, क्षयनाशक, वयःस्थापक, आयुवर्द्धक,) मांस शुक्र-बलदाता है। पित्त के अधिक बढ़ने पर घृत चाटे, वात के अधिक होने पर पिये। चाटा हुआ घृत थोड़ा होने से पित्त को शान्त करता है तथा अग्नि को नष्ट नहीं करता है। पीया हुआ घृत वायु पर आक्रमण करता है तथा ऊष्मा को शान्त करता है।

क्षाम (थके हुए), क्षीण, कृशअङ्ग वालों को तो ये घृत वंशलोचन, शक्कर, खीलों के चूर्णों के साथ अवलेह रूप में प्रयोग करे। सम अंश में मधु मिले सर्पिर्गुड (घी के लड्डू) खाकर अनुपान रूप में दूध पिये। रेतस्, वीर्य, बल, पुष्टि उनके द्वारा (पुरुष) शीघ्र ही प्राप्त करता है।

(ये सर्पिर्गुडप्रथम—है।)

द्वितीय सर्पिर्गुड

वलाविदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा ।
पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्टयंशकाद्यपि ॥५५॥
एषां कषाये द्विक्षीरेविदार्याजरसांशिके ।
जीवनीयैः पचेत्कल्कैरक्षमात्रैघृताढकम् ॥५६॥
सितापलानि पूते तु शीते द्वात्रिंशदावपेत् ।
गोधूमपिप्पली वांशी चूर्णं शृङ्गाटकस्य च ॥५७॥
समाक्षिकं कौडविकं तत् सर्वं खजमूर्च्छितम् ।
स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत् ॥५८॥
ताञ्जग्ध्वा पलिकान् क्षीरं मद्यञ्चानुपिवेत्कफे ।
शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्षिते ॥५९॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते ।
शस्ताः पार्श्वशिरःशूले भेदे च स्वरवर्णयोः ॥६०॥
(इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः ।)

बला, विदारीकन्द, लघुपंचमूल, तथा पुनर्नवा, पांचोंक्षीरी वृक्षों (बरगद-गूलर-पीपल-पाकर-कपीतन) जटाऐं एक एक मुष्टि (पल) का काढ़ा बनाकर (सब दवाओं का आठगुना पानी डाल औटाकर चौथाई रह जाने पर) उस दुगने दूध मिले कषाय में विदारीकन्द का स्वरस तथा बकरी के मांस का स्वरस (कषाय के) बराबर भाग में एक एक कर्ष जीवनीय गण की औषधियों के कल्क से एक आढकघी पकावे (पककर) छानने पर शीतल होजाने पर बत्तीस पल उसमें सिता (श्वेतमिश्री या चीनी) डाले। गेहूँ (का भुना हुआ) पीपली, वंशलोचन का चूर्ण तथा सिंघाडी का आटा मधुसहित कौडविक (चार चार पल डाले। उस सबको खज (कौंचे) से मूर्च्छित (मिला) कर (एक एक पल के) सर्पिर्गुड (लड्डू) बांधकर भोजपत्र लपेट दे। एकपल की मात्रा में उनको खाकर बाद में दूध या मद्य पिये। कफ में, शोष में, कास में, क्षतक्षीण में, श्रम-भार-अध्व से कृश हुए में रक्तष्ठीवन सन्ताप होने पर, प्रतिश्याय में, छाती में स्थित (रोग) में पार्श्वशूल शिरःशूल में स्वरभेद तथा वर्णभेद दोनों में प्रशस्त (होते हैं)। (ये द्वितीय सर्पिर्गुड—हैं।)

तृतीय सर्पिर्गुड

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः ।
वीरर्द्धिक्षीरकाकोलीवृहतीकपिकच्छुभिः ॥६१॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैं ।
धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात् पचेत् ॥६२॥
शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धं प्रस्थमेव च ।
दत्त्वा सर्पिर्गुडान् कुर्यात् कासहिक्काज्वरापहान् ॥३६॥
यक्ष्माणं तमकश्वासं रक्तपित्तं हलीमकम् ।
शुक्रनिद्राक्षयं कार्श्यं हन्युस्तृष्णां सकामलाम् ॥६४॥
(इति तृतीय सर्पिर्गुडाः)

एक एक पल वंशलोचन, मुंडी, मुनक्का, मूर्वा, ऋषभक, जीवकों के साथ (एक एक पल) सफेद मूसली, ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बड़ी कटेरी, तथा कौंच के बीजों के साथ (एक एक पल) खजूर के फल (और) मेदा से दूध से पीसे गये कल्क से आमला-विदारीकन्द—ईख के एक एक (द्रवद्वैगुण्य से दो-दो) प्रस्थ रसों से (तथा) एक प्रस्थ घी से पाक करे। (पाक जब होकर घृत तैयार हो जावे तब) शीतल होने पर आधा तुला शक्कर तथा आधा प्रस्थ शहद डालकर खांसी, हिचकी ज्वरों के नाशक सर्पिर्गुड (घृतमोदक) बांधते ।

राजयक्ष्मा, तमकश्वास (asthma) रक्तपित्त, हलीमक, शुक्रक्षय, निद्राक्षय (insomnia) कार्श्य (cachexia) तथा कामला सहित तृष्णा को (ये) नष्ट करते हैं। (ये तृतीय सर्पिर्गुड—हैं।)

चतुर्थ सर्पिर्गुड

नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ।
शतावरीं विदारीञ्च समङ्गां पिप्पलीं तथा ॥५५॥
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात् ।
यष्ट्याह्वसौवर्चलयो द्विपलं मरिचस्य च ॥६६॥
क्षीरघृततैलानाञ्च त्र्याढके शर्कराशते ।
क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा विल्वसमान् गुडान् ॥६७॥

कुर्यात्तान् भक्षयेत्क्षीणः क्षतशुष्कश्च मानवः ।
तेन सद्यो रसादीनां वृद्धया पुष्टिं च विन्दति ॥६८॥
(इति चतुर्थसर्पिर्गुडान्नः ।)

नये आमले, मुनक्का, कौंच के बीज, पुनर्नवा, शतावरी, विदारीकन्द तथा लज्जावन्ती तथा पिप्पली इनके अलग अलग १०-१० पल के भागों को सोंठ के आठ पलों को मुलहठी, कालानमक दोनों दो दो पल तथा मिर्चकाली के (दो पल) चूर्णों को दूध-घी-तैलों के तीन आढकों में तथा क्वाथ (चासनी) की गई १०० पल में डालकर बेल के बराबर (१-१ पल के) लड्डू करले। इनको चीण, उर:क्षत से सूखा मानव भक्षण करे। इनसे शीघ्र रसादिधातुओं की वृद्धि से वह पुष्टि को प्राप्त करता है (अर्थात् खूब मोटा ताजा होजाता है)।

(ये चौथे सर्पिर्गुड-हैं।)

सर्पिर्मोदक

गोक्षीरात् द्व्याढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम् ।
विदारीस्वरसात्प्रस्थं रसात् प्रस्थं च तैत्तिरात् ॥६९॥
दद्यात् सिध्यति तस्मिश्च पिष्टानिक्षुरसैरिमान् ।
मधूकपुष्पं कुडवं पियालकुडवं तथा ॥७०॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्ज्जूराणां च विंशतिम् ।
पृथग्विभीतकानाञ्च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम् ॥७१॥
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात्कर्षमेव च ।
तथाऽर्धपलिकान् यत्र जीवनीयानि दापयेत् ॥७२॥
सिद्धेऽस्मिन् कुडवं क्षौद्राच्छीतेदत्त्वा च मोदकान् ।
कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान् ॥७३॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासे क्षयेषु च ।
शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते ॥७४॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम् ।
योनिदोषकृतस्रावहतानां चापि योषिताम् ॥७५॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद् यासां म्रियेत वा ।
धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः ॥७६॥
(इति पञ्चमसर्पिर्मोदकाः ।)

गाय का दूध २ आढक (द्रवद्वैगुण्य से ४ आढक) घी १ प्रस्थ गन्ने का रस १ आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) विदारीकन्दस्वरस १ प्रस्थ (या २ प्रस्थ) तीतर के मांस का रस १ प्रस्थ (या २ प्रस्थ) डाले तथा सिद्ध होते हुए इसमें ईख के रस में पीस कर इन (पदार्थों को डाले) एक कुडव महुआ के फूल, चिरोंजी एक कुडव, तथा वंशलोचन आधा कुडव, खजूर तथा बहेड़े के अलग अलग बीस (नग) एक पल पिप्पली। खांड के ३० पल, और एक कर्ष मात्र मुलहठी, तथा आधा पल जीवनीय द्रव्य डाल दे। सिद्ध होने पर इसमें शीतल होजाने पर एक कुडव मधु (फिर एक एक पल) मिर्च, जीरा और पीपल का चूर्ण देकर लड्डू करले।

वातरक्त, पित्तरोगों में, क्षतजकास में, क्षयों में तथा सूखते हुए क्षीण शुक्र वाले रोगियों, रक्त के छाती में (निकलने के अभिप्राय से) स्थित होने पर, कृश, दुर्बल, वृद्धों के, पुष्टि-वर्ण--बल चाहने वालों के तथा योनिदोष के कारण उत्पन्न स्राव से हत स्त्रियों के, गर्भार्थिनियों के या जिनके गर्भस्राव हो जाता है या गिर जाता है उन स्त्रियों के लिए (ये मोदक) धन्य, बल्य हितकारक और शुक्र तथा रक्त के वर्द्धक होते हैं।

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते ।
वातघ्नान् बृंहणान्वृष्यान्योगांस्तस्य प्रयोजयेत् ॥७७॥

वस्तिदेश में अधिक स्त्रीगामी पुरुष की वायु के विकार करने पर उसे वातनाशक बृंहण वृष्य योगों को प्रयोग करना चाहिए।

शर्करापिप्पली चूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च ।
संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत्कासज्वरापहम् ॥७८॥

अथवा कास ज्वरनाशक पिप्पली शक्कर के चूर्णों से घी से तथा मधु से युक्त उबाला हुआ दूध पीवे।

फलाम्लं सर्पिषा भ्रष्टं विदारीक्षुरसैःशृतम् ।
स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम् ॥७९॥

स्त्रियों में अधिक गमन के कारण क्षीण (हुआ व्यक्ति) विदारीकन्द के स्वरस में उबाले फलों से खट्टे

किए गये घी से भूने (या छौंके गए) जीवनीय तथा अत्यन्त बृंहण यूष को पिये।

सक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्र घृतान्वितम्।
यावन्न सात्म्यो दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः ॥८०॥

जब तक उसे (अन्य अन्न) सात्म्य न हो जावे (तब तक) अग्नि (जिसकी) दीप्त (है ऐसा) उरःक्षत से पीड़ित व्यक्ति कपड़छन किए सत्तुओं का घी शहद मिला मन्थ पिये।

जीवनीयोपसिद्धं वा जाङ्गलं घृतभर्जितम्।
रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थं सशर्करम् ॥८१॥
गोमहिष्यश्वनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा।
यथाग्नि भोजयेद्यूषैः फलाम्लघृतसंस्कृतैः ॥८२॥
दीप्तेऽग्नौ विधिरेषः स्यान्मन्दे दीपनपाचनः।
यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते ॥८३॥

व्यंजन (चटनी आदि) के लिए क्षतक्षीण रोग में व्यक्ति जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध जाङ्गल पशुपक्षियों के घृत में छौंके रस का प्रयोग करे। गाय भैंस घोड़ी हथिनी तथा बकरी के दूधों से तथा मांसरसों से फलों से खट्टा करके घी से संस्कृत किये यूषों से (अपनी) अग्नि के अनुसार भोजन करे।

अग्निदीप्त होने पर यह विधि है। अग्नि मन्द होने पर यक्ष्मियों को जो दीपन पाचन विधि बतलाई गई है तथा मलभेद होने पर जो ग्राही विधि (कही जा चुकी है) वह इष्ट होती है।

सैन्धवादिचूर्ण

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात् पले।
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्ज्जकात् ॥८४॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद्द्वे चतुर्थिके।
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥८५॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत्।
रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत् ॥८६॥
(इति सैन्धवादिचूर्णम्।)

एक पल सेंधानमक, (एक पल) सोंठ दो पल कालानमक, एक एक कुडव तिन्तिडीक, अनारदाना, तेजपत्र, दोनों (तुलसी भेद) एक एक पल कालीमिर्च सफेदजीरा, धनियां दो पल में शर्करा के १२ पल डाल दे। फिर (सबका) चूर्ण करके मात्रा के अनुसार अन्नपान में प्रयोग करे। (यह) रोचन, दीपन, बल्य, पार्श्वशूलघ्न, श्वास तथा कासनाशक (होता है)। (यह सैन्धवादिचूर्ण—है)।

षाडव

एका षोडषिका धान्यात् द्वेऽजाज्यजमोदयोः।
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्ले द्विर्द्विः सौवर्चलात् पलम् ॥८७॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात् पञ्चपलानि च।
तच्चूर्णं षोडशपले शर्करायां विमिश्रयेत् ॥८८॥
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत्।
मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः ॥८९॥

धनियां एक, दो दो पल श्वेतजीरक और अजमोद के। इनसे अनारदाना तिन्तिडीक दूना (४-४ पल), कालानमक एक पल, सोंठ १ कर्ष तथा कैथ के गूदे के पांच पल उस चूर्ण को १६ पल शक्कर में मिलावे। यक्ष्मियों की अग्नि को बढ़ाने वाला यह षाडव अग्निमान्द्य में तथा मलभेद में अन्नपानों में पूर्ववत् (ही) देना चाहिए।

नागबलाकल्प

पिबेन्नागबलामूलस्यार्द्धकर्ष विवर्द्धनम्।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ॥९०॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः।
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ॥९१॥

नित्य आधा-आधा कर्ष बढ़ाकर १ पल तक बढ़ाकर मास भर बिना अन्न खाये केवल दूध पर आश्रित रहकर नागबला के मूल को (व्यक्ति) पिये। यह प्रयोग पुष्टि, आयु, बल और आरोग्य का अत्यधिक करने वाला है।

(इसी प्रकार) मण्डूकपर्णी, सोंठ और मुलहठी का (भी) कल्प यह है।

वक्तव्य—(२१६) नागबला, ब्राह्मी, सोंठ और

मुलहठी इनमें से दोष, प्रकृति, रोग, सात्म्य के अनुसार विचार कर आधा-आधा कर्ष या कुछ कम नित्य सेवन करना चाहिए। दूध का आहार रखना चाहिए प्यास लगने या भोजन की भूख लगने पर केवल दूध ही देना चाहिए। यह कल्पचिकित्सा चरक की अपनी सूझ है।

उरःक्षत में पथ्य

यद्यत् सन्तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु।
अन्नपानं निषेव्यं तत् क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥९२॥
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम्।
तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यं बलं तथा ॥९३॥

जो-जो अन्नपान सन्तर्पण, शीतल, क्षोभनाशक, हितकर तथा लघु है वह सुख चाहने वाले उरःक्षती के द्वारा सेवनीय (है) जो पथ्य यक्ष्मियों का, कासियों का, रक्तपित्तियों का कहा गया है वह अग्नि, व्याधि, सात्म्य तथा बल को देखकर करे।

उपेक्षिते भवेत् तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः।
प्रागेवागमनात् तस्य तस्मात् तं त्वरया जयेत् ॥

क्योंकि उसमें (क्षतक्षीण रोग में) उपेक्षा करने से यक्ष्मा का अनुबन्ध होजाता है इसलिए उसकी (यक्ष्मा की) प्राप्ति से पहले ही शीघ्रतापूर्वक उसको जीते।

वक्तव्य--(२१७) जैसा कि हमने अपने आरम्भ के वक्तव्य में शंका प्रकट की थी कि क्षतक्षीणता और यक्ष्मा में बहुत कम भेद है और क्षतक्षीणता स्वयं यक्ष्मा न होकर आयुर्वेदज्ञों की दृष्टि से यक्ष्मा को उत्पन्न करने वाला पूर्वरूप है। फेफड़े में दम उखड़ने से बने क्षत से रक्त के आगम और धातुओं के क्षय से क्षतक्षीण यक्ष्मी ही बन जाता है। अतः तुरत चिकित्सा की जानी चाहिए। एक वर्ष बाद याप्य हुआ क्षतक्षीण आगे असाध्य ही बन जाता है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौः

क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यं पृथगाकृतिम्।
असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिरेव च ॥९५॥
उक्तवान् ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीण चिकित्सिते।
तत्त्वार्थविद् वीततमोरजोमोहः पुनर्वसुः ॥९६॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)—

तत्वार्थदर्शी तमरजमोह से रहित भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने क्षतक्षीण चिकित्सितनामक अध्याय में, अपने जेष्ठ शिष्य (अग्निवेश) के लिए क्षतक्षीण का निदान, सामान्य तथा पृथक् लक्षण, असाध्य याप्य, साध्यता और इन साध्यरोगों की चिकित्सा कही।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने क्षतक्षीणचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा बनाये चरक प्रतिसंस्कार किए शास्त्र में चिकित्सास्थान में क्षतक्षीण चिकित्सित नामक ग्यारहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।
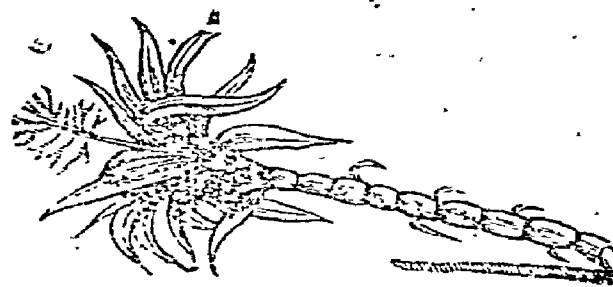
चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

द्वादशोऽध्याय

श्वयथु चिकित्सा

अथातः श्वयथु चिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

अब आगे (हम) श्वयथुचिकित्सित (नामक बारहवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा॥१॥

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं
मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत्
प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत्॥२॥

अग्निवेश ने वैद्यों में वरिष्ठ, देवता तथा सिद्ध पुरुषों से सेवित, मुनीन्द्र, अत्रिपुत्र को महारोग शोथ के यथावत् प्रकोप, लक्षण, प्रशान्ति (के सम्बन्ध में) पूछा।

तस्मै जगादागदवेदसिन्धुः
प्रवर्त्तनाद्रि प्रवरोऽत्रिजस्तान्।
वातादिभेदात् त्रिविधस्य सम्यङ्
निजानिजैकाङ्गजसर्व्वजस्य॥३॥

आयुर्वेदरूप सिन्धुनद को प्रवृत्त करने वाले अद्रि (हिमालय) जैसे आत्रेय ने उसे वातादि भेद से तीन प्रकार के निज, अनिज (आगन्तु), एकाङ्गज, सर्वाङ्गज में होने वाले शोथ के उन कारणादि को भले प्रकार कहा।

निज श्वयथुनिदान

शुध्यामयाभक्त कृशावलानां
क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्यामभृच्छाकविरोधिदुष्ट

गरोपसृष्टान्न निषेवणञ्च॥४॥
अर्शांस्य चेष्टा न च देहशुद्धि-
र्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च
निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः॥५॥

शोधन-व्याधि-अनशन से कृश (तथा) निर्बल हुए (व्यक्ति जब) क्षार-खटाई-तीक्ष्ण-उष्ण-भारी (पदार्थों का लगातार) सेवन, दही-कच्चे पदार्थ मिट्टी शाक-विरोधी (जैसे दूध मछली मिलाकर खाना)-दुष्ट (वातातप जलादि से सड़ाये)-गर (विष से) युक्त अन्न का सेवन तथा अर्श-चेष्टा (श्रम) न करना-शरीर शुद्धि न करना-मर्म का उपघात (चोट लगना) (स्त्रियों में) विषमप्रसूति (होना)-प्रतिकर्मों (वमना-

दिकों का) मिथ्या योग-(ये) निज (शोथ) के हेतु कहे हैं।

आगन्तु श्वयथु-निदान

बाह्यास्त्वचो दूषयिताऽभिघातः
काष्ठाश्मशस्त्राग्नि विषायसाद्यैः।

आगन्तु हेतुः

लकड़ी, पत्थर, हथियार, अग्नि, विष लोहा आदि से बाह्यत्वचा को दूषित करने वाला अभिघात (ही) आगन्तु (शोथ) का हेतु (होता है)।

निज शोथ भेद

त्रिविधो निजश्च।
सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥६॥

और निज शोथ तीन प्रकार (का होता है जिनमें एक) सर्व शरीर को आश्रित करने से (सर्वाङ्ग शोथ कहलाता है दूसरा) आधे शरीर को आश्रित करने से (अर्धाङ्ग शोथ कहलाता है तथा तीसरा) अवयव या एक अङ्ग को आश्रित करने से (एकाङ्ग शोथ वा अङ्ग-शोथ कहलाता है)।

श्वयथु-सम्प्राप्ति

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्
पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्
नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥७॥

इह (इस शरीर में) वायु बाह्य सिराओं को प्राप्त
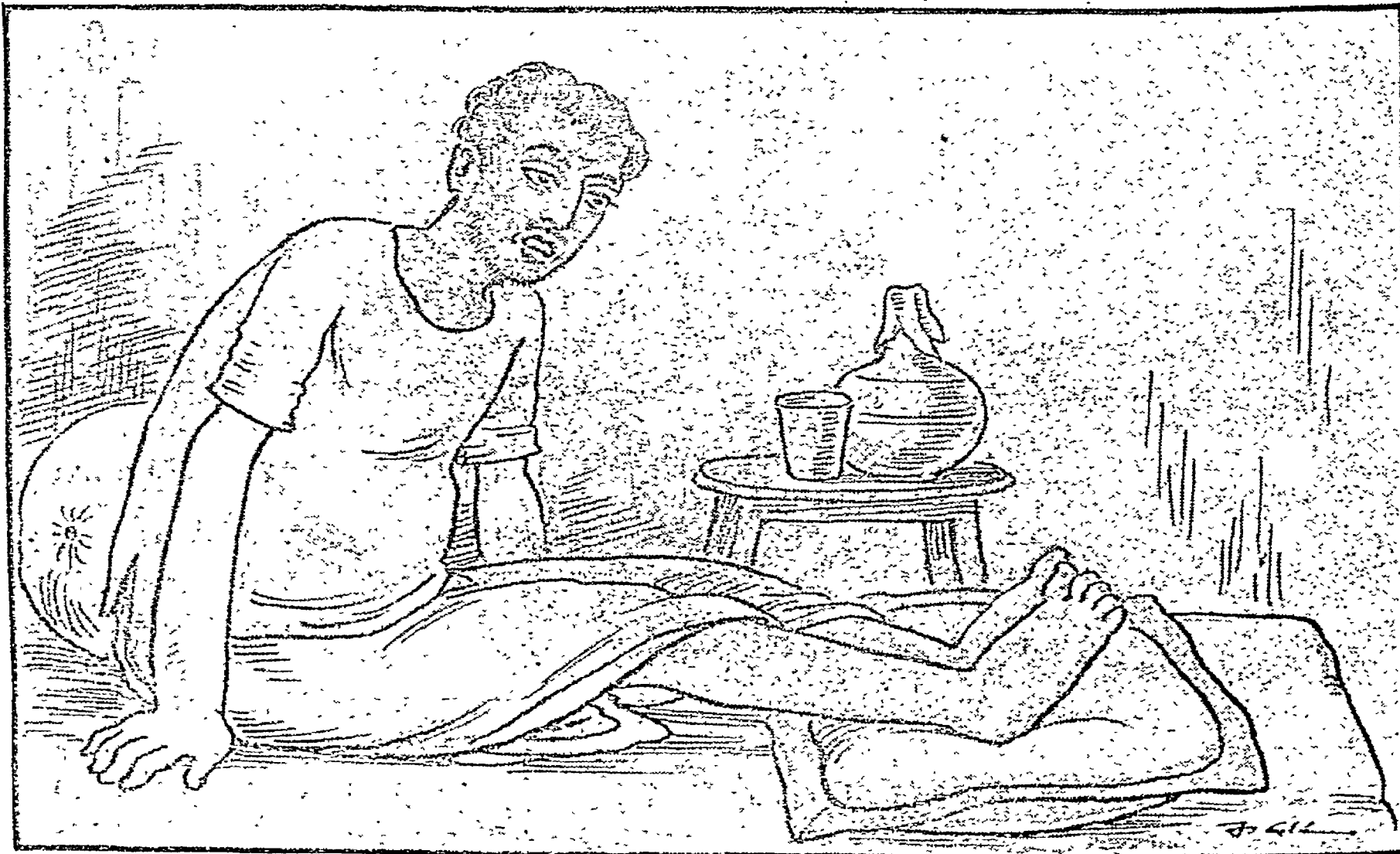
करके जब कफ-रक्त-तथा पित्तों को दूषित करता है तब उनसे (कफरक्तपित्तों से वायु का) मार्गावरोध होजाने से (अन्यत्र न जाने के कारण वहीं,) फैलता हुआ उत्सेध (ऊपर को उठाव लक्षण वाला शोथ उत्पन्न कर देता है।

ऊर्ध्वस्थितैरूर्ध्वमधश्चवायोः
स्थाने स्थितैर्मध्यगतैश्च मध्ये।
सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैः-
दोषैः क्वचित्स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥८॥

(शरीर के) ऊर्ध्वभाग में स्थित होने के कारण ऊर्ध्वगत), वायु के अपने स्थान (अधोभाग में) स्थित होने से अधोगत, मध्य में स्थित होने से मध्यगत, सम्पूर्ण अङ्ग में जाने से सर्वाङ्गगत, (और) क्वचित् (किसी एक) स्थान पर स्थित होने से क्वचित् (प्रदेशगत) दोषों के कारण तदाख्य (उस उस स्थान के नाम वाला) शोथ (होता है)।

वक्तव्य -(२१८) हमारे शरीर में कभी मुख पर, कभी पैरों पर, कभी पेट पर, कभी अङ्गुली में, कभी पूरे सिर में जो सूजन होजाती है उसके हेतुओं पर विचार करके योग्य चिकित्सा का विधान पूर्वकाल से ही देखने में आरहा है। यह शोथ निजागन्तु भेद से दो प्रकार का होता है। आगन्तुशोथ का कारण प्रत्यक्षतया कोई न कोई अभिघात हुआ करता है। पत्थर से, ईंट से, चाकू से, या किसी प्रकार भी चोट लग जाने से आगन्तुजशोथ प्रगट होता है। निजशोथ में प्रकटरूप में कोई अभिघात सरीखा कारण दिखाई नहीं देता पर इसकी उत्पत्ति कृश और अबलों में होती है इतना स्पष्टतया निर्दिष्ट है। वमन विरेचन बस्ति आदि पञ्चकर्मों से शुद्धि किया गया व्यक्ति यदि अधिक दुर्बल है तो उसके शोथ हो सकता है। १०-१२ लंघनादि होचुकने के बाद पेट, पीठ, आंख, मुंह, पैरों पर शोथ देखा ही जाता है तथा जीर्णरोग से दुर्बल हुए प्राणी भी सूजकर ढोल होते हुए कहां नहीं मिलते। किसी भी कारण से कृश और निर्बल हुए व्यक्ति जब क्षार, दही, खटाई और भारी पदार्थ सेवन करते हैं तो उन पर सूजन चढ़ते देर नहीं लगती। अर्श, परिश्रमाभाव, देहशुद्धि का अभाव, मर्माभिघात के अतिरिक्त स्त्री का प्रसव ठीक प्रकार से न हो सकने पर भी शोथोत्पत्ति होती है। पंचकर्म कराते समय जो अज्ञानी वैद्य आवश्यक कुछ, और कर कुछ रहे हों ऐसे मिथ्यायोग के कारण भी निजशोथ की उत्पत्ति कर दे सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शोथ एक ऐसी व्याधि है जो न केवल रोगी की गड़बड़ी से अपितु वैद्य की गड़बड़ से भी बन सकता है।

शोथ क्यों होता है इसे बताकर आगे यह बताया गया है कि शोथ होने पर शरीर में विकृति कौन कौन आती हैं। यह शोथ की आयुर्वेदिक पैथालोजी है। शोथ का आयुर्वेद मत से प्रधान कारण होता है वातदोष। शोथ की उत्पत्ति में वातदोष स्वयं सबसे पहले दूषित या कुपित होता है। जहां पर यह कुपित होता है वहां के रक्त-कफ तथा पित्त को भी कुपित कर देता है जिसके कारण दोषों के आवागमन के स्वाभाविक मार्गों में अवरोध पैदा होता है। आने का मार्ग यथावत् तथा जाने के मार्ग में बाधा आने के कारण वह स्थान अपने स्वाभाविक आकार से अधिक फूल जाता है इसीको उत्सेध या सूजन या उठाव कहते हैं। यह उठाव जब एक अङ्ग में होता है तो उसे एकाङ्गज या अङ्ग-विशेषज शोथ कहते हैं। जब वह सर्वाङ्ग में होता है तो सर्वाङ्गजशोथ बनता है। वायु जिस स्थान को कुपित होकर अन्य दोषों का मार्गावरोध कर देती है वहीं और उतने ही क्षेत्र में शोथ की सृष्टि होजाती है। ऊर्ध्वस्थानगतशोथ ऊर्ध्वशरीर में स्थित कुपित वात के कारण होता है। मध्यशरीरगतशोथ मध्यशरीरस्थ कुपितवात के कारण होता है इसी प्रकार अधोगतशोथ अधःशरीर में व्याप्त कुपित वायु के कारण हुआ करता है।

इसकी सम्प्राप्ति में बाह्याःसिराः प्राप्य को अभी तक हमने स्पष्ट नहीं किया। कुपित वात शरीर के अल्प अवयवांगों को शोथरोग में आरम्भ से नहीं पकड़ता उसकी पकड़ केवल सिराओं की होती है। सिरा की प्राचीरों में वात का कोप होने से उसके रन्ध्र खुल जाते हैं आगे का मार्ग रुक जाता है। परिणाम यह होता है कि सिरा की स्वाभाविक क्रिया समाप्त होकर वात, पित्त, कफ, रक्त सब एक ही

स्थान पर उत्सेध रूप में एकत्र होजाता है। यदि वायु सिरा की व्याप्ति करके उसकी प्राचीर को सुषिर (porus) न कर देती तो शोथ की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। प्राचीर का लेपन अन्तश्छदीय स्तर (endothelium) से होता है। यह स्तर वातदोष के कारण ही अस्तव्यस्त छिन्नविच्छिन्न हो जाता है।

सिरा से सामान्यतया सम्पूर्ण स्रोतस् और केशिकाएं अभिप्रेत हैं। बाह्य शब्द उपलक्षण मात्र है। क्योंकि अभिघात के कारण शोथ प्रायः होता है अतः बाह्य सिराओं के दूषित होने की ओर लक्ष्य किया गया है। सूजन सदैव बाह्य देश पर उपस्थित होती है ऐसा नहीं है। वह बहुधा आभ्यन्तर में स्थित अंगों में भी उसी प्रकार स्थित होती है जिस प्रकार बाह्यअङ्गों में।

किसी से कुछ भी उधार न लेकर अपने ही सिद्धान्त स्थिर कर उन पर अबाधगति से चलते हुए आयुर्वेद की अपनी परम्परा है, अपनी सूक्ष है, अपने प्रयोगों के आधार पर स्थापित उसके सिद्धांत हैं। उन्हें साधारण मति के उन व्यक्तियों के द्वारा जिन्होंने आयुर्वेद का एक अक्षर भी नहीं पढ़ा केवल व्यापारिक कटुता के कारण अनादृत भले ही कुछ काल के लिए कर दिया जावे अप्रमाणित नहीं किया जासकता।

ऊष्मा तथा स्याद् दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम्।
सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तच्छब्दमभ्येति भिषग्जितं च॥९।

(शरीर में) ऊष्मा (गर्मी का अधिक मालूम पड़ना), दवथु (ताप या दाह होना) तथा सिराओं का खिंचाव यही (श्वयथु के) पूर्वरूप (हैं)।

सब (शोथ) त्रिदोष (से उत्पन्न हुआ करते हैं परन्तु शोथ में) किसी दोष के अधिक लक्षण होने से उस (दोष विशेष के) शब्द को वह प्राप्त करता है। और (उसी के अनुरूप) चिकित्सा को (भी प्राप्त करता है)।

श्वयथु-सामान्यलक्षण

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमूष्माथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षाङ्गविवर्णता च
सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥१०।

गौरवसहित अनवस्थितता (रोग के स्थान पर बेचैनी कभी अधिक कभी कम), उत्सेधसहित ऊष्मा सिराओं की तनुता (चौड़कर पतला होजाना) और रोमहर्ष के साथ अङ्ग की विवर्णता (ये) शोथ के सामान्य लक्षण कहे गये हैं।

वातजशोथ

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः
प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो
दिवाबली च श्वयथुः समीरणात्॥११॥

चल, तनुत्वचा वाला, परुष, अरुण, असित (रङ्ग वाला बिना प्रत्यक्ष कारण के) प्रसुप्ति (numbness), रोमहर्ष, वेदनायुक्त, पीड़न करने पर शान्त होजाता है और बाद में फिर से उठ जाता है तथा दिन में बलवान् होने वाला शोथ वात से उत्पन्न (हुआ करता है)।

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते स्पर्शरुगाक्षिरागकृत्
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान्॥१२॥

मृदु, गन्धयुक्त, असितपीतरक्त (वर्ण वाला), भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृष्णा (तथा) मद से युक्त जो जलता है छूने से दर्द करने वाला, आंख में लाली करने वाला वह शीघ्र दाह और पाकवान् (पकने वाला) पित्तशोथ (हुआ करता है।)

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः।
प्रसेक निद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो।
न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः॥१३

गुरु, स्थिर, पाण्डुर (pale), अरुचियुक्त प्रसेक-निद्रा-वमन तथा मन्दाग्नि करने वाला, वह कष्ट-

पूर्वक उत्पन्न और शान्त होने वाला, दबाने से तुरत ही न उठने वाला रात्रि में बलवान् होने वाला कफात्मक (शोथ हुआ करता है।)

वक्तव्य-(२१६) सभी शोथ त्रिदोषों से उत्पन्न होते हैं पर जहां दोषों का तरतम भेद रहता है उसके अनुसार कुछ लक्षण स्पष्ट करते हुए वातादि भेद से शोथ भेदों का वर्णन किया गया है। शोथ वाले स्थान पर त्वचा की सिराओं का पतला होजाना, स्थान में भारीपन प्रगट होना, कभी वहां चैन पड़ना कभी कष्ट का बोध होना यह अनवस्थितता, उत्सेध, दाह, रोमहर्ष और स्थान का विवर्ण होना यह सब तो सामान्यतया सभी प्रकार के शोथों में पाया जाता है।

सबसे पहले शोथ जहां हो उस स्थान को आंखों से देखना चाहिए। वहां का उठाव मोटा है या पतला। इससे कफज शोथ या वातज शोथ का अन्दाज होजावेगा। फिर शोथ का स्थान कालापन लिए अरुण हो तो वात, कालापन लिए पीतरक्त हो तो पित्त और पाण्डुर (सफेदी लिए पीतरक्त) हो तो कफजन्य शोथ का अन्तर कर लेना चाहिए।

फिर हाथ से शोथ को टटोलना चाहिए। छूते ही जिसमें तेज दर्द हो वह पैत्तिक शोथ है यदि कुछ दिन बाद वैद्य को उसे देखने का अवसर आया है तो उसमें पाक के लक्षण भी मिलेंगे, रोगी उसमें अत्यन्त दाह हो रहा है ऐसा कहेगा। छूने के बाद दबाना (palpate) चाहिए। अंगुली से दबाने पर सूजन हो पर अंगुली उठाते ही फिर स्थान उंचा उठ जावे तो वह वात्तिक शोथ जानना चाहिए। अंगुली उठाने पर भी जहां थोड़ी देर तक गढ़ा (pitting on pressure) ही पड़ा रहे वह कफज शोथ मानना चाहिए। यह शोथ मोटा, और स्थिर स्वरूप का मिलेगा।

तत्पश्चात् रोगी से प्रश्न पूछने चाहिए कि क्या शोथ में दर्द चलता है, सुप्ति है, वेदना की अधिकता है (वातज) अथवा क्या इसमें दाह जलन बहुत पड़ती है, (पैत्तिक) अथवा क्या यह चुपचाप बिना शूल या दाह किए स्थिरता के साथ बढ़ता है और रात्रि में अधिक हो जाता है (कफज) क्योंकि वातज शोथ दिन में अधिक बढ़ता है।

इतना सब होने पर उसकी शारीरिक (constitutional) परीक्षा करनी चाहिए। वात के अन्य कई लक्षण हों, रोगी का इतिहास चोट लगने का हो अथवा रोगी में रौक्ष्यशैत्यादि विकार बढ़ रहे हों तो वातिक, उसे भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृषा-मद हो तो पैत्तिक तथा निद्रा प्रसेक-वमन मन्दाग्नि और अरुचि हो तो श्लैष्मिक शोथ मानना चाहिए।

पित्तजन्य शोथ से गन्ध इसलिए अधिक आती है कि रोगी को पसीना बहुत आया करता है। नेत्र में जो लाली बढ़ती है वह भी पैत्तिक शोथ का परिणाम है। प्रत्येक पैत्तिक शोथ में नेत्र में लाली बढ़ने का कोई कारण नहीं है अपि तु नेत्र में और नेत्र को लेकर जो भी उस क्षेत्र में शोथ हों उनमें लाली बढ़ने पर वे पैत्तिक होते हैं।

श्वयथु–साध्यासाध्यता

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवे—
सुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः।
स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान्
परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः ॥१४॥
अहीनमांसस्य य एकदोषजो
नवो बलस्यस्य सुखः स साधने।
निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमै—
उपाचरेत्तं बलदोषकालवित् ॥१५॥

जो (शोथ) कृश का, रोगों के कारण दुर्बल (हुए व्यक्ति) का अथवा वमिपूर्वक या वमनयुक्त उपद्रवों से जो शोथ होता है, तथा जो मर्म को अनुगत हो (पहुंच) गया है तथा (जिस पर) राजियां (रेखाएँ) स्पष्ट दिखाई दे रही हों अथवा जो दुर्बल व्यक्ति का सर्वाङ्गशोथ परिस्राव करता हो वह (निश्चित रूप से) मार देता है।

जिसका मांस क्षीण नहीं हुआ, जो एक दोषज नवीन, बलरहित, उसका शोथ सुखसाध्य होता है। बल-दोष-काल वेत्ता निदान-दोष-ऋतु के विपर्यय क्रम से उसको ठीक करे।

वक्तव्य—(२२०) उपरोक्त श्लोकों में शोथ की साध्यासाध्यता व्यक्त की गई है। दुर्बल और हीन सत्व तथा जिसे रोगों ने दुर्बल बना दिया हो ऐसे रोगी की सूजन जिसके साथ वमन का उपद्रव हो या जो मर्म प्रदेश में स्थित

" हो चारों ओर सिरा जाल फैला हुआ हो वह असाध्य होता है। आज भी विश्व के हास्पीटल्स में जो शोथ के रोगी मरते हैं उनमें कुछ को छोड़कर सब इसी प्रकार के होते हैं इसे आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का कोई भी व्यक्ति साध्य नहीं कर पाया, आयुर्वेद तो इस असाध्य शोथी की चिकित्सा बतलाता ही नहीं है।

वह तो नये, एकदोषज, रोगी के शोथ को दूर करने का दावा करता है जिसका मांस और बल पर्याप्त हो।

इससे एक बात यह भी स्पष्ट करदी गई है कि सूजन आते ही रोगी को तुरत आयुर्वेदोपचार की ओर लेजाना चाहिए तथा रोगी के मांस और बल का संरक्षण डटकर करना चाहिए अन्यथा रोग असाध्य और रोगी हाथ से चला जावेगा। यह सामयिक चेतावनी वैद्यों और डाक्टरों दोनों पर ही समान रूप से लागू होती है।

शोथ-चिकित्साक्रम

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमै-
विशोधनैरुल्वणदोषमादितः।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो
विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम् ॥१६॥
उपाचरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः
प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे।
विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं
घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् ॥१७॥
पयश्च मूर्च्छारतिदाहतर्षिते
विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः
समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ॥१८॥

आरम्भ से आमज (शोथ) लंघन और पाचन के क्रम से, उल्बणदोषजन्य (शोथ) विशोधनों के द्वारा, शिरोगत (शोथ) शिरोविरेचनों के द्वारा, अधः (शरीरगतशोथ) विरेचनों से, ऊर्ध्वजशोथ ऊर्ध्वहर (वमनों) के द्वारा, ठीक करे। स्नेह से उत्पन्न (शोथ) विरूक्षणों के द्वारा, तथा रूक्षताजन्य (शोथ) में स्नेहविधि की कल्पना करे। वातज (शोथ) में मल की विबद्धता होने पर निरूहण बस्ति, पित्त तथा वातज (शोथ) में तिक्तद्रव्यसाधित घृत, मूर्च्छा-अरति-दाह तृषायुक्त शोथ में दूध तथा विशोधनीय (शोथ) में गोमूत्रसहित दूध इष्ट होता है। कफोत्थ (शोथ) में क्षार-कटु-उष्ण द्रव्यों से युक्त गोमूत्रसहित तक्रासव (आदि) युक्तियों द्वारा जीते।

वक्तव्य—(२२१) ऊपर जो विविध शोथ और उनका चिकित्साक्रम आया हुआ है वह बतलाता है कि शोथों का अलग अलग विचार प्राचीनकाल में किया गया था और तदनुकूल प्रबन्ध (management) भी तब होता था।

श्वयथु अपथ्य

ग्राम्याब्जानूपं पिशितलवणं शुष्कशाकं नवान्नं
गौडं पिष्टान्नं दधितिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनञ्च ॥१६॥

ग्राम्य-जलज-आनूप (पशु पक्षियों के) मांस, लवण (common salt), सूखा शाक, नया अन्न, गुड़ के बने पदार्थ, पीठी के बने पकवान, दही, तिल के पदार्थ, पिच्छिल द्रव्य, मद्य, खटाई, खील, सूखा मांस, समशन (पथ्यापथ्य दोनों का एकत्र खाना), गुरु-असात्म्य-दाहकारक पदार्थ, दिन में सोना (ये सब) तथा मैथुन शोथरोग वाला छोड़ दे।

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणी च
सायोरजस्का त्रिफलारसेन।
पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोफं
गव्येन मूत्रेण हरीतकी च ॥२०॥

सोंठ, मिरच, पीपल, निशोथ, कुटकी तथा लोह-भस्म त्रिफला स्वरस के साथ तथा हरीतकी गोमूत्र के साथ पीना कफजन्य शोफ या शोथ को शान्त कर देता है।

हरीतकीनागरदेवदारु
सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं
स्नातश्च जीर्णे पयसान्नमद्यात् ॥२१॥

हरड़, सोंठ, देवदारु, सुखोष्ण जल से युक्त करके या पुनर्नवा के सहित तीनों में भी गोमूत्र मिलाकर सबको पिये तत्पश्चात् अन्नजीर्ण होने पर स्नान करके दूध के साथ अन्न खावे।

नोट—त्रिष्वपि से त्रिष्वपिशोथेषु लेने पर त्रिदोषज शोथ में आता है। पर यतः ऊपर कफजशोथ की चिकित्सा लिखी है तथा नीचे वातजशोथ की चिकित्सा है अतः बीच में त्रिदोषशोथ प्रसङ्ग से रहित ज्ञात होता है जबकि त्रिदोषजशोथ इस नाम की व्याधि का आचार्य ने पहले कोई वर्णन भी स्पष्टतया नहीं किया है। इसी कारण हमने त्रिष्वपि से तीनों द्रव्य हरीतकी नागर देवदारु में गोमूत्र का योग पुनर्नवासहित हो ऐसा मान लिया है।

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान्
प्रस्थेन धीरः पयसाक्षमात्रान्।
मयूरकं मागधिकां समूलां
सनागरं वा प्रपिबेत् सवाते ॥२२॥

पुनर्नवा (साँठ), सोंठ, मोथा के एक-एक कर्ष कल्कों को एक प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २ प्रस्थ) दूध के साथ अथवा मयूरक (अपामार्ग) पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ सहित (दूध से) शोथ में धीर व्यक्ति पिये।

दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा
पयः श्रृतं दोषहरं पिबेन्ना।
द्विप्रस्थमात्रं तु पलार्धिकैस्तै—
रर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥२३॥

अथवा दन्ती, निशोथ, सोंठ, मिर्च, पीपल, चित्रक (प्रत्येक) आधा-आधा पल के साथ दो प्रस्थ मात्र दूध उबालकर आधा शेष रहने पर पित्तसहित वातिक शोथ में व्यक्ति पिये।

सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं
श्यामोरुबूकोपरणसाधितं वा।
त्वग्दारु वर्षाभुमहौषधैर्वा
गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥२४॥

अथवा सोंठ सहित दारुहल्दी स्वरस को श्यामालता, एरण्ड से सिद्ध (दूध) अथवा, दालचीनी, देवदारु, पुनर्नवा, सोंठ से अथवा गिलोय-सोंठ और दन्ती से (सिद्ध दुग्ध पीने को दे)।

सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपिमासं
पयः पिबेद्भोजनवारिवर्जी।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा
क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा ॥२५॥

भोजन और जल को छोड़ने वाला शोथ का रोगी एक सप्ताह तक या एक मास तक ऊंटनी का दूध, या गाय का दूध गोमूत्र मिल कर या भैंस का दूध भी पिये। या दुग्धाहार करे और गोमूत्र पिये।

तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्नवर्चाः
सव्योषसौवर्चलमाक्षिकञ्च।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा
सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥२६॥

भारी तथा फटे मल वाला सोंठ मिरच पीपल काला नमक और मधु के साथ मट्ठा पिये या दोष युक्त फटे बंधे आमयुक्त मल के आने पर शोथी गुडहरीतकी अथवा गुडसोंठ (का सेवन करे)।

विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा
प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्।
स्रोतोविबन्धेऽग्नि रुचि प्रणाशे
मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत्सुजातान् ॥२७॥

मल और अपान वायु के विबंध में दूध या मांस रस के साथ भोजन के पूर्व एरण्ड तैल खावे। स्रोतों के विबन्ध में तथा अग्निमान्द्य तथा अरोचक में अच्छे प्रकार तैयार किये अरिष्टों को तथा मद्यों को पिये।

गण्डीराद्यरिष्ट

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च
व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयञ्च।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन
द्रोणे पचेत् कूर्चिकमस्तुनस्तु ॥२८॥

त्रिभागशेषं च सुपूतशीतं
द्रोणेन तत्प्राकृतमस्तुना च ।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं
लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीभ्याम् ॥२९॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात्
प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान् ।
भगन्दरार्शः क्रिमिकुष्ठमेहान्
ववर्ण्यकार्श्यानिल हिक्कनं च ॥३०॥
(इति गण्डीराद्यरिष्टः ।)

गांडर (समठ शाक), भिलावे, चित्रकों को तथा सोंठ, मिर्च, पीपल, विडंग, दोनों कटेरियों को कुल २ प्रस्थ मात्रा में लेकर गोबर की आग के साथ एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) फटे दूध के जल (कूर्चिकमस्तु) के साथ पकावे। तीन भाग शेष रहने पर छानकर शीतल होने पर एक द्रोण (या दो द्रोण) दही के प्राकृत जल (दधिमस्तु) तथा सौपल मिश्री को मिलाकर चित्रक पिप्पलीयों से लिप्त घड़े में दस दिन तक खुले में रखकर फिर (ठीक से सन्धान हो चुकने पर) प्रयोग करता हुआ शोथों को भगन्दर, अर्श, क्रमिरोग, कुष्ठ, प्रमेहों को, विवर्णता, कृशता तथा वातज हिक्का को नष्ट करता है।

(यह गण्डीराद्यरिष्ट—है ।)

अष्टशतोऽरिष्ट

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाक्ष
द्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम् ।
शतं शतं जीर्णगुडात्तुलां च
संक्षुद्य कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥३१॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीत
स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना ।
शोफान् विबन्धान् कफवातजांश्च
निहन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ॥३२॥
(इत्यष्टशतोऽरिष्टः ।)

कम्भारी, आमला, कालीमिर्च, हरड़, वहेड़ा, अंगूर, पिप्पली प्रत्येक द्रव्य सौ सौ पल पुराना गुड १ तुला कूटकर मधु से लिप्त घड़े में एक द्रोण (या दो द्रोण) जल के साथ गर्मी में एक सप्ताह तथा शीतकाल में दो सप्ताह (पूर्ण सन्धान होने तक) रखकर व्यक्ति पिये। कफवातज शोथों तथा विबन्धों को यह अग्निवर्द्धक अष्टशतअरिष्ट नष्ट कर देता है।

(यह अष्टशतअरिष्ट – है।)

पुनर्नवाद्यरिष्ट

पुनर्नवे द्वे च वले सपाठे
दन्तीं गुडूचीमथ चित्रकञ्च ।
निदिग्धिकां च त्रिपलानि पक्त्वा
द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ॥३३॥
पूत्वा रसं द्वे च गुडात् पुराणात्
तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम् ।
मासं निदध्याद्घृतभाजनस्थं
पल्ले यवानां परतस्तु मासात् ॥३४॥
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं
पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः ।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धे
जीर्णे पिबेद् व्याधिबलं समीक्ष्य ॥३५॥
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं
प्लीहज्वरारोचकमेहगुल्मान् ।
भगन्दरं षड् जठराणि कासं
श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः ॥३६॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च
हिक्कां किलासञ्च हलीमकं च ।
क्षिप्रं जयेद्वर्णबलायुरोज-
स्तेजोन्वितो मांसरसान्नभोजी ॥३७॥
(इति पुनर्नवाद्यरिष्ट।)

(श्वेत रक्त) दोनों पुनर्नवा, वला, पाठासहित दन्ती, गुडूची तथा चित्रक, छोटी कटेरी, तीन तीन पलों को जल में पकाकर १ द्रोण अवशिष्ट रहने पर तब उस क्वाथ को छान कर दो तुला पुराना गुड़ (डालकर) शीतल होने पर १ प्रस्थ शहद (छोड़) घी के पात्र में स्थित करके जौ के ढेर में एक मास रखे। मास बीतने पर चूर्ण किये गये तेजपत्र, दालचीनी, मिर्च, सुगन्धवाला, अगर प्रत्येक आधे आधे पल

से सुगन्धित करके घृत मधु से लिप्त पात्र में रखे। भोजन के जीर्ण होने पर रोग के बल को देखकर पिये।

यह हृदयरोग, पाण्डुरोग, बढ़े हुए शोथ, प्लीहोदर, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्मों, भगन्दर, छै उदररोगों, कास, श्वास, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, कण्डू, शाखावात, मलबद्धता, तथा हिचकी, किलास तथा हलीमक को शीघ्र जीत लेता है। तथा मांसरस तथा अन्न का खाने वाला वर्ण, बल, आयु, ओज तथा तेज से युक्त होजाता है। (यह पुनर्नवाद्यरिष्ट—है।)

फलत्रिकाद्यरिष्ट

फलत्रिकं दीप्यकचित्रकौ च
सपिप्पलीलोहरजो विडङ्गम्।
चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं
क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य ॥३८॥
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं
यवेषु तानेव निहन्ति रोगान्।
ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च
प्रोक्ता हिताः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः ॥३९॥
(इति त्रिफलारिष्टः।)

हरड़, बहेड़ा, आमला, अजवाइन, चित्रक दोनों तथा पिप्पलीसहित लोहभस्म विडंग सब चूर्ण हुए एक कुडव को दो कुडव मधु तथा १ तुला पुराने गुड को डालकर घी के पात्र में स्थित करके एक मास तक जौ के ढेर में रख देने से जो अर्श के पाण्डुरोगियों के (रोगों को) नष्ट करता है तथा वे (गण्डीराद्यादि भी) अरिष्ट शोफ से पीडितों में भी हितकर कहे गये हैं। (यह त्रिफलारिष्ट – है।)

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च
निदिग्धिका चित्रकनागरे च।
सपिप्पलीमूल रजन्यजाजी
मुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम् ॥४०॥
हन्यात् त्रिदोषं चिरजं च शोफं
कल्कश्च भूनिम्ब महौषधस्य।
अयोरजस्त्र्यूषणयावशूक—
चूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन ॥४१॥

पाठासहित पिप्पली तथा गजपिप्पली, छोटी कटेरी, चित्रक तथा सोंठ में पीपरामूल सहित हल्दी, जीरक, मोथा के चूर्ण को सुखोष्ण जल के साथ पीने से (वह) त्रिदोषज, चिरकालीन शोफ को नष्ट करदे (इसी प्रकार) चिराइता तथा सोंठ के कल्क से तथा लोहभस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल जवाखार के चूर्ण को त्रिफला के स्वरस के साथ पीने से (भी त्रिदोष जीर्ण शोथ नष्ट करता है)।

क्षारगुटिका

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वा—
र्ययोरजो व्योषफलत्रिके च।
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं
मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम् ॥४२॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे
यष्ट्याह्वयं सातिविषं पलांशम्।
सहिंगु कर्षं त्वणुशुष्कचूर्णं
द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम् ॥४३॥
स्याद्भस्मनस्तत् सलिलेन साध्य—
मालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम्।
स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां
कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात् ॥४४॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शः
पाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान्।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च
सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥४५॥
(इति क्षारगुडिका।)

दोनों क्षार (सज्जीखार तथा जवाखार), चारों (सेंधा-काला-विड, सांभर) नमक, लोहभस्म, सोंठ, मिर्च, पिप्पली तथा हरड़, बहेड़ा, आमलों में, पीपरामूल सहित विडंग का सारभाग, मोथा, अजमोद, देवदारु, बेलगिरी को, इन्द्रजौ चित्रकमूल, पाठा, मुलहठी, अतीस, प्रत्येक एक एक पल को

एक कर्ष हींग सहित अणु (जितना बारीक सब द्रव्यों के) चूर्ण को एक द्रोण मूली तथा सोंठ की भस्म के (अठगुने जल में औटाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उस जल को २१ बार छानकर इस) क्षारोदक में (शेष सब द्रव्य डालकर) आलोडित करके जब तक बिना जले घना होजाय (तब तक) सिद्ध करना चाहिए। (जब) गाढा होजाय तब बेर के बराबर मात्रा में गोली बनाकर के विधिपूर्वक उपयोग करे।

प्लीहोदर, श्वित्र, हलीमक, अर्श, पाण्डुरोग, अरुचि, शोष, शोफों को, विशूचिका, गुल्म, गरविष, तथा अश्मरी, श्वास, कास, कुष्ठ (इन गोलियों से) नष्ट करे।

गुडार्द्रकप्रयोग

प्रयोजयदार्द्रकनागरं वा
तुल्यं गुडेनार्धपलाभि वृद्धया।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं
जीर्णे पयो यूषरसाश्च भक्तम् ॥४६॥
गुल्मोदरार्शः श्वयथुप्रमेहान्
श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्।
सकामलाशोषमनोविकारान्
कासं कफं चव जयेत् प्रयोगः ॥४७॥

अदरख या सोंठ को बराबर गुड़ के साथ आधा आधा पल बढ़ाकर पांच पलों की बड़ी मात्रा तक पहुँचकर एक मास पर्यन्त प्रयोग करे। औषध जीर्ण होजाने पर दूध, यूष, मांसरस तथा भात (खिलावे)। यह प्रयोग गुल्म, उदर, अर्श, शोथ, प्रमेहों को श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अविपाकों को कामलासहित शोष, कास, कफ तथा मनोविकारों को जीत लेता है।

शिलाजतुप्रयोग

रसस्तथैवार्द्रक नागरस्य
पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्।
शिलाह्वयञ्च त्रिफलारसेन
हन्यात् त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य ॥४८॥
(इति शिलाजतुप्रयोगः।)

इसी प्रकार अदरख के रस का पेय (लेकर) जीर्ण होने पर दूध के साथ अन्न खावे।

और शिलाजतु त्रिफलारस के साथ त्रिदोषजन्य शोथ को बलपूर्वक नष्ट करे।

(यह शिलाजतु प्रयोग है।)

कंसहरीतकी

द्विपञ्चमूल्यास्तु पचेत्कषाये
कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य।
लेहे सुसिद्धेऽथ विनीय चूर्णं
व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुपस्थिते च ॥४९॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते
किञ्चिच्च चूर्णादपि यावशूकात्।
एकां ततः प्राश्य ततश्चलेहा—
च्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम् ॥५०॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्म—
प्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान्।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्त
वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान् ॥५१॥
(इति कंसहरीतकी।)

द्विपञ्चमूलियों (अर्थात् दशमूल) के एक कंस (द्रव द्वैगुण्य से २ कंस १२८ पल) क्वाथ में १०० हरड़ों के सौ (नग) तथा गुड़ के (सौ पल) पकावें। आगे जब अवलेह भले प्रकार सिद्ध होजाने पर सोंठ मरिच, पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र डालकर प्रातःकाल तक रखने पर और शीतल होने पर आधा प्रस्थ केवल शहद का (डालकर) और यवक्षार के चूर्ण का भी किञ्चित्भाग (in traces) डालकर तब एक (हरड़) खाकर ऊपर से १ शुक्ति अवलेह चाटने से यह योग बहुत बढ़े हुए शोथ को, श्वास—ज्वर—अरोचक—प्रमेह—गुल्म—प्लीहोदर—सन्निपातोदर-पाण्डुरोगों को कृशता, आमवात (rheumatic troubles), रक्तपित्त, अम्लपित्त, विवर्णता (discoloration of the skin) मूत्र, वात और शुक्रदोषों को नष्ट कर देता है।

(यह कंसहरीतकी—है।)

वक्तव्य—(२२२) कंसहरीतकी का जो योग चरक में आया है उसमें एक चिकित्सक की दृष्टि से जितनी सुविधा है एक कल्पविद् की दृष्टि से उतनी ही कठिनाइयां भी हैं। पहली कठिनाई है कि दोनों पञ्चमूलों का एक कंस (६४ पल) कषाय लेना लिखा है। यह कषाय चतुर्थांश होगा या अष्टांवशेष रखा जावेगा। यहां दशमूल ३२ पल लेकर २५६ पल जल में औटाकर शेष ६४ पल रखना उचित होगा। द्रवद्वैगुण्य के मान से ५१२ पल जल में औटाकर १२८ पल क्वाथ रखा जासकता है। दूसरी कठिनाई अभयानां च शतं गुडस्य में है। यह च शब्द शत के लिए प्रयुक्त है पर शत एक जगह संख्यावाची है और दूसरी जगह पलवाची है या दोनों जगह पलवाची है। क्योंकि हरड़ की गिनती सौ तक हो सकती है पर गुड़ को गिना नहीं जासकता। तोले दोनों जासकते हैं पर व्यावहारिक यही है कि १०० पल गुड़ तथा १०० नग हरड़ ली जावे। तीसरी कठिनाई है कि त्रिकटु और त्रिसुगन्ध को कितना कितना लिया जावे। त्रिकटु को चार पल और त्रिसुगन्ध के प्रत्येक द्रव्य को एक-एक कर्ष लेने की मन्त्रणा दी गई है। पांचवीं कठिनाई है यवक्षार का किञ्चित् प्रमाण। नाममात्र का यवक्षार डालना ऐसा भी मत है और त्रिकटु तथा यवक्षार मिलाकर चार पल डालना ऐसा भी तन्त्रान्तर में मिलता है पर किञ्चित् का अर्थ एक कर्ष में जितना आता है उतना एक पल में नहीं आता। प्रस्थार्धमात्र शब्द मधु के साथ जितना सटा हुआ है उतना उसका सम्बन्ध व्योष और त्रिसुगन्ध के साथ भी आने से कुछ का विचार है कि त्रिकटु और त्रिसुगन्ध को आधा प्रस्थ लेना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि रोगी के दोष-दूष्य-बल-प्रकृति-सात्म्यादि का विचार करके तदनुसार कंसहरीतकी का निर्माण किया जावे।

पटोलमूलादि क्वाथ

पटोलमूलामरदारुदन्ती
त्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च
सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ॥५२॥
कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितं कषायो
घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः।
वीसर्पदाहज्वरसन्निपात
तृष्णाविषाणि श्वयथुं च हन्ति ॥५३॥

परवल की जड़, देवदारु, दन्ती, त्रायमाण, पिप्पली, हरड़, इन्द्रायण, मुलहठी, कुटकी तथा चन्दन सहित समुद्रफल, दारुहल्दी एक-एक कर्ष बराबर इन द्रव्यों के द्वारा उबाला गया कषाय एक कुडव घी के साथ मिलाकर पीना चाहिए। (यह) विसर्प, दाह, ज्वर, सन्निपात, प्यास, विषों तथा शोथ को नष्ट करता है।

चित्रकादिघृत

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजी
सौवर्चलं व्यूषणवेतसाम्लम्।
विल्वात् फलं दाडिमयावशूकौ
सपिप्पलीमूलमथापि चव्यम् ॥५४॥
पिष्ट्वाक्षमात्राणि जलाढकेन
पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात्।
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं
निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम् ॥५५॥

चित्रक के सहित धनियां, अजवाइन, श्वेतजीरक कालानमक, सोंठ, मिरच, पीपल, अम्लवेंत, बेल से गिरे (अर्थात् पके) फल, अनारदाना, जवाखार, तथा पिप्पलीमूलसहित चव्य प्रत्येक की १-१ कर्ष मात्राओं को एक आढक जल के साथ एक प्रस्थ घृत पकाकर प्रयोग करे। अर्शों को, गुल्म, शोथ तथा मूत्रकृच्छ्र को (यह घृत) नष्ट करता है तथा अग्नि को प्रदीप्त कर देता है।

पिबेद्घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं
सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम्।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं
तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ॥५६॥

अथवा चित्रक और यवक्षार सहित आठगुने जल से सिद्ध शक्तिवर्द्धक घृत को अथवा कल्याणक घृत (देखो पृष्ठ ३२८ उन्माद चिकित्सा) अथवा पञ्चगव्यघृत, तिक्तघृत अथवा महातिक्तघृत पिये।

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते
दध्यागतं साधु विमथ्य तेन ।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं
तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥५७॥
अर्शांसि सामानिल गुल्ममेहां-
स्तद्धन्ति दीप्तञ्च करोति वह्निम् ।
तक्रेण चाद्यात् सघृतेन तेन
भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ॥५८॥

चित्रक के कल्क से लिप्त घड़े में दधि बने दूध को भले प्रकार मथकर उससे उत्पन्न घृत को चित्रक मूल का कल्क डालकर तक्र से सिद्ध किया घृत श्रेष्ठ शोथनाशक है। (यह घृत) अर्शों को आमवात सहित गुल्म, प्रमेहों को नष्ट करता है। अग्नि प्रदीप्त करता है घृतयुक्त उस तक्र के साथ भोज्यद्रव्य खावे अथवा उस तक्र से सिद्ध यवागू को (पीवे)।

जीवन्त्यजाजी शटिपौष्कराह्वैः
सकारवीचित्रकविल्वमध्यः ।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणै-
र्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभ्रष्टा ॥५९॥
अर्शोऽतिसारानिलगुल्मशोफ
हृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः ।
या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन
सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव ॥६०॥

जीवन्ती, जीरा, कचूर, पोकरमूल, कालाजीरा सहित चित्रक, वेलगिरी, जवाखार सहित आधा-आधा कर्ष प्रमाण में लेकर उनसे घृत तैल से भुनी तिन्तिडीक युक्त यवागू अर्श, अतीसार, वातगुल्म, शोफ, हृद्रोग, अग्निमान्द्य में हितकर (होती है)।

अथवा उसी विधि से पञ्चकोल से सिद्ध यवागू उसी के समान ही होती है।

शोथ में पथ्य

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको
मौद्गस्तु सव्यूषणयावशूकः ।
रसांस्तथा विष्किरजाङ्गलानां
सकूर्म्मगोधाशिखिशल्लकानाम् ॥६१॥
सुवर्च्चला गृञ्जनकं पटोलं
सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम् ।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं
भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ॥६२॥

पिप्पलीसहित कुलथी की दाल तथा सोंठ मिर्च पीपल जवाखार सहित मूंग की दाल, कछवा, गोह, मोर, और सेह के और विष्किर तथा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस सूरजमुखी, शलगम, परवल, मकोयसहित मूली, वेत्र, नीम शाक चाहने वालों के प्रशस्त शाक (हैं) तथा भोजन में पुराने जौ तथा शालिचावल (प्रशस्त हैं)।

श्वयथु में बाह्यचिकित्सा

आभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतत्
वहिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत् ।
स्नेहान् प्रदेहान् परिषेचनानि
स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्य्यात् ॥६३॥

(ऊपर) यह आभ्यन्तर औषध कह दिया। जो बाह्य हितकर (औषध) है उसे यथावत् सुन। प्रबल-वातज शोथ के स्नेहों, प्रदेहों, परिषेकों तथा स्वेदों को जिनको नीचे बतलाया जा रहा है उसके अनुसार करे।

शैलेयादितैल

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्ती
त्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः ।
प्रियंगुथौणेयकहेममांसी
तालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥६४॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः
स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम् ।
वातान्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं
सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥६५॥

(इति शैलेयादि तैलम् ।)

छैलछरीला, कूठ, अगर, देवदारु, रेणुकाबीज, दालचीनी, पद्माख, इलाइची, सुगन्धवाला, ढाक,

मोथा, प्रियङ्गु, ग्रन्थिपर्ण, नागकेशर, जटामांसी, तालीसपत्र, केवटीमोथा, तेजपत्र, धनिया, गन्धाबेरोजा गन्धतृण, पिप्पली, स्पृक्का, तथा नख इनमें से जितनी उपलब्ध हो सकें उनसे सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग तथा इन औषधियों को पीस कर बनाया गया प्रदेह (लेप) वातिक शोथ में प्रिय मानते हैं।

जलैस्तथैरण्डवृषार्कशिग्रु
काश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धः।
स्विन्नः कवोष्णैरवितप्ततोयैः
स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥६६॥

एरण्ड, अडूसा, आक, सहंजन, गम्भारी के पत्ते, तथा दोनों से सिद्ध किये गये कवोष्ण (थोड़े गर्म) जलों से स्वेदन किये हुए रोगी को गन्ध द्रव्यों के साथ अनुलेपन (anointing) करना चाहिए।

वक्तव्य—(२२३) विविध प्रकार के शोथों में आधुनिक चिकित्सक जहां ग्लिसीन बेलाडोना इक्थ्यौल या एम्प्लास्ट्रम बेलाडोना अथवा एण्टीफ्लोजेस्टीनादि शोथ विलयक पदार्थों का वहिर्लेप करते हैं उससे कहीं अधिक दक्षतापूर्वक चरक ने विविध शोथों में दोष दूष्य का विचार करके विविध लेपन, अनुलेपन, परिषेक, अवगाहन, उपनाहन, स्वेदन, स्नेहन आदि विधियों का उल्लेख किया है। वैद्य यदि इनका सावधानी से उपयोग करें तो आधुनिकों के द्रव्यों की आवश्यकता न पड़े। डाक्टर भी इनका उपयोग करके देश को लाभ पहुँच सकते हैं।

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां
त्वचः समाञ्जिष्ठलतामृणालाः।
सचन्दनाः पद्मकवालकौ च
पित्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥६७॥
आवतस्य तेनाम्बुरविप्रतप्तं
सचन्दनं साभयपद्मकं च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः
क्षीरोदकं चन्दन लेपनं च ॥६८॥

बेतस, मजीठ की बेल, कमलनाल सहित क्षीरी वृक्षों की छाल, चन्दनसहित पद्माख तथा सुगन्ध वाला का प्रदेह तथा इनके द्वारा तैल सिद्ध कर पित्तज शोथ में प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार लेप किए हुए उस रोगी के द्वारा चन्दन हरड़ और पद्माख युक्त धूप में तप्त जल स्नान के लिए हितकर है। क्षीरी वृक्षों के कषाय और क्षीरोदक (दूध का जल या दूध तथा जल भी स्नान के लिए हितकर है बाद में) चन्दन लेपन (करना चाहिए)।

कफे तु कृष्णासिकतापुराण
पिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः।
कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेक —
श्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च ॥६९॥

कफजशोथ में पिप्पली, बालू, पुरानी तिल की खल, सहंजन की छाल, तथा अलसी (linseed) का प्रलेप, कुलथी, सोंठ और गोमूत्र से परिषेक तथा चोरक और अगर का लेपन (करना चाहिए)।

विभीतकानां फलमध्यलेपः
सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रदिष्टः।
यष्टयाह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः
सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥७०॥

बहेड़ों के फलों के बीच की मींगी का लेप सब प्रकार के शोथों में दाह शूलनाशक कहा गया है। मुलहठी, मोथा, कैथ के पत्ते, चन्दन पिडकाओं पर लेप (करना चाहिए)।

रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्ग
शिग्रुत्वचो मूषिकपर्णिका च।
निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः सदूर्वा
सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ॥७१॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा
पुनर्नवा चित्रकनागरे च।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं
शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः ॥७२॥

रास्ना, अडूसा, आक, हरड़, बहेड़ा, आमला, विडङ्ग, सहँजन की छाल, मूषाकर्णी, तथा, नीम, दौना (तुलसी भेद), नखी, दूबसहित सूरजमुखी, तथा कुटकी, मकोयसहित बड़ी कटेरी, कूठ सहित

सांठ (पुनर्नवा), चित्रक तथा सोंठ में गोमूत्र पीसकर शोथ वालों में उन्मर्दन (massage) तथा मूली के जल स्वरस का परिषेक (bath) श्रेष्ठ (होता है)।

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये
ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्।
अनेक संख्याः कतिचिच्च तेषां
निदर्शनार्थं गदतो निबोध ॥७३॥

जो शोथ शरीर के विविध अवयवों में आश्रित रहते हैं वे स्थान-दूष्य-आकृति तथा नाम के भेद से संख्या की दृष्टि से बहुत से (हैं) उनके कुछेक उदाहरणार्थ कहते हुए मुझसे सुनो।

वक्तव्य—(२२४) शोथ या व्रणशोथ इन्हें आयुर्वेद में इन्फ्लेमेशन का पर्याय माना जाता है। हमने चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय काशी से प्रकाशित अभिनव विकृति विज्ञान नामक ग्रन्थ में इनका बहुत विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है। शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं जहां शोथ या इनफ्लेमेशन न होसकता हो। पाश्चात्य चिकित्साविज्ञों ने प्रत्येक का पृथक् पृथक् नामकरण किया है, उसके लक्षण दिये हैं तथा उपचार देकर बहुत समझाने की चेष्टा की है। पर जैसे यहां उन सब विविध नामधारी शोथों की चिकित्सा में विशेष अन्तर नहीं उसी प्रकार आयुर्वेदोक्त चिकित्सा में भी विशेष अन्तर नहीं है अस्तु, चरक ने उदाहरण स्वरूप थोड़े से अङ्गावयवस्थ शोथों का वर्णन करके छोड़ दिया है।

शिरःशोथ

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः
कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।
अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च
शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि ॥७४॥

अपने अपने हेतुओं से कुपित हुए तीनों दोष सिर में बड़ा भयङ्कर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। और गले के अन्दर घुर्घुर शब्द के साथ उच्छ्वास में अवरोध करने वाले शालूक नामक शोथ को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—(२२५) सिर के अन्दर होने वाला शोथ त्रिदोषज होता है तथा बड़ा भयानक होता है इतना बतला कर कण्ठशालूकों के शोथ को आचार्य ने कहा है। थोड़े से लक्षणों के साथ यह वर्णन निदर्शनार्थ गदतो निबोध के अनुरूप ही है।

विडालिका

गलस्य सन्धौ चिबुके गले वा
सदाहरागः श्वसनोच्छ्वसोग्रः।
शोफो भृशार्तिस्तु विडालिका स्यात्
हन्याद् गले चेद् वलयीकृता सा ॥७५॥

गले की सन्धि में चिवुक या कण्ठ में दाह राग सहित उग्र श्वासोच्छ्वासयुक्त अत्यन्त तीव्र वेदना युक्त विडालिका (विदारिका या वितानिका नामक) शोफ होता है। वह गले में वलय बनाये हुए हो तो (रोगी को) मार डालती है।

स्यात्तालु विद्रध्यपि दाहराग
पाकान्वितस्तालुनि सा त्रिदोषात्।
जिह्वो परिष्टादुपजिह्विकास्यात्
कफादधस्तादधिजिह्विका च ॥७६॥

वात पित्त कफ से तालु में दाह-राग-पाक से युक्त तालु विद्रधि भी होती है। कफ से जीभ के ऊपर उपजिह्विका, जीभ के नीचे अधिजिह्वा होती है।

यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात्
पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः।
स्याद्दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे
शोफः कफाच्छोणितसंचयोत्थः ॥७७॥

जो दन्तमांसों (मसूड़ों) में रक्तपित्त के कारण पाक होता है वह उपकुश कहलाता है। तथा कफ रक्त के संचय से उत्पन्न मसूड़ों में ही दन्तविद्रधि होती है।

गलगण्ड-गण्डमाला

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः
स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तुगण्डैः।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूल—
कासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥७८॥

गले के पार्श्व में एक गलगण्ड (नामक शोथ) होता है। बहुत से गण्डों के शोथ को गण्डमाला

कहते हैं। (साधारणतया) गण्डमाला साध्य कही जाती है (परन्तु जो) प्रतिश्याय, पसली का दर्द, खांसी ज्वर, वमन (इन यक्ष्माजन्य उपद्रवों से) युक्त (होती हैं) वे असाध्य (कहलाती हैं)।

सामान्य-चिकित्सा

तेषां सिराकायशिरोविरेका
धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्।
स्याल्लङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि
प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च ॥७६॥

(ऊपर जितने प्रकार के शरीरावयवजन्य शोथों का वर्णन किया गया है) उनका सिरावेध, शरीर-विरेचन, शिरोविरेचन, धूमपान और पुराने घी का पान (चिकित्सार्थ) होवे। तथा मुखोत्पन्न शोथ में लंघन, प्रघर्षण, और कवलग्रह (कुल्ले चिकित्सा के लिये) हों।

ग्रन्थिवर्णन

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात्
स्वरूपधारी स्फुरणं सिराभिः।
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्ति—
मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च ॥८०॥
संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः
सांगुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्।
विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं
शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत् ॥८१॥
अदग्ध: ईषत् परिशेषितश्च
प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्।
तस्मादशेषः कुशलैः समन्ता—
च्छेद्यो भवेद् वीक्ष्य शरीरदेशान् ॥८२॥
शेषे कृतेपाकवशेन शीर्य—
दतः क्षतोत्थः प्रसरेद् विसर्पन्।
उपद्रवं तं प्रविचार्य तज्ज्ञ—
स्तैर्भेषजैः पूर्वतरैर्यथोक्तैः ॥८३॥
निवारयेदादित एव यत्ना—
द्विधानवित् स्वस्वविधिं विधाय।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं
व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत् ॥८४॥
विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितञ्च
तथा गले मर्मणि संश्रितञ्च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद् विवर्ज्यो
यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥८५॥

वातादिक कारणों से शरीर के किसी एक अवयव में निश्चित स्वरूप वाली ग्रन्थि (cyst) होती है। सिरा से उत्पन्न ग्रन्थि (aneurysm) में स्फुरण (Pulsating) मांसोत्पन्न विशालकाय, मेदोजग्रन्थि शूलरहित स्निग्धतम और चल (movable) होती है।

अपक्वग्रन्थि को संशोधन और स्वेदन करने पर पत्थर, काठ, अंगूठा दण्ड आदि से विम्लापन करे फिर शस्त्र द्वारा वैद्य चीरकर कोशसहित (with capsule) निकालकर जलाकर व्रणवत् चिकित्सा करे।

थोड़ी बिना जली या बिना निकाली शेष रहने पर वह धीरे-धीरे फिर बढ़ जाती है इससे कुशल वैद्य द्वारा शरीर भागों को भले प्रकार देखकर चारों ओर से सम्पूर्ण ग्रन्थि को काटकर निकालना चाहिए।

ग्रन्थि का कुछ भाग शेष रह जाने पर पाकवश वह जीर्ण हो जाती है और उससे क्षत बनकर उससे विसर्प प्रसरण करता है (इसलिए) उस उपद्रव को भले प्रकार विचार कर पूर्वोक्त यथाविध उन औषधों से विधानवेत्ता निज निज विधियों का विधान करके आदि से ही यत्नपूर्वक उसका निवारण करे।

तत्पश्चात् व्रणज्ञ इस रोगी के व्रण की तुरत यथा विधान चिकित्सा करे।

(शस्त्रकर्म करने वाले वैद्य को) कुक्षि, उदर में आश्रित तथा गले में, मर्म स्थानों में संश्रित स्थूल और खर ग्रन्थि को भी तथा जो भी बालक-वृद्ध या अबलों की ग्रन्थि का (शस्त्रकर्म) छोड़ देना चाहिए।

वक्तव्य –(२२६) आचार्य ने ग्रन्थि का वर्णन करने में जहां ग्रन्थि हो वहां वर्जनीयों में छोडकर शेष में पूर्णतः अशेष कैपसूल सहित ग्रन्थि के उच्छेद को स्वीकार किया है। थोड़ी भी ग्रन्थि रहने से वह पुनः बढ़ती है तथा उसे योंही छोड़ देने से वह जीर्ण होकर सैप्टिक बनकर विसर्प उत्पन्न करती है इसलिए पूरी निकालकर फिर उस स्थान को जलाकर व्रणवत् चिकित्सा का आदेश दिया है। संक्षेप में सम्पूर्ण विधि बतला दी गई है। ऊपर के छै श्लोकों में हमें शस्त्रकर्म करने वाले कुशल भिषक्, उपद्रव विधान वेत्ता, तज्ज्ञ चिकित्सक, व्रणज्ञ इनका अलग-अलग नाम मिलता है जो यह सूचना देता है कि चरक द्वारा अस्पताल की कल्पना में एक निदान बतलाने वाला चिकित्सक होता था, दूसरा शस्त्रकर्म करने वाला सर्जन रहता था, तीसरा उपद्रवों और शस्त्रकर्म के बाद जो गड़बड़ पड़ती है उसका ध्यान देने वाला तज्ज्ञभिषक् रहता था तथा एक व्रण का उपचार करने वाला व्रणज्ञ रहता था।

अर्बुद (Tumours)

ग्रन्थ्यर्वुदानाञ्च यतोऽविशेषः
प्रदेश हेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि
विधान विद्ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥८६॥

क्योंकि स्थान, हेतु, लक्षण, दोष, द्रव्यों की दृष्टि से ग्रन्थि तथा अर्बुदों का विशेषभेद नहीं इसलिए विधानवेत्ता चिकित्सक ग्रंथि-चिकित्सा के ही अनुसार अर्बुदों को चिकित्सा करे।

अलजी

ताम्रा सशूला पिडका भवेद्या
सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा।
शोफोऽक्षतश्चर्मनखान्तरेस्या–
न्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ॥८७॥

अपने अग्रभाग से स्राव निकालने वाली ताम्र (लाल) वर्ण की शूलयुक्त जो पिडका वह अलजी नाम वाली होवे।

मांस तथा रक्त को दूषित करने वाला अतिशीघ्र पाक वाला चर्म और नख के बीच में (जो) शोफ (होता है वह) अक्षत (whitlow कहलाता है)।

ज्वरान्विता वंक्षणकक्षजा या
वर्तिर्निरर्तिः कठिनायता च।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां
तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात् ॥८८॥
विस्रावणं पिण्डिक योपनाहाः
पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।

ज्वर से युक्त वंक्षण (groin) तथा कक्षा (axilla) में उत्पन्न शूलरहित जो बत्ती के सदृश (लम्बोतरी) कठिन और विस्तृत वह विदारिका कफ वात दोषों से (उत्पन्न होती है) उसकी दोषानुसार चिकित्सा करे। रक्तमोक्षण, पिण्डीस्वेद, उपनाह (poultice का प्रयोग करे) तथा पकने पर व्रण के समान चिकित्सा करे।

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु–
स्फोटाः सरागज्वर तर्षयुक्ताः ॥८९॥

सम्पूर्ण शरीरव्यापी लालिमा ज्वर और तर्ष (नामक दाह से) युक्त स्फोट विस्फोटक (कहलाते हैं)।

कक्षा

यज्ञोपवीतं प्रतिमाः प्रभूताः
पित्तानिलाभ्यां-जनितास्तु कक्षाः।
याश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः
स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः ॥९०॥

पित्त (तथा) वात (इन दो दोषों के कुपित होने से) यज्ञोपवीत के सदृश बहुत स्फोट कक्षा (herpes) कहलाते हैं और जो अपर मोटी छोटी बीच की पिडकाएँ (शरीर में इतस्ततः) फैली रहती हैं वे भी पित्तजा होती हैं।

रोमान्तिका

क्षुद्र प्रमाणाः पिडका शरीरे
सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः।
कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेका
रोमान्तिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः ॥९१॥
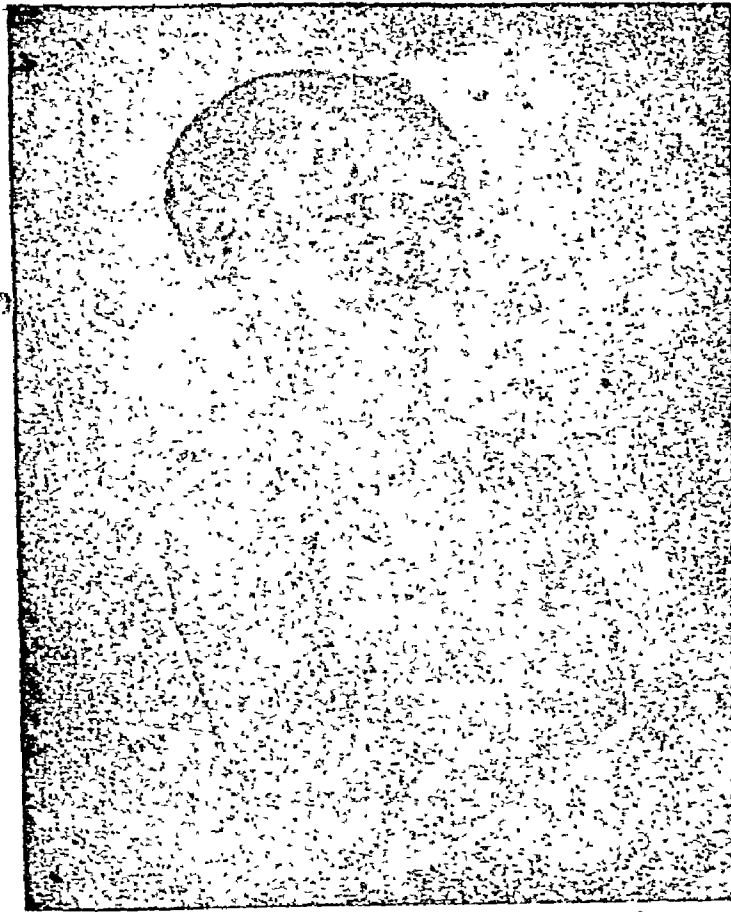
पित्तकफ से उत्पन्न छोटी छोटी शरीर के सम्पूर्ण अङ्ग में व्याप्त जो खुजलीयुक्त पिडका होती हैं जिनके साथ ज्वर, दाह, तृष्णा अरुचि और प्रसेक (आदि उपद्रव भी पाये जाते हैं वे) रोमान्तिका (measles) कहलाती हैं।

मसूरिका

याः सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा
मसूरिका पित्तकफात् प्रदिष्टाः।
विसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या
तां तेषु कुष्ठेषु हितां विदध्यात् ॥६२॥

मसूर प्रमाण की पित्तकफ से उत्पन्न जो सम्पूर्ण शरीर पर (पिडकाएँ होती हैं वे) मसूरिका (small pox) कही जाती हैं।

व्रध्न

व्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गै-
रन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत्
स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम् ॥६३॥

विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः
पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
स्यान्मूत्र मेदः कफजं विपाटच
विशोध्य सीव्येद्व्रणवच्च पक्वम् ॥६४॥

वातादि दोषों से अपने लक्षणों से वृषण में आँत बार बार प्रवेश करती है और निकलती है। यह व्रध्न (hernia) है। यदि मूत्र से पूर्ण (व्रध्न-hydrocele) होता है तो (वह) कोमल तथा मेदस् से उत्पन्न वृषण शोथ (orchitis) स्निग्ध तथा कठिन होती है।

(व्रध्न में) विरेचन, अभ्यंग, निरूहण तथा लेप (प्रयोक्तव्य हैं) पक जाने पर व्रण के समान चिकित्सा करें। यदि मूत्रज मेदज या कफज (अण्डवृद्धि हो तो उसको) पक जाने पर चीर कर शोधन करके (सैक sac को उलट कर) सीधे तथा व्रणवत् चिकित्सा करे।
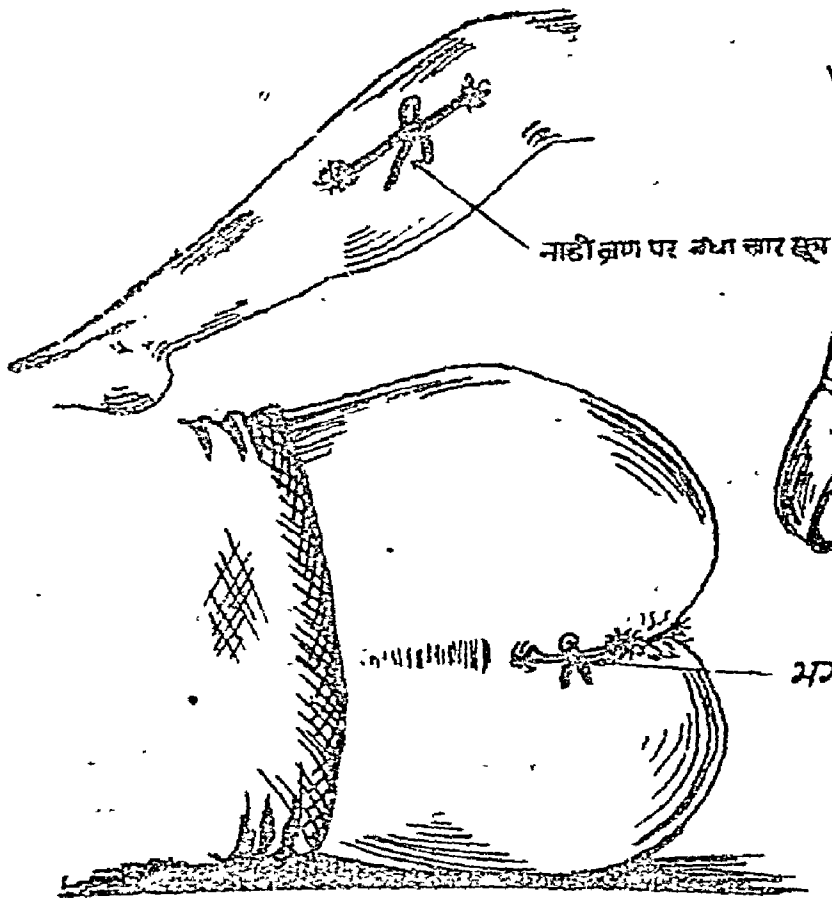
नाडी व्रण भगन्दर व अर्बुद क्षार-सूत्र से बंधे हुए

काटकर फिर उसकी व्रणवत् चिकित्सा करे।

वक्तव्य—(२२७) भगन्दर का सारा कर्म ऊपर थोड़े शब्दों में चरक ने लिख दिया है। रोगी का कोष्ठशुद्धि करके प्रोब डालकर मार्ग को देखकर या तो चाकू से पाटन करे या क्षारसूत्र से काट दे तत्पश्चात् जैसे व्रण का इलाज होता है उसे करे।

भगन्दर

क्रिमेस्तृणादिक्षणनव्यवाय—
प्रवाहणान्युत्कटकाश्वपृष्ठैः।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः
पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ॥९५॥
विरेचनञ्चैषणपाटनं च
विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
स्यात्क्षारसूत्रेण सुपाचितेन
छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ॥९६॥

कृमियों, तिनका आदि का चुभन मैथुन, कुंथन, उकड़ू बैठना, घोड़ा (आदि जानवरों की) पीठ पर बैठने से गुद के पार्श्व (lateral aspect) में अत्यन्त शूलवाली पिडका (बन जाती है जिसका) पक कर फूटना भगन्दर होता है।

विरेचन, एषण (probing), पाटन (काटना) तथा मार्ग के विशुद्ध होने पर तैल से दाह तथा भगन्दर का ठीक से पक जाने पर (शस्त्रकर्म न कराने वाले रोगी के भगन्दर का) क्षारसूत्र द्वारा

श्लीपद

जङ्घासु पिण्डी प्रपदोपरिष्टात्
स्याच्छ्लीपदं मांस कफास्रदोषात्।
सिराकफघ्नश्च विधिः समग्र—
स्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥९७॥

जंघा में, पिण्डलियों, पद (पैर) के ऊपर वाले भाग में मांस-कफ और रक्त दोष से श्लीपद होता है (वहां) सिरावेध तथा कफनाशक सब विधि तथा सरसों का लेप प्रिय होता है।

जालगर्दभ

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा
दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
कुर्वन्ति शोफं ज्वरतर्षयुक्तं
विसर्पिणं जालकगर्दभाख्यम् ॥९८॥
विलेपनं रक्तविमोक्षणञ्च
विरूक्षणं कायविशोधनञ्च।
धात्रीप्रयोगान् शिशिरप्रदेहान्
कुर्यात्सदाजालकगर्दभस्य ॥९९॥

दूषित हुए प्रबल पित्तयुक्त (शेष वात तथा कफ रूप) मन्ददोष अत्यन्त तीव्र अल्परक्त के पाक वाले ज्वर-तृषायुक्त तथा फैलने वाले जालगर्दभ नामक शोफ को (उत्पन्न) करते हैं।

विलेपन, रक्तमोक्षण, विरूक्षण, कायविशोधन, आमलों के प्रयोग, और ठण्डे प्रदेहों को सदा जाल-गर्दभ के रोग में करे।

एवं विधाश्चाप्यपरान् परीक्ष्य
शोथप्रकाराननिलादिलिङ्गैः।
शान्तिं नयेद् दोषहरैर्यथास्व-
मालेपनच्छेदन भेददाहैः ॥१००॥

इसी प्रकार अन्य भी शोथ के प्रकारों को वाता-दिकों के लक्षणों से परीक्षण करके यथायोग्य दोष-हर द्रव्यों से आलेपन-छेदन-भेदन-दाहादिक कर्मों से शान्ति प्राप्त करावे।

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः
शोथं सरागं प्रकरोति तत्र।
वीसर्पनन्मारुतरक्तनुच्च
कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म ॥१०१॥

बहुधा चोट से रक्तसहित वातदोष लालिमायुक्त शोथ उत्पन्न करता है (अर्थात् जहां चोट लगती है वहां लाली के साथ चोट का निशान सूज आता है) वहां विसर्पनाशक (antiseptic) तथा वातघ्न तथा रक्तदोषनाशक कार्य करना चाहिए। विषजन्यशोथ में विषनाशक चिकित्सा करना चाहिए।

अध्यायोक्त विषय

तत्रश्लोकः

त्रिविधस्य दोषभेदात् सर्वार्द्धावयवगात्रभवाच्च।
श्वयथोर्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितञ्चोक्तम् ॥१०२॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)—

शोथ के तीन प्रकार दोषभेद से विविध प्रकार सर्व, अर्द्ध, अवयव शरीर भेद से तथा लक्षण और चिकित्सा को (इस अध्याय में) कहा गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में श्वयथुचिकित्सित नामक बार-हवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

त्रयोदशोऽध्यायः

उदर चिकित्सा

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) उदर्चिकित्सित नाम के (अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे।
तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिवस्थितम् ॥२॥
भिषग्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्वेदप्रवर्तकम्।
पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद् वचः ॥३॥
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः।
शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ॥४॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः।
दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत् ॥५॥
तेषामायतनं संख्यां प्राग्रूपाकृतिभेषजम्।
यथावच्छ्रोतुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ॥६॥

सिद्धों तथा विद्याधरों से व्याप्त नन्दनवन की उपमा वाले कैलास पर तीव्र तप से तपते हुए साक्षात् धर्मरूप में स्थित वैद्यों में श्रेष्ठ आयुर्वेद के प्रवर्तक जितात्मा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय को अग्निवेश ने कहा "हे भगवन् क्योंकि दुखदायक उदररोगों से पीड़ित अनेक व्यक्ति हैं (जिनके) मुख सूखे, गात्र कृश, कुक्षि और उदर फूले हुए, नष्ट हुए अग्निबल आहार वाले सब क्रियाओं में असमर्थ, दीन, प्रतिक्रिया के अभाव से अनाथ के समान प्राणों को त्यागते हुए दिखाई देते हैं। उनका कारण, रोग संख्या, पूर्वरूप, लक्षण, चिकित्सा (आप) गुरु द्वारा भले प्रकार उपदिष्ट सुनना चाहता हूँ।

वक्तव्य—(२२८) तेरहवें अध्याय का आरम्भ है। आरम्भिक श्लोकों से यह प्रगट होता है कि तीव्र तप से तप्यमान भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कैलास पर बैठे हुए हैं उनके शिष्य एकत्र हैं और अग्निवेश ने प्रश्न किया है। इससे ऐसा लगता है कि आत्रेय जी का तप आयुर्वेद में गहन रिसर्च ही था और आजकल जिन्हें रिसर्चस्कालर कहते हैं प्राचीनकाल में वे ही तपस्वी करके ख्यात थे। तपस्वी का श्रेष्ठतम रूप या उच्चतम आसन धर्मराज का होता है। आत्रेय जी आयुर्वेद में साक्षात् धर्म थे। उनकी प्रयोगशाला के स्थान समय समय पर बदलते रहते थे। उदरविकार सम्बन्धी चिकित्सा आदि का जो प्रवचन उन्होंने किया है वह कैलास पर हुआ है। अग्निवेश ने उस समय के उदररोगियों का चित्रण ४, ५ श्लोकों में बड़े विचारपूर्वक किया है जिस प्रकार आज यक्ष्मा के रोगियों का वर्णन एक काव्य बना

सकता है वैसे ही यह वर्णन भी उस समय के उदररोग से पीड़ितों का बड़ा कारुणिक चित्र उपस्थित करता है।

सर्वभूतहितार्थपिः शिष्येणैवं प्रचोदितः।
सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्त्तुमुपचक्रमे ॥७॥

सब प्राणियों के हित के लिए शिष्य (अग्निवेश) के द्वारा प्रेरित ऋषि (आत्रेय) ने सर्वभूत हितकारी प्रवचन कहना आरम्भ किया।

उदररोगों की सम्प्राप्ति

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः।
मलवृद्धया प्रवर्त्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥८॥
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसञ्चयः।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥९॥
त्वङ्मांसान्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्।
जनयन्त्युदरं तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥१०॥

मनुष्यों के अग्निमान्द्य के कारण (तथा) मलवृद्धि होने से भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों के समूह तथा विशेष करके तो उदररोग प्रगट हुआ करते हैं।

मलिन (दूषित) खाद्य पदार्थों के खाने से, न पचने के कारण अग्नि के मन्द होजाने पर संचित दोष प्राणवायु, जाठराग्नि (तथा) अपान इन सबको दूषित करके ऊपर नीचे के मार्गों का अवरोध करके त्वचा और मांस के बीच में पहुँच कर कुक्षि को अत्यन्त फुला कर उदररोग को उत्पन्न करते हैं।

उसका लक्षण सहित कारण सुन।

वक्तव्य—(२२९) उदर रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अपना दृढ़ मत है कि सर्वप्रथम जाठराग्नि में कमी आती है। जठरस्थ अग्नि की कमी के कई कारण हो सकते हैं इनमें दूषित भोजन का, जीवाणुयुक्त या कष्ट से पचने वाले द्रव्यों का बाहुल्य प्रमुख भाग लेता है। अविपाक दूसरा कारण है जो जाठराग्निमान्द्य का परिणाम है।

अग्नि की मन्दता दोषों का संचय करती है। संचितदोष प्राणवायु और अपानवायु दोनों को तथा अग्नि को और भी दूषित करके ऊर्ध्व तथा अधो मार्गों में अवरोध पैदाकर देते हैं। अवरोध के कारण ये वायु त्वचा और मांस के मध्य में स्थित (peritoneum उदरच्छद) तथा समीपस्थ कुक्षिक्षेत्र में आध्मान करके उदररोगोत्पत्ति करते हैं।

मलिनाहार—अग्निमान्द्य-दोषसंचय-प्राणाग्न्यपानसंदूषण-मार्गावरोध-उदररोगोत्पत्तिये सभी एक ही शृङ्खला का निर्माण करते हैं।

उदररोग-निदान

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्।
मिथ्यासंसर्ज्जनाद् रूक्षविरुद्धाशनभोजनात् ॥११॥
प्लीहार्शोग्रहणी दोषकर्षणात् कर्म्मविभ्रमात्।
क्लिष्टानामप्रतीकाराद् रौक्ष्याद् वेगविधारणात् ॥१२॥
स्रोतसां दूषणादामात् संक्षोभादतिपूरणात्।
अर्शोबालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥१३॥
अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥१४॥

अत्यन्त गरम पदार्थ, नमक, क्षार, विदाही, खट्टे, गरयुक्त पदार्थ खाने से, अयोग्य संसर्जन क्रम (आहार विधि) से, रूखे तथा विरुद्ध खाद्य द्रव्यों के भोजन करने से, (प्लीहा-अर्श-ग्रहणी रोग (इन तीनों में से किसी के द्वारा पीडित होने के कारण हुए) दौर्बल्य से, पञ्चकर्म उचित रूप से न करने से, (प्लीहादि से) क्लेशपानेवालों का प्रतीकार न करने से, रूक्षता (की वृद्धि होने) से, (मूत्रपुरीषादि के) वेगों के रोकने से, (मूत्र पुरीष स्वेदवाही आदि स्रोतसों के) दूषित होने से, आम दोष से, (चित्त के) क्षुब्ध होने से, (दही आदि पदार्थों से पेट के) अत्यधिक भर लेने से, अर्शरोग (के अंकुरों) तथा (भोजन के साथ खाये हुए) बालों के कारण हुए मलावरोध से, आंतों के फूटने और विदीर्ण होने से, (जिनके) दोष अत्यन्त संचित (होचुके हैं) पापकर्म करने वालों के तथा विशेषतः मन्दाग्नि वालों के उदररोग उत्पन्न होते हैं।

उदररोग-पूर्वरूप

क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्व्वन्नं पच्यते चिरात्।
भुक्तं विदह्यते सर्व्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥१५॥

सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः।
शश्वद्बलक्षयेऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥१६॥
वृद्धिः पुरीषनिचयो रूक्षोदावर्त हेतुका।
वस्तिसन्ध्यो रुगाध्मानं वर्द्धते पाट्यतेऽपि च ॥१७॥
आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनात्।
राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥१८॥

क्षुधा का नाश, मधुर-अत्यन्त स्निग्ध-भारी अन्न देर से पचता है। खाया हुआ सब (पेट में) दाह (विदग्धाजीर्ण,) उत्पन्न करता है। और न, जीर्ण (पच गया अथवा) अजीर्ण (नहीं पचा को ही रोगी) जानता है। (रोगी) अत्यन्त तृप्तिपूर्वक किए आहार (अति सौहित्य) को नहीं सहता है। दोनों पैरों पर थोड़ा शोथ (हो जाता है)। निरन्तर बल का ह्रास होने पर थोड़े से भी व्यायाम में श्वास फूल जाती है। उदर की वृद्धि, मल का संचय, रूक्षता तथा उदरावर्त्त के कारण वस्ति तथा सन्धियों में शूल, आध्मान बढ़ता है और पेट को फाड़ता (हुआसा भी कर देता) है। लघु और अल्प भोजन से भी पेट फूल जाता है। राजियां (पेट पर रेखाओं का) उदय होना और झुर्रियों का नाश ये आगे होने वाले (उदर रोगों) के लक्षण (होते हैं।)

निज उदररोग-सामान्य सम्प्राप्ति

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥१९॥
कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च।
मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यञ्चोदरलक्षणम् ॥२०॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः।
सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२१॥

संचित दोष स्वेदवाही-जलवाही स्रोतसों को रोक कर प्राण-जाठराग्नि तथा अपान इनको भले प्रकार दूषित करके व्यक्तियों के उदर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

कुक्षि में आध्मान (वायु की अधिकता से पेट का फूलना), आटोप (पेट में गुड़गुड़ शब्द का होना), हाथ पैरों का शोथ, अग्निमांद्य, गण्डप्रदेश (कपोल-भाग) का चिकना होना, तथा कृशता, ये उदररोग के लक्षण हैं।

अलग-अलग दोषों से तीन, समस्त दोषों से (एक), प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर तथा दकोदर (इस प्रकार) आठ प्रकार के उदर रोग उत्पन्न होते हैं उनके लक्षण अलग-अलग (हे अग्निवेश! तू) सुन।

वक्तव्य—[२३०] यहां पर श्लोक ८-९-१० में वर्णित सम्प्राप्ति को थोड़ा विशद करते हुए उदर के सर्व सामान्य लक्षणों की ओर प्रकाश डाला गया है। इनमें अग्निमांद्य, हाथ पैरों में सूजन, कृशता, आध्मानाटोपादि मुख्य हैं।

वातोदर (निदान तथा सम्प्राप्ति)

रूक्षाल्पभोजनायास वेगोदावर्तकर्षणैः।
वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्वस्तिगुदमार्गगः ॥२२॥
हत्वाग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्ततः।
आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥२३॥

रूखे, थोड़े भोजन से परिश्रम, वेगरोध, उदावर्त और कृशता बढ़ाने वाले कारणों से प्रकुपित हुआ वायु कुक्षि, हृदय वस्ति और गुद मार्ग में जाकर अग्नि को नष्ट करके कफ को ऊपर की ओर ले जाकर (अपने स्थान से हटाकर) उस (कफ) के द्वारा वायु की गति अवरुद्ध हो जाने से तब फिर जन्तु के त्वचा और मांस के बीच में (पेट में) आश्रित होकर उदर को फुला देता है।

वातोदर—लक्षण

तस्य रूपाणि—कुक्षिपाद वृषणश्वयथुः, उदरविपाटनम्, अनियतौ च वृद्धिह्रासौ। कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्त्ताङ्गमर्द-पर्वभेदशुष्ककासकार्श्यदौर्बल्य रोचकाविपाका अधोगुरुत्वं वातवर्च्चोमूत्रसङ्गः, श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्-मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततम्, आहत माध्मातदृतिशब्दवद्भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूल शब्दश्चरति, एतद्वातोदरमिति विद्यात् ॥२४॥

उसके लक्षण—कोख-पैरों तथा अण्डकोषों पर शोथ, उदर में फटने जैसा शूल, पेट का अनियमित बढ़ना-घटना, कुक्षिशूल, पार्श्वशूल, उदावर्त, अंगमर्द, पर्वभेद, सूखी खांसी, कृशता, दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, पेट के नीचे के भाग का भारी होना, वात की रुकावट, मल की रुकावट, मूत्र की रुकावट, नाखून-नेत्र-मुख, त्वचा मूत्र और पुरीष का श्यावारुण होना, पेट भी पतली, असित रेखा सिराओं से युक्त, अंगुली से दबाने से (भरी) मशक जैसा शब्द होता है। और वायु ऊपर, नीचे, तिरछे मार्ग में (जाकर) दर्द करती हुई शब्द करती हुई चलती है। इसे वातोदर ऐसा जाने।

पित्तोदर (निदान तथा सम्प्राप्ति)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः ।
विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥२५॥
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम् ।
निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥२६॥

कड़वा, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखे पदार्थ, अग्नि तथा धूप का सेवन करने से। विदाही पदार्थों से अध्यशन भोजन पचने के पूर्व खालेने से तथा अजीर्ण से शीघ्र पित्त संचित होता हुआ वायु और कफ को पाकर मार्ग का अवरोध करके उन्मार्ग में स्थित (पथभ्रष्ट) होकर आमाशय में अग्नि को नष्ट करता है तब उदर रोग उत्पन्न होता है।

वक्तव्य (२३१) पित्तकारक पदार्थों के प्रयोग से संचित पित्त वात कफवाही मार्गों को रोक कर आमाशय की अग्नि को नष्ट कर पित्तोदर रोग उत्पन्न करता है।

पित्तोदर लक्षण

तस्य रूपाणि—दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारा आस्यकटुत्वं पीतत्वं नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम् । अपि चोदरं नीलपीतताम्रहरितराजीसिरावनद्धं दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यते मृदुस्पर्शं शीघ्रपाकं भवति । इत्येतत् पित्तोदरमिति विद्यात् ॥२७॥

उसके लक्षण—दाह, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा अतीसार, मुख की कटुता, नख-नेत्र-मुख-त्वचा-मल तथ मूत्र का पीलापन, पुनः उदर भी नीली पीली लाल हरी रेखा तथा सिराओं से व्याप्त होकर दाह करता है। दुखता है, धुंआ सा निकलता है, गर्मी देता है, पसीना देता है, गीला करता है, वह स्पर्श में मृदु (तथा) शीघ्र पकने वाला होता है। इसे पित्तोदर ऐसा जाने।

कफोदर (निदान तथा सम्प्राप्ति)

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः ।
दधिदुग्धोदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः ॥२८॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतः स्वावृतेष्वावृतोऽनिलः ।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्त्रगः ॥२९॥

व्यायाम का अभाव, दिन में सोना, मधुर-बहुत चिकने पिच्छिल पदार्थों दही, दूध, आनूप देशज मांसों के अतिशय सेवन करने से कुपित कफ के कारण स्रोतों में अवरोध होने पर आवृत हुआ वायु आँतों से बाहर जाकर उस (कफ) को ही पीड़ित करता हुआ कफोदर कर देता है।

वक्तव्य—(२३२) कफवर्द्धक कारणों से स्रोतसों में कफ मार्ग रोककर वायु को आवृत कर लेता है वह जब यत्न करता है तो त्वचा और मांस के बीच के भाग में आंत के बाहर कफ का संचय करके उसका पीडन भी कर देता है यही कफोदर की सम्प्राप्ति है।

कफोदर लक्षण

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दाः सुप्तिपाणिपादमुष्कोरुशोफोत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः शुक्लत्वञ्च नयननखवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम् अपि चोदरं शुक्लराजी सिरासन्ततं, गुरु, स्तिमितं, स्थिरं कठिनं च भवति, एतच्छ्लेष्मोदरमिति विद्यात् ॥३०॥

उसके लक्षण—गौरव, अरुचि, अविपाक, अङ्गमर्द, हाथ पैरों में सुन्नता, मुष्क (scrotum), ऊरू (thighs) में सूजन, मतली आना, निद्रा, कास, श्वास, नेत्र-नख त्वचा-मूत्र और मल की सफेदी पुनः पेट भी सफेद रेखाओं तथा सिराओं से युक्त भारी, गीले वस्त्र से

ढँका सा, स्थिर और कठिन होता है। यह कफोदर है ऐसा जाने।

सन्निपातोदर (निदान तथा सम्प्राप्ति)

दुर्बलाग्नेरपथ्यामविरोधिगुरुभोजनात् ।
स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ॥३१॥
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चयं त्रयः।
शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥३२॥

जिसकी अग्नि दुर्बल होगई है (उसके) अपथ्य-कर— आम-विरोधी. तथा भारी पदार्थ सेवन करने से (दुष्ट) स्त्रियों द्वारा दियेगये रज, रोम, मल, मूत्र अस्थि, नख आदि से तथा मन्दविषों से कुपित वातादि तीनों धीरे धीरे कोष्ठ में संचय करके व्यक्तियों का (सन्निपातजन्य) उदर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—(२३३) अग्नि की मन्दता प्रधान कारण है उसके पश्चात् विविध अपथ्यादि का सेवन तीनों दोषों का प्रकोप करके सन्निपातोदर का कारण बना करता है। दुश्चरित्र मूर्ख स्त्रियां बहुधा अपने प्रेमी को वश में करने के लिए नाना प्रकार की गन्दी वस्तुयें किसी पदार्थ में मिलाकर खिलाया करती हैं ऐसा इतिहास भी चरक बतलाता है। मन्द विषों में दूषी विष आते हैं ये भी त्रिदोषज उदररोग की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

सन्निपातोदर लक्षण

तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तान्युपलभ्यन्ते लिङ्गानि वर्णांश्च सर्वे नखादिषु। उदरमपि च नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवति। एतत् सन्निपातोदरमिति विद्यात् ॥३३॥

उसके लक्षण—सब दोषों के ही सम्पूर्ण लक्षण पाये जाते हैं नख नयन वदन मूत्र पुरीषादि में सब प्रकार के वर्ण, उदर भी नानाप्रकार के रंग की रेखाओं और सिराओं से युक्त होता है। यह सन्निपातोदर है ऐसा जाने।

वक्तव्य—(२३४) वात-पित्त कफोदर के सम्मिलित लक्षण जो तत्तत् कारणोद्भूत अथवा विशिष्ट कारण जन्य परिणाम से उत्पन्न होते हैं सन्निपातोदर में देखे जा सकते हैं।

प्लीहोदर (निदानसम्प्राप्तिलक्षण)

अशितस्यातिसंक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः ।
अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्षणैः ॥३४॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहाच्युतः स्थानात् प्रवर्धते।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥३५॥

भोजन करके विविध सवारियों (घोड़ा. ऊंट, साइकिल आदि) पर बैठकर अत्यन्त शारीरिक चेष्टाओं के कारण उत्पन्न अतिशय क्षोभ से, अत्यन्त मैथुन भारवहन, पैदल गमन, वमन अथवा रोग के द्वारा अतिकृश होजाने से बांए पार्श्व में स्थित प्लीहा (अपने) स्थान से हटकर बढ़ने लगती है। अथवा रसादि के द्वारा विशेष करके बढ़ा हुआ रक्त उसको बढ़ा देता है।

तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्द्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते। स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ॥३६॥

उस (व्यक्ति) की प्लीहा आरम्भ में अष्ठीला के समान बढ़ती हुई कछुए के आकार वाली होजाती है। वह अधिक उपेक्षित हुई क्रम से कुक्षि, उदर, अग्न्याशय (pancreas) को घेरती हुई उदररोग (प्लीहोदर) को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य --(२३५) आचार्य को शारीर का उसी प्रकार यथावत् ज्ञान था जैसे आज के किसी एनाटोमिस्ट को है। प्लीहा को वाम पार्श्व में बताना उसके क्रमानुक्रम से बढ़ते रहकर कुक्षि, आमाशय और अग्नि के अधिष्ठान (पैंक्रियाज) तक को घेर लेना रोग और शरीर का स्पष्ट ज्ञान था ऐसा प्रगट करता है।

प्लीहोदर की उत्पत्ति में भोजन करके अत्यधिक चेष्टा करना जिसमें यान मैथुन भारवहनादि आते हैं, वमनकर्म में गड़बड़, रोग के बाद की कृशता, रसरक्तादि की वृद्धि बतलाई गई है। आधुनिक पैथालॉजिस्ट इन सभी कारणों को प्लीहाभिवृद्धि में कारण मानते हैं।

प्लीहोदर-लक्षण

तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाक वर्च्चो मूत्रग्रहतमः प्रवेशपिपासाङ्गमर्द च्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेद कोष्ठे वातशूलानि। अपि चोदरमरुणवर्णविवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठरएवावरोधः। इत्येतद् यकृत्प्लीहोदरमिति विद्यात् ॥३७॥

उसके लक्षण—दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, मल और मूत्र की रुकावट, आंखों के सामने अँधेरा आना, प्यास, अङ्गमर्द, वमन, मूर्च्छा, शरीर का अवसाद, खांसी, श्वास, मृदुज्वर (slow fever), आनाह, अग्निमान्द्य, कृशता, मुख की विरसता, पर्वभेद, कोष्ठ में वातिक शूल का होना। पुनः पेट अरुण वर्ण अथवा अन्य विकृत वर्ण की नीली, हरी, पीली रेखाओं से व्याप्त होता है।

इसी प्रकार यकृत् भी दाहिने पार्श्व में स्थित होकर (उदररोग) कर देता है। हेतु, लक्षण औषध के तुल्य होने से उसका प्लीहोदर में ही अन्तर्भाव होजाता है। इस प्रकार यह यकृत्प्लीहोदर ऐसा जाने।

वक्तव्य—(२३६) चरक ने प्लीहोदर पर जितना जोर दिया है उतना यकृद्दाल्युदर पर नहीं। इसका एक मात्र कारण यह होसकता है कि उस काल में प्लीहोदर का जितना प्रसार था उतना यकृद्दाल्युदर का नहीं रहा होगा क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो वह यकृत् का वर्णन विशेषकर प्लीहोदर को उसी के समान बताता आयुर्वेदज्ञों ने प्लीहा को जितना महत्व दिया उतना यकृत् को नहीं। उस समय यकृत् के सम्बन्ध में जो ज्ञान आज उपलब्ध है वह था या नहीं स्पष्टरूप से नहीं कहा जासकता। उन्होंने प्लीहाभिवृद्धि जिन कारणों से होती है उन्हीं कारणों से यकृद्वृद्धि भी बतलाई है जो यथार्थ है। लोक में प्रायः प्लीहा की जितनी आज
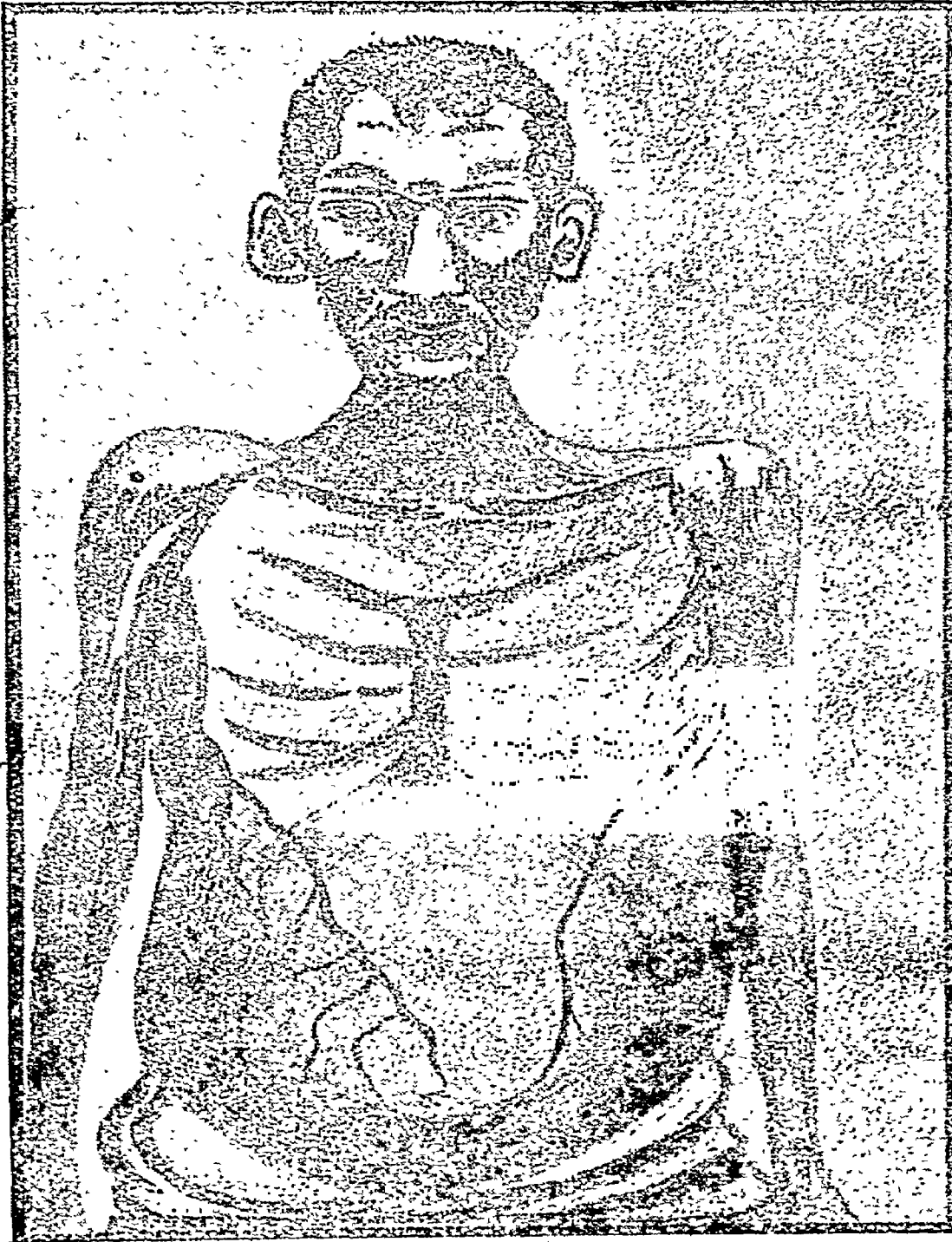
वृद्धि देखी जाती है उतनी यकृत् की वृद्धि होती भी नहीं। यकृत्प्लीहा दोनों का अपना स्थान है पर आधुनिक विज्ञान जहां यकृत् को मुख्य और प्लीहा को गौण मानता है आयुर्वेद ठीक उसके विपरीत प्लीहा को मुख्य और यकृत् को गौण मानता है। अभी इस विषय की शोध और होनी आवश्यक है जो कालान्तर में प्लीहा और यकृत् के सम्बन्ध में नये विचार उपस्थित करेगी। सम्भव होसकता है कि प्लीहा भी किसी अन्तर्द्रव्य का निर्माण करती हो जो यकृत् और रक्तवह संस्थान के लिए विशेष नियामक सिद्ध होता हो।

बद्धगुदोदर (निदान तथा सम्प्राप्ति)

पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे।
उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसंमूर्च्छनेन वा ॥३८॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाग्नि कुपितोऽनिलः।
वर्चः पित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥३९॥

अन्न के साथ पलक के बाल (अथवा साधारण बाल) आदि खाने से गुदा का मार्ग बद्ध होजाने पर, उदावर्त से, तथा अर्शों से अथवा आंत के संमूर्च्छन (paralysis of the intestines) के कारण कुपित अपानवायु मार्ग का संरोध होने से अग्नि को नष्ट कर पुरीष, पित्त तथा कफ (इन) को रोककर तब उदर रोग को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(२३७) बद्धगुदोदर को आधुनिक भाषा में इण्टैस्टीनल आब्स्ट्रक्शन (intestinal obstruction) कहते हैं। गुदा यहां उपलक्षण मात्र है जो आन्त्र की बद्धता का सूचक है। पित्त कफ मल इनका रोध जिन कारणों से होता है और आन्त्र की साधारण कार्य शक्ति का ह्रास हो जाता है उनको बहुत संक्षेप में बतलाया गया है। आधुनिकों ने आन्त्रस्थ आन्त्रप्राचीरस्थ तथा आन्त्रेतर इन तीन प्रकार के कारणों को बद्धगुदोदर में गिनाया है। केशयुक्त अन्न जिन्हें ट्रू फोरेन बोडीज (true foreign bodies) के अन्तर्गत लिया है आन्त्रस्थ में उदावर्त, प्राचीरस्थ में तथा अन्त्रमूर्च्छन (intususception और vovulus) आन्त्रेतर कारणों में आते हैं। चरक का बद्धगुदोदर वर्णन पूर्णतः माडर्न है अतः ध्यान देने योग्य है।

बद्धगुदोदर-लक्षण

तस्य रूपाणि—तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्च्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलानि। अपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणं नीलराजिसिरावनद्धराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इति। एतद्बद्धगुदोदरमिति विद्यात् ॥४०॥

इसका लक्षण—प्यास, जलन, ज्वर, मुखशोष, तालुशोष, ऊरुओं की शिथिलता, खांसी, श्वास, दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, मल तथा मूत्र की रुकावट, पेट फूलना, वमन, छींक, सिर में दर्द, नाभि में दर्द, गुदा में दर्द। और पेट भी मूढवातयुक्त स्थिर, अरुण-नील रेखा सिराओं से युक्त अथवा प्रायशः नाभि के ऊपर गाय की पूँछ के आकार का उठ आता है। इस प्रकार यह बद्धगुदोदर ऐसा जाने।

वक्तव्य—(२३८) आधुनिक चिकित्साशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ में एक्यूट इण्टैस्टीनल आब्स्ट्रक्शन के लक्षणों का वर्णन पढ़ जाइये जो लक्षण यहां दिये हैं उन्हीं का विशद रूप मात्र उनमें प्रगट हुआ है।

छिद्रोदर (निदान सम्प्राप्ति)

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः।
भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयात्यशनेन वा ॥४१॥
पाकं गच्छेद्रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवेद्बहिः।
पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः ॥४२॥

अन्न के साथ मिली बालू, तिनका, लकड़ी का नुकीला टुकड़ा, हड्डी, (अथवा) कांटों के खाने से, अतिमात्रा में भोजन करने से अथवा जम्हाई लेने से जब आँत फटे या पक जावे तो उस छिद्र से बाहर को रस झरने लगे। तब वह (आन्त्रस्थरस) गुद और आन्त्र को भरता हुआ उदररोग उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—(२३९) यह छिद्रोदर परफोरेशन (perforation) के अन्तर्गत आधुनिकों द्वारा वर्णित है। जम्हाई लेने

से आंत का छिद्रण उसी अवस्था में होता है जब टायफाइड या ग्रहणी रोग से आंत बहुत कमजोर होगई हो अथवा उसका बहुत आध्मान होरहा हो।

छिद्रोदरलक्षण

तस्य रूपाणि—तदधो नाभेः प्रायो वर्द्धमानमुदकोदरं स्याद् यथाबलञ्च दोषाणां रूपाणि दर्शयति। अपि चातुरः सलोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्च्च उपवेशते हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति। एतच्छिद्रोदरमिति विद्यात् ॥४३॥

उसके लक्षण—वह नाभि के नीचे प्रायः बढ़ता हुआ जलोदर होता है और दोषों के लक्षणों को बल के अनुसार दिखाता है। और रोग से दुखी प्राणी लाल नीला पीला पिच्छिल शवगन्धयुक्त कच्चा मल त्यागता है। हिचका, श्वास, कास, तृष्णा, प्रमेह, अरुचि, अविपाक और दौर्बल्य से पीड़ित वह होजाता है।

जलोदर (निदानसम्प्राप्ति)

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य च।
अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्न्यवस्थितः ॥४४॥
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः।
वर्द्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ ॥४५॥

स्नेहपान किए, मन्दाग्नि वाले, क्षीण, तथा अत्यन्त कृश पुरुष के अधिक जल पीने से अग्नि नष्ट होने पर क्लोम में स्थित वात स्रोतों में मार्गावरोध होने पर जल से मिश्रित कफ उसी जल को अपने स्थान से उदर रोग के लिये (वे दोनों जल और कफ) बढ़ाते हैं।

वक्तव्य—(२४०) उपरोक्त वर्णन में कफोश्चोदकमूर्च्छित शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिक फिजियालौजी वाहिनियों में तरलभाग की स्थिति का कारण एल्बूमिन और ग्लोब्यूलीन नामक दो प्रोटीनों को मानती है जो जल के आस्मोटिक प्रेशर की वृद्धि किए रहकर धातुओं में अतिद्रवता नहीं होने देतीं। ये प्रोटीनें आयुर्वेदीय कल्पना से कफ के अङ्गभूत हैं। जल जब इन्हें मूर्च्छित करके निकाल देता है तो मूर्च्छित हुआ कफ धातुओं में आस्मोटिकप्रेशर वाहनियों की अपेक्षा बढ़ा देता है जिसके कारण जलीयांश उदरच्छद आदि में व्याप्त होजाता है। रोग के कारण हुई क्षीणता और कृशता एलब्यूमिनादि कम करने में प्रमुख भाग लेती हैं। क्लोम (जल को नियमन करने वाले केन्द्र) में स्थित वात उस व्यापार में अवरुद्ध हो जाता है जिससे कफ मूर्च्छित जलीयांश जलोदर शोफ आदि की उत्पत्ति करने में स्वतन्त्र हो जाता है।

जलोदर—लक्षण

तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षा पिपासा गुदस्रावः शूलः श्वासकासदौर्ब्बल्यानि, अपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततम्, उदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शं भवति। एतदुदकोदरमिति विद्यात् ॥४६॥
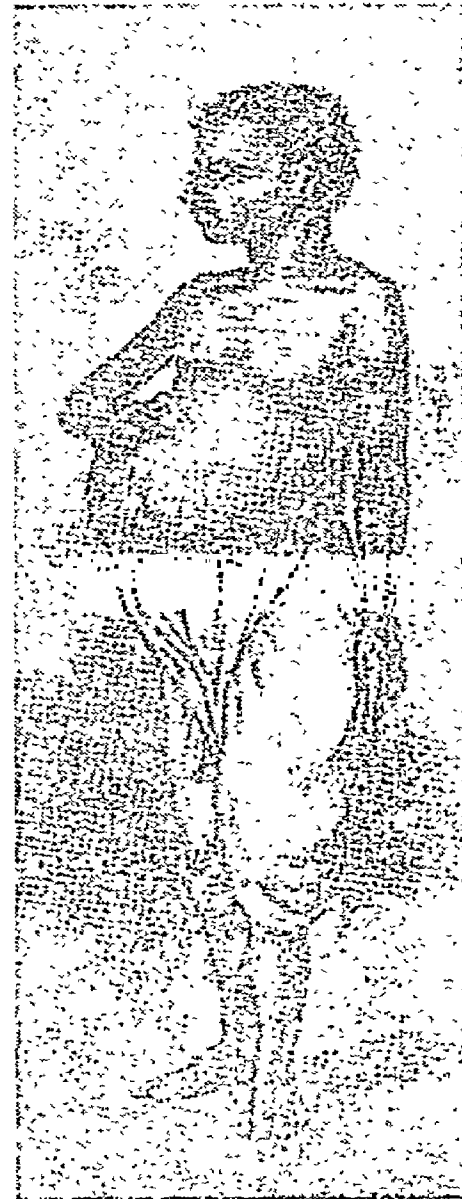
उसके लक्षण—अन्न की इच्छा का अभाव, प्यास, गुदा से स्राव, उदरशूल, श्वास कास, दुर्बलता और पेट नानावर्ण की रेखाओं और सिराओं से युक्त जल से भरी दृति (मशक) जैसा क्षोभ होता है। यह जलोदर ऐसा जाने।

वक्तव्य—(२४१) ऊपर आठ प्रकार के उदररोगों का वर्णन

क्रम	वातोदर	पित्तोदर	कफोदर	सन्निपातोदर	यकृत्प्लीहोदर	बद्धगुदोदर	छिद्रोदर	जलोदर
१	कुक्षि-पाणि-पाद वृषण शोथ	...	पाणिपाद ऊरु मुष्क शोथ	वातोदर, पित्तोदर, कफोदर तीनों के सम्मिलित लक्षण देखे जाते हैं।	...	...	......	......
२	उदरविपाटन	दाहदूयन धूप्यन ऊष्मायन स्वेदन क्लेदन	......		......	......	...	......
३	शोथ का अनियमित वृद्धि ह्रास	......	......	......	......	......	......	......
४	कुक्षि-पार्श्वशूल	......	......	......	कोष्ठवातशूल	शिर हृदय नाभि गुद शूल	......	......
५	उदावर्त	......	......	......	......	......	......	......
६	अङ्गमर्द	......	अङ्गमर्द	......	अङ्गमर्द	......	......	......
७	पर्वभेद	......	......	......	पर्वभेद	......	......	......
८	शुष्ककास	......	कास श्वास	......	कास श्वास	कास श्वास	हिक्का कास श्वास	श्वास कास
९	कार्श्य दौर्बल्य	......	......	......	दौर्बल्य कार्श्य	दौर्बल्य	दौर्बल्य	दौर्बल्य
१०	अरोचकाविपाक	......	अरोचकाविपाक	......	अरोचकाविपाक	अरोचकाविपाक	अरोचकाविपाक	......
११	अधोगुरुता	......	......	......	......	नाभि पर गोपुच्छवत् उभार	......	......
१२	वातविण्मूत्रसंग	......	......	......	वर्चोमूत्रग्रह	मलमूत्रसङ्ग	रक्त नील पीत पिच्छिल कुणपगन्धि आममल	......
१३	नख नेत्र मुख त्वचा मल मूत्र की श्यावारुणता	नख नेत्र मुख त्वचा मल मूत्र की हरित पीतता	नख नेत्र मुख त्वचा मल मूत्र की शुक्लता	......	......	......	......	......
१४	उदर पर असित राजि सिराव्याप्ति	उदर पर नीलपीत हरितहारिद्रराजिसिरा व्याप्ति	उदर परशुक्लराजिसिरा व्याप्ति	उदर पर नानावर्ण राजिसिरा व्याप्ति	उदर पर अरुणवर्ण नील हरित हारिद्रराजि सिराव्याप्ति	उदर पर अरुणनील राजि सिरा व्याप्ति	......	उदर पर नाना वर्णराजिसिरा व्याप्ति
१५	आध्मान	......	......	......	आनाह	आध्मान	......	......

१६	ठोंकने पर वायुपूर्ण मशकसम शब्द	ठोंकने पर वायुपूर्ण मृदुस्पर्श	...	...	...	...	...	उदकपूर्ण-दृति शब्द
१७	ऊर्ध्व-अधः तिर्यक् वातज शूल	...	...	...	...	...	...	...
१८	...	दाह ज्वर तृष्णा मूर्च्छा अतीसार भ्रम	गौरव	...	तमःप्रवेश पिपासा अङ्गसाद	तृष्णा दाह ज्वर मुख तालुशोष अवसाद	तृष्णा प्रमेह	अनन्नाकांक्षा पिपासा, गुद-शावशूल
१९	...	कटुकास्यता	...	...	मुखविरसता	...	...	...
२०	...	विप्रपाक	...	...	...	...	...	
२१	...	...	सुप्ति	...	...	...	...	
२२	...	...	उत्क्लेश	...	...	...	...	
२३	...	...	निद्रा	...	...	...	...	
२४	...	...	गुरुस्तिमित कठिन स्थिर शोफता	...	...	...	...	
२५	...	...	...	...	वमन मूर्च्छा	छर्दि, क्षवथु	...	
२६	...	...	...	...	मृदुज्वर	...	...	...
२७	...	...	...	...	अग्निनाश	...	...	...

किया गया है। जिसमें चार दोषज हैं एक आन्त्र के अवरोध के कारण है छठा आन्त्र के छिदने से बनता है सातवें का सम्बन्ध यकृत् और प्लीहा के साथ आता है तथा आठवां जलोदर है। जिस प्रकार सर्व प्रकार के प्रमेह अन्त में मधुमेह का रूप धारण करते हैं उसी प्रकार सातों उदररोग अन्त में जलोदर में बदल जाते हैं। यकृत्प्लीहोदर के कारण जलोदर का बनना बड़ी साधारण घटना है। छिद्रोदर के कारण जलोदर बनने का जितना अवसर आसकता है उससे कम बद्धगुदोदर में आता है क्योंकि जलोदर जैसे भयानक रोग से भी अधिक भयानक रोग मृत्यु रोगी को उठा लेजाती है।

उदर कहने से सदैव छाती और कूल्हे के बीच वाले उस कोमल क्षेत्र में व्याप्त अङ्गों से सम्बन्ध आता है जो यकृत्, प्लीहा क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, आमाशय, अग्न्याशय, आदि नामों से पुकारे जाते हैं। साधारणतया आन्त्र के सभी रोग उदर रोग कहलाते हैं।

ये सभी रोग पर्याप्त महत्व के होते हैं और इनके कारण व्यक्ति के जीवन मरण का प्रश्न किसी भी क्षण उपस्थित हो सकता है अतः इनके निदान में अनुपेक्षित दृष्टि से प्रवृत्त होना ही वैद्य का एक मात्र सार्थक कर्त्तव्य है।

हम यहां आठों उदररोगों के विभेदक लक्षणों को प्रकट करने वाली एक तालिका देरहे हैं ताकि पठक सरलता से इन्हें पहचान लें।

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकप्राप्तमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्; उपेक्षितानां ह्येषा दोषाः स्वस्थानादपवृत्ताः अपरिपाकाद् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति। स्वेदश्च वाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति; तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरुस्तिमितमाकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पतीति ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः ॥४७॥

तस्यरूपाणि—कुक्षेरतिमात्राभिवृद्धिः सिरान्तर्द्धानगमन-मुदकपूर्णदृतिसंक्षोभसंस्पर्शत्वञ्च ॥४८॥

तदाऽऽतुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्द्यतीसारतमकतृष्णा-श्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः; तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ॥४९॥

तब वहां नवीन, उपद्रवरहित, जल के उत्पन्न होने के पूर्व उदररोग को शीघ्र ठीक करे। क्योंकि उपेक्षित दोष (उनका ठीक से) परिपाक न होने के कारण अपने स्थान से हटकर फिर द्रवित होकर संधियों तथा स्रोतसों को गीला कर देते हैं। और बाह्य स्रोतसों में गति रुक जाने से स्वेद तिरछा स्थित होकर उसी ही जल को और बढ़ा देता है। वहां (जल के उत्पन्न होजाने से पूर्व) पिच्छा की उत्पत्ति होने पर उदर मण्डलाकार गोल, भारी, गीले कपड़े से ढकासा, बजाने पर शब्दरहित, स्पर्श में मृदु, रेखाओं से रहित तथा आक्रान्त होकर (पहले पहल) नाभि पर फैलता है। इसके पश्चात् जल की उत्पत्ति (होती है)।

उसके लक्षण—कोख की अत्यधिक वृद्धि, सिराओं का छिप जाना, जल से पूर्ण मशक के समान क्षोभ-पूर्ण स्पर्श (thrill) होना।

उसके पश्चात् रोगी को (निम्न) उपद्रव छू लेते हैं—वमन, अतीसार, तमक श्वास, तृष्णा, श्वासकास हिक्का, दुर्बलता, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभेद, मूत्रा-वरोध आदि उस प्रकार के (उपद्रवयुक्त) रोग को अचिकित्स्य (असाध्य) जाने।

उदररोग—साध्यासाध्यता

भवन्ति चात्र—

वातात् पित्तात् कफात् प्लीह्नः सन्निपातात् तथोदकात्।
परं परं कृच्छ्रतममुदरं भिषगादिशेत् ॥५०॥
पक्षाद् बद्धगुदन्तूर्ध्वं सर्व्वं जातोदकं तथा।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रञ्चोदरं नृणाम् ॥५१॥
शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्।
बलशोणितमांसाग्नि परिक्षीणं च वर्जयेत् ॥५२॥
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्कारुचिस्तथा।
मूर्च्छा छर्दिरतीसारो निहन्त्युदरिणं नरम् ॥५३॥
जन्मनैवोदरं सर्व्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥५४॥

और यहां (इस विषय में श्लोक हैं कि) :—

वैद्य उदर रोगों को वात से, पित्त से, कफ से, प्लीहा से, सन्निपात से तथा उदक से पर पर (उत्तरोत्तर) कष्ट-साध्य कहे अर्थात् वातोदर से पित्तोदर कष्ट से सिद्ध होता है पित्तोदर से कफोदर अधिक कष्टदायक है कफोदर की अपेक्षा प्लीहोदर, प्लीहोदर से बढ़कर सन्निपातोदर और उससे भी बढ़कर जलोदर कष्ट साध्य होता है। व्यक्तियों का एक पखवाड़े से ऊपर का बद्धगुदोदर तथा उदररोग जिसमें जल उत्पन्न होगया है और छिद्रान्त्रोदर प्रायशः अभाव के लिए (विनाश के लिए) ही होता है।

नेत्र शोथ युक्त, उपस्थेन्द्रिय वक्र, गीली पतली त्वचा और बल-रक्त-मांस अग्नि से बहुत क्षीण को छोड़ दे।

सब मर्मस्थानों का शोथ, श्वास, हिक्का, तथा अरुचि, मूर्च्छा, वमन, अतीसार उदर वाले व्यक्ति को मार देते हैं।

प्रायशः सभी उदररोग जन्म से ही कष्टसाध्य माने गये हैं बलवान का, जल पड़ने के पूर्व, नवीन उदररोग यत्न (पूर्वक चिकित्सा करने) से साध्य (होता है)।

वक्तव्य—(२४१) चरक के मत से सब प्रकार के उदर रोग जिनमें जल पड़ गया हो बड़ी कठिनता से सुलझते हैं। रोगी बलवान हो रोग नया हो जल न पड़ा हो ऐसा उदर रोग यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर सुधर सकता है।

अजातोदकलक्षण

अजातशोथमरुणं सशब्दं नातिभारिकम्।
सदा गुडगुडावन्तं सिराजालगवाक्षितम् ॥५५॥
नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति।
हृन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ॥५६॥

कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके।
लोलस्याविरसे (लालयाविरसे) चास्येमूत्रेऽल्पे संहते विषि॥५७॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः।
उपाक्रमेद्भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ॥५८॥

अनुत्पन्न शोथ (जल), अरुणवर्ण, शब्दयुक्त, अतिभार युक्त जो न हो, सदा गुडगुड शब्द होने वाला, सिराजाल गवाक्ष (खिड़कियों) के समान व्याप्त, वायु नाभिप्रदेश को पकड़ कर वेग करती हुई गुदा प्रदेश में नष्ट हो जाती है। हृदय नाभि वंक्षण-कटि गुद (इनमें से) प्रत्येक दर्द (करता है)। कर्कश (वेग वती) वायु छोड़ते हुए, और जाठराग्नि के अत्यन्त मन्द न होने पर, मुख में लौल्य (अन्नाभिलाषा) के विरस न होने पर (पाठभेद से लालास्राव के कारण रस की विरसता होने पर) मूत्र थोड़ा उतरने पर, विष (मल) के संहत (कठिन) हो जाने पर (इस प्रकार) अजातोदक (रोग) को इन लक्षणों से यथार्थ रूप से जानकर बल-काल का ज्ञाता, विशेषवेत्ता (specialist) वैद्य उपचार करे।

वातोदर—चिकित्साक्रम

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत्।
स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्याद् स्नेहविरेचनम् ॥५९॥
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद् वाससोदरम्।
तथास्यानवकाशत्वाद् वायुर्नाध्मापयेत् पुनः ॥६०॥
दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात्।
सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत् ॥६१॥
शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम्।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च बले लब्धे क्रमात् पयः ॥६२॥
यूषैरसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम्।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥६३॥
स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थि पार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु।
दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥६४॥
तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽस्य निरूहो दाशमूलिकः।
वाताघ्नाम्लशृतैरण्डतिलतैलानुवासनम् ॥६५॥
अविरेच्यन्तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्।
सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम् ॥६६॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः
वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद्बुधः ॥६७॥

बलवान (पुरुष) के वातोदर को पहले स्नेहों से ठीक करे। स्नेह किये गये (तथा) स्वेदन किए गए शरीर वाले के लिये स्नेहन विरेचन (एरण्ड तैल) देवे। दोष के निर्हरण होने पर क्षीण हुए पेट कपड़े से लपेट तथा वैसा करने से उसके अवकाश (खाली स्थान) न पाने के कारण पुनः वायु आध्मान नहीं करती है।

अति मात्रा में दोषों के उपचय या संचय के कारण स्रोतसों के मार्गों का अवरोध हो जाने से उदर रोग उत्पन्न हो जाता है इस कारण से नित्य विरेचन दे। (इस प्रकार) शुद्ध उस (रोगी) को (मण्ड पेया विलेपी आदि से) संसर्जन कराके बल (वर्द्धन) के लिये जब तक उत्क्लेश न होवे दूध पिलावे। बल प्राप्त होने पर धीरे धीरे उत्क्लेश के पूर्व (लगातार दूध पीते पीते जब जी ऊबने लगे तो उससे पूर्व) दूध पिलाना बन्द करदे।

(मूंग आदि के) यूषों से अथवा मांसरसों से थोड़ी खटाई और थोड़ा नमक डालकर अग्निप्रदीप्त किए हुए रोगी को उदावर्त होने पर पुनः स्नेहन करके और स्वेदन करके आस्थापन वस्ति देवे।

पेशी-स्फुरण,-पेशी-आक्षेप,सन्धि-पार्श्व-पृष्ठ-त्रिक शूलों में अग्नि दीप्त होने पर, वात और पुरीष के बंधा हुआ होने पर रूक्ष रोगी को अनुवासन (वस्ति देवे)।

तीक्ष्ण अधोभाग दोषहर औषधों से युक्त इसको दाशमूलिक निरूहन, वातघ्न अम्लद्रव्यों के साथ उबाले हुए एरण्ड और तिल तैल से अनुवासन (देना चाहिए)।

दुर्बल, बुड्ढे शिशु, सुकुमार, प्रकृत से ही अल्प दोप युक्त या प्रबल वातयुक्त जिस रोगी को विरेचन के अयोग्य समझे बुद्धिमान् वैद्य उसका शमनीय घृत-यूष-मांसरस-भात-वस्ति-अभ्यंग-तथा अनुवासनों के द्वारा तथा दुग्धों से ठीक करे।

पित्तोदर चिकित्साक्रम

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत् ।
दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना ॥६८॥
सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत् ।
पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥६९॥
सातला त्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा ।
सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥७०॥
पुनः क्षीरप्रयोगं च बस्तिकर्म विरेचनम् ।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥७१॥

पित्तोदर में बलवान् (रोगी) को आरम्भ में ही विरेचन दे। दुर्बल (रोगी) को तो आदि में अनुवासन कराकर क्षीरबस्तियों के द्वारा शोधन करे। बल और कायाग्नि के प्राप्त होने पर फिर स्निग्ध करके निशोथकल्कसहित या एरण्ड के साथ उबाले गये दूध से अथवा सातला, त्रायमाण दोनों से साधित अथवा अमलतास से शृत दूध से विरेचन देवे। (पित्तोदर) कफयुक्त होने पर गोमूत्र के साथ और वातयुक्त होने पर तिक्तद्रव्यसाधित घृत से (विरेचन करावे)। पुनः पुनः क्षीर प्रयोग, वस्तिकर्म, विरेचन क्रमशः करता हुआ युक्त वैद्य पित्तोदर को जीते।

कफोदर-चिकित्साक्रम

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धन्तु कफोदरिणमातुरम् ।
संसर्जयेत् कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ॥७२॥
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा ।
सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम् ॥७३॥

स्निग्ध, स्विन्न, विशुद्ध हुए कफोदरी रोगी को कटुक्षार द्रव्यों से युक्त कफघ्न अन्नों से संसर्जन करावे। कफोदर का तो गोमूत्र और अरिष्ट पानों से चूर्णों तथा अयस्कृतियों (लौह प्रयोगों) से तथा क्षारयुक्त तैलपानों से शमन करे।

सन्निपातोदर-चिकित्सा-क्रम

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः ।
सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ॥७४॥

सन्निपातोदर में पूर्वोक्त (वातोदर पित्तोदर कफोदर की चिकित्सा में कही) सब क्रिया करानी चाहिए। किन्तु उपद्रवों के साथ उत्पन्न हुए (सन्निपातोदर) को तो ज्ञानवान् प्रत्याख्येय (त्यक्तव्य अचिकित्स्य समझे)।

प्लीहोदर-चिकित्सा-क्रम

उदावर्त्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ॥७५॥
विद्यात्समस्तैः सर्व्वैस्तु सन्निपातं तथा भिषक् ।
लिङ्गैःप्लीह्नचाधिकातृष्णारक्तञ्चपित्तलक्षणैः ॥७६॥
चिकित्सां संप्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ।
स्नेहं स्वेदं विरेकञ्च निरूहमनुवासनम् ॥७७॥
समीक्ष्य कारयेद् बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ।
षट्पलं पाययेत् सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ॥७८॥
सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा ।
एष क्रियाक्रमः प्रोक्तो योगान् संशमनान् शृणु ॥७९॥

प्लीहोदर में उदावर्त, शूल, आनाह (इन) से (वातज), दाह, मोह, तृष्णा, ज्वर (इन) से (पित्तज), गौरव, अरुचि, कठिनता (इन) से (कफज) क्रमानुसार वातादि (द्वारा उत्पन्न लक्षणों को) जाने। तथा सर्वसमस्त लक्षणों से युक्त को सन्निपातज (जाने) तथा रक्त (दोषजन्य प्लीहोदर) को अधिक तृष्णा तथा पित्त के लक्षणों से (जाने) तथा वैद्य स्नेहन स्वेदन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन आदि दोष के अनुसार यथाबल चिकित्सा का प्रयोग करे। अथवा वाम बाहु में ठीक देखकर सिरावेध करे। षट्पलघृत पिलावे अथवा पिप्पली का प्रयोग करे। अथवा गुड़ के साथ हरड़ तथा क्षार तथा अरिष्ट समूहों को (दे) यह चिकित्साक्रम बताया है (अब आगे) संशमन योगों को सुन।

पिप्पल्यादिचूर्ण

पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम् ।
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत् ॥८०॥

पीपली, सोंठ, दन्ती, चित्रक (प्रत्येक एक भाग) द्विगुण (दो भाग) हरड़, विडङ्ग एक भाग मिलाकर इस चूर्ण को जल के साथ पिये।

विडङ्गादिक्षार

विडङ्गं चित्रकं शुण्ठी सघृतं सैन्धवं वचाम्।
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिवेत् ॥८१॥

विडंग, चित्रक, सोंठ, घृतसहित सेंधानमक (तथा) वचा को मिट्टी के बर्तन में जलाकर गुल्म-प्लीहोदर नाशक (इस राख को) दूध के साथ पिये।

रोहीतकप्रयोग

रोहीतकलतानां तु काण्डकानभयाजले।
मूत्रे वा सुनुयात् तच्च सप्तरात्रस्थितं पिवेत् ॥८२॥
कामलागुल्ममेहार्शः प्लीहसर्व्वोदरक्रिमीन्।
स हन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् ॥८३॥

रोहीतक की शाखाओं के छोटे छोटे काण्डों को हरड़ के क्वाथ में अथवा गोमूत्र में रखे। और उसे सात रात्रि तक रखकर पिये। वह कामला, गुल्म, मेह, अर्श, प्लीहोदर, सर्वोदर, क्रमिरोग को नष्ट कर देता है। इसके जीर्ण होने पर जाङ्गल जीवों के मांस से भोजन (करे)।

रोहीतकघृत

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम्।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥८४॥
पलिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया।
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥८५॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम्।
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः ॥८६॥
(इति रोहीतकघृतम्।)

२५ पल रोहीतक की छाल (चूर्ण) करके दो प्रस्थ (सूखे) बेर मिलाकर (आठगुने जल में पकाकर चतुर्भागावशेष) क्वाथ बनाले। (इस क्वाथ के छने हुए रस में) पञ्चकोल (पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-सोंठ) प्रत्येक एक-एक पल तथा उन (पांचों) के बराबर रोहीतकछाल का चूर्ण के साथ एक प्रस्थ घृत पकावे।

यह (घृत) प्रयोग करने से शीघ्र प्लीहाभिवृद्धि को शान्त करता है तथा गुल्म, उदर रोग, श्वास, क्रमि रोग, पाण्डुता (तथा) कामला (को भी शान्त करता है।)

(यह रोहीतकघृत—है)।

वक्तव्य (२४३) विभिन्न रोगों पर प्राचीनों ने विविध जड़ी बूटियों के सफल प्रयोग को खोज निकाला था। उदररोगों पर विशेष कर यकृत्प्लीहोदर पाण्डु कामला और क्रमिरोगों पर रोहीतक अद्भुत कार्य करने वाला माना गया है। रोहीतक या रुहेड़ावृक्ष की छाल और छोटी-छोटी टहनियों के तत्व के प्रयोग से ऊतियों (tissues) में जल का संचय नहीं होता, शोथ दूर होता है तथा प्लीहा और यकृत् की अधिरक्तता (congestion) नष्ट होकर यकृत्प्लीहोदर की निर्मिति नहीं होपाती।

अग्निकर्म्म च कुर्व्वीत भिषग्वातकफोल्वणे।
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरवस्तयः ॥८७॥
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते।
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः ॥८८॥
यकृति प्लीहवत् सर्वं तुल्यत्वाद्भेषजं मतम्।
लघून्यन्नानि संसृज्य दद्यात् प्लीहोदरे भिषक् ॥८९॥

वातकफोल्बण प्लीहोदर में वैद्य अग्निकर्म करे। पैत्तिक प्लीहोदर में जीवनीय घृत, क्षीर वस्तियां, रक्तावसेचन, संशोधन, तथा क्षीर प्रशस्त होता है।

यकृदुदर (enlargement of the liver) में समानता के कारण सब औषध प्लीहा के समान मानी गई हैं। प्लीहोदर में दीपनीय द्रव्यों से युक्त (मुद्गादि) यूषों और मांसरसों के साथ लघु (शालि आदि) अन्नों को मिश्रित करके वैद्य दे।

बद्धगुदोदर- चिकित्साक्रम

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रं तीक्ष्णौषधान्वितम्।
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ॥९०॥
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम्।
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च ॥९१॥

बद्धोदरी को स्वेदन करके गोमूत्र (तथा) तीक्ष्ण औषधयुक्त तैल नमक सहित अनुवासनसहित निरूहण बस्ति देवे। परिस्रंसन (अनुलोमन) करने वाले अन्नों को तथा तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों को (भी दे) तथा उदावर्तनाशक वातनाशक चिकित्सा (भी) करनी चाहिए।

वक्तव्य—(२४४) बद्धगुद या आन्त्रावरोध में स्वेदन परमावश्यक है फिर गोमूत्र का प्रयोग होना चाहिए ताकि मूत्र का अवरोध न होसके फिर तैललवणयुक्त निरूहण और अनुवासन बस्तियों के द्वारा आन्त्र की बद्धता को दूर करना चाहिए। मुख से ऐसे अन्नपान का विधान जो वातानुलोमक हो अथवा दस्त लासके देना चाहिए। आन्त्र की बद्धता (spasm) को नष्ट करने के लिए उदावर्तनाशक (antispasmodic) तथा वातघ्न (analgesic) औषधियां देने की शास्त्राज्ञा है।

छिद्रोदर- चिकित्साक्रम

छिद्रोदरमृते स्वेदात् श्लेष्मोदरीवदाचरेत्।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद् यापयेत् भिषक् ॥९२॥
तृष्णाकासज्वरार्त्तंन्तु क्षीणमांसाग्निभोजनम्।
वर्ज्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ॥९३॥

स्वेदन छोड़कर छिद्रोदर को कफोदर के समान आचरण करे। जैसे जैसे जल उत्पन्न हो उसका स्रावण करना चाहिए। इस प्रकार वैद्य कालयापन करे। तृष्णा, कास, ज्वर से पीड़ित, मांस-अग्नि-आहार से क्षीण श्वास पीड़ितों को छोड़दे और उसी प्रकार दुर्बल इन्द्रिय वाले शूलियों को (भी छोड़ दे)।

जलोदर—चिकित्साक्रम

अग्रं दोषहराण्यादौ प्रदद्यादुदकोदरे।
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ॥९४॥
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत्।
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः ॥९५॥

जलोदर में आरम्भ में जल के दोष को हरने वाले मूत्र युक्त तीक्ष्ण विविधक्षार वाले पदार्थ देवे। दीपन कफघ्न आहारों से उसका उपचार करे जलादि द्रवों से क्रमशः (रोगी को) रोके।

वक्तव्य—(२४५) जलोदर में जल स्वयं एक दोष बनकर रहता है इसलिए उसके निर्हरण की परमावश्यकता पर आचार्य ने विशेष बल दिया है। इसी कारण मूत्र युक्त तीक्ष्णक्षार जो पर्याप्त मात्रा में मूत्रोत्सर्जन कर सकते हैं उन्हें देने का विधान है। कफनाशक और दीपनीय द्रव्यों का प्रयोग जल सुखाने की दृष्टि से प्रयोक्तव्य होता है। जल और अन्य तरलों के सेवन का भी धीरे धीरे रोकना इसी उद्देश्य से बताया गया है। सारांश यह है कि जलोदर को रोकने के लिए पानी को कम देना या न देना, जलशोषक द्रव्यों का तथा मूत्रल (diuretics) का प्रयोग करना चिकित्सक की सफलता के लिए परमसाधनरूप होते हैं।

उदररोगों में पथ्यापथ्य

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम्।
तस्मात् त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वत्र कारयेत् ॥९६॥
दोषैः कुक्षौ हि संपूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति।
तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च ॥९७॥
रक्तशालीन् यवान् मुद्गान् जाङ्गलांश्च मृगद्विजान्।
पयोमूत्रासवारिष्टान् मधुसीधुं तथा सुराम् ॥९८॥
यवागूमोदनं वाऽपि यूषैरद्याद् रसैरपि।
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः ॥९९॥
औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतांस्तिलान्।
व्यायामाध्वदिवास्वप्नयानं पानञ्च वर्ज्जयेत् ॥१००॥
तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च।
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानञ्च वर्ज्जयेत् ॥१०१॥

सभी उदररोग प्रायः दोषों के सन्निपात से उत्पन्न माने गये हैं इस कारण से त्रिदोषशामक चिकित्सा सर्वत्र करे। क्योंकि दोषों से कुक्षि भर जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है इसलिए दीपन, लघु अन्न खाने चाहिए। लाल शालि चावल, जौ, मूँग जाङ्गल पशु पक्षियों को, दूध-गोमूत्र-आसव-अरिष्ट-मधुसीधु- तथा सुरा को; यवागू भात, अथवा किंचित् खट्टे और चरपरे द्रव्यों से युक्त तथा बृहत्पञ्चमूल सिद्ध यूषों से या मांसरसों के साथ खावे।

उदररोगी जलीय तथा आनूपदेशीय पशु-

पक्षियों के मांस, शाक, पीठी के पदार्थ, तिलों को, व्यायाम, अधिक चलना, दिन में सोना, सवारी का प्रयोग तथा द्रव पदार्थ का पान छोड़ दे। तथा उष्ण, लवण अम्ल, विदाही तथा गुरु पेय अन्न न खावे। तथा जल पीना छोड़ दे।

तक्र-विधान

नातिसान्द्रं हितं पाने स्वादु तक्रमपेलवम्।
त्र्यूषणक्षार लवणैर्युक्तं तु निचयोदरी ॥१०२॥
वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम्।
शर्करामधुकोपेतं स्वादुपित्तोदरी पिबेत् ॥१०३॥
यवानी सैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी।
पिबेन्मधुयुतं तक्रं कवोष्णं नातिपेलवम् ॥१०४॥
मधु तैलवचाशुण्ठी शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः।
युक्तं प्लीहोदरी जातं सकोषं तूदकोदरी ॥१०५॥
बद्धोदरी तु हपुषायवान्यजाजिसैन्धवैः।
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम् ॥१०६॥
गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम्।
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ॥१०७॥

मधुर, न अधिक गाढ़ा, मक्खन अलग किए (अपेलव) तक्र सन्निपातोदर से पीडित (व्यक्ति) को त्रिकटु, यवक्षार लवण मिलाकर पीना हितकर (होता है)। वातोदर से पीडित व्यक्ति पिप्पली (और) सैंधव नमक मिलाकर तथा पित्तोदर से पीडित शक्कर शहद मिलाकर पिये कफोदर से पीडित अजवाइन, सैंधव, जीरा, सोंठ, मिर्च, पीपल मिलाकर शहद युक्त गुनगुना थोड़ा मक्खन निकाला तक्र पिये। प्लीहोदर से पीडित शक्कर, तैल, बालवच, सोंठ, सौंफ, कूठ, सैन्धवलवण मिलाकर तथा जलोदरी तो त्रिकटु सहित ताजा तक्र (पिये) बद्धोदर से पीडित तो हाऊबेर, अजवाइन, सेंधानमक (मिलाकर तथा) पीपल शहद मिला तक्र छिद्रोदरी पिये।

गौरव-अरोचक के मन्दाग्निसहित अतीसार वाले वातकफ से पीडित रोगियों को तक्र अमृत जैसा बन जाता है!

वक्तव्य—(२४६) उदर रोगों में तक्र (मट्ठा) का बड़ा महत्व है। सभी उदर रोगों में विभिन्न औषध द्रव्यों के साथ तक्र का प्रयोग लिखा हुआ है। कल्पशास्त्रविधि से दही से मट्ठा तैयार करके उसे रोगी के दोष-दूष्यादि का विचार कर प्रयोग में लाना चाहिए। उसके साथ अनुपान द्रव्य सोच विचार कर प्रयोग करने चाहिए।

दुग्ध-विधान

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडितेकारभं पयः।
शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम् ॥१०८॥

शोफ, आनाह, शूल, प्यास, मूर्च्छा से पीड़ित के लिए ऊँटनी का दूध तथा संशोधन से शुद्ध दुर्बल शरीर वालों के लिए गाय, बकरी अथवा भैंस का दूध (लाभकारी होता है)।

वक्तव्य—(२४७) उदररोग में जितना बल मट्ठे पर दिया है उतना दूध पर नहीं। पर जहां तक्र निषिद्ध है जैसे—

तक्रं नैव क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले।
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके॥

तो वहां दूध का उपयोग करना श्रेयस्कर होता है। शुद्धि से दुर्बल शोफादि से पीड़ितों को दूध का प्रयोग कराया जा सकता है। उदर रोग में ऊंटनी के दूध की बड़ी महिमा बखानी गई है।

उष्ट्री क्षीरं कुष्टशोफापहं तत्
पित्तार्शोघ्नं तत् कफाटोपहारि।
आनाहार्त्तिजन्तुगुल्मोदराख्यं
श्वासोल्लासं नाशयत्याशु पीतम्॥

बाह्योपचार

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः।
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं समैः ॥१०९॥
वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम्।
भूतीकं नागरं धान्यं जले पक्त्वाऽवसेचयेत् ॥११०॥
पलाशं कत्तृणं रास्नां तद्वत् पक्त्वाऽवसेचयेत्।
मूत्राण्याष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत् ॥१११॥

देवदार्वादि प्रमेह – समानभाग देवदारु, ढाक, मदार,

गजपिप्पली, सहंजन, अश्वगन्धा गोमूत्र के साथ उदर पर लेप करे।

वृश्चिकाल्यादि परिषेक--वृश्चिकाली (बिछाठी), बच, कूठ, पंचमूल, पुनर्नवा, अजवाइन, सौंठ, धनियां, जल में पकाकर परिषेक करे।

पलाशादि परिषेक--ढाक, रूसाघास, रास्ना को उसी प्रकार पकाकर परिषेक करे।

मूत्र प्रयोग--(भेड़, बकरी, गाय, भैंस, हथिनी, ऊँटनी, घोड़ी तथा गधी इन) आठों मूत्रों को उदर रोगियों के परिषेक तथा पीने में प्रयोग करे।

घृत-विधान

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम्।
दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि वक्ष्महे ॥११२॥

उदररोगनाशक दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृतों को रूक्ष शरीर वालों, बहुवातदोष पीड़ितों तथा संशोधन की आवश्यकता जिन्हें है इनके (प्रयोग के लिए) हम कहते हैं।

पंचकोलघृत

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
सक्षारैरर्द्धपलिकैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत् ॥११३॥
कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्वरसेन च।
दधिमण्डाढकोपेतं तत्सर्पिर्जठरापहम् ॥११४॥
श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत्।

जवाखार सहित आधे आधे पल पीपल, पीपरामूल, चाभ, चीते की छाल, सौंठ के कल्क के साथ दो प्रस्थ घी दोनों पञ्चमूलों (दशमूल) के आधा तुला स्वरस के साथ (तथा) एक आढक दही का पानी मिला घी पकावे। वह घृत उदररोगनाशक, शोथ, वात विबन्ध, गुल्म तथा अर्शों को नष्ट कर देता है।

नागरघृत

नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् ॥११५॥
मस्तुनः साधयित्वैतत् पिबेत् सर्वोदरापहम्।
कफमारुतसम्भूते गुल्मे चैतत् प्रशस्यते ॥११६॥

सौंठ, हरड़, बहेड़ा, आमलों के एक प्रस्थ (कल्क से) घृत (तथा तैल) एक प्रस्थ और एक आढक दही के पानी का सिद्ध करके इस सर्व उदरनाशक घृत को पिये। यह कफ वात से उत्पन्न गुल्म में (भी) हितकर होता है।

चित्रकघृत

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले।
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ॥११७॥

चारगुने जल में दोगुने मूत्र में एक पल चित्रक के कल्क में एक प्रस्थ सिद्ध घृत जवाखारसहित उदर रोगी पिये।

यवाद्यघृत

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च।
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वाऽपि पिबेद्घृतम् ॥११८॥

अथवा जौ, बेर, कुलथी के (कल्क से) पञ्चमूल स्वरस, सुरा तथा सौवीरक से सिद्ध घृत भी पिये।

एभिः स्निग्धायसञ्जाते बले शान्ते च मारुते।
स्रस्ते दोषाशये दद्यात् कल्पदिष्टं विरेचनम् ॥११९॥

इन घृतों के द्वारा स्नेहन किए गये बल उत्पन्न होने पर तथा वातशान्त होजाने पर, दोष तथा (उसके) आशय के शिथिल होने पर कल्पस्थानोक्त विरेचन (योग) देवे।

पटोलादिचूर्ण

पटोलमूलं रजनीं विडङ्गं त्रिफलात्वचम्।
कम्पिल्लकं नीलिनीं च त्रिवृतां चेति चूर्णयेत् ॥१२०॥
षड्भागान् कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान्।
कृत्वा चूर्णं ततो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत् ॥१२१॥
विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः
मण्डं पेयाञ्च पीत्वा च सव्योषं षडहं पयः ॥१२२॥
शृतं पिबेत् ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः।
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि ॥१२३॥
कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति।
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम् ॥१२४॥

(इति पटोलाद्यं चूर्णम्)

परवल की जड़, हल्दी, विडंग, हरड़-बहेड़ा-आमलों के फलों की छाल, कबीला, नील की जड़, तथा निशोथ (इनमें) पहले छै (आमलों तक) १-१ कर्ष अन्त के तीन दो (कबीला दो कर्ष) तीन (नील ३ कर्ष) चार (निशोथ ४ कर्ष) चूर्ण करे। उस चूर्ण को एक मुष्टि (एक पल) लेकर व्यक्ति गोमूत्र के साथ पिये। विरेचन होने पर जाङ्गलजीवों के मांस रस के साथ मृदु भोजन करे। मण्ड तथा पेया पीकर त्रिकटु के साथ छै दिन तक उबाला हुआ दूध पिये। उस चूर्ण को इस प्रकार पुनः पुनः पिये। यह चूर्ण सब उदर रोगों को नष्ट करता है तथा जातोदक (जल पड़ जाने पर) भी, कामला, पाण्डु रोग तथा शोथ को दूर कर देता है। यह पटोलादि चूर्ण उदररोगों में (अत्यन्त) पूजनीय (होता है)।

(यह पटोलादि चूर्ण—है।)

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम्।
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्र कोलकर्कन्धुसीधुभिः ॥१२५॥

इन्द्रायण, शंखिनी (शंखपुष्पी या यवतिक्ता) दन्ती, तिल्वक, दालचीनी, वच (इनके बराबर भाग लिए चूर्ण को) अंगूर के रस, गोमूत्र, बेर, झरबेर के साथ (तथा) सीधु (इन) के साथ पिये।

नारायणचूर्ण

यवानी हपुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका।
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा ॥१२६॥
शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका।
द्वौ क्षारौ पौष्करमूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् ॥१२७॥
बिडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा।
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला स्याच्चतुर्गुणा ॥१२८॥
एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम्।
नैतत्प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः ॥१२९॥
तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना।
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया ॥१३०॥
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः।
परिकर्ते सवृक्षाम्ल उष्णाम्बुभिरजीर्णके ॥१३१॥
भगन्दरे पाण्डुरोगे कासे श्वासे गलग्रहे।
हृद्रोगे ग्रहणीरोगे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ॥१३२॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे।
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ॥१३३॥

(इति नारायणचूर्णम्।)

अजवाइन, हाऊबेर, धनिया, हरड़, बहेड़ा, आमले, कालाजीरा, अजमोद, पीपरामूल, अजगन्धा, कचूर, वच, सौंफ, जीरा, सोंठ, मिर्च, पीपल, सत्यानाशी, चित्रकसहित दोनों क्षार (सज्जीखार तथा जवाखार) पुष्करमूल, कूठ, पांचों नमक और विडङ्ग बराबर बराबर भाग दन्ती तीन भाग निशोथ-इन्द्रायण दो-दो भाग सातला (सबको लेकर कूटकर चूर्ण करले) यह नारायण नामवाला चूर्ण रोगसमूहनाशक है। असुरों के लिए विष्णु के समान इसे प्राप्त कर रोग बढ़ नहीं सकते।

उदर रोगियों को तक्र से, गुल्मियों को बेर के क्वाथ से, मूढ़वात में सुरा से, वातव्याधि में प्रसन्ना से, विट्सङ्ग (constipation कब्ज) में दही के तोड़ से, अर्शों में अनारदाने के रस से, परिकर्तिका में तिन्तिडीक के स्वरस से, अजीर्ण में गरम पानी से, भगन्दर-पाण्डुरोग-कास-श्वास-गलग्रह-हृद्रोग-ग्रहणीरोग-कुष्ठ-मन्दाग्नि-ज्वर-दांत से काटने से उत्पन्न विष-मूल (वत्सनाभादि) विष-गरविष-कृत्रिम विष में (पूर्व स्नेहपान कराके) चिकना कोष्ठ करके इस विरेचन को पीना चाहिए।

वक्तव्य -(२४८) नारायणचूर्ण दीपन, पाचन, वातशामक, विषन्वहर होने के साथ साथ सातला, दन्ती, इन्द्रायण आदि विरेचक द्रव्यों के कारण अच्छा विरेचक (purgative) है। उदररोगों में विरेचन के द्वारा कोष्ठ-संशुद्धि होने से स्रोतसों का मार्गावरोध रोका जाता है। इसके अतिरिक्त विविध उन विषों में जहां तुरत दस्त कराना चाहिए इसका प्रयोग प्रशस्त माना गया है। इस चूर्ण में विषशामक कोई तत्व विशेष न होकर आन्त्र क्रिया प्रचालित करके खोलकर शीघ्र दस्त लाने के कारण विषपीड़ितों में इसका उपयोग बतलाया गया है।

हपुषादिचूर्ण

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां कटुरोहिणीम्।
नालिनीं त्रायमाणाञ्च शातलां त्रिवृतां वचाम्॥१३४॥
सैन्धवं काललवणं पिप्पलीञ्चेति चूर्णयेत्।
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः ॥१३५॥
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च।
श्वित्रे कुष्ठे सरुजके सवाते विषमाग्निषु॥१३६॥
शोथार्शः पाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके।
वातपित्तकफांश्चाशु विरेकात् सम्प्रसाधयेत्॥१३७॥
(इति हपुषाद्यं चूर्णम्।)

हाऊबेर, सत्यानाशी, हरड़, बहेड़ा, आमला, कुटकी, नीली, त्रायमाण, शातला (सेंहुडभेद), निशोथ, वच, सेंधा, नमक कालानमक और पिप्पली चूर्ण करले। अनाररस, त्रिफलाक्वाथ, मांसरस, गोमूत्र तथा गरम पानी के साथ इस पेय को सब गुल्मों में, प्लीहोदर में, सब उदररोगों में, श्वेतकुष्ठ में, दर्द में, वातव्याधि में, अग्नि की विषमता, शोथ, अर्श, पाण्डुरोगों में कामला में हलीमक में विरेचन के कारण वात-पित्त-कफ को शीघ्र शान्त करता है।

(यह हपुषादि चूर्ण—है।)

नीलिन्यादिचूर्ण

नीलिनीं निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च।
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत्॥१३८॥

नीली, समुद्रफल, सोंठ, मिर्च, पीपल, सज्जीखार, जवाखार, सेंधानमक, कालानमक, विडनमक, सामुद्रनमक, सांभरनमक और चीते की छाल का चूर्ण घी के साथ उदर रोग तथा गुल्म का नाश करता है।

स्नुहीक्षीरघृत

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्द्धं सहितं दधि।
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम्॥१३९॥
तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत्।
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च॥१४०॥
दधिमण्डाढके सिद्धात्स्नुक्क्षीरपलकल्कितात्।
घृतप्रस्थात् पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये॥१४१॥
एषां चानुपिबेत्पेयां पयो वा स्वादु वा रसम्।
घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः शृतम्॥१४२॥
पिबेदम्बु ततः पेयां यूषं कौलत्थकं ततः।
पिबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः॥१४३॥
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्या तथैव च।
घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात् कुशलो भिषक्।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणाञ्च शान्तये॥१४४॥

एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) गोदुग्ध को सेहुण्ड के १ प्रस्थ (या दो प्रस्थ) दूध के साथ (दही जमाने पर, प्राप्त दही को मथकर (घी निकाल) निशोथ कल्क से सिद्ध (इस) घृत को पिये।

उसी प्रकार प्राप्त और आठ गुने दूध में एक पल सेहुण्ड दूध तथा ६ पल निशोथ के कल्क से सिद्ध एक प्रस्थ घृत पिये।

उसी प्रकार उदररोग की शान्ति के लिए एक आढक (या २ आढक) दही का पानी से सेहुण्ड दुग्ध के एक पल कल्क से सिद्ध एक प्रस्थ घृत सिद्ध करके मात्रानुसार पिये।

इन घृतों के पीने के बाद पेया, या मधुर दूध अथवा मांसरस पिये। घृत के जीर्ण होने पर विरिक्त हुआ रूक्ष (व्यक्ति) सोंठ के साथ उबाले गुनगुने जल को (पहले दिन) पिये फिर (दूसरे दिन) पेया और उसके बाद (तीसरे दिन) कुलथी का यूष पिये।

इस प्रकार तीन अथवा अधिक दिन भोजन करने के बाद पिया करे। उसी प्रकार पुनः पुनः अनुक्रम से घी पिया करे।

कुशल वैद्य इन सिद्ध (फलदायक) घृतों को गुल्म, गरदोष, तथा उदर रोगों की शान्ति के लिए प्रयोग करे।

पीलु कल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम्।
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत्॥१४५॥

पीलु के कल्क से सिद्ध किया (वातोदर के) आनाह का नाशक घी अथवा गुल्मनाशक (गुल्माध्याय में वर्णित) नीलिनीघृत अथवा मिश्रकस्नेह (रोगी) पिये।

क्रमान्निर्हृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजिनाम्।
दोष शेष निवृत्त्यर्थं योगान् वक्ष्याम्यतः परम्॥१४६॥

क्रमशः जिनके दोषों का निर्हरण हुआ है ऐसे जांगल जीवों के मांस का भोजन करने वालों के शेष दोषों की निवृत्ति के लिए (आगे में) श्रेष्ठ योगों को कहूँगा।

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत्।
मांसयुक्तस्तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम् ॥१४७॥
विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः।
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ॥१४८॥

चित्रक, देवदारु दोनों के कल्क को दूध के साथ पिये तथा मांस के साथ गजपिप्पली और सोंठ (ले) विडङ्ग, चित्रक, दन्ती, चव्य, त्रिकटु; उनके कोल बराबर कल्कों से दूध पीकर बढ़े हुए उदररोग को जीते।

वक्तव्य– (२४६) मांस से महीने भर चित्रक देवदारु या गजपिप्पली सोंठ दूध से लेने के लिए भी कुछ कहते हैं।

पिबेत्कषायं त्रिफलादन्तीरोहितकैः शृतम्।
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्यात्तु जाङ्गलैः ॥१४९॥
मांसं वा भोजनं योज्यं स्नुक्क्षीरघृतसंयुतम्।
क्षीरानुपानं गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत् ॥१५०॥

त्रिफला, दन्ती, रोहीतक से उबाले कषाय को त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर पिये। (उसके) जीर्ण होने पर जाङ्गलजीवों के मांसरसों के साथ खावे। सेहुण्ड दुग्ध से सिद्ध घृत से युक्त मांस या भोजन को प्रयोग करना चाहिए अथवा (उदर रोगी) गोमूत्र से दूध के अनुपान के साथ हरड़ का प्रयोग करे।

सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरञ्चानन्नभुक् पिबेत्।
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन् मासान् व्योषसंयुतम् ॥१५१॥
हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु।
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत् ॥१५२॥

(अथवा) भोजन न करने वाला (व्यक्ति) एक सप्ताह तक भैंस के मूत्र तथा दुग्ध को एक मास तक ऊँटनी का दूध तथा तीन मास तक बकरी का दूध त्रिकटु मिलाकर पिये।

अथवा एक हजार हरड़ों का (सेवन करे)। अथवा दूध का सेवन करने वाला पुरुष शिलाजतु का प्रयोग करे अथवा शिलाजतु की विधि से गुग्गुलु का प्रयोग करे।

वक्तव्य—(२५०) उदररोग से पीडित व्यक्तियों के अन्न को बन्द कर देने की आयुर्वेद पद्धति काफी प्रचलित है। एक सप्ताह तक भैंस के मूत्र और दूध का प्रयोग करना या १ मास तक ऊँट का दूध या तीन मास तक बकरी का दूध लेना और साथ साथ त्रिकटु का सेवन कराना उदर चिकित्सा का बड़ा सुन्दर ढंग है। त्रिकटु के स्थान पर एक सहस्र हरड़ के प्रयोग तक दूध का सेवन करना महत्वपूर्ण है। एक एक हरड़ बढ़ा कर १० तक पहुँचना फिर दस दस करके हरीतकी नित्य सेवन करना। फिर घटाना और एक तक पहुंच जाना। पहले १० दिन में ५५, शेष ६० दिन में ६०० फिर आगे ६ दिन में ४५ इस प्रकार १०६ दिन में १००० हरड़ का विधान पूर्ण होजावेगा। शिलाजीत का प्रयोग भी उसी प्रकार एक हजार रत्तियों तक जा सकता है। एक रत्ती से बढ़कर दस तक पहुँचना फिर १०-१० रत्ती करके ६० दिन तब फिर एक एक रत्ती घटाकर शून्य तक लेजाओ। शिलाजीत की तरह ही गुग्गुलु का भी प्रयोग करे।

शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो हितः।
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा ॥१५३॥

दूध के बराबर (मात्रा में मिलाया हुआ) अदरख के रस का पान हितकर है। उसी प्रकार ही दस गुने रस से सिद्ध तैलपान (भी हितकारी है)।

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम्।
शूलानाहविबन्धेषु मस्तुयूषरसादिभिः ॥१५४॥

सन्निपातज उदररोग में शूल, आनाह, विबन्ध (इन) में दन्ती के फल (जयपाल-croton seed) तथा

द्रवन्ती के फल का तैल दधिमस्तु यूष रसादि के साथ (मात्रानुसार देने पर) हितकर (होता है)।

सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च ।
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे ॥१५५॥

वातोदर में मालिश (तथा) पीने के लिए धूप सरल के, मीठे सहजने के और मूली के बीजों से निकाले गये शूलनाशक तैलों को (प्रयोग करना चाहिए)।

स्तैमित्यारुचिहृल्लासे मन्देऽग्नौ मद्यपाय च ।
अरिष्टान् दापयेत्क्षारान् कफस्त्यानस्थिरोदरे ॥१५६॥
श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः ।

गाढ़े कफ से युक्त तथा कठिन कफोदर में स्तैमित्य अरुचि, हृल्लास (nausea), तथा मन्दाग्नि होने पर कफ का विलय करने के लिए श्रेष्ठ वैद्य दोष को भले प्रकार देखकर मद्य पीने वाले (व्यक्ति को) अरिष्टों (तथा) क्षारों को देवे।

कफोदर-क्षारयोग

पिप्पली तिल्वकं हिंगु नागरं हस्तिपिप्पलीम् ॥१५७॥
भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम् ॥१५८॥
कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्चलवणानि प्रकल्प्य च ।
दधिसर्पिर्वसामज्जतैलयुक्तानि दाहयेत् ॥१५९॥
अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद् विडालपदकं पिबेत् ।
मदिरादधिमण्डोष्ण जलारिष्टसुरासवैः ॥१६०॥
हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च ।
विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् ॥१६१॥

पिप्पली, तिल्वक, हींग, सोंठ, गजपिप्पली, भिलावे, सहजन की फली, हरड़, बहेड़ा, आमला, कुटकी देवदारु, दोनों हल्दी, धूपसरल, अतीस, बच, कूठ, मोथा, तथा पांचोंलवणों को मिलाकर दही, घी, वसा, मज्जा, तैल लगाकर जलावे।

भोजन के बाद यह क्षार एक कर्ष (लेकर) मदिरा, दही के पानी, गरम जल, अरिष्ट, सुरा (या) आसव, के साथ पिये।

(यह क्षार प्रयोग करने से) हृद्रोग, शोथ, गुल्म प्लीहोदर, अर्श, उदर रोग तथा विसूचिका उदावर्त वाताष्ठीला को नष्ट करे।

क्षारं वाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ।
कार्षिकपिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च ॥१६२॥
पिप्पलीं त्रिवृतां शुण्ठीं चित्रकं त्रिफलां वचाम् ।
द्वौ क्षारौ शातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम् ॥१६३॥
कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत् सौवीरसंयुताम् ।
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे च दकोदरे ॥१६४॥

बकरी की मेंगनी को गोमूत्र के साथ परिस्रुत करके क्षार पकावे। (जब गाढ़ा होजावे तब एक कर्ष इस क्षार में) पीपरामूल, पांचोंनमक, तथा पिप्पली, निशोथ, सोंठ, चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आमला, बच, सज्जीखार, जवाखार, शातला, दन्ती, सत्यानाशी, मरोड़फली, प्रत्येक का १ कर्ष (डाल) बेर बराबर गोली को सौवीरक मिलाकर शोथ, अविपाक तथा प्रवृद्ध जलोदर में पिये।

उदररोग-यवागूविधान

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ।
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् ॥१६५॥
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ।
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं तथा पित्तकफानिलाः ॥१६६॥

गाय के मूत्र में भावित साठी के चावलों से दूध के साथ सिद्ध यवागू को उदररोगी को प्रकाम (भर पेट) खिलावे। ऊपर से उदर रोगों की निवृत्ति के लिए (वह) गन्ने का रस पिये। ऐसा करने से वात, पित्त, कफ (तीनों) अपने अपने स्थान को चले जाते हैं।

उदररोग-शाक

शङ्खिनी स्नुकत्रिवृद्दन्तीचिरबिल्वादिपल्लवैः ।
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद् भिषक् ॥१६७॥

वैद्य गाढ़े या कठिन मल वाले (रोगी) के लिए भोजन के पूर्व शंखिनी (यवतिक्ता), सेहुण्ड, निशोथ, दन्ती, करंज के पत्तों से बने शाक दे।

ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ।
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं परम् ॥१६८॥

शास्त्रवेत्ता (वैद्य) तत्पश्चात् इस ढीले हुए मल और दोष वाले (रोगी) के लिए शेष दोषनाशक श्रेष्ठ गोमूत्रयुक्त दुग्ध देवे ।

वक्तव्य — २५१) गोमूत्र और गोदुग्ध दोनों मिलाकर उदररोगी को पिलाना यह चरक विधान है यह वास्तव में बहुत लाभप्रद है ।

पार्श्वशूलमुरुस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतम् ।
जनयेद् यस्य तं तैलं बिल्वक्षारेण पाययेत् ॥१६९॥
तथाग्निमन्थश्योनाकपलाशतिलनालजैः ।
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः ॥१७०॥
तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां निवृत्तये ।
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः ॥१७१॥

वायु जिसको पार्श्वशूल, स्तम्भ (जकडन-stiffness) हृद्ग्रह पैदा करे उसको बिल्वक्षार से सिद्ध तैल पिलावे ।

तथा अरणी, श्योनाक, ढाक, तिल काण्ड, बला, कदली, अपामार्ग प्रत्येक से परिस्रुत क्षारों से तैल को पकाकर उदररोगों की निवृत्ति के लिए वैद्य देवे ।

इससे उदर रोगियों का वातजन्य हृद्ग्रह (भी) नष्ट होता है ।

एरण्डतैल

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ।
बलिनश्चौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् ॥१७२॥

दोनों वात (या तथा) पित्त द्वारा कफ के आवृत होने पर अथवा (पित्त तथा कफ) से वात के आवृत होने पर बलवान् उदररोगी को (तत्तद्दोषनाशक) औषध से युक्त करके एरण्डतैल (castor oil) देना हितकर (होता है) ।

उदर में बस्तिप्रयोग

सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत् ।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैस्तमुपाचरेत् ॥१७३॥

भले प्रकार विरिक्त (well purged) जो पुरुष बार बार आध्मानयुक्त होवे (तो) उसका सुस्निग्ध अम्ललवणयुक्त निरूहों से उपचार करे ।

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ।
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत् ॥१७४॥

जिस पुरुष को सावरण वायु आध्मान करता है उसका तीक्ष्ण क्षार, गोमूत्र, तथा बस्तियों द्वारा उपचार करे ।

वक्तव्य (२५२) सोपस्तम्भ को चक्रपाणि ने साधारण माना है । गंगाधर सोपष्टम्भ मान कर उपष्टम्भ या विष्टम्भ युक्त मानता है ।

उदररोग में विषप्रयोग

क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे चाप्रशाम्यति ।
ज्ञातीन् ससुहृदो दारान् ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरून् ॥१७५॥
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात् संशयं ब्रुवन् ।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥१७६॥
एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः ।
पानभाजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रयोजयेत् ॥१७७॥
यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ।
भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः ॥१७८॥
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ।
विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते ॥१७९॥

साधारण चिकित्सा का अतिक्रमण होने पर त्रिदोषज उदररोग जब शान्त नहीं होता है (तब) मित्र सहित स्वजनों, स्त्रियों, ब्राह्मणों, राजकर्मचारियों और गुरुओं को अनुज्ञाप्य (आदेश लेकर) रोगी के जीवन में संशय बतलाता हुआ वैद्य चिकित्सा करे ।

चिकित्सा न करने में मृत्यु निश्चित है और चिकित्सा करने में संशय होता है (कि जाने प्राण रहेंगे या बचेंगे) इस प्रकार यह कहकर इसके सुहृदादि से आज्ञा पाकर अन्नपान के साथ संयुक्त करके इस (रोगी) के लिए विषप्रयोग करे ।

जिस फल में क्रुद्ध हुआ सांप अपना विष छोड़े उस फल को श्रेष्ठ चिकित्सक भले प्रकार विचार करके (उस) उदररोगी को खिलावे।

प्रमाथी होने के कारण उस विष से उसका स्थिर, लीन, विमार्गगामी दोषसमूह शीघ्र फटकर बाहर निकल जाता है।

वक्तव्य—(२५३) आचार्य ने हमें यहां बड़े काम की और व्यावहारिक ज्ञान की बात बताई है। इसीको आधुनिक जूरिस प्रूडेंस (Juris prudence) न्यायबुद्धि कहते हैं। रोगी की चिकित्सा में विष का प्रयोग करना है। अन्यथा रोगी बचेगा नहीं। विषप्रयोग से भी मरने की सम्भावना है पर विषप्रयोग न करने की अपेक्षा करने से रोगी के जीने की अधिक सम्भावना है। मैं अपनी जिम्मेदारी पर विष प्रयोग न करूंगा आप यदि आज्ञा लिखकर दें तो मैं करूँगा ऐसा स्पष्ट बतलाने वाला कौन है? आज भी आपरेशनादि के पूर्व जो लिखवाया जाता है वह चरक द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही है। चरक जाति वालों से (ताकि यदि संस्था का कोई कार्य हो तो वे उसे पूरा करालें), रोगी के मित्रों से (ताकि वे मिल सकें) स्त्रियों से (ताकि वे आत्मीयता प्रगट करलें), ब्राह्मणों से (ताकि वे उसकी मङ्गलकामना कर सकें) राजा से (ताकि रोगी के मरने पर वैद्य को हथकड़ी न पड़ने पावे) गुरुओं से (ताकि वे पुनः रोगी को देखकर अपने शिष्य वैद्य की बात का समर्थन कर सकें) आज्ञा लेकर ही यह कार्य करे। यदि विषप्रयोग के समय अन्य एक दो चिकित्सक भी हों और उनका समर्थन प्राप्त किया जासके तो कोई दिक्कत नहीं आती। वैद्य का गुरु स्वयं उपस्थित हो या वैद्यगुरुतुल्य सिविलसर्जन (राजवैद्य) से आज्ञा ली जावे तो भी उचित है। उदररोग में सर्पविष या अन्य विष प्रयोग चरक की मौलिक विशेषता है।

> विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम्।
> पाययेत् भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम् ॥१८०॥
> त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयववास्तुकम्।
> भक्षयेत् कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम् ॥१८१॥
> निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्।
> मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत् ॥१८२॥
> एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात् परं ततः।
> दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभं पयः ॥१८३॥

विषप्रयोग से जिसके दोषों का निर्हरण होगया है और शीतल जल से जिसका परिषेक किया गया हो उसको वैद्य बल के अनुसार दूध या यवागू पिलावे।

निशोथ, मण्डूकपर्णी दोनों का शाक, जौ का शाक, बथुआ अथवा कालशाक अपने ही स्वरस में साधित अम्ल, लवण, स्नेहरहित भाप देकर या बिना भाप दिये (कच्चे या पक्के) उस शाक को अन्न सेवन न करता हुआ रोगी एक मास तक खावे। प्यास लगने पर (उपरोक्त शाकों में से किसी का) जल पिये। एक मास में इस प्रकार शाक सेवन से दोषों का निर्हरण होने पर तत्पश्चात् दुर्बल रोगी के लिए प्राणपोषक ऊँटनी का दूध प्रयोग करे।

वक्तव्य—(२५४) सर्पविषयुक्त फल सेवन के बाद रोगी को महीने भर निरे शाकों पर रखकर फिर ऊंटनी के दूध का विधान आज भी स्पष्ट किए देता है कि नेचुरोपैथी के पोषक जर्मन विद्वानों के चरण धो-धोकर पीने वाले आचार्य आत्रेय अग्निवेश और चरक का चरणोदक लेकर सत्य को अपने आगे पाकर श्रद्धा से सिर झुका दें।

उदररोग-शस्त्रकर्म

> इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्मस्याद्दृष्टकर्मणाम्।
> वामं कुक्षिमापयित्वा नाभ्यधश्चतुरंगुलम् ॥१८४॥
> मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक्।
> विपाट्यान्त्रं ततःपश्चात् वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः॥१८५॥
> सर्पिषाभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत्।
> मूर्च्छनाद् यच्च संमूढमन्त्रं तच्चावमोक्षयेत् ॥१८६॥
> छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः।
> बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलिकान् ॥१८७॥
> प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रैयैः सीव्येद् व्रणं ततः।

यह तो शल्यनिर्हरण करने वाले दृष्टकर्मा सर्जनों का कार्य है।

नाभि से नीचे वामकुक्षि (hypogastrium)

को चार अंगुल नाप कर मात्रायुक्त शस्त्र से बुद्धिमान वैद्य पाटन कर्म (incision) करे।

पाटन करने के पश्चात् बद्ध अथवा क्षतिग्रस्त आंतों को देखकर (आवश्यकता पड़ने पर आंत में भी चीरा देकर) घी चुपड़कर केशादिकों को साफ करके निकाल दे। और जो मूर्च्छन से आंत संमूढ होगई हो उसे (भी) छुड़ा दे।

आंत के छिद्रों को तो बड़ी चींटियों से कटवाकर आंतों छिद्रों के दोनों सिरों को एक जगह पर ठीक जुड़े हुए जानकर चींटों को काटकर विपरीत कर्म से आंत को अन्दर प्रविष्ट करके सुई से व्रण को सी दे।

वक्तव्य—(२५५) एक्यूट इंटेस्टीनल आव्स्ट्रक्शन (बद्धगुदोदर) तथा परफोरेशन (छिद्रोदर) इन दोनों में जीवन रक्षा के लिए आपरेशन भी करना पड़ता है। चरक के काल से भी पहले से आंत चीरने के आपरेशन (laparotomy) सफलतापूर्वक किए जाते थे। ऊपर का वर्णन किसी भी माडर्न सर्जरी की पुस्तक से कम नहीं है। चीरना, दोष हटाना, सूचर करना, प्रतिस्थापन करना और फिर सूचर करना यह सब देखकर यही ज्ञात होता है कि आज की सर्जरी का बहुत सा अंश आयुर्वेद के द्वारा प्रदत्त है।

जलोदर—शस्त्रकर्म

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद्भिषक् ॥१८८॥
वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत्।
विस्राव्य च विमृद्यैवं वेष्टयेद् वाससोदरम् ॥१८९॥
तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्।

इस प्रकार वैद्य सब प्रकार के जातोदक उदररोग में नाभि के नीचे वामभाग में वेध करे तथा नाड़ी (canula) लगा कर (जल का) परिस्रावण करे।

परिस्रावण करके तथा मर्दन करके कपड़े से उदर को लपेट दे। उसी प्रकार वस्ति और विरेचनादि से क्षीण हुए सभी उदरों को (कपड़े से) वेष्टित करदे।

वक्तव्य (२५६)—जब पेट में जल अधिक बढ़ जाता है और उसका शरीर पर घातक परिणाम होने की आशंका रहती है तब नाड़ीप्रयोग द्वारा जलनिर्हरण (tapping) करना एक साधारण सी बात है। चरक के काल में भी यह टैपिंग चलता था। टैपिंग के लिए क्या क्या सावधानी लेनी चाहिए इन्हें भले प्रकार समझ कर नाभि के नीचे वेध करके ट्रोकार और कैनूला की सहायता से जल निकाल कर खाली पेट पर कपड़ा लपेट देने का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए। टैपिंग की पद्धति को अपनी बपौती समझने वालों को ध्यान रखना पड़ेगा कि यह आयुर्वेदीय है। टैपिंग एक सीमित शस्त्रकर्म है अतः उसके लिए उतावली नहीं करनी चाहिए।

निःसृते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत् ॥१९०॥
अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः।
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापिभोजयेत् ॥१९१॥

जल का निर्हरण होने पर लंघन किया रोगी स्नेह और लवणरहित (Salt free) पेया पीवे। तत्पश्चात् पुरुष छै मास तक क्षीर वृत्ति (दुग्धपायी) हो जावे। अर्थात् तीन मास तक दूध से पेया पीवे और तीन मास तक दूध के साथ लवणरहित अन्न सेवन करे।

श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेणालवणं लघु।
नरः संवत्सरेणैवं जयेत् प्राप्तं जलोदरम् ॥१९२॥

सवां या कोदों लवण विरहित लघु (अन्न) दूध के साथ व्यक्ति (ले तो) एक साल में ही उत्पन्न हुए जलोदर को (वह) जीतले।

वक्तव्य-(२५७) जल का निर्हरण होजाने के बाद ६ मास तक लगातार दूध का ही सेवन करना नमक को पूर्णतः छोड़ देना तथा स्नेह का भी विशेष उपयोग न करने की सलाह आयुर्वेद ने रोगी को दी है। क्षीरवृत्ति का पालन उदररोगी की चिकित्सा में आयुर्वेदीय विशेषता का प्रभूत परिचायक है। श्लोक १९३-९४ में दूध के प्रयोग की सार्थकता सिद्ध की गई है।

जलोदरी को तो एक वर्ष पर्यन्त पथ्याचरण करना पड़ेगा। कोदों सवां आदि हलके पदार्थ दूध के साथ लिए जा सकते हैं। घी तेल मज्जा वसा और नमक को साल भर तक छोड़े रहना ऐसे महत्व के स्थल हैं कि जिनके कारण

आयुर्वेदीय उदररोग चिकित्सा ही आज एक मात्र सर्वप्रबल सत्य है। इसे धीरे धीरे सारे संसार को अपनाना ही पड़ेगा।

उदररोग—क्षीरव्यवस्था

प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत्।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्य्यार्थमेव च ॥१६३॥
प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः।
सर्वधातुक्षयार्त्तानां देवानाममृतं यथा ॥१६४॥

सब प्रयोगों के पश्चात् दोषानुबन्ध से रक्षा करने के लिए तथा बल के स्थैर्य (दृढ़ता) के लिए भी दूध का प्रयोग करे। क्योंकि जिस प्रकार देवताओं का अमृत (उसी प्रकार विरेचन शस्त्रकर्म आदि अनेकों) प्रयोगों से क्षीणाङ्ग (पुरुषों) का, सब धातुओं के क्षय से पीड़ित (व्यक्तियों) का (तथा) उदररोग से पीड़ित (प्राणियों) का पय (विशेष) हित (करता है)।

वक्तव्य—(२५८) ऊपर आचार्य ने विषप्रयोग, शस्त्र-प्रयोग आदि विशेष चिकित्साक्रम का उल्लेख किया है। और साथ ही अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः का उद्घोष भी किया है। उसी सन्दर्भ में उदररोगी के लिए अनिवार्य इस प्रकार मानकर दुग्ध का गुणगान पुनः किया गया है। दूध के प्रयोग आचार्य ने यहां बतलाये हैं—

१—दोषानुबन्ध से रक्षा करने के लिए दूध का प्रयोग करे—आंतों पर शस्त्रकर्म होने के बाद रोटी खाने वाले रोगी को कितना भयङ्कर काल देखना पड़ सकता है ? उसका कारण दोषानुबन्ध होता है। केवल दुग्धाहार पर रखा हुआ आपरेशन किये प्राणी को किसी भी दोष का अनुबन्ध प्राप्त नहीं होता। अतः शस्त्रकर्मोपरान्त आहार (post operative diet) दूध है।

२—बल स्थिर रखने के लिए दूध का प्रयोग करे। उदररोग में अग्नि की कमी और बल का निरन्तर ह्रास सरल सुपच दूध से ही रोका जा सकता है।

३—विविध प्रयोगों से जिनके अङ्ग क्षीण हो गये हैं उन्हें दूध ही दिया जावे। क्योंकि उन व्यक्तियों को अन्य पदार्थ नहीं दिये जासकते, लेने से हानि होती है।

४—सर्वधातुक्षय में भी दूध का प्रयोग करे क्योंकि दूध में सब धातुओं को पुष्ट कर देने वाले तत्व भरे रहते हैं। इसी से इसे पूर्णाहार माना गया है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौ—

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः।
उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च ॥१६५॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः।
समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते ॥१६६॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)—

आठों (उदररोगों) के विस्तारसंक्षेपपूर्वक हेतु, पूर्वरूप, लक्षण, उपद्रवों को, अपेक्षाकृत प्रधानता (कष्टसाध्यता) साध्यासाध्य तथा जातोदक अजातोदक के लक्षण तथा चिकित्सा को ऋषि ने विस्तार संक्षेप निर्देश के साथ उदररोगों के चिकित्सित (अध्याय) में कहा।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत चरकप्रतिसंस्कृत शास्त्र में चिकित्सास्थान में उदरचिकित्सित नामक तेरहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

चतुर्दशोऽध्यायः

अर्श चिकित्सा

अथातोऽर्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (इस) अर्श चिकित्सित (नामक चौदहवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजाप्यं कृतक्षणम्।
पृष्टवानर्शसां मुक्तमग्निवेशः पुनर्वसुम् ॥२॥
प्रकोपहेतुं स्वस्थानं लिङ्गं च सचिकित्सितम्।
साध्यासाध्यविशेषांश्च तस्मै तान् मुनिरब्रवीत् ॥३॥

(जब) जीवन्मुक्त भगवान् पुनर्वसु आत्रेय अव्यग्र (स्वस्थ), जप करके, समय निकालकर (फुरसत से) बैठे हुए थे (तब) अग्निवेश ने (अर्शों के प्रकोप का कारण, उत्पत्तिस्थान, चिकित्सासहित लक्षण तथा साध्यासाध्य विशेषता को पूछा। इसके प्रति उन (सब बातों) को मुनि ने बतलाया।

द्विविध अर्श

इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित् कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः—मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं कर्म्म तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ॥४॥

मनुष्यलोक में हे अग्निवेश ! दो प्रकार के अर्श (होते हैं जिनमें) कोई सहज (तथा) कोई जन्मोत्तर कालज। उनमें सहज अर्शों का कारण (पुरुष) बीज

का गुदवलि (के उत्पादक) बीजांश का उपतप्त (विकृत) होना है। वहां बीजोपताप में कारण माता-पिता का अपचार तथा (रोगी का) पूर्वकृत कर्म (होता है) उसी प्रकार (जैसे कि अन्य सहजविकारों के भी (हेतु यही दोनों होते हैं)। वहां शरीर के साथ उत्पन्न हुए सहज अर्श (कहलाते हैं)। अर्श अधिमांसज रोग होते हैं।

अर्शक्षेत्र

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चांगुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः। केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया गुदवलिजानित्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषांचार्शसामधिष्ठानं—

बस्तिकर्म-विश्रम-व्यायामाभाव, मैथुनाभाव-दिवास्वप्न सुखशयन-सुखासन-सुखस्थान सेवन के कारण उपहत (नष्ट) हुई है जिनकी अग्नि (उनको) मल का अत्यधिक संचय होता है।

तथोत्कटकठिनविषमासनसेवनात् उद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानात् अतिव्यवायाद् वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनाद् अभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शात् चेललोष्टतृणादिसंघर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद् वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणाद् उदीर्णवेगविधारणात् स्त्रीणाञ्चामगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनाद् बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचित मधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते ततस्तु तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥१०॥

तथा उत्कट-विषम आसन सेवन करने के कारण उद्भ्रान्त (दुर्दम्य घोड़े आदि की) सवारी अथवा ऊंट की सवारी करने के कारण, अत्यन्त मैथुन, वस्ति के नेत्र (nozzle) के असम्यक्तया प्रयोग करने के कारण, गुद में क्षत होने के कारण, बारबार शीतल जल (बर्फ के जल) का स्पर्श करने के कारण वस्त्र-ढेला-तृण आदि से (गुदा का) घर्षण करने के कारण लगातार अत्यन्त कुंथन (मलत्याग में जोर लगाने) के कारण, वात-मूत्र-पुरीष वेगों के बलपूर्वक प्रवृत्त करने के कारण, उदीर्ण वेगों के धारण करने के कारण, स्त्रियों के आमगर्भभ्रंश (miscarriage)-गर्भ के उत्पीडन के कारण बहुत और विषमतया हुई प्रसूतियों (abnormal delivery) के कारण प्रकुपित हुआ अपानवायु अधोगत संचित उस मल को प्राप्त कर गुदवलियों में धारण करता है। इससे उनमें अर्श उत्पन्न होते हैं।

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठयवकलायपिण्डिटिण्टिकेरकेबुकतिन्दुककर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरोदुम्बर खर्जूर जाम्बवगोस्तनांगुष्ठकशेरुश्रृङ्गाटकश्रृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्ड-जिह्वापद्ममुकुलकर्णिकासंस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि ॥११॥

सरसों, मसूर, उड़द, मूंग, मोंठ, जौ, मटर, मैनफल, टेंटी, केबुक, तिन्दुक, झरबेर, लालचोंटनी, कुंदरू, बेर, करील, गूलर, खजूर, जामुन, मुनक्का, अंगुष्ठक, कसेरू, सिंघाड़ा, काकड़ासिंगी, मुर्गा, मोर, तोता इनकी चोंच-जीभ, पद्मकलिका, कमलबीज, कोष के आकार के सामान्यतः वातपित्तकफ प्रधान (अर्श) होते हैं।

वातार्श लक्षण

तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि वक्राणि तीक्ष्णाग्राणि स्फुटितमुखानि विषमविसृतानि शूलाक्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमासंहर्षपरीतानि स्निग्धोष्णोपशयानि प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणबस्तिवंक्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि प्रततविवद्ध वातमूत्रवर्चांसि ऊरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिवस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायामशोषशोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डू नासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥१२॥

उनकी यह विशेषता है—शुष्क, मलिन, कठिन, परुष, रूक्ष, श्याव, वक्र, तीक्ष्णाग्र वाले, स्फुटित मुख वाले, विषमतया फैलने वाले, शूल-आक्षेप-तोद-स्फुरण चिमचिम-हर्ष (इन दुखकर भावों से) युक्त स्निग्धोष्णोपचार से शान्त होने वाले; प्रवाहिका-आध्मान युक्त, शिश्न-वृषण-वस्ति-वंक्षण तथा हृदय में ग्रह (वेदना) वाले; अङ्गमर्द, हृदय की धड़कन, जिनमें प्रबल हो, निरन्तर बद्ध वात-मूत्र-मल वाले; ऊरु, कटि, पृष्ठ, त्रिक, पार्श्व, कुक्षि तथा वस्ति में शूल से युक्त, सिर में ताप, छींक, डकार, जुकाम, खांसी उदावर्त, आयाम (पेशियों की खिंचावट), शोष, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, मुख की विरसता, तिमिर रोग, खुजली नाक कान शंख में शूल, स्वरकानाश नख-नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र पुरीष की श्यावारुणवर्णता तथा परुषता से युक्त रोगी के वात प्रधान अर्श ऐसा जाने।

वातोल्बण अर्श हेतु

भवतश्चात्र

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि

प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥१३॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥१४॥

और यहां (श्लोक हैं कि)—

कषाय-कटु-तिक्त-रूक्ष शीतल-लघु द्रव्यों को प्रमित अल्प भोजन करना तीक्ष्ण मद्य तथा मैथुन सेवन लंघन कर शीत देश शीत ऋतु में व्यायाम कर्म तथा शोक वात और आतप का स्पर्श करना (ये) वातार्श के हेतु माने गये हैं।

पित्तार्श लक्षण

मृदुशिथिलसुकुमाराण्यस्पर्शसहानि रक्तपीत नीलकृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्रगन्धानि तनुपीतरक्तस्रावीणि रुधिरवहाणि दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शीतोपशयानि संभिन्नपीतहरितवर्चांसि पीतविस्रगन्धप्रचुर विण्मूत्राणि पिपासाज्वरतमकसंमोहभोजनद्वेषकराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥१५॥

मृदु शिथिलतायुक्त,सुकुमार, अस्पर्शसह (very tender) लाल-पीले-नीले काले, पसीना और रस बहुल, आमगन्धवाले, पतला पीला लाल स्राव वाले, रक्तस्रावयुक्त, जलन, खुजली, दर्द, व्यथा, पाक वाले शीत द्रव्यों से शान्त होने वाले, फटे पीले हरे मल वाले, पीले आमगन्धी मात्रा में अधिक मलमूत्र वाले, प्यास ज्वर दमा मूर्च्छा तथा अन्नद्वेष करने वाले पीले नखनेत्रत्वचामूत्रपुरीष वाले पित्तप्रधान अर्शों को जानें।

पित्तोल्बण-अर्श-हेतु

कट्वुष्णलवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः ।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥१६॥
विदाहितीक्ष्णमुष्णञ्च सर्वं पानान्नभेषजम् ।
पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥१७॥

कटु-उष्ण-लवण-क्षार, व्यायाम-अग्नि-धूप की तेज चमक, शिशिरदेश, शिशिरऋतु, क्रोध, मद्यपान असूया (छिद्रान्वेषण), विदाही, तीक्ष्ण-उष्ण सब पान, अन्न (तथा) औषध (ये सब) पित्तप्रधान अर्शों के प्रकोप में हेतु जानने चाहिए।

कफार्श लक्षण

तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानिस्पर्शसुखानि श्वेतपाण्डुपिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि सुप्तानि स्थिरश्वयथूनिकण्डूबहुलानि बहुप्रततपिञ्जरश्वेतरक्त शुक्लपिच्छास्रावीणि गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि रूक्षोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थान वङ्क्षणानाहवन्ति परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीवनकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोथशोषपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियोपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि तथा चिरकालानुबन्धीन्यतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराण्यामविकारकरप्रबलानिशुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥१८॥

उनमें जो बड़े, उपचित (फूले हुए) श्लक्ष्ण, स्पर्श सुख वाले, श्वेत, पाण्डु, पिच्छिल, स्तब्ध, भारी, स्तिमित, सुप्त, स्थिर, शोथयुक्त बहुत खुजली वाले बहुत निरन्तर पिंजर (श्वेतपीत) श्वेतरक्त शुक्ल पिच्छा का स्राव करने वाले, गुरु-पिच्छिल-श्वेत मल मूत्र वाले, रूक्ष द्रव्यों से शांत होने वाले, प्रवाहिका बारबार मलत्याग के लिए उठाने वाले, वंक्षणप्रदेश में आनाहयुक्त, परिकर्तिका-हृल्लास-निष्ठीवन-कास-अरोचक-प्रतिश्याय-गौरव-वमन-मूत्रकृच्छ्र-शोष—पांडुरोग-शीतपूर्वज्वर-अश्मरी-शर्करा-हृदयोपलेप-इन्द्रियोपलेप-मुखमाधुर्य-प्रमेह(आदि रोग) करने वाले तथा चिरकालानुबन्धी अत्यन्त अग्निमांद्य और क्लीवता करने वाले,आमदोष की प्रबलता करने वाले, नख नेत्रमुखत्वचामलमूत्र की शुक्लता वाले कफ प्रबल अर्श जाने।

श्लेष्मोल्बण-अर्श-हेतु

भवतश्चात्र—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च ।
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतिः ॥१९॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् ।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ॥२०॥

और यहां (दो श्लोक हैं कि)—

मधुर-स्निग्ध-शीतल पदार्थ नमकीन खट्टे भारी पदार्थ इनका सेवन व्यायाम न करना, दिवास्वप्न, शय्या और आसन में सुखपूर्वक रत रहना, पूर्ववायु का सेवन, शीत देश तथा काल, कम चिन्ता करना, यह कफ वाले अर्शों का कारण कहा गया है।

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च।
सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणैः समम् ॥२१॥

हेतु और लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वदोष प्रधान-अर्श जाने। तथा त्रिदोष के (अर्शों) के सभी हेतु (होते हैं)। सहज लक्षणों के समान (त्रिदोषज अर्शों के लक्षण होते हैं)।

अर्श पूर्वरूप

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्प विट्कता ॥२२॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्त्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥२६॥

अन्न का विष्टम्भ (गति की कमी होने से आन्त्र में ही अन्न का रुक जाना), दुर्बलता, (अन्त्रप्राचीर की दुर्बलता), कुक्षि में आटोप (पेट गुडगुडाना), तथा शरीर की कृशता, बहुत डकार आना, टांगों की शिथिलता, थोड़ा मल आना, ग्रहणी दोष, पाण्डुरोग, उदररोग की आशंका अर्शों की अभिवृद्धि के लिए (ये) पूर्वरूप बतलाये (जाते हैं)।

अर्शों की सर्वदोषजता

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः।
दोषैर्दोषविशेषैस्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥२४॥

(वातपित्तकफ) तीनों के असन्निपात के विना अर्शों की उत्पत्ति होती है। किन्तु दोषों के द्वारा दोष विशेष के होने से अर्शों की विशेष (दोषता) जानी जाती है।

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥२५॥

अर्शों की उत्पत्ति पञ्चात्मक (अपान समान, प्राण, उदान, व्यानात्मक) वायु, पित्त, कफ, गुद वलित्रय सभी कुपित होते हैं।

तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च।
सर्व देहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥२६॥

इस कारण अर्श दुखदायक अनेक व्याधि करने वाले, सम्पूर्ण शरीर को पीडा देने वाले तथा बहुधा कष्टसाध्य (होते हैं)।

वक्तव्य – (२६०) ऊपर आचार्य ने अर्शों का विस्तार के साथ विचार करके यह बतलाया है कि त्रिविध वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक कारणों के मिलने से उदर के पचन संस्थान की क्रियाशक्ति क्षीण होजाती है जिसके कारण अन्न का गमन आंतों से ठीक प्रकार से नहीं होता। अन्नरस की कमी से आंतों की प्राचीरें और दुर्बल होजाती हैं जिसके कारण अन्न का गमनागमन और भी मन्द पड़ जाता है। जिसके कारण अनेक प्रकार के शारीरिक लक्षण उत्पन्न होजाते हैं। आन्त्रस्थ अपानवायु प्रत्यारोहण करके समान उदान प्राण और व्यान वायु को कुपित कर देती है वात-के अतिरिक्त कफ और पित्त भी दूषित होजाते हैं और परिणामस्वरूप गुद की तीनों बलियों में मल आकर रुंध जाता है वहां अर्श के अंकुर उत्पन्न होने लगते हैं और गुदप्रदेश में शूल तोद और स्राव का बाहुल्य चल पड़ता है। इसप्रकार अर्शोत्पत्ति में तीनों दोषों के भाग लेने से यह व्याधि भी कुष्ठ की तरह सान्निपातिक है पर जिस दोष की विशेषता देखी जाती है उसी के अनुरूप उसका नामकरण कर दिया जाता है। तीनों दोषों के कुपित होने से गुद के स्थान के छोटे होने से और गुद में निरन्तर मलवातादिक के निकालने का योग होने से एक बार हुए अर्शों की शान्ति बड़ी कठिनाई से होती है। इसी कारण अर्श क्योंकर होसकते हैं उनके निदान को विस्तारपूर्वक आचार्य ने बतलाया है ताकि निदानपरिवर्जन करके इस दुखकर व्याधि के चंगुल से प्राणी बच सकें।

अर्श की साध्यासाध्यता

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलञ्च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥२७॥

जिसके हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुद तथा वृषणों में हृदय तथा पार्श्व में शूल (होता है) वह अर्श वाला (रोगी) असाध्य (होता है)।

हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णागुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥२८॥

हृदय तथा पार्श्व में शूल, मूर्च्छा, वमन, शरीर की पीड़ा, ज्वर, तृष्णा, गुदपाक (ये उपद्रव) अर्शरोगी को मार डालते हैं।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥२९॥

जो अर्श सहज, त्रिदोषज तथा आभ्यान्तरीय वलि में आश्रित करके उत्पन्न होते हैं उन्हें असाध्य समझे।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥३०॥

आयु के शेष होने के कारण चतुष्पाद समन्वित होने पर प्रदीप्त जठराग्नि वाले के वे (अर्श) याप्य होते हैं। अन्यथा (विपरीत स्थिति होने पर) वे त्याज्य (होते हैं)।

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥३१॥

जो द्वन्द्वज अर्श दूसरी वलि में आश्रित है और जो एक वर्ष पुराने हों तो उनको कष्टसाध्य कहते हैं।

वाह्यायान्तु वलौ जातान्येकदोषोल्वणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥३२॥

बाहर की वलि में उत्पन्न तथा एक दोष की उल्वणता वाले अर्श (जो) अधिक पुराने नहीं सुखसाध्य (होते हैं)।

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥३३॥

विचक्षण (वैद्य) इनकी शान्ति में शीघ्र यत्न करे क्योंकि वे गुद को रोककर शीघ्र बद्धगुदोदर करते हैं।

वक्तव्य –(२६१) यदि अर्श का ठीक से और तुरन्त उपचार नहीं किया जाता हो तो उससे बद्धगुदोदर (acute intestinal obstruction) होसकता है।

अर्श-चिकित्सा की चार विधियां

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम् ।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना ॥३४॥

वहां कुछ वैद्य अर्श का कर्तन (excision) हितकर कहते हैं। और कुछ क्षार से दाह को (बतलाते हैं)। तथा कुछ अग्नि से दाह (बताते हैं)।
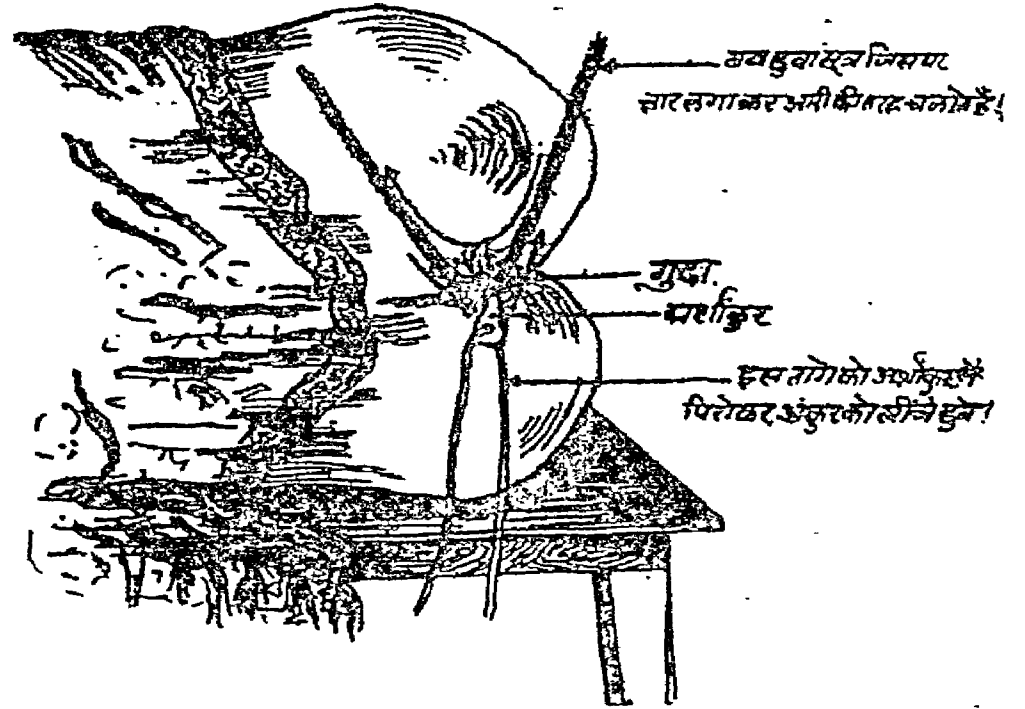
अस्त्येतद्भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा ।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्रसुदारुणः ॥३५॥

यह तीन प्रकार का कर्म बहुत शास्त्र पारंगत, शास्त्रकर्म जिसने देखे हैं, बुद्धिमान् वैद्य से किया जाता है। उसमें भूल करना अत्यन्त भयङ्कर होता है।

पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः ।
आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्त्तनम् ॥३६॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च ।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥३७॥

शस्त्र-क्षार तथा दाहकर्म में विभ्रम होने से पुंस्त्वनाश, गुदशोथ, मलादि वेगरोध, आध्मान दारुण उदरशूल, पीड़ा रक्त की अतिशय प्रवृत्ति, अर्शों की पुनरुत्पत्ति भरे हुए अर्शों का क्लेद, गुद,

का भ्रंश (prolapse of anus) अथवा मृत्यु (भी) शीघ्र हो सकती है।

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये ॥३८॥

अर्शों की समूल निवृत्ति के लिए जो चिकित्सा सुखसाध्य, अल्पभ्रंश (हानि) करने वाली (और) अदारुण (है) वह (मैं) कहूँगा।

वक्तव्य--(२६२) अर्श की चिकित्सा जिस प्रकार एक सर्जन कर सकता है वैसे ही वैद्य भी कर सकता है। चरक ने शस्त्र क्षार दाहात्मक सर्जीकल चिकित्सा के विगुण को बतलाकर अर्श की वैद्यकीय चिकित्सा को अधिक उपयुक्त बताया है और आगे अदारुण सुखसाध्य योगों का वर्णन किया है।

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः।
प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥३९॥

तद्विद् (अर्शचिकित्सा के ज्ञाता वैद्य) वात तथा कफ से उत्पन्न अर्शों को शुष्कार्श कहते हैं तथा रक्त और पित्तप्रधान प्रस्रावी अर्शों को आर्द्र अर्श (कहा जाता है)।

वक्तव्य—(२६३) चरक ने शुष्कार्श और आर्द्रार्श दो रूप में चिकित्सा का वर्णन किया है इधर उन्हीं दोनों की परिभाषा स्पष्ट की गई है।

तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्।
स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥४०॥
चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य बुद्धिमान्।
यवमाषकुलत्थानां पुलाकानां च पोट्टलैः ॥४१॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा।
वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥४२॥
शक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा।
शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥४३॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्ह्रापुषैरपि।
इष्टकस्य खराह्वायाःशार्कगृञ्जनकस्य वा ॥४४॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत् पोट्टलीकृतैः।
पत्रोत्क्वाथैः स्वेदयेच्च वृषार्करण्डबिल्वजः ॥४५॥

इनमें पहले शुष्कार्शों की चिकित्सा (मैं) कहूंगा। शोथशूलयुक्त स्तब्ध (कठिन) अर्शों को पहले चित्रक यवक्षार, बेल से सिद्ध तैल लगाकर बुद्धिमान् वैद्य जौ-उड़द-कुलथी पुलाक (अजातण्डुल धान्य) की पोटलियों से तथा गाय-गधा-घोड़ा के मलपिण्डों से तथा तिल कल्कों से, भूसी से अथवा बच सोंफ के पिण्डों से तैल चुपड़ सुहाता सुहाता सेकने से तैल घृत से स्निग्ध किये हुए सक्तूपिण्डों से या स्नेहयुक्त सुहाते गरम सूखी मूली के पिण्डों से या सहजन-मूलत्वक् पिण्डों से अथवा रास्ना पिण्डों से या हाऊ-बेर के पिण्डों से स्वेदन करे।

कुष्ठ से सिद्ध तैल से चुपड़ कर ईंट खुरासानी अजवाइन अथवा गाजर के शाकों से पोटलियां बना कर स्वेदन करे। वासा आक एरण्ड बेल के पत्तों के क्वाथ से परिषेक करे।

मूलक त्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च।
अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥४६॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्।
कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥४७॥
बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके।
गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥४८॥

मूली, हरड़, बहेड़ा, आमला, बांस, वरुण, अरणी, सहंजन तथा अश्मन्तक के पत्तों को जल से उबालकर भले प्रकार तेल चुपड़े (अर्श) शूल से पीडित रोगी को (उस काढ़े में) स्नान करावे।

उसको (उसी प्रकार) बेर के उत्क्वाथ (उबाले जल) में, अथवा गुनगुने सौवीरक तुषोदक में अथवा बेल के क्वाथ में, तक्र में, दधिमण्ड, खट्टी कांजी या गोमूत्र में खूब स्नेह मलकर स्नान करावे।

वक्तव्य – (२६४) आचार्य ने विविध पोटलियों से सेकने का तथा बफारा देने का अथवा सुखोष्ण द्रवों में अवगाहन का जो एक के बाद दूसरा योग दिया है उसका क्रम क्रम से प्रयोग करना चाहिए)

शुष्कार्श-धूपन

कृष्णसर्पवराहोष्टजतुकावृषदंशजाम्।
वसामभ्यञ्जने दद्याद्धूपनं चार्शसां हितम् ॥४९॥

काला सांप, सूअर, ऊँट, चमगादड़, बिलौटा इनकी वसा का अभ्यंग देवे तथा धूपन भी अर्शों के लिए हितकर (है)।

नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च।
अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥५०॥

मनुष्य के बाल, सांप की केंचुली, बिलौटे का चमड़ा, तथा आक की जड़, छोंकरे के पत्ते अर्शों के लिए हितकर धूपन (है)।

तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम्।
बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम् ॥५१॥
वराहवृषविट् चैव धूपनं सक्तवो घृतम्।
कुञ्जरस्य पुरीषं तु घृतम् सर्जरसस्तथा ॥५२॥

धनिया, विडङ्ग, देवदारु, जौ, घी, बड़ी कटेरी, तथा अश्वगन्धा, तथा पीपल, तुलसी, घृत, सुअर और बैल का गोबर, सत्तू और घी एवं हाथी की लीद राल तथा घी (ये चार द्रव्य समूह) धूपन (हैं)।

शुष्कार्श प्रलेपयोग

हरिद्राचूर्ण संयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनं।
गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥५३॥

सेहुण्ड दूध हलदी के चूर्ण में मिलाकर लेप करना (अथवा) गाय के पित्ते में मिली हल्दी सहित पिप्पलियां (भी शुष्क अर्शों में) प्रलेपन (होती हैं)।

शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः।
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ॥५४॥

सिरस के बीज, कूठ, पिप्पलियां, सेंधानमक, गुड, आक का दूध, सेहुण्ड का दूध तथा त्रिफला (यह) प्रलेपन (है)

पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः।
प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रा गुडसंयुतम् ॥५५॥

पिप्पली, चित्रक, निशोथकाली, किण्व (yeast) मदनफल के बीज, मुर्गे की बींट, हलदी गुड मिलाकर (अर्श का) प्रलेप (होता है)।

दन्ती श्यामाऽमृतासङ्गः पारावतशकृद्गुडः।
प्रलेपः स्याद्गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥५६॥

दन्ती, काली निशोथ, तूतिया, कबूतर की बीट गुड, हाथी की हड्डी (का चूर्ण) नीम तथा भिलावे (यह भी एक) प्रलेप है।

प्रलेपः स्यादलं कोष्णं वासन्तकवसायुतम्।
शूलश्वयथु हृद्युक्तं चुलूकीवसयाऽथवा ॥५७॥

वासान्तक (ऊंट की) वसायुक्त अथवा चूलू की (मगर की) वसा युक्त हरताल का गुनगुना लेप (गुदा के) शूल तथा शोथ का नाशक होता है।

आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः।
करञ्जो बस्तमूत्रञ्च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥५८॥

आक का दूध, सेहुण्ड का तना, कड़वीलौकी, करंज के पत्ते और बकरे का मूत्र (इनका) लेपन अर्शों के लिये श्रेष्ठ (होता है)।

अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः।
स्तम्भश्वयथुकण्डूर्वातिशमनास्तेऽर्शसां मतम् ॥५९॥

जो ये अभ्यङ्गों से लेकर प्रदेह तक (योग) कहे गये हैं वे अर्शों के स्तम्भ, शोथ, कण्डू, शूलशामक माने गये हैं।

शुष्कार्श रक्तस्रावण

प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि।
सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखी ॥६०॥

प्रदेहों तक कहे योगों से उपचार करने से अर्श एकत्र हुए दुष्ट रुधिर को प्रस्राव करते हैं इससे रोगी सुखी होता है।

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति।
रक्ते दुष्टे भिषक्तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥६१॥
जलौकोभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः।
अवर्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत् ॥६२॥

क्योंकि रक्तदुष्टि होने पर शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष (उपचारों से जब) व्याधि शान्त नहीं होती है इस कारण वैद्य रक्त का ही अवसेचन करे। रक्तार्शों से जोंकों से तथा शस्त्रों से, सुइयों से, न निकलने वाले रक्त को प्रवाहित करे।

वक्तव्य—(२६५) शुष्कार्श प्रकरण में जब दुष्ट रक्त मस्सों में रुक जाता है तो तोद दाह शूल और शोथ हो

सकता है इसी प्रकार रक्तार्श में भी रक्तरोध का यही परिणाम देखा जाता है अतः इन उपद्रवों की शान्ति के लिये शीतोष्ण स्निग्ध रूक्षादि उपचारों को पहले करले जब उनसे कोई लाभ न हो तो मस्सों से रक्त का मोक्षण जोंक-शस्त्र सूची जिससे भी सम्भव हो अवश्य करदे।

त्र्यूषणादि चूर्ण

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम्।
त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिंगुं सचित्रकम् ॥६३॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेषिकाम्।
बिडं यमानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥६४॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन वा।
तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते ॥६५॥

गुदशोथ (proctitis), गुदशूल तथा मन्दाग्नि से आर्त (पीड़ित) को सोंठ मिरच पीपल पीपरामूल पाठा चित्रकसहित हींग कालानमक, पोकरमूल, जीरा, बेलगिरी, बिडनमक, अजवाइन, हाऊबेर, विडङ्ग, सेंधानमक, बालवच तथा तिन्तिडीक मद्य मण्ड से अथवा गरमपानी से (चूर्ण को) पिलावे तथा वह अर्श, ग्रहणीरोग, उदरशूल, आनाह से (भी) मुक्त करता है।

पाचनं पाययेद्वा तद्युक्तं ह्यातिसारिके।
सगुडामभयां वाऽपि प्राशयेद् पौर्वभक्तिकीम् ॥६६॥
पाययेद्वा त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलारससंयुतम्।
हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ॥६७॥

या जो अतीसारचिकित्सित अध्याय में पाचन कहा है उसको पिलावे। अथवा भोजन पूर्व गुडसहित हरड़ खिलावे। अथवा त्रिफला के रस में मिलाकर निशोथचूर्ण पिलावे। गुदाश्रित दोष के हरे जाने पर अर्श नष्ट होजाते हैं।

गोमूत्राध्युषितां दद्यात् सगुडां वा हरीतकीम्।
हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत् ॥६८॥

अथवा गोमूत्र में (एकरात) बसाई गई हरड़ गुड के साथ देवे अथवा तक्र के साथ हरड़ या त्रिफला का प्रयोग करे।

सनागरं चित्रकं वा सीधुयुक्तं प्रयोजयेत्।
दापयेच्चव्ययुक्तं वा सीधुं साजाजिचित्रकम् ॥६९॥

अथवा सोंठ सहित चित्रक सीधु मिलाकर प्रयोग करे। अथवा जीरे के साथ चित्रक तथा चव्य मिलाकर सीधु को देवे।

सुरां सहपुषां पाठां दद्यात् सौवर्चलान्विताम्।
दधित्थ बिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यचित्रकैः ॥७०॥
भल्लातकयुतं वाऽपि प्रदद्यात्तक्रतर्पणम्।
बिल्वनाग युक्तं वा यवान्या चित्रकेण च ॥७१॥

हाऊबेर सहित पाठा कालानमक मिली सुरा के साथ देवे। कैथ बेल युक्त अथवा चव्य चित्रक युक्त अथवा भल्लातक युक्त अथवा बेल सोंठ युक्त अजवाइन के तथा चित्रक के साथ तक्र प्रधान तर्पण देवे।

चित्रकं हपुषां हिंगुं दद्याद्वा तक्रसंयुतम्।
पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत् ॥७२॥

अथवा चीते की छाल, हाऊबेर, हींग तक्र मिलाकर देवे। अथवा इसके लिए (अर्श रोगी के लिए) पञ्चकोलयुक्त तक्र देवे।

तक्रारिष्ट

हपुषां कुञ्चिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम्।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥७३॥
यवानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम्।
मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेत् घृतभाजने ॥७४॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं मुखप्रियम्।
प्रपिबेन्मात्रयाकालेष्वन्नस्य तृषितस्त्रिषु ॥७५॥
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम्।
गुदश्वयथु कण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्द्धनम् ॥७६॥
(इति तक्रारिष्टः।)

हाऊबेर, कालाजीरा, धनियां, सफेदजीरा, कलौंजी, कचूर, पिप्पली, पीपरामूल, चित्रक, गजपीपल, अजवाइन, तथा अजमोद चूर्ण करके थोड़ा खट्टा और कटु तक्र मिलाकर विद्वान् वैद्य घृत से चिकने पात्र में रखदे। (जब) अम्ल और कटु रस (पर्याप्त) व्यक्त हो जावे (तो उसे) मुखप्रिय तक्रारिष्ट को प्यासा रोगी अन्न के तीनों कालों में

मात्रानुसार पिये। (यह तक्रारिष्ट) दीपन, रोचन, वर्ण्य, कफवातानुलोमक, गुदशोथ, गुदकण्डु, गुद-शूल नाशक (तथा) बलवर्द्धक (होता है)।

(यह तक्रारिष्ट—है।)

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥७७॥

चित्रक की जड़ की छाल को पीसकर (किसी कोरे) घड़े में लेप करे। उसमें जमाये (दूध से प्राप्त किये) दही अथवा (उसे मथकर प्राप्त किए) अर्शनाशक तक्र को पिये।

वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम्।
तत् प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥७८॥

वात (या तथा) कफज अर्शों का तक्र से परे इस लोक में कोई भेषज नहीं है। उसको दोष के अनुसार (वातिक अर्श में) स्नेहयुक्त अथवा (श्लैष्मिक अर्श में) रूक्ष ही प्रयोग करना चाहिए।

सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा।
बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ॥७९॥

(रोगी के) बल और समय का विशेषज्ञ वैद्य सात दिन अथवा दस दिन अथवा पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक तक्र का प्रयोग करे।

अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्।
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ॥८०॥

अत्यन्त कोमल जाठराग्नि वाले को तक्र ही प्रयोग करावे। अथवा सायंकाल को लाजा के सत्तुओं की तक्र (से बनाई) अवलेहिका (porridge) देवे।

जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम्।
तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ॥८१॥

अथवा तक्र के पच जाने पर सैंधानमकयुक्त तक्र की पेया देवे। तत्पश्चात् तक्र के अनुपान से स्नेहयुक्त तक्रौदन (मट्ठे में पकाया भात-महेरी देवे)।

यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः।
यूषैरसेन वाऽप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत् ॥८२॥

अथवा तक्र के साथ मिलाकर यूष अथवा मांस रसों से भी भोजन करावे। यूषों से मांसरस से अथवा तक्र से सिद्ध किया भोजन करावे।

कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवर्तयेत्।
तक्रप्रयोगो मांसान्तः क्रमेणोपरमो हितः ॥८३॥

और न अकस्मात् कालक्रमवेत्ता वैद्य तक्र (का प्रयोग) बन्द करे। तक्र का प्रयोग मास के अन्त तक का है। (तदनन्तर) क्रम क्रम से (धीरे धीरे उसको बन्द करना हितकर (है)।

अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते।
शक्त्यागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च।
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः ॥८४॥

जैसे (तक्र की) वृद्धि (वैसे ही उसकी) न्यूनता (करनी चाहिए) परन्तु अन्न की न्यूनता न करे। शक्ति के आगमन (और उसकी) रक्षा के लिए तथा जठराग्नि को दृढ करने के लिए, बल, उपचय (plumpness) वर्ण (complexion) के लिये यह चिकित्सा क्रम बतलाया है।

रूक्षमर्द्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥८५॥

दोष-अग्नि-बलवेत्ता वैद्य रूक्ष, आधा स्नेह निकाले, और जहां से घृत निकाला हो ऐसे त्रिविध (तीन प्रकार के) तक्र को प्रयोग में लावे।

हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु।
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥८६॥

तक्र के द्वारा नष्ट हुए गुदज अर्श पुनः नहीं उत्पन्न होते। (जब) भूमि पर सींचा हुआ तक्र तृणसमूह को जलाता है (तब) प्रदीप्त जाठराग्नि वाले मनुष्य के शुष्क अर्शों का क्या कहना?

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥८७॥

तक्र से शुद्ध स्रोतसों में जो रस भले प्रकार जाता है उससे पुष्टि, बल, वर्ण, तथा आनन्द उत्पन्न हो जाता है।

वातश्लेष्मविकाराणां शतञ्चापि निवर्तते।
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे ॥८८॥

वात (तथा) कफ के सौ भी विकार नष्ट होते हैं। तक्र से बढ़कर कफवातज (रोगों की) कोई औषध नहीं है।

वक्तव्य—(२६६) तक्र की महिमा एक कवि ने यों गाई है:—

न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं हिताय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥

इसी के अनुरूप नास्तितक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे। वाक्य का व्यवहार किया गया है। कफ और वातजन्य विकारों में तक्र एक अमोघ औषध है। अर्श का रोगी विशेष करके जो शुष्कार्श से पीडित हो बिना मट्ठे के एक दिन भी नहीं चल सकता। मट्ठे का उपयोग रोगी को स्वयं न करके दोष अग्नि बल का ठीक से विचार करने वाले कालक्रमज्ञ अथवा बलकालविशेषज्ञ वैद्य की सम्मति से करना चाहिए। किसी रोगी को पूर्णतः घी निकाल कर, किसीको अधचला और किसी को बिना घी निकाले घोल का प्रयोग करना चाहिए।

मट्ठे का विधिवत् प्रयोग अर्श को नष्ट करता है स्रोतों को शुद्ध करता है और रोगी को बल वर्ण शक्ति उत्साह और आनन्द प्रदान करता है। चाहे व्यक्ति की अग्नि कितनी ही दुर्बल क्यों न हो तक्र के सेवन के लिए वह उपयुक्त होता है। शास्त्रकारों ने तक्र में विभिन्न द्रव्यों को मिलाने का जो विधान बतलाया है वैद्य को उनका यथावत् उपयोग करना चाहिए।

शुष्कार्श-अन्नपान विधान

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्।
शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरु॥८६॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत्।
फलाम्लां यमकैर्भ्रष्टां तां दद्याद्गुदजापहाम्॥९०॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, अदरख, जीरा तथा कलौंजी, धनियां, नेपाली धनियां बेलगिरी, काकड़ासिंगी, पाठा (इन सबको) पीसकर पेया पकावे। उस गुदज (अर्श) नाशिनी (पेया) को फलों की खटाई (अमचूर डालकर) यमक (घी तैल) से भून कर देवे

एतैश्चैव खडान् कुर्यादेतैश्च विपचेज्जलम्।
एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये॥९१॥

अर्शों का नाश करने के लिए इन्हीं (औषधों) से खडयूष करे, इन्हीं से जल पकावे तथा इन्हीं से ही घृत सिद्ध करना चाहिए।

वक्तव्य—(२६७) खड या काम्बलिक की निम्न परिभाषाएं लोक में प्रचलित हैं:—

(१) तक्रे कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः।
सुपक्वः खडयूषोऽयमयं काम्बलिकोमतः॥
(२) दध्याम्लोलवणस्नेह तिल माषान्वितः शृतः।
पिशितेन रसस्तत्र, यूषोधान्यैः खडः फलैः॥

शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा।
दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम्॥९२॥

अथवा कचूर और ढाक (बीज कल्क) से सिद्ध अथवा पीपल सोंठ (कल्क से सिद्ध तक्र से खट्टी की गई और मरिच छिड़की गई यवागू देवे।

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा।
दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुण्ठकम्॥९३॥

अथवा सूखी मूली का यूष या कुलथी का यूष, अथवा कुलथी सोंठ सहित कैथ बेल से बनाया यूष (देवे)।

छागलं वा रसं दद्याद्यूषैरेभिर्विमिश्रितम्।
लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम्॥९४॥

अथवा इन (उपरोक्त) यूषों के साथ मिलाकर बकरे का मांसरस अथवा फल खटाई या तक्रसहित ग्राही द्रव्यों से संयुक्त बटेर आदि (का मांसरस) देवे।

रक्तशालिर्महाशालिः कलमो लाङ्गलः सितः।
शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम्।
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च क्रियाक्रमः॥९५॥

लालशालि, बड़े शालि, कलमशालि, लांगल-शालि, सितशालि, तथा शरदऋतु में उत्पन्न साठी ही अर्श रोगियों की आहार विधि है। यह फटे पतले मलयुक्त अर्श रोगियों का चिकित्साक्रम (कहा गया) है।

गाढ शकृत् चिकित्सा

ये ऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ।

जो (अर्शरोगी) अत्यन्त गाढ पुरीष (scybala) नकालते हैं) उनकी औषध (मैं अब आगे) कहूँगा ।

सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्ता प्रसन्नां लवणीकृताम् ।
दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ॥९६॥

सोंठ के साथ मत्स्यण्डिका (मछली के अण्डे समान सफेद खांड) खिलाकर स्नेह से युक्त नमक ड़ी हुई प्रसन्ना देवे ।

गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम् ।
गुडं घृतयवक्षारयुक्तं वाऽपि प्रयोजयेत् ॥९७॥

सोंठसहित गुड पाठा, फलों की खटाई उसको लावे । अथवा गुड को घी जवाखार के साथ मिला र प्रयोग करे ।

यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम् ।
सतक्रलवणं दद्यात् वातवर्चोऽनुलोमनम् ९८॥

वात और मल का अनुलोमन अजवाइन, सोंठ, ठा, अनार का रस (तथा) गुड तक्र तथा नमक के थ देवे ।

दुःस्पर्शकेन विल्वेन यवान्या नागरेण वा ।
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसा रुजम् ॥९९॥

गोखुरू, बेल, अजवाइन अथवा सोंठ (इनमें) एक एक के साथ भी मिलाकर दिया गया पाठा र्शों की पीडा को नष्ट कर देता है ।

प्राग्भक्तं यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् ।
करञ्जपल्लवान्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ॥१००॥

भोजन के पूर्व यमक (घृत तैल) में भूने हुए तू छिड़के हुए वात और पुरीष के अनुलोमक रंज के पत्तों को देवे ।

मदिरां वा सलवणां सीधुं सौवीरकं तथा ।
गुडनागरसंयुक्तं पिवेद्वा पौर्वभक्तिकम् ॥१०१॥

अथवा सैंधानमकसहित मद्य अथवा गुड सोंठ क्त सीधु अथवा सौवीरक भोजन के पूर्व पिये ।

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः ।
फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं साधयेद् घृतम् ॥१०२॥

पीपल, सोंठ, जवाखार, कालाजीरा, धनियां, श्वेतजीरक तथा सब के साथ मिलाकर फलाम्ल (बेर आदि की खटाई) डालकर घी को सिद्ध करे ।

पिप्पल्यादिघृत

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ।
शृङ्गवेरयवक्षारो तैः सिद्धं पाययेद् घृतम् ॥१०३॥
चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम् ।
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम् ॥१०४॥

पीपल, पीपरामूल, चीते की छाल, गजपीपर, अदरख, जवाखार इनसे सिद्ध घृत पिलावे अथवा गुड जवाखार चव्य चित्रक युक्त वा पीपरामूल गुड सहित जवाखार (और) सोंठ को (सिद्ध करके पिलावे) ।

पिप्पलीपिप्पलीमूलंदधिदाडिमधान्यकैः ।
सिद्धं सर्पिविधातव्यं वातवर्चो विवन्धनुत् ॥१०५॥

पीपर, पीपरामूल, दही, अनारदाना, धनियां (इन) से (कल्पशास्त्रविधि से) घी सिद्ध करना चाहिए । (यह घी) वात और मल के विबन्ध को नष्ट करता है ।

चव्यादिघृतम्

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च ।
यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे ॥१०६॥
चित्रकं विल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिविपाचयेत् ।
शकृद्वातानुलोम्यार्थं जातेदध्नि चतुर्गुणे ॥१०७॥
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ।
गुदवंक्षणशूलञ्च घृतमेतद् व्यपोहति ॥१०८॥

चाभ, सोंठ, मिर्च काली, पिप्पली, पाढल, जवाखार, धनियां, तथा अजवायन, पीपरामूल तथा विड तथा सैन्धव दोनों (नमक) चित्रक, वेलगिरी, हरड़ पीसकर (यथा विधान) चारगने जमे हुए दही में मल-वात के अनुलोमन के लिए घी पकाले । यह घृत प्रवाहिका, गुदभ्रंश (काँच निकलना) मूत्रकृच्छ्र, परिस्राव (rectal discharge), गुदशूल और वंक्षण शूल को नष्ट करता है ।

नागरादिघृतम्

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली।
श्वदंष्ट्रापिप्पली धान्यं विल्वं पाठा यमानिका ॥१०९॥
चाङ्गेरी स्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत्।
चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत् ॥११०॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्।
गुदभ्रंशार्त्तिमानाहं घृतमेतद् व्यपोहति ॥१११॥

सोंठ, पीपरामूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखुरू, पीपल, धनियां, वेलगिरी, पाठा, अजवाइन, इनके कल्कों से चाङ्गेरी (चौपतिया) के स्वरस (चारगुने) में चारगुने दही के साथ घृत पाक करे। वह घृत कफवातनाशक है। अर्शो, ग्रहणीदोष, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, गुदशूल, आनाह को यह घृत नष्ट करता है।

पिप्पल्यादिघृतम्

पिप्पली नागरं पाठां श्वदंष्ट्राञ्च पृथक् पृथक्।
भागांस्त्रिपलिकान् कृत्वा कषायमुपकल्पयेत् ॥११२॥
गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं सचित्रकम्।
पिष्ट्वा कषाये विनयेत् पूते द्विपलिकं पृथक् ॥११३॥
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत् प्रयोजयेत्।
चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषो दधिषड्गुणम् ॥११४॥
मृद्वग्निना साधयेत् तत् सिद्धं सर्पिर्निधापयेत्।
तदाहारे प्रयोक्तव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ॥११५॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम्।
शोषप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ॥११६॥
कासहिक्कारुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत्।
बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसन्दीपनं परम् ॥११७॥
(इति पिप्पलादिघृतम्।)

पिप्पली, सोंठ, पाठा, तथा गोखुरू अलग अलग के ३ पलों के भागों को करके (आठ गुने जल में चतुर्थांश शेष रखने के लिए) कषाय बनाले। गण्डीर, पीपरामूल, सोंठ, मिर्च, पीपल, चव्य, चित्रकसहित अलग अलग दो-दो पल पीसकर छने हुए (उस) कषाय में डाले। उसमें घी के चालीसपल प्रयोग करे। बराबर भाग चांगेरी स्वरस, घी से दही छै गुना (डालकर) मन्द अग्नि से घी साध ले। सिद्ध घी को (अच्छे पात्र में) रखले। उसे खाने पी और (अन्य) प्रायोगिक विधि में प्रयोग . चाहिए। (यह घृत) ग्रहणी, अर्श रोग नाशक, . हृद्रोगनाशक, शोष, प्लीहोदर, आनाह, मू ज्वर दूर करने वाला, कास, हिचकी, अरुचि, . नाशक, पार्श्वशूलनाशक, बल तथा पुष्टि . वाला (और) वर्ण वर्द्धक तथा परम अग्नि . (होता है)।

सगुडां पिप्पलीयुक्तामभयां घृतभर्जिताम्।
त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ॥११
विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येन निर्म्मले।
गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्द्धते ॥११

गुडसहित, पिप्पलीयुक्त अथवा निशोथ . युक्त घी में भूनी अनुलोमन करने वाली (carm ative) हरड को भक्षण करे। मल, वात, कफ, को अनुलोमन के द्वारा (की गई) शुद्ध गुद में को शांत करती है तथा अग्नि का वर्द्धन करती

बर्हितित्तिरलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान्।
दक्षाणां वर्त्तकानाञ्च दद्याद् विड्वातसंग्रहे ॥१२
त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च।
यमके भर्जितं दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ॥१२
उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तूकपल्लवान्।
सुवर्च्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ॥१२
काकमाचीं रुहापत्रं महापत्रं तथाऽम्लिकाम्।
जीवन्तीं शटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च ॥१२
दधिदाडिमसिद्धानि यमकैर्भर्जितानि च।
धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ॥१२
गोधालावकमार्ज्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि।
कूर्म्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद्रसान् ॥१२
रक्तशाल्योदनं दद्यात् रसैस्तैर्वातशान्तये।
ज्ञात्वा वातोल्वणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम् ॥१२
मदिरां शार्करं जातं सीधुं तक्रं तुषोदकम्।
अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम् ॥१

कण्टकार्या भृतं वाऽपि भृतं नागरधान्यकैः ।
अनुपानं भिषग् दद्याद् वातवर्च्चोऽनुलोमनम् ॥१२८॥

मोर, तीतर, बटेरों, मुर्गों तथा बतखों के खट्टे सुसंस्कृत मांसरसों को मल और वात के विबन्ध में देवे ।

त्रिशोथ, दन्ती, ढाक बीजों के, चाङ्गेरी तथा चित्रक के, यमक (घी तैल) में भुने शाक को दही मिलाकर देवे ।

उपोदिका (spinach पोई पालकभेद) चौलाई, शतावरी, बथुए के पत्तों को, सूरजमुखी, लौनियां सहित, यवशाक (जौ के खेत का बथुआ), कालीजीरी मकोय, मांसरोहिणीपत्र, मानकन्द, तथा इमली, जीवन्तीशाक, कचूरशाक तथा गृञ्जनक (शलगम, या लाल लहसन) का शाक दही, अनारदाने के रस से सिद्ध घी तैल से भुने हुए, धनियां, सोंठ युक्त इन शाकों को (अलग-अलग पकाकर) देवे ।

गोह, बटेर, बिल्ली, कुत्ता, भेड, ऊंट, गाय भी तथा कछवा, सेह दोनों को शाक जैसा मांसरस सिद्ध करले । इन रसों के साथ लाल शालि चावलों का भात वात शान्ति के लिए देवे ।

अर्शरोगी वातप्रधान, रूक्ष, अग्निमान्ध वाला है (ऐसा) जानकर शक्कर से बनी मद्य, सीधु तक्र, तुषोदक, अरिष्ट, दधिमण्ड, गरम या ठण्डा जल, कटेरी से उबाला या सोंठ से धनिए से उबाले जल को वात तथा मल के अनुलोमक (इस) अनुपान को वैद्य देवे ।

अनुवासन तथा शुष्कार्श

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ।
विलोमवाताः शूलार्त्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ॥१२६॥

जो उदावर्त पीडित, जो अत्यन्त रूक्ष (जो) वायु की प्रतिलोमता वाले तथा (जो) शूल से दुखी (हों) उनके लिए अनुवासन इष्ट है ।

(पिप्पल्यानुवासन)

पिप्पलीमदनंबिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम् ।
कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ॥१३०॥

पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च ।
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ॥१३१॥

गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ।
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वंक्षणाश्रयम् ॥१३२॥

पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्च्चोविनिग्रहम् ।
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ॥१३३॥

पीपल, मदनफल, बेलगिरी, सौंफ, वच, कूठ, कचूर, पोकरमूल, चित्रक, और देवदारू को पीसकर और दो गुने दूध से तैल पका लेना चाहिए । वह अर्श के रोगियों का मूढवातवालों का श्रेष्ठ अनुवासन है । गुदभ्रंश (कांच निकलना) गुदशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि-ऊरु-पीठ की दुर्बलता वंक्षणस्थ आनाह, पिच्छास्राव (mucous discharge from the rectum), गुद में शोफ, वातमल का निग्रह, बारबार मलत्याग के लिए जो उठना है वह (सब इस) अनुवासन से जीतले ।

शुष्कार्श में प्रलेपन

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ।
दार्वन्तैरौषधैर्देह्याः स्तब्धाः शूना गुदेरुहाः ॥१३४॥

(उपरोक्त) अनुवासनयोग से देवदारु तक पीसे हुए, स्नेहमिले गुलगुने औषध द्रव्यों से स्तब्ध सूजे हुए गुदांकुरों को लेप करना चाहिए ।

दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम् ।
कण्डूः स्तम्भः सरुक्शोफः स्रुतानां विनिवर्त्तते ॥१३५॥

उनसे प्रलिप्त अर्श रक्तसहित, कफ पिच्छा को शीघ्र स्रावित करते हैं । इससे स्रुत अर्शों की खुजली स्तम्भ, शूलयुक्तशोफ नष्ट हो जाता है ।

निरूहण

निरुहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम् ।
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ॥१३३॥

अथवा मदनफलादि कल्कों से युक्त दूध, गोमूत्र, स्नेह लवण सहित दशमूल के क्वाथ का निरूहण प्रयोग करना चाहिए ।

अभयारिष्ट

हरीतकीनां प्रस्यार्द्धं प्रस्यमामलकस्य च ।
स्यात् कपित्थाद्दशपलं ततोऽर्द्धा चेन्द्रवारुणी ॥१३७॥

विडङ्गं पिप्पलीं लोध्रं मरिचं सैलवालुकम्।
द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ॥१३८॥
द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पूते शीते समावपेत्।
गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत् तत् पक्षं घृतभाजने ॥१३९॥
पक्षादूर्ध्वं भवेत् पेया ततो मात्रा यथाबलम्।
अस्याभ्यासादरिष्टस्यगुदजा यान्ति संक्षयम् ॥१४०॥
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः।
कुष्ठशोफा रुचिहरो बलवर्णाग्निवर्द्धनः ॥१४१॥
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः।
कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् ॥१४२॥
(इत्यभयारिष्टः।)

हरड़ों का आधाप्रस्थ, तथा आमले का एक प्रस्थ कैथ दशपल और उसकी आधी इन्द्रायण, विडंग, पिप्पली, लोध पठानी, कालीमिर्च, एलवालुक, दो दो पल इनको चार द्रोण (द्रव द्वैगुण्य से आठ द्रोण) जल में पकावे। एक द्रोण शेष रहने पर छाने शीतल हुए उस रस में गुड का २०० पल डालदो। उसे १५ दिन रखे। एक पाख बीतने पर वह मात्रानुसार पीने योग्य हो जाता है। इस अरिष्ट के अभ्यास से अर्श नष्ट हो जाते हैं। ग्रहणी, पाण्डु, हृद्रोग, प्लीहोदर, गुल्म, उदररोगनाशक है। कुष्ठ शोफ अरुचिनाशक बल-वर्ण-अग्निवर्द्धक, कामला-श्वेतकुष्ठनाशक यह अभयारिष्ट कृमिरोग, ग्रन्थि, अर्बुद व्यंग राजयक्ष्मा और ज्वरनाशक होता है। (यह अभयारिष्ट—है।)

दन्त्यरिष्ट

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः।
भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ॥१४३॥
त्रिपलं त्रिफलायाश्च दलानां तत्र दापयेत्।
रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ॥१४४॥
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्द्धं घृतभाजने।
तन्मात्रया पिबन्नित्यमर्शोभ्यो विप्रमुच्यते ॥१४५॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्च्चोऽनुलोमनम्।
दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ॥१४६॥
(इति दन्त्यरिष्टः।)

दन्ती, चित्रकमूल, दोनों पञ्चमूल, एक-एक पल प्रत्येक के भाग को कूटकर १ द्रोण (या २ द्रोण) जल में पकावे। वहां तीन तीन पल त्रिफला के छिलकों का डाल दे। चौथाई शेष उस छने शीतल रस में एक तुला गुड की डाल दे। उसे आधे महीने घी के पात्र में रखे। उसे मात्रानुसार नित्य पीता हुआ अर्शों से मुक्त हो जाता है। इस दन्त्यरिष्ट को ग्रहणी रोग-पाण्डु रोगनाशक वातमल अनुलोमक, दीपन, तथा अरुचिहर जानते हैं।

(यह दन्त्यरिष्ट—है।)

फलारिष्टः

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च।
विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः ॥१४७॥
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम्।
पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत् ॥१४८॥
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत् स्थाप्यं घृतभाजने।
पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान् ॥१४९॥
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम्।
वर्च्चोमूत्रानिलकृतान् विबन्धानग्निमार्दवम् ॥१५०॥
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति।
अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥१५१॥
(इति फलारिष्टः।)

एक प्रस्थ हरड़ फल, और आमले का एक प्रस्थ, इन्द्रवारुणी का, कैथ का, पाठा चित्रकमूल दोनों का दो-दो पल खूब कूटकर दो द्रोण (द्वैगुण्य से ४ द्रोण) जल में साध ले। चौथाई शेप रहने पर छने हुए उस रस में एक तुला गुड़ का डाल दे। फिर वैद्य को घी चुपड़े पात्र में उसे स्थापित करना चाहिए। १५ दिन स्थित (सन्धान पूरा हो चुकने पर) उसे ग्रहणी-अर्श रोग वाला पिये। हृदय, पाण्डुरोग, प्लीहा, कामला, विपमज्वर, मलमूत्रवातकृत विबन्धों, अग्निमान्द्य, कास, गुल्म, उदावर्त (इन सबको) फलारिष्ट नष्ट करता है। यह अग्निसंदीपन (है)। इसे कृष्णात्रेय के द्वारा कहा गया है।

फलारिष्टद्वितीय या शर्करासव

दुरालभायाः प्रस्थन्तु वासायाश्चित्रकस्य च।

अभयामलकानाञ्च पाठाया नागरस्य च ॥१५२॥
दन्त्याश्च द्विपलान् भागान् जलद्रोणे विपाचयेत् ।
पादावशेषे शीते च पूते तस्मिन् सिताशतम् ॥१५३॥
दत्त्वा कुम्भे दृढे स्थाप्यं मासार्द्धं घृतभाविते ।
प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियंगुमधुसर्पिषा ॥१५४॥
तस्य मात्रां पिबेत्काले शार्करस्य यथाबलम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्त्तमरोचकम् ॥१५५॥
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम् ।
हृद्रोगं पाण्डुरोगञ्च सर्व्वमेतेन साधयेत् ॥१५६॥
(इति द्वितीयफलारिष्टः ।)

दुरालभा का तो १ प्रस्थ, वासा के तथा चित्रक के, हरड़, आमलों के, पाठा के तथा सोंठ के और दन्ती के दो दो पल भागों को एक द्रोण (या दो द्रोण) जल में पकावे। चौथाई शेष रहने पर, शीतल होने पर छानकर उसमें सौ पल मिश्री डालकर घी चुपड़े। पिप्पली चव्य प्रियंगु मधु घृत से लेप किए दृढ़ घड़े में आधा मास रखना चाहिए। उस शार्कर की मात्रा बल के अनुसार समय पर पिये। अर्शों, ग्रहणीरोग उदावर्त, अरुचि, मलमूत्रवात डकार के विबन्धों, अग्निमान्द्य, हृद्रोग, तथा पाण्डुरोग सबको इससे सिद्ध करे (जीते)।

कनकारिष्ट

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् ।
कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा ॥१५७॥
पाठां च पिप्पलीमूलं क्रमुकं चव्यचित्रकौ ।
मञ्जिष्ठैल्वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत् ॥१५८॥
कुष्ठं दारुहरिद्राञ्च सुराह्वं सारिवाद्वयम् ।
इन्द्राह्वं भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम् ॥१५९॥
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च ।
द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत् ॥१६०॥
पादावशेषे पूते च शीते तस्मिन् प्रदापयेत् ।
मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्य्यूहसंमितम् ॥१६१॥
शर्करायाश्च भिन्नायाददद्याद् द्विगुणितां तुलाम् ।
कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च ॥१६२॥
त्वगेलाम्लवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् ।
चूर्णयित्वा तु मतिमान् कार्षिकानत्र दापयेत् ॥१६३॥
तत् सर्वं स्थापयेत्पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने ।
प्रलिप्ते सर्पिषा किञ्चिच्छर्करागुरुधूपिते ॥१६४॥
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः ।
पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद्भक्तरोचनः ॥१६५॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् ।
हृद्रोगं पाण्डुतां शोथं गुल्मं वर्च्चोविनिग्रहम् ॥१६६॥
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वानेवापकर्षति ।
वलीपलितखालित्यं दोषजन्तु व्यपोहति ॥१६७॥
(इति कनकारिष्टः ।)

नये आमलों की एक तुला जर्जरित (कुचल) करके तैयार करे। कुडव प्रमाण पिप्पली, विडंग तथा मिर्चकाली; पाठा, पीपलीमूल, सुपारी, चव्य, चित्रक मजीठ, एलुवालुक, को एक एक पल लेवे। कूठ, दारुहल्दी, तथा देवदारु दोनों सारिवा, इन्द्रजौ, नागरमोथा आधा आधा पल प्रमाण तथा नई नागकेसर के चार पल करले। दो द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से चार द्रोण) जल से सिद्ध करके एक द्रोण अवशिष्ट रहने पर उतार ले। फिर छानकर शीतल हुए उसमें निर्यूह (इस काढ़े) जैसा शीतल दो आढक मुनक्काओं का स्वरस डालदे तथा दो तुला पीसी हुई मिश्री के तथा फूलों का ताजा रस (मकरन्द अर्थात् शहद) एक आधा (अर्थात् डेढ़) प्रस्थ डाले। दालचीनी, इलायची मोथा, तेजपत्र, सुगन्धवाला, खस, सुपारी, नागकेसर, को एक एक कर्ष चूर्ण करके बुद्धिमान वैद्य डाल दे।

वह सब स्वच्छ घी से चुपड़े शक्कर अगर से थोड़ा धूपित पात्र में एक पाख स्थापित करदे। कनक नाम से विख्यात मधुररस यह हृद्य भोजन में रुचि लाने वाला पेय है। एक पक्ष बाद इस अरिष्ट के प्रयोग करने से अर्श, ग्रहणीरोग, आनाह, उदर-रोग, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डु, शोथ, गुल्म, मलविबन्ध कास, तथा कफ के उग्र इन सब रोगों को दूर करता

है। दोषजनित, जीवाणु जनित वलीपलित खालित्य (baldness) को हटाता है।

(यह कनकारिष्ट—है।)

वक्तव्य—(२६७) ऊपर जितने भी अरिष्ट या आसव चरक ने दिये हैं उनसे कई महत्व की बातें सामने आती हैं। उनमें एक यह कि चरक इन अरिष्टों का निर्माण १५ दिन में बतलाता है। दूसरी यह कि चरक आसवारिष्ट के के पुरानेपन को कोई महत्त्व न देकर १५ दिन बाद तुरत पिलाने की आज्ञा देता है।

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा।
इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम्॥१६८॥

अर्शनाशक पत्तों के टुकड़ों के क्वाथ से अथवा गरम जल से शौच किया करे। इस प्रकार शुष्क अर्शों की यह सिद्ध (patent) चिकित्सा कही गई है।

वक्तव्य—(२६८) त्र्यूषणादिचूर्ण से लेकर कनकारिष्ट तक जितने योग शुष्क (वातकफजनित) अर्शनाशक योगों का चरक ने वर्णन किया है इनमें चित्रक, पिप्पलीमूल पिप्पली, पाठा, बेल, कालीमिर्च, गुड, यवक्षार, सोंठ, चव्य, हाऊबेर, अजवाइन, बच, हरीतकी और निशोथ का विशेष करके उपयोग किया गया है। ये सब द्रव्य वात और मल के विबन्ध के नाशक हैं। अग्नि को दीप्त करने वाले हैं। आगे श्लोक २४३-४४ में स्वयं आचार्य ने अग्निबल की रक्षा पर विशेष बल दिया है—

तस्मादग्नि बलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः। अर्श, अतीसार और ग्रहणी तीनों रोगों में अग्निबल का ह्रास रोग का मुख्य करके कारण रहता है। चित्रक, पिप्पली और पिप्पलीमूल तथा चव्य और सोंठ ये पांचों अग्नि की साक्षात् मूर्तियां हैं इनके कारण अग्नि का अतीव सन्धुक्षण होता है इसी कारण इनका उपयोग विशेष करके किया गया है। गुड़, जवाखार, पाठा अर्श में विशेष लाभप्रद हैं इसलिए उन्हें लिया जाता है पका बेल, निशोथ, इन्द्रायण आदि मलसारक हैं। हाऊबेर, अजवाइन, बच ये भी अग्निसन्दीपक पदार्थ हैं। हपुषा कटुतिक्तोष्णा शूलगुल्मार्शसां हरा कही गई हैं। एलवालुक रोचनं परम् बतलाया गया है। यवानी कटुतिक्तोष्णा वातार्शः श्लेष्मनाशनी कही गई है। चित्रक वातोदरार्शोग्रहणी क्रिमि कण्डूतिनाशनः है। वचा तीक्ष्णा कटूष्णा; विडंग कटुरूष्णा; चव्यं उष्णा कटुकम्; शुण्ठी कटूष्णा स्निग्धा; पिप्पलीमूल कटूष्णं रोचनं दीपनं; पिप्पली दीपनी कटुतिक्तका स्निग्धोष्णा; गजपिप्पली कटूष्णा रूक्षा तथा पाठा तिक्ता गुरूष्णा मानी गई है। यह सभी अग्निसंरक्षण की ओर किये गये अर्शनाशक प्रयत्नों की ओर ही इङ्गित करते हैं।

स्रावी अर्शों की चिकित्सा

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृण्वतः परम्।

अब आगे स्रावी (पित्तज तथा रक्तज) अर्शों की इस सिद्ध चिकित्सा को (तू) सुन।

वातानुबन्ध

तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च॥१६९॥
विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते।
तनु चारुणवर्णञ्च फेनिलं चासृगर्शसाम्॥१७०॥
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्।
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्॥१७१॥

तत्र (स्रावी अर्शों में) कफ तथा वात का दो प्रकार का अनुबन्ध (होता है)।

(जहां) मल श्याव (dark), रूखा, कडा (हो), अधोवायु घूमता न हो अर्शों से पतला, अरुणवर्ण का फेनयुक्त रक्त (निकलता हो)। कटि-जंघाओं तथा गुद में शूल (हो) और यदि दुर्बलता अत्यधिक हो तथा अगर रूक्ष द्रव्य हेतु हों तो वहां वात का अनुबन्ध (है ऐसा समझ लेना चाहिए)।

कफानुबन्ध

शिथिलं श्वेतपीतं च विट्स्निग्धं गुरुशीतलम्।
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डुपिच्छिलम्॥१७२॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरुस्निग्धं च कारणम्।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः॥१७३॥

यदि मल शिथिल (ढीला), सफेदी लिए पीला, चिकना, ठण्डा और भारी है तथा अर्श से घन (thick), तन्तुयुक्त, पाण्डु, पिच्छिल रक्त (निकलता हो) तथा गुद पिच्छासहित और गीली

(स्तिमित हो) तथा गुरु और स्निग्ध कारण हो वहां रक्तार्श में कफानुबन्ध बुद्धिमानों को जान लेना चाहिए।

दोषानुबन्धदृष्ट्या चिकित्सा

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे।
चिकित्सितमिदं तस्मात् सम्प्रधार्य प्रयोजयेत् ॥१७४॥

इसलिए वात में स्निग्ध शीतल तथा कफानुबन्ध में रूक्ष शीतल यह चिकित्सा समझ कर (रक्तार्श में) प्रयोग करे।

पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत्।
स्रवणञ्चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत् ॥१७५॥

पित्त और कफ की अधिकता मान कर शोधन से उपचार करे तथा रक्तस्रावी की उपेक्षा करे और लंघनों से उपचार करे।

वक्तव्य—(२६६) रक्तार्श में वातकफ तथा पित्तकफ के अनुबन्धों का वर्णन आया है। जिन बवासीरों से खून बहता है वे रक्तार्श कहलाते हैं। खून के साथ यदि रूक्ष कारण हों तथा श्लोक १७०-७१ में वर्णित लक्षण मिलें तो वातानुबन्धजन्य रक्तार्श मान कर स्निग्धशीतोपचार करना चाहिए। गुरुस्निग्ध द्रव्य कारण होने पर कफानुबन्ध मान कर १७२-७३ श्लोकों में वर्णित लक्षण मिलने पर रूक्ष शीतोपचार करना चाहिए। पित्तकफ की अधिकता होने पर स्राव की उपेक्षा करके लंघन वा शोधन द्वारा रक्तार्श की चिकित्सा करना चाहिए। यह साधारण विधान है। रक्तार्श में जो वैद्य आरम्भ में रक्त बन्द करने के प्रयत्न में रक्तरोधक ग्राही ओषधियों का प्रयोग करने लगते हैं वे वात के अनुबन्ध को और बढ़ाने का यत्न करते हैं।

दुष्टरक्तनिग्रह में दोष

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्।
शोणितं दोषमलिनं तद्रोगान् जनयेद्बहून् ॥१७६॥
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निसादमरोचकम्।
कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम् ॥७७॥
कण्डूरुः कोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम्।
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ॥१७८॥
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथान्यान् रक्तजान् गदान्।
तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसङ्ग्रहणं हितम् ॥१७९॥

आरम्भ में जो बुद्धिमान् अर्शों से निकलते हुए अत्यन्त दूषित रक्त को रोकता है (तो वह रुका हुआ रक्त) अनेकों रोगों को (जैसे) रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, अग्निमान्द्य, अरोचक, कामला, शोथ, गुद संश्रित शूल-वंक्षणसंश्रित शूल, कण्डू, अरु (व्रण), कोठ, पिडका, कुष्ठ, पाण्डु नामक रोग वात मूत्र पुरीष का विबन्ध, शिरःशूल, गीले कपड़े से ढका हुआ शरीर भासित होना, शरीर का भारीपन, तथा अन्य रक्त जन्य रोगों को उत्पन्न करता है इस कारण दुष्ट हुए रक्त के निकल जाने पर रक्त का स्तम्भन करना हितकर (होता है)।

हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्।
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ॥१८०॥
अग्निसन्दीपनार्थञ्च रक्तसंग्रहणाय च।
दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥१८१॥

निदान, लक्षण (और) कालवेत्ता बल-रक्त तथा वर्ण वेत्ता (वैद्य) जब तक रोगी गम्भीरावस्था को न प्राप्त हो जाय तब तक दूषित रक्त के स्राव की उपेक्षा करे। अर्थात् रक्तार्श में रक्त के निकलते रहने पर तब तक कोई हानि नहीं जब तक अत्यधिक रक्त स्राव का परिणाम न होने लगे। थोड़ा थोड़ा रक्त बहता हो वैद्य को रोग का हेतु, उसका लक्षण, कितने समय से रक्त बह रहा है रोगी का बल कैसा है, रंग कैसा होता जा रहा है और रक्त का स्वरूप क्या है इसका ज्ञान करके दुष्टरक्त के निकलते रहने की उपेक्षा करनी चाहिए पर जब परिस्थिति के बिगड़ने की आशंका हो तो रक्तस्राव की ओर ध्यान दे। दुष्टरक्त की स्रुति के पश्चात् अग्निसन्दीपन, रक्तसंग्रहण, दोषों के पाचन के लिये तिक्त द्रव्यों से उपचार करे।

यत्तुप्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्वणस्य च।
वर्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥१८२॥

जो क्षीण हुए दोष वाले वातप्रधान रोगी का रक्त निकलता है वह पान-अभ्यङ्ग-अनुवासनों के

द्वारा स्नेह से साध्य (होता है)। अर्थात् वातानुबन्ध रक्तार्श में दुष्ट रक्त स्रुति के उपरान्त स्नेह पिलाना मलना तथा बस्ति द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद् वातकफानुगम् ॥१८३॥

(और) जो ग्रीष्म काल में पित्तप्रधान रक्त निकलता है वह अकेला ही स्तम्भनीय होता है) यदि (उसमें) वातकफ का अनुबन्ध न हो तो।

रक्तार्शशामक योग

कुटजत्वङ् निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसंग्रहणः।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत् सनागरश्चन्दनरसश्च ॥१८४॥

कुटज की छाल का क्वाथ सोंठ के साथ स्निग्ध रक्तसंग्राहक (होता है) उसी प्रकार (सोंठ सहित) अनार की त्वचा का क्वाथ तथा सोंठसहित चन्दन का क्वाथ (रक्तस्तम्भक होता है)।

चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च ॥१८५॥

चन्दन, चिरायता, दुरालभा क्वाथ किए गए सोंठ के साथ तथा दारुहल्दी की छाल, खस, और नीम (सोंठ के साथ) रक्तार्श प्रशामक हैं।

सातिविषाकुटजत्वक्फलञ्चसरसाञ्जनं मधुयुतानि।
रक्तापहानि दद्यात् पिपासवे तण्डुलजलेन ॥१८६॥

रक्तस्राव नाशक अतीस सहित कुटजत्वक् और रसौत सहित इन्द्र जौ मधु में मिलाकर प्यासे को तण्डुलोदक के साथ देवे।

कुटजादिरसक्रिया

कुटजत्वचोविपाच्यं पलशतमार्द्रमहेन्द्रसलिलेन।
यावत्स्याद्गतरसं तद्द्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः ॥१८७॥
मोचरसः ससमङ्गः फलिनी च पलांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णीकृतमत्र दातव्यम् ॥१८८॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स रसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम् ॥१८९॥
छगलीपयसा पीता पेयमण्डेन वा यथाग्निबलम्।
जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत ॥१९०॥
रक्तार्शांस्यतिसारं रक्तं सासृग्रुजो निहन्त्याशु।
बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा जयत्युभयभागम् ॥१९१॥

(इति कुटजादिरसक्रिया।)

ताजी कुटज की छाल सौ पल जब तक उसका सब रस निकले तब तक वर्षाजल से पकाना चाहिए। फिर उस द्रव्य को छान उसका रस ग्रहण करना चाहिए। इसमें मजीठ सहित मोचरस, प्रियंगु तीन-तीन पल उनके तुल्य इन्द्र जौ चूर्ण करके इसमें डालना चाहिए। प्रथम छानकर फिर क्वाथ किए उस रस को कर्छुली पर लिप्त होवे ऐसा ग्रहण करना चाहिए। मात्रा और काल के अनुरूप बकरी के दूध से अथवा पेया मण्ड से अग्नि बल के अनुसार पीई गई यह रसक्रिया रक्तस्राव को जीतती है। औषध जीर्ण होने पर बकरी के दूध से शालि भात खावे। यह रसक्रिया रक्तार्श रक्तातीसार तथा रक्तजनित रोगों को शीघ्र नष्ट करती है तथा उभयमार्गगामी प्रबल रक्तपित्त को (भी) जीत लेती है।

(यह कुटजादिरस क्रिया—है।)

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम्।
पीत्वा छगलीपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम् ॥१९२॥

नीलोफर, मजीठ, मोचरस, चन्दन, तिल, लोध्र बकरी के दूध से पीकर दूध से ही शालिभात खावे।
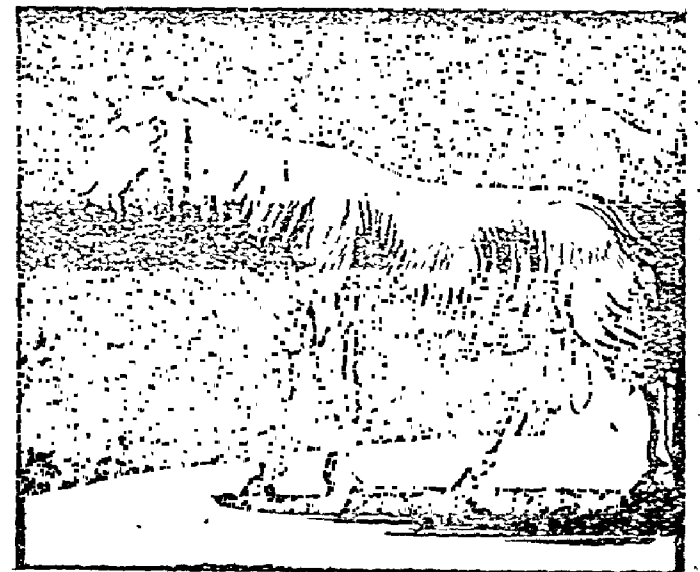
छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसञ्च।
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा ॥१९३॥

बथुआ के स्वरस के साथ प्रयुक्त किया हुआ बकरी का दूध तथा जाङ्गल पशुपक्षियों का मांसरस खटाई सहित या थोड़े खट्टे प्रवृत्त रक्त को रोक देता है।

पाठादिचूर्ण

पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च।
बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि शूलेषु ॥१९४॥

पाठा, इन्द्रजौ रसौत सोंठ तथा अजवाइन और बेलगिरी इनका चूर्ण करके अर्शरोगियों को शूल होने पर (जल मिलाकर) पीना चाहिए।

दार्वीकिराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्।
रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम् ॥१९५॥

दारुहल्दी, चिरायता, मोथा और गोखुरू (का चूर्ण) रक्तस्रावनाशक है। अत्यन्त रक्तस्राव और शूल में घी देना चाहिए।

कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा ॥१९६॥

इन्द्रजौ, कुटज की छाल, नागकेशर नीलोफर, लोध धाय के फूलों के कल्क से सिद्ध घृत रक्तार्श के शूल में वैद्य के द्वारा प्रयोग करने चाहिए।

सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं शृतं जयत्याशु।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिका सिद्धम् ॥१९७॥

अनार के रस तथा जवाखार के साथ उबाला गया घी अथवा छोटी कटेरी और दुद्धी से सिद्ध घृत शीघ्र शूलयुक्त रक्त को जीत लेता है।

लाजा पेया पीता सचुक्रिकाकेशरोत्पलैः सिद्धा।
हन्त्याश्वस्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ॥१९८॥

चुक्रिका (चौपतिया) के साथ नागकेशर तथा नीलोफर बला और पृश्निपर्णी से सिद्ध पीई गई खीलों की पेया रक्तस्राव को शीघ्र नष्ट कर देती है।

ह्रीवेर बिल्वनागरनिर्यूहसाधितां सनवनीताम्।
वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम् ॥१९९॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां दद्याद्यमकेन भर्जितां पेयाम्।
रक्तातीसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥२००॥

सुगन्धवाला बेल, सोंठ, के क्वाथ से साधित मक्खन सहित, तिन्तिडीक अनार से खट्टी की गई, इमली तथा बेर से खट्टी की गई शलगम की सुरा से सिद्ध घी तैल से भूनी पेया रक्तातीसार, शूल, प्रवाहिका तथा शोथ को रोकने वाली देवे।

काश्मर्यामलकानां सकर्बुदारान् फलाम्लांश्च।
गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च ॥२०१॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खण्डांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्।
दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥२०२॥

कर्बुदार (श्वेत कचनार) सहित गम्भारी और आमलों, शलगम, सेमर के मूसलों, दुद्धी तथा चुक्रिका के तथा बट की जटाओं के तथा कोविदार के फूलों के टुकड़ों को दही की मलाई से सिद्ध कर अम्ल-फलों से खट्टे करके अति प्रवाहित रक्त में देवे।

वक्तव्य—(२७०) गंगाधर की दृष्टि में ऊपर छै खड हैं। उसने खण्डांस्तथा के स्थान पर खडांस्तथा ऐसा पाठ दिया है। उसके अनुसार १-गम्भारी, आमले, कर्बुदार २-शलगम सेमर, ३-दुद्धी ४-चुक्रिका, ५-बटजटा तथा ६-कोविदारपुष्प दही की मलाई तथा फलाम्लों के साथ पकायी मूंग की दाल ये छै खड हैं।

पलाण्डुप्रयोग

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम्।
रुधिरस्रवे प्रदद्यान्मसूरसूपं च तक्राम्लम् ॥२०३॥

तक्र से सिद्ध प्याज का शाक बेर की खटाई से सिद्ध पोईशाक तथा मसूर की दाल तथा खट्टा मट्ठा रक्तस्राव में देवे।

पयसा शृतेन यूषैर्मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्।
भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ॥२०४॥

गरम किए हुए दूध से, मसूर, मूंग, अरहर, मोंठ इनकी खट्टी बनाई गई दालों से शालि, सवाँ कोदों का (भात) खावे।

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयकैः सुसिद्धैश्च।
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा ॥२०५॥

अथवा खरगोश, हिरन, बटेर, कपिंजल ऐण के खट्टे, थोड़े मीठे, कालीमिर्चयुक्त सुसिद्ध मांसों के द्वारा बने (शालिभात के) भोजन करे।

दक्षशिखितित्तिररसैर्द्विककुदनोपाकजैश्च मधुराम्लैः ।
अद्याद् रसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्वणशरीरः ॥२०६॥

वातप्रधान शरीर वाला, अतिशय बहने वाले (रक्तस्रावी) अर्शों में मधुराम्ल मुर्गा, मोर, तीतर के मांसरसों से और ऊँट, एवं लोमड़ी के मांसरसों से (बने शालिभात के भोजन) करे ।

रसखडयूषयवागूसंयोगतः कवलोऽथवा जयति ।
रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरूपयुक्तः ॥२०७॥

अकेली अथवा रस, खड, यूष या यवागू के संयोग से तैयार की गई प्याज वातानुबन्धयुक्त अतिप्रवृत्तरक्त को जीत लेती है ।

छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु ।
व्यत्यासान्मधुराम्लं विट्शोणितसंक्षये देयम् ॥२०८॥

मलक्षय (constipation) तथा रक्तक्षय (anaemia due to haemorrhage). में तरुण बकरे के मध्य शरीर का मांस (इसके) रक्त के साथ बहुत सी प्याज पकाकर पर्याय क्रम से मधुर-अम्ल (एक दिन मधुर एक दिन अम्ल) बनाकर देना चाहिए ।

नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात् ।
दधिसरमथिताभ्यासाद् गुदजाः शाम्यन्ति रक्तवहाः ॥२०९॥

लौनी और तिल के अभ्यास से, नागकेशर लौनी शक्कर के प्रयोग से, (अथवा) दही की मलाई और घोल के उपयोग से रक्तवाही अर्श शान्त होते हैं ।

नवीनतघृतं छागं मांसं च सषष्टिकः शालिः ।
तरुणश्च सुरा मण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यसम् ॥२१०॥

ताजा घी, बकरे का मांस,साठी शाली के चावल, ताजा सुरामण्ड तथा ताजी शराब रक्त को बन्द करती है ।

अतिरिक्त प्रवृत्ति में बाह्योपचार

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते ।
दुष्टेऽपि च कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः ॥२११॥

कफपित्त के दूषित होने पर भी रक्त का अतिस्राव होने पर अर्श बहुधा वातप्रधान होजाते हैं। इस कारण से (रक्तार्श में) वायु को अधिक (प्रधान) जानना चाहिए ।

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पञ्च ।
शीतक्रिया प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्या ॥२१२॥

रक्तपित्त को बलवान् तथा कफवात के लक्षण को अल्प देखकर यथाईरिता (पहले कही वैसी) और अन्य भी शीतोपचार करना चाहिए ।

मधुक सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम् ।
परिषेचने विदध्याद्वृषककुभयवासनिम्बांश्च ॥२१३॥

पञ्चवल्क (बरगद-पीपल-गूलर-पारसपीपल, पिलखुन पांचों की छाल) सहित, मुलहठी, बेर की छाल, गूलर, धव, पटोलपत्र, वासा, अर्जुन, जमासा और नीम को परिषेक में उपयोग करे ।

रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेच्चापि ।
मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिष्क्वाथे ॥२१४॥

अति प्रवृत्त रक्त में उत्पन्न दाह और क्लेद में मुलहठी, कमलनाल, पद्माख, चन्दन, कुश, कांस के कषाय में भी अवगाहन करावे ।
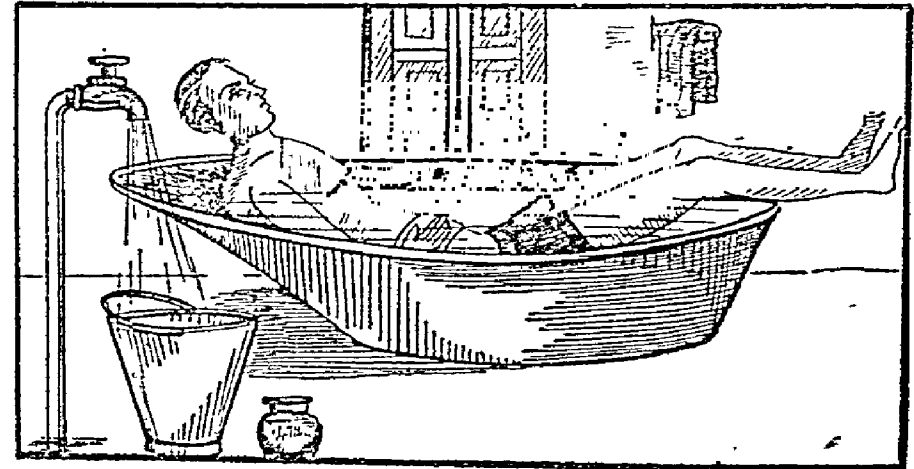
इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् ।
अवगाहयेत् प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ॥२१५॥

पहले शीतल तैल से अभ्यंग कराके ईख के रस, मुलहठी, वेतस के क्वाथ में अथवा शीतल जल में अवगाहन करावे ।

दत्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे गुदे त्रिकदेशे च ।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धाराः प्रस्तम्भनी योज्या ॥२१६॥

मिश्री सहित घी उपस्थेन्द्रिय, गुद तथा त्रिक प्रदेश पर लगाकर शिशिर (बर्फ से शीतल) जल की स्पर्श में सुखकर रक्त को स्तम्भन करने वाली धारा प्रयोग करनी चाहिए।

वक्तव्य—(२७१) प्रबल रक्तस्राव होने पर आचार्य ने जो परिषेक, अवगाह और शिशिरधारा का प्रयोग बतलाया है वह रक्तस्तम्भन के लिए उनके हृदय में स्थित चिन्ता को स्पष्ट करता है। आचार्य ने सब आवश्यक उपायों के द्वारा रक्त को बन्द करने की व्यवहार्य और सरलता से की जा सकने वाली युक्तियां बताई हैं।

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ॥२१७॥

नये केले के पत्तों से, शीतल जल से सींचे गये नील कमल के पत्तों से तथा पद्म और उत्पल के पत्तों से बार बार आच्छादित करना इष्ट (हितकर है)।

दूर्वाघृतप्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः।
व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ॥२१८॥

दूब (से सिद्ध) घी का प्रदेह, शतधौत-सहस्रधौत घी (का प्रदेह) भी सुशीतल बीजने (पंखे) की हवा शीघ्र रक्तस्राव जीत लेती है।

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम्।
सर्जरसघृताभ्यां निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्याञ्च ॥२१९॥
दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम्।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः ॥२२०॥

घी मजीठ मुलहठी से, रसौत घृत से, राल से, नीम घी से और शहद-घी से, दारुहल्दी की छाल तथा घी से चन्दन सहित कमल-घृत से गुदज दाह क्लेद तथा गुदभ्रंश होने पर (वे) प्रतिसारणीय (लेपनीय) होते हैं।

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य न तिष्ठति रक्तम्।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ॥२२१॥

इनसे अथवा अन्य शीतल क्रियाओं से जिसका रक्त बन्द न हो उसको बुद्धिमान वैद्य स्निग्ध एवं उष्ण मांसरसों से तर्पण करे।

अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाभ्यङ्गैः।
क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैः समुपाचरेच्चाशु ॥२२२॥

अवपीडक (वटादिवल्कलकल्क-क्वाथ-सिद्ध) घृतों से गुनगुने घृत तथा तैल के अभ्यंगों से सुखोष्ण दूध घी तथा तेल के परिषेकों से भले प्रकार शीघ्र (उसको) ठीक करे।

पिच्छाबस्ति

कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम्।
पिच्छाबस्तिं दद्यात् कालेतस्याथवा सिद्धम् ॥१२३॥

वातप्रधान होने पर गुनगुने घी के मण्ड से शीघ्र अनुवासन करे। अथवा योग्य समय आने पर उसकी पिच्छाबस्ति देवे।

(पिच्छाबस्ति)

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पञ्च शाल्मलम्।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥२२४॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत् क्षीरप्रस्थं विपाचयेत्।
क्षीरशेषं कषायन्तु ततः कल्कैर्विमिश्रयेत् ॥२२५॥
कल्काः शाल्मलिनिर्यासाः समङ्गा चन्दनोत्पलात्।
वत्सकस्य च बीजानि प्रियंगुः पद्मकेशरम् ॥२२६॥
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सक्षौद्रघृतशर्करः।
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ॥२२७॥

जमासा, कुश, कांस की जड़, सेमर के फूल, बरगद-गूलर-पीपल की जटाएँ, दो दो पल बराबर, इनसे तीन प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से छै प्रस्थ) जल का (लेकर) एक प्रस्थ दूध को पकावे। दूध शेष रहने पर क्वाथ को छानकर कल्कों से मिलादे। सेमर का गोंद, मजीठ, चन्दन, कमल, इन्द्रजौ, प्रियंगु और कमलकेसर ये कल्क (के पदार्थ) हैं। घृत-मधु-मिश्री के सहित सिद्ध यह पिच्छाबस्ति प्रवाहिका (dysentery) गुदभ्रंश, रक्तस्राव (तथा) ज्वरनाशक है।

वक्तव्य—(२७२) आयुर्वेद में पिच्छाबस्ति का विशिष्ट वर्णन है ऊपर एक पिच्छाबस्ति लिखदी गई है। जिसमें पहले कुछ यवासादि पदार्थों से क्षीरपाक किया जाता है फिर दूधमात्र छानकर सेमरगोंद आदि द्रव्यों का कपड़-

छन कल्क इतना मिलाते हैं कि न गाढ़ा न पतला द्रव तैयार होजावे। इसमें घी मधु शक्कर डालकर बस्ति मार्ग से धीरे धीरे चढ़ा देते हैं।

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिच्छा वस्तौ यथेरितान्।
पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥२२८॥
(इति पिच्छावस्तिः।)

पिच्छाबस्ति में पूर्वोक्त द्रव्य तथा पुण्डरीक, मुलहठी, को पीसकर दुगुने दूध (दुगुने जल) को (डालकर इस) अनुवासन स्नेह को पकावे।

ह्रीवेरादिघृत

ह्रीबेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गा चव्यचन्दनम्।
पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च ॥२२९॥
दार्व्वीत्वक्नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः।
चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम् ॥२३०॥
ऐकध्यं साधयेत् सर्वं तत् सर्पिः परमौषधम्।
अर्शोऽतिसारग्रहणी पाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ ॥२३१॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्याध्माने प्रवाहणे।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत् त्रिदोषनुत् ॥२३२॥

सुगन्धवाला, नीलोफर, लोध, मजीठ, चव्य, चन्दन, अतीस सहित पाठा, बेल, धाय के फूल, देवदारु तथा दारुहल्दी की छाल, सोंठ, जटामांसी मोथा, यवम्र (यवशूक) से उत्पन्न क्षार (जवाखार) तथा चित्रक पिसे हुए (इन) सबका चांगेरी (चौपतिया के) स्वरस में एकत्र करके घृत सिद्ध करे।

अर्श, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डुरोग, ज्वर में अरुचि में, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्ति के आध्मान में, प्रवाहण, पिच्छास्राव, तथा अर्शों के शूल में इस त्रिदोषनाशक (घृत)को प्रयोग करना चाहिए।

(यह ह्रीवेरादिघृत है।)

सुनिषण्णकचांगेरीघृत

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ शुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥२३३॥
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी।
पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं देवदारु च ॥२३४॥
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा चन्दनमञ्जनम्।
कट्फलं चित्रको मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषे स्थिरा ॥२३५॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका।
बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमाः पृथक् ॥२३६॥
चतुःप्रस्थशृतप्रस्थं कषायमवतारयेत्।
त्रिंशत्पलानि तु प्रस्थो विज्ञेयो द्विपलाधिकः ॥२३७॥
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च।
सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२३८॥
एतदर्शस्यतीसारे त्रिदोषे रुधिरस्रुतौ।
प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ॥२३९॥
उत्थाने चातिबहुशः शोफशूले गुदाश्रये।
मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ॥२४०॥
प्रयोज्यं विधिवत् सर्पिर्बलवर्णाऽग्निवर्द्धनम्।
विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ॥२४१॥
(इति सुनिषण्णकचांगेरीघृतम्।)

अधोपुष्पी, बला (खरैटी) दारुहल्दी, पृश्निपर्णी गोखुरू तथा बरगद-गूलर-पीपल की जटायें दो-दो पल इनका क्वाथ(करे)। जीवन्ती कुटकी पिप्पली पीपरामूल कालीमिरच देवदारु तथा इन्द्रजौ, सेमर का फल, क्षीरकाकोली, चन्दन, अंजन, कायफल, चित्रक, मोथा, प्रियंगु, अतीस, शालपर्णी, पद्म उत्पल का केसर मजीठ कटेरी बेलगिरी मोचरस पाठा अलग अलग एक एक कर्ष बराबर पीसकर (कल्क करे) चार प्रस्थ (या आठ प्रस्थ) जल डाल उबालकर एक प्रस्थ क्वाथ पकावे। यहां दो पल अधिक तीस पलों (३२ पलों) को प्रस्थ जानना चाहिए। तथा सुनिषण्णक तथा चांगेरी के दो दो प्रस्थ स्वरस का इन सबसे यथा विधि एक प्रस्थ घी पकावे।

यह अर्श अतीसार त्रिदोषज रक्तस्राव प्रवाहण गुदभ्रंश विविध पिच्छाओं तथा बारबार मलत्याग के लिए उठना, गुदा में शोथ तथा शूल होने पर मूत्र-ग्रह, मूढवात, मन्दाग्नि, अरुचि में बलवर्णअग्निवर्द्धक घी को विधिपूर्वक विविध अन्नपानों में अथवा अकेले ही इस निरत्यय (हानिरहित) घी का प्रयोग करे।

(यह सुनिषण्णक चांगेरीघृत—है।)

भवन्ति चात्र

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च भोजयेत् ।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शः कृतान् गदान् ॥२४२॥

और यहां (श्लोक हैं कि)—

नित्य अग्नि बल का विचार करने वाला (वैद्य) व्यत्यास से (पर्याय से alternately) मधुर-अम्ल तथा शीत-उष्ण द्रव्यों को प्रयोग में लावे (तो वह) अर्श द्वारा उत्पन्न रोगों को जीत लेता है।

त्रयोविकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः ।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥२४३॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ।
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ॥२४४॥

अर्श, अतीसार और ग्रहणी दोष तीन विकार जो प्रायः एक दूसरे के कारण (होजाते हैं) उनका अग्नि बल हीन होने पर वृद्धि (होती है तथा अग्नि बल के) परिवृद्ध होने पर (उनका) परिक्षय (हो जाता है) इस कारण से इन तीनों (को चिकित्सा करते समय) विशेष रूप से अग्नि बल की रक्षा करनी चाहिए।

वक्तव्य—(२७३) अतीसार ग्रहणी इन दोनों का वर्णन होना शेष है पर वहां अर्श की ही भांति अग्नि की महिमा बतलाई गई है।

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः ।
तं चापि ग्रहणी दोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥
चरक० अ० १५ श्लो० ७०

गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसांचातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृथक्प्रयत्ने ।
चरक अ० १६ सूत्र ३

अतः यदि तीनों रोगों में से किसी की भी चिकित्सा वैद्य को करनी है तो उसे रोगी की अग्नि की रक्षा करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ।
क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत् ॥२४५॥

भूने (छौंके) हुए शाकों से, यवागुओं द्वारा, मांसरसों से, खडों तथा दूध और तक्र के प्रयोगों से अनेक प्रकार के अर्शों को जीते।

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये ।
अन्नपानौषधद्रव्यं तत् सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥२४६॥

जो वायु के अनुलोमन के लिये (है) जो अग्नि बल बढाने के लिये (है) वह आहार-पान तथा औषध द्रव्य को नित्य अर्श रोगियों के द्वारा सेवन किया जाना चाहिए।

अतः जो इससे विपरीत है और जो अर्श के निदान में प्रदर्शित किया गया है वह गुदज (अर्श) से पीडित को कदापि न सेवन करना चाहिए।

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यच्चदर्शितम् ।
गुदजाभिपरीतेन तत् सेव्यं न कदाचन ॥२४७॥

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकाः—

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च ।
स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः ॥२४८॥
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः ।
शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥२४९॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः ।
योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च ॥२५०॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः ।
शुष्काणामर्शसां शस्ताः स्राविणां लक्षणानि च ॥२५१॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम् ।
रक्तसंग्रहणाः क्वाथाः पेयाश्च विविधात्मकाः ॥२५२॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः ।
प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥२५३॥
अतिवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम् ।
तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते ॥२५४॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि):—

द्विविध अर्शोत्पत्ति, अलग अलग हेतु, तथा स्थान-संस्थान-लक्षण, साध्यासाध्य का निश्चय, अभ्यंग, स्वेदन, धूम, अवगाहसहित प्रलेपन, रक्तावसेचन, दीपनपाचन योग, श्रेष्ठ अन्नपान

विधि तथा वात तथा पुरीष के अनुलोमक संशामक योग तथा विविध घृत, बस्तियाँ, तक्रयोग शर्करा (शर्करारिष्ट) सहित श्रेष्ठ अरिष्ट (आदि) शुष्क अर्शों में प्रशस्त तथा स्रावी अर्शों के लक्षण द्विविध अनुबन्धयुक्त उनकी जो औषध, रक्तस्तम्भक कषाय, विविध पेया, श्रेष्ठ स्नेह, आहारविधि, प्रतिसारण तथा प्रक्षालन, अवगाह प्रदेह तथा परिषेचन योग; अतिप्रवृत्तिरक्त की जो औषध करनी चाहिए वह सब इस अर्शचिकित्सित अध्याय में कह दिया (है)।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा बनाये चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किए शास्त्र में चिकित्सास्थान में अर्श चिकित्सित नामक चौदहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

पंचदशोऽध्याय

ग्रहणी चिकित्सा

अथातो ग्रहणी दोष चिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) ग्रहणी दोष चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

अग्नि का महत्त्व

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥२॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगीस्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥३॥

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, पुष्टि, प्रभा, ओज, तेज, (बारह) अग्नियां तथा (पञ्च) प्राण देहाग्नि के हेतु कहे गये हैं। देहाग्नि शान्त होने पर (व्यक्ति) मर जाता है (देहाग्नि के) युक्त (समावस्था में) होने पर (व्यक्ति) चिरकाल तक नीरोग जीता है। (देहाग्नि के) विकृत होने पर (व्यक्ति) रोगी होता है। इस कारण से देहाग्नि मूल (basis of existence) कहा जाता है।

वक्तव्य - (२७४) अर्श के वर्णन के उपरान्त ग्रहणी दोष की चिकित्सा आरम्भ की गई है। ग्रहणी दोष से अभिप्राय ग्रहणी में आश्रित अग्नि से है अतः ग्रहणी में दोष अर्थात् ग्रहणीस्थ अग्नि में दोष मानना चाहिए। ग्रहणी दोष की विकृति के वर्णन के पूर्व अविकृत ग्रहणीस्थ अग्नि का महत्त्व ऊपर बतलाया गया है कि क्यों अग्नि को

शरीर का मूल कहा जाता है। युक्त या समाग्नि के कारण आयुवर्णादि सब प्राप्य हैं। अयुक्त अग्नि के कारण सब रोग प्राप्त होते हैं तथा अग्नि का सर्वथा अभाव मारक होता है। अस्तु आयुर्वेद के विद्यार्थी को अग्नि की महत्ता को अवश्य अङ्गीकार कर लेना होगा।

यदन्नदेहधात्वोजो बलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः ॥४॥

जो अन्न देह-धातु-ओज-बल वर्ण आदि का पोषक (कहा जाता है) वहां (उन सबका) अग्नि ही हेतु (है) क्योंकि (अग्नि की सहायता बिना लिए) अपक्व (undigested) आहार से रसादि (धातुओं का निर्माण) नहीं (हुआ करता) अर्थात् अन्न की प्रशंसा मानव शरीर में मिलती है वह अन्न की न होकर देहाग्नि की होनी चाहिए क्योंकि देहाग्नि के अभाव में बल, वर्ण, धातु, ओज आदि का पोषण असम्भव है।

अन्न का परिपाक

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥५॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्य्यः पवनोद्वहः।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥६॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥७॥
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूत उदीर्यते ॥८॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥९॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः ॥१०॥

आदानकर्मा प्राण अन्न को कोष्ठ की ओर को खींच ले जाता है। (आमाशयस्थ) द्रव्यों से (अन्न) संघात भिन्न (होकर तथा जठरस्थ) स्नेहांश के कारण मृदुता को प्राप्त होकर पवनोद्वह (वायु से जिसका उद्वहन होता है या प्रज्वलित की जाती है वह) उदर्य अग्नि (जठरस्थ पाचक अग्नि) समान (नामक जठर में स्थित वायु से) अवधूत हो (सुलग) कर (ठीक) काल पर समयोग में सेवित आहार को आयु की वृद्धि के लिये (अर्थात् जीवन रक्षा के लिये) पचाती है।

जिस प्रकार पतीली में रखे जल और चावल भात (बनाने के लिये) अग्नि पकाती है वैसे ही आमाशय में स्थित अन्न को रस (और) मल (बनाने) के लिए अधःस्थित जाठराग्नि (सेवन किए) अन्न को पकाती है।

भोजन किए षड्रसात्मक अन्न के परिपाक से मधुरादि के खाने से फेनभूत कफ उत्पन्न होता है।

तत्पश्चात् पच्यमान विदग्ध (पक्वापक्व या अधपके) हुए, आशय से च्यवमान (वायु के द्वारा अधोभाग को लेजाते) हुए (उस अन्न को) अम्लभाव को प्राप्त होने से अच्छ (निर्मल शुद्ध पतला) पित्त उत्पन्न हो जाता है।

(तदनन्तर) पक्वाशय को पहुँचे हुए, अग्नि द्वारा शोष्यमाण (सुखाए जाते हुए) परिपिण्डित पक्व (पूर्ण परिपाक होने के उपरान्त पिण्डरूप बना आहार) कटुभाव से वायु (रूप) होजाता है।

वक्तव्य—(२७५) उपरोक्त वर्णन में आचार्य ने किस प्रकार षड्रसात्मक अन्न से पचनसंस्थान में कफ, पित्त और वात की उत्पत्ति होती है इसे स्पष्ट किया है। इस वर्णन से हमें निम्न बातों का ज्ञान होता है।

१—मुख से लेकर गुद तक व्याप्त आहार को ग्रहण कर उसका विनियोग करने वाले संस्थान का आचार्य को पूर्ण ज्ञान था।

२—पचनसंस्थान के द्वारा मधुरभाव, अम्लभाव और कटुभाव कहां कहां होता है इसे वे जानते थे।

३—पचनसंस्थान में अन्न पर एक के बाद दूसरे द्रव्य की क्रिया होती है और उसका निश्चित परिणाम होता है यह भी उन्हें ज्ञात था।

४—पचनसंस्थान में अन्न की एक निश्चित गति होती है जो कभी उसे भिन्नसंघात और मृदु करती है कभी फेनभूत करती है तथा कभी सुखाकर पिण्डीभूत कर

देती है इसे वे समझते थे।

५—शरीर संरक्षक वात, पित्त और कफ के बनने के निश्चित स्थान हैं इसे भी वे जाने हुए थे।

उनके सम्पूर्ण वर्णन से एक बात और स्पष्ट होती है कि आधुनिक फिजियालौजिस्टों के द्वारा जो स्थापित तथ्य हैं उन्हें भी वे मानते थे पर उनमें थोड़ा अन्तर यह था कि वे जिस स्थान से जो रस निकालकर अन्न में मिलता है उस स्थान पर ही उसकी क्रिया को स्वीकार न कर उसके परिणाम को आगे चलकर मानते थे। इसे स्पष्ट यों किया जा सकता है कि आमाशय में आमाशयिक रस (गैस्ट्रिक जूस) तथा हाइड्रोक्लोरिक (एसिड तैयार होकर मिलती है इस कारण आधुनिक इसकी प्रतिक्रिया आम्लिक मानते हैं लिटमस प्रयोग से यह सत्य भी हो पर आयुर्वेदज्ञों ने इसका परिणाम जो पित्तोत्पत्ति है उससे आमाशय के आगे ग्रहणी और लघु-अन्त्र में स्वीकार किया है।

इसे थोड़ा और यों स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुख की लालाग्रन्थियों से जो रस निकलता है वह अन्न के साथ आमाशय तक जाता है। यह रस और मार्ग की श्लेष्मल कलास्थ ग्रन्थियों का रस आमाशय तक अपना प्रभाव रखते हैं और इनके कारण अन्न का प्रथम पाक मधुर बनता है जो फेनभूत प्रसाद भाग कफ की उत्पत्ति करता है। जब तक कफ की उत्पत्ति होनी है तब तक मधुरभाव में ही सम्पूर्ण भुक्त अन्न रहता है। कफ के निर्माण का कार्य स्वयं अग्नि करती है और उस अग्नि को प्रज्वलित करने वाला होता है वह वायुतन्त्र जो समान नाम से पुकारा जाता है। समान से सन्धुक्षित जाठराग्नि लालादिरस के द्वारा प्रसारित मधुर भाग से शरीर के एक पोषक धातु कफ की उत्पत्ति करती है।

कफ बन जाने पर बचे हुए शेष भाग में अम्लरस युक्त आमाशयिक तरलों का सम्मिश्रण होता है यह मिश्रण ग्रहणी प्रदेश तक चला जाता है। यद्यपि ग्रहणी में पित्ताशय से प्राप्त पित्त (बाइल) मिलने लगता है पर यहां पर सारा प्रभाव और अधिकार आमाशय के अम्लरसों का रहता है जिसके कारण पच्यमानावस्था को प्राप्त हुआ अन्न का सम्पूर्ण अवशिष्ट अंश विदग्ध हो जाता है। अम्ल के इस राज्य में धातुरूप शरीर संरक्षक पित्त का जन्म होता है। पित्तोत्पत्ति का यह कार्य लघ्वन्त्र के पर्याप्त भाग तक होता रहता है।

ग्रहणी और लघ्वन्त्र द्वारा चूए हुए बाइल और सक्कस एण्टरीकस आदि तरलों का रस कटु होता है। इस कारण पक्वाशयस्थ अवशिष्ट अन्नांश कटुरस प्रधान होजाता है। इस कटु साम्राज्य से धातरूप वात की उत्पत्ति होती है। और शेष पिण्डाकार कुछ शोषित मल बनकर मलाशय में एकत्र होजाता है।

यह सम्पूर्ण वर्णन जितना स्पष्ट और सुनिश्चित क्रम से लिखा गया है वह प्राचीनों द्वारा की गई खोजों और प्रत्यक्ष दर्शन का समर्थक है। सजीव प्राणियों पर जब तक ये खोजें नहीं की गई होंगी तब तक इनको कदापि नहीं जाना जा सकता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि पावलोव आदि विद्वानों के श्वान प्रयोगों की तरह महर्षियों ने भी प्रयोग किए होंगे जिनका परिणाम भी बावन तोले पाव रत्ती ठीक बैठ रहा है।

स्थाली में रखे तण्डुलों को भात बनाने में जो क्रिया साधारण अग्नि करती है वैसे ही पचनसंस्थान में रखे अन्न पर जाठराग्नि की क्रिया होती है, यह उदाहरण वह सब भाव व्यक्त कर रहा है जिसकी उससे अपेक्षा है। इसका अर्थ यह नहीं कि पेट में एक चूल्हा बना है जिसमें लकड़ियां सुलग कर भीतर रखी पतीली में अन्न का भातवत् पाक हो रहा है। ऐसा समझना अज्ञान की पराकाष्ठा है।

यह सदैव स्मरण रखना है कि मधुर भाव अम्लभाव अथवा कटुभाव प्राप्त अन्न जाठराग्नि की क्रिया से ही धातु-रूप कफ पित्त और वात के निर्माण करने में समर्थ होती है। अग्नि का जीवन उसे सन्धुक्षित करने वाली समान वात पर अवलम्बित है। अर्थात् वातिक क्रिया शक्ति से उत्पन्न देहाग्नि के द्वारा ही पचनसंस्थान में अन्न का परिपाक होता है। अग्नियों का विचार आगे और अधिक कर रहे हैं। यह पचन-व्यापार उसी व्यक्ति का ठीक ठीक चलता है जो समय पर भोजन करता है और समयोग में आहार का सेवन करता है।

आहार

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥११॥

उपहित (उपयोग में लाया गया), इष्ट (हितकर) अन्न प्रियगन्धादिकों से शरीर में स्थित घ्राण आदि इन्द्रियों का तथा गन्धादि (उनके विषयों का) प्रीणन (तर्पण) करता है ।

भूताग्नियां

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥१२॥
यथा स्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥१३॥

भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस सहित पञ्चभूताग्नियां अपने पार्थिवादि पांच आहार गुणों को निश्चित रूप से पचाती हैं। द्रव्यों के गुण शरीर में (जाकर) अलग-अलग अपने-अपने गुणों को पुष्ट करते हैं पार्थिवगुण पार्थिवगुणों को तथा शेष गुण शेषों को ही पूर्णरूप से (पुष्ट करते हैं) ।

वक्तव्य—(२७६) यह सम्पूर्ण जगत् पञ्चमहाभूतों से व्याप्त माना गया है। यहां के पदार्थ सब पञ्चभूतात्मक होते हैं। हमारा शरीर स्वयं पञ्चभूतों द्वारा निर्मित है। हम जो अन्न खाते हैं वह भी पञ्चभूतात्मक होता है। अन्नद्रव्य में स्थित पांचों भूत शरीर के पांचों भूतों से मिलकर उनकी पुष्टि करते हैं इसीलिए अन्न खाया जाता है। पेट में जो अन्न पहुँचता है उनके परिपाक में देहाग्नि तो लगती ही है पर वह देहाग्नि उस द्रव्य में व्याप्त पांचों भूतों की अलग-अलग भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य और नाभस अग्नियों को संधुक्षित कर देती है उनके संधुक्षण से प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी अग्नियों के द्वारा पचने लगता है। अन्न का पार्थिवतत्व पार्थिवाग्नि के द्वारा अलग पकता है वायव्यअग्नि वायुतत्व को पकाती है। जलतत्व आप्य भूताग्नि द्वारा पचता है, नाभस अग्नि आकाशीय तत्व को पचाती है आग्नेय तत्व आग्नेयाग्नि द्वारा पचते हैं।

पार्थिव पार्थिव, आप्य आप्य, आग्नेय आग्नेय, वायव्य-वायव्य, नाभस नाभस जब पांचों प्रकार के द्रव्यस्थ भूतों का पाक होजाता है तो ये अन्नद्रव्य से निकले पके हुए पांचों भूत शरीरस्थ, पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस तत्वों से कृत्स्नशः पूर्णतः मिल जाते हैं अर्थात् उनमें कुछ भी शेष नहीं रहता। उदाहरण के लिए दूध को लेते हैं। दूध में जो कैल्शियम और प्रोटीनों का पार्थिव भाग है वह शरीरांगों की कैल्शियम और प्रोटीनों में पार्थिवाग्नि द्वारा पूरा पूरा और मानव शरीर की दृष्टि से पक कर चला जाता है। दूध का आप्य भाग जलीय भूताग्नि द्वारा पकाया जाने पर जलीय शरीर बन जाता है। दूध में स्थित स्निग्ध द्रव्य घृतस्थ अग्नि शक्ति आग्नेय-अग्नि द्वारा पककर शरीर की अग्नि संवर्धन में प्रयुक्त होता है। दूध के मधुरभाग में स्थित तत्व भी आग्नेय गुण भूयिष्ठ हो शरीरोष्मा बढ़ाता है। दूध का वायव्य तत्व वायव्य अग्नि के कारण वातज तत्वों की उत्पत्ति करता है। नाभस तत्व जिसके कारण औटने पर झाग आते हैं और जो निरन्तर और कण कण में व्याप्त रहता है देह के नाभस तत्व से मिल जाता है नाभस भूताग्नि द्वारा पचाया जाने पर।

गुरुता-खरता, कठिनता-मन्दता-स्थिरता-विशदता-सान्द्रता-स्थूलता और गन्ध ये **पार्थिवगुण** शरीर तथा अन्नद्रव्यों में मिलते हैं। द्रवता-स्निग्धता-शीतलता-मन्दता सरता-सान्द्रता मृदुता-पिच्छिलता तथा रस ये **आप्यगुण** शरीर तथा अन्नद्रव्यों में मिलते हैं। उष्णता-तीक्ष्णता-सूक्ष्मता-लघुता रूक्षता-विशदता तथा रूप ये **आग्नेयगुण** शरीर तथा अन्नद्रव्यों में मिलते हैं। लघुता-शीतलता रूक्षता-खरता-विशदता-सूक्ष्मता तथा स्पर्श ये **वायव्यगुण** शरीर तथा अन्नद्रव्यों में मिलते हैं। मृदुता-लघुता सूक्ष्मता-श्लक्ष्णता तथा शब्द ये **नाभसगुण** शरीर तथा अन्नद्रव्यों में मिलते हैं।

भूताग्नियों का सहारा लेकर आयुर्वेद ने शरीरव्यापार-शास्त्रियों की एक समस्या को हल कर दिया है। वह यह कि लोह प्रधान आहार का लोहा शरीर कैसे ग्रहण करता है। कसीस या फैरस ग्लूकोनेट का अथवा त्रिफला स्वरस में घुली लोहभस्म का लोहा शरीर के भीतर लोहे की कमी को पूर्ण करता है। अन्न में स्थित लोहा क्यों पचता है? और लोहांश शरीर द्वारा क्योंकर ग्रहण होता है इसमें थोड़ा

बहुत लिखा मिलता है पर वास्तविकता तक नहीं पहुँचा जाता। आयुर्वेद की भूताग्नियों का सिद्धान्त हमें कहता है कि लोहा जलीयतत्व में घुलकर पिया गया है। इसमें लोहे में पार्थिवांश है और स्वरस या जल में जलीयांश। पचनसंस्थान में समान वात से संधुक्षित अग्नि इस घोल पर क्रिया करती है। जब तक लोहे की पार्थिवाग्नि और जल की आप्य अग्नि सुलग कर देहाग्नि के साथ एक समयोग उत्पन्न नहीं करेगी लोहे को शरीर ग्रहण करने में असमर्थ (होगा) पचन संस्थान के रस और मधुर-अम्ल-कट्वादि भाव लोहे की लोहाग्नि या पार्थिवाग्नि को प्रकट करने में सहायता करते हैं ज्यों ही अग्नि प्रगट हुई लोहांश का उसने परिपाक कर दिया। पाक हुआ यह लोहा शरीर के उपयोग के लिए योग्य होगया। लोहे को जाने दीजिए मान लो कि कोई स्वयं मनुष्य का रक्त पीता है यह रक्त मानवीयगुण भूयिष्ठ होने पर पचनसंस्थान में जाते ही नहीं पच जाता इस रक्त में स्थित भूताग्नियां उसके एक एक अवयव का देहाग्नि की सहायता से पुनः पाक करती हैं और प्रत्येक रक्तस्थभूत अलग अलग पककर शरीर के विभिन्न अङ्गों में चला जाता है और वहां रक्त के निर्माण का कार्य हमारा शरीर जैसे चाहता है वैसे ही करता है। प्रत्येक व्यक्ति में स्थित पञ्चभूतों में प्रत्येक भूत का अनुपात कुछ न कुछ भिन्न रहता है यह भिन्नता ही उसकी विशेषता है और यह विशेषता प्रत्येक भूत में उत्पन्न करने का कार्य शरीरस्थ भूताग्नियों का है। एक व्यक्ति का रक्त इञ्जैक्शन द्वारा चढ़ाने से रक्त के सब घटक एक से रहने पर भी बहुत बार रोगी क्यों मर जाता है। इसलिए कि चढ़ाये गये रक्त के अन्दर जो भूत स्थित हैं उनकी भूताग्नियों का अनुपात सब घटकों के अनुपात के यथावत् रहते हुए भी विशेष होता है यदि उस अनुपात से मेल (मैच) ठीक होगया तो रोगी को जीवन मिल जाता है अन्यथा रक्तदान मृत्युदान बन जाता है।

जिन द्रव्यों की भूताग्नियां शरीरस्थ भूताग्नियों के अनुसार होसकती हैं उन्हें इण्ट्रावेनस (अन्तःसिराजन्य) इञ्जैक्शन से दिया जासकता है। पूर्ण शुद्ध जल इसका उदाहरण है। पूर्ण शुद्ध जल की आप्य अग्नि शरीरस्थ आप्य अग्नि के अनुकूल होने से रक्त में उसे सीधा देसकते हैं। पर यदि वह परिस्रुत न हो कौप भौम आदि हो तो वह गम्भीर अवस्था उत्पन्न कर सकता है। वायु का एक बबूला इञ्जैक्शन द्वारा सीधे रक्त में पहुंचा देने से या तेल की एक बूंद पहुंचा देने से व्यक्ति तुरत मर जाता है। क्यों? इसलिए कि शरीरस्थ वायव्याग्नि और आग्नेयाग्नि के अनुपात में प्रविष्ट द्रव्य की वायवाग्नि और आग्नेयाग्नि में बड़ा अन्तर है।

भूताग्नियां अपने अपने अंश को पचनसंस्थान में पकाती हैं और द्रव्य से पार्थिवादि पांचों अंश अलग होते हैं वे अलग हुए अंश अन्नरस द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जाकर पूर्ति करते हैं उनके सम्मेलन के समय पार्थिव अंश में स्थित भूताग्नि का अनुपात उस अङ्ग विशेष में स्थित भूताग्नि के समान हो जाता है। हमारा शरीर अन्न पाचन में इस अनुपात को अपने अनुकूल बनाने की क्रिया ही करता है। यह अनुकूलन ही पचन है। जो ऋषि केवल घास खाकर ही रहते थे वे सिद्धान्तः जीवित रह सकते हैं। घास पांचभौतिक है। शरीर में घास की पांचों भूताग्नियों को ठीक ठीक पकाकर सप्तधात्वात्मक मानवशरीर की प्रत्येक क्षतिपूर्ति कर सकती हैं। मिट्टी खाकर नहीं जिया जा सकता? यदि मिट्टी में अन्य भूताग्नियों को स्थान न हो। मिट्टी को पांचभौतिक मानने वालों को यह न भूलना चाहिए कि उसमें अग्निेय तत्व इतना कम रहता है और उस आग्नेय तत्व या वायव्य तत्व की प्राप्ति के लिए इतने परिमाण में मिट्टी सेवन करना आवश्यक होता है कि जो एक मानव नहीं कर सकता और मिट्टी खाने से वह अधिक दिन नहीं जी सकता, परन्तु केंचुआ के अन्दर जो पञ्चमहाभूत हैं उनके अन्दर की भूताग्नियों का अनुपात ऐसा है कि उसका मिट्टी से कार्य चल जाता है।

धात्वग्नियां

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥१४॥
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ॥१५॥
रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ॥१६॥
किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।

पित्तं, मांसस्य खमला, मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥१७॥
स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचां।
प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः ॥१८॥
परस्परोपसंस्तम्भाद् धातुस्नेहपरम्परा।
वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥१९॥
षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्त्तनम्।
सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥२०॥

देहधारक (रसादि) धातुयें सात प्रकार की अग्नियों से अपने अपने किट्ट और प्रसाद रूप दो प्रकार के पाक को प्राप्त होती हैं।

रस से (प्रसादपाक) रक्त, उससे मांस, मांस से मेदस् उससे अस्थि तथा अस्थि से मज्जा उससे शुक्र शुक्र से प्रसादज गर्भ (होता है)।

स्त्रियों में रस से स्तन्य (दुग्ध) तथा आर्तव; रक्त कण्डरा तथा, मांस से वसा और छै प्रकार की त्वचायें और मेद (के प्रसाद भाग से) स्नायु की उत्पत्ति होती है।

अन्न (भौमान्न) का किट्ट (मल) (आप्यन्न का) मूत्र, रस का किट्ट कफ, रक्त का किट्ट पित्त, मांस का किट्ट शरीरछिद्रस्थ मल, मेद का किट्ट स्वेद, अस्थियों का किट्ट बाल तथा रोम, मज्जा का किट्ट त्वचागत स्नेह तथा कीचड़ है।

इस प्रकार प्रसाद और किट्ट में धातुओं का दो प्रकार का पाक होता है। धातुस्नेह की परम्परा परस्पर के संस्तम्भ से (बनी रहती है)।

वृष्यादि द्रव्यों का प्रभाव तो शुक्र आदि के बल का शीघ्र पोषण करता है। कोई (रस का शुक्र रूप में) परिवर्तन छै दिनों से होता है ऐसा मानते हैं। भोज्य पदार्थ खाने पर धातुओं का परिवर्तन तो चक्र की तरह निरन्तर होता है।

वक्तव्य—(२७७) हमने प्रत्येक भूत की अपनी अग्नि के सम्बन्ध में पहले जो लिख दिया है उसका मानवशरीरगत रूप सातधातुओं में स्थित अग्नियों में होता है। आयुर्वेद दृष्ट्या हमारा शरीर सात धातुओं (रस रक्त मांस मेदस् मज्जा तथा शुक्र) में बंटा हुआ है। ये सातों धातुयें अपनी अपनी धात्वग्निओं द्वारा प्रसाद और किट्ट इन दो पाकों में विभक्त हो जाती है। इसे यों समझना चाहिए। सर्वप्रथम कोष्ठस्थ अन्न का जाठराग्नि द्वारा परिपाक होकर जो प्रसादांश भूत धातु उत्पन्न होती है वह रस नामक धातु कहलाती है। इस रस से रसगत अग्नि के द्वारा परिपाक होने पर प्रसादांश स्वरूप रक्त धातु की उत्पत्ति होती है। उस रक्तधातु से रक्तगत अग्नि के द्वारा परिपाक होने पर प्रसादांश स्वरूप मांस की उत्पत्ति होती है। मांस से मांसगत अग्नि के द्वारा परिपाक होने पर प्रसादांशरूप मेदोधातु की उत्पत्ति होती है। मेदोधातु से मेदोगत अग्नि के द्वारा अस्थि की उत्पत्ति होती है। अस्थिगत अग्नि से मज्जा की उत्पत्ति होती है। मज्जागत अग्नि से प्रसादांश रूप शुक्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूर्व पूर्व धातु के परिणाम से उत्तर उत्तर धातु का उत्पादन होता है। जिस प्रकार क्षीर से दधि दधि से नवनीत नवनीत से घृत और घृत मण्ड बनता है वैसे ही यह होता है। इसे **क्षीरदधिन्याय** कहते हैं। दूसरा एक तरीका **केदारीकुल्या न्याय** कहलाता है कि जैसे एक केदारी से अनेक कुल्या निकल निकल कर अलग अलग खेतों को सिंचित करती हैं वैसे ही रसादि धातुओं को अन्न का प्रसादांश अभिसिञ्चित करता रहता है। रस पहले रक्त को आप्लावित करके उसका तर्पण करता है। और रक्त खूब वर्द्धमान् होजाता है। रक्त फिर अपने समान अंश का पोषण कर फिर मांस का आप्लावन करता है। इस प्रकार रस ही शेष छहों धातुओं को आप्लावित करता हुआ उन्हें पुष्ट करता फिरता है। इस प्रकार पोषण में जो पहले होगा वह धातु अधिक और शीघ्रता से पुष्ट होगी तथा जो दूर पर स्थित होगी उसकी पुष्टि देर में होगी। यह **खलेकपोतन्याय** के नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार खलिहान में कबूतर आ-आ कर चुगते हैं उनमें जो दूर का होता है वह देर में पहुंचने के कारण उतना नहीं खापाता जितना पास का रहने वाला कबूतर। इसी प्रकार आहार रस विविध स्रोतसों द्वारा रस रक्तादि धातुओं में से जो दूर हैं उनके पास देर में पहुंचकर उनका तर्पण या पोषण करता है।

क्या इन तीनों न्यायों के अनुसार हमारे शरीर में धातुओं

की पुष्टि और तृप्ति होती है? एक धातु से दूसरी धातु क्षीरदधिन्याय के अनुसार बनती है या एक ही काल में आहार रस द्वारा सर्वधातुओं का पोषण एक कालधातु-पोषण या केदारीकुल्यान्याय से होता हैं अथवा भिन्न मार्गावलम्बन द्वारा आहाररस द्वारा खोलकपोत न्याय से कार्य चलता है? प्रत्यक्ष में तो यह देखा जाता है कि अन्न का प्रसादांश अन्नरस उन सब तत्वों से युक्त होता है जिनकी विविध धातुओं को आवश्यकता रहती है। जिस जिस धातु के पास यह रस पहुंचता है वह धातु अपने लिए उस उस तत्व को ग्रहण कर लेता है। इसे हम आधुनिक एलातास्म्बूलन्याय कह सकते हैं। जिस प्रकार किसी पार्टी में बैठे हुए व्यक्तियों के आगे एक थाल में इलायची, चिकनी सुपारी, सादासुपारी, तम्बाकू, पान, गोले का कतरन आदि रखकर एक व्यक्ति उस थाल को प्रत्येक व्यक्ति के सामने ले जाता है जिसको जो आवश्यक होता है व्यक्ति अपने लिए तृप्तिदायक पान, तमाखू, गोला, इलाइची उठा लेता है और वाहक आगे बढ़ जाता है। अन्नरस प्रत्येक आवश्यक घटकों से युक्त होकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है और युगपत् सब धातुओं के पास पहुंचता रहता है। जिसे जो रुचता है वह उसे ले-लेकर अपने अपने शरीर की पुष्टि करता है।

तब क्या चरक का क्रम परिणाम पक्ष एक धोखा है? नहीं। क्योंकि चरक ने रस से रक्त और रक्त से मांस आदि का जो पोषण बतलाया है वह एक पक्षीय नहीं है। आहार रस पहले रक्त में मिलता है रक्त फिर मांस में जाता है मांस को तृप्त करके फिर मेदोधातु को तृप्त करता है। दोनों को पार कर तब वह अस्थि तक पहुंचता है अस्थि में उसकी शाखा प्रशाखायें बंटकर मज्जा में जाती हैं मज्जा का तर्पण होने के बाद शुक्र का तर्पण होता है। एक के बाद दूसरा इकेबादीगरे यह अर्थ चरक का है। क्षीरदधिन्याय चक्र-पाणिदत्त की बुद्धि की सूझ है। चक्रपाणिदत्त जिस काल में उत्पन्न हुआ था उस समय आयुर्वेद का मध्याह्न सूर्य अपने स्थान से हट चुका था। आचार्यों के वाक्यों के अट-कलपच्चू अर्थ लगाये जाने लगे थे। चरकीय वर्णन एक स्पष्ट और सत्य के पीछे फिजियालोजीकल तथ्य है। रस वा रक्त कहां से कहां जाता है।

फिर प्रसादज का क्या अर्थ है। रस का प्रसाद भाग रक्त है रक्त का प्रसाद भाग मांस है। आदि रस दूध की तरह दही में बदल कर रक्त नहीं बनता अपि तु रस की कृपा से उसके कुछ घटकों के सहारे प्रसाद स्वरूप रक्त धातु का निर्माण रक्तधातु में स्थित उसकी धात्वग्नि से होता है। यह धात्वग्नि रक्त की तैयारी के साथ रक्त का किट्टांश तैयार करती है। मांसधातु रक्त से आप्यादित होती है। रक्त से प्रसाद पाती है पर रक्त जम कर मांस बन गया हो यह नहीं बल्कि मांस स्वयं एक मानव की अभिन्न घटना है। उसमें उसकी धात्वग्नि का निवास है। रक्त का या आहाररस का प्रसाद पाकर वह मांस के निर्माण का कार्य बढ़ा देती है मांस बनता है निर्माण की इस पद्धति में उससे किट्टांश भी तैयार होता है। मेदोधातु भी मांस से प्राप्त (मांस में होकर आये हुए) आहाररस से प्रसाद पाकर (आवश्यक प्रसाद रूप मेदसीय घटक लेकर) अपनी धात्वग्नि से मेदोधातु और किट्टांश का निर्माण करती है। अस्थि मज्जादि के साथ भी यही क्रम रहता है। अष्टाङ्ग-संग्रह में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—एवमन्नरस एव साक्षात् सर्वधातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति न पुन-र्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमर्देन प्रतिपद्यन्त इति। तथा स्वयं सुश्रुत द्वारा अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः यह रस की परिभाषा देना 'रसः प्रीणयति' ऐसा कहना; तथा रस की सर्वाङ्गसुन्दर परिभाषा यह देना कि — तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेक-गुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते। कोई भी रस का सर्व शरीर में व्याप्त होकर धातुओं के प्रसादज भाग को निर्माण करने की आयुर्वेदीय स्पष्ट कल्पना को समझ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सातों धातुऐं एक ही देश के विविध औटो-नोमस प्राप्त हैं। उन्हें कुछ ओटोनोमी(स्वतन्त्रता) मिली हुई है और कुछ उन पर केन्द्रिय दृढ़ नियन्त्रण रहता है। इन्हें एक राजा के विविध विभाग भी माना जासकता है। रस को सप्लाईमिनिस्ट्री माना जासकता है। वात यातायात का कार्य करता है। रक्त डिफेंस सुरक्षा मन्त्रालय है। मांस श्रममन्त्रालय

। आदि।

धातुओं में क्या होता है ? मांसधातु को लीजिए। मांस के पास सर्वगुणप्रधान सर्वघटकयुक्त अतिशय गमनशील रस आता है। मांस के लिए आवश्यक पदार्थों की सप्लाई करता हुआ और किट्टभाग को लौटाता हुआ रस चला जाता है। जो पदार्थ आये हैं वे शरीर की पंचभूताग्नियों के द्वारा जाठराग्नि की प्रेरणा से पककर शरीर के अनुकूल बने हुए वे द्रव्य हैं। मांस में स्थित उसकी धात्वग्नि उक्त द्रव्यों की भूताग्नियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करके आगत पदार्थ को आत्मसात कर मांस रूप ढालने का यत्न करती हैं। यदि पदार्थ का आवागमन प्रचुरता से होरहा है। धातु की पित्त रूप अग्नि का सन्धुक्षण उसमें व्याप्त वायु द्वारा ठीक ठीक हो रहा है और यथावश्यक जलीयअंशरूप कफ उपस्थित है और इस प्रकार मांस में तीनों दोष अपनी साम्यावस्था में है तो शीघ्रता से श्रेष्ठतम मांसधातु का निर्माण मांसधातु में शक्तिरूप स्थित पित्त व्यतिरिक्त अग्नि द्वारा यथेष्ट होगा। पर यदि त्रिदोष साम्य नहीं है तो कम होगा। शक्ति क्षीण है तो किट्टांश अधिक बनेगा। इस प्रकार किसी भी धातु में स्थितधात्वग्नि एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है जो गर्भ से ही व्यक्ति के पास प्रत्येक धातु में व्याप्त रहती है इसकी उत्पत्ति और वृद्धि में दोषों का तथा आहार का प्रधान हाथ रहता है। धात्वग्नि की कल्पना का सर्वथा अभाव रहने से आधुनिक फिजियालौजिस्ट बड़े भ्रम में पड़ते है। रस से मांस क्योंकर मांसज द्रव्यों को खींचते हैं अन्य द्रव्यों को क्यों नहीं लेते ? मांस से मांस का ही निर्माण क्यों होता है। मांस का फाइबर प्रत्येक एक ही रूप का क्यों बनता है ? कभी कभी मांस क्षीण क्यों होता जाता है ? आदि अनेक प्रश्नों का समाधानपूर्वक उत्तर उनके अपने सन्तोष के लिए इसी लिए नहीं है कि वे प्रत्येक धातु में धात्वग्निनामक स्वयंभू स्वयं चालित पर वातनाड़ीसंस्थान, श्लेष्मा और पैत्तिक (त्रिदोषजन्य) स्थितियों से नियन्त्रित शक्तिको समझना नहीं चाहते।

धात्वग्नियों का नियन्त्रण मस्तिष्क करता है। कभी कभी शरीर का कोई अङ्ग बर्फ सा ठण्डा और कभी कभी शरीर का आधा अङ्ग गरम और आधा ठण्डा मिलता है जो प्रमाण है इस बात का कि देह के प्रत्येक क्षेत्र के शैत्य और औष्ण्य दृष्टि से केन्द्रिय नियन्त्रण रहता है। धात्वग्नियां भी उस नियन्त्रण से बाहर नहीं हैं।

धारणात् धातवः इस दृष्टि से धातुएँ देह धारण करने में लगी रहती हैं। उनके परस्पर के उपसंस्तम्भन से देह का धारण होता है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि आहाररस से अपनी पुष्टि के लिए प्राप्त घटकों पर धात्वग्नियों की क्रिया होने पर धातु विशिष्ट का निर्माण छै दिन में होता है। वास्तव में ६ दिन लगते हैं या कम अधिक इसे न देख कर देखना यह चाहिए कि जिस प्रकार चक्र या पहिया लगातार घूमता है वैसे ही धात्वग्नि द्वारा धातु के प्रसादांश और किट्टांश का निर्माण गर्भ से मृत्यु पर्य्यन्त थोड़ा या बहुत बराबर चलता रहता है। रुग्णावस्था इस नियम का अपवाद है। वृष्यादि द्रव्य इस चक्र को और द्रुत कर देते हैं।

अग्निवेशीयशङ्का

इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्।
रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते ॥२१॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्।
द्रवाद् रक्तात् स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥२२॥
द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः सम्भवः कथम्।
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥२३॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा।
मज्जस्तु परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्त्तते ॥२४॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तथाऽस्थिमध्यमज्जश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥२५॥
छिद्रं न दृश्यतेस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्।

इस प्रकार बोलते हुए आचार्य आत्रेय को शिष्य अग्निवेश ने यह पूछा !—

१—देह में असमान रस से रक्त कैसे उत्पन्न होता है ? और (जब) रस का रंग नहीं होता है वह कैसे लाली धारण करता है ?

२—बहते हुए रक्त से किस प्रकार मनुष्यों का वह स्थिर मांस उत्पन्न होता है ?

३—स्थिर हुए मांस से द्रवधातुरूप मेदस् की उत्पत्ति कैसे होती है ?

४—श्लक्ष्ण मांस मेद (दोनों) से अस्थियों में खरता कैसे होती है ?

५ खर अस्थियों में स्निग्ध तथा मृदु मज्जा किसके द्वारा (बनती है) ?

६—यदि मज्जा के परिणाम से शुक्र बनता है तो मनीषी शुक्र को सर्वशरीरव्यापी बतलाते हैं। (यह क्योंकर हो सकता है ?) तथा यदि पुरुषों की अस्थि के भीतर स्थित मज्जा से शरीर धारियों को शुक्रोत्पत्ति होती है तथा अस्थियों के छिद्र नहीं दिखाई देते हैं तो फिर वह शुक्र निकलता कैसे है ?

आत्रेयीय समाधान

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥२६॥
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते ।
पित्तोष्मणः स रागेण रसोरक्तत्वमृच्छति ॥२७॥
वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम् ।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ॥२८॥
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते ।
पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः स्वोष्मणा कृतः ॥२९॥
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततोनृणाम् ।
करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ॥३०॥
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः ।
तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं सञ्जायते ततः ॥३१॥
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ॥३२॥
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ।
हर्षेणोदीरितं वेगात् सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ॥३३॥
विलीनं घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
बस्तौ सम्भृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥३४॥

शिष्य द्वारा इस प्रकार पूछे गये गुरु आत्रेय ने यह उत्तर बतलाया:—

१—मनुष्यों के सब रसों का जो तेज कहलाता है वह रस पित्त की ऊष्मा के रंग से लाल बन जाता है।

२—(वह) रक्त वातदोष, जल, तेज और ऊष्मा से युक्त होने पर स्थिरता प्राप्त करके मांस होजाता है। वह मांस अपनी ऊष्मा से पकता है।

३—अपने तेज, जल के गुण तथा स्निग्धता का उद्रेक (वृद्धि) होने पर मेदसोत्पत्ति होती है।

४—पृथिवीतत्व, अग्नि, वाय्वादि के संघात (समुच्चय) से अपनी ऊष्मा के द्वारा उसकी खरता होकर मनुष्यों की अस्थि की उत्पत्ति होती है।

५-वहां अस्थियों के मध्य में वायु सुषिरता कर देता है वे (छिद्र) मेदस् से भर जाते हैं वह स्नेह मज्जा कहलाता है।

६—उसी मज्जा का जो स्नेह वह शुक्रोत्पत्ति करता है। वायु, आकाशादि भावों से अस्थियों में सुषिरता उत्पन्न होती है उनसे वह शुक्र नये घड़े से जल की तरह चूता है।

काम के सङ्कल्प से हर्ष से उदीर्ण (वह शुक्र) समस्त शरीर से शुक्रवाही स्रोतों द्वारा वेग के साथ निकलता है।

व्यायाम की ऊष्मा से घृत की तरह घुलकर अपने स्थान से च्युत होकर बस्ति में इकट्ठा होकर ढालू स्थान से जल की तरह बाहर निकलता है।

वक्तव्य—(२७८) अग्निवेशीय प्रश्नों के समाधान में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने बड़े स्पष्ट और खोजपूर्ण साथ ही संक्षिप्त उत्तर दिये हैं। अग्निवेश का पहला प्रश्न है कि रस जो श्वेतवर्ण का पदार्थ है वह लाल कैसे होता है। उसका उत्तर है रस पर रसाग्नि की क्रिया होकर उसका तैजस् रूप में परिणत होना उस तेज पर रक्ताग्नि या पैत्तिक ऊष्मा का प्रभाव पड़ना लाली उत्पन्न करता है। रक्तस्थ और रसस्थ धात्वग्नियां यहां मूल कारण है। दूसरा प्रश्न है बहते हुए पदार्थ से स्थिर मांस की उत्पत्ति। इसका उत्तर है रक्तस्थ ऊष्मा का मांसगत धात्वग्नि से सम्बन्ध का आना जो रक्तगत रस से अपने घटक ग्रहण कर वायु, अम्बु और तेज से स्थिर मांसोत्पत्ति का कारण है। मेदस् की उत्पत्ति आहार रस के अन्दर जो स्निग्धांश भरा है उसकी प्राप्ति मेदस् धातु में व्याप्त उसका अपना तेज या धात्वग्नि तथा जल जिसके कारण मेदस् धातु द्रवरूप रहती है और स्निग्ध रहती है। मांस स्वयं

मेदस् न बनकर स्वतन्त्ररूप से केदारीकुल्यान्याय से मेदोधातु की स्थिति और वृद्धि बतलाई गई है। इस प्रकार अस्थि का निर्माण रसरक्त में व्याप्त पृथिवी तत्व (कैल्शियम आदि) अग्नितत्व, वातादिक दोष और हड्डी की अपनी ऊष्मा धात्वग्नि का संघात खरता करने में कारण है। मेदस् धातु से अस्थि न बनकर खलातम्बूल न्याय से यह कार्य होता है। अस्थियां सुषिर होती हैं। सौषिर्य गर्भावस्था में वायु के द्वारा होता है। इस सुषिर स्थानों में मेदोधातु के ही घटक रक्तद्वारा आकर भर जाते हैं और मज्जा में रूपान्तरित होजाते हैं। मज्जा में शरीर बल का विधाता शुक्र तैयार होता है यह आयुर्वेदीय आचार्यों का अपना मत है यह नये कुम्भ की तरह टपकता है। टपका हुआ सब सत्व स्रोतसों द्वारा चलकर शुक्रवाहनियों में पहुँच कर विविध हर्षदायक स्त्रीसंगमादि कारणों से बस्ति में एकत्र होकर मूत्रमार्ग से निकल जाता है। शुक्र के सम्बन्ध में हम अपना वक्तव्य अन्यत्र देरहे हैं।

संक्षेप में धातु सम्बन्धी विचार आत्रेय ने बहुत स्पष्टतः प्रगट किया है। प्रत्येक धातु अपनी धात्वग्नि की सहायता से रक्तस्थ रस से अपने घटक ग्रहण करके अपना अपना पोषण और तर्पण करती है यही उसने बतलाया है। रस ही इस कार्य में सहायवान् है वह एक ही समय हर प्रान्त में भ्रमण करता है इसे आगे और स्पष्ट कर दिया है तथा अग्नि की महत्ता और उसके प्रधान कर्म (role) को भी स्पष्ट किया गया है।

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥३५॥

व्यान (नामक सर्व शरीरचारी वायु) के द्वारा अपने विक्षेप रूप योग्य कार्य के कारण रस धातु सम्पूर्ण देह में युगपत् (एक साथ) सदा विक्षिप्त होती (फेंकी जाती) है। अर्थात् रसधातु में सम्पूर्ण शरीर में झटके के साथ पहुंचने का विक्षेपोचित स्वाभाविक गुण होने के कारण व्यान वायु की सहायता से एक ही समय सर्वत्र इसका आगमन होता है। इस कारण एक ही समय वह सातों धातुओं का पोषण करती है।

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥३६॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्।

(व्यान द्वारा) फेंका जाता हुआ वह रस स्रोतों के वैगुण्य (विकृति) से जहां रुकता है वहां आकाश में रुके हुए बादल के समान विकृति (वृष्टि बादल के लिए और रोग रसधातु के लिए) कर देता है। इसी प्रकार दोषों का भी एकदेशीय प्रकोप हुआ करता है।

वक्तव्य (२७९) यहां रोग की उत्पत्ति कैसे होती है इसकी ओर थोड़ा इङ्गित मात्र कर दिया गया है। रसधातु बराबर व्यान द्वारा फिंक कर धातुओं का पोषण करते करते जब दोषों के प्रकोप से किसी एक स्थान में स्रोतों में विगुणता आजाती है तो उस विकृति के कारण रसधातु की गमनागमन प्रवृत्ति रुक कर उसी प्रकार व्याधि बन जाती है जैसे आकाश की विगुणता से वातादि दोष बादल को एक जगह ठहरा कर वृष्टि करा देते हैं। सतत चलते हुए बादल नहीं बरसते। आकाशीय वायुमण्डल के परिवर्तन से ज्यों ही बादल की गति का अवरोध होकर गर्मी पैदा होती है बादल ऊपर उठकर ठण्डे पड़कर बरस जाते हैं। रसों की लञ्चित शरीर के किसी अवयव में व्यान वायु की स्वाभाविक फेंकने की शक्ति की कमी से (वातजन्य) स्रोतों में अवरोध होने से (कफजन्य) या धातुओं में व्याप्त ऊष्मा के अपने कार्य में सिद्ध न रहने से (पित्तजन्य) इस दोषों के प्रकोप से मानवशरीर में विकार तैयार होते हैं।

इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्मभाषितम् ॥३७॥

इस प्रकार पांचभौतिक अग्नियों, सप्तधात्वग्नियों (तथा) अन्न पकाने वाली अग्नि के कर्म कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—(२८०) आयुर्वेद ने तेरह प्रकार की अग्नियां स्वीकार की हैं जिनमें भौतिक ५, धातुजन्य ७ और जठरस्थ अन्नपक्ता १ है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥३८॥

सब अग्नियों में अन्न को पकाने वाली अग्नि

अधिप (अग्नियों का सम्राट्) माना गया है। क्योंकि वे उसके आधार पर हैं। उसकी वृद्धि (अथवा) क्षय (इनकी) वृद्धि (अथवा) क्षय (करने वाली होती है)।

वक्तव्य —(२८१) आयुर्वेद तेरहों अग्नियों में जाठराग्नि को शेष सबका मूलाधार मानता है। जाठराग्नि की प्रबलता से ही अन्य अग्नियां प्रबल और इसकी निर्बलता से वे निर्बल होती हैं। पर रोगावस्था में यह आवश्यक नहीं कि वे स्वतन्त्र-तया प्रबल या दुर्बल न होजांय। उपरोक्त सूत्र स्वाभाविक कर्म की घोषणा करता है। ज्वर में रसाग्नि द्वारा उत्तापवृद्धि इसका प्रमाण है जब कि जाठराग्नि पूर्णतः शान्त रहती। पर ऐसे भी अनेक रोग हैं। जो जाठराग्नि की दुर्बलता से अन्य अग्नियों को भी दुर्बल करदें। बात यह है कि अन्य अग्नियों को भोजन जाठराग्नि ही भेजती है। जब यह पर्याप्त मल बनाने में असमर्थ रहेगी तब फिर अन्य किस की सामर्थ्य है कि जो बलवान् बने अतः साधारण रूप में जाठराग्नि की आधिपत्य निश्चित होता है पर विशिष्ट दशाएं उसको अधिकारच्युत कर देती हैं इसे भी भूलना न चाहिए।

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥३९॥

इस कारण से प्रयत्नशील व्यक्ति विधिपूर्वक प्रयुक्त, हितकर अन्नपान रूप ईंधन से इस (जाठराग्नि) का पालन करे। उसकी स्थिति पर निश्चय ही आयु तथा बल की स्थिति है।

वक्तव्य - (२८२) सम्पूर्ण भूताग्नियां और धात्वग्नियां अपने अपने को प्रज्वलित कर शरीर व्यापार को सुगमतापूर्वक चलाकर जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा के जिस दायित्व को निभाती हैं उसका आधार होता है जठरस्थ अग्नि। जाठराग्नि के द्वारा जब तक अन्य अग्नियों के लिए ईंधन रूप, ग्लूकोज एमीनोएसिड्स, न्यूट्रल फैट आदि द्रव्य पचनसंस्थान में तैयार नहीं कर लिए जाते तब तक अन्य अग्नियों का प्रज्वलन हो ही नहीं सकता। इधर जाठराग्नि को दीप्त करने के लिए हितकर अन्नपान रूप ईंधन की अत्यावश्यकता रहती है।

यो हि भुङ्क्ते विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान्।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं, वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ते ॥४०॥

जो (जिह्वा) लौल्य के कारण (आहार सेवन के) नियम को त्यागकर भोजन करता है वह ग्रहणीदोष (इस नाम से विख्यात अग्निमान्द्य अजीर्ण, वातिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक ग्रहणी नामक) रोगों को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। अब आगे वे (ग्रहणी विकार) कहे जावेंगे।

जाठराग्नि की दुष्टि के हेतु

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात्।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात् ॥४१॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद्व्याधिकर्षणात्।
देशकालर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥४२॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥४३॥

भोजन न करने से, अजीर्ण से, अतिभोजन से, विषमाशन से, असात्म्य-भारी-ठण्डे-बहुत रूखे और बहुत दुष्ट भोजन करने से, विरेचन-वमन-स्नेह प्रयोग में विशेष भ्रम होने से रोग के कारण दुर्बल होजाने से, देश-काल-ऋतु की विषमता से, और वेगों को रोकने से अग्नि दूषित होजाती है। वह दुष्ट हुई हलके अन्न को भी नहीं पचाती। न पचा हुआ (पेट में रखा हुआ वह) अन्न अम्लता (तथा) विष रूपता को प्राप्त होजाता है।

अन्नविष के लक्षण

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥४४॥
जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम्।
अरोचकोऽविपाकश्च घोरमन्नविषञ्च तत् ॥४५॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्तञ्च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥४६॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम्।
करोति वात संसृष्टं वातजांश्च गदान् बहून् ॥४७॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्।
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥४८॥

उस अजीर्ण के विष्टम्भ, अवसाद, शिरःशूल, तथा मूर्च्छा, भ्रम (giddiness), पीठ में शूल, कमर में दर्द, जम्हाई, अंगों में हड़कल, तथा ज्वर, वमन प्रवाहण (बारबार मल त्याग), अरुचि और अविपाक लक्षण हैं।

वह घोर अन्नविष पित्त के साथ संसृष्ट होकर (मिलकर) दाह, तृष्णा, मुख के रोगों को तथा अन्य पित्त के रोगों को तथा अम्लपित्त को उत्पन्न करता है। कफ से मिलकर कफजन्य (रोगों को) तथा यक्ष्मा पीनस (coryza) प्रमेहों को तथा वात से मिलकर अनेकों वातजन्य व्याधियों को करता है। (वह अन्नविष) मूत्र (संस्थान) में स्थित होकर मूत्र रोगों को मल में जाकर कुक्षिरोगों को और रसादिकों से मिलकर रसरक्तादि (धातुजन्य) रोगों को कर देता है।

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून्विशोषयति पावकः ॥४९॥

विषम जाठराग्नि विषमरूप से (अन्न को) पचाती हुई धातु की विषमता कर देती है।

तीक्ष्ण जाठराग्नि आहार (रूप) ईंधन के कम होने पर (शरीरस्थ) धातुओं को सुखा देती है।

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥५०॥

युक्त (सम) अग्नियुक्त रूप से भोजन किए हुए का समरूप से पाचन करती हुई धातुसाम्य करती है। दुर्बल अग्नि अन्न का विदाह करती है (विदग्ध हुआ) वह (अन्न) ऊर्ध्व या अधः (ऊपर या नीचे) भी जाता है।

ग्रहणीरोग-स्वरूप तथा सामान्यलक्षण

अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः।
उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥५१॥

नीचे को प्रवृत्त हुआ पक्व या आम (मल) ग्रहणी रोग कहलाता है। (ग्रहणी रोग से पीडित) इस (व्यक्ति) का सम्पूर्ण ही (खाया हुआ) अन्न प्रायः विदग्धता को प्राप्त होजाता है।

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते।
तृष्णारोचकवैरस्य प्रसेकतमकान्वितः ॥५२॥

तृष्णा-अरुचि-मुख की विरसता-प्रसेक तथा तमकश्वास से युक्त वह (ग्रहणीरोग से पीडित रोगी) बहुत ढीला, बंधा हुआ या पतला पानी सा मलत्याग करता है।

शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः।
लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥५३॥

हाथ पैरों में सूजा हुआ, अस्थिपर्वों में दर्द वाला, वमन-ज्वर रक्त तथा आमगन्ध से युक्त तीती तथा खट्टी डकारें इसको उत्पन्न होती हैं।

ग्रहणी-पूर्वरूप

पूर्वरूपन्तु तस्येदं तृष्णालस्यं बलक्षयः।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥५४॥

उसका यह पूर्वरूप है—तृष्णा, आलस्य, बल का नाश, अन्न का विदाह, देर से (अन्न का) पाक (तथा) शरीर का भारीपन।

ग्रहणी—स्थान तथा कर्म

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता।
नाभेरुपर्यग्निबलेनोपष्टब्धोपबृंहिताः ॥५५॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्निबलाद् दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥५६॥

नाभि से ऊपर स्थित अग्नि का अधिष्ठान अन्न का ग्रहण करने से ग्रहणी माना गया है। वह अग्नि के बल से उपष्टब्ध (सहारा पाई हुई) तथा उपबृंहित (बल पाई हुई) एक पार्श्व से अपक्व अन्न को धारण करती है तथा दूसरे पार्श्व से पक्व (अन्न) को निकाल देती है अग्निबल दुर्बल होने से दूषित हुई (वह) आम (कच्चे अन्न) को ही त्याग देती है।

वक्तव्य—(२८३) आचार्य ने ग्रहणी का एक निश्चित स्थान बताने की दृष्टि से निम्न बातें कहीं हैं:—

(१) कि वह नाभि के ऊपर है।
(२) कि वह अग्नि का अधिष्ठान है।
(३) कि वह अन्न का ग्रहण करती है।

(४) कि वह एक ओर से अपक्व अन्न धारण करती है।

(५) कि वह दूसरी ओर से पक्व अन्न निकालती है।

(६) कि जब अग्नि का बल कम होजाता है तब आम रूप में मल का मोक्षण करती है।

सुश्रुत ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

षष्ठी पित्तधरानाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः।
तस्मात्सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति॥

इससे स्पष्ट है कि आमाशय और पक्वाशय के मध्य अग्नि का अधिष्ठान जहां अनेक पाचक रस मिलते हैं ग्रहणी कहलाता है। इसे आधुनिक परिभाषा में डुओडीनम कहा जासकता है।

ग्रहणी—भेद

**वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च।
हेतुं लिङ्गं चिकित्साञ्च शृणु तस्य पृथक् पृथक्॥५७॥**

वात से, पित्त से, कफ से तथा और त्रिदोष से भी वह (ग्रहणी) रोग होता है। उसका हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा अलग अलग सुन।

वातिकग्रहणी

**कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीतलभोजनैः।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः॥५८॥
करोति कुपितो मन्दमग्निं संछाद्य मारुतः।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता॥५९॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोस्वनः।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका॥६०॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका।
गृद्धिः सर्वरसानाञ्च मनसः सदनं तथा॥६१॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः॥६२॥
चिराद्दुखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात्॥६३॥**

कटु-तिक्त-कषायरस प्रधान, रूखा शीतल (रखा हुआ वासा) भोजन करने से, कम खाने से, अनशन से, अत्यन्त पैदल चलने से, वेगरोध से, मैथुन से प्रकुपित हुआ वातदोष अग्नि को आच्छादित करके मन्द कर देता है। उसका अन्न अम्लपाकी होकर बहुत दुखपूर्वक पचता है। शरीर में खरत्व, कण्ठ और मुख में शोष, क्षुधा, तृष्णा, तिमिर रोग, कानों में सन्नाहट, पसली-जंघा-वंक्षण-ग्रीवा में निरन्तर पीडा, विसूचिका, हृदय में पीडा, कृशता, दुर्बलता, मुख की विरसता, पेट में कर्तनवत् पीडा, सब रसों का लौल्य, मन का अवसाद तथा अन्न के जीर्ण होजाने पर तथा पचते समय आध्मान, भोजन करने पर रोगी को स्वास्थ्य (आराम) मिलता है। वह मनुष्य वातगुल्म, हृदयरोग तथा प्लीहारोग की आशङ्का करता है। कास श्वास से पीडित वह वात के कारण देर से मरोड के साथ सूखा, पतला, आमयुक्त, शब्द के साथ झागसहित बारबार मल का त्याग करता है।

वक्तव्य—(२८४) ग्रहणीरोग को डिसेंट्री भी कहा जाता है। ऊपर जो वातिक ग्रहणी के लक्षण दिये हैं वे साधारण रोग के न होकर एक गम्भीर स्थिति की सूचना देते हैं।

पैत्तिकग्रहणी

**कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥६४॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गार हृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥६५॥**

कटु, अजीर्ण, विदाही, खट्टे क्षारादि से प्रकुपित पित्त गरमपानी से जैसे अग्नि (बुझ जाती है वैसे ही) अग्नि को आप्लुत करके उसको नष्ट करदेता है।

दुर्गन्धित खट्टे डकार, हृदय तथा कण्ठ के दाह अरुचि तथा तृषा से पीडित पीली आभा वाला वह अजीर्ण (अपक्व), नील पीत आभावाले द्रव को (मलरूप में) त्यागता है।

श्लैष्मिकग्रहणी

**गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नात् हन्त्यग्निं कुपितः कफः॥६६॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्य्यकासष्ठीवनपीनसाः॥६७॥**

हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥६८॥
भिन्नामश्लेष्मभूयिष्ठगुरुवर्च्चः प्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यञ्च कफात्मके ॥६९॥

भारी, बहुत चिकने ठण्डे आदि आहार से, अत्यधिक भोजन करने से, भोजन करते ही सोजाने से कुपित हुआ कफ अग्नि को नष्ट कर देता है। उसका अन्न दुःख पूर्वक पचता है। हृल्लास (मतली) वमन, अरुचि मुख का लिप्त होना तथा मधुरता, कास, थुकथुकी, पीनस (होते हैं)। (वह) हृदय को स्त्यान (भारी, पत्थर रखा हुआ सा) उदर को गीला और गुरु मानता है। डकार दूषित मधुर, अवसाद, स्त्रियों में अप्रहर्ष, फटा आमयुक्त, कफयुक्त, भारी मलकी प्रवृत्ति, कृश न होते हुए भी दौर्बल्य (prostration) तथा आलस्य कफात्मक ग्रहणी में होता है।

ग्रहणीदोष का व्याप

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः ।
तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥७०॥

और जो चार प्रकार की अग्नि रोगानीक अध्याय में (विमानस्थान में) पहले कही गई हैं उसको भी समाग्नि को छोड़कर ग्रहणीदोष कहते हैं।

वक्तव्य—(२८५) विमानस्थान के रोगानीक अध्याय में तीक्ष्ण, मन्द, सम तथा विषम चार प्रकार की अग्नियां बतलाई गई हैं इनमें समाग्नि को छोड़ शेष तीनों ग्रहणीरोग के अन्तर्गत आती हैं। दोषों के ग्रहण के साथ सम्बन्ध जोड़ कर इनकी जो सम्प्राप्ति बताई है वह इस प्रकार है-तत्र समवातपित्त श्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽन्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः।

सान्निपातिकग्रहणी

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवमतो वक्ष्यामि भेषजम् ॥७१॥

वात पित्त कफ के अलग अलग बतलाये हेतु लिङ्ग (दोनों के) समागम (एकत्र) होने पर त्रिदोष (जन्य) ग्रहणी जाने। आगे (इन सबकी) चिकित्सा (मैं) कहूंगा।

आमदोष चिकित्सा

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम् ।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ॥७२॥
आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत् ।
फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥७३॥
लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः ।
शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥७४॥
विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम् ।
दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ॥७५॥

ग्रहणी में आश्रित, विदग्ध आहार से युक्त दोष, विबन्ध, लालाप्रसेक, पीड़ा, दाह, अरुचि, गौरव इन आम लक्षणों से युक्त देख कर सुहाते हुए गरमजल से उनको दूर करे। अथवा मदनफल के क्वाथ से तथा पिप्पली और सरसों का कल्क डालकर (वमन करावे) लीन वा पक्वाशय में स्थित हुए आमदोष को दीपन द्रव्यों से निकाले। आमयुक्त रस के शरीर में पहुंचने पर लंघन और पाचन देवे। विशुद्ध आमाशय वाले इसके लिए पञ्चकोल आदि से सिद्ध पेया आदि लघु आहार और फिर दीपन योगों को देवे।

वातिकग्रहणी-चिकित्साक्रम

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुत ग्रहणीगदम् ।
दीपनीययतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक् ॥७६॥
किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥७७॥
ततं एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥७८॥
शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥७९॥
निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम् ।
लघ्वन्नं प्रति संभुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥८०॥

वातिक ग्रहणी रोग को (जिसका) आमदोष तो परिपक्व (होगया है ऐसा) जानकर वैद्य दीपन द्रव्यों से सिद्ध घी थोड़ा-थोड़ा (कई बार) पिलावे।

अग्नि के थोड़ा (भी) दीप्त होने पर जिसके मल मूत्र वात की प्रवृत्ति यथावत् न होती हो उसका दो वा

तीन दिन घृतपान आदि द्वारा स्नेहन तथा तत्पश्चात स्वेदन और तैल आदि से अभ्यङ्ग करके निरूहण करावे। तत्पश्चात् वात के शान्त होने पर शिथिल दोष (वाले रोगी) को क्षार सहित एरण्ड तैल अथवा तिल्वक घृत से विरेचन करावे।

शुद्ध आशय जिसका रूक्ष और बद्ध मल वाले को मात्रापूर्वक दीपनीय-खट्टे तथा वातनाशक (द्रव्यों से) सिद्ध तैल से अनुवासन करावे।

निरूहण किए, विरेचन किए तथा भले प्रकार अनुवासन कराये लघु आहार को खाये हुए को फिर घृत का अभ्यास करावे।

द्वे पञ्चमूले सरलं देवदारु सनागरम्।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥८१॥
शणबीजं यवान् कोलान् कुलत्थान् सुषवीं तथा।
पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥८२॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत् तेन घृताढकम्।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा च युक्तितः ॥८३॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रविडानां रोमकस्य च।
ससौवर्च्चलपाक्यानां भागान् द्विपलिकान् पृथक् ॥८४॥
विनीय चूर्णितान् तस्मात् पाययेत् प्रसृतं बुधः।
करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ॥८५॥

दशमूलाद्य घृत—दोनों पञ्चमूल, सरल (चीड), देवदारु, सोंठसहित, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपीपल, सन के बीज, जौ, बेर, कुलथी तथा कालीजीरी इनके (१६ प्रस्थ कुल लेकर) कांजी, दही वा (४ द्रोण) सौवीरक से पकावे। चौथाई भाग शेष रहने पर उसे १ आढक घृत के साथ पकावे। साथ ही सज्जीखार और जवाखार दोनों चारों को युक्तिपूर्वक देकर सेंधानमक, उद्भिज्जनमक, समुद्र, विड, सांभर तथा कालानमक सहित पाक्य (लौनीमिट्टी पकाकर बनाया) नमक, अलग अलग दो दो पल भागों को चर्ण कर मिलाकर उसमें से २ पल पिलावे। यह अग्नि, बल, वर्ण करता है। वातघ्न है और खाये हुए को पचाने वाला है।

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात् पले।
सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत् ॥८६॥

त्र्यूषणादिघृत—सोंठ, मिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आमला (छहों) एक पल मात्रा में गुड के एक पल में घी को आठ पल पकाकर (उसकी) योग्य मात्रा मन्दाग्नि से पीड़ित पीवे।

पञ्चमूलाभयाजाजिपिप्पलीमूलसैन्धवैः।
विडङ्गत्र्यूषणशटीरास्नाक्षारद्वयैर्घृतम् ॥८७॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च।
शुष्कमूलक कोलाम्बु चुक्रिका दाडिमस्य च ॥८८॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरक तुषोदकः।
काञ्जिकेन च तत् पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥८९॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम्।
सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥९०॥
तैलमभ्यञ्जनार्थञ्च सिद्धमेतैः प्रदापयेत्।
एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥९१॥
वातेश्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते।
दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥९२॥

पञ्चमूलाद्यघृततैल चूर्ण-पञ्चमूल, हरड़, जीरक, पिप्पली मूल, सैंधवनमक, विडङ्ग, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, कचूर, रास्ना, सज्जीखार, जवाखार, (इनके कल्क से) तथा सिरका, चकोतरा, अदरख के तथा सूखीमूली, बेर, इमली, अनार का, तक्र के पानी का, सुरामण्ड, सौवीरक, तुषोदक तथा कांजी से उसे पकाले। वह परम दीप्ति कारक है, शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास, कास, वात कफज (रोग) अथवा बिजौरे नीबू के स्वरस में सिद्ध घृत को पिलावे। अभ्यंग के लिए इनसे सिद्ध तैल को देवे। अथवा इन्हीं औषधों के द्वारा गुनगुने जल के साथ पिये। वात कफावृत साम, कफ में, आमसहित ग्रहणीरोग में अथवा वायु से प्रकुपित कफ में अत्यन्त अग्निदीपक यह चूर्ण पाचन के लिये देवे।

आमपक्वपुरीषपरीक्षा

मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसङ्घातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥९३॥
परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम्।
विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥९४॥

आम मल भारी होने से जल में डूबता है अति द्रव, अति घने, अति ठण्डे और कफ से दूषित मल को छोड़कर पक्वमल तो तैरता है। इस प्रकार प्रथम आमदोष वाले ग्रहणीरोग के मल की सामता अथवा निरामता की परीक्षा करके पाचन वा अन्य विधि से भले प्रकार उपचार करे।

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च।
व्योषं हिंग्वजमोदाञ्च चव्यञ्चैकत्र चूर्णयेत् ॥९५॥
गुटिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा।
कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ॥९६॥

चित्रकादिगुटिका --चित्रक, पीपरामूल, यवक्षार, सज्जीखार, सेंधानमक, सांभरनमक, कालानमक, बिड-लवण, सामुद्रलवण तथा सोंठ, मिर्चकाली, पिप्पली, हींग, अजमोदा तथा चव्य को एक जगह चूर्ण करले। (तत्पश्चात्) बिजौरे या अनार के रस से गोली करले। (यह) आम का पाचन करती है तथा अग्नि को शीघ्र दीप्त करती है।

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः।
मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरञ्चोष्णवारिणा ॥९७॥
देवदारुवचामुस्तानागरातिविषाभयाः।
वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वा लवणाः पिबेत् ॥९८॥
वर्चस्यामे सशूले च पिबेद्वादाडिमाम्बुना।
बिडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥९९॥
सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत्।

सोंठ, अतीस (और) मोथा (का) क्वाथ आम-पाचन करने वाला होता है। मोथा तक के द्रव्यों का कल्क हरड़ अथवा सोंठ गर्म पानी के साथ; देव-दारु, बच, मोथा, सोंठ, अतीस, हरड़ वारुणी मद्य में घोलकर सन्धान करके गर्म जल में या नमक विर-हित पिये। अथवा मल की आम तथा शूल में या अनार के रस से पिये। बिडलवण से (नमकीन बने) बेल, चित्रक, सोंठ को आमयुक्त, कफसहित कोष्ठशूल-कारी वात में पिये।

कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥१००॥
छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा।
पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥१०१॥

कलिङ्गादि चूर्ण--इन्द्रजौ, हींग, अतीस, वच, काला नमक, हरड़, अथवा हरड़, कालानमक, जीरा का मिर्च युक्त चूर्ण वमन, अर्श, ग्रन्थिरोग (तथा) उदर-शूल में गरम पानी से पिये।

अभयां पिप्पलीमूलं वचा कटुक रोहिणीम्।
पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥१०२॥
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णं वा कृत्वा कोष्णेन वारिणा।
पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥१०३॥

अभयादिक्वाथ तथा चूर्ण--हरड़, पीपरामूल, बच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चित्रक, सोंठ क्वाथ बनाकर पिये या चूर्ण करके गरम जल के साथ पिये। (यह) पित्त कफ से व्याप्त ग्रहणी के शूल को नष्ट करने वाली (और) हितकर है।

सामे सातिविषं व्योषं लक्षणक्षारहिंगु च।
निष्क्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥१०४॥

आमयुक्त ग्रहणीरोग में अतीस, सोंठ, मिर्च, पीपल, सेंधानमक, यवक्षार और हींग का काढ़ा बनाकर पिलावे या चूर्ण करके गरम पानी से पिये।

पिप्पली नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम्।
चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥१०५॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः।
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ११६॥

पिप्पल्यादिचूर्ण – पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा, कटेरी, बड़ीकटेरी, चित्रक, इन्द्रजौ, सांभरनमक, सेंधा-नमक, कालानमक, बिडलवण, सामुद्रलवण, तथा जवाखार के साथ उन सबका चूर्ण दही, गरम पानी सुरा आदि के साथ व्यक्ति अग्निवर्द्धन के लिये पिये। (यह) कोष्ठ की वात का हरने वाला है।

मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक्।
पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलाधिकम् ॥१०७॥
सौवर्चलं बिडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः।
शटीपुष्करमूलानि हिंगु हिंगुशिवाटिका ॥१०८॥
तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत्।
हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥१०९॥

मरिचादिचूर्ण—कालीमिर्च, कालाजीरा, पाठा, तिन्तिड़ीक, एक-एक कुडव, अम्लवेंनी के दस पल, आधा-आधा पल कालानमक, विडलवण, पाक्य लवण, यवक्षार सैन्धवसहित कचूर, पोकरमूल, हींग, हिंगुशिवाटिका (वंशपत्री या नाडी) वह सब एक स्थान पर सूक्ष्मचूर्ण करके प्रयोग करे। (यह) वातजन्य ग्रहणी में तथा अरुचि में हितकारक (होता है)।

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणस्य पलत्रयम्।
लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥११०॥
सञ्चूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत्।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत् ॥१११॥

एक प्रस्थ चारों अम्ल (कोल दाडिम वृक्षाम्लैः साम्लवेतससङ्गतैः चतुरम्लम्) तीन पल त्रिकटु का, चार लवण (सैंधव, सौवर्चल, विड तथा औद्भिद्) आठ पल शर्करा के चूर्ण करके शाक, दाल, अन्न, अचार, आदि में प्रयोग करे। (यह) कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पाण्डुरोग तथा शूलनाशक (होता है)।

वक्तव्य—[२८६] यह एक प्रकार का मसाला है।

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान्।
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम् ॥११२॥
शिलोद्भेदं तथाऽजाजीं पिष्ट्वाबदरसंमितम्।
परिभर्ज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक् ॥११३॥
रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च।
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शः प्लीहनाशिनी ॥११४॥

यवागू—वैद्य चव्य, दालचीनी, पिप्पलीमूल, धाय, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, चित्रक (इन) को, कैथ, बेल, पाठा, मोचरस, गजपीपल, को छैल छरीला, तथा जीरा प्रत्येक बेर (१/२ कर्ष) बराबर पीसकर घी में भूनकर वैद्य दही से यवागू सिद्ध करे। (उसे) कैथ, इमली, तिन्तिडीक और अनार के स्वरसों से (देने से वह) सब अतीसारों, ग्रहणी, गुल्म, अर्श तथा प्लीहा का नाश करती है।

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ॥११५॥
क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः।
तक्रारनालमद्यानि पानायारिष्ट एव च ॥११६॥

पञ्चकोल (पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-सोंठ) का यूष, अथवा मरिच मिला मूलियों का यूष, स्निग्ध, अनार और मट्ठे से खट्टा जाङ्गल जीवों के मांसरस से संस्कृत, दीपनीय द्रव्ययुक्त मांसाहारी प्राणियों के मांस का स्वरस, भोजन के लिए तक्र, कांजी, मद्य तथा अरिष्ट भी पीने के लिए प्रशस्त है।

वातिकग्रहणी-तक्रविधान

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात्।
श्रेष्ठं मधुर पाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥११७॥
कषायोष्ण विकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे हितम्।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥११८॥
तस्मात् तक्र प्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम्।
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत् ॥११९॥

दीपन-ग्राही और लघु होने से, पाक मधुर होने से तक्र ग्रहणी रोग में श्रेष्ठ होता है तथा (यह) पित्त को प्रकुपित नहीं करता है। (यह) कषैला, गरम, विकाशी (antispasmodic) और रूखा होने से कफ में हितकर है। वात में मधुर, अम्ल और सान्द्र होने से हितकर है तुरत की तैयार तक्र अविदाही (non-irritant) है। इस कारण से उदर रोगों के, अर्शरोगों के लिए जो तक्रप्रयोग कहे गये हैं उन सबको ग्रहणीरोग में प्रयोग करे।

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम्।
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ॥१२०॥
तक्रे तदासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः।
दीपनं शोथगुल्मार्शः क्रिमिमेहोदरापहम् ॥१२१॥

अजवाइन, आमले, हरड़, मिर्च काली, ३-३ पल पांचों लवण एक एक पल एकत्र कूटे। तक्र में उसका सन्धान करके बने तक्रारिष्ट को व्यक्ति पिये (जो) दीपन, शोथ, गुल्म, अर्श क्रमि रोग, प्रमेह (तथा) उदररोगनाशक होता है।

वक्तव्य—(२८७) ऊपर वातिकग्रहणी सम्पूर्ण चिकित्सा

में अग्नि को प्रदीप्त करने वाले और वातानुलोमक (carminative) पदार्थों का प्रयोग किया गया है। आरम्भ में आमाशय से लेकर पक्वाशय तक आमदोषों का पाचन करना चाहिए। आमदोष के नष्ट होने पर दीपनीय द्रव्यों के साथ विविध योग जिनमें घृत योग भी है देने चाहिए। जब अग्नि संधुक्षित होजावे तब स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, अनुवासन, निरूहण, लघ्वन्न सेवन आदि कार्य करना चाहिए।

पैत्तिकग्रहणी-चिकित्साक्रम

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्।
पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा ॥१२२॥
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः।
जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥१२३॥
दाडिमाम्लैः सर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः।
तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः ॥१२४॥

(पित्त में स्थित द्रवांश की अधिकता के कारण) अग्नि को बुझाने वाले उत्क्लेश को प्राप्त हुए पित्त को अपने स्थान में गया जानकर वैद्य वमन अथवा विरेचन द्वारा उसका निर्हरण करे। विदाह (क्षोभ irritation) न करने वाले अन्नों से तथा तिक्तरस युक्त हलके (अन्नों) से दीपन-ग्राही औषधों से घृत सहित अनार आदि से खट्टे बनाए जाङ्गल जीवों के मांसरसों से, मुद्ग आदि के यूषों से, खडों से भी, तथा तिक्तद्रव्यों के चूर्णों से तथा तिक्त द्रव्यों से साधित घृतों से उसकी अग्नि को प्रदीप्त करे।

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्।
षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥१२५॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान्।
कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥१२६॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत्।
किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥१२७॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे।
तिक्तकं यद्घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥१२८॥

चन्दनादि घृत—चन्दन, पद्माख, खस, पाठा, मूर्वा, कुटन्नट (मोथा कैवर्तीय), वच, सारिवा, आस्फोता (हाफरमाली), सप्तपर्ण, अडूसा (इन सब) को पटोलपत्र, गूलर, पीपल, बरगद, पिलखुन, पारस पीपल को, कुटकी, मोथा, तथा नीम को दो दो पल १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २ द्रोण) जल में सिद्ध करे। चतुर्थांश शेष रहने पर एक प्रस्थ घृत से चिराइता-इन्द्रजौ, वीरा (क्षीरकाकोली)), पिप्पली, नीलोफर एक एक तोला के कल्क के साथ पकावे। उसे पैत्तिक ग्रहणीरोग में पीना चाहिए। कुष्ठचिकित्सासाध्याय में (पृष्ठ २६४ पर) जो तिक्तक घृत कहा है उसे देवे।

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं तरसाञ्जनम्।
वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां तिक्तकरोहिणीम् ॥१२९॥
पिबेत्समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
पैत्तिके ग्रहणी दोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥१३०॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम्।
नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥१३१॥

नागरादि चूर्ण—सोंठ, अतीस दोनों, मोथा, धाय, रसौतसहित कुटज की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाठा, कुटकी बराबर बराबर उनके चूर्ण को मधु सहित तण्डुलोदक के साथ पिये। पैत्तिक ग्रहणी रोग में रक्त को जो टट्टी के साथ निकालता है (उसको) अर्श, गुदशूल तथा प्रवाहिका को कृष्णात्रेय द्वारा पूजित यह नागरादिचूर्ण जीत लेता है।

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान् समान्।
द्वौ चित्रकाद् वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥१३१॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्।
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ॥१३३॥

भूनिम्बादिचूर्ण—चिराइता, कुटकी, सोंठ, मिर्च, पीपल, मोथा, इन्द्रजौ, बराबर बराबर, चित्रक दो भाग, कुडा की छाल सोलह भाग (इन सब) को चूर्ण करे। गुड और शीतल जल के साथ पिया हुआ (यह चूर्ण) ग्रहणी-गुल्म दोषनाशक, कामला, ज्वर, पाण्डुरोग, प्रमेह, अरुचि तथा अतीसार का नाश करता है।

वक्तव्य—(२८८) पैत्तिकग्रहणी में मल के साथ जो रक्त भी आता है उसे दूर करने में भूनिम्बादि योग बहुत महत्त्व का सिद्ध हुआ है। एक ओर यह जहां भूनिम्ब और

कटुका से पित्त को शान्त करता है दूसरी ओर व्योष मुस्तक चित्रक से अग्नि को संधुक्षित करता है तो तीसरी ओर इन्द्रजौ तथा कुटज की छाल द्वारा रक्त को संस्थापित और मल को संग्रहीत करके ग्रहणी के दोष का संहार करता है। आचार्य ने कुटज (कुर्ची karchi) का सहस्रों वर्ष पूर्व जो उपयोग किया था आयुर्वेद के घोर शत्रु और इसे मरा हुआ ही देखने के लिए जीने वाले स्वबुद्धिशत्रु उस गुण का आज भी बरबस गान करते हैं।

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम्।
श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः ॥१३४॥
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम्।
पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ॥१३५॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च।
तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ॥१३६॥

बच, अतीस, पाठा, सप्तपर्ण, रसौत, सोनापाठा, सुगन्धवाला, अरलू, कुडा की छाल, दुरालभा; दारुहल्दी, पित्तपापड़ा, पाठा, अजवाइन, सहँजन, पटोल पत्र, सरसों, जूही, चमेली के पत्तों, जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, नीम के शाक और फलों को उसी (ग्रहणी रोग) को शान्त करने की इच्छा करता हुआ भूनिम्ब आदि पूर्वोक्त द्रव्यों के साथ (चूर्ण बना गुडशीताम्बु के साथ) योजना करे।

वक्तव्य—(२८६) ऊपर बचादि जो २४ द्रव्य लिखे हैं उनमें दो या तीन योग स्पष्टतया देखने में आते हैं। बच से दुरालभा तक एक योग है। दार्वी से पटोलपत्र दूसरा योग है और सिद्धार्थ से निम्बफल तक स्फुट द्रव्य या तृतीय योग है। तीनों द्रव्य समूहों की ओषधियों को भूनिम्बादि चूर्ण के साथ ही चूर्ण करके अलग-अलग या एक साथ प्रयोग कर सकते हैं। जिन महानुभावों ने वचादिचूर्ण के रूप में जो नामकरण करने का यत्न किया है वह उपयुक्त निर्देश के अभाव में निराधार है।

किराततिक्तः षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम्।
चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी ॥१३७॥
कुटज त्वक् फलं मुस्तं यमानी देवदारु च।
पटोलनिम्बपत्रैला सौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ॥१३८
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकं तथा।
तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा ॥१३९
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ।
कामलामतिसारञ्च मुखरोगञ्च नाशयेत् ॥१४०

किराततिक्तादि चूर्ण—चिरायता, बच, त्रायमाण सोंठ, मिर्च काली, पीपल, चन्दन, पद्माख, खस दारुहल्दी की छाल, कुटकी, कुटज की छाल, इन्द्रजौ मोथा, अजवाइन, और देवदारु, परवल, नीम के पत्ते इलाइची, सोरठीमिट्टी, अतीस, दालचीनी, सहँजन के बीज तथा मूर्वा और पित्तपापड़ा वह (सब) चूर्ण (करके) मधु के साथ चाटना चाहिए अथवा मद्य से (या) जल से पीना चाहिए। हृदय रोग, ग्रहणी रोग गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वरों, कामला तथा अतीसार और मुखरोग को (यह चूर्ण) नष्ट कर देता है।

श्लैष्मिकग्रहणी—चिकित्साक्रम

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि।
कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्द्धयेत् ॥१४१॥
पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकी।
पिप्पली पिप्पलीमूलं पाठाधान्यकनागरम् ॥१४२॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम्।
पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधयेत् ॥१४३॥
शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः।
कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥१४४॥
अम्लं चानु पिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा।
मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा ॥१४५॥

कफ से दूषित ग्रहणी में यथाविधि वमन कराये हुए (व्यक्ति) की कटु-अम्ल-लवण-क्षारों तथा तिक्त द्रव्यों से अग्नि का विवर्धन (संधुक्षण) करे।

ढाक की छाल, चित्रक, चव्य, बिजौरे, नीबू, हरड़, पिप्पली, पीपरामूल, पाठा, धनियां, सोंठ एक एक कर्ष को एक प्रस्थ (द्रव्यद्वैगुण्य से २ प्रस्थ) जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ को पानी के लिए प्रयोग करे तथा उससे यवागू (भी) सिद्ध करे।

फिर सूखी मूली के यूष से अथवा कुलथी के यूष से कटु-अम्ल-क्षार-लवण द्रव्यों से हलके अन्नों को खिलावे।

अनुपान के रूप में खट्टा मट्ठा, अथवा तक्रारिष्ट भी, अथवा मदिरा, मध्वरिष्ट, निगद या सीधु ही पीवे।

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः।
चित्रकस्य ततोऽर्द्धञ्च तथा भल्लातढकम् ॥१४६॥
मञ्जिष्ठात्रिपलञ्चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत्।
द्रोणशेषञ्च तच्छीतं मध्वार्द्धाढकसंयुतम् ॥१४७॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते।
कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥१४८॥
ग्रहणीं दीपयत्येव बृंहणोऽनिलरोगजित्।
शोथकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणाञ्च नाशनः ॥१४९॥

मधूकासव—महुए के फूल एक द्रोण विडङ्ग के फूल उसके आधे और चित्रक के फूल उसके आधे तथा एक आढक भल्लातक और तीन पल मजीठ को तीन द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से छह द्रोण) जल में पकावे। एक द्रोण शेष (रहने पर) उसे शीतल करके आधा आढक मधु मिलाकर इलाइची, कमल की नाल, अगर तथा चन्दन से लिपे घड़े में एक मास स्थित उत्पन्न उस आसव को प्रयोग करे। यह ग्रहणी को अवश्य दीप्त करता है बृंहण, वातरोग जीतने वाला, शोथ, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ तथा प्रमेहों का नाश करने वाला है।

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम्।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥१५०॥
तं पिबन्ग्रहणीदोषान् जयेत् सर्वान् हिताशनः।
तद्वद्द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥१५१॥

मधूकपुष्पासव—महुए के फूलों का स्वरस औटाकर आधा नष्ट किया हुआ शीतल करके चतुर्थांश मधु मिला पूर्ववत् रखे। (जब ठीक ठीक आसव बन जावे तो) उसको पीता हुआ हिताहार करने वाला सब ग्रहणी रोगों को जीत लेता है। इसी प्रकार अंगूर, गन्ना, खजूर के स्वरसों से आसुत (आसवों) को पीवे।

दुरालभाया द्विप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च।
मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥१५२॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम्।
सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥१५३॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितैः।
कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥१५४॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः कुष्ठवीसर्पमेहनुत्।
स्वरवर्णकरश्चैव रक्तपित्तकफापहः ॥१५५॥

दुरालभासव—दुरालभा के दो प्रस्थ, और आमले का एक प्रस्थ, चित्रक-दन्ती दोनों की दो मुष्टि (पल) नयी हरड सौ, चार द्रोण (या ८ द्रोण) जल से पका कर एक द्रोण अवशिष्ट को दो सौ (पल) गुड डाल छान शीतल कर एक कुडव शहद को मिलाकर प्रियंगु पिप्पली, विडंगों के एक एक कुडव चूर्णों से (युक्त कर) घी के चिकने घड़े में स्थित करके एक पाख के बाद तैयार होने पर उसको पीवे। ग्रहणी, पाण्डु-रोग, अर्श, कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह नाशक, स्वर-वर्ण को करने वाला तथा रक्तपित्त और कफनाशक है।

हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम्।
एषां पञ्चपलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥१५६॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक्।
चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान् ॥१५७॥
प्रियंगुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान्।
लोध्रं शावरकञ्चैव मासार्द्धं तं पिबेत् ततः ॥१५८॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तनुत्।
आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥१५९॥

मूलासव—हल्दी, दोनों पञ्चमूल, क्षीरकाकोली, ऋषभक जीवक, इनके पांच पांच पल बराबर भागों को चारद्रोण (या ८ द्रोण) जल के साथ पकावे। एक द्रोण जल शेष रहने पर छान कर गुड के सौ पल शहद सहित प्रियंगु, मोथा, मजीठ, विडंग, मुलहठी केवटी मोथा, सावर लोध्र, आधा आधा कुडव बरा-बर डालदें। उसको आधामास बाद पीवे। यह सिद्ध (हुआ) मूलासव दीपन, रक्तपित्तनाशक, आनाह, कफ, हृद्रोग पाण्डुरोग और अङ्गसाद (शारीरिक

शैथिल्य) नाशक है।

प्रास्थिकीं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यविभीतकात्।
उदकप्रस्यसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ॥१६०॥
तस्मात् पलं सुजातात् तु सलिलाञ्जलि संयुतम्।
पिवेत् पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ॥१६१॥
स्वस्थोऽप्येनं पिवेन्मासं नरः सिद्धरसायनम्।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्ति रोगाणां येऽत्र कीर्तिताः ॥१६२॥

पिण्डासव—एक प्रस्थ पीपल छोटी पीसकर गुड (और) विभीतक के मध्यभाग में स्थित मज्जा (मींगी) एक एक प्रस्थ, जल एक (या दो) प्रस्थ मिला जौ के ढेर में रखदे। भले प्रकार (सन्धान हुए) उस आसव में से एक पल को एक अञ्जलि जल का मिला कर पीवे। रोगों के समूह का नाशक यह पिण्डासव (है)। जो यहां (ऊपर) रोग गाये गये हैं उन रोगों की अनुत्पत्ति की इच्छा रखता हुआ व्यक्ति (इस) सिद्ध रसायन को स्वस्थ होकर भी पिये।

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते।
मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥१६३॥
कुडवार्द्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा।
चातुर्थिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च ॥१६४॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनम् ।
हरेण्वेलुकतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ॥१६५॥
कार्षिकांस्तं स्थितं मासमत ऊर्द्ध्वं प्रयोजयेत्।
मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥१६६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शः श्वयथुज्वरान्।
वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥१६७॥

मध्वरिष्ट—पिप्पली और मधु से लिप्त नये अगर से धूपित घड़े में एक आढक शहद, बराबर (एक आढक) जल तथा इन (वस्तुओं) का चूर्ण मिलावे—विडंगों का आधा कुडव, पिप्पलियों का एक कुडव, तथा वंशलोचन एक पल तथा केशर कालीमिर्चें, दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपत्र, कचूर, सुपारी, अतीस, मोथा, सम्हालूबीज, एलुआ, तेजोह्वा (चव्य या तेजवल), पिप्पलीमूल, चित्रकां को एक एक कर्ष लेकर (उसमें डालकर) उसको एक मास स्थित करके फिर आगे प्रयोग करे। मन्द अग्नि को सन्दीप्त करती है, विषम अग्नि को सम बनाती है हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, अर्श, शोथ, ज्वरों, अन्य वातकफ के रोगों तथा अन्य रोगों को मध्वरिष्ट नष्ट करता है।

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्चलवणानि च।
मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ॥१६८॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिवेत् प्रातः सुखाम्बुना।
श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥१६९॥
एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते।
गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ॥१७०॥

पिप्पलादिचूर्ण—मूल (पीपरामूल) सहित, छोटी पीपल, दोनों (सज्जी, जवा) खार पांचोंनमक तथा बिजौरे नीबू की जड़, हरड़, वाइसुरई, कचूर, मिर्चकाली, सोंठ, सबको बराबर भाग (ले) उस बल-वर्णअग्नि-वर्द्धक चूर्ण को तैयार करके प्रभात में गुनगुने जल के साथ कफज ग्रहणी दोष में पीवे। इन्हीं औषधों से सिद्ध घृत तथा जो गुल्मचिकित्सा में षट्पलघृत और भल्लातकघृत कहा गया है उनको वातिक ग्रहणीदोष में पीना चाहिए।

बिडं काचोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम्।
सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत् ॥१७१॥
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य द्व्याढकेन तु।
आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिवेदग्निविवर्धनम् ॥१७२॥

क्षारघृत—विडलवण, कांच से निकाला (कचलोना) नमक, सज्जी, जवाखार, सातला (सेहुण्ड-भेद), कटेरी तथा चित्रक इनको जलावे। सातबार जल डाल परिस्रुत किए उस क्षार के २ आढक (द्रव-द्वैगुण्य से ४ आढक) से एक आढक घी पकाकर अग्निवर्द्धक (इस क्षारघृत) को पीवे।

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम्।
चित्रकातिविषे हिंगु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ॥१७३॥
वचां च कार्षिकान् पञ्चलवणानां पलानि च।
घृततैलाद् द्विकुडवे द्वे प्रस्थे दध्न एव च ॥१७४॥
चूर्णीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे।

अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥१७५॥
खादेत् पाणितलं तस्मिन् जीर्णे स्यान्मधुराशनः ।
वातश्लेष्मामयान् सर्वान् हन्याद् विषगरांश्च सः ॥१७६॥

पिप्पल्यादिक्षार—पिप्पलीमूलसहित पीपलछोटी, पाठा, चव्य, इन्द्रजौ, सोंठ, चित्रक, अतीस, हींग, गोखुरु, कुटकी, वच एक-एक कर्ष को और एक-एक पल पांचों लवणों को चूर्ण करके दो कुडव घृत तैल, तथा दो प्रस्थ दही के साथ पकाकर धीरे-धीरे रस के सूख जाने पर अन्तर्धूम जलाकर चूर्ण करके घी से आप्लुत (मिला) करके उसके एक पाणितल (१ कर्ष) को खावे। उसके जीर्ण होने पर मधुर आहार करे। सब वातकफज रोगों, तथा विष और गरों सबको वह नष्ट कर देता है।

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रिकम् ।
अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥१७७॥
सक्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये चाप्यवचारितः ।
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत् ॥१७८॥

भल्लातकादिक्षार—भिलावा, सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, सेंधानमक, कालानमक, विडनमक, २-२ पल (लेकर) गाय के गोबर के कण्डों की अग्नि से अन्तर्धूम जलावे। वह क्षार घी से किया गया या (अन्य) भोजन के साथ लिया गया हृदयरोग, पाण्डु, ग्रहणीरोग, गुल्म, उदावर्त, और शूल को नाश करता है।

दुरालभाकरञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम्
षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ॥१७९॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत् ।
दग्ध्वा च तं पिबेत्क्षारं ग्रहण्यां बलवर्द्धनम् ॥१८०॥

दुरालभादिक्षार—दुरालभा, दोनों (वृक्ष तथा लता) करञ्ज, सप्तपर्ण, इन्द्रजौसहित, बच, मदनफल, मूर्वा, पाठा तथा अमलतास, बराबर भाग चूर्ण करके गोमूत्र के साथ अन्तर्धूम जलावे। जलजाने पर ग्रहणीरोग में उस बलवर्द्धक क्षार को पीवे।

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम् ।
दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ॥१८१॥

भूनिम्बादिक्षार—चिरायता, रोहिणी (कबीला), कुटकी, पटोलपत्र, नीम की छाल, पित्तपापड़ा भैंस के मूत्र के साथ जलावे। यह क्षार अग्निवर्द्धक है।

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ।
मुस्तञ्चच्छागमूत्रेण दहेत् क्षारोऽग्निवर्द्धनः ॥१८२॥

हरिद्रादिक्षार—हल्दी, दारुहल्दी, बच, कूठ, चीता, कुटकी, और मोथा बकरी के मूत्र से (अन्तधूम) जलावे। (यह) क्षार अग्निवर्द्धक है।

चतुष्पलं सुधाकाण्डात् त्रिपलं लवणत्रयात् ।
वार्ताकीकुडवञ्चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले ॥१८३॥
दग्धानि वार्ताकुरसे गुटिका भोजनोत्तराः ।
भुक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ॥१८४॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः ।
इत्येषा क्षारगुटिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता ॥१८५॥

क्षारगुडिका—सेहुण्ड का सूखा तना चार पल, सैंधा काला-विडनमक ३ पल, बैंगन एक कुडव, आक का काण्ड आठ पल, चित्रक २ पल, अन्तधूम दग्ध करके बैंगन के रस में (घोट कर) भोजन के बाद गुटिका प्रयोग करानी चाहिए। भोजन के बाद लेने से भुक्त अन्न को शीघ्र पचाता है, कास श्वास अर्श को हितकर है। विसूची, जुकाम, हृद्रोग, शमन करने वाला होता है। यह क्षारगुटिका कृष्णात्रेय द्वारा वर्णित है।

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शां हिंगु चित्रकम् ।
चूर्णीकृत्य पलाशाग्रक्षारे मूत्रस्नुते पचेत् ॥१८६॥
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात्कोलं सुखाम्बुना ।
मद्यैर्वा ग्रहणीदोषे शोथार्शः पाण्डुमान् पिबेत् ॥१८७॥

वत्सकादिक्षारयोग—इन्द्रजौ, अतीस, पाठा, दुरालभा, हींग, चित्रक (इनको) चूर्ण करके गोमूत्र में परिस्नुत पलाश के शुंग के क्षार में लोहे के पात्र में पकावे। गाढ़ा होने पर उससे आधा कर्ष गुनगुने जल से या मद्य से ग्रहणीरोग, शोथ, अर्श तथा पाण्डुरोगी पिये।

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः ।
रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिंगु च ॥१८८॥

मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ ॥१८९॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च।
कार्षिकं लवणानाञ्च पञ्चानां पलिकान्पृथक् ॥१९०॥
भागान् दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितम्।
अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात् पाणितलं पिबेत् ॥१९१॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्।
प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान् ॥१९२॥
शोषातिसारश्वयथु प्रमेहानाहहृद्गदान्।
हन्यात्सर्वविषञ्चैव क्षारोऽग्निजननो वरः ॥१९३॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात् पयसा सह।
एष क्षारो महावीर्यः कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥१९४॥

त्रिफलादिक्षार—हरड़, वहेड़ा, आमला, चव्य, वेलगिरी, लोहभस्म, कुटकी, मोथा, कूठ, पाठा तथा हींग, मुलहठी, मोखाक्षार, जवाखार, सोंठ, मिर्चकाली, पीपल छोटी, वच, विडङ्ग, पीपरामूल, सज्जी, नीम, चीते की छाल, मूर्वा, अजमोदा, इन्द्रजौ, गिलोय, देवदारु एक एक कर्ष पांचों नमकों के अलग अलग एक एक पल को ३ कुडव दही तथा (उतने ही) घी मिश्रित तैल से मिलाकर अन्तर्धूम विधि से धीरे धीरे जलाकर उसमें से एक कर्ष घी से पिये। कफवातज अर्श, ग्रहणीरोग तथा पाण्डुरोगी, प्लीहोदर, मूत्रग्रह, श्वास, हिचकी, कास, कृमिरोग, ज्वरों,शोष, अतीसार, शोथ, प्रमेहों आनाह, हृद्रोगों को तथा सम्पूर्ण विषों को नष्ट कर देता है। (यह) श्रेष्ठ अग्निजनक क्षार (है)। (उसके) जीर्ण होने पर मांसरस से या दूध के साथ मधुर पदार्थ खावे। कृष्णात्रेय द्वारा कहा गया यह महा बलवान् क्षार (है)।

वक्तव्य—(२१०) ग्रहणी की चिकित्सा में आयुर्वेद ने जो उच्च आसन ग्रहण कर रक्खा है वह उसे विश्व के समक्ष बहुत ऊंचा उठा देता है। योग्यतम सिद्धान्तों का प्रतिपादन, तर्कशुद्ध सम्प्राप्ति के साथ ग्रहणी के निदान में अग्नि की दृष्टि का इतना विशद विवेचन देखकर यह स्पष्टतः कहा जासकता है कि बड़े बड़े रिसर्च करने वालों ने इस रोग पर पूर्ण विजय प्राप्त कर रक्खी थी। आमदोषों का निर्हरण, अग्नि का सन्धुक्षण और आहार का उचित नियमन उनकी चिकित्सा के मूल तत्व रहे हैं। घृतप्रयोग, आसवारिष्टों का उपयोग और फिर विशिष्ट क्षारद्रव्यों को रोगी को प्रदान करना बहुत बड़ा महत्व रखता है। क्षारघृत, पिप्पल्यादिक्षार भल्लातकादिक्षार, दुरालभादिक्षार, भूनिम्बादिक्षार, हरिद्रादिक्षार, क्षारगुडिका, वत्सकादिक्षार, त्रिफलादिक्षार, इन कतिपय क्षारयोगों में आयुर्वेद चिकित्सा का सार छिपा हुआ है। क्षारयोगों के कारण अग्नि का सन्धुक्षण विशेष रूप से होता है। अग्नि का आमदोष गल जाता है। आंतों की सफाई होकर नई श्लेष्मल कला का निर्माण होजाता है। मल के साथ स्प्रू (sprue) में जो चर्बी भी निकल जाती है उसका निकलना इस क्षारीय प्रयोग से नष्ट होजाता है। जिसके कारण रोगी का बल, वर्ण और अग्नि की यथोचित वृद्धि होजाती है। सुश्रुत ने क्षार गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है— तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः। नानौषधसमवायात् त्रिदोषघ्नः शुक्लत्वात् सौम्यः तस्य सौम्यस्यापिसतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा स खल्वाग्नेयौषधि गुण भूयिष्ठत्वात् कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः॥

सान्निपातिकग्रहणी-चिकित्साक्रम

त्रिदोषे विधिवद्वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्।
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्द्धनान् ॥१९५॥
क्रियाया चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति।
व्यत्यासात्तां समस्तां च कुर्याद्दोषविशेषवित् ॥१९६॥

सान्निपातिक ग्रहणी में वैद्य विधिपूर्वक पञ्चकर्मों को करावे। तथा अग्निवर्द्धक घृत, क्षार, आसवारिष्टों को प्रदान करे। ग्रहणी रोग के लिए वातादिक की जो चिकित्सा कही गई है क्रम से और सबको मिलाकर (जैसा उचित हो) दोषों का विशेषवेत्ता वैद्य उसको करे।

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत्।
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः ॥१९७॥
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम्।

ग्रहणी दोषिभिः सेव्याः क्रियाञ्चावस्थिकीं शृणु ॥१६८॥

स्नेहन, स्वेदन, शोधन, लंघन तथा जो दीपन (है उस) को, चूर्णों को लवण, क्षार, मधु, अरिष्ट, सुरा आसव तथा विविध तक्रयोग और दीपन घृतों के योग ग्रहणीदोष से पीड़ित को सेवन करने चाहिए। अवस्थानुसार चिकित्सा को हे अग्निवेश! तू सुन।

ग्रहणी—आवस्थिकी चिकित्सा

ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम्।
सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम् ॥१६६॥
परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम् ॥२००॥
बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम्।
सन्धुक्षति यथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः ॥२०१॥
स्नेहमेव परं विद्याद्दुर्बलानलदीपनम्।
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ॥२०२॥
मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते।
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः ॥२०३॥
तथा समानं पवनं प्रसन्नो मार्गमास्थितः।
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम् ॥२०४॥
काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः।
स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत् ॥२०५॥

कफज ग्रहणी में रूक्ष दीपन तिक्तद्रव्ययुक्त ष्ठीवन कर्म (कवलधारण करके धीरे-धीरे निकालना) और बहुत कफ से पीड़ित कृशव्यक्ति में एक बार रूक्ष, एक-बार स्निग्ध (उपचार) हितकर होता है। शरीर के आमदोष की परीक्षा करके स्नेहयुक्त दीपन, अधिक पित्त की (परीक्षा करके) मधुरयुक्त दीपन (तथा) तिक्त तथा बहुत वात से पीड़ित (ग्रहणी रोग में) लवण अम्ल (रसप्रधान) स्नेह हितकर (होते हैं) जैसे ईंधन से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार इन अग्निप्रदीपक औषधों से लाभ होता है।

दुर्बल अग्नि को दीप्त करने वाला स्नेह को ही श्रेष्ठ जाने। स्नेह द्वारा प्रज्वलित अग्नि के शमन के लिए बहुत भारी अन्न भी समर्थ नहीं होता। जो मन्दाग्नि वाला अपक्व मल को अधिक मात्रा में निकालता है वह दीपन द्रव्यों से युक्त मात्रापूर्वक घी पीवे। उससे प्रसन्न हुआ समान वात अपने मार्ग में पहुंचकर अग्नि के समीपचारी होने से अग्नि के बल को शीघ्र बढ़ाता है। जो मानव मल के कठिन होने से कष्टपूर्वक मल त्याग करता है वह व्यक्ति अन्न के बीच में नमकयुक्त घी पीवे।

विशेष हेतु दृष्ट्या अग्निमान्द्य चिकित्सा

रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम्।
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः ॥२०६॥
भिन्नेगुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः।
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः ॥२०७॥
दोषवृद्धया तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत्।
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम् ॥२०८॥
उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद्घृतम्।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत् ॥२०६॥

रूक्षता के कारण (अग्नि के) मन्द होने पर घी या तैल दीपन द्रव्यों से सिद्ध (वा युक्त) करके पीवे। अत्यन्त स्नेह (के सेवन) से (होने वाली) मन्दाग्नि में चूर्ण और आसवारिष्ट हितकर हैं। मल भिन्न (फटा और पतला) आने पर (जो) गुदा के लिप्त होने से (सम्भव है) तैल, सुरा, आसव (हितकर है)। उदावर्त्त के कारण अग्निमान्द्य होने पर तो निरूहण (और) स्नेह बस्तियां तथा दोष वृद्धि के कारण अग्नि मन्द होने पर दोषानुसार शोधन करे। रोग होने के कारण मन्द अग्नि होने पर अग्निदीपक घी ही तथा उपवास से अग्निमान्द्य होने पर यवागू के साथ घी पीवे। भोजन के बीच में पिया हुआ वह (घी) बल्य, दीपन तथा बृंहण (होता है)।

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु कामक्षीण कृशान्नरान्।
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम् ॥२१०॥
लघुतीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम्।
मांसोपचितमांसत्वात् तथाऽऽशुतर बृंहणाः ॥२११॥

बहुत समय तक स्त्रीप्रसंग के कारण कामक्षीण

अथवा सामग्रीय पाठ होने पर बहुत समय तक [रो]ग के कारण क्षीण) होने पर कृश व्यक्तियों को [मां]सभोजी प्रसह जीवों के खट्टे बनाए मांसरसों के [सा]थ लघु भोजन (करावे)। वे तीक्ष्ण, उष्ण, शोधन [क]रने वाले होने से शीघ्र अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। [मां]स से पुष्ट मांस वाले होने से (वे) शीघ्र बृंहण होते हैं)।

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ॥२१२॥

जैसे अग्नि बिना ईंधन या थोड़ी होने पर अत्यधिक ईंधन से जैसे (नहीं जलती वैसे ही) कायाग्नि न तो अभोजन से और न अति भोजन से (ही) दीप्त होती है।

वक्तव्य—(२६१) ईंधन और आहार, कायाग्नि और चूल्हे की अग्नि दोनों का सामञ्जस्य बैठाकर ऊपर जो यथामात्रा आहार की परिपाटी की ओर लक्ष्य किया गया है वह संसार भर के स्वास्थ्य के नियमों में सर्वोपरि है।

स्नेहान्नपानैर्विविधैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः।
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्नेः प्रवर्द्धते ॥२१३॥

स्नेहों से, अन्नपानों से, विविध चूर्ण, अरिष्ट, सुरा तथा आसवों से वैद्य द्वारा ठीक-ठीक प्रयुक्त (होने से) अग्नि का बल बढ़ता है।

यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम्।
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिरः ॥२१४॥

जिस प्रकार सार लकड़ी की अग्नि स्थिर तथा देर तक ठहरती है उसी प्रकार स्नेहान्न विधियों से अन्तराग्नि स्थिर होजाती है।

हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते।
अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना ॥२१५॥

जीर्ण होने पर हित और मित (मात्रापूर्वक) आहार सेवन करता हुआ (पुरुष) चिरकाल तक आरोग्य का सेवन करता है। पुरुष धातुओं के अवैषम्य (बिना उनको विषम बनाए) के द्वारा अग्निवृद्धि करने में यत्न करे।

समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माग्निसंस्थितः।
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ॥२१६॥

देह के भीतर, अग्निरूप स्थित ऊष्मा सम दोषों से सम होकर वह आरोग्य, पुष्टि, आयु तथा बल की वृद्धि के लिए अन्न को पचाती है।

दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद्गदान्।
वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते ॥२१७॥

विषम दोषों से मन्द या अतिवृद्ध (अग्नि) रोगों को उत्पन्न करती है। मन्दाग्नि का वाच्य (कथनीय) वहां (ऊपर) कह दिया गया है (अब) अति वृद्ध (तीक्ष्ण अग्नि) का वर्णन किया जायगा।

अत्यग्नि निदान लक्षण चिकित्सा

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥२१८॥
तदालब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः।
अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥२१९॥
पक्त्वान्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युञ्चोपनयेन्नरम् ॥२२०॥
भुक्तेऽन्ने लभते शान्ति जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥२२१॥

मनुष्य में कफ क्षीण होने पर वातानुबन्ध युक्त कुपित पित्त अपनी ऊष्मा से अग्नि के स्थान में अग्नि के बल को बढ़ाता है। तब वातयुक्त लब्धबल अग्नि देह के रूक्ष होने पर तीक्ष्णता के कारण शीघ्र अन्न को अभिभूत करके बार-बार पचाता है। अन्न को पचाकर वह फिर रक्तादि धातुओं को भी (भोजन के अभाव में) पचाता है। इस कारण रोगदौर्बल्य के कारण मनुष्य को मृत्यु (भी) खींचकर ले जाती है। अन्न सेवन करने पर वह शान्ति पाता है जीर्ण होते ही बेचैन हो जाता है। तृषा, श्वास, दाह, मूर्च्छा आदि व्याधियां अत्यग्नि से उत्पन्न होती हैं।

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः।
अन्नपानैर्नयेच्छान्ति दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ॥२२२॥

उस अग्नि को भारी, चिकने, शीतल, मधुर, पिच्छिल, अन्नपानों के द्वारा (उस प्रकार) शान्त करे (जिस प्रकार) जल के द्वारा प्रदीप्त अग्नि (शान्त होती है)

मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ।
लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ॥२२३॥

इंधनरहित होकर अवकाश पाकर जिस प्रकार (रोगी) को न मार डाले उस प्रकार इसका जीर्ण होने पर भी बार-बार भोजन करावे ।

पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ।
अद्यात्तथौदकानूपपिशितानि घृतानि च ॥२२४॥

खीर, खिचड़ी, स्निग्ध पदार्थ, पिष्टी के पदार्थ, गुड़ के बने द्रव्य तथा औदक आनूप जीवों के मांस और घृतों को (अत्यग्नि से पीड़ित व्यक्ति) खावे ।

मत्स्यान् विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरांस्तथा ।
च घृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम् ॥२२५॥

विशेष करके स्थिर जलवासी पिच्छिल मछलियों को तथा मेढ़ के अत्यग्नि नाशक घृत तथा मांस को वे ।

यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ।
गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत् ।
पयो वा शर्करासर्पिर्जीवनीयौषधैः शृतम् ॥२२६॥

भूख लगने पर शहद निकालने के बाद बचे (मोम) के साथ या घी के साथ यवागू पिये। गेहूँ के आटे का मन्थ या जीवनीय द्रव्यों के साथ उबाला दूध शक्कर घी डालकर सिरावेध करने के बाद पिये ।

फलानां तैलयोनीनामुत्कारिकाश्च शर्कराः ।
मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ॥२२७॥

तैलवाले तिल, बादाम पिस्ता आदि के फलों के मिश्री साथ बने उत्कारिका (पिण्ड या लड्डू) तथा स्निग्ध मांसरस अग्निमार्दव उत्पन्न करते हैं ।

पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन संयुतम् ।
गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ॥२२८॥

शीतल जल के साथ मोम मिला घी (अथवा) गेहूँ के चून को घी के साथ (भून कर) दूध के साथ (अत्यग्नि पीडित) व्यक्ति पिये ।

आनूपरससिद्धान् वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान् ।
पयसा संमितं चापि घनं त्रिस्नेहसंयतम् ॥२२९॥

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् ।
ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ॥२३०॥

आनूप जीवों के मांसरस से सिद्ध तैल छोड़कर शेष तीनों स्नेहों (घी वसा मज्जा) को (पीवे) दूध मिलाकर (गेहूं के आटे से) घन (बनाकर) त्रिस्नेह (घीवसामज्जा) युक्त पिये। नारी के दुग्ध से युक्त गूलर की त्वचा को पीवे। या इन दोनों से सिद्ध खीर को अग्नि शान्त करने के लिये खावे ।

श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् ।
असकृत् पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम् ॥२३१॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित् ।

उपचार के विधान का जानने वाला प्राज्ञ वैद्य, भले प्रकार देखकर, उसको श्यामालता, निशोथ से पकाये दूध की विरेचन पित्त की शान्ति के लिए देवे और बाद में खीर का भोजन दे ।

यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम् ॥२३२।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ।

जो कुछ भी मधुर, मेद्य (fatty) कफकारक और भारी आहार द्रव्य वह सब खाकर दिन में सोना (भस्मक रोग में हितकर है) ।

मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः समश्नुते ॥२३३॥
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ।

जो मनुष्य अति प्रबल अग्नि होने पर अप्रतान्त (अग्लान-बिना भूख) मेद्य अन्नों को सेवन करता है वह उसके कारण होने वाले विकारों को प्राप्त नहीं होता अपितु उसे पुष्टि ही होती है ।

कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ॥२३४॥
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।

कफ के बढ़ जाने पर वात और पित्त जीत लेने पर तथा अग्नि को सम तथा धातुओं का साम्य करने पर अन्न पुष्टि, आयु और बल की वृद्धि के लिए पचाता है ।

वक्तव्य—(२६२) अत्यग्नि की चिकित्सा में वैद्य को कफ की वृद्धि, पित्त और वात का नाश, अग्नि और धातुओं के साम्य की ओर लक्ष्य रखकर चिकित्सा करनी चाहिए

तभी रोगी पुष्ट होगा उसका बल और जीवन बढ़ेगा।

भवन्ति चात्र।

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ॥२३५॥
विषमं बहु चाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः।
भुक्तं पूर्वान्न शेषे तु पुनरध्यशनं मतम्।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा ॥२३६॥

समशन—पथ्य और अपथ्य (हितकारी) द्रव्यों के एकत्र मिलाकर भक्षण करने को समशन माना गया है।

विषमाशन—(कभी) बहुत (कभी) थोड़ा (खाना) अथवा भोजन काल के अप्राप्त होने पर या बीत जाने पर खाना विषमाशन माना गया है।

अध्यशन—पूर्व अन्न के पचने से शेष रहने पर ही (बिना पूरा पचे ही) भोजन करना पुनः अध्यशन माना गया है। ये तीनों भी घोर व्याधियों अथवा मृत्यु को उत्पन्न करते हैं।

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति।
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥२३७॥
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः।
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ॥२३८॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति।
अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम्।
नैव दुष्यति तेनैव समं संपद्यते यथा ॥२३९॥

प्रातःकाल के भोजन के जीर्ण न होने पर भी सायंकाल का भोजन दोषकर नहीं होता। दिन में सूर्य के द्वारा हृदय कमलवत् खिल उठता है। उसके खिलने पर स्रोतस् भी पूर्णतया खुल जाते हैं।

दिन में व्यायाम करने से, विविध विहार करने से और मन के इधर उधर डोलने से इसकी धातुएँ क्लेद को प्राप्त नहीं होतीं। उनके क्लेदरहित होने पर पूर्व अन्न में छोड़ा हुआ अन्य आहार जैसे अविकृत दूध में मिलाया हुआ अन्य दूध दूषित नहीं होता उसी प्रकार (आहार भी) नहीं ही दुष्ट होता बल्कि उसके द्वारा वह समता को प्राप्त कर लेता है।

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च।
यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः ॥२४०॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति।
विदग्धेषु पयः स्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम् ॥२४१॥

रात्रि में हृदय के मलिन होने और मार्गों के बन्द होजाने पर तथा कोष्ठ के भी संवृत होजाने पर देह की धातुएँ क्लेद को प्राप्त करती हैं। उनके क्लेद-युक्त होने पर अपक्व अन्न में छोड़ा हुआ दूसरा अन्न फटे दूध में छोड़े हुए दूसरे गरम दूध की तरह दुष्ट हो (फट) जाता है।

नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान्।
तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ॥२४२॥

इसलिए बल तथा आयुरक्षण की इच्छा करता हुआ बुद्धिमान् रात्रि के भोजन के बिना पचे होने पर अन्य आहार सेवन न करे।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकाः—

अन्तरग्निगुणा देहं यथा सन्धारयेच्च सः।
यथान्नं पच्यते यच्च यथाहारः करोत्यपि ॥२४३॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान्।
रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥२४४॥
वृष्याणामाशुकृद्धे तुर्द्धातुकालोद्भवक्रमः।
रोगैकदेशकृद्धेतुरान्तराग्निर्यथाधिकः ॥२४५॥
प्रदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगान् जनयत्यपि।
ग्रहणी या यथा यच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥२४६॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम्।
चतुर्विधस्य निर्दिष्टं तथा चावस्थिकी क्रिया ॥२४७॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम्।
उक्तवानिह तत् सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥२४८॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)

अन्तरग्नि के गुण, जैसे वह (अग्नि) देह को धारण करती है, जैसे अन्न को पचाती है और जैसे आहार को करती है वह भी जो अग्नियां जिनको पुष्ट करती है, जितने प्रकार की अग्नियां हैं, जो जो अग्नियां जिन्हें पचाती हैं रसादिकों की क्रम से

उत्पत्ति और उनसे ही मलों की उत्पत्ति, वृष्यों के आशुपरिणामकारी होने का कारण, धातुओं का कालानुसार उत्पत्ति क्रम, रोगों के एक देश (अवयव) में होने का कारण, अन्तराग्नि की प्रधानता में कारण जैसे दुष्ट होती है, दुष्ट होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है या जिसे ग्रहणी कहते हैं और जो ग्रहणी रोग का लक्षण है जो पूर्वरूप है चारों प्रकार की ग्रहणी के अलग अलग चिकित्सा सहित जो व्यंजन (लक्षण) बतलाये हैं तथा ग्रहणी की आवश्यकी चिकित्सा, जैसे अत्यग्नि उत्पन्न होती है और उसकी जो चिकित्सा है वह सब मुनि ने यहां ग्रहणी दोष (नाम के अध्याय) में कह दिया (है)।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सितस्थाने ग्रहणीदोषचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इस प्रकार अग्निवेश कृत शास्त्र में चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (प्रति के) न मिलने पर दृढबल द्वारा पूरा किये गये चिकित्सास्थान में ग्रहणीचिकित्सित नामक पन्द्रहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

षोडशोऽध्यायः

पाण्डु चिकित्सा

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) पाण्डुरोग चिकित्सित (नामक अध्याय) का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा

पाण्डुरोग के भेद

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥२॥

पाण्डुरोग पांच माने गये हैं। वात-पित्त कफ से तीन, चौथा सन्निपात से (और) पांचवा मिट्टी खाने से।

वक्तव्य—(२६२) रोगी के वर्ण की पाण्डुता पाण्डुरोग कहलाती है। चक्रपाणि ने हरतालवर्ण को पाण्डुवर्ण माना है—पाण्डुना वक्ष्यमाणेभ्यः हरितालवर्णेभ्यः प्रधानेन वर्णेन चिकित्सितो रोगः पाण्डुरोगः।

सम्प्राप्ति

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु।

शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥३॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥४॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः।
वैवर्ण्यं भजते तस्य हेतुं शृणु स लक्षणम् ॥५॥

जिस रोगी के पित्तप्रधान दोष धातुओं में कुपित होते हैं (तो) उसकी धातुओं की शिथिलता तथा गौरव उत्पन्न होजाता है। उसके बाद वर्ण-बल-स्नेह तथा और भी अन्य जो ओज के गुण हैं वे दोष तथा दूष्य के अत्यन्त दूषित होने से अत्यन्त क्षीण होजाते हैं। इसलिए अल्प रक्तवाला, अल्प मेदवाला, सारहीन, शिथिल होगई हैं इन्द्रियां जिसकी विवर्णता (पाण्डुता) को प्राप्त होता है। उसके लक्षण सहित हेतु को (तू) सुन।

वक्तव्य--(२९४) सम्पूर्ण पाण्डुरोग में पित्तदोष की प्रधानता रहती है। पित्तसहित अन्य कुपित दोष धातुओं को निष्क्रिय करके ओज को मन्द करने का यत्न करते हैं। दोष-दूष्य दोनों के विकारग्रस्त होने से रोगी ओजहीन और विवर्ण होजाता है उस पर पाण्डु रङ्ग चढ़ जाता है। खून की कमी (anaemia), मेद की कमी (poor in fat) और सार की कमी (loss of vitality) उसमें मुख्यतया देखी जाती है।

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धाहारसेवनात् ।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥६॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात् तथा।
प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद् वेगानाञ्च विधारणात् ॥७॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः ।
समुदीर्णं यथापित्तं हृदये समवस्थितम् ॥८॥
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश।
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ॥९॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्।
पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ॥१०॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः

हेतु

क्षार-अम्ल-नमकीन-अत्यन्त गरम (और) विरोधी आहार के सेवन करने से; सेम-उड़द-तिल कल्क (और) मीठे तेल के प्रयोग करने से; विदग्ध अन्न होने पर, दिन में सोने से, व्यायाम से, मैथुन से वमनादि पञ्चकर्म तथा ऋतु की विषमता से तथा वेगों के धारण करने से; काम-चिन्ता-भय-क्रोध-शोक (इनमें से किसी या सभी मनोभावों से) आहतमन वाले के हृदय में स्थितपित्त जब बढ़ जाता है तब प्रबल वायु द्वारा फेंका जाता हुआ वह दस धमनियों को पाकर समस्त शरीर में पहुँच कर त्वचा और मांस के बीच में आश्रित होकर कफ-वात-त्वचा तथा मांस-रक्त को दूषित करके त्वचा में पाण्डु-हल्दी जैसे या हरे विविध वर्णों को त्वचा में कर देती है। वह पाण्डुरोग ऐसा कहा जाता है।

पूर्वरूप

तस्य लिंगं भविष्यतः।
हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥११॥

हृदय का स्पन्दन (palpitation of the heart), रूक्षता, स्वेद की कमी तथा थकावट (fatigue) उसके पूर्वरूप (होते हैं)।

सामान्य लक्षण

सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः।
दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥१२॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान् नरः ।
मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥१३॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णरोमा हतप्रभः।
कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥१४॥
पिण्डिकोद्वेष्टकटयूरुपादरुक्सदनानि च।
भवन्त्यारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥१५॥

इसके उत्पन्न होजाने पर सब व्यक्ति कान से सनसनाहट (tinnitus) से युक्त, मन्दाग्नि वाला दुर्बल, अवसाद, अन्न से द्वेष, श्रम-भ्रम से पीडित, शरीर में शूल, ज्वर, श्वास, गुरुता, तथा अरुचि युक्त होजाते हैं। मानो उनके शरीर मसले, पीटे या मथे गये हैं। अक्षिकूट में सूजन, हरापन झड़े रोम-वाले, प्रभा जिनकी नष्ट होगई है, क्रोधी, शीत से

द्वेष करने वाले, निद्रावान्, बराबार थूकने वाले, थोड़ा बोलने वाले, पिंडलियों में हड़कल, कमर-जांघों तथा पैरों में शूल तथा थकावट चढ़ने या परिश्रम करने से होजाते हैं। (अब) इस पाण्डुरोग के विशेष लक्षण कहे जावेंगे।

वातज पाण्डुरोग

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः।
जनयेत् कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥१६॥
अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वं शिरोरुजम्।
वर्चः शोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥१७॥

वातकारक आहारों तथा उपचारों से कुपित वायु कालापन लिए पाण्डुता तथा अङ्गों की रूक्ष-अरुणता अङ्गमर्द, शूल, तोद, कँपकँपी (tremors), पार्श्व-शूल, शिरःशूल, मलशुष्कता, मुख की विरसता शोथ आनाह तथा बलक्षय (आदि रोगों) को उत्पन्न कर देता है।

पित्तज पाण्डुरोग

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः।
दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥१८॥
स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः।
तृष्णामूर्च्छापिपासार्त्तः पीतमूत्रशकृन्नरः ॥१९॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति।
कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥२०॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्ने ऽस्य जायते।
दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥२१॥

पित्तल (प्रकृति वाले मनुष्य) का पूर्वोक्त अपने प्रकोपक कारणों से संचित पित्त रक्तादि (दूष्यों को) दूषित करके पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देता है। वह व्यक्ति पीला या हरी आभा वाला ज्वर-दाह से युक्त, तृष्णाजन्य मूर्च्छा, प्यास से पीड़ित, पीले मूत्र और मल वाला, पसीना से युक्त, शीत चाहने वाला (होता है) वह अन्न को नहीं चाहता, कडुए मुख वाला, तथा उसे गरम और खट्टे पदार्थ अनुकूल नहीं पड़ते। खट्टे डकार तथा विदाह अन्न के विदग्ध होने पर उत्पन्न हो जाता है। दुर्गन्ध, फटामल, दुर्बलता तथा आंखों के सामने अन्धेरा हो जाता है।

श्लैष्मिक पाण्डुरोग

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्।
करोति गौरवं तन्द्रां छर्दि श्वेतावभासताम् ॥२२॥
प्रसेकं लोमहर्षञ्च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्।
श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥२३॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्।
श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात् ॥२४॥

कफकारक आहार विहारों से बहुत बढ़ा हुआ वह कफ पूर्ववत् पाण्डुरोग को कर देता है। कफ से उत्पन्न पाण्डुरोग (के निम्न लक्षण होते हैं)—

अंगगौरव, तन्द्रा, वमन, सफेद आभा दिखाई देना, प्रसेक तथा रोमहर्ष, अवसाद, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, श्वास, कास तथा आलस्य, अरुचि, वाणी तथा स्वर का बैठ जाना, मूत्र-नेत्र मल की शुक्लता, कटु-रूक्ष-उष्ण पदार्थों के सेवन करने की इच्छा, शोथ तथा मुख का मीठापन।

सान्निपातिक पाण्डुरोग

सर्वान्न सेविनः सर्व्वदोषा दुष्टास्त्रिदोषजम्।
त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥२५॥

सब प्रकार का आहार सेवन करने वालों के दूषित हुए सब दोष त्रिदोषजनित तथा त्रिदोष लक्षणों से युक्त अत्यन्त दुस्सह पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देते हैं।

मृज्ज पाण्डुरोग

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् ॥२६॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत्।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च ॥२७॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्य्यौजसी तथा।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥२८॥
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः।
कृमिकोष्ठोऽतिसार्य्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ॥२९॥

मिट्टी खाने के स्वभाव वाले व्यक्ति का कोई एक दोष कुपित होजाता है। कषायरस प्रधान मिट्टी वात को, ऊसरक्षारयुक्त पित्त को, मधुररसयुक्त कफ को

प्रकुपित करती है। रूक्षता के कारण भुक्त आहार तथा शरीर के रसादिकों को रूक्ष कर देती है, मिट्टी (क्योंकि पचती नहीं है अतः) अपक्व ही स्रोतों को भर देती है तथा उनके मार्ग रुक जाते हैं। (परिणाम स्वरूप) इन्द्रियों का बल, तेज, वीर्य और ओजस् नष्ट करके बल-वर्ण-अग्निनाशक पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देती है। गण्डप्रदेश, अक्षिकूट, भ्रू प्रदेश, पाद, नाभि-लिंग सूज जाते हैं। रक्तसहित कफयुक्त मल को रोगी अत्यधिक त्यागता है।

वक्तव्य —(२९५) विविध दूषित आहार विहार के कारण, प्रकुपित हुए हृदयस्थ पित्त के वायु द्वारा रक्तसंवहन संस्थान में प्रवेश कराने के बाद, धातुओं को शिथिल और गुरु बनाकर वहां स्थित ओज को क्षीण करके परिणामस्वरूप शारीरिक बल, वर्ण और अग्नि को घटाते हुए दोष-दूष्य के प्रदूषण से पाण्डुरोग की उत्पत्ति बतलाई गई है। पाण्डु-रोग अल्परक्त, अल्पमेदस्थ और निःसार होता है। रोगी का रङ्ग कालापन लिए पीला, हरापन लिए पीला और सफेदी लिए पीला किसी भी प्रकार का होने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है वह वैवर्ण्य के नाम से पुकारी जाती है। वैवर्ण्य तो एक लक्षण है जो ओज की क्षीणता का आभास मात्र करा रहा है। वैवर्ण्य के अतिरिक्त शरीरस्थ स्नेह का घटना (loss of fatty contents of the body) दूसरी मुख्य घटना है जो पाण्डुरोग में देखी जाती है। इसके कारण रोगी का भार घट जाता है और उसका बल बहुत कम होजाता है। ओज की कमी का एक महत्त्व का परिणाम रक्त की कमी जिसे एनीमिया कहते हैं में होता है। रक्त स्नेह और बल का अभाव प्राणी को निस्सार कर देता है।

रक्त के द्वारा जब पित्त त्वचा और मांस के बीच में जाता है तो वहां पर स्थित कफ, वात, रक्त, त्वचा और मांस को दूषित बनाकर मानव शरीर के वर्ण को पाण्ड, हरित, हारिद्र या अन्य किसी भी प्रकार का बना देता है।

क्योंकि हृदयस्थ साधकपित्त इस रोग में प्रमुख भाग लेता है अतः हृदय में स्पन्दनों का बढ़ जाना इस रोग का एक बहुत आवश्यक आरम्भिक लक्षण है। इससे हमें एक दिशा का बोध होजाता है कि हार्टपाल्पीटेशन (हृत्स्पन्दन) रोकने के लिए आयुर्वेदोक्त पाण्डुरोग चिकित्सा पर्याप्त होती है। इसी प्रकार ओजनाश, बलनाश, वैवर्ण्य उपस्थित होने पर भी पाण्डुरोग चिकित्सा का हमें आश्रय लेना चाहिए। ओज की वृद्धि ही शारीरिक प्रभा को प्रखर करने वाली हो सकती है अतः जो व्यक्ति ओजविहीन कान्तिरहित शिथिलाङ्ग हो उसकी चिकित्सा पाण्डुरोग से पीड़ित के समान की जानी चाहिए। पाण्डुरोगी की पेशी पेशी दुखती हैं यह कदापि नहीं भूलना चाहिए।

मिट्टी खाने से पाण्डुरोग की उत्पत्ति बच्चों में प्रायः देखी जाती है। जिसे आधुनिक जिगर का रोग कहकर पुकारते हैं उसके सम्पूर्ण लक्षण मृज्जन्य पाण्डु में पाये जाते हैं। मिट्टी खाने से पेट में विविध कृमि पड़ सकते हैं और वे भी शूलगण्डाक्षिकूटभ्रूः आदि लक्षणों की उत्पत्ति में भाग ले सकते हैं।

पाण्डुरोग की असाध्यता

पाण्डु रोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति।
काल प्रकर्षाच्छूनो ना यश्च पीतानि पश्यति ॥३०॥
बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं योऽतिसार्यते।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दि मूर्च्छातृषार्दितः ॥३१॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्।
इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥३२॥

चिरकालीन (chronic) और खरीभूत (जिसने शरीर की त्वचा को रूक्षता के कारण अत्यन्त खर बना दिया हो) पाण्डुरोग सिद्ध नहीं होता। काल के प्रकर्ष से (अधिक काल बीतने के कारण) सूजे हुए और जो सब कुछ पीला ही देखता है (वह भी सिद्ध नहीं होता)। बँधा हुआ थोड़ा कफसहित हरा मल जो त्यागता है। जो दीन है श्वेतवर्ण से जिसके अङ्ग लिपे हुए हों वमन मूर्च्छा और तृषा से पीडित, और जो पाण्डुरोग रक्तक्षय के कारण श्वेतता को प्राप्त कर लेता है वह (जीवित) नहीं रहता है। इस प्रकार पांचों प्रकार के पाण्डुरोग का लक्षण कह दिया गया है।

कामला

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥३३॥
हारिद्रनेत्रः सभृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥३४॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥३५॥
कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला ।

पाण्डुरोग से पीडित जो अत्यधिक पित्तल पदार्थ सेवन करता है उसका पित्त रक्त और मांस को जला-कर रोग का कारण बनता है। हल्दी के वर्ण के अत्यन्त पीले नेत्र, त्वचा, नख और मुख खूब पीले मल तथा मूत्र लाली लिए पीले तथा (पीले) मेंढक के समान वर्ण वाला इन्द्रिय शक्ति (देखने सुनने सूँघने आदि की अथवा चलने कार्य करने मैथुन आदि की शक्ति) नष्ट होगई है जिसकी, दाह, अविपाक, दुर्बलता, अवसाद, अरुचि से कृश हुआ वह होजाता है। कोष्ठ तथा शाखाश्रित अत्यन्त पित्त वाला इस व्याधि को कामला माना गया है। कालान्तर में अधिक खर त्वचा होने पर वह कृच्छ्र-साध्य हुई व्याधि कुम्भ कामला होजाती है।

कुम्भकामला लक्षण

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥३६॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति ।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥३७॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रंहि कामलावान् विपद्यते ।

मल मूत्र कालापन लिए पीला, मनुष्य अत्यधिक सूजा हुआ, आंखें तथा मुख वमन, मल और मूत्र रक्तयुक्त होता है। और जो अधिक श्वास लेता है, दाह-अरुचि-तृषा आनाह-तन्द्रा और मोह से युक्त अग्नि और संज्ञा जिसकी नष्ट होगई हैं ऐसा कामला वाला (कुम्भकामली) शीघ्र मर जाता है।

साध्य पाण्डुचिकित्सा

साध्यानामितरेषां तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥३८॥

इनसे इतर साध्य (पाण्डु रोगों) की तो (मैं) चिकित्सा बतलाऊंगा।

तत्रपाण्डवामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः ।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः ॥३९॥

उनमें पाण्डु रोगी का स्नेहन करके तीक्ष्ण वमनों तथा विरेचनों से और कामली का मृदु तथा तिक्त विरेचनों से संशोधन करना चाहिए।

ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् ।
शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूपसंहितान् ॥४०॥
मुद्गाढकीमसूराढ्यैर्जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ।

संशुद्ध कोष्ठ वाले इन (पाण्डु कामला वाले) दोनों रोगियों को पथ्यकारक अन्न देना चाहिए पुराने शालि, जौ, गेहूँ को, मूंग-अरहर-मसूर इनके यूषों के साथ तथा जाङ्गल जीवों के मांस रसों के साथ प्रयोग करना चाहिए।

यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ॥४१॥
पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा ।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥४२॥

उन दोनों की यथादोष (general) तथा विशिष्ट (specific) भैषज्य करे। कामला पाण्डु के रोगियों को स्नेहन के लिए अथवा पञ्चगव्य घृत (पृष्ठ-३३७), महातिक्त घृत (पृष्ठ २६४) अथवा कल्याण घृत (पृष्ठ-३२८) देवे।

दाडिमात् कुडवो धान्यात् कुडवार्द्धं पलं पलम् ।
चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥४३॥
तैः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके ।
सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शः प्लीहवातकफार्तिनुत् ॥४४॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते ।
दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम् ॥४५॥

दाडिमादिघृत—एक कुडव अनार से, आधा पल धनिये से, चित्रक तथा अदरख से एक एक पल तथा पिप्पली २ कर्ष इनके कल्कों से एक आढक (द्रव-द्वैगुण्य से दो आढक) जल में घी का सिद्ध बीस पल हृदयरोग, पाण्डुरोग, गुल्म, अर्श, प्लीहोदर, वात कफ की पीड़ानाशक (होता है)। (वह) दीपन, श्वासकासनाशक, तथा मूढवात में हितकर होता

है। (वह) दुखपूर्वक प्रसव करने वाली स्त्रियों का (हितकारी है) तथा वन्ध्याओं का गर्भदाता (होता है)।

कटुका रोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात् फलम्।
पटोलं चन्दनं मूर्वां त्रायमाणां दुरालभा ॥४६॥
सपिप्पलीं पर्पटकं भूनिम्बं देवदारु च।
पिष्ट्वाक्षमात्रैस्तैः सर्पिः प्रस्थं क्षीराढके पचेत् ॥४७॥
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम्।
अर्शांस्यसृग्दरञ्चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ॥४८॥

कटुकादिघृत—कुटकी, मोथा, दोनों हल्दी, वत्सक का फल (इन्द्रजौ), पटोल, चन्दन, मूर्वा, त्रायमाण, दुरालभा, पिप्पलीसहित पित्तपापड़ा, चिराइता तथा देवदारु, इन सबको एक एक कर्ष लेकर पीसकर गाय के एक आढक (या दो आढक) दूध में एक प्रस्थ घृत को पकावे। रक्तपित्त, ज्वर, दाह, शोथ, भगन्दर सहित अर्शों तथा रक्तप्रदर को तथा विस्फोटकों को नष्ट कर देता है।

पथ्याशतरसे पथ्या वृन्तार्द्धशतकल्कवान्।
प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः स पाण्ड्वामयगुल्मनुत् ॥४९॥

पथ्याघृत—पचास हरड़ के फूलों डण्ठल के कल्क तथा १०० पल हरड़ों के स्वरस में एक प्रस्थ घृत से सिद्ध वह पेय पाण्डु रोग (और) गुल्म नाशक (होता है)।

दन्त्याः शतपलरसे पिष्टैर्दन्ती शलाटुभिः।
तद्वत् प्रस्थोघृतात सिद्धःप्लीहपाण्ड्वर्त्ति शोफजित् ॥५०॥

दन्तीघृत—उसी प्रकार दन्ती के १०० पल स्वरस में (पचास) दन्ती के कच्चे फल पीसकर उससे एक प्रस्थ सिद्ध घृत प्लीहोदर पाण्डु रोग तथा शोथ को जीतने वाला (होता है)।

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थ साधितः।
कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः ॥५१॥

द्राक्षाघृत—एक प्रस्थ पुराने घी का आधा प्रस्थ मुनक्का (के स्वरस और कल्क) से सिद्ध कामला, गुल्म पाण्डुरोग, ज्वर प्रमेह और उदररोग नाशक (होता है)।

हरिद्रा त्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥५२॥

हरिद्रादिघृत—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला नीम, बला, मुलहठी (के कल्क) से भैंस के दूध के साथ सिद्ध घी उत्तम कामलानाशक (होता है)।

वक्तव्य—(२६६) क्वाथ या दूध घृत से चतुर्गुण और कल्क चतुर्थांश लेने का साधारण नियम होने पर भी यहां घी के बराबर क्वाथादि का प्रयोग भी किया जासकता है ऐसा 'चक्रपाणिदत्त' के द्वारा उद्धृत निम्न वाक्य से ज्ञात होता है—

निकुम्भकुडवक्वाथप्रस्थकल्कसंयुतम्।
सर्पिःप्रस्थं पचेत् प्लीहकामलापाण्डुरोगनुत् ॥
गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितः।
दार्व्याः पञ्चपल क्वाथे कल्के कालीयके परः ॥५३॥
माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः।

दूने गोमूत्र में दारुहल्दी के दो कर्ष कल्क से सिद्ध भैंस का एक प्रस्थ घी (एक) दारुहल्दी के पांच पल क्वाथ में कालीयक (पीतचन्दन) के कल्क से सिद्ध एक प्रस्थ भैंस का घी (दूसरा) इनमें पूर्व (पहला) पाण्डुरोग में तथा दूसरा कामला रोग में देना चाहिए।

पाण्डुरोग में संशोधन कर्म

स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥५४॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा।
दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना श्रृतम् ॥५५॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्ड्वामयापहम्।
द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत् ॥५६॥
कफपाण्डुस्तु गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां हरीतकीम्।
आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च ॥५७॥
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेन्ना कामलापहम्।
दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥५८॥
कामली त्रिवृतां वाऽपि त्रिफलाया रसैः पिबेत्।

इन स्नेहों का प्रयोग करने के बाद, रोगी को स्निग्ध कोष्ठ मानकर गोमूत्र युक्त दूध से अथवा केवल दूध से बहुत बार विरेचन करावे।

दन्तीफल के गुनगुने क्वाथ में एक कुडव गम्भारी उबाल या एक कुडव मुनक्का मलकर देवे। यह पाण्डुरोगनाशक है।

पैत्तिक पाण्डु में आधे पल निशोथ चूर्ण को दुगुनी शक्कर मिलाकर (रोगी) पीवे। कफज पाण्डु रोगी गोमूत्र से भीगी हुई हरीतकी लेवे।
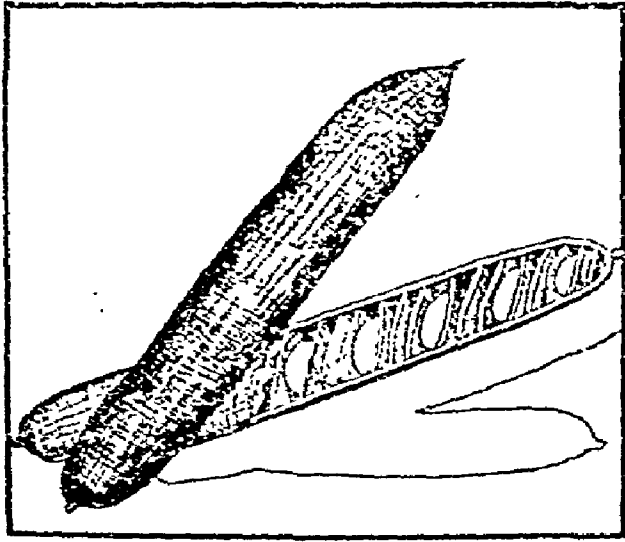
कामला का रोगी कामलानाशक गन्ना-विदारी-कन्द तथा आमले के रस के साथ अमलतास त्रिकटु सहित बेलपत्र के (कल्क को) पीवे। अथवा दूने गुड़ के साथ शीतल जल से दन्ती के कल्क का आधा पल पिये अथवा निशोथ का आधापल त्रिफला स्वरस के साथ पीवे।

विशाला त्रिफला मुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान् ॥५९॥
कार्षिकानर्ध कर्षांशां कुर्यादतिविषां तथा।
कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत् सुखाम्बुना ॥६०॥
मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च माक्षिकम्।
कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम्।
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तञ्च नाशयेत् ॥६१॥

विशालादिफाण्ट—इन्द्रायण, त्रिफला, मोथा, कूठ, देवदारु, इन्द्रजौ एक एक कर्ष अतीस दो कर्ष मूर्वा का दो कर्ष इन सबको गुनगुने जल में मलकर उस रस को छानकर पीकर शहद चाटे। कास, श्वास, ज्वर, दाह, पाण्डुरोग, अरोचक, गुल्म, आनाह, तथा आमवात और रक्तपित्त (इसके सेवन से) नष्टहोवे।

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम्।
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः ॥६२॥

त्रिफला का अथवा गिलोय का, दारुहल्दी अथवा नीम का रस शीतल मधु मिलाकर कामला से पीड़ित मनुष्य सवेरे के समय पीवे।

क्षीरमूत्रं पिबेत्पक्षं गव्यं माहिषमेव वा।
पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम् ॥६३॥
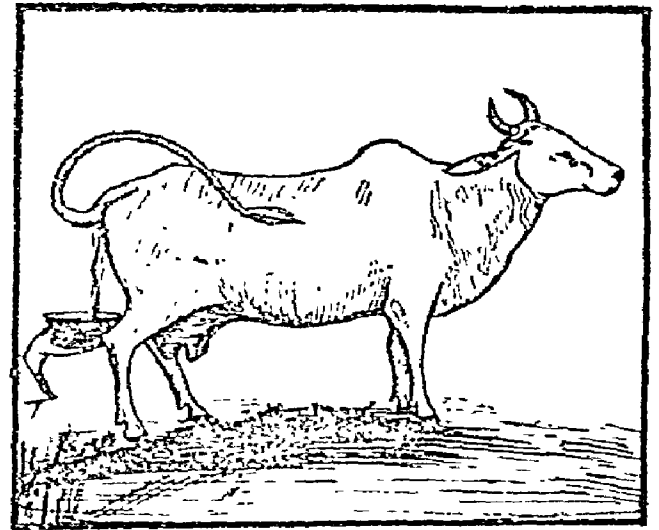
गाय या भैंस का ही दूध और मूत्र एक पखवाड़े तक पिये या गोमूत्र के साथ त्रिफला स्वरस को पाण्डु रोगी पिये।

तरुजान् ज्वलितान् मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चांकुरान्।
मातुलुङ्गस्य तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ॥६४॥

बिजौरे के पेड़ में उत्पन्न अंकुरों को जलाकर गोमूत्र में डाल मसल छानकर (इस) पाण्डु तथा शोथहर (योग को जिसे आवश्यकता हो वह) पीवे।

स्वर्णक्षीरी त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम्।
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा क्वथितं पिबेत्।
क्षीरमेभिः शृतं वापि पिबेद् दोषानुलोमनम् ॥६५॥

सत्यानाशी, निशोथकाली, देवदारु, मोथा सहित (कुल एक पल) गो मूत्र ४ पल के साथ पीसकर या मूत्र में क़ाढ़ा करके पीवे अथवा दूध में उबालकर पीवे। (यह) दोषों का अनुलोमन (करता है)।

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत्।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत मधुरेण रसेन वा ॥६६॥

हरीतकी को गोमूत्र के साथ प्रयोग करे या पीवे। जीर्ण होने पर दूध से या मधुर मांसरस से भोजन करे।

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः।
पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥६५॥

सात रात्रि तक गाय के मूत्र में भावित लोहे की भस्म पांडुरोग की शान्ति के लिए दूध के साथ वैद्य पिलावे।

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः।
नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा ॥६८॥
भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोग कुष्ठार्शः कामलापहम्।
नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥६९॥

नवायसचूर्ण—त्रिकटु, त्रिफला, मोथा, विडङ्ग, चित्रक बराबर बराबर लोहभस्म के ६ भाग उस चूर्ण को घी शहद से भक्षण करे। पाण्डुरोग, हृदय रोग, अर्श, कामलानाशक, यह नवायसचूर्ण कृष्णात्रेय द्वारा कहा गया है।

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान्।
पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद्गुटिकां पाण्डुरोगिणे ॥७०॥

मान (तौल) से गुड़, सौंठ, मण्डूर (और) तिल बराबर (और) दुगुनी पिप्पली (लेकर) पाण्डुरोगी के लिए गोलियां बनावे।

त्र्यूषणं त्रिफलां मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ।
दार्वीत्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिकं देवदारु च ॥७१॥
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात् पृथक् पृथक्।
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥७२॥
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत् प्रक्षिपेत्ततः।
उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान् यथाग्नि वा ॥७३॥
उपयुञ्जीत तक्रेण सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्।
मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥७४॥
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान्।
अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च ॥७५॥

मण्डूरवटक—सौंठ मिर्च पिप्पली, हरड़ बहेड़ा आमला, मोथा विडङ्ग चव्य चित्रक, दारुहल्दी की छाल, स्वर्णमाक्षिकधातु (की भस्म) पिप्पलीमूल और देवदारु इनको दो-दो पल अलग अलग चूर्ण करे। सुरमे जैसा काला शुद्ध मण्डूर चूर्ण से दूना (लेकर) गोमूत्र में उसे पकाकर उसमें उस चूर्ण को डाल दे। गूलर के फल के बराबर वटक बनाकर व्यक्ति उनको अग्निबल के अनुसार तक्र के साथ प्रयोग करे। और जीर्ण होने पर सात्म्य भोजन करे। ये मण्डूरवटक पाण्डुरोगियों के प्राण के दाता, कुष्ठ-अजीर्ण-शोथ-उरुस्तम्भ (spartic paraplegia), कफ के रोगों, अर्शों, कामला, प्रमेह तथा प्लीहोदरादिकों को शान्त करते हैं।

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक्।
चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पलिकैः सह ॥७६॥
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः।
अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे हितमिताशिना।
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा ॥७७॥

ताप्यादियोग—स्वर्णमाक्षिकभस्म, शिलाजतु, रजत-भस्म, अलग अलग ५-५ पल चित्रक, हरड़-बहेड़ा आमला, सोंठ-मिरच-पिप्पली, विडङ्ग एक एक पल के साथ आठ पल शक्कर मिला चूर्ण कर घृत से आप्लुत करके एक कर्ष मात्रा का (नित्य) अभ्यास करने से (और उसके) जीर्ण होने पर हितकर ठीक मात्रा में कुलथी, मकोयादि तथा कपोत को छोड़ कर भोजन करने से (पाण्डुरोग नष्ट होजाता है)।

योगराज

त्रिफलायास्त्रयोभागास्त्र्यस्त्रिकटुकस्य च।
भागाश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च ॥७८॥
पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यपलस्य च।
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा ॥७९॥
अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम्।
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे ॥८०॥
उदुम्बुरसमां मात्रां ततः खादेद् यथाग्नि ना।
दिने दिने प्रयोगेण जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम् ॥८१॥
वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम्।
योगराज इति ख्यातो योगाऽयममृतोपमम् ॥८२॥
रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम्।

पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् ॥८३॥
कुष्ठान्यजीर्णकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम्।
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ॥८४॥

त्रिफला के तीन भाग, त्रिकटु के तीन भाग, चित्रकमूल का तथा विडङ्ग का एक एक भाग, शिलाजतु, रजतभस्म, स्वर्णमाक्षिक का तथा शुद्ध लोह रज का पांच पांच भाग, मिश्री के आठ भाग, उस सबको सूक्ष्म चूर्ण करके शहद मिला कर लोहे के शुभ पात्र में स्थापित रखना चाहिए। उसमें से व्यक्ति अग्निबल के अनुसार गूलर के फल के बराबर भाग को खावे। औषध जीर्ण होने पर दिन प्रतिदिन कुलथी मकोय, कपोत मांस को छोड़ कर इच्छानुसार भोजन करना चाहिए। योगराज इस नाम से विख्यात यह अमृतोपम योग है। यह श्रेष्ठ रसायन है। सर्वरोग नाशक कल्याणकारी (है तथा) पाण्डुरोग विष, कास, यक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठ, अजीर्ण, प्रमेह, शोष, श्वास, अरुचि, अपस्मार, कामला और गुदज रोगों को विशेष करके नष्ट करता है।

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ।
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ॥८५॥
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा।
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कटुकाख्याः पलोन्मिताः ॥८६॥
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम्।
मधुत्रिपलसंयुक्तं कुर्यादक्षसमान् गुडान् ॥८७॥
दाडिमाम्बुपयः पक्षिरसतोयसुरासवान्।
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा ॥८८॥
पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान् ।
पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्निदोषशोषगरोदरान् ॥८९॥
कासासृग्दरपित्तासृक्शोथगुल्मगलामयान् ।
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः ॥९०॥

शिलाजतुवटक—इन्द्रजौ, त्रिफला, नीम, पटोल, मोथा, सोंठ के स्वरसों से १०-२०-३० दिन भावना दिये आठ पल शिलाजतु को उतनी ही सफेद मिश्री वंशलोचन, पिप्पली, आमला, कुटकी, काकड़ासिंगी १-१ पल, कटेरी के फल और जड़ दोनों एक पल, दालचीनी, तेजपत्र, इलाइची (एक पल) तीन पल शहद मिलाकर एक कर्ष बराबर गोले बनावे। अन्न बिना खाए या खाकर अनारस्वरस, दूध, पक्षियों के रस जल, सुरा, आसव का अनुपान करे।

वे (गोले) पाण्डु, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहोदर, तमक श्वास, भगन्दर, पूतिदोष (sepsis), हृद्रोग, शुक्रदोष मूत्रदोष, शोष, गर, उदररोग, कास, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, शोथ, गुल्म, गलरोगों को सब व्रणों (इन) सब रोगों को हरने वाले और कल्याण-कारक हैं।

पुनर्नवा त्रिवृद्व्योष विडङ्गं दारु चित्रकम्।
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः ॥९१॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम्।
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्व्याढके पचेत्।
कोलवद्गुडिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ॥९२॥
ताः पाण्डुरोगं प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम्।
श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं कृमींस्तथा ॥९३॥

पुनर्नवामण्डूर—पुनर्नवा, निशोथ, सोंठ, मिर्च, पीपल, देवदारु, चित्रक, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला, दन्ती, चव्य, इन्द्रजौ, पिप्पली, पिप्पली-मूल और मोथा एक एक पल (चूर्ण करे) चूर्ण से दुगुना मण्डूर दो आढक (द्रवद्वैगुण्य से ४ आढक) गोमूत्र में पकावे। बेर के समान गोली बना करके तक्र में घोलकर व्यक्ति पीवे।

वे गोलियां पाण्डुरोग, प्लीहोदर, अर्शों, विषम-ज्वर, शोथ, ग्रहणीरोग, कुष्ठ तथा कृमियों को मार डालती हैं।

वक्तव्य—(२६७) पाण्डुरोग में पुनर्नवामण्डूर का प्रयोग हजारों वर्षों से इसलिए होता आया है कि इसमें मण्डूर के रक्त को रञ्जनकर्त्ता के रूप में जहां उपस्थित किया गया है वहीं गोमूत्र और पुनर्नवा जैसे द्रव्यों के द्वारा मूत्रप्रवाहीसंस्थान को अधिक बल देने वाला भी बना दिया गया है। चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में कुष्ठ के स्थान पर पुष्करमूल को लिखा है। ये दोनों द्रव्य समान गुण धर्मी होते हैं। पाण्डुरोगनाशक अग्निवर्द्धन, मूत्रल, रक्तस्थापक

वर्ण्य ये जो कतिपय गुण एक योग में आवश्यक होते हैं वे पुनर्नवामण्डूर में पूरे पूरे मिलते हैं।

दार्वीत्वक् त्रिफलाव्योषविडङ्गमयसो रजः
मधुसर्पिर्युतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान् ॥९१॥

दार्व्यादिलेह—दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मिर्चकाली, पिप्पली, बिडंग, लोह की भस्म (सब बराबर बराबर लेकर मात्रा के अनुसार) घी और मधु के साथ कामला तथा पाण्डुरोग से पीडित चाटे।

तुल्या अयोरजः पथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णिताः कामली लिह्याद्गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः ॥९२॥

कामलानाशकयोग—लोहभस्म, हरीतकी (तथा) हल्दी बराबर बराबर मधु घी के साथ चूर्ण करके कामला से पीडित रोगी गुड शहद से चाटे अथवा केवल हरीतकी (का चूर्ण गुड शहद से चाटे)।

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां सलेहः कामलापहः ॥९३॥

हरड़-बहेड़ा-आमला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी, लोहभस्म चूर्ण करके घी शहद से (प्रयुक्त) वह अवलेह कामला (jaundice) नाशक होता है।

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम्।
प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्द्धतुलां तथा ॥९३॥
धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत् पचेत्।
शीताम्मधुप्रस्थयुतात् लिह्यात् पाणितलं ततः ॥९४॥
हलीमकं पाण्डुरोगं कामलाञ्चैव नाशयेत्।
आत्रेयकीर्त्तितस्त्वेष धात्रीलेहः परः स्मृतः ॥९५॥

धात्र्यवलेह—दो दो पल वंशलोचन, सोंठ, मुलहठी, एक एक प्रस्थ पिप्पली मुनक्का तथा आधी तुला शक्कर एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से दो द्रोण) आमलों के फलों के रस में अवलेह के समान पकावे। शीतल होने पर एक प्रस्थ मधु से कर्षभर चाटे। हलीमक पाण्डु तथा कामला को आत्रेय जी द्वारा प्रशंसित यह श्रेष्ठ धात्रीलेह माना गया है।

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च।
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत ॥९६॥
मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत्।
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः ॥९७॥
यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः।
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः ॥९८॥

मण्डूरवटक—सोंठ-मिर्च-पीपल, हरड़-बहेड़ा-आमला, चव्य, चित्रक, देवदारु, तथा विडङ्ग, और मोथा, इन्द्रजौ चूर्ण करले। उस चूर्ण के बराबर मण्डूर आठगुने गोमूत्र में पकावे। धीरे-धीरे सिद्ध तथा शीतल होने पर एक कर्ष बराबर गुडिका कर लेना चाहिए। वे अग्निबल के अनुसार भक्षण करने योग्य है। तक्र और जौ की बाटी खाने वालों के प्लीहोदर, पाण्डुरोगनाशक (वे) ग्रहणीरोग तथा अर्श का नाश करते हैं।

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः।
लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम् ॥९९॥

गौडोरिष्ट—मजीठ, हल्दी, मुनक्का, बला की जड़, लोहभस्म, लोध्र और गुड़ से तैयार यह गौड अरिष्ट पाण्डुरोगियों का (हित करने वाला है)।

बीजकात्षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः।
द्राक्षायाः पञ्चलाक्षायाः सप्तद्रोणे जलस्य तत् ॥१००॥
साध्यं पादावशेषे तु पूतशेषे प्रदापयेत्।
शर्करायास्तुलां प्रस्थं क्षौद्रं दद्याच्चकार्षिकम् ॥१०१॥
व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम्।
मधुकं कुष्ठमित्येतत् चूर्णितं घृतभाजने ॥१०२॥
यवेषु दशरात्रं तद्ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम्।
पिबेत्तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः शोथगुल्मनुत् ॥१०३॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातनुत्।
बीजकारिष्ट एवैष आत्रेयेण प्रकीर्त्तितः ॥१०४॥

बीजकारिष्ट—विजयसार १६पल, त्रिफला के २० पल, मुनक्का के ५ पल, लाख के ६ पल लेकर उसे जल के एक द्रोण (या दो द्रोण) में पकाना चाहिए। चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर एक तुला शर्करा, एक प्रस्थ शहद डाले तथा एक एक कर्ष त्रिकटु, व्याघ्रनख, उशीर, सुपारी, एलुआ, कूठ, मुलहठी ये चूर्ण करके घी के पात्र में डाले। जौ के ढेरों में दस रात तक

तो तथा शिशिर में दुगुनी देर स्थित रखकर (ठीक संधान होने पर) ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, शोथ तथा गुल्मनाशक है। मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, कामला, सन्निपातनाशक आत्रेय द्वारा बतलाया हुआ यह बीजकारिष्ट है।

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं भिषक्।
क्षौद्राष्टभागं पिप्पल्याश्चूर्णार्द्धकुडवायुतम् ॥१०५॥
शर्करार्द्धतुलोन्मिश्रं पक्षं स्निग्धघटे स्थितम्।
प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे हितमिताशनः ॥१०६॥
कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान्।
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चैषोऽरिष्टः प्रणाशयेत् ॥१०७॥

धात्र्यरिष्ट—दो हजार धात्री (आमले के) फल कुचलकर रस (निकालकर उस) को वैद्य आठ भाग शहद तथा पीपली के आधे कुडव चूर्ण के साथ आधी तुला शक्कर मिलाकर एक पखवाड़े तक चिकने घड़े में रखकर मात्रापूर्वक सवेरे पीवे। जीर्ण होने पर हितकर थोडा भोजन करे। कामला, पाण्डु, हृद्रोग, वातरक्त, विषमज्वरों, खाँसी, हिचकी, अरुचि, श्वास, इनको यह धात्र्यरिष्ट नष्ट कर देवे।

वक्तव्य—(२६८) पुनर्नवामण्डूर के समान ही प्रसिद्ध यह विटामीन सी का अक्षय भण्डार धात्र्यरिष्ट है। पित्तज अनेकों व्याधियों में इसके द्वारा अपरिमित लाभ प्राप्त किया जाता है।

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते।
पाण्डूनां कामलार्त्तानां मृद्वीकामलकाद् रसः ॥१०८॥

पाण्डुरोगियों तथा कामला से पीडितों में शालपर्णी आदि पञ्चमूल द्रव्यों से साधित जल या मुनक्का आमलों के रस का (प्रयोग) पीने और भोजन में प्रशस्त कहा जाता है।

पाण्डुरोग प्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा।
विकल्प्यमेतद्भिषजा पृथग्दोषबलं प्रति ॥१०९॥
वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम्।
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके ॥११०॥
निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक्।
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ॥१११॥

पाण्डुरोगी की शान्ति के लिए महर्षि द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है। परन्तु वैद्य को अलग अलग दोष के बल का पृथक् पृथक् ध्यान देकर वातिक पाण्डुरोग में अधिक स्नेहयुक्त, पैत्तिक में तिक्त शीतल तथा श्लैष्मिक में कटु और तिक्त तथा सन्निपात में मिश्रित करे इस प्रकार इस चिकित्सा की कल्पना करना चाहिए।

युक्तिज्ञ वैद्य रोगी के बलाबल को देखकर, खाई हुई मिट्टी को तीक्ष्ण शोधनों से शरीर से निकाले।

शुद्धकायस्य सर्पींषिबलाधानानि योजयेत्।
व्योषं बि.वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ॥११२॥
मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च।
वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम् ॥११३॥
साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरोमृद्दोषपीडितः।
तद्वत् केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः ॥११४॥

व्योषादिघृत—संशोधन से शुद्ध हुई काया वाले को बलप्रद घृतों का प्रयोग करे। त्रिकटु, बेल, दोनों हल्दी, त्रिफला, दोनों (सफेद तथा लाल) पुनर्नवा (सौंठ या गदहपूरना) मोथा, लोहभस्म, पाठा, बिडंग, देवदारु तथा बिछुआटी, भारंगी, दूध युक्त बराबर भाग लिए हुए उनसे घृत को (यथाविधि) सिद्ध करके मिट्टी खाने के दोष से पीड़ित व्यक्ति युक्तिपूर्वक पिये। उसी प्रकार नागकेशर, मुलहठी, पिप्पली, जवाखार तथा दूब से (सिद्ध घृत पीवे)।

मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिर्वत्तिनः।
द्वेषार्थंभावितां कार्यं दद्यात् तद्दोषनाशनैः ॥११५॥
विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया।
वार्ताक्यैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ॥११६॥

जीभ के लौल्य के कारण रोगी के मिट्टी खाना न छोड़ने पर (मिट्टी से) द्वेष करने के लिए उस दोष के नाशक विडंग, एला, अतीस, नीम के पत्ते, पाठा, बेंगन, कुटकी, इन्द्रजौ, मूर्वा के भी द्वारा आवश्यकता-

नुसार (मिट्टी को) भावित करके देवे।
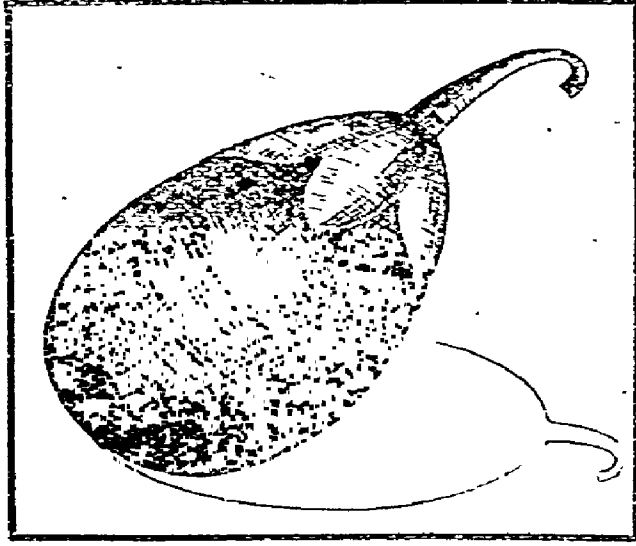
यथादोषं प्रकुर्वीत भेषजं पाण्डुरोगिणाम्।
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः ॥११७॥

पाण्डुरोगियों की चिकित्सा दोषानुसार करे। इस मृज्जन्य पाण्डुरोग का मिट्टी रूप विशेष हेतु होने के कारण यह विशेष चिकित्सा (जो ऊपर कही है) मानी गई है।

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं हरैर्जयेत् ॥११८॥

जो कामला से पीड़ित (रोगी) पिसे तिल के समान (सफेद) मल त्यागता है उस कफ से रुके हुए मार्ग वाले का पित्त कफनाशक औषधियों से जीते।

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः।
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्यानात् पित्तं क्षिपेद्बली ॥११९॥

रूक्ष-शीत-गुरु-मधुर (द्रव्यों से) व्यायामों तथा वेगरोधों से कफ से मूर्च्छित बलवान वायु अपने स्थान से पित्त को निकाल फेंकती है।

हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः।
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ॥१२०॥
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः।
क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ॥१२१॥

हल्दी जैसे नेत्र-मूत्र त्वचा, श्वेत मल वाला, आटोप, विष्टम्भ से युक्त, एवं भारी हृदय से युक्त उस समय (रोगी) व्यक्ति होजाता है।

अल्पपित्त के शाखाओं में स्थित होने पर क्रमशः दुर्बलता, अग्निमांद्य, पार्श्वशूल, हिचकी, श्वास, अरुचि, ज्वर से (वह) पीड़ित होता है।

वक्तव्य—(२६६) शाखाओं में आश्रित पित्त होने पर ऊपर जो वर्णन किया गया है वह आधुनिक आन्स्ट्रक्टिव जौण्डिस के वर्णन से बहुत कुछ मिलता है। पित्त कोष्ठ में (ग्रहणी में) निकलना बन्द कर देता है जिसके कारण पाखाने का रङ्ग सफेद होजाता है। पित्त की बिलीरुबीन की मात्रा रसरक्तादि शाखास्थ धातुओं में बढ़ जाती है जिसके कारण नेत्र-मूत्र-त्वचा का पीला पड़ना तथा दुर्बलता हृदय गौरवादि लक्षण खूब देखने में आते हैं।

बर्हितित्तिरदक्षाणां रूक्षाम्लैः कटुकैः रसैः।
शुष्कमूलक कौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत् ॥१२२॥

मोर, तीतर, मुर्गों का रूक्ष, अम्ल-कटु द्रव्यों से (सिद्ध) मांसरस, सूखी मूली, कुलथी से बने यूष तथा अन्नों को (अम्ल कटु बनाकर) खिलावे।

मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पली मरिचान्वितम्।
सनागरं पिबेत्पित्तं तथास्यैति स्वमाशयम् ॥१२३॥

बिजौरेनीबू के रस को मधु, पीपली, मरिच से युक्त सोंठ के साथ पीवे। ऐसा करने से पित्त अपने आशय को (कोष्ठस्थ ग्रहणी को) प्राप्त होता है।

कटुतीक्ष्णोष्ण लवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः।
आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद्भवेत् ॥१२४॥

मल का पित्त का रंग आने तक और वायु के प्रशान्त होने तक कटु-तीक्ष्ण-उष्ण-लवण रस द्रव्यों से तथा अत्यन्त अम्लरस प्रधान चिकित्सा होवे।

स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते।
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः ॥१२५॥

अपने स्थान पर पित्त के आजाने पर मल में पित्त द्वारा रंजन हो जाने पर उपद्रव की निवृत्ति हो जाने पर पूर्वोक्त कामलानाशक चिकित्साविधि करे।

हलीमक

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः।
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥१२६॥
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥१२७॥

जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरा श्यावपीत होवे बल-उत्साह का नाश तन्द्रा, अग्निमान्द्य, मन्दज्वर,, स्त्री में अनुत्साह, तथा अङ्गमर्द, श्वास, प्यास, अरुचि, भ्रम (होवे तो) तब उसको वात पित्त से उत्पन्न हलीमक (हुआ ऐसा) जाने।

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम्।
सपिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु ॥१२८॥
विरिक्तोमधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम्।

गिलोय के स्वरस तथा दूध से सिद्ध किया गया भैंस का घी, वह पीवे। स्नेहन होजाने पर आमले के रस वाली निशोथ (ले) तथा विरेचन होजाने पर मधुरसंयुक्त पित्तवातहर (अन्नपान) सेवन करे। अर्थात् पहले स्नेहन फिर विरेचन कराके तब वात-पित्तनाशक भोज्य द्रव्य देने चाहिए।

द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च ॥१२९॥
यापनान् क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान्।
मार्द्वीकारिष्ट योगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये ॥१३०॥
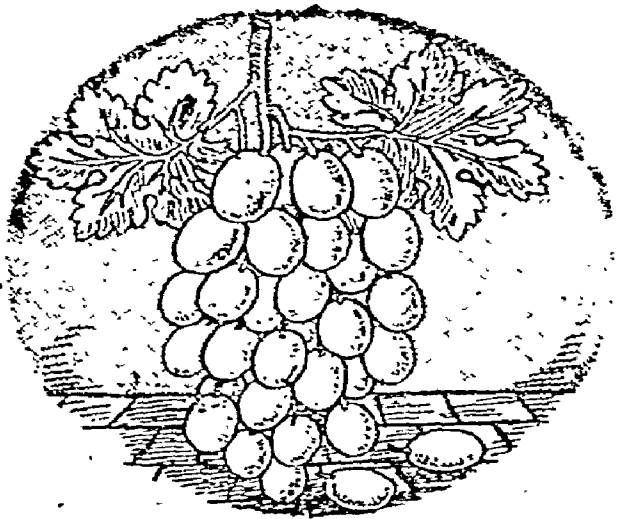
पूर्वोक्त द्राक्षावलेह तथा मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृतों को, अनुवासन सहित यापना तथा क्षीर बस्तियों को (हलीमक का रोगी) सेवन करे तथा अग्नि की वृद्धि के लिये द्राक्षारिष्ट आदि योगों को युक्तिपूर्वक पीवे।

कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम्।
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ॥१३१॥

कास प्रकरणोक्त अभयालेह, पिप्पली, मुलहठी, बला को दूध के साथ दोष और बल के अनुसार प्रयोग करे।

वक्तव्य—(३००) पाण्डुरोग के इस प्रकरण में कामला कुम्भकामला, हलीमक इनका समावेश करके आचार्य ने शरीरत्वचा के वर्ण को परिवर्तित कर देने में समर्थ रोग-समूह का सरल और वैज्ञानिक दृष्टि से ऊहापोह किया है। कहना नहीं होगा कि चरकसंहिता के पाण्डुरोगनाशक पदार्थ और उसकी चिकित्साविधि आज भी माडर्नसिस्टम को चुनौती दे रही है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौ—

पाण्डोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम्।
कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥१३२॥
तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः।
तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥१३३॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)—पांच प्रकार के पाण्डुरोग के हेतु-लक्षण-चिकित्सा कह दिये हैं। दो प्रकार का कामला उसकी साध्यासाध्यता भी भेद तथा जो अन्य महाव्याधि हलीमक है उसकी संक्षेप से चिकित्सासहित व्यञ्जन (लक्षण) कह दिया है।

इत्यग्निवशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल-सम्पूरिते चिकित्सास्थानेपाण्डुरोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

इस प्रकार अग्निवेशकृततन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत के अभाव में न मिलने पर दृढबल से पूरा किया जाने पर चिकित्सास्थान में पाण्डुरोगचिकित्सितनामक सोलहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

सप्तदशोऽध्यायः

हिक्का-श्वास चिकित्सा

अथातो हिक्काश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) हिक्का-श्वास चिकित्सा (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम् ।
अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥२॥

वेदार्थतत्वज्ञ, लोकार्थत वज्ञ उत्तम ऋषि आत्रेय जी को बुद्धिमान् अग्निवेश ने हाथ जोड़ कर संशय पूछा ।—

य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषस्त्रिप्रकोपणः ।
रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥३॥

जो ये दो प्रकार के त्रिदोषों तथा तीन हेतुओं से प्रकोप करने वाले नाना स्वरूप वाले रोग कहे गये हैं उनमें कौन कौन दुर्जय (कष्टसाध्य) होते हैं।

वक्तव्य —(३०१) त्रिदोष से वात पित्त कफ तथा त्रिप्रकोपण से असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग,प्रज्ञापराध तथा परिणाम को लेना चाहिए ।

अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥४॥

अग्निवेश के उस वाक्य को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ आत्रेय परम अर्थ का निर्णायक (वचन) बोले।

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणाशुनिकृन्ततः ॥५॥

अनेकों रोग वास्तव में प्राणनाशक (होते हैं) पर जैसे श्वास और हिक्का प्राण को शीघ्र काटने वाले (होते हैं) वैसे और अन्य नहीं होते।

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्ततोः पृथग्विधैः ।
अन्ते संजायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥६॥

अलग अलग प्रकार के अन्य रोगों से उपसृष्ट प्राणियों को अन्त समय में तीव्र पीड़ादायक हिक्का अथवा श्वास उत्पन्न होजाती हैं।

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥७॥

ये दोनों कफवातात्मक, पित्तस्थान से उत्पन्न, तथा हृदय के रसादि धातुओं के उपशोषक (होते हैं)।

तस्मात्साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ ।
मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥८॥

इस कारण से ये दोनों समानचिकित्सा वाले अत्यन्त दुर्जय माने गये हैं। मिथ्योपचार करने से

वे दोनों कुपित हुए दो सर्पों के विष के समान मार डालते हैं।

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसङ्ग्रहे।
तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम् ॥९॥

सूत्रस्थान के अष्टोदरीय अध्याय में ये दोनों अलग अलग पांच प्रकार के कहे गये हैं उन दोनों की उत्पत्ति, लक्षण चिकित्सासहित (हे अग्निवेश! तू अब) सुन।

रजसाधूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्।
व्यायामाद्ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात् ॥१०॥
आमप्रदोषादानाहाद् रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्।
मर्माभिघाताद् दौर्बल्याद् द्वन्द्वाच्छुद्धतियोगतः ॥११॥
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्।
रक्तपित्तादुदावर्त्ताद् विसूच्यलसकादपि ॥१२॥
पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव रोगावेतौ प्ररोहतः।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥१३॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहि गुरुभोजनात्।
जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥१४॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात्।
कण्ठोरसोः प्रतीघाताद् विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥१५॥

धूल से, धूआं तथा वायु से, शीतस्थान तथा शीतलजल के सेवन से, परिश्रम से, मैथुन, पैदल चलना, रूक्ष-विषमअन्न सेवन से, आमदोष से, आनाह होने से, रूक्षता से, अपतर्पण, मर्म पर चोट लगने से, दुर्बलता से, द्वन्द्वों (परस्पर विरोधी तत्वों के जैसे शीतल और उष्ण द्रव्य के एक ही समय सेवन करने) से, संशोधन कर्म के अतियोग से, अतीसार-ज्वर-वमन पतिश्याय (coryza) उरःक्षत से, रक्तपित्त से, उदावर्त से, विसूची तथा अलसक से भी, पाण्डुरोग से, विष से ये दोनों रोग उत्पन्न होते हैं।

सेम-उडद-तिलकल्क-तिलतैल से सेवन करने से पीठा, कमलकन्द, विष्टम्भ और विदाह करने वाले तथा गुरु भोजन करने से, जलज और आनूपदेशज जीवमांस-दही और कच्चे दूध के सेवन से अभिष्यन्दी पदार्थों के लेने से तथा कफकारकों के सेवन से कण्ठ तथा छाती में आघात से तथा भिन्न भिन्न प्रकार के विबन्धों से (ये दोनों रोग उत्पन्न होते हैं)।

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति।
उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोतिस।
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ॥१६॥

वायु प्राणवह स्रोतसों का प्रवेश करके प्रकुपित होता है। छाती में स्थित कफ को ऊपर की ओर हटाकर प्राणों के अवरोध करने के लिए भयंकर पांच-पांच प्रकार के हिक्का तथा श्वास को वह कर देता है।

वक्तव्य—(३०२) इस अध्याय में हिचकी तथा श्वास का एक साथ वर्णन किया गया है। ये दोनों ही प्राणवाही स्रोतों के रोग हैं यह आधुनिक भी स्वीकार करते हैं। विविध कारणों से जिनका वर्णन श्लोक १० से १५ तक ऊपर दिया गया है वायु कुपित होकर प्राणवाही स्रोतों में घुसकर वहां पर जो कफ है उसे ऊपर की ओर बलात् उठाकर श्वास और हिक्का इन दोनों में से किसी को भी कर देता है। रोग का मुख्य कारण वात है अनुबन्ध में कफ आता है। ऊपर श्वास और हिक्का के जो जो कारण दिए हैं आजकल ट्रापीकल इओसीनोफिलिया (tropical eosinophilia) नामक रोग में वे सभी दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य ने मैथुन से लेकर विष, धूल, धुंआ और वायु की गन्ध तक को नहीं छोड़ा है। आधुनिक विचारक यदि इसमें से किसी पर भी रिसर्च करें तो वे उत्पत्ति में उसको कारणभूत अवश्य पावेंगे। निष्पावमाष तथा जलज मांस में स्थित प्रोटीनों का वर्णन स्पष्टतः बतलाता है कि आधुनिकों ने जो श्वास में इन द्रव्यों को कारण माना है वह चरक के कथन पर, अन्य दृष्टि से नहीं। आनूप और जलज प्रदेशों में श्वास एक सर्वसाधारणतया दृष्टिगोचर होने वाला रोग है।

उभयो पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम्।
कण्ठोरसोर्गुरुत्वञ्च वदनस्य कषायता ॥१७॥
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च।
आनाहः पार्श्वशूलञ्च पीडनं हृदयस्य च।
प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्व लक्षणम् ॥१८॥

अब आगे (मैं उन) दोनों के पूर्व रूपों को कहूँगा (उसे) सुन।

१—कण्ठ और छाती में भारीपन, मुख का कसैला होना, कुक्षि में आटोप (distension) हिचकियों के पूर्वरूप (हैं)।

२—आनाह, पार्श्वशूल तथा हृदय का पीडन और प्राण का विलोमगमन (पर्याकुलता) श्वासों के पूर्व लक्षण (होते हैं)।

महाहिक्का

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः।
हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥१९॥
क्षीणमांसवलप्राण तेजसः स कफोऽनिलः।
गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ॥२०॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा।
प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥२१॥
संज्ञां मुष्णाति गात्रेषु स्तम्भं सञ्जनयत्यपि।
मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्युपहतस्मृतेः ॥२२॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः।
सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृत्तिं नाधिगच्छतः ॥२३॥
महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला।
महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥२४॥

कफयुक्तवातदोष प्राणवाही-जलवाही तथा अन्नवाही स्रोतसों को अवरुद्ध करके हिक्का को करती है उसके लक्षण अलग अलग सुन—

सकफवात मांसक्षीण-बलक्षीण-प्राणक्षीण तथा तेज से क्षीण व्यक्ति के कण्ठ के ऊर्ध्व भाग को सहसा पकड़कर बहुत आवाज करने वाली (घोषवती) एक—दो अथवा तीन तीन वेग वाली हिक्का को निरन्तर उत्पन्न करता है। प्राणवायु स्रोतों को, मर्मों को और ऊष्मा का संरोध करके चेतना को नष्ट करता है, तथा शरीर में जकड़न भी उत्पन्न करता है। अन्नपान के मार्ग को रोकता है। नष्ट स्मृतिवाले अश्रुपूर्ण चंचल नेत्र वाले, जकड़े हुए शंखप्रदेश (temporal muscles stiff) भ्रू गिरी हुई, रुकती हुई वाणी से युक्त, प्रलाप करने वाले, शान्ति न प्राप्त करने वाले व्यक्ति की महामूल वाली महावेगवती, महाशब्दवती, महाबलवती महाहिक्का इस नाम से प्रसिद्ध वह हिक्का मनुष्यों के शीघ्र प्राणों का हरण करने वाली मानी गई है।

वक्तव्य (२०२) महाहिक्का एक साथ उखड़ती है ऊपर जो जो लक्षण लिखे हैं वे सब पाये जाते हैं तथा रोगी बहुत थोड़ी देर जी पाता है।

गम्भीराहिक्का

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः।
जर्ज्जरेणोरसा कृच्छं गम्भीरमनु नादयन् ॥२५॥
संजृम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयनम्।
पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ॥२६॥
नाभेः पक्वाशयाद्वाऽपि हिक्का चास्योपजायते।
क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥२७॥
रुणद्धयुच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः।
गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥२८॥

प्रवृद्ध (aged), कृश, दीन मन वाला मनुष्य जो जर्जरित छाती से युक्त, गम्भीर प्रतिध्वनि करता हुआ, जम्हाई लेता हुआ, अङ्गों को फैंकता तथा फैलाता हुआ दोनों पार्श्वों में तानकर जकड़न और पीड़ा से दुखी होता हुआ कूजता हुआ हिचकी लेता है। उसकी वह हिचकी या इसके नाभि या पक्वाशय से भी जो हिक्का उत्पन्न होती है वह ग्लानि को प्राप्त इसके शरीर को अत्यन्त क्षोभ प्रदान करती हुई मानो नवाती हुई सी नष्ट बल और चैतन्य वाले रोगी के उच्छ्वासमार्ग को रोकती है। वह हिक्का गम्भीरा नाम वाली उसके प्राण का अन्त करने वाली मानी गई है।

व्यपेता (यमिका) हिक्का

व्यपेता जायते हिक्का यान्नपाने चतुर्विधे।
आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥२९॥
प्रलापच्छर्द्यतीसारतृष्णार्त्तस्य विचेतसः।
जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥३०॥
पर्य्याध्मातस्य हिक्कायां जत्रुमूलादसन्तता।
साव्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥३१॥

जो (अशित-खादित-लीढ-पीत इन) चतुर्विध अन्नपान में हिक्का उत्पन्न होती है। और जो आहार के पाचन के अन्त में बल को अत्यधिक प्राप्त करती है। प्रलाप, वमन, अतिसार, तृष्णा से पीड़ित विभ्रान्त मन वाले, जम्हाई लेने वाले, चंचल नेत्र वाले, शुष्क मुख वाले, नतगात्र वाले आध्मान से युक्त व्यक्ति की जो जत्रु (Clavicular region) मूल (epiglottis) से उत्पन्न होकर निरन्तर प्रवृत्त न रहने वाली प्राणवायु को रोकने वाली वह हिक्का व्यपेता (या यमिका) इस प्रकार जाननी चाहिए।

वक्तव्य—(२०४) व्यपेता हिक्का भोजन के पचने के उपरान्त बड़ी तेजी से आती है। उत्पत्तिस्थल जत्रुमूल है इस में कई भयंकर लक्षण रहते हैं। यह भी जीवन के लिए बहुत हानिप्रद मानी जाती है। सुश्रुत ने इसे यमला या यमिका नाम से पुकारा है। यमिका का अर्थ है वेग का यमल (दो बार) आना। जिस हिक्का में वेग दो बार आवे वह कोई सा भी क्यों न हो यमिका कही जाती है ऐसा भी किसी किसी का मत है। व्यपेता का अर्थ परिणामवती है क्योंकि यह भोजन के परिणाम के बाद उत्पन्न होती है।

क्षुद्राहिक्का

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघट्टितः ।
कण्ठं प्रपद्यते हिक्कां क्षुद्रां सञ्जनयेत् तदा ॥३२॥
अतिदुःखा न सा चेरः शिरोमर्मप्रबाधिनी ।
न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥३३॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ।
यतः प्रवर्त्तते पूर्वं तत एव निवर्तते ॥३४॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता ।
मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ॥३५॥

व्यायाम से धकेला हुआ क्षुद्रवात जब कोष्ठ से कण्ठ में आता है तब वह क्षुद्रहिक्का को उत्पन्न करता है। वह अत्यन्त दुखदायक छाती तथा शिरोमर्म को बाधा देने वाली होती तथा उच्छ्वास और अन्न-पान के मार्ग को आवृत करके रहती है। परिश्रम करने से (वह) वृद्धि को प्राप्त होती है तथा भोजन करते ही मृदु (होजाती है) जिस प्रकार (शीघ्रता से) आरम्भ होती है उसी प्रकार (शीघ्र) निवृत्त (भी) हो जाती है। हृदय, क्लोम, कण्ठ तथा तालु को आश्रय बनाकर वह मनुष्यों की साध्य मृदु क्षुद्रहिक्का कही जाती है।

अन्नजाहिक्का

सहसैवातिसम्भुक्तैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः ।
उद्र्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वातिमदप्रदैः ॥३६॥
तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः ।
वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ॥३७॥
उरः स्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम् ।
तथा शनैरसम्बद्धं क्षुवंश्चापि स हिक्कते ॥३८॥
न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी ।
हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा ॥३९॥

अत्यन्त खाये हुए खाद्यपेय पदार्थों से पीडित हुआ वात अथवा अत्यन्त मदप्रद मद्यों द्वारा (पीडित वात) कोष्ठ से सहसा ऊपर को आता है। साथ ही अत्यन्त रोष, भाषण, पैदलगमन, हास्य, भारवहन अत्यधिक करने से कोष्ठगत वायु अन्नपान से पीडित होकर दौड़ता हुआ छाती के वायुमार्गों में प्रवेश करके अन्नजाहिक्का को उत्पन्न करता है। और वह छींकते हुए धीरे धीरे असम्बद्ध (लगातार न होने वाली) हिचकी लेता है। मर्म बाधा उत्पन्न जो नहीं करती न (जो) इन्द्रियों का प्रबाधन करती है तथा (जो) खाने या पीने पर शान्त होजाती है वह अन्नजा हिक्का कहलाती है।

वक्तव्य—(२०५) अन्नजाहिक्का सर्वसाधारण रूप में मिलने वाली हिचकी है। ज्यों ही दो चार बार हिचकी आई कि घर में कोई पानी पीने की सलाह दे देता है और व्यक्ति के पानी पीलेने पर या कुछ दवा लेने पर वह हिचकी दूर हो जाती है। कभी कभी सवेरे के समय एक दम खाना-खाना आरम्भ करने या जल के पीने पर भी इसकी उत्पत्ति होजाती है। रोषभाषणादि जब भोजन के उपरान्त किया जावे तो वह भी इसी हिचकी को उत्पन्न कर देता है। यह क्षुद्रहिक्का की भांति सरल और साध्य होती है।

हिक्का की साध्यासाध्यता

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥४०॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।
यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता ॥४१॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियस्य यः।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥४२॥

१—अत्यन्त संचित दोषवाले की अनशन से दुर्बल होने वाले की, व्याधियों से क्षीण हुई है देह जिसकी अति मैथुन से वृद्ध हुए (इनमें से किसी) की उत्पन्न हुई हिक्का शीघ्र नष्ट करती है। २-प्रलाप, शूल, तृष्णा, मोह से युक्त (दो वेग वाली) यमिका (भी शीघ्र नष्ट करती है)। अक्षीण, अदीन और जो स्थिर धातु और इन्द्रियशक्ति से युक्त है इसे उत्पन्न यमिका साध्य होती है अन्यथा मार देती है।

श्वास की सम्प्राप्ति

यथा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान्करोति सः ॥४३॥

जब कफपूर्वक वायु स्रोतसों को अवरुद्ध करके (तथा स्वयं भी कफ द्वारा) अवरुद्ध होकर (विष्वग्व्रजति सर्वं शरीरं व्रजति) सम्पूर्ण शरीर में (चारों ओर) चलता है तब वह श्वासों को (उत्पन्न) करता है।

वक्तव्य—(३०६) श्वासों में भी हिक्काओं की भांति वायु का कफ के साथ सम्बद्ध होना आवश्यक है। विविध कारणों से पहले वातदोष कुपित होता है कफ का अनुबन्ध रहता है। वात और कफ दोनों प्राणवाही मार्गों को संकुचित कर देते हैं। इस कारण बड़े वेगपूर्वक श्वास-प्रश्वास चलने लगता है यही श्वासरोग का आरम्भ है।

महाश्वास

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥४४॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥४५॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।
महाश्वासोपसृष्टस्य स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥४६॥

ऊर्ध्वगति से प्रेरित जो वात वाला दुखित व्यक्ति रोके हुए मत्त सांड की तरह निरन्तर उच्च शब्द के साथ श्वास लेता है नष्ट हुए ज्ञान-विज्ञान वाला नेत्र जिसके (घबराहट के कारण) चंचल होगये हैं, आंख मुख (की भावभंगी जिसकी) विकृत (है) मल-मूत्रबद्ध, वाणी स्खलित (टूटी फूटी), देखने में दीन तथा जिसे दूर से ही बहुत वेगपूर्वक श्वास लेता हुआ जाना जा सकता है वह महाश्वास से उपसृष्ट शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य - (३०७) आधुनिक युग में महाश्वास के रोगियों की संख्या बहुत बढ़ रही है। बहुत वेग से श्वास चलती है रोगी चैतन्य खोने लगता है आकृति बिगड़ती चलती है और कुछ घण्टों में रोगी मर जाता है।

ऊर्ध्वश्वास

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥४७॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरति पीडितः ॥४८॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥४९॥

कफावृत मुख और (प्राणवह) स्रोतों वाला कुपित वात से पीड़ित जो (रोगी) देर तक ऊर्ध्व श्वास (expiration) लेता है और नीचे श्वास (inspiration) नहीं लेता। ऊर्ध्व है दृष्टि जिसकी, विभ्रान्त (चंचल) नेत्रों वाला, इधर उधर आंखें घुमाता हुआ वेदना से दुखी, मोह को प्राप्त होता हुआ, सूखा मुख और बेचैनी से पीड़ित वह ऊर्ध्वश्वास के प्रकुपित होने पर अधःश्वास रुक जाता है तब मोह से युक्त, ग्लानि वाले उस रोगी का ऊर्ध्वश्वास प्राणों को नष्ट ही कर देता है।

वक्तव्य – (३०८) ऊर्ध्व श्वास वह अवस्था है जब रोगी की श्वास प्रश्वास की क्रिया उसकी जीवन लीला को समाप्त करने की अवस्था को प्रगट करती है। न्यूमोनियां में मृत्यु ऊर्ध्वश्वासावस्था में ही हुआ करती है।

छिन्नश्वास

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥५०॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥५१॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेनविच्छिन्नः सशीघ्रं प्रजहात्यसून् ॥५२॥

सब प्राण से पीडित जो विच्छिन्न श्वास लेता है या दुःख से पीडित होकर मर्मभेद की सी पीडा से पीडित होकर श्वास नहीं लेता है वह व्यक्ति आनाह-स्वेदमूर्च्छा से पीडित,बस्तिप्रदेश जलता हुआ सा, अश्रुपूर्ण नेत्र वाला, बहुत दुर्बल, जिसका एक नेत्र (subconjunctional haemorrhage के कारण) लाल होगया है, चेतनाहीन, सूखे हुए मुख वाला, विवर्ण, प्रलाप करता हुआ छिन्न श्वास से विच्छिन्न प्राणों को शीघ्र त्याग देता है ।

वक्तव्य—(३०६) मस्तिष्क में चोट लगने से या हृदय वृक्क फुफ्फुस आदि में खराबी होने के कारण जब श्वास की गति विच्छिन्न होजाती है कभी कम कभी बन्द कभी जोर से तो वह एक गम्भीर अवस्था बनती है इसे चैनेस्टोक्स श्वसन (cheyne stokes respiration) कहते हैं। यह बहुधा मृत्यु के पूर्व देखा जाता है ।

तमकश्वास

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥५३॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगञ्च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥५४॥
प्रताम्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥५५॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं लभते सुखम् ॥५६॥
अथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि निद्रां लभते शयानः श्वासपीडितः ॥५७॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥५८॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुःश्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥५९॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते ।
स याप्यस्तमकश्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥६०॥

जब वायु प्रतिलोम होकर स्रोतों को प्राप्त करता है तब वह ग्रीवा और सिर को पकड़ कर कफ को और भी उदीर्ण करके पीनस (प्रतिश्याय) को उत्पन्न करता है तथा उसके कफ के द्वारा अवरुद्ध हुआ (वात) घुर्रघुर शब्द से युक्त अत्यन्त तीव्र वेगयुक्त प्राण को पीड़ा देने वाले श्वास को (उत्पन्न कर देता है)। रोगी अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा पाता (तड़पता) है वेगपूर्वक खांसता है, (कुछ देर के लिए) श्वासावरोध होजाता है। खांसता हुआ वह बार बार मोह को प्राप्त होजाता है। कफ के न निकलने पर तो (वह) बहुत दुखी होता है। उस (कफ के) निकलने पर ही क्षण भर को सुख प्राप्त करता है।

इसका कण्ठ उद्ध्वसन (एक विशेष सारंगी के स्वर जैसा शब्द) करता है। वह कठिनाई से बोलने के लिए समर्थ होता है। सोते हुए भी श्वास से पीड़ित होकर निद्रा को प्राप्त नहीं करता है। और वायु सोते हुए उस रोगी के पार्श्वों को जकड़ लेता है (जिससे) बैठने पर उसे सुख मिलता है और (वह) उष्ण द्रव्यों का ही स्वागत करता है। पसीजते (स्वेदयुक्त) ललाट (माथे) से युक्त उच्छ्रिताक्ष (निकली हुई आंखों वाला) अत्यन्त पीड़ावाला, मुख सूख गया है जिसका बारबार श्वास लेता हुआ वह बार बार फूत्कारों द्वारा श्वास छोड़ता है।

मेघ, शीतोदक, पूर्व की हवा (इन) से तथा कफकारक द्रव्यों से वह बढ़ता है। वह तमक श्वास याप्य होता है अथवा नया ही उत्पन्न होने पर साध्य (भी होता है)।

वक्तव्य—(३१०) आधुनिक दृष्टि से इस रोग को ब्रोङ्कियल एज्मा (bronchial asthma) नाम दिया जाता है। आचार्य ने इसका जो आलंकारिक वर्णन दिया है वह सबका सब सत्य है। मेघ शीतलवातावरण और

कफकारक पदार्थ इसकी उत्पत्ति में प्रमुख भाग लेते हैं।

प्रतमकसन्तमक लक्षण

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्।
उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥६१॥
तमसावर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात् सन्तमकं तु तम् ॥६२॥

(तमक श्वास के दो भेद प्रतमक तथा सन्तमक हैं इनमें) ज्वर (तथा) मूर्च्छा से युक्त (जो) उसको तो प्रतमक जाने। (प्रतमक) उदावर्त, धूलि, अजीर्ण, शरीर का अधिक काल गीला रहना तथा (प्राप्त वेगों के) निरोध से उत्पन्न होता है।

(जब) अन्धकार या मानसिक दोषों से (श्वास) बढ़ती है और शीतोपचारों से शान्त होती है। इसका (रोगी) तमस् (अन्धकार में) डूबे हुए के समान (मानता है) उसको तो सन्तमक जानना चाहिए।

क्षुद्रश्वास

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्ग प्रबाधकः ॥६३॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम्।
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम् ॥६४॥
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः।
इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः ॥६५॥

रूक्ष (अन्नपान तथा) परिश्रम से उत्पन्न क्षुद्र वात कोष्ठ में उदीर्ण होता हुआ क्षुद्रश्वास (इस नाम से पुकारा जाता है) वह अत्यधिक दुखपूर्वक शरीराङ्गों का बाधक नहीं है। वह शरीरांगों को नष्ट नहीं करता है। और इतर श्वासों में (जितना) दुःख (मिलता है) वह (दुख भी यहां) नहीं (मिलता)। (यह) खानपान की उचित गति को (भी) नहीं रोकता है। न इन्द्रियों की (कोई) पीडा और किसी प्रकार का कोई रोग भी नहीं करता है। यह साध्य कहा गया है। तथा सब श्वास अव्यक्त लक्षण रहने पर और रोगी बलवान हो तो साध्य कहे जाते हैं। इस प्रकार श्वास और हिक्का अपने अपने लक्षणों से ठीक ठीक कह दिये गये हैं।

साध्यासाध्यविचार

एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः।
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत्।
उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥६६॥

इनमें से प्राणहर घोर (श्वास) वर्जनीय (हैं) क्योंकि (वे) आशुकारी (हैं)। वैद्य साध्ययाप्यों को तो औषधों से शीघ्र ही ठीक करले। जिस प्रकार सूखे तृण को अग्नि जलाती है वैसे ही उपेक्षित किए गये वे शरीर को जलाते हैं।

वक्तव्य—(३११) महा—ऊर्ध्व और छिन्न श्वास प्रायः असाध्य रहती हैं क्षुद्र साध्य और तमक कष्टसाध्य बलवान् के लिए तथा दुर्बल के लिए असाध्य होती है जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है—

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च॥

हिक्का-श्वास चिकित्साक्रम

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम्।
द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥६७॥
हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्।
आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥६८॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते।
खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥६९॥
यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम्।
श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥७०॥
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम्।
मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥७१॥
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम्।
पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत् ॥७२॥
निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ॥७३॥
लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद्धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः।

(श्वास तथा हिक्का) दोनों की भी हेतु, उत्पत्तिस्थल (तथा) मूल के ऐक्य से एकमेव चिकित्सा है। जैसे ऋषियों के द्वारा देखी गई वह तुम सुनो।

हिक्का श्वास से पीड़ित को आरम्भ में स्नेहन तथा स्वेदन द्वारा उपचार करे। नमकयुक्त तैल द्वारा अभ्यङ्ग करके नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद या संकरस्वेद से उपचार करे। उनसे इसका गांठदार कफ (पतला होकर) स्रोतों में विलीन होजाता है। स्रोतस् मृदु होजाते हैं तत्पश्चात् वायु का अनुलोमन (होजाता है)

जिस प्रकार पर्वत कुञ्जों पर (स्थित) बर्फ सूर्य की किरणों से तपकर पिघलती है उसी प्रकार शरीर में स्वेदों से तप कर (जमा हुआ गांठदार) कफ भी पिघलता है।

तत्पश्चात् स्वेदन से युक्त (स्विन्न) जानकर शीघ्र मछलियों के या सूअरों के रसों अथवा दही की मलाई के साथ स्निग्ध (घी पड़े) भात को खिलावे।

तब कफ बढ़ने पर वात का जो विरोधी न हो ऐसे पिप्पली सैन्धव शहद से युक्त वमन (कारक द्रव्यों के क्वाथ) पिलावे।

दुष्ट कफ के निर्हरण होने पर वह सुख पाता है और स्रोतों के विशुद्ध होने पर वायु विना रोक टोक चलता रहता है।

यदि कुछ दोष शरीर में ही विलीन होजावे तो उसको धूम योगों से बुद्धिमान वैद्य निकाले।

वक्तव्य (३१२) हिक्का और श्वास में कफ का निर्हरण करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। क्योंकि कफ ही प्राणोदानवाही स्रोतसों को अवरुद्ध करके प्रकुपित हुए वात से हिक्का वा श्वासोत्पत्ति में समर्थ होता है इस कारण इस ग्रथित कफ को स्नेहन स्वेदन से पिघला कर वमन द्वारा (या धूम द्वारा) निकालना ही दोनों का एकमेव चिकित्साक्रम है।

हरिद्रां यवमेरण्ड मूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥७४॥
सदेवदार्वंबलं मांसीं पिष्ट्वा वर्ति प्रकल्पयेत्।
तां घृतावतां पिबेद्धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥७५॥

हरिद्रादि धूमवर्ति—हल्दी, जौ, एरण्ड की जड़, लाख, मैनशिल, देवदारु सहित हरताल, जटामांसी, (जल में) पीसकर बत्ती बनाले। घी से चुपड़ी उस वर्ति के धुएं को पीवे अथवा घृत मिलाकर जौ (का धुआं पीवे)

वक्तव्य—(३१३) हिक्का और श्वास रोग ही धूमपान को सबसे पहले मनुष्य के लिए लाये। इस धूमपान में आर्सनिक के योग मैनशिल और हरताल का उपयोग करना और आज श्वास में आर्सनिक के ही एक पेण्टावेलेंट योग एसीटीलार्सन आदि का सूचीवेध यह स्पष्ट कर रहा है कि गुरु कौन है।

मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसम्पुटे।
कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं वालं वा स्नायु वा गवाम् ॥७६॥
स्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा।
पद्मकं गुग्गुलुं लोहं शल्लकीं वा घृताप्लुतम् ॥७७॥
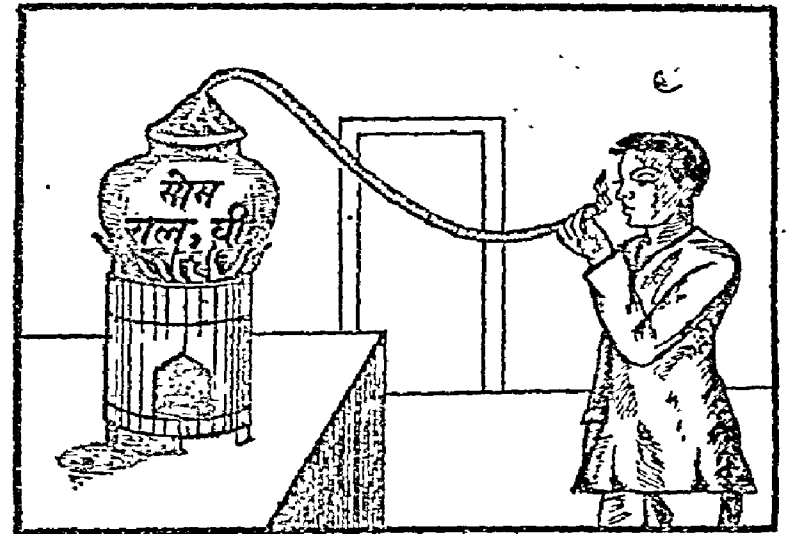
मोम, राल, घी इनको एक मल्ले (घड़े) के सम्पुट में गाय के सींग अथवा वाल या स्नायु के साथ रखकर धूमपान करे। स्योनाक, एरण्डमूल, अथवा कुश की (भरी) सूखी नली को अथवा पद्माख, गूगुल, लोह शल्लकी को घृत लगाकर (नली में रख) धूमपान करे।

अनुबन्धजचिकित्सा

स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान्।
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥७८॥

क्षीण स्वर, अतीसार, रक्तपित्त, दाह (इनके) अनुबन्धों से उत्पन्न हिक्का श्वासों को मधुर स्निग्ध शीतादि (उपचारों) से ठीक करे।

वक्तव्य—(३१४) यह सत्य है कि हिक्का और श्वास दोनों कफ के द्वारा मार्गावरोध के कारण प्रकुपित वात द्वारा

उत्पन्न होने वाले रोग हैं कफ और वात दोनों ही क्रमशः गरम रूक्ष अथवा गरमस्निग्ध उपचार चाहते हैं पर कभी कभी दाह, रक्तस्राव स्वेदाधिक्य आदि पैत्तिक अनुबन्ध मिल जाते हैं अतः वहां स्वेदन आदि उष्ण क्रियाएँ न करके उत्कारिकाओं, उपनाहों द्वारा थोड़ा थोड़ा सेक देने का विधान आचार्य ने बतलाया है।

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः।
क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥७९॥

पित्त और दाह से पीडित, अधिक रक्तस्राव या स्वेदस्राव वाले, धातुबल जिनका दुर्बल है, रूक्ष प्रकृति वाले, पित्तल प्रकृति वाले तथा गर्भिणी स्त्रियां भी स्वेदन योग्य नहीं हैं।

कोष्णैः काममुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः।
उत्कारिकोपनाहैश्च मृदुभिः स्वेदयेत् क्षणम् ॥८०॥

गुनगुने स्निग्ध सेकों से मृदु, शर्करायुक्त, उत्कारिकाओं से तथा उपनाहों से, छाती और गले का थोड़े समय स्वेदन करे।

तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैःसह ।
स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृताहिता ॥८१॥

तिल, अलसी के बीज, उड़द, गेहूँ के चूर्णों से अथवा दूध के साथ बनायी उत्कारिका हितकारक होती है।

आवस्थिकीचिकित्सा

नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्।
समीक्ष्योल्लेखनं वाऽपि कारयेल्लवणाम्बुना ॥८२॥

(हिक्का अथवा श्वास के साथ) नवज्वर (और) आमदोष होने पर ठीक-ठीक देखकर (सावधानी से) रूक्षस्वेदन लंघन अथवा नमक के जल से वमन करावे।

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्।
रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥८३॥

वैद्य (वमन विरेचनादि संशोधन कर्म के) अतियोग से उद्धत (प्रकुपित) वात को देखकर वातनाशक मांसरसादि द्वारा तथा नातिशीतोष्ण अभ्यङ्गों के द्वारा उसको शान्त करे।

उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
हिंगुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥८४॥

(हिक्काश्वास के साथ-साथ) उदावर्त तथा आध्मान होने पर बिजौरा नीबू तथा अम्लवेंती के साथ तथा हिंगु, पीलु और बिड (इनके साथ) अन्न का प्रयोग अनुलोमन करने वाला होता है।

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः।
कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः ॥८५॥

हिक्काश्वास रोगी एक बलवान्, दूसरा दुर्बल तथा एक अधिक कफ वाला दूसरा बहुत वात वाला रूक्ष होता है।

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्।
कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥८६॥

कफ की अधिकता वाले रोगी को तथा उसके बलवान होने पर विरेचन सहित वमन करनी चाहिए। पथ्य सेवन करने वाले उसको तत्पश्चात् धूम लेह आदि शमन पदार्थ (देने चाहिए)।

वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः।
तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥८७॥

वात से पीड़ितों, दुर्बलों, बालकों तथा वृद्धों को वातनाशक पदार्थों से, हिक्का श्वास संशामक द्रव्यों से स्नेह-यूष-मांसरस आदिकों से तर्पण करे।

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्।
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥८८॥

जिनका कफ (वमन द्वारा) नहीं निकाला गया, जिनका स्वेदन नहीं किया गया, जो विशोधन के कारण दुर्बल होगये हैं उनका वातदोष स्थान पाकर मर्म (हृदय) को सुखा कर प्राणों को हर लेता है।

वक्तव्य—(३१५) हिक्का श्वास में वातदोष के प्रकोप की शान्ति में तत्पर रहने के लिए स्नेहन, स्वेदन, वमन कोष्ण प्रयोग उपनाहादि का जो विधान है उसे न करने से बलवान हुआ वायु प्राणनाश का भी कारण बन सकता है यह यहां दिखलाया गया है।

दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः।
तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ॥८९॥

इस कारण से वैद्य दृढ शरीर वालों, बहुत कफ वालों को आनूप जलज जीवों के मांसरसों से तृप्त कर के तथा स्वेदन करा कर विशोधन करे तथा अन्यों का बृंहण करे।

वक्तव्य—(३१६) बहुत कफ वालों का तर्पण स्वेदन और विशोधन तथा दुर्बलों का बृंहण करना चाहिए।

बर्हितित्तिरदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः।
दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसेहिताः ॥९०॥

मोर-तीतर और मुर्गे, जाङ्गल पशुपक्षी इनके मांस दशमूल के स्वरस अथवा कुलथी के रस में सिद्ध हितकर (होते हैं)। (यह एक बृंहण योग है)।

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्।
त्रिकण्टकं गुडूचीञ्च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥९१॥
जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः।
सनागरः सलवणः स्याद्यूषो भोजने हितः ॥९२॥

छोटी कटेरी, बेलगिरी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, गोखुरू छोटे तथा गिलोय और चित्रक सहित कुलथी जल में पकाकर (क्वाथ से प्राप्त) रस छान घी पिप्पली का छोंक देकर सोंठ तथा नमक के सहित (यह) यूष भोजन में हितकारी होता है।

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान्।
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥९३॥

मूँग को रास्ना, बला, लघुपञ्चमूल, चित्रक सहित जल में पकाकर उस रस में पूर्ववत् (घी पिप्पली छोंक कर नमक सोंठ मिलाकर) यूष सिद्ध करना चाहिए।

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च।
पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान् क्षारयूषं विपाचयेत् ॥९४॥
दत्त्वाक्षारं सलवणं शिग्रूणि मरिचानि च।
युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारजित् ॥९५॥
कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च।
शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ॥९६॥
सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वातार्कजो हितः।
शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ॥९७॥

यूषप्रयोग—चकोतरा (बिजौरा) के पत्तों को तथा नीम के, करेले के (पत्तों को) पकाकर उसके रस में मूंगों को पकाकर त्रिकटु सहित क्षार यूष पचावे। (क्षारयूष पकाने की विधि यह है–) यवक्षार नमक सहित, सहंजन के बीजों को तथा काली मिर्चों को डाल युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया यूष हिक्का श्वास को जीतने वाला है। कसोंदी के पत्तों का यूष, सहंजन के पत्तों का तथा सूखी मूली का यूष (उसी प्रकार सिद्ध) हिक्काश्वासनिवारक (होता है)। दही के साथ त्रिकटु और घीयुक्त बेंगन का यूष तथा शालि-साठी-गेहूँ-जौ के अनव (पुराने) अन्न (हिक्का श्वास में) हितकर होते हैं।

हिंगुसौवर्चलाजाजीविडपौष्करचित्रकैः।
सिद्धा कर्कटश्रृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम् ॥९८॥

हींग, कालानमक, सफेद जीरा, विडनमक, पुष्करमूल, चित्रक (इन) के साथ तथा काकड़ासिंगी के साथ सिद्ध यवागू श्वास-हिक्कियों का (हित करती है)।

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीमूलपौष्करैः।
श्रृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागराम्बुभिः ॥९९॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ॥१००॥

दशमूल्यादियवागू—दशमूल, कचूर, रास्ना, पिप्पली० मूल (इन) से विधिपूर्वक सिद्ध की गई यवागू अथवा क्वाथ खांसी, हृदय की जकड़न, पार्श्वशूल, हिचकी, श्वास की शान्ति के लिए (रोगी) व्यक्ति पीवे।

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
योजयेदन्नपानानि सर्सिर्बिडहिंगुभिः ॥१०१॥

पुष्करमूल, कचूर, सोंठ-मिर्च-पीपल-चकोतरा, अम्लवेंती (इन) के साथ घी विडनमक हींग के साथ अन्न और पान का प्रयोग करे।

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः।
तृषितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ॥१०२॥

हिक्का-श्वास पीड़ित प्यासा नर दशमूल का क्वाथ अथवा देवदारु का क्वाथ या शराब भी पीवे।

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च ।
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयत् ॥१०३॥
तन्मन्दलवणं कृत्वा वैद्यः प्रसृतसम्मितम् ।
पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥१०४॥

पाठादिसंधान—पाढल, मुलहठी, रास्ना, धूपसरल, तथा देवदारु जर्जर (टुकड़े) करके (तथा उन टुकड़ों को) धोकर सुरामण्ड (के पात्र) में डालदे। उसको हलका नमकीन करके वैद्य एक प्रसृति (२ पल) पिलावे तो हिक्का और श्वास शान्त होजाते हैं।

हिंगु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम् ।
मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन ना पिवेत् ॥१०५॥

हिग्वादियोग—हींग, कालानमक, बेर, लज्जावन्ती, पिप्पली, बला (खरैटी) चकोतरे के रस में पीसकर काँजी के साथ व्यक्ति पीवे।

सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम् ।
उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत् ॥१०६॥

सौवर्चलादियोग—कालानमक, सोंठ तथा भारङ्गी प्रत्येक १ भाग दुगुनी शक्कर के साथ गरम पानी से पीवे। यह हिक्का श्वास के विकारों का नाशक है।

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा ।
पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ॥१०७॥

१—भारंगी (और) सोंठ दोनों के कल्क को, तथा २—मरिचकाली और जवाखार को तथा ३—हल्दू (दारुहल्दी) चित्रक, हाफरमाली तथा मूर्वा

(इनका हिक्काश्वास रोग में) जल के साथ पीवे।

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा ।
उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥१०८॥

गेहूं वंशलोचन सोंठ तथा पिप्पली से बनी घी में सिकी पूड़ी पित्तानुबन्ध के साथ उत्पन्न श्वास में (हितकर होती हैं)।

श्वाविधं शशमांसञ्च शल्लकस्य च शोणितम् ।
पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ॥१०९॥

बड़ी सेह (porcupine) तथा खरगोश (rabbit) का मांस तथा छोटी सेह शल्लक (pangolin) का रक्त पिप्पली और घी से सिद्ध वातानुबन्ध के साथ उत्पन्न श्वास में (हितकर होता है)।

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम् ।
शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥११०॥

दूध, घी, त्रिकटुयुक्त हुलहुल (या सूर्यभक्ता) के स्वरस का शालिभात (खिलाकर) अनुपान (करवाना) वातपित्तानुबन्धज (श्वास में) हितकर (होता है)।

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः ।
पिप्पली मधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः ॥१११॥

सिरस के फूल का स्वरस अथवा सप्तपर्ण का (स्वरस) पिप्पली मधु मिलाकर कफपित्तानुबन्धयुक्त (श्वास में हितकर) माना गया है।

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद्रसः ।
घृतं क्षौद्रं कासश्वासहिक्काभिष्यन्दिनां शुभम् ॥११२॥

मुलहठी, पिप्पलीमूल, गुड, गाय के गोबर का तथा घोड़े की लीद का रस, घी, मधु (का मिश्रित योग) कास श्वास हिक्का तथा अभिष्यन्द वालों का शुभ (करने वाला है)।

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च।
शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ॥११४॥

गधा-घोड़ा-ऊँट-सूअरों के मेंढे के तथा हाथी के शकृद् (मल) का रस बहुत कफ (से युक्त श्वास) में एक एक शहद के साथ (रोगी) पीवे।

क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लिह्यान्ना क्षौद्रसर्पिषा।

और (कफ की बहुलता वाला श्वास से पीड़ित) व्यक्ति मधु-घृत के साथ असगन्ध का क्षार भी चाटे।

मयूरपादनालं वा शललं शल्लकस्य च ॥११४॥
श्वाविज्जाण्डकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा।
शृङ्गचैद्विशफानां वा चर्मास्थीनि खुरांस्तथा ॥११५॥
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्।
चूर्णंलीढ्वा जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ॥११६॥
एते हि कफसंरुद्ध गतिप्राणप्रकोपजाः।
तस्मात्तन्मार्गशुध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥११७॥

मोर के पैर की नाल (मोरपंखी) अथवा सेह का तया श्वावित् (बड़ी सेह), जाण्डक (armadillo) चाष (jay) अथवा कुरर (osprey) के रोंए, सींग वाले एक या दो (फट) खुरवालों की चमड़ी, हड्डियों कांटा तथा खुरों को सबको (अथवा) एक-एक (अलग-अलग) जलाकर मधु घृत मिलाकर चूर्ण को चाटकर कास, हिचकी और दारुण श्वास को जीते। ये रोग कफ से अवरुद्ध गति वाले प्राणवायु के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं इस कारण से इनके मार्ग की शुद्धि के लिए (ये लेह) देने चाहिए। कफ का अनुबन्ध नष्ट हो जाने पर नहीं देने चाहिए।

कासिनेच्छर्दनं दद्यात् स्वरभेदे च बुद्धिमान्।
वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥११८॥

बुद्धिमान् वैद्य स्वरभंग वाले खांसी के रोगी को वातकफहर द्रव्यों के साथ वमन देवे। और तमक श्वास में तो (इन्हीं द्रव्यों से) विरेचन (करावे)।

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद् वहज्जलम्।
यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥११९॥

बहता हुआ पानी मार्गावरोध के कारण जैसे बहुत बढ़ता है वैसे ही वात (इस लिए) उसके मार्ग को नित्य शुद्ध करना चाहिए।

वक्तव्य—(३१७) हिचकी और श्वास में प्राणवह स्रोतसों को बनाने वाले प्राचीरों की पेशियां संकुचित होकर आक्षेप (spasms) द्वारा मार्गावरोध करती हैं अतः मार्ग-शोधक (antispasmodic) उपचार करके उनके संकोच को हटा मार्गों को स्वाभाविक रूप में लाना चाहिए। आधुनिक केवल इसी सिद्धान्त को अपना मार्गदर्शक मान कर चलते हैं।

शटी चोरक जीवन्ती त्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम्।
सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥१२०॥
वालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम्।
सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत् ॥१२०॥

शट्यादिचूर्ण-कचूर, चोरक (ग्रन्थिकपाठ होने से पीपली-मूल) जीवन्ती, दालचीनी, मोथा, पुष्करमूल, तुलसी, भुंई आमलकी, इलाइची, पिप्पली, अगरकाष्ठ, सोंठ सुगन्धबाला, सब समभाग चूर्ण करके आठगुनी शक्कर (मिलाकर) तमकश्वास तथा हिक्का में सर्वथा (सब प्रकार से) प्रयोग करे।

नोट—यह एक मार्गशोधक योग है।

मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम्।
ससारकाचगन्धार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥१२२॥
ताम्रायो रजसी रूप्यं ससौगन्धिकसीसकम्।
जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥१२३॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा।
हिक्कां श्वासं च कासञ्च लीढमाशु नियच्छति ॥१२४॥
अञ्जनात् तिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः।
पिल्लं कण्डूमभिष्यन्दमर्मं चैव प्रणाशयेत् ॥१२५॥

मुक्तादिचूर्ण-मोती, मूंगा, लहसुनियां, शंख, स्फटिक, अंजन (antimony), दृढकाच (इनकी पिष्टियां) गन्धक, आक, छोटी इलायची, सेंधानमक कालानमक, ताम्रभस्म, लोहभस्म, रजतभस्म माणिक्यभस्म, सीसभस्म, जायफल, सन के बीज, अपामार्ग के बीज, इनके एक कर्ष चूर्ण को बराबर घृत मधु के साथ चाटने से हिक्का श्वास तथा कास शीघ्र नष्ट हो

जाती है इस चूर्ण के अंजन करने से तिमिर काच (catararct) नीलिका, पुष्पक, तम, पिल्ल, कण्डू, अभिष्यन्द मर्म (ये सब नेत्ररोग) भी नष्ट होजाते हैं।

वक्तव्य—(३१८) चरक ने रसरत्नादि का कितना सुन्दर समन्वय यहां किया है। जो लोग चरकसंहिता के कर्त्ताओं को रसचिकित्सा से अनभिज्ञ मानने का दुस्साहस करते हैं वे पुनः पुनः इस योगरूप गंगा में अवगाहन कर निज कलुष धोलें।

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च।
मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥१२६॥

हिक्कानाशक कुछ योग—कचूर, पोकरमूल (इन) का चूर्ण तथा आमलों का चूर्ण अथवा तीक्ष्ण लोह-भस्म मधु के साथ मिलाकर चाटनी चाहिए।

सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम्।
तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत्तथा ॥१२७॥

शर्करासहित भूमिआमलकी, मुनक्का, गोबर का रस, लीद का रस, गुड तथा सोंठ बराबर लेकर चटावे तथा नस्य दिलावे।

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा।
नावयेच्चन्दनं वाऽपि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥१२८॥

लहसन की, अथवा प्याज की अथवा शलगम की जड़ को अथवा चन्दन को भी स्त्री के दूध से मिलाकर नस्य करावे।

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम्।
नावयेन्माक्षिकीं विष्ठामलक्तकरसेन वा ॥१२९॥

गुनगुना घृतमण्ड सेंधानमक छोड़कर अथवा लाख के रस से मक्खी की बीट डालकर नस्य करावे।

नारीक्षीरेण सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि।
पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति ॥१३०॥

स्त्री के दूध से सिद्ध अथवा मधुरकादि जीवनीय गण द्वारा सिद्ध घी पीया हुआ नस्यरूप में लिया हुआ वा उसका नाक में सेंचन करने से वह हिक्का को शीघ्र नष्ट कर देता है।

सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः।
पाने नस्तः क्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥१३१॥

हिचकी के रोगियों को शकर शहद मिश्रित दूध एक बार गरम एक बार शीत ऐसे बदलकर पीने या नस्य क्रिया करने पर (लाभ होता है)।

अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति।
पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः ॥१३२॥

विरेचन द्रव्यों से सिद्ध घी पिप्पली शहद से युक्त अथवा आमला कैथ इन दोनों के रसों से युक्त शीघ्र हिचकी को नष्ट करता है।

लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान्।
लिह्यात् कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ॥१३३॥

खील, लाख, शहद, मुनका, पिप्पली, घोड़े की लीद का रस (इन) को अथवा बेर-शहद-मुनका-पिप्पली-सोंठ (इन) को चाटे।

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम्।
क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यावना मताः ॥१३४॥

शीतल जल से सेकना, सहसा त्रास देना, विस्मय उत्पन्न करना, डराना, क्रोध-हर्ष प्रिय पदार्थों में उद्वेग उत्पन्न करना हिक्का को शान्त करने वाले माने गये हैं।

नोट—चरक की यह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (psych therapy) प्रणाली है।

हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत्प्रकीर्तितम्।
वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्का श्वासविकारिभिः ॥१३५॥

हिक्का श्वास विकारों का जो निदान कह दिया गया है आरोग्य की कामना करने वालों से तथा हिक्का श्वास विकारों से पीडितों से वह वर्जनीय है।

हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः।
प्रकृत्या रूक्षदेहाश्च सर्पिभिस्तानुपाचरेत् ॥१३६॥

जो हिचकी और श्वास के अनुबन्ध वाले सूखी छाती सूखे कण्ठ और सूखे तालु वाले हैं तथा प्रकृति से रूक्ष शरीर वाले हों उनको घृतों द्वारा उपचार करना चाहिए।

वक्तव्य—(३१९) आयुर्वेद जहां रूखापन और सूखापन देखता है वहां स्नेहन की सम्मति प्रदान करता है। हिक्का और श्वास में रौक्ष्य और शोष निवारण के लिए इसी

दृष्टि से कुछ अद्वितीय योग चरक ने दिये हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं—

दशमूलरसेसर्पिर्दधिमण्डेन साधयेत्।
कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिंगुचोरकैः ॥१३७॥
कायस्थया च तत् पानाद्धिक्काश्वासौ प्रणाशयेत्।

दशमूलादिघृत—दशमूलरस में दही के जल के साथ पिप्पली-कालनमक-यवक्षार-क्षीरकाकोली-हींग-चोरक तथ हरड (इनके कल्क) से घी सिद्ध करे और उसके पीने से (शुष्कता तथा रूक्षता के अनुबन्ध से युक्त) हिक्का श्वास दोनों का नाश करे।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥१३८॥
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी।
सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका ॥१३९॥
तालीसपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसंमितैः।
हिंगुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥१४०॥
एतद् यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः।
शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुज एव च ॥१४१॥

तेजोवत्यादिघृत—तेजबल, हरड़, कूठ, पिप्पली, कुटकी, गन्धतृण, पुष्करमूल, ढाक की छाल, चित्रक, कचूर, कालानमक, भूमिआमलकी, सेंधानमक, बेलगिरी, तालीसपत्र, जीवन्ती, बच, वे सब १-१ कर्ष हींग चौथाई कर्ष चारगुने जल में एक प्रस्थ घी पकावे। इसको बल के अनुसार पीकर (रुक्षदेही की) हिक्का श्वास व्यक्ति जीते। तथा शोथ, वातार्श, ग्रहणी, हृच्छूल, पार्श्वशूल भी (जीते)।

वक्तव्य—(३२०) हिक्का और श्वास को नष्ट करने में आयुर्वेद ने पुष्करमूल, कचूर, भारङ्गी तथा काकड़ासिंगी इनको बहुत महत्त्व दिया है। आयुर्वेदीय इञ्जैक्शन्स में विश्वास करने वाले या नवीन चिकित्सक इनके मूलतत्वों की खोजकर इफेड्रीन की तरह उनके तत्वों का सूचीवेध से या सीधे सीधे प्रयोग करने का यत्न करें तो अवश्य इस दिशा में नया चमत्कार उत्पन्न किया जासकता है। पुष्करमूल को श्वासारोचककासघ्नम्, भार्ङ्गी को कासश्वासविनाशिनी, कचूर को कफकासविनाशनः तथा शृङ्गी को हिक्कातिसारकासघ्नी श्वासपित्तास्रनाशनी निघण्टुकारों ने भी कहा है।

मनः शिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः।
मञ्जिष्ठैलैश्च कर्षांशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ॥१४२॥

मनःशिलादिघृत—मैनसिल, राल, लाख, हल्दी, पद्माख, मजीठ, इलायची एक एक कर्ष (इन) से एक प्रस्थ घी (आवश्यक जल डालकर) सिद्ध हितकर (होता है)।

वक्तव्य (३२१) जैसा कि पृष्ठ ४६६ पर हमने प्रकट किया है कि श्वासकासहिक्का में आर्सनिक का प्रयोग आयुर्वेदज्ञ आदि काल से करते आये हैं जिसकी नकलमात्र पश्चिम ने की है यहां मैनसिलयुक्त घी का अन्तःप्रयोग भी उसी बात को स्पष्टतः सिद्ध करता है।

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद्घृतम्।
त्र्यूषणं दाधिकं वाऽपि पिबेद्वासाघृतं तथा ॥१४३॥

अथवा जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध मधु सहित घृत चटावे। अथवा त्र्यूषण घृत (देखो अध्याय १८ में) दाधिक घृत (गुल्मोक्त) तथा वासाघृत (गुल्मोक्त) पीवे।

श्वासहिक्का—चिकित्सासूत्र

यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ॥१४४॥

जो कुछ कफवातनाशक उष्ण वातानुलोमन औषध, अन्न वा पेय (है) वह (सब) श्वास हिक्का (की चिकित्सा) में हितकर (है)।

वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्।
कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥१४५॥

वातकारक अथवा कफनाशक, कफकारक वा वातहर, (ऐसा) एकान्तिक प्रयोग (exclusive use) न करे। इनमें वातनाशक (द्रव्यों का प्रयोग) श्रेयस्कर है।

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत्।
नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्षणे ॥१४६॥

प्रायः सबके बृंहण करने में अपाय (हानि की सम्भावना) अल्प (होती है) तथा वह शक्य (सुसाध्य भी) होता है। शमन कर्म में अत्यधिक हानि नहीं होती पर कर्षण में हानि अत्यन्त (है)।

वक्तव्य—(३२२) हिक्काश्वास चिकित्सा की ३ विधियां हैं उनमें कफवातहर प्रधान है। शेष जो अवशिष्ट हैं उनमें एक वातनाशक कफकारक और दूसरी कफनाशक वातकारक हैं। ये दोनों चरक को अमान्य हैं। पर यदि दोनों में एक लेनी ही हो तो वातनाशक लेनी चाहिए। वातनाशक बृंहण चिकित्सा अल्प शक्य होती है। शमनचिकित्सा कफवातनाशक होने से अवश्य लाभ करती है पर कर्षणचिकित्सा वातकारक होने से कदापि लाभकर नहीं होती।

तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि।
हिक्काश्वासार्दितान् जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥१४७॥

इस कारण हिक्का तथा श्वास से पीडित शोधन किए, और शोधन नहीं किए रोगियों का प्रायः शमन एवं बृंहणों से उपचार करे।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकः

दुर्ज्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम्।
लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानाञ्च निर्दशितम् ॥१४८॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)—

इस (अध्याय) में हिक्काओं की तथा श्वासों की दुर्जयता, उत्पत्ति, चिकित्सा, एकता में कारण, लक्षण तथा पथ्य बतलाये गये हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत के न मिलने पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में हिक्काश्वासचिकित्सितनामक सत्रहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

अष्टादशोऽध्यायः

कास चिकित्सा

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (इस) कासचिकित्सित (नामक अध्याय) का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

तपसा तेजसा धृत्या धिदा च परयान्वितः।
आत्रेयः कासशान्त्यर्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥२॥

तप से, तेज से, धृति से तथा परयाधिया (श्रेष्ठ बुद्धि से) युक्त आत्रेय ने कासशान्ति के लिए यह चिकित्सा कही।

कास के भेद

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा।
पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥३॥

जो वातादि से उत्पन्न तीन (वातिक-पैत्तिक-श्लैष्मिक) और क्षतज तथा क्षयज ये पांच (प्रकार की) कास हैं। (वे) बढ़ कर व्यक्तियों को क्षयप्रदान करने वाले होते हैं।

वक्तव्य–(३२३) आयुर्वेद दोषज तीन क्षतज एक और क्षयज एक इस प्रकार पांच प्रकार के अतिरिक्त अन्य कास का कोई प्रकार मानने के लिये तैयार नहीं। उसका जो संशय वर्धमानाः क्षयप्रदाः या कासात् सञ्जायते क्षयः यह अक्षरशः सत्य है। उपेक्षित जीर्णकास यक्ष्मा का परिणाम और कारण दोनों ही होती है।

कास-पूर्वरूप

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥४॥

शूकों (कांटों) से पूर्ण कण्ठता, कण्ठ में कण्डू तथा भोज्य पदार्थों का (कण्ठ में) अवरोध उत्पन्न हो जाता है। उस (कास) का (यह) पूर्वरूप (होता है)।

वक्तव्य (३२४) खांसी उठने के पूर्व गला खराब अवश्य होता है। प्रतिश्यायात् अथो कासः इस वाक्य के प्रकाश में भी पहले जुकाम होकर खराब होने के बाद खांसी आरम्भ होती है। यदि जुकाम का उचित प्रबन्ध कर लिया जावे और गले में खराश (शूक पूर्णता) होते ही यत्न किया जाय तो कास का प्रतिषेध होसकता है।

कास सम्प्राप्ति

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥५॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्।
आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥६॥
नेत्रे पृष्ठमुरः पार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः।
शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ॥७॥

(किसी भी कारण से अथवा स्वयं भी) नीचे और प्रतिहत होता हुआ वायु ऊर्ध्व स्रोतों को आश्रय बनाकर उदान भाव को प्राप्त होकर कण्ठ और छाती में रुक कर सिर के सब स्रोतों में प्रवेश कर उनको भरता हुआ देह, हनु, मन्या और नेत्रों को भेदन करता हुआ तथा आक्षिप्त करता हुआ दोनों नेत्रों, पीठ, छाती, पार्श्वों को वक्र करके फिर स्तम्भित करके शुष्क या सकफ अथवा कसनात् (भिन्न स्वर विशेष करने के कारण वह वायु कफ के सहित या शुद्ध रूप में) कास कही जाती है।

वक्तव्य––(३२५) श्वास लेने में नीचे फुफ्फुसों में प्रविष्ट हुआ वायु जब विविध कारणों से बिना अपना कार्य पूरा किए उदान भाव को प्राप्त होकर (ऊर्ध्वगति उच्छ्वास का स्वभाव बनाकर) मुख-नासा कर्ण-नेत्रादि में पहुँचकर इन्हें भरता हुआ देह-हनु-नेत्रादि को आक्षिप्त करता हुआ तथा कष्ट देता हुआ नेत्रादि को टेढ़ा बनाकर सूखी या कफ पूर्वक जब वह कसकसाती हुई निकलती है तब कास कहलाती है।

कास की निरुक्ति निम्न शब्दों में कसति शिरः कण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, कसगतौ इत्यस्मात्, कसनात् कासः इति चरके पाठः कासनं कास इति वा भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव इति सुश्रुतदर्शनात्–विजयरक्षित। कासृ कुशब्दे कुशब्दं भिन्नस्वरविशेषं कुर्वन् निरेतीति।— गङ्गाधर अथवा कसृ गतिशातनयोः। सुश्रुत ने कास की सम्प्राप्ति निम्न शब्दों में दी है—

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिःकास इति प्रदिष्टः ॥

महत्त्व की बात यह है कि प्राणवायु उदानानुगत होजाती है। प्राण अन्दर लाने का और उदान वा अपान बाहर निकलने का कार्य करते हैं प्राण जब उदान का कार्य करने लगता है तभी कसनात् कास की प्रवृत्ति होने लगती है।

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः।
वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते ॥८॥

(किसी) विशेष प्रतिघात (कफादि के आवरण) के द्वारा उस वायु का सरंहस (वेगपूर्वक या जातवेग जो) वेदनायुक्त शब्द वैशिष्ट्य होता है (वही) कासों की उत्पत्ति करता है।

वातिककास

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः ।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥९॥
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम् ।
शुष्कोरः कण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥१०॥
निर्घोषदैन्यक्षामास्यदौर्बल्यक्षोभमोहकृत् ।
शुष्कःकासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाल्पतां व्रजेत् ॥११॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति ।
ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥१२॥

निदान— रूखे-ठण्डे-कषैले (पदार्थों का सेवन), अल्पाशन, मिताशन (अथवा) अनशन, स्त्री सम्भोग वेगधारण, परिश्रम (ये) वातिक कास के प्रवर्तक (होते हैं)।

लक्षण— हृदय-पार्श्व-उरस्-शिरस् (इनमें) पीडा-स्वर को अत्यधिक भिन्न करने वाला, छाती, कण्ठ और मुख का सूखना, रोमहर्षयुक्त ग्लानियुक्त, प्रतिध्वनियुक्त शब्द, दीनता, क्षीणमुखता, दुर्बलता, क्षोभ और मोह करने वाला, सूखा कास शुष्क हुए कफ को कष्टपूर्वक मुक्त करके (स्वयं) कम होजाता है। स्निग्ध-अम्ल-नमकीन तथा उष्ण द्रव्यों के खाने पीने से शान्त होजाता है। अन्न पच जाने पर ऊर्ध्ववात वाले रोगी की वायु वेगवान् होजाती है।

वक्तव्य—(३२६) विविध वातिक कारणों से जो सूखी अत्यन्त त्रासदायक कास (dry cough) उत्पन्न होजाती है वह वातिक कास हुआ करती है।

पैत्तिककास

कट्वोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम् ।
पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥१३॥
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः ।
उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥१४॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति ।
श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥१५॥

निदान— कड़वे-गरम- दाहकारक खट्टे (पदार्थों तथा) क्षारों का अत्यधिक सेवन. अग्नि या धूप से उत्पन्न गरमी का (अधिक प्रयोग) (और) क्रोध पित्तकास करने वाले (होते हैं)।

लक्षण—पीला थूक, नेत्रों का पीलापन, मुख की तिक्तता, स्वरभेद, छाती में धुँआ सा घुटना, प्यास, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम, लगातार खांसते रहने और खांसते खांसते (आंखों से) तारे जैसी ज्योति देखता है। पैत्तिक कास में पित्त से युक्त कफ को थूकता है।

वक्तव्य—(३२७) पैत्तिक कास की मुख्य पहचान पित्त से युक्त पीले या सुर्खी लिए कफ का थूकना और निरन्तर खांसते रहना है।

श्लैष्मिककास

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नविचेष्टनैः ।
वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥१६॥
मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः ।
लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥१७॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम् ।
कासमानो ह्यरुग्वक्षः सम्पूर्णमिव मन्यते ॥१८॥

निदान— भारी-अभिष्यन्दी-मधुर-स्निग्ध (पदार्थ) सोना, अविचेष्टन (हरामखोरी से बिना काम किए पड़े रहने) से बढ़ा हुआ कफ वायु को रोककर कफज कास को अवश्य कर देती है।

लक्षण—अग्नि की मन्दता, अरुचि, वमन, प्रतिश्याय, मतली, गुरुता, रोमहर्ष, मुख की मधुरता क्लेद, ढीलापन से युक्त होने से, अत्यधिक, मधुर, स्निग्ध गांठदार कफ थूकता है तथा विना पीडा खांसता हुआ वह छाती को कफ से भरी हुई मानता है।

वक्तव्य—(३२८) कफजकास में गट्टे का गट्टा गाढा चिकना कफ निकलता है। शरीर भीगा हुआ सा रहता है रोगी को सर्दी लगती रहती है।

क्षतजकास

अतिव्यवायभाराध्ववयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥१९॥
सपूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥२०॥

सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥२१॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥२२॥

निदान—अत्यन्त मैथुन, भारवहन, पैदल गमन लड़ाई, घोड़ा या हाथी को रोकने से रूक्ष पुरुष को उरःक्षत (होजाता है। फिर उस क्षत को) वायु पकड़ कर कास कर देती है।

लक्षण—यह पहले सूखा खांसता है कण्ठ से अत्यन्त पीड़ा विशेष करके सुइयों जैसी तीक्ष्णतोद करने वाली ऐसी शूल वाली छाती से युक्त, भेदन जैसी पीडा तथा सन्ताप देते हुए कष्टदायकस्पर्श वाले शूल से युक्त (वह) पर्वभेद (arthralgia), ज्वर, श्वास, तृष्णा, विस्वरता से पीडित होकर कबूतर की तरह आवाज करता हुआ क्षत से उत्पन्न कास के वेग से रक्तसहित थूकता है।

वक्तव्य—(३२६) क्षतक्षीण रोगी में जो खांसी आती है उसी के स्वरूप का वर्णन यहां किया गया है। वक्तव्य (२१२) में पृष्ठ ३४४ पर हमने इसे ब्रोंकिएक्टैसिस कहा भी है। आयुर्वेदज्ञों ने फेंफड़े के क्षतों के निदान पर विशेषता सम्पादित कर रक्खी थी। उपरोक्त वर्णन उसीका प्रमाण है। सुश्रुत ने इसे बहुत संक्षेप में यों लिखा है —

वक्षोऽतिमात्रं विहतन्तु यस्य व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः।
विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः॥

क्षतज कास का आरम्भ पहले शुष्क कास से होता है। कासवेगों के सतत आघात से एम्फाइसीमा (emphysema) बनकर तब क्षतजकास की स्थिति भी आसकती है।

क्षयजकास

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात्।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥२३॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्।
दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम् ॥२४॥
स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्।
अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशीः दुर्बलः कृशः ॥२५॥
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः।
पाणिपादतलैः श्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी ॥२६॥
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः।
भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥२७॥
इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
साध्यो बलवतां वास्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥२८॥

निदान—विषम, असात्म्य भोजन, अत्यन्त मैथुन से, वेगरोध से घृणा करने वाले, शोक करने वाले पुरुषों की अग्नि के विकृत होने पर तीनों दोष कुपित होकर देह को क्षीण करने वाली क्षयजकास को कर देते हैं।

लक्षण—पूय के समान (purulent), दुर्गन्धित (offensive), हरे और लाल वर्ण के कफ को थूकता है। निरन्तर खांसता हुआ वह हृदय को स्वस्थान से च्युत (displaced) मानने लगता है। सहसा गर्मी-सर्दी से पीड़ित होजाने वाला, बहुत खाने वाला, दुर्बल, कृश (होजाता है)। चिकना अच्छा मुख-वर्ण और त्वचा वाला, रूप और नेत्र कान्ति युक्त हाथ पैरों के तलुए चिकने (होते हैं), निरन्तर (दूसरों में) असूया (दोष) देखने वाला घृणा से युक्त, ज्वर तीन दोषों की मिश्रित आकृति वाला उसका, पार्श्वशूल, पीनस, अरुचि, फटा या गाढा मल होना, अकारण स्वरभेद, इस प्रकार यह क्षयज कास क्षीण पुरुषों की देह का नाशक अथवा बलवानों का साध्य इसी प्रकार क्षतज कास (बलवानों में) याप्य होता है।

वक्तव्य—(३३०) टी. बी. के रोगी का या उरःक्षत जब क्षय का रूप धारण कर लेता है उसका कास जिस प्रकार का होता है वह अक्षरशः यहां लिख दिया गया है। कौन नहीं जानता कि मरते मरते भी क्षयी का रूप और नेत्रों में अपूर्व ज्योति रहती है। अरुचि, पीनस, और पार्श्वशूल क्षयज कास की सर्व सामान्य घटनाएँ हैं।

कास-साध्यासाध्यता

नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥२९॥

त्रीन्साध्यान् साधयेत्पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् ।
चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिवर्हणीम् ॥३०॥

ये दोनों कास यदि नये हों तो पादगुणान्वित (रोगी वैद्य उपस्थाता और औषध इन चारों भेषज पादों की श्रेष्ठता से युक्त) होने पर शायद साध्य हो जाते हैं। बुढ़ों का जराकास (वृद्धावस्था की खांसी) याप्य कहे गये हैं। पहले तीन साध्यकासों को सिद्ध करे तथा याप्यों का पथ्यों से यापन करे। अब आगे कासनाशक चिकित्सा को (तू) सुन।

वातिककास चिकित्साक्रम

रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः ॥३१॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः ।
अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान् ॥३२॥
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः ।
घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः ॥३३॥

बुद्धिमान् वैद्य रूक्ष (पुरुष) की वात से उत्पन्न कास को आरम्भ में स्नेहों के द्वारा तथा युक्तिपूर्वक घृतों से वस्तियों से पेया-यूष-क्षीर-मांसरसादिकों से, वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध स्नेहादिकों से, धूमयोगों लेहयोगों से, अभ्यङ्गों से तथा परिषेकों से स्निग्ध द्रव्यों तथा स्वेदों से ठीक करे। मल और अपान वायु के विबन्ध होने पर बस्तियों से, शुष्क ऊर्ध्व-शरीरी सपित्त वातिक कास को भोजनोत्तर काल में सेवन किए गये घृतों से तथा स्निग्ध विरेचनों से जीते।

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद्रसे ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद् वातकासनुद् वह्निदीपनः ॥३४॥

कण्टकारीघृत—कटेरी गुडूची दोनों से अलग अलग तीस पल से स्वरस निकाल (या काढा करके उसमें) एक प्रस्थ सिद्ध घृत से वातिक कासनाशक और अग्निदीपन (कण्टकारीघृत तैयार होता है)।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिंगुभिः ॥३५॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्दशमूलीरसाढके ।
सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयां मण्डं पिबेदनु ॥३६॥
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत् ।
पिप्पल्याद्यं घृतञ्चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम् ॥३७॥

पिप्पल्यादिघृत—छोटीपीपल, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ(इन)से धनियां,पाठा, हींग (इनसे) एक एक कोल मात्र (लेने से) एक प्रस्थ घृत दशमूलस्वरस एक आढक में सिद्ध करने से (और फिर) एक चतुर्थिका (एक पल) पीकर अनुपानरूप पेयामण्ड पीवे। वह श्वास कास हृद्रोग, पार्श्वशूल, ग्रहणीदोष गुल्मनाशक पिप्पल्यादिघृत (है) वह आत्रेय द्वारा कहा गया है।

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम् ।
द्वेपाठे देवदार्वृद्धि स्वगुप्तां चित्रकं शटीम् ॥३८॥
व्याघ्रीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम् ।
त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्ष समं घृतात् ॥३९॥
प्रस्थे चतुर्गुणे क्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत् ।
ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ॥४०॥
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम् ।
त्र्यूषणं नाम विख्यातं घृतमेतदनुत्तमम् ॥४१॥

त्र्यूषणादिघृत—सोंठ-मिरचकाली-पीपलछोटी, हरड़ बहेडा आमला, अंगूर, गम्भारी के फल, फालसे, (छोटे बड़े) दो पाठा, देवदारु, वृद्धि, कोंच के बीज चित्रक, कचूर, कटेरी छोटी (पाठ भेद मानने पर ब्राह्मी), भूमिआमलकी, मेदा, काकनासा, शतावरी, गोखुरू, विदारीकन्द पीस कर एक एक कर्ष बराबर घी से एक प्रस्थ, चारगुने दूध में सिद्ध कासनाशक पीवे। ज्वर, गुल्म, अरुचि, प्लीहोदर, शिरःशूल, हृच्छूल, पार्श्वशूलनाशक, कामला, अर्श, वाताष्ठीला, उरःक्षत, शोष (consumption), क्षयनाशक यह त्र्यूषणनामक घृत परम श्रेष्ठ (रूप में) विख्यात (है)।

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम् ।
पलिकान्माणिकांशांस्त्रीन्कुलत्थान्बदरान्यवान् ॥४२॥
तुलार्द्धं चाजमांसस्य तेन शेषेण तेन च ।
घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥४३॥

सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः।
समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥४४॥
पञ्चकासान् शिरःकम्पं शूलं वंक्षणयोनिजम्।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥४५॥

रास्नाघृत—एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से दो द्रोण) जल को एक-एक पल रास्ना, दशमूल (के दसों द्रव्य), शतावरी, तीन कुलत्थों बेरों तथा जौ को एक-एक माणिका (८-८ पल) तथा बकरे के मांस का आधा तुला (डालकर औटाकर चौथाई शेष रहने पर छानकर उस (क्वाथ रस) से एक आढक घी, बराबर दूध एक-एक पल जीवनीय द्रव्य दसों के कल्कों से सिद्ध पान और अनुवासन की दृष्टि से वातरोगों में भले प्रकार देखकर अवस्थानुसार प्रयोग करे। पांचों कासों को, शिरःकम्प, वंक्षणशूल, योनिशूल, सर्वाङ्ग एकाङ्ग के वातरोग, प्लीहोदर, तथा ऊर्ध्ववात को जीतता है।

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिंगु सैन्धवम्।
भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद् वा घृतमात्रया ॥४६॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासे हिक्काहताग्निषु।

विडङ्गादिचूर्ण—वायविडङ्ग, सोंठ, वाइसुरई, पीपल छोटी, हींग, सेंधानमक, भारंगी, तथा जवाखार इनका चूर्ण सकफ वातिक कास में, श्वास में, हिक्का तथा अग्निमान्द्य में घृत की (उचित) मात्रा के साथ पीवे।

द्वौ क्षारौ पञ्चकोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥४७॥
शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम्।
पाययेत् घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम् ॥४८॥

द्विक्षारादिचूर्ण—जवाखार, सज्जीखार, पंचकोल (पिप्पली पिप्पलीमूल चव्य चित्रक सोंठ), पंचलवण (सेंधानमक, कालानमक विडनमक, सामुद्रनमक, सांभरनमक) अथवा, कचूर, सोंठ, सुगन्धवाला, कल्क को वस्त्रगालित करके घृत मिलाकर वातिक कासनाशक (इस) को पिलावे।

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम्।
लिह्यात् कर्कटशृङ्गी च कासे तैलेन वातजे ॥४९॥

दुरालभादिलेह—दुरालभा, काकड़ासिंगी, मुनक्का, अदरख, मिश्री तथा काकड़ासिंगी तैल के साथ वातोत्पन्न कास में चाटे।

दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तं भार्गी कर्कटकीं शटीम्।
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं चापि लेहयेत् ॥५०॥

दुःस्पर्शादिलेह—दुरालभा, पिप्पली, मोथा, भारंगी, काकडासिंगी, कचूर को चूर्णित करके पुराने तैल और गुड दोनों से (वातिक कास में) चाटे।

विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिंगु मनःशिलाम्।
मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन् ॥५१॥

विडङ्गादिलेह—बायविडंग, सेंधानमक, कूठ, सोंठ, मिर्चकाली, पिप्पली, हींग, मैनसिल, मधु (तथा) घी मिलाकर चाटता हुआ कास हिचकी तथा श्वास को जीते।

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिंगु दुरालभाम्।
शटीं पुष्करमूलञ्च श्रेयसीं सुरसां वचाम् ॥५२॥
भार्गी छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्।
कल्कानर्धतुलाक्वाथे निदिग्ध्याः पलविंशतिम् ॥५३॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्।
सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम् ॥५४॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्।
लेहयेत् कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम् ॥५५॥

चित्रकादिलेह—चीते की छाल, पीपरामूल, सोंठ-मिर्च-पिप्पली, हींग, दुरालभा, कचूर, पोकरमूल, गजपीपल, तुलसी, वच, भारङ्गी, गिलोय, रास्ना, काकडासिंगी, मुनक्का एक एक कर्ष इनके कल्कों को छोटी कटेरी के आधे तुला क्वाथ में, बीस पल मछली के अण्डे के समान सफेद खांड (मत्स्यण्डिका) देकर एक कुडव घी पकावे। सिद्ध करके शीतल होने पर मधु और पिप्पली अलग अलग एक एक कुडव चार पल वंशलोचन चूर्ण करके डालदे। (फिर) कास, हृद्रोग, श्वास, गुल्मनाशक (यह) चाटे।

दशमूलीं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम्।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥५६॥
भार्ङ्गीं पुष्करमूलञ्च द्विपलांशं यवाढकम्।

हरीतकीशतं चैकं जले पञ्चाढके पचेत् ॥५७॥
यदैः स्विन्नैः कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् ।
पचेद्गुडतुलां दत्वा कुडवं च पृथक् घृतात् ॥५८॥
तैलात् सपिप्पलीचूर्णात् सिद्धशीते च माक्षिकात् ।
लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥५९॥
तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम् ।
पञ्चकासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम् ॥६०॥
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणी हृद्रोगारुचिपीनसान् ।
अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥६१॥

अगस्त्यहरीतकीलेह–दशमूल, कौंच के बीज, शंखपुष्पी, कचूर, बला, गजपीपल, अपामार्ग, पिप्पलीमूल, चित्रक, भारंगी तथा पोकरमूल (इन) को दो-दो पल जौ एक आढक, हरड (गिनी हुई) १००, पांच आढक (द्रवद्वैगुण्य से १० आढक) जल में पकावे। जौ पकजाने पर उस कषाय को छानकर तथा वे सौ हरड़ें एक तुला गुड और एक कुडव अलग अलग घी, तैल, पिप्पलीचूर्ण से पकावे। सिद्ध और शीतल होने पर (एक कुडव) शहद से (मिलाकर) उस रसायन से नित्य दो हरड़ों में (जितना अवलेह आसके उतना (तथा दोनों हरड़ें) नित्य चाटे।

वह वली, पलित नष्ट करता है, आयु-बल वर्धक (है), पांचों कास, क्षय, श्वास, हिचकी तथा विषमज्वर को नष्ट करता है। तथा अर्श, ग्रहणी, हृद्रोग, अरुचि पीनसों को यह शुभ अगस्त्यऋषि विहित श्रेष्ठ रसायन नष्ट करता है।

सैन्धवं पिप्पलीं भार्ङ्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम्।
दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीनागरमम्बुना ।६२॥
पिबेत्खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः ।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥६३॥

सैंधानमक, छोटी पीपल, भारंगी, अदरख, दुरालभा (धमासा), अचार की खटाई से अथवा भारंगी सोंठ, गरमपानी से अथवा कत्था मदिरा दही के पानी से या घी में भुने सैन्धव के साथ पिप्पली का कल्क (मदिरा दधिमस्तु से) पीवे।

शिरसः पीडनं स्रावे नासाया हृदि ताम्यति ।
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥६४॥

धूमपान—शिरका शूल, नासा के स्राव (बहने) में हृदय की ग्लानि में खांसी तथा जुकाम वालों को वैद्य धूमपान का प्रयोग करे।

दशांगुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टांगुलोन्मिताम्।
शरावसम्पुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षणः ॥६५॥
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत् ।
तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत् पुनः ॥६६॥
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छिद्य श्लेष्मांणमुरसि स्थितम् ।
निष्कृष्य शमयेत् कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥६७॥

चतुर (वैद्य) दस अंगुल लम्बी अथवा आठ अंगुल लम्बी, नाड़ी (नली) शराव सम्पुट के छिद्र में टेढ़ी करके (लगादे)। कास का रोगी मुख से ही वैरेचनिक धूमपान करे। पूर्ण रूप से छाती में आने पर (धूंए को) मुख से ही फिर निकाल दे क्योंकि वह तीक्ष्ण होने से छाती में चिपके कफ को छेदकर बाहर निकाल कर वातकफजन्य कास को शान्त कर देता है।

वक्तव्य—(३३१) आचार्यों ने प्राचीन काल में ऐसा कोई कार्य और उपाय नहीं छोड़ा था जिसे रोगनाशक रूप में प्रयुक्त न किया गया हो। प्रदेह, प्रलेप, परिषेक, अवगाह, अवचूर्णन, धूपन, स्नेहन, स्वेदन, बस्ति, धूमपान, क्वाथ सेवन, चूर्ण चखना, लेह चाटना, छींक लेना बूंद टपकाना, आसवारिष्ट, मण्ड शीधुतुषोदक सौवीरक काञ्जिकादि का पान आदि उदाहरण सामने प्रस्तुत हैं। धूमपान की प्रणाली ऋषि प्रणीत है। छाती के कफ को विगलित कैसे किया जाय इस समस्या को हल करने के लिए ही इस प्रथा का आरम्भ हुआ। जहां धूमपान की विधि ऋषियों द्वारा बतलाई गई है वहां तम्बाकू पीना गुलामी के दिनों में प्राप्त दुर्गुण मात्र ही है। तम्बाकू का धूमपान मुगलों के समय में अपने देश में आया था।

मनःशिलालमधुकमांसी मुस्तेंगुदैः पिबेत् ।
धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥६८॥
एव कासान् पृथग्दोषसन्निपात समुद्भवान् ।
धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि ॥६९॥

मनःशिलादिधूम—मैनसिल, हरताल, मुलहठी, जटामांसी, मोथा, इंगुदी का धूम पीवे। उसके ऊपर गुड मिलाकर गुनगुना दूध पीवे। यह धूम, अलग अलग दोष से उत्पन्न (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा) सन्निपात से उत्पन्न और अन्य सैकड़ों योगों से भी असिद्ध कासों को नष्ट करे।

प्रपौण्डरीकं मधुकं सशार्ङ्गेष्टां मनःशिलाम्।
मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम् ॥७०॥
कृत्वा वर्तिं पिबेद् धूमं क्षौमचेलानुवर्तिताम्।
घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥७१॥

प्रपौण्डरीकादि धूमवर्ति—पुण्डरीक, मुलहठी, मकोयसहित मैनसिल, मिरच काली, पीपल छोटी, मुनक्का, इलाइची, तुलसी के बीजों की मंजरी (इन) को क्षौमचेल (रेशमी कपड़े) में लपेट कर बनाई गई वर्ति को घी चुपड़ (उसका) धूप पीवे। बाद में गुड मिला जल या दूध पीवे।

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः।
वंशलेखनसव्यालक्षौमलक्तकरोहिषैः ॥७२॥
पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते।
मनःशिलाले तद्वच्च पिप्पलीनागरैः सह ॥७३॥

मनःशिलादि धूमवर्ति—मैनसिल, इलायची, मिर्च, जवाखार, अंजन, तगर, वंशलोचन, सुगन्धवाला, हरताल, रेशमी कपड़ा, रूसाघास से पूर्व विधि से बनाया यह धूम अनुपानसहित प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार मैनसिल हरताल पिप्पली सोंठ के साथ धूमपान करे।

त्वगिंगुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला।
कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥७४॥

इङ्गुदीत्वगादिधूम—हिंगोट की छाल, कटेरी बड़ी छोटी दोनों, काली मूसली, मैनसिल, बिनौला और असगंध (का) धूमपान कासनाशक है।

वक्तव्य—(३३२) वातिक कास की शान्ति में संखिया विष के योगों का धूमपान उनकी तीक्ष्णता को विविध वनौषधियों से कम करके प्रयोग करना बहुत महत्व रखता है।

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥७५॥

वातिक कास में पथ्य—हितकारक शालि, जौ, गेहूं, साठी, ग्राम्य (पालतू) आनूप तथा जलज देशीय जीवों के मांसरसों के साथ उड़द और कौंच के बीजों का यूष खिलावे।

यवानी पिप्पली बिल्वमध्यनागरचित्रकैः।
रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशशटिपौष्करैः ॥७६॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत्।
कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥७७॥

अजवाइन, पीपल, बेलगिरी, सोंठ, चित्रक, रास्ना, जीरा, पृश्निपर्णी, ढाक, कचूर, पोकरमूल (इनसे) सिद्ध स्निग्ध अम्ललवणयुक्त पेया को वातिक कास में पीवे। (यह पेया) कटिशूल, हृदयशूल, पार्श्व-शूल, कोष्ठशूल श्वास और हिचकी नाशिनी (होती है)।

दशमूलरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्विताम्।
सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरं वाऽपि ससैन्धवाम् ॥७८॥
मात्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम्।
सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः ॥७९॥

इसी प्रकार दशमूल स्वरस में (सिद्ध पेया) पञ्च-कोल चूर्ण गुड (का प्रक्षेप देकर पिलावे)। अथवा समतिलाम् (समतिलतण्डुलसाधिताम्—बराबर भाग तिल और चावल मिला सिद्ध की गई पेया) को दूध में (या सेंधानमक) मिलाकर देवे। मछली, मुर्गा, सुअरों के मांसों से घृत मिलाकर सेंधवयुक्त पेया वातिक कास से पीड़ित रोगी पीवे।

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्।
स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥८०॥
दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च।
शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥८१॥

बथुआ, वायस शाक (कौआ-डोडी), मूली, चौपतिया, तैल आदि स्नेह, भक्ष्य पदार्थ, दूध, ईख का रस, गुड़ के पदार्थ मधुर खट्टे तथा नमकीन वातकास में प्रशस्त होते हैं।

पैत्तिककास-चिकित्साक्रम

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम् ।
तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः ॥८२॥
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः ।
हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च कर्म भजेत् ॥८३॥

कफयुक्त पैत्तिककास में घृत के साथ मदनफल-गम्भारीफल-मुलहठी से क्वथित जल से या विदारीकन्द तथा गन्ने के रस से युक्त मुलहठी मदनफल के कल्कों से वमन कराना हितकर है। दोषहरण होने के पश्चात् शीतल, मधुर (पेयादि) क्रम सेवन करे।

पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् ।
दद्याद्घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थे युतां भिषक् ॥८४॥

पैत्तिककास में पतला कफ होने पर मधुर द्रव्यों से युक्त करके तथा गाढ़ा कफ होने पर तिक्त द्रव्यों से युक्त करके विरेचन के लिए निशोथ को प्रदान करे।

स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने ।
क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥८५॥

(विरेचन के पश्चात्) पतले कफ वाले स्निग्ध शीतल तथा घन कफ वाले को रूक्षशीत पेयादि क्रम करना चाहिए फिर भोजन द्रव्य, स्नेहों तथा लेहों से उपचार करना प्रशस्त है।

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीलीसाराणि पिप्पली ।
पिप्पली मुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वामहौषधम् ॥८६॥
लाजाऽमृतफला द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता ।
पिप्पलीपद्मकद्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ॥८७॥
खर्जूरं पिप्पलीं वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्चते ।
घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ॥८८॥

(१) सिंघाड़ा, कमलबीज, नील का सार (indigo pulp) तथा पिप्पली, (२) पिप्पली, मोथा, मुलहठी, मुनक्का, मूर्वा, सोंठ (३) नील, आमला, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली तथा मिश्री (४) पिप्पली, पद्माख, मुनक्का तथा बड़ी कटेरी के फल से प्राप्त रस, (५) खजूर, पिप्पली, वंशलोचन तथा गोखुरू वे आधेश्लोक से कहे पांच लेह घृत मधु मिला पित्त-कासियों को (देना चाहिए)।

शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्री फलोत्पलैः ।
पैत्ते, समुस्तमरिचः सकफे सघृतोऽनिले ॥८९॥

शर्करादिलेह—शक्कर, चन्दन, मुनक्का, शहद, आमला, नीलोफर (इनसे बनाए अवलेह को) पैत्तिक कास में (देना चाहिए)। मोथा सहित मिरच घृत के साथ कफसहित वात में देना (चाहिए)।

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीः शर्करापलम् ।
लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपं च शकृद्रसम् ॥९०॥

मृद्वीकादिलेह—क्षीरप (दूध है भोजन जिसका) को ५० मुनक्का, पिप्पली ३०, एक पल शक्कर अथवा मधु से गोबर के रस को चटावे।

त्वगेलाव्योषमृद्वीका पिप्पलीमूलपौष्करैः ।
लाजामुस्तशटीरास्ना धात्रीफलविभीतकैः ॥९१॥
शर्करा क्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः ।
श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ॥९२॥

त्वगादिलेह—दालचीनी, त्रिकटु, मुनक्का, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, खील, मोथा, कचूर, रास्ना, आमला, बहेड़ा, शक्कर, शहद (और) घी के साथ (बनाया गया) अवलेह कासनाशक श्वास, हिचकी, यक्ष्मा तथा हृद्रोग को (भी) नष्ट कर देता है।

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजां सितोपलाम् ।
क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात् क्षौद्राष्टभागिकम् ॥९३॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, आमले, मुनक्का, लाख, खील, मिश्री को दूध में पकाकर खोया बना शीतल होने पर अष्टम भाग शहद के साथ चटावे।

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम् ।
पिबेद्वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥९४॥

अथवा विदारीकन्द-गन्ना-कमल की नाल के रसों को दूध, मिश्री को मधु मिला कर (इस) परम पित्तनाशक (योग) को पीवे।

पैत्तिककास-पथ्य

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः ।
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ॥९५॥

मधुर जाङ्गलजीवों के मांसरसों

से, मूंग की दालों, तिक्त शाकों से मात्रानुसार सवां-जौ तथा कोदों हितकर हैं।

घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः।
शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥९६॥

गाढ़े कफ में मधुयुक्त तिक्तरस वाले लेह और पतले कफ में मांसरसादि सहित साठीचावल और शालिचावल (हितकर होते हैं)।

शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसाः पयः।
सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥९७॥

अनुपान के लिए शर्करोदक, अंगूरों का रस, गन्नों का रस, दूध तथा सब मधुर, शीतल और दोषरहित प्रशस्त होता है।

काकोली बृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः।
पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥९८॥

काकोली, बड़ी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूसे के साथ सोंठ (इन) से पैत्तिक कास में मांसरसों को दूध को तथा यूषों की कल्पना करे।

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षायोस्तथा।
कषायेणश्रृतं क्षीरं पिबेत् समधुशर्करम् ॥९९॥

शरादिपंचमूलीक्षीर—तृणपञ्चमूल तथा पिप्पली मुनक्का दोनों के कषाय से शृत दूध मधु शक्कर सहित पीवे।

नोट—तृणपञ्चमूल में शर, काश, दर्भ, ईख और शालिमूल होता है।

स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः।
वीरर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ॥१००॥
शृतं पयः पिबेत् कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी।

स्थिरादिक्षीर—शालपर्णी, मिश्री, पृश्निपर्णी, मुण्डी, दोनों (छोटी बड़ी) कटेरियां, क्षीरकाकोली, ऋषभक, काकोली, भुइंआमलकी, ऋद्धि, जीवक (इन) से उबाला दूध कास, ज्वर, दाह तथा क्षतक्षय वाला रोगी पिये।

तज्जं वा साधयेत्सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥१०१॥
जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः।
कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ॥१०२॥
शर्करापिप्पलीचूर्णंत्वक्क्षीर्यां मरिचस्य च।
शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान्पलोन्मितान् ॥१०३॥
गुडान् गोधूमचूर्णेन कृत्वा खादेद्धिताशनः।
शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च ॥१०४॥

अथवा वैद्य इससे निकाले घी को दूध और गन्ने के रस के साथ सिद्ध करे। जीवकादि मधुर द्रव्यों से तथा पिस्ता आदि के फलों के ३-३ तोले कल्क से सिद्ध छान शीतल कर शक्कर पिप्पलीचूर्ण, वंशलोचन, तथा मरिच का सिंघाड़े के (चूर्ण का) प्रक्षेप देकर मधु डाल एक एक पल गेहूँ के भुने आटे के साथ गोले बनाकर हितभोजी होकर शुक्र-रक्तदोष में, शोष में खांसी में तथा क्षतक्षीणता में खावे।

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं समम्।
पिष्ट्वारसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥१०५॥

शक्कर, सोंठ, सुगन्धवाला, कटेरी, कचूर (सब) बराबर बराबर पीसकर (उनके) रस को वस्त्र से छान कर घृत मिलाकर पीवे।

महिष्याजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः।
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ॥१०६॥

सम (मात्रा) से भैंस-बकरी-भेड़-गाय का दूध, आमलों के फलों के रस से सिद्ध घी युक्तिपूर्वक पीवे। (यह) पैत्तिककासनाशक है।

वक्तव्य—(२३३) पैत्तिककास में मुलहठी, मुनक्का विदारीकन्द, मिश्री, घृत, सिंघाड़ा, कमलगट्टा, खश, वंशलोचन, चन्दन, आमला, सुगन्धवाला आदि पित्तशामक द्रव्यों के प्रयोग के साथ कासहर द्रव्यों के प्रयोग पर बहुत जोर दिया गया है। ध्यान यह देना है कि पैत्तिककास स्वतन्त्र है या तनुकफ या घन कफ या वातानुबन्ध से युक्त है। कफानुबन्ध होने पर सर्वसाधारणतया वमन दिया जासकता है। पर उसमें पित्तशामक काश्मरीफल मुलहठी आदि डालनी चाहिए। तनुकफ होने पर मधुर द्रव्यों के साथ तथा घनकफ होने पर तिक्त द्रव्यों के साथ निशोथ का विरेचन देना चाहिए। रोगी को निरे दूध पर रखना अथवा अंगूर, ईख के स्वरस का पान करना, भैंस, बकरी, भेड़, गाय चारों में से किसी का भी दूध और आमलों के फलों का रस

आवश्यक है ।

श्लैष्मिककास में चिकित्साक्रम

वलिनं वमनैरादौ शोधितं कफकासिनम् ।
यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ॥१०७॥

आरम्भ में वमनों से शुद्ध हुए कफज कासी को कटु-रूक्ष-उष्ण कफघ्न द्रव्यों से तथा यवान्नों (जौ के भोजनों) से चिकित्सा करे ।

पिप्पली क्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च ।
लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥१०८॥
धान्ववैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः ।
मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥१०९॥
पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् ।
जले मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ॥११०॥

पिप्पली, यवक्षार से संस्कृत, कुलथी तथा मूली के यूषों से कटु द्रव्यों से युक्त मांसरसों से, जांगल तथा बिलेशय प्राणियों के मांसों से, तिल सरसों तथा बेल के स्नेहों से लघु अन्नों को खावे। मधु-अम्ल-उष्ण-जल, तक्र मद्य अथवा निगद पीवे।

कट्फलं कत्तृणं भार्गी मुस्तं धान्यवचाभयाः ।
शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वञ्च जले श्रृतम् ॥१११॥
मधुहिंगुयुतं पेयं कासे वात कफात्मके ।
कण्ठरोगे मुखे शूने श्वासहिक्का ज्वरेषु च ॥११२॥

कट्फलादिक्वाथ—कायफल, गन्धतृण, भारंगी, मोथा, धनियां, बच, हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकडासिंगी, तथा जल में उबाल कर शहद हींग मिलाकर वातकफात्मक कास में तथा गले के रोग में, मुख शोथ में, श्वास-हिक्का-ज्वर में पीना चाहिए ।

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम् ।
पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिंगु सैन्धवाभ्यां युतां पिबेत् ॥११३॥

पाठादियोग—पाठा, सोंठ, कचूर, मूर्वा, इन्द्रायण, मोथा, पीपल पीसकर गरम जल से हींग तथा सेंधा नमक दोनों मिलाकर पीवे ।

नागरातिविषे मुस्तं शृङ्गी कर्कटकस्य च ।
हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ॥११४॥

नागरादियोग—सोंठ, अतीस, मोथा, काकडासिंगी तथा हरड़, कचूर उसी ही (उपरोक्त) विधि से पीवे ।

तैलेभृष्टञ्च पिप्पल्याः कल्काक्षं ससितोपलम् ।
पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम् ॥११५॥

पिप्पलीप्रयोग—कफजकासनाशक तैल में भुनी पिप्पली का एक कर्ष कल्क सितोपला (मिश्री यथा मात्रा मिलाकर) कुलथी के रस के साथ मिलाकर पीवे ।

कासमर्दाश्वविड्भृङ्गराजवार्ताकजो रसः ।
सक्षौद्रः कफकासघ्नः सुरसस्यासितस्य च ॥११६॥

कसौंदी, घोड़े की लीद, भांगरा, बैंगन से प्राप्त रस, तथा काली तुलसी का स्वरस मधु के साथ (प्रयोग करना) कफकासघ्न (होता है)।

देवदारुशटीरास्ना कर्कटाख्या दुरालभा ।
पिप्पलीनागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥११७॥
मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे ।

(१) देवदारु, कचूर, रास्ना, काकडासिंगी, धमासा, (२) पिप्पली, सोंठ, मोथा, हरड़, आमला, मिश्री, मधु तैल मिलाये। इन दोनों अवलेहों को वातानुबन्धयुक्त कफज कास में (हितकर माना जाता है) ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥११८॥
पथ्या तामलकी धात्री भद्रमुस्ता च पिप्पली ।
देवदार्वभयामुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥११९॥
विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् ।
चतुरो मधुरा लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥१२०॥

(१) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपीपल, हरड़, भूमिआमलकी, आमले, नागरमोथा तथा पिप्पली (२) देवदारु, हरड़, मोथा, पिप्पली, सोंठ (४) इन्द्रायण, पिप्पली, मोथा, निशोथ इन चारों मधुर कफकास हरने वाले अवलेहों को वैद्य चटावे ।

सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम् ।
चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत् ॥१२१॥

वातकफजकासहर कालानमक, हरड़, आमला, पिप्पली, यवक्षार, सोंठ को चूर्ण करके घी से पीवे ।

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ।

पुष्कराह्वशटी विल्वसुरसव्योषहिंगुभिः ॥१२२॥
पेयानुपानं तत्पेयं कासे वातकफात्मके ।
श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ॥१२३॥

दशमूलादिघृत—एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) दशमूल के काढ़े में घी का एक प्रस्थ, एक-एक कर्ष पुष्करमूल, कचूर, बेल, तुलसी, सोंठ-मिर्च-पिप्पली, हींग के साथ पकावे। पेया के अनुपान के साथ उसे वातकफात्मककास में, श्वासरोग में तथा अन्य सब कफवातात्मक (व्याधियों में) पीना चाहिए।

समूलफलशाखायाः कण्टकार्या रसाढके ।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः ॥१२४॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः ।
वृश्चीरबृहतीपथ्यायवानीदाडिमर्धिभिः ॥१२५॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालभाम्लवेतसैः ।
शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥१२६॥
कल्कैस्तत् सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते ।
कण्कारीघृतं ह्येतत् कफव्याधिनिसूदनम् ॥१२७॥

कण्टकारीघृत—छोटी कटेरी के जड़ फल शाखा के एक आढक (या दो आढक) स्वरस में एक प्रस्थ घी, बला-त्रिकटु, विडङ्ग, कचूर, चित्रक, कालानमक, यवक्षार, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, श्वेतपुनर्नवा, बड़ी कटेरी, हरड़, यमानी, अनारदाना, ऋद्धि, मुनक्का, लाल पुनर्नवा, चव्य, धमासा, अम्लबेंत, काकड़ासिंगी, भूमिआमलकी, भारङ्गी, रास्ना और गोखुरू (इनके) कल्कों से (कल्क मिलित घृत के चतुर्थांश ४ पल रहना चाहिए) पकावे। यह कण्टकारीघृत कफरोगनाशक, सब कासों में (तथा) हिक्काश्वासों में प्रशस्त है।

कुलत्थरससंयुक्तं पञ्चकोलशृतं घृतम् ।
पाययेत् कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते ॥१२८॥

कुलथी के स्वरस (या क्वाथ) तथा पञ्चकोल के काढ़े से संयुक्त घृत को कफ कास में पिलावे तथा (यह) हिक्का श्वास में (भी) प्रशस्त होता है।

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम् ।
कोशातकी फलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलाम् ॥१२९॥

वात कासियों के जो धूम योग कहे गए हैं उनको देवे अथवा मनःशिला के साथ कड़वी तोरई के फल मध्यभाग को (धूम रूप में) पीवे।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजः ।
पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥१३०॥

कफज कास में यदि पित्तानुबन्धज तमकश्वास होवे तो अवस्थानुसार वहां पैत्तिककास चिकित्सा को प्रयोग करे।

वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात् कफहरीं क्रियाम् ।
पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ॥१३१॥

वातिक कास में कफानुबन्ध होने पर कफहरी चिकित्सा करे तथा पित्तानुबन्धयुक्त वातकफज कास में पित्तनाशिनी चिकित्सा करे।

आर्द्रे विरूक्षणं, शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके ।
कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम् ॥१३२॥

वातकफात्मक आर्द्र कास में विरूक्षण, (वात कफात्मक) शुष्क कास में स्निग्ध तथा पित्तयुक्त कफजकास में तिक्त द्रव्य युक्त पथ्य देवे।

वक्तव्य—(३३४) कफज कास और उसके साथ विविध अनुबन्ध होने पर अवस्था विशेष में क्या क्या करना चाहिए इसका सर्वाङ्गसुन्दर वर्णन आचार्य ने प्रस्तुत कर अपनी शैली की वैज्ञानिकता को भरपूर सिद्ध कर दिया है।

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत् ।
मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्द्धनैः ॥१३३॥

क्षतजकास में चिकित्साक्रम मधुर-जीवनीय-बल मांसवर्द्धक पदार्थों के द्वारा क्षतजकास को आत्ययिक (अत्ययकर—खतरनाक) मानकर शीघ्रता से जीते।

पिप्पली मधुकं पिष्टं कार्षिकंससितोपलम् ।
प्रास्थिकं गव्यमाज्यं च क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥१३४॥
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकाद्रसः ।
तैलं च प्रसृतांशानि तत् सर्वं मृदुनाऽग्निना ॥१३५॥
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः सक्षतकासहा ।
कासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धाल्प रेतसे ॥१३६॥

पिप्पल्यादिलेह—पिप्पली, मुलहठी, मिश्रीसहित एक एक कर्ष, गाय तथा बकरी को दूध, गन्ने का रस एक एक प्रस्थ जौ-गेहूँ मुनक्का चूर्ण आमलकी स्वरस तथा मीठा तैल २-२ पल प्रत्येक (लेकर) वह सब मन्द अग्नि से पकावे। क्षतज कासनाशक वह अवलेह घी शहद मिला कर कास हृद्रोग कार्श्य (इन) रोगों में वृद्ध पुरुष (तथा) अल्पवीर्य वाले (व्यक्ति) को हितकर है।

आवस्थिकी चिकित्सा

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी।
क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ॥१३७॥

क्षयज कास से पीडितों की पैत्तिक कासनाशक दूध घी मधुप्राय चिकित्सा होती है। (अन्य दोषों का) संसर्ग होने पर विशेष (चिकित्सा करनी चाहिए)।

वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः।
तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ॥१३८॥

(जैसे) वातपित्त से पीडित (क्षतज कासी को) गात्र में भेदनवत् शूल होने पर घृतों से, वात रोगनाशक तैल योगों से वायु द्वारा पीडित होने पर अभ्यङ्ग (कराना चाहिए)।

हृत्पार्श्वार्त्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः।
सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ॥१३९॥

दाहयुक्त रक्त थूकने वाले, कास वाले रोगी को अग्नि बलवान् होने पर हृदय और पार्श्वशूल में जीवनीय घी का पान कराना चाहिए।

मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः।
तृष्णार्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः शृतम् ॥१४०॥

मांस भक्षण के अभ्यास वाले क्षीण रोगियों के लिए लावादि जीवों के मांसरस तथा प्यास से व्याकुल तृणपञ्चमूल (शर दर्भ कास शालिमूल इक्षुमूल) से उबाला बकरी का दूध हितकर है।

रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद् वाप्यागते क्षीरजं घृतम्।
पानं नस्यं यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ॥१४१॥

स्रोतों से या मुख से रक्त आने पर दूध से निकाला हुआ घी (मक्खन) का नस्य तथा पान (हितकर है)। और श्रान्त, क्षाम (दुर्बल) मन्दाग्नि से पीडित रोगी को यवागू (हितकर है)।

स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत्।
कुर्याद् वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधिनम् ॥१४२॥

स्तम्भ और आयाम (stiffness & contractions पेशियों का जकड़ना या संकोच) होने पर मात्रा में बहुत घी पीवे। अथवा पित्त और रक्त की अविरोधी वातरोगहर चिकित्सा करे।

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरःक्षते।
दाल्यते कासिनो यस्य स धूमान् ना पिबेदिमान् ॥१४३॥

धूमयोग— क्षतदोष के निवृत्त हो जाने पर कफ के बढ़ने पर जिस कास वाले के क्षत में छाती की दलनवत् पीड़ा होती है वह व्यक्ति इन धूमों को पीवे।

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः।
वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥१४४॥

अति मेदा, महामेदा दो, मुलहठी, तथा दो बला (बला, अतिबला), वे रेशमी कपड़े से वर्ति बना धूम पीकर (बाद में) जीवनीय घृत पीवे।

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक् क्षीरिनागरैः
भावयित्वा पिबेत् क्षौममनु चेक्षुगुडोदकम् ॥१४५॥

मैनसिल, ढाक, अजगन्धा (अजमोदा), वंशलोचन सोंठ से रेशमी वस्त्र को भावना देकर (बत्ती बनाकर) धूम पीवे और अनुपान रूप में गुड़ का शर्बत (ले)।

पिष्ट्वा मनःशिला तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया।
ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥१४६॥

मैनसिल को बरगद की गीली जटा के साथ पीसकर घी के साथ धूम पीवे तथा तीतर का भोजन ऊपर से करे।

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः।
क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं शृतं चायोगुडैरनु ॥१४७॥

चिड़िया के अण्डे के रस से युक्त अथवा जीवनीयगण के द्रव्यों से भावित रेशमी वस्त्र को (बत्ती बनाकर) धूम पीवे। और बाद में लोहे के गोले को

तपा तपा कर उबाले गये दूध को (ले)।

वक्तव्य -(३३४) क्षतजकास तब तक नहीं होती जब तक फेंफड़े में कोई क्षत (lesion) न हो। इससे रक्तस्राव की प्रवृत्ति होने का सदैव भय रहता है अस्तु शास्त्र पित्तशामक चिकित्सा की विशेष रूप से अनुमति प्रदान करता है। जीवनीय द्रव्य, घृत आदि शामक पदार्थों का प्रयोग करना और अनुबन्धों या अवस्था विशेषों को ठीक रूप से देखना इस रोग में विशेष रूप से समझाया गया है।

क्षयजकास में चिकित्साक्रम

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत्।
नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१४८॥

दुर्बल के क्षयज कास में सब लक्षण उपस्थित होने पर (उसको वैद्य) त्याग दे। (तथा) बलवान् की नवोत्पन्न क्षयज कास को प्रत्याख्येय (असाध्य) बतलाकर चिकित्सा करे।

तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्।
बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् ॥१४९॥

इसलिए आदि में बृंहण और अग्नि की दीपन चिकित्सा करे। बहुत दोषयुक्त रोगी के लिए स्नेह-युक्त मृदु विरेचन देवे।

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया।
तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥१५०॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम्।
हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम् ॥१५१॥

अमलतास के गूदे से, निशोथ से, मुनक्का रस मिलाकर, तिल्वक के कषाय से तथा विदारीकन्द के स्वरस से सिद्ध विशोधन करने वाला घृत दुर्बलदेह रोगी युक्तिपूर्वक पीवे वह उसके देह और बल का संरक्षक और हितकारक माना गया है।

पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु।
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥१५२॥

पित्त तथा कफ क्षीण होने पर तथा धातुओं में क्षीणता आने पर काकड़ासिंगी, दूध, बला, अति-बला से साधित घी पीवे।

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैस्तथा शृतम्।
घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥१५३॥

विदारीकन्द से, कदम्बसे अथवा ताडफल (के रसों) इनसे उबाले गये घृत अथवा तथा दूध को मूत्र की विवर्णता में या कष्टपूर्वक निकलने पर (पीवे)।

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणि वंक्षणे।
घृतमण्डेन मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ॥१५४॥
जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः।
क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥१५५॥

मेढ्र, गुद, श्रोणि (pelvis), वंक्षण में शोथ तथा वेदना होने पर घृतमण्ड से मधु से अथवा मिश्रक (घी तैल से) अनुवासन करना चाहिए। (बाद में) जांगल जीवों के मांस का भोजन करे वतक आदि बिलेशय मांसभोजी तथा प्रसहजीव प्रयोज्य हैं।

औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते।
कफं शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात् सम्यग् वहन् रसः ॥१५६॥

वे (मांसरस) उष्णता से, प्रमाथी* होने से स्रोतों से कफ को चुवाते हैं। और शुद्ध हुए इन स्रोतों द्वारा अच्छी तरह बहता हुआ रस पुष्टि करता है।

द्विपञ्चमूली त्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः।
कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥१५७॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः।
कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥१५८॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च।
दत्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥१५९॥

द्विपञ्चमूल्यादिघृत—दोनों पञ्चमूल, हरड़, बहेडा आमला, चव्य, भारंगी, चित्रक, कुलथी, पिप्पली-मूल, पाठा, बेर, जौ (इन) के जल में उबाली हुई समभाग सोंठ, दुरालभा, पिप्पली, कचूर, पुष्करमूल तथा काकड़ासिंगी के कल्कों से घी पकावे। सिद्ध होने पर इसमें जवाखार, सज्जीखार पांचों नमक चूर्णित डाल कर युक्तिपूर्वक यथामात्रा क्षयज कास से पीड़ित (व्यक्ति) पीवे।

---

*निजवीर्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसंचयम्।
निरस्यति प्रमाथिस्यात् तद्यथा मरिचं वचा ॥

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं शिवाम् ।
निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम् ॥१६०॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम् ।
सिद्धं सर्पिः पिबेद्गुल्मश्वासार्तिक्षय कासनुत् ॥१६१॥

गुडूच्यादिघृत—गिलोय, पीपल, मूर्वा, हल्दी, गजपीपल, कालीहरड़, छोटी कटेरी, कसौंदी, पाठा चित्रक सोंठ चारगुने जल में पकाकर चौथाई शेष रहने पर क्वाथ के बराबर (घी सिद्ध करके इस) गुल्म-श्वासशूलक्षयकासनाशक सिद्ध घृत पीवे ।

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः ।
पिप्पली कटुका द्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा ॥१६२॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके ।
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ॥१६३॥

कासमर्दादिघृत—कसौंदी, हरड़, मोथा, पाठा, कायफल, सोंठ, पिप्पली, कुटकी, मुनक्का, गम्भारी-फल, तथा तुलसी कर्ष बराबर (इन) से दूध अंगूर का रस एक एक (द्रवद्वैगुण्य से २-२) आढक में एक प्रस्थ पकावे । (यह) शोष, ज्वर, प्लीहोदर और सर्व कासहर कल्याणकारक (घृत है) ।

धात्री फलै क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम् ।
द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम् ॥१६४॥
पिबेदुपरिभक्तस्य यवक्षारघृतं नरः ।
पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ॥१६५॥
एतान्यग्नि विवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् ।
स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरः स्रोतसां च विशुद्धये ॥१६६॥

अन्य घृतयोग—दूध में पकाये हुए आमले के फलों से अवचूर्णित घी को अथवा दुगुने अनार के रस में विपक्व त्रिकटुयुक्त जवाखार (डाले हुए) घृत को व्यक्ति पीवे । भोजन के ऊपर पीवे । अथवा पिप्पली गुड से सिद्ध बकरी का दूध मिले घी को ।

ये घृतयोग क्षयकास से पीड़ितों की अग्नि को बढ़ाने के लिए तथा दोषों से बद्धकोष्ठ तथा छाती के स्रोतसों की शुद्धि के लिए हैं ।

हरीतकीर्यवक्वाथद्व्याढके विंशतिं पचेत् ।
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणगुडषट्पलम् ॥१६७॥
दद्यान्मनःशिला कर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनात् ।
कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् ॥१६८॥

हरीतकीलेह—जौ के दो आढक क्वाथ में बीस हरड पकावे । स्विन्न होजाने पर उनको पीसकर उस क्वाथ में पुराना गुड ६ पल मैनसिल एक कर्ष रसौत आधा कर्ष तथा आधा कुडव पिप्पलियों का देवे । वह अवलेह श्वासकासनाशक (है) ।

श्वाविधःसूचयो दग्ध्वासघृतक्षौद्रशर्कराः ।
श्वासकासहरौ बर्हिपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा ॥१६९॥

सेइया की सुइयां जलाकर घृत सहित शहद और मिश्री के साथ श्वासकासनाशक (हैं) अथवा मोर के दोनों पैर (जलाकर) मधु घी के साथ (चाटने से) श्वासकासनाशक हैं ।

एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ।
लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ॥१७०॥

एरण्डपत्र का क्षार, अथवा त्रिकटु तैल गुडयुक्त मिलाकर तथा तुलसी एरण्डपत्र क्षार इसी विधि से चाटे ।

द्राक्षापद्मकवार्ताकिपिप्पली क्षौद्रसर्पिषा ।
लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥१७१॥

मुनक्का, पद्माख, बैंगन, पिप्पली, मधु तथा घृत से अथवा त्रिकटु चूर्ण पुराने गुड़ घी के साथ चाटे ।

चित्रकं त्रिफलाजाजी कर्कटाख्या कटुत्रिकम् ।
द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्यात्स्याद्गुडेनवा ॥१७२॥

चित्रक, हरड़-बहेड़ा-आमला, जीरा श्वेत, काकड़ासिंगी, सोंठ-मिर्च-पीपल तथा मुनक्का शहद घी के साथ अथवा गुड के साथ चाटे ।

पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं सुरदारु च ।
बलां रास्नां च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥१७३॥
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम् ।
लिह्याल्लेहं विमथ्यैतं सर्वकासहरं शिवम् ॥१७४॥

पद्मकादिलेह—पद्माख, हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, विडंग, देवदारु तथा बला तथा रास्ना बराबर बराबर लेकर सूक्ष्म चूर्ण करले ।

इन सब चूर्णों के साथ अलग अलग बराबर मात्रा में शहद घी शक्कर मथ कर सब प्रकार के कास-नाशक इस कल्याणकारक अवलेह को चाटे।

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम्।
मुस्तैले पिप्पलीं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम् ॥१७५॥
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यां रसाञ्जनम्।
पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम् ॥१७६॥
भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम्।
क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च ॥१७७॥
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा।
चूर्णात्पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ॥१७८॥

जीवन्त्यादिलेह--जीवन्ती, मुलहठी, पाठा, वंशलोचन, त्रिफला, कचूर, मोथा, एला, पिप्पली, मुनक्का- दोनों कटेरियां, धनियां, सारिवा, पोकरमूल, काकड़ा सिंगी, रसौत, पुनर्नवा, लोहभस्म, त्रायमाण, अजवायन, भारंगी, भुँईआमलकी, ऋद्धि, विडंग, धमासा, यवक्षार, चित्रक, चव्य, अम्लवेंत, त्रिकटु, और देवदारु, बराबर भाग चूर्ण करके मधु घृत के साथ इस चूर्ण से हथेली भर (एक कर्ष) चाटे। यह पांचों कासों को नष्ट करता है।

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्।
सर्वकासहरं श्रेष्ठलेहं कासार्हितो नरः ॥१७९॥
बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।
स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत् ॥१८०॥

अथवा खांसी से पीडित व्यक्ति सर्वकासहर श्रेष्ठ कालीमिर्च के चूर्ण को घी के साथ शहद-मिश्री मिला कर चाटे।

अथवा बेर के पत्तों का कल्क सैंधानमक के साथ घी में भून कर स्वरभेद तथा खांसी में इस अवलेह का प्रयोग करे।

पत्रकल्कं घृते भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम्।
पेया चोत्कारिका छर्दि तृट्कासामातिसारनुत् ॥१८१॥
गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्।
साभयान् साधयेत् तोये यवागूं तेन चाम्भसा ॥१८२॥
सर्षपिर्लवणा कासे हिक्काश्वासे च पीनसे।
पाण्ड्वामये क्षये शोथे कर्णशूले च शस्यते ॥१८३॥

क्षयजकास-पथ्य - तिल्वक के पत्तों का घी में भुना हुआ शक्कर मिला हुआ कल्क पेया या उत्कारिका वमन प्यास खांसी (तथा) अतिसारनाशक (है)।

पीली सरसों, गांडर, विडङ्ग, त्रिकटु, चित्रक (इन) को साथ में हरडों को (षडङ्गपानीय के विधान से) सिद्ध करे। उस (सिद्ध) जल से यवागू (बनावे) (वह यवागू) नमक घी के साथ खांसी, हिचकी, श्वास, पीनस, तथा पाण्डुरोग, क्षय, शोथ और कर्णशूल में प्रशस्त (होता है)।

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः।
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम् ॥१८४॥

कटेरी छोटी के (षडङ्गपानीय विधान द्वारा तैयार किए गये) स्वरस में (घी कालीमिर्च आदि मसालों से) भले प्रकार संस्कार की गई सिद्ध मूंग का दाल और (ताजे) आमलों से खट्टी की गई सर्वकास की भिषग्जित (औषध) है।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथं क्षीरं यूषान् रसानपि।
वैष्किरप्रतुदान् बैलान् दापयेत् क्षयकासिने ॥१८५॥

वातनाशक औषध (देवदारु रास्ना आदि) के काढे को दूध, यूषों, विष्किर, प्रतुद, बिलेशय (इनके) मांसरसों को भी क्षयजकास के रोगियों में देवे।

क्षतकासे च ये धूमाः सानुष्ठाना निर्दशिताः।
क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥१८६॥

और क्षतजकास में जो धूमयोग (इनके) अनुपान सहित बतलाये गये हैं। क्षयज कास में भी वे ही अवस्थानुसार प्रयोग करे।

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसाञ्च विशोधनम्।
व्यत्यासात् क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत् ॥१८७॥

दीपन, बृंहण, स्रोतसों का शोधन करने वाली तथा बल्य (यह) सब औषध पर्यायक्रम से क्षयज-कास से पीड़ितों के लिए हितकर होती हैं।

सन्निपातोद्भवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः।
सन्निपातहितं तस्मात् सदा कार्यं भिषग्जितम् ॥१८८॥

यह अत्यन्त दारुण क्षयजकास क्योंकि सन्निपात से उत्पन्न होती है इस कारण से सन्निपात में हितकर औषध (इसमें) सदा करनी चाहिए।

दोषानुबलयोगाच्च हरेद्रोगबलाबलम्।
कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥१८९॥

दोषों के अनुबन्ध के अनुसार तथा (विविध) योगों से बलाबल (का विचार करके) रोग को नष्ट करे। इन कासों से (एक से दूसरे को) उत्तरोत्तर बलवान् जाने।

भोज्यं पानानि सर्पींषि लेहाश्च सहपानकैः।
क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसंग्रहः ॥१९०॥

आहार, पेय, घृत, अनुपान के साथ अवलेह दूध, सर्पिर्गुड और धूमपान (यह सब) कास (में प्रयुक्त होने वाला) औषधसंग्रह है।

अध्यायोक्त विषय
तत्र श्लोकः

संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च।
कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वञ्च कासिनः ॥१९१॥

वहां (उपसंहारात्मक श्लोक है कि)—कासों की संख्या, हेतु, लक्षण, तथा साध्यासाध्यता तथा कासियों के (एक दूसरे से अधिक) गरीय (बलवत्तर) होना कह दिया गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थाने कास चिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरक प्रतिसंस्कृत (प्रति के) अप्राप्त होने पर दृढ़बल द्वारा पूरित में चिकित्सास्थान में कासचिकित्सित नामक अठारहवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

एकोनविंशोऽध्यायः

अतीसार चिकित्सा

अथातोऽतीसार चिकित्सितं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) अतीसार चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे, ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगणपरिवृतं हिमवत्पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्याग्निवेश उवाच—भगवन्! अतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्त लक्षणोपशमनानि प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ॥२॥

(एक समय) नित्यकर्म करके अग्निहोत्र में आहुति डालकर ऋषियों से घिरे हुए हिमालय के पार्श्व में बैठे हुए भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय को विनय से पास

जाकर अभिवादन करके अग्निवेश बोला—हे भगवन्! अतीसार की पूर्व उत्पत्ति (की कथा), हेतु, लक्षण, उपशमनों को प्रजा के अनुग्रह के लिये व्याख्यान करने के लिये आप योग्य हो (अतः कृपा कीजिए)।

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच—श्रूयतामग्निवेश ! सर्व्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्। आदिकाले तु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥३॥

अब भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के वचन को सुनकर कहा। सम्पूर्ण रूप से कहा जाने वाला यह सब अग्निवेश श्रूयताम् (सुनो)।

आदिकाल में तो यज्ञों में पशुओं का अभिमन्त्रण करके परित्याग कर दिया जाता था। वध के लिए (उनका) संस्कार नहीं किया जाता था। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के प्रतिअवर काल में (बहुत काल बीत जाने पर) नरिष्यत्, नाभाग, इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति आदि मनु के पुत्रों के क्रतुषु (यज्ञों में) पशुओं के (वध की) अनुमति से पशुओं का प्रोक्षण (जलादि छिड़क कर पशु का वध) किया गया। इसके भी और बाद के काल में दीर्घसत्रीय (दीर्घकालीन) यज्ञ करते हुए पृषध्र (नामक राजा) ने पशुओं के न प्राप्त होने पर गायों का वध आरम्भ किया। उसको देख कर अत्यन्त व्यथित होगए उपहत (हो गया है) मन (जिनका) तथा उपाकृत (यज्ञ में संस्कार के साथ वध की गई) गायों के उपयोग से (उनके मांस के) भारी होने से, (अधिक) गरम होने से असात्म्य होने से और (लोक की दृष्टि से उनका) अप्रशस्त उपयोग होने से नष्ट हुए अग्नि वाले उन (यज्ञ में भाग लेने वालों) का पृषध्र यज्ञ में पहले पहल अतीसार उत्पन्न हुआ।

वक्तव्य—(३३५) ऊपर का वर्णन गोवधनिषेध के इतिहास तथा गोवध द्वारा होने वाली हानि की ओर संकेत करता है भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि सृष्टि के आरम्भ में दक्ष के यज्ञकाल तक पशुओं का केवल अभिमन्त्रण होता था। फिर मनु पुत्रों ने पशुमेध यज्ञों की अनुमति देकर खूब हत्याकार्य कराया। इस समय तक भी गाय नहीं मारी जाती थी। फिर जब बहुत काल बीतने पर एक दीर्घकालीन यज्ञ को पृषध्र नामक राजा ने आरम्भ कराया तब पशुओं का अभाव होने पर गवालम्भ (गोवध) किया गया। गोवध को देख कर भूतगण (जनता जनार्दन) प्रव्यथित (आन्दोलनकर्त्ता) होगये। साथ ही गोवध के द्वारा होने वाली हानि का भी वर्णन किया गया है कि गोमांस भारी, गरम, असात्म्य, अशस्त अग्नि को नष्ट करने वाला और मन को खिन्न करने वाला है। तथा उसी से पहले पहल खाने वालों को पृषध्र यज्ञ में दस्त छूट गये थे। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिककाल से पृषध्र यज्ञ तक गोवध नहीं होता था। पृषध्र यज्ञ में गोमांस के कारण अतीसार का संसार में जन्म हुआ अस्तु उसके बाद भी आजतक ऋषि सन्तान ने गोवध को स्वीकार नहीं किया। गोवध लोकनिन्दा का तथा स्वास्थ्य को नष्ट करने का साधन होने से इसका समर्थन किसी भी काल में नहीं हुआ। शास्त्र में जहां यथा रूप गोमांस खाने का वर्णन आता है वह अपनी मौत से मरी गाय के मांस से समझना चाहिए।

वातातीसार

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनः तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्य उदावर्त्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते पक्ता चोपहन्यते। स वायुः प्रकुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्यातिसाराय कल्पते ॥४॥

तस्य रूपाणि-विज्जलमाविप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्य्यते पुरीषम्। वायुश्चान्तः कोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्य्यक् चरति

विबद्धः। इत्यामातिसारो वातात्।

पक्वं वा विबद्धमल्पाल्पं सशब्दशूलफेनपिच्छापरिकर्त्तिकं हृष्टरोमा विनिश्वासन् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते वातात् तमाहुरनुग्रथितमित्येके वातानुग्रथितवर्च्चस्त्वात् ॥५॥

निदानसम्प्राप्ति — तत्पश्चात् पीछे के काल में, वात-प्रकृति वात-आतप-व्यायाम के अतिमात्रा में सेवन करने वाले, रूक्ष-अल्प-थोड़ा खाने वाले, तीक्ष्णमद्य नित्य मैथुन सेवन करने वाले, वेगों को रोकने वाले (व्यक्तियों) को वायु का प्रकोप होता है तथा पक्ता (जाठराग्नि) को नष्ट करता है। वह प्रकुपित वायु अग्नि के नष्ट होने पर मूत्र और स्वेद को मलाशय में लेजाकर उन दोनों से मल को द्रव बनाकर अतीसार को करता है।

आमवातातीसार के लक्षण — उसके लक्षण–पिच्छिल, आम, प्रसरणशील, जल में बैठने वाला, रूक्ष, द्रव, शूलसहित, आमगन्धि, किञ्चित् शब्दयुक्त, या शब्दरहित मूत्र और वायु के विबन्ध से युक्त मल का अतिसरण होता है। और वायुकोष्ठ के अन्दर शब्द और शूल के साथ विबद्ध होकर तिर्यक् गमन करती है। इस प्रकार यह वात से होने वाला आमातीसार है।

पक्ववातातीसार के लक्षण — पक्व (वातिक अतीसार) बँधा हुआ, थोड़ा थोड़ा, शब्दयुक्त, शूलयुक्त फेनपिच्छा और परिकर्तिकासहित, रोमहर्षयुक्त श्वास जोड़ता हुआ, सूखे मुख, कटि-ऊरु-त्रिक-जानु पृष्ठ-पार्श्व में शूल वाला, गुदा स्थान से हरी हुई बारबार गँठीला वात के कारण (मल) त्यागता है। वात के द्वारा गाँठदार मल होने के कारण कुछेक विद्वान् उसे 'अनुग्रथित' कहते हैं।

पित्तातीसार

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तद् द्रवत्वादुष्माणमुपहत्यपुरीषाशयाश्रितमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥६॥

तस्य रूपाणि — हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपगतम् अतिदुर्गन्धमतिसार्य्यते पुरीषम्। तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीतः। इति पित्तातिसारः॥७॥

निदान सम्प्राप्ति — पित्त प्रकृतिवाले अम्ल, लवण कटु, क्षार, उष्ण, (और) तीक्ष्ण द्रव्यों के अतिमात्र सेवन करने वाले निरन्तर अग्नि और सूर्य के ताप और उष्ण वात से उपहत शरीर वाले बहुत क्रोध और ईर्ष्यावाले व्यक्ति का पित्त प्रकोप को प्राप्त होता है। वह द्रव होने से, जाठराग्नि का नाश करके मलाशय में प्राप्त होकर गर्मी से, तरल होने से सर होने से मल को भेदन करके अतीसार करता है।

उसके लक्षण—हल्दिया पीला, हरा, नीला, काला, रक्तपित्त (अधोग) से उपगत या उपहत अति दुर्गन्धपूर्ण मल त्यागता है। तृष्णा-दाह-स्वेद-मूर्च्छा-शूल-ब्रध्न-सन्ताप-पाक से युक्त यह पित्तातीसार (है)।

श्लेष्मातीसार

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स स्वभावाद् गुरुमधुरशीत स्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥८॥

तस्य रूपाणि — स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्य्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदबस्तिवंक्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातीसारः ॥९॥

निदान सम्प्राप्ति — कफ प्रकुपित वाले भारी, मीठे, ठण्डे, चिकने पदार्थ सेवन करने वाले, सम्पूरक (भरपेट या उससे भी अधिक खाने वाले) चिन्ता, न करने वाले, दिन में सोने वाले, (तथा) अलस (आलसी व्यक्ति) का कफ प्रकोप करता है। वह कफ स्वभाव के कारण गुरु-मधुर-शीत-स्निग्ध शिथिल (होने से) अग्नि का नाश, करके सौम्य स्वभाव से

मलाशय में पहुँचकर मल को क्लिन्न (गीला) करके अतीसार करता है।

इसके लक्षण—चिकना, सफेद, चिपचिपा, तन्तुयुक्त, आम, भारी, दुर्गंधित, कफयुक्त, शूल के अनुबन्ध से युक्त, थोड़ा थोड़ा बारबार प्रवाहिका के साथ मल त्यागता है। भारी पेट, भारी गुदप्रदेश, भारी बस्ति और भारी वंक्षण भाग वाला, कृतेऽपि (मल त्यागने पर भी) अकृतसंज्ञ (नहीं मल किया हो ऐसा अनुभव करना) रोमहर्ष से युक्त, उत्क्लेशसहित, निद्रा तथा आलस्य से पीड़ित, शिथिल और अन्नद्वेष (के लक्षण) वाला इस प्रकार श्लेष्मातीसार (होता है)।

सन्निपातातीसार

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धाऽसात्म्यभोजनाद् अभोजनात् कालातीतभोजनात् यत्किञ्चित् अभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानात् अतिमद्यपानीयपानात् असंशोधनात् प्रतिकर्म्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनात् अस्वप्नाद् वेगविधारणादृतुविपर्य्ययात् अयथाबलमारम्भाद् भयशोकचिन्तोद्वेगातियोगात् क्रिमिशोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणैः व्यापन्नाग्नेः त्रयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्य अतिसारं सर्व्वदोषलिङ्गं जनयन्ति ॥१०॥

अत्यन्त ठण्डे, चिकने, रूखे, गरम, भारी, खुरदरे, कड़े, टेढ़े, विरुद्ध असात्म्य आहार से, अनशन से, भोजन के काल के व्यतीत होने पर भोजन करने से तथा जो भी कुछ खा लेने से, खराब शराब या जल पीने से, शराब या जल के अतिमात्रा में पीने से, संशोधन कर्म न करने से, प्रतिकर्म (पञ्चकर्म) के विषम प्रयोग से, रोग का उपचार न करने से, अग्नि, धूप, वायु, जल के अत्यधिक सेवन करने से, न सोने से, वेग धारण से, ऋतु के विपर्यय से, अपने बल से अधिक कार्य करने से, भय शोक मन का उद्वेग इनके अतियोग से, कृमि-शोथ-ज्वर-अर्श विकारों के द्वारा अत्यधिक कर्षण होने से नष्ट अग्नि वाले पुरुष के प्रकुपित तीनों दोष और भी अग्नि का नाश करके पक्वाशय में प्रवेश करके सर्वदोष लक्षणात्मक अतिसार को उत्पन्न करते हैं।

अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रदुष्टान् दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृताननतीसारवर्णान् दर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुषु नातिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसङ्काशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वा वराहमेदः सदृशम् अनुबद्धवेदनमतिवेदनं वा समालब्धत्यासादुपवेश्यते पुरीषम्। महद् ग्रथितमामं सकृत्, सकृदपि वा पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबला मन्दाग्निविहतमुखरसश्च तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्।

एभिर्वर्णैः अतिसार्य्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत। तद्यथा—पक्वशोणिताभं यकृत्पिण्डोपमं मेदोमांसोदकसदृशं दधिमज्जतैलक्षीरवसावेशवाराभमतिनीलम् अतिरिक्तमतिकृष्णम् उदकमिव पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरिताभं नीलकषायवर्णं कर्बूरवर्णं वा आविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतम् अतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं कुथितं वा बहुधातुस्रावमल्पपुरीषं बहुपुरीषं वातिसार्य्यमाणम् तृष्णादाहज्वरभ्रमतमोहिक्काश्वासानुबन्धम् अतिवेदनम् अवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्व्वपर्व्वास्थिशूलिनम् अरोचकारतिप्रलापसम्मोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणम् अचिकित्स्यं विद्यात्। इति सन्निपातातिसारः ॥११॥

और भी रक्त आदि धातुओं को अत्यधिक दुष्ट बनाते हुए धातु (गत) दोष स्वाभाविक अतीसार के रंगों को प्रगट करते हैं। अर्थात् अतीसारी के मल के विविध वर्णों का कारण रक्तादि धातुओं का धातुगत प्रकुपित दोषों द्वारा दूषित होना ही है। वहां रक्तादिधातु में अधिक दुष्टि न आने पर जिनका मांस और रक्त तथा बल अक्षीण है मन्दाग्नियुक्त, मुख का रस नष्ट हुए का, हरिद्रा का, हरा, नील, मजीठिया, मांस के धोवन जैसा (fleshy), लाल, काला, सफेद अथवा सुअर की चर्बी जैसा सतत वेदनायुक्त, या वेदनारहित सब लक्षणों के साथ या

कुछ लक्षणों के साथ मल त्यागता है। कभी बहुत गांठदार, आम या कभी भी परिपक्व मल का त्याग करता है। उस प्रकार के रोगी को कष्टसाध्य जाने।

इन रङ्गों से अतिसार करते हुए उपद्रवों से युक्त रोगी को चिकित्सा यह असाध्य ऐसा (कहकर) निषेध करदे। जैसे कि-पक्व, रक्त की कान्ति वाला (लाल चमकदार), यकृत्पिण्ड के रङ्ग का (कपिश), मेद्मांस के धोवन जैसा, दही-मज्जा-तैल-दूध-वसा-वेसवार की कान्तिवाला, नीला, अत्यन्त लाल, बहुत काला, फिर जल के समान, मोर की गर्दन जैसी कान्तिवाला, अत्यन्त चमकदार हरी कान्तिवाला, नीले, गेरुआ रङ्ग के, चितकबरे वर्ण के अथवा, मलिन, चिपचिपे, तक्रयुक्त, आम, मोरपंख के चँदवों वाले, मुर्दे की सी गन्ध वाले, सड़े, पीबदार, आम-गन्धि, मछली की सी गन्ध वाले, मक्खियों से भरा हुआ, कोथपूर्ण, अथवा बहुत धातुओं के स्राव से युक्त, थोड़े मल वाले अथवा बहुत मल निकालने वाले, प्यास-जलन-चक्कर-अँधेरा-हिक्का-श्वास के अनुबन्ध से युक्त बहुत वेदना या बिना वेदना, गुदा जिनकी पकी और थकी, गुदवलियां नष्ट, नाल टूटा हुआ, मांसबल रक्त से बहुत दुर्बल, सब पर्वास्थियों के शूल से युक्त, अरुचि बहुत बकझक-अथवा मोह से युक्त, अकस्मात शान्त हुए विकारयुक्त अतीसार वाले रोगी को अचिकित्स्य जाने। यह सन्निपातातीसार है।

तमसाध्यमसाध्यताम् असम्प्राप्तं चिकित्सेत् यथा प्रधानेनापक्रमेण हेतूपशयदोषविशेषपरीक्षया चेति ॥१२॥

उस असाध्य को असाध्यता की सम्प्राप्ति होने के पहले प्रधान दोष के अनुसार चिकित्साक्रम से, हेतु-उपशय दोषविशेष की परीक्षा से चिकित्सा करे।

आगन्तुज अतीसार

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
यौ तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥१३॥
मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति।
तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥१४॥

आगन्तु, दो अतीसार मानसिक दोषरूप, भय शोक से उत्पन्न (होते हैं)। वायु से उत्पन्न अतीसार के जो लक्षण हैं (वही) उन दोनों के लक्षण (होते हैं)। क्योंकि भय शोक दोनों से वायु शीघ्र प्रकुपित हो जाती है (अतः) इन दोनों की वातहरी चिकित्सा (तथा मानसिक उद्वेग की शान्ति के लिए) हर्षण और आश्वासन (देना चाहिए)।

इत्युक्ताः षडतीसाराः साध्यानां साधनं ततः।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत् तन्निबोधत ॥१५॥

इस प्रकार छै अतीसार कहे हैं उसके पश्चात् साध्य अतीसारों की चिकित्सा यथाक्रम (मैं) कहूँगा।

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः।
अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत् ॥१६॥

जिसके अपक्व आहार से मूर्च्छित संचित हुए दोष अतीसार उत्पन्न करते हैं उनको खूब निकाले।

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे।
दोषा ह्यादौ बध्यमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥१७॥
शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ।।
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा ॥१८॥

आमातिसार के आरम्भ में संग्राही (औषध) नहीं देनी चाहिए। क्योंकि आदि में (ही) रोके जाने पर दोष अनेकों रोगों को (जैसे) शोथ, पाण्डुरोग, प्लीहोदर, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग ज्वरों, दण्डक, अलसक, आध्मान, ग्रहणी तथा अर्शरोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य (३३६) जिस प्रकार रक्तपित्त के आदि में रक्त का संग्रहण करना शास्त्र विरुद्ध है उसी प्रकार अतीसार के आरम्भ में भी ग्राही अफीम आदि औषध देना विविध रोगों का उत्पादक ऐसा शास्त्र मानता है।

तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्।
कृच्छ्रां वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम् ॥१९॥

इस कारण से उत्क्लिष्ट होकर स्वयं प्रवृत्त हुए दोषों की उपेक्षा करे। या कठिनाई से थोड़ा निकलने वालों को खूब मल निकालने वाली हरड़ देवे।

तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः।
जायते देहलघुता जाठराग्निश्च वर्धते।
लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥२०॥

उससे दोष प्रवाहित होने पर उदरामय शान्त होता है देह में लघुता उत्पन्न होती है तथा जाठराग्नि बढ़ता है। अल्प दोष वाले अतिसार के रोगियों को लंघन हितकर होता है।

वक्तव्य—(३३७) कुछ ने प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद्दीपनपाचनीम्। लंघनंचाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥ ऐसा अलग श्लोक दिया है। वहां मध्य दोष होने पर दीपन पाचनी औषध तथा अल्पदोष में लंघन देना चाहिए। यह मानकर चलें।

आमातिसार में प्रमथ्या

पिप्पलीनागरं धान्यं भतीकमभया वचा।
ह्रीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥२१॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका।
तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ॥२२॥

१–पीपल, सोंठ, धनियां, अजवाइन, बच, २–सुगन्धवाला, नागरमोथा, बेल, सोंठ, धनिया, ३–पृश्निपर्णी, गोखरू, मजीठ तथा कटेरी तीन प्रमथ्या अतिसार पीडितों की अर्धश्लोकों द्वारा कही गई हैं।

वक्तव्य–(३३८) शास्त्रकारों ने प्रमथ्या के सम्बन्ध में लिखा है कि—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यं पलमात्रं सुकल्कितम्।
किञ्चिदन्येन संयुक्तमथवान्यविवर्जितम्।
तोयेचाष्टगुणेसाध्यं पानमाहुः पलद्वयम् ॥
वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा।
ह्रीबेरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा दापयेज्जलम् ॥२३॥

वचा तथा अतीस दोनों से अथवा मोथा पित्तपापड़े से अथवा सुगन्धवाला अदरख से पकाया हुआ जल देवे।

वक्तव्य—(३३९) अतीसार (diarrhoea) में मरोड़ के साथ दस्त आने पर आमशामक पेयों में उपरोक्त पेयों को प्रयुक्त करना चाहिए।

अतीसार में पथ्य

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्।
तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥२४॥

भूख से दुर्बल हुए रोगी को भोजन के ठीक समय पर हलके अन्नों को खिलावे वैसा करने से वह (अतीसार रोगी) शीघ्र (ही) रुचि, अग्निबल तथा बल प्राप्त कर लेता है।

तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा।
सुरया मधुना वादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥२५॥

आदि में सात्म्य के अनुसार आहार में छाछ, कांजी, यवागू, तर्पण, सुरा और शहद के प्रयोग से उपचार करे।

यवागूभिर्विलेपीभिः खडयूषै रसौदनैः।
दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्याद्दलः परम् ॥२६॥

तत्पश्चात् दीपन ग्राहि द्रव्यों से युक्त यवागू, विलेपी, खड, यूष तथा मांसरसयुक्त भात से यथाक्रम (उपचार) करे।

दीपनग्राही औषधि द्रव्य

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका।
बलाश्वदंष्ट्राबिल्वानि पाठानागरधान्यकम् ॥२७॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम्।
यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ।२८॥
वृक्षाम्लं दाडिमाम्लं च सहिङ्गुविडसैन्धवम्।
प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥२९॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः।
ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥३०॥

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बला, गोखुरू, बेलगिरी, पाठा, सोंठ, धनियां, कचूर, ढाक, हाऊबेर, बच, जीरा, पिप्पली, अजवाइन, पीपरामूल, चित्रक, गजपिप्पली, तिन्तिडीक, खट्टा-अनार, तथा हींग सहित विडलवण, सैंधव लवण, (इन द्रव्यों की) अच्छी कल्पना करके अन्नपान में विधिपूर्वक प्रयोग करे। क्योंकि यह दीपन-पाचन (औषध) गण वात-कफ हरने वाला, ग्राही, बल्य, रोचक (है) इस कारण से अतीसार रोगियों को

प्रशस्त (कहा गया है)।

आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते।
सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥३१॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा।
उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्याः वास्तुकस्य वा ॥३२॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा।
शट्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा ॥३३॥
लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः।
दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥३४॥

आम के पक जाने पर जो रोगी बँधा हुआ, शूल के साथ, पिच्छायुक्त, अल्प-अल्प कई बार प्रवाहिकापूर्वक मल का अतिसरण करता है उसको मूलियों के यूष से, अथवा बेरों के यूष से, अथवा पोई के, दुद्धी के, अजवाइन के, अथवा बथुआ के, हुलहुल के अथवा अरण्डी के, बाकुची के पत्तों शाक से कचूर, खरबूज, जीवन्ती, गोरखककड़ी, पाठा, के साथ लोनियां के सूखे शाक के साथ दही अनार के रस से सिद्ध बहुत घी (या तैल) के साथ (अन्न) खिलावे।

कल्कः स्याद्वालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः।
दध्नः सरोऽम्लस्नेहाढ्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥३५॥

कच्चे बेले का कल्क, उसके बराबर तिलों का कल्क, दही की मलाई, खटाई तथा चिकनाई मिलाकर (तैयार किया हुआ) खड प्रवाहिका को नष्ट कर देवे।

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च।
कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥३६॥
एकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसाधितम्।
वर्चः क्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥३७॥

जौ, मूँग, उड़द, शालि, तथा तिल, तथा बेर, कच्चे बेल (इन सब) का एकत्रीकरण करके धान्य यूप बनावे। घी तैल (यमक) से छौंककर दही अनार से सिद्ध करके उस (धान्य यूष) से शुष्क मुख वाले (अतीसारी को) शालि चावल का भात खिलावे।

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत् ॥३८॥
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा।
लोपाक रसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥३९॥

गुड सोंठ के सहित घी तैल में छौंकी दही की मलाई अथवा यमक में छौंकी सुरा रुचि उत्पन्न करने के लिए (चटनी रूप में) देवे। (इसी प्रकार) यमक में छौंकी फलों की (खटाई) शलगम का यूष अथवा, खट्टा लोमड़ी का रस या कच्छप का स्निग्ध और अम्ल मांस (देवे)।

बर्हितित्तिरदक्षाणां वर्त्तकानां तथा रसाः।
स्निग्धोष्णाः शालयश्चाग्र्या वर्च्चक्षयरुजापहाः ॥४०॥

मोर-तीतर-मुर्गों का बतखों के स्निग्ध उष्ण मांसरस और पुराने शालिचावल मलक्षय करने वाले तथा रोगनाशक (होते हैं)।

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम्।
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ॥४१॥
ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तत्।
तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥४२॥

मेंढे के मध्यभाग के मांसरस को तथा रक्त दोनों को (एकत्र मिलाकर) फिर छान कर धनियां सोंठ, का चूर्ण तथा चिकनाई (घी या तैल या दोनों) मिलाकर अनारदाने की खटाई से पकावे। लाल शालिचावलों का भात (बनाकर) उस (मांसरस) के साथ खावे और उसको पीवे। इससे पुरीष क्षयजन्य रोगों से (व्यक्ति) मुक्ति पाता है।

गुदभ्रंश

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः।
प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥४३॥

निराम (रोगियों) के गुद के निकल आने पर शूल होने पर अम्ल (अनार से सिद्ध) घी का पीना अथवा अनुवासन बस्ति देना श्रेष्ठ माना जाता है।

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्।
घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥४४॥

चाङ्गेरीघृत—चौपतिया, बेर, दही की खटाई, सोंठ, यवक्षारयुक्त उबाले गये घी को गुदभ्रंश (prolapsus ani) कष्टनाशक (जानकर) पीना चाहिए)।

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषविडदाडिमम्।
पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम् ॥४५॥

चव्यादिघृत—चव्यसहित पीपरामूल, त्रिकटु सहित विडनमक तथा अनार को धनियां जीरा चीते की छाल के साथ युक्तिपूर्वक (तैयार किए गये) खट्टे घृत को पीना चाहिए।

दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्।
शटीशताह्वाबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा ॥४६॥

दशमूल (के क्वाथ) से सिद्ध अथवा बेलगिरी (के क्वाथ) से सिद्ध अथवा कचूर सौंफ बेल (के क्वाथ) से सिद्ध या वच और चित्रक (के क्वाथ) से सिद्ध अनुवासन (गुदभ्रंश में देना चाहिए)।

स्तब्धे भ्रष्टे गुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना सम्प्रवेशयेत् ॥४७॥

जो गुदभ्रंश स्तब्ध होगया हो (ऊपर को न चढ़ता हो वहां) पहले स्नेहन स्वेदन दोनों को प्रयोग में लावे। खूब स्विन्न होजाने पर उसके अत्यन्त कोमल होजाने पर कपड़े के पिचु से उसे प्रविष्ट करे।

वक्तव्य—(३४०) जो गुदभ्रंश ठीक से न चढ़रहा हो उसे स्नेहन से मुलायम करके कपड़े की एक बत्ती बना चिकनी करके उसके द्वारा धीरे धीरे गुदा को चढ़ाओ।

वातातीसार आवस्थिकी चिकित्सा

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः।
सरक्तपिच्छास्तृष्णार्त्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ॥४८॥

वात (और) मल विबद्ध हो तो, (तथा) शूल और प्रवाहिका बहुत हो रक्तसहित पिच्छा (मल में आवे) प्यास से पीडित की तृप्त होने तक दूध का पान ठीक होता है।

यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः।
शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पयः ॥४९॥

(अतिसार पीडित) व्यक्ति यमक पीकर उसके ऊपर धारोष्ण दूध अथवा अरण्डमूल या कच्चे बेल से सिद्ध दूध पीवे।

एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति।
शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ॥५०॥

पिच्छा शान्त होता है तथा इस प्रकार दूध के प्रयोग से रक्त तथा शूल, प्रवाहिका और विबन्ध (कब्ज) भी शान्त होता है।

पित्तातिसार-चिकित्साक्रम

पित्तातीसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत्। तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरशारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्यवारिभिः उपचारः। लङ्घितस्य तस्य चाहारकाले बलातिबलासूर्पपर्णीशालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाशतावरीश्वदंष्ट्रानिर्यूहप्रयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः। मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठाढकीयूषैर्वा लावककपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत्।

अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् प्रयोजयेदिति ॥५१॥

तत्पश्चात् पित्तातिसार को हेतु, उपशय, लक्षणों से आम की उपस्थिति जानकर बल के अनुसार लंघन तथा पाचन दोनों से उपचार करे। रोगी को प्यास लगने पर मोथा-पित्तपापड़ा-खस-सारिवा-चन्दन-चिरायता-सुगन्धवाला के जल से उपचार करना चाहिए। लंघन कराने के बाद भोजन के समय बला, अतिबला, सूर्पपर्णी (वनमूंग), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी छोटी कटेरी, शतावर, गोखुरू के क्वाथ से मिलाए हुए यवागू मण्डादि से या तर्पणादि से क्रमानुसार, यथासात्म्य उपचार (करना चाहिए)। मूंग, मसूर, मोंठ, अरहर के यूषों से लावा, कपिंजल, खरगोश, हिरन, एण, कालपुच्छ के रसों से थोड़ा खट्टा करके या बिना खट्टा किए क्रमपूर्वक अग्नि का संधुक्षण करे।

इसके अनुबन्ध में दीपन, पाचन, उपशमन,

संग्राही योगों को प्रयोग करे।

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम्।
तण्डुलोदकसंयुक्तं पेयं पित्तातिसारनुत् ॥५२॥

शहद अतीस के साथ कुटज के फल तथा कुटज की छाल पीस कर तण्डुलोदक मिला कर (इस) पित्तातीसारनाशक पेय (को पीना चाहिए)।

किराततिक्तको मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः।
बिल्वं दारुहरिद्रा त्वक् ह्रीबेरं सदुरालभाम् ॥५३॥
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम्।
तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥५४॥
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम्।
कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः ॥५५॥
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः।
पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निर्दशिताः ॥५६॥

१—चिरायता, मोथा, रसौत सहित इन्द्रजौ,
२—बेल, दारुहल्दी, तथा सुगन्धवाला, दुरालभा सहित,
३—चन्दन तथा कमलनाल तथा सोंठ, लोध्र, नीलोफर;
४—तिल, मोचरस, लोध्र, मजीठ, कमल, नीलोफर;
५—सोंठ, धाय के फूल, नीलोफर, अनार की छाल,
६—कायफल, सोंठ, पाठा, जामुन और आम की गुठली दुरालभा,

ये छै मधु तथा तण्डुलोदकयुक्त योग (जो) आधे आधे श्लोकों द्वारा निदर्शित किए गये हैं पित्तातीसारनाशक (रूप में) पीने चाहिए।

पित्तातिसार—पथ्य

जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः।
रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥५७॥

जीर्ण औषध वालों के (अर्थात् जिनको उपरोक्त अतीसार नाशक औषध योग जीर्ण हो चुका हो उनके) योगानुसार संग्राही पदार्थों के साथ युक्त बने हुए मांसरसों से पुराने लालशालि श्रेष्ठ माने जाते हैं।

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति।
अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥५८॥

अग्नि जिसकी दीप्त हो उसका पित्तातिसार बकरी के दूध के प्रयोग से शीघ्र शान्त होजाता है और बल तथा वर्ण बढ़ता है।

बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति।
पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥५९॥

बहुत दोष वाले, दीप्त अग्नि वाले और सप्राण रोगी का पैत्तिक अतीसार जब नहीं ठहरता है अर्थात (गति निवृत्तिमान न भवति शान्त नहीं होता है) उसको दूध के साथ (अधोलिखित) विरेचन देवे।

पलाशफलनिर्यूहं पयसा सह पाययेत्।
ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥६०॥

ढाक के फल के क्वाथ को दूध के साथ पिलावे। तत्पश्चात् गुनगुने दूध को ही यथाबल पीछे से (अनुपान रूप में) पिलावे।

प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः।
पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ॥६१॥

उस (उपरोक्त दुग्धयुक्त विरेचन से) मल के प्रवाहित होजाने पर उदररोग (अर्थात् पैत्तिक अतीसार) शान्त होजाता है। अथवा ढाक के समान विशोधन करने वाली त्रायमाणा (जलीय) को (उसी प्रकार दूध के साथ) प्रयोग करना चाहिए।

संसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते।
स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥६२॥

(उपरोक्त विरेचन द्वारा) दोष के स्रुत हुए व्यक्ति का संसर्जनक्रम किए जाने पर भी यदि शूल चलता रहता है (तो) उसको शीघ्र यथावत् (जैसा कि आगे लिखा है) अनुवासन करे।

वक्तव्य—(२३७) चरक की चिकित्सा पाठकगण देखें कि कितनी उचित (to the point) है और कितनी दत्तचित्तता से उसने वैद्य को रोग की प्रत्येक अवस्था में औषधयोग रूपी शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित करने का परमोच्च यत्न किया है !!

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च ।
तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम् ॥६३॥

बेलसहित सोया शतावरी दोनों से तथा मुलहठी और दूध से एक चतुर्थांश तैलघृत सिद्ध करके (उससे) अनुवासन बस्ति (देना चाहिए)।

पिच्छाबस्ति

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः ।
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद्गोमयाग्निना ॥६४॥
सशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानिशाल्मलेः ।
शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले ततः ॥६५॥
पिण्डं मुष्टि समं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः ।
स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥६६॥
वस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः ।
स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥६७॥
पित्तातिसारज्वरशोथगुल्म—
जीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान् ।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान्
विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः ॥६८॥

सेमर के हरे वृन्तों (सेमर की पत्तियों के हरे डण्ठलों) को ताजी कुशाओं से लपेट कर काली मिट्टी से लीप कर गोबर की अग्नि से स्वेदन करे। मिट्टी सूखी हुई जानकर उन सेमर के वृन्तों को ओखली में कूटकर १ पल पिण्ड को गर्म किए दूध में मसल देवे। वस्त्र से छाने हुए उसको १ प्रस्थ तैल घी दोनों के मात्रा से स्निग्ध करके और मुलहठी के कल्क के साथ मिलाकर अभ्यङ्ग से युक्त गात्र वाले के लिए बस्ति को देवे। उसके (गुदा से) लौट आने पर स्नान करके दूध के साथ जाङ्गल जीवों के मांसरस से भोजन करना चाहिए।

पैत्तिक अतीसार, ज्वर, शोथ, गुल्म, जीर्ण अतीसार ग्रहणी दोषों को यह (अनुवासन) बस्ति शीघ्र जीत लेती है तथा विरेचन तथा आस्थापन दोनों के अतियोग को (भी जीत लेती है)।

रक्तातीसार

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते ।
पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥६९॥
रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयत् ।
तृष्णां दाहं च शूलं च गुदपाकं च दारुणम् ॥७०॥

जो पैत्तिक अतीसार से पीडित व्यक्ति इस चिकित्सा को छोड़कर पित्तल अन्नपानों का सेवन करता है उसका महाबली पित्त शीघ्र (ही) रक्त को दूषित करता हुआ तृष्णा, दाह तथा शूल तथा दारुण गुदपाक (युक्त) रक्तातीसार को करता है।

वक्तव्य—(३३८) यद्यपि रक्तातीसार की उत्पत्ति यहां पर पित्तज अतीसार के उपरान्त लिखी गई है पर घोर पैत्तिक आहार पान और विहारादिकों के कारण स्वतन्त्रतया भी रक्तातीसार होसकता है। एण्टामीबा हिस्टोलिटिका के आन्त्र की उपश्लेष्मल कला में प्रवेश कर भक्षण कार्य करने से अन्य कृमियों से अथवा आन्त्रिक ज्वर के घावों के कारण भी रक्तातीसारोत्पत्ति देखी जाती है। चक्रपाणिदत्त का कथन है कि पैत्तिक अतीसार के द्वारा रक्तातीसार बतलाना अशास्त्रीय है जैसे कि पाण्डुरोग के कारण कामला की उत्पत्ति अशास्त्रीय है क्योंकि बिनापाण्डु रोग के भी कामला होता है उसी प्रकार सीधा सीधा भी रक्तातीसार होसकता है। पर चरक ने रक्तातीसार को अतीसार का एक स्वतन्त्र भेद नहीं माना उसे पैत्तिक अतीसार के अन्तर्गत ही रखा है। वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक सन्निपातिक, शोकज तथा भयज ये छै अतीसार भेद ही उसने स्वीकार किए हैं।
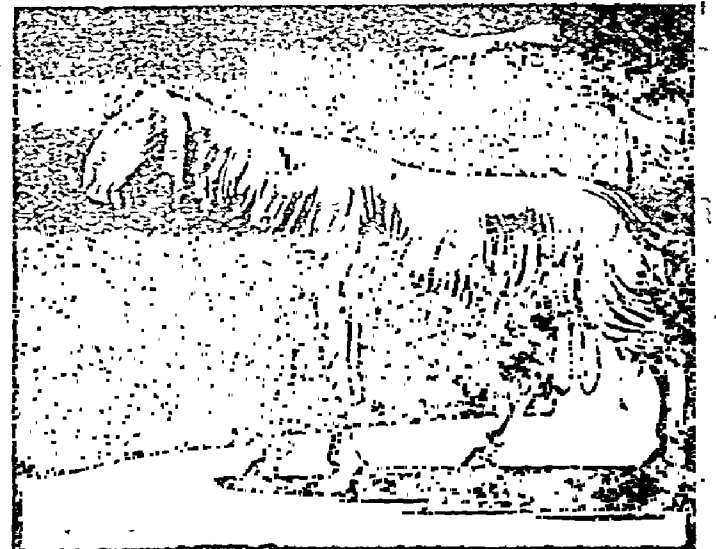
तत्रच्छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्।
पानार्थं व्यञ्जनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥७१॥

उस अवस्था में पीने के लिए, खाने के लिए तथा गुद को धोने के लिए शीतल शहद मिश्री सहित बकरी का दूध हितकर होता है।

ओदनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत्।
रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥७२॥

तेन पयसा (बकरी के उस दूध के साथ) लाल शालियों का भात मिश्रीसहित घी से छोंके पारावतादि के मांसरसों के साथ खिलावे।

शशपक्षि मृगाणां च शीतानां धन्वचारिणाम्।
रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत्तं सशर्करैः ॥७३॥

शीतवीर्य वाले, जाङ्गल भूमि में विचारने वाले खरगोश, पक्षी और पशुओं के लवणरहित मांसरसों से घृत और मिश्री के साथ उसको भोजन करावे।

रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते।
काश्मर्यफलयूषो वा किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥७४॥

हिरन वा बकरे का रक्त घी में छोंका अथवा थोड़ा खट्टा मिश्रीसहित गम्भारी के फल का यूष हितकर होता है।

वक्तव्य—(३३६) रक्त के अतिसरण को दूर करने के लिये तथा रक्त की कमी को दूर करने के लिये आचार्य ने हिरन या बकरे का मांस घी में छोंक कर पीना श्रेष्ठ बतलाया है रक्त की कमी होने पर रक्त का प्रयोग करना आयुर्वेद का सर्वविदित उद्घोष है। आजकल के हीमोग्लोबीन या होलब्लड के पेयों का जो प्रसार है उनके पीछे चरकसंहिता के श्लोक की पुकार अवश्यमेव छिपी हुई है। शाकाहारी गम्भारीफल के यूष को भी वैसा ही उच्च पासकते हैं।

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गा पद्मकेशरम्।
अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥७५॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत्।
प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥७६॥

नीलोफर, मोचरस, मजीठ, कमल की केसर (के चूर्ण) को बकरी के दूध के साथ देवे। (औषध के) जीर्ण होने पर दूध भात देना चाहिए। या दुर्बल (रक्तातीसारी) को नीलोत्पलादि चूर्ण के साथ दूध पिलाकर उसके ऊपर ही भोजन कराना चाहिए। अथवा भोजन के पूर्व शहद मिश्री के साथ लौनी देवे।

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः।
त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥७७॥

कपिञ्जल के मांसरस का भोजन करने वाला (रक्तातीसारी) दूध से निकले घृत (मक्खन) को दूध के साथ खाकर तथा क्षीरभुक् (दूध ही सेवन करने वाला) तीन दिन में आरोग्य प्राप्त करता है।

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीर भुग्जयेत्।
रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥७८॥

दुधाहारी दूध के साथ शतावरी कल्क को पीकर व्यक्ति (तथा) अथवा उस (कल्क) से सिद्ध घी को पीकर रक्तातीसार को जीते।

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः श्रुतम्।
पेयं तस्यानु पातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥७९॥

रक्त की शान्ति के लिये कुटज के फलों (इन्द्रजौ) के साथ उबाले गये घी को यवागू के मण्ड से पीना चाहिए उसके पश्चात् (अधोलिखित)- पेया पीनी चाहिए।

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च।
पिप्पली शृङ्गवेरं च द्राक्षा कटुकरोहिणी ॥८०॥
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम्।
अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥८१॥

दारुहल्दी की छाल तथा इन्द्रजौ के फल पीपली, तथा अदरक मुनक्का और कुटकी इन ६ से सिद्ध घृत पेया के मण्ड के साथ दारुण त्रिदोषज भी अतीसार को शीघ्र जीते।

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम्।
पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम् ॥८२॥

काली मिट्टी, मुलहठी, शंख, रक्त, तण्डुलोदक, एकत्र मिलाकर शहद के साथ पीना परम रक्तसंग्राहक (haemostatic) होता है।

वक्तव्य—(३४०) उपरोक्त योग सहस्रों वर्षों से लाखों रोगियों पर अनुभूत है।

पीतः प्रियंगुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा।
रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥८३॥

शहद सहित तण्डुलोदक के साथ प्रियंगु का पिया गया कल्क जांगलजीवों के मांसरस को सेवन करने वालों के रक्तस्राव को शीघ्र जीत लेता है।

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः।
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥८४॥

(एक भाग) काले तिलों का कल्क पांच भाग मिश्री तथा बकरी के दूध के साथ पिया गया तुरत रक्त को रोक देता है।

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्।
यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥८५॥

एक पल इन्द्रजौ का उबालकर (तैयार किए गये) रस को जो मांसरससेवी पीवे वह पैत्तिक उदररोग (रक्तातिसार को भी) शीघ्र जीतले।

वक्तव्य—(३४१) रक्त-पित्तातीसारों में संग्राही तथा रक्तरोधक के रूप में कुटज तथा इन्द्रजौ (kurchi seed) का उपयोग अमोघ माना जाता है। पश्चिम की सैकड़ों रुपयों की औषधों को मुकाबिला यह तीन कौड़ी का योग सरलतापूर्वक कर लेता है।

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा।
दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥८६॥

मिश्री शहद सहित तण्डुलोदक के साथ चन्दन को पीकर जलन, प्यास, प्रमेहों से तथा रक्तस्राव से (भी व्यक्ति) मुक्त होजाता है।

गुदपाक और उसका प्रतीकार

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते।
सेचयेत् तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥८७॥
पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः।
छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥८८॥

बहुत बार (मल त्याग के लिए) उठने से पित्त के द्वारा जिसकी गुदा पकती है अर्थात् जिसे गुदपाक (proctitis) होगया है उस (की गुदा) को खूब शीतल पटोल मुलहठी (मिले) जल से सेचे। अथवा पञ्चवल्क (बरगद, पीपल, गूलर, पाकर, बेतस की छालों) के स्वरसों से, गन्ने के रस से बकरी गाय के घृतों वा दूधों से मिश्री मधु मिलाकर (सेवन करे)।

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा सर्सापिष्कैः प्रलेपयेत्।
एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥८९॥

अथवा प्रक्षालन के (द्रव्यों के) कल्कों से घृत के साथ प्रलेप करना चाहिए या इन द्रव्यों के अच्छी तरह बनाए चूर्णों से उस (पकी हुई) गुद को प्रतिसारण (चूर्ण छिड़कना dusting) करे।

धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समांशैः प्रतिसारयेत्।
तथा स्रवति नो रक्तं गुदं तैः प्रतिसारितम्।
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ॥९०॥

बराबर भाग धाय लोध्र के चूर्णों से प्रतिसारण करे इस प्रकार इनके द्वारा प्रतिसारित गुदा से रक्त नहीं बहता है। पाक (inflammation of the anal region) शान्ति पा जाता है तथा वेदना (भी) शान्त हो जाती है।

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितेऽतिस्रवत्यपि।
गुदवङ्क्षणकट्यूरु सेचयेद् घृतभावितम् ॥९१॥
चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा।
कार्पाससंग्रहीतेन सेचयेद्गुदवंक्षणम् ॥९२॥

रक्त के अतिस्रवित होने पर भी घी से भावित गुद-वंक्षण-कटि तथा ऊरु को प्रथम कहे हुए शीतल अवसेचनों से परिषेक करे। रुई में लिए हुए चन्दनादि के तैल अथवा शतधौत घृत से गुद (और) वंक्षण प्रदेश का सेचन करे।

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते।
यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा ॥९३॥
पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत्।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ॥९४॥

जब बहुत बार थोड़ा-थोड़ा रक्तशूल के सहित (रोगी) त्यागता है। और वायु रुक कर कष्टपूर्वक (अन्दर आंतों में) विचरण करता या न करता है तब उसको यथोक्त पिच्छाबस्ति देवे। तथा पुण्डरीक से

सिद्ध घृत से अनुवासन करे।

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः।
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ॥९५॥

चिरकाल से अतीसार वाले प्रायः दुर्बल गुदा वाले होते हैं इस कारण से उनकी गुदा में बार बार स्नेह का उपयोग करे।

पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम्।
बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थे बस्तिरुत्तमः ॥९६॥

अतीसार की अतिप्रवृत्ति होने पर वायु स्वस्थान (पक्वाशय) में अधिक बल प्राप्त कर लेता है पित्त-सहित उस वायु की जीत के लिए बस्ति (प्रयोग) श्रेष्ठ (उपाय होता है)।

रक्तं विड्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥९७॥

जो पहले अथवा पश्चात् पुरीष के साथ रक्त को अतीसाररूप निकालता है। उसके चाटने के लिए शतावरीघृत तैयार करे।

शर्करार्धांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्घृतम्।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥९८॥

हितकर सेवन करने वालों के नवोद्घृत (ताजी निकाले) नवनीत (मक्खन) को आधे भाग मिश्री चतुर्थांश शहद के साथ चाटना उस विकार को शीघ्र जीते।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत्।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥९९॥
तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात्सक्षौद्रपादिकम्।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥१००॥
यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलान्येव सेवते।
वारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥१०१॥

बरगद, गूलर, पीपल के शुङ्गों (अंकुरों) को कुचलकर गरम जल में एक दिन और एक रात बसावे। उस जल से घी को पकावे। नीचे (गुदा से) अथवा ऊपर भी (मुख से) जिसका रक्त निकलता है वह आधा भाग मिश्री तथा चौथाई भाग शहद के साथ (उसे) चाटे।

श्लेष्मातिसार चिकित्सा

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम्।
योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनोगणः ॥१०२॥

कफज अतीसार में प्रथम लंघन (तथा) पाचन (कर्म) हितकर (होता है)। पूर्वोक्त आमातीसार नाशक (अधोलिखित) दीपनीय गण की योजना करनी चाहिए।

लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते।
कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥१०३॥

लंघन किए व्यक्ति की यथाक्रम (अनुपूर्वी) चिकित्सा होने पर यदि कफज अतीसार निवृत्त नहीं होता है (तो) कफघ्न द्रव्यों से ठीक करे।

वक्तव्य—(३४२) उपरोक्त दोनों श्लोकों में कफज अतीसार के आमदोष के पचाने के लिए लंघन और पाचन चिकित्सा का उपयोग बतलाया गया है पर जब उतने से भी कफ की निवृत्ति नहीं होती तो फिर सीधी कफनाशक चिकित्सा कर लेनी चाहिए।

बिल्वं कर्कटिकामुस्तमभया विश्वभेषजम्।
वचा विडङ्गं भूतीकधान्यकं सुरदारु च ॥१०४॥
कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥१०५॥
योगाः श्लोकार्द्धं विहितश्चतुरस्तान् प्रयोजयेत्।
भृतान् श्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्द्धनान् ॥१०६॥

१–बेल, काकड़ासिङ्गी, मोथा, हरड़, सोंठ, २–बच, बिडङ्ग, अजवाइन, धनियां तथा देवदारु, ३–कूठ, अतीस, पाठा, चव्य, कुटकी ४–पिप्पली पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपीपल आधे श्लोकों में समाये वे शरीर की अग्नि के बल के बढ़ाने वाले उबाल कर तैयार किए चारों योग कफज अतीसार में प्रयोग करे।

अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च।
धातकी द्विगुणां दद्यान्मातुलुङ्ग रसाप्लुतम् ॥१०७॥
रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च।
धातकी द्विगुणां दद्यात् पातुं सक्षौद्रनागरम् ॥१०८॥

१ कालाजीरा, पाठा, सोंठ तथा कालीमिर्चों को (बराबर भाग), दुगुनी धाय, चकोतरे (बिजौरे

नीबू) के रस से घुलाकर; तथा २–अतीस सहित रसौत तथा कुटज के फलों को (समभाग) दुगुनी धाय शहद सोंठ के साथ पीने के लिए देवे।

धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्यकेशरम्।
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला ॥१०९॥
समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः।
कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥११०॥
चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान् कफोत्तरे।
श्लोकार्द्धविहितान् दद्यात्सस्नेहलवणान् खडान् ॥१११॥

१—धाय के फूल, सोंठ, बेलगिरी, लोध्र, कमल की केशर;
२—जामुन की छाल, सोंठ, धनियां, पाठा, मोचरस, बला;
३—मजीठ, धाय के फूल, बेलगिरी, जामुन–आम दोनों की छाल;
४—कैथ, विडंग, सोंठ तथा मरिचों को,

उन आधे आधे श्लोकों से बतलाये गयों को चाङ्गेरी, बेर, मट्ठे की खटाई से युक्त तैल नमकों से युक्त चार खडों को कफ के अतीसार में देवे।

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम्।
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ॥११२॥

त्रिकटु मधु शर्करा सहित कैथ के गूदे को तो चाटकर अथवा मधु मिलाकर कायफल को (चाट कर व्यक्ति) उदर रोग से मुक्त होजाता है।

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम्।
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात् ॥११३॥

शहद के साथ पिप्पली पीकर, चित्रक के साथ मट्ठा पीकर अथवा कच्ची बेलगिरी को खाकर (व्यक्ति) उदररोग से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—(३४२) यह न भूलना चाहिए कि आयुर्वेद पके बेल को दस्त कराने के लिए तथा बालबिल्व (कच्चे बेल को) दस्त रोकने के लिये सदैव प्रयोग करता है।

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पली विश्वभेषजम्।
लिह्याद् वाते प्रतिहते सशूलः स प्रवाहिकः ॥११४॥

कच्चा बेल, गुड, तैल, पिप्पली, सोंठ, वात के अवरुद्ध होने पर सशूलप्रवाहिका (dysentery) युक्त (रोगी) चाटे।

भोज्यं मूलकयूषेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः।
वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ॥११५॥

मूली के यूष के साथ, वायुनाशक व्यञ्जनों से वातातिसार के लिए कहे यूषों-मांसरसों तथा खडों से भोजन करे।

पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम्।
पुराणं वा घृतं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम् ॥११६॥

यवागू के मण्ड के साथ मिलाकर पूर्वोक्त अम्ल-सर्पि (चाङ्गेरीसुनिषण्णकघृत) अथवा षट्पलघृत अथवा पुराना घी बल के अनुसार देवे।

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वातिस्रवत्यपि।
शूले प्रवाहिकायाञ्च पिच्छावस्तिं प्रयोजयेत् ॥११७॥

वात कफ के विबन्ध होने पर अथवा कफ के अत्यधिक स्राव होने पर और प्रवाहिका के शूल होने पर पिच्छाबस्ति को प्रयोग में लावे।

पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि।
कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥११८॥

पिप्पली, बेल, कूठ, सोया वचा दोनों भी लवण सहित कल्कों से युक्त पूर्वोक्त पिच्छाबस्ति देवे।

प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये।
बिल्वतैलेन मतिमान्सुखोष्णेनानुवासयेत् ॥११९॥

पिच्छाबस्ति के (गुद से) वापस आने पर सुखोदक से स्नान करके आहार करा रोगी को सन्ध्याकालमें सुखोष्ण बिल्वतैल से बुद्धिमान् अनुवासन करे।

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वानुवासयेत्।
बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ॥१२०॥

अथवा पिच्छाबस्ति में कहे गये पिप्पली से वचा तक के द्रव्यों के कल्कों से तैल पका कर बहुत बार अनुवासन करे। इस प्रकार कफ वात से पीडित वह सुख प्राप्त करता है।

स्वस्थाने मारुतोऽवश्यं वर्द्धते कफसंक्षयात्।
विवृद्धः सहसा हन्यात् तस्मात् तं त्वरया जयेत् ॥१२१॥

(लंघनादि से) कफ के क्षीण होने से अपने स्थान पर वायु अवश्य बढ़ता है। विशेष करके बढ़ा हुआ वह शीघ्र मार डाले यह जानकर उसको तेजी से जीत ले।

वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम्।
त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं या भवेद् बलवत्तमः ॥१२२॥

वायु के पश्चात् पित्त को जीते। पित्त के पीछे कफ को जीते अथव तीनोंमें जो अधिकतम बलवान् (हो) उसको पहले जीते।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकः

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च।
क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टाह्यतिसारिणाम् ॥१२३॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि) – अतीसार वालों के (अतीसार की) प्रथम उत्पत्ति, कारण, लक्षण साध्यता, असाध्यता तथा आवस्थिकी सिद्ध चिकित्सा कह दी गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थानेऽतिसारचिकित्सितं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत (इस) तन्त्र में चरक प्रतिसंस्कृत के न मिलने पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में अतीसारचिकित्सित नामक उन्नीसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

विंशोऽध्यायः

छर्दि चिकित्सा

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) छर्दि चिकित्सित (नाम के अध्याय) का व्याख्यान करेंगे ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

अग्निवेश के प्रश्न

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युताभ्यां
ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम्।
पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं
पप्रच्छ शिष्योऽग्निजमग्निवेशः ॥२॥

यशस्वी, ब्रह्मज्ञान तथा तप दोनों की दीप्ति से देदीप्यमान, अग्नि (तथा) सूर्य के समान (तेजपूर्ण) प्रभाव वाले लोककल्याण में तत्पर (भगवान्)

पुनर्वसु आत्रेय को शिष्य अग्निवेश ने पूछना आरम्भ किया।

याश्छर्दयः पञ्चपुरात्वयोक्ता
रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठः।
तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां
यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ॥३॥

हे वैद्यों में वरिष्ठ आपके द्वारा रोगाधिकार (अष्टोदरीय अध्याय) में जो पूर्व में पांच छर्दियां कही गई हैं हेतु लक्षण सहित उनकी यथावत् चिकित्सा प्राणियों के कल्याण के लिए कहिए।

छर्दिभेद

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य
प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद।
याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्ता—
स्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥४॥

अग्निवेश का वह बचन श्रवण कर वैद्योंमें श्रेष्ठ (आचार्य आत्रेय) प्रसन्न हुए तथा यह बोले—मेरे द्वारा जो पूर्व में पांच छर्दियाँ कही गई थीं उनको विस्तारपूर्वक कहते हुए मुझको सुनो—

पूर्वरूप

दोषैः पृथक्त्रिप्रभवाश्चतस्रो
द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।
तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ
द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥५॥

पृथक् दोषों (वात, पित्त, कफ) से उत्पन्न हुई तीन तथा त्रिप्रभवा (तीनों दोषों के सन्निपात से उत्पन्न) चौथी द्विष्टार्थयोग (द्वेष कराने वाले संयोग) के कारण पांचवीं भी होती है। और भोजन में द्वेष, हृदय में उत्क्लेश कफ का प्रसेक ही उनके पूर्वरूप (होते हैं)।

वातिकछर्दि

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्षितस्य।
वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् ॥६॥
आमाशयोत्क्लेशकृताञ्च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत् तु।
हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्द्ध्वनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ॥७॥
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्न कृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्त्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥८॥

परिश्रम, तीक्ष्ण औषध (जैसे दपोमार्फीन तूतिया आदि) शोक, रोग, भय, सहवास, (इन) के कारण अतीव कृश हुए का वायु महास्रोतस् में प्रकुपित हुआ दोषों का उत्क्लेश करके बाद में (उनको) ऊपर को फेंकता हुआ आमाशय में उत्क्लेश करके मर्म को प्रपीडित करता हुआ छर्दि को उदीर्ण (प्रेरित) कर देता है।

हृदयपीड़ा, पार्श्वशूल, मुख का सूखना, नाभि के ऊर्ध्वभाग में बेचैनी, कास, स्वरभेद, तोद के साथ प्रबल डकार के शब्द का होना, झागसहित फटी काली पतली कषैली कष्ट के साथ थोड़ी और बड़े वेगपूर्वक वात के कारण यह दुःखपूर्वक (वातिक) वमन करता है।

वक्तव्य—(३४४) वातिक वमन में रोग का प्रधान कारण विविध कारणों से पक्वाशय में प्रकुपित वात का ऊर्ध्वगमन करके आमाशय में उत्क्लेश की उत्पत्ति करना है। कारणों में शोकरोग और भयों का समावेश बतलाता है कि वातिकछर्दि मस्तिष्कजन्य कारणों से अधिकतर उत्पन्न होती है। मस्तिष्कगतपीडन (intracranial pressure) की वृद्धि के कारण भी यह होती है। ऊर्ध्वनाभ्यर्ति से शिर तथा नाभि में शूल लेने पर वातिककास में शिरःशूल (migraine) प्रायः मिल सकता है।

पैत्तिकछर्दि

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति ॥९॥
मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम् ॥१०॥

अजीर्ण, कटु, अम्ल-विदाही-जो शीतल न हों उन कारणों से आमाशय में पित्त का प्रबल वेग स्रोतों (biliary passages) के द्वारा फैलता हुआ पित्त मर्म को प्रपीडित करके ऊपर आकर वमन को करता है।

मूर्च्छा, प्यास, मुख सूखना, सिर तालु नेत्रों की जलन, तम-भ्रम से पीडित पीला, बहुत गरम, हरा, तिक्तलायुक्त, धूम्रवर्ण का दाहपूर्वक पित्त के कारण वमन करता है।

वक्तव्य—(३४५) अजीर्णादि कारणों से पचन संस्थान में उत्पन्न तरंग (peristalsis) के ऊर्ध्वगमन के कारण पित्त की बहुलता से युक्त विदाही द्रव्यों के कारण पेट में बहुत आग पड़कर पैत्तिक वमन उत्पन्न होती है।

श्लैष्मिकछर्दि

स्निग्धातिगुर्वामविदाहि भोज्यैः
स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः।
उरः शिरोमर्म रसायनीश्च—
सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥११॥
तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेक—
सन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्त्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं—
सलोम हर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥१२॥

चिकने, अतिगुरु, आम, विदाह न करने वाले भोजनों से तथा निद्रा आदि से अधिक बढ़ा हुआ कफ छाती, सिर, मर्म (हृदय) रसायनी (स्रोतों) सबको आच्छादित करके वमन को करती है। तन्द्रा, मुख की मधुरता, कफ का प्रसेक, तृप्ति, निद्रा, भोजन में अरुचि, पेट में भारीपन से पीडित चिकना, गाढा, मीठा, विशुद्ध थोड़े दर्द के साथ रोमहर्ष-पूर्वक वह पुरुष वमन करता है।

वक्तव्य--(३४६) यह वमन आमाशय में बहुत अधिक बोझ बढ़ जाने के कारण रिफ्लैक्स कारणों से उत्पन्न होती है। अतिआहार के कारण अतिविस्तृत आमाशय (over distension with food) इसका एक मुख्य कारण है। यह आमाशय विस्तृति नीचे मुद्रिका द्वार (pyloric shphincter) के अवरोध के कारण भी हो सकता है।

सन्निपातिकछर्दि

समश्नतः सर्व रसान्प्रसक्तमाम—
प्रदोषर्तुविपर्ययैश्च।

सर्वं प्रकोपं युगपत्प्रपन्नाश्छर्दि-
त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः॥१३॥
शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-
श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-
सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥१४॥

लगातार सब रसों का समशन (पथ्यापथ्यकर द्रव्यों का मिलाकर खाना) करने वाले का आमदोष और ऋतु विपर्ययों से एक साथ प्रकुपित सभी दोष सान्निपातिक वमन को उत्पन्न करते हैं।

उदरशूल, अविपाक, कास, अरुचि, दाह, तृषा, श्वास, और मोह के साथ नमकीन, खट्टा, नीला, गाढ़ा, लाल (रंग का) वमन करते हुए मनुष्यों का प्रबल त्रिदोजजन्य वमन लगातार होता रहता है।

वक्तव्य—(३४६) मिश्रित कारणों से निरन्तर चलने वाला वमन जिसमें पेट का दर्द, प्यास, श्वास और मोह जैसे घोर लक्षण रहते हैं त्रिदोषज वमन में आता है।

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः—
स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं—
दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१५॥
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं—
तृट्श्वासहिक्कार्त्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमितियोगात्—
तयार्दितश्चाशु विनाशमेति ॥१६॥

पुरीष, स्वेद, मूत्र (और) जलवाही स्रोतों को अवरुद्ध करके जब वायु उत्सन्नदोष वाले (बढ़े हुए हैं दोष जिसके), पुरुष के कोष्ठ से संचित हुए दोष को निकालकर ऊपर की ओर ले जाती है तब अत्यन्त वेगपूर्वक मल और मूत्र के समान वर्ण और गन्ध से युक्त, तृषा श्वास हिक्का और पीड़ा युक्त दोष वाला लगातार वमन करता है। उससे पीड़ित व्यक्ति शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—(३४७) सान्निपातिक वमन के उग्ररूप के दर्शन हमें उपरोक्त दो श्लोकों में होते हैं। वात के द्वारा होने वाले घोर कार्यों की ओर जहां निर्देश है वहां मलावरोध, स्वेदावरोध, मूत्रावरोध और जलावरोध (डिहैड्रेशन) इन उपद्रवों की ओर भी संकेत दिया गया है।

द्विष्टज या आगन्तुज छर्दि

द्विष्ट प्रतीपाशुचिपूत्यमेध्य-
बीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च।
यच्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नै—
द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥१७॥

मनोघ्न, द्विष्ट (अप्रीतिजनक-ग्लानिकारक) प्रतीप (विपरीत), अपवित्र, सड़े, अमेध्य (मनको प्रतिकूल), बीभत्स, गन्ध, भोजन तथा दृश्यों के द्वारा जो वमन करता है वह द्विष्ट विषयों के संयोग से उत्पन्न वमन मानी गई है।

असाध्यछर्दि

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रवृद्धा—
सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता।
सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां—
साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवाञ्च ॥१८॥

क्षीण (व्यक्ति) की जो वमन अत्यधिक बढ़ी हुई, उपद्रवयुक्त, रक्तपूययुक्त तथा चन्द्रिकाओं सहित हो उसको (वैद्य गण) असाध्य कहते हैं। उपद्रवरहित साध्या वमन की चिकित्सा करे।

छर्दिचिकित्सा

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो—
मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं—
वा कफपित्तहारि ॥१९॥

सब प्रकार की छर्दियां आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न होने वाली ही मानी गई हैं। इस कारण से वातजावमन को छोड़कर लंघन अथवा कफपित्त नाशक (वमन विरेचन रूप) संशोधन करना चाहिए।

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां—
हृद्यानि वा यानि विरेचनानि।

मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या—
नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥२०॥

शहद के साथ हरड़ का चूर्ण चाटे अथवा जो हृद्य विरेचन ऊर्ध्वगतदोष को नीचे की ओर लेजाते हैं उनको मद्य तथा दूध से युक्त करके (सेवन करे)।

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा—
योदुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् ।
रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः—
सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥२१॥

(बलवान्) वल्लीफल (जीमूत इक्ष्वाकु आदि) वमनकारकों को पीवे अथवा जो दुर्बल उसको शमन औषधों मनोज्ञ रसों, लघु सूखे भक्ष्य द्रव्यों भोज्य पदार्थों सहित विविध पानों से चिकित्सा करे।

वातिकछर्दिचिकित्सा

सुसंस्कृतास्तित्तिरबर्हिलावरसाव्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम् ।
छर्दि तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः॥२२॥

सुसंस्कृत तीतर मोर बटेरों के मांसरस तथा बेर कुलथी, धनियां, बेर आदि पंचमूल अम्ल पदार्थ तथा जौ के बनाए यूष से वात से प्रवृत्त हुई वमन को दूर करते हैं।

वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो—
नरः पिबेत्सैन्धववद्घृतं तु।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां —
दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥२३॥
व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च
तस्यैव मात्रामथवा प्रदद्यात् ।
स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि—
रसैः सयूषैर्दधिदाडिमैश्च ॥२४॥

वातिक वमन में (जब रोगी) हृदयद्रव (हृदय की धकधक बढ़ना palpitation of the heart) से पीडित हो तो सैन्धववत् (सेंधवनमक) मिलाकर घी पीवे तथा धनियां सोंठ दोनों से दधि से तथा जल से सिद्ध अनार का रस (प्रदान करे)।

अथवा सोंठ-मरिच-पिप्पली से युक्त तथा सेंधा नमक, कालानमक, विडनमक तीनों नमकों से उसी (घी) की मात्रा स्निग्ध, हृद्य भोजन तथा मांसरस यूष दही और अनारों के साथ देवे।

पैत्तिकछर्दिचिकित्सा

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं
द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत्स्यात् ।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं
पित्तं हरेत्स्वादुभिरूर्ध्वमेव ॥२५॥

पैत्तिकवमन में अनुलोमन के लिए अंगूर, विदारीकन्द, ईख के रस के साथ निशोथ का प्रयोग करे। कफाशय में स्थित अत्यधिक बढ़े हुए पित्त को मधुर पदार्थों से ऊर्ध्वहरण (वमन रूप में) करे।

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां—
लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम् ।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वाऽपि
शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ॥२६॥

शुद्धि के लिए समय पर (शोधन होने के पश्चात्) शहद शक्कर दोनों से, खीलों से मन्थ या यदि पेया भी अथवा मूंग की दाल के रस से भी अथवा जाङ्गल जीवों के मांसरस के साथ शालि का भात देवे।

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः
कुल्माषलाजायवसक्तुगुञ्जान् ।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं
द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥२७॥

मिश्री, मधु, पिप्पली (इन) के साथ कुल्माष (उबाले हुए गेहूं जौ), खील, जौ के सत्तू, गुञ्ज (मण्ड युक्त जौ का भात) को, पिण्ड खजूर के फल का गूदा, और नारियल, अंगूर अथवा बेरों को चाटे।

स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्ज-
चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयाञ्च ।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्
लाजासितामागधिकाकणान् वा ॥२८॥

स्रोतोञ्जन, लाजा, नीलोफर, बेर की गुठली (इनके) चूर्णों को तथा हरड़ को मधु से चाटे। अथवा बेर की गुठली की मींगी, स्रोतोञ्जन, मक्खी

की बीट, लाजा, मिश्री, पिप्पली के बीजों को (चाटे)।

वक्तव्य —(३४८) वमन को दूर करने के लिए आयुर्वेद एण्टीमनी (स्रोतोञ्जन) का प्रयोग बतलाता है।

द्राक्षारसं वाऽपि पिबेत्सुशीतं
मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं
पिबेत्सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥२६॥

अथवा अंगूर का रस भी वर्फ से ठंडा कर पीवे। या, अथवा मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर (जल में डालकर प्राप्त हुए) जल को अथवा आम जामुन दोनों के पत्तों के क्वाथ को वर्फ डालकर शहद मिलाकर पीवे।

निशिस्थितं वारि समुद्ग कृष्णं
सोशीरधान्यं चणकोदकं वा।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या
जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ॥३०॥

काली मूँग के साथ रात्रि को बसाया जल अथवा खस, धनियां चने (के साथ बसाया) जल, गवेधुका (छोटे गेहूँ) की जड़ के जल को अथवा गिलोय के स्वरस को अथवा गन्ने के रस को अथवा दूध को पीवे।

सेव्यं पिबेत्काञ्चनगैरिकं वा
सवालकं तण्डुल धावनेन।
धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा
तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि ॥३१॥

खस को चावलों के धोवन के साथ अथवा सुगन्धवाला सहित स्वर्णगैरिक को (तण्डुलोदक के साथ) अथवा आमलकी रस के साथ श्वेतचन्दन (इन) तृष्णा (तथा पैत्तिक) वमनों को नष्ट करने वाले योगों को शहद के साथ पीवे।

कल्कं तथा चन्दन सेव्यमांसी—
द्राक्षोत्तमावालकगैरिकाणाम्।
शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं
मूर्वां तथा तण्डुलधावनेन ॥३२॥

चन्दन, खस, जटामांसी, श्रेष्ठ अंगूर, सुगन्धवाला, गेरू (इनके) कल्क को ठण्डे जल से तथा गेरू शालि चूर्ण और मूर्वा को चावल के धोवन के साथ (सेवन करे)

श्लैष्मिकछर्दि चिकित्सा

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं-
सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः।
पिण्डीतकैः सैन्धवसम्प्रयुक्तैर्वम्यां
कफामाशयशोधनार्थम् ॥३३॥

कफजन्य वमन में पिप्पली सरसों नीम के स्वरस के द्वारा, मैनफलों से सेंधानमक के साथ वमन को कफ तथा आमाशय के शोधन के लिये प्रशस्त माना गया है।

गोधूमशालीन्सयवान्पुराणा-
न्यूषैःपटोलामृतचित्रकाणाम्।
व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः-
फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ॥३४॥

जौ सहित पुराने गेहूँ तथा शालि चावलों को पटोल, गिलोय चित्रकों के यूषों से तथा त्रिकटु के, नीम के तथा मट्ठे से सिद्ध यूषों से फलों की खटाई से, तथा कटु द्रव्यों से युक्त (द्रव्यों से) खावे।

रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां-
मांसानि जीर्णान्मधु सीध्वरिष्टान्।
रागांस्तथा षाडवपानकानि-
द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥३५॥

जाङ्गल जीवों के रसों को तथा शूल्यों और मांसों को जीर्ण मधु-सीधु-अरिष्टों को अंगूर, कैथों, तथा चकोतरों से बनाए रसों तथा षाडवपानकों को (प्रयोग में लावे)।

वक्तव्य—(३४६) जीर्ण अरिष्ट, मधु और सीधु-का प्रयोग वमन नाश में कराया गया है। आसवारिष्ट चरक ने कई स्थानों पर पहले जहां बनाकर तुरत व्यवहार की आज्ञा दी है वहां वमन में जीर्ण को महत्त्व दिया गया है।

मुद्गान्मसूरांश्चणकान्कलायान्भृष्टा-
न्युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम्।
लिह्यात्तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं-
विडङ्गप्लवयोरथो वा ॥३६॥

भुने मूंगों-मसूरों चनों तथा मटरों को सोंठ तथा शहद दोनों मिलाकर चाटे, हरड़-बहेड़ा-आमला विडंग चूर्ण को अथवा विडंग तथा मोथा दोनों के चूर्ण को तथैव (उसी प्रकार से नागर माक्षिक मिलाकर चाटे)।

सजाम्ववं वा बदराम्लचूर्णं-
मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्।
दुरालभां वा मधुसम्प्रयुक्तां-
लिह्यात्कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम् ॥३७॥

कफज वमन के निग्रह के लिए जामुन के साथ खट्टे बेरों को चूर्ण, मोथा काकड़ासिंगी दुरालभा के साथ शहद मिला कर चाटे।

मनःशिलायाः फलपूरकस्य
रसैःकपित्थस्य च पिप्पलीनाम्।
क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं-
लिहञ्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥३८॥

मैनसिल का चकोतरा तथा कैथ के रस के साथ तथा पिप्पलियों के चूर्ण को शहद के साथ मरिचों को मिलाकर चाटता हुआ वेगवती (कफज) वमन को जीतले।

सन्निपातजछर्दिचिकित्सा

येषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता-
तां सन्निपातेऽपि समीक्ष्य बुद्धया।
रोगर्तुदोषाग्निबलान्यवेक्ष्य-
कुर्य्याद् भिषक् शास्त्रविदप्रमत्तः ॥३९॥

मेरे द्वारा जो यह चिकित्सा अलग अलग कही गई है इसको बुद्धिपूर्वक सन्निपात भी जानकर रोग, ऋतु, दोष, अग्नि, बल (इनको) देखकर शास्त्रवेत्ता वैद्य प्रमादरहित होकर करे।

आगन्तुजछर्दिचिकित्सा

मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूला
वाचः समाश्वासनहर्षणानि।
लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः
शृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः ॥४०॥
गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला
मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम्।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि
सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः ॥४१॥
यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च
मांसानि धानाविविधाश्च भक्ष्याः।
फलानि मूलानि च गन्धवर्णै—
रसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥४२॥
गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं
रूपञ्च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम्।
तदेव दद्यात्प्रशमे हि तस्य
तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥४३॥

मन के अभिघात (भय या शोकजन्य वमन) में तो मन के अनुकूल वचन आश्वासन, हर्षकारक, लोक प्रसिद्ध कथा कहानियां, शृङ्गारयुक्त समवयस्कों के साथ हितकर विहार (आमोद-प्रमोद), मन के अनुकूल मिट्टी, फूल, सिरका, खट्टे फलादिकों की विचित्र गन्धें, शाक, खाद्य पदार्थ, पानक, सुसंस्कृत षाडव-राग-अवलेह, यूष-मांसरस, काम्बलिक खड, मांस, भूने हुए धान्य, तथा विविध भक्ष्य पदार्थ, गन्ध, वर्ण तथा रस से युक्त फल तथा मूल वमन को जीतते हैं।

जो जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप भी जो जो प्रिय तथा असात्म्य भी (हैं) वह ही उस वमी की शान्ति के लिए देना चाहिए क्योंकि असात्म्य से उत्पन्न हुआ रोग जीतना सुगम ही है।

वमनोपद्रवचिकित्सा

छर्द्युत्थितानाञ्च चिकित्सितात्स्वात्
चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम्।
अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य
कर्मातियोगैर्विहितं विधेयम् ॥४४॥

वमन के उत्पन्न हुए उपद्रवों की अपनी अपनी चिकित्सा में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए। वमन की अत्यधिक प्रवृत्ति होने पर विरेचन के अतियोग से विहित चिकित्सा करनी चाहिए।

चिरप्रवृत्त वमन चिकित्सा

वमिप्रसङ्गात् पवनो ह्यवश्यं-
धातुक्षयाद्वृद्धिमुपैति तस्मात् ।
चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि-
कार्याण्युपस्तम्भन बृंहणानि ॥४५॥

वमन के बने रहने से धातुक्षय के कारण वायु निश्चित रूप से वृद्धि को प्राप्त करता है इस कारण से देर तक प्रवृत्त (वमन) होने पर वायुनाशक उपस्तम्भन (वमन रोकने वाली) शरीर को पुष्ट करने वाली (चिकित्सा) करनी चाहिए।

सर्पिर्गुडाः क्षीरविधि घृतानि-
कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहा-
श्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥४६॥

(क्षतक्षीण चिकित्सा में कहे) सर्पिर्गुड, क्षीर योग, (उन्मादोक्त) कल्याणकघृत (कासोक्त) त्र्यूषण घृत, (वातरक्तोक्त), जीवनीयघृत, वृष्यमांसरस, अवलेह चिरकाल से प्रवृत्त वमन को जीतते हैं।

वक्तव्य - (३५०) विविध प्रकार के वमनों में पृथक् पृथक् उपचारों का वर्णन करके इन उपरोक्त दो श्लोकों में बहुत काल तक टिकने वाली वमी की सस्त्र चिकित्सा बतलाई है। चिरकालीन वमन सदैव धातुक्षय करता है अतः उसे दूर करने के लिए बृंहण योगों का प्रयोग शास्त्र बतलाता है। दूसरे धातुक्षय से वातदोष कुपित होकर विभिन्न उपद्रव कर सकता है। अस्तु, वातनाशक औषधि देनी चाहिए। इस प्रकार धातुपोषक वातशामक चिकित्सा अन्त में निर्णीत होती है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोक :—

सङ्ख्यां हेतुं लक्षणमुपद्रवान्-
साध्यतां न योगांश्च ।
छर्दीनां प्रशमार्थं चिकित्सितं-
प्राह मुनिवर्य्यः ॥४७॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक हैं कि—

संख्या, निदान, लक्षण, उपद्रवों, साध्यता, असाध्यता, तथा योगों को तथा वमनों की शान्ति के लिए चिकित्सकों को मुनिवर्य ने कहा।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थाने छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरक प्रतिसंस्कृत प्रति के न मिलने पर दृढबल द्वारा पूरित में चिकित्सास्थान में छर्दिचिकित्सित नामक बीसवां अध्याय (समाप्त हुआ) ॥२०॥

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

एकविंशोऽध्यायः

विसर्प चिकित्सा

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) विसर्प चिकित्सित (नामक अध्याय) को व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे ।
पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसम्पदा ॥२॥
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्वतः स्वस्त्यलंकृते ।
विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥३॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥४॥
भगवन् दारुणं रोगमाशीविष विषोपमम् ।
संसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ॥५॥
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा ।
विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र न संशयो महान् ॥६॥
स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना ।
कतिभेदः कियद्धातुः किं निदानः किमाश्रयः ॥७॥
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः ।
कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन् तस्य भेषजम् ॥८॥

किन्नरों से व्याप्त, बहुत झरने वाला तथा औषधों से युक्त, नित्य पुष्प सम्पत्ति से, मधुर गन्ध उगलते हुए नाना प्रकार के वृक्षों से सब ओर से अलंकृत कैलास पर्वत में विहार करते हुए जितात्मा, ऋषियों से वन्दित, महर्षियों से परिवेष्टित, सब प्राणियों के हित में रत गुरु आत्रेय को अग्निवेश ने (उचित) काल में विनयपूर्वक यह कहा। हे भगवन् ! प्राणियों के शरीर में सर्पविष के समान फैलते हुए दारुण रोग को मैं देखता हूँ। तुरत प्राणनाशक उस रोग से व्याप्त मनुष्य चिकित्सा न होने पर सहसा नष्ट होते हैं। उसमें हमें महान् संशय है।

उसे किस नाम से जानना चाहिए ? किस कारण से उसको (वह) नाम दिया है ? कितने भेद हैं ? कितनी धातुओं को दूषित करता है। उसका निदान क्या है ? उसके आश्रय कौन हैं सुखसाध्य, कृच्छ्र-साध्य, और जो असाध्य है वह कैसे और किन लक्षणों से जाना जाता है ? और हे भगवन् ! उसका क्या औषध है ?

तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः ।
यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥९॥

अग्निवेश के उस वचन को सुन कर मुनिश्रेष्ठ (भगवान्) पुनर्वसु आत्रेय ने यथावद् सब सम्पूर्णतया कहा।

विसर्प — निरुक्ति

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥१०॥

जो विविध प्रकार से फैलता है उससे वह विसर्प कहाता है। अथवा सब ओर फैलने से परिसर्प (इस नाम से बोला जाता है)।

विसर्प —भेद

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥११॥
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।
चत्वार एते विसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१२॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थाख्यः कफवातजः ।
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफ सम्भवः ॥१३॥

वह दोष भेद से सात प्रकार का है। और उसको सात धातुओं वाला जानना चाहिए। अलग दोष से तीन, तीनों से एक, द्वन्द्वज विसर्प तीन (होते हैं)। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक ये चार विसर्प कहे हैं और द्वन्द्वज तीन कहेंगे। वात-पित्त दोनों से आग्नेय, कफवातज ग्रन्थि नामक तथा जो घोर कर्दमक (विसर्प होता है) वह पित्त कफ से उत्पन्न (होता है)।

विसर्पोत्पादक दोषदूष्य

रक्तं लसीका त्वङ् मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः ॥१४॥

रक्त (blood), लसीका (lymph), त्वचा (skin), मांस (flesh) (ये चार) दूष्य (तथा) वात-पित्त-कफ (नामक) तीनों मल (रूप) दोष (ये) विसर्पों की उत्पत्ति में सात धातुएँ माननी चाहिए।

वक्तव्य—(३५१) विसर्पों की उत्पत्ति यद्यपि वातपित्त कफ इन तीनों के प्रकोप से ही होती है पर कुपित वातादिक के अधिष्ठान स्वरूप शेष चारों रहते हैं। त्वचा और मांस के आश्रित विसर्प इन्हीं में उत्पन्न होता है रक्त तथा लसीका दोनों ही मार्ग विसर्पकारी दूषण का परिवहन करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि विसर्पकारी जीवाणुओं के द्वारा आक्रान्त या कुपित वातादिक दोष उन जीवाणुओं को साथ लेकर लसीकावहाओं (lymphatics) तथा रक्त-वहाओं (blood vessels) में बहकर त्वचा या मांस में विसर्प की उत्पत्ति कर देते हैं। उपसर्गकारी तत्व, उसके शरीर में गमन के मार्ग तथा उसका अधिष्ठान इनको नामतः सप्त-धातु ऐसा कह दिया गया है।

विसर्प का सामान्यनिदान

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् ।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥१५॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात् ।
शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥१६॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च ।
दध्नः शाण्डकिपूर्वाणामालुकानाञ्च सेवनात् ॥१७॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च ।
ग्राम्यानूपौदकानाञ्च मांसानां लशुनस्य च ॥१८॥
प्रक्लिन्नानाञ्च मत्स्यानां विरुद्धानाञ्च सेवनात् ।
अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनाशनात् ॥१९॥
क्षतबन्धप्रपतनाद्घर्मकर्मातिसेवनात् ।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥२०॥

नमकीन-खट्टे-उष्णवीर्य पदार्थों के रसों के अतिशय सेवन से, खट्टा दही, दही का पानी, सिरका (इन) का सुरा-सौवीरक का तथा बिगड़ी हुई (व्यापन्न) बहुत सी मद्य तथा गरम रागषाडव के सेवन करने से, हरे शाकों के सेवन से तथा विक्षोभक पदार्थों के, कूर्चिकों की किलाटों तथा दही के मन्दक के सेवन से, शाण्डाकी सन्धान से, आलुओं के सेवन से [पाठ आसुतानाम् होने से आसुत (fermented) तरलों के सेवन से] तिल, उड़द, कुलथियों के, तैलों के पीठियों के तथा ग्राम्य, आनूप, औदक जीवों के मांसों का तथा लहसुन का, सड़ी (प्रक्लिन्न) मछलियों का (असात्म्यानां पाठ होने से सड़े गले तथा जो सात्म्य न हों उनके) तथा विरोधी द्रव्यों के सेवन से, अति आदान से (बहुत भोजन से) दिन में सोने, अजीर्ण से, अध्यशन से, घाव पर (कसकर) पट्टी बांधने से, गिरने से, स्वेदकर उपचारों का अधिक सेवन करने से विष-वायु तथा अग्नि के दोष से विसर्पों की उत्पत्ति होती है।

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।
दूष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥२१॥

इन मिश्रित निदानों से कुपित हुए वातादिक दोष अहित भोजन करने वालों के रक्तादि दूष्यों को बहुत दूषित करके विसर्प कर देते हैं।

विसर्प—साध्यासाध्यता

बहिः श्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।
विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥२२॥

विसर्प, बहिराश्रित (शाखानुसारी) अन्तराश्रित, (कोष्ठानुसारी) तथा उभयाश्रित (शाखाकोष्ठानुसारी) है। इनका बल उत्तरोत्तर गुरु जानना चाहिए।

बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् ।
विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥२३॥

शाखानुसारी साध्य शाखाकोष्ठानुसारी दारुण को असाध्य (तथा) कोष्ठानुसारी विसर्प को अति कष्टसाध्य जाने।

अन्तः प्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।
बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥२४॥

अन्तराश्रित (कोष्ठानुसारी) विसर्प में प्रकुपित दोष अन्दर, बहिराश्रित में बाहर तथा उभयाश्रित में सर्वत्र विसर्पण करते हैं।

अन्तराश्रितविसर्प

मर्मोपघातात्संमोहादयनानां विघट्टनात् ।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ॥२५॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् ।
अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः ॥२६॥

मर्म के उपघात से, मूर्च्छा से, स्रोतों के रुक जाने से, अत्यन्त तृष्णा से, वेगों की विषम प्रवृत्ति होने से, और शीघ्र अग्निबल के क्षीण होजाने से अन्तर में उत्पन्न (अन्तराश्रित) विसर्प जाने। इससे विपरीत अन्य अपने लक्षणों से बहिराश्रित विसर्प को

जानना चाहिए।

यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्।
यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥२७॥

जिसका १–सर्व लक्षण (प्रगट हों)
२–बलवान कारण हो और
३–कष्टप्रद उपद्रव (हों) तथा जो
४–मर्म तक चला गया हो
वह (विसर्प) मार डालता है।

वातिकविसर्प

रूक्षोष्णैः कारणैर्वायुः पूरणैर्वा समावृतः।
प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥२८॥

तस्य रूपाणि—भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमकश्वासास्थिसन्धिभेदविश्लेषणवेपनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिका—सञ्चार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायामसङ्कोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः स्फोटैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविशदारुणाल्पास्रावैः विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ॥२९॥

निदान—रूक्ष (तथा) उष्ण कारणों से अथवा अतिभोजन से आवृत हुआ और दूषित हुआ वातदोष अपने बल के अनुसार दूष्यों को दूषित करता हुआ विसर्प उत्पन्न करता है।

उसके लक्षण—भ्रम, दवथु (दाह), प्यास, सुई चुभने की सी पीड़ा (निस्तोद), शूल, अङ्गमर्द, (पेशियों में) उद्वेष्टन (हडकल), कांपना, ज्वर, तमक श्वास, हडफूटन, सन्धिभेद, विश्लेषण (सन्धि के खुलने का सा शूल), वेपथु, अरोचक, अविपाक नेत्रों की व्याकुलता (इधर उधर चलना), अश्रु आना अङ्गों में मानो चींटी दौड़ रही हों (ऐसा आभास) जिस अवकाश में विसर्प फैलता है वह स्थान-श्यावारुण (dark red) आभासित होने लगता है। शोथयुक्त, तोद-भेदन-शूल आयाम (पेशी विस्तृति) सङ्कोच (पेशी संकोच), हर्ष (एक प्रकार की चुलबुली) तथा फुरफुरी (twitching) अत्यधिक पीड़ाकर होती है। उपचार न करने पर शीघ्र लाल या श्याव वर्ण के थोड़े, पतले, विशद, लालास्राव के साथ मलमूत्र वात के विबन्ध से युक्त होजाता है। निदानोक्त आहार विहार अनुकूल नहीं पड़ते। निदान के विपरीत (आहार-विहार) अनुकूल होते हैं। यह वात विसर्प (है)।

वक्तव्य—(३५२) वातिक विसर्प के विविध लक्षणों को देखने से यह ज्ञात होता है यह एक कठिन सज्वर व्याधि है जिसमें अनेकों लक्षण देखे जाते हैं। यह जहां त्वचा पर प्रगट होगा वहां शोथ करेगा, तोद भेद शूल हर्ष स्फुरण आदि करेगा। वह स्वयं पतला श्यावारुण तथा अरुण वर्ण के स्राव से युक्त होता है। विसर्प एक विसर्पण करने वाली व्याधि (सर्वं तो विसरणाद् विसर्पः) है। वाग्भट के अनुसार वातज्वर समव्यथा वाला यह होता है।

पैत्तिकविसर्प

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम्।
दूष्यान् संदूष्य धमनीः पूरयद् वै विसर्पति ॥३०॥

तस्यरूपाणि—ज्वर तृष्णामूर्च्छा छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वम् अस्वप्नोऽरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्र मूत्रवर्चस्त्वं हरितहारिद्रदर्शनम्। यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुविसर्पति। सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानामन्यतमः पुष्यतिसोत्सेधैश्चातिमात्रंदाहसम्भेदनपरीतैः स्फोटैरुपचीयते तुल्यवर्णस्राविभिरचिरपाकश्च भवति।

निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते। इति पित्तविसर्पः ॥३१॥

निदान—उष्ण उपचार से विदाही (तथा) खट्टे भोजनों से संचित हुआ पित्त दूष्यों को दूषित करके धमनियों को पूरित करता हुआ (पैत्तिक) विसर्प उत्पन्न करता है।

उसके लक्षण—ज्वर, तृष्णा, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, अंगभेद, स्वेद, अत्यन्त अन्तर्दाह, प्रलाप, शिरःशूल, नेत्रों की व्याकुलता, निद्रानाश, अरति, भ्रम, ठण्डक, ठण्डी हवा, ठण्डा जल की अत्यधिक तृष्णा, हरा, पीला मूत्र (तथा) मल, हरे पीले रूप देखना, जिस अवकाश में विसर्प फैलता है उस स्थान पर ताम्र (लाल), हरे, पीले, नीले, काले, रक्त जैसे (लाल) वर्णों में कोई एक खूब पुष्ट हो जाता है। वह उत्सेध (उठान) से अत्यधिक दाह से (तथा) भेदनवत् शूल से युक्त स्फोटों से भरा रहता है। समान वर्ण के स्राव से युक्त शीघ्रपाकी होता है।

उसको निदानोक्त आहार विहार अनुकूल नहीं होते इसके विपरीत आहार विहार अनुकूल होते हैं। यह पित्त विसर्प है।

वक्तव्य—(३५३) पैत्तिक विसर्प वातिक से भी भयङ्कर ज्वरयुक्त व्याधि है। इसमें चर्म पर स्फोटोत्पत्ति होती है उनसे हरा पीला नीला आदि स्राव निकलता है। यह शीघ्र पकता है। जो इसे देर में पकने वाला मानते हैं वे पैत्तिक रोगों की प्रवृत्ति को बिना समझे चलते हैं। वाग्भट की पित्ताद्द्रुतगति और पित्तज्वर लिङ्गता तथा अतिलोहितता स्मरणीय लक्षणत्रयी है।

श्लैष्मिकविसर्प

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसञ्चितः।
कफः सन्दूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति ॥३२॥

तस्यरूपाणि—शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च। यस्मिश्चावकाशे विसर्पोऽनुविसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते। प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं दुर्गन्धमास्रावं स्रवत्यूर्वञ्च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी भवति। श्वेतत्वङ्नखनयनवदन मूत्रवर्चस्त्वम्।

निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते। इति श्लेष्मविसर्पः ॥३३॥

निदान—मीठे, खट्टे, नमकीन, चिकनाई भारी अन्न (सेवन करने से तथा) दिवास्वप्न से संचित कफ दूष्यों को दूषित करता हुआ अङ्गों में धीरे-धीरे मन्दगति से विसर्प को उत्पन्न करता है।

उसके लक्षण—शैत्य, शीतपूर्वी ज्वर, गौरव, नींद, तन्द्रा, अरुचि, मुख की मधुरता, मुंह में उपलेप (formation of sordes and fur in the mouth) थुकथुकी, वमन, आलस्य, शरीर का भीगा या गीला सा होना, अग्निनाश तथा दुर्बलता (होती है)। जिस अवकाश में विसर्प फैलता है वह स्थान शोथयुक्त पाण्डुवर्ण का अधिक लाभ नहीं होता है स्निग्धता, सुप्ति (numbness), स्तम्भ (rigidity) गौरव (इन) से युक्त थोड़ी वेदना वाला, देर में तथा कष्ट से पकने वाला, मोटी त्वचा, उपलेपयुक्त, श्वेत पाण्डुरवर्ण के स्फोटों से व्याप्त होता है। (स्फोटों के) फूटने पर सफेद, चिपचिपा, तन्तुयुक्त, घन, बंधा हुआ, दुर्गन्धित स्राव को बहाता है। इसके बाद स्थिर जाल से व्याप्त, स्निग्ध, बहल (सघन) त्वचा तथा उपलेपयुक्त व्रणों के अनुबन्ध वाला होता है तथा चिरकाल तक रहता है। नख, नेत्र, मुख, मल मूत्र पर सफेदी (होती है)।

निदानोक्त आहार विहार अनुकूल नहीं होते। निदान विपरीत अनुकूल होते हैं। यह श्लेष्म विसर्प है।

वक्तव्य—(३५४) 'कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफ ज्वर समान रुक्' इस वर्णन में कफज विसर्प को वाग्भट ने व्यक्त करके इसे पहचानने की एक बड़ी कठिनाई दूर करदी है। इसके स्फोटों का पाक देर में होता है। इसमें ज्वर रहता है।

अग्निविसर्प

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः।
परस्परं लब्धबलं दहद्गात्रं विसर्पति ॥३४॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरवकीर्यमाणं मन्यते छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकास्थिसन्धिभेदतृष्णारोचकाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते । यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवत्यग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते । स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति मर्माणि चोपतप्ते पवनोऽतिवलं भिनत्यङ्गानि अतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां हिक्काश्वासौ नयति प्रणाशयति निद्राम् । स नष्टनिद्रो मूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचित् सुखमुपलभते अरति परीतः स्थानादासनाच्छय्यांक्रान्तुमिच्छति क्लिष्टभूयिष्टश्चाशु निद्रां लभते दुष्प्रवोधो च भवति । एवंविधमातुरमग्निविसर्प—परीतं अचिकित्स्यं विद्यात् ॥३५॥

निदान—अपने हेतुओं से अत्यधिक प्रकुपित वातपित्त परस्पर एक दूसरे से वल प्राप्त करके गात्र को (अग्नि के समान) जलाते हुए विसर्प को उत्पन्न करते हैं।

उस (विसर्प) के उपताप से रोगी सारे शरीर को मानो (दहकते हुए) अंगारों में अवकीर्यमाण (बिखरे हुए) मानता है। वमन, अतीसार, मूर्च्छा, दाह, मोह, ज्वर, तमक, अस्थिसन्धिशूल, तृष्णा, अरुचि, अविपाक, अङ्गभेद आदि से पीड़ित होता है। जिस जिस अवकाश में विसर्प फैलता है वह स्थान बुझे हुए अंगार के समान या खूब लाल हो जाता है। और अग्नि से जल जाने (पर जैसे फफोले पड़ते हैं) उस प्रकार के स्फोटों से वह स्थान भर जाता है। वह शीघ्र गमन करने वाला होने से शीघ्र ही मर्मानुसारी होजाता है। मर्मों को उपतप्त करने पर अतिवलवान् वातदोष अंगों को अतीव भंग करता है, संज्ञा को नष्ट कर देता है हिक्का (तथा) श्वास दोनों को उत्पन्न कर देता है। निद्रा का नाश कर देता है। वह नष्ट निद्रा वाला और संज्ञा विमूढ चित्त की व्यथा वाला थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं करता है। वेदना से पीड़ित खड़े होने या वैठने से शैया पर लेटने की विशेष इच्छा करता है और अत्यधिक क्लेशवान् होने से वह निद्रा प्राप्त कर लेता है तथा बड़ी कठिनाई से जगता है।

इस प्रकार के अग्नि विसर्प परीत (पीडित) रोगी को अचिकित्स्य (incurable) जाने।

वक्तव्य(३५५) वात और पित्त इन दोषों के बाहुल्य से जिस प्रकार लोक में अग्नि बढ़ती है उसी प्रकार त्वचा और मांस में इन्हीं से एक प्रकार का विसर्प उत्पन्न होजाता है जो असाध्य होता है तथा रोगी हाय आग से जला मुझे बचाओ ऐसा चिल्लाता है। अग्निदाह के समान उसे फफोले उठते हैं। रोगी वेदना से इतना पीडित होजाता है न तो उसे संज्ञा ही रहती है और न चेत ही। रोगी की श्वास की गति बहुत बढ़ जाती है।

कर्दमविसर्प

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना ।
विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति चाधिकम् ॥३६॥

तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रामोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एक देशग्राही च । यस्मिश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो वहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति संज्ञास्मृतिहन्ता च, तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥३७॥

निदान—अपने अपने हेतुओं से प्रकुपित हुआ वलवान् कफ पित्त एक स्थान पर कर्दम विसर्प को उत्पन्न करता है और (उस स्थान को) बहुत अधिक गीला कर देता है।

उसके लक्षण—शीतज्वर, सिर का भारीपन, दाह, स्तैमित्य, अङ्गावसाद, निद्रा, तन्द्रा, मोह, अन्नद्वेष, प्रलाप, अग्निनाश, दुर्वलता, अस्थिभेद, मूर्च्छा, प्यास, स्रोतों का लिप्त रहना इन्द्रियों की

जड़ता, प्रायः मल में आमत्याग (प्रायोपवेशन पाठ भेद से अन्न त्याग), अङ्गविक्षेप, अङ्गमर्द, आदि तथा उत्सुकता उत्पन्न होजाती है। प्रायः आमाशय में एक देश ग्रहण करने वाला यह अलसक (धीरे धीरे) फैलता है। जिस अवकाश में यह फैलता है वह स्थान लाल, पीली, पाण्डु पिडकाओं से भरा जैसा, काली आभा वाला, काला, मैला, स्निग्ध, अधिक ऊष्मा से युक्त भारी, स्थिर वेदना-युक्त, शोथवाला, पाक में गम्भीर, स्रावरहित, शीघ्र क्लिन्न होने वाला, पसीना वाला, क्लेद-सड़े मांस त्वचा से युक्त धीरे धीरे थोड़ा दर्द छूने पर फट जाता है। कीचड़ की भांति दबाने से दब जाता है उससे उपक्लिन्न पूतिमांस निकलता है। सिरा-स्नायु दिखलाई देते हैं और शवगन्धी होता है। संज्ञा और स्मृति का नाशक उस कर्दम विसर्प से पीड़ित (रोगी) को अचिकित्स्य जाने।

वक्तव्य—(३५७) कर्दम विसर्प के कर्ता कफ और पित्त ये दोनों दोष होते हैं। यह भी सज्वर व्याधि है। इस विसर्प का फैलने का स्थान विशेषरूप से आमाशय है। यह भी एक असाध्य व्याधि है। जो लक्षण और जैसा स्वरूप ऊपर वर्णित है उससे यह गैस्ट्रिक अल्सर (gastric ulcer) और उससे भी आगे की स्थिति आमाशयिक कर्कट (cancer of the stomoch) तक जाता है। इसका अधिक ऊहापोह अभिनव विकृति विज्ञान (चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय काशी) में मिलेगा।

ग्रन्थिविसर्प

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिकर्मशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य-दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते तत्रवायुःश्लेष्मणाविबद्धमार्ग-स्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्र-पाकसाध्यां कफाशये सञ्जनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितानां ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तरक्तानां तदुपतापा-ज्ज्वरातिसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाक-प्रसेकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भव-न्त्युपद्रवाः स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ॥३८॥

स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीतल-स्निग्ध अन्न-पान एवं अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करने वालों का व्यायाम आदि सेवन करने वालों का, चिकित्सा न कराने वालों का कफ और वायु प्रकोप को प्राप्त होजाता है। वे दोनों दुष्ट, प्रवृद्ध अति बलवान् ग्रन्थि विसर्प उत्पन्न करते हैं। वहां कफ से विबद्ध मार्ग (होने पर) वायु उसी कफ को अनेक प्रकार से विभाजित करती हुई क्रमशः कफाशय में कठिनाई से पकने वाली कष्टसाध्य ग्रन्थिमाला को उत्पन्न करती है अथवा रक्तवृद्धि वाले व्यक्ति में रक्त को दूषित करके तीव्र पीड़ायुक्त स्थूल या अणु दीर्घ वा गोल और रक्तवर्ण की सिरा, स्नायु, मांस, त्वचा के आश्रित ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न करती है। उसके सन्ताप से ज्वर, अतीसार, कास, हिचकी, श्वास, शोष, प्रमोह, वैवर्ण्य, अरोचक, अविपाक, प्रसेक, वमन, मूर्च्छा, अंगभङ्ग, निद्रा, अरति, अवसाद आदि उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं। इन उपद्रवों से पीडित सब चिकित्सा के विषय को उल्लंघन कर जाने से वह त्याज्य होता है। (यह ग्रन्थि विसर्प है)।

वक्तव्य—(३५८) विविध श्लेष्मल पदार्थों के प्रयोग से कफ का प्रकोप होने से तथा कफ द्वारा वायु की गति का अवरोध होने से वायु कफ को विदीर्ण करके तथा उसको रक्त में भेजकर विविध स्थानों पर ग्रन्थियों की उत्पत्ति करती है। इन ग्रन्थियों में विसर्प के सब लक्षण होते हैं ये फुंसियां माला के समान विसर्पण करती हैं। सप्तधातु जो विसर्प में सम्बद्ध रहते हैं यहां भी उनका सम्बन्ध आने से यह ग्रन्थि विसर्प एक स्पष्ट रोग बन जाता है। ग्रन्थियों में विसर्पजनक जीवाणु (streptococcus erysipelas) का प्रभाव पूर्णतः रहता है। यह रोग उपद्रव बहुल होता है।

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायते इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो

भवति। स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात् तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबन्धेत् ॥३९॥

रोग के उत्तर काल में उत्पन्न होने वाला रोग के आश्रित, स्थूल या अणु रोग ही उपद्रव है। यह रोग के पीछे उत्पन्न होता है इसलिये उपद्रव कहाता है। इसमें व्याधि प्रधान तथा व्याधि का गुणभूत (गौण) उपद्रव होता है। प्रायः प्रधान की शान्ति में उसकी शान्ति होजाती है। पीछे उत्पन्न होता हुआ व्याधि से प्रपीडित शरीर होने के कारण वह अधिक पीडाकर होता है इस कारण से उपद्रव को शीघ्र नष्ट करना चाहिए।

वक्तव्य—(३५९) उपद्रव (sequelae) से आयुर्वेद क्या मानता है उसका विचार बहुउपद्रव सम्पन्न ग्रन्थि विसर्प के प्रकरण से स्पष्ट किया गया है। व्याधि के द्वारा गौण रूप में इसकी उत्पत्ति होती है। पर इसकी गम्भीरता कभी कभी व्याधि से भी अधिक होती है और व्याधि की चिकित्सा छोड़ उपद्रव की चिकित्सा को भी पहले करना पड़ जाता है।

सान्निपातिकविसर्प

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥४०॥

सन्निपातविसर्प सब निदानों से उत्पन्न हुआ सर्वदोषों के लक्षण से युक्त सब धातुओं को अनुसरने वाला शीघ्रकारी और महा विनाशकारक होने से अचिकित्स्य जाने।

विसर्प-साध्यासाध्यता

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्ति अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मणि अनुपगते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरेणक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद्देहमाश्वेवाशीविषवत् ॥४१॥

तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्। उपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्। सन्निपातजन्तु सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात्। तत्र साध्यानां साधनविधिमनुव्याख्यास्यामः ॥४२॥

उनमें वात-पित्त-श्लेष्मा के निमित्त से उत्पन्न तीनों विसर्प साध्य होते हैं। अग्निकर्दमनामक दोनों मर्मस्थान में उपसृष्ट न हुए हों सिरा स्नायु मांस की क्लिन्नता न होने पर साधारण चिकित्सा से दोनों का निरन्तर अभ्यास करने पर शान्त हो जाते हैं। उन दोनों में से किसी भी एक की सम्यक् चिकित्सा न करने पर सर्प के विष की तरह शीघ्र ही देह को नष्ट करता है।

और (साथ ही) उपद्रव न उत्पन्न हुए हों ऐसे ग्रन्थि विसर्प की चिकित्सा आरम्भ करे। उपद्रव से अभिभूत उसको छोड़ दे। सन्निपातज विसर्प तो सब धातुओं के अनुसार होने से, शीघ्रकारी होने से, तथा चिकित्सा का वैपरीत्य होने से असाध्य जाने। अब वहां साध्य विसर्पों की साधन विधि का (हम) व्याख्यान करेंगे।

विसर्प--चिकित्सासूत्र

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानाञ्च सेवनम्।
कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैश्च लपनम् ॥४३॥
पित्तस्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्।
शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥४४॥

कफस्थानगत सामदोष हो तो लंघन, वमन (प्रशस्त हैं)। और तिक्त द्रव्यों का सेवन तथा रूक्ष शीत पदार्थों के द्वारा आलेपन (प्रशस्त है)।

पित्तस्थानगत सामदोष होने पर यही चिकित्सा करे विशेषरूप से रक्तमोक्षण तथा विरेचन (देवे)।

मारुताशयसम्भूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम्।
रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥४५॥

वाताशय में भी उत्पन्न विसर्प में आरम्भ से ही विरूक्षण करे। रक्तपित्त का अनुबन्ध होने पर भी प्रथम स्नेहन हितकर नहीं माना गया।

वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते।
लघुदोषे महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥४६॥

वातप्रधान विसर्प में और अल्पदोषयुक्त पैत्तिक विसर्प में तिक्तघृत प्रशस्त है। महादोषयुक्त

पैत्तिकविसर्प होने पर विरेचन देना चाहिए।

वक्तव्य—(३६०) अल्पदोषयुक्त पैत्तिक विसर्प में कुष्ठोक्त तिक्तघृत दिया जा सकता है पर दोषका परिमाण बढ़ जाने पर घी देना निषिद्ध है वहां विरेचन कराना परमावश्यक है। रक्त विसर्प का आश्रय कहा जाता है अतः रक्तमोक्षण लाभकर रहता है।

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचयेत्।
तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥४७॥

बहुत दोष वाले (पैत्तिक विसर्पी) को जो विरेचन न करे (ऐसा) घी नहीं देना चाहिए। क्योंकि दिये हुए घी से रुके हुए दोष त्वचा मांस और रक्त को पचाते हैं।

तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः।
रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम् ॥४८॥

इसलिए आरम्भ में विसर्पियों को विरेचन प्रशस्त जाने तथा वह (रक्त) क्योंकि इसका आश्रय अतः रक्तमोक्षण को (भी प्रशस्त जाने)।

इति वीसर्पनुत्प्रोक्तं समासेन चिकित्सितम्।
एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते ॥४६॥

इस प्रकार संक्षेप से विसर्पनाशक चिकित्सा कही गई है वही सब फिर से विस्तारपूर्वक कहा जावेगा।

वक्तव्य—(३६१) विसर्प की संक्षिप्त चिकित्सा में लंघन, वमन, रक्तमोक्षण, विरेचन इन चारों में से आवश्यकतानुसार प्रयोग बतलाया गया है। कफस्थान में प्राप्त साम विसर्प रूक्ष शीत उपचारों से, पित्त स्थानगत साम विसर्प रक्तमोक्षण और विरेचन से वातस्थानगत विसर्प में आरम्भ में विरूक्षण कराना और स्नेहन न कराना प्रशस्त माना जाता है। चाहे रक्तपित्त का ही अन्वय क्यों न हो। घृत प्रयोग दोषों की अल्पता में तथा विरेचन दोषों की प्रबलता में देना चाहिए। घृतों का प्रयोग बहुदोषवान् विसर्पों में किया भी जाय तो उसका लक्ष्य विरेचन कराना होना आवश्यक है। ऊपर संक्षेप में चिकित्सासूत्र दिये गये हैं आगे प्रत्येक का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया गया है।

विसर्प में वमनयोग—

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च
वमनं सम्प्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ॥५०॥

मैनफल, मुलहठी, नीम तथा इन्द्रजौ कफपित्तज विसर्प में वमन (करने वाले इस योग) को देना चाहिए।

पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च।
विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥५१॥

पटोलपत्र तथा नीम दोनों से पिप्पली और मदनफल तथा इन्द्रजौ के साथ विसर्प में वमन (कराना) प्रशस्त (होता है)।

यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम्।
विसर्पिणां प्रयोज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥५२॥

कल्पस्थान में कफपित्तियों के और जिन योगों को (मैं) कहूँगा वे दोषनाशक कल्याणकारी (योग) विसर्पियों को प्रयोग कराना चाहिए।

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि।
सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ॥५३॥
कषायान्योजयेद्वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान्।

विसर्पघ्न कषाय—विचक्षण वैद्य मोथा, नीम, पटोलों के, चन्दन, नीलकमल दोनों के भी अथवा सारिवा, आमले, खस, मोथा (इन) के विसर्प नाशक सिद्ध कषायों को प्रयोग में लावे।

किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम् ॥५४॥
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सबिभीतकम्।
मधुकं नागपुष्पञ्च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥५५॥

किराततिक्तकादि कषाय—चिरायता, लोध, चन्दन, धमासा सहित सौंठ, कमलकेसर, नीलोफर, बहेड़े के साथ, मुलहठी तथा नागकेसर विसर्प को शांत करने के लिए देवे।

प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥५६॥

प्रपौण्डरीकादिक्वाथ—पुण्डरीक, मुलहठी, कमलकेसर, नीलोफर, नागकेसर तथा लोध को उसी (क्वाथ) विधि से पीवे।

द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गडूचीं धन्वयासकम्।
निशापर्युषितं दद्यात्तृष्णावीसर्पशान्तये ॥५७॥

द्राक्षादिशीतकषाय—मुनक्का, पित्तपापड़ा, सोंठ, गिलोय, धमासा रातभर बसाकर तृष्णा और विसर्प शान्त करने के लिये देवे।

पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम्।
यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥५८॥

पटोलादि क्वाथ—पटोलपत्र, नीम तथा, दारुहल्दी कुटकी, मुलहठी तथा त्रायमाण विसर्प शान्ति के लिए (क्वाथ बनाकर) देवे।

पटोलादिकषायं वा पिबेत् त्रिफलया सह।
मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥५९॥

(उपरोक्त) पटोलादि क्वाथ को त्रिफला के साथ पीवे। अथवा मसूर की दाल के साथ घी मिलाकर देवे।

पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च।
पाययेत् घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥६०॥

पटोलपत्र, मूंग तथा आमलों के रस के साथ घी मिलाकर विसर्प पीडित व्यक्ति पिलावे।

विसर्प में विरेचनयोग

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिवर्हणम्।
निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥६१॥

और जो महातिक्त घृत पैत्तिक कुष्ठनाशक बतलाया गया है वह भी बुद्धिमान विसर्प की शान्ति के लिये देवे।

त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम्।
विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान् ॥६२॥

गुल्म के प्रकरण में बतलाया गया जो सिद्ध त्रायमाणघृत विसर्पों की शान्ति के लिए बुद्धिमान उसको भी देवे।

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा।
घर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥६३॥
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम्।
त्रायमाणाशृतं वाऽपि पयोदद्याद्विरेचनम् ॥६४॥

निशोथ के चूर्ण को घी या दूध के साथ भी मिलाकर गरम पानी अथवा मुनक्कों के रस के साथ मिलाकर विरेचन के लिए प्रयोग करना चाहिए। वह सिद्ध विसर्पनाशक है। अथवा त्रायमाणा के साथ उबाला गया दूध भी विरेचन के लिए देवे।

त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह।
प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरनाशनम् ॥६५॥

त्रिफलारस से युक्त निशोथ के साथ घी विसर्प ज्वरनाशक विरेचन के लिए प्रयुक्त करना चाहिए।

रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत्।
स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥६६॥
दोषे कोष्ठगतेभूय एतत्कुर्याच्चिकित्सितम्।

अथवा आमलों का घी मिलाया रस देवें। वह भी भारी कोष्ठ वाले के लिये निशोथ के चूर्ण के साथ हितकर है। कोष्ठगत दोष होने पर यह चिकित्सा करे।

विसर्प में रक्तस्राव

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥६७॥
भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्।
पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभि ॥६८॥
यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम्।
त्वङ् मांसस्नायु संक्लेदो रक्तक्लेदाद्धिजायते ॥६९॥

शाखाओं में रक्त के दूषित होने पर आरम्भ से ही रक्त का मोक्षण करे। वैद्य वातजन्य रक्त का सींगी द्वारा निर्हरण करे। पित्तजन्य रक्त को जोंकों से, कफजन्य तुम्बी से निकाले।

रोग के जितने पास सिरा हो उसको शीघ्र वेधे। क्योंकि त्वचा-मांस-स्नायुओं में क्लेद रक्त के क्लेद से ही उत्पन्न होता है।

विसर्प में प्रमेह

अन्तः शरीरे संशुद्धे दोषे त्वङ्मांस संश्रिते।
आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ॥७०॥

अन्दर से शरीर में शुद्धि होने पर दोष (केवल) त्वचा तथा मांस के आश्रित रहने पर अथवा आरम्भ से ही अल्पदोष वालों की बाह्य क्रिया कही जावेगी।

वक्तव्य—(३६२) विसर्प अल्प दोष और बहुदोष दोनों से होता है। दोनों में अन्तशुद्धि के लिए वमन विरेचन

सिरामोक्षण आवश्यक है। इन उपायों से जब अन्दर की पूरी शुद्धि हो चुके तो फिर बाह्य प्रलेपादिक का प्रयोग करना चाहिए। जहां कहीं विसर्प में दोष अल्प हों वहां काम चल जाता है। नीचे कितनेक प्रलेप दिये जाते हैं।

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्।
नागपुष्पं प्रियंगुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥७१॥

उदुम्बरादि प्रदेह—गूलर की छाल, मुलहठी, कमल-केसर, नीलोफर, नागकेसर तथा प्रियंगु का घृत सहित प्रलेप हितकर है।

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः।
बिसग्रन्थिश्चलेपः स्याच्छतधौतघृतप्लुतः ॥७२॥

न्यग्रोधापादाद्यलेप—केले के खम्भे के बीच के डण्डे के साथ बरगद की नई जटाएँ, कमलकन्द शत-धौत घृत में मिला हुआ लेप करना चाहिए।

कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ।
एला मृणालं फलिनी प्रलेपः स्याद् घृताप्लुतः ॥७३॥

कालीयादिप्रलेप—पीतचन्दन, मुलहठी, नाग-केसर, केवटी मोथा, चन्दन-पद्माख दोनों, इलायची, कमलनाल, प्रियंगु घी में मिलाकर प्रलेप करे।

शाद्वलं च मृणालं च शङ्खचन्दनमुत्पलम्।
वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् सतण्डुलः ॥७४॥

शाद्वलादिप्रदेह—दूब, कमलनाल, तथा, शंख, चन्दन, नीलोफर, बेंत की जड़ों को चावलों के साथ लेप करे।

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम्।
मञ्जिष्ठाचन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥७५॥

सारवादिप्रलेप—सारिवा, कमलकेसर, खस, नीलोफर, मजीठ, चन्दन, लोध तथा हरड़ (इनका) लेप (करे)।

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकपद्मकौ।
दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात् प्रलेपनम् ॥७६॥

नलदादिप्रलेप—जटामांसी, रेणुका, लोध, मुल-हठी-पद्माख दोनों, दूब और राल (इनका) घी के साथ लेप (करे)।

यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः।
प्रदेहो मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ॥७७॥

घी के साथ प्रयोग किए गये जौ के सत्तुओं का प्रलेप तथा मुलहठी शतावरी जौ के सत्तू घी के साथ (लेप करना चाहिए)।

बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम्।
कुर्यादालेपनं वैद्यो मृणालं च बिसान्वितम् ॥७८॥

खरैंटी, नीलोफर, कमलकन्द, शतावरी, अगर, चन्दन, कमलनाल तथा कमलकन्द का वैद्य आलेपन करे।

यवचूर्णं समधुकं सघृतञ्चप्रलेपनम्।
हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः ॥७९॥
पृथक् पृथक् प्रदेहास्युः सर्वे वा सहसर्पिषा।
पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव च ॥८०॥
शङ्खः प्रवाला शुक्तिर्वा गैरिको वा घृतप्लुतः।
पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम् ॥८१॥

जौ का आटा, मुलहठीसहित तथा घीसहित लेप करे। रेणुका तथा मसूर, मूंग के साथ सफेद शालि चावल (इन्हें) अलग अलग अथवा सबके घी के साथ प्रलेप करे।

कमलिनी की जड़ पर लगा शीतल कीचड़, मोती की पिष्टी, शंख, प्रवाल, सीप अथवा गेरू इनमें से प्रत्येक में अलग अलग घी मिलाकर किए हुए लेप विसर्प वाले के लिए हितकर जानने चाहिए।

प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शालूकमुत्पलम्।
न्यग्रोधपत्रं दुग्धीका सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥८२॥

पुण्डरीक, मुलहठी, बला, कमलकन्द, नीलोफर, बरगद के पत्ते (तथा) दुधी घृत सहित लेप करे।

बिसानि च मृणालं च सघृताश्च कशेरुकाः।
शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृताप्लुतौ ॥८३॥

कमल की जड़ तथा कमल की नाल तथा कसेरू (इनको) घी में मिला लेप करे। घी के साथ शतावरी विदारीकन्द दोनों के कन्द (जड़ें इनका लेप करे)।

शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका।

इन्द्राणिशाकं सघृतं देयं वा दाहशान्तये × ॥८४॥

सिवार (moss), नरसल की जड़ें, गाजुवां, मूषाकर्णी, सम्हालू के पत्ते घी के साथ (विसर्प की) दाह को शान्त करने के लिए देना चाहिए। अथवा पाठ भेद से सम्हालू के पत्ते घी के साथ तथा सिरस की छाल खरैटी घी के साथ लेप करनी चाहिए।

न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थपल्लवैः ।
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिभिः शीतैरालेपनं हितम् ॥८५॥

बरगद, गूलर, पाकर, बेतस, पीपल के पत्तों (तथा) त्वचा के कल्कों से बहुत से घी के साथ लेप करना हितावह (होता है)।

प्रदेहाः सर्व एवैते वातपित्तोल्बणे शुभाः ।
सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान् ॥८६॥

ये सभी लेप वातपित्तप्रधान विसर्प में शुभ (होते हैं)। कफप्रधान विसर्प में हितकर अन्य लेपों को (मैं अब) कहूँगा।

कफविसर्पनाशकप्रलेप

त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गां करवीरकम् ।
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत् ॥८७॥

हरड़-बहेड़ा-आमला, पद्माख, खस, लज्जावन्ती, कनेर, नरसल की जड़ें तथा अनन्तमूलों के प्रलेप को करे।

खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम् ।
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं हितम् ॥८८॥

कत्था, सप्तपर्ण तथा मोथा, अमलतास, धव, पियाबांसा, देवदारु (इनका) आलेपन हितकर (होता है)।

आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मातकस्य च ।
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च ॥८९॥
शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियंगुकाम् ।
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च ॥९०॥
प्रपौण्डरीकं ह्रीवेरं दार्वीत्वङ् मधुकं बलाम् ।
पृथगालेपनं दद्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा ॥९१॥
प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः ।
वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताधिकाः ॥९२॥

१—अमलतास के पत्तों को तथा लिसोड़े की छाल को, २—सम्हालू के पत्ते, सेम तथा सिरस के फूलों को ३—सिवार, नरसलकी जड़ों, शतावरी, गन्ध प्रियंगु को ४—त्रिफला, मुलहठी, शतावरी तथा सिरस के फूलों को ५—पुण्डरीक, सुगन्धवाला, दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, बला को अलग-अलग दो-दो मिलाकर अथवा सभी को मिलाकर आलेपन देवे।

ये सभी प्रदेह (कफज विसर्प में) थोड़ा घी लगाकर देने चाहिए। वात-पित्त प्रधान जो (विसर्प हों) तो वे प्रदेह अधिक घृत के साथ (देवे)।

घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा ।
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥९३॥
पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा ।
वातासृक्पित्तबहुलं वीसर्पं बहुशः पृथक् ॥९४॥

वैद्य वातरक्तपित्तबहुल वीसर्प को केवल शतधौत घृत से लेप करे।

सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः ।
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः ॥९५॥

जो प्रदेह (योग ऊपर कहे गये हैं) वे ही परिषेचन (douches के योग हैं तथा) वे ही घृत सिद्ध (करने के योग हैं) वे चूर्ण योग (भी हैं जो) विसर्प व्रणों के अवचूर्णन (dusting powders भी हैं)।

दूर्वास्वरससिद्धं वा घृतं स्याद्व्रणरोपणम् ।
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णनम् ॥९६॥
पटोलं पिचुमर्दश्च त्रिफलामधुकोत्पलम् ।
एतत् प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणचूर्णं प्रलेपनम् ॥९७॥

अथवा १—दूब के स्वरस से सिद्ध घी व्रणरोपण है। २—दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, लोध और केशर अवचूर्णन (का काम करती है) ३—पटोलपत्र, नीम तथा त्रिफला, मुलहठी, नीलोफर,

---

× इन्द्राणिशाकं सघृतं शिरीषत्वग्बलाघृतम् ।
—चक्रपाणिदत्त ।

यह प्रक्षालन (के लिये क्वाथ बनाने के लिए), घृत (निर्माण), व्रण के लिए चूर्ण, प्रलेपन (सभी कुछ बनाया जा सकता है)।

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्त्तव्याः सम्प्रसादनाः ।
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥९८॥
अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः ।
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृते घनाः ॥९९॥

रक्तपित्त को शुद्ध करने ये सभी लेप करने चाहिए। पूर्व किए लेप को उखाड़ कर बारबार प्रयोग करना चाहिए। पूर्व लेप बिना धोये उतारने पर बार बार अघन (पतले) लेप देने चाहिए। कफज विसर्प में पूर्व लेप को शुष्क अवस्था में उतारने पर घने प्रलेप लगाने चाहिए।

त्रिभागांगुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः ।
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥१००॥

प्रलेप अंगूठे की चौड़ाई के तीसरे भाग जितना मोटा कल्क जैसा पीसा गया न अधिक चिकना न रूक्ष, न तो पिण्डाकृतिक, न तरल (पतला) देना चाहिए। (किन्तु) समान (होना चाहिए)।

न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् ॥१०१॥

बासी लेप को कभी न लगावे और उसी ही (एक बार लगे हुए) लेप को फिर से (दुबारा) कभी न लगावे।

क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णाभावात् प्रवर्तयेत् ।
लेपोह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥१०२॥
स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते ।

कपड़े के ऊपर किया गया लेप गरमी रुक जाने से क्लेद विसर्प और शूल उत्पन्न करता है तथा व्रण का स्वेदन करता है। उसके स्वेद से उत्पन्न फुंसियां तथा कण्डू भी उत्पन्न होजाता है।

उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते ॥१०३॥
तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः ।

लेप के ऊपर ऊपर (दूसरा) लेप लगाया जाता है तो उन दोषों को ही (यह) उत्पन्न करता है जो कपड़े पर लगाने के कारण होते हैं।

अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते ॥१०४॥
त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ्न दोषं शमयत्यपि ।

अत्यन्त चिकना तथा अत्यन्त पतला जो लेप लगाता है वह त्वचा में ठीक चिपकता नहीं है तथा दोष को भी शान्त नहीं करता है।

तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यापुटायते ॥१०५॥
न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति ।

पतला लेप (भी) न करो (क्योंकि वह) सूखकर फट जाता है और न ओषधि का रस रोगी को प्राप्त होता है परन्तु सूख जाता है।

तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद्भृशम् ॥१०६॥
संशुष्कः पीडयेद्व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः ।

किया हुआ स्नेहरहित पतला लेप जो दोष कहे हैं उन्हीं को बहुत अधिक उत्पन्न करता है क्योंकि सूखा हुआ लेप व्याधि का पीडन करता है।

वक्तव्य—(३६३) आचार्य ने प्रलेप के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम बना दिये हैं कि लेप न बहुत गाढ़ा किया जाय न बहुत पतला। कफज वीसर्प में लेप गाढ़े हो सकते हैं। लेप की साधारणतः मोटाई रोगी के अंगूठे की चौडाई का १/३ मानी गई है। लेप थोड़ी थोड़ी देर बाद पुनः करना चाहिए। जिस प्रकार त्वचा के नीचे सुई से प्रविष्ट दवा सर्व-शरीर में प्रभाव दिखाती है उसी प्रकार प्रलिप्त ओषधि भी त्वचा द्वारा चूसी जाकर सारे शरीर में प्रभाव करती है। लेप न अधिक स्निग्ध न अधिक रूक्ष ही होना चाहिए न पिण्डभूत न जलवत्। बासा लेप चढ़ाना या कपड़े पर लगा चढ़ाना भी निषिद्ध है। एक लेप को बिना छुडाए दूसरा उस पर लेप चढ़ाना भी अनुचित है। तनु, शुष्क या स्नेहरहित लेप भी हानिकारक माने गये हैं।

विसर्प--पथ्य

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये ॥१०७॥
लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः ।
मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः ॥१०८॥
सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना ।
तर्पणैर्यशालीनां सस्नेहा चावलेहिका ॥१०९॥

विसर्पों की निवृत्ति के लिए (मैं) अन्नपानों को कहूँगा। लंघित के लिए रूक्ष, मधु-शर्करासहित, मधुर, थोडा खट्टा अथवा अनार आमलों से युक्त, फालसा मुनक्कासहित खजूरसहित तथा उबाले हुए जल से बनाया गया मन्थ हितकर (होता है)। जौ तथा शालि चावलों के तर्पण से घृतयुक्त चाटने योग्य अवलेहिका (चटनी देवे)।

जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम्।
मुद्गान् मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत् ॥११०॥
अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह।

(अवलेहिका के) पच जाने पर पुराने शालिचावलों का भोजन यूषों के साथ खावे। यूषों के लिए मूंगों, मसूरों तथा चनों को अनार से खट्टा बनाकर विना खट्टा किया हुआ अथवा पटोलपत्र तथा आमलों के साथ तैयार करे।

जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत् ॥१११॥
रूक्षान् परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान्।

और जाङ्गलजीवों के रूक्ष (स्नेहरहित) मांसों के रसों को फालसा-अंगूर-अनार-आमले डालकर उसका निर्माण करे।

रक्ता श्वेता महाह्वाश्च शालयः षष्टिकैः सह ॥११२॥
भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिप्लुताः।

पुराने भले प्रकार मांड से परिप्लुत लाल, सफेद, महा नामक शालि चावल साठी के चावलों के साथ भोजन के लिए प्रशस्त हैं।

यवगोधूमशालीनां सात्म्यमेव प्रदापयेत् ॥११३॥
येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः।

जौ, गेहूँ, शालि चावलों (में से जो) सात्म्य ही हो, जिनको शालि चावल उचित नहीं तथा जो अधिक कफ से पीड़ित है,उनको गेहूँ जौ शालियों में जो सात्म्य है उसे ही देवे।

विसर्प-कुपथ्य

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवाः ॥११४॥
क्रोधव्यायामसूर्याग्नि प्रवातांश्च विवर्जयेत्।

विदाहकारक तथा विरुद्ध अन्न तथा पानों को, दिवास्वप्न को, क्रोध, व्यायाम, धूप, अग्नि और प्रवात (इनको) छोड़ दे।

दोषभेद से विसर्पचिकित्सासूत्र

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके ॥११५॥
रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके।

इस चिकित्सा में से पैत्तिक विसर्प में शीत-प्रधान (चिकित्सा), कफजन्य विसर्प में रूक्षप्रधान (चिकित्सा) और वातजन्य विसर्प में (स्नेहप्रधान चिकित्सा) करनी चाहिए।

वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पणे हितम् ॥११६॥
कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते।

अग्निविसर्प में वातपित्तशामक तथा कर्दम विसर्प में कफपित्तशामक (चिकित्सा) प्रायः हितकर होती है।

ग्रन्थिवीसर्प चिकित्सा

रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थवीसर्पमादितः ॥११७॥
रूक्षणैर्लङ्घनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्कलैः।
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः ॥११८॥
घृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत्।
ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते ॥११९॥
वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम्।
उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहाः प्रशस्यते ॥१२०॥
स्निग्धाभिवशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनाम्।
दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत् ॥१२१॥
कुष्ठतैलेन चोष्णेन पाक्यक्षारयुतेन च।
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत् ॥१२२॥

कालवेत्ता वैद्य ग्रन्थिवीसर्प को रक्तपित्त प्रधान देखकर आरम्भ से रूक्षण (उपायों) से, लंघनों से, सेकों से, प्रलेपों से, पञ्चवल्कलों से, जोंकों से वमन (योगों) से, विरेचनों सहित कषायतिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृतों से उपचार करे। वमन तथा विरेचन से शुद्ध करने पर तथा रक्त का मोक्षण कराने पर ग्रन्थि-विसर्प के रोगियों में वातकफनाशक चिकित्सा (होती है)। ग्रन्थिविसर्प के शूलवालों के लिए

गरम तथा स्निग्ध उत्कारिकाओं से अथवा वेशवारों से उपनाह प्रशस्त होता है।

दशमूल से सिद्ध किए उष्ण तैल से तथा यवक्षारयुक्त उष्ण कुष्ठतैल से अथवा उष्ण गोमूत्र से या वातकफघ्न पत्तों के क्वाथों से परिषेक करे।

सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया चाश्वगन्धया।
शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा ॥१२३॥
विभीतकत्वचां वाऽपि कल्केनोष्णेन लेपयेत्।

अथवा सुहाते गर्म अश्वगन्धा के पीसे हुए प्रदेह द्वारा सूखी मूली के कल्क से, अथवा नक्तमाल (करंज) की छाल के क्वाथ से अथवा बहेड़े की छाल के गरम कल्क से लेप करे।

बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं विभीतकम् ॥१२४॥
वंशपत्राण्यग्निमन्थं कुर्याद्ग्रन्थिप्रलेपनम्।

बला, नागबला, हरड़, भोजपत्र की गांठ, बहेड़ा, बांस के पत्ते, अरणी इनके कल्क को ग्रन्थि पर प्रलेप करे।

दन्ती चित्रकमूलकत्वक् सुधार्कपयसी गुडः ॥१२५॥
भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि।
बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिं किं पुनः कफ सम्भवम् ॥१२६॥

दन्ती, चित्रकमूल की छाल, शहद, आक, दूध, गुड़, भिलावों की गुठली, कासीस का लेप शिला को भी फोड़ देता है। तो फिर बाह्यमार्ग (त्वचा मांस में) स्थित कफजग्रन्थि (के लिए) क्या (आश्चर्य हो सकता है ?)।

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः।
मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः ॥१२७॥
गोधूमान्नैर्यवान्नैश्च ससीधुमधुशर्करैः।
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ॥१२८॥
त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः।
मुस्तभल्लातशक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥१२९॥
देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च।
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ॥१३०॥
अयोलवणपाषाणहेमताम्रप्रपीडनैः।

अथवा दीर्घकाल से स्थित ग्रन्थि को इन (अधोलिखित) औषधियों से फोड़े १—मूली-कुलथी (इनके) जवाखार अनार सहित यूषों से; २—सीधुमधुशक्कर (तीन) के साथ गेहूं तथा जौ के अन्नों से, ३—शहद सुरामण्ड चकोतरा के रसों के साथ; ४—पिप्पली मधु मिलाकर त्रिफला के प्रयोगों से, ५—मोथा भिलावे, सत्तू तथा शहद के प्रयोगों से, ६—देवदारु, गिलोय दोनों के तथा शिलाजतु के प्रयोगों से, ७—पूर्वोक्त गुल्मभेदक धूमों तथा शिरोविरेचनों से, ८—लोहा-नमक-पत्थर-सोना-तांबा (के द्वारा) प्रपीडन (दबाने) से।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः ॥१३१॥
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति।
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लोहेन वा हितः ॥१३२॥

जब इन विविध सिद्ध बलवान् (और) स्थिर क्रियाओं से पाषाणवत् कठिन ग्रन्थि शान्त नहीं होती है तो इसको क्षारकर्म से बाण अथवा लोह (धातु) से जलाना हितकर (है)।

पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत्।
मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ॥१३३॥
पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम्।
धूमोविरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ॥१३४॥

अथवा पकाने वाले द्रव्यों से पकाकर पाटन (काट) करके निकाले। उससे उत्क्लिष्ट हुए रक्त को बारबार निकालदे और फिर निकाले हुए रक्त में (बाद को) वातकफघ्न औषध, धूमपान, शिरोविरेचन स्वेदन (और) अभ्यंग या मर्दन (करना चाहिए)।

अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते।
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः।
बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत् ॥१३५॥

अथवा दोष में शान्ति नहीं आती है (तो) उसको पकाना प्रशस्त है। वैद्य दाहपाक दोनों से युक्त अत्यन्त क्लिन्न हुई (softened) ग्रन्थि को बाह्य आभ्यन्तर चिकित्साओं से व्रण के समान शोधन-रोपणादि से उपचार करे।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वी कारञ्जकं फलम् ।

पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ॥१३६॥

कबीला, वायविडंग, दारुहल्दी, कञ्जा के फल पीसकर तैल पकाना चाहिए (यह) ग्रन्थिव्रण चिकित्सा (है)।

द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत् ।

देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः ॥१३७॥

द्विव्रणीय में कही चिकित्सा के द्वारा विसर्पजन्य व्रणों को देशकालविभागवेत्ता बुद्धिमान् वैद्य ठीक करे।

वक्तव्य–(३६४) ग्रन्थिविसर्प कफ द्वारा वायु के अवरोध द्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् कफवातज व्याधि है। इसमें सिरा स्नायु मांस त्वचा के आश्रित रक्त को दूषित करके ग्रन्थियों की माला सी बनती है। इसमें कई प्रकार के उपद्रव भी रहते हैं। इसकी चिकित्सा करने के लिए वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् इस वाक्य को नहीं भूलना चाहिए। पर यह वातकफ की क्रिया तभी लाभकारी होगी जब वमन विरेचन रक्तमोक्षण के द्वारा रोगी शुद्ध कर लिया गया होगा। रक्तपित्त की प्रधानता होने पर शामक द्रव्य देना चाहिए। शूल होने पर पुल्टिस बांधने का विधान है। विविध तैलों गोमूत्र या क्वाथों से परिषेक करना, तीक्ष्ण उष्ण भेदक प्रयोगों से पहले ग्रन्थि पकाकर छोड़ देना चाहिए तब फिर रक्त के उत्क्लेश को रक्तमोक्षण द्वारा जीतकर फिर व्रणवत् शोधनरोपणी चिकित्सा करनी होगी। जहां ग्रन्थि पकती नहीं वहां क्षार-अग्नि या शस्त्रकर्म का प्रयोग करना चाहिए।

गलगण्डचिकित्सा

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये ।

स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ॥१३८॥

गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुगता नृणाम् ।

घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ॥१३९॥

जो ही विधि ग्रन्थियों की निवृत्ति के लिए कही गई है वही कफज गलगण्डों की निवृत्ति के लिए (भी देना चाहिए)। मनुष्यों को जो गलगण्ड वातजन्य तथा कफ के अनुबन्ध वाले होते हैं वे घृत दुग्ध-कषाय (इन) के अभ्यास करने से नहीं रहते।

वक्तव्य -(३६५) ग्रन्थियों के पश्चात् गलगण्ड (goitre) का इङ्गित मात्र कर दिया गया है।

विसर्प में रक्तमोक्षण

यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये ।

एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥१४०॥

विसर्पों के निवारण के लिए जो कर्म कहे गये हैं वे सब एक ओर हैं (और अकेला) रक्तमोक्षण एक ओर (है)।

विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते ।

तस्मात् साधारणं सर्वमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ॥१४१॥

रक्तपित्त के संसर्ग के बिना विसर्पोत्पत्ति नहीं होती इस कारण से यह चिकित्सा (जो यहां) कही गई है वह सब (विस्तार से) साधारण है।

विशेषो दोषवैषम्यान्न च नोक्तः समासतः ।

समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत् ॥१४२॥

और दोषवैषम्य के कारण विशेष चिकित्सा भी संक्षेप से नहीं कही ऐसा नहीं है अर्थात् विशिष्ट दोषानुसार चिकित्सा को संक्षेप से ही कहा गया है। (इस प्रकार) संक्षेप (या) विस्तार से निर्दिष्ट (विसर्प-नाशक) चिकित्सा को विद्वान वैद्य प्रयोग में लावे।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकाः

निरुक्तं नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः ।

आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ॥१४३॥

लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवाः ।

साध्यत्वं न च साध्यानां साधनं च यथाक्रमम् ॥१४४॥

इति पिप्रक्षवे सिद्धिमग्निवेशाय धीमते ।

पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम् ॥१४५॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)—

निरुक्ति, नामभेद, दोष, दूष्य, हेतु, आश्रय, मार्ग के अनुसार विसर्प की गुरुता, लघुता और लक्षण और जो उपद्रव साध्यता असाध्यता, और यथाक्रम साध्य की चिकित्सा इस प्रकार पूछने वाले बुद्धिमान् अग्निवेश के लिये (भगवान्) पुनर्वसु ने

विसर्प की यह चिकित्सा और सिद्धि कही है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थाने विसर्परोगचिकित्सितं नाम एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत शास्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति के) अप्राप्ति पर दृढबल द्वारा सम्पूरित चिकित्सास्थान में विसर्परोग चिकित्सित नाम का इक्कीसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

द्वाविंशोऽध्यायः

तृष्णा चिकित्सा

अथातस्तृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) तृष्णाचिकित्सा (नामक अध्याय) का व्याख्यान करेंगे ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

ज्ञानप्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः।
तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ॥२॥

जगत के हित में तत्पर ज्ञानप्रशम (तथा) तप (इन) से विख्यात अत्रि के पुत्र ने पांचों तृष्णाओं की शान्ति के लिए चिकित्सा (अध्याय) कहा।

तृष्णा—निदान तथा सम्प्राप्ति

क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥३॥
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः।
पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः ॥४॥
रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः।
संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ ॥५॥

क्षोभ से, भय से, श्रम से भी, शोक से, क्रोध से, लंघन करने से, मद्य से, क्षार-अम्ल-कटु-उष्ण रूक्ष-शुष्क अन्नसेवन करने से, धातुक्षय, रोगोत्तरदौर्बल्य, वमनादि के अतियोग (तथा) सूरज की धूप से पित्त वात दोनों बढ़कर सौम्य (जलीय) धातुओं को सुखा

देते हैं। महाबलशाली ये दोनों मनुष्यों के रसवाहिनी, धमनी, जिह्वामूल, गला, तालु तथा क्लोम को सुखाकर तृष्णा को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—(३६६) वात और पित्त को बढ़ाने वाले जो भी कारण हैं वे पानी को सुखाते हैं। लोक में हवा जितनी जल्दी पानी को उडा लेजाती है गर्मी भी उतनी ही सफाई से पानी को भाप बनाती है। जो लोक में वही शरीर में होता है। शारीरिक ऊष्मा जब बढ़ती है रोगी प्यासा डकराता है। वायु की वृद्धि होने पर

जो खुश्की उत्पन्न होती है वह भी प्यास बढ़ाने में कम महत्व की नहीं देखी जाती। वात और पित्त जितनी सौम्यता से बढ़ेंगे उतनी ही प्यास की तीव्रता कम रहेगी। आयुर्वेद तृष्णा की उत्पत्ति में रसवाहिनी, धमनी, जिह्वामूल, गला, तालु तथा क्लोम इन छै में से किसी में या सबमें प्रभाव स्वीकार करता है। अधिक जल शोषण (डिहैड्रेशन) का परिणाम रसवाहिनियों और धमनिकाओं पर पड़ा ही करता है। क्लोम ग्रन्थि एक स्पष्ट अङ्ग है जिसकी ओर निर्देश किया गया है इसे स्थूलरूप से आचार्य पहचानते थे इसे हम आजकल पैन्क्रियाज कह सकते हैं। पैनक्रियाज जहां अग्न्याशय है वहां क्लोम भी है। क्लोम की विकृति (जो उसके अन्तःस्रावी तरल में उत्पन्न इन्सूलीन) के कारण जहां मधुमेह में रोगी घोर तृष्णा के कारण चिल्लाता है वहां अग्निरस (pacreatic juice) के द्वारा ग्रहणी में भोजन पाचन का कार्य भी करता है। क्लोम की विकृति तीव्र क्षुधा का भी कारण होती है। अस्तु, तृष्णा और क्लोम आपस में बहुत बड़ा सम्बन्ध रखते हैं।

पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम्।
घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ॥६॥

वे दोनों (वात और पित्त) पिये हुए जल को सुखाते रहते हैं इसलिए प्यास शान्त नहीं हो पाती, घोर व्याधियों से कृश हुए रोगियों में वह उपद्रव रूप से (भी) उत्पन्न होती है।

प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥७॥

मुखशोष (मुख का सूखना) पूर्वरूप (है) सदा जल की इच्छा रहना उसका अपना लक्षण (है)। तृष्णा के सब लक्षणों की लघुता (ही उसकी) अपाय (अविद्यमानता) है।

वक्तव्य— (३६७) स्वलक्षण से अभिप्राय तृष्णा के अव्यभिचार लक्षण से है। जैसे ज्वर का अव्यभिचार लक्षण सन्ताप का बढ़ना है वैसे ही तृष्णा का अव्यभिचार लक्षण पानी पीने की इच्छा का होना है। जहां लिङ्गानां लाघव कहा है वहां लिङ्ग बहुवचन में प्रयोग क्यों आया जब केवल एक ही स्वलक्षण दिया हुआ है? इसका उत्तर यह है कि आगे जो वक्ष्यमाण वातादि तृष्णाओं के लक्षण हैं उनका अभिप्राय लिया गया है।

चक्रपाणि ने लाघव का अर्थ आशूत्पाद (फुरती से) उत्पन्न होना लिया है और अपाय से मृत्यु लेकर तृष्णाओं के सब लक्षण जब तुरत-फुरत उत्पन्न होजाते हैं तो रोगी की मृत्यु निश्चित होजाती है ऐसा भी अर्थ किया है।

तृष्णा-उपद्रव

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसन्ताप प्रलापसंस्तम्भान्।
ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च ॥८॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम्।
तृष्णोद्भूता कुरुते

मुख सूखना, स्वरभेद, भ्रम, ताप बढ़ना, प्रलाप, जड़ता, तालु-ओष्ठ-कण्ठ-जीभ की कर्कशता (खुरदरापन), चित्तनाश (चेतना का ह्रास), जीभ का बाहर निकलना, अरुचि, बधिरता, मर्मों का दूखना, अवसाद (ये उपद्रव) उद्भूत (बढ़ी हुई) तृष्णा करती है।

नोट—यह आवश्यक नहीं कि सब तृष्णाओं में सम्पूर्ण उपद्रव मिलें पर इनमें से कोई थोड़े या सभी देखे अवश्य गये हैं।

पञ्चविधां लिङ्गतः शृणुतः ॥९॥

पांच प्रकार की उस तृष्णा को लक्षणों से (तू) सुन—

वातज तृष्णा

अब्धातुं देहस्य कुपितः पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥१०॥
निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च।
स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ॥११॥

सम्प्राप्ति—शरीर के जलीय धातु को प्रकुपित हुआ वायु जब सुखा देता है तब उसके सूखने पर दुर्बल पुरुष सूखता हुआ वह तृष्णा को प्राप्त होता है।

लक्षण—अनिद्रा, शिर में भ्रम तथा मुख की विरसता तथा शुष्कता और स्रोतोवरोध इस प्रकार (ये) वाततृष्णा के लक्षण (हैं)।

पित्तजतृष्णा।

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत्तापयत्यपां धातुम्।
सन्तप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ॥१२॥
तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा।
पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ॥१३॥

सम्प्राप्ति—पित्त को आग्नेय माना गया है। कुपित (हुआ पित्त) यदि (शरीरस्थ) जल धातु को तपाता है तो तपी हुई वह (जल धातु) मनुष्यों की दाहप्रधान तृष्णा को उत्पन्न कर देता है।

लक्षण—मुख की तिक्तता, शिर में दाह, शीत की इच्छा, मूर्च्छा, मलमूत्रनेत्रों का पीला होना पित्तज तृष्णा का लक्षण है।

आमजतृष्णा

तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥१४॥

जो तृष्णा आम से उत्पन्न (है) वह भी आम पित्त (कच्चे पित्त) से उत्पन्न होने के कारण आग्नेय (होती है) उसका लक्षण अरुचि, आध्मान तथा कफ का प्रसेक (होना है)।

क्षयजतृष्णा

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्यक्षयाच्च तृष्येद्धि।
दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः ॥१५॥

शरीर रस से उत्पन्न होता है, और रस जल से उत्पन्न होता है उसके क्षय से तृषा होती है। (वह) दीन स्वरवाला होती है। अन्धकार का अनुभव करता हुआ (उसके) हृदय-गला और तालु शुष्क (हो जाते हैं)।

वक्तव्य—(३६८) रसक्षयजन्य तृष्णा का स्वरूप यहां बतलाया गया है। सम्पूर्ण शरीर का आप्यायन और तर्पण एलाताम्बूल, क्षीरदधि, केदारीकुल्या या खले कपोत न्याय से रसधातु करती है। शरीर के निर्माण में रसधातु का जो भाग है वह शेष दूष्यों में किसी का भी नहीं है। इस रस का निर्माण प्रमुखतया जल के द्वारा होता है। शरीर में जब इस रसधातु की कमी होगी तो उसका अर्थ शरीर में जलाभाव (डिहैड्रेशन) का होना होगा। रसाभाव और जलाभाव दोनों एक दूसरे के यहां पर्याय होने से चिकित्सा में चाहे नमक जल चढ़ावे या प्लाज्मा चढ़ावे परिणाम एक ही होता है। रसाभावजन्य तृष्णा वमन विरेचनातिरेक से, हैजा में या अन्य उसी प्रकार के रोगों में देखी जाती है।

उपसर्गजतृष्णा

भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा।
ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥१६॥

ज्वर, प्रमेह, यक्ष्मा, शोष (सूखा रोग) श्वास आदि से युक्त शरीरधारियों की जो तृष्णा होती है वह अवश्य ही शोषण करने वाली होती है।

वक्तव्य—(३६९) उपसर्गजन्य तृष्णा के द्वारा आचार्य ने विविध रोगों में उत्पन्न होने वाली उपद्रवरूप तृष्णा का समावेश किया है। ज्वर के उत्ताप की वृद्धि होने से प्यास का वेग बढ़ना, डाइबिटीज में प्यास की तीव्रता, क्षय शोषादि में रसक्षय से प्यास लगना, श्वास बढ़ने पर फेंफड़े से वाष्प रूप जल के अधिक जाने के कारण उत्पन्न प्यास कोई असाधारण घटना नहीं है। इसके अतिरिक्त निम्न रोगों में प्यास एक महत्त्व का लक्षण है।

१—ज्वर और सज्वरावस्था,
२—स्वाभाविक या विकृतिजन्य प्रस्वेदावस्था,
३—निरन्तर वमन,
४—प्रवाहिका,
५—उग्र रक्तपित्त,
६—आमाशय विस्तृति (gastrectasis),
७—मुखशोषकर पदार्थों या विषों का प्रयोग जिनमें बेलाडोना धतूरा मुख्य हैं,
८—लवण का अधिक प्रयोग,
९—सर्वाङ्ग शोफ (extensive oedema)।

असाध्य तृष्णा

सर्वास्वातिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥१७॥

रोग से कृश, निरन्तर वमन से पीडित व्यक्तियों की अत्यधिक बढ़ी हुई घोर उपद्रव से युक्त सब

तृष्णाओं को मृत्यु करने के लिये (उत्पन्न ऐसा) जानना चाहिए।

नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥१८॥

अग्नि (और) पवन के विना तर्ष (प्यास) नहीं होती। क्योंकि अत्यधिक बढ़े हुए ये दोनों ही शोषण में कारण हैं। जल का क्षय होने पर मनुष्य प्यासा होता है।

गुर्वन्नपयःस्नेहैः सम्मूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च।
यस्तृष्येद्वृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥१९॥

भारी खाना, दूध, चिकनाई (इन) के द्वारा उदर में परस्पर संयोग विभाग से एकता को प्राप्त होने से (उदर में व्याप्त होने के कारण) तथा विदाह के समय में मार्ग के आवृत होने पर जो प्यास से पीडित हो वहां भी अनिल (वायु) अनल (पित्त या अग्नि ही) कारण (मानना चाहिए)।

तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति।
शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम् ॥२०॥

तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष होने से मद्य वातपित्त दोनों को प्रकुपित करती है। वे दोनों ही मद्य पीने वालों की जलधातु का शोषण करते हैं।

तप्तास्विवसिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम्।
तेषां सन्तप्तानां हिमजलपानाद्भवति शर्म ॥२१॥

तपी हुई बालू में डाला गया जल शीघ्र सूख जाता है उन (मद्य पीने से) सन्तप्त हुए प्राणियों का शीतल जलपान के कारण भी (वैसा) ही सुख होता है।

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति।
तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम् ॥२२॥

शीतल जल से स्नान किए पुरुष की अवरुद्ध ऊष्मा कोष्ठ में जाकर प्यास को उत्पन्न करती है उस कारण से गर्मी से पीडित सहसा शीतल जल का प्रयोग न करे।

वक्तव्य—(७०) इसी कारण ग्रामीण भारत आज भी धूप से चलकर आये हुए को तुरत न शीतल जल पिलाता है और न नहाने देता है। थोड़ी देर में ठण्डा होने पर जल दिया जासकता है।

लिङ्गं सर्व्वास्वेतास्वनिलक्षयपित्तजं भवत्यथ तु।
पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम् ॥२३॥

इन सब तृष्णाओं में लक्षण तो वात, जलक्षय (तथा) पित्तजन्य होते हैं। इसलिए अलग अलग शास्त्र के अनुसार मैं तृष्णाओं की चिकित्सा आगे कहूँगा।

तृष्णा-सामान्यचिकित्सा

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु।
तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत् ॥२४॥

जल (धातु) के क्षीण होने से व्याधि का संशोषण करके तृष्णा शीघ्र नष्ट कर देती है। इसलिए वर्षा का जल मधु डालकर अथवा अन्य उसी के गुण अनुकूल (पेय पदार्थ) पीवे।

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च।
अनभिष्यन्दि च यत्तत् क्षितिस्थितमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥२५॥

जो थोड़ा कषैले अनुरस वाला, पतला, हलका, ठण्डा, सुगन्धयुक्त तथा श्रेष्ठ रसयुक्त और अनभिष्यन्दि (हो) वह पृथिवी पर स्थित जल (भी) वर्षा के जल के समान जानना चाहिए।

शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन।
लाजासक्तुसिताह्वामधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम् ॥२६॥
वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात्।
पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम् ॥२७॥

अथवा उबाल ठण्डा करके मिश्री मिलाकर पूर्वोक्त तृणपञ्चमूल (देवे) अथवा वर्षा जल के साथ खील, सत्तू, मिश्री मधु युक्त मन्थ को (देवे) अथवा कच्चे जौओं का शीतल शहद मिश्री युक्त वाट्य देवे। अथवा शालि चावलों का अथवा कोदों की पेया देवे।

पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम्।
पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः ॥२८॥

गरम दूध के साथ या नमक खटाई रहित भी

में भूने पारावत आदि (पक्षियों के मांसरसों के साथ भोजन देना चाहिए)।

तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः प्रियालैश्च जाङ्गलाः सुकृताः
शस्ता रसाः पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत् ॥२९॥

तृणपञ्चमूल (शर, कास, कुश, ईख की जड़, धान की जड़) मुञ्जातक और चिरोंजी के साथ सुसंस्कृत जांगल जीवों के मांसरस प्रशस्त हैं। या उनसे सिद्ध किया हुआ शक्कर शहद युक्त दूध (प्रशस्त होता है)।

शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य।
मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु भृष्टा घृते देयाः ॥३०॥

शतधौत घी से अभ्यङ्ग किया व्यक्ति शीतल जल में अवगाहन करके दूध पीवे। तथा मूंग, मसूर तथा चने से उत्पन्न रस (यूष) घी में भून कर देना चाहिए।

मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम्।
पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम् ॥३१॥

मधु, जीवनीय द्रव्यों से युक्त, शीतल और तिक्त-द्रव्यों से उबाला दूध शक्कर शहद मिलाकर पान-अभ्यङ्ग-अञ्जन-सेक में इष्ट (प्रिय होता है)।

तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात्।
नारीपयः सशर्करमुष्ट्र्या अपि नस्यमिक्षुरसः ॥३२॥

उस (उपरोक्त प्रकार से सिद्ध दूध से निकाले गये) घी को पान, अभ्यङ्गादि तथा नस्य भी दिया जाता है। शर्करासहित स्त्रीदुग्ध, ऊँटनी के दूध, और ईख का रस को भी नस्य को (दे सकते) हैं।

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रसीधुमार्द्वीकैः।
वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥३३॥

दूध, गन्ने का रस, गुड़ का शर्बत, मिश्री, शहद, सीधु, मुनक्कों की शराब, तिन्तिडीक, चकोतरे के रसों के साथ (किए गये) गण्डूषतालुशोषनाशक (होते हैं)।

जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्चवल्कपञ्चाम्लैः।
हृन्मुखशिरःप्रदेहाः सघृता मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः स्युः ॥३४॥

जामुन, अम्बाड़ा, बेर, बेतस, पञ्चवल्कल (पीपल, बरगद, गूलर, पारस पीपल, पिलखुन), पञ्चअम्ल (बेर, अनार, तिन्तिडीक, चांगेरी, चूका) के साथ (तैयार) घी का हृदय, मुख शिर के लेप मूर्च्छा, भ्रम, (तृष्णा) को नष्ट करते हैं।

दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारी बीजपूरकैः शिरसः।
लेपो गौरवामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः ॥३५॥

अनार, कैथ, लोध्र से विदारीकन्द सहित चकोतरों से ताजे आमले घृत तथा कांजी मिलाकर शिर का लेप हितकर (होता है)।

शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च शक्तुभिर्लेपः।
मस्त्वारनालार्द्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥३६॥
शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः।
मौक्तिकक्षौमार्द्रनिवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणाञ्च ॥३७॥

सिवार, कीचड़ तथा कमल (इनसे) घी तथा खटाई सहित सत्तुओं से लेप, दधि मस्तु कांजी, भीगे कपड़े कमल, मणि, हार के स्पर्श, मोती जिसमें टंके हों रेशमी गीले वस्त्र पहनी हुई स्त्रियों के शीतल जल और चन्दन से भीगे स्तनतट हथेली आदि (अवयवों के) संस्पर्श (तृष्णा का नाश करते हैं।)

हिमवद्दरीवनसरित्सरोऽम्बुज—
पवनेन्दुपादपादपशिशिराणाम्।
रम्यशिशिरोदकानां
स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥३८॥

हिमालय की कन्दरा, वन, नदी सरोवर, कमल, पवन, शीतल चन्द्रकिरणें, रम्य शीतल जल का स्मरण तथा कथायें तृष्णानाशक होती हैं।

वक्तव्य—(२७१) ऊपर जितनी सामान्य चिकित्सा कही गई है वह सब वातशामक पित्तहर रूक्षता और ऊष्मा को हरण करने की दृष्टि से कही गई है।

तृष्णा वैशेषिकी चिकित्सा

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघुशीतं च वाततृष्णायाम्।
क्षयकासनुच्छृतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम् ॥३९॥
स्याज्जीवनीय सिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे।

वातजन्य तृष्णा में वातनाशक मृदु, लघु तथा शीतल अन्नपान, तथा क्षयकासनाशक द्रव्यों से उबाले गये दूध पीकर ऊपर से घृत सेवन वातज तृष्णा नाशक (होता है)। वातपित्तज तृष्णा में जीवनीय द्रव्यों से साधित दूध (तथा) घी (दिया जाता है)।

पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥४०॥
लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ।
मधुपक्वलोष्टमेव च जले स्थितं शीतलं पेयम् ॥४१॥

पैत्तिक तृष्णा में मुनक्का, सफेद चन्दन, खजूर, खस, मधु इनसे युक्त जल; लाल शालिचावल, खजूर, फालसे, नीलोफर, मुनक्का शहद (इनसे युक्त जल) तथा तप्त मिट्टी का ढेला जल में रखकर शीतल करके पीना चाहिए।

लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षुण्णः।
पक्वामलोष्टजलमधुसमायुतो मृन्मये पेयः ॥४२॥

लोध्र, मुलहठी, अञ्जन, नीलोफर सहित एक प्रस्थ लाल शालि चावल कूटकर मिट्टी के पात्र में तपाये हुए कच्ची मिट्टी के ढेले को बुझाकर ठण्डे किए जल में आलोडित करके शहद मिला पीना चाहिए।

वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः।
सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णमृदं कृष्णसिकतां वा ॥४३॥
तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम्।
अल्पपक्वशर्करामृतवल्ल्युदकं वा तृषां हन्ति ॥४४॥

बरगद, बिजौरा, बेंत के पत्ते, कुश, काश की जड़ें मुलहठी, इनके द्वारा सिद्ध जल में तपाकर अग्नि के समान लाल की हुई काली मिट्टी या काली बालू, या तपाये हुए नये खपड़े को बुझाकर निखरे हुए अच्छे जल को पिलावे। अथवा अल्प पक्व कंकड़ से बुझे गिलोय का रस तृषा को नष्ट करता है।

क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुमिश्राः।
शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः ॥४५॥

भूनी हुई मिट्टी (के ढेले से) युक्त क्षीरीवृक्षों के मधुर वर्ग के द्रव्यों के, शीतवीर्य पदार्थों के शक्कर शहद मिले शीतकषाय पैत्तिक तृष्णानाशक हैं।

व्योषवचाभल्लातकतिक्त-
कषायास्तथामतृष्णाघ्नाः।
यच्चोक्तं कफजायां
छर्द्यां तच्चैव कार्य्यं स्यात् ॥४६॥

तथा त्रिकटु, बच, भल्लातक और तिक्त द्रव्यों के कषाय आमजन्य तृष्णानाशक होते हैं। कफज वमन में जो कहा गया है वह भी (यहां) करना चाहिए।

स्तम्भारुच्यविपाकालस्य-
च्छर्दिषु कफानुगांतृष्णाम्।
ज्ञात्वा दधिमधु तर्पण-
लवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम् ॥४७॥

स्तम्भन, अरुचि, अविपाक, आलस्य (ये लक्षण) कफजन्य वमनों में जानकर दही, शहद का तर्पण नमक और गरम पानी के द्वारा वमन इष्ट (होती है)

दाडिममदनफलं वा-
ऽप्यन्यतमकषायमथ लेहम्।
पेयमथवा प्रदद्याद्
रजनीमधुशर्करायुतम् ॥४८॥

अनार और मदनफल या अन्य (वमनकारक) कषाय और लेह अथवा हल्दी शहद शर्करा युक्त पेय देना चाहिए।

क्षयकासेन तु तुल्याक्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम्।
क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत् ॥४९॥

व्यक्तियों की (रस) क्षय से उत्पन्न तृष्णा क्षयज कास के समान वह भयकारक (होती है)। इस कारण से क्षतक्षीण और शोष में हित करने वाले भेषज से उसको शान्त करे।

पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम्।
शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः ॥५०॥

मद्यपानजन्य तृष्णा से पीड़ित रोगी तो आधे जल से मिश्रित अम्ल, लवण, गन्ध से युक्त मद्य पान (करे)।

शीतल जल से स्नान किया हुआ प्यासा मद्य से युक्त या गुड से युक्त जल का पान (करे)

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम् ।
प्रपिबेद्गुरुणा तृषितो भुक्तेन तदुद्धरेद्भुक्तम् ॥५१॥

भोजन के रोध से उत्पन्न तृषित अथवा स्नेहपान के कारण प्यास से पीडित पतली यवागू पीवे।

गुरु भोजन द्वारा उत्पन्न तृषित उस भोजन को (वमन द्वारा) निकाल देवे।

मद्याम्बु वाऽम्बु कोष्णं वलवां-
स्तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा ।
मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम् ॥५२॥

मद्ययुक्त जल या उष्ण जल बलवान् तृषार्त पीकर (गुरु भोजन जन्य तृष्णा में) रोगी वमन करदे। अथवा पिप्पलीचूर्ण से मुख को विशद करके शर्करा युक्त मन्थ पीवे।

बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद्घृतं तृष्यमद्याच्च ।
सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चावलः स्निग्धान् ॥५३॥

तालुशोष होने पर बलवान् पुरुष तो वृष्य घी पीवे तथा वृष्य भोजन करे। तथा अबल घी से भूने दूध को तथा स्निग्ध मांसरसों को (पीवे)।

अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः ।
छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ॥५४॥

यहां अत्यन्त रूक्ष तथा दुर्बल रोगियों की तृष्णा को दूध शीघ्र शमन करता है। अथवा घी में भूने बकरे का शीतल मधुर हृद्य रस (उसे दूर करता है)।

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत् ।
तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात् ॥५५॥

स्निग्ध अन्न भोजन करने पर जो तृष्णा (होती है) उसको गुड के शर्बत से शान्त करे। मूर्च्छा से पीड़ित व्यक्ति की प्यास को रक्तपित्तनाशक पदार्थों से नष्ट करे।

शीतोदक विधान

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्त्रविषपित्ते ।
शस्तं स्वभावशीतं शृतशीतं सन्निपातेऽम्भः ॥५६॥

प्यास, जलन, मूर्च्छा, चक्कर, क्लान्ति, मदात्यय, रक्तपित्त, विष और पित्त में स्वाभाविकतया शीतल जल तथा सन्निपात में औटाकर शीतल किया जल प्रशस्त (माना जाता है)।

हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपार्श्वगलरोगे ।
कफवातकृते स्त्याने सद्यःशुद्धे च हितमुष्णम् ॥५७॥

हिचकी, श्वास, नवज्वर, प्रतिश्याय, घी पीकर, पार्श्व तथा गले के रोग में कफ वातजन्य रोग में स्त्यान (कफ के गाढ़ा होने पर) तथा संशोधनकर्म के तुरत बाद उष्ण जल हितकर (होता है)।

पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु ।
प्लीह्नि च तोयं न हितं काममसह्ये पिबेदल्पम् ॥५८॥

पाण्डु, उदररोग, प्रतिश्याय, प्रमेह, गुल्म, मंदाग्नि, अतीसारों में तथा प्लीहा में जल हितकर नहीं होता (जल की) असह्य इच्छा (होने पर) थोड़ा (सा) पीले।

पूर्वभियातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं कांक्षन् ।
न लभेत चेन्मरणमाश्वेव चाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा ॥५९॥

यदि पूर्वोक्त रोगों से पीड़ित तृष्णा से पीड़ित होकर जल की आकांक्षा रखता हुआ (रोगी) जल न प्राप्त करे तो शीघ्र ही मृत्यु या दीर्घकालीन रोग को (वह) प्राप्त कर लेता है।

तस्माद्धान्याम्बु पिबेत्तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम् ।
यद्वा तस्यान्यत् स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ॥६०॥

इस कारण से प्यास से व्याकुल हुआ रोगी शक्कर शहद सहित धान्याम्बु पीवे अथवा उसके रोग का जो अन्य सात्म्य पेय हो वह इष्ट (होता है)।

वक्तव्य—(३७२) 'तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी,' इस मन्त्र का सदैव स्मरण करते हुए प्यासे रोगी के पानी को कदापि नहीं रोकना चाहिए। जहां जलोदरादि में पानी देना निषिद्ध हो वहां दूध या मट्ठा पिलाना चाहिए। अन्यत्र धनियां मिला जल जो ऊपर बताया है लाभ करता है, रोग और रोगी के लिए जो सात्म्य हो उसी को पिलाना हितकर माना गया है। धान्याम्बु एक अतीव पित्तशामक है अतः तृष्णानाशक प्रयोग है।

तस्यां विनिवृत्तायां तज्जोऽन्य उपद्रवः सुखं जेतुम् ।
तस्मात्पूर्वं तृष्णां जयेद् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ॥६१॥

उस प्यास के निवृत्त होने पर उससे उत्पन्न उपद्रवों को जीतना सरल है। इस कारण से अन्य बहुत रोग होने पर भी सबसे पहले तृष्णा को जीते।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोक :—

हेतू यथाग्निपवनौ कृत्स्नः सोपद्रवं पञ्चानाम्।
तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनञ्चोक्तम् ॥६२॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)-
जैसे अग्नि वायु दोनों हेतु (तृष्णा को) करते हैं। (तथा) उपद्रवसहित पांच प्रकार की तृष्णाओं का अलग अलग लक्षण, असाध्यता तथा साधन (चिकित्सा) कह दी गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थाने तृष्णारोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति के) अप्राप्त होने पर दृढबल द्वारा सम्पूरित चिकित्सास्थान में तृष्णारोग चिकित्सित नामक बाईसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

त्रयोविंशोऽध्यायः

विष चिकित्सा

(Toxicology in Ayurveda)

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) विषचिकित्सित (नाम के अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगाँल्लिङ्गान्युपक्रमान्।
विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश निबोध मे ॥२॥

अग्निवेश! विष की पूर्वोत्पत्ति, गुणों, योनि, वेगों, लक्षणों तथा उपक्रमों को कहते हुए मुझसे भले प्रकार सुनो।

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः।
जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥३॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणः।
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ॥४॥

अमृत के लिए सुर-असुरों के द्वारा समुद्र में

मन्थन होने पर अमृतोत्पत्ति के पूर्व देखने में भयानक, प्रदीप्ततेज वाला चार दाढों वाला पिंगल (tawny)

वत्सनाभ

अहिफेन

कुचिला

कचूर
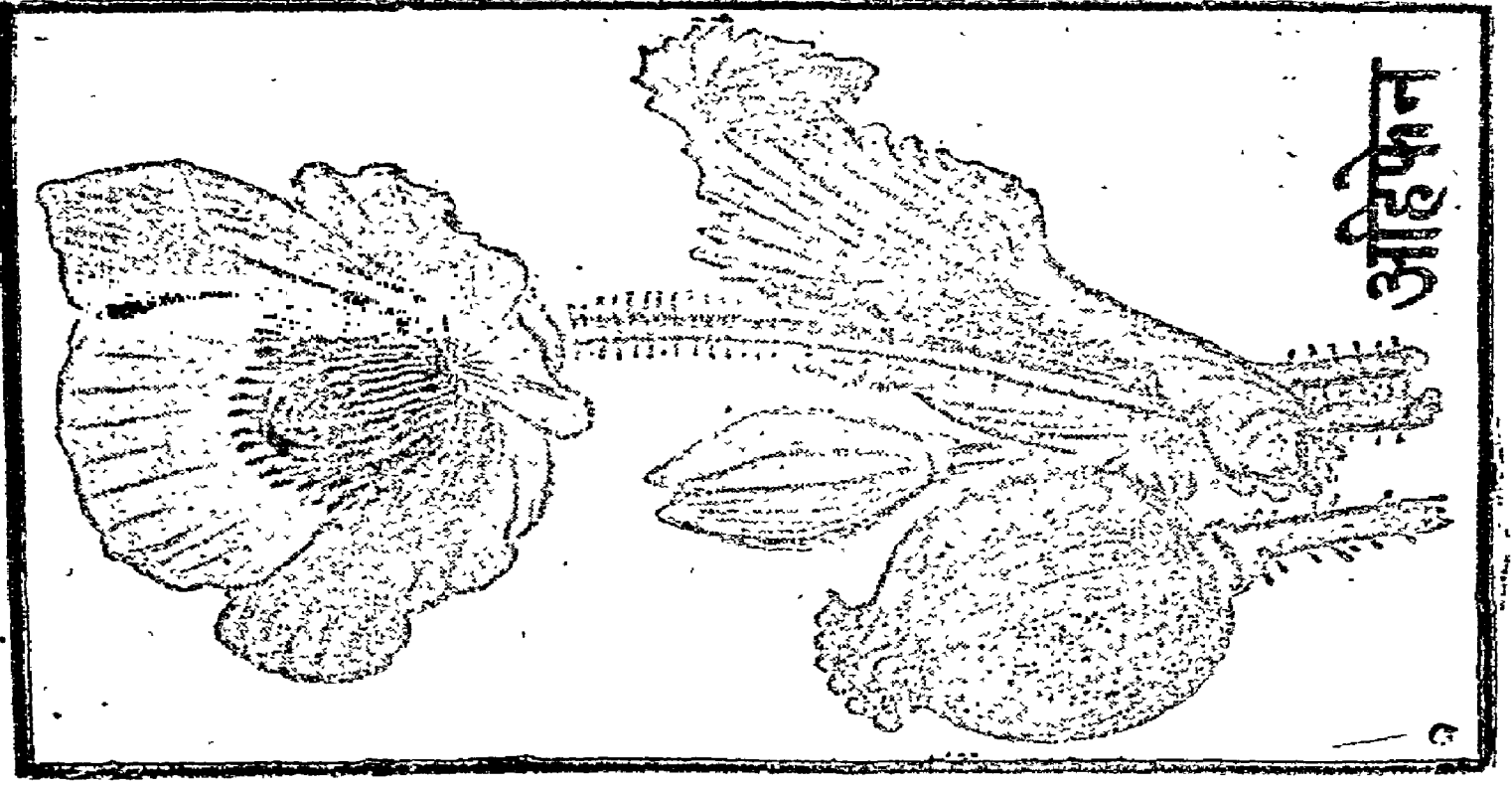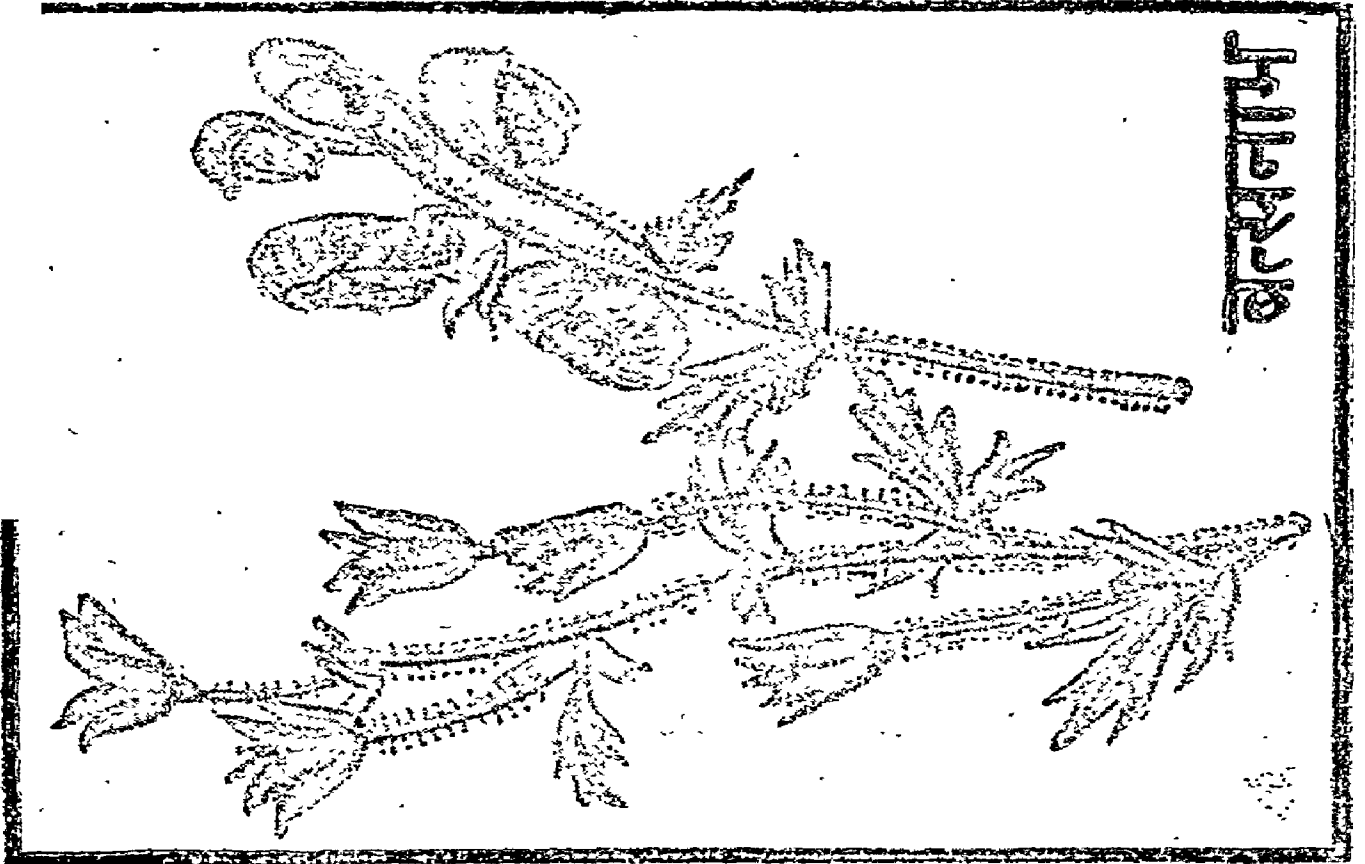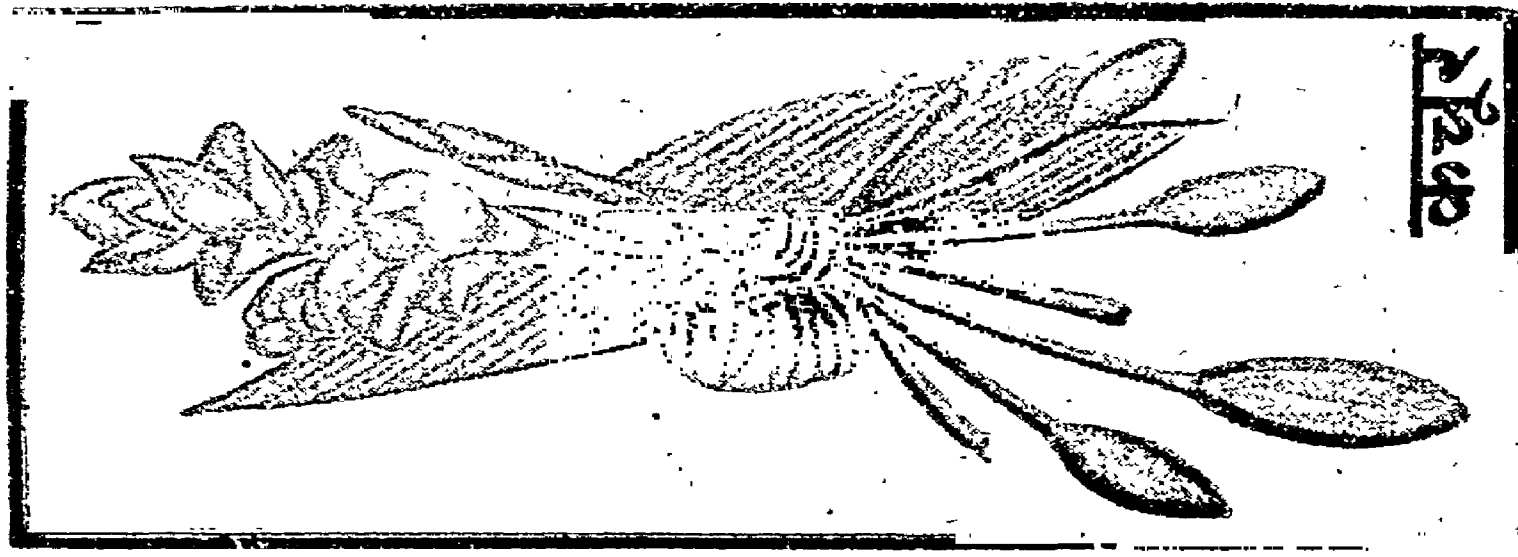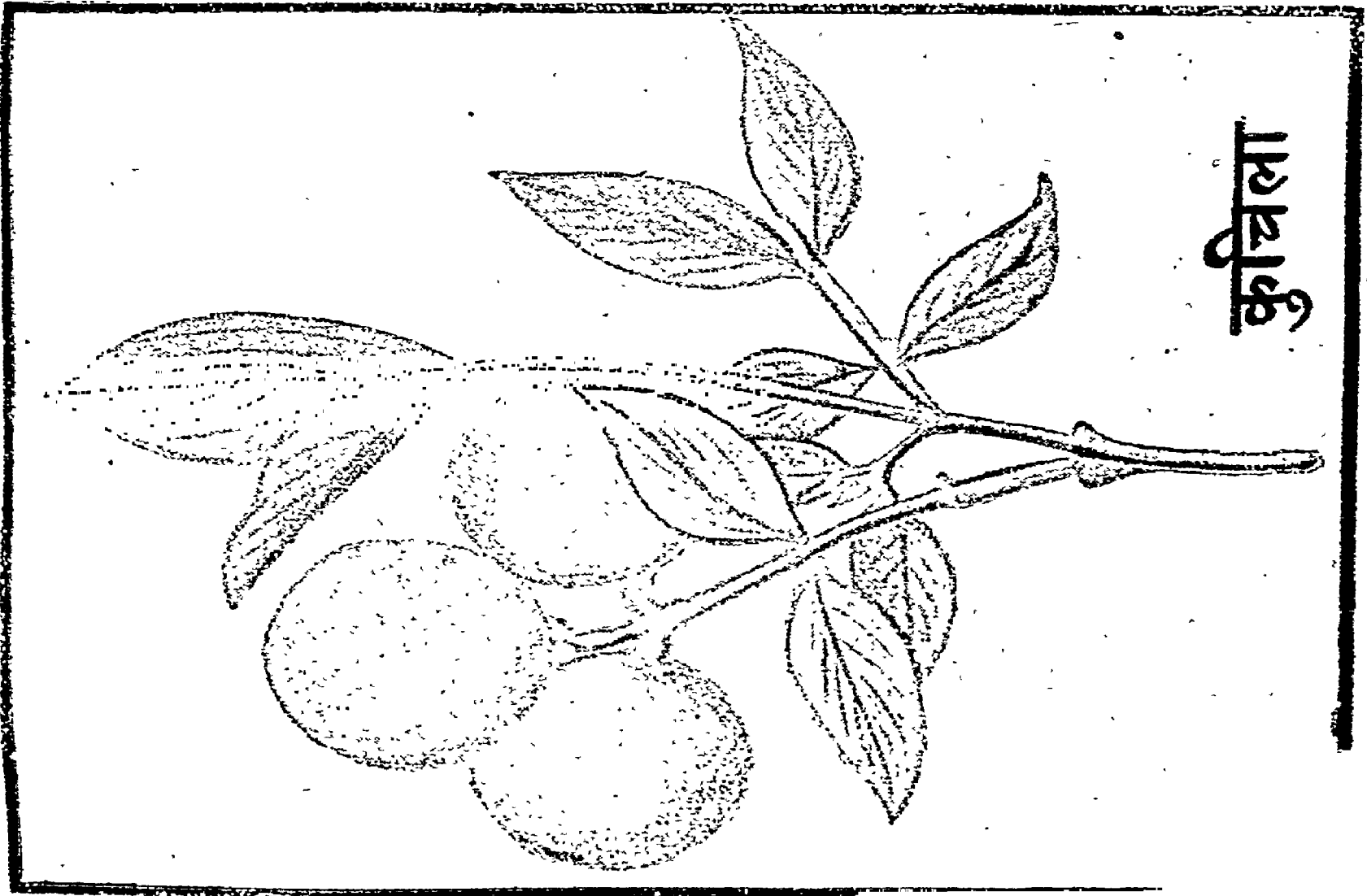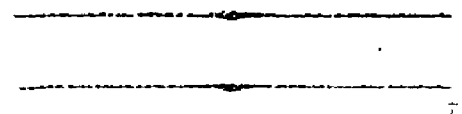
बालों वाला, और अग्नि जैसे नेत्र वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। उसको देखकर जगत् विषाद को प्राप्त हुआ इस कारण से वह विष (इस) संज्ञा द्वारा (पुकारा जाता है।)

वक्तव्य—(३७३) प्राचीन काल में देवपार्टी और दैत्यपार्टी इन दो दलों में बँटा हुआ समाज था। कहीं देवों की बहुसंख्या होने से वे राज्य करते थे कहीं दैत्यों का राज्य था दोनों वर्ग एक ही पिता और दिति-अदिति पृथक् माताओं से उत्पन्न थे अर्थात् निज निज भूमि का पार्थक्य और प्रभु-सत्ता प्राप्त जीवन इस प्रकार वे निवास करते थे। दोनों ने दीर्घ जीवन की कामना के लिए अपने अपने विज्ञानवेत्ताओं को समुद्र से अमृततत्व की प्राप्ति के निमित्त जुटा दिया। सबने असीम परिश्रम किया। परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि साक्षात् हाइड्रोजन बम के समान महान रैडियो ऐक्टिविटी रूप विष की उत्पत्ति हुई। इसका प्रभाव सारे संसार पर उसी प्रकार पड़ा जिस प्रकार. बीकिनी टापुओं के एटम बम विस्फोटों से जापान तक रेडियो ऐक्टिव लहरें पहुंची। भगवान् शङ्कर उस समय के महादेव सबसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक थे अतः उन्होंने तुरत अपनी विद्या से उसे कण्ठगत कर लिया। विषादकारी होने से वह विष कहलाया। उपरोक्त पौराणिक गाथा हमारे पूर्वजों के ऐटोमिक अनुसन्धानों की गाथा की ओर थोड़ा भीना सा आभास मात्र देती है।

भगवान् शङ्कर द्वारा विष को अपने अधिकार में कर लेने में तीन बातें मुख्य सहायक हुई—१ सिर पर गंगा जी की अजस्र धारा, २–माथे पर घोर शीतल चन्द्र तथा शरीर में सर्प। क्या इससे हम यह अनुमान न लगावें कि एटमबम या अन्य रैडियो ऐक्टिव पदार्थों से पीडित रोगियों से रक्षा आयुर्वेददृष्टि से सिर पर जल की वर्षा माथे पर हिम और सर्पविष दंशन द्वारा की जाने का स्पष्ट संकेत होरहा है। भावी काल हमें और भी रहस्यों का पता देगा।

जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्।
तम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावको पयम् ॥५॥
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम्।
तदवर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम् ॥६॥
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च।
प्रयातिमन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये ॥७॥

जङ्गम और स्थावर योनियों में उस (विष) को ब्रह्मा ने नियुक्त कर दिया। इसलिए अम्बु (जल से) उत्पन्न वह पावक (अग्नि की) उपमा वाला, दो प्रकार का, आठ वेग वाला, दस गुण तथा चौबीस उपक्रम (वाला है) (समुद्र से उत्पन्न होने के कारण) अम्बु योनि होने के कारण वर्षाऋतु में गुड के समान, क्लेद को प्राप्त होकर वह फैलने लगता है। जलधर बादलों के हट जाने पर अगस्त्य का तारा उसको नष्ट कर देता है। इसलिए शरद काल में विष मन्दवीर्यत्व को प्राप्त करता है।

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः।
जलौका मत्स्यमण्डूकाः कणभाः सर्पकण्टकाः ॥८॥
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः।
दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम् ॥९॥

सांप, कीड़े, चूहे, मकड़ियां, बीछू, छिपकलियां, जोंकें, मछली, मेंढक, कणभ, करकेंटा, कुत्ता, सिंह, व्याघ्र, गीदड़, लकड़भग्गा (hyena), न्यौला आदि ये जो दंष्ट्री (दांत डाढ़ वाले प्राणी हैं) उनकी डाढ़ से उत्पन्न विष जङ्गम माना गया है।

मुस्तकं पुष्पकं क्रौञ्चवत्सनाभं वलाहकम्।
कर्कटं कालकूटञ्च करवीरकसंज्ञकम् ॥१०॥
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेघकं कुशपुष्पकम्।
रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलकाञ्जनाभकम् ॥११॥
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा।
एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥१२॥

मोथा, पुष्पक (या पुष्करमूल), कौंच की फली, वत्सनाभ, वलाहक, कर्कट, कालकूट, तथा करवीर (कनेर) नामवाला, पालक, इन्द्रायुध, तैल, मेचक (या मेचक), कुशपुष्प, रोहिष, पुण्डरीक, लाङ्गली, अञ्जन की आभावाला (अञ्जनाभक), संकोच, मर्कट,

श्रृङ्गीविष, तथा हालाहल, और अन्य मूलजन्यविष स्थावर (होते हैं)।

वक्तव्य—(३७४) जङ्गम और स्थावर ये दो भेद आचार्य ने विषों के किए हैं। जीवधारी प्राणियों के विष जंगम और वनस्पतिवर्ग के विष स्थावर संज्ञक होते हैं। स्थावरों में कई नाम ऐसे हैं कि लक्षावधि वर्षों के दीर्घकाल में वे तिरोहित होगये। फिर भी पुण्डरीक, रोहिष,लाङ्गली आदि जो नाम हैं उनसे संदिग्ध पदार्थों की छांट में आसानी हो जाती है। पुण्डरीक अवश्य ही कोई तीक्ष्ण द्रव्य होगा रोहिष साधारण घास न होकर विषाक्त घास का नाम है लांगलीकन्द अवश्य जहरीला ही होना चाहिए ऐसा अनुमान उक्त नामनिर्देश मात्र से ही प्राप्त हो जाता है।

गरं संयोगजञ्चान्यत् गरसंज्ञं गदप्रदम्।
कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ॥१३॥

(स्थावर जङ्गम इन दो भेदों के अतिरिक्त) गर नामक एक (मानव द्वारा कृत्रिमतया) संयोग से उत्पन्न किया हुआ (एक) अन्य व्याधि प्रदाता (विष है)। विलम्ब से विपाकी होने के कारण शीघ्र प्राणों को नहीं हरता है।

वक्तव्य—(३७५) गर नामक पदार्थ एक संश्लेष्मात्मक पद्धति से (synthetically prepared) तीक्ष्ण द्रव्य रहा होगा। यह सविष और निर्विष द्रव्य संयोग के द्वारा दो प्रकार का बनता था। स्वयं विषाक्त उतना नहीं जितना रुजाकर यह होता है।

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहं सपाकं लोमहर्षणम्।
शोथञ्चैवातिसारञ्च कुरुते जङ्गमं विषम् ॥१४॥
स्थावरन्तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेणच्छर्द्यरुचिश्वासान् मूर्च्छाञ्च जनयेद्भृशम् ॥१५॥

जङ्गमविष लक्षण—निद्रा, तन्द्रा, क्लम, दाह, पाक सहित, रोमहर्ष, शोथ तथा अतीसार (इन लक्षणों) को जङ्गम विष करता है।

स्थावरविष लक्षण—स्थावर ज्वर तो ज्वर, हिचकी दन्तहर्ष, गलग्रह, झागदार वमन, अरुचि, श्वासों तथा मूर्च्छा को अत्यधिक उत्पन्न कर देता है।

जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागमधोभागन्तु मूलजम्।
तस्माद्दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मूलञ्च दंष्ट्रिजम् ॥१६॥

जङ्गम (प्राणिज चल) विष ऊर्ध्वभाग को, स्थावर मूल जन्यों के द्वारा उत्पन्न विष तो अधोभाग को गति करता है। इस कारण से दंष्ट्राविष मूलज (मौल) विष को नष्ट करते हैं। तथा मूल (विष) दंष्ट्रोत्थ जङ्गमविष (को नष्ट करते हैं)।

वक्तव्य—(३७६) जंगमविष मूलज को और मूलज जंगमविष के प्रभाव को नष्ट करते हैं। इस छोटे से वाक्य पर परकोत्तर कालीन रसचिकित्सा का विकास और प्रसार हुआ है। आयुर्वेद में विषों को औषध रूप में प्रयोग करने के लिए यह आधार वाक्य है। जो ज्वर विविध जीवाणुओं से उत्पन्न होता है उसका नाश वत्सनाभ इसी वाक्य के आधार पर करता है। जीवाणु या पराश्रित रोगाणु एक जानदार प्राणी है वह जङ्गम विष का उदाहरण है वत्सनाभ मूलज विष का अस्तु मूलज विष औपसर्गिक ज्वरों में डट कर कार्य करता है। संजीवनी का भल्लातक और वत्सनाभ हैजा और डिसेंट्री में इसी कारण विजय प्राप्त करते हैं।

तृण्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये।
वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद् द्वितीये तु ॥१७॥
वैवर्ण्यभ्रमवेपथुजृम्भामूर्च्छाङ्गभङ्गचिमिचिमातङ्काः।
दुष्ट पिशितात्तृतीये मण्डलकण्डूश्वयथुकोठाः ॥१८॥
वातादिजाश्चतुर्थे दाहच्छर्द्यङ्गशूलमूर्च्छाद्याः।
नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे ॥१९॥
षष्ठे हिक्का भङ्गः स्कन्धे स्यात्तु सप्तमेऽष्टमे मरणम्।
नृणां चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः ॥२०॥

विष के वेग—१-प्रथम वेग में रस दूषित होने से तृष्णा, मोह, दन्तहर्ष, प्रसेक, वमन, क्लम होते हैं। २-रक्त के दूषित होने से द्वितीय वेग में विवर्णता, भ्रम, कम्प, जृम्भा, मूर्च्छा, अङ्गभङ्ग, चिमचिमाहट (ये रोग होते हैं)। ३-तीसरे वेग में मांस के दूषित होने से, मण्डल, खुजली (prnritus) शोथ तथा कोठ ४-वातादि दोषों के द्वारा उत्पन्न चौथे वेग में दाह, वमन, अङ्गशूल, मूर्च्छा आदि, तथा ५-पांचवें वेग में नीले आदि रूप, तमस् के दर्शन; ६-छठे वेग में हिचकी ७-सातवें में स्कन्ध भङ्ग (कन्धे की पेशियों

का घात) तथा ८ आठवें में मनुष्य की तो मृत्यु होजाती है। पशुओं के ४ और पक्षियों के तीन प्रकार के वेग होते हैं—

आद्ये भ्रमति चतुष्पदोऽवसीदति ततः शून्यः।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु ॥२१॥
ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे प्रभ्राम्यति द्वितीये तु।
स्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम् ॥२२

आरम्भ में पशु चक्कर काटता है फिर अवसादित होजाता है तत्पश्चात् तीसरे वेग में शून्य तथा चतुर्थ वेग में अल्प आहार करने वाला श्वास के कारण मर जाता है। पक्षी पहले वेग में टकटकी लगाकर देखता है दूसरे वेग में चक्कर काटता है तृतीय विष वेग में शिथिलाङ्ग होकर पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त करता है।

वक्तव्य – (३७७) मानव, पशु और पक्षियों पर विष के बाद क्या बीतती है उसी को वेग नाम से प्रगट किया गया है।

विष के दस गुण

लघुरूक्षमाशुविशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मञ्च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥२३॥
रौक्ष्याद् वातमशैत्यात् पित्तं सौक्ष्म्यादसृक्प्रकोपयति।
कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्त्तते शीघ्रम् ॥२४॥
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं कायम्।
तीक्ष्णत्वान्मर्म्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकाशित्वात् ॥२५॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषात्।

तज्ज्ञों (विषतन्त्र विशारदों) के द्वारा विष के १-लघु, २–रूक्ष, ३–आशुकारी, ४–विशद, ५–व्यवायी, ६–तीक्ष्ण, ७–विकाशी, तथा ८–सूक्ष्म, ९–उष्ण, तथा १०–अनिर्देश्य रस (स्वाद जिसका बतलाना कठिन होये) दस लक्षण कहे गये हैं। रौक्ष्य से वायु, उष्णता से पित्त, सूक्ष्मता से रक्त प्रकुपित होता है। अव्यक्त रस के कारण कफ तथा अन्नरस (या धातुरस) को शीघ्र अनुवर्तन करने लगता है। व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में अकेला शीघ्र व्याप्त होजाता है। तीक्ष्णता के कारण मर्मनाशक (होता है) तथा विकाशी होने से प्राणनाशक, लघु होने से दुश्चिकित्स्य तथा विशद होने से गति तथा दोषों की रुकावट से रहित है।

दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति ॥२६॥

दोष के स्थान और रोगी की प्रकृति को प्राप्त करके तीनों में से किसी एक दोष को उदीर्ण (प्रकुपित) करता है।

स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्।
तृण्मोहारतिमूर्च्छागलग्रहच्छर्दिफेनादि ॥२७॥
पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य कफपित्तयोर्विषं तद्वत्।
तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोऽतिसारादि ॥२८॥
कफदेशगतं कफाधिकस्य वातपित्तयोश्च दर्शयति।
लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि ॥२९॥

वातिक प्रकृति वाले के वातस्थान में रहा हुआ विष हो तो कफ पित्त के लक्षण बहुत थोड़े होते हैं (तथा वात के निम्न लक्षण मिलते हैं—) प्यास, मोह, अरति, मूर्च्छा, गलग्रह, वमन, झाग आना आदि।

विष, पित्तप्रकृति वाले के पित्ताशय में स्थित रहा हो तो कफवात के लक्षण थोड़े होते हैं और पित्त के निम्न लक्षण मिलते हैं—प्यास कास, ज्वर वमी क्लम, दाह, तम, अतीसार आदि।

विष कफप्रकृति वाले रोगी के कफाशय में जाकर वातपित्त के लक्षणों को अल्प दिखलाता है तथा कफ के निम्न लक्षण मिलते हैं—श्वास, गलग्रह, कण्डू, लालास्राव वमथु आदि।

दूषीविष के लक्षण

दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यरुःकिटिभकोठलिङ्गं च।
विषमेकैकं दोषं संदूष्य हरत्यसूनेवम् ॥३०॥

दूषीविष तो रक्त को दूषित करके फोड़े-फुंसियां, किटिभ, कोठ इन लक्षणों वाला (होता है), इस प्रकार विष एक-एक दोष को दूषित करके प्राणों का ही हरण कर लेता है।

क्षरति विषतेजसाऽसृक्
तत् खानि निरुध्य मारयति जन्तुम्।

पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति
दष्टविद्धयोर्दंशदेशे स्यात् ॥३१॥

विष के तेज से रक्त का चरण होता है वह स्रोतों का अवरोध करके प्राणी को मार डालता है। पिया हुआ विष मृतरोगी के (आमाशय) हृदय में बैठ जाता है, काटे और डंक मारे व्यक्तियों के काटने या डंक मारने के स्थान पर ही रहता है।

विष से मरे हुए के लक्षण

नीलौष्ठ दन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः।
शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात् ॥३२॥
क्षतजंक्षतान्चनायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि।
एभ्योऽन्यथा चिकित्स्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु मे ॥३३॥

नीले होंठ, दांतों का हिलना, बालों का गिरना, अङ्ग-भङ्ग, विक्षेपण, शिशिर द्रव्योंसे रोमांच का न होना दण्ड से आघात न करने पर भी दण्ड की रेखाओं का प्रगट होना, रक्त का क्षत से न बहना, ये मरने के लक्षण होते हैं। इन लक्षण वालों से अन्यथा विपरीत लक्षण वाले पुरुष चिकित्सा करने योग्य हैं उनके उपक्रम मुझसे सुनो।

वक्तव्य—(३७८) बहुधा वैद्य या चिकित्सक को इस बात का भी प्रमाणपत्र देना पड़ता है कि रोगी मर गया है जीवित नहीं है। विष से मरे की पहचान चरक ने उसी दृष्टि से विस्तारपूर्वक यहां बतलाई गई है।

मन्त्रारिष्टोत्कर्त्तन निष्पीडन चूषणाग्नि परिषेकाः
अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ॥३३॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूपलेहौषधप्रधमनानि ।
प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञास्थापनं लेपः ॥३५॥
मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिका।
स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र योज्याः शृणु तथातान् ॥३६॥

१–मन्त्र, २–अरिष्ट, ३–उत्कर्त्तन, ४–निष्पीडन, ५–चूषण, ६–अग्निकर्म, ७–परिषेक, ८–अवगाहन, ९–रक्तमोक्षण, १०–वमन, ११–विरेचन, १२–उपधान १३–हृदयावरण, १४–अञ्जन, १५–नस्य, १६–धूपन, १७–लेह, १८–औषध (अगद), १९–प्रधमन, २०–प्रतिसारण, २१–प्रतिविष २२–संज्ञास्थापन, २३–लेप, तथा २४–मृतसञ्जीवन ये चार अधिक बीस (चौबीस) उपक्रम हैं। जैसे जो जहां प्रयोग होने चाहिए। वैसे ही उनके (प्रयोगों को) अग्निवेश सुन।

दंशात्तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषग्बद्ध्वा।
निष्पीडयेद्भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ॥३७॥
तं दंशं वा चूषेन मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन।
प्रच्छन् शृङ्गजलौकोव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥३८॥
रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत् प्रकृतिस्ततस्त्यजेत् प्राणान्।
तस्मात् प्रधर्षणैरसृग् वर्त्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ॥३९॥
त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणरोचनाः सवार्ताकाः।
घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः ॥४०॥
रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत्।
शीतैः स्कन्दित तस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः ॥४१॥
विषवेगान्मदमूर्च्छा विषादहृदयद्रवाः प्रवर्त्तन्ते।
शीतैर्निवर्त्तयेत् तान् न वीज्यश्च लोमहर्षः स्यात् ॥४२॥

वैद्य काटे हुए पुरुष के दंश में से शरीर में न फैले विष को वेणिका (ligature) बांधकर जोर से दबावे। या मर्मस्थान को छोड़कर दंश को निकाल दे। अथवा उस दंश को जौ के आटे अथवा बालू से पूर्ण मुख द्वारा चूसे। बाद को प्रच्छा, सींगी, जौंक, या सिरावेध द्वारा रक्त का स्राव करना चाहिए।

रक्त विष से दूषित होने पर प्रकृति को दूषित कर देता है तत्पश्चात् प्राणी प्राणों को त्याग देता है। इस कारण अप्रवृत्त रक्त को प्रघर्षणों से प्रवृत्त करना चाहिए। कटेरी, त्रिकटु, गृहधूम, हल्दी, पंचलवण, गोरोचन का घर्षण (करे) अतिप्रवृत्त रक्त होने पर वट आदि शीतल द्रव्यों से लेप करे। जैसे वायु अग्नि को फैलाता है वैसे रक्त विष को फैलाता है वह शीतल लेप परिषेकों से स्कन्दित (clotted) होता है उसके स्कन्दित होने (गाढ़ा होने से) विष का वेग हट जाता है। विष वेगों से मद मूर्च्छा, विषाद, हृदयद्रव प्रवृत्त होते हैं उनको शीतल प्रयोगों से निवृत्त करे। रोमहर्ष होने लगे (इतना पंखा) न करे। अर्थात् पंखे की मन्द मन्द हवा लगने दे।

वक्तव्य—(३७६) आधुनिक जितने प्रकार से आज विष के शमन में संलग्न हैं प्राचीन भी उतनी ही चिन्ता से विष के शमन में लगे हुए थे। ये श्लोक उनके द्वारा निकाली उन युक्तियों को स्पष्टतया प्रकट कर रहे हैं जो आज भी उतनी ही सच्ची हैं जो तब थीं।

तरुरिवमूलच्छेदाद् दंशच्छेदान्नवृद्धिमेतिविषम् ।
आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ॥४३॥
त्वङ्मांसगतं दाहो दहति विषं स्रावणं हरति रक्तात्।
पीतं वमनैः सद्यो हरेद्विरेकैर्द्वितीये तु ॥४४॥

जिस प्रकार मूल का छेदन करने से वृक्ष (नष्ट होजाता है उसी प्रकार) दंशस्थान के काट डालने से विष बढ़ नहीं पाता। आचूषण से विष बाहर खींच लिया जाता है। जैसे बांध पानी को रोक देता है वैसे अरिष्टा (मन्त्रसिद्ध सूत्रबंधन) विष को रोक देती है। त्वचा और मांसगत दाह विष को जला देता है रक्तस्राव रक्त से विष को निकाल देता है पिये हुए विष को तुरत वमन से निकाले (और) दूसरे वेग में विरेचन से (निकाले)।

आदौहृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम् ।
मधुसर्पिर्मज्जपयोगैरिकमथ गोमयरसं वा ॥४५॥

आरम्भ में हृदय की रक्षा करनी चाहिए। और उस (विष) का (हृदय पर) आवरण रूप मधु, घृत, मज्जा, दूध, गेरू या गोबर का रस जो जितना मिल सके अर्थात् जो पिए विष को ढँक सके (प्रयोग करना चाहिए) ताकि विष आवृत रहे।

वक्तव्य—(३८०) विषपीड़ित व्यक्ति के हृदय का कार्य न रुके यह सामने लक्ष्य लेकर सबसे पहले विश्व में आयुर्वेदज्ञ ही चले थे।

इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम् ।
छागादीनां वाऽसृग्भस्म मृदं वा पिबेदाशु ॥४६॥

खूब पकी ईख को या कौए (के मांस) को निचोड़ कर उसके रस को अथवा बकरा आदि का रक्त, राख यामिट्टी (रूप विष के हृदय पर) आवरण करने वाले इन को शीघ्र पीवे।

क्षारागदस्तृतीये शोफहरैर्लेखनं समध्वम्बु ।
गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुर्वापि: ॥४७॥

तृतीय वेग में क्षारागद पिलावे तथा शोफ-नाशक द्रव्यों के साथ गोबर का रस (देवे)।

काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्च्योतनाञ्जने नस्यम् ।
स्यात्पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम् ॥४८॥

पञ्चमवेग में सेम के बीज तथा सिरस के बीजों के स्वरस से आश्च्योतन, अंजन, नस्य करें। छठे विष के वेग में संज्ञास्थापन करना चाहिए।

वक्तव्य—(३८१) काकाण्ड से जहां सेम ली है कौए का अण्डा बकायन या काकतिन्दुक भी लिया जा सकता है।

गोपित्तयुता रजनी मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम् ।
विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते ॥४९॥

(संज्ञा स्थापन के लिए) गाय के पित्तसे युक्त हल्दी, मजीठ, मिरच पिप्पली (के क्वाथ का) पान (हितकर है)। अन्तिम वेग में काटने वाले (सर्प आदि) के जंगमविष में (स्थावर) विषपान तथा विष पिये हुए (स्थावरविष) में दंशन (जंगम विष प्रयोग) करना चाहिए।

शिखिपित्तार्धयुतं स्यात्पलाशबीजमगदो मृतेषुवरः ।
वार्ताकुफाणितागारधूम गोपित्तनिम्बं वा ॥५०॥

विष के कारण मृत के (समान) पुरुषों में मोर के पित्त के आधे भाग के साथ ढाक के बीज का अगद श्रेष्ठ होता है। कटेरी, राब, गृहधूम, गोरोचन या नीम (का प्रयोग भी किया जा सकता है)।

गोपित्तयुतैर्गुटिका सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः ।
शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा ॥५१॥

गोरोचन के साथ तुलसी, पिप्पलीमूल, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, कूठ (इनसे बनाई) गोली अथवा सिरस के फूल और काकाण्ड (देखोश्लोक ४८ वक्तव्य (३८१) रस से (तैयार गोलियां) अमृत के तुल्य प्रशस्त (मानी जाती हैं)।

काकाण्डसुरसगवाक्षी पुनर्नवा वायसी शिरीषफलैः ।
उद्बन्धविषजलमृते लेपौषधनस्यपानानि ॥५२॥

काकाण्ड, तुलसी; इन्द्रायण, पुनर्नवा, मकोय

सिरस के फलों से तैयार लेप, औषध, नस्य, पानों को उद्बन्ध (रस्सी बांध कर) विष तथा जल से मृत (मरे के समान लगने वाले पुरुष) में (प्रयोग करना चाहिए)।

मृतसंजीवनीअगद

स्पृक्काप्लवस्थौणेयकांक्षीशैलेयरोचनातगरम् ।
ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम् ॥५३॥
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः ।
सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः ॥५४॥
जात्यर्कपुष्पसर्षपरजनीद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः ।
जलमुद्गपर्णीचन्दनमधुकमदनसिन्धुवारांश्च ॥५५॥
शम्पाकलोध्रमयूरकगन्धफलानाकुलीविडङ्गाश्च ।
पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुडिका विधेयाः स्युः ॥५६॥
सर्वविषघ्नो जयकृत् विषमृतसञ्जीवनो ज्वरनिहन्ता ।
घ्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्यश्च ॥५७॥
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन् हन्यात् ।
दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम् ॥५८॥
धनधान्यकार्यसिद्धिश्रीपुष्ट्यायुर्विवर्द्धनो धन्यः ।
मृतसञ्जीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः ॥५९॥

स्पृक्कानामक शाक, मोथा, गठिवन; फिटकिरी छैलछरीला, गोरोचन, तगर, ध्यामक नामक तृण, केशर, जटामांसी, तुलसी, बड़ी इलाइची, हरताल, कत्था, बड़ी कटेरी, सिरस के फूल, गन्धाबैरोजा, कमल, गुलाब, इन्द्रायण, देवदारु, कमलकेसर, सावर, लोध्र, मैनशिल, रेणुका, चमेलीकेफूल, आकफूल, सरसों, दोनों हल्दी, हींग, पीपली, लाख, खस, मूँगपर्णी, चन्दन, मुलहठी, मैनफल, निर्गुण्डी तथा, अमलतास, लोध्र, अपामार्ग, प्रियंगु, नाकुली (सर्पगन्धा), तथा विडङ्ग को पुष्यनक्षत्र में लेकर बराबर भाग में पीसकर गोलियां बनानी चाहिए।

अमृत की उत्पत्ति के पहले ब्रह्मा से निर्मित यह मृतसंजीवन अगद सर्वविषनाशक, जय करने वाला, विष से मरे को जिलाने वाला, ज्वरनाशक (है)। सूंघना, लेप धारण, धूम ग्रहण और घट में रखना, भूत-विष-जन्तु-अलक्ष्मी-कार्मण मन्त्र, अग्नि वज्र, शत्रु, दुःस्वप्न, स्त्रीदोष, अकालमरण, जलभय, चोरभय को नष्ट करता है। धन-धान्य-सिद्धि-श्री-पुष्टि-आयुवर्द्धक यह मृतसंजीवन (अगद) धन्य (है)।

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽपमार्जनं कार्यमात्मरक्षणञ्च ।
दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात् तं जयेत् पूर्वम् ॥६०॥
वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानश्च ।
मधुघृतपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ॥६१॥
क्षारागदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिरव्यधनम् ।
दूषी विषेऽथ रक्तस्थिते सिराकर्म पञ्चविधम् ॥६२॥
भेषजमेवं कल्प्यं भिषग्विदाऽऽलक्ष्यसर्वदासर्वम् ।
स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च ॥६३॥

मन्त्रों से, धमनी बन्धन (tourniquet) से, अवमार्जन और आत्मरक्षण करना चाहिए। विष जिस दोष के स्थान में हो उसको पहले जीतना चाहिए। वातस्थान में यदि विष रहा हो तो स्वेदन (करना चाहिए) और दही के साथ तगर, कूठ का कल्क पान (कराना चाहिए)। यदि विष पित्त स्थान में हो तो घी-शहद-दूध और जल का पान तथा अवगाहन और परिषेक (कराना चाहिए)। यदि विष कफस्थान में गया (हो तो) क्षारागद स्वेद तथा सिरावेध (कराना चाहिए)। रक्त में स्थित दूषीविष में सिरावेध तथा पञ्चकर्म (कराना चाहिए)। इस प्रकार (विष शास्त्र में) विद्वान् वैद्य को लक्ष्य का ध्यान रखकर सब औषधियों की कल्पना करनी चाहिए। स्थान में रहे विष को पूर्व जीते स्थानस्थ विष की अविरुद्ध (चिकित्सा की जावे)।

विषदूषितकफमार्गः स्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु ।
मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ॥६४॥
चर्मकषायाःफल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य ।
कृत्वा दद्यात् कटभीकटुकट्फलप्रधमनं च ॥६५॥

विष से दूषित हुए कफ मार्ग वाले मनुष्य का स्रोत के अवरुद्ध हो जाने से रुद्ध हुई वायु (होने से) मरे के समान श्वास लेता है। यदि वह असाध्य लक्षणों से रहित होता है तो इसके सिर पर एक काक

पद जैसा क्षत बनाकर उस पर चर्मकषा (शातलाभेद) के एक पल कल्क को लगावे तथा ज्योतिष्मती, त्रिकटु और कायफल का प्रधमन करे ।

वक्तव्य—(३८२) आचार्य ने यहीं पर आधुनिक इन्जैक्शन विधि को जन्म दिया है । मृत के समान पड़े व्यक्ति के सिर में चीरा लगाकर चर्मकषा का कल्क भरना इसका उदाहरण है । और भी—

छागं गव्यं माहिषं वा मांसं कौक्कुटमेव वा ।
दद्यात् काकपदे तस्मिस्ततः संक्रमते विषम् ॥६६॥

बकरा, गाय का भैंस अथवा मुर्गे के ही मांस को उस काकपद (क्षत) में देवे । इससे विष का निराकरण होता है ।

नासाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्मनस्तः स्यात् ।
वार्ताकुबीजपूरज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः ॥६७॥

नाक, आंख, कान, जीभ, कण्ठ, के अवरोध में बैंगन, बिजौरा, ज्योतिष्मती आदि को पीसकर उससे नस्यकर्म करे ।

अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्त्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु ।
दारुव्योष हरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ॥६८॥

आंखों के उपरोध में (दृष्टि क्षीण होजाने पर) बकरे के मूत्र से पीसे गये देवदारु, त्रिकटु, हल्दी, कनेर, कंजा, नीम (तथा) तुलसी से कर्त्तव्य (अंजन करना चाहिए) ।

गन्धहस्ति अगद

श्वेतावचाऽश्वगन्धाहिंग्वमृताकुष्ठसैन्धवं लशुनम् ।
सर्षपकपित्थमध्यं टुण्टुकमूलकरञ्जबीजानि ॥६९॥
व्योषं शिरीषपुष्पं द्वे च निशे वंशलोचनञ्च समम् ।
पिष्ट्वाथ बस्तमूत्रेण च गोश्व पित्तेन सप्ताहम् ॥७०॥
व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम् ।
सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्त्ति ॥७१॥
उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलिका शिरोदोषान् ।
शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान् ॥७२॥
क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात्तथा मोहान् ।
लेपाद्विषदिग्धक्षतलीढदष्टपीतविषघाती ॥७३॥
अर्शः स्वानद्धेषु च गुदलेपो योनिलेपनञ्च स्त्रीणाम् ।
मूढे गर्भे दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये ॥७४॥
वृद्धौ किटिभे कुष्ठे श्वित्रे विचर्चिकादिषु च लेपः ।
गज इव तरून् विषगदान्निहन्त्यगदगन्धहस्त्येषः ॥७५॥

सफेद अपराजिता, बच, असगन्ध, हींग, गिलोय, कूठ, सैंधा नमक, लहसुन, सरसों, कैथ का गूदा, श्योनाक (सोनापाठा) की जड़, कंजे के बीज, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, सिरस के फूल, दोनों हल्दियां और वंशलोचन समभाग (में लेकर उस) को बकरे के मूत्र से पीसकर तथा गाय तथा घोड़े के पित्तों से पर्याय क्रम से भावना देकर (प्राप्त किया अगद) शिर में स्थित विष को शीघ्र नष्ट कर देता है । सब ज्वर, भूतबाधा, ग्रहबाधा, हैजा, मूर्च्छा, अरति, उन्माद-अपस्मार दोनों, काच-पटल-नीलिका, शिर के दोष, शुष्काक्षिपाक (xerophthalmia), पिल्ल, अर्बुद, अर्म, कण्डू, तमोदोषों को, क्षय, दुर्बलता, मदात्यय, पाण्डुरोग और मोह को आंजने से तथा लेप करने से विष से बुझे शस्त्र के क्षत, विषैले प्राणी के चाटने या काटने और विष जिसने पी लिया है उसके विष का घात (नाश) करता है । अर्शों तथा आनाह में गुदलेप, कुष्ठ मूढ़गर्भ में स्त्रियों की योनि में लेप जुकाम में सिर पर लेप अण्डवृद्धि, किटिभ, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, विचर्चिका आदि में (त्वचा पर) लेप (करना चाहिए)। जिस प्रकार हाथी वृक्षों को नष्ट कर देता है वैसे यह गन्धहस्ती अगद विष के रोगों को नष्ट कर देता है ।

महागन्धहस्ति अगद

पत्रागुरुमुस्तैलाः निर्यासाः पञ्चचन्दनं स्पृक्का ।
त्वङ्नलदोत्पलवालकहरेणुकोशीरवन्यनखाः ॥७६॥
सुरदारुकनककुंकुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गुवस्तगरम् ।
पञ्चाङ्गानि शिरीषाद्वधोषालमनः शिलाजाज्यः ॥७७॥
श्वेताकटभीकरञ्जौ रक्षोघ्नी सिन्धुवारिका रजनी ।
सुरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बनिर्यासाः ॥७८॥
वंशत्वगश्वगन्धाहिंगुदधित्थाम्लवेतसं लाक्षा ।
मधुमधुकसोमराजीबचाव्हारोचनातगरम् ॥७९॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्टयङ्गः ।

अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति ॥८०॥
पित्तेन गवां पेष्यो गुटिकाः कार्यास्तु पुष्ययोगेन ।
पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत् सर्वकर्माणि ॥८२॥
पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्र्यान्ध्यं काचमर्बुदं पटलम् ।
हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥८३॥
विषमज्वरानजीर्णान्दद्रुं कण्डूं विसूचिकां पामाम् ।
कुष्ठं किटिभं श्वित्रं विचर्चिकां चोपहन्ति नृणाम् ॥८४॥
विषमूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च ।
आशु विषं नाशयति समूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥८५॥
एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम् ।
कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः ॥८६॥
आनद्धे गुदलेपो योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम् ।
मूर्च्छार्तिषु च ललाटे प्रलेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥८७॥
भेरीमृदङ्गपटहांश्छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः ।
लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद्दर्शयेन्मतिमान् ॥८८॥
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि ।
न च कार्मणवेताला वहन्ति नाथर्वणा मन्त्राः ॥८९॥
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः ।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ॥९०॥
पिष्यमाणे इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत् ।
मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता ।
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च ॥९१॥
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ।
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च ॥९२॥
तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ।
यथाऽहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम् ॥९३॥
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ।
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम् ।
हिलिमिलिहिलिमिलि संसृष्टे रक्ष सर्वं भेषजोत्तमे स्वाहा॥९४॥

तेजपत्र, अगर, मोथा, इलायची, पांचों गोंद,+ (राल-गूगल-अफीम-शिलारस तथा लोबान) चन्दन, स्पृक्का (melilot), दालचीनी, जटामांसी, नीलोफर, सुगन्धवाला, रेणुका, खस, केवटीमोथा, नखी, देवदारु, लाल नागकेशर, केशर कश्मीरी, ध्यामक (सुगन्धतृण), कूठ, प्रियंगु, तगर, सिरस का पंचांग, सोंठ-मिर्च-पिप्पली, हरताल, मैनसिल, श्वेतजीरा, श्वेत अपराजिता, ज्योतिष्मती, कंजा, सरसों, निर्गुंडी, हल्दी, तुलसी, अञ्जन, गेरू, मजीठ, नीम का गोंद, बांस की छाल, असगंध, हींग, कैथ, अम्लबेंती, लाख, मधु, मुलहठी, वाकुची, बच, दूब, गोरोचन, तगर, साठ द्रव्यों वाला यह अगद त्र्यम्बक (शिवजी) ने वैश्रवण (कुबेर) के लिए कहा था। अप्रतिहत प्रभावशाली महागन्धहस्ती (इस नाम से यह) विख्यात है। पुष्य नक्षत्र में गाय के पित्त से पीसकर गोलियां (तैयार) करनी चाहिए। यह (महा गन्धहस्ती अगद) पीने, आँजने और लेप (करने से) सब कामों को सिद्ध करता है।

सतत प्रयोग से हितमित पथ्याशी पुरुषों का पिल्ल, नेत्र कण्डू, तिमिर, रतोंध (night blindness), काच, अर्बुद, और पटल इन रोगों को नष्ट करता है। विषमज्वरों को अजीर्ण, दाद, विसूची, पामा, विषयुक्त चूहा तथा लूताओं का, सब सर्पों का, और मूलजन्य, कन्दजन्य सब विषों का शीघ्र नाश करता है। इसके द्वारा लिप्त शरीर (धारी) सर्पों को पकड़ लेता है विष का भक्षण कर लेता है कालग्रस्त व्यक्ति नित्य आतङ्करहित (होकर) जीता है।

आनाह में गुदलेप, मूढ गर्भों में योनि लेप और मूर्च्छा अरतियों में माथे पर प्रलेपन (सब उपायों में) प्रमुखतम कहा जाता है। बुद्धिमान् वैद्य सर्पविष का निवारण करने के लिए इससे भेरी, मृदङ्ग, ढोलों, छत्र, तथा ध्वजापताका लिप्त करके ध्वनि करावे तथा दर्शन करावे। जहां यह लेप सन्निहित (होता है) वहां न बालग्रह, न राक्षस, न कार्मण, न वेताल, और आथर्वण मन्त्र (भी) प्रभावशाली नहीं होते हैं। जहां महागन्धहस्ती है वहां सब ग्रह प्रभावशून्य होजाते हैं अग्निशस्त्र नृप और चोर (भी) प्रभाव नहीं रखते हैं वहां लक्ष्मी निवास करती है।

+सर्जरसो गुग्गुलुश्चाप्यहिफेनश्च शिह्लकम् ।
लोहवान् इतिज्ञेया निर्यासाः पञ्चकोविदैः ॥

उसको पीसते समय इस सिद्ध मन्त्र का उच्चारण करे—जया नाम की मेरी माता, जय नाम का मेरा पिता वह मैं जय-जया पुत्र विजय (नाम वाला हूँ) और जय प्राप्त करता हूँ। पुरुषसिंह विष्णु, विश्वकर्मा, सनातनकृष्ण, भव और विभव के लिए नमस्कार करता हूँ। महादेव का तेजरूप, ब्रह्मा, इन्द्र तथा यम का साक्षात् तेजरूप मैं हूँ। मैं वासुदेव के पराजय को, माता के पाणिग्रहण को, समुद्र के शोषण को, नहीं जानता हूँ। इस सत्यवाक्य के द्वारा यह अगद सिद्धि को प्राप्त हो। हिलिमिलि से युक्त, हे सर्वभेषजोत्तम तू रक्षा कर—स्वाहा।

ऋषभकजीवकयष्टीमधुकोत्पलधान्यकेसराजाज्यः ।
ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः ॥९५॥

श्वास ज्वर आदि (रोगों को) हरण करने वाली श्वेत अपराजिता तथा बेर की गुठली की मींग के साथ ऋषभक जीवक मुलहठी, नीलोफर, धनियां, नागकेशर, जीरा सफेद की पेया (पीनी चाहिए)।

हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमुग्रलवणञ्च ।
समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ ॥९६॥

१–पिप्पलीयुक्त हींग और २–कैथ के रस से युक्त सेंधानमक (दोनों को) शहद मिश्री के साथ पिलाना चाहिए (वे) ज्वर, हिचकी, श्वास (और) कासनाशक (होते हैं)।

लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलमधुघृतैर्वम्याम् ।
बृहती द्वयाढकी पत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी ॥९७॥

वमन में बेर की गुठली, अंजन, खील, नीलोफर, शहद, घी का लेह (चाटे तथा) बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, अरहर के पत्ते (इनकी) धूमवर्ति हिक्का नाशक (होती है)।

शिखिबर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम् ।
धूमोगृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत् ॥९८॥

घीमिले मोरपंख, बगुला की हड्डियां, सरसों और चन्दन का धूंआ घर के सोने बैठने के वस्त्रों (बिछौने और गद्दियों) में (यह) विषघ्न (योग) प्रशंसनीय कार्य करता है।

घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च ।
धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहृच्च ॥९९॥

धूमागद—घीमिले तगर (तथा) कूठ में सांप का शिर, सिरस के फूल (इनके धुंए का प्रयोग) यह धूम-अगद माना गया है (जो) सब विषों का नाशक तथा शोथहरण करने वाला है।

जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुभपुष्पसर्जरसाः ।
श्वेता च धूम उरगाखुकीट वस्त्रक्रिमिनुदश्यः ॥१००॥

जतु (लाख), सेव्य (खस), तेजपात, गूगुल, भिलावे, अर्जुन के फूल, राल, सफेद अपराजिता इनका धुआँ साँप-चूहा-कीडे तथा वस्त्र-कृमियों के उत्तम-नाशक हैं।

वक्तव्य—(३८२) ऊनी रेशमी कपड़ों को जो कृमियों से बचाना चाहें उनको उपरोक्त द्रव्यों का धूम दिलाना चाहिए।

क्षारागद

तरुणपलाशक्षारं स्नुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः ।
लोहितमृद्रजनीद्वयशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ॥१०१॥
लाक्षासैन्धवमांसीहरेणुहिंगुद्विसारिवाकुष्ठैः ।
सव्योषैर्वाह्लीकैर्दर्वीविलेपनं घट्टयेद्यावत् ॥१०२॥
सर्व विषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीह्नः ।
शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदपाण्डुगदान् ॥१०३॥
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम् ।
गुटिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः ॥१०४॥

नये ढाकवृक्ष के क्षार को परिस्नुत (करके उस) के समभाग चूर्णित किये गये लाल मिट्टी, हल्दी, दारुहल्दी, सफेद तुलसी की मञ्जरी, मुलहठी, लाख, सेंधानमक, जटामांसी, रेणुका, हींग, दोनों सारिवा कूठ, सोंठ-मिर्च-पिप्पली, केशर, (इन सब) के साथ पकावे। करछुल से जब तक लगे (तब तक उसको) गाढ़ा करे। उसकी बेर बराबर (बनाई) छाया में सुखाई गोलियां प्रयोग करने पर वे मनुष्यों के सर्व विष शोथ, गुल्म, त्वचा के दोष (skin diseases), अर्श, भगन्दर, प्लीहोदर, शोथ, अपस्मार, कृमिरोग, भूत (जीवाणु germs), स्वरभेद, अग्निमान्द्य, उन्माद सहित कास को नष्ट करती हैं।

विपरीतदष्ट विद्धेष्वेतद्विधं च वाच्यमुद्दिष्टम् ।
सामान्यतः पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत् ॥१०५॥

पिये, डंसे, काटे तथा चुपड़े हुए विष में सामान्यरूप से जो कहना था वह कह दिया गया अब अलग अलग किए गये निर्देश को यथावत् सुन ।

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यःस्त्री भ्योऽथवा भयं नृपतेः ।
आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत् ॥१०६॥

नृपति का आहार विहार में भय अपने शत्रु द्वारा (गुप्त रूप से नियुक्त) पुरुषों अथवा स्त्रियों से (जो उसकी सेवा में रहते हैं) होता है। इस कारण से प्रेष्यों (सेवकों) को परीक्षा करे ।

अत्यर्थशङ्कितः स्याद्बहुवागथवाल्पवाग् विगतलक्ष्मीः ।
प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥१०७॥

अत्यन्त शंकाशील, बहुत बोलनेवाला अथवा अल्पभाषी, श्रीहीन, जिसकी प्रकृति (स्वभाव) विकृति को प्राप्त हुई हो (वह) नर विषप्रदाता जानना चाहिए ।

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं कुर्यात्तदन्नमग्नौ तु ।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः ॥१०८॥

ऐसा देखकर अकस्मात् (शीघ्र) भोजन नहीं करना चाहिए। उस अन्न को तो अग्नि में डालदे । अग्नि विषैले अन्न को पाकर अनेकों विकृतियों को प्राप्त होजाती है ।

शिखिवर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णाक्षमरूक्षकुणपधूमश्च ।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात् ॥१०९॥

मोरपंख के समान विचित्र ज्वाला वाली, तीक्ष्ण, असह्य, रूखी, शवगन्ध से युक्त तथा धूँआ वाली (वह विष पड़ी अग्नि होती है)। शब्द सहित चटचट करती है एक आवर्त वाली या ज्वाला से रहित भी (वह) होती है ।

पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति ।
क्षामस्वरांश्च काकान् कुर्याद्विरजेच्चकोराक्षि ॥११०॥

पात्र में रखा (सविष) भोजन विगड़े रङ्ग का होजाता है। (उस पर बैठने वाली) मक्खियों को मार डालता है। कौओं को क्षीण स्वर कर देता है तथा चकोर के नेत्र रंगहीन होजाते हैं ।

पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम् ।
पश्यति विकृतामथवा लवणावते फेनमाला स्यात् ॥१११॥

(विषयुक्त) पान (पीने योग्य पदार्थ जल, दूध आदि) में नीली रेखाएँ, विवर्णता, अपनी छाया नहीं दिखाई देती या विकृत दिखलाई देती है तथा नमक डालने पर बहुत झाग उठते हैं ।

पानान्नयो सविषयोर्गन्धेन शिरोरुग्धृदि च मूर्च्छा च ।
स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यंगुलिदाहतोदनखभेदाः ॥११२॥
मुखगेत्वोष्ठचिमचिमा जिह्वा शूनवती जडा विवर्णा च ।
द्विजहर्ष हनुस्तम्भास्यदाहनानागलविकाराः ॥११३॥

विषैले अन्नपान की गन्ध से शिर में शूल, हृदय में शूल तथा मूर्च्छा, छूने से हाथों की सूजन, स्पर्शज्ञानाभाव), अंगुलियों में दाह-तोद-नखों का टूटना। मुख में गया विष ओठों में चिमचिमाहट (tingling sensation), जीभ सूजी हुई, जड़ तथा विवर्ण, दन्तहर्ष, हनुस्तम्भ (trismus), मुख में दाह, नाना प्रकार के गले के विकार (होते हैं)।

वक्तव्य— (३८३) विष क्योंकि विविध प्रकार का होता है अतः उसके द्वारा उत्पन्न शारीरिक लक्षण भी विविध हुआ करते हैं। ऊपर उन लक्षणों का एक सर्वसाधारण क्रम दे दिया गया है।

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः ।
दृष्टिहृदयोपरोधो विन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥११४॥

विष के आमाशय में पहुंचने पर, विवर्णता, स्वेद, अवसाद, उत्क्लेद, दृष्टि और हृदय का उपरोध, शरीर सैकड़ों उपस्फोटों (फुंसियों) से भर जाता है।

पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः ।
तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ॥११५॥

(विष के) पक्वाशय को पहुँचने पर मूर्च्छा, मद, मोह, दाह, बल का नाश, तन्द्रा, कृशता तथा उदरस्थ (विष होजाने पर) पाण्डुता होती है।

दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च ।
केशच्युतिः शिरोरुग्ग्रन्थयश्च सविषेऽथ शिरोभ्यङ्गे ॥११६॥

दतून के (विषैला होने पर उसका) कूर्चा विशीर्ण होजाता है विषैला होने पर दांत, ओष्ठ और मसूड़ों में शोथ तथा बालों का गिरना, शिर में शूल तथा शिर में गांठों की उत्पत्ति हो जाती है।

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावोऽत्युपदेहशोथरागाश्च ।
खाद्यैरादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वग्दूष्यते दुष्टैः ॥११७॥

अंजन के दुष्ट होने पर नेत्र में जलन, आंसू का स्राव, अत्यन्त कीचड़, सूजन तथा लाली दूषित खान-पान से कोष्ठ तथा दूषित स्पर्शनीय द्रव्यों से त्वचा दूषित हो जाती है।

स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः ।
कण्ड्वर्तिकोठपिडका रोमोद्गमचिमिचिमाः शोथाः ॥११८॥

दुष्ट स्नान, मालिश, उवटन, कपड़ा, आभूषण और अंगराग से खुजली, बेचैनी, चकत्ते पड़ना, फुंसियां निकलना, रोमहर्ष, चिमचिमाहट और शोथ (हो जाते हैं)।

एते करचरणदाहतोदक्लमाविपाकाश्च ।
भूपादुकाश्वगजवर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥११९॥
माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजालोमहर्षकरम् ।

विष से दूषित पृथिवी, पादुका, घोड़ा, हाथी, वच, ध्वजं, शैय्या और आसन से हाथ पैरों में दाह तोद, क्लान्ति तथा अविपाक होते हैं। विषैली माला गन्धरहित होती है, मुर्झा जाती है। शिरःशूल तथा रोमहर्ष (horripilation) करने वाली होती है।

स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शनं च धूमः ॥१२०॥

विष से दूषित धुंआ (गैस) स्रोतों का स्तम्भन करता है नासा तथा नेत्रों का उपघात करता है।

वक्तव्य—(३८४) आचार्य ने विष देने के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। आधुनिक युग में गैसों के साथ युद्ध होता है। उसका होने वाला प्रभाव तो बड़ा विकट होता है। फिर भी उसके सर्व सामान्य लक्षण ऊपर दिये गये हैं।

कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च ।
पीतं श्वयथुं कोठान् पिडकाश्च करोति मरणं च ॥१२१॥

कुआ तालाब आदि का जल (विषैले होने पर) दुर्गन्धित, गँदली, वर्णहीन तथा पीने पर शोथ, कोठ, पिडका तथा मृत्यु भी कर देती है।

आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि ।
कुर्याद् भिषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥१२२॥
इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः

स्थान विशिष्ट विषजुष्ट चिकित्सा—आरम्भ में आमाशय में गये विष में वमन, त्वचा में स्थिति होने पर प्रलेप सेक आदि चिकित्सा दोषों और बल को निश्चितरूप से देखकर वैद्य करे।

इस प्रकार मूल विष के प्रकार कह दिये गये।

शृणु जङ्गमस्यातः ।
सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ॥१२३॥

अब जङ्गम (विषों) की चिकित्सा सुन। उनमें प्रथम सर्पों की विशेष चिकित्सा कही जाती है।

सर्पों के तीन प्रकार

इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति ।
त्रयो यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥१२४॥

इस लोक में दर्वीकर सर्प, मण्डली सर्प, राजिमान् सर्प तीनों क्रमशः वातपित्त तथा कफ को प्रकुपित करते हैं।

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः ।
बिन्दुलेखविचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ॥१२५॥

फनवाले को दर्वीकर, मण्डलाकार फन वाले को मण्डली, बिंदियां रेखा तथा चित्रित (चितकबरे) अङ्ग वाला सांप तो राजिमान् होता है।

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम् ।
विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादिकोपनम् ॥१२६॥

विशेष करके उनका विष क्रमानुसार रूक्ष-कटु, अम्ल-उष्ण तथा मधुर शीतल होता है। उसी कारण से वातादि का कोप (होता है)।

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः ।
निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ॥१२७॥

दर्वीकर सांप द्वारा किया गया दंश, दाढ़ के सूक्ष्म चिह्न से युक्त काला, रुके हुए रक्त वाला, कछुवे की आभा वाला तथा वातव्याधिकारक माना गया है।

पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिना कृतः।
पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत् ॥१२८॥

मण्डली के द्वारा किया गया दंश गहरा, शोथ-युक्त पीला आभा वाला तथा लाल पीला, और सब पित्त विकारकारक होता है।

कृतो राजियता दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत्।
स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः ॥१२९॥

राजिमान के द्वारा किया गया दंश पिच्छिल, स्थिर शोथ करने वाला, चिकना, पाण्डु, गाढेरक्त से युक्त तथा कफज व्याधि का उत्पन्न करने वाला (होता है)।

वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान्।
स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद्विपर्ययात् ॥१३०॥

वृत्तभोग (गोलकुण्डली मारने वाला) विशाल-काय, फुसकार मारता हुआ, ऊर्ध्व देखने वाला स्थूल सिर वाला तथा एक से (सम) शरीर वाला पुरुष (जाति का नर) तथा उसके विपरीत स्त्री (जाति का मादा सर्प) होता है।

क्लीवस्त्रसत्यधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते।
स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः ॥१३१॥
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीवदष्टं नरं वदेत्।
इत्येतदुक्तं सर्वाणां स्त्रीपुंक्लीवनिदर्शनम् ॥१३२॥

नपुंसक (सर्प) डरता है, नीची दृष्टि, हीनस्वर, स्त्रीसर्प से दष्ट (काटा हुआ) व्यक्ति अधोदृष्टि वाला हीनस्वर (तथा) कांपता है। इनसे विपरीत लक्षणों से युक्त (ऊर्ध्व दृष्टि, तीक्ष्ण स्वर, निश्चल) पुरुष सर्प से काटा हुआ माना जाता है। मिले हुए लक्षणों से युक्त नपुंसक सर्प द्वारा काटा गया ऐसा कहे। इस प्रकार यह सब (सर्पों) का स्त्री, पुरुष, नपुंसक का निदर्शन कह दिया गया है।

पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः।
जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्त्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ॥१३३॥

गर्भिणी (सांपिन से काटा गया) तो पाण्डु मुख वाला सूजे ओठ, काले नेत्र, तथा प्रसूता (सांपिन से काटा गया) जम्हाई, क्रोध, और उपजिह्वा से पीडित रक्तमिश्रित मूत्र वाला (होता है)।

सर्पो गौधेरको नाम गोधायां स्याच्चतुष्पदः।
कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः ॥१३४॥

गौधरेक नामक चार पैर वाला सांप गोह में होता है। काले सांप के समान होता है। (उसकी) अनेकों मिश्र जातियां होती है।

गूढसम्पादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्।
सर्पितं च भृशाबाधं दंशा येऽन्ये न ते भृशाः ॥१३५॥

गहराई में सम्पादित, गोल, पीडित (अतिमात्र रुजाकारक) लम्बाई में अर्पित (सब दांतों से डसने के चिह्न लम्बाई में हों) फैले हुए दंश अत्यधिक बाधा-कारक होते हैं और जो अन्य (दंश होते हैं) वे अधिक (पीडाकारक) नहीं होते।

तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा।
राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः ॥१३६॥

कृष्णसर्प तरुण, गोनससर्प वृद्ध तथा राजिमान् सर्प प्रौढावस्था में तीव्र विष की उपमा (वाले विष से युक्त) होजाते हैं।

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरा सिता।
पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा ॥१३७॥

सर्प की चार तो दाढ़ (होती हैं) उनमें से नीचे की बांई दाढ़ श्वेत तथा ऊपर की वाम दाढ़ पीली (होती है दाहिनी ओर की दाढ़) नीचे की लाल (तथा) ऊपर की श्याव (होती है)।

यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोवालात् सलिलोद्धृतात्।
वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्याद्देहेविषम् ॥१३८॥

गाय के, जल से निकाले वाल से जितनी मात्र बूंदें गिरती हैं उसी प्रमाण का विष (सर्प के) बांई ओर के नीचे के दाढ़ में होता है।

एकद्वित्रिचतुर्द्वविषभागोत्तरोत्तराः।
सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः ॥१३९॥

एक, दो, तीन, चार (इस प्रकार) उत्तरोत्तर विष का भाग (चारों दाढ़ों में समान्तरवृद्धि द्वारा in arithmetical progression बढ़ता है)। अर्थात् नीचे की बांई ओर की दाढ़ में एक बूंद (विष मानें) तो उत्तर वामदंष्ट्रा में दो बूंद, अधर दक्षिण दंष्ट्रा में ३ बूंद तथा उत्तर दक्षिण दंष्ट्रा में चार बूंद सर्पविष होगा। दंष्ट्राओं से उत्पन्न दंश सवर्ण होते हैं अर्थात् जिस रङ्ग की दाढ़ (देखें श्लोक १३७) उसी रङ्ग का काटने का निशान बनेगा। दंष्ट्राओं में उत्तरोत्तर विष की बहुलता होने से दंश में उत्तरोत्तर पीडा की अधिकता (भी) होजाती है।

सर्पाणामेवविण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसंमताः।
दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः ॥१४०॥

सर्पों की ही विष्ठा (तथा) मूत्र से (जो) कीट उत्पन्न होते हैं (वे ही) कीट कहे गये हैं। संक्षेपतः (वे कीट) दूषीविष तथा प्राणहर विष (संयुक्त) माने गये हैं।

गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्।
सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात् कुथितं तथा ॥१४१॥
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं लिङ्गं प्राणहरं शृणु।
सर्पदष्टे यथाशोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक् ॥१४२॥
दंशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा स रुगार्तः श्वसित्यपि।
तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद्दूषीविषार्दितः ॥१४३॥

दूषी विषे से युक्त कीट के द्वारा दष्ट (काटा गया) स्थान लाल, सफेद, काला, श्याव (गहरा—dark), फुंसियों से युक्त, खुजली—जलन सहित, विसर्प (फैलने वाला शोथ), पाक (inflammation) वाला तथा कुपित (gangrenous) हो जाता है। प्राणनाशक (कीट से दष्ट के) लक्षण सुन—जैसे सांप से दष्ट में शोथ बढ़ता है (वैसे ही) वह उग्रगन्ध रक्त वाला काटने पर नेत्र में भारीपन मूर्च्छा (तथा वह) कष्ट से पीड़त (होकर) बड़े-बड़े श्वास भी लेता है। तृष्णा (और) अरुचि से पीड़ित दूषीविषयुक्त (कीट से दष्ट) होता है।

दंशस्य मध्ये यत् कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम्।
दग्धाकृति भृशं पाकि क्लेदशोथज्वरान्वितम् ॥१४४॥
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्।
सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते ॥१४५॥
शोफः श्वेतासिता रक्ताः पीता वा पिडकाज्वरः।
प्रदंग्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः ॥१४६॥

लूताविष—दंश के बीच में जो कृष्ण, श्याव अथवा जाल युक्त, जले हुए की आकृति वाला, बहुत पकने वाला, क्लेद-शोथ-ज्वर से युक्त (होवे तो) उस (रोगी) को दूषी विष वाली मकड़ियों से काटा ऐसा बतलावे। सब लूताओं के दंश में होने वाला लक्षण कहा जाता है—शोफ, सफेद-काली-लाल या पीली फुंसियां ज्वर तथा प्राणघातक श्वास, दाह-हिक्का (और) शिरोग्रह (होते हैं)।

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥१४७॥
मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥१४८॥

मूषिकविष—दूषी विष से पीडित चूहे के काटने से पाण्डु (वर्ण) का रक्तस्राव, मण्डल (चकत्ते), ज्वर, अरुचि, रोमहर्ष, दाह, भी (होते हैं)।

असाध्य चूहों द्वारा (काटने पर) मूर्च्छा, अंगशोथ, विवर्णता, क्लेद, शब्द न सुनाई देना, ज्वर, शिरका भारीपन, लालास्राव तथा रक्त की वमन होती है।

श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा।
मोहः पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥१४९॥

गिरगिट के काटने पर श्यावता, कृष्णता, अथवा नानावर्णता, मोह (और) मलभेद, होते हैं।

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥१५०॥

वृश्चिकदंश—बिच्छू (scorpion) का विष प्रथम अग्नि की तरह दाह करता है मानो भेदन करता हो। ऐसा लगता है शूल शीघ्र ऊपर की ओर जाता है। और बाद में दंश के स्थान पर ठहर जाता है।

दष्टोऽसाध्यस्तु दृग्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥१५१॥

असाध्य (बिच्छू) को दंश हृदय-नासा-रसना

की क्रिया से उपहत व्यक्ति मांस पतन से अत्यन्त वेदनार्त (होकर) प्राणों को नष्ट कर देता है।

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥१५२॥

कणभ (hornet) से दृष्ट (काटे गये) में विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर, और वमन के लक्षण (देखे जाते हैं) और दंशस्थान भी विशीर्ण होजाता है

हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥१५३॥

उच्चिटिङ्ग (crab) द्वारा दष्ट रोमाञ्च-पूर्ण, मूत्रेन्द्रिय का स्तम्भित हो जाना, अत्यन्त पीड़ा युक्त, अङ्गों को मानो शीतल जल द्वारा सींच दिया हो ऐसा मानता है।

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सपीतः सरुजस्तथा।
छर्दिनिद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टं लक्षणम् ॥१५४॥

मण्डूकदष्ट—एक दंष्ट्रा के दंश से पीड़ित, सूजा, पीला, पीड़ा सहित तथा वमन तथा निद्रा (युक्त) विष से युक्त मेंढक के काटे का लक्षण (है)।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥१५५॥

विषैली मछलियां दाह-शोथ तथा शूल करती हैं। विषयुक्त जोंकें खुजली, शोथ, ज्वर, मूर्च्छा (करने वाली होती हैं)।

दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गृहगोधिका।
दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥१५६॥

छिपकली दाह, तोद, स्वेद, शोथ करने वाली (होती है)। शतपदी (कानखजूरा) दंशस्थान पर स्वेद, शूल और दाह कर देती है।

कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥१५७॥

मच्छरों के काटने से थोड़ा सा शोथ तथा मन्द-मन्द वेदना (रहती है)। असाध्य मच्छर का दंश असाध्य कीट के दंश जैसा (होता है)।

सद्यः प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पीडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥१५८॥

मक्खी के काटने पर शीघ्र स्राववाली, श्याव, दाह, मूर्च्छा, ज्वर से युक्त (पीड़ा करने वाली) पिडका उत्पन्न (होती है) उन मक्खियों में स्थगिका नामक मक्खी (Tse Tse fly) तो प्राणनाशक (होती है)।

श्मशानचैत्यवल्मीक यज्ञाश्रमसुरालये।
पक्षसन्धिषु मध्याह्ने सार्धरात्रेऽष्टमीषु च ॥१५९॥
न सिध्यन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च।
दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा ॥१६०॥
विनश्यन्त्याशु सम्प्राप्ता दष्टाः सर्वषु मर्मसु।

श्मशान, चैत्य (धार्मिक अनुष्ठान करने का स्थान) वल्मीक (दीमकों के बनाये मिट्टी के घर) यज्ञाश्रम, देवालय, पक्ष सन्धियों (पूर्णिमा, अमावस्या) में, मध्याह्न में अष्टमियों में तथा आधी रात्रि के समय और पाषण्डियों (सन्यासी वेषधारियों) के निवास-स्थानों में काटे पुरुष सिद्ध नहीं होते (अर्थात् असाध्य होते हैं)। दृष्टि, श्वास, मल (और) स्पर्श (से जो विषाक्रान्त कर देते हैं) उनके तथा आशी विष के सम्पर्क वाले तथा सब मर्मस्थलों में काटे हुए शीघ्र नष्ट होजाते हैं।

येन केनापि सर्पेण सम्भवः सर्व एव च ॥१६१॥
भीतमत्तावलोष्णक्षुत्तृषार्ते वर्धते विषम्।
विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा ॥१६२॥

जिस किसी भी सर्प के द्वारा सब कुछ (होना ही) सम्भव है अर्थात् किसी भी साँप को छोटा नहीं जानना चाहिए भयभीत, मदमत्त, अबल, गरम प्रकृति, क्षुधा से पीडित, तृष्णा से पीडित (व्यक्ति) में विष बढ़ता है। तथा समान प्रकृति और काल दोनों को पाकर (और विष बढ़ता है) अन्यथा अल्प (रहता है)।

वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः।
वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः ॥१६३॥

पानी से आहत हुए क्षीण, डरे हुए, न्योलों से परास्त हुए, वृद्ध, बालक और केंचली छोड़े सांप मन्द विष वाले माने गये हैं।

सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति।
तदेवाहारहेतोर्वा भयाद्वा न विमुञ्चति ॥१६४॥

सर्प क्रोध के कारण सम्पूर्ण देह में स्थित विष को छोड़ता है। आहार के हेतु से या भयवश वह उस

(विषको) नहीं त्यागता (है)।

वक्तव्य (३८५) सर्पों की विविध जातियां, उनके विष, उन विषों में दोष प्राबल्य और उसके सम्बन्ध की अन्य गहरी खोजें जो देखने में चरकसंहिता में आती हैं वह आचार्यों द्वारा इस घोर जीव की विभीषिका को कम करने की बड़ी भारी चिन्ता की ओर विशेष लक्ष्य करती हैं।

वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः।
वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः ॥१६५॥

बीछू तथा उच्चिटिंग प्रायः वातप्रधान विषयुक्त होते हैं। कीट वातपित्तप्रधान तथा कणभ आदि श्लैष्मिक (होते हैं)।

यस्य यस्य तु दोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत्।
तस्य तस्यौषधैः कुर्य्यात् विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥१६६॥

जिस जिस दोष के लक्षणों की अधिकता को अनुमान करे उस उसकी विपरीत गुण वाली औषधों द्वारा चिकित्सा करे।

हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्व्वरुक्।
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रे श्यावता वातिके विषे ॥१६७॥

वातप्रधान विष में हृदय की पीड़ा, ऊर्ध्ववात, स्तम्भ, सिरासङ्कोच, अस्थिपर्वों में शूल, घूर्णन (चक्कर) उद्वेष्टन, (ऐंठन spasms) और शरीर में श्यावता (देखी जाती है)।

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता।
दंशावदरणं शोथो रक्तपित्तञ्च पैत्तिके ॥१६८॥

संज्ञानाश, उष्ण निःश्वास, हृदय की दाह, मुख की कटुता, दंश का फट जाना, शोथ और रक्त-पित्त पैत्तिक विष में (देखा जाता है)।

वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥१६९॥

वमन, अरुचि, मतली आना, लालस्राव, जी मचलाना, भारीपन, शीत के साथ मुख की मधुरता कफप्रधान विष को जाने।

पिण्याकेन व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके।
स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥१७०॥

वातिक विष में व्रण पर पिण्याक (तिल की खली) का लेप, (देह पर) तैल की मालिश, नाडी पुलाक आदि के द्वारा स्वेद तथा बृंहण विधि हितकर है।

सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम्।
लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥१७१॥

अधिक शीतल सेकों तथा प्रलेपों से पैत्तिक विष को स्तम्भित करे। और लेखन, छेदन, स्वेदन तथा वमन से कफज विष को जीते।

विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च।
अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ॥१७२॥

वृश्चिक और उच्चिटिंग के विष को छोड़कर सर्व स्थान में सभी विषों में पहुँचे प्रायः शीतल विधि हितकर है।

वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च।
सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः ॥१७३॥

बीछू के विष में स्वेदन, घृत नमक से मालिश उष्ण सेकों तथा घी के साथ खाद्य पेय प्रयोग करे।

एतदेवोच्चिटिङ्गेषु प्रतिलोमं च पांशुभिः।
उद्वर्तनं सुखम्लोष्णैस्तथावच्छादनं घनैः ॥१७४॥

उच्चिटिंग (crab) के विष में भी यही (करे)। कांजी आदि से खट्टी की गई धूल के द्वारा उसे उष्ण करके प्रतिलोम (ऊपर से नीचे की ओर) खूब घना उबटन (करना चाहिए) तथा दंश को आच्छादित (कर देना चाहिए)।

श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्।
शिरोऽभितापी लालास्राव्यधोवक्त्रस्तथा भवेत् ॥१७५॥

त्रिदोष के कोप से तथा धातु के विपर्यय से कुत्ता सिर के ताप वाला, लालास्राव वाला तथा अधोमुख होता है।

अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः।
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः ॥१७६॥

अन्य भी इसी प्रकार के (हिंस्रपशु हैं जो) कफ वात के प्रकोपक (हैं) हृदय शिर में पीडा, ज्वर, स्तम्भन तृषा तथा मूर्च्छा करने वाले माने गये हैं।

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्।
विदाहरागरुक्पाकाः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ॥१७७॥

दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च ।
ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे ॥१७८॥

खुजली, तोद, विवर्णता, सुप्ति, क्लेद उपशोषण (सूखना), दाह, राग, पीड़ा, पाक, शोथ, ग्रन्थि, अङ्गसंकोच, दंश फटना, स्फोट, दंश स्थान पर कर्णिका (अङ्कुर) तथा मण्डलों की (उत्पत्ति) तथा ज्वर सविष प्राणी (द्वारा दष्ट पुरुष) के लक्षण हैं ।

तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः ।
पूर्वोक्ता विधिमन्यं च यथावद्ब्रुवतः शृणु ॥१७९॥

उनमें अवस्थानुसार पूर्वोक्त सब उपक्रम प्रयुक्त करने चाहिए और अन्य विधि को यथावत् करते हुए मुझसे सुन !

हृदि दाहे प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम् ।
यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥१८०॥

हृदय में दाह वा प्रसेक (होने) पर अवस्थानुसार पुनः विरेचन और वमन प्रयुक्त करनी चाहिए शुद्ध होजाने पर संसर्जन क्रम (कराना चाहिए) ।

शिरोगत विष में नस्य

शिरोगते विष नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान् ।
बन्धुजीवस्य भार्ग्या वा सुरस्यासितस्य च ॥१८१॥

(जब) शिर तक विष पहुँच जावे (तो) बन्धुजीव (दुपहरिया) की, भारंगी की अथवा काली तुलसी की जड़ों की नस्य बुद्धिमान् वैद्य करे ।

दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ्मस्तके क्षते ।
उपधेयमधो दष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः ॥१८२॥

मुर्गा, कौआ मोरों के मांस और रक्त को अधो-दष्ट के मस्तक में तथा ऊर्ध्व दष्ट के पैरों के क्षत में रखना चाहिए ।

नेत्रगत विष की चिकित्सा

पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्धवशिग्रुकाः ।
पिष्ट्वा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगत मञ्जनात् ॥१८३॥

पिप्पली, कालीमिरच, यवक्षार, दुधवच, सेंधा-नमक, सहँजन रोहू मछली के पित्त के द्वारा पीसकर अञ्जन करने से नेत्रगत (विषको वे) नष्ट कर देते हैं ।

कपित्थमामंससिताक्षौद्रं कण्ठगते विषे ।
लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपले नतात् ॥१८४॥

कच्चे कैथ को मिश्री मधु सहित कण्ठगत विष में (तथा) आमाशयगत विष में उन दोनों के (मधु मिश्री) के साथ एक पल तगर से चूर्ण (बनाकर) चाटे ।

विषे पक्वाशयगते पिप्पलीं रजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठां च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत् ॥१८५॥

पक्वाशयगत विष में छोटी पीपली, हल्दी, दारु-हल्दी और मजीठ बराबर पीसकर व्यक्ति गाय के पित्त (गोरोचन) के साथ पीवे ।

रक्तं मांसं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम् ।
विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम् ॥१८६॥

रस (धातु) गत विष में गोह के रक्त तथा मांस का सूखा चूर्ण किया गया (रूप) कैथ का रस मिला कर पान करना हितकर (होता है) ।

शैलोर्मूलत्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च ।
कटभ्याश्च निवेद्रक्तगते मांसगते पिबेत् ॥१८७॥
सक्षौद्रं खादिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा ।
सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम् ॥१८८॥

रक्तगत विष में लहसोडे तथा ज्योतिष्मती बेर और गूलरों की जड़, छाल तथा कोंपलों को पीवे ।
मांसगत विष में मधु के साथ खदिरारिष्ट तथा कुडे की मूल जल के साथ (पीवे) ।
सर्वधातु गतविष में बला, दोनों, महुआ, मुलहठी (और) तगर (पीवे) ।

पिप्पलीं नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् ।
कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम् ॥१८९॥

उदीर्ण (बढ़े हुए) कफ में वैद्य पिप्पली, सोंठ, यवक्षार नो नौनी के साथ मिलाकर प्रतिसारण (घर्षण कर्म) करे ।

मांसी कुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः ।
मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः ॥१९०॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः ।

जल में पिष्ट जटामांसी, केशर कश्मीरी, तेजपत्र दालचीनी, हल्दी, तगर, चन्दन (इन) के साथ मैन-

सिल, व्याघ्र के नख तुलसी के साथ पीना, सूंघना, आंजन या लेप करना सब शोथ तथा विष नाशक है।

चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च ॥१९१॥
मनः शिला तमालश्च रसा केशर एव च।
शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना ॥१९२॥
हन्ति सर्वं विषाण्येव वज्रि वज्रमिवासुरान्।

चन्दन, तगर, कूठ, दोनों हल्दी और दालचीनी मैनसिल, तमालपत्र और केशर का रस सिंह के नख तण्डुलोदक के साथ खूब पीसकर (लेपकरना) वज्री (इन्द्र) का वज्र मानो असुरों को (इस प्रकार) सब विषों को ही (यह) नष्ट कर देता है।

रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम्।
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम् ॥१९३॥

सिरस के फूल के स्वरस में सफेद (गोल) मरिच एक सप्ताह पर्यन्त भावित सर्प से दष्ट रोगियों के पान और अञ्जन में हितकर है।

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रं चतुष्पलम् ॥१९४॥
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत् सुखप्रदम्।

तगर कूठ दोनों का दो पल, घी-शहद चार पल तक्षक द्वारा दष्ट के लिए भी यह पान सुख प्रदाता है।

सिन्धुवारस्य मूलञ्च श्वेता च गरिकर्णिका ॥१९५॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पाकलम्।

दर्वीकर सर्प से दष्ट होने पर निर्गुण्डी की जड़ को और सफेद अपराजिता का पान और शहद सहित कूठ का नस्य (हितकर होता है)।

मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च जीवकर्षभकौ सिता ॥१९६॥
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे।

मजीठ, मुलहठी, तथा जीवक-ऋषभक दोनों, मिश्री, गम्भारी (तथा) बरगद की जटाओं (के द्वारा तैयार क्वाथ) को मण्डली विष में पान (कराना हितकर है)।

व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका ॥१९७॥
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम्।

अतीससहित त्रिकटु, कूठ, घर का धुँआ, रेणुका, तगर, कुटकी, मधु राजमान सर्पों के विष को नष्ट करता है।

गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम् ॥१९८॥
अपि वासुकिना दष्टः पिबन्मधुघृताप्लुतम्।

गृहधूम, दोनों हल्दी, जड़सहित चौलाई, मधु घृत से युक्त पीता हुआ वासुकी नाग से दष्ट भी (लाभ पा सकता है।)

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ॥१९९॥
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोद ज्वरापहः।

(वमनादि से) शुद्ध होने पर क्षीरीवृक्षों की छाल का लेप कीटविषनाशक होता है तथा (दंश स्थान पर) मोतियों का लेप शोथ, दाह, तोद (और) ज्वरनाशक होता है।

चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः सिन्धुवारिका ॥२००॥
क्षीर शुक्ला नतं कुष्ठं पाटलोदीच्यसारिवाः।
शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकर्मिकः।
यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु ॥२०१॥

चन्दन, पद्माख, खस, सिरस, निर्गुंडी, क्षीर विदारी, तगर, कूठ, पाटला, सुगन्धवाला, सारिवा लहसोड़े के स्वरस में पीसा गया यह (योग) लूताओं के दंश में सार्वकार्मिक (पानाभ्यङ्गाञ्जनलेपादि में प्रयोक्तव्य) है। लेपन आदि में इसका यथायोग विचार करके प्रयोग करे।

मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः।
सनिम्बसारिवाक्षौद्राः पानं लूता विषापहम् ॥२०२॥

महुआ, मुलहठी, कूठ, सिरस, सुगन्धवाला, नीमसहित पाटला, सारिवा और शहद (इन) का पान लूता (मकड़ी) विषनाशक (होता है)।

कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्।
दन्ती त्रिवृत्सैन्धवं च कर्णिकापातनं तयोः ॥२०३॥

कसूम के फूल, गोदन्ती (या गाय का दांत) सत्यानाशी, कबूतर की बीट, दन्ती, निशोथ और

सैन्धवनमक उन दोनों (कीट-लूता) की कर्णिका (मांसांकुरों) का पातन (करता है)।

कटम्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरिद्रुमत्वचः ।
कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः ॥२०४॥

ज्योतिष्मती, अर्जुन, सिरस, लिहसोड़ा, क्षीरी वृक्षों की छाल के कषाय-कल्क-चूर्ण कीटलूता व्रण-नाशक होते हैं।

त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् ।
पेयमुष्णाम्बुना सर्वं मूषिकाणां विषापहम् ॥२०५॥

गरम पानी के साथ समभाग में खूब चिकनी पीसी गयी दालचीनी तथा सोंठ सब चूहों के विष को नाश करने वाले पेय के रूप में पीनी चाहिए।

कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी ।
तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः ॥२०६॥
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषं हरेत् ।
समानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत् ॥२०७॥

पीसे गये इन्द्रजौ, तगर, देवदाली, कटुतुम्बी, (वाला) यह योग पान, प्रधमन आदि से बीछू, चूहा, मकड़ियों तथा सर्पों के विष को हरता है। क्योंकि अमृत के समान यह गरविष और अजीर्ण का नाश करता है।

सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः स्युः कुकण्टके ।
कपोतविण्मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः ॥२०८॥
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके ।
शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे ॥२०९॥
मूलानिश्वेतभण्डीनां त्र्योषं सर्पिश्च मात्स्यजे ।
कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम् ॥२१०॥
वातपित्तहरी चापि क्रिया प्रायः प्रशस्यते ।
वार्श्चिकोहृच्चिचिटिङ्गस्य कणभस्योन्दुरोऽगदः ॥२११॥

कुकण्टक के विष में सब अगद दोष के अनुसार प्रयोग करने चाहिए। बिच्छू के विष में कबूतर की बीट, चकोतरा, सिरस फूल का रस, शंखिनी (यवतिक्ता), मदार, दूध, सोंठ, कंजा (तथा) शहद (इनका लेप करे)। मेंढक के विष में सिरस के फल, सेहुंड के दूध से पीसकर (लेप करे)। मछली के विष में श्वेत भण्डी के मूलों को त्रिकटु तथा घी (के साथ लेप करे) प्रायः वातपित्तहर क्रिया प्रशस्त मानी जाती है। बिच्छू का अगद उच्चिटिंग का, औन्दुर (चूहे) का अगद कणभ का (अगद बनाकर प्रयोग किया जा सकता है)।

वचां वंशत्वचं पाठा नतं सुरसमञ्जरीम् ।
द्वे बले नाकुली कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम् ॥२१२॥
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु ।
कत्तृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम् ॥२१३॥
रोहीतकं च पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोगदः ।
नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु ॥२१४॥

बच, बांस की छाल, पाठा, तगर, तुलसी की मंजरी, दोनों बला, सर्पगन्धा, कूठ, सिरस, दोनों हल्दी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी, श्वेत अपराजिता, अजगन्धा (अजमोद), शिलाजीत, कत्तृण, ज्योतिष्मती, यवक्षार, गृह का धुआं, मैनसिल, रोहेड़ा, गाय के पित्त से पीसकर तो (इस) परम अगद को नस्य, अञ्जन, लेपों में विश्वम्भरा (आदि कीटों) में हितकर (होता है)।

स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः सुरसाऽथाक्षिपीडकः ।
मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदी विषे ॥२१५॥

शंखिनी, सज्जीखार, बकरे की मेंगनी, यवक्षार, तुलसी के रसों का शंखिनी और मदिरामण्ड मिलाकर शतपदी के विष में हित (करता है)।

कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजंत्रिकटुकं तथा ।
करञ्जो द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं जयेत् ॥२१६॥

कैथ, शंखिनी, अर्कबीज, त्रिकटु, तथा कंजा और दोनों हल्दी गोह विष को जीतले।

काकाण्डयुक्तः सर्वेषां विषाणां तण्डुलीयकः ।
प्रधानं बर्हिपित्तेन तद्वद् वायसपीलुकः ॥२१७॥
शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्घृतैः ।
श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥२१८॥

काकतिन्दुक (कुचला या कौए का अण्डा या वायसपीलु) के रसयुक्त चौलाई सब विषों की चिकित्सा में श्रेष्ठ है। और मोर के पित्त से युक्त

काकजंघा उसी प्रकार है। समान भाग में लिए सिरस फल मूल त्वचा दूध्य, पत्रों से किया हुआ यह पंच शिरीष अगद् विषको नष्ट करने में श्रेष्ठ (है)।

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिर्वा नखदन्तक्षतं तु यत्।
शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥२१९॥
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥२२०॥

चौपाये या दुपाये के जो नख, (या) दन्त (का) क्षत होता है (वह) सूजन करता है, पकाता है, स्राव करता है तथा ज्वर भी करता है (वह) सोमवल्क (कत्था) अश्वकर्ण (साखु) गावजुबां, हंसपदी, हल्दी दोनों, गेरू का लेप नख-दन्त-विषनाशक (है)।

दुरन्धकारे विद्धस्य केन चिद्विषशङ्कया।
विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपिवा भवेत् ॥२२१॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम्।
चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासयन् बुधः ॥२२२॥

घने अन्धकार में विष की शंका से किसी के द्वारा विद्ध (काटागया) विष की शंका से उत्पन्न विष के उद्वेग से ज्वर, वमन, मूर्च्छा, तथा दाह भी हो जाता है। ग्लानि मोह और अतीसार भी होता है। यह शंका विष माना गया है। बुद्धिमान् इसकी चिकित्सा आश्वासन देते हुए करे।

सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु।
पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥२२३॥

शर्करा, गन्धक, मुनक्का, विदरीकन्द, मुलहठी, शहद इनका पान मन्त्रपूत जल से प्रोक्षण दे सान्त्वना दे तथा प्रसन्न करे।

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः।
भोजनार्थ प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम् ॥२२४॥

भोजन के लिये शालिचावल साठी, कोदों, तथा प्रियंगु और लवण के लिए सैन्धव लवण (देवे)।

तण्डुलीयकजीवन्ती वार्ताकसुनिषण्णकाः।
मण्डूकपर्णी कुलकं शाकं चुञ्चोऽथ शस्यते ॥२२५॥

चौलाई, जीवन्ती, बैंगन, चौपतिया, ब्राह्मी, करेला तथा चेंच का शाक प्रशस्त है।

धात्रीदाडिममम्लार्थे यूषामुद्गहरेणभिः।
रसाश्चैणशिखिश्वाविल्लावतैत्तिरपार्षताः ॥२२६॥
विषघ्नौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः।
अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम् ॥२२७॥

खटाई के लिए आमला, अनार, मूंग और रेणुका से यूष, ऐण, मोर, सेह, लावा, तीतर, तथा पृषत इनके मांस रस, विषघ्नों औषध मिलाकर सुसंस्कृत मांसरस तथा यूष, अविदाही अन्न के विष से आर्तो की औषध (हैं)।

विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद्भयायासमैथुनम्।
वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः ॥२२८॥

विरुद्धाशन, अध्यशन, क्रोध, क्षुधा, भय, मैथुन और विशेषकरके दिवास्वप्न को विष से मुक्त होने पर भी छोड़दे।

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः शुष्कौष्ठकण्ठता।
ज्वरोऽङ्गमर्दः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पनम् ॥२२९॥
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः।
चतुष्पदां भवत्येतद्दष्टानामिह लक्षणम् ॥२३०॥

बार बार सिर हिलाना, ओठ तथा कण्ठ का सूखना और शोथ, ज्वर, अङ्गमर्द, आंख और शरीर का स्तब्ध होना, हनु (ठोडी) कांपना, रोमहर्ष, ग्लानि, अरति, वेपथु, और भ्रम इस शास्त्र में काटे गये (विषदष्ट) पशुओं में ये लक्षण (होते हैं)।

देवदारु हरिद्रे द्वे सरलं चन्दनागुरु।
रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुलिक्षुरसोनतम् ॥२३१॥
चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम्।
चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥२३२॥

देवदारु, दोनों हल्दी, धूप सरल चन्दन, अगर रास्ना, गोरोचन, श्वेत जीरा, गुग्गुलु, गन्ने का रस तगर गाय का पित्त और शहद के साथ सेंधानमक और अनन्तमूल का चूर्ण काटे गये (दष्ट) चतुष्पदों का सार्वकार्मिक अगद (होता है)।

गरविष

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान् मलान्।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥२३३॥

सौभाग्य को अचल रखने के लिये स्त्रियां स्वेद, धूल तथा विविध अङ्गों के मलों को और शत्रु द्वारा, प्रयोग किए गए विषको अन्न में मिलाकर देती (हैं)।

तैः स्यात्पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुर्हस्तपादयोः ॥२३३॥
जठरं ग्रहणीरोगो यक्ष्मा गुल्म क्षयोज्वरः ।
एवं विधानि चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गा निदर्शयेत् ॥२३५॥

उनसे वह पाण्डु, कृश अल्प-अग्निवाला होजाता है इसे गर (रोग) कहते हैं। मर्मप्रधमन आध्मान हाथ पैरों में शोथ, उदररोग, ग्रहणी, यक्ष्मा, गुल्म, क्षय, ज्वर इसी प्रकार के अन्य रोगों के लक्षण भी दिखलाई देते हैं।

स्वप्ने मार्ज्जारगोमायुव्यालान् सनकुलान् कपीन् ।
प्रायः पश्यति नद्यादीन् शुष्कांश्च सवनस्पतीन् ॥२३६॥

स्वप्न में (वह) प्रायः बिल्ली, गीदड़, साँपों, बंदरों, नदियों तथा सूखी वनस्पतियों को देखता है।

कालश्चगौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम् ।
विकर्णनासिकं वाऽपि प्रपश्ये द्विहतेन्द्रियः ॥२३७॥

स्वप्न में अपने को कालावर्ण को गौर तथा गौर को काला अथवा हत हैं इन्द्रिय जिसकी वह अपने को कान नासा से रहित देखता है।

तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कैः कदा सह ।
जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक् ॥२३८॥

उसको देखकर बुद्धिमान् वैद्य क्या, किसके साथ, कब खाया था ऐसा पूछे। इसे जान कर वैद्य शीघ्र वमन देवे ।

सूक्ष्मं ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्।
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥२३६॥

उसके हृदय की शुद्धि करने वाला शहद के साथ, सूक्ष्म, ताम्रभस्म, फिर हृदय शुद्ध होने पर स्वर्ण भस्म एक शाण देवे ।

हेमसर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति ।
न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् ॥२४०॥

स्वर्ण सब विषों को तथा गरों को शीघ्र नष्ट कर देता है। कमलपत्र पर जल के समान स्वर्णसेवी के अङ्ग में विष नहीं टिकता है।

नागदन्ती त्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्पयः फलैः ।
साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ॥२४१॥
सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये ।

नागदन्ती, निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती, सेहुंड दुग्ध, और मदनफल (इन) से एक आढक गोमूत्र के साथ भैंस का घी सर्पकीट पकाया विषपीड़ितों तथा गरपीड़ितों के शान्ति देने के लिए हितकर (होती है)।

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफलां चन्दनोत्पले ॥२४२॥
द्वे बले सारिवास्फोतासुरभीनिम्बपाटलाः ।
बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान् ॥२४३॥
पाठाङ्कोलाश्वगन्धार्कमूलयष्टयाह्वपद्मकान् ।
विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम् ॥२४४॥
कटभीदन्त्यपामार्गान् पृश्निपर्णी रसाञ्जनम् ।
श्वेतमण्डाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियंगुकान् ॥२४५॥
विदारीं मधुकात् सारं करञ्जस्य फलत्वचौ ।
रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम् ॥२४६॥
तुल्याम्बुछागगोमूत्रत्र्याढके तद्विषापहम् ।
अपस्मारक्षयोन्मादभूतग्रहगरोदरम् ॥२४७॥
पाण्डुरोगकृमीगुल्मप्लीहोरुस्तम्भकामलाः ।
हनुस्कन्धग्रहार्दीश्च पानाभ्यञ्जननावनैः ॥२४८॥
हन्यात् सञ्जीवयेच्चापि विषोद्बन्धमृतान्नरान् ।
नाम्नेदममृतं सर्वविषाणां स्याद्घृतोत्तमम् ॥२४६॥

सिरस की छाल, सोंठ-मरिच-पिप्पली, हरड़-बहेड़ा-आमला, चन्दन, नीलोफर, बला-अतिबला, अनन्तमूल, हाफरमाली, शल्लकी, नीम की छाल, पाटला, दुपहरिया (बन्धुजीव), अरहर की जड़, मूर्वा, वासा, तुलसी, इन्द्रजौ, पाठा, अङ्कोल, असगन्ध, आक की जड़, मुलहठी, पद्माखों, इन्द्रायण, बड़ी कटेरी, लाख, कोविदार, शतावरी, ज्योतिष्मती, दंती, अपामार्ग, पृश्निपर्णी, रसौत, सफेद फूल का पियावांसा, अपराजिता, कूठ, देवदारु, प्रियंगु, विदारीकंद मुलहठी का सार (रुब्बलसूस), कंजे का फल और छाल दोनों, हल्दी दोनों, लोध्र प्रत्येक एक-एक कर्ष पीसकर घी बराबर भाग, जल, बकरी का मूत्र तथा

गोमूत्र ३-३ आढक में एक आढक विषनाशक घी को सिद्ध करना चाहिए। अपस्मार, क्षय, उन्माद, भूत बाधा, ग्रहबाधा, गरविष, उदररोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग, गुल्म, प्लीहोदर, ऊरुस्तम्भ, कामला हनुग्रह, (lock jaw) २ स्कन्धग्रह आदि पीने मलने आँजने तथा नस्य करने से नष्ट करता है। विष और उद्बन्ध (फांसी) से मरने से, संजीवन देता है। अमृत नाम का यह श्रेष्ठ घृत सब विषों का नाशक है।

भवन्ति चात्र

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः ॥२५०॥

छत्रपाणि (हाथ में छतरी लिए हुए) तथा झर्झर पाणि (हाथ में झांझ लिए हुए) रात्रि में तथा दिन में (व्यक्ति) चले। वह (छत्री की) छाया तथा (झांझ के) शब्द से डरे हुए पन्नग (सांप) शीघ्र दूर भाग जाते हैं।

दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्पं लोष्टमेव वा।
उपर्यरिष्टां बध्नीयाद्दंशं छिन्द्याद्दहेत्तथा ॥२५१॥

काटते ही उस सर्प को अथवा (किसी) मिट्टी के ढेले को (काटा हुआ व्यक्ति) शीघ्र काट ले। काटने से ऊपर (हृदय की ओर जिधर रक्त की गति हो रही हो) अरिष्ट (नामक बन्धन) बाँधे दंश (स्थान को) काट दे तथा उसे जला दे।

वक्तव्य—(३८६) सांप काटने के बाद आजकल जो फर्स्टएड का विधान बतलाया जाता है उसी का निरूपण ऊपर के श्लोक में हुआ है। दूर्नीके कसना, काटकर रक्त निकाल देना या जला देना सब आधुनिक भी ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं।

वज्रं मरकतः सारः पिचुकी विषमूषिका।
कर्केतनः सर्पमणिर्वैडूर्यं गजमौक्तिकम् ॥२५२॥
धार्यं गरमणिर्यश्च वरौषध्यो विषापहाः।
खगाश्च सारिकाः क्रौञ्चाः शिखिहंसशुकादयः ॥२५३॥

हीरा, पन्ना, पिचुकी नामक मणि, विषमणि, सर्प की कर्केतन (या कर्कोटक नामक) मणि, वैडूर्य (लहसुनिया) तथा गजमुक्ता, गरमणि (विविध विषघ्न द्रव्यों से तैयार मणि) तथा विषनाशक श्रेष्ठ औषधियां पक्षी, मैना, क्रौंच, मोर, हंस, तोते आदि धारण करने चाहिए।

वक्तव्य (३८७) प्राचीनों ने विविध रत्नों को विषशमन के लिए विशेष रूप से प्रयोग किया था। वे विविध प्रकार के गण्डे तावीज आदि बना कर धारण करते थे। यदि मणियों का विषनाशक प्रभाव आज ध्यानपूर्वक गवेषणा का विषय बना दिया जाय तो सर्पविषनाशक उपायों में पर्याप्त प्रगति की जा सकती है। खग, सारिका आदि ऐसे जीवों को भी पालने के लिए यहां इङ्गित किया गया है। इन पक्षियों पर सर्पविष का प्रभाव नहीं देखा जाता। इनके रक्तरस का इञ्जैक्शन–विधि से प्रयोग भी लाभप्रद होना चाहिए।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकः

इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरे-
बहुप्रकारं विषरोगभेषजम्।
अधीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयन्-
व्रजेद्विषाणामविषह्यतां बुधः ॥२५४॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)

इस प्रकार यह (स्थावर जङ्गम) दो प्रकार के विष रोगों की विस्तार के साथ अनेक प्रकार की औषधि कहदी गई है। (इसे) पढ़कर, जानकर तथा प्रयोग करता हुआ बुद्धिमान् विषों की अविषह्यता को प्राप्त करे।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरक प्रति संस्कृत (प्रति) के अप्राप्त होने पर दृढबल द्वारा सम्पूरित चिकित्सास्थान में विषचिकित्सितं नामक तेईसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

चतुर्विंशोऽध्यायः

मदात्यय चिकित्सा

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) मदात्यय चिकित्सित (नामक चौबीसवें अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ।

मद्य-प्रशस्ति

सुरः सुरेशसहितैः या पुरा परिपूजिता ।
सौत्रामण्यां हूयते या कर्मिभिर्या प्रतिष्ठिता ॥२॥

जो पूर्वकाल में इन्द्रसहित देवताओं द्वारा परिपूजित, जो सौत्रमणि यज्ञ में हवन में काम आती है जो कर्मियों (यज्ञ करने वालों) द्वारा प्रतिष्ठित मानी गई है ।

यज्ञोहि या यया शक्रः सोमातिपतितो भृशम् ।
निरोजास्तमसाऽऽविष्टस्तस्माद्दुर्गात् समुद्धृतः ॥३॥

या जो यज्ञवाहक है जिसके द्वारा सोमपान से पतित, अत्यन्त ओजहीन, तमोगुण से अभिभूत इन्द्र उस गड्ढे से निकाला गया है।

विधिभिर्वेदविहितैर्या यजद्भिर्महात्मभिः ।
दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च यज्ञीया यज्ञसिद्धये ॥४॥

यज्ञीय जो वेदोक्त विधियों से यज्ञ करने वाले महात्माओं से यज्ञ की सिद्धि के लिए जो देखी गई, छुई गई तथा बनाई गई (है)।

योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या ।
भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ॥५॥

और जो योनि,संस्कार, नाम, आदि विशेषताओं से बहुत प्रकार की होकर भी मदलक्षण के कारण सामान्यरूप से एक ही प्रकार की होती है ।

या देवानममृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितृंश्च या ।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युंक्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥६॥

जो अमृत होकर देवों को, स्वधा होकर पितरों को (और जो) सोम होकर ब्राह्मणों को उत्तम श्रेयों (कल्याणों) से युक्त करती है ।

वक्तव्य – (३८८) अमृत, स्वधा और सोम ये जो तीन प्रकार के पेय प्राचीन काल में प्रचलित थे जिनकी जीवनदायिनी शक्ति और सुखकारक प्रवृत्ति भले प्रकार प्रशंसित रही चली आई है उसका थोड़ा अनुमान हमें यहां मिलता है कि वे तीनों ही मद्यरूप पदार्थ थे ।

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या ।
वीर्यमैन्द्रं च या सिद्धा सोमः सौत्रामणौ च या ॥७॥

जो अश्विनीकुमारों का महान तेज, और जो सरस्वती का (महान) बल, जो इन्द्र का वीर्य तथा जो

सौत्रामणि (यज्ञ) में सोम (रूप रहती है)।

शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला।
या प्रीतिर्या रतिर्या वाग्या पुष्टिर्या च निर्वृतिः ॥८॥

जो महाबलवान् शोक-अरति-भय तथा उद्वेग का नाश करने वाली, जो प्रीति (है) जो रति है, जो वाणी (है) जो, पुष्टि (है) और (जो) निर्वृति (सुख-रूप है)।

या सुरासुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः।
रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिवेत् ॥९॥

जो देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस (तथा) मनुष्यों से रति (और) सुरा इस प्रकार कही जाती है उस सुरा को विधिपूर्वक पीवे।

वक्तव्य—(३८९) प्राचीन काल में देवदानव यक्ष-राक्षस मनुष्य गन्धर्व किन्नर आदि सभी वर्ग सुरा का प्रयोग विधिपूर्वक यज्ञों में करते थे और सुख की उपलब्धि उससे मानते थे। स्वयं सरस्वती अश्विनीकुमार इन्द्र आदि उसको व्यवहार करते थे।

मद्यपानविधि

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान्।
प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तुद्दामगन्धिभिः ॥१०॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः।
देवद्विजातीन् सम्पूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम् ॥११॥
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते।
सरसासम्मते मुख्ये धूपसंमोदवोधिते ॥१२॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥१३॥
सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि।
भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिवेत्सदा ॥१४॥
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ॥१५॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः।
संवाह्यमान इष्टाभिः पिवेन्मद्यमनुत्तमम् ॥१६॥

(स्नानादि से) शरीर का संस्कार करके, पवित्र उ गन्ध (चन्दनानुलेपनादि द्वारा) युक्त होकर, ऋतु अनुसार तीव्र सुगन्धों से युक्त निर्मल वस्त्रों से प्रावृत (ढंके) होकर विचित्र तरह तरह की माला धारण किए हुए, रत्न-आभूषणों से अलंकृत होकर, देवताओं और द्विजों को पूजकर, उत्तम मङ्गल वस्तुओं का स्पर्श करके, ऋतु के अनुकूल, फूल जहां बिखरे पड़े हों, रस से भरी (स्त्रियों) के अनुकूल, (सुगन्धित) धूप की गन्ध से भावित प्रशस्त मुख्य (उत्तम) देश में (स्थान पर) विहित रक्खे हुए उपधान युक्त खूब लम्बी चौड़ी सोने या बैठने के काम में आने वाली (कुर्सियों सोफा या कोचों अथवा आराम कुर्सियों) में बैठकर अथवा अपने शरीर को तिरछा आराम से स्थित करके (जैसे कि आराम कुर्सियों पर लेटा जाता है) सोने के, चांदी के अथवा रत्नों के अथवा अन्य (कांच) आदि से बने विमल पात्रों (में भर कर उन) के द्वारा सर्वदा पिया करे।

सौन्दर्य तथा तारुण्य से मदमाती, विशेष रूप से (मदिरा पिलाने के कार्य में) शिक्षित (trained) ऋतु के अनुकूल वस्त्र, आभूषण और मालाओं से सुशोभित, शौच और अनुराग से परिपूर्ण इष्ट प्रमदाओं से इधर उधर संवाह्यमान (अङ्गों को दबवाते हुए) श्रेष्ठ मदिरा का सेवन करे।

वक्तव्य—(३९०) उपरोक्त श्लोकों में आत्रेय और अग्निवेश के काल में छाये भारतीय वैभव और जीवन के उच्च स्तर का सुन्दर दर्शन करके अपने उस समाज की कल्पना का चलचित्रवत् वर्णन पढ़कर जो समृद्धि का समुद्र और वैभव का पारावार था आज का प्राणी आश्चर्य महोदधि में बूड़ जाता है।

मद्यानुकूलैर्विविधैः फलैर्हरितकैः शुभैः।
लवणैर्गन्धपिशुनैरवदंशैर्यथर्तुकैः ॥१७॥
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैर्भूजलाम्बरचारिणाम्।
पौरोगवर्गविहितैर्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ॥१८॥
पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः प्रावप्रयुज्य च।
प्रदाय सजलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधातले ॥१९॥

मद्य के अनुकूल विविध शुभ हरे शाकों से तथा विविध फलों से ऋतु के अनुकूल नमकीन पदार्थों गन्ध बहुल चटनी आदि के साथ भूमि जल आकाश

चारी जीवों के विविध भूने गये मांसों के साथ पौरोगवर्ग (कुशल रसोइयों द्वारा) बनाए विविध भक्ष्य पदार्थों के साथ प्रथम देवों की पूजा करके आरम्भ में स्वस्ति वाचन कराकर वसुधातल पृथ्वी पर निवास करने वाले अर्थियों के लिए जल मिश्रित मद्य प्रदान (करना चाहिए)।

वक्तव्य -(३६१)मद्यपान करने वाले का आचार ठीक रहे इस लिए देव द्विज पूजा पर जोर दिया गया है। उसका स्वास्थ्य सुदृढ हो इस लिए विविध भक्ष्य जिनमें फल-शाक और मांस हैं बतलाये गये हैं तथा मद्य को जल मिलाकर पीने के लिए इङ्गित किया गया है। गरीब दो कौड़ी के आदमी के लिए मद्य पान सदैव हानिकरता है पर जो खर्च करके मद्य के साथ के अन्य सब साधन जुटा सकते हैं वे मद्यपान के अधिकारी होसकते हैं।

अभ्यंगोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः ।
स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥२०॥
शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः ।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥२१॥
उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत् ।
श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारिचकैः सह ॥२२॥

वातिक (प्रकृति वाला व्यक्ति) अभ्यंग, उत्सादन, स्नान, वस्त्र, धूप, अनुलेपनों से (युक्त होकर) स्निग्ध उष्ण अन्नों से भोजन करके मद्य का पान करे। पैत्तिक (प्रकृति वाला व्यक्ति) विविध शीतोपचारों से मधुर स्निग्ध शीतल अन्नों से भोजन करके मद्य पीता हुआ अवसाद को प्राप्त नहीं होता है। श्लैष्मिक (प्रकृति वाला व्यक्ति) मरिचान्वित अशिशिर (गरम) उपचारों के साथ जौ गेहूँ जांगल जीवों के मांस आदि भक्षण करके मद्य पीवे। अर्थात् जो जिस प्रकृति का हो अपनी प्रकृति के अनुकूल पदार्थों का सेवन करता हुआ बाद में मद्यपान करे। खाली पेट मद्य पीना निषिद्ध जानना चाहिए।

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाश्च ये ।
यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥२३॥

वसुमान् (श्रीमान् धनाढ्यों) के लिए यह विधि है तथा जो धनाढ्य होने वाले भविष्यद्विभव हैं उनको हितकारक मद्य अपनी स्थिति के अनुसार मात्रापूर्वक पीनी चाहिए।

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम् ।
कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवं च यत् ॥२४॥

वातिक प्रकृति वालों के लिए प्रायः गौडिक तथा पैष्टिक मद्य तथा कफ पित्त प्रबल पुरुषों के लिए मार्द्वीक (अंगूरी) और माधवी (शहद की मदिरा है वह) हितकारक (होती है)।

विधिपूर्वकसेवित मद्य के गुण

बहुद्रव्यं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम् ।
गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते ॥२५॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥२६॥

अनेक द्रव्यों से निर्मित, बहुत गुणवान्, अनेक कर्मों वाला, तथा मदोत्पादक, वह मद्य गुण और दोषों से दो प्रकार का देखा जाता है। विधिपूर्वक मात्रा के अनुसार, योग्यकाल में, बल के अनुसार हितकर मन्त्रों के साथ जो प्रसन्न वदन पुरुष मद्य, पीबे उसका वह मानो अमृत ही हो।

विधिरहित मद्य सेवन के दोष

यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते ।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत् ॥२७॥

रूक्ष द्रव्य (तथा) व्यायाम के नित्य सेवन करने से जैसा भी प्राप्त हो प्रसङ्गात् (अत्यधिक मात्रा में) पीता है उसके लिए वह (मद्य) विष के समान होजाती है।

मद्यके दस गुण

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् ।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥२८॥
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च ।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥२९॥

मद्य हृदय में प्रवेश करके अपने दस गुणों से ओज के दस गुणों को क्षुब्ध करके चित्त को विक्रिया की ओर ले जाता है अर्थात् मन को विकृत कर देता है।

लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, शीघ्रगामी, रूक्ष, विकाशी, विशद मद्य को (इन) दस गुणों से युक्त माना गया है।

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्मृतम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥३०॥

गुरु, शीतल, मृदु श्लक्ष्ण (smooth), बहल, (dense सघन), मधुर, प्रसन्न, पिच्छिल, स्निग्ध ओज (इन) दस गुणों (से युक्त) माना गया है।

गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः।
माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादं चाशुभावनात् ॥३१॥
रौक्ष्यात्स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि।
विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात्सान्द्रतां तथा ॥३२॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्।
सत्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥३३॥

लघुता से गुरुता को, उष्णता से शीत को, अम्ल स्वभाव के कारण मधुरता को, तीक्ष्णता के कारण मृदुता को, आशुकारी होने से प्रसाद को, रूक्षता के कारण स्निग्धता को, व्यवायी होने से स्थिरता को, विकाशी भाव होने से श्लक्ष्णता को, विशदता के कारण पिच्छिलता को, सूक्ष्म होने से सान्द्रता को इस प्रकार मद्य अपने (दस) गुणों से ओज के (दसों) गुणों को नष्ट करता है। उसका (ओज का) आश्रय (हृदय) तथा मन शीघ्र क्षुब्ध करके (वह) मद उत्पन्न कर देता है।

रसवातादिमार्गाणां सत्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥३४॥

रस-वातादि के मार्गों का, सत्व का, बुद्धि का इन्द्रियां तथा आत्मा का तथा ओज का प्रधान हृदय कहा जाता है।

अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत्।
हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥३५॥

अत्यधिक मद्य पीने से, ओज के विहत (नष्ट) होने से हृदय विकार को प्राप्त करता है (साथ ही) वहां पर स्थित जो धातुएं (वे भी विकृत होजाती हैं)।

ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते।
मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मदः ॥३६॥

ओज के अविहत (अविकृत) होने पर और हृदय जागरण होने पर पूर्व (मद की उत्पत्ति होती है)। तथा (ओज की) अल्प (विकृति होने पर) मध्यम (मद की उत्पत्ति होती है)। तथा (ओज अथवा हृदय जब पूर्णतया) विहत (होजाता है) तो उत्तम (अन्तिम तीसरे) मद (की उत्पत्ति होती है)।

नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः।
विकाशिरूक्ष विशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः ॥३७॥

पैष्टिक (पीठी या आटे का) मद्य इस प्रकार से ओज का विघात नहीं उत्पन्न करता क्योंकि वहां (उस पैष्टिक मद्य में) विकाशी रूक्ष (और) विशद (नामक) गुण तीव्र नहीं होते।

वक्तव्य—(३६२) आचार्यों ने मद्य को शरीरस्थ ओज के गुणों से सर्वथा विपरीत गुण वाला माना है। मद्य का निरन्तर प्रयोग मनुष्य को ओजहीन बना देता है। ऐसा उनका कथन है। यतः ओज हृदय में निवास करता है जहां पर सत्व, आत्मा, इन्द्रिय संचालक तन्त्र रसरक्तवह स्रोतस् वात पित्तादि दोष इन सभी का निवास होता है अतः मद्य का इन सब पर ही प्रभाव पड़ा करता है। जब मद्य थोड़ी मात्रा में पीई जावेगी तो उसके द्वारा हृदय का अल्प विघात होकर प्रथम मद आकर ही रह जावेगा मध्यम मात्रा द्वितीय मद को तथा उत्तम मात्रा तृतीय मद को उत्पत्ति करती है। साधारण शराब जैसे जौ की मद्य (ale) आदि में मद्य के दसों गुण न होने से उनके द्वारा बहुत अधिक विकारोत्पति नहीं होती।

मद्यविभ्रम नाम मदलक्षण

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम्।
विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ॥३८॥
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात्।
स मद्यविभ्रमो नाम्ना 'मद' इत्यभिधीयते ॥३९॥

मद्य के अत्यधिक निषेवण से हृदय में मद्य के गुण पहुंचकर हर्ष, तर्ष, रतिसुख, तथा मन के अनुसार विविध राजसतामस मोह और निद्रा में अन्त वाले विकार उत्पन्न होजाते हैं। वह मद्यविभ्रम लास का 'मद' इस प्रकार कहा जाता है।

मद के तीन भेद

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्योस्त्रयो मदाः।
प्रथमो मद्यमोऽन्यश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ॥४०॥

पिये हुए मद्य के तीन प्रथम, मध्यम तथा अन्त्य (लासक) मद जानने चाहिए। इनको लक्षणों से (हम आगे) कहेंगे।

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः।
वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ॥४१॥
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः।
सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ॥४२॥

प्रथम मद हर्षवर्द्धक, प्रीतिकर, खानपान के गुणों का दर्शाने वाला, बाजा, गायन, परिहास तथा कथाओं का प्रवर्तक है। (यह) बुद्धि या स्मरणशक्ति-नाशक नहीं (है) न (ऐन्द्रिय) विषयों के ग्रहण करने में (देखने, सुनने, सूंघने, चलने, मैथुन करने में) अक्षम (करता है) सुखपूर्वक नींद और प्रबोध (जागृति) करने वाला (यह) प्रथम सुखद मद (है)।

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहोऽव्यक्ता सज्जति वाङ्मुहुः।
युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रपलायनमेव च ॥४३॥
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना सविपर्यया।
लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥४४॥

मध्यम मद में आविष्ट होने पर बारबार स्मृति (बारबार) मोह, बारबार अव्यक्त वाक् (अस्पष्ट बोलने वाला) होजाता है। युक्त-अयुक्त (indiscriminate) प्रलाप (बकवाद) और प्रपलायन (घूर्णन चक्कर खाना या इधर उधर गिरते पड़ते शराबी की तरह चलना) तथा विपर्यय के साथ स्थान, पान, खान, और बोलने की योजना इन लक्षणों को जाने।

वक्तव्य (३६३) मध्यम मद में उन शराबियों का

चित्रण किया गया है जो इधर-उधर गिरते पड़ते बकते हुए नाली में औंधा मुंह किए पड़ने वाले देखे जाते हैं ।

मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमाप्राप्य चोत्तमम् ।
न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥४५॥

राजस (वा) तामस व्यक्ति मध्यम मद को लांघकर उत्तम मद को प्राप्त करके ऐसा कोई अशुभ नहीं जिसे वे नहीं करते हैं ।

को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम् ।
गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ॥४६॥

अस्वन्त (अशोभन-दुखदपरिणामकारी) बहुत दोषयुक्त अध्वान (मार्ग पर) जैसे अध्वग (यात्री) उसी प्रकार उन्माद के समान दारुण (इस तृतीय) मद को कौन विद्वान् (बुद्धिमान् या विद्यावान्) पहुंचे । अर्थात् खराब रास्ते पर जैसे कोई मुसाफिर नहीं चलता वैसे ही उन्माद जैसे दारुण इस मद की प्राप्ति के लिए कोई मूर्ख भले प्रयत्न करे कोई विद्वान् तो उधर जावेगा नहीं ।

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥४७॥
रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम् ।
यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ॥४८॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् ।
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद्बुधः ॥४९॥
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च ।
व्यसनित्वादुदर्के च दुःखं व्याधिमश्नुते ॥५०॥

तृतीय मद को प्राप्त करके कटी हुई लकड़ी की तरह निष्क्रिय, मद, मोह से आवृत मन वाला, जीवित रहता हुआ भी, मृत के समान (होता है)। वह रमणीय विषयों को (तथा) सुहृत् जन को भी नहीं पहचानता और जिसके लिए मद्य को पीता है उस रति (सुख) को (भी) नहीं प्राप्त करता है । कार्य-अकार्य, सुख-दुख और जो लोक में हित-अहित (है) जो (उसकी) अवस्था (उसको) नहीं जानता है। उस अवस्था को कौन बुद्धिमान् जावे (जाना चाहता है) । वह (मद्यप) सब प्राणियों का दोषकर्त्ता निन्द्य,

और अग्राह्य (होता है) व्यसनपरायण होने के कारण उदर्क (उत्तरकाल में–अन्त में) दुःखकारक रोग प्राप्त करता है ।

मद्य के दोष

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत् परम् ।
मनः समाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥५१॥

प्रेत होने के पश्चात् (जन्मान्तर में) तथा इस जन्म में जो श्रेय (कल्याणकारक है) तथा जो मोक्ष होने पर परम श्रेयस्कर (है) वह सब सम्पूर्ण देहधारियों के मन की समाधि के आयत्त (आश्रित है)।

मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान् ।
महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥५२॥

प्रबल हवा के (झोंके के) द्वारा (जैसे) तटवर्ती वृक्ष (सन्दोलित होजाता है वैसे ही) मद्य के द्वारा इस (प्राणी) के मन का अत्यधिक संक्षोभ किया जाता है।

मद्यप्रसक्तं तं चाज्ञा महादोषं महागदम् ।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥५३॥

उस महादोष (तथा) महारोग (रूप) मद्य प्रसङ्ग (मद्यपान) को रज मोह से पराजित अज्ञ (पुरुष) सुख (ऐसा) मान कर चलते हैं।

मद्योपहत विज्ञाना वियुक्ताः सात्विकैर्गुणैः।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसाः ॥५४॥

मद्य से उपहतज्ञान, सात्विक गुणों से रहित, मदान्ध, मद के लोभी (जन) कल्याण से दूर हो जाते हैं।

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः।
सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥५५॥

मद्य में मोह, भय, शोक, क्रोध तथा मृत्यु, उन्माद सहित, मद, मूर्च्छा, अपस्मारसहित अपतानक आश्रित (रहते हैं)।

यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत्।
इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति यत्नतः ॥५६॥

जहां अकेला स्मृतिविभ्रंश वहां सब अभद्र जैसे ही है ऐसा (जानकर) मद्यदोष के ज्ञाता यत्नपूर्वक मद्य को निन्द्य कहते हैं।

वक्तव्य—(३६४) धर्मशास्त्रों से लेकर आजतक के काल में भारतवर्ष में मद्य की प्रशंसा नहीं की गई। मद्य मनुष्य की स्मृति का भ्रंश कर देती है। व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व से बाहर और असभ्य बना देती है। मोह शोक भय क्रोध उन्माद मूर्च्छा, अपस्मार, अपतानकादि रोग यहां तक कि मृत्युतक अल्कोहल के सेवन से होजाती है। मानवीय सात्विक गुणों का अवसान और निःश्रेयस् के अन्तर्धान होजाने से मानव बहुत ही निम्न हो जाता है इसीलिए मद्य के पक्ष में कोई नहीं जापाता।

सत्यमेते महादोषाः मद्यस्योक्ता न संशयः।
अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम् ॥५७॥

अहितस्य तथा अतिमात्रस्य और विधिवर्जित पीतस्य मद्यस्य निस्सन्देह ये महादोष सच्चे हैं अर्थात् अहितकर अधिक मात्रा में पीई गई और जो विधि इसके पीने की है उसे त्याग कर पीई गई मद्य के वास्तविक रूप में ये महादोष होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि विधिपूर्वक पीई लाभप्रद अल्पमात्रा में प्रयुक्त मद्य उतनी हानिकर नहीं।

मद्य तथा अन्न

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥५८॥
प्राणाःप्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥५९॥

किन्तु स्वभाव से मद्य को प्रकृति से जैसा अन्न वैसा माना गया (है)। अयुक्तिपूर्वक प्रयुक्त रोग के लिये तथा युक्तिपूर्वक पीई अमृत जैसी (होती है) अन्न प्राणियों के प्राण (हैं) वही अयुक्तिपूर्वक प्राण-नाश कर देते हैं। प्राणहर विष वह युक्तिपूर्वक प्रयुक्त रसायन (का काम देता है) अर्थ यह निकला कि युक्तिपूर्वक प्रयुक्त मद्य ही अमृत के समान सुखदाई और अन्न के समान लाभदायक है।

युक्तिपूर्वक पीई मद्य के गुण

हर्षमूर्जं मुदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं सुखमदप्रदम् ॥६०॥

हर्ष, ऊर्जा (courage), सन्तोष, पुष्टि, आरोग्य, श्रेष्ठ पुरुषार्थ (इन सबको) युक्तिपूर्वक पिया गया सुखदायक मदप्रद मद्य शीघ्र कर देता।

रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्।
प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥६१॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम्।
बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत् ॥६२॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्।
मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम् ॥६३॥

रुचिकर, अग्निसंदीपक, हृद्य, स्वर-वर्ण-प्रसादक, प्रीणन, (तृप्तिकर), बृंहण, बल्य, भय-शोक-श्रमनाशक, नष्ट हुई है निद्रा जिनकी उनको सुलाने वाला, न बोलने वालों की वाणी खोलने वाला, अतिनिद्रितों का जगाने वाला, तथा विबन्धवालों के विबन्ध को नष्ट करने वाला वध, बन्धन, क्लेश और दुखों का बोध न होने देने वाला तथा मद्य से उत्पन्न

रोगों की मद्य ही बाधक (होती है)।

वक्तव्य—(३६५) ऊपर के श्लोकों में मद्य के आयुर्वेदीय गुण (properties of alcohol as found by Ayurvedists) बतलाये गये हैं।

रतिविषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम्।
अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम्॥६४॥

मद्य रति (आनन्द है) तथा विषयोपभोग में प्रीति तथा संयोग को बढ़ाने वाली है वृद्धों को भी मद्य उत्सव और आमोद करने वाली है।

पञ्चस्वर्थेषु काम्येषु या रतिः प्रथमे मदे।
यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि॥६५॥

जवानों की या वृद्धों की जो रति प्रथम मद में वांछनीय पञ्चेन्द्रिय विषयों में प्राप्त होती है उसकी उपमा पृथिवी पर नहीं है।

बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम्॥६६॥

युक्तिपूर्वक सेवित मद्य बहुत दुख से दुखी, और शोक उपहत (पीड़ित) जीवलोक का विश्राम (कही गयी है)।

अन्नपानवयोव्याधि बलकालत्रिकाणिवद्।
त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा॥६७॥

अन्न-पान-वय-व्याधि-बल-काल (इन) छै त्रिकों को तीन दोषों को तीन प्रकार के मन को जानकर सदैव मद्य पीवे।

श्लोक ६७ में आठ त्रिकों का ज्ञान करके मद्य पीने की आज्ञा दी गई है। ये आठ त्रिक निम्न प्रकार से हैं—१—अन्नत्रिक—अशित खादित लीढ या पार्थिव आप्य, तैजस् या वातकर पित्तकर कफकर अन्न २—पानत्रिक पार्थिवपान जैसे गन्ने का रस, आप्यपेय जैसे दूध, तैजसपेय जैसे घृतादि ३—वयत्रिक बाल्य यौवन वार्द्धक्य ४—व्याधित्रिक—वातिक-पैत्तिक श्लैष्मिक, ५—बलत्रिक—प्रवर-मध्यम-अवर ६—कालत्रिक—शीत-उष्ण-वर्षा, ७—दोषत्रिक—वात-पित्त-कफ तथा ८—सत्वत्रिक-सात्विक-राजस-तामस।

तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते।
यया युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते॥६८

इनमें आठों त्रिकों की योजना युक्ति कही जा है। जिस युक्ति से मद्य पीता हुआ मनुष्य मद्य दो से युक्त नहीं रहता है।

मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते।
धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः॥६९॥

सत्वगुण से उच्छ्रित (उठा हुआ) वह व्यक्ति और अर्थ का पीडन न करता हुआ मद्य के स गुणों को प्राप्त करता है।

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे।
द्वितीयेऽव्यक्ततां यान्ति मध्ये चोत्तममध्ययोः॥७०॥

प्रायः करके प्रथम मद में तो सत्वत्रिक (तीनों प्रकार के सत्व) प्रबुद्ध होते हैं। द्वितीय मद में (थोडी) अव्यक्तता को प्राप्त होते हैं तथा उत्तम (तृतीय मद तथा मध्यम मद के बीच में (पूरी) अव्यक्तत को प्राप्त करते हैं।

सस्यसंबोधकं वर्षं हेमप्रकृतिदर्शकः।
हुताशः सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम्॥७१॥

वर्षा अन्न को उत्पन्न करने वाली संबोधक (होती है) हुताशन (अग्नि) सोने के प्रकृति की प्रदर्शक होती है मद्य तो सब प्रकार के सत्वों (सात्विक राजस तामसों) का उभयकारक (संबोधक और प्रदर्शक दोनों) होती है।

प्रधानावरमध्यानां रूपाणां व्यक्तिदर्शकः।
यथाग्नेरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम्॥७२॥

जैसे अग्नि अवर (कनिष्ठ) मध्य तथा प्रधान रूपों का स्पष्ट दर्शाने वाला है वैसे ही मद्य सत्वों की प्रकृति दर्शाने वाला है।

वक्तव्य—(३६६) वर्षा अर्थात् जल और अग्नि के द्वारा जिस प्रकार अन्न का संबोधन, स्वर्णादि का खराखोटापन सरलता से जाना जाता है उसी प्रकार यह मद्य जो है वह जल और अग्नि का संयोग तीक्ष्णोष्ण पेय है जो सत्वों के खराखोटापन को भी बतलाती है तथा उन्हें प्रबुद्ध भी कर देती है।

सुगन्धिमाल्यगन्धर्वं सुप्रणीतमनाकुलम् ।
मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसंकथम् ॥७३॥
सुखप्रपानं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम् ।
स्वन्तं सात्विकमापानं न चोत्तममदप्रदम् ॥७४॥
वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्यर्षेन सात्विकाः ।
मद्यं हि बलवत्सत्वं गृह्णाति सहसा न तु ॥७५॥

सुगन्धयुक्त माला, सङ्गीत, भले प्रकार निर्मित, भीड़रहित, मिष्टान्न-पेय की विशदता से युक्त, सदैव मधुर कथाओं से पूरित पीने में सुखदायक, सुखदमददाता, हर्ष और प्रीति बढ़ाने वाला, अन्त जिसका सुखकर, और जो बाद में तीसरे मद का कर्त्ता न हो सात्विक आपान (या सात्विक मद्यपान अथवा मद्यपान निमित सात्विक गोष्ठी उसको) कहते हैं।

सात्विक (जन) मद्यदोष के कारण सहसा विगुणता को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि बलवान् सत्ववाले को मद्य तो सहसा पकड़ती नहीं है।

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणात् ।
चित्रं राजसमापानं प्रायेणास्वन्तकाकुलम् ॥७६॥

क्षण में कोमल क्षण में कठोर, क्षण में प्रसन्न क्षण में अप्रसन्नतायुक्त प्रायशः (जहां) कथा चलती हो, विचित्र प्रकार का तथा प्रायः करके अन्त में दुखप्रद और भीड़ से युक्त राजस आपान (राजसमद्यपान या पानगोष्ठी होती है।)

हर्षप्रीतिकथापेतमतुष्टं पानभोजने ।
संमोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम् ॥७७॥

हर्ष (और) प्रीति से अपेत (रहित) पान और भोजन में असन्तुष्ट, मोह, क्रोध (और) निद्रा में अन्तवाला तामस आपान (तामस मद्यपान या पान गोष्ठी) माना जाता है।

आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा तथा राजसतामसान्।
जह्यात्सहायान् यैः पीत्वा मद्यदोषानुपाश्नुते ॥७८॥

सात्विक मद्यपान में तथा राजस (और) तामसों को जानकर जिनके साथ पीकर मद्य दोषों को प्राप्त करता है (उन) सहायान् (साथियों) को त्याग देवे।

सुखशीलाः सुसंभाषाः सुमुखाः संमताः सताम् ।
कलास्वबाह्या विशदा विषयप्रवणाश्च ये ॥७९॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया ।
प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये ॥८०॥
उत्सवादुत्सवतरं येषामन्योन्यदर्शनम् ।
ते सहायाः सुखाः पाने तैः पिबन्सह मोदते ॥८१॥

जिनका शील सुख देने वाला है, संभाषण करने में अच्छे, सुन्दर मुख वाले, सज्जनों से प्रशंसित, कलाओं में अबाह्या (ज्ञान रखने वाले), प्रसन्न और विषयों में जो प्रवीण, जो परस्पर एक दूसरे का कहा मानने वाले जिनमें सच्चे मित्र जैसा ऐक्य (हो) जो आपान (पानगोष्ठी) को हर्ष, प्रीति और माधुर्य से बढ़ाते हैं जिनमें एक दूसरे का दर्शन उत्सव से भी बढ़कर उत्सव होजाता है। वे सुखपूर्वक मद्यपान में सहायक उनके साथ पीता हुआ (व्यक्ति) मोद प्राप्त करता है।

रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः ।
पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥८२॥
पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः ।
देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥८३॥

जो भले सहायकों (साथियों के साथ) बैठकर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा मनोरम शब्दों के साथ मद्य पीते हैं जो वे पुण्यवानों के समान हैं। प्राप्त हुए मन के प्रिय पांचों इष्ट विषयों से हृदय से प्रसन्न होकर (प्रशस्त देश में योग्य काल में मद्य पीवे।

स्थिरसत्त्वशरीरा ये पूर्वान्ना मद्यपान्वयाः।
बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते ॥८४॥

जो स्थिर दृढ़ मन और स्थिर शरीर वाले मद्यप वंशज मद्यपान के पूर्व भोजन कर लेने वाले और जो बहुत मद्य पीने के अभ्यास वाले होते हैं वे सहसा मद से आक्रान्त नहीं होते हैं।

क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः ।
रूक्षाल्पप्रमिताहारा विष्टब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥८५॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः ।
स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥८६॥

भूख प्यास से पीड़ित, दुर्बला, वातपैत्तिक

(प्रकृति वाले) रूखा थोड़ा प्रमित आहार (करने वाले), विश्रम्भ (से पीड़ित). दुर्बल मन (वाले), क्रोधी, मद्य के अनाभ्यासी, क्षीण, थके, मद के कारण क्षतविक्षत (शरीर वाले), थोड़े से भी मद्य से शीघ्र मद को प्राप्त होजाते हैं ।

वातिक मदात्यय

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः सम्भवं स्वस्वलक्षणम् ।
अग्निवेश ? चिकित्साञ्च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥८७॥

हे अग्निवेश ! यहां से आगे मदात्यय के हेतु, उनके लक्षण, तथा चिकित्सा को मैं क्रमानुसार कहूँगा ।

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्षितः ।
रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया ॥८८॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च ।
करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥८६॥

स्त्री-शोक-भय-भार-अध्व तथा काम (इनके कारण) अत्यन्त कृश (हो) रूक्ष, अल्प (scanty), और प्रमित (limited) खाने वाला और जो मात्रा में अधिक रात्रि में निन्द्रा त्याग कर रूक्ष और पुराना मद्य पीता है उसको वह शीघ्र वातप्रधान मदात्यय कर देता है ।

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्यादबहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥६०॥

हिक्का-श्वास-शिर में कम्प, पार्श्वशूल, प्रजागरण (इन) से बहुत प्रलाप करने वाले का वातप्राय मदात्यय जाने ।

पैत्तिक मदात्यय

तीक्ष्णोष्णमद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते ।
अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः ॥६१॥
तस्योपजायते पित्ताद्विशेषेण मदात्ययः ।
स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा ॥६२॥

तीक्ष्ण-उष्ण और अम्ल मद्य को जो मात्रा में बहुत सेवन करता है अम्ल-उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों से युक्त भोजन करता है क्रोधी, अग्नि तथा आतपप्रिय उसको विशेष करके पैत्तिक मदात्यय उत्पन्न होजाता है । वह तो वातप्रधान प्रकृति वाले का शीघ्र २ हो जाता है अथवा मार डालता है ।

तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥६३

तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेद, मूर्च्छा, [illegible] (और) विभ्रम (इन) से हरे वर्ण वाला [illegible] मदात्यय जाने ।

श्लैष्मिक मदात्यय

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा ।
मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥६
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः ।
मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ॥६
छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीत परीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥६

मधुर (रसप्रधान)-स्निग्ध-गुरु भोजन [illegible] वाला जो ताजा बनी मीठी सी गुड की या [illegible] (या आटे की बनी) (मद्य को) बहुत मात्रा में [illegible] है । (जो) आराम दिन का सोना, लेटने और [illegible] के सुख में तत्पर रहता है वह कफात्मक मदात्यय प्रायः प्राप्त कर लेता है ।

मदात्ययों की सान्निपातिकता

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः ।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥६७
हन्त्याशु हि विषं किञ्चित् किञ्चिद्रोगाय कल्पते ।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥६८
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये ।
दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वञ्चापि लक्ष्यते ॥६

सन्निपात के प्रकोप के विष के जो गुण देखे [illegible] हैं वे ही मद्य में दिखलाई देते हैं परन्तु विष में [illegible] (वे) बलवत्तर (अपेक्षाकृत अधिक बलवान होते हैं) कोई विष शीघ्र मार डालता है कोई रोग की [illegible] करता है । मद्यकृत अन्तिम मद जैसा विष (का [illegible] होता है) वैसा ही जानना चाहिए ।

इस कारण से सर्वत्र मदात्यय में [illegible] लक्षण दिखाई देते हैं परन्तु लक्षण वैशेष्य

(दोषजन्य सत्ता की ओर) लक्ष्य करता है।

वक्तव्य—(३६७) मद्य और विष दोनों एक ही प्रकार के वेग उत्पन्न कर सकते हैं। विष का साधारण वेग मद्य के तीसरे मद के समान होता है विषज लक्षण बहुधा जिस प्रकार त्रिदोषात्मक होते हैं वैसे ही मद्यज लक्षण भी त्रिदोष-जन्य ही होते हैं पर लक्षण विशेषता से विविध मदात्ययों का वर्णन शास्त्रकारों ने कर दिया है।

शरीरदुःखं बलवत् प्रमोहो हृदयव्यथा।
अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः॥१००॥
शिरः पार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत्तुल्या च वेदना।
जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः॥१०१॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः।
शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः॥१०२॥
छर्द्यतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः।
भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम्॥१०३॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम्।
प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते॥१०४॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च।
मदात्ययस्य रूपाणि सर्व्वाण्येतानि लक्षयेत्॥१०५॥

अत्यन्त शारीरिक कष्ट, मोह, हृदयगत पीडा, अरुचि, निरन्तर प्यास, शीत (अथवा तथा) उष्णता के लक्षण वाला ज्वर, शिर-पसली-अस्थि के जोड़ों की बिजली जैसी घोर वेदना, अत्यन्त बलशाली जम्हाई, अङ्गस्फुरण, कम्प, थकावट, छाती का जकड़ना, और खांसी हिक्का, श्वास तथा जागरण, सर्व शरीर में कम्प, कर्ण-नेत्र-मुख में रोग, त्रिक प्रदेश का ग्रह (stiffening of the waist) तथा वातपित्तात्मक वमन, अतीसार हृल्लास (nausea) भ्रम, प्रलाप, असत्य वस्तुओं का दर्शन करना। चित्तभ्रम वाला वह अपने को तृण-भस्म-लता-पत्र तथा बालू द्वारा अवपूरण (भरा हुआ) और पक्षियों से पराजित हुआ वह अपने को मानता है। और उसको व्याकुल करने वाले को अप्रशस्त स्वप्नों के दर्शन होते हैं। इन सबको मदात्यय के लक्षण जाने।

मदात्यय-चिकित्सासूत्र

सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम्।
दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत्॥१०६॥
कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये।
पित्तमारुतपर्य्यन्तं प्रायेण हि मदात्ययः॥१०७॥
मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते।
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति॥१०८॥

सब मदात्यय को त्रिदोष जन्य जाने। मदात्यय में जिस दोष को देखे आरम्भ में उसका (ही) प्रतीकार करे। क्योंकि मदात्यय प्रायः करके पित्त और वात की प्रबलता वाला होता है (अतः) पहले कफ स्थानानुपूर्वी चिकित्सा मदात्यय में करनी चाहिए। जो व्याधि (मदात्यय) मद्य के मिथ्या-हीन या अधिक पीने से उत्पन्न होती है। वह ही समपरिमाण में पीई गई मद्य के द्वारा ही शान्त होजाता है।

मदात्यय में मद्य का उपयोग

जीर्णाय मद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्।
प्रकाङ्क्षालाघवे जाते मद्यमस्मै हितं भवेत्॥१०६॥
सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सविड्सैन्धवम्।
मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं प्रमाणवत्॥११३॥
तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना।
मद्येनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः॥१११॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्।
जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रयोजयेत्॥११२॥

मद्य दोष के पचाने के लिए मद्य ही देवे। (मद्यपान की) आकांक्षा हलकी होने पर इसके लिए मद्य हितकर होता है। काले नमक से युक्त, शीतल विड और सैन्धव नमक सहित बिजौरे के स्वरस तथा आर्द्रक के साथ जल मिलाकर मात्रा के अनुसार (मद्य प्रदान करे)। अति मात्रा से तीक्ष्णता तथा उष्णता से युक्त अम्ल विदाही मद्य के पीने से अन्नरस का उत्क्लेद और विदग्धता होकर (वह) क्षारत्व को प्राप्त होजाता है (और) अन्तर्दाह-ज्वर-प्यास-मोह-विभ्रम और मद शीघ्र उत्पन्न करता है।

उसकी शान्ति के लिए -मद्य ही प्रयोग करे।

क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।
श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु ॥११३॥

अम्ल (मद्य) के साथ (अन्नरस) की क्षारीयता मधुरता को प्राप्त होती है। अम्ल (वर्ग के द्रव्यों) में जिन गुणों से मद्य श्रेष्ठ है उनको आगे सुन।

वक्तव्य—(३६७) जैसे मौल विष को दंष्ट्रा विष और दंष्ट्रा को मौल विष नष्ट करता है वैसे ही एक जाति की मद्य के द्वारा उत्पन्न उपद्रव को दूसरी जाति वाली मद्य दूर कर सकती है। तीक्ष्णोष्ण अत्यधिक पीत मद्य जहां अन्न का क्षारीय रूप करती है वहां साधारण अम्ल मद्य उसे दूर करके रोग को भी शांत कर देगी। मद्य की अम्लता ही उसके द्वारा चिकित्सा होने में महत्वपूर्ण योग देती है। आगे—

मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः।
मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च ॥११४॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः।
सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥११५॥

मद्य के अम्ल स्वभाव के (परिणामस्वरूप) मधुर कषाय तिक्त तथा कटु (ये) चार ही अनुरस माने गये हैं। पूर्वोक्त दस गुण तथा (इन चार अनुरसों को मिलाकर) चौदह गुणों से सब अम्ल (द्रव्यों) में मद्य ऊपर ऊपर (श्रेष्ठतम रूप में ही) टिकती है।

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण क्रुद्धः स्रोतः सुमारुतः।
वेदनां कुरुते तीव्रां शिरःस्वस्थिषु सन्धिषु ॥११६॥
विष्यन्दनार्थं दोषस्य तस्य मद्यं विशेषतः।
व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्लेषु सत्स्वपि ॥११७॥

मद्य के द्वारा उत्क्लिष्ट दोषों से स्रोतसों में कुपित वात शिर, तथा अस्थि सन्धियों में तीव्र वेदना करता है। उस रोगी के दोष का विष्यन्दन (द्रवीकरण) करने के लिए (अन्य) अम्लों के होने पर भी व्यवायी तीक्ष्ण-उष्ण होने के कारण विशेषरूप से मद्य देनी चाहिए।

स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्।
रोचनं दीपनञ्चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च ॥११८॥

मद्य स्रोतों के विबन्ध की नाशक (है) वातानुलोमक (carminative) रुचिवर्द्धक और अग्नि का दीपन (करने वाली) तथा अभ्यास से सात्म्य (होती है)।

रुजः स्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते।
निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यन्त्यस्य मदोदयाः ॥११९॥

स्रोतों में रुकावट के दूर होजाने पर तथा वात के अनुलोमन होने पर (उसकी) वेदनायें नष्ट होजाती हैं तथा उसके मद से उदित होने वाले विकार शान्त हो जाते हैं।

वातिकमदात्यय-चिकित्सा

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्।
यवानीहपुषाजाजीशृङ्गवेरावचूर्णितम् ॥१२०॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैर्विरोचितम्।
दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥१२१॥

बिजौरा, तिन्तिडीक, बेर, अनार (से) युक्त अजवाइन, हाऊबेर, जीरासफेद, अदरख (इनको) चूर्णित करके स्नेहों के साथ विशेष रुचिकर सत्तू युक्त अवदंशों (मद्यपान के बाद भोजन) के सा पौष्टिक मद्य नमक मिलाकर वातशान्ति के लिए देवे।

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत्।
लावतित्तिरदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥१२२॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः।
भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च ॥१२३॥

वातप्रधान लक्षण देखकर लावा, तीतर, तथा मोरों के भी स्निग्ध-अम्ल रसों से उपचार करे तथा आनूपदेश की पक्षी, मृग, मछलियां त भूशय और प्रसहों के सुसंस्कृत रस के साथ भात (देवे)।

स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः।
स्निग्धैः गौधूमिकैश्चान्यैर्वारुणीमण्डमिश्रितैः ॥१२४॥
सितामार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूपवर्त्तिभिः।
माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥१२५॥

स्निग्ध-उष्ण-लवण तथा अम्लों से, वेशवारों से चिकने गेहूं द्वारा तैयार पदार्थों से,

से, तथा सुरामण्ड मिश्रितों से मिश्री अदरख भरे स्नेह में (तले) पुए तथा बर्तियों से तथा उडद के बड़ों से वातिक (मदात्यय) ठीक करे।

नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम् ।
मेद्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा ॥१२६॥
पृथक्त्रिजातकोपेतं सधान्यमरिचार्द्रकम् ।
रसप्रलेपि संपूपैः सुखोष्णैः सम्प्रदापयेत् ॥१२७॥

न अधिक चिकने न (अधिक) खट्टे (पदार्थों) से मिर्च अदरख मिलाकर मेदयुक्त पहले कहा हुआ मांस अथवा अनार के रस के साथ अलग अलग त्रिजातक (एला, दालचीनी, तेजपत्र) युक्त धनियां अदरख मिर्च मिलाकर मांसरस का प्रलेह पूओं के साथ सुखोष्ण प्रदान करे।

भुक्ते तु वारुणीमण्डं दद्यात् पातुं पिपासवे ।
दाडिमस्य रसं वापि जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥१२८॥
धान्यनागरतोयं वा दधिमण्डमथापि वा ।
अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा ॥१२९॥

खाने के पश्चात् सुरामण्ड देवें। प्यास लगने पर पीने के लिए अनार का रस अथवा पञ्चमूलकृत जल, या धनियां सोंठ का जल या दही का तोड़ भी या खट्टी कांजी का मण्ड अथवा सिर का जल मिला हुआ भी देवे।

कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति ।
मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते ॥१३०॥

मात्रा (तथा) काल के अनुसार युक्त करने से इस सिद्ध कर्म (चिकित्सा के द्वारा) (मद्यपान जनित वातिक मदात्यय रूप) विकार शान्त होजाता है तथा बल और वर्ण बढ़ता है।

रोगषाडवसंयोगविविधैर्भक्तरोचनैः ।
पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः ॥१३१॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः ।
घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः ॥१३२॥
नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः ।
श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखप्रदैः ॥१३३॥
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः ।
मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥१३४॥

भोजन में रुचि उत्पादन करने वाले चटनी अचारों से विविध संयोग से, मांसपेशियों से, शाक पीसे गये जौ गेहूं, शालि के पीसे अन्नों से, अभ्यंगों से, उबटनों से, स्नानों से, उष्ण मोटे बिछौनों से, घनी अगर के लेपों से तथा अगर की बत्तियों की घनी धूपों से यौवन की गर्मी से उष्ण हुई नारियों के गाढ आलिङ्गनों से संरोधजनित, उष्णसुखप्रद श्रोणि-ऊरु और कुच के भारों से, गरम सोने ओढने के वस्त्रों से और गरम सुखकर तहखानों से बली वायुजनित मदात्यय शीघ्र शान्त होजाता है।

पैत्तिकमदात्यय-चिकित्सा

भव्यखर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम् ।
सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिश्चावचूर्णितम् ॥१३५॥
सशर्करं शार्करं वा माध्वीकमथवाऽपरम् ।
दद्याद्बहूदकं काले पातुं पित्तमदात्यये ॥१३६॥

पैत्तिक मदात्यय में कमरख, खजूर, मुनक्का, फालसों के स्वरसों से युक्त अनार के रस के साथ शीतल सत्तुओं से अवचूर्णित, शक्कर मिला बहुत जल वाला शार्कर या माध्वीक (या मार्द्वीक) अथवा कोई दूसरा मद्य योग्यकाल में पीने के लिए देवे।

शशान् कपिञ्जलानेणान् लावानसितपुच्छकान् ।
मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान् ॥१३७॥

भोजन में खरगोशों, कपिंजलों, ऐणों, बटेरों और काली पूंछ के हिरनों को तथा मधुर अम्लशाली साठी (के चावलों) को प्रयोग करे।

पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम् ।
सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥१३८॥

मटर मूङ्ग मिले वा अनार आमला मिले अथवा परवल के यूष से मिश्रित बकरे के मांस का रस तैयार करे।

द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा ।
कल्पयेत्तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥१३९॥

अथवा अंगूर, आमले, खजूर, फालसों के स्वरसों से विविध रसों यूषों तथा तर्पणों को तैयार करे।

आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये ।
विज्ञाय बहुदोषस्य दह्यमानस्य तृष्यतः ॥१४०॥

मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्वा तर्पणमेव वा ।
निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद्विमुच्यते ॥१४१॥

मदात्यय में बहुतदोषयुक्त दाह और प्यासे रोगी के आमाशय में स्थित कफपित्त को उत्क्लिष्ट हुआ जानकर मधु, अंगूर का रस, जल अथवा तर्पण ही देकर निःशेष (पूर्ण रूप से) वमन करादे । इस प्रकार रोग से शीघ्र मुक्त हो जाता है ।

काले पुनस्तर्पणाद्यं क्रमं कुर्यात्प्रकाङ्क्षिते ।
तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः ॥१४२॥

(भूख की) आकांक्षा होने पर योग्यकाल में पुनः तर्पणादि क्रम (का प्रयोग) करे । उससे अवशिष्ट दोष तथा अन्नपाचक अग्नि दीप्त होती है ।

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च ।
तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि ॥१४३॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक् ।
रसं सनागरं दद्यात् तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥१४४॥

कास में रक्तपूर्वक थूकने पर पार्श्वशूल और स्तन में वेदना होने पर प्यासे विदाहयुक्त हृदय और छाती के उत्क्लेश में गिलोय, नागरमोथा अथवा परवल का स्वरस सोंठ के साथ देवे तथा (औषध जीर्ण होने पर) तीतर का भोजन दे ।

तृष्यते चातिबलवद्वातपित्ते समुद्धते ।
दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥१४५॥
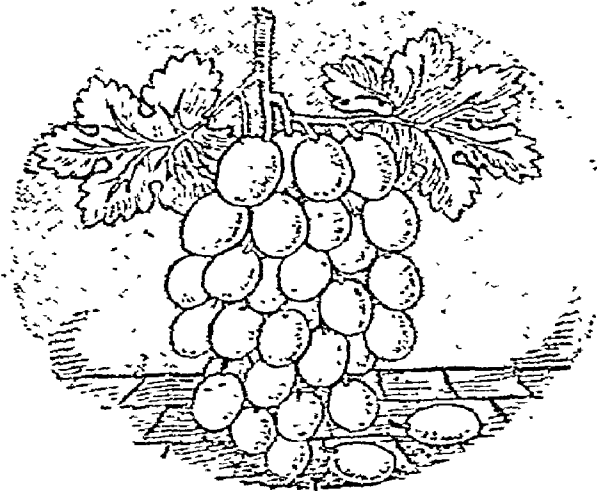
अति बलवान् वात तथा पित्त में कोप होने प्यासे को पीने के लिए शीतल दोषानुलोमक का रस देवे ।

जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम् ।
भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षं च पाययेत् ॥१४६
अनुतर्षस्य मात्रा सा यया नो हन्यते मनः ।

जीर्ण होजाने पर मधुर अम्ल (द्रव्यों) के (बनाए) बकरे के मांसरस से उसको खाना और (भोजन काल में) प्यास लगने पर (:नु होने पर) मद्य पिलावे । अनुतर्ष की मात्रा वह (जिसके द्वारा (रोगी का) मन मारा न जावे ।

वक्तव्य —(३६८) भोजन काल में लगी प्यास में दि गया पेय अनुतर्ष कहलाता है ।

तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद्बहूदकम् ॥१४
तृष्णा येनोपशाम्येत मदं येन च नाप्नुयात् ।

प्यास लगने पर बहुत जल मिलाकर थो थोड़ा मद्य देना चाहिए । ताकि जिससे प्यास बु तथा जिसके द्वारा मद प्राप्त न हो ।

परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथापि वा ॥१४८
पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद्वा शिशिरं जलम् ।
मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद्रसम् ॥१४९

अथवा फालसों तथा पीलुओं (के फलों) शीतल रस, अथवा चारों पर्णियों के शीतल ज (शीत कषाय) को पीवे । या मोथा अनार खीलों तृष्णानाशक रस को पीवे ।

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥१५०

बेर-अनार-तिन्तिडीक-चूका तथा चांगेरी (इ पांचों अम्ल (द्रव्यों) के रस का मुख पर अ (सपैत्तिक मदात्यय जन्य) तृष्णा को शीघ्र नष्ट देता है ।

शीतानि चान्नपानानि शीतशय्यासनानि च ।
शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च ॥१५१
क्षौमपद्मोत्पलानाञ्च मणीनां मौक्तिकस्य च ।
चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥१५

हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः ।
पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहतः ॥१५३॥
संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां स्त्रीणां पित्तमदात्यये ।
चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥१५४॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत् ।

शीतल अन्नपानों को शीतल शैया और आसनों को शीतल वात और जल के स्पर्श और शीतल उपवनों को, रेशमी वस्त्र पद्म, उत्पलों के, मणियों के, मोतियों के, चन्दन के, चन्दन के जल से शीतल हुओं के, चन्द्रकिरणों से शीतल हुए स्पर्श सोने चांदी कांसे के शीतल जलों से भरे हुए पात्रों के बर्फ (से जल से) भरी मशकों के (स्पर्श) से आहत वायु, चन्दन से आर्द्र स्त्रियों के तथा मुख्य जाति के चन्दनों का प्रयोग पैत्तिक मदात्यय में प्रशस्त (होते हैं) और जो कुछ भी शीत वीर्य (होवे) वह सब पैत्तिक मदात्यय में प्रयोग करे ।

कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना ॥१५५॥
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ।

चन्दन के जल से सिक्त कुमोदिनी और कमल के पत्तों के सुन्दर स्पर्श मद्य से उत्पन्न दाह में हितकारी (होते हैं) ।

कथाश्च विविधाः शस्ताः
शब्दाश्च शिखिनां शिवाः ॥१५६॥
तोयदानां च शब्दा हि
शमयन्ति मदात्ययम् ।

अनेक प्रशस्त कथाएँ, मोरों के कल्याणकारी शब्द, तथा बादलों का गर्जन ही मदात्यय का शमन करते हैं ।

जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च ॥१५७॥
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च ।

वैद्य को दाह में जलयन्त्र से वर्षा करने वाले, और वायु बहाने वाले यन्त्र, तथा धारागृह तैयार करने चाहिए ।

वक्तव्य—(३६६) चरक या उससे पूर्व के काल में जो जलयन्त्र, वातयन्त्र और धारागृह कहे गये हैं उनका प्रचार उस काल के उन्नत समाज का द्योतक है ।

फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम् ॥१५८॥
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ।

प्रियंगु, खस, लोध, सुगन्धवाला, लाल नागकेसर, तेजपात, केवटी मोथा, पीलाचन्दन (इसके) रस से युक्त लेप दाह में प्रशस्त (होता है) ।

बदरीपल्लवोत्थश्च यश्चैवारिष्टकोद्भवः ॥१५९॥
फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं हितम् ।

बेर के पत्तों से उत्पन्न और जो नीम के (पत्तों) से प्राप्त तथा फेनिल (रीठे के फलों) का जो फेन उनसे दाह में लेपन हितकर (होता है) ।

सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु ॥१६०॥
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः ।

दाहहर, अम्लकांजीयुक्त, मण्डयुक्त सुरा, खट्टी दही, बिजौरे का रस और शहद, परिषेक और प्रदेह में प्रशस्त होते हैं ।

परिषेकावगाहेषु व्यञ्जनानाञ्च सेवने ॥१६१॥
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये ।
मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति ।
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः ॥१६२॥

परिषेक (और) अवगाहन में व्यंजनों के सेवन करने पर दाह तृष्णा की शान्ति के लिए शिशिर शीतजल प्रशस्त होता है ।

योग्यमात्रा और योग्यकाल में प्रयुक्त इस चिकित्सा के द्वारा बुद्धिमान् वैद्य के वश में गये रोगी का पैत्तिक मदात्यय शीघ्र शान्त होजाता है।

श्लैष्मिक मदात्यय-चिकित्सा

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम् ।
तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद्ध्रीवेरसाधितम् ॥१६३॥
बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम् ।
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम् ॥१६४॥
दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा ।
जलं मुस्तैः शृतं वाऽपि दद्याद्दोषविपाचनम् ॥१६५॥
एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ।
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम् ॥१६६॥

निरामं काङ्क्षितं काले पाययेद्वहुमाक्षिकम् ।
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा ॥१६७॥
रूक्षं तर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ।
यावगौधूमिकं चान्नं रूक्षयूषेण भोजयेत् ॥१६८॥
कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा ।
तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा ॥१६९॥
पटोलयूषमम्लं वा यूषमामलकस्य वा ।
प्रभूतकटुसंयुक्तं सयवान्नं प्रदापयेत् ॥१७०॥
व्योषयूषमथाम्लं वा यूषं वा साम्लवेतसम् ॥
छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम् ॥१७१॥

उल्लेखन (वमन और) उपवास (दोनों) से कफजन्य मदात्यय को जीते। प्यास लगने पर उसको सुगन्धवाला से साधित जल को देवे। अथवा बला पृश्निपर्णी या कटेरी से उबाला सोंठ सहित या सभी द्रव्यों से उबाल कर ठण्डा किया हुआ जल (देवे)।

मोथासहित दुरालभा से या मोथा-पित्तपापड़े से अथवा मोथे से उबाले गये जल को दोषपाचन (के लिए) देवे।

सभी प्रकार के मदात्ययों में हानिरहित पान कराया हुआ यह जल प्यास और ज्वर का नाशक है। आमदोषरहित उसको अन्न की इच्छा होने पर योग्य काल में मधुयुक्त रूक्ष तर्पण से मिला अजवाइनसोंठ से युक्त शार्कर (मद्य), मधु, पुराना अरिष्ट, या सीधु पिलावे। जौ-गेहूँ का भोजन कुलथी के, भले प्रकार सुखाये मूली के पतले थोड़े हलके कटु अम्ल थोड़ा घी मिलाये हुए रस से (अथवा) रूक्ष यूष के साथ भोजन करावे।

खट्टे परवल के यूष को अथवा आमलों के यूष को खूब चटपटा करके जौ के अन्न के साथ देवे। या अम्ल त्रिकटु यूष या अम्लवेतसयुक्त यूष या रूक्ष अम्ल बकरे के मांस का रस या जांगल जीवों का मांसरस (देवे)।

स्थाल्यां वाऽथ कपाले वा भृष्टं निर्द्रववर्तितम् ।
कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन् वृणयान्मधु ।१७२॥

थाली में अथवा खपड़े में द्रवरहित होने भूना गया कटु-अम्ल-लवणयुक्त मांस भक्षण ... हुआ शहद पीवे।

व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम् ।
प्रभूतकटुसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ॥१७३॥
भृष्टं दाडिमसाराम्लमुष्णपूपोपवेष्टितम् ।
यथाग्नि भक्षयेत् काले प्रभूतार्द्रकपेशितम् ।
पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ॥१७४॥

कफजन्य मदात्यय में चकोतरे के रस से यु... मिर्चों की चरपराहट जिसमें स्पष्टतया व्यक्त हो ... खूब कटुद्रव्ययुक्त अजवाइन सोंठ वाला भूना अनार रस से खट्टा, गरम, पूप में लिपटा हुआ ... से आर्द्रक के टुकड़ों से मिलाया हुआ मांस ... काल में अग्नि के अनुसार भक्षण करे। और नि... मद्य को पीवे।

वक्तव्य—(४००) निगद शब्द से पुरातन, निर्मल और निर्दोष मद्य को ग्रहण करे।

सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् ।
त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम् ॥१७५॥
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसन्दीपनं परम् ।
मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतो विशोधनम् ॥१७६॥

अष्टाङ्गलवण—कालानमक, श्वेतजीरा तथा तिन्तिडीक, अम्लवेंती सहित, दालचीनी, एला, मरिच सब मिलाकर आधा भाग तथा एक भाग शक्कर मिलाया हुआ यह अष्टांगलवण परम अग्निसंदीपक (है) कफजन्य मदात्यय में इस स्रोतविशोधक (योग) को देवे।

एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् ।
गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम् ॥१७७॥

फिर युक्तिपूर्वक मधुराम्लों से (मीठे खट्टे वर्ग ... पदार्थ डालकर) तरल किया गया यह गेहूँ जौ ... अन्नों तथा मांसों का बहुत रोचक (योग बन) जाता है)।

पेषयेत् कटुकैर्युक्तां श्वेतां वीजविवर्जिताम् ।
मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ॥१७८

सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः ।
स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः ॥१७९॥

बीजरहित कटु (पदार्थों) से युक्त, श्वेत मुनक्के को चकोतरा या अनाररस से कालानमक, एला, मरिच, जीरा, दालचीनी, यमानी के साथ पीवे। वह राग (चटनी) मधु मिला श्रेष्ठ रोचक (योग) है।

मृद्वीकाया विधानेन कारयेत् कारवीमपि ।
शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम् ॥१८०॥

मुनक्के की तरह कारवी (किशमिश) को भी (रागरूप) करावे। सिरका और खांड से युक्त (यह) राग दीपनपाचन (होता है)।

आम्रामलकपेशीनां रागान् कुर्यात्पृथक् पृथक् ।
धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ॥१८१॥
गुडेनमधुयुक्तेन व्यक्ताम्ललवणीकृतान् ।
तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्भुक्तं च जीर्यति॥१८२॥

धनियां, कालानमक, जीरा, कालाजीरा, मरिच-युक्त गुड और मधु से युक्त खटाई जिसमें स्पष्टतया व्यक्त (है) नमकीन किए गये आम और आमलों (के फलों के) गूदों (से) चटनियों को अलग अलग (तैयार) करे। उनसे लिप्त अन्न रुचिकर होजाता है तथा ठीक से खाया हुआ पच जाता है।

रूक्षाम्लेनान्नपानेन सोष्णेन शिशिरेण वा ।
व्यायामलङ्घनाभ्याञ्च युक्त्या जागरणेन च ॥१८३॥
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च ।
प्राणवर्णकराणां च प्रवर्षाणाञ्च सेवया ॥१८४॥
सेवया वसनानाञ्च गुरूणामगुरोरपि ।
सङ्कोचोष्णसुखाङ्गानामङ्गनानाञ्च सेवया ॥१८५॥
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च ।
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति ॥१८६॥

उष्णतायुक्त या शीतवीर्य रूक्ष-अम्ल अन्नपान से, व्यायाम, लंघनों से युक्तिपूर्वक जागरण करने से योग्यकाल में प्रयुक्त रूक्ष स्नान से, उबटन से तथा प्राणकारक तथा वर्णकारक प्रघर्षणों के सेवन से वस्त्रों के तथा भारी अगर के लेपों से भी, संकोच-शील उष्ण, सुखकर अङ्गवाली स्त्रियों के सेवन से तथा सुखपूर्वक शिक्षित (trained) हाथ वाली स्त्रियों के संवाहन (पैर दबाने) से कफजन्य मदात्यय शीघ्र शान्त होजाता है।

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषवलं प्रति ।
सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥१८७॥

अलग अलग दोषबल के प्रति जो यह चिकित्सा कही गई है इस प्रकार के सन्निपात में वैद्य को वह (उसी की) कल्पना करनी चाहिए।

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधि विकल्पवित् ।
ससाध्यान्साधयेद् व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥१८८॥

जो दोष के विकल्प का ज्ञाता है जो ओषधि के विकल्प को जानता है और जो साध्य असाध्य रोग विभाग का वेत्ता है वह साध्य व्याधियों को साध (सकता है)।

मदात्यय में हितकर विहार

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः ।
विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥१८९॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च ।
गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः ॥१९०॥
संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः ।
प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥१९१॥

रमणीयवन, पद्मभरे सरोवर, विशद अन्न-पान, हर्षदायक साथी, गन्धपूर्ण माला, विमलवस्त्र तथा संगीत के शब्द, हृदय को प्रिय कान्त (मनोज्ञ) पानगोष्ठी, कथा-परिहास-गीतों की विशद योजना, अनुगत (जैसा कहे वैसा अनुगमन करने वाली) प्रिय नारियां मदात्यय का नाश करती हैं।

नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च ।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया ॥१९२॥

मद्य मन को क्षुब्ध किए विना एवं शरीर को आघात किए विना मदात्यय को (उत्पन्न) नहीं करता इस कारण से हर्षदायक चिकित्सा इष्ट होनी चाहिए। अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाली और शरीर की विकृति को दूर करने वाली चिकित्सा

मदात्यय में आवश्यक होती है।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः।
न चेन्मद्यक्रमं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत्॥१९३॥

इन सिद्ध क्रियाओं से मदात्यय शान्ति प्राप्त करता है। और यदि (शान्त) न होवे तो मद्यक्रम को छोड़कर उसे दूध का प्रयोग करे।

लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि।
विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे॥१९४॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥१९५॥

मद्य त्यागने के पश्चात् लंघनों से, पाचनों से, दोष शोधनों से (और) शमनकारी पदार्थों से भी कफ क्षीण होने पर तथा दुर्बलता और लघुता होने पर जिस प्रकार ग्रीष्मा से तप्त वृक्ष के लिए वर्षा है वैसे ही मद्य से जले वात पित्त की अधिकता वाले रोगी के लिए दूध है।

पयसाऽभिहृते रोगे बले जाते निवर्तयेत्।
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत्॥१९६॥

दूध से रोग का हरण होने पर और बल उत्पन्न होने पर तथा मद्य को क्षीर प्रयोग थोड़ा-थोड़ा मद्य क्रम-क्रम से देवे।

वक्तव्य—(४०१) मदात्यय की चिकित्सा में विविध व्यंजन और रागों तथा विहारों के साथ मद्य का सेवन आचार्य ने बताया है पर जहां ये सब उपाय काम देना बन्द करदें तथा मदात्यय लगातार चले तो उस रोगी को मद्य के स्थान पर दूध दे शेष आहार विहार उसी प्रकार रखे। जब रोग दूर होने लगे या कुछ शान्त हो तो फिर थोड़ा थोड़ा मद्य प्रयोग की जामकती है।

ध्वंसक तथा विक्षय

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽति मद्यं निषेवते।
ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥१९७॥

विच्छिन्न मद्य (मद्य का व्यसन जिसने छोड़ दिया हो यदि) सहसा अत्यधिक मद्य सेवन करता है (तो) उसको ध्वंसक तथा विक्षय (नामक) रोग उत्पन्न हो जाता है।

व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ।
तयोर्लिङ्गं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते॥१९८॥

रोग से जर्जर शरीरवाले पुरुष में वे दोनों (ध्वंसक तथा विक्षय) दुश्चिकित्स्यतम (होते हैं) उन दोनों के लक्षण तथा चिकित्सा यथावत् कही जावेगी।

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता।
तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥१९९॥

कफ का प्रसेक, कण्ठ तथा मुख का सूखना, आवाज का न सह सकना, तन्द्रा, अत्यधिक निद्रा (इनसे) ध्वसंक (का) लक्षण जानना चाहिए।

हृत्कण्ठरोगः सम्मोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद् विक्षयलक्षणम्॥२००॥

हृदय और गले के रोग मूर्च्छा, वमन, शरीर में शूल, ज्वर, तृष्णा, कास, शिरःशूल यह विक्षय (का) लक्षण (है)।

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये।
तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायेते दुर्बलस्य वै॥२०१॥

उन दोनों की वही चिकित्सा इष्ट है जो वातिक मदात्यय में (कही गई है) क्योंकि वे दोनों क्षीण देह वाले दुर्बल के ही उत्पन्न होते हैं (और दुर्बल प्रक्षीण देह में वात बलवान् रहता ही है)।

वस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत्॥२०२॥

वातनाशक बस्तियां, घृतपान, दुग्ध-घी का प्रयोग, अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान तथा अन्नपान (प्रयोग में लावे)।

ध्वंसको विक्षयश्चैव कर्मणाऽनेन शाम्यति।
युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते॥२०३॥

इस चिकित्सा से ध्वंसक तथा विक्षय शांत होती है। योग्यरीति से मद्य पीने वालों की मद्योत्थ (कोई) व्याधि उत्पन्न नहीं होती अर्थात् मद्यजनित रोग उन बुद्धिहीनों को ही उत्पन्न होते हैं जो युक्ति के साथ मदिरापान नहीं करते।

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः ।
शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥२०४॥

और जो जितेन्द्रिय व्यक्ति सब प्रकार की मद्यों से बचा हुआ रहता है वह धीसम्पन्न शारीरिक अथवा मानसिक किसी व्याधि से युक्त नहीं होता।

वक्तव्य—(४०२) उपरोक्त श्लोक आचार्य की मद्य निषेधक वृत्ति को स्पष्टतया प्रगट करता है। पानगोष्ठियां और विविध भक्ष्य बताने वाले आचार्य की आत्मा में मद्य के प्रति कोई राग नहीं। वे उसे सब शारीरिक और मानसिक रोगों में कारण मानते हैं। पर मद्य से निवृत्ति केवल जितेन्द्रिय व्यक्ति जिसे अपनी जीभ पर कण्ट्रोल है वही कर सकता है।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकाः

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा ।
यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा ॥२०५॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा ।
यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥२०६॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः ।
यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वं च लक्षणम् ॥२०७॥
ये सहायाः सुखाःपाने चिरक्षिप्रमदा नराः ।
मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं यद्यथा च यत् ॥२०८॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः ।
सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥२०९॥

भगवती सुरा का जो प्रभाव, जैसे उसे पीना चाहिए, जिस द्रव्य से निर्मित, जिसका जो इष्ट तथा जिस प्रकार के योग की अपेक्षा रखती है, जैसे मद उत्पन्न करती है महा गुणवाली (सुरा) जिन गुणों से युक्त, जो मद तथा जो तीन निज निज लक्षण वाले मद भेद और जो मद्यकृत दोष और जो मदात्मक गुण और जो त्रिविध आपान और जैसा सत्त्व लक्षण, सुखपूर्वक आपान में जो साथी, देर में (अथवा) शीघ्र मद (प्राप्त करने वाले) व्यक्ति, मदात्यय का जो हेतु, जो लक्षण, जिस प्रकार जो मद्य मद्यजनित रोगों को नष्ट करता है और जो चिकित्सा (ध्वंसक और विक्षय नामक रोग और उनके हेतु लक्षण चिकित्सा) वह सब सम्पूर्ण रूप से मदात्यय चिकित्सित नामक (अध्याय में) कह दिया गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल-सम्पूरिते चिकित्सास्थानं मदात्ययचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति) की अप्राप्ति पर दृढ़बल (द्वारा) सम्पूरित चिकित्सास्थान में मदात्यय चिकित्सित नामक चौबीसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

पञ्चविंशोऽध्यायः

व्रण चिकित्सा
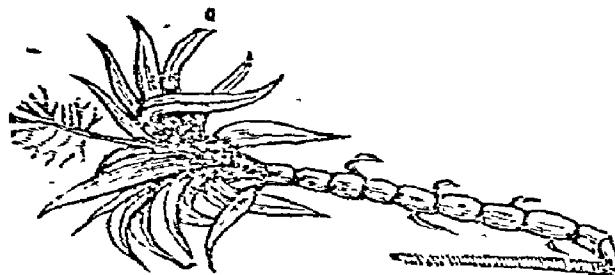
अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) द्विव्रणीय चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

वक्तव्य—(४०२) यद्यपि चरकसंहिता एक कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है फिर भी कायचिकित्सक को शल्यचिकित्सा के मोटे मोटे सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इस दृष्टि से तथा इस दृष्टि से भी कि व्रण जितना शल्यशास्त्र का विषय है उससे कम कायचिकित्सा का नहीं है अस्तु यहां बहुत विचारपूर्वक व्रणों के निजागन्तु भेद, उसके बीस रूप, दुष्टि, स्राव, गन्ध, उपद्रव, लिखकर शस्त्रकर्म शोधन रोपण उत्सादन, प्रलेपन, धूपन आदि की चिकित्सा करके रोम संजनन तथा सवर्णीकरण की उन विधियों की ओर भी इङ्गित किया गया है जो आज भी शक्य नहीं हो पायीं।

व्रणविषयक प्रश्न

परावरज्ञमात्रेयं ग । मानमदव्ययम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले पूजयन्निदमब्रवीत ॥२॥
भगवन् पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे ।
तयोर्लिङ्गं चिकित्साञ्च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥३॥

पर और अवर (उस और इस लोक) के ज्ञाता मान-मद (तथा) व्यथारहित गुरु आत्रेय को यथा समय पूजते हुए अग्निवेश ने यह (प्रश्न) पूछा—

हे भगवन्! रोग संग्रहाध्याय में पहले दो व्रण कहे जा चुके हैं। हे आनन्ददाता! उन दोनों के लक्षण तथा चिकित्सा को बतलाने के लिये (आप) समर्थ हो।
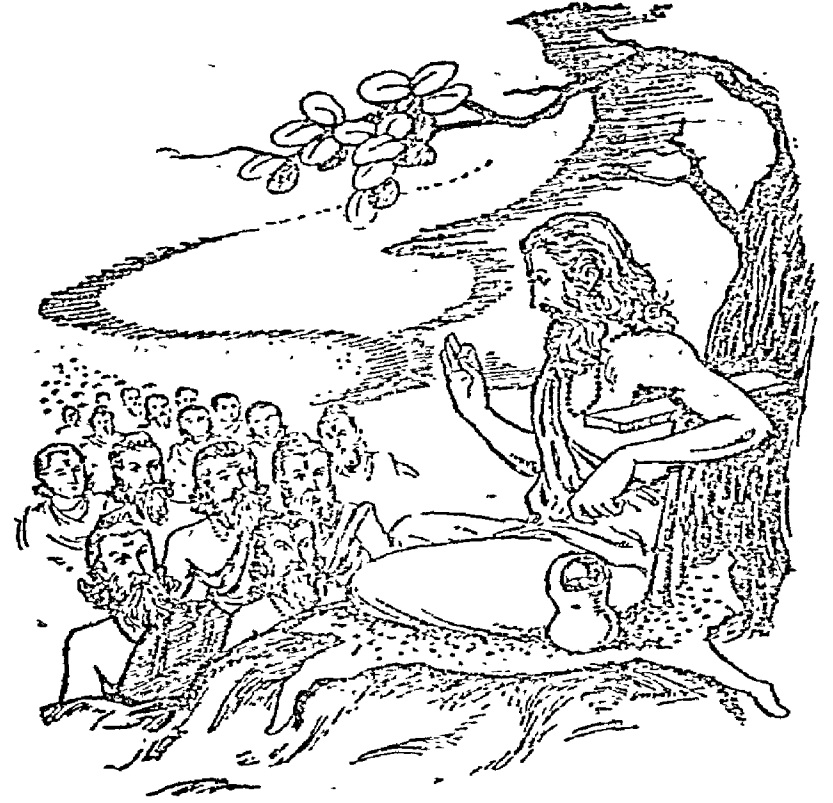
वक्तव्य—(४०५) गङ्गाधर ने पर से उत्कृष्ट और अवर से अपकृष्ट अर्थ ग्रहण किया है। कठवल्ली का निम्न उद्धरण 'पर' के सम्बन्ध में दिया जाता है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा परा गतिः ॥

उत्तर

हुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ।
यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥४॥
श्रूयतां विधिवत् सौम्य ! तयोर्लिङ्गं च भेषजम् ।
निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥५॥

अग्निवेश का यह वाक्य सुनकर गुरु बोले।—

जो (दो) व्रण निज तथा आगन्तु (नाम वाले ही) पहले (अष्टोदरीयाध्याय में) कहे जा चुके हैं। हे सौम्य! इन दोनों के लक्षण तथा भेषज को विधिपूर्वक सुन ।

निज (घाव) शरीरजन्य दोष से उत्पन्न (तथा) आगन्तुक (घाव) बाह्यकारणजन्य) हुआ करते हैं) ।

वक्तव्य—(४०४) जब बाहरी कारणों का कोई वृत्त नहीं मिलता और आन्तरिक किसी पूतिकेन्द्र (septic focus) से व्रणोत्पत्ति होती है तब वह निज व्रण या घाव की परिभाषा ग्रहण करता है। शेष जिनका इतिहास श्लोक ६ की तरह होता है वे आगन्तु व्रण होते हैं।

आगन्तुव्रण—हेतु और चिकित्सा

वधबन्धप्रपतनाद्दंष्ट्रादन्तनखक्षतात् ।
आगन्तवो व्रणास्तद्वद्विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥६॥
मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते ।
लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणाः ॥७॥

आगन्तुघाव वध (चोट–trauma), बन्ध (ligature), पतन (गिरना), दंष्ट्रा (fangs), दन्त (teeth), नख (nails) के क्षत (घाव) से (उत्पन्न होते हैं (तथा) उसी प्रकार (वे) विषस्पर्श (contact with toxic substances), अग्नि तथा शस्त्र से उत्पन्न (भी होते हैं) ।

वे मन्त्र, अगद, प्रलेप आदि द्वारा तथा औषधों से हेतुओं से तथा लक्षणों के एक देश (स्थानिक लक्षणों) से निज घावों से विपरीत कहे जाते हैं।

वक्तव्य—(४०५) आगन्तु की लिङ्गैकदेशता से अभिप्राय है जिस आकस्मिक कारण से आगन्तु व्रण तैयार होता है उसका शरीर के किसी एक अङ्ग में स्थित होना। इसमें प्रथम उस अङ्ग में क्षत बनता है बाद में वातपित्तकफादि का कोप होता है।

स वै लिङ्गैकदेशः यथा आगन्तुः पूर्वमुदेति पश्चात् वातादीन् कोपयति। निजे तु पूर्वं (सार्वदैशिकतया) वातादयः प्रकुप्यन्ति पश्चाद् व्याधय उत्पद्यन्ते।

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम् ।
कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथ ॥८॥

अपने हेतुओं से उत्पन्न आगन्तु व्रणों के (मन्त्रागद प्रलेपादि चिकित्सा से) शमन को न प्राप्त होने पर दोष बल की अपेक्षा रखने वाली जैसी निज व्रणों की चिकित्सा है (उसी को) करे। अर्थात् आगन्तु व्रण जिस कारण से हुआ है पहले उस कारण का परित्याग करे जब कारण त्याग के पश्चात् भी व्रण का परिहार न हो सके तब दोषप्रकोपशामक निज व्रणात्मक चिकित्सा का आश्रय लेना चाहिए।

निजव्रण सम्प्राप्ति

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफानृणाम् ।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ॥९॥

निज-निज हेतुओं से दुष्ट हुए वातपित्तकफ (नामक दोष) व्यक्तियों के बाह्यमार्ग (external regions) का आश्रय करके निज (नामक) व्रणों को उत्पन्न कर देते हैं।

वातिकव्रण

स्तब्धः खरोऽग्निसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः ।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसम्भवः ॥१०॥
सम्पूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः ।
प्रदेहपरिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥११॥

मारुत (वात) से सम्भूत व्रण स्तब्ध, खर, अग्नि जैसे संस्पर्शवाला (burning pain on touch) पाठभेद स्वीकार करने पर खरोऽग्नि संस्पर्शो के स्थान पर कठिन संस्पर्शो से कठिन स्पर्श वाला (indurated), मन्द मन्द स्राव, बहुत अधिक पीड़ा (के साथ साथ वह) श्याव (वर्ण का) तोद (pricking pain) देता है स्फुरण (throbbing sensation) देता है।

सम्पूरण करने वाली (वातनाशक तरल) औषधों से स्नेहपानों से, स्निग्ध स्वेदन (और) उपनाहनों (poultices) से, प्रलेप (ointments) तथा परिषेकों से वातव्रण का उपचार करे।

पैत्तिकव्रण

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्टयवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥१२॥

शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः ।
सर्पिष्पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम् ॥१३॥

प्यास, मोह, ज्वर, क्लेद (मृदुता), दाह, दुष्टि, (तथा) विदीर्ण होने से पूति (सड़न) युक्त गन्धों तथा स्रावों से पित्तजनितव्रण को जाने। प्रदेहों (और) परिषेकों (के करने) से घृतपानों से और विरेचनों से पैत्तिक व्रण को शमन करे।

वक्तव्य-(४०६) वातिक पैत्तिक और श्लैष्मिक ये तीनों प्रकार के व्रण आयुर्वेद की अपनी कल्पना के अनुसार स्वतन्त्रतया व्यक्त परिभाषाएँ हैं इन्हें आधुनिक वर्गीकरण के साथ रखने से अनर्थ की ही अधिक सम्भवना है। स्राव जिसमें मन्द हो (वात) अथवा पूतियुक्त हो (पित्त) अथवा पिच्छायुक्त हो (कफ) शूल अधिक (वात), दाह अधिक (पित्त), मन्दवेदना (कफ) इसी प्रकार अन्य विविध लक्षणों से इन दोषानुसार किए गये वर्गीकरण को समझना चाहिए।

श्लैष्मिकव्रण

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥१४॥
कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहैः परिषेचनैः ।
कफव्रणं प्रशमयेत् तथा लङ्घनशोधनैः ॥१५॥

अत्यधिक पिच्छा (sticky discharge), भारी, चिकना, स्तैमित्ययुक्त, मन्दवेदना वाला, वर्ण (में) पाण्डु, अल्प क्लेदयुक्त, देर में पकने वाला कफ व्रण (होता है)।

कषाय-कटु-रूक्ष (तथा) उष्ण (द्रव्यों से) प्रदेह परिषेकों (के करने से) तथा लंघनों (और) शोधन करने वाले द्रव्यों से कफव्रण शान्त करे।

अध्याय के वक्ष्यमाण विषय

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः ।
येषां परीक्षा त्रिविधा प्रदुष्टा द्वादशस्मृताः ॥१६॥
स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः परिस्रावाश्चतुर्दश ।
षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥१७॥
तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत्समुदाहृताः ।
विभज्यमानाञ्छृणु मे सर्वानेतान् यथेरितान् ॥१८॥

वे दो (प्रकार के निज और आगन्तु नाम वाले व्रण) विविधता के भेद से बीस व्रण कहे गये हैं। जिनकी त्रिविध परीक्षा (होती है)। बारह दुष्ट व्रण (माने गये हैं उनके) आठ स्थान तथा गन्ध (हैं) चौदह परिस्राव, सोलह उपद्रव तथा चौबीस दोष तथा सिद्ध उपक्रम ३६ इस (प्रकार के) कहे गये हैं। इन सबको कथन के अनुसार विभागशः (पृथक् पृथक्) मुझ से सुन।

व्रण के बीस भेद

कृत्योऽकृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो नवः ।
संवृतो दारुणोः स्रावी सविषो विषमस्थितः ॥१९॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एवं च व्रणान् विद्याद्विपर्ययात् ।
इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः ॥२०॥

विविध भेद से बीस (प्रकार के निम्नलिखित) व्रण बतलाये गये हैं—

१-कृत्य (operable), २-अकृत्य (inoperable) तथा ३-दुष्ट (putrid) ४-अदुष्ट (nonputrid), ५-मर्मस्थित (located in vital organs) ६-अमर्मस्थित (excluding vital parts), ७-संवृत (closed) ८-विवृत (open), ९-दारुण (hard) १०-मृदु (soft) ११-स्रावी (discharging profusely) १२-अस्रावी (with scanty discharge) १३-सविष (toxic), १४-विषरहित (nontoxic) १५-विषमस्थित (irregular), १६-समस्थित (regular), १७-उत्सङ्ग (elevated), १८-अनुत्सङ्ग (depressed), १९-उत्सन्न (with deep burrows), तथा २०-अनुत्सन्न (without deep burrows)।

व्रणत्रिविधपरीक्षा

दर्शनप्रश्न संस्पर्शः परीक्षा त्रिविधा स्मृता ।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणाञ्च दर्शनात् ॥२१॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद्बुधैः ।
स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये ॥२२॥

१-दर्शन (inspection) २-प्रश्न (interrogation) ३-संस्पर्शन (palpation) तीन प्रकार की परीक्षा मानी गई है—

१—वय, वर्ण तथा शरीर की इन्द्रियों के दर्शन से, २—हेतु, पीडा, सात्म्य, अग्निबल को वचनों से, ३—विपर्यय सहित मृदुता तथा शैत्य में स्पर्श से बुद्धिमान् द्वारा परीक्षा करनी चाहिए।

द्वादश दुष्ट व्रण

श्वेतोऽवसन्नवर्माऽतिस्थूलवर्माऽतिपिञ्जरः ।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥२३॥
रौप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादशव्रणाः ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण वै ॥२४॥

१—श्वेत (पाण्डुर या pale), २—अवसन्नवर्म (किनारे जिसके झुके हुए हों with depressed edges), ३—अतिस्थूलवर्म (मोटे किनारे with thick edges), ४ अतिपिञ्जर (पीताभ लाल), ५—नील (blue) ६—श्याव (dark or dusky red colour) ७—अति पिडका वाला (covered with pustules), ८—रक्त (haemorrhagic), ९—कृष्ण (black), १०—अतिपूतियुक्त (very putrid), ११—रौप्य (चहिर्दुष्ट)तथा १२—कुम्भी मुख (pin pointed) इस प्रकार बारह प्रदुष्ट व्रण (होते हैं)। दूसरे दोषों के कल्पान्तर से वे २४ कहे गये हैं।

अष्ट व्रण स्थान

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः ।
व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे ॥२५॥

१—त्वचा, २—सिरा, ३—मांस, ४—मेदस्, ५—अस्थि, ६—स्नायु, ७—मर्म, ८—और अन्दर के कोष्ठाश्रित अङ्ग। ये आठ व्रण के स्थान संक्षेप में कहे गये हैं।

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः ।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः ॥२६॥

व्रण के गन्ध के ज्ञाताओं द्वारा व्रण के निम्न (द्रव्यों के समान) आठ गन्ध बतलाये गये हैं—

१—घृत, २—तैल, ३—वसा, ४—पूय, ५—रक्त, ६—श्याव, ७—अम्ल तथा ८—पूतिक (गन्धता)।

चौदह व्रण स्राव

लसीकाजलपूयासृग्घरिद्रारुणपिञ्जराः ।
कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः ।
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश ॥२७॥

१—लसीका (lymph), २—रक्तजल (serum) ३—पूय (pus) ४—रक्त (blood), ५—हारिद्र (yellowish) ६—अरुण (pinkish); ७—पिञ्जर (yellowish red), कषाय (as that of a decoction) ९—नील (blue), १०—हरित (green), ११—स्निग्ध (greasy) १२—रूक्ष (dry) १३—सित (whitish) १४—असित (blackish) इस प्रकार (इन) रूपों से चौदह व्रण(स्राव) discharges from the wound कहे गये हैं।

सोलह व्रणोपद्रव

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरतृष्णा हनुग्रहः ॥२८॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥२९॥

१—विसर्प (erysepalous or sepsis) २—पक्षघात (paralysis) ३—सिरास्तम्भ (thrombosis) ४—अपतानक (convulsions) ५—मोह (stupefaction) ६—उन्माद (insanity) ७—व्रणशूल (pain) ८—ज्वर (fever) ९—तृष्णा (thurst) १०—हनुग्रह (trismus) ११—कास (cough) १२—वमन (vomiting) १३—अतीसार (diarrhoea) १४—हिचकी (hiccough) १५—श्वास (dyspnoea) १६—कम्प (tremors) (ये) १६ व्रणों के उपद्रव व्रणचिन्तक (व्रण विषयक विद्वानों) द्वारा कहे गये हैं।

प्रकारान्तर से चौबीस व्रणदोष

स्नायुक्लेदात्सिराक्लेदाद्गाम्भीर्यात्कृमिभक्षणात् ।
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वाच्च सर्पणात् ॥३०॥
नखकाष्ठप्रभेदाश्च चर्मलोमातिघट्टनात् ।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभेषज्यकर्षणात् ॥३१॥
अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
शोकात्क्रोधाद्दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥३२॥

१—स्नायुओं की क्लिन्नता से (softening of the sinews) २—सिराक्लेद से (softening of vessels) ३-गम्भीरता से (deep-seatedness) ४—कृमियों से भक्षण के कारण (tissue necrosis by germs) ५—अस्थिभेद (fracture) से ६—शल्य होने से (foreign body) ७-विष होने से (toxicity) ८—सर्पण (tendency towards spreading) करने से, ९—नख (nails) से खोंटने से, १०—लकड़ी (wood) से कोंचने से, ११—चर्म (skin) के अधिक घर्षण से, १२—रोम (hair) के घर्षण से, १३—मिथ्या बन्धन (faulty bandaging) से, १४—अतिस्निग्धता (over-oleation) से, १५—अत्यधिक औषध (medication) से, कर्षण करने से, १६—अजीर्ण (dyspepsia) १७ अतिभोजन (over eating) से, १८—विरुद्ध (antagonistic) तथा असात्म्य (unassimilable) भोजन करने से, १९—शोक (grief) से, २०—क्रोध (anger) से, २१—दिन में सोने (sleeping in day time), २२—व्यायाम (exercise) से, तथा २३—मैथुन (sex act) तथा २४—निष्क्रियता (negligence in treatment) से शरीर धारियों के व्रण शान्ति को प्राप्त नहीं होते।

परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवः सह।
व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते ॥३३॥
त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः।
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः स्मृतोव्रणः ॥३४॥
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः।
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः ॥३५॥

उपद्रवों के साथ अधिक स्राव होने से, गन्ध आने से, और दोषों के उपद्रवों के साथ, व्रणों के साथ, व्रणों के बहुत दोषों के (होने से) कष्टसाध्यता उत्पन्न होजाती है। त्वचा और मांस में उत्पन्न, मर्म-रहित स्थान में उत्पन्न उपद्रवरहित तरुण बुद्धिमान् का नवीन व्रण योग्यकाल में सुखसाध्य माना जाता है। उपर्युक्त गुणों से हीन व्रण कष्टसाध्य तथा सब (गुणों से) विहीन असाध्य तथा उपक्रम (चिकित्सा) रहित जानना चाहिए।

व्रणों के छत्तीस उपक्रम

व्रणानामादितः कार्यः यथासन्नं विशोधनम्।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्वस्तिभिरेव च ॥३६
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः।
यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥३७
शोफघ्नं षड्विधञ्चैव शस्त्रकर्मावपीडनम्।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम् ॥३८
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ।
द्वे तैले तद्गुणे पत्रं छादने द्वे च बन्धने ॥३९
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः।
काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे ॥४०
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम्।
इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः ॥४१

व्रणों का आदि से जहां तक सम्भव हो [illegible] भाग वमनों से, अधोभाग विरेचनों से श[illegible] द्वारा तथा बस्तियों से संशोधन करना चाहिए क्योंकि शुद्ध शरीर वालों के व्रण शीघ्र शान्त [illegible] जाते हैं। आगे क्रम के अनुसार (किए जाने वाले सब उपक्रमों को (तू) सुन—

६ प्रकार के शोफनाशक कार्य, शस्त्रकर्म, अ[illegible] पीडन (कल्कादि से पूय निर्हरण), निर्वापण ([illegible] शमन), सन्धान, स्वेदन, शमन, एषण, [illegible] रोपण गुण युक्त कषाय तथा प्रलेप, उसी प्रकार दो तैल (तथा घी), पत्र, दो प्रकार के [illegible] बन्धन, (पथ्य कर) भोजन, उत्सादन, द्विविध द[illegible] अवसादन, कठिनता तथा मृदुताकारक शुभ [illegible] एवं आलेपन, व्रणावचूर्णन, और व्रणरोपण (द्रव्य [illegible]) इस प्रकार व्रणों के छत्तीस उपक्रम कहे गये हैं।

व्रणशोथघ्नी चिकित्सा

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः।
रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥[illegible]
शोधयेद्बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत्।
पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरान् ॥४३
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।

सर्पिष्कैः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परम् ॥४४॥
विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी ।
नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात् सचन्दनः ॥४५॥
सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात् सशर्करः ।
अविदाहीनि धान्यानि शोफे भेषजमुत्तमम् ॥४६॥

उत्पन्न हुए व्रण की शान्ति के लिए, वैद्य व्रणों के पूर्वरूप, (तथा) शोथ को आरम्भ से (ही) जान कर रक्तावसेचन करे। अधिक दोष वालों को तो शोधन करे, (तथा) अल्प दोष वालों को लंघन करे। अथवा वात प्रधानों को पहले कषायों तथा घृतों से जीते। बरगद, गूलर, पीपल, पाकर तथा बेंत की छालों के घी मिलाकर प्रलेप (करना) श्रेष्ठ शोफ-नाशक (उपचार है)। भांग, मुलहठी, क्षीरविदारी, कमल की जड़, शतावरी, नीलोफर, चन्दन सहित नागकेसर का प्रलेप करे। मुलहठी, घी तथा शक्कर सहित सत्तुओं का लेप करे। तथा क्षोभरहित अन्नपान शोफ में उत्तम ओषधि (होते हैं)।

व्रणशोथपाचन उपनाह

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् ।
तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥४७॥
तैलेन सर्पिषा वाऽपि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका ।
सुखोष्णा शोफपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥४८॥
सतिला सातसीबीजा दध्यम्लाः सक्तुपिण्डिका ।
सकिण्वकुष्ठलवणाः शस्ता स्यादुपनाहने ॥४९॥

इस प्रकार उपचार करने पर भी (यदि) शोफ शान्त न हो तो उपनाहों (पुल्टिसों) से पकाकर (उस) का पाटन (incision) हितकर कहा जाता है।

तैल से, घी से, दोनों से अथवा सत्तू की पिंडिया से भी सुखोष्ण शोफ पकाने के लिए उपनाह प्रशस्त होता है।

तिल के साथ, अलसी के बीजों के साथ, दही खट्टा, सत्तूपिण्ड, किण्व बीज के साथ कूठ तथा नमक उपनाह में प्रशस्त होते हैं।

वक्तव्य(४०६)—प्राचीन भारतीय प्रणाली यह है कि उठते हुए फोड़े को आरम्भ से ही बैठा दें। न बैठ सके तो उसे पुल्टिसें बांध बांधकर पकालें। पकने पर स्वयं फूट जावेगा या उस व्रण को शस्त्रकर्म द्वारा चीरकर पूय का निर्हरण किया जावेगा। फिर शोधन करें। शुद्ध होने पर रोपक औषध दें। यदि बड़ा घाव हो तो घाव भर जाने पर सवर्णीकरण और रोमसंजनन क्रियाएँ करें।

रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत् ।
जलबस्तिसमस्पर्शः सम्पक्वं पीडितोन्नतम् ॥५०॥

रुजा (pain), दाह (heat), राग (redness), तोद (throbbing) से सूजन को विदग्ध (पकने के लगभग) जाने। और दबाने पर जल से भरी बस्ति के समान स्पर्श वाले उठे हुए को खूब पका जाने।

पक्व व्रणशोथभेदक ओषधियां

उमाऽथो गुग्गुलं सौधं पयोदक्षकपोतयोः ।
विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मुकूलकः ॥५१॥
इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोथप्रभेदनः ।
सुकुमारस्य कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते ॥५२॥

अलसी के बीज, गूगुल, सेहुण्ड का दूध, मुर्गे और कबूतर दोनों की बीट, ढाक का क्षार, सत्यानाशी, जयपाल; इस प्रकार कही गई ओषधियां दुर्बल के पक्वशोथ का भेदन करने वाली हैं। सहनशील को तो शस्त्रकर्म (ही) श्रेष्ठ कहा जाता है।

व्रण में शस्त्रकर्म की छै विधियां

पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनं तथा ।
प्रच्छनं सीवनञ्चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥५३॥
नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् ।
अन्तःशल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये ॥५४॥
दकोदराणि सम्पक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः ।
व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिडकादयः ॥५५॥
उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान् ।
अर्शः प्रभृत्यथीमांसं छेदनेनोपपादयेत् ॥५६॥
किलासानि सकुष्ठानि विलेख्यानि बुद्धिमान् ।
वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम् ॥५७॥
कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथांश्च प्रच्छयेद्भिषक् ।
सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम् ।
इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्ममनीषिभिः ॥५८॥

१-पाटन (incision) २-व्यधन (puncturing), ३-छेदन (excision), ४-लेखन (scraping), ५-प्रच्छन (scarification), तथा ६-सीवन (suturing) यह शस्त्रकर्म छै प्रकार (का होता है)।

पाटनीय-नाड़ीव्रण, पक्वशोथ, क्षतगुदोदर, अन्तःशल्य तथा जो उसी प्रकार के अन्य।

व्यधनीय-जलोदर, पके रक्तज गुल्म, रक्त के रोग विसर्प पिडका आदि।

छेदनीय-ऊपर उठे हुए, स्थूल किनारे वाले, उभरे हुए, कठिन, अर्श आदि अधिमांस।

लेखनीय-किलास, कुष्ठ

प्रच्छनीय-कोठ, वातरक्त, ग्रन्थि, पिडका, लाल चकत्ते, कुष्ठ, चोट लगा अङ्ग।

सीव्य-विपाटित किया गया कुक्षि उदर आदि का जो गम्भीर घाव (हो)।

इसी प्रकार मनीषियों ने छै प्रकार का शस्त्रकर्म कह दिया है।

व्रणपीडनविधि

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान्प्रपीडयेत्।
कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः ॥५९॥
कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने।

जो व्रण सूक्ष्ममुख वाले (with narrow opening), (तथा) कोषयुक्त (with a capsule होते हैं) उनको प्रपीडित (compress) करे।

व्रण पीडन (करने) में मटर तथा मसूर तथा रेणुका (सम्हालू के बीजों) के साथ गेहूँ (ये सब) कल्कीकृत (गीले पीसे गये) स्नेह (घृतादि) बिना मिलाये अर्थात् रूक्ष रूप में (मुख छोड़कर लेप करने पर) प्रशस्त होते हैं।

व्रण निर्वापन विधि

शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः ॥६०॥
न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा।
आलेपनं निर्वपणं तद्विद्यात्सेचनम् ॥६१॥

सेमर की छाल, खरैटी की जड़, तथा बरगद के पत्ते अथवा न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ आदि (पहले) कहा गया अथवा बलागुडूची मधुकं आदि (.. .. जाने वाला आलेपन उसे निर्वापण जाने (तथा द्वारा परिषेक करना भी निर्वापण होता है।

सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान्व्रणान्

खूब शीतल शतधौतघृत से, दूध से, .. जल से रक्तपित्त प्रधान व्रणों को निर्वापण करे

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा
सन्दधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत्

लटकते हुए व्रणमांसों को घी शहद से।.. समरूप (में) ठीक-ठीक बैठाकर (उचित) . बांध दे।

व्रणसंधानविधि

तान् समान् सुस्थितान्ज्ञात्वा .. .. प्रफल ..
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत्

उनको समानरूप से ठीक ठीक बैठा प्रियंगु, लोध, कायफल (इन) से मजीठ धाय मिला चूर्ण करके (उसका) अवचूर्णन (. बुरकना) करे।

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः

अथवा पञ्चक्षीरी वृक्षों (बरगद गूलर . छाल के चूर्णों से सीप का चूर्ण अथवा लोध्र (के) चूर्णों के साथ (अवचूर्णन करने व्रण (शीघ्र) भर जाते हैं।

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन ..

अस्थि की भग्नता (फ्रैक्चर), जोड़ों . (dislocation of the joints) क्रिया कुर अन्येन (दूसरे अङ्ग के साथ) समान करके जोड़ दे।

स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुख

स्थिर कवलिकाबन्ध से बांध कुशादि करके खूब घी के साथ पट्टियों से अचल बाँधदे।

अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत्।
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका ॥६८॥

अविदाही पिष्टी के अन्नों से उसको ठीक करे। क्योंकि उसकी सन्धि को विश्लिष्ट करने वाली ग्लानि हितकारक नहीं है।

चिच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान्।
उपाचरेद्यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात् ॥६९॥

चिच्युत तथा अभिहत (मोड़ तथा चोट खाए) व्यक्तियों का, विसर्पादि उपद्रवों को, समयानुसार कालज्ञाता (वैद्य) अपनी चिकित्सा से उपचार करे।

वक्तव्य—(४१०) ऊपर जो हड्डी के टूटने या मोड़ने पर दूसरे अङ्ग के समान ठीक ठीक बैठाकर पट्टी बांधने स्प्लिंट्स लगाने आदि का जो उपक्रम दिया गया है। वह आधुनिक और प्राचीन दोनों की दृष्टि में एकसा ही है।

व्रण-स्वेदनविधि—

शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तराः।
स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ॥७०॥

जो व्रण सूखे, बड़े शूल वाले, स्तम्भयुक्त, वातप्रधान (होते हैं) वे खिचड़ी खीर के द्वारा (बने) सङ्कर स्वेद से स्वेदन करना चाहिए।

ग्राम्यबैलाम्बुजानूपैर्वेशवारैश्च संस्कृतैः।
उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिःसुखीस्याद्व्रणितस्तथा ॥७२॥

ग्राम्य, बिलेशय, जलज, आनूपदेशज जीवों के मांस से संस्कृत (सिद्ध) वेशवारों से तथा गरम गरम उत्कारिकाओं से व्रण (से पीडित) रोगी सुखी होता है।

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः।
तेषामुमां तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान्।
तेनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक् ॥७३॥

दाहसहित वेदना वाले जो व्रण वातप्रधान (होते हैं) उनका वैद्य अलसी तथा तिलों को भून कर दूध से बुझाए और उसी के ही दूध से पीस कर लेप करे।

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी।
जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम्।
संसिद्धा स मधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा ॥७३॥

खरैटी, गिलोय, मुलहठी, पृश्निपर्णी, शतावरी, जीवन्ती, शक्कर, दूध, तेल, (रोहू) मछली की वसा (तथा) घी से भले प्रकार सिद्ध की गई और मोम मिलाई हुई स्नेह शर्करा शूलनाशक (होती है)।

वक्तव्य—(४११) इस योग का नाम बलादि स्नेह शर्करा कहा जाता है। गंगाधर ने इसके निर्माण को विस्तार के साथ प्रकट किया है। बला से जीवन्ती तक वनस्पतियों के समान भाग कल्क में चार गुना मछली की वसा, घृत और मोम (आदि स्नेह) डालकर स्नेह से चौगुने दूध के साथ अष्टमांश शक्कर डालकर यह योग सिद्ध किया जाता है।

द्विपञ्चमूलीक्वथितेनाम्भसा पयसाऽथवा।
सर्पिषा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत् ॥७४॥

दोनों पञ्चमूलों से उबाले जल से, अथवा दूध से या घी से तेल के सहित गुनगुना करके उससे परिषेक करे।

यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा।
दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥७५॥

(व्रण में) दाह (तथा) शूल की शान्ति के लिए मुलहठी सहित तिलयुक्त घी के साथ (पीस कर) गुनगुना आलेप करे।

उपनाहश्च कर्त्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः।
रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेव विधिर्हितः ॥७६॥

तिल सहित मूंग की खीर (का) उपनाह करना चाहिए व्रणों में ही शूल दाह दोनों के प्रशमन में यह विधि हितकर (है)।

व्रण—एषणविधि

सूक्ष्मानना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः।
न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते ॥७७॥

सूक्ष्म मुखवाले, अत्यधिक स्राववाले और कोष से युक्त जो घाव (होते हैं) तथा जो मर्माश्रित नहीं (होते) उनका हित (करने वाला) एषण (probing) कहा जाता है।

वक्तव्य (४१२) एषणी अर्थात् सलाई (probe) डालकर सफाई करना। स्राव से पूरित होने पर चारों ओर से

कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम् ।
पटोलं पिचुमर्दञ्च लोध्रं मुस्तं प्रियंगुकम् ॥८७॥
खदिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दने ।
पिष्ट्वा साध्यं भवेत्तैलं तत्परं व्रणरोपणम् ॥८८॥

कम्पिल्लादितैल—कबीला, विडंगों, इन्द्रजौ, हरड बहेडा-आमला, खरैटी, पटोलपत्र, नीम और लोध्र, मोथा, प्रियंगु, कत्था, धाय के फूल, राल, इलाइची, अगर, चन्दन में पीसकर तैल सिद्ध करना चाहिए। वह (तैल) श्रेष्ठ व्रणरोपक होता है।

वक्तव्य—(४१४) व्रण को चीर कर और शोधन करने के बाद फिर ऐसी ओषधियों का प्रयोग शास्त्र बतलाता है जिन्हें लगाने से ग्रैन्युलेशन टिशू की उत्पत्ति निरन्तर होने लगती है जिसके कारण घाव भरने लगता है। घाव भरने के द्रव्य तथा योग रोपण ओषधियों के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।

प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने ।
सिद्धमेतैः समैस्तैलं वरं स्याद्व्रणरोपणम् ॥८९॥

पुण्डरीक, मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली दोनों तथा चन्दन सम प्रमाण में लिए (इनके द्वारा सिद्ध तैल श्रेष्ठ व्रणरोपण करने वाला) होता है।

दूर्वास्वरससिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा ।
दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम् ॥९०॥

दूब के रस से सिद्ध अथवा, कबीले से सिद्ध दारुहल्दी की छाल के कल्क से (सिद्ध) तैल व्रणरोपण (करने में) प्रमुख (होता है)।

ये नैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत् ।
रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा रोपणीयं व्रणं भिषक् ॥९१॥

वैद्य रक्तपित्तप्रधान रोपण योग्य व्रण को देखकर जिस प्रकार से तैल उसी प्रकार से (विविध रोपण ओषधियों द्वारा) घृत को सिद्ध करे।

व्रण में पत्रप्रयोग

कदम्वार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च ।
व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥९२॥

कदम्ब, अर्जुन, नीम (इन वृक्षों) के, पाटला के तथा पीपल के पत्तों तथा आक के (पत्ते) को विद्वान् वैद्य व्रण ढँकने में बतलावे।

वक्तव्य—(४१५) संसार में वृक्ष का ताजा पत्ता जितना शुद्ध होता है उतना शुद्ध और पवित्र अन्य कुछ भी नहीं दिखलाई देता। आचार्यों द्वारा व्रणों को ढाँकने के लिए अथवा उन्हें पकाने के लिए विविध पत्तों का प्रयोग सहस्रों वर्षों से होता चला आरहा है।

व्रण में पट्ट (bandage) प्रयोग

वार्क्षोऽथवाऽऽजिनः क्षौमः पट्टो व्रणहितः स्मृतः ।
वन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ॥९३॥

वार्क्ष (वृक्ष के बल्कल से उत्पन्न), अथवा अजिन (मृगचर्म) का, क्षौम (रेशमी या अलसी के पेड़ की लिनिन) पट्टी (bandage) व्रण के लिए हितकर मानी गई है। व्रणों का दो प्रकार का बन्धन वाम (बांए से दाहिनी ओर तथा) दक्षिण (दाहिने से बांई ओर) प्रशस्त (होता है)।

व्रण—पथ्यापथ्य

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च ।
वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च ॥९४॥
नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम् ।
अन्नपानंव्रणहितं हितञ्चस्वपनं दिवा ॥९५॥

व्रण से पीड़ित, नमकीन, खट्टे, कटु, उष्ण, विदाही तथा भारी अन्नपानों को तथा मैथुन को छोड़ दे।

न अधिक शीतल (न) भारी (न) चिकना, (न) विदाहकारक अन्नपान व्रण (के लिए) हित (है) तथा दिन में न सोना (भी) हितकर है।

व्रण—उत्सादनविधिः

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानिच ।
उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ॥९६॥

स्तन्य (दुग्ध) वर्द्धक (galactagogues) जीवनीय (full of rich vitamins) बृंहणीय और जो (पदार्थ हैं) उन (औषध द्रव्यों) को निचले व्रणों के उत्सादन के लिए प्रयोग करे।

व्रण—अवसादनविधि

भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः ।
व्रणावसादनं तद्वत् कलविङ्ककपोतविट् ॥९७॥

भोजपत्र की गांठ, पत्थर, कासीस, अधोहर (विरेचन) द्रव्य, गुग्गुल, (उभरे हुए व्रण का) अवसादन (करने वाले होते हैं) उसी प्रकार चिड़िया और कबूतर की बीट (व्रणावसादक होती है)।

व्रण—अग्निकर्म

रुधिरेऽतिवृत्ते तु भिन्ने छेद्येऽधिमांसके ।
कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु ॥९८॥
गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च ।
सुप्तेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्नेः संप्रशस्यते ॥९९॥
मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः ।
तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित् ॥१००॥

अधिमांसक के भेदन या छेदन करने में अधिक रक्तस्राव होने पर कफज ग्रन्थियों में, गण्डों में, वात के कारण स्तब्धता (सुन्नता) आजाने पर, गहराई में पीव, लसीका (आदि) होने पर गम्भीर, स्थिर सुप्त प्राय शरीर भागों में अग्निकर्म प्रशस्त होता है।

मोम से, तैल से, मज्जा, शहद, वसा (या) घृत (इन) से अथवा विविध तप्त धातुओं से दाह कर्म विशेषज्ञ दग्ध करे।

रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान् ।
दहेत्स्नेहमधूच्छिष्टैर्लोहैः क्षौद्रेस्ततोऽन्यथा ॥१०१॥

रूक्ष सुकुमारों के गहरे वातप्रधान (व्रणों) को स्नेह तथा मोम द्वारा (तथा) लोह या मधु द्वारा उससे अन्य (स्निग्ध अदृढ़ व्यक्तियों) का दाह करे।

बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ।
तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ॥१०२॥
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च ।
सविषेषु सशल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च ॥१०३॥

बालक, दुर्बल, वृद्धों का, गर्भिणियों का, रक्तपित्त से युक्तों का, प्यास ज्वर से पीड़ित का, अबलों का, विषादान्वितों का स्नायु तथा मर्म स्थानों के व्रणों में विषसहित (व्रणों में) तथा शल्यसहित (व्रणों में) तथा नेत्र और कुष्ठ (जन्य) व्रणों में अग्नि कर्म का उपदेश नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—(४१६) आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा में अग्निकर्म (cauterization) का बड़ा महत्व है। आज के सर्जन भी इसे पहचानने लगे हैं इसी कारण बहुत रक्तस्राव न हो इस दृष्टि से आपरेशन के चाकू को विद्युत्-युक्त करके तब आपरेशन करते हैं।

व्रण—क्षारकर्म

रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः ।
शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ॥१०४॥

रोग के दोषों के बल की अपेक्षा (चिन्ता) करने वाला, मात्रा-काल (तथा) जाठराग्नि (के ज्ञान में) कुशल (वैद्य) शस्त्रकर्म (तथा) अग्निकर्मों में क्षार का भी प्रयोग करे। अर्थात् रोग का स्वरूप और रोगी की अग्नि का विचार करके जो कार्य क्षार-कर्म से ही पूर्ण किया जासकता है वहां शस्त्रकर्म या अग्निकर्म की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

व्रण—धूपनविधि

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः ।
सर्पिर्मज्जवसा धूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ॥१०५॥

गन्ध तथा सार (वान् पदार्थों से) धूपित व्रण कठिनता को प्राप्त होजाते हैं तथा घी मज्जा और वसा के धूपन से व्रण शिथिलता (कोमलता) को प्राप्त होते हैं।

रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमियश्च व्रणाश्रिताः ।
शैथिल्यं मार्दवं चापि धूपनेनोपशाम्यति ॥१०६॥

व्रणाश्रित पीड़ा, स्राव (discharges), गन्ध (offensive odours), तथा कृमि (worms), शिथिलता तथा मृदुता धूपन (fumigation) के द्वारा शान्त हो जाती है।

वक्तव्य—(४१७) प्राचीन आचार्यों की सर्वतोमुखी प्रतिभा अपने विकास के उच्चतम धरातल पर स्थित होने के ही कारण व्रणों के शोधन, रोपण, अग्निकर्म, क्षारकर्म

करने के उपरान्त जीवाणुनाशक गैसरूप वा धूलरूप चूर्ण के द्वारा धूपन भी देने का विधान बना सकी थी।

व्रण—प्रलेपविधि

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफलां घृतम्।
प्रलेपो व्रणशैथिल्यसौकुमार्य प्रसाधनः ॥१०७॥

लोध, बरगद की जटाएँ, कत्था, त्रिफला तथा घी को लेप करना व्रण की शिथिलता तथा सुकुमारता का प्रसाधक (होता है)।

सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः।
यवचूर्णैः सर्सापिष्कैर्वहुशस्तान् प्रलेपयेत् ॥१०८॥

जो व्रण पीड़ायुक्त, कठिन, सुन्न, स्रावरहित (होते हैं) घी के साथ जौ के आटे से उनको बहुत बार लेप करे।

मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम्।
सघृतर्जीवनीयैर्वा तर्पयेत्तानभीक्ष्णशः ॥१०९॥

मूंग, साठी, शालि चावलों की खीर अथवा घृतसहित जीवनीय द्रव्यों से यथाक्रम उनको बार-बार तर्पण करे।

व्रण—अवचूर्णन

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः ।
त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिताः व्रणाः ॥११०॥

अर्जुन, गूलर, पीपल, लोध्र, जामुन, कायफल की छालों के चूर्णित (चूर्ण) शीघ्र ही त्वचा को ग्रहण कर (पकड़) लेते हैं। अतः इनका अवचूर्णन (insufflation) किया जासकता है।

मनःशिलैला मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम्।
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशद्धकरः परः ॥१११॥

मैनसिल, बड़ी इलायची, मजीठ, लाख तथा दोनों हल्दियों का घी शहद के साथ प्रलेप त्वचा का श्रेष्ठ शोधन करने वाला (होता है)।

व्रण-सवर्णीकरण

अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च।
करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि ॥११२॥

कासीससहित लौहभस्म तथा हरड़ बहेड़े आमलों के फूलों को लेप (करने से वह) नई त्वचा में शीघ्र ही कृष्णता (कालापन) कर देती है।

कालीयकनताम्रास्थिहेमकालरसोत्तमैः ।
लेपः सगोमयरसः सवर्णीकरणः परः ॥११३॥

पीतचन्दन, तगर, आम की गुठली, नागकेशर, काल (काला अगर), रसों में उत्तम (अर्थात् पारा शुद्ध) (इन) से गोबर के रस के साथ लेप उत्तम सवर्णीकरण (होता है)।

श्यामाश्वत्थनिचुलमूलं लाक्षा सगैरिका।
सहेमश्चामृतासङ्गः कासीसं चेति वर्णकृत् ॥११४॥

कचूरण, पीपल, जलवेतस की जड़, गेरूसहित लाख, नागकेसरसहित तूतिया तथा कासीस वर्णकारक है।

वक्तव्य—(४१८) व्रण के बाद जो गृथ (scar) पड़ता है वह श्वेतवर्ण का होकर भद्दा लगने लगता है। तथा उस पर रोंगटे नहीं जमते। प्राचीन आचार्यों ने उसका अध्ययन करके सवर्णीकरण (त्वचा के वर्ण में गृथ का रङ्ग) मिला देना, तथा वहां पर रोंगटों का उत्पन्न कर देना भी आरम्भ किया था। इन दोनों क्रियाओं का समावेश ही आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा की उत्कृष्टता का प्रगाढ़ परिचय प्रदान कर देता है।

व्रण—रोमसञ्जनन

चतुष्पदानां त्वग्लोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ॥११५॥

चौपायों के त्वचा-रोम-खुर, सींग-अस्थि (इनकी) भस्म से चूर्णित (बुरकी गई) भूमि (त्वचा) फिर से रोमवती होजाती है।

घावोपद्रव चिकित्सा

षोडशोपद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः।
तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते ॥११६॥

व्रणों के जो सोलह उपद्रव (इसी अध्याय के श्लोक २९–३० में) बतलाये गये हैं उनकी अपनी-अपनी चिकित्सा अपने अपने चिकित्सा अध्याय में कह दी गई है।

वक्तव्य —(४१६) विसर्प, पक्षाघात, सिरास्तम्भ, अपतानकादि उपद्रवों की चिकित्सा इन इन रोगों पर विस्तृत विचार जिन अध्यायों में किया गया है वहीं लिख दी गई है इस कारण पुनः उसका वर्णन आचार्य ने नहीं किया।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोकौ:

द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च।
स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः ॥११७॥
व्रणाधिकारे सप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान्।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते ॥११८॥

वहां (उपसंहारात्मक दो) श्लोक (हैं कि): १—दो प्रकार के व्रण, और २—व्रण के भेद, ३—परीक्षा तथा ४—दुष्टि, ५—स्थान, ६—गन्ध, ७—स्राव, ८—उपद्रव तथा जो ९—चिकित्सा इन नौ को प्रश्न (के उत्तर के रूप में) व्रणाधिकार (नामक अध्याय में) मुनि (भगवान् पुनर्वसु आत्रेय) ने धीमान् अग्निवेश के लिए विस्तार-संक्षेपपूर्वक कहा।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल-सम्पूरिते चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति के) अप्राप्त होने पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में द्विव्रणीय चिकित्सा नामक पच्चीसवां अध्याय (समाप्त हुआ) ॥२५॥

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

षड्विंशोऽध्यायः

त्रिमर्मीय चिकित्सा

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) त्रिमर्मीय चिकित्सित (नामक) अध्याय का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

वक्तव्य —(४२०) यह त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय है। इसमें तीन प्रमुख मर्मों का वर्णन किया गया है। बस्ति, हृदय और शिर ये तीन प्रधान मर्म हैं इन्हीं के रोगों का यहां समावेश है।

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं
शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेभ्यः।
मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च-
प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञा ॥२॥

प्राणाश्रयात्

शरीरसंख्याशारीर के अधिकार में जो सात ऊपर सौ (१०७) मर्म कहे गये हैं उनमें से तज्ज्ञ (मर्म

विशेषज्ञ) वस्ति, हृदय तथा सिर को प्राणों का आश्रय होने से प्रधानमर्म बतलाते हैं।

वक्तव्य—(४२१) यद्यपि यहां शिर हृदय और वस्ति ये तीन स्पष्ट अंग निर्देशन किया गया है पर चरक का तात्पर्य आंख नाक कान आदि सहित सिर से है, फेंफड़ा, प्लूरा, हृदयसहित हृदय से है तथा सम्पूर्ण अपानवायु द्वारा नियन्त्रित कोष्ठ वस्ति से है।

तानि हि पीडयन्तो
वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति।
तत्संश्रितानामनुपालनार्थं
महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम् ॥३॥

क्योंकि उनको पीडित करते हुए वातादि दोष असून् अपि (प्राणों को भी) पीडित करते हैं। (इसलिए) हे सौम्य (अग्निवेश)! त्रिमर्म के आश्रित महारोगों की चिकित्सा को (प्राणों के) अनुपालन के लिए (तू) सुन।

उदावर्त

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः
सन्धारणाभोजनमैथुनैश्च।
पक्वाशये कुप्यति चेदपानः
स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा ॥४॥
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं
क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्।
रुग्वस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं
सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ॥५॥

कसैले, तीते, चरपरे, रूखे खाद्य पदार्थों (के प्रयोग करने) से, वेगधारण-अभोजन (उपवास-अनशन) तथा मैथुन (इन) से पक्वाशय में अपान (यदि) कुपित होता है तो अधोमार्गगामी स्रोतसों को वह बलवान् (कुपित अपान वायुदोष) मल-मूत्र-वात का संग (रोक) वाले अत्यन्त क्लेशदायक उदावर्त को क्रमशः कर देता है। इसके कारण पीठ और पार्श्वों के साथ वस्ति, हृदय, कोख तथा उदर में बारबार अति दारुण पीडा होती है।

आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च-
तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोथः।
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डा-
न्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात् ॥६॥

आध्मान, मतली, परिकर्तिका (colic) तथा तोद, अविपाक, तथा वस्तिशोथ, मल की अप्रवृत्ति, पेट में गण्ड (गांठों के समान औदरिक लहरें जो वात के कारण उछलती छिपती दिखाई देती हैं) तथा गुद प्रदेश में रुका हुआ वायु ऊर्ध्वगति वाला होता है।

कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः
स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता।
ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्र-
प्रवाहिका हृद्ग्रहणी प्रदोषाः ॥७॥

सूखे हुए (मल) की कष्ट से (तथा) देर से प्रवृत्ति होती है अथवा (मल) पतला, खर, रूक्ष और शीतल होता है। शुष्कस्य के स्थान पर शुक्रस्य ऐसा पाठ होने पर कष्ट से देर से अथवा पतले खर रूक्ष शीतल शुक्र की प्रवृत्ति होती है ऐसा मान सकते हैं। इसके बाद ज्वर, मूत्रकृच्छ्र (dysuria) प्रवाहिका (dysentery) हृदय के रोग, तथा ग्रहणी (के) दोष (बन जाते हैं)।

छर्द्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापा
वातोदराष्ठीलमनोविकाराः।
तृष्णास्रपित्तार्दितगुल्मकास-
श्वासप्रतिश्यायरुचिपार्श्वरोगाः ॥८॥
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था
भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः।
चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं
प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश ॥९॥

वमन, अन्धता (blindness), बधिरता (deafness), सिर में जलन, वातोदर, अष्ठीला, मानसिक विकार (psychic disorders), प्यास, रक्तपित्त, अर्दित (facial paralysis), गुल्म, कास, श्वास, प्रतिश्याय, अरुचि, पार्श्वगत (फैंफड़ों के) रोग तथा अन्य बहुत से वातिक घोर उदावर्त

द्वारा किए गये रोग होते हैं।

हे अग्निवेश ! इस (उदावर्त) की चिकित्सा यथावत् अब आगे कही जावेगी वह (तू) सुन।

वक्तव्य—(४२२) उदावर्त की निरुक्ति विजयरक्षित ने 'उद्भूतेन वेगविधारणेनाऽऽवृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्त निरुक्तिः। इस प्रकार देकर बतलाया है कि वेगविधारण से आवृत हुई वायु का इतस्ततः अपनी स्वाभाविक गति को छोड़कर वर्तन करना घूमना उदावर्त कहलाता है। उदर में जो अनेक कार्यों का नियन्त्रण होता है वह नियन्त्रणकर्ता वायु जब विविध कुपथ्यों के कारण अपने रूप को त्यागकर कोप करके इतस्ततः विचरण करने लगता है तब भोजन के पचने में जितनी बाधा पड़ती है उतनी ही बाधा मलमूत्रवात के बाहर जाने में भी पड़ती है। इसी कारण विविध रोगों की उत्पत्ति का कारण उदावर्त बन जाता है।

उदावर्त में आक्षेप (spasms) की प्रवृत्ति रहने से मार्गों का अवरोध होना एक स्वाभाविक घटना है। अवरोध से शूल होता है। ज्ञानेन्द्रियों की स्वाभाविक क्रिया भी मन्द होजाती है जिसके कारण अन्ध बधिरपन आदि सब हो सकते हैं। मनोविकार भी इसी के परिणाम हैं।

हमने जो वक्तव्य (४२१) में यह कहा था कि सिर और हृदय तथा बस्ति ये तीन उपलक्षणात्मक रूप से लिए गये हैं तभी तो सिर में उदावर्त आन्ध्य, बाधिर्य, शिरोभिताप तथा वमन (central vomiting) का कारण है। तृषा रक्तपित्त, गुल्म, बस्तिगत और श्वासकास, प्रतिश्याय और पार्श्वगत रोग हृदय में उदावर्त के परिणाम से यहां न मिलाए जाते। उदावर्त का परिणाम तीनों मर्मों पर होता है। और विविध अङ्ग इससे पीड़ित या प्रभावित देखे जाते हैं।

उदावर्त चिकित्सा

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं
स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्।
उपाचारेद्वर्तिनिरूहवस्ति-
स्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ॥१०॥

उस (उदावर्ती व्यक्ति) को शीतज्वरनाशक (अगुर्वादि) तैल (देखिए पृष्ठ २०६) से चुपड़ कर यथोक्त (सूत्रस्थान अध्याय १४) स्वेदों से दोष विलुप्त (या द्रवित जिसके हो चुके हैं उस) को फलवर्ति, निरूहबस्ति, स्नेह (बस्तियों) से, विरेचनों (तथा) वातानुलोमक (carminative) अन्नों से ठीक करे।

वक्तव्य—(४२३) विविध वर्ति, बस्तियां, विरेचन तथा पथ्य जो उदावर्त में लाभ करते हैं वे आगे के श्लोकों में दिये गये हैं। रोगी के शैत्य का नाश करके वातानुलोमक प्रयोगों द्वारा कुपित वात को समावस्था तक लाना ही यहां उद्दिष्ट है।

श्यामादिवर्ति

श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं
गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम्।
सनीलिकां द्विलवणां गुडेन
वर्त्ति करांगुष्ठनिभां विदध्यात् ॥११॥

श्यामालता, निशोथ, पिप्पली, दन्तीसहित, नीलिनीसहित, (सब १-१ भाग) २ भाग सेंधानमक (तथा) १० भाग उड़दों (के साथ) गोमूत्र में पिसी गुड़ के साथ हाथ के अँगूठे जैसी वर्ति बना ले।

पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा—
ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः।
क्रिमिघ्नकाम्पिल्लकशङ्खिनीभिः
सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ॥१२॥
स्यात्पिप्पलीसर्षपराठवेश्म-
धूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः।
श्यामाफलालावुकपिप्पलीनां
नाड्याऽथवा तत् प्रधमेत्तु चूर्णम् ॥१३॥
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णा-
चूर्णं सजीमतकसैन्धवं वा।
स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति
नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥१४॥

अथवा तिलकल्क, कालानमक, हींग (इन) से सरसों, सोंठ मिरच पिप्पली जवाखार के साथ अथवा विडंग, कबीला, शंखिनी (यवतिक्ता) के द्वारा सेहुंड तथा आक से उत्पन्न दूध (तथा) गुड से युक्त करके, (या) गोमूत्र और गुड़ से युक्त पिप्पली, सरसों,

मदनफल तथा घर के धुंए से वर्ति बनावे।

अथवा श्यामालता (कालीनिशोथ), मदनफल, कडवी तुम्बी, पिप्पली (इन) का चूर्ण (करके तथा) उस चूर्ण को नाली (tube) के द्वारा प्रधमन करे।

अथवा रक्षोघ्न (सरसों), तुम्बी, मदनफल, पिप्पली, देवदालीसहित सेंधानमक के चूर्ण को (नाली द्वारा प्रधमन करे)।

स्निग्ध गुद में प्रयुक्त की हुई वर्ति तथा प्रधमन मनुष्य के मल वात और मूत्र (की) रुकावट को अनुलोमन करते हैं।

उदावर्त में निरूहण

तेषां विघातेषु भिषग् विदध्यात्
स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम्।
ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैल-
क्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥१५॥

उनका (फलवर्तियों यथा प्रधमन का) विघात (लाभकर परिणाम न) होने पर, वैद्य भले प्रकार अभ्यंग (तथा) स्वेदन किए शरीर वाले को वमन-विरेचन (में प्रयुक्त होने वाली) औषधों (तथा) मूत्र-तैल-क्षारीय-अम्ल अत्यन्त तीक्ष्ण वातनाशक औषधियों से युक्त निरूहण (वस्ति) देवे।

वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं
क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम्।
समूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमाशु
गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥१६॥

वात की अधिकता में तैल (एरण्डतैल) सहित अम्ल (द्रव्य तथा) लवण (के साथ बनाई गई निरूह वस्ति) को, पित्त (की अधिकता वाले उदावर्त) में तो दूध से (तथा) कफ (की अधिकता वाले उदावर्त) में गोमूत्रसहित (प्रयोग करे)।

वह (उपरोक्त प्रकार से दी गई निरूहवस्ति) मूत्र-मल (तथा) वात की रुकावट को शीघ्र (नष्ट करती है तथा) गुद और सिरा (के सङ्ग को दूर कर उनका) प्रगुणन (फैलाव relaxation) कर देती है।

वक्तव्य—(४२३) निरूहण सिरा का प्रगुणनकर्त्ता [vasodilator] तथा गुदप्रसारक होता है।

उदावर्त में पथ्य

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाक-
ग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम्।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भि-
र्द्यात् प्रसन्नागुडसीधुपायी ॥१७॥

सुरामुण्ड (प्रसन्ना तथा) गुड (की बनी सीधु पीने वाला निशोथ, थेहुण्ड के पत्ते, तिल आदि(के पत्तों के) शाकों (के साथ अथवा) ग्राम्य, जलज (तथा) आनूप जीवों के मांसरसों के साथ जौ का अन्न खावे तथा (इसी प्रकार) अन्य (जो) वातमल-मूत्र का सरण करने वाले (द्रव्य) हों (उन) के साथ (भी यवान्न खाया जासकता है)।

भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो
मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः।
स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत्तं
रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत् ॥१८॥

पुनः (उदावर्त का) अनुबन्ध होने पर तो गोमूत्र, प्रसन्ना, दही का पानी (तथा) सिरका (इन) के साथ विरेचन देवे। स्वस्थ होने पर (यदि) उसे रूक्षता के कारण वात और मल की रुकावट हो तो बाद में उसको अनुवासन करादे।

हिंग्वादिचूर्ण

द्विरुत्तरं हिंगु वचाग्निकुष्ठं★
सुवर्चिका चैव विडस्य चूर्णम्।
सुखाम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्ति-
हृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥१९॥

द्विरुत्तरं उत्तरोत्तरं द्विगुणम्-इस सिद्धान्त से हींग-१ भाग, वचा-२ भाग, चित्रक-४ भाग, कूठ-८ भाग, सज्जी-१६ भाग तथा विड (नमक) का-३२ भाग (इन सबके साथ कूटा गया) चूर्ण गुनगुने जल के साथ आनाह, विसूची, उदरशूल, हृद्रोग, गुल्म तथा ऊर्ध्ववातनाशक (होता है)।

★ द्विरुत्तरं हिंगु वचा सकृष्णा—गंगाधर।

वक्तव्य—(४२४) इस चूर्ण के निर्माण में कई पाठ भेद मिलते हैं। गंगाधर हिंगुवचाग्निकुष्ठं के स्थान पर हिंगु वचा सकृष्णा मानकर चित्रक कूठ के स्थान पर पिप्पली स्वीकार करता है। चक्रपाणि हिंगुवचासकुष्ठ कहकर चित्रक को उड़ा देता है। योगरत्नाकर के द्विरुत्तर चूर्ण के योग में हिंगुकुष्ठवचास्वर्जिविडं चेति द्विरुत्तरम् कहा गया है इसे देखने से विडङ्ग न लेकर विडलवण को लिया गया है। जो ऐसा न करना चाहें वे विडङ्गचूर्ण डाल सकते हैं)।

वचाभया चित्रकयावशूकान्-
सपिप्पली कातिविषान् सकुष्ठान्।
उष्णाम्बुनानाहविमूढवातान्-
पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥२०॥

वचादिचूर्ण—बालवच, हरड़, चित्रक, जौ के शूकों (तीकुरों) को या यवक्षार पिप्पलीसहित कूठसहित अतीस (इन) को गरम जल के साथ पीकर मांसरस (तथा) भात खाने वाला आनाह (तथा) मूढ वातों को शीघ्र जीत ले।

हिंगूग्रगन्धा विडशुण्ठचजाजी-
हरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम्।
यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत्-
प्लीहोदराजीर्ण विसूचिकासु ॥२१॥

द्वितीय हिंग्वादिचूर्ण—जैसे आगे (बढ़े) एक भाग बढ़ाकर लिया हुआ अर्थात् हींग १ भाग, बचा २ भाग, विडलवण ३ भाग, सोंठ ४ भाग, जीरासफेद ५ भाग, हरड ६ भाग, पोकरमूल-७ भाग, (तथा) कूठ-८ भाग यह प्लीहोदर (splenomegaly) अजीर्ण (तथा) विसूचिकाओं में (हितकारी होताहै)।

वक्तव्य—उग्रगन्धा से चक्रपाणि अजमोद का ग्रहण करता है।

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः
शम्पाकपूतीककरञ्जयोश्च।
सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां
प्रस्थो घृतात् स्यात् प्रतिरुद्धवाते ॥२२॥

स्थिरादिघृत—स्थिरादिवर्ग (शालपर्णी, पृश्निपर्णी कटेरी दोनों, गोखुरू नामक लघु पञ्चमूल) का, पुनर्नवा का, अमलतास तथा पूतिकरंज दोनों के (इस प्रकार सब ओषधियों के) दो-दो पलों के द्वारा (बने) कषाय में घी से एक प्रस्थ सिद्ध करके प्रयोग करने से वह घृत रुकी हुई वात (उदावर्त) में (हितावह होता है)।

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं-
हिंग्वर्कमूलं दशमूलमग्र्यम्।
स्नुक् चित्रकश्चैव पुनर्नवा च-
तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ॥२३॥
स्नेहैः समूत्रैः सहजर्जराणि-
शरावसन्धौ विपचेत् सुलिप्ते।
पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः
पानैस्तथाऽऽनाहरुजाघ्नमद्यात् ॥२४॥

विरेचन (नाम से दीर्घञ्जीवितीय नामक सूत्र-स्थान के प्रथम अध्याय में अथवा कल्पस्थान में विरेचन कल्प से) कहे जाने वाले फल तथा मूल, हींग, आक की जड़, श्रेष्ठ दशमूल, सेहुण्ड, चित्रक तथा (सांठ सब समान भाग), सबके बराबर पांचों (सेंधा, सौवर्चल, बिड, सामुद्र, सांभर) नमक सबको जर्जर करके स्नेह (एरण्डतैल) तथा गोमूत्र के साथ मिलाकर ठीक मिट्टी से लिपी शराव सन्धि के भीतर पकावे। पकने पर खूब पीसकर आनाह तथा (उदावर्त की) पीडा के नाशक उस नमक को खाद्य पेय द्रव्यों के साथ (मिलाकर मसाले की तरह) खावे।

आनाह

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्या—
मुद्गारसङ्गेन सपीनसेन।
आनाहमामप्रभवं जयेत्तु
प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च ॥२५॥

हृदय प्रदेश (precordial region-हृदय और आमाशय के मध्य के क्षेत्र का) जकड़ना, शिरोरोग, गुरुता, पीनस (coryza) के सहित डकारों की रुकावट होने से आमजन्य आनाह से उत्पन्न हुए

उसे प्रच्छर्दन, लंघन, तथा पाचन (इन) द्वारा जीते।

गुल्मोदर ब्रध्नार्शः प्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे।
मदः कफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ॥२६॥
गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु।
वाते विबद्धमार्गे मेदः कफपित्तरक्तेन ॥२७॥
पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिरादिभिः।
दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम् ॥२८॥
तद्वातनुत्स्वभावात् संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत्।
मेदोसृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित्तस्मात् ॥२९॥
बलकोष्ठव्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा।
मृदुकोष्ठाल्पबलानां सहभोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात् ॥३०॥

गुल्म, उदररोग, ब्रध्न (inguinal swelling) अर्श, प्लीहा, उदावर्त, योनिरोग (gynaecological disorders), शुक्ररोग, मेद-कफ से युक्त, गम्भीर वातरक्त में तथा गृध्रसी पक्षवध आदि विरेचन योग्य वातव्याधियों में, मेदस, कफ, पित्त (तथा) रक्त के द्वारा रुके हुए मार्ग वाले वातरोग में, दोषानुबन्ध के योग से दूध, मांसरसों, त्रिफलाक्वाथ, यूष, गोमूत्र (अथवा) मदिरा आदिकों के साथ एरण्ड तैल (castor oil) प्रशस्त (होता है)।

वह (एरण्ड तैल) वातनाशक स्वभाव होने के कारण, संयोग (अन्य द्रव्यों से मिल सकने) के कारण, विरेचन गुण के कारण, मेद, रक्तपित्त कफ से मिश्रित वातरोग जीतने वाला होता है इस कारण से वह (उक्त रोगों को) जीतता है।

बल, कोष्ठ और व्याधि के अनुसार पाँच पल तक (उसकी) मात्रा होती है। मृदु कोष्ठ वाले और दुर्बल रोगियों को उसका सहभोजन (के रूप में ही) प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—(४२५) २६ से ३० तक के श्लोक गङ्गाधर ने नहीं पढ़े तथा वे कुछ असङ्गत से भी दिख रहे हैं। पर उनके द्वारा जो एरण्डतैल का गुण वर्णन हुआ है उसके मोह का विसंवरण कठिन होने के कारण यहां उल्लेख किया गया है।

मूत्रकृच्छ्र

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्य-
प्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात्
स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥३१॥

व्यायाम, तीक्ष्ण औषध प्रयोग, रूक्ष मद्य के प्रसङ्ग, नित्य तेज पीठ (वाली) सवारी (के प्रयोग करने) से आनूपदेश की मछली का सेवन तथा अध्यशन (जीर्ण होने के पूर्व भोजन) करने से, (तथा अजीर्ण से पुरुषों को यहां आठ प्रकार के मूत्र कृच्छ्र हो जाते हैं।

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥३२॥

अपने अपने हेतुओं से कुपित अलग अलग दोष अथवा सब मिलकर वस्ति में कोप को प्राप्त होकर मूत्र के मार्ग को जब अतिशय पीड़ित करते हैं तब मनुष्य कष्ट से मूत्रत्याग करता है।

तीव्रा रुजो वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥३३॥
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ
मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्
भवन्ति तत् कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥३४॥

वात के कारण व्यक्ति को वंक्षण (groin) वस्ति (hypogastric region), तथा मेढ्र (genitals) में तीव्र पीडा होती है और (वह) थोडा थोडा बारबार मूत्र त्याग करता है।

पित्त से पीला, रक्तसहित, शूल के साथ, जलन के साथ कष्ट के साथ मूत्रत्याग करता है।

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में लिङ्गसहित वस्ति का भारीपन तथा शोथ में पिच्छा सहित मूत्र (होता है)।

सन्निपात के कारण (त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में) तो सभी लक्षण होते हैं वह मूत्रकृच्छ्र सबसे अधिक कष्ट-साध्य (होता है)।

विशोधयेद्बस्तिगतं सशुक्रं
मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु
क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥३५॥

अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र—वायु पित्त व कफ सहित सशुक्र मूत्र को (जब) वस्ति में सुखा देवे तब क्रम क्रम से पित्त में गोरोचन के समान अश्मरी (पथरी) उत्पन्न होजाती है।

वक्तव्य—(४२६) अश्मरी (calculus) की उत्पत्ति में आयुर्वेदीय दृष्टि से प्रधान कारण वात है जो तरलरूप पित्त, कफ या शुक्र को सुखा सुखाकर गोरोचन जैसा पिण्डित बना देती हैं। यह पिण्डन क्रिया बस्ति में होती है। आयुर्वेदज्ञों ने वृक्कों (kidneys) का कोई विशेष वर्णन नहीं किया इस कारण से वस्ति से हम वृक्क गवीनी और ब्लैडर तीनों का ग्रहण कर लेते हैं। अतः चाहे ब्लैडर में या गवीनियों में स्वयं वृक्क के मुख या पिण्ड में बने वह बस्तिगत ही कही जाती है। नीचे मूत्र मार्ग का अवरोध गवीनी (ureter) में भी वृक्क मुख पर हो सकता है जो बहुधा देखा जाता है तथा उपस्थेन्द्रिय में निहित मूत्रमार्ग (यूरेथ्रा) भी हो कता है।

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या
श्लक्ष्णा त्रिपुटाप्यथवाऽपि मृद्वी।
मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा
मूत्रं रुजं तस्य करोति बस्तौ ॥३६॥

कदम्ब पुष्प की आकृति जैसी, पत्थर के समान, चिकनी, तीन पुट वाली (three layered), अथवा मृदु अश्मरी यदि मूत्र के मार्ग को रोक कर बैठती है तो उस (रोगी) का मूत्र बस्ति में पीडा कर देता है।

ससेवनीमेहनबस्तिशूलं
विशीर्णधारं च करोति मूत्रम्।
मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो
मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च ॥३७॥

सेवनी (perineum), मेढ्र (तथा) बस्ति सहित शूल तथा मूत्र को पतली धार वाला कर देती है वह (रोगी) वेदना से चिल्लाता हुआ मेढ्र (लिङ्ग) को मलता है तथा बार-बार मलत्याग करता है तथा मूत्रत्याग करता है।

क्षोभात्क्षते मूत्रयतीह सासृक्
तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्।
एषाऽश्मरीमारुतभिन्नमूर्त्तिः
स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती ॥३८॥

अश्मरी के क्षोभ के कारण क्षत होजाने पर रक्तयुक्त मूत्र त्यागता है तथा उसके (मूत्र मार्ग से) हट जाने के कारण (रोगी) सुखपूर्वक मूतता है।

यह अश्मरी वायु द्वारा छिन्न-भिन्न होकर (चूर्ण बनकर जब) मूत्र के मार्ग से निकलती है (तब वह) शर्करा (gravel) होजाती है।

वक्तव्य—(४२७) अश्मरी और शर्करा का विस्तृत वर्णन सुश्रुतसंहिता तथा इतर ग्रन्थों में मिलता है आचार्य ने यहां अश्मरी के वायु द्वारा छिन्न-भिन्न होने के कारण शर्करा की उत्पत्ति बतलाई है। आधुनिक दृष्टि से शर्करा में कैल्शियम, फास्फेट्स, आग्जैलेट्स तथा यूरिक एसिड रहते हैं।

रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः
प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्।
स्याद्वेदनावङ्क्षण बस्ति मेढ्रे
तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥३९॥
शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो
मूत्रंसकृच्छ्रेण विमुञ्चतीह।
तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति
रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम् ॥४०॥

(चलित) शुक्र के वेग के रुकने के कारण पीडित हुए जिस पुरुष का मूत्रकृच्छ्र प्रवृत्त होता है। उसके वंक्षण, बस्ति, मेढ्र में वेदना होती है तथा वृषणों के बढ़ने से अत्यधिक शूल (होजाता है) शुक्र द्वारा प्रवाह और गति के रुक जाने से बड़े कष्ट के साथ (वह) मूत्र को छोड़ता है। उसको दोनों अण्डकोषों

की स्तब्धता ऐसा कहते हैं। (तथा) रेतस् के विघात के कारण होने वाला मूत्रकृच्छ् (भी कुछ लोग) कहते हैं।

वक्तव्य—(४२८) कभी कभी मैथुन करने वाले व्यक्ति वीर्य का क्षरण करने के पूर्व ही मैथुनकर्म रोक देते हैं या रोकने को बाध्य होजाते हैं अथवा अकारण उत्तेजना-प्राप्ति से क्षरित हुआ वीर्य ही कभी कभी बाहर नहीं निकल पाता है। इस कारण मार्ग में ही वीर्य सूखने लगता है और मूत्रमार्ग में थोड़ा दर्द कर देता है। यदि दो-चार बार इसी प्रकार होगया तो वहां शुक्रज अश्मरी के निर्माण के साथ साथ मूत्र त्यागने में असह्य वेदना भी होती है।

कई टीकाकार ३९, ४० वें श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं।

शुक्रं मलाश्चैव पृथग्पृथग्वा
मूत्राशयस्थाः परिपीडयन्ति।
तद्व्याहतं मेहनवस्तिशूलं
मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम् ॥४१॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च
तुद्येत वस्तिर्वृषणौ च तस्य।

अलग अलग या (मिलकर) मूत्राशय में स्थित (वातादिक) दोष शुक्र को परिपीडित (या अवरुद्ध) कर देते हैं। रुका हुआ वह (शुक्र) मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति में शूल, तथा शुक्रसहित मूत्र को रोक देता है। उसकी वस्ति तथा दोनों वृषण स्तब्ध तथा शोथ-युक्त और अत्यंन्त वेदनायुक्त सुई भोंकने की पीडा वाले होजाते हैं।

क्षताभिघातात् क्षतजं क्षयाद्वा
प्रकोपितं वस्तिगतं विबद्धम् ॥४२॥
तीव्रार्ति मूत्रेण सहाश्मरीत्व-
मायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च।
आध्मातता विन्दति गौरवञ्च
वस्तेर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ॥४३॥
(इतिमूत्रकृच्छ्र निदानम्)

शल्यादि के क्षत से अभिघात (चोट trauma) से, वस्ति में बने क्षत से, अथवा धातुक्षय के कारण प्रकुपित और विबद्ध वस्ति में स्थित तीव्र रुजायुक्त रक्त मूत्र के साथ (थोड़ा थोड़ा आकर) अश्मरी बन जाता है। (या) उस (वस्ति) में अत्यधिक रक्तसञ्चय के कारण आध्मातता (फूला हुआ रूप) तथा भारीपन प्राप्त कर लेता है। उसमें से (उस रक्त के) निकल जाने पर वस्ति की लघुता होजाती है।

मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहवस्ति-
स्नेहोपनाहोत्तरवस्तिसेकान्।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान्
दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥४४॥

वातिक मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

वातिक मूत्रकृच्छ्र में अभ्यंग, स्नेहपान, निरूह-वस्ति, स्निग्ध उपनाह, उत्तर वस्ति (कैथेटर-सलाई-डालना), सेकों को तथा शालपर्णी आदि लघुपञ्चमूल के वातनाशक द्रव्यों से सिद्धरसों को देवे।

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः-
पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोल-
यवैश्च तोयोत्क्वथिते कषाये ॥४५॥
तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च
तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम्।
तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं
शूलान्वितं मारुत मूत्रकृच्छ्रम् ॥४६॥

पुनर्नवादिमिश्रकस्नेह—पुनर्नवा, एरण्डमूल, शतावरी से, पत्तूर (शालिंच), वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), बला, पाषाण भेदों से, दोनों पंचमूलों से, कुलथी, बेर, जौओं से उबाले गरम जल के कषाय में तैल, सुअर भालू की चर्बी तथा घी तथा उन्हीं पूर्वोक्त द्रव्यों के कल्कों से तथा (पांचों) लवणों से सिद्ध करना चाहिए। मात्रा से पिया हुआ वह स्नेह शीघ्र वातजन्य मूत्रकृच्छ्र को नष्ट कर देता है।

एतानि चान्यानि वरौषधानि-
पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे।

स्युर्भितस्तलफलानि चैव
स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥४७॥

इन तथा अन्य श्रेष्ठ (वातनाशक) औषधों को पीस कर स्नेह और अम्लवर्ग के द्रव्यों से युक्त करके जो प्राप्त हो सके (उन) तैल वाले फलों (अलसी तिल सरसों, चिरोंजी आदि) को (भी) मिलाकर सुखोष्ण प्रशस्त उपनाह में (प्रयोग करना चाहिए)।

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा
ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविरेकाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च-
कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥४८॥

पैत्तिकमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में शीतल,परिषेक,अवगाह, प्रलेप,ग्रीष्मऋतुचर्या, अंगूर, विदारीकन्द, गन्ने के रस, तथा घृतों से वस्ति, क्षीरपाक, तथा विरेचन करना चाहिए।

शतावरी काशकुशश्वदंष्ट्रा-
विदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम्।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां-
युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री ॥४९॥

शतावर्यादिक्वाथ—शतावर, कास, कुश, गोखुरू, विदारीकन्द, शालि, ईख, कसेरुओं के खूब ठण्डे क्वाथ को शहद शक्कर दोनों के साथ मिलाकर पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र से पीड़ित रोगी पीवे।

पिबेत्कषायं कमलोत्पलानां
शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः।
दण्डोत्पलानामथवाऽपि मूलं
पूर्वेण कल्पेन तथाऽम्बुशीतम् ॥५०॥

कमल तथा नीलोफर के कषाय को अथवा सिघाड़ों के कषाय को या विदारीकन्द के कषाय को अथवा नीलोत्पल के दण्ड या मूल को भी क्वाथ करके पूर्वोक्त विधि से (अर्थात् शहद शक्कर मिला कर) शीतल जल के साथ पीवे।

नोट—दण्डोत्पलानाम् के स्थान पर दण्डैर-काणाम् होने पर दण्डैरका नामक घास की जड़ लेनी चाहिए।

एर्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात्
सकुंकुमः स्याद्वृषकश्च पेयः।
द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु
सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः ॥५१॥

एर्वारुबीजादियोग—ककड़ी के बीज, खीरे के (बीज), कसुम के बीज और केसर सहित अडूसा अंगूर के स्वरस के साथ पीना चाहिए। अश्मरी, शर्कराओं में तथा सब प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों में यह (योग) प्रशस्त है।

एर्वारुबीजं मधुकं सदारु
पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन।
दार्वीं तथैवामलकीरसेन
समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे ॥५२॥

देवदारुसहित ककड़ी के बीज (और) मुलहठी को चावलों के धोवन के साथ पैत्तिक (मूत्रकृच्छ्र) में पीवे। इसी प्रकार दारुहल्दी, मधुसहित आमले के रस के साथ पित्तकृत मूत्रकृच्छ्र में (पीवे)।

वक्तव्य—(४३९) पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में ककड़ी और खीरे के बीजों की महत्ता जिस प्रकार आयुर्वेदज्ञ मानते हैं उसी प्रकार आयुर्वेद से ही शक्ति प्राप्त यूनानी चिकित्सा पद्धति के हकीम लोग भी उनको महत्त्व देते हैं।

कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं-
स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्ध तैल-
मभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५३॥

कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार-उष्ण-तीक्ष्ण औषध, अन्नपान, स्वेदन, यवान्न, वमन, निरूहण, तक्र, तिक्त वर्ग की औषधों से सिद्ध तैल का अभ्यंग और पान (ये सभी हितावह होते हैं)।

व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि
कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्।
पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या
रसेन कैडर्यरसेन वाऽपि ॥५४॥

एक कोल बराबर सोंठ, मरिच, पिप्पली, गोखरू, इलायची छोटी, सारस की हड्डी, शहद गोमूत्र मिलाकर अथवा मधुयुक्त केले के रस से या मीठे नीम के रस के साथ पीवे।

तक्रेणयुक्तं शितिमारकस्य
बीजं पिबेत् कृच्छ्रविघातहेतोः।
पिबेत् तथा तण्डुलधावनेन
प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५५॥

तक्र के साथ मिलाकर शालिच शाक के बीज मूत्रकृच्छ्र के नष्ट करने के लिए पीवे। तथा कफज मूत्रकृच्छ्र में चावलों के धोवन के साथ प्रवाल की भस्म पीवे।

सप्तच्छदारग्वधकेवुकैला
धवाः करञ्जः कुटजो गुडूची।
साधा जले तेन पिबेद् यवागूं
सिद्धां कषायं मधुसंयुतं वा ॥५६॥

सप्तपर्ण, अमलतास, केबुक, इलाइची, धव, कंजा, कुडा, गिलोय जल में पकाकर उनसे सिद्ध यवागू को अथवा कषाय को शहद मिलाकर पीवे।

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः
स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात्
पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः ॥५७॥

त्रिदोष से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में वायु के स्थान के अनुक्रम से खूब देखकर सब चिकित्सा करनी चाहिए तीनों में कफाधिक्य में पहले वमन, पित्ताधिक्य में विरेचन तथा वाताधिक्य में वस्ति देवे।

क्रिया हिता त्वश्मरिशर्कराभ्यां
या मूत्रकृच्छ्रे कफमारुतोत्थे।
कार्याश्मरीभेदनपातनाय
विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम् ॥५८॥

जो कफवातजन्य मूत्रकृच्छ्र में चिकित्सा हितकर (है वही) तो अश्मरी शर्करा दोनों में (भी हित करती है) अश्मरी को तोड़ने या निकालने के लिए विशेषता से युक्त सिद्ध कर्म सुनो।

पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रा
पाठाभयाव्योषशटीनिकुम्भाः।
हिंस्राखराश्वाशितिवारकाणा–
मेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम् ॥५९॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं
स्याद् द्वे बृहत्यौ हपुषा वचा च।
चूर्णं पिबेदश्मरिभिद् विपक्वं
सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः ॥६०॥

पाषाणभेद, अडूसा, गोखुरू, पाठा, हरड़, सोंठ मरिच, पिप्पली, कचूर, दन्ती, हींस, पारसीक यमानी, शालिञ्च के, ककड़ियों के तथा खीरे के बीज, काला-जीरा, हींग, अम्लवेंती सहित दोनों कटेरी, हाऊबेर तथा बालबच लेकर (इनके) चूर्ण को पीवे। उनके साथ चार गुना गोमूत्र डाल कर अश्मरी तोड़ने के लिए पकाए गये घी को (भी पीवे)।

वक्तव्य – (४३०) पाषाणभेदादि द्रव्यों के द्वारा ऊपर अश्मरीनाशक दो योग दिये गये हैं। एक चूर्ण है जिसे जल के साथ लेना है और दूसरा घी है जिसे इसी चूर्ण तथा गोमूत्र के साथ सिद्ध करके पीना है।

मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात्
क्षीरेणपिष्टं बृहतीद्वयाच्च।
आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं
दिनानि सप्ताश्मरि भेदनाय ॥६१॥

गोखुरू, तालमखाना, एरण्ड की जड़ों को तथा दोनों कटेरियों को दूध से पीस मीठे दही से आलोडित करके सात दिन तक अश्मरी भेदन के लिए पीना चाहिए।

पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्रा
फल्गुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः।
क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं
पेयं भवेदश्मरिशर्करासु ॥६२॥

दाभ के फूल सहित, पुनर्नवा, लोहभस्म, हल्दी, गोखुरू, गूलर, प्रवालपिष्टी, दूध, सुगन्धवाला, मद्य तथा ईख (इन) के रसों के साथ खूब पीसकर अश्मरी शर्कराओं में (उन्हें) तोड़ने के लिए

पेय होवे।

त्रुट्यादिचूर्ण

त्रुटिं सुराह्वं लवणानि पञ्च
यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ।
कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजं
मेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम् ॥६३॥
चूर्णीकृतं चित्रकहिंगुमांसी
यवानितुल्यं त्रिफलाद्विभागम्।
अम्लैरशुक्तं रसमद्ययूषैः
पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम् ॥६४॥

छोटी इलाइची, देवदारु (शताह्वा पाठ होने से सोया), पांचों नमक, यवक्षार, कुन्दुरू, पाषाणभेद, कबीला, गोखुरू के बीज, ककड़ी के बीज, खीरे के बीज, चित्रक, हींग, जटामांसी, अजवाइन, (सब) बराबर तथा दो भाग त्रिफला को चूर्ण करके सिरका छोड़ (किन्हीं भी) अम्लपदार्थों से, मांसरस, मद्य (तथा) यूषों के साथ (यथानुपान) गुल्म और अश्मरी भेदन के लिए पीना ही चाहिए।

बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो
यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्कात्।
शीतोऽश्मभित् स्याद्दधिमण्डयुक्तः
पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥६५॥

एक पल मात्र सहंजन के मूल के कल्क से घी तैल (में) भूनकर यूष बनाकर शीतल (उस) अश्मरी भेदक (यूष को) दही के पानी से युक्त करके इच्छानुसार नमक डालकर पीना चाहिए।

जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः
शीतो हितश्चाश्मरि शर्करासु।
सितोपला वा समयावशूका
कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥६६॥

जल के साथ सहंजन के मूल का शीतल कल्क अश्मरी शर्कराओं में हितकर है अथवा बराबर भाग जौ के ूक (या जवाखार) और मिश्री (अश्मरी शर्करा के अतिरिक्त) सब मूत्रकृच्छ्रों में भी औषध है।

पीत्वाऽथ मद्यं निगदं रथेन
हयेन वा शीघ्रजवेन यायात्।
तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु
शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम् ॥६७॥

निर्मल मद्य को पीकर शीघ्रगामी रथ से या घोड़े से चले। उससे शर्करा (concretions) निकलती है। (यदि) अश्मरी का शमन न हो तो शल्यवेत्ता सर्जन उसको (शस्त्रकर्म द्वारा) निकाल देवे।

वक्तव्य—(४३१) चरकीय चिकित्सा की विशेषता यह है कि जो काम एक फिजीशियन कर सकता है उसे तो वह स्पष्टतः विस्तारपूर्वक समझा देता है पर जो कार्य सर्जन का पड़ता है उसके लिए एकदम किसी योग्य धान्वन्तरीय को दिखाकर शस्त्रकर्म करने की आज्ञा दे देता है। ऊपर के श्लोक में अश्मरी के निर्हरण के जब सब वैद्यकीय उपचार और औषधें निष्फल होगई हैं तो सर्जन को सौंप देने की उसकी परम्परा प्रगट होगई है।

रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे
समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात्।
कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ
बला स्थिरादीनि गवेधुकां च ॥६८॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च
शतावरी मध्वसनाख्यपर्ण्यौ।
तत्क्वाथसिद्धः पवने रसः स्यात्
पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः ॥६९॥
कफे च यूषादिकमन्नपानं
संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात्।

शुक्रावरोध से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में खूब दोष को देखकर चिकित्सा करे। कपास की जड़, वासा, पाषाणभेद, बला, शालपर्णी आदि लघुपञ्चमूल, गवेधुका (नामक धान्य) तथा श्वेत पुनर्नवा, इन्द्रायण, लालपुनर्नवा तथा शतावर, मधुपर्णी (गिलोय), असनपर्णी (अपराजिता), उनके क्वाथ से सिद्ध रस वातप्रधान (शुक्रजमूत्रकृच्छ्र) में देवे। पित्त की अधिकता होने पर दूध और घी भी (देवे)। कफ (की प्रधानता) होने पर (उस क्वाथ से सिद्ध) यूषादि-अन्नपान (देवे)।

दोष संसर्ग जन्य शुक्रजमूत्रकृच्छ्र में सर्वहितकारी चिकित्साक्रम होवे।

एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्ज्यात्
सुरां पुराणां मधुकासवं वा ॥७०॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय
वस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम्।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः
प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥७१॥

यदि इस प्रकार यह शान्त न हो तो उसको पुरानी मद्य, मधुकासव (या मधु द्वारा बनी मद्य माध्वीक) प्रयुक्त करे। बृंहण के लिए पक्षियों के मांस एवं शुक्राशय के शोधन के लिए वस्तियों को (प्रयुक्त करे) शुद्ध होने पर तथा वृष्य योगों द्वारा तृप्त हुआ (व्यक्ति) प्रिय और अनुकूल तरुणियों का सेवन करे।

वक्तव्य—(४३२) ब्रह्मचर्य का यद्यपि बहुत बड़ा महत्त्व है पर शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र में तरुण पुष्ट स्त्रियों का सम्भोग भी आचार्य ने पथ्य बतलाया है। साधारण रूप से मैथुन करना मूत्रकृच्छ्र में कुपथ्य कहा गया है। (देखिए श्लोक ७५) पर इस विशेष अवस्था में प्रमदा सेवन की आज्ञा है।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

रक्तोद्भवे तूत्पलनालताल
कासेक्षुबालेक्षुकशेरुकाणि।
पिबेत्सिताक्षौद्रयुतानि खादे—
दिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव ॥७२॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र में तो नीलोत्पल की नाल, तालफल, कांस, ईख भेद (इक्षुबालिका), कसेरुओं (के रस) को मिश्री शहद मिलाकर पीवे तथा ईख (चूसे) विदारीकन्द तथा खीरा खावे।

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं
क्षीरेण चवाष्टगुणेन पेयम्।
स्थिरादिकानां कतकादिकाना—
मेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥७३॥

श्वदंष्ट्राघृत—गोखुरू के स्वरस से आठ गुने दूध के साथ सिद्ध किया गया घी पीना चाहिए। (अथवा स्थिरादि लघु पञ्चमूल की अथवा (विमान स्थान अध्याय ८ में वर्णित मधुरस्कन्द की) कतक आदि की औषधों के एक-एक के रस से उपरोक्त विधि से सिद्ध घृत पीना चाहिए।

क्षीरेण बस्तिर्मधुरौषधैः स्या—
त्तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन।
यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते
कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥७४॥

मधुर वर्ग की औषधों से सिद्ध दूध से, या मधुर फलों (बादाम आदि) से निकाले तैल से वस्ति देवे। पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में जो कहा गया है वह रक्तज मूत्रकृच्छ्र में तो करना (ही) चाहिए।

मूत्रकृच्छ्र में अपथ्य

व्यायामसन्धारणशुष्कभक्ष—
पिष्टान्नवातार्कस्व्यवायान्।
खर्जूरशालूककपित्थजम्बू—
बिसं कषायं न रसं भजेत ॥७५॥

व्यायाम (physical exertion), वेगधारण (विशेषकर मल मूत्र वीर्य क्षरण के वेगों का धारण) सूखे भक्ष्य पदार्थ, पिट्ठी के अन्न, वायु के झोंके, सूर्य की किरणें, मैथुन, खजूर, कमलकन्द, कैथ, जामुन कमल की जड़ तथा कषाय (astringent) रस को (रोगी) सेवन करे।

हृद्रोग

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्ति
चिन्ताभयत्रासगदातिचाराः
छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि
हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघातः ॥७६॥

हेतु—व्यायाम, अत्यन्त तीक्ष्ण (drastic) विरेचन (या) वस्तिकर्म, चिन्ता, भय, त्रास, रोग का अनुचित उपचार, वमन, आमदोष, वेगधारण, कृशता करने वाले भावों (कर्षणों) का सेवन, तथा चोट हृद्रोग करने वाले हैं।

वक्तव्य—(४३४) हृदय से सम्बन्धित अनेक आधुनिक रोगों में मानसिक विकारों का विशेष सम्बन्ध आता है। हृदय का कोई रोग बिना किसी भावावेश के वृत्त के मिलना बहुत कठिन पाया जाता है। चिन्ता, भय, त्रास आदि मनोभाव उसी ओर इङ्गित करते हैं। वमन विरेचन और अनुचित उपचार के कारण हृदय रसशून्य होकर विकृत हो जाता है, साधारण कर्षणकारक भाव तथा सीधा आघात भी उसी प्रकार हृदय पर वात और तमस् का प्रभाव डाल देता है।

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्का-
श्वासास्यवैरस्य तृषा प्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च
हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥७७॥

सामान्यविकृतियाँ—विवर्णता, मूर्च्छा (syncope), ज्वर, कास, हिचकी, श्वास, मुख की विरसता, तृष्णा, मोह, वमन, कफ के उत्क्लेश से उत्पन्न पीडा तथा अरुचि (में) तथा अन्य विविध विकार हृद्रोग से उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—(४३५) ऊपर जिन विकारों का नामोल्लेख किया गया है वे सब जहां अन्य अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं वहां हृद्रोग के कारण भी हुआ करते हैं ऐसा मानकर चलना चाहिए।

वातिक हृद्रोग

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेद-
स्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः।

हृदय में शून्यता का भाव (sense of exhaustion), हृदय द्रव (हृदय धड़कना palpitation of the heart), शोष, भेदनवत् पीडा, जकड़न, मोह विशेष करके वात से उत्पन्न (हृदयरोग के लक्षण हैं)।

पित्तात्तमोदूयनदाहमोहाः
सन्त्रासतापज्वर पीतभावाः ॥७८॥

पैत्तिक हृद्रोग—पित्त के कारण तम (अंधेरे में प्रवेश), दूयन (उपताप), जलन, मोह, संत्रस्तता (भय या घबराहट), सन्ताप, ज्वर तथा शरीर का पीला होना (पाया जाता है)।

स्तब्धं गुरुस्यात् स्तिमितं च मर्म-
कफात् प्रसेकज्वरकासतन्द्राः।

श्लैष्मिक हृद्रोग—मर्म (हृदय) की स्तब्धता, गुरुता, स्तैमित्य (मानो गीले कपड़े से ढंका हो), प्रसेक, ज्वर कास (तथा) तन्द्रा कफ के कारण (होती है)।

विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं
तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम् ॥७९॥

त्रिदोषज हृद्रोग—त्रिदोषजन्य हृद्रोग वाले को तो तीनों दोषों के सब लक्षणों से युक्त जाने।

कृमिज हृद्रोग—कृमिज हृद्रोग को कण्डू सहित तीव्र पीडा तथा तोद वाला (जाने)।

वातज हृद्रोग चिकित्सा

तैलं ससौवीरकमस्तुतक्रं
वाते प्रपेयं लवणं सुखोष्णम्।
मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैल-
मानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ॥८०॥
पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं-
रास्नां यवान् बिल्वकुलत्थकोलम्।
पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैल-
मभ्यङ्गपानेऽनिल हृद्गदघ्नम् ॥८१॥
हरीतकीनागरपुष्कराह्वै-
र्वयःकयस्था लवणैश्च कल्कैः।
सहिङ्गुभिः साधितमग्र्यसर्पि-
र्गुल्मे सहृत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ॥८२॥
सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं-
महौषधं शट्यभया च कल्काः।
क्षाराम्बुसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः-
स्युर्वातहृद्रोग विकर्तिकाघ्नाः ॥८३॥
क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्ग-
पलाशभूतीकशटीसुराह्वैः।

सनागराजाजिवचायवानी-
क्षारः सुखोष्णे लवणश्च पेयः ॥८४॥
पथ्याशटीपौष्कर पञ्चकोलात्
समातुलुङ्गाद्यमकेन कल्कः।
गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो-
हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले ॥८५॥
स्यात् त्र्यूषणं द्वे त्रिफले सपाठे
निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे।
ऋद्धिस्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता
मेदे मधूकं मधुकं स्थिरा च ॥८६॥
शतावरा जीवकपृश्निपर्ण्यौ
द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः।
प्रस्थं घृतस्येह पचेद्विधिज्ञः
प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण ॥८७॥
मात्रा पलं चार्धपलं पिचुं वा
प्रयोजयेन्माक्षिकसम्प्रयुक्ताम्।
श्वासे सकासेत्वथ पाण्डुरोगे
हलीमके हृद्ग्रहणी प्रदोषे ॥८८॥

१–वातिक हृद्रोग में सौवीरक (निस्तुष जौ की कांजी) के साथ दही का पानी, मट्ठा, गुनगुना करके नमक डाल तैल पीना चाहिए।

२–अथवा पांचों लवणों से तथा गोमूत्र और जल से सिद्ध आनाह-गुल्म-अरति और हृद्रोग नाशक (तिल) तैल को (पीना चाहिए)।

३–पुनर्नवादितैल—पञ्चमूलसहित पुनर्नवा, देवदारु, रास्ना, जौओं को, बेलगिरी, कुलथी, बेरजल में पकाकर उससे तैल पाचन करके वातिक हृद्रोग नाशक अभ्यंग तथा पीने में (प्रयोग करे)।

४–हरीतक्यादिघृत—हरड़, सोंठ, पोकरमूल, गिलोय, आमला तथा पांचों लवणों के कल्कों से हींग सहित सिद्ध किया गया श्रेष्ठ घी गुल्म में तथा हृदय सहित पार्श्व के वातजन्य रोग में प्रशस्त है।

५–पुष्करमूलादिकल्क—पोकरमूल, बिजौरे की जड़, सोंठ, कचूर तथा हरड़ के क्षार-जल, घृत और सेंधानमक से मिलाए हुए कल्क वातिक हृद्रोग तथा परिकार्त्तिका नाशक होते हैं।

६–पुष्करमूल, बिजौरा नीबू, ढाक, गन्धतृण, कचूर, देवदारु, सोंठ सहित श्वेतजीरक, वालवच, अजवाइन, यवक्षार तथा सेंधानमक गुनगुना (करके) पीना चाहिए।

७–पथ्यादि कल्क—हरड़, पुष्करमूल. पंचकोल (पिप्पली पिप्पलीमूल चव्य सोंठ) बिजौरे के साथ तथा कल्क को यमक (घी तैल) के साथ भूनकर गुड प्रसन्ना और नमकों से हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, उदर (और) योनिशूल में (इसको पीवे)।

८–त्र्यूषणादि घृत – त्रिकटु, पाठा, दोनों त्रिफला (हरड़ बहेड़ा आमला तथा द्राक्षा, काश्मरी, फालसा) छोटी कटेरी, गोखरू, दोनों बला, ऋद्धि, इलायची छोटी, भूमिआमलकी, कौंच, मेदा, महामेदा, महुआ, मुलहठी, शालपर्णी तथा शतावरी जीवक, पृश्निपर्णी से १-१ कर्ष लेकर बारीक पीसे हुए इन द्रव्यों, से १ प्रस्थ घी, १ प्रस्थ भैंस के दही के साथ विधि जानने वाला वैद्य (इस रोग के हेतु पकावे)।

९–मधु मिलाये हुए एक पल अर्ध पल या १ कर्ष की मात्रा का कास, श्वास, पाण्डुरोग हलीमक, हृदय-रोग ग्रहणी दोष में प्रयोग करे।

पित्तज हृद्रोग-चिकित्सा

शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि
तथा विरेको हृदि पित्त दुष्टे।
द्राक्षासिता क्षौद्रपरूषकैः स्या-
च्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम् ॥८९॥
यष्ट्याह्विकातिक्तकरोहिणीभ्यां
कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन।
क्षते च सर्पींषि हितानि सर्पि-
र्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ॥९०॥
दद्याद्भिषक् धन्वरसांश्च गव्य-
क्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु।

तैरेव सर्वे प्रशमं प्रयान्ति
पित्तामयाः शोणित संश्रया ये ॥९१॥
द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः
खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च ।
काकोलिमेदायुगजीवकैश्च
क्षीरेण सिद्धं महषीघृतं स्यात् ॥९२॥
कशेरुकाशैवलशृङ्गवेर
प्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य ।
ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत्तैः
क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ॥९३॥
स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि ।
सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च
रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे ॥९४॥

१—शीतल लेप, (शीतल) परिषेक, तथा अंगूर मिश्री शहद (तथा) फालसों के साथ पैत्तिक हृदय रोग में विरेचन देवे। शुद्ध होने पर पित्तनाशक अन्नपान (प्रयोग में लावे)।

२—मिश्री (मिलाए) जल के साथ मुलहठी कुटकी दोनों के द्वारा तैयार कल्क को पीवे।

३—तथा क्षतक्षीण चिकित्सित में जो हितकारक घृत (तथा) सर्पिर्गुड (कहे गये हैं) उनको भले प्रकार देखकर पैत्तिक हृद्रोगों में गोदुग्ध पीने वालों को धन्व (जांगल) जीवों के मांसरस वैद्य देवे।

उनके द्वारा ही जो पित्ताश्रित तथा रक्ताश्रित (के) सब रोग शान्त हो जाते हैं।

४—द्राक्षादि घृत – मुनक्का, खरैटी, गजपीपल, शक्कर (इन) से, खजूर, शतावर, ऋषभक, तथा नीलोफर से, तथा काकोली, मेदा, महामेदा और जीवक (इन) के द्वारा दूध से सिद्ध भैंस का घी देवे।

५-कशेरुकादिघृत—कसेरू, सिवार, अदरख, पुण्डरीक, मुलहठी, बिस (कमलकन्द) की गांठ, तथा घी दूध के साथ उनको पकावे। (यह घृत) शहद युक्त पैत्तिक हृद्रोगनाशक (होता है)।

६—शालपर्णी आदि लघु पञ्चमूल के द्रव्यों से तथा दूध से सिद्ध अथवा अंगूर के स्वरस से या गन्ने के रस से सिद्ध घृत हितकर होता है।

७—पैत्तिक हृदय की दुष्टि (होने पर) मधुर फल तथा ईख से उत्पन्न शीतल रस (हितकारक होते हैं)।

कफज हृद्रोग चिकित्सा

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य-
क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे ।
कौलत्थधान्यैश्च रसैर्यवान्न-
पानानि तीक्ष्णानिच शङ्कराणि ॥९५॥
मूत्रे श्रृताः कट्फलशृङ्गवेर-
पीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः ।
कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्ना-
वचाभयानागरचूर्णकं च ॥९६॥
उदुम्बराश्वत्थवटार्ज्जुनाख्ये-
पालाशरौहीतकखादिरे च ।
क्वाथे त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णसिद्धो-
लेहः कफघ्नोऽशिशिराम्बु युक्तः ॥९७॥
शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः-
प्रयोजयेत् कल्पविधानदिष्टम् ।
प्राशं तथाऽऽगस्त्यमथापि लेहं-
रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः ॥९८॥

१—कफज हृद्रोग में स्वेदन किए, वमन किए तथा लंघन किए व्यक्ति की कफनाशक चिकित्सा (करनी चाहिए)।

२—कुलथी तथा धनियां (दोनों) के साथ तथा मांसरसों के साथ जौ का अन्न तथा तीक्ष्ण कल्याणकारक पेय पदार्थ (हितकर होते हैं)।

३—गोमूत्र में उबाले कायफल, अदरख, दारुहल्दी, हरड़, अतीस (पीने के लिए) देना चाहिए।

४—कृष्णादि चूर्ण–पिप्पली, कचूर, पोकरमूल, रास्ना, बालबच, हरड़, तथा सोंठ का चूर्ण (सब सम भाग मात्रा में मिलाकर कफज हृद्रोग में हितकर होता है)।

५-उदुम्बरादिलेह-गूलर, पीपल, बरगद, अर्जुन, ढाक, रोहीतक तथा कत्था के क्वाथ में निशोथ, त्रिकटु चूर्ण (डालकर) सिद्ध किया गया अवलेह गरम जल के साथ कफनाशक होता है।

६-अथवा प्रमादरहित वैद्य कल्प (रसायन) विधान में देखे गये शिलाजतु का प्रयोग करे।

७-तथा च्यवनप्राश, अगस्त्यहरीतकी लेह, ब्राह्मरसायन अथवा आमलकीरसायन (का प्रयोग करे)।

त्रिदोषज हृद्रोग-चिकित्सा

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्या-
दन्नं च सर्वेषु हितं विधेयम्।
हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव
कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ॥९९॥

सान्निपातिक हृद्रोग में आरम्भ से लंघन देवे। तथा बाद में सब दोषों में हितकर अन्न का विधान करे। तीनों (दोषों) की हीनता, अधिकता (अथवा) मध्यता को खूब देखकर ही प्रशस्त चिकित्सा कर्म करना चाहिए।

हृदयशूल

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं
जीर्णे स्थितं चेत् सुरदारुकुष्ठम्।
सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्ग-
मुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत्सः ॥१००॥

जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात्
फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्।
त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले
तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥१०१॥

(त्रिदोषज हृद्रोग में) भोजन करते ही अधिक भोजन की पच्यमानावस्था में अल्प तथा भोजन जीर्ण होने पर जो हृदय का शूल ठहर जाय तो देवदारु, कूठ, तिल्वक के साथ, सेंधा सौंचरन नमक, विडंग, तथा अतीस (का चूर्ण करके गरम जल से वह (पीडित) पीवे।

भोजन के जीर्ण होजाने पर (जब) हृदय शूल अधिक हो (तो) स्निग्ध विरेचन देवे। यदि भोजन की पच्यमानावस्था में हृच्छूल अधिक हो तो (मुनक्का हरीतकी आदि) फलों के द्वारा विरेचन करना चाहिए।

तीनों कालों में ही अधिक शूल रहने पर तो तीक्ष्ण मूल (निशोथ कुटकी इन्द्रायणमूल आदि) का विरेचन हितकर होता है।

कृमिज हृद्रोग

प्रायोऽनिलो रुद्ध गतिः प्रकुप्य-
त्यामाशये शोधनमेव तस्मात्।
कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च-
सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्गदे च ॥१०२॥

अवरोधक गति वाला वायु प्रायशः आमाशय में प्रकोप करता है उस कारण से शोधन विरेचन ही करना चाहिए तथा लंघन और पाचन (औषध देना चाहिए)। और कृमिजन्य हृद्रोग में सब कृमिनाशक उपाय करना चाहिए।

प्रतिश्याय

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्य-
क्रोधर्तु वैषम्य शिरोभितापैः।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतै-
रवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥१०३॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो-
वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु।
घ्राणार्तितोदै क्षवथुर्जलाभः-
स्रावोऽनिलात् सस्वरशीर्षरोगः ॥१०४॥
नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोष
तृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात्।
कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः
कफाद्गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः ॥१०५॥
सर्वाणिरूपाणि तु सन्निपातात्-
स्युः पीनसे सर्वरुजेऽतिदुःखे।

प्रतिश्याय हेतु तथा सम्प्राप्ति—वेगसन्धारण

अजीर्ण, धूल, अत्यधिक भाषण, क्रोध, ऋतु का परिवर्तन, शिर में सन्ताप, प्रजागरण, अत्यधिक सोना, शीतल जल, ओस, मैथुन, भाप, धुंआ, (इन विविध कारणों में से एक, कई या सबके) द्वारा दोष का संस्त्यान (संचय) होने पर शिर में कुपित वायु प्रतिश्याय (जुकाम) को उत्पन्न कर देता है।

प्रतिश्याय लक्षण–वायु के कारण उत्पन्न (प्रतिश्याय में) नासा में अरति तथा तोद, छींक, जल के समान स्राव, स्वर (के रोग) के साथ शिर का रोग होता है।

पित्त के कारण उत्पन्न (प्रतिश्याय में) नासा के अग्रभाग का पकना, ज्वर, मुख सूखना, प्यास गरम (तथा) पीले रंग के स्रावों का आना (देखा जाता है),

कफ के कारण उत्पन्न (प्रतिश्याय में) कास, अरुचि, गाढ़ा (नाक से) स्राव निकलना, प्रसेक, तथा भारी खुजली भी नासा स्रोतसों में (होती है)।

सन्निपात के कारण तीव्रशूल वाले अति दुख-दायक प्रतिश्याय में सब लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(४३६) प्रतिश्याय का निदान देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीनों को प्रतिश्याय में कारणभूत बिन्दू-क्षेप उपसर्ग (droplet infection) का पूर्णतः ज्ञान था।

दुष्टप्रतिश्याय

सर्वोऽति वृद्धोऽहितभोजनात्तु
दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ॥१०६॥
ततस्तु रोगाः क्षवथुश्च नासा–
शोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च।
घ्राणस्य पूतित्वमपीनसश्च
सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः ॥१०७॥
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोग–
खालित्यहर्य्यर्ज्जुनलोमभा वाः।
तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्त
वैवर्ण्य शोषाश्च ततो भवन्ति ॥१०८॥

सब प्रतिश्याय अहितकर भोजन से (तथा) उपेक्षा करने से अति बढ़कर दुष्ट प्रतिश्याय हो जाता है। उससे छींक, तथा नाक सूखना (atrophic rhinitis) प्रतीनाह (nasal obstruction) तथा परिस्रव (nasal catarrh) तथा घ्राणपूति (ozena) अपीनस (chronic rhinitis), पाकसहित शोथ, अर्बुद तथा पूय रक्त (rhinitis with discharge of pus and blood), अरुंषिका (furunculosis) शिर-कर्ण-नेत्र रोग, खालित्य (alopecia), रोमों का हरि (पिंगल) अर्जुन (श्वेत) भाव का होना, प्यास श्वास, कास, ज्वर, रक्तपित्त, विवर्णता (या विस्वरता) और शोष (consumption भी) उससे हो जाते हैं।

वक्तव्य—(४३७) प्रतिश्याय की उपेक्षा के कारण जिन भयंकर और कष्टदायद रोगों की उत्पत्ति होसकती है उनका परिगणन ऊपर किया गया है यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक दुष्ट प्रतिश्याय का रोगी उपरोक्त सभी लक्षणों से पीडित हो एक या अधिक लक्षण देखे जासकते हैं। आधुनिक काल में ट्रापीकल इओसीनोफिलिया अथवा एलर्जिक रोग के अन्तर्गत श्वास कास ज्वर आदि आते हैं जुकाम या प्रतिश्याय में भी रक्त के अन्दर इओसीनोफिल्स (eosinophils) बढ़ते हैं अस्तु ऊपर जिन जिन रोगों का वर्णन किया गया है वे कपोलकल्पित न होकर यथार्थ प्रयोगात्मक ज्ञान के आधार पर संचित अनुभव ही प्रकाशित किया गया है। ऊपर जो जो नाम लिये गये हैं उन्हें आचार्य ने नीचे विस्तारपूर्वक समझाया है।

रोधाभिघातस्रावशोषपाकैर्घ्राणं
युतं यस्य य वेत्ति गन्धम्।
दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि
दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत्तम् ॥१०९॥

दुष्ट प्रतिश्याय—अवरोध, चोट, स्राव, शोष, पाकयुक्त जिसकी नासा (हो और जिसे) गन्ध का ज्ञान नहीं होता है मुख दुर्गन्धपूर्ण (fetor osis) बार बार (बहुत बार) प्रकोप करने वाला दुष्ट प्रतिश्याय (इस नाम से) कहलाता है।

संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि
विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति।

क्षवथु—(कुपित) वायु तो चारों ओर मार्ग में

स्थित होकर सिर में मर्मों को छूकर क्षवथु (छींक) को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—(४३८) नासागत श्लेष्मलकला में प्रक्षोभ की उत्पत्ति होने से छींक आती है। इस क्षोभ में वायु का भाग विशेष रहता है।

> क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासा-
> शृङ्गाटकं घ्राणविशोषणञ्च ॥११०॥

नासाशोष—वह वायु कुपित होकर नासा शृङ्गाटकस्थकफ को सुखाकर घ्राणशोष (atrophic rhinitis कर देता है)।

> उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो
> रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।

नासा प्रतीनाह—वात के साथ (जब) कफ उच्छ्वास के मार्ग को रोके तो उसको प्रतीनाह कहे।

> यो मस्तुलुङ्गाद् घनपीतपक्वः
> कफः स्रवेदेष परिस्रवस्तु ॥१११॥

नासा परिस्राव—जो मस्तिष्क से गाढ़ा पीला पका कफ बहे वह नासा परिस्रव (कहा जाता है)।

> वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु
> स्यात् पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च।

पूतिनस्य—(प्रतिश्याय या परिस्राव की) उपेक्षा से (नाक में) विवर्णता, दुर्गन्ध तथा शोथ (का होना) और भ्रम (giddiness) पूति नस्य कहलाता है।

> आनह्यते यस्य विशुष्यते च
> प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ॥११२॥
> न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-
> र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन।
> तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं
> ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥११३॥

अपीनस - जिसकी नासिका आनाह (रुकावट) करती है, सूख जाती है, क्लिन्न (गीली) होजाती है, धुंआ जैसा निकलने का भाव होजाता है और जो जन्तु (व्यक्ति) गन्ध और रसों को नहीं पहचानता है उसको अपीनस के द्वारा आक्रान्त ऐसा समझे। वात और कफ से उत्पन्न उस विकार को प्रतिश्याय जैसे लक्षण वाला बतलावे।

> सदाहरागः श्वयथुः सपाकः
> स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्।

घ्राणपाक—दाह (burning), राग (redness) के साथ पाक (inflammation) सहित शोथ (swelling) नासापाक (rhinitis) कहलाता है। (वह) भी रक्त तथा पित्त के कारण (होता है)।

> घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य
> कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ॥११४॥

नासाश्वयथु—नाक में आश्रित रक्तादि को दोष दूषित करके नासाशोथ को कर देते हैं।

> घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुध्य
> मांसास्रदोषादपि चार्बुदानि।

नासार्बुद—तथा रक्त और मांस के दोष से भी श्वासोच्छ्वास की गति को रोक कर नासा में (वही दोष) अर्बुदों को (उत्पन्न करते हैं)।

> घ्राणात्स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा
> पित्तान्वितमस्रं त्वपि पूयरक्तम् ॥११५॥

पूयरक्त—नासा से अथवा कान से या मुख से पित्त से युक्त (जो) स्राव निकले (वह तो पूयरक्त कहलाता है।

> कुर्यात्सपित्तः पवनस्त्वगादीन्
> संदूष्य चारूंषि सपाकवन्ति।

पित्तयुक्त वायु (नासास्थ) त्वचा आदि को दूषित करके पाकवान् अरुंषिका उत्पन्न करती है।

> नासा प्रदीप्ते व नरस्य यस्य
> दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ॥११६॥

नासादीप्त—जिस व्यक्ति की नाक जलती हुई (लाल अंगार वर्ण की होवे) उसको तो दीप्त रोग कहते हैं।

दोषानुसार रोग लक्षण

> भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात्
> पित्तात्सदाहार्ति कफाद् गुरु स्यात्।
> सर्वैस्त्रिदोष क्रिमिभिस्तुकण्डू-
> दौर्गन्ध्यतोदार्ति युतं शिरः स्यात् ॥११७॥

शिरोरोग—वात के कारण बहु बेचैनी के साथ शूल का स्फुरण होता है। पित्त के कारण दाह के साथ बेचैनी (और) कफ के कारण भारीपन होता है। सब के कारण त्रिदोष (तथा) कृमियों के कारण सिर (में) खुजली, दुर्गन्ध तोद युक्त बेचैनी रहती है।

मुखरोग

मुखामये मारुतजे तु शोथः
कार्कश्यरौक्ष्येऽतिबला रुजश्च।
कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं
प्रलंसनस्पन्दनतोदभेदाः ॥११८॥
तृष्णाज्वरस्फोटकदाहपाका
धूमायनं चाप्यवदीर्णता च।
पित्तात्समूर्च्छा विविधा रुजश्च
वर्णश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः ॥११९॥
कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं
स्वेदोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ।
उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा
रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे ॥१२०॥
सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्र रोगे
भवन्ति यस्मिन् स तु सर्वजः स्यात्।
संस्थानदूष्याकृतिनामभेदा-
च्चैते चतुः षष्टिविधा भवन्ति ॥१२१॥
शालाक्यतन्त्रे विहितानि तेषां
निमित्तरूपाकृतिभेषजानि।
यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य-
क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य ॥१२२॥

वातज मुखरोग में शोथ (stomatitis) कर्कशता, रूक्षता तथा अत्यधिक पीडा (होती है)। सरदी लगने से कृष्णारुण वर्ण, (लाला) का बहुत निकलना तथा गिरना, स्पन्दन तोद और भेदनवत् (पीडाएं होना देखा जाता है)।

पित्त के कारण (मुख रोग में) प्यास, ज्वर, स्फोट (छालों को उत्पत्ति), दाह, पाक, मुख से धूंआ जैसा निकलने का भाव, तथा (होठ जीभ आदि का) फटना, मूर्च्छा के साथ अनेकों पीडाएं होना तथा (रोगी का) वर्ण सफेद तथा अरुण छोड़ कर कोई सा भी (देखा जासकता है)।

तथा कफजन्य मुखरोग में खुजली, भारीपन, सफेद पिच्छिल स्राव से युक्त होना, स्वेद, अरुचि, जड़ता, कफ का प्रसेक, जी मिचलाना, अग्नि की मन्दता, तथा तन्द्रा और पीडाओं का मन्द होना (देखा जाता है)

जिस मुख रोग में सभी लक्षण होते हैं वह तो सन्निपातज होता है।

संस्थान, दूष्य, आकृति और नाम भेद से ये (मुखरोग) ६४ प्रकार के होते हैं।

उनका निदान, रूप आकृति औषधियां शालाक्यतन्त्र में कही गई हैं(मैं पुनर्वसुआत्रेय)तो प्रसङ्गानुसार (केवल) चार प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा कहूँगा।

अरोचक—

वातादिभिः शोकभयातिलोभ-
क्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः।
अरोचकास्युः परिहृष्टदन्तः
कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१२३॥
कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति
पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्य—
विबन्धसम्बद्धयुतं कफेन ॥१२४॥
अरोचके शोकभयातिलोभ-
क्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं वक्त्रमथारुचिश्च
त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥१२५॥

वातादि से शोक-भय-अतिलोभ-क्रोध चित्त के लिए अप्रिय भोजन (अप्रिय) गन्ध और अप्रिय रूपों से अरोचक उत्पन्न होते हैं।

वात से उत्पन्न अरोचक (वाला व्यक्ति) दन्तहर्ष तथा कषैले मुख वाला माना गया है।

पित्त से (उत्पन्न) अरोचक कटु-अम्ल-उष्ण-रसरहित-पूतिगन्धयुक्त-नमकीन मुख वाला जाने।

कफ से उत्पन्न अरोचक मधुरता-पिच्छिलता, भारीपन, शीतलता-विबन्ध (भोजन करने में असमर्थ) तथा सम्बन्ध (कफ से लिप्त) मुख वाला (होता है)।

शोक-भय-अतिलोभ-क्रोध आदि अहृद्य अशुचि गन्ध से उत्पन्न अरोचक में मुख स्वाभाविक (रहता है) पर अन्न की अरुचि होजाती है।

त्रिदोषज अरोचक में तो एक रस न होकर मुख में अनेक रस उत्पन्न होजाते हैं।

कर्णरोग

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः
स्रावस्तनुश्चाश्रवणञ्च वातात्।
शोथः सरागो दरणं विदाहः
पीतपूतिस्रवणञ्च पित्तात् ॥१२६॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्ल-
स्निग्धस्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक्च।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्
स्रुवश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१२७॥

वात के कारण शब्द, अत्यन्त पीडा, कान के मैल का सूखना, पतला स्राव तथा बहरापन; पित्त के कारण शोथ (otitis) लाली सहित फटने जैसा कष्ट जलन तथा पीला दुर्गन्धयुक्त स्राव; तथा कफजन्य में सुनने में विकृति, खुजली, स्थायी सूजन, सफेद चिकना स्राव तथा अल्प वेदना; तथा सन्निपातके कारण सब प्रकार के रूप तथा अधिक दोषयुक्त और वर्ण युक्त स्राव (पाया जाता है)।

वक्तव्य-(४३६) कर्ण के रोगों का विषय भी शालाक्य तन्त्र के अन्तर्गत आता है इसी कारण आचार्य ने केवल नाम मात्र का सम्बन्ध देते हुए मोटी मोटी पहचान बताकर इस विषय को समाप्त कर दिया है। इससे उनकी ज्ञानागाधता का तो परिचय मिलता ही है। जैसे आज किसी मैडीकल कालेज के मैडीसिन के हैड को कोई कान दिखावे तो वह उसे थोड़ा बताकर कर्णरोगविशेषज्ञ के पास सीधा भेज देगा पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तः के अनुसार वैसा ही प्राचीन काल में भी होता था। नीचे नेत्ररोगों का वर्णन भी इसी दृष्टि से किया गया है।

नेत्ररोग

अल्पस्तु रागोऽनुपदेहवांश्च
सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगे।
पित्तात् सदाहोऽतिरुजः सरागः
पीतोपदेहः सुभृशोष्णवाही ॥१२८॥
शुक्लोपदेहं बहुपिच्छिलाश्रु
नेत्रं कफात् स्याद्गुरुता सकण्डूः।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्-
नेत्रामयाः षण्णवतिस्तु भेदात् ॥१२९॥
तेषामभिव्यक्तिरतिप्रदिष्टा
शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः
शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ॥१३०॥

वातज नेत्ररोग में थोड़ी लाली, कीचड़ की कमी, तथा तोद और भेदनवत् पीड़ा, पित्त के कारण होने वाले नेत्ररोगों में जलन और लाली के साथ-साथ अत्यन्त शूल, पीले रङ्ग का कीचड़ और अत्यन्त गरम स्राव, नेत्र को कफ के कारण सफेद कीचड़ बहुत चिपचिपे आंसू, भारीपन तथा खुजली; सन्निपात के कारण सब प्रकार के लक्षण (होते हैं) प्रकार भेद से नेत्ररोग ९६ प्रकार के होते हैं।

उनके लक्षण तथा चिकित्सा शालाक्य तन्त्रों में अधिक कही गई है। दूसरे का अधिकार होने से विस्तारपूर्वक कहना प्रशस्त नहीं उस कारण से यह हमारा प्रयास नहीं (है)।

खालित्य और पलित

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं
दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात् खलितं नरस्य।
किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्
हरित्प्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम् ॥१३१॥

वातादिक के साथ तेज केशभूमि को शीघ्र जला कर मनुष्य के खालित्य कर देता है। और थोड़ा जलाकर पालित्य और बालों का भूरापन कर देता है

वक्तव्य—(४४०) यह विषय भी शालाक्यतन्त्रीय है पर आचार्य ने व्यक्ति के बाल झड़जाने (खालित्य) अथवा बालों के रंग बदल कर भूरे या सफेद होजाने (पालित्य) की सम्प्राप्ति दी है। आजदिन तक पश्चिमी विद्वान् इन दोनों का कारण और सम्प्राप्ति बताने में असफल रहे हैं। आयुर्वेद तेज नामक शरीरस्थ तत्व को इसका उत्तरदायी मानता है। तेज क्या है ? यह वह है जिसमें अग्नि के समान जलाने का गुण है और जो सूर्य के समान चमक लाता है। हमारे शरीर की कान्ति तथा बालों की बीमारी का कारण तेज है। जब यह प्राकृतिक अवस्था में रहता है तो बालों को चमक और त्वचा को चमक प्रदान करता है पर जब वातादि दोष विशेष करके वात जब इसे अधिक सन्धुक्षित करके झकझोरता है तो त्वचा पर झुरियां पड़ जाती हैं रोगी की दमक कम होजाती है।

उसके बालों का वर्ण नष्ट होने लगता है। जब आक्रमण तगड़ा होता है तो बिना रङ्ग बदले ही बाल गिर जाते हैं और खल्वाट साफ हो जाता है। कभी-कभी बीमारी के कारण तेज की कमी होने से भी बाल गिर जाते हैं। वृद्धावस्था में बालों का गिरना साधारण घटना है।

मोटे आदमी के बाल जल्दी गिरते हैं अर्थात् मुटापे की चर्बी की वृद्धि और तेज की विकृति साथ साथ चलते हैं। अधिक विद्वत्ता और धनसम्पन्नता के कारण चिन्ता भी तेज को विकृत करके खालित्योत्पत्ति करती है।

नजला, जुकाम या पीनस के कारण तेज की स्वल्प विकृति होने से बाल सफेद या भूरे पड़ने लगते हैं। इस तेज को चक्रपाणि ने स्वयं नहीं समझा इसी कारण तेजः शब्देन देहोष्माभिमतः कहकर केचित् तु तेजः शब्देन पित्तमपि वर्णयन्ति ये दो-दो बातें कही हैं। गंगाधर ने इस शब्द का कोई अर्थ नहीं किया। आयुर्वेद में अन्यत्र भी इसको समझाया नहीं गया।

यदि तेज से अभिप्राय पित्त ही होता तो मनुष्य की जवानी परमपित्तप्रबलता की अवस्था होने से तब सब बाल सफेद पड़ जाने चाहिए थे। पर वैसा नहीं होता। जब व्यक्ति के वीर्य का कोष समाप्त होता जाता है उसका तेज विकृत हो होकर बालों को सफेद करता चला जाता है।

क्या यह किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि (endocrine gland) का स्राव है। जो बचपन और जवानी में बालों का ठीक-ठीक पोषण करता है और प्रौढ़ावस्था से इसमें कमी या विकृति आजाती है ? अभी स्पष्टतः नहीं कहा जासकता। तेज नामक तत्व सौम्य स्वरूप का है जब यह वातादि द्वारा विकृत या उग्र कर दिया जाता है तब यह अग्निवत् बालों को झुलसाता या नष्ट करके खालित्य या पलित रोगों को उत्पन्न कर देता है।

आधुनिक जब तक चरकोक्त तेज का पता नहीं लगा लेते तब तक न बालों का भूरापन न सिर का गञ्जापन मेटने में समर्थ हो सकते हैं।

इत्यूर्ध्वजत्रुत्यगदैकदेश—
स्तन्त्रे निबद्धोऽयमशून्यतार्थम्।
अतः परं भेषजसंग्रहं तु
निबोध संक्षेपत उच्यमानम् ॥१३२॥

इस प्रकार यह ऊर्ध्वजत्रुज रोगों का एक भाग इस शास्त्र में न्यूनता के परिहार के लिए कहा गया है। अब आगे संक्षेप से, औषधसंग्रह (अर्थात् चिकित्सा) को (मुझसे) सुनो।

ऊर्ध्वजत्रुज रोगों की चिकित्सा

पीनसरोग चिकित्सा

**वातात्सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्।
पिबेद्रसं पयश्चौष्णं स्नैहिकं धूममेव वा ॥१३३॥**

वातिक प्रतिश्याय—वात के कारण पीनस में कास **स्वरभेद (नामक उपद्रव) होने पर यवक्षार के साथ घी पीवे। गरममांसरस या दूध (ले) अथवा स्नैहिक धूम मात्र (ले)।**

शताह्वात्वग्बलामूलं श्योनाकैरण्डबिल्वजम् ॥
सारग्वधंपिबेद्वर्तिं मधूच्छिष्टवसाघृतैः ॥१३४॥
अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे।
नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥१३५॥

सौंफ, दालचीनी, खरैटी की जड़, श्योनाक, एरण्ड, बेल की जड़ अमलतास सहित मोम चर्बी घृत के साथ चुपड़ कर धूमवर्ति पीवे। अथवा घी मिला

सक्तू बनाकर घड़े के सम्पुट में रख कर धूम नये जुकाम वाले रोगी को वैद्य प्रयोग करावे।

शङ्खमूर्धललाटार्तौ पाणिस्वेदोपनाहनम्।
स्वभ्यक्ते क्षवथुस्रावरोधादौ सङ्करादयः ॥१३६॥

शङ्ख प्रदेश (temporal region) मूर्धा (head) तथा ललाट (frontal region) (इनमें से किसी में) पीड़ा होने पर पाणिस्वेद (हाथ को तपा तपा कर उससे सेकना) तथा उपनाहन (कराना चाहिए)।

क्षवथु, परिस्रव, प्रतीनाह (रोध) आदि में संकर आदि स्वेदाध्याय में वर्णित) स्वेद (देने चाहिए)।

ध्रेयाश्च रोहिषाजाजीवचातर्कारिचोरकाः।
त्वक्पत्रमरिचैलान्नं चूर्णं वा सोपकुञ्चिकाः ॥१३७॥

रूसा घास, जीरासफेद, वालवच, अरनी, तथा चोरक, अथवा कालाजीरासहित दालचीनी, तेजपात, मिर्चकाली, और इलाइचियों का चूर्ण सुंघना चाहिए।

स्रोतः शृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं च नावने।

जब स्रोत, शृङ्गाटक, नासिका तथा नेत्र शुष्क होने पर नस्य में तैल (देना चाहिए)।

प्रभाव्याजे तिलान् क्षीरे तेन पिष्टान् तदुष्मणा ॥१३८॥
मन्दस्विन्नान् सयष्टयाह्वचूर्णांस्तेनैव पीडयेत्।
दशमूलस्य निःक्वाथे रास्नामधुककल्कवत् ॥१३९॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत्स्मृतम्।
स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद्वातपीनसे ॥१४०॥

अणुतैल —बकरी के दूध में (काले) तिलों को भावित करके उसी (बकरी के दूध से) पीसे गये उनके कल्क को (एक हांडी पर कपड़ा बांध नीचे पानी भर ऊपर इस कल्क को रख चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे आग जलाकर इस प्रकार) मन्द स्विन्न हुओं को मुलहठी के चूर्ण के साथ उस (बकरी के दूध) से ही (तैलयुक्त द्रव) निचोड़ ले। दशमूल के कषाय में सैन्धानमक के साथ (उक्त प्रकार से प्राप्त तैल द्रव डालकर) रास्ना, मुलहठी के कल्क के समान (साथ) सैन्धवनमक के साथ दस बार सिद्ध किया गया वह अणु तैल माना गया है।

वातिक पीनस में (अणुतैल द्वारा) स्निग्ध किए हुए का तथा (बाद में) आस्थापन द्वारा रोग के दोष को हरण करे।

वक्तव्य—(४४१) केवल तिलों पर ही किया करके तिलों से तैल निकाला जाता है। अणु अणु करके इस तैल की प्राप्ति होने से अणु तैल कहा गया है। बार बार तिलों को स्विन्न करके निचोड़ा जाता है। हर बार कुछ तैल की बूंदें एकत्र होती हैं इस प्रकार परिश्रमपूर्वक इसका निर्माण होता है। नमक के प्रयोग से यह तैल अपरिमित लाभदायक बन जाता है। इसे नेत्र, नासा, कर्ण कहीं भी प्रयोग किया जा सकता है।

स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम्।
उष्णाम्बुना स्नानपानं निवातोष्णप्रतिश्रयः ॥१४१॥
चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत्।
वातजे पीनसे धीमानिच्छन्ने वात्मनो हितम् ॥१४२॥

स्निग्ध-अम्ल-उष्ण (द्रव्यों के साथ) ग्राम्य जीवों के मांसरसों से लघु अन्न को (खाना) हितकर (होता है)। गरम जल से स्नान, (गरम जल) पीना वातरहित उष्ण स्थान में निवास करना, चिन्ता, व्यायाम, बोलने की प्रवृत्ति (और) मैथुन से दूर होवे। अपने हित को इच्छा करता हुआ वातज पीनस में बुद्धिमान् (उपरोक्त ध्यान रखे)।

पैत्ते सर्पिः पिबेत्सिद्धं शृङ्गवेर शृतं पयः।
पाचनार्थं पिबेत्पक्वे कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥१४३॥

पैत्तिक प्रतिश्याय—पैत्तिक प्रतिश्याय में अदरख से सिद्ध घी और दूध (दोष) पाचन के लिए पीवे तथा परिपाक होजाने पर शिरोविरेचन करना चाहिए।

पाठाद्विरजनी मूर्वा पिप्पली जातिपल्लवैः।
दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात्पक्वपीनसे ॥१४४॥

पाठा, दोनों हल्दी, मूर्वा, पिप्पली, चमेली के पत्तों से तथा दन्ती से साधित तैल नस्य के लिए पक्व प्रतिश्याय में (प्रयोग करे)।

पूयास्रे रक्तपित्तघ्ना कषाया नावनानि च
पाकदाहाद्यरुक्षेषु शीता लेपाः ससेचनाः ॥१४५॥

घ्रेयनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः
मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम् ॥१४६॥

पूयरक्त में रक्तपित्तनाशक कषायों (से) नस्यों को, पाकदाह आदि अरुषों में परिषेक सहित शीतल लेप तथा नस्य आहार (विहारादि) उपचार और घ्रेय (सूंघने योग्य) सब स्वादु शीतल तथा कषाय-रस प्रधान होने चाहिए।

घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः।
शीताम्लस्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः॥१४७॥

घी, दूध, जौ, शालि, गेहूँ, जाङ्गल जीवों के मांसरस, शीतल खट्टे तीते शाक तथा मूंग आदि की दालों से बने यूष हितकर हैं।

कफजपीनस चिकित्सा

गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे।
स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥१४८॥

आरम्भ में कफज प्रतिश्याय में गौरव तथा अरोचक होने पर लंघन, (कराना चाहिए) पीनस को पकाने के लिये घी चुपड़े हुए सिर पर स्वेद और परिषेक करना चाहिए।

लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतैर्युतम्।
देयं कफघ्नवमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम् ॥१४९॥

लशुन को मूंग के चूर्ण से त्रिकुटा यवक्षार और घी से युक्त करके देना चाहिए। उत्क्लेशपूर्ण कफज पीनस में कफनाशक वमन हित (करती है)।

अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डुके।
धूमः शस्तोऽपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥१५०॥

तथा खुजलीयुक्त अपीनस (chronic rhinitis) में, पूतिनस्य में, नासास्राव तथा कफज पीनस में कटु द्रव्यों से निर्मित अवपीड (नासा-विन्दु nasal drops) तथा धूमपान प्रशस्त होता है।

मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिंगु गुग्गुलुः।
चूर्णो घ्रेयः प्रधमनं कटुभिश्च फलैस्तथा ॥१५१॥

मेनसिल, बालवच, त्रिकटु, विडंग, हींग, गुग्गुलु का चूर्ण सूंघना चाहिए तथा कटुरसवाले फलों का प्रधमन करना चाहिए।

भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते।
मूत्रे लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ॥१५२॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत्।
पाकान्मुक्ते घन नस्यमेतन्मेन्विते कफे ॥१५३॥

भारंगी, मदनफल, अरनी, तुलसी आदि (सुरसादि गण) गोमूत्र में पकाने पर लाक्षा, बचा, कड़वी तुम्बी, विडंग, कूठ, पिप्पली तथा करंज का कल्क करके उनके द्वारा सरसों का तैल पकावे। प्रतिश्याय के पक जाने से (जब) नाक से मेदस् (चर्बी) के समान गाढ़ा कफ निकले (तब) इसका नस्य (देना चाहिए)।

स्निग्धस्य व्याहते वेगे छर्दनं कफपीनसे।
वमनीयशृतक्षीरतिलमाषयवागुभिः ॥१५४॥
वार्ताककुलकव्योषकुलत्थाढकि मुद्गजाः।
यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेवनम् ॥१५५॥

(प्रतिश्याय के) वेग के घट जाने पर, कफ पीनस में, (रोगी को) स्नेहन कराके, वमनीय द्रव्यों द्वारा पकाए हुए दूध की तिल उड़द से तैयार की गई यवागुओं से वमन कराना चाहिए। बैंगन, करेले, त्रिकटु, कुलथी, अरहर (तथा) मूंग के यूष, कफनाशक अन्न तथा उष्णोदक सेवन प्रशस्त (कहा जाता है)।

सर्वजित्पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे तु शोफनुत्।
क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया सर्व्वेष्ववेक्ष्य च ॥१५६॥

दुष्ट प्रतिश्याय में सर्वदोष जीतने वाली त्रिदोषघ्न चिकित्सा करनी चाहिए। नासागत शोफ में शोफघ्नी, अर्बुद तथा अधिमांसों में क्षारकर्म तथा शेष सब में (यथाविधि) देखकर चिकित्सा करनी चाहिए।

(शिरोरोग चिकित्सा)

वातिके शिरसो रोगे स्नेहस्वेदान् सनावनान्।
पानान्नमुपहारांच कुर्याद् वातामयापहान् ॥१५७॥
तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैश्चोपनाहनम्।
जीवनीयैः सुमनसां मत्स्यमांसैश्च शस्यते ॥१५८॥
रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्तिनुत्।
तैलं रास्नाद्वि काकोली शर्कराभिरथापि वा ॥१५९॥

बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः ।
जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः ॥१६०॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरोजाङ्गलार्धतुलारसे ।
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम् ॥१६१॥

वातिक शिरोरोग चिकित्सा

वातिक शिरोरोग में नस्यों के साथ स्नेहन, स्वेदन, पान-अन्न-उपहार .(आहारोपयोगी) वात रोग नाशक पदार्थों को करे। तेल में भुने अगर आदि के सुखोष्ण उपनाहों को जीवनीय द्रव्यों से चमेली आदि पुष्पों से मछली मांसों से भी (उपनाह) ठीक लगता है। रास्ना शालपर्णी आदि द्रव्यों से दूध के साथ सिद्ध (तैल) की नस्य अरतिनाशक होती है। अथवा रास्ना दोनों काकोली शर्करा आदि से दूध के साथ सिद्ध तैल की नस्य का भी प्रयोग किया जा सकता है।

बलादि तैल—बला, महुआ मुलहठी, विदारीकन्द, चन्दन, नीलोफर, जीवक, ऋषभक, मुनक्का, मिश्री आदि से एक प्रस्थ तैल, दूध के साथ तथा जांगल जीवों के आधे तुला मांसरस में सिद्ध का नस्य सम्पूर्ण जत्रु से ऊपर के (अङ्गों के) वातपित्तात्मक रोगों का नाशक है।

दशमूलबलारास्ना त्रिफलामधुकैः सह ।
मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्तुण्डाङ्घ्रि वर्जितम् ॥१६२॥
जले पक्त्वा घृत प्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत् ।
मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥१४३॥
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वाताल्वास्यगलरोगनुत् ।
मायूरमितिविख्यातमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥१६४॥

मायूरघृत—दशमूल, बला, रास्ना, हरड़ बहेड़ा आमला, मुलहठी (इन) के साथ पंख पित्ता, आंत, बीट, चोंच, पैर छोड़कर शेष सम्पूर्ण मोर को जल में एक एक कर्ष मधुर द्रव्यों के कल्क के साथ पका कर उसमें एक प्रस्थ घी बराबर दूध डालकर पकावे। (यह घृत) शिरोरोग तथा अर्दित (facial paralysis) नाशक, कान-आंख-नाक-जीभ-तालु-मुख (और) गले के रोगों का नाशक मयूर इस नाम से विख्यात् ऊर्ध्वजत्रु रोग दूर करने वाला है।

नोट—मधुर द्रव्यों में काकोल्यादिगण या जीवनीय दशक की जीवक ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवन्ती मुलहठी, मुद्गपर्णी माषपर्णी का समावेश किया जाता है। मोर को आठ गुने जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रखे। उसके साथ दशमूलादि का क्वाथ मिलाकर मधुरगण के द्रव्यों के कल्क से घृत सिद्ध कर लेना चाहिए। इसके सम्बन्ध में जो कई प्रकार के मत हैं वे भ्रामक हैं।

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः ॥१६५॥
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकर्धिपरूषकैः ।
समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीसुरदारुभिः ॥१६६॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः ।
मृणालबिसशालूकशृंगीजीवकपद्मकैः ॥१६७॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः ।
मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः ॥१६८॥
रास्नास्थिरातामलकी सूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः ।
पुनर्नवा तुगाक्षीरी काकोली धन्वयासकैः ॥१६९॥
खर्जूराक्षोटवातामभुञ्जाताभिषुकैरपि ।
द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम् ॥१७०॥
नस्येपाने तथाऽभ्यङ्गे वस्तौ चैव प्रयोजयेत् ।
शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ॥१७१॥
मन्यापृष्ठग्रहेशोषे स्वरभेदे तथार्दिते ।
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम् ॥१७२॥
ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते ।
महामायूरमित्येतद्घृतमात्रेयपूजितम् ॥१७३॥

महामायूरघृत—इसी (ऊपर मायूरघृत में वर्णित) कषाय से एक प्रस्थ घी को चौगुने दूध से एक-एक कर्ष इन द्रव्यों के कल्कों से पकावे—जीवन्ती, त्रिफला मेदा, मुनक्का, ऋद्धि, फालसे, मजीठ, चव्य, भारंगी, गम्भारी, देवदारु, कौंच के बीज, महामेदा, तालमस्तक, खजूरमस्तक, कमलनाल, कमल की जड़, शालूक, काकड़ासिंगी, जीवक, पद्माख, शतावर विदारीकन्द, ईख, कटेरीबड़ी, दोनों सारिवा, मूर्वा

गोखुरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कसेरू, रास्ना, शालपर्णी, भूमि आमलकी, छोटी इलायची, कचूर, पोकरमूल, पुनर्नवा, वंशलोचन, धमासा, खजूर, अखरोट, बादाम, फिन्दक, पिस्ते इन द्रव्यों में से जितने प्राप्त हो सकें पूर्वोक्त कल्प (योग) के अनुसार (घी) सिद्ध करे।

नस्य, पान, अभ्यंग तथा बस्ति के रूप में इसका प्रयोग करे। यह घृत सब शिरोरोगों में, कास दारुण श्वास, मन्याग्रह (torticollis), पृष्ठग्रह, शोष, स्वरभेद, तथा अर्दित में योनिगत रक्त तथा शुक्रगत दोषों में, प्रशस्त और वन्ध्या को (भी) पुत्र देने वाला है। ऋतुस्नान की हुई स्त्री इसे पीकर पुत्र का प्रसव करती है। महामायूर नाम वाला यह घृत आत्रेय द्वारा पूजित (प्रशंसित) है।

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्।
कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ॥१७४॥

चूहों से, मुर्गों से, हंसों से, खरगोशों से भी बुद्धिमान् जत्रूर्ध्व-रोग नाशक इस घृत कल्प को पकावे।

वक्तव्य—(४४२) मायूरघृत निर्माण में जैसे एक ही मोर के लेने का विधान है वैसे ही चूहा मुर्गा खरगोश आदि भी एक एक ही लेने के लिए चक्रपाणि का आग्रह है—अल्पमाने नाप्यत्रैकेनापि साधनं कर्तव्यम्।

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः।
जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत् ॥१७५॥
चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः।
क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥१७६॥
त्वक्पत्रशर्कराकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना।
कार्योऽवपीडःसर्पिश्च नस्यं तस्यानुवैत्तिके ॥१७७॥
यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम्।
नावनं शर्कराद्राक्षामधुकैश्चापि पित्तजे ॥१७८॥

पैत्तिकशिरोरोग चिकित्सा—१ - पैत्तिक शिरोरोग में नस्य सहित घृत, दूध, सेक, शीतललेप, जीवनीय घृत, तथा पित्तनाशक खाद्यपेय (प्रयोग करने चाहिए)

२ - चन्दन, खस, मुलहठी, बला, व्याघ्रनख, कमल दूध में पिसे हुए लेप करे अथवा (जल में) उबालकर परिषेक करे।

३ —दालचीनी, तेजपत्र, शर्करा, का तण्डुलोदक में पीसे गये कल्क का अवपीड करना चाहिए उसके बाद घी का नस्य पैत्तिक शिरोरोग में देना चाहिए।

४—पित्तज शिरोरोग में मुलहठी, चन्दन, अनन्तमूल के कल्क और चौगुने दूध में सिद्ध घृत का नस्य हितकर होता है तथा शक्कर, मुनक्का और मुलहठी द्वारा (दूध के साथ सिद्ध घृत) का नस्य दिया जासकता है।

कफजे स्वेदितं धमनस्यप्रधमनादिभिः।
शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नै समुपाचरेत् ॥१७९॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्बस्तिभिरेव च।
कफानिलोद्भवेद्दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥१८०॥
एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः।
धूमवर्ति पिबेद्गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा ॥१८१॥

श्लैष्मिकशिरोरोग चिकित्सा—१—कफज शिरोरोग में स्वेदित (रोगी को) धूम, नस्य, प्रधमन (insufflation) आदियों से शुद्ध (करके) कफनाशक प्रलेप, खाद्य पेय पदार्थों से (उसे) ठीक करे।

२—पुराने घी के पान से तथा तीक्ष्ण बस्तियों से ही (चिकित्सा करे)।

३ —कफवातात्मक शिरोरोग में दाह तथा

४—शेष (पित्तज शिरोरोग में) रक्तमोक्षण (करना चाहिए)।

५—एरण्ड, जटामांसी, रेशम, गूगुल, अगर, चन्दन से तथा कूठ तगर छोड़ शेष अन्य गन्ध द्रव्यों से बनी धूमवर्तियां पीवे।

सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया।
क्रिमिजे चैव कर्त्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ॥१८२॥

सन्निपातज शिरोरोग में सन्निपात में हित करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। तथा कृमिजन्य शिरोरोग में ही तीक्ष्ण शिरोविरेचन करना चाहिए।

त्वग्दन्तीव्याघ्रकरंजविडङ्गनवमालिकाः ।
अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः ॥१८३॥
क्षवकोऽश्मन्तको विल्वं हरिद्रा हिंगुयूथिका ।
फणिज्झकश्च तैस्तैलमवीमूत्रे चतुर्गुणे ॥१८४॥
सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णञ्चैषां प्रधमनं भवेत् ।
फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः ॥१८५॥

दालचीनी, दन्ती, व्याघ्रनख, करञ्ज, बिडङ्ग, नवमल्लिका, अपामार्ग के बीज, कटकरञ्ज और शिरीष के बीज, नकछिकनी, अश्मन्तक (अम्ल-लोटक), वेल, हल्दी, हींग, जुही, फणिज्झक सब समान भाग लेकर उनसे चौगुने भेड़ के मूत्र में सिद्ध किए गये तैल का नस्य तथा इनके चूर्ण का प्रधमन (तीक्ष्ण शिरोविरेचन के रूप में जैसा कि श्लोक १८२ में इङ्गित किया गया है) हितकर होता है।

सहंजन और करञ्ज दोनों के फल त्रिकटुचूर्ण के सहित अवपीडक (नासाविन्दु रूप में तीक्ष्ण शिरोविरेचन का काम करता है।)

मुखरोगचिकित्सा

धूमः प्रधमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घने ।
भोज्यञ्च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् ॥१८६॥

धूमपान, प्रधमन, विरेचन, वमन, लंघन और उन उन दोषों के अनुसार दोषनाशक आहार मुख-रोगों में हितकर (होते हैं)।

यवक्षारं पिप्पलीञ्च सदार्व्वीत्वग्रसाञ्जनम् ।
पाठां तेजोवतीं पथ्यां समभागानि चूर्णयेत् ॥१८७॥
सक्षौद्रं धारयेदेतत् मुखरोगेषु बुद्धिमान् ।
सीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः ॥१८८॥

यवक्षार, तथा पिप्पली, दारुहल्दीसहित दालचीनी, रसौत, पाठा, तेजोवती (तेजबल), हरड, (इनके) बराबर भागों का चूर्ण करले। शहद में मिलाकर बुद्धिमान् मुखरोगों में सीधु, माधव (महुए की मदिरा) अथवा तथा माध्वीक (मधु की मदिरा) के साथ इसे (मुख में) धारण करे। यह (एक) श्रेष्ठ कवलग्रह है।

तेजोह्वामभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम् ।
पाठां ज्योतिष्मतीं दार्वीं लोध्रं कुष्ठं च चूर्णयेत् ॥१८९॥
दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम् ।
पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः ॥१९०॥
पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः ।
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुडिकाः कृताः ॥१९१॥
कर्कन्धुमात्रा सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि ।
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः ॥१९२॥

तेजोह्वादिदन्तमञ्जन—तेजबल, हरड़, इलाइची, मजीठ, कुटकी, मोथा, पाठा, मालकांगनी, दारुहल्दी, लोध और कूठ को चूर्ण करले। दांतों का (इस चूर्ण से) घर्षण (करने से उनका) रक्तस्राव, कण्डू और शूल नष्ट कर देता है।

पञ्चकोलादि गुटिका—पञ्चकोल, तालीसपत्र, तेजपत्र, इलाइची, मरिचकाली. दालचीनी, ढाकका क्षार मोखा का क्षार, तथा यवक्षार (सब) चूर्ण करके दो गुने पुराने गुड में बेर जैसी गुटियां करके मोखा की भस्म में एक सप्ताह रख कर अमृत के समान इन गोलियों को सब प्रकार के कण्ठरोगों में धारण करना चाहिए।

गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् ।
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकञ्चेति चूर्णितम् ॥१९३॥
सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम् ।
कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ॥१९४॥

कालकचूर्ण—घर का धुआं, यवक्षार, पाठा, त्रिकटु, रसौत, तेजबल, त्रिफला, लोध और चित्रक को (समभाग लेकर) चूर्ण करके शहद के साथ इस गलरोगविनाशक (चूर्ण को) धारण करे। कालक नाम वाला वह चूर्ण दांत, मुख (और) गले के रोगों का नाशक है।

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम् ।
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम् ॥१९५॥
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ।

मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम् ॥१९६॥

पीतक चूर्ण—मैनसिल, यवक्षार, हरताल सैन्धव सहित दारुहल्दी की छाल (इन सबको सम भाग लेकर (चूर्ण करे) उस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर साथ ही घृत के उपरितन मण्ड के साथ मिश्रित करके गले में धारण करे। यह) पीतकनाम का श्रेष्ठ चूर्ण कण्ठ और मुखरोगों में प्रसिद्ध है।

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक्त्रिफला घनम्।
पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वेति च चूर्णितम् ॥१९७॥
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम्।
योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ॥१९८॥

मृद्वीकादि चूर्ण—मुनक्का, कुटकी, त्रिकटु, दारुहल्दी की छाल, त्रिफला, मोथा, पाठा, रसौत, मूर्वा, तेजबल चूर्ण करके मधु के साथ इस औषध को गलरोग होने पर (मुख में) धारण करना चाहिए।

ये तीनों कहे हुए योग क्रमशः वातनाशक (कालकचूर्ण) पित्तनाशक (पीतकचूर्ण) तथा कफनाशक (मृद्वीकादिचूर्ण) होते हैं-

कटुकातिविषापाठा दार्वीमुस्तकलिङ्गकाः।
गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः ॥१९९॥

कटुका, अतीस, पाठल, दारुहल्दी, मोथा, इन्द्रजौ, गोमूत्र में उबाले गये (इस क्वाथ को) कण्ठरोगनाशक ये द्रव्य पिये जाने चाहिए।

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया।
सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोष नाडी व्रणापहा ॥२००॥

दारुहल्दी का क्वाथ किया गया रस (छान कर) अवलेह रूप घन करके शहद के साथ (लेना) मुख रोग, रक्त दोष तथा नाड़ी व्रण का नाशक होता है।

तालुशोषे सतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम्।
नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसाहिताः ॥२०१॥

तालुशोष में प्यास वाला भोजन के पूर्व घृत पान करे। (रोगी को) नस्य मधुरस्निग्ध शीतल मांसरसों का पथ्य हितकर (होता है)।

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम्।
मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरैश्च कवलग्रहाः ॥२०२॥

मुखपाक में सिरामोक्षण (venesection) शिरोविरेचन, कायविरेचन, मूत्र, तैल, घृत, शहद तथा दूध (इन) के साथ कवल धारण करना लाभप्रद (होता है)।

सक्षौद्रास्त्रिफलापाठामृद्वीका जातिपल्लवाः।
कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथाश्च मुखधावनाः ॥२०३॥

शहद सहित त्रिफला, पाटल, मुनक्का, चमेली के पत्ते (इन) के क्वाथ तथा कषाय-तिक्त-शीतवीर्य द्रव्यों के बने क्वाथ मुख शोधन करने वाले (होते हैं)।

खदिरादि गुटका

तुलां खदिरसारस्य द्वितुलामरिमेदसः।
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥२०४॥
द्रोणशेषं कषायं तं पूत्वा भूयः पचेच्छनैः।
ततस्तस्मिन् घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम् ॥२०५॥
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठाधातकीघनम्।
प्रपौण्डरीकं यष्टयाह्वं त्वगेला पत्रकेशरम् ॥२०६॥
लाक्षारसाञ्जनं मांसी त्रिफलालोध्र बालकम्।
रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम् ॥२०७॥
यवासागुरुपत्तङ्ग गैरिकाञ्जन मावपेत्।
लवङ्गजातीकक्कोलजातीकोषान्पलोन्मितान् ॥२०८॥
कर्पूरकुडवञ्चापि क्षिपेत् शीतेऽवतारिते।
ततस्तु गुडिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत् ॥२०९॥
तैलञ्चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत्।
दन्तानां चालनं ध्वंस सौषिर्यक्रिमिरोगनुत् ॥२१०॥
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम्।
स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत् ॥२११॥
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत् परायणम्।
खदिरादिगुटीकेयं तैलं च खदिरादिकम् ॥२१२॥

कत्थे की लकड़ी का सारा भाग एक तुला, इरिमेद का सार भाग दो तुला धोकर, जर्ज(चूर्ण) करके चार द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से ८ द्रोण) जल में पकावे। एक द्रोण शेष उस कषाय को छानकर फिर धीरे धीरे पकावे। जब उसमें घनता आ जावे तो एक एक कर्ष चन्दन, पद्माख, खस, मजीठ, धाय,

मोथा, पुण्डरीक, मुलहठी, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, केसर, लाख, रसौत, जटामांसी, त्रिफला, लोध, सुगन्धवाला, हल्दी, दारुहल्दी, प्रियंगु, इलायची, लज्जावन्ती, कायफल, वालवच, जवासा, अगर, पतङ्ग, गेरु, सुरमा, चूर्ण करके डालदे।

फिर नीचे उतारकर ठण्डा होने पर एक एक पल लौंग, जायफल (कोई कोई नखी भी डालते हैं), कंकोल, जावित्री तथा एक कुडव कपूर भी डाल दे।

उसकी फिर गोली बना लेनी चाहिए सूखने पर उसे मुख में धारण करे।

इस कल्क और इसी कषाय के द्वारा तैल (भी) सिद्ध करे।

दांतों का चालन, ध्वंस, सुषिरता, कृमि रोग नाशक, मुख पाक, मुख की दुर्गन्ध, जड़ता, अरुचि नाशक, (गले का) स्राव, मललिप्तता, पिच्छिलता, विस्वरता और गले के शोष (सूखने का) नाशक, दांत-मुख-गले के सभी रोगों में यह खदिरादिगुटिका तथा खदिरादिक तैल श्रेष्ठ औषधि हैं।

(अरोचक चिकित्सा)

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः।
मनोज्ञमन्नपानञ्च हर्षणाश्वासनानि च ॥२१३॥
कुष्ठसौवर्चलाजाजी शर्करा मरिचं विडम्।
धात्र्येला पद्मकोशीरपिप्पलीचन्दनोत्पलम् ॥२१४॥
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्।
आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजी शर्करायुतः ॥२१५॥
सतैल माक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः।
चतुरोऽरोचकान्हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान् ॥२१६॥
कारवीमरिचाजाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्।
सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥२१७॥
बस्तिं समीरणे, पित्ते विरेकं वमनं कफे।
कुर्याद्धृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोघ्नजे ॥२१८॥

अरुचि में कवल ग्रह, धूम, मुख, शोधक द्रव्यों के साथ मनोरम अन्नपान तथा हर्षण आश्वान करने चाहिए।

वात, पित्त, कफ, सन्निपात (इस प्रकार) चार प्रकार की अरुचियों के नाशक चार (अधोलिखित) कवलग्रह हैं—

१—कूठ, सौवर्चल नमक, सफेद जीरा, शर्करा, काली मिर्च, विड लवण (वात नाशक)

२—आमला, इलायची, पद्माख, खस, पिप्पली, चन्दन, नीलोफर, (पित्त नाशक)

३—लोध, तेजबल, हरड़, यवक्षार सहित त्रिकटु (कफनाशक) तथा

४—गीले अनार (फल) का रस जीरा और मिश्री युक्त (त्रिदोषनाशक)

ये चारों तैल तथा शहद मिलाकर मुख में कवल धारण करना चाहिए।

कर्णरोग चिकित्सा

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया।
प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाकस्रावे व्रणक्रियाः।
भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात्स्नेहांश्च पूरणान् ॥२१९॥

कान में शूल होने पर तो पीनस (जुकाम) की तरह वातनाशक क्रिया हितकर (होती है)। प्रदेह, पूरण (eardrops) नस्य तथा कर्णपाक या कर्णस्राव होने पर व्रण (के समान) चिकित्सा करनी चाहिए। दोष के अनुसार आहार तथा स्नेहों का पूरण करे।

हिंगुतुम्बुरुशुण्डीभिस्तैलं तु सार्षपं पचेत्।
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम् ॥२२०॥

हिंग्वादि तैल—हींग, धनियां, सोंठ (इन) से तो सरसों का तेल पकावे। क्योंकि इसका पूरण (कान में टपकाना) श्रेष्ठ कर्णशूल निवारण कर्ता होता है)।

देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः।
तैलं सिद्धं बस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम् ॥२२१॥

देवदार्वादि तैल—देवदारु, बचा, सोंठ, सोंफ या सोया, कूठ सेंधानमक (इन) से बकरे के मूत्र में (यथा विधि) सिद्ध तैल कर्ण शूल नाशक (होता है)।

वराटकान् समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने नवे।
तद्भस्मश्च्योतयेत्तेन गन्धतैलं विपाचयेत्।

रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत् ॥२२२॥

गन्धतैल—कौड़ियों को लेकर नये मिट्टी के पात्र में जलाले। उस कौडी की भस्म को जल में घोलकर और रसौत सोंठ दोनों के कल्कों से गन्धतैल (सुगन्धित तैल कोई सा) पकावे। (यह) कर्णशूलनाशक है।

शुष्कमूलकशुण्ठानां क्षारो हिंगु महौषधम्।
शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारुशिग्रु रसाञ्जनम् ॥२२३॥
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिद् सैन्धवम्।
भूर्जग्रन्थिविडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम् ॥२२४॥
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च।
तैलमेभिर्विपक्तव्यं कर्णशूलहरं परम् ॥२२५॥
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः।
पूरणादस्य तैलस्य क्रिमयः कर्णमाश्रिताः ॥२२६॥
क्षिप्रं प्रणाशं गच्छन्ति कृष्णात्रेयस्य शासनात्।
क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयापहम् ॥२२७॥

क्षारतैल—सूखीमूली के शुण्ठों का क्षार, हींग, सोंठ, सौंफ, वचा, कूठ, देवदारु, सहंजन, रसौत, कालानमक, यवक्षार, सज्जीखार, उद्भिद्नमक, सैन्धवनमक, भोजपत्र की गांठ, विडनमक, मोथा (सब बराबर बराबर) मधुशुक्त चारगुना, बिजौरे नीबू का स्वरस (उतना ही) तथा केले का स्वरस (उतना ही) इन सबके साथ (कल्क का चौथाई) तैल पकाना चाहिए। यह परम कर्णशूल बधिरता, कर्णनाद, कर्णपूय, दारुण कर्णस्रावनाशक होता है। इस तैल के कान में पूरण करने (डालने) से कान में बैठे कीड़े शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं कृष्णात्रेय के शासन (कथन) से यह श्रेष्ठ क्षार तैल मुख और दन्तरोगों का नाशक है।

वक्तव्य—(४४३) क्षारतैल चरक का एक बहुत प्रसिद्ध तैल है। औरियोमाइसीन हाइडोक्लोराइड की कर्णविद्रधिओं से जो पूयस्राव बन्द नहीं हो पाता उस पर भी इसकी क्रिया फलदायक होती है। इस योग के बनाने में मधुशुक्त डालने का जो विधान है वह इस प्रकार है—

जम्बीराणां फलरसः प्रस्थंकः कुडवोन्मितम्।
माक्षिकं तत्रदातव्यं पलैका पिप्पलीमता ॥
एतदेकीकृतं सर्वं मधुभाण्डे विनिक्षिपेत्।
धान्यराशौस्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते ॥
मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम्।
कुर्याद् भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम् ॥२२८॥

मुख कान और आंख के रोगों में वैद्य आदि में दोष तथा काल के बलाबल को देखकर प्रतिश्याय में जैसी चिकित्सा कही गई है वैसी करे।

नेत्ररोग चिकित्सा

उत्पन्न मात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः।
कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरोग निवारणः ॥२२९॥

नये नेत्ररोग के उत्पन्न होते ही दाह कीचड़ अश्रु शोथ और पीडानाशक बिडालक (लेप) करना चाहिए।

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया।
निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ॥२३०॥

वातिक नेत्ररोग में सोंठ, सैंधानमक और घृत मण्ड के साथ अथवा उसी प्रकार मधु सैंधव और गेरू को घिसकर रसक्रिया (लेप) करे।

तथा शाबरकंलोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः।
तद्वत् कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः ॥२३१॥

और घी में भुना सावरलोध या उसी प्रकार घी में भुनी हरीतकी का शूलनाशक बिडालक (लेप) करना चाहिए।

पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः।
कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसी कालीयकैस्तथा ॥२३२॥

पैत्तिक नेत्ररोग में चन्दन, अनन्तमूल, मजीठ के द्वारा तथा पद्माख, मुलहठी, जटामांसी और पीतचन्दन के साथ बिडालक करना चाहिए।

गैरिकं सैन्धवं मुस्तं रोचना च रसक्रिया।
कफे कार्या तथा क्षौद्रं प्रियंगु स मनःशिला ॥२३३॥

कफज नेत्ररोग में गेरू, सेन्धानमक, मोथा, गोरोचन तथा मैनसिलसहित मधु और प्रियंगु से रसक्रिया करनी चाहिए।

वक्तव्य—(४४४) ऊपर कहीं बिडालक और कहीं रसक्रिया का वर्णन आया है। ये दोनों प्राचीन नेत्रचिकि-

रसकों (Otphalmologists) के पारिभाषिक शब्द (technical terms) हैं। विडालक-शालाक्यङ्गोऽक्ष्णो-र्बहिर्लेपो विडालकसंज्ञः और रसक्रिया-घनीभूत रसस्य संज्ञा कत्रायार्द्रयत् पुनः पाकात् घनत्वं सा रसक्रिया ऐसा लेना चाहिए। संक्षेप में आंख पर बाहर किया गया कोई भी लेप विडालक है और लेप के लिए अवलेह जैसा खूब बारीक पिसा पदार्थ रसक्रिया कहलाता है।

कफज नेत्ररोग में मैनसिल का उपयोग आंख के बाहर के स्थान को निर्जीवाणुक करने के अभिप्राय से है।

नीचे श्लोक २३५ में आश्च्योतन भी ऐसा ही एक पारिभाषिक शब्द है उसका अर्थ है किसी तरल पदार्थ का नेत्र में टपकाना। इसे आजकल नेत्रविन्दु (eye drop) कहते हैं।

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद्बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम्।
पक्ष्माण्यस्पृशता कार्यं सम्पक्वे त्वञ्जनं त्र्यहात् ॥२३४॥

सन्निपातजन्य नेत्ररोग में सब औषधों द्वारा आंखों के बाहर नेत्र के बालों (पक्ष्मों brows) को न छूता हुआ प्रलेप करना चाहिए। तीन दिन बाद पक जाने पर अंजन करे।

वक्तव्य—(४४५) आंख आने पर आज पुराने भी लोग तीन दिन दवा डालने का जो निषेध करते हैं उसका मूल इस श्लोक में है। कम से कम त्रिदोषज नेत्र-रोग के लिए यह विधि अपनाई जासकती है।

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः।
कोष्णः सैरण्डतर्कारीबृहतीमधुशिग्रुभिः ॥२३५॥

वातज नेत्ररोग में एरण्डसहित जयन्ती, बड़ी कटेरी, मीठा सहंजन, बेलगिरी आदि महापंचमूल के द्रव्यों से सिद्ध किया गया गुनगुना क्वाथ आश्च्योतन (नेत्रविन्दु) के लिए हित (कर होता है)।

पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः।
क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ॥२३६॥

बड़ी इलाइची, दारुहल्दी, मजीठ, लाख, मुल-हठी दोनों (जलज तथा स्थलज), नीलोफर द्वारा शर्करायुक्त शीतल क्वाथ रक्तपित्तनाशक नेत्र पूरक (eye drop होता है)।

नागरत्रिफलामुस्तनिम्ब वासारसः कफे।
कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैरौषधैः सान्निपातिके ॥२३७॥

कफजनेत्ररोग में सोंठ, त्रिफला, मोथा, नीम, वासा का स्वरस (इसके द्वारा तैयार किया गया) सुखोष्ण आश्च्योतन करे। सान्निपातिक नेत्ररोग में (विविध दोषों में प्रयुक्त सब) मिलाई गई ओष-धियों से (आश्च्योतन करना चाहिए)।

बृहत्येरण्डमूलत्वक् शिग्रोः पुष्पं ससैन्धवम्।
अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥२३८॥

बड़ीकटेरी, एरण्ड की जड़ की छाल, सैंधव-सहित सहंजन के फूल बकरी के साथ पीसकर वातिक नेत्ररोगनाशक वर्ति बनावे।

सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला।
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा ॥२३९॥

चमेली के फूल की कली, शंखचूर्ण, त्रिफला, मुलहठी, खरैटी वर्षा के जल के साथ पीसकर रक्त-पित्त नाशक वर्ति (तैयार करे)।

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः।
फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥२४०॥

सेंधानमक, हरड़-बहेड़ा-आमला, सोंठ-मिर्च-काली-पिप्पली शंखनाभि, समुद्रफेन, (cuttle fish bone), छरीला (lichen), और राल (से निर्मित) वर्ति कफज नेत्ररोगनाशक (होती है)।

अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत्।
प्रपौण्डरीकं यष्टयाह्वं दार्वी कालानुसारिवा ॥२४१॥
एवामष्टपलान्भागान् सुधौताञ्जर्जरी कृतान्।
तोये पक्त्वा रसे पूते भूयः पक्वे रसे घने ॥२४२॥
कर्षं च श्वेतमरिचाञ्जातीपुष्पान्नवात् पलम्।
चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्तिः सर्वघ्नी दृक्प्रसादनी ॥२४३॥

अमृताह्वादि वर्ति—गिलोय, कमलकन्द (lotus tubers), बेल, पटोल, बकरी की मेंगनी, पुण्डरीक, मुलहठी, दारुहल्दी, अनन्तमूल इन (सबके) आठ-आठ पल खूब धोकर जर्जर किए हुए भागों को (यथा-वश्यक) जल में पकाकर (प्राप्त हुए) रस छान पुनः

पका घन करने पर सफेद मरिच (सहजन के बीज) एक कर्ष (तथा) नये चमेली के फूल से एक पल चूर्ण को डालकर बनाई वर्ति सर्वनेत्ररोगनाशक (तथा) दृष्टिप्रसादनी (होती है)।

शङ्खप्रवालवैदूर्यं लौहताम्रप्लवास्थिभिः।
स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ॥२४४॥

शङ्खादिवर्ति—शङ्ख, मूंगा (coral) लहसुनियां (cat's eye beryl) लोह, ताम्र, प्लव (नामक पक्षी pelican) की अस्थि। इनसे (तथा) स्रोतोञ्जन (black antimony) श्वेत मरिचों (सहंजन के बीजों) से (खूब घोट पीस कर) सर्वनेत्ररोगनाशक वर्ति (बनावे)।

वक्तव्य—(४४६) लोह ताम्र के स्थान पर लौहताम्र होने पर सारस की हड्डी अर्थ होगा।

शाणार्द्धं मरिचाद् द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः।
शाणार्द्धं सैन्धवाच्छाणा नव सौवीरकाञ्जनात्॥२४५॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम्।
कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ॥२४६॥

चूर्णाञ्जन—कालीमिर्च से आधाशाण, पिप्पली और समुद्रफेन दोनों से दो शाण, सैन्धव से आधाशाण, काले सुरमे से ९ शाण चित्रा नक्षत्र में अत्यन्त बारीक पीसा गया यह शुभ चूर्णाञ्जन कण्डू, काच (मोतियाबिन्द) कफज नेत्ररोगों का तथा नेत्रगत मलों का शोधक (होता है)।

वस्तमूत्रे त्र्यहं स्थाप्यमेलाचूर्णं सुभावितम्।
चूर्णाञ्जनं हि तैमिर्यक्रिमिपिल्लमलापहम् ॥२४७॥

बकरे के मूत्र में तीन दिन तक स्थापित किया गया इलाइची का चूर्ण ही चूर्णाञ्जन (रूप) तिमिर क्रिमिरोग पिल्ल और नेत्रगत मल का अपहर्त्ता है।

सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनः शिला।
चक्षुष्या मधुकं लोहमणयः पौष्पमञ्जनम् ॥२४८॥
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कतकं चाञ्जनं शुभम्।
तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्वेयमनुत्तमा ।२४९॥

सौवीराञ्जनादिवर्ति—सौवीराञ्जन (antimony sulphide) तूतिया, स्वर्णमाक्षिक धातु, मैनशिल, चाकसु, मुलहठी, लोहभस्म, मणियां, पुष्पाञ्जन (जस्ते का सफेदा), सेंधानमक, सुअर की दाढ़ और निर्मली (cleaning nut) शुभ अञ्जन है। चूर्ण या श्रेष्ठ वर्ति के रूप में तिमिर आदि नेत्ररोगों में (इसका उपयोग होता है)।

कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता।
फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ॥२५०॥
कुक्कुटाण्डकपालानि वर्तिरेषा व्यपोहति।
तिमिरं पटलं काचं मलं चाशु सुखावती ॥२५१॥

सुखावती वर्ति—निर्मली का फल, शङ्ख, सेंधानमक त्रिकटु, मिश्री, समुद्रफेन, रसौत, शहद, विडंगों, मैनसिल, मुर्गे के अंडे के छिलकों को (एकत्र घोट कर) इनकी (बनी) सुखावती वर्ति तिमिर पटल, कांच, तथा नेत्रगत मल को नष्ट कर देती है।

त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः।
नीलोत्पलं विडङ्गानि फेनं च सरितापतेः ॥२५२॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने।
सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत्।
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्न चक्षुषः ॥२५३॥

दृष्टिप्रदावर्ति—हरड़-बहेड़ा-आमला, मुर्गे के अण्डे का छिलका, कासीस (ferrous sulphate), लोहभस्म, नीलोफर, विडंगों तथा समुद्र के फेन को बकरी के दूध से पीसकर तांबे के पात्र में लेप करके सात रात्रि तक रखकर पुनः दूध से पीसकर वर्ति बनाले। यह दृष्टिप्रदा (नामक) वर्ति अभिन्नअन्ध (जिसकी आंख न फूटी हो नेत्रयन्त्र पूर्णतः ठीक हो ऐसे अन्धे) को दृष्टिप्रदान करने वाली है।

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम्।
ततस्तस्मात् समुद्धृत्य सशुष्कं चूर्णयेद्बुधः ॥२५४॥
सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च।
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ॥२५५॥

काले सर्प के मुख में एक महीने भर काला सुरमा रखकर उसमें से उसको निकाल कर खूब सुखाकर आधे भाग चमेली पत्र की सूखी कलियों तथा सेंधानमक के साथ बुद्धिमान् चूर्ण करले। इस

तिमिर (corneal opacity) नाशक श्रेष्ठ अञ्जन को करना चाहिए।

पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम्।
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद्रसक्रिया ॥२५६॥

पिप्पली, ढाक के फूलों का रस, सर्प की चर्बी सेंधानमक तथा पुराना घी (के द्वारा तैयार की गई) रस क्रिया सब नेत्र रोगों का नाश करने वाली होती है।

कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया।
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च ॥२५७॥

काले सर्प की चर्बी, शहद, आमलों का स्वरस (इन से तैयार की गई) रसक्रिया सब नेत्ररोगों में तथा काच, नेत्रगत अर्बुद तथा नेत्र मल होने पर प्रशस्त (होती है)

वक्तव्य—(४४७) नेत्ररोगों में विशेषकर उनमें जिनमें नेत्र से देखने में बाधा पड़ती है कार्निया में धुंधलापन आजाने से या मोतियाबिन्दु के आरम्भ होने से वहां पर काले सर्प की चर्बी का आयुर्वेदज्ञों ने खुलकर प्रयोग किया तथा लाभ उठाया है।

धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया।
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा ॥२५८॥

आमलकी, रसौत, मधु, घी (इन) से तो (बनाई गई) रसक्रिया पित्त तथा रक्तजन्य नेत्ररोगनाशक तथा तिमिर और पटल को दूर करने वाली (होती है)।

धात्रीसैंधवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचः समाः।
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया ॥२५९॥

आमलकी, सेंधानमक, पिप्पली समभाग तथा (आवश्यकतानुसार अर्थात्) थोड़ी मिर्चकाली शहद युक्त रसक्रिया पटल और अन्धता को नष्ट करती है।

खालित्यादि चिकित्सा

खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम्।
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्र प्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् ॥२६०॥

खालित्य, पलित, वलियों (त्वचा की झुर्रियों) में, तथा बालों के हरि (या बन्दर के से वर्ण के tawny) होने पर शोधन किए गए रोगी को नस्यों से तैलों से शिर और मुख के प्रलेपों से उपचार करे।

सिद्धं विदारिगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च।
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् ॥२६१॥

विदारिगन्धादि (शालपर्णी आदि लघुपञ्च), तथा जीवनीयगण के द्रव्यों से सिद्ध (तैल) का नस्य खालित्यपलितनाशक (होता है),

क्षीरात्सहचराद्भृङ्गराजाच्च सौरसाद्रसात्।
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद्यष्टाह्वपलकल्कितः ॥२६२॥
सिद्धः शिलासमे भाण्डे मेषशृङ्गादिषु स्थितः।
नस्यं स्याद्भिषजा सम्यग्योजितं पलितापहम् ॥२६३॥

दूध से, पियाबांसे से, भांगरे से, तुलसी (इन) के रस से, (एक-एक) प्रस्थ (द्रवद्वैगुण्य से २-२ प्रस्थ) तैल से एक कुडव, तथा एक पल चूर्ण की गई मुलइठी से सिद्ध (तैल) पत्थर के बर्तन में (या) मेंढे के सींग में रखे हुए का नस्य वैद्य के द्वारा ठीक ठीक प्रयोग करने पर पलित (grey hair) का नाश करता है।

भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिका करवीरकौ।
उत्पाट्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ ॥२६४॥

अथवा वैद्य द्वारा दूधी और कनेर दोनों को दूध में पिसे हुओं को बाल नोंचकर पलित रोग में देना चाहिए। वे दोनों पलितनाशक (होते हैं)।

मार्कवस्वरसात् क्षीराद् द्विप्रस्थं मधुकात् पलम्।
तैः पचेत् कुडवं तैलात्तन्नस्यं पलितापहम् ॥२६५॥

भांगरे के रस से दूध से २ प्रस्थ एक पल मूलहठी से (इस प्रकार) उन सबसे एक कुडव तैल पकावे। उसका नस्य पलितनाशक होता है।

वक्तव्य—(४४८) दुद्धी, कनेर, भांगरा, आदि वर्णकारक द्रव्य होने से बालों के रंगने और पलित नाश में प्रयुक्त होते हैं।

आदित्यवल्ल्यामूलानि कृष्णसैरेयकस्य च।
सुरसस्य च पत्राणि पत्रं कृष्णशणस्य च ॥२६६॥
मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च।
पृथग्दशपलांशानि पिप्पल्यास्त्रिफलाञ्जनम् ॥२६७॥

प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम् ।
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम् ॥२६८॥
नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका ।
सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ ॥२६९॥
पुष्करार्जुन काश्मर्याण्याम्रजम्बूफलानि च ।
पृथक्पञ्च पलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत् ॥२७०॥
वैभीतकस्यतैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ।
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः ॥२७१॥
लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ।
पाने नस्य क्रियायां च शिरोभ्यङ्गे तथैव च ॥२७२॥
एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ।
महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ॥२७३॥

सूरजमुखी की काले फूल के पियाबांसे की जड़ों को तथा तुलसी की पत्तियों को, तथा काले सन के पत्ते का भांगरा, मकोय, मुलहठी, और देवदारु अलग-अलग दस-दस पलों को, पिप्पली हरड़-बहेड़ा-आमला, काला सुरमा, पुण्डरीक, मजीठ, लोध, काला अगर, नीलोफर, आम की गुठली, काली कीचड़, कमलनाल, लालचन्दन, नीलिनी, भिलावे की गुठलियों, कासीस, मेंहदी, वाकुची, विजयसार, हथियार का लोहा, मदनफल तथा कालाचित्रक, पोकरमूल, अर्जुन, गम्भारी के फलों, आम तथा जामुन के फलों को अलग-अलग पांच-पांच पलों इन सबको पीसकर उनसे बहेड़े के फल की मींगी से निकाले एक आढक तैल को चार गुने (द्रवद्वैगुण्य से आठ गुने) आमले के स्वरस के साथ लोहपात्र में जब तक रस शुष्क होवे तब तक सूर्य पाक करे (धूप में रखे) फिर छानकर शुद्ध करके पान में, नस्यक्रिया में, तथा शिर पर मालिश करने में उपयोग करे। यह चक्षुष्य, आयुष्य तथा सिर के सब रोगों का नाशक है। महानील इस नाम से विख्यात (यह तैल) श्रेष्ठ पलितनाशक (होता है)।

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।
कार्षिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकीरसः ॥२७४॥
सिद्धः सप्रतिमर्शः स्यात् सर्वशीर्षगदापहा ।
पलितघ्नो विशेषेण कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥२७५॥

पुण्डरीक, मुलहठी, पिप्पली, चन्दन, नीलोफर एक एक कर्ष इन सबसे एक कुडव तैल दुगुने (द्रवद्वैगुण्य से चौगुने) आमलकी स्वरस के साथ सिद्ध वह प्रतिमर्श (नामक नस्य) कृष्णात्रेय द्वारा कहा हुआ सब शिरोरोगों का अपहर्ता तथा विशेष करके पलितरोगनाशक (होता है)।

क्षीरं पियालं यष्ट्याह्वं जीवकाद्यो गणस्तिलाः ।
कृष्णा वक्त्रे प्रलेपः स्याद्धरिलोमनिवारणः ॥२७६॥

दूध, चिरोंजी, मुलहठी, जीवकादि (जीवनीय) गण (की औषधियां) काले तिलों का मुख पर किया गया लेप भूरे बाल हटाने वाला होता है।

तिलाः सामलकाश्चैव किञ्जल्को मधुकं मधु ।
बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत् केशान्मूर्धप्रलेपनात् ॥२७७॥

आमलोंसहित काले तिल, कमलकेसर, मुलहठी शहद, यह सिर पर लेप करने से बालों को बढ़ाता तथा रँगता है।

वक्तव्य—(४४६) जो लोग बाल बढ़ाने के शौकीन हैं या जो चिरकाल तक बालों को काला रखना चाहते हैं वे नियमपूर्वक इस लेप को करें अवश्यमेव लाभ होगा।

पचेत्सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम् ।
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि ॥२७८॥
तत्प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात्कृष्णमृदुमूर्धजम् ।
अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो वरः ॥२७९॥

चावलसहित सैन्धानमक, सिरका (तथा अन्य) अम्ल द्रव्यों के साथ लोहे के चूर्ण को पकावे उससे लिप्त शुद्ध चिकनाई (रहित सिर रात भर वैसा ही रखा हुआ सवेरे) त्रिफलाजल से धोया हुआ वह काले कोमल बालों वाला होजाता है।

त्रिफला के साथ अम्लद्रव्यों से पीसा गया लोहचूर्ण श्रेष्ट केशराग (hair dye खिजाब होता है)।

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ।
शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धी चान्या प्रवक्ष्यते ॥२८०॥

शेष रोगों में अपने अपने चिकित्साध्याय से

अपनी अपनी चिकित्सा को करे। शेष रोगों की चिकित्सा (इस अध्याय में) पहले कह दीगई है तथा अन्य सिद्धिस्थान में कही जावेगी ।

स्वरभेद चिकित्सा

सर्पीष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके ।
तैलैश्चतुष्प्रयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ॥२८१॥

वातात्मक स्वरभेद में भोजन के ऊपर घृतपान चार प्रकार से प्रयुक्त होने वाले बलादितैल, रास्नादि तैल तथा अमृताद्यतैल (देने चाहिए)।

वक्तव्य—(४४६) स्वरभेद का वर्णन यक्ष्माध्याय में हो चुका है पर यहां पुनः कहा जा रहा है। तैलों के चार प्रयोग पान–अभ्यंग–गण्डूष तथा अनुवासन बस्ति होते हैं।

बर्हितित्तिरदक्षाणां पञ्चमूलश्रृतान् रसान् ।
मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्र्यूषणमेव वा ॥२८२॥

मोर-तीतर-मुर्गों के (लघु) पञ्चमूल के काढ़े में बने रसों को या मायूरघृत को, क्षीरसर्पि या त्र्यूषणादिघृत (कासरोगोक्त) को पीवे।

पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः श्रृतम् ।
सर्पिर्गुडा घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा ॥२८३॥

पैत्तिक स्वरभेद में तो (मुनक्का अंजीर आदि) मधुर द्रव्यों से उबाला दूध विरेचक होवे। सर्पिगुड तिक्तघृत जीवनीयघृत अथवा (रक्तपित्त चिकित्सोक्त) वृषघृत देवे।

कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ।
विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम् ॥२८४॥

कफज स्वरभेद में तो तीक्ष्ण शिरोविरेचन, विरेचन, वमन, धूम, यवान्न तथा कटु (रस प्रधान द्रव्यों का) सेवन (हितकर होता है)।

चव्यभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान् ।
लिह्याद्वा पिप्पली पथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः ॥२८५॥

चव्य, भारङ्गी, हरड, त्रिकटु, यवक्षार, स्वर्णमाक्षिक, चित्रक (इन) को चाटे अथवा पिप्पली और हरड़ को (शहद के साथ चाटे या) वह तीक्ष्ण मद्य पीवे।

रक्तजे स्वरभेदे तु सघृताः जाङ्गलाः रसाः ।
द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ॥२८६॥
यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्चसर्वं चिकित्सितम् ।
पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे ॥२८७॥

रक्तजन्य स्वरभेद में तो घृतसहित जाङ्गलजीवों के मांसरस, अंगूर, विदारीकन्द (और) गन्नों का रस घी-शहद-शक्कर मिलाकर और जो क्षय-कासनाशक कहा गया है तथा जो पित्तज स्वरभेदनाशक चिकित्सा में (कहा गया है) वह सब तथा रक्तमोक्षण (भी) रक्तजस्वरभेद में करे।

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः ।
इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम् ॥२८८॥

सन्निपातजन्य (स्वरभेद) में सब क्रिया हितकर हैं। केवल सिरावेध हितकर नहीं है। इस प्रकार स्वरभेद की चिकित्सा संक्षेप से कह दी गई है।

भवन्ति चात्र—

वातपित्तकफा नृणां बस्तिहृन्मूर्ध संश्रयाः ।
तस्मात्तत्स्थान सामीप्याद्धर्त्तव्या वमनादिभिः ॥२८९॥

और यहां श्लोक (हैं कि)—

बस्ति हृदय और शिर में स्थित मनुष्यों के वात पित्त और कफ इसलिए उस स्थान की समीपता के अनुसार उनका वमनादि से निर्हरण करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्यों में वात (बस्ति) पित्त (हृदय) तथा कफ (शिर) में स्थित होने से वमन विरेचन अनुवासन, आस्थापन, शिरोविरेचनादि पंचकर्मों का प्रयोग जैसी स्थान की अपेक्षा हो उस दृष्टि से कर लेना चाहिए।

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः ।
पीडयते धार्यते चैव विकृता विकृतैस्तथा ॥२९०॥

जिस प्रकार विकृताविकृत वायु, सूर्य और चन्द्रमा से लोक पीड़ित होता है तथा धारण किया जाता है। उसी विकृताविकृत वातादि से अध्यात्मलोक पीड़ित और धारित किया जाता है।

वक्तव्य—(४५०) अध्यात्मलोक से-चेतन अर्थ प्राणी से अर्थ है। साधारण जगत् में जैसे वात सूर्य और चन्द्रमा

शान्ति या क्रान्ति लाते हैं वैसे ही हमारे अपने शरीरों में भी वात पित्त और कफ से स्वास्थ्य या रोग लाभ होता है। अविकृत प्राणी के स्वास्थ्य का धारण और विकृत उसका पीडन करते हैं।

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिवा ॥२९०॥

जिस प्रकार घोर विष सर्पों को सहज सात्म्य होने के कारण (नष्ट नहीं करता) उस प्रकार ये दोष स्वाभाविकता सात्म्य होने से विरुद्ध गुणों के होने पर भी परस्पर एक दूसरे को नष्ट नहीं करते हैं।

वक्तव्य---(४५१) हमारे शरीर में जब स्वास्थ्य का बोलबाला रहता है तब भी परस्पर गुण वैपरीत्यशक्ति वाले वात-पित्त-कफ रहते हैं और जब रोग का राज्य रहता है तब भी ये तीनों निवास करते हैं। इनकी एक परम्परा यह है कि ये शरीर के लिए सहज सात्म्य हैं। जन्म से ही जैसे चीते का शावक और गाय का शावक एक आश्रय में पलने पर और आत्मारूप तपस्वी का नियन्त्रण होने पर वे कुपिता कुपित किसी भी दशा में परस्पर भक्ष्य नहीं बनते पर जैसे जल से सर्प में प्राप्त विष इसे नहीं मारता वैसे ही ये परस्पर विरोधी भी रहते हैं। जब ये दोष कुपित होते हैं तो इनके कोप का प्रभाव शरीरस्थ दूष्यों पर पड़ता है उसके कारण ज्वर या रक्तपित्त या पीडा होती है। पर जब वात पित्त कफ एक दूसरे को ही नष्ट करने की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो उसी समय प्राणी की मृत्यु होजाती है जिसे प्रधान मन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू की भाषा में संहनिवास (co-existence) कहते हैं वही सहनिवास तीनों दोषों का हमारे शरीर में है। सहनिवास का अभाव मृत्युदाता है।

अध्यायोक्त विषय

तत्रश्लोक

त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम्।
विस्तरेण पृथग्दिष्टं त्रिमर्मीये चिकित्सिते ॥२९२॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)—

त्रिमर्म से उत्पन्न रोगों का निदान लक्षण तथा चिकित्सा त्रिमर्मीय चिकित्सित नामक अध्याय में विस्तारपूर्वक अलग अलग बतलाई गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल सम्पूरिते चिकित्सास्थाने त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरक प्रतिसंस्कृत (प्रति की) अप्राप्ति पर दृढबल द्वारा सम्पूरित चिकित्सास्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सित नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चरकसंहिता
चिकित्सास्थानम्
सप्तविंशोऽध्यायः

अरुस्तम्भ चिकित्सा

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब (हम) आगे अरुस्तम्भन चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

श्रिया परमया ब्राह्मी परया च तपःश्रिया ।
अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ॥२॥
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥३॥

चन्द्र और सूर्य से सुमेरु पर्वत के समान परम ब्राह्मी श्री और श्रेष्ठ तप के तेज से युक्त बुद्धि (intelligence), धृति (resolution) स्मृति (power of retentivity), विज्ञान (scientific knowledge), ज्ञान (knowledge), कीर्ति, क्षमा (patience), के भण्डार गुरु (आत्रेय) को योग्य समय पर अग्निवेश ने (अपना) संशय पूछा—

भगवन् पञ्चकर्माणि निर्दिष्टानि पृथक् त्वया ।
निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ॥४॥
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्य तानि भिषग्वरः ।
न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ॥५॥

हे भगवन् ! आपके द्वारा पञ्चकर्मों को अलग अलग सब बतलाये हुए रोगों की औषध कहा गया है । हे भिषग्वर ! चिकित्सा द्वारा साध्य होने वाला कोई दोषजन्य रोग (ऐसा भी है) जिसके शमन करने में उनको शक्ति न हो ।

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम् ।
सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद्गुरुः ॥६॥

(ऐसा) ऊरुस्तम्भ है इस प्रकार गुरू के द्वारा कहने पर उसके द्वारा उसका कारण लक्षण सहित चिकित्सा फिर पूछने पर गुरु ने कहा—

स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः ।
द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः ॥७॥
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ॥८॥
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातदीन्मेदसा सह ।
रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिराविभिः ॥९॥
पूरयन् सक्थिजङ्घोरू दोषो मेदोबलोत्कटः ।
अविधेय परिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ॥१०॥

हेतु—स्निग्ध-उष्ण-लघु-शीतल का समशन (हिताहित पदार्थों का एक साथ मिलाकर सेवन) करने से । गले-सूखे, दही-दूध, ग्राम्य-आनूप जल मांसों से; पिष्टभोजन, विकृतमद्य, अत्यधिक दिवास्वप्न, अत्यधिक रात्रिजागरण करने से, लंघन, अध्यशन (पहले खाने के ऊपर उसके बिना पूरा पचे खाना), परिश्रम, भय, वेगधारण करने से तथा स्नेह का अधिक सेवन करने से कोष्ठ में संचित आम मेद से मिलकर वातादिक दोषों को रोककर गुरु होने से अधोगामी सिराओं द्वारा ऊरुओं में पहुंचता है । मेद के बल से उत्कट हुआ दोष सक्थि जंघा तथा ऊरु को भरता हुआ गति करने में अस्वतन्त्र तथा अल्पचेष्टायुक्त कर देता है ।

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा ।
तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफम् ॥११॥

विशाल सरोवर में पूर्ण रूप में भरा जल जैसे गहरा और स्तिमित (निश्चल) ठहरता है । इसी प्रकार ऊरु (thigh) को प्राप्त कफ स्थिर और क्षोभ रहित (बना रहता है) अर्थात् कफ के कारण पैर और जांघें हिल नहीं पातीं ।

गौरवायाससंकोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः ।
भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून् ॥१२॥

गौरव, श्रम, संकोच, दाह, पीड़ा, सुप्त होजाना कम्पन, भेदन, स्फुरण (throbbing), तोद (pricking) (इन) से युक्त देह और प्राणों को नष्ट कर देता है ।

वक्तव्य—(४५२) आयुर्वेद ऊरुस्तम्भ को एक गम्भीर व्याधि करके मानता है । ऊपर जो अनेक कारण दिये हैं वे जब आमदोष का इतना अधिक संचय कर देते हैं कि शरीर का निचला भाग पूर्णतः जकड़ जावे तभी यह रोग बनता है ।

ऊरुश्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु ।
स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः ॥१३॥

सम्प्राप्ति—मेद के साथ कफ, वात और पित्त को अभिभूत करके स्थिरता तथा शैत्य दोनों से ऊरुओं (जाँघों) को स्तब्ध कर देता है । इस कारण

से वह ऊरुस्तम्भ (spsasticity of thighs कह-लाता है)।

वक्तव्य—(४५३) इस रोग में मुख्य क्रिया कफ का प्रकोप मेदो धातु के साथ होकर ऊरुओं में प्रवेश कर जाना है। परिणाम उसका होता है ऊरुओं की निश्चलता या स्तम्भ में। वात और पित्त दोनों को भी समेदस्क कफ घेर लेता है।

प्राग्रूपं ध्याननिद्राति स्तैमित्यारोचक ज्वराः।
लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वो सदनं तथा ॥१४॥

पूर्वरूप—एकटक देखना, निद्रा, स्तैमित्य (निश्चलता), अरुचि, ज्वर, रोमहर्ष, वमन तथा जंघा (घुटनों और) ऊरु दोनों का अवसाद (asthenia श्लथता) ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप (होते हैं)।

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥१५॥

अज्ञान के कारण वातरोग की आशंका वालों के द्वारा उसका स्नेहन करने से पुनः और अधिक दोनों पैरों की सुप्ति (स्पर्शज्ञानाभाव) तथा कठिनाई से पैरों का उद्धरण (उठाना हो सकता है)।

वक्तव्य—(४५४) ऊरुस्तम्भ वातव्याधि से मिलता-जुलता रोग है पर अन्तर यही है कि वातनाशक स्नेहन कर्म अत्यधिक हानि पहुंचाता है।

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदना।
पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥१६॥

लक्षण—जंघा तथा ऊरु की पेशियों में अत्यधिक ग्लानि (exhaustion या थकान) निरन्तर दाहपूर्वक वेदना और पैर (भी) रखने पर व्यथा करता है तथा शीतस्पर्श का उसे कोई ज्ञान नहीं होता है।

संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः।
अन्यनेयौ हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥१७॥

खड़े होने, दबाने, चलने और हिलाने में वह ईश्वर (बल या शक्ति) रहित होता है वह ऊरु और पादों को संभग्न (टूटे हुए) तथा अन्न के द्वारा ही चलने या गति करने वाले मानता है। अर्थात् वह स्वयं अपनी शक्ति से पैरों घुटनों जांघों यानी टांगों को हिला डुला नहीं सकता मानो कि उसे लकवा मार गया हो।

यदादाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम् ॥१८॥

जब दाह अरति तोद और कम्प से पीड़ित (वह) ऊरुस्तम्भ उसको मार डालता है अन्यथा अर्थात् जब तक उसमें दाह तोद वेपन नहीं होता तब तक नये की चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—(४५५) कम्पयुक्त दाह वेदनायुक्त ऊरुस्तम्भी कदापि नहीं बच सकता यह प्रत्यक्ष का अनुभव है।

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम्।
न चैव वमनं यस्मात्तन्निबोधत कारणम् ॥१९॥

जिस कारण से उसका न स्नेहन, न बस्ति न विरेचन और नहीं वमन करना चाहिए। उस कारण को सुनो—

वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं वस्तिकर्म च।
तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥२०॥
कफं कफस्थानगतं पित्तं च वमनात्सुखम्।
हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसयेत् तावुभावपि ॥२१॥
पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि वस्तिभिर्मूलनिर्जयात्।
शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः ॥२२॥
वातस्थाने हि तच्छैत्याद् द्वयोः स्तम्भाच्च तद्गताः।
न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात् ॥२३॥
तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा।
युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात्कफामयोः ॥२४॥

स्नेहन और बस्तिकर्म सदा कफ की वृद्धि के लिए (होते हैं) तथा विरेचन (विशेषरूप से) उस कफ को अपनी स्थिति से निकालने में समर्थ नहीं होता। अपने स्थान को गया हुआ कफ तथा पित्त को वमन से तथा आमाशय या उससे नीचे (आंत में स्थित) उन दोनों को भी विरेचन द्वारा निकाला जासकता है। पक्वाशय में स्थित सभी (दोषों) को बस्तियों के द्वारा जड़ को नष्ट करने से बाहर निकालना सम्भव हो सकता है पर आम और

मेद से जकड़े हुए जंघा ऊरुओं में संस्थित (सब दोषों का) इन वमन विरेचन वस्ति क्रियाओं द्वारा निर्हरण सम्भव नहीं है। वायु के स्थान में इसकी शीतलता होने से तथा आम और मेद द्वारा रुके हुए होने से जंघा और ऊरु में गये हुए दोष नीची जगह से जल को जैसे निकालना शक्य नहीं उसी प्रकार उन दोषों का सुखपूर्वक उद्धरण (निकालना इस रोग में भी सम्भव नहीं है)।

कफ तथा आम दोनों की अधिकता होने से युक्ति (tact) की अपेक्षा रखने वाला वैद्य उनका नित्य संशमन, क्षपण और शोषण करे।

वक्तव्य—(४५६) जैसे नीची जगह भरे हुए पानी को सिवाय उलीचने (क्षपण) सुखाने (शोषण) के दूसरा मार्ग नहीं उसी प्रकार आम और कफ को जो शरीर के अधोभाग में व्याप्त होगये हैं वमन विरेचन बस्ति द्वारा निकालने की अपेक्षा संशमन क्षपण और शोषण कर्मों द्वारा सुखा या कम करदे। अर्थात् रूक्षण करे।

सदारूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान्।
शाकैरलवणैर्दद्याज्जलतैलोपसाधितैः ॥२५॥
सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्राग्रवधपल्लवैः ।
वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः ॥२६॥
क्षारारिष्ट प्रयोगैश्च हरीतक्यास्तथैव च।
मधूदकस्य पिप्पल्याश्चोरुस्तम्भविनाशनम् ॥२७॥

सदैव रूक्षोपचार रोगी के लिए नमकरहित जल और तैल से पकाए नीम आक, वेत्र, अमलतास के पत्तों, मकोय, बथुआ तथा अन्य करेला आदि तिक्तरस प्रधान शाकों से, जौ, सवां, कोदों को (देवे)।

समङ्गाशाल्मली विल्वं मधुना सह ना पिबेत्।
तथा श्रीवेष्टकोदीच्य देवदारुनतान्यपि ॥२८॥
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा।

मजीठ, सेमर, बेल (इनको) शहद के साथ व्यक्ति पीवे। उसी प्रकार गन्धाबैरोजा, सुगन्धवाला, देवदारु तगरों को भी तथा चन्दन, धाय के फूल, कूठ, तालीसपत्र और जटामांसी को (प्रयोग में लावे)।

मुस्तं हरीतकीं लोध्रं पद्मकं तिक्तरोहिणीम् ॥२९॥
देवदारु हरिद्रे द्वे वचां कटुकरोहिणीम्।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च ॥३०॥
चव्यं चित्रकमूलानि देवदारुहरीतकीम्।
भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत् ॥३१॥
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान्।

१—मोथा, हरड, लोध्र, पद्माख, कुटकी,
२—देवदारु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, वच, कुटकी,
३—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चीड़, देवदारु
४—चव्य, चित्रकमूल, देवदारु, हरड तथा
५—पिप्पलीमूलसहित पिप्पली तथा भिलावे

इन पांचों कल्कों को तथा (जो) आधे आधे श्लोकों (के द्वारा) कहे गये हैं शहद के साथ ऊरुग्रहनाशक रूप में (ग्रहण करे)।

शार्ङ्गेष्टा मदनं दन्ती वत्सकस्य फलं त्वचाम् ॥३२॥
मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा।
पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाऽऽप्लुतम् ॥३३॥
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम्।

गुञ्जा, मदनफल, दन्ती, इन्द्रजौ, कुटजकी छाल मूर्वा, अमलतास, पाठा, कंजा तथा करेला (इन सबके) चूर्ण को जल में घोलकर शहद के साथ पीवे अथवा मधु के साथ दधिमण्ड के द्वारा (पीना भी) ऊरुस्तम्भ विनाश (कारक है)।

मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ॥३४॥
पूर्ववद्गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा।

मूर्वा, अतीस, कूठ, चित्रक, कुटकी, पूर्ववत् (शहद या शहद दधिमण्ड से पीवे) अथवा रात्रि में गोमूत्र में रखा हुआ गूगल पीवे।

स्वर्णक्षीरीमतिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम् ॥३५॥
सुराह्वं चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम्।
लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलाप्लुतम् ॥३६॥

सत्यानाशी, अतीस, मोथा, तेजबल, वच, देवदारु, चीता, कूठ, पाढल, कुटकी (सबके) चूर्ण को मधु के साथ चाटे या जल में घोलकर (प्रयोग करे)।

फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद् वा मधुसंयुतम् ।
त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम् ।
लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः ॥३७॥

अथवा ऊरुस्तम्भ से पीड़ित व्यक्ति प्रियंगु (या बरगद) व्याघ्रनखी, नागकेशर को मधु मिलाकर पीवे। त्रिफला, पिप्पली, मोथा, चव्य, कुटकी, (इनके) चूर्ण को मधु के साथ चाटे।

अपतर्पणजश्चेत् स्याद्दोषः संतर्पयेद्धितम् ।
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः ॥३८॥

यदि विकार अपतर्पण से उत्पन्न हुआ हो तो उसका जांगल जीवों के मांसों से तथा पुराने शालियों से युक्तिपूर्वक सन्तर्पण करे।

रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः ।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥३९॥

रूक्षण के कारण वातकोप और बेचैनी के साथ निद्रानाश हो तो वहां वातव्याधिनाशक स्नेहन और स्वेदन कर्म करना चाहिए।

वक्तव्य—(४५७) ऊपर आचार्य ने जो योग दिये हैं वे सभी आम और कफ को सुखाने वाले अतः रूक्षता उत्पन्न करने वाले हैं। अत्यधिक रूक्षता का परिणाम वात-कोप और अनिद्रा में होता है जब ये दोनों कष्ट देने लगें तभी वातशामक स्नेहन स्वेदन करें। कितना वैज्ञानिक यह वर्णन है ! यह स्नेहन जिन हर प्रकार के तैलों से नहीं होगा बल्कि उन विशेष तैलों से होगा जो अब नीचे दिये जारहे हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि पीलुपर्ण्यादि या कुष्ठादितैल ऊरुस्तम्भ की औषध उतनी नहीं जितनी ऊरुस्तम्भ में व्यवहृत रूक्षण से उत्पन्न वात दोष और अनिद्रा के नाश के लिए हैं।

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरकं वचा ।
सरलागुरुपाठाश्चतैल मेभिर्विपाचयत् ॥४०॥
सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वाऽपि ना पिबेत् ।
अपतर्पणतो रौक्ष्याद्रुस्तम्भी विमुच्यते ॥४१॥

मूर्वा (या पीलू की पत्ती), क्षीरकाकोली, तथा रास्ना, गोखुरू, वच, चीड़, अगर, तथा पाठा इनसे (विधिपूर्वक) तैल पकावे। मधु के साथ (ताकि कफ की वृद्धि न होने पावे) एक प्रसृत या एक अंजलि व्यक्ति पीवे। (इसके पीने से) अपतर्पणजन्य रूक्षता से ऊरुस्तम्भी बच जाता है।

कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम् ।
अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥४२॥
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् ।
रौक्षान्मुक्त ऊरुस्तम्भात् ततश्च स विमुच्यते ॥४३॥

कूठ, गन्धाबैरोजा, सुगन्धवाला, चीड़, देवदारु केशर, अजमोद, असगंध इनसे कड़ुआ तैल पकावे। मधु के साथ मात्रापूर्वक ऊरुस्तम्भ से पीडित पीले। इससे वह (चिकित्सा जनित) रूक्षता से मुक्त होता है।

द्वे पले सैन्धवात् पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात् ।
द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके ॥४४॥
आरनालात् पचेत्प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम् ।
गृध्रस्यूरुग्रहार्शोर्ति सर्ववातविकारनुत् ॥४५॥

सैन्धवनमक से दो पल, शुण्ठी से पांच पल पिप्पलीमूल चित्रक से दो दो पल पीस मिलावे की गुठली तथा दो आढक (द्रवद्वैगुण्य से ४ आढक) कांजी से एक प्रस्थ तैल को पकावे। वह तैल सन्तान-दाता गृध्रसी (sciatica) ऊरुग्रह (उपचारजन्य रूक्षता) अर्शों की पीडा (तथा) सब वातविकार नाशक (है)।

पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागरादष्टकट्वरः ।
तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः ॥४६॥

अष्टकट्वरतैल—पिप्पलीमूल तथा सोंठ दोनों एक-एक पल उन दोनों के कल्क से आठगुनी कट्वर (घी युक्त उबाला हुआ मट्ठा) एक प्रस्थ तैल बराबर का दही डाल (सिद्ध करे यह) गृध्रसी और ऊरुस्तम्भ नाशक है।

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमुरुस्तम्भस्य भेषजम् ।
श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद्बाह्यं शृणु चिकित्सितम् ॥४७॥

यह ऊरुस्तम्भ का आभ्यन्तर भेषज कहा गया है। कफ को क्षीण करने वाली तो अन्य बाह्य चिकित्सा को (तू) सुन।

वल्मीकमृत्तिकामूलं करञ्जस्य फलं त्वचम् ।
इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम् ॥४८॥

बांवी की मिट्टी, कंजे की जड़, कंजे का फल और कंजे के पेड़ की छाल (तथा) ईंटों के चूर्णों से खूब उत्सादन (शरीर का रगड़ना) करे।

मूलैर्वाश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक्।
पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः ॥४६॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक् ।
गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥५०॥
दन्ती द्रवन्ती सुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्।

शहद, सरसों, बांवी की मिट्टी से युक्त वैद्य असगंध की जड़ से अथवा आक की जड़ से या नीम की जड़ से अथवा देवदारु की जड़ से खूब उत्सादन तथा दन्ती, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) तुलसी और सरसों (इन) से भी प्रलेपन बुद्धिमान् (वैद्य) करे।

तर्कारीशिग्रुसुरसाविश्ववत्सकनिम्बजैः ॥५१॥
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णं च सेचनम्।

जयन्ती, सहंजन, तुलसी, सोंठ, इन्द्रजौ, नीम के पत्ते जड़ फलों के साथ उबाले जल का गरम परिषेक (भी करना चाहिए)।

पिष्टं तु सर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात् प्रलेपनम् ॥५२॥

गोमूत्र में रात भर रखकर पीसी गई सरसों का प्रलेपन (जांघों पैरों आदि पर) करे।

वत्सकः सुरसं कुष्ठं गन्धास्तुम्बुरुशिग्रुकौ।
हिंस्रार्कमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः ॥५३॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्।
ऊरुस्तम्भ विनाशाय भिषजा जानता क्रमम् ॥५४॥

उपचार क्रम को जानने वाला वैद्य ऊरुस्तम्भ विनाश के लिए इन्द्रजौ, तुलसी, कूठ, असगन्ध, धनियां, सहंजन, हींस और आक की जड़, बांबी की मिट्टी कुठेरक (पर्णास तुलसी भेद) के साथ दही सेंधानमक संयुक्त करके इनके द्वारा प्रलेपन करना चाहिए।

श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ।
शोभाञ्जनकतर्कारी श्वदंष्ट्रा सुरसार्जकान् ॥५५॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च जलेनोत्क्वाथ्य सेचयेत्।
प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः ॥५६॥

सोनापाठा, कत्था, बेल, बड़ी छोटी कटेरी, चीड़, विजयसार, सहंजन, जयन्ती, गोखुरू, तुलसी, दौना (तुलसी भेद), अरनी, कंजा, (इन सबको) जल से औटाकर सेचन करे तथा गोमूत्र के साथ पीसा (इनका) प्रलेप ऊरुस्तम्भ निवारक (होता है)।

कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्।
स्थलान्याक्रामयेत् कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा ॥५७॥

कफ क्षीण कराने के लिए शक्य (जो किया जा सके ऐसे) व्यायाम में प्रवृत्त करावे। सवेरे-सवेरे बजरी तथा बालू वाले (कोमल) स्थलों पर टहलावे।

प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्।
सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः ॥५८॥
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।

तथा शीतल जल वाली कल्याणदाता (छोटी) नदी में प्रवाह के विपरीत दिशा में तैरावे। विमल शीतल तथा स्थिर जल वाले तालाब में पुनः पुनः (तैरावे) इस प्रकार उसके कफ के सूख जाने पर ऊरुग्रह शान्ति प्राप्त करता है।

श्लेष्मणः क्षपणं यत् स्यान्न च मारुतमावहेत् ॥५९॥
तत् सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम्।
शरीरं बलमग्निञ्च कार्यैषा रक्षता क्रिया ॥६०॥

जो श्लेष्मा का क्षीण करने वाला होवे और जो वायु को न बढ़ावे वह सभी सदा ऊरुस्तम्भ का औषध करना चाहिए।

शरीर, बल, और अग्नि की रक्षा करते हुए यह चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—(४५८) आचार्य ने बार बार समझाया है कि ऊरुस्तम्भ एक भयंकर व्याधि है पर यदि नई हो तो पूर्णतः साध्य है। चिकित्सा में वायु को बिना बढ़ाए कफ को ऊरुओं में ही बिना पंचकर्म द्वारा उसका निर्हरण किए हुए सुखा दो। चलने की क्रिया धीरे धीरे बढ़ाओ, नदी में तैराना रेत पर चलाना आदि उसके उदाहरण दिये गये हैं।

अध्यायोक्त विषय

तत्र श्लोक

हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वकारणम्।

भेषजं द्विविधञ्चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥६१॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (है कि)—हेतु, पूर्वरूप, लक्षणों को, पञ्च कर्मों की अयोग्यता के कारण को, तथा दो प्रकार की चिकित्सा को ऊरुस्तम्भ चिकित्सित (नामक अध्याय) में कहा गया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल-सम्पूरिते चिकित्सास्थाने ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्त-विंशोऽध्यायः ॥२७॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रति-संस्कृत (प्रति) के अप्राप्त होने पर दृढ़बल द्वारा सम्पूरित चिकित्सास्थान में ऊरुस्तम्भ चिकित्सित नामक सत्ताईसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

अष्टाविंशोऽध्यायः

वातव्याधि चिकित्सा

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) वातव्याधि चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुः प्रकीर्तितः ॥२॥

वायु आयु (है), बल वायु (है) वायु (ही) शरीर धारियों का धारण कर्ता (supporter है) यह सम्पूर्ण विश्व (universe) वायु (है तथा) वायु प्रभु (lord) कहा गया है।

वक्तव्य—(४५९) सूत्रस्थान के वातकलाकलीय स्थान में वर्णित वायु के सम्बन्ध में जो प्रशंसात्मक यथार्थ शब्द प्रयुक्त हुए उसके आगे वायु की ठीक ठीक शक्ति का अनुमान कराने के लिए वायु को आयु, बल, धाता, विश्व और प्रभु बतलाया गया है।

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः।
वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेत् वीतरागः समाःशतम् ॥३॥

गति निर्बाध स्थान पर टिकी प्रकृतावस्था में

स्थित वायु जिसकी होवे वह रोगरहित सौ वर्ष तक जीता है।

वक्तव्य—(४५६) जो शतायु बनना चाहें और वैद्य के पास आवें तो वैद्य को उसके वात दोष को अपने निश्चित स्थान पर प्रकृतावस्था में रखने का यत्न करना चाहिए और

यह भी यत्न करना चाहिए कि वायु स्वतन्त्रतापूर्वक निर्बाध गति से अपने स्वाभाविक कर्म में प्रवृत्त हुआ रहे।

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः सपञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥४॥

१-प्राण २-उदान ३-समान ४-व्यान तथा ५-अपान से पांच प्रकार वाला अपने स्थान पर निर्बाध (विना रुकावट के) चलता हुआ ठीक ठीक वह वायु शरीर का नियन्त्रण करता है।

स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः कण्ठजिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ॥५॥

प्राण का स्थान शीर्ष (सिर head) उरस् (छाती chest cavity,) कण्ठ (गला pharynx), जिह्वा (tongue), मुख (oral cavity) नासिका (nasal cavity) (है) तथा (उसका) कार्य ष्ठीवन (थूकना), छींक लेना, श्वासप्रश्वास लेना तथा आहार आदि (का निगलना आदि होता है)।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्ज्जो बलवर्णादि कर्म च ॥६॥

पुनः उदान का स्थान नाभि, (umbilicus), तथा कण्ठ (throat) ही (है) तथा बोलना, प्रयत्न, ऊर्जा (vitality), बल वर्ण आदि (उसके) कार्य (हैं)।

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समनोऽग्निबलप्रदः ॥७॥

स्वेदवह, दोषवह और जलवह स्रोतों में अधिष्ठित अन्तरग्नि के पार्श्व में स्थित समान (वायु) अग्नि (और) बल देने वाली (होती है)।

देहं व्याप्नोति सर्वन्तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ॥८॥

शीघ्रगति करने वाला व्यान तु मनुष्यों के सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है (और) गति (motion) प्रसारण (extension) आक्षेप (contraction) निमेष (आंखों की खोल मीच) आदि कार्य सदा (करता है)।

वृषणौ वस्तिर्मेढ्रञ्च नाभ्यूरु वंक्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च ॥९॥
सृजत्यार्तवगर्भौ च युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते।
स्वकर्मकुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः ॥१०॥

दोनों वृषण, वस्ति, मेढ्र तथा नाभि, ऊरु, वंक्षण, गुद (तथा) अन्त्र अपान वायु के स्थान (हैं) (वह) शुक्र, मूत्र, मल तथा (स्त्रियों में) आर्तव गर्भ दोनों को निकालता है।

वे (पांचों वायु) प्रकृतिस्थ अपने स्थान पर स्थित हुए सब कार्य करते हैं तथा नीरोग उनके द्वारा रोगरहित शरीर का धारण किया जाता है।

वक्तव्य—(४६०) ऊपर पांचों प्रकार के वातों के स्थान और कार्य बहुत स्पष्टतया दिये हुए हैं। आचार्य ने इनके द्वारा होने वाले सब कर्मों का परिगणन न करके खास खास कर्म बताकर स्थानस्थ होकर रोगरहित देह धारणा के लिए वे सब कर्मों को जिन की आवश्यकता होती है ऐसा कह दिया गया है।

विमार्गस्थाह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ॥११॥

अयुक्त (विकृत) (और) अन्य मार्ग में स्थित ये अपने स्थान और कार्यजन्य रोगों के द्वारा शरीर को पीड़ा पहुँचाते हैं और शीघ्र प्राणों का हरण कर लेते हैं।

वक्तव्य—(४६१) पुनः समझना होगा कि पंचवात अपने स्थान पर प्रकृतावस्था रहने में देह का धारण करते हैं पर विमार्ग में जाकर या विकृत होकर देह को पीड़ा देते हैं इनके रोग दो प्रकार के होते हैं एक स्थानस्थ अङ्गज (organic) और दूसरा कर्मजन्य (functional)।

सङ्ख्यामप्यातिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः।
अशीतिर्नखभेद्या रोगाः सूत्रे निर्दशिताः ॥१२॥

संख्या को भी अतिवृत्त करने वाले (नहीं गिने जा सकने वाले) प्रधानतया उससे उत्पन्न सूत्रस्थान में लिखित नखभेदादि अस्सी (वातरोग होते हैं)।

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु।
केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात् तथाऽऽवृतम् ॥१३॥

केवल स्थानभेद से तथा आवृतवात का उद्देश्य लेकर पर्यायों से कहे जाते हुए हेतु और उपक्रमों

सहित उनको (तू) सुन ।

वक्तव्य—(४६२) कर्म और स्थान भेद से वायु के रोगों के जो दो भेद हैं उनमें आवृतवात (स्थानभेदजन्य) के वर्णन का ही उद्देश्य लेकर इस अध्याय में अधिकतर वर्णन किया गया है ।

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचारात्तु दोषासृक्स्रवणादति ॥१४॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥१५॥
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्मबाधाद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥१६॥
देहेस्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्ग संश्रयान् ॥१७॥

हेतु—रूक्ष-शीतल- थोड़े-हलके अन्न का सेवन, मैथुन-जागरणों से विषमोपचारों से, रक्त और दोषों के अत्यधिक स्राव से, लंघन, तैरना, अत्यधिक चलना, परिश्रम, विपरीत चेष्टाओं से, धातुओं के संक्षय से, चिन्ता-शोक-रोग के द्वारा अधिक कर्षण से, वेग रोकने से, आम से, चोट से, अभोजन से, मर्म पर बाधा आने से, गज-ऊँट-अश्व-शीघ्रगामी वाहन (कार, जहाज, मोटर, साइकिल) से गिर जाने से (तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से) देह में खाली स्रोतों को पूरण करने वाला बलवान् वायु सर्वाङ्गज अथवा एकाङ्गज विविध व्याधियों को करता है ।

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।
आत्मरूपन्तुतद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥१८॥

पूर्वरूप – उन रोगों का पूर्वरूप अस्पष्ट माना गया है । उसका स्पष्ट होना (उसका) अपना (रोग) लक्षण (होता है) । पुनः (लक्षण की) लघुता (उसका कम होजाना) अपाय (उस रोग का विनाश होता है) ।

वक्तव्य—(४६३) वातिक रोगों के पूर्वरूप नहीं बनते रोग अपने लक्षणों के साथ एक दम उठ खड़ा होता है । लक्षण के चले जाने पर नष्ट होजाता है । पक्षाघात इसका उदाहरण है । जिस अंग पर वह गिरता है एक क्षण में गिर जाता है उसके पूर्व रोगी बिलकुल स्वस्थ मिलता है । वह जाता भी इसी आश्चर्यजनक रूप में है ।

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थि पर्वणामपि ।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपाद शिरोग्रहः ॥१९॥
खाञ्ज्यपांगुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥२०॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
भेदस्तोदोऽर्त्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ॥२१॥
एवं विधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥२२॥

कुपित वात के लक्षण—(अंग का) संकुचित होना, पर्वों का स्तम्भ, अस्थि-पर्वों की भेदनवत् पीडा, रोमहर्ष, प्रलाप तथा हाथ पैर सिर में जकड़, खंजता, पंगुता, कुबड़ापन, अंग सूखना, निद्रा न आना, गर्भनाश, शुक्रनाश, रजोनाश, गात्र फड़कना या गात्रसुप्ति, शिर-नासा-नेत्र-जत्रुओं तथा गर्दन का भी हिण्डन (चलना फड़कना), भेदन, तोदन, अरति, आक्षेप (convulsions), मोह परिश्रम तथा इसी प्रकार के अन्य रूप कुपित वायु करता है हेतु और स्थान की विशेषता के कारण (वह कुपित वायु) विशेष रोगों का करने वाला होता है ।

वक्तव्य–(४६४) ऊपर जो गर्भनाश शुक्रनाश और रजोनाश वात के कारण उत्पन्न बतलाए गये हैं उससे आधुनिकों को मिसकैरिज, ड्रीम्स तथा एमेनोरिया इन रोगों में वातशामक आहार विहार और औषधियों का विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

तत्रकोष्ठाश्रितेदुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसो ।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलञ्च मारुते ॥२३॥
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥२४॥
ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदस्थिते ॥२५॥
रुक्पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
कासकण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥२६॥

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥२७॥
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात्क्रुद्धः समीरणः ।
त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ॥२८॥
आतन्यते सरागा च पर्वरुक्त्वग्गतेऽनिले ।
रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ॥२९॥
गात्रे चारुंषिभुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥
गुर्वङ्गं तुद्यते स्तब्धं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
सरुक्स्तिमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥३०॥
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः ।
अस्वप्नः सन्ततारुक्च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥३१॥
क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥३२॥
वाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लीं कुब्जत्वमेव च ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः ॥३३॥
शरीरं मन्दरुक्शोथं शुष्यति स्पन्दते तथा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥३४॥
वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोः सन्धिवृत्तिश्च वेदना ॥
इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च ॥३५॥

१—कोष्ठ में वात प्रकोप—वहां कोष्ठ में दुष्ट मारुत स्थित होने पर मल मूत्र को निग्रह, अध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल (होजाता है)।

२—सर्वाङ्गवात प्रकोप—सर्वाङ्ग में कुपित वात होने पर शरीर में स्फुरण (tremors), शरीर मानो टूट जायगा ऐसी पीड़ा, वेदना से युक्त उसकी सन्धियों में हड़फूटन (होने लगती है)।

३—गुद में प्रकुपित वात—मलमूत्र वात का ग्रह, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जंघा-ऊरु-त्रिक-पैर-पीठ में दर्द तथा सूजन गुदस्थित (कुपित वात में मिलते हैं)।

४—आमाशय में वातप्रकोप—पार्श्वशूल, उदरशूल, हृदयशूल, नाभिशूल, तृष्णा, डकारें, हैजा, काख, कण्ठशोष, मुखशोष, तथा श्वास (ये) आमाशय में स्थित (कुपित वात के लक्षण हैं)।

५—पक्वाशयस्थ कुपितवात—पक्वाशय में स्थित प्रकुपित वात आंतों में गुड़गुड़ाहट, शूल, आटोप (meteorism) करती है (तथा) मूत्रकृच्छ्र, मलकृच्छ्रता, आनाह, त्रिक में शूल (भी कर देती है)।

६—इन्द्रियों में प्रकुपितवात—कर्ण आदि (इन्द्रियों) में दुष्ट वात इन्द्रिय (के विषय का) वध (नाश) कर देता है।

७—त्वचागत प्रकुपितवात—त्वचागत कुपित वात होने पर त्वचा रूखी, फूटी हुई (fissured), सुप्त (नोंचने का बोध जिसमें न हो), काली (होजाती तथा) तोद करती है, तन्ना जाती है तथा लाली युक्त और पर्वशूल (करती है)।

८—रक्तगत कुपितवात—ज्वर के साथ तीव्र पीडा, विवर्णता, कृशता, अरुचि, शरीर में फुंसियों का निकलना तथा भोजन करने के बाद स्तब्धता रक्तगत कुपित वात में (देखी जाती है)।

९—मांसमेदोगत कुपितवात—अत्यन्त पीडा और स्तैमित्य (भीगा हुआ सा) शरीर, अंगों में भारीपन, तोद, स्तम्भन ऐसा मानो कि डण्डे या मुक्कों से पीटा गया हो मांस मेदोगत कुपित वात में (देखा जाता है)।

१०—मज्जस्थ कुपितवात—अस्थिपर्वों का भेदनवत शूल, सन्धिशूल, मांसक्षय, बलक्षय, निद्रा का न आना और निरंतर पीडा मज्जा में स्थित कुपित वात में (देखी जाती है)।

११—शुक्रस्थ कुपितवात—शुक्र (स्त्रियों में रज) में स्थित कुपित वात शीघ्र ही शुक्र अथवा (स्त्रियों में) गर्भ को स्रावित कर देता या बद्ध कर देता है अथवा विकृति उत्पन्न कर देता है।

१२—स्नायुगत कुपितवात—बाह्य और आभ्यन्तर आयाम, खल्ली, कुब्जता, सर्वाङ्गवध अथवा एकाङ्गवध स्नायुगत कुपित वात कर देता है।

१३—सिरागत कुपितवात—सिरा में वायु के दुष्ट

होने पर शरीर मन्द रुजा तथा शोथयुक्त होकर सूखती है, स्पन्दन करती है, सिरायें सुप्त, तन्वी (contracted) या महती (dilated होजाती हैं)।

१४—सन्धिगत कुपित वात—सन्धि में व्याप्त दुष्ट वात में (सन्धिस्थान पर) वायुपूर्ण मशक के समान स्पर्श, शोथ (inflammation) तथा प्रसारण आंकुचन इन दोनों सन्धि क्रियाओं में शूल (होता है)।

इस प्रकार स्थान भेद से (कुपित) वायु के लक्षण कहे गये हैं।

अर्दित (paralysis)

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते।
यदा तदोपशोष्यासृक् बाहुं पादं च जानु च ॥३६॥
तस्मिन् सङ्कोचयत्यूर्ध्वे मुखं जिह्मं करोति च।
वक्री करोति नासाभ्रू ललाटाक्षिहनूस्तथा ॥३७॥
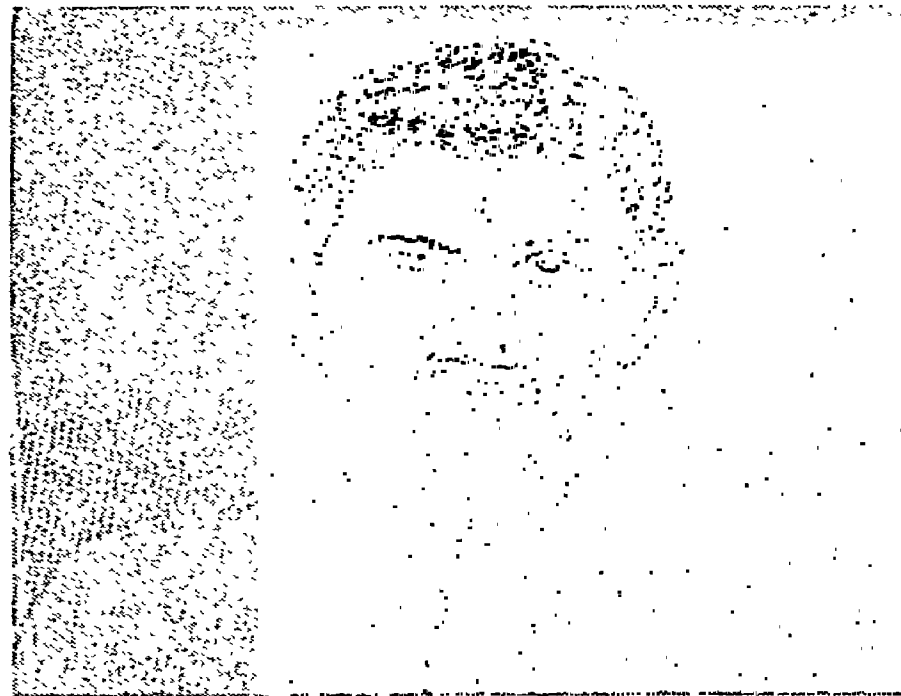
अत्यन्त बढा हुआ वायु जब एक ओर के आधे शरीर को आक्रान्त कर लेता है तब बाहु, पाद और जानु के रक्त को सुखाकर उनमें संकोच उत्पन्न कर देता है तथा ऊपर के भाग में मुख को टेढा कर देता है नासिका भ्रू माथा आंख और हनु को भी वक्र कर देता है।

वक्तव्य--(४६५) अर्दित के द्वारा आचार्य ने आधे शरीर और आधे मुख पर गिरे हुए फालिज का वर्णन किया है। सुश्रुत ने मुखार्ध में होने वाले वध को ही अर्दित माना है पर चरक ने केवल मुखार्ध या मुखार्ध सहित शरीरार्ध को भी अर्दित बतलाया है जैसा कि नीचे लिखा है।

तदावक्रं व्रजत्यास्ये भोजनंवक्रनासिकम्।
स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्चनिगृह्यते ॥३८॥
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्त्वाऽफलासज्जति चास्यवाक्।
दन्ताश्चलन्ति वाध्येते श्रवणे भिद्यते स्वरः ॥३९॥
पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशंखश्रवणगण्डरुक्।
अर्द्धे तस्मिन् मुखार्द्धे वा केवले स्यात् तदर्दितम् ॥४०॥

तब मुख को भोजन टेढ़ा होकर जाता है, बोलते समय नासा वक्र नेत्र, स्तब्ध (निमीलनोन्मीलनगति रहित), छींक रुक जाती है, जिह्वा दीन, अति शीघ्रता वाली, और मुख से निरर्थक शब्द निकालती है। दांत हिलने लगते हैं, दोनों कान सुनना रोक देते हैं स्वरभेद होजाता है। पैर-हाथ-आंख-जंघा-ऊरु-शंख-कर्ण-गाल के क्षेत्र में पीड़ा (होती है) आधे शरीर में, या केवल आधे मुख पर (जो) होता है वह अर्दित कहलाता है।

मन्यास्तम्भ अन्तरायाम (emprosthotonous)

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते।
मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञकम् ॥४१॥
अन्तरायाम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम्।
दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः ॥४२॥
जृम्भावदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम्।
इत्युक्तस्त्वन्तरायामः

जब वायु दोनों मन्याओं में आश्रित होकर अन्तर्नाडियों में पहुंचता है तब वह अन्तरायाम संज्ञक मन्यास्तम्भ कर देता है। इसमें ग्रीवा भीतर की ओर खिंचती है तथा मन्या में बहुत अधिक स्तम्भ हो जाता है। दांतों का काटना, लालास्राव, पीठ का आक्षेप, शिर का ग्रह, जृम्भा, मुख का न हिला सकना, (ये)

भी अन्तराय के लक्षण हैं। इस प्रकार अन्तरायाम कह कर—

वहिरायाम (opisthotonous)

वहिरायाम उच्यते ॥४३॥

पृष्ठमन्याश्रिता बाह्या शोषयित्वा सिरा वली।
ततः कुर्याद्धनुस्तम्भं वहिरायामसंज्ञकम् ॥४४॥
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः।
उर उत्क्षिप्यते मन्ये स्तब्धे ग्रीवाऽवमृद्यते ॥४५॥
दन्तानां दंशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः।
जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ॥४६॥

(आगे) वहिरायाम कहा जाता है—

बलवान वायु पृष्ठ और मन्या में आश्रित बाह्य सिराओं को सुखाकर वहिरायाम नाम वाला स्तम्भ कर देता है चाप (धनुष) के समान झुका हुआ पीठ की ओर से सिर झुक जाता है छाती उठ जाती है मन्यास्तब्ध तथा गरदन में दर्द होने लगता है। दांत काटना जम्हाई लालास्राव, बोलना बन्द, वेग के उत्पन्न होने पर यह रोग मार डालता है।

हनुग्रह (trismus)

हनुमूले स्थितो बन्धात् स्रंसयत्यनिलो हनू।
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम्।
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनूसंवृतवक्त्रताम् ॥४७॥

हनुमूल में स्थित वायु हनु को उसके बन्ध से स्थान भ्रष्ट करके खुले मुख वाला स्तब्ध तथा शूल-रहित (एक हनुग्रह) कर देता है। अथवा हनु का संस्तम्भन करके बन्द मुख वाला दूसरा हनुग्रह कर देता है।

आक्षेपक (spasmodic contractions)

मुहुर्मुहुश्चाक्षिपति गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः।
पाणिपादौ च संशोष्य ससिराः स्नायुकण्डराः ॥४८॥

कुपित वायु सिरासहित स्नायुकण्डराओं और हाथ पैरों को सुखाकर वारवार गात्र को फेंकता है (या हिलाता है यही आक्षेपक कहलाता है)।

दण्डक (tonic contractions)

पाणिपादशिरः पृष्ठश्रोणीः स्तम्नाति मारुतः।
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ॥४९॥

(जब) वायु हाथ पैर सिर पीठ कमर को डण्डे के समान स्तम्भयुक्त कर देता तथा शरीर को भी लकड़ा देता है उसका दण्डक (नाम दिया जाता है) वह अनुपक्रम (अचिकित्स्य होता है)।

स्वस्थः स्यादर्दितादीनां मुहुर्वेगे गतेऽगते।
पीड्यते पीडनैस्तैस्तैर्भिषगेतान् विवर्ज्जयेत् ॥५०॥

भी अन्तरायाय के लक्षण हैं। इस प्रकार अन्तरायाम

अर्दित, अन्तरायाम, बहिरायाम, आक्षेपक और दण्डक के बार-बार के वेग चले जाते हैं तो उनसे पीड़ित व्यक्ति स्वस्थ(हो जाते हैं) वेग के न जाने पर उन (विविध) पीड़ाओं से वह भी पीड़ित होता रहता है। इनको वैद्य छोड़ दे (क्योंकि वे अचिकित्स्य होते हैं) ।

एकाङ्गवध सर्वाङ्गवध(Hemiplegia,paraplgia etc.)

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा ।
करोति चेष्टा विरतिं रुजं वाक्स्तम्भमेव च ॥५१॥
गृहीत्वार्द्धं शरीरस्य सिराः स्नायुर्विशोष्य च ।
पादः सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् ॥५२॥
एकाङ्गरोगं तं विद्यात् पवनात् कुशलो भिषक् ।
सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वदेहानुगेऽनिले ॥५३॥

कुपित वात दाहिने या बांए (किसी) एक पक्ष (side की क्रिया) को नष्ट करके (उस अङ्ग की) चेष्टा निवृत्त कर देता है पीड़ा तथा वाणी का स्तम्भ तथा शरीर का आधा भाग पकड़कर सिरा स्नायुओं का विशोषण करके एक पैर या हाथ का संकोच करता है तथा तोद और शूलोत्पत्ति करता है ।वायु के कारण उसको कुशल वैद्य एकाङ्गवध जाने । इसी प्रकार जब सम्पूर्ण शरीर में जाकर उसकी क्रिया को नष्ट करके वायु चेष्टा निवृत्त कर देता है तब उसे सर्वाङ्ग रोग जाने।

वक्तव्य—(४६६) सर्वाङ्ग एकाङ्गवध वायु के उग्रतम रोग हैं इन्हें पैरालाइसिस (paralysis) के अन्तर्गत लिया जाता है।

गृध्रसी (Sciatica)

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् ।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥५४॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता ।

गृध्रसी पहले स्फिक्प्रदेश (hip) फिर कटि, पृष्ठ, ऊरू, जानु, जंघा और पैर को क्रमशः स्तम्भन, रुजा तोद इनके द्वारा पकड़ती है। तथा वात के कारण या वात कफ के कारण तन्द्रा, गौरव और अरोचकता से युक्त बारबार (इन अंगों का) स्पन्दन करती है।

वक्तव्य—(४६७) शियाटिका नाड़ी में विकृति के परिणाम स्वरूप होने वाला यह वात रोग है।

खल्ली तु पादजङ्घोरु करमूलावमोटनी ॥५५॥

खल्ली—खल्ली तो पैरों जंघा ऊरु (अर्थात सक्थि) तथा करमूल (कन्धों) को मरोड़ देने वाली (होती है) ।

स्थानानामनुरूपैः स्वैर्लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ।

स्थान और नाम के अनुरूप अपने अपने लक्षणों से शेष वात रोगों को जानना चाहिए।

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यै रुपलक्षयेत् ॥५६॥

इन सब में पित्तादि से संसर्ग (भी) समझना चाहिए।

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च।
वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुगामिनः ॥५७॥
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः।
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्राक्षिपन् गवान्।
करोत्यावृतमार्गत्वात् रसादींश्चोपशोषयेत् ॥५८॥
लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमः क्लमः।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ॥५९॥
शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ॥६०॥
रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरयोर्भृशम्।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥६१॥
कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा।
हर्षः पिपीलिकानाञ्च संसार इव मांसगे ॥६२॥
चलः स्निग्धो मृदुःशीतः शोथोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।
आढ्यवात इति ज्ञेयः सकृच्छ्रो मेदसावृतः ॥६३॥
स्पर्शमस्थनाऽऽवृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ॥६४॥
मज्जावृते विनमति जृम्भते परिवेष्टते।
शूलञ्चपीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ॥६५॥
शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वञ्च शुक्रगे।
भुक्ते कुक्षौ रुजाजीर्णे शाम्यन्त्यन्नावृतेऽनिले ॥६६॥
मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले।
वर्च्चसोऽति विबन्धोऽधः स्वेस्थाने परिकृन्तति ॥६७॥
व्रजत्याशुजरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः।
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत् ॥६८॥
श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः।
अस्वस्थं हृदयञ्चैव वर्च्चसा त्वावृतेऽनिले ॥६९॥

वात का कोप धातुक्षय के कारण तथा मार्ग के आवरण के द्वारा (हुआ करता है)।

वात पित्त (और) कफ (ये तीनों दोष) देह में सब स्रोतों में अनुगमन करते (घूमते) रहते हैं। क्योंकि वायु सूक्ष्म होने के कारण उन दोनों (पित्त तथा कफ) का प्रेरित करने वाला (होता है)। वह वायु क्रुपित होकर उन दोनों को प्रकुपित करके (उन्हें) इतस्ततः फेंकता हुआ मार्गों के आवृत होने के कारण (विविध) रोगों को उत्पन्न कर देता है तथा रस आदि धातुओं का उपशोषण भी करता है।

१—पित्तावृत्त वात—पित्त से आवृत वात में दाह तृष्णा, शूल, भ्रम, क्लम, कटु-अम्ल-लवण-उष्ण (पदार्थों से) दाह (होना) तथा शीतल पदार्थ सेवन की कामना होना (ये) लक्षण (पाये जाते हैं)।

२—कफावृतवात—कफ से आवृत वात में शैत्य, गौरव, शूल, कटु-अम्ल-लवण-उष्ण द्रव्यों का अधिक अनुकूल पड़ना, लङ्घन, परिश्रम, रूक्षोष्ण पदार्थों की कामना होना (ये) लक्षण (पाये जाते हैं)।

३—रक्तावृत वात—रक्त से आवृत वात में त्वचा और मांस (इन) दोनों के बीच में दाह के साथ अत्यन्त पीडा का होना, लाली सहित शोथ तथा चकत्ते उत्पन्न होजाते हैं।

४—मांसगत वात—मांसजन्य में कठिन अन्यवर्ण पिडकाओं तथा शोथ का होना रोमहर्ष तथा मानो चींटियां शरीर पर चल रही हों ऐसा अनुभव होता है।

५—मेदसावृत वात—मेद से आवृत आढ्य-वात इस प्रकार (इस नाम से) जाननी चाहिए वह कष्टसाध्य होती है। उसमेंअङ्गोंमें चल-स्निग्ध-मृदु-शीत-शोफ उत्पन्न होजाता है। तथा अरुचि रहती है।
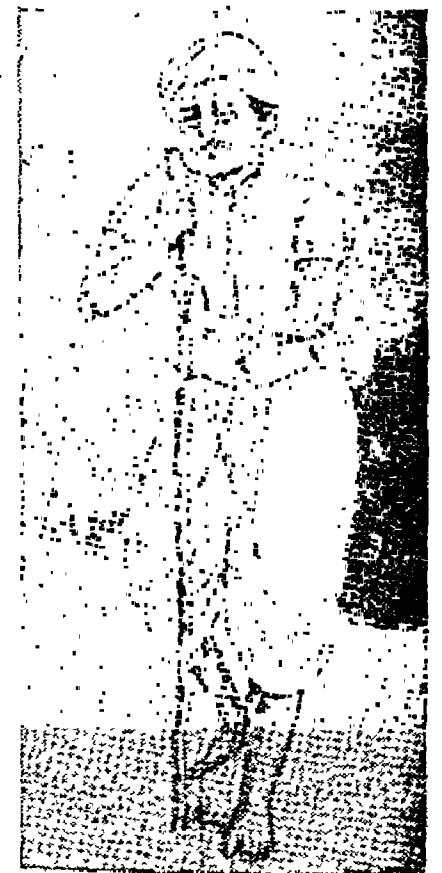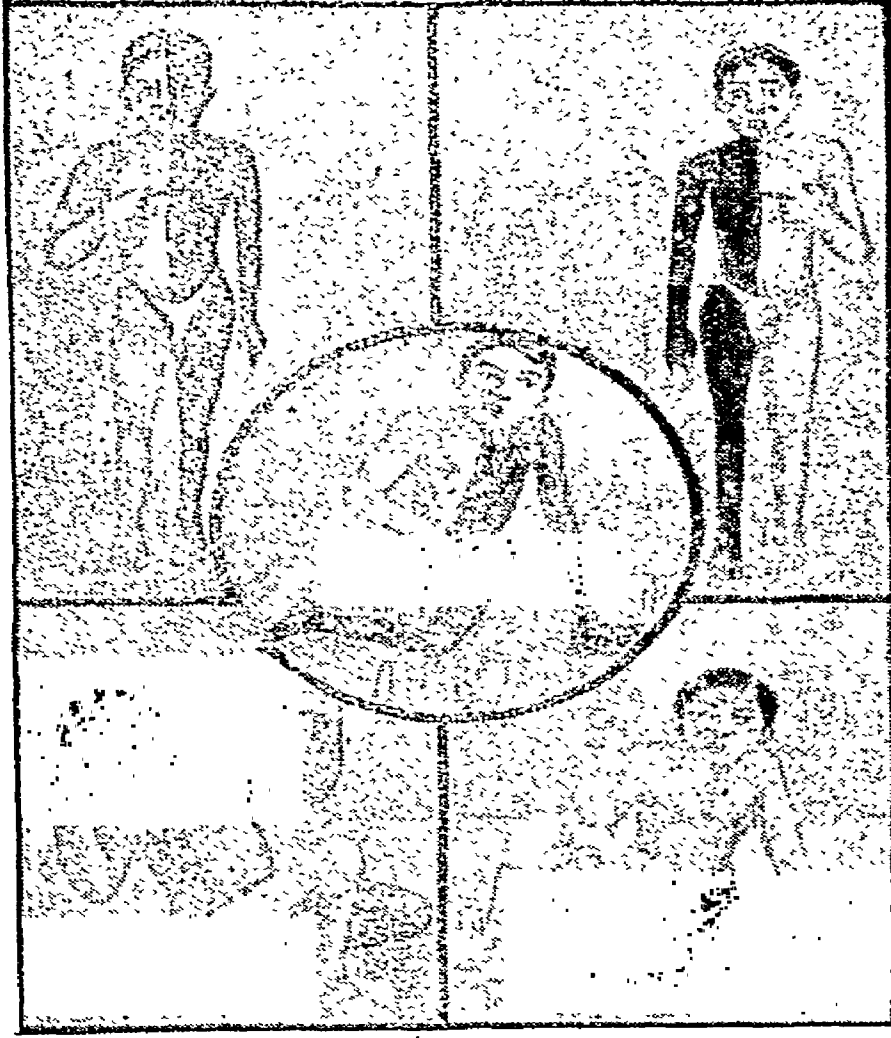
६—अस्थ्यावृत वात—अस्थि के आवृत वात में तो रोगी उष्णस्पर्श और अङ्गपीडन का स्वागत करता है। उसके अङ्ग टूटते हैं वह कष्ट अनुभव करता है और मानो सुइयां हों ऐसे तोद होता है।

७—मज्जावृत वात—मज्जा से आवृत वात में शरीर झुक जाता है, जम्हाइयां आती हैं, विशेष प्रकार से चेष्टा करता है (जम्हाई के साथ जो हाथ फेंकने की क्रिया स्वभावतः होती हैं वह परिचेष्टन या परिवेष्टन कही जाती है) तथा शूल (होता है) हाथों से दबाने से (रोगी) सुख प्राप्त करता है।

७-शुक्रावृत वात-शुक्रगत वायु में शुक्र का आवेग या अतिवेग (nill or profuse discharge of semen) होता है यथा शुक्रफलरहित (सन्तानोत्पादन शक्ति में असमर्थ) रहता है।

९—अन्नावृत वात—अन्न से आवृत वात में भोजन करने के वाद शूल तथा जीर्ण होने पर शान्त होजाता है।

१०—मूत्रावृत वात—मूत्र से आवृत वात में बस्ति में मूत्र की अप्रवृत्ति (retention of urine) और आध्मान (होता है)।

११—वर्चसावृत वात—मल से आवृत वात में नीचे की ओर मल का अत्यधिक विबन्ध (constipation) उसके अपने स्थान में परिकर्त्तिका। खाया हुआ स्नेह (तैल या घी) तुरत पच जाता है (८-८ तोला कास्टरौल को यह रोगी हजम कर जाता है।) भोजन करते ही व्यक्ति आनाह से पीडित हो जाता है। पेट में कुछ काल तक अन्न का दबाव पड़ने से कष्ट से सूखा मल निकलता है। श्रोणि (hip) वंक्षण पीठ इनमें पीड़ा होती है। वायु की गति विलोम होती है तथा हृदय अस्वस्थ हो जाता है।
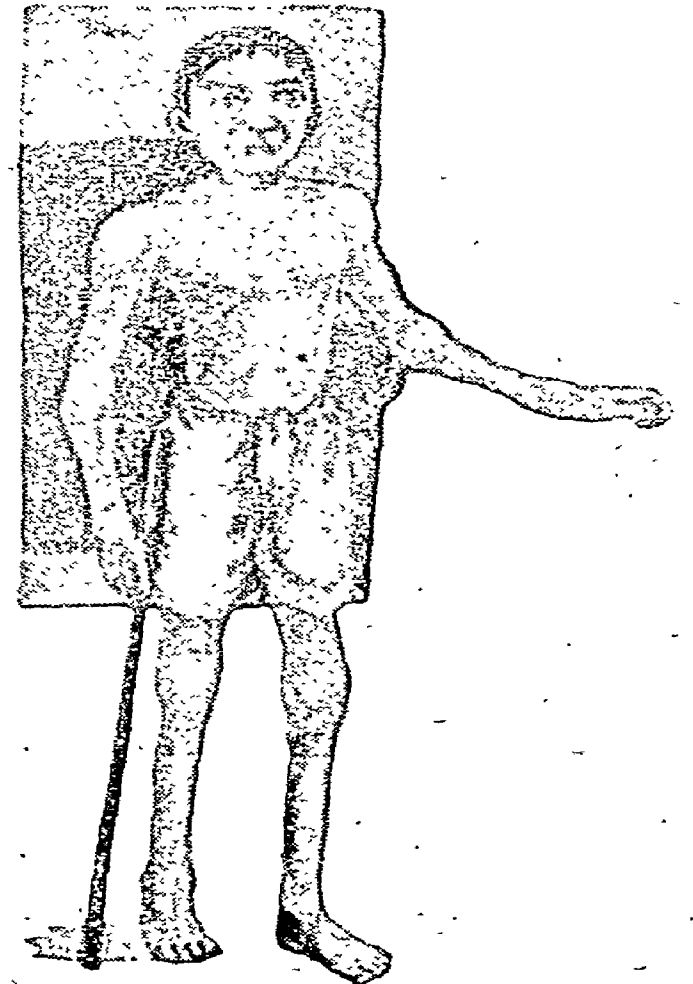
वक्तव्य--(४६८) सूक्ष्मवायु जब स्थूल पित्तकफ या रसरक्तमांसादि धातुओं के द्वारा आवृत करली जाती है तो जो रोग लक्षण प्राप्त होते हैं वे आवरक दोष या धातु से मिलते जुलते होते हैं वायु का धर्म तो केवल शूल का होना मिलता है अतः रोग का निदान करते समय यदि किसी को दाह तृष्णा भ्रम क्लम और शीतकामिता हो तो उसे निरा पैत्तिक रोग न समझ कर पित्त से आवृत वात भी हो सकता है। दोनों की चिकित्साओं में अन्तर होने से इसका ज्ञान करना और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

गात्रश्लेषो हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जतार्दितम्।
सन्धिच्युतिः पक्षवधः पांगुल्यं खुडवातता ॥७०॥
स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये।
एते स्थानस्य गाम्भीर्यात् यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा।
नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ॥७१॥

लगभग असाध्य वातविकार--गात्र का श्लिष्ट होजाना (पेशियों की विकृति जिस में अङ्ग की स्वाभाविक अवस्था नहीं रहती) हनुस्तम्भ, आकुञ्चन, कुब्जता, अर्दित, सन्धिच्युति, पक्षाघात, पंगुता, खुडवात, गात्रस्तम्भ, आढ्यवात, और अस्थि तथा मज्जागत रोग ये स्थान की गम्भीरता के कारण प्रयत्न करने से ही सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं होते। बलवान रोगी को उत्पन्न होने वाले इन नवीन उपद्रवरहित रोगों के साधे (चिकित्सा करे)।

क्रियामतः परं सिद्धां वातरोगापहां शृणु।
केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः ॥७२॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः।
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥७३॥
कृशरापायसैः साम्ललवणैः सानुवासनैः।
नावनैस्तर्पणैश्चान्यैः

अब आगे वातरोगों की नाशक चिकित्सा को (तू) सुन। आदि में केवल उपस्तम्भ या आवरण रहित वात की चिकित्सा घृत-वसा-तैल-मज्जा के स्नेह पानों से उपचार करे। स्नेह प्रयोग से क्लान्त को आश्वासित करके दूधों से अथवा ग्राम्य जलज आनूप देशज जीवों के मांसरसों के स्नेहयुक्त यूषों से, खिचड़ी, खीरों, खट्टे नमकीन अनुवासनों से, नस्यों से तर्पण तथा अन्यों से पुनः पुनः उसका स्नेहन करे।

सुस्निग्धं स्वेदयेत् तु तम् ॥७४॥
स्वभ्यक्त स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः।
तथान्यैर्विविधैर्योगैर्यथायोगमुपाचरेत् ॥७५॥
स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गन्तु वक्रं स्तब्धमथापि वा।
शनैर्नामयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत् ॥७६॥
हर्षतोदरुगायासशोथस्तम्भग्रहादयः।
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवञ्चोपजायते ॥७७॥
स्नेहश्च धातून्संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः।
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यतिवर्द्धयेत् ॥७८॥
असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत्।
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ॥७९॥

खूब स्निग्ध करके (वातरोगी को) तब स्वेदन देवे।

खूब तैल मालिश कराकर स्नेहयुक्त नाडी, प्रस्तर, सङ्कर तथा अन्य विविध स्वेदों से उसकी यथायोग्य चिकित्सा करे। स्नेह से चुपड़े और स्वेदन दिये गये टेढे या स्तब्ध (सुन्न) भी अंग को धीरे धीरे सूखी लकड़ी के समान नवाने में समर्थ होसकता है। (जैसे सूखी लकड़ी को तैल चुपड़ स्वेदन करके झुकाया जासकता है वैसे ही स्नेहन और स्वेदन से विकृत स्तब्ध अंग को भी झुकाकर ठीक किया जा सकता है। हर्ष तोद भ्रम शोथ स्तम्भन ग्रह (जकड़न) आदि स्वेदन करने से शीघ्र शान्त होजाते हैं और उनमें मुलाइमी आजाती है। शीघ्र प्रयुक्त स्नेह शुष्क धातुओं को पुष्ट करता है बल, अग्निबल, पुष्टि तथा प्राणों का अत्यन्त वर्धन करता है। पुनः बार बार उसको स्नेहन और स्वेदन प्रयोग करे उस प्रकार से मृदु हुए कोष्ठ में वातिक रोग नहीं ठहरते हैं।

वात व्याधि--सामान्य चिकित्सा

यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्भेषजैस्तं विशोधयेत् ॥८०॥

यदि दोषयुक्त होने के कारण इस कर्म से वायु

शान्त न होवे तो मृदु तथा स्नेहयुक्त औषधों से उसको शुद्ध करे।

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा।
पयस्येरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम् ॥८१॥

तिल्वक से सिद्ध घृत अथवा सातला से सिद्ध घृत को अथवा दूध से दोषनाशक कल्याणकारक एरण्डतैल को पीवे।

स्निग्धाम्ल लवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः।
स्रोतो बध्नाति तंरुध्वा तस्मात् तमनुलोमयेत् ॥८२॥

क्योंकि स्निग्ध-अम्ल-लवण उष्ण आदि आहारों से संचित मल स्रोतों का अवरोध करके वायु को रोक देता है उस कारण से उसका अनुलोमन करे।

दुर्वलो योऽविरेच्यः स्यात् तं निरूहैरुपाचरेत्।
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम् ॥८३॥

जो दुर्वल विरेचनीय नहीं होवे उस पुरुष को दीपन पाचन आहारों के द्वारा युक्त करके निरूहों द्वारा ठीक करे

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ।
स्वाद्वम्ललवणैः स्निग्धैराहारैः सततं पुनः ॥८४॥
नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत्।
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ॥८५॥

(इस प्रकार) संशुद्ध व्यक्ति की उठी हुई प्रबल अग्नि होने पर पुनः स्नेहन स्वेदन दोनों हितकर (होते हैं)।

सभी वात रोगियों की फिर से निरन्तर मधुर अम्ल लवण स्निग्ध आहारों से, नस्यों से, धूमपानों से चिकित्सा करे। वातरोगों की सामान्यतया चिकित्सा कहदी गई है।

वातव्याधि–विशेष चिकित्सा

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः।
पाचनीयैरसैर्युक्तैरन्यैर्वा पाचयेन्मलान् ॥८६॥
गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम्।
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीक्रिया ॥८७॥
सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो बस्तयः सानुवासनाः।
स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ॥८८॥
शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्।
विरेकोमांसमेदःस्थे निरूहाःशमनानि च ॥८९॥
बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहरस्थिमज्जगतं जयेत्।
हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ॥९०॥
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा च शुक्रं दद्याद् विरेचनम्।
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत् क्रियाम् ॥९१॥

विशेषतया कोष्ठस्थवात होने पर रोगी क्षार पीवे अथवा दीपन पाचन रसों से या अन्य द्रव्यों से युक्त दोषों को पचावे।

गुद तथा पक्वाशय में स्थित कुपित वात हो तो उदावर्तनाशक चिकित्सा हितकारक (होती है)। आमाशय में कुपित वायु स्थित हो तो शुद्ध हुए रोगी की जैसा दोष उसी के हरण करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। सर्वाङ्ग में कुपित होने पर अभ्यंग तथा अनुवासन बस्तियां देवे। त्वचा में आश्रित वात होने पर हृद्य अन्न तथा स्वेदन, अभ्यंग और अवगाहन करावे। रक्तस्थ वात होने पर शीतल लेप विरेचन और रक्तमोक्षण (करावे)। मांस-मेदस्थ वात में विरेचन, निरूहण और संशमन कर्म करे। अस्थिमज्जागत कुपित वात में बाह्य और आभ्यन्तर स्नेह प्रयोग से उसे जीते शुक्रस्थ वात में हर्ष तथा बल और शुक्रवर्द्धक अन्नपान हितकर है। शुक्र मार्ग में रुका हुआ देखकर विरेचन देवे। विरेचन के बाद भोजन कराके पूर्वोक्त (हर्षणादि) चिकित्सा करावे।

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानाञ्चापि शुष्यताम्।
सितामधुककाश्मर्यैर्हितमुत्थापने पयः ॥९२॥
हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम्।
मत्स्यान् नाभिप्रदेशस्थेसिद्धान्बिल्वशलाटुभिः ॥९३॥
वायुना वेष्टचमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम्।
तैलं संकुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ॥९४॥
बाहुशीर्षगते नस्यं पानञ्चोत्तरभक्तिकम्।

बस्तिकर्म्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ॥९५॥

वात से गर्भ के सूखजाने पर और बालकों के भी सूख जाने पर उनके उत्थापन के लिए मिश्री मुलहठी, गम्भारी फूल, हितकर (होता है)। वायु के हृदय में प्रकोप करने पर अंशुमती (शालपर्णी) से सिद्ध दूध हितकर होता है। वायु के नाभिदेश में कोप करने पर कच्चे बेल से सिद्ध मछलियों को (देवे) वायु द्वारा शरीर के ऐंठ जाने पर (cramps होने पर) उपनाहन करे और शरीरकेसंकुचित होने पर (contractures होने पर) उड़द सेंधानमक से साधित तैलों से अभ्यङ्ग करे।

बाहु और सिर में वात के कुपित होने पर भोजन के बाद स्नेहपान, नस्य, तथा नाभि के नीचे वात के प्रकोप होने पर अवपीड और बस्तिकर्म प्रशस्त होता है।

वक्तव्य---(४६६) ऊपर जो बालानाञ्चापिशुष्यताम् शब्द का प्रयोग है बालकों के आधुनिक काल में व्याप्त सूखा रोग (rickets) की ओर इङ्गित है। उसमें मिश्री मुलहठी गम्भारीफल के साथ क्षीरपाक करने से निस्सन्देह लाभ होता है।

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च।
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः ॥९६॥

अर्दितचिकित्सा—अर्दित होने पर नस्य, शिर में तैल प्रयोग तथा तर्पण, नाड़ी स्वेदन उपनाह तथा आनूपदेशीय जीवों के मांस हितकर पड़ते हैं।

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्।

पक्षाघात चिकित्सा—पक्षाघात में स्वेदन तथा स्नेहयुक्त विरेचन कराने चाहिए।

अन्तरा कण्डरा गुल्फं सिरावस्त्यग्निकर्म च ॥९७॥
गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तूष्णोपनाहनम्।
पायसैः कृशरैश्चैव शस्तैस्तैलघृतान्वितैः ॥९८॥

गृध्रसी चिकित्सा—कण्डरा और गुल्फ दोनों के बीच में सिरावेध, वस्ति तथा अग्निकर्म गृध्रसी में प्रयोग करे।

खल्ली चिकित्सा—खल्ली में तो तैल और घृत-युक्त प्रशस्त खीर, खिचड़ियों से उपनाह (करे)।

व्याधितास्ये हनुंस्विन्नमङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीडयेत्।
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नमनं हितम् ॥९९॥
स्रस्तं स्वं गमयेत् स्थानं स्तब्धं स्विन्न विनामयेत्।
प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रिया वैशेष्यमाचरेत् ॥१००॥

हनुग्रह चिकित्सा—खुले मुख वाले हनुग्रह (dislocation of the jaw) में हनु को स्विन्न करके दोनों अंगूठों को (मुख में डाल डाढों पर जमाकर) दबा दे तथा दोनों तर्जनियों से उठाकर चिबुक का उन्नमन करना हितकर है। जो च्युत हो उसे अपने स्थान पर पहुंचावे और स्तब्ध को स्विन्न करके नवावे। प्रत्येक स्थान दूष्यादि के भेद से अलग अलग चिकित्सा करे।

सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तयः।
स्वेदः स्निग्धो निवातञ्च स्थानं प्रावरणानि च ॥१०१॥
रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च।
बृंहणं यच्चतत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ॥१०२॥

घी, तैल, वसा, मज्जा, पान, अभ्यङ्ग-वस्ति प्रयोग-स्वेदन, स्निग्ध स्वेद निवात स्थान, प्रावरण (ओढने के मोटे कपड़े), मांसरस, दूधों मधुर अम्ल लवण भोज्य पदार्थों तथा जो बृंहण मिल सके (वे) सब वातरोगियों के हित करने वाले होते हैं।

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे।
अजशीर्षाम्बुजानूपक्रव्यादपिशितैः समम् ॥१०३॥
साधयित्वा रसान् स्निग्धान् दध्यम्लव्योषसंस्कृतान्।
भोजयेद्वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम् ॥१०४॥
एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः सम्प्रकल्पयेत्।
घृततैलयुतैः साम्लैः स्विन्नक्षुण्णैरनस्थिभिः ॥१०५॥

बला के, पञ्चमूल के अथवा दशमूल के स्वरस में समभाग बकरे के सिर तथा जल के आनूप देश से और मांसभक्षी (जीवों) के मांसों से सिद्ध करके खट्टा दही त्रिकटु से संस्कृत किए हुए उन (घृतादि से) स्निग्ध (किए हुए) रसों को खूब नमक के साथ वात रोग से पीड़ित (व्यक्ति को) भोजन करावे।

अम्लद्रव्यसहित घृततैलयुक्त कूटकर उबाले

हड्डीरहित इन्ही मांसों से उपनाहों को
ार करे।

पत्रोत्क्वाथपयस्तैल द्रोण्यः स्युरवगाहने।
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिल रोगिणाम् ॥१०६॥

वातघ्न पत्रों के क्वाथ, दूध, तैल से भरी
ोणियां अवगाहन के लिए प्रशस्त होती हैं। अच्छी
ह तैल मालिश किए हुए वातरोगियों के लिए
षेक (affusions) प्रशस्त (होते हैं)।

ानूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम्।
लत्थान्बदरान्माषान् तिलान्रास्नाबलायवान् ॥१०७॥
सादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत्।
ाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम्॥
श्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गं पानमेव च ॥१०८॥

आनूप तथा जलचर जीवों के मांसों को दशमूल
ावरी, कुलथी, बेरों, उड़दों, तिलों, रास्ना, बला जौ
न सब) को चर्बी, हड्डी, कांजी (आदि) अम्लों के
थ घड़े में पकावे। उनका नाड़ीस्वेद (रूप में)
ोग करे और पीसकर (उनसे) उपनाहन (करे)
ौर उनसे सिद्ध घृत-तैल को अभ्यङ्ग और पान में
ी प्रयोग करे)।

मुस्तं किण्वं तिलाः कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम्।
दधिक्षीरचतुःस्नेहैः शस्तं स्यादुपनाहनम् ॥१०९॥

मोथा, किण्व (yeast), तिल, कूठ, देवदारु,
नक, तगर, दही दूध और चारों स्नेहों (घृत तैल
सा मज्जा) से उपनाहन प्रशस्त होता है।

उत्कारिकावेशवारक्षीरमाषतिलोदनैः।
एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभिः ॥११०॥
सस्नेहै सरुजं गात्रमालिप्य बहलं भिषक्।
एरण्डपत्रैर्बध्नीयात् रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत् ॥१११॥
क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम्।
मुञ्चेद्रात्रौ दिवा बद्धं चर्मभिस्तं सलोमभिः ॥११२॥

पूड़ी, वेशवार, दूध, उड़द, तिल (तथा) चावल
ो भात (इन) से, अंडी के बीज, गेहूँ, जौ, बेर,
ालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखुरू कटेरी (छोटी बड़ी) आदि
ो स्नेहों सहित गाढ़ा लेप करके वातशूल से पीडित
व्यक्ति को वैद्य ऊपर से एरण्ड के पत्तों से रात्रि में
बांध दे। सवेरे खोल देवे।

दूध के पानी से बाद को सींचकर और फिर से
उपनाह करके रोमयुक्त चमड़ों से दिन में बांध कर
रात्रि को छुड़ा दे।

फलानां तैलयोनीनामम्लपिष्टान् सुशीतलान्।
प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि।
कृशरापायसैश्चैव कारयेत् स्नेहसंयुतः ॥११३॥

तैलवाले फलों को अम्ल द्रव्यों से पीसकर
अत्यन्त शीतल लेप लगावे तथा स्नेहयुक्त खिचड़ी
तथा खीरों से वातनाशक गन्धद्रव्यों से उपनाहन
करावे।

रूक्ष शुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान् प्रचक्ष्महे।
विविधान् विविध व्याधि प्रशमायामृतोपमान् ॥११४॥

अब आगे रूक्ष, शुद्ध हुए वातपीडितों के
अमृतोपम विविध स्नेहों को विविध व्याधियों के
प्रशमन के लिए कहे जाते हैं।

दशमूलादिघृत

द्रोणेऽम्भसः पचेद् भागान् दशमूल चतुष्पलान्।
यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह ॥११५॥
पादशेषरसैः पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करः।
तथा काश्मर्यखर्ज्जूर द्राक्षाबदरफल्गुभिः ॥११६॥
सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवल वातनुत्।
निरत्ययः प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनबस्तिषु ॥११७॥

चार पल दशमूल को एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से
दो द्रोण) जल के साथ एक एक प्रस्थ जौ, बेर, कुलथी
के मिलाकर पकाले। चतुर्थांश बचे हुए रस के साथ
शर्करासहित जीवनीयगण के द्रव्य तथा गम्भारीफल
खजूर, अंगूर, बेर, अंजीरसहित दूध के साथ एक
प्रस्थ वातनाशक सिद्ध किया गया घृतपान अभ्यङ्ग
और बस्तियों में हानिरहित (मानकर) प्रयोग
करना चाहिए।

चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम्।
पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पिर्वात रोगहरं परम् ॥११८॥

चित्रकादि घृत—चित्रक, सोंठ, रास्ना, पुष्करमूल, पिप्पली, कचूर, पीसकर (उसके कल्क और क्वाथ से) परम वातरोगनाशक घृत पकाले।

वलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत्।
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं शीर्षगतेऽनिल ॥११९॥

बला बेल के साथ उबाले दूध में घृतमण्ड पकाले। उसका आधा या एक पल का शिरोगत नस्य वातरोग में (दिया जाता है)।

ग्राम्यानूपौदकानाञ्च भित्वास्थीनिपचेज्जले।
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनःपचेत् ॥१२०॥
जीवकर्षभकास्फोता विदारीकपि कच्छुभिः।
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम् ॥१२१॥
तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात् तथा पानानुवासनात्।
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम् ॥१२२॥
ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये।
बलपुष्टिकरं तेषामेतत्स्यादमृतोपमम् ॥१२३॥

मज्जस्नेह—ग्राम्य, आनूप और औदक जीवों की हड्डियों को फोड़कर जल में पकावे (इस प्रकार प्राप्त) उस स्नेह को दशमूल के कषाय से पुनः पकाले। जीवक-ऋषभक-हरफारेवड़ी, विदारीकन्द, कौंचों तथा वातनाशक जीवनीय गण के दशों द्रव्यों के कल्कों से दो भाग दूध के साथ उसको सिद्ध करके (उसके) नस्य, अभ्यङ्ग, तथा पान और अनुवासन से सिरा अस्थि पर्व और कोष्ठस्थ-वात शीघ्र नष्ट होजाती है।

जो मज्जा से क्षीण, जो शुक्र और ओज से क्षीण उनका बल पुष्टिकर यह अमृत के समान (योग) है।

प्रस्थः स्यात्त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम्।
कृष्णगन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत् ॥१२४॥
रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम्।
जलद्रोणे पचेत् पादशेषे प्रस्थोन्मितं पृथक् ॥१२५॥
सुरारनालदध्यम्ल सौवीरकतुषोदकम्।
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसांस्तैलं घृतं वसाम् ॥१२६॥
मज्जानञ्च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट्।
कल्कान् दत्वा महास्नेहं सम्यगेनं विपाचयेत् ॥१२७॥
सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु।
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे प्रदापयेत् ॥१२८॥

त्रिफला का एक प्रस्थ, दो कुडव कुलथी, अलग अलग पांच-पांच पल सहंजन की छाल और अरहर, रास्ना चित्रक दोनों दो-दो पल तथा दशमूल के सब द्रव्य १-१ पल एक द्रोण (या २ द्रोण) जल में पकावे। चौथाई शेष रहने पर मदिरा, कांजी, खट्टा दही, सौवीरक, तुषोदक, बेर, अनार, तिन्तिडीक के रस, तैल, घी, वसा और मज्जा व दूध एक-एक प्रस्थ तथा जीवनीय द्रव्य कुल ६ पल के कल्कों को डालकर इस महास्नेह को पकावे।

सिरागत वात मज्जागत वात सर्वाङ्ग एकाङ्गज रोगों में कम्प, आक्षेप तथा शूलों में उसे अभ्यङ्ग में देवे।

समूलपत्रां निर्गुण्डीं पीडयित्वा रसेन तु।
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु ॥१२९॥
हितं पामापचीनान्तु पानाभ्यञ्जनपूरणम्।

जड़ पत्रों सहित निर्गुण्डी को पीडन करके प्राप्त किए रस से तथा उसके कल्क से बराबर भाग सिद्ध किया गया तैल नाड़ीव्रण, कुष्ठ, वातरोगों पामा अपचियों में पान अभ्यङ्ग और पूरण के लिए हितकर है।

कार्पासास्थिफलोत्थानां रसे सिद्धञ्च वातनुत् ॥१३०॥

बिनोलों के रस में सिद्ध तैल वातनाशक है।

मूलकस्वरसे क्षीरे समे स्थाप्यं त्र्यहं दधि।
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१३१॥
यष्ट्याह्वशर्करारास्नालवणार्द्रकनागरैः।
सुपिष्टैः पलिकैः पानात् तदभ्यङ्गाच्च वातनुत् ॥१३२॥

मूलकतैल—दूध के बराबर मूली के स्वरस में दही को तीन दिन रखना चाहिए। उस अम्ल के ३ प्रस्थ और खूब पीसे मुलहठी शक्कर, रास्ना, सेंधानमक सोंठ के एक-एक पल के कल्क से एक प्रस्थ तैल पकाले। पीने से तथा अभ्यङ्ग से वह वातनाशक (होता है)।

पञ्चमूली कषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम् ।
पक्त्वाम्भसि रसे तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१३३॥
पयसाष्टगुणे नैतत् सर्वं वात विकारनुत् ।
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतत् वाते शस्तं विशेषतः ॥१३४॥

लघुपंचमूल के कषाय के साथ पुराने पिण्याक को (चार गुने) जल में पकाकर (प्राप्त) रस में एक प्रस्थ तैल को आठ गुना दूध डालकर पकावे। यह सब प्रकार के वातरोगों का नाशक है। कफ द्वारा संसृष्ट वातरोग में यह विशेष रूप से प्रशस्त (माना गया) है।

वक्तव्य--[४७०] पिण्याक तिल की खली को कहते हैं।

यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात् ।
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत् ॥१३५॥
तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा ।
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्त्तः शीते प्रयोजयेत् ॥१३६॥

जौ, बेर, कुलथी (इन) का गजपीपल का सूखी मूली से बिल्व प्रत्येक से ४-४ पल (लेकर चौगुने) खट्टे द्रव (कांजी) से पकावे। उस कषाय के साथ खट्टे फल (तिन्तिडीक आदि) तथा त्रिकटु (चतुर्थांश) के कल्कों से सिद्ध शीतल होने पर महावात से पीड़ित रोगी को प्रयोग करे।

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु ।
चतुः प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णं कराणि च ॥१३७॥
रजः शुक्रप्रदोषघ्नान्य पत्यजननानि च ।
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च ॥१३८॥

आयुष्य, बल्य, वर्णजनक, रजःदोषघ्न, शुक्रदोषघ्न, अपत्यजनक, हानिरहित, वातविकारों के सब दोषों के हरने वाले चार प्रकार (पान, अभ्यंग, अनुवासन, नस्य) से प्रयोग में आने वाले अन्यान्य तैलों को (तू) सुन।

सहाचर तुलायास्तु रसे तैलाढकं पचेत् ।
मूलकल्काद्दशपलं पयोदत्त्वा चतुर्गुणम् ॥१३९॥
सिद्धेऽस्मिन् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक् ।
विनीय दारुणेष्वेतद् वातव्याधिषु योजयेत् ॥१४०॥

सहाचरतैल—एक तुला झिण्टी (पियाबांसा) के रस में एक आढक तैल को झिंटी की जड़ के दश पल के कल्क तथा चौगुना दूध देकर पकावे। सिद्ध होने पर इसमें वैद्य शक्कर के चूर्ण से अठारह पल डालकर इसे दारुण वातव्याधियों में प्रयोग करे।

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह ।
षट्पलं श्रृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा ॥१४१॥
तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात् सर्वानिलार्तिषु ।
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेया कल्पः प्रशस्यते ॥१४२॥

गोखुरू का स्वरस दो प्रस्थ बराबर भाग दूध के साथ ६ पल अदरख का तथा गुड़ का आठ पल एक प्रस्थ तैल पकाकर उनको सब वातरोगों में देवे। जीर्ण तैल में तथा दूध के साथ (इसकी) पेया बनाकर देना भी प्रशस्त होता है।

बलातैल

बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम् ।
जलाढक शते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ॥१४३॥
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ।
पचेत् साजपयोऽर्द्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः ॥१४४॥
शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरु चन्दनैः ।
पद्मकातिविषामुस्तसूर्प्यपर्णीहरेणुभिः ॥१४५॥
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः ।
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः ॥१४६॥
स्पृक्काकुंकुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः ।
त्वक्चन्दनैलाकर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः ॥१४७॥
लवङ्गनतकक्कोलकुष्ठगन्धप्रियंगुभिः ।
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनपल्लवैः ॥१४८॥
सनागकेशरैः सिद्धे दद्याच्चात्रावतारिते ।
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजयेत् ॥१४९॥
कासं श्वासं ज्वरं मूर्च्छा छर्दिर्गुल्मान् क्षतक्षयम् ।
प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीञ्च विनाशयेत् ॥१५०॥
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ।
अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥१५१॥

बला १०० पल, गिलोय का चतुर्थभाग (२५ पल) रास्ना अष्टमभाग (१२॥ पल) जल १०० आढक

(द्रवद्वैगुण्य से २०० आढक) पकाकर रस के १० भाग रहने पर दही का तोड़ गन्ने का रस, सिरका सब (तैल के बराबर) तैल एक आढक को बकरी का दूध आधा भाग (६ आढक) डालकर एक एक पल कचूर, चीड़, देवदारु, इलाइची, मजीठ, अगर, चन्दन, पद्माख, अतीस, मोथा, मुद्गपर्णी, हरेणुका, मुलहठी, तुलसी, व्याघ्रनख, ऋषभक, जीवक, ढाक के गोंद, कस्तूरी, जटामांसी, जावित्री, स्पृक्का, केशर, छरीला, जातीफल, लताकस्तूरी, सुगन्धवाला, दालचीनी, चन्दन, इलाइची, कपूर, शिलारस, गन्धाबरौजा, लौंग, तगर, कंकोल, कूठ, गन्धप्रियंगु, ग्रन्थिपर्ण, तगर, गन्धतृण, वचा, नागकेशर सहित मदनफल के पत्तों से इन कल्कों के साथ पकावे। सिद्ध होने पर उतार लेने पर पत्र कल्क देवे। तब फिर छानकर विधिपूर्वक प्रयोग करे।

कास श्वास ज्वर मूर्च्छा वमन, गुल्मों, क्षतक्षीणता, प्लीहोदर, शोष, अपस्मार, तथा दरिद्रता को यह नष्ट कर देता है। वातव्याधिनाशक यह श्रेष्ठ बलातैल गुरु कृष्णात्रेय द्वारा (अपने प्रिय शिष्य) अग्निवेश के लिए कहा गया है।

वक्तव्य—(४७१) यह बलातैल बहुत प्रकार के सुगन्ध द्रव्यों से युक्त तैयार किया जाता है। इसमें योग तैयार होने के बाद भी जो पत्रकल्क डालने का विधान है वह इसमें सुगन्ध को स्थायी कर देता है। पत्र कल्क की परिभाषाऐं दो मिलती हैं।

१—चूर्णस्वरसपुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते।
दीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्को मनीषिभिः॥
२—पक्वे पूते कोष्ण एव सम्यग्यतपरिपेषितम्।
दीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्कं तदुच्यते॥

वास्तव में सुगन्धयुक्त पत्रद्रव्यों को पीसकर जो कल्क तैयार हुए तैल में डालते हैं वही पत्रकल्क होता है।

श्लोक १५१ गुरुणा कृष्णात्रेयेण के द्वारा यह स्पष्ट करता है कि अग्निवेश के गुरु भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ही कृष्ण आत्रेय कहलाते थे। कदाचित् उनके वर्ण में कृष्णता की छटा होने के कारण ही उन्हें यह पदवी प्राप्त हुई होगी। कृष्ण आत्रेय तथा पुनर्वसु आत्रेय दोनों एक व्यक्ति हैं अलग अलग दो नहीं।

अमृतयास्तुलाः पञ्च द्रोणेऽष्टस्वपां पचेत्।
पादशेषे समक्षीरं तैलस्यार्द्धाढकं पचेत्॥१५२॥
सलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः।
शतपुष्पाबलामेदामहामेदर्द्धिजीवकैः॥१५३॥
काकोली क्षीरकाकोली श्रावण्यति बलानखैः।
महाश्रावणिजीवन्ती विदारीकपिकच्छुभिः॥१५४॥
वचागोक्षुरकरण्डरास्नाकालासहाचरैः।
शतावरीतामलकी कर्कटाख्याहरेणुभिः॥१५५॥
वीराशल्लकि मुस्तत्वक् पत्रर्षभक बालकैः।
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्का त्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः॥१५६॥
मञ्जिष्ठाया स्त्रिकर्षेण मधुकाष्टपलेन च।
कल्कैस्तत् क्षीण वीर्याग्नि बल संमूढचेतसा॥१५७॥
उन्मादारत्यपस्मारैरार्तांश्च प्रकृतिं नयेत्।
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्र्यःममृताह्वयम्।
कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्य पूजितम्॥१५८॥

अमृतादितैल—पांच तुला गिलोय का ८ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से १६ द्रोण) जल में पकावे। चतुर्थांश शेष रहने पर तैल का आधा आढक (किसी के मत में पाठ द्व्याढकम् होने से २ आढक) तैल के बराबर दूध और इलाइची, जटामांसी, तगर, खस, सारिवा, कूठ, चन्दन, सौंफ, बला, मेदा महामेदा, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुण्डी, अतिबला, नखी, बड़ी मुण्डी, जीवन्ती, विदारीकन्द, कौंच के बीज, वचा, गोखुरू, अरण्ड, रास्ना कालीझिण्टी, शतावर, भूमिआमलकी, काकड़ासिंगी, सम्हालू के बीज, क्षीर विदारी, सलई, मोथा, दालचीनी, तेजपत्र, ऋषभक, सुगन्धवाला, मुद्गपर्णी, इलायची, केशर, स्पृक्का (पिण्डीशाक), त्रिदशाह्व (देवदारु) प्रत्येक १-१ कर्ष के कल्कों से ३ कर्ष मजीठ और आठ पल शहद (डालकर) पाक करे।

वह क्षीण होगया है वीर्य बल और अग्नि जिनकी, मूढ चेतस, उन्माद अरति अपस्मार से पीडितों को प्रकृति में ले आता है। गुरु कृष्णात्रेय

द्वारा भाषित वैद्य से पूजित अमृता नाम वाला यह श्रेष्ठ तैल वातव्याधियों को हरने वाला है।

रास्ना सहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत्।
गन्धहैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्त्तिनुत् ॥१५९॥
एष कल्पस्तु बलायाः प्रसारण्यश्वगन्धयोः।
क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक् ॥१६०॥

सहस्रपल रास्ना के क्वाथ में एक द्रोण तैल हिमालय में उत्पन्न गन्धद्रव्यों तथा एलादिकों के कल्कों द्वारा पकावे। (यह) वातनाशक (तैल होता है)।

इसी कल्पनाविधि से सहस्रपल बला का, प्रसारिणी अश्वगन्धा दोनों के क्वाथ और बलादिक के कल्कों तथा दूध से अलग अलग तैल पाक करे।

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम्।
तुल्यं विपाचयेत् कल्कैर्बलाचित्रक सैंधवैः ॥१६१॥
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुड चित्रकैः।
भल्लातकवचाकुष्ठ श्वदंष्ट्रा विश्वभेषजैः ॥१६२॥
पुष्कराह्वशटी विल्व शताह्वानत दारुभिः।
तत् सिद्धं पीतमत्युग्रान् हन्ति वातात्मकान्गदान् ॥१६३॥

मूलकाद्यतैल—मूली का स्वरस, दूध, तैल, खट्टा दही, कांजी, बराबर बराबर लेकर बला चित्रक, सैन्धवनमक, पिप्पली, अतीस, रास्ना, चव्य, अगर, चित्रक, भिलावे, बचा, कूठ, गोखुरू, सोंठ, पोकरमूल, कचूर, बेल, सोंफ, तगर, देवदारु इनके कल्कों से सिद्ध वह पिया जाने पर उग्र वातात्मक रोगों को नष्ट कर देता है।

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य तु।
चित्रकात् साश्वगन्धाच्च क्वाथे तैलाढकं पचेत् ॥१६४॥
सक्षीरं वायुना भग्ने दद्यात् जर्जरिते तथा।
प्राक्तैलावापसिद्धञ्च भवेदेतद् गुणोत्तरम् ॥१६५॥
रास्नाशिरीषयष्ट्याह्व शुण्ठीसहचरामृताः।
श्योनाकं दारुकं मांसीहयगन्धा त्रिकण्टकाः ॥१६६॥
एषां दशपलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत्।
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः ॥१६७॥
दध्यारनालमाषाम्बु मूलकेक्षुरसैः शुभैः।
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्द्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥१६८॥
प्लीहपार्श्वग्रहश्वासकासमारुतकोपनुत्।
रास्नातैलमितिख्यातं पुनर्वसुनिर्दशितम् ॥१६९॥

वृषमूलादि तैल—अडूसे की जड़ तथा गुडूची का २०० पल, असगंध और चीते का १०० पल के क्वाथ में एक आढक तैल दूध के साथ पूर्वोक्त मूलकादि तैल के सिद्ध करने पर वायु से भग्न तथा जीर्ण-शीर्ण रोगी में प्रदान करे। पूर्वोक्त मूलकादि तैल में कहे कल्कों के साथ सिद्ध करने पर वह और भी गुणवान् होजाता है।

रास्नादि तैल—रास्ना, सिरस, मुलहठी, सोंठ, झिण्टी, गिलोय, सोनापाठा, देवदारु, जटामांसी, अश्वगंध, गोखुरू इनके १०-१० पल भागों को कषाय रूप में बनाले (अर्थात् इनका क्वाथ बनाले) फिर उस क्वाथ से सब गन्ध द्रव्य एक एक कर्ष शुभ दही, कांजी, उड़द का क्वाथ, मूली और गन्ने का रस अलग अलग एक एक प्रस्थ लेकर उनके साथ एक प्रस्थ तैल पाक करे। प्लीहा, पार्श्वशूल, श्वास, कास, वात के कोप का नाशक पुनर्वसु द्वारा बतलाया वह विख्यात रास्ना तैल (है)।

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः।
रसेन मूलकानाञ्च तैलं दधिपयोऽन्वितम् ॥१७०॥
साधयित्वा भिषग् दद्यात् सर्ववातामयापहम्।
लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥१७१॥
तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च।
पीत्वान्यतममेतेषां वन्ध्यापि जनयेत् सुतम् ॥१७२॥

मूलकतैल—जौ, बेर, कुलथी इनका मछलियों, का, सहंजन और बेल दोनों का तथा मूलियों के रस से दही दूध मिलाकर तैल सिद्ध करके देवे। (यह) सर्व वातरोगों का नाशक (होता है)।

यही तैल लशुनरस में सिद्ध वातनाशक होता है। इन तैलों को को ऋतुमती स्त्रियों को पिलावे। इन श्रेष्ठ तैलों को पीकर वन्ध्या भी पुत्र उत्पन्न कर देती है।

वक्तव्य—(४७२) ये तैल वात का शमन करके वन्ध्याओं के गर्भाशय की सूजन को नष्ट कर देते हैं जिसके कारण गर्भस्थापना का वातावरण अच्छा तैयार होजाता है

और सन्तानोत्पत्ति सम्भव होजाती है।

यच्चशीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम्।
अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद्वातरोगनुत् ॥१७३॥
वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च।
तानि तानि च शान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥१७४॥

और जो शीतज्वर में अगुर्वादि तैल कहा गया है अनेक सैकड़ों बार सिद्ध करने पर वह वातरोग-नाशक होता है। वातरक्त प्रकरण में जो तैल कहे जायेंगे उनको (वात) शान्ति के लिए कामना सिद्धि के वास्ते प्रयोग करे।

नास्तितैलात्परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्।
व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम् ॥१७५॥
गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः।
सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ॥१७६॥

तैल से बढ़कर कोई औषध वातनाशक नहीं है। व्यवायि, उष्ण, गुरु और स्नेह के कारण तथा संस्कार करने से और अधिक गुणवान् (तैल) हो जाता है। इस कारण वातनाशक गुणों से सौ या हजार बार सिद्ध किया गया तैल सूक्ष्म मार्गों में (भी) स्थित रोगों को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—(४७३) वातनाशक पदार्थों में तैल सर्वोत्तम है। जिसप्रकार शतपुटी और सहस्रपुटी अभ्रकभस्म के गुणों का प्रकर्ष होता है उसीप्रकार यदि वैद्य सौ या हजार बार वातहर द्रव्यों से सिद्ध करके तैलों का प्रयोग करे तो कोई कारण नहीं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म मार्ग में गया वात भी शान्त न कर दिया जावे।

व्यवायित्वं सर्वतः प्रसरणशीलत्वं पानीयपतित तैलवत् ऐसा व्यवायी का भाव जानना चाहिए।

क्रियासाधारणी सर्वा संसृष्टा चापि शस्यते।
वाते पित्तादिभिः स्रोतः स्वावृतेषु विशेषतः ॥१७७॥

संसृष्ट (अन्य दोषसंसर्ग से युक्त) सब प्रकार की साधारण चिकित्सा खास कर वातरोग में पित्तादिकों से दोषों से आवृत्त होने पर भी प्रशस्त कही जाती है।

आवृतवात चिकित्सा

पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्।
व्यत्यासात् कारयेत् सर्पिर्जीवनीयञ्च शस्यते ॥१७८॥
धन्वमांसं यवाः शालिर्यापनाः क्षीरबस्तयः।
विरेकः क्षीरपानञ्च पञ्चमूली बलाशृतम् ॥१७९॥
मधुयष्टीबलातैलं घृतक्षीरश्च सेचनम्।
पञ्चमूलीकषायेण कुर्याद्वा शीतवारिणा ॥१८०॥

पित्तावृत वात में—पित्त से आवृत होने पर विशेष रूप से शीतल तथा उष्ण चिकित्सा अदल बदल कर करे। और (यहां) जीवनीयघृत जांगल जीवों का मांस, जौ, शालिचावल, यापना और क्षीर वस्तियां, विरेचन तथा लघु पञ्चमूल तथा बला के साथ उबाला क्षीरपान प्रशस्त होता है। मुलहठी (तैल) बलातैल तथा घृत और दूध अथवा लघुपञ्चमूल के कषाय या शीतल जल से परिषेक करे।

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः।
स्वेदा निरूहास्तीक्ष्णाञ्च वमनं सविरेचनम् ॥१८१॥
पुराणसर्पिस्तैलञ्च तिलसर्षपजं हितम्।
संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥१८२॥

कफावृत वात में—कफ से आवृत होने पर जौ (तथा अन्य रूक्ष) अन्नों को, जाङ्गल पशु–पक्षियों का मांस, तीक्ष्ण स्वेद और तीक्ष्ण निरूहण, विरेचन सहित वमन, पुराना घी तथा तिल और सरसों का तैल हितकर होता है। (यदि) कफ और पित्त का संसर्ग हो तो आदि में पित्त का निर्हरण करे।

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमादिशेत्।
पक्वाशये विरेकन्तु पित्ते सर्वत्रगे तथा ॥१८३॥

कफ को आमाशय में गया हुआ मानकर वमन का आदेश दे। यदि कफ पक्वाशय में स्थित हो तथा पित्त (शरीर में कहीं भी हो) तो सर्वत्र विरेचन ही करावे।

स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशयस्थितः।
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं वस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ॥१८४॥

स्वेद से पिघला हुआ कफ जब पक्वाशय में

स्थित होता है या जब पित्त अपने लक्षण को प्रगट करे तो उन दोनों को बस्तियों से निकाले।

श्लेष्मणानुऽगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः।
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः।
मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ॥१८५॥

(जब) कफ द्वारा अनुगत वात हो (अर्थात् वात में कफ का अनुबन्ध हो तो) उष्ण गोमूत्रयुक्त निरूहों द्वारा निकाले तथा पित्त से संसृष्ट होने पर दूध मिलाये मधुर वर्ग की ओषधियों से सिद्ध अनुवासन करावे।

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादिकारयेत्।

सकफ शिरोगत वात में धूम और नस्यादि करावे।

हृते पित्ते कफे च स्यादुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः।
सशेषः स्यात् क्रिया तत्र कार्या केवल वातकी ॥१८६॥

पित्त और वात के निकाल देने पर उरस् के स्रोतों में अनुगत वात शेष रहे तो वहां केवल वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

कारयेद्रक्तसंसृष्टे वातशोणितिकीं क्रियाम्।
प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत् ॥१८७॥

रक्त से संसृष्ट (या रक्त से आवृत) वात होने पर वातरक्त की चिकित्सा करे।

(तथा) प्रमेहवात और मेदनाशक चिकित्सा आमवात में प्रयोग करे।

स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते हिताः।
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसावृते ॥१८८॥

मांसावृत वात में स्वेदन, अभ्यंग, मांसरस, दूध और विविध स्नेह हितकर होते हैं।

वायु के अस्थि मज्जा से आवृत होने पर महास्नेह (का प्रयोग करना चाहिए) तथा शुक्र से आवृत वात में पूर्ववत् (शुक्रस्थवातनाशक चिकित्सा श्लोक ६०) चिकित्सा की जानी चाहिए।

वक्तव्य—(४७४) महास्नेह–सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः। सू० १-८६

अन्नावृते तदुल्लेखः पाचनं दीपनं लघु।

अन्न से आवृत वात में वमन कराना दीपन पाचन और लघु पदार्थों का सेवन (कराना परमावश्यक है)।

मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरवस्तयः।
शकृतातैलमैरण्डं स्निग्धोदावर्तवत्क्रिया ॥१८९॥

वायु के मूत्र से आवृत होने पर उत्तर बस्तियों (urethral douches) के साथ स्वेदनीय (diaphoretics & sudations) तथा मूत्रल (diuretics) (देने चाहिए)। तथा वायु के मल से आवृत होने पर एरण्ड तैल तथा उदावर्त के समान स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिए।

स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक्तं स्वैरौषधैर्जयेत्।
वमनैर्वा विरेकैर्वा बस्तिभिः शमनेन वा।
इत्युक्तमावृते वाते पित्तादिभिर्यथायथम् ॥१९०॥

अपने स्थान में स्थित दोष बली होता है उसको सर्व प्रथम ओषधियों द्वारा वमन या विरेचन या बस्तियों द्वारा अथवा संशमन क्रिया द्वारा जीते।

वक्तव्य—[४७५] आमाशय में कफ जब प्रकोप करे तो उसका बल नष्ट करने के लिए उसी की अपनी ओषधि का नाम वमन है। पित्ताशय में बली पित्त विरेचन से तथा पक्वाशय में बली वात बस्तियों द्वारा जीतना चाहिए। पर यदि इन कर्मों के लिए रोगी दुर्बल होने के कारण समर्थ न हो तो उसे संशमन कर्मों द्वारा ही जीतना चाहिए। चिकित्सा का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

मारुतानाञ्च पञ्चानामन्योऽन्यावरणे शृणु।
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयानघ ॥१९१॥
प्राणोवृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च।
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ॥१९२॥
विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम्।
मारुतानाञ्च पञ्चानां तानिसम्यक् प्रतर्कयेत् ॥१९३॥

हे निष्पाप! मेरे द्वारा उच्यमान पांचों वातों के अन्योन्य आवरण के (नाति) संक्षिप्त विस्तीर्ण लक्षण को सुन।

प्राण उदानादिकों का आवरण करता है और [वे] भी प्राणों को आवृत करते हैं। इसी प्रकार उदा[ना]दि सब क्रमानुसार एक दूसरे को आवृत करते हैं)।

परस्पर उल्वणता को प्राप्त हुए इन पांचों वातों के बीस आवरण (होते हैं) उनको भले प्रकार जानले।

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्।
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्द्ध्वजत्रुकम् ॥१९४॥
स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता।
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥१९५॥
प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गद्मूकताः।
चतुः प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः ॥१९६॥
समानेनावृते प्राणे ग्रहणी पार्श्वहृद्गदीः।
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते ॥१९७॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ॥१९८॥
तत्रोर्द्ध्वभाविकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा।
कर्मौजोबलवर्णानां नाशोमृत्युरथापि च ॥१९९॥
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा।
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखञ्चैवोपपादयेत् ॥२००॥
ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयोगदाः।
स्युर्वाते तत्र वस्त्यादिर्भोज्यञ्चैवानुलोमनम् ॥२०१॥
मोहोऽल्पाग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते।
वातेस्युर्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम् ॥२०२॥
छर्द्याध्मानमुदावर्तो गुल्मार्तिः परिकर्तिका।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ॥२०३॥
अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम्।
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं हितम् ॥२०४॥
मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः।
समानेनावृतेऽपाने व्यायामो लघुभोजनम् ॥२०५॥
स्तब्धताल्पाग्निता स्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम्।
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु ॥२०६॥
पञ्चान्योऽन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः।
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽवरणे मता ॥२०७॥
यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणे पृथक्।
स्वलिङ्गभेषजं सम्यक् शृणु मे बुद्धवृद्धये ॥२०८॥

१—व्यान के प्राण से आवृत होने पर—सब इन्द्रियों की शून्यता (loss of function of all the sense organs), स्मृति तथा बल का क्षय (इस) लक्षण को जानकर उसमें ऊर्ध्वजत्रुजरोगोक्त (धूमपान नस्यादि) कर्म करने चाहिए।

२—प्राण के व्यान से आवृत होने पर—अत्यन्त स्वेद रोम हर्ष, त्वग्दोष (skin diseases), गात्रसुप्तता (anaesthetisation of the skin) होजाती है वहां सस्नेह विरेचन कराना चाहिए।

३—समान के प्राण से आवृत होने पर—जडता, गद्गद्ता, मूकता होजाती है वहां यापना बस्तियों के साथ साथ चार प्रकार के स्नेह प्रयोग (बला तैल अमृतादि तैल आदि) प्रशस्त होते हैं।

४—प्राण के समान से आवृत होने पर—ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृद्रोग तथा आमाशय में शूल होता है वहां दीपन घृत इष्ट है।

५—उदान के प्राण से आवृत होने पर—शिरोग्रह, प्रतिश्याय, श्वासोच्छ्वास में रुकावट, हृद्रोग, मुखशोष (आदि होते हैं)। वहां पर ऊर्ध्वभागिक (नस्य धूमपानादि) कर्म तथा आश्वासन देना चाहिए।

६—प्राण के उदान से आवृत होने पर—क्रियाशक्ति, ओज, बल तथा वर्ण का नाश तथा मृत्यु भी होसकती है। उसको धीरे धीरे शीतल जल से सिंचन करे आश्वासन दे तथा सुखोपपादन करे।

७—अपान वायु के ऊर्ध्वग उदान वायु से आवृत होने पर-वमन, श्वासादिक रोग (होते हैं) वहां बस्त्यादि कर्म तथा वात के अनुलोमक खाद्य पदार्थादि देने चाहिए।

८—उदान वायु के अपान वायु से आवृत होने पर—मोह, अग्नि की अल्पता, अतीसार (होते हैं) वहां वमनकर्म, दीपन और ग्राही पदार्थ खिलाने चाहिए।

६ --अपान के व्यान वायु से आवृत होने पर--वमन, आध्मान, उदावर्त, गुल्म, अरति और परिकर्तिका का लक्षण (होता है) उसको स्नेहन द्रव्यों से अनुलोमन करे।

१०—व्यान के अपान वायु से आवृत होने पर—मूर्च्छा-तन्द्रा, प्रलाप, अङ्गसाद, अग्निक्षय, ओजक्षय और बलक्षय होजाता है वहां व्यायाम और लघु भोजन करना चाहिए।

१२—व्यान के उदान से आवृत होजाने पर—स्तब्धता अग्नि की मन्दता, स्वेद की हानि तथा चेष्टा (क्रियाशीलता) की हानि, आंखें (बन्द होजाती हैं) वहां मित और लघु पदार्थ सेवन पथ्य है।

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे से आवृत पञ्चवातों को लक्षणों से जाने। आवरण होने पर इनके अपने कर्मों की हानि या वृद्धि मानी गई हैं।

स्थूल रूप से इस प्रकार यह आवरण पृथक्-पृथक् उसके लक्षण और औषधि के साथ कह दिया गया है तथा बुद्धिवर्द्धन के लिए (और भी आगे तू) मुझसे सुन।

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिञ्च कर्मणाम्।
द्वादशावरणान्यन्यान्युपलक्ष्य भिषग्जितम् ॥२०६॥
कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहनस्यपानादि सर्वशः।
उष्णं क्रममनुष्णं च व्यत्यासादवचारयेत् ॥२१०॥
उदाने योजयेदूर्ध्वमपानेवानुलोमनम्।
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं च योजयेत् ॥२११॥
प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवम्।
स्वस्थानं गमयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान् ॥२१२॥
मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता।
छर्दनञ्च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ॥२१३॥
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ॥२१४॥
मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसोः क्लमः।
ओजोभ्रंशश्च श्वासश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ॥२१५॥
आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः।
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते ॥२१६॥
अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा योऽरति रेव च।
पित्तावृते समाने स्युरुपलापस्तथोष्मणः ॥२१७॥
अस्वेदो वह्निमान्द्यञ्च रोमहर्षस्तथैव च।
कफावृते समाने स्युर्गात्राणाञ्चातिशीतता ॥२१८॥
व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः।
गात्रविक्षेपसङ्गश्च सन्तापश्च सवेदनः ॥२१६॥
गुरुता सर्वगात्राणां पर्वसंध्यस्थिजा रुजा।
व्याने कफावृते लिङ्गं गति सङ्गस्तथा रुजः ॥२२०॥
हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदशेफसोः।
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चाभिवर्त्तनम् ॥२२१॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्च्चप्रवर्तनम्।
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ॥२२२॥
लक्षणानान्तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च।
उपलक्ष्य भिषग् विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ॥२२३॥

वातों के स्थानों उनके कर्मों की हानि अथवा वृद्धि को देखकर अन्यान्य १२ आवरणों को उपलक्षित करके अभ्यङ्ग, अंजन, स्नेह, वस्त्र पानादि सब प्रकार से उष्ण क्रम और अनुष्णक्रम (शीतल न लिख कर अनुष्ण लिखना महत्वपूर्ण है) के व्यत्यास (अदल बदल से) चिकित्सा करनी चाहिए।

उदान में ऊपर की ओर (वमन से) योजना करे, अपान में (नीचे की ओर) करे, समान का (बीच में विना वमन विरेचन किए) शमन करे और तीनों प्रकार से व्यान की योजना करे। प्राण की चारों वायुओं से अधिक रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इसके स्वस्थान पर रहने पर ही जीवन की निश्चित स्थिति होती है। इस प्रकार विमार्गगामी तथा आवृत हुई इन वायुओं को स्वस्थान में लेजावे।

१--प्राण के पित्त से आवृत होने पर--मूर्च्छा, दाह, भ्रम शूल, दाह, शीतल पदार्थों की इच्छा और विदग्ध अन्न का वमन होजाता है।

२—प्राण के कफ से आवृत होने पर—थुकथुकी, छींक, डकार, श्वासोच्छ्वास में रुकावट, अरुचि और वमन के लक्षण मिलते हैं।

३—उदान के पित्त से आवृत होने पर—मूर्च्छा

नाभि और छाती में जलन, क्लान्ति, ओजभ्रंश तथा श्वास आदि लक्षण पाये जाते हैं।

४—उदान के कफ से आवृत होने पर—विवर्णता, वाणी का ग्रह, स्वरग्रह, दुर्बलता, गात्र का भारीपन, तथा अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

५—समान के पित्त से आवृत हो जाने पर—अत्यन्त स्वेद, प्यास, जलन, मूर्च्छा और बेचैनी तथा ऊष्मा का उपताप (या उपघात) हो जाता है।

६—समान के कफ से आवृत हो जाने पर—स्वेद की कमी, अग्निमान्द्य, रोमहर्ष, तथा गात्रों की अत्यधिक शीतलता हो जाती है।

७—व्यान के पित्त से आवृत होने पर—सर्वाङ्ग में दाह, क्लान्ति (exhaustion), गात्र का विक्षेपण का रुकना ज्वर वेदनासहित होता है।

८—व्यान के कफ से आवृत होने पर—सर्वाङ्ग में भारीपन पर्व तथा अस्थिसन्धियों में शूल, गति में रुकावट, और वेदना ये लक्षण होते हैं।

९—अपान के पित्त से आवृत होने पर—हल्दी का सा मूत्र, हल्दी के से रङ्ग का मल, गुद और मूत्रेन्द्रिय में जलन तथा स्त्री में रजोधर्म की अति प्रवृत्ति होने का लक्षण मिलता है।

१०—अपान के कफ से आवृत होने पर—भिन्न (फटाफटा), आमयुक्त, श्लेष्म से संसृष्ट, भारी मल तथा कफजमेह का आगमन हो जाता है।

पित्त तथा कफ के लक्षणों का मिश्रण देखकर विद्वान वैद्य उसे मिश्रावरण बतलावे।

यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरो स्थितौ।
दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयेतां यथानिजम् ॥२२४॥
आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणञ्चोदानमेव च।
गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः ॥२२५॥
विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम्।
स्यात् तयो पीडनात् हानिरायुषश्च बलस्य च ॥२२६॥
सर्वेऽपि ते परिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा।
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः ॥२२७॥

वायु का जो निर्दिष्ट स्थान है वहां इतर (कफ पित्त) के स्थित हो जाने पर वे दोनों दोष अपनी अपनी बहुविध व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

शास्त्रदर्शी विद्वान् प्राण और उदान वायु का कफ और पित्त से आवृत होना बहुत गम्भीरता से देखते हैं क्योंकि विशेष करके जीवन प्राण पर और बल उदान पर अवलम्बित है।

ये सभी (आवृतवातजन्य रोग) उपेक्षा करने से एक वर्ष बीतने के बाद ज्ञात होने से असाध्य या कष्टसाध्य हो जाती हैं। अर्थात् इनकी चिकित्सा एक वर्ष पुरानी होने के पूर्व करने से ही ये आसानी से ठीक हो सकता है अन्यथा नहीं।

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च।
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ॥२२८॥
तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत्।
पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणापि वा ॥२२९॥
भिषग्जितैस्ततः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत्।
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः ॥२३०॥

उन आवृत वातों की उपेक्षा करने से हृद्रोग, विद्रधि, प्लीहोदर, गुल्म, अतीसार नामक उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं। उस कारण से वैद्य पञ्चात्मकवात पित्त अथवा कफ से होने वाले वात के आवरण को जाने।

भले प्रकार जानकर फिर अभिष्यन्दरहित, स्रोतों को शुद्ध करने वाली ओषधियों से चिकित्सा करे।

कफपित्ताविरुद्धं यद् यच्च वातानुलोमनम्।
सर्वं स्थानावृतेऽप्याशु ततः कार्यं मारुते हितम् ॥२३१॥
यापना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः।
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम् ॥२३२॥
रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते।
शैलस्यजतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा ॥२३३॥
लेहं वा भार्गवं प्रोक्तमभ्यसेत् क्षीरभुङ्नरः।
अभयामलकीयोक्तानेकादशसिताशतम् ॥२३४॥

वायु के सब स्थानों में आवृत होने पर शीघ्र जो कफ पित्त के विरुद्ध न हो तथा जो वातनुलोमक

और वायु में हित करने वाली हो वही चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रायः मधुर अनुवासन बस्तियों, यापना बस्तियों या बलाधिक्य को देखकर मृदु विरेचन हितकर होता है।

सब रसायनों का उपयोग इसमें प्रशस्त माना गया है विशेष करके शिलाजीत का तथा दूध के साथ गुग्गुल का—

अथवा दूधभोजी पुरुष भार्गव ऋषि द्वारा बतलाये लेह (च्यवनप्राश) का अथवा अभयामलकीय रसायनपाद में कही ग्यारह सौ पल मिश्री वाली ब्राह्मरसायन का अभ्यास करे।

अपानेनावृते सर्वं दीपनग्राहिभेषजम्।
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशय विशोधनम् ॥२३५॥

अपान से शेष वातों की आवृति होने पर दीपन ग्राही वातानुलोमक तथा पक्वाशय शोधक जो उन सब औषधों का (प्रयोग करे)।

इतिसंक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम्।
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद् वितर्क्य स्वयमेव तत् ॥२३६॥

इस प्रकार संक्षेपतया प्राणादि वातों की आवरणजन्य चिकित्सा कहदी गई है वैद्य स्वयं भले सोच विचार कर ही उसकी चिकित्सा करे।

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्यानुलोमनैः।
कफावृते कफघ्नैश्च भिषक्कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥२३७॥

पित्त के द्वारा वात के आवृत होने पर पित्तनाशक वातानुलोमक पदार्थों से तथा वात के कफ से आवृत होने पर कफनाशक प्रतिक्रिया वैद्य करे।

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथागतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्यापि कफस्य च ॥२३८॥
क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥२३९॥

लोक में वायु सूर्य चन्द्रमा की जैसे गति कठिनता से जानी जाती है उसी प्रकार शरीर में वात की पित्त की तथा कफ की भी गति दुर्विज्ञेय होती है।

वैद्य (जो) वातादि दोषों का क्षय, वृद्धि, समानता, तथा आवरण को जान लेता है (वह) चिकित्सा कर्म में कभी भी भ्रमित नहीं हुआ करता है।

तत्र श्लोकौः

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे
स्थानानि कर्माणि च देहधातोः।
प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान्
स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ॥२४०॥
प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति
क्रिया च तेषां निखिला निरुक्ता।
तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य
प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥२४१॥

वहां (उपसंहारात्मक) दो श्लोक (हैं कि)—स्थान के अनुसार पांच स्वरूप वाले देहधारक वायु के शरीर में स्थान, कर्म, प्रकोप के हेतु, कुपित हुआ वात, आवृत और अनावृत बनकर अपने स्थानों में और अन्य स्थानों में मनुष्यों के रोग उत्पन्न करता है। उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा कहदी गई है उसको देश सात्म्य ऋतु बल के अनुसार देखकर शास्त्र के मत के अनुसार आचरण करने वाला वैद्य उसे प्रयोग करे।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति के) अप्राप्त होने पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में वातव्याधिचिकित्सित नामक अट्ठाईसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

वातरक्त चिकित्सा

अथातो वातशोणितचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) वातरक्त चिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम् ।
पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥२॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः ।
हेतुलक्षणभेषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ॥३॥

अग्निहोत्र में होम करके ऋषियों के मध्य में बैठे हुए अग्नि के समान् तेजस्वी और एकाग्र (चित्त) गुरु पुनर्वसु (आत्रेय) को अग्निवेश ने (शरीरस्थ) वात तथा रक्त (दोनों) के (लोकस्थ) वायु और अग्नि के समान संसर्ग के हेतु लक्षण (तथा) औषधों को पूछा। उसके बाद गुरु ने उसके लिए क्रमानुसार (इस प्रकार) बतलाया।

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥४॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥५॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
प्रायशः सुकुमाराणां मिष्टान्नसुखभोजिनाम् ॥६॥
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम् ।

लवण-अम्ल-कटु-क्षार-स्निग्ध--उष्ण (तथा) अजीर्ण भोजनों से, गीले, सूखे, जलज, आनूपज, मांस, पिण्याक, मूलियों से, कुलथी, उड़द, सेम, शाक आदि पलल (मांस) गन्नों से, दही, कांजी, सौवीर, शुक्त, तक्र, सुरा आसवों से, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, क्रोध, दिन में सोना, (रात्रि में) जागने से, प्रायः कोमल प्रकृति वालों के, सुखपूर्वक मीठे पदार्थ सेवन करने वालों के तथा घूमने न जाने वालों के वातरक्त कुपित होता है।

अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् ॥७॥
कषायकटुतिक्ताम्लरूक्षाहारादभोजनात् ।
हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनात् ॥८॥
उष्णे चात्यध्वगमनाद् व्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ॥९॥
कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ।
खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ॥१०॥

चोट से तथा अशुद्धि से मनुष्यों के रक्त दूषित

हो जाने पर कषैले, कड़वे, चरपरे, थोड़े-सूखे आहार के सेवन से घोड़ा-ऊंट की सवारी (अन्य कोई) सवारी, जल क्रीड़ा, तैरना (तथा) लंघनों से उष्ण काल में तथा अत्यधिक पैदल चलने की विषमता से, मैथुन से, वेगों के रोकने से बढ़ा हुआ वायु बन्द हुए रक्त से मार्ग में रोका जाकर, सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देता है। उसे वातरक्त, खुड, वातबलास तथा आढ्यवात (इन नामों से) जानना चाहिए।

वातरक्त के स्थान

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः।
कृत्वादौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति ॥११॥

उसके स्थान दोनों हाथ, दोनों पैर, अंगुलियां, (तथा) सब सन्धियां हैं। आदि में हाथ और पैर में अपनी जड़ स्थित करके शरीर में फैलता है।

सौक्ष्म्यात्सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा।
तद्द्रवत्वात्सरत्वाच्च देहं गच्छत् सिरायनैः ॥१२॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादि संसृष्टं तास्ताः सृजति वेदना ॥१३॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ॥१४॥

सूक्ष्म होने के कारण, सब प्रकार गतिशील होने के कारण तथा रक्त के द्रव होने से, सर होने से, वह सारे शरीर में सिरा मार्गों द्वारा फैलता हुआ, पर्वों में वक्र होने के कारण रुककर, क्षुब्ध होकर, ठहरता है। स्थिर हुआ (वह) पित्तादि से मिलकर उन सब वेदनाओं का सृजन करता है। इस कारण से प्रायः उन्हीं सन्धियों में कष्ट करता है तथा मनुष्यों को उससे अत्यन्त कठिन तरह तरह की वेदनाएँ होती हैं।

वातरक्त—पूर्वरूप

स्वेदोत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥१५॥
जानुजङ्घोरुकट्यंस हस्तपादांगसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥१६॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥१७॥

स्वेद का अत्यधिक आना या न आना, (त्वचा पर) कृष्णता, स्पर्श का अभाव होना, घाव होने पर अत्यन्त पीडा, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, (देह में) अवसाद, फुंसियों की उत्पत्ति, घुटना-पिंडली (calf), जांघ, कमर, कंधे, हाथ, पैर, (और) अंगों की सन्धियों में तोद, स्फुरण, भेदनवत् शूल, भारीपन, सुप्तता (numbness), खुजली, सन्धियों में पीडा हो होकर बार बार नष्ट होजाती है, विवर्णता (तथा) मण्डलों का प्रकट होना (ये) वातरक्त के पूर्वरूप हैं।

वातरक्त—भेद तथा लक्षण

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥१८॥
कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः।
अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथेष्यते ॥१९॥
गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्।
श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥२०॥

उसे उत्तान (superficial) तथा गम्भीर (deep) दो प्रकार का कहते हैं त्वचा और मांस में आश्रित को उत्तान तथा अन्दर के धातुओं में आश्रित को गम्भीर कहते हैं। बाह्य में खुजली, दाह, पीडा, आयाम, तोद, स्फुरण, (तथा) संकोचों के द्वारा युक्त श्याव रक्त, तथा ताम्रवर्ण होती है। गम्भीर में शोथ, स्तब्धता, कठिनता, भीतर से अत्यन्त पीडा युक्त, श्याव, ताम्र, अथवा, दाहतोदस्फुरण और पाक वाला होता है।

रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुःसन्ध्यस्थिमज्जसु।
छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ॥२१॥
करोति खञ्जं पंगुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्।
सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥२२॥

निरन्तर पीड़ा (तथा) दाह से युक्त वेगवान् वायु सन्धि अस्थि और मज्जा में छेदने के समान पीड़ा करता हुआ (तथा) वक्रता उत्पन्न करता हुआ भीतर

विचरता है। शरीर में सब स्थान पर डोलता हुआ वह (रोगी को) खंजता, या पंगुता कर देता है सब लक्षणों से युक्त वातरक्त को उभयाश्रित (दोनों प्रकार का मिला हुआ combined) जानना चाहिए।

तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा।
संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम् ॥२३॥

वहां वात से अधिक में, रक्तपित्त में अथवा कफ की भी (अधिकता) होने पर दो या तीन दोषों का या सभी का संसर्ग होने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनको (तू) सुन।

वाताधिक वातरक्त

विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम्।
शोथस्य कार्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥२४॥
धमन्यंगुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलोत्तरे ॥२५॥

वातरक्त में वात के अधिक होने पर विशेष करके सिराओं में आयाम (खिंचने की सी पीडा), शूल, स्फुरण, तोद, शोथ का कालापन, रूक्षता तथा श्यावता की अधिकता या कमी। धमनी तथा अंगुलियों की सन्धियों का संकोच, अंगग्रह, अत्यन्त पीडा, (पेशियों में) आकुंचन (contraction) तथा स्तम्भन (stiffness) और ठण्डे पदार्थों से द्वेष (होता है)।

रक्ताधिक वातरक्त

श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः समं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि ॥२६॥

रक्त के अधिक होने पर शोथ, अत्यन्त पीडा तोद, ताम्रवर्णता (coppery coloration) खुजली तथा गीलेपन (क्लेद से) युक्त चिमचिमाहट (तरोंहट tingling) होती है (तथा वह) स्निग्ध रूक्ष (द्रव्यों से) शान्त नहीं होता है।

पित्ताधिक वातरक्त

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः।
रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥२७॥

दाह, शूल, मूर्च्छा, स्वेदाधिक्य, प्यास, मद (intoxication) भ्रम, लालिमा (rednees) पाक (पकना) भेदनवत् पीडा, और शोष ये पैत्तिक वात रक्त में (होते हैं)।

कफाधिक वातरक्त

स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे।
हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वं त्रिदोषजम् ॥२८॥

स्तिमितता, गुरुता, स्निग्धता, सुप्तता तथा मन्द मन्द वेदना कफजन्य (वातरक्त में देखी जाती है)। हेतुओं और लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्व तथा त्रिदोषज (वातरक्त को) जानले।

वातरक्त साध्यासाध्यता

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥२९॥

एक दोष का अनुगमन करने वाला (वातरक्त) नया साध्य, द्विदोषज साप्य, त्रिदोषज तथा जिसके उपद्रव हों (वह) असाध्य होता है।

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहः।
मूर्च्छा च मदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ॥३०॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः।
अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः ॥३१॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनकेन वापि यत्।
सम्प्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ॥३२॥
वर्जयेद्यच्च संकोचकरमिन्द्रियतापनम्।
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥३३॥

अनिद्रा, अरुचि, श्वास, मांस का कोथ (सड़ना gangrene) सिर का जकड़ना, मूर्च्छा, मद, पीडा प्यास, ज्वर, मोह, कम्पन, हिक्का, पंगुलता, विसर्प पाक-तोद-भ्रम-क्लम, अंगुलियों में टेढ़ापन (deformity) फोड़े, दाह मर्मग्रह, अर्बुद। इन उपद्रवों से युक्त (तथा) या अकेले मोह से युक्त अथवा जो स्राव वाला, विवर्ण, तथा स्तब्ध, और अर्बुद करने वाला तथा जो संकोचकारक और इन्द्रियों को सन्तप्त करने वाला वातरक्त छोड देना चाहिए। जो सम्पूर्ण उपद्रवों से युक्त न हो वह याप्य (तथा) निरुपद्रव

साध्य होता है।

वातरक्त-रक्तमोक्षण

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरेदसून् ॥३४॥

वायु शाखाओं की सन्धियों में प्रवेश करके रक्त के मार्ग को शीघ्र रोक देता है (इस प्रकार) एक दूसरे को रोक कर वेदनाओं से प्राणों को हर लेता है।

तत्र मुञ्चेदसृक्शृङ्गजलौकःसूच्यलाबुभिः।
प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम् ॥३५॥

ऐसी अवस्था में सींगी, जोंक, सुई, तुम्बी से प्रच्छन के द्वारा अथवा शिराओं से दोष के अनुसार तथा बल के अनुसार रक्त निकाले।

रुग्दाहतोदरागार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा।
शृङ्गैस्तु वै हरेत्सुप्ति कण्डूचिमिचिमायनाम् ॥३६॥

जोंक के द्वारा पीड़ा-दाह-शूल-तोद से पीडित (व्यक्ति का) रक्तस्राव करना चाहिए। (जहां) सुप्तता, कण्डु और चिमचिमाहट (हो वहां) सींग या तुम्बी से (रक्त का) निर्हरण करे।

देशाद्देशं व्रजत्स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा।

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हुए (प्रसरणशील) रक्त का सिराओं द्वारा या प्रच्छन से (रक्त मोक्षण करे)

रक्तमोक्षण निषेध

अङ्गग्लानौ न तु स्राव्यं रूक्षे वातोत्तरे च यत् ॥३७॥
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान्।
ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥३८॥
खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यपसेचनात्।
कुर्यात्तस्मात्प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत् ॥३९॥

अङ्गशोष होने पर तथा वातप्रधान रूक्ष (वातरक्त) में रक्तस्राव नहीं करना चाहिए (क्योंकि ऐसी दशा में) रक्तक्षय के कारण वायु गम्भीर शोथ, स्तम्भ, कम्प, स्नायु तथा सिराओं के रोग तथा संकोचयुक्त ग्लानि शोष (asthenia) को कर देता है। अतिरक्तमोक्षण से (वायु) खंजता (लंगडापन) आदि वातरोग तथा मृत्यु (तक) कर देता है इस कारण से (केवल) स्निग्ध (उपचित रोगी का) ही रक्त निर्हरण करे।

वातरक्तसामान्य-चिकित्सा

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।
रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्बस्तिकर्म च ॥४०॥
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते,

आदि में स्नेहन करके स्नेहयुक्त या रूक्ष, मृदु विरेचनों से विरेचन करना चाहिए तथा बार बार बस्तिकर्म (भी) प्रशस्त होता है। सेक, अभ्यङ्ग, लेप, अन्न (तथा) स्नेह प्रायः करके अविदाही वातरक्त में प्रशस्त होते हैं।

वातरक्त - विशेषचिकित्सा

विशेषन्तु निबोध मे ॥४१॥
बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः।
विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥४२॥
सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनबस्तिभिः।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥४३॥
विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः।
शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥४४॥
वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्।
कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥४५॥
कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते।
विदाहशोथरुक्कण्डुविवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत् ॥४६॥
रक्तपित्तोत्तरे दाहः क्लेदोऽवदरणं भवेत्।
उष्णैस्तस्माद्भिषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम् ॥४७॥

(अब) विशेष चिकित्सा (तू) मुझसे सुन।

१—बाह्य (वातरक्त को) आलेपन, अभ्यङ्ग, परिषेक (तथा) उपनाहनों से (तथा) २—विरेचन, आस्थापन बस्ति (तथा) स्नेहपान द्वारा गम्भीर (वातरक्त की) चिकित्सा करे। ३—घृत, तैल, चर्बी मज्जा का पीना मालिश करने तथा बस्तियों में प्रयोग

रने से। सुखोष्ण उपनाहों से वातप्रधान (वात-
क्त को) ठीक करे। ४—विरेचन, घृतपान, दुग्ध-
ान, परिषेक तथा बस्तियों के साथ तथा शीतल
ाहशामक उपचारों से रक्तपित्त प्रधान (वातरक्त को)
ीते। ५—कफप्रधान वातरक्त में हलकी वमन,
बहुत अधिक न हो इतना स्नेहन तथा सेक, लंघन
तथा सुखोष्ण लेप कफप्रधान वातरक्त में प्रशस्त होते
हैं। ६—कफवातप्रधान (वातरक्त में) शीतल लेपों के
कारण स्तम्भन से दाह-शोथ-शूल तथा खुजली की
वृद्धि होती है रक्तपित्तप्रधान वात में उष्ण लेपों से
दाह, क्लेद, दारणवत् (फटने की सी) पीडा, होती
है उस कारण से वैद्य दोषबल को जान कर चिकित्सा
करे।

वातरक्त में कुपथ्य

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा।
कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥४८॥

दिन में सोना, अत्यधिक गर्मी, व्यायाम, तथा
मैथुन, और गरम तथा कड़वे, गुरु और अभि-
ष्यन्दी नमकीन तथा खट्टे पदार्थों को छोड़ देवे।

वातरक्त में पथ्य

पुराणयवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिका।
भोजनार्थे रसार्थे वा विष्किरप्रतुदा हिताः ॥४९॥
आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः।
यूषार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥५०॥
सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी।
वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥५१॥
घृतमांसरसे भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत्।
व्यञ्जनार्थं, तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥५२॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम्।
एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥५३॥

पुराने गेहूं जौ, कोदों, शालि (तथा) साठी के
चावल भोजन के लिए अथवा विष्किरपक्षी(gallina-
ceous birds) तथा प्रतुदपक्षी (peckers birds)
मांसरस के लिए हितकर हैं। अरहर, चना, मूंग,
मसूर, मोठ सहित खूब घी डालकर वातशोणित में
यूष के लिए प्रशस्त होता है। चांगेरी, बेंत का अग्र-
भाग, मकोय, शतावर, बथुआ, पोई शाक तथा सुव-
र्चला (सूरजमुखी) का शाक घी तथा मांसरसों के
साथ भूना गया शाक सात्म्य के लिए देवे। तथा
गाय भैंस का दूध (भी) हित करता है। इस प्रकार
संक्षेप से वातरक्त की चिकित्सा कहदी गई है वह
सब ही फिर से विस्तारपूर्वक कहा जावेगा।

वातरक्त—घृतयोग

श्रावणीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः।
सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥५४॥

१—मुलहठी के साथ मुण्डी, क्षीरकाकोली,
जीवक, ऋषभक (सब) समभाग से (लेकर) दूध के
साथ (यथाविधि) सिद्ध किया गया घी वातरक्त
नाशक (होता है)।

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्।
काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत् ॥५५॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं यैः सिद्धं वातरक्तनुत्।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम् ॥५६॥

२—बला, अतिबला, मेदा, कौंच के बीज,
शतावर, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना और ऋद्धि
को पीसे (इस कल्क के साथ) चार गुना घी (घी से
चार गुने) दूध के साथ सिद्ध करे। (यह घृत) वात-
रक्तनाशक, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला और
ज्वरनाशक (होता है)।

त्रायन्तिका तामलकी द्विकाकोली शतावरी।
कशेरुका कषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम् ॥५७॥
दत्त्वा परूषकद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान्समान्।
पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥५८॥
एतत्प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम्।
वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥५९॥

३-परूषकघृत—त्रायमाण भुंइआमलकी, काकोली,
क्षीरकाकोली, शतावर, कसेरू (इनके) कषाय से
(तथा) इन्हीं के कल्क से समभाग फालसों, मुनक्का

गम्भारी के फलों तथा गन्ने के रसों को (तथा) विदारीकन्द स्वरस के साथ तथा चार गुने दूध से घी पकावे। यह प्रायोगिक घृत पारूषक कहा गया है (जो) वातरक्त, क्षतक्षीण, विसर्प तथा पैत्तिकज्वर में (हितकर होता है)।

द्वे पञ्चमले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम्।
मुद्गपर्णीं महामेदां माषपर्णीं शतावरीम् ॥६०॥
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम्।
पृथग्द्विपलिकान् कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६१॥
पादशेषे समान् क्षीरधात्रीक्षुच्छागलान् रसान्।
घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥६२॥
कल्कानावाप्य मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम्।
त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ॥६३॥
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम्।
वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाणं निकोचकम् ॥६४॥
खजराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकांस्तथा ।
एतैर्घृताढके सिद्धे क्षौद्रं शीते प्रदापयेत् ॥६५॥
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं सन्निधापयेत्।
कृतरक्षाविधिं चोक्षे प्राशयेदक्षसंमितम् ॥६६॥
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम्।
पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम् ॥६७॥
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत् ॥६८॥
बलवर्णकरं धन्यं वलीपलितनाशनम्।
जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम् ॥६९॥

४—जीवनीयघृत—दोनों (लघु तथा बृहत्) पञ्चमूल, श्वेतपुनर्नवा, एरण्डमूल, लाल पुनर्नवा, मुद्गपर्णी, महामेदा, माषपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी, सौंफ (या अधोपुष्पी), रास्ना, अतिबला, बला, अलग-अलग दो-दो पल लेकर एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से दो द्रोण) जल में पकावे। चौथाई शेष रहने पर १ आढक घी के साथ बराबर भाग दूध, आमलों का स्वरस, गन्ने का रस, बकरे के मांसरसों को मिलाकर दोनों मेदा, गम्भारीफल, नीलोफर, वंशलोचन, पिप्पली, मुनक्का, कमल के बीज, पुनर्नवा, सोंठ, क्षीरकाकोली, पद्माख, दोनों कटेरी, काकोली, सिंघाड़ा, कमरख, खूबानी, चिलगोजा, खजूर, अखरोट, बादाम फिन्दक तथा पिस्तों को (सब मिलाकर घी से चौथाई) डाल कर इनसे एक आढक घी सिद्ध करके उसमें शीतल होने पर (चौथाई भाग) शहद डाल दे। भले प्रकार सिद्ध हुआ जानकर रक्षा विधान करके पात्र में सुरक्षित रख दे। (और) एक अक्ष (कर्ष) खावे। पाण्डुरोग, ज्वर, हिचकी, स्वरभेद, भगन्दर, पसली का दर्द, क्षय, कास, प्लीहा, वातरक्त, क्षतक्षीणता, अपस्मार, अश्मरी, शर्करा तथा, सर्वाङ्गवध, एकाङ्गवध तथा मूत्ररोध को नष्ट करता है। बलवर्द्धक, वर्णवर्द्धक, धन्य वली और पलित रोग नाशक यह जीवनीयघृत वृष्य (virilific) तथा वन्ध्या को भी सुत प्रदान करने वाला है।

द्राक्षामधूकतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्।
पिबेद् घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥७०॥

५—अथवा मुनक्का मुलहठी (या महुआ) दोनों के क्वाथ से सिद्ध मिश्रीयुक्त घी पीवे तथा गिलोय के स्वरस में उबाला दूध पीवे।

जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम्।
मधुकं मधुपर्णीं च काकोलीद्वयमेव च ॥७१॥
मुद्गमाषाख्यपर्ण्यौ दशमूलं पुनर्नवाम्।
बलाऽमृताविदारीश्च साश्वगन्धाश्मभेदकाः ॥७२॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत्।
लाभतश्च वसामज्जधान्यप्रातुदवैष्किरान् ॥७३॥
चतुर्गुणेन पयसा तत्सिद्धं वातशोणितम्।
सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान् ॥७४॥

६—जीवक-ऋषभक दोनों, मेदा, अतिबला, शतावर, मुलहठी, मधुपर्णी (गिलोय या गम्भारी के फल) तथा दोनों काकोली, तथा मुद्गमाषपर्णियाँ दोनों, दशमूल, श्वेतपुनर्नवा, बला, गिलोय, विदारीकन्द, असगन्ध के साथ पाषाणभेद इनके कषाय और कल्कों से घी-तैल तथा जो प्राप्त हो सके (ऐसे) जांगल प्रतुद, विष्कर पक्षियों की वसा तथा मज्जा को चार गुने दूध के साथ सिद्ध करे। (यह घृत)

सब देहों में स्थित घोर वातव्याधियों को नष्ट करता है।

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी।
काश्मर्य्यात्मगुप्ता च वृश्चीरं द्वे बले तथा ॥७५॥
एषां क्वाथे चतुःक्षीरे पृथक् तैलं पृथग् घृतम्।
मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः ॥७६॥
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा।
खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे ॥७७॥

७—शालपर्णी, गोखुरू, बड़ी कटेरी, सारिवा-शतावर, गम्भारी, कौंच के बीज, श्वेतपुनर्नवा, बला, अतिबला, इनके क्वाथ से अलग अलग घी तैल को चार गुने दूध के साथ मेदा, शतावर, मुलहठी, जीवक, ऋषभकों (के कल्कों) से पकाकर एक मात्रा में तीन गुना दूध और डेढ़ गुनी मिश्री डालकर कौंचे से मथकर त्रिदोषज वातरक्त में पीना चाहिए।

वातरक्त में दुग्ध योग

तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छिताम्।
सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वापि पिबेत्पयः ॥७८॥

१—अथवा वैद्य रोगी को मीठा तैल, दूध और शक्कर खूब अच्छी तरह मिलाकर पिलावे अथवा घी तैल मिश्री शहद मिलाकर दूध पीवे।

अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसो द्विसितोपलः।
पाने प्रशस्यते तद्वत्पिप्पलीनागरैः शृतः ॥७९॥

२—एक प्रस्थ दूध को (चौथाई भाग) अंशुमती (शालपर्णी) के साथ दो पल मिश्री मिला कर पीना प्रशस्त होता है उसी प्रकार सोंठ पिप्पली से उबाला दूध (पिलाया जा सकता है)।

बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः।
श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः ॥८०॥

३—खरैंटी, शतावर, रास्ना, दशमूल और पीलु (इन) से तथा निशोथ, एरण्डमूल, शालपर्णी से सिद्ध दूध वात की पीडा को नष्ट करता है।

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्।
पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः ॥८१॥

४—अथवा पित्त और रक्त से आवृत वात वाला (रोगी) दोषों को अनुलोमन करने वाला गोमूत्र-युक्त धारोष्ण या निशोथचूर्ण डालकर दूध पिये।

क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥८२॥

५—या बहुत दोषयुक्त व्यक्ति विरेचन के लिए दूध के साथ एरण्ड तैल (castor oil) पीवे। उसके पच जाने पर दूध भात का भोजन करे।

वातरक्त में विरेचन योग

कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥८३॥

१—अथवा मनुष्य घी से छौंक कर हरड़ का क्वाथ पीवे अथवा दूध के अनुपान से निशोथचूर्ण द्राक्षारस के साथ पीवे।

काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाः।
शृतां पिबेद्विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुताम् ॥८४॥

२—गम्भारी, निशोथ, मुनक्का, त्रिफला, फालसे सहित उबालकर विरेचन के लिए नमक मिलाकर पीवे।

त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत्क्षौद्रेण संयुतम्।
धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिके ॥८५॥

३—या शहद मिलाकर त्रिफला के कषाय को पीवे या कफ के अधिक होने पर आमले, हल्दी, मोथों का क्वाथ पीवे।

योगैश्च कल्पविहितैरसकृत्तं विरेचयेत्।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम् ॥८६॥

वायु को मल से आवृत जान कर कल्पस्थान में कहे स्नेहयुक्त योगों से उसको बार-बार विरेचन देवे।

वातरक्त में वस्तिप्रयोगप्रशंसा

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः।
न हि वस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम् ॥८७॥

अथवा उसके मल को घी के साथ दूध की वस्तियों से निकाले। क्योंकि वस्ति से बढ़कर वातरक्त की कोई भी औषधि नहीं है।

बस्तिवङ्क्षण पार्श्वोरुपर्वास्थि जठरार्तिषु ।
उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः ॥८८॥

बस्ति (मूत्रसंस्थान), वंक्षणप्रदेश, पार्श्व, ऊरु, अस्थिपर्व, (और) उदर की पीड़ाओं में तथा उदावर्त में अनुवासन सहित निरूह बस्तियां प्रशस्त (होती हैं)।

बस्तिकर्म में प्रयुक्त तैल

दद्यात्तैलानि चेमानि बस्तिकर्मणि बुद्धिमान् ।
नस्याभ्यञ्जनसेके च दाहशूलोपशान्तये ॥८९॥

नस्य, अभ्यंग, परिषेकों में, (तथा) दाह और शूल की शान्ति के लिए बस्तिकर्म में बुद्धिमान् व्यक्ति (अधोलिखित) इन तैलों को देवे ।

मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते ।
तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः ॥९०॥
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः ।
स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः ॥९१॥
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः ।
जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखबालकैः ॥९२॥
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः ।
चतुःप्रयोगात्तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम् ॥९३॥
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा ।
वातासृक्पित्तदाहार्त्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ॥९४॥

१—मधुयष्ट्यादि तैल—मुलहठी की एक तुला के चौथाई बचे क्वाथ में एक आढक तैल बराबर दूध के साथ एक-एक पल सौंफ, शतावर, मूर्वा, क्षीर-विदारी, अगर, चन्दन, शालपर्णी, हंसराज, जटामांसी, दोनों मेदा, गिलोय, काकोली, क्षीरकाली, भुंइ आमलकी, ऋद्धि, पद्माख,जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दालचीनी, तेजपत्र, नखी, सुगन्धवाली, पुण्डरीक, मजीठ, सारिवा, इन्द्रायण की जड़, धनियां (या केवटी मोथा) से पकावे । वह (तैल) नस्य, अभ्यङ्ग, पान और बस्तिकर्म इन चार प्रयोगों से उपद्रव सहित, और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त, वातरक्त, पित्त, दाह, अरति और ज्वर का नाशक तथा बल और वर्ण बढ़ाने वाला है ।

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम् ।
मधूकोदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ॥९५॥
काश्मर्याढकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम् ।
शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ॥९६॥
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः ।
चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम् ॥९७॥
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम् ।
शृङ्गाटकं शृङ्गवेरं लवणं पिप्पलीं सिताम् ॥९८॥
जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत् ।
नस्याभ्यञ्जनपानेषु बस्तौ चापि नियोजयेत् ॥९९॥
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे ।
सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ॥१००॥
सुकुमारकमित्येतद्वातासृगामयनाशनम् ।
स्वरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ॥१०१॥

२—सुकुमार तैल—सौ पल मुलहठी, मुनक्का, खजूरों, फालसे, महुआ, नीली झिण्टी, मुञ्जातक (फिन्दक) एक एक प्रस्थ, गम्भारी के फल १ आढक चार द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से ८ द्रोण) जल में पकावे। आठवां भाग शेष रहने पर छानने पर उसमें एक आढक तैल आमले, गम्भारी, विदारीकन्द, गन्ना (इनके) बराबर भाग स्वरसों के साथ! चार द्रोण (या ८ द्रोण) दूध से एक एक पल कदम्ब, आमला, अखरोट, कमलगट्टा, कसेरू, सिंघाड़े, अदरख, सेंधानमक, पिप्पली, मिश्री, तथा जीवनीयगण की दस ओषधियां इनके कल्क से पकावे। तैल सिद्ध शीतल होजाने पर एक प्रस्थ शहद मिलावे। (इसे) नस्य, पान और बस्तिकर्म में भी प्रयोग करे। सम्पूर्ण वातरोग, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, सर्वाङ्गवात, एकाङ्ग वात, क्षतक्षीण, क्षतज्वर (इन) में वातरक्त-नाशक स्वरवर्ण, आरोग्यबल और पुष्टिदाता यह सुकुमारक तैल (है)।

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम् ।
रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः ॥१०२॥
पलानां शतकैर्भागैर्बलापञ्चशतं तथा ।
कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थांश्चाढकोन्मितान् ॥१०३॥

काश्मर्याणां मृद्वीकानां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि ।
साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शोषयेत् ॥१०४॥
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः ।
पिष्ट्वा त्रिपलिकांश्चैव चन्दनोशीरकेशरान् ॥१०५॥
पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम् ।
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत्सिद्धं सार्वयोगिकम् ॥१०६॥
वातरक्ते क्षते क्षीणे भारार्ते क्षीणरेतसि ।
वेपनोत्क्षिप्तभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ॥१०७॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं विषमज्वरम् ।
हन्यात्प्रसवनं चैतत्तैलाख्यममृताह्वयम् ॥१०८॥

३—अमृताद्यतैल—गिलोय, मुलहठी, लघुपञ्चमूल पुनर्नवा, रास्ना, एरण्डमूल, जीवनीय द्रव्य, जो मिल सकें प्रत्येक १००-१०० पल, बला ५०० पल, बेर, बेल, जौ, उड़द, कुलथी, एक एक आढक सूखे गम्भारी के फल एक द्रोण धोकर तथा कूट कर जल १०० द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से २०० द्रोण) में पकावे। चार द्रोण शेष रखे। उससे तथा तीन तीन पल चन्दन, खस, केसर, तेजपत्र, एला, अगर, कूठ, तगर, मुलहठी, को तथा आठ पल मजीठ को पीसकर (इनके) कल्क के साथ १ द्रोण तैल पाँचगुना दूध देकर पकावे। सिद्ध हुआ वह तैल सार्वयौगिक (नस्य, अभ्यंग, परिषेक, पान, वस्तिकर्म) रूप से वातरक्त में, क्षत० क्षीण, भार से पीडित, वीर्यक्षीणता, कम्प, मोच, अस्थिभंग (फ्रैक्चर), सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात, के रोगियों का, योनिदोष, अपस्मार, उन्माद, विषमज्वर को नष्ट करता है। यह श्रेष्ठ अमृतादितैल प्रसूतिकारक भी है।

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः ।
पृथक्पञ्चपलैर्भवलाचन्दनकिंशुकैः ॥१०९॥
जले शृतैः पचेत्तैलप्रस्थं सौवीरसंमितम् ।
लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥११०॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः ।
प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥१११॥
कुंकुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च ।
महापद्ममिदं तैलं वातसृग्ज्वरनाशनम् ॥११२॥

४—महापद्मतैल—कमल, वेतस, मुलहठी, काली जीरी, पद्माख, नीलोफर, दाभ, बला, चन्दन, टेसू के फूल अलग अलग ५-५ पल (यथा विधान) जल में उबाल कर १ प्रस्थ तैल सौवीरक (४ प्रस्थ) लोध्र, कालीयक, खस, जीवक, ऋषभक, नागकेसर, नव मल्लिका, लताकस्तूरी, तेजपत्र, कमलकेसर, पद्माख, पुण्डरीक, गम्भारी, जटामांसी, मेदा, प्रियंगु, केसर कश्मीरी प्रत्येक आधा पल और मजीठ करके एक पल को डालकर पकाले। महापद्म (नामक) यह तैल वातरक्त के ज्वरनाशक (है)।

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम् ।
स्यात्पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः ॥११३॥
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत् ।

५—खुड्डाकपद्मकतैल—पदमाख, खस, मुलहठी, हल्दी. इनके क्वाथ से राल, मजीठ, क्षीरविदारी काकोली, चन्दन इनके कल्कों को डालकर साधित तैल वातरक्त के दाह को नष्ट करता है।

शतेन यष्टिमधुकात्साध्यं दशगुणं पयः ॥११४॥
तस्मिंस्तैलं चतुर्द्रोणं मधुकस्य पलेन तु ।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥११५॥

६—यष्टिमधुक तैल—सौ पल मुलहठी से दसगुना दूध उसमें चार द्रोण तैल (और) मुलहठी (का पिसा हुआ कपड़छन चूर्ण) एक पल से सिद्ध करना चाहिए।

अथवा मुलहठी और गम्भारी के स्वरस से (मुलहठी का पूर्वोक्त कल्क डालकर पूर्वोक्त मात्रा में तैल सिद्ध करना चाहिए)।

मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे ।
क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेवं मधुकाच्छते ॥११६॥
सिद्धं देयं विषोन्मादवातास्रश्वासकासनुत् ।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ॥११७॥

७—शतपाक मधुपर्णी तैल—मुलहठी का एक पल, पीसकर एक प्रस्थ तैल चौगुने दूध में सिद्ध करें। उसी प्रकार सौ बार करके अर्थात् एक बार सिद्ध १ प्रस्थ तैल में पुनः एक पल मुलहठी और चार गुना

दूध डाल पुनः सिद्ध करें। इस प्रकार सौ बार करते जावें इस प्रकार मुलहठी से सौ बार सिद्ध होने पर विष, उन्माद, वातरक्त, श्वास-कासनाशक, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला, दाहनाशक उस तैल को) देना चाहिए।

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं तथा।
सहस्रं शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥११८॥
रसायनं श्रेष्ठतममिन्द्रियाणां प्रसादनम्।
जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥११९॥

८—बला तैल—खरैटी के क्वाथ और कल्क दोनों से समभाग दूध मिलाकर इस प्रकार सौ बार या हजार बार सिद्ध किया गया तैल वातरक्त तथा वातनाशक श्रेष्ठ रसायन इन्द्रियों का प्रसादक, जीवनीय, बृंहणीय, स्वरसाधक, शुक्र तथा रक्त के दोषों का नाशक होता है।

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥१२०॥

९—गिलोय के रस और दुग्ध दोनों से अथवा अंगूर के स्वरस के साथ अथवा मुलहठी और गम्भारी के रस से सिद्ध तैल वातरक्तनाशक (होता है)।

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्।
प्रभूते मथितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत्परम् ॥१२१॥

१०—कांजी एक आढक (द्रवद्वैगुण्य से २ आढक) में (एक प्रस्थ) तैल चौथाई राल को उबाल कर फिर जल में खूब मथकर रखें (यह इमल्शन) श्रेष्ठ ज्वर और बेचैनी नाशक है।

समधूच्छिष्टमञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्।
पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद्वातरक्तरुजापहम् ॥१२२॥

११—पिण्डतैल - मोम के साथ मजीठ, राल के साथ सारिवा को लेकर उनसे सिद्ध किया गया पिण्ड तैल (बनता है) वह वातरक्त के शूल का नाश करता है।

दशमूलशृते क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा ॥१२३॥

दशमूल से उबाला दूध शीघ्र शूलनाशक है। (यह) प्रायः वातप्रधान (वातरक्त में) परिषेक (के रूप में प्रयुक्त होती है) उसी प्रकार सुखोष्ण घी से (भी परिषेक किया जा सकता है)।

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्।
स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥१२४॥

चारों प्रकार के स्नेहों (घृत, तैल, वसा, मज्जा) मधुर द्रव्यों से (यथा विधान) सिद्ध करके स्तम्भ, आक्षेपक, और शूल से पीडित को (गर्म करके) तथा दाह में (शीतल रूप में) परिषेक करें।

तद्वद् गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः।
निःक्वाथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ॥१२५॥

उसी प्रकार गाय-भेड़-बकरी के दूध तैल मिलाए हुए या जीवनीय द्रव्यों का अथवा लघुपञ्चमूल के क्वाथ से वैद्य (परिषेक करें)।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधि मस्त्वम्लकाञ्जिकम्।
सेकार्थं तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते ॥१२६॥

मुनक्का, गन्ने का रस, मद्यों को, दही का पानी, खट्टी कांजी को तथा तण्डुलोदक, शहद तथा शर्करोदक परिषेक के लिए प्रशस्त है।

कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः।
शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शने हितम् ॥१२७॥

चन्दन के साथ कुमोदनी, नीलोफर, श्वेतकमल, आदि से मणियों तथा हारों से शीतल जल से दाह में प्रोक्षण तथा स्पर्श करना हितकर (है)।

चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे।
शयने पुलिनस्पर्शे शीतमारुतवीजिते ॥१२८॥
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रियानार्यः प्रियंवदा।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शाः घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥१२९॥

चन्द्रमा की किरण, (बर्फ का) जल से सिञ्चित, रेशमी वस्त्र तथा कमल के पत्तों में शीतल वायु के झोकों में पुलिन (नदी या सरोवर के तटपर) शयन चन्दन से गीले स्तन और हाथ वाली प्रिय बोलने वाली नारियों के शीतल सुखदायक स्पर्श दाह, रुजा और क्लान्ति को नष्ट करते हैं।

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत्।
मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः ॥१३०॥
जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः।
सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपोऽर्तिदाहनुत् ॥१३१॥

लालिमायुक्त, शूलयुक्त (वातरक्त के) दाह में रक्त का मोचण कर मुलहठी, पीपल के पेड़ की छाल, दूर्वा, कमल अथवा जौके आटे से मुलहठी, दूध और घी (इनसे) अथवा जीवनीय द्रव्यों के घी के साथ पिसे हुए लेप से अरति और दाह नष्ट हो जाती है।

तिलाः प्रियालो मधुकं बिसमूलं च वेतसात्।
आजेन पयसा पिष्ट्वा प्रलेपो दाहरागनुत् ॥१३२॥

तिलादि लेप—तिल, चिरौंजी, मुलहठी, कमलनाल, कमल का कन्द, तथा वेतस से बकरी के दूध से पीसकर लेप करना दाह और (वातरक्त की) लाली को नष्ट करता है।

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः।
सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ॥१३३॥
लेपो रुग्दाहवीसर्पं रागशोफनिवारणः।
पित्तरक्तोत्तरेत्वेते

प्रपौण्डरीकादि लेप—पुण्डरीक, मजीठ, दारुहल्दी, मुलहठी, चन्दन, मिश्री, एरका नामक घास, सत्तू, मसूर, खस, पद्माख (इन) से लेप करना शूल, दाह विसर्प, लालिमा, शोफनाशक (होता है)।

(उपरोक्त) ये लेप आदि पित्तरक्तप्रधान (वातरक्त) में (लाभ करते हैं)।

वातप्रधान वातरक्त में लेपयोग

लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥१३४॥
वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुद्गपायसः।
तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहो रुजापहः ॥१३५॥

वातप्रधान (वातरक्त) में (प्रयुक्त होने वाले) लेपों को (तू) सुन—

वातनाशक द्रव्यों से साधित दूध मूंग से बनी स्निग्ध खीरों से अथवा (कूट कर पिण्डित किये तिल सरसों के पिण्डों से (किया गया) उपनाह शूलनाशक (होता है)।

औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः।
जीवनीयौषधस्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ॥१३६॥
स्तम्भतोदरुगायामशोथाङ्गग्रहनाशनाः।
जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ॥१३७॥

जलीय, प्रसह तथा आनूप जीवों के मांस से बनाये संस्कारयुक्त वेशवार जीवनीय औषध और स्नेहयुक्त उपनाह में प्रयुक्त होते हैं। अथवा जीवनीय औषधों से सिद्ध दूधयुक्त वसा का प्रयोग स्तम्भन, तोद, शूल आयाम, शोथ, अङ्गग्रहनाशक होते हैं।

घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः।
लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद्भृष्टाः पयसि निर्वृताः ॥१३८॥

झिण्टी (पियाबांसे) की जड़, जीवन्ती, बकरी का दूध पीस कर लेप करना या उसी प्रकार तिलों को भून कर फिर दूध में बुझाकर लेप करना (भी वातिक वातरक्त में हितकर है)।

क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च।
कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाऽनिलेऽधिके ॥१३९॥

अथवा अधिक वात में दूध में पिसी अलसी का तथा एरण्ड के बीजों का लेप अथवा सौंफ (या सोया) का लेप शूल नष्ट करने के लिए करे।

समूलाग्रच्छवैरण्डक्वाथे द्विप्रास्थिकं पृथक्।
घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ॥१४०॥
कल्कार्थं जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम्।
हरिद्रोत्पल कुष्ठैलाशताह्वाश्वहनच्छदान् ॥१४१॥
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत्।
मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ दत्त्वाऽशीतेऽवतारिते ॥१४२॥
शूलेनैषोऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले।
वातरक्ते क्षते भग्नं खञ्जे कुब्जे च शस्यते ॥१४३॥

जड़, कोमल शाख, और एरण्ड के साथ आनूप देश के पशुपक्षियों का घी, तैल, वसा तथा मज्जा २-२ प्रस्थ अलग-अलग को जीवनीय १० द्रव्य, गोदूध, बकरी का दूध, हल्दी, नीलोफर, कूठ, इलाइची, सौंफ, कनेर के पत्तों और अर्जुन के फूल को अलग-अलग १ पल की

मात्रा को कल्क के लिए लेकर (उक्त स्नेहों को) सिद्ध करे। फिर गरम में ही ८ पल मोम देकर उतार ले। यह लेप सन्धिगत वायु में अङ्गों के शूल के कारण बेचैन अङ्गों का किया जाता है। बहने वाले वातरक्त में, अस्थिभग्न में, खञ्जता तथा कुब्जता में प्रशस्त माना जाता है।

शोफगौरवकण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे।
मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ॥१४४॥

शोफ (oedema), गुरुता, खुजली आदि से युक्त कफप्रधान (जो वातरक्त होता है) उसमें गोमूत्र, यवक्षार सुरा के साथ पकाया गया घी, अभ्यङ्ग (मालिश) करने में हितकर (होता है)।

पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम्।
सिद्धं समधुशुक्तं स्यात्सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे ॥१४५॥

पद्मकादि घृत—पद्माख, दालचीनी, मुलहठी के साथ और सारिवा इनसे मधुशुक्त के साथ (यथा विधान) सिद्ध घृत कफप्रधान वातरक्त में परिषेक तथा अभ्यङ्ग में (प्रयुक्त किया जाता है)।

क्षारस्तैलं गवां मूत्रं जलं च कटुकैः शृतम्।
परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफोत्तरे ॥१४६॥

कफप्रधान वातरक्त में यवक्षार, तैल, गोमूत्र, तथा कटुक द्रव्यों से उबाला गया घृत परिषेक में अधिक प्रशंसा प्राप्त करते हैं।

लेपः सर्षपनिम्बार्कहिंस्रा क्षारतिलैर्हितः।
श्रेष्ठः सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससक्तुभिः ॥१४७॥

सरसों, नीम, मदार, हींस, यवक्षार, तिलों से कैथ, दालचीनी, क्षीरों से सत्तुओं से सिद्ध घी का लेप श्रेष्ठ है।

गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्।
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे ॥१४८॥

वातकफ प्रधान वातरक्त में घर का धुआं, वचा, कूठ, सोया, हल्दी, दारुहल्दी, (इन) का प्रलेप शूलनाशक है।

तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका।
दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं वातकफार्तिनुत् ॥१४९॥

अम्लद्रव्यों से पीसे गये तगर, दालचीनी, सोया, इलाइची, कूठ, मोथा, रेणुका, देवदारु तथा व्याघ्रनख वात कफ और रक्त से—

मधुशिग्रोर्हितं तद्वद्बीजं धान्याम्लसंयुतम्।
मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे ॥१५०॥

उसी प्रकार कांजी से पीसे गये मीठे सहंजन के बीज लेप करना हितकर होता है। थोड़े समय लिप्त रहने के पश्चात् वातकफप्रधान रक्तपित्त का सिञ्चन (परिषेक) अम्लवर्ग के द्रव्यों (विशेष करके कांजी) से करे।

त्रिफलाव्योषपत्रैलास्त्वक्क्षीरीं चित्रकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं रोमशं वृषकत्वचम् ॥१५१॥
ऋद्धिं तामलकीं चव्यं समभागानि पेषयेत्।
कल्कं लिप्तमयस्पात्रे मध्याह्ने भक्षयेत् ततः ॥१५२॥
वर्जयेद्दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च।
वातस्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम् ॥१५३॥

त्रिफलादिक कल्क—बराबर हरड़ बहेड़ा आमला, सोंठ मिर्च पिप्पली, तेजपत्र, इलाइची, दालचीनी, वंशलोचन, चित्रक, बच, ऋद्धि, भुंईआमलकी, चव्य पीसले। उसे लोहे के पात्र में सवेरे के समय लीपकर दोपहर को भक्षण करे। (साथ में) दही सिरका (आदि खट्टे पदार्थ) क्षार तथा विरुद्ध भोजनादि छोड़ दे। सब दोषों से भी युक्त वातरक्त में शूल से दुखी में (यह योग) परम हितकर (है)।

बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम्।
चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित् ॥१५४॥

विकल्प का वेत्ता वैद्य ऊहापोह (तर्क वितर्क) से दोषों के बलाबल को तथा स्थान विशेष को जानकर इस चिकित्सा को करे।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा।
अति वृद्ध्याऽनिलेनादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ॥१५५॥

मेद की या कफ की अत्यधिक वृद्धि होने से मार्ग के अवरुद्ध होजाने के कारण कुपित हुए वात में आरम्भ में स्नेहन और बृंहण क्रिया प्रशस्त नहीं होती।

व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः ।
तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत्कफमेदसी ॥१५६॥

(ऐसे अवसर पर) व्यायाम, संशोधन कर्म, अरिष्ट-पान, गोमूत्रपान (इन) से, विरेचन द्रव्यों से, तक्र और हरड़ के प्रयोगों से कफ मेद वाले (के कफ और मेद को) क्षीण करे।

बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह ।
वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥१५७॥

बोधि वृक्ष (पीपल का पेड़) के कषाय को शहद के साथ पीवे। (इससे) त्रिदोषात्मक दारुण वातरक्त भी शीघ्र (वैद्य) जीतले।

पुराणयवगोधूमशीध्वरिष्टसुरासवैः ।
शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ॥१५८॥

पुराने जौ, पुराने गेहूँ, पुराना सीधु, पुराना अरिष्ट, पुराना मदिरा और पुराने आसवों तथा शिलाजीत के प्रयोगों से तथा शहद और गुग्गुलु के (प्रयोगों से) कफ और मेद को पहले जीतकर (तब) बात में वातरक्तनाशक चिकित्सा करे।

पश्चाद्वाते क्रियां कुर्याद्वातरक्तप्रसादनीम् ।
गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेद्वा तद्विवर्जयेत् ॥१५९॥

गम्भीर वातरक्त यदि रक्त (वायु से) आक्रान्त हो जावे तो उसको वात के समान (चिकित्सा द्वारा) जीते।

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति ।
भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥१६०॥
तयोः क्रियाविधातव्या भेदशोधनरोपणैः ।
कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ॥१६१॥

रक्तपित्त की अत्यन्त वृद्धि होने से वातरक्त शीघ्र पाक को प्राप्त होता है और उसके फूट जाने पर विदग्ध (putrid) रक्त या पूय (pus) हो बहता है। उन दोनों (पूय तथा रक्त) की चिकित्सा भेदन (या वेध) शोधन और रोपण (पदार्थों) द्वारा करनी चाहिए। और उपद्रवों की अपनी अपनी चिकित्सा उनके अपने (अधिकार में वर्णित) चिकित्सा से करे।

वक्तव्य—(४७७) शास्त्रीय विवेचन के अनुसार वातरक्त एक सुकुमार और कोमल प्रकृति के व्यक्तियों को होने वाला रोग है। स्थूल और सुखपूर्वक जीवन बिताने वालों में भी यह बहुत पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य रोगों की तरह यह रोग पहले गरीब को न होकर अमीरों को ही होता है। सुश्रुत ने वातरक्त को वातव्याधि के अन्तर्गत ही कहा है। विजयरक्षित ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है—नव सुश्रुते वातरोगाध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र सङ्ग्रहे पृथक् पाठः? उच्यते सत्यपि वातरोगत्वे निदान वैशिष्ट्याद्विशिष्ट दोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव सम्प्राप्ति कथनार्थं क्रिया विशेष ख्यापनार्थं च पृथक्करणम्। वातव्याधि में जो रक्तगतवात के लक्षण दिये हैं—

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारुंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥

उसमें ज्वर के साथ तीव्र शूल, स्तम्भ और त्वचा के रोग और कृशता के जो लक्षण दिये हैं उससे वातरक्त अलग है। वातरक्तंहिदुष्टेन वातेन दुष्टेन रक्तेन च विशिष्ट सम्प्राप्तिकं विकारान्तरम्। जब प्रवृद्ध वात प्रवृद्धरक्तके द्वारा मार्ग में अवरुद्ध होजाता है तब वह कुपित होकर रक्त को और भी दुष्ट बना देता है। रक्त के दुष्ट होने के चरक ने अलग कारण दिये हैं—अभिघातादशुध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् तथा वातदुष्टि के पृथक् हेतु बतलाये हैं—उष्णे चात्यध्ववैषम्याद्व्यवायाद् वेगनिग्रहात् वायुः विवृद्धः आदि। इस प्रकार वायु और रक्त दोनों ही वातरक्त में आरम्भ से ही दूषित होकर हाथों, पैरों, अंगुलियों, सब सन्धियों में वातरक्त की उत्पत्ति होती है। वातरक्त प्रधानतया सन्धियों का रोग है—

करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात् प्रायेण सन्धिषु ।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहानृणाम् ॥

अत्यन्त दुस्सह वेदना की सन्धियों में व्याप्ति वातरक्त का मुख्य लक्षण है। वातरक्त का पर्याय खुडवात या खुड्ड-वात है। खुड का अर्थ सन्धि करने से यह रोग संधिवात भी कहा जासकता है सन्धिशैथिल्य नामक लक्षण तो इसके पूर्वरूप में ही प्राप्त होता है जानु जंघा ऊरु कटि अंसपाद तथा अन्य अंगों की सन्धियों में निस्तोद, स्फुरण, भेदन,

गुरुत्व,सुप्ति,कण्डू का होना तथा सन्धिषु सम्भूत्वाभूत्वा नश्यति. चासकृत् बार बार सन्धियों में दर्द होहोकर पुनः नष्ट होता है। और रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु। छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वन्ति वेगवान्॥ इसमें स्पष्ट ही रोग अस्थिसन्धियों तथा अस्थि मज्जान्तर्गत बतलाया है। अस्तु, वातरक्त सन्धिगत रोग प्रमुखतया है। इसके उत्तान और बाह्य दो रूप लक्षणों की कमीवेशी के अनुसार दिये गये हैं तोद स्फुरण आंकुचनादि लक्षण बाह्य में मिलते हैं और दाह तोद स्फुरणपाक आदि लक्षण ही गम्भीर स्वरूप के वातरक्त में मिलते हैं अस्तु पाक तक गया हुआ वातरक्त गम्भीर और रुजा तक ही रहा हुआ बाह्य वातरक्त हुआ करता है। शूल वात का, दाह शोथ पित्त का सुप्ति कफ का और तोद रक्त का लक्षण इसमें मिलता है। किसी में किसी दोष की प्रधानता रहती है किसी में किसी दोष की, पर वास्तविकता तो यह है कि इस रोग में चारों ही दोष अपना अपना कर्म करते हैं। जब एकाधिक दोष का प्रकोप अधिक भीषण होजाता है तो उसका सिद्ध करना कठिन पड़ जाता है एक दोषज सरलता से ठीक होता है। पर सत्य तो यह है कि लोक में वातरक्त का जो रूप देखा जाता है वह तो याप्य का है। रोग आता है दवाओं से दब जाता है और पुनः उत्पन्न होजाता है। बरसों यह क्रम चलता है।

इसकी चिकित्सा में रक्त का मोक्षण महत्त्व का स्थान रखता है। हमारा कथन यह है कि अगर मुक्त हुए रक्त का सूचीवेध द्वारा पेशी में अन्तः क्षेपण कर दिया जावे जिसे आटोहीमो थिरैपी कहते हैं तो वात और रक्त दोनों के दोषों को सुधारकर वातरक्त को नष्ट करने का शरीर को बहुत अधिक अवसर मिल सकता है। रक्तमोक्षण के अनेक तरीके प्राचीन काल में थे पर आज तो सिरिंज और सूची के द्वारा ही इसे यथावश्यक मात्रा में निकालने से शास्त्र पर कोई सङ्कट उपस्थित नहीं होता। अधिक रक्तस्राव से खञ्जता और मृत्यु तक होसकती है इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए।

वातरक्त की दो प्रकार की चिकित्सा शास्त्र में वर्णित हैं। साधारण और असाध्य स्निग्ध या रूक्ष विरेचन और बार बार एनीमा देने का अद्भुत और अकसीर विधान आयुर्वेद में पाया जाता है। सेचन, मालिश आदि बाह्य उपचारों की भी कमी नहीं है। जब वातरक्त बाह्य स्वरूप का हो तब बाह्योपचार उपनाहन, परिषेकादि पर अधिक ध्यान देना होता है गम्भीर में विरेचनस्थापनादि का ध्यान करना पड़ता है। गुरु और अभिष्यन्दी पदार्थों को छोड़ना विशेष करके लवण और अल्पवर्ग के द्रव्यों से छुट्टी पाने की भी शास्त्राज्ञा है। बहुसर्पिष्क दालों का प्रयोग पुराने गेहूं जौ शालि का प्रयोग बतलाकर गाय भैंस बकरी के दूध को पीना श्रेयस्कर बतलाया गया है। रक्त की गर्मी और वात की रूक्षता इन दोनों को नष्ट करने में घृत जितने उपयुक्त होते हैं अन्य पदार्थ नहीं। इसी कारण आचार्य ने वातरक्त में कई घृत योग लिखे हैं। वात की अधिकता में तैलों का भी प्रयोग हितावह बतलाया गया है।

न हि वस्तिसमं किञ्चिद्वातरक्तचिकित्सितम्।

इस वाक्य को तो हमारे वैद्य भाई को जन्म भर नहीं भूलना चाहिए। क्योंकि वातरक्तनाशक बस्तियों के बराबर अन्यत्र कहीं कोई उपचार आयुर्वेद नहीं मानता, घी और दूध को बस्तियों में मिलाकर चढ़ाने का प्रयोग आयुर्वेद का ही है। इसकी महत्ता को फिजियालौजीस्ट ने अभी पूरी तरह नहीं समझा है। पर वे इतना तो जानते हैं कि स्थूलान्त्र जहां पानी का प्रचूषण करती है वहां घी और अन्य स्नेहों को भी चूस लेती है। फिजियालौजी के इसी सिद्धान्त की खोज किसने पहले की इसे पाठक सोचें। निरूह और अनुवासन दोनों प्रकार की बस्तियों का प्रयोग वातरक्त में एक सर्वसाधारण घटना है।

वातरक्त की चिकित्सा में रक्त के द्वारा प्राप्त दाह या तोद और वात के कारण व्याप्त वेदना या अरति को दूर करने के स्पष्ट लक्ष्य को लेकर ही तैलों का निर्माण किया गया है। मधुयष्ट्यादितैल सुकुमारकतैल अमृतादितैल या अन्य तैल पान, अभ्यंग, परिसेचन और बस्तिकर्म चारों प्रकार से वैद्यगण प्रयोग में लाते हैं। वातरक्त चिकित्सा में परिषेकों (affusions) का भी बड़ा महत्व है। आचार्य ने दाहनाशक और शूलनाशक योगों को खासतौर पर अलग अलग लिखा है। वैसे जिस दोष का प्राबल्य हो उसको नष्ट करके साम्य स्थापित

रना आयुर्वेदीय परम्परा है पर दाह और शूल को दूर करने के लिए विशेष प्रयत्नशील होना वातरक्तीय चिकित्सा प्रणाली की विशेषता है।

हमने यत्नपूर्वक चरकोक्त रोगों को आधुनिक रोगों के साथ सामञ्जस्य बिठाने के प्रयत्न में अनुत्साह प्रगट किया है। उसी दृष्टि से हम यह बात पाठक पर ही छोड़ते हैं कि वातरक्त आधुनिक दृष्टि से क्या है। अकारण अपना मत थोपने की मध्यकालीन परिपाटी ने बड़ा भ्रम उत्पन्न किया है। आयुर्वेद ने अपने इस रोग का वर्णन बिल्कुल साफ साफ किया है उसकी पूरी पूरी चिकित्सा बतलाई है अतः वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह इतस्ततः बिना भटके हुए चरकोक्त वर्णन को पढ़कर बाह्याभ्यन्तरीय अतीव अमोघ उपचारों का प्रयोग करे। आधुनिक चिकित्सक जहां इसकी याप्यता को दूर करने में असमर्थ रहे हैं वैद्यों ने सहस्रों वर्षों से इसका सफलतापूर्वक उपचार किया है। विश्वास ही फलदायक मानकर डटना वैद्य का कर्त्तव्य है।

अध्यायोक्त विषय

तत्रश्लोका—

हेतुः स्थानानि मूलं च यस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
कुप्यति प्राक् च तद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम् ॥१६२॥
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः।
साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला ॥१६३॥
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा।
महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया ॥१६४॥

वहां (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)—

वातरक्त के हेतु स्थान मूल तथा जिस कारण से यह सन्धियों में कुपित होता है वातरक्त का जो पूर्व रूप और द्विविध का (जो) लक्षण (है) तथा दोषाधिक्य (की दृष्टि से) वातादि से विभिन्न वातरक्तों के लक्षण उपद्रव साध्य याप्य असाध्य (निरूपण) तथा साध्य वातरक्त की चिकित्सा संक्षेप विस्तारपूर्वक तथा उसकी आवस्थिकी चिकित्सा अग्निवेश के लिए महर्षि द्वारा निर्दिष्ट की गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल-सम्पूरिते चिकित्सास्थाने वातशोणित चिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

इस प्रकार अग्निवेशकृत तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति) की अप्राप्ति पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में वातरक्तचिकित्सित नामक उन्तीसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

चरकसंहिता

चिकित्सास्थानम्

त्रिंशोऽध्यायः

योनिव्यापत् चिकित्सा
(Gynaecology in Charaka Samhita)

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥१॥

अब आगे (हम) योनि व्यापचिकित्सित (नामक अध्याय का) व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् (पुनर्वसु) आत्रेय ने कहा ॥१॥

तीर्थदिव्यौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः ।
पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते ॥२॥
विहरन्तं तपोयोगात् तत्वज्ञानार्थदर्शिनम् ।
पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽथ पृष्टवान् ॥३॥

दिव्य तीर्थ तथा ओषधिमान्, विविध धातु तथा शिलावान्, सुर सिद्ध (और) ऋषि सेवित पुण्यश्लोक हिमालय के पार्श्व भाग में विहार करते हुए तपोयोग से तत्त्वज्ञान के अर्थदर्शी जितात्मा पुनर्वसु को अग्निवेश ने पूछा।

वक्तव्य—(४७८) लोग कहते हैं कि भारत में शिमला, शिलांग, पचमढ़ी, मसूरी उटकमण्डादि पर्वतीय स्थानों की महत्ता अंग्रेजों के शासनकाल में बढ़ी उससे पूर्व भारतीय इनका महत्त्व न जानते थे और न इनके द्वारा प्राप्त होने वाले वैभव से ही प्रभावित थे। उपरोक्त श्लोक इसी का नकारात्मक उत्तर देने के लिए प्रमाणरूप में उपस्थित हुए हैं। हिमालय न केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से स्थान 'हैल्थ-रिजोर्ट' ही प्राचीन काल में रहा बल्कि वह रिसर्च स्कालर्स और ब्रह्मतत्त्वावलोकन करने वाले आचार्यों देवताओं सिद्धों और तपस्वियों के द्वारा सेवित प्रदेश रहा है। वहां के तीर्थ इसके आज भी साक्षी हैं। वहां पर धातुओं की प्राप्ति होती थी, असंख्य प्रकार की ओषधियां मिलती थीं।

भगवन् ! यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम् ।
तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः ॥४॥
तस्मात्तेषां समुत्पत्ति मुत्पन्नानां च लक्षणम् ।
सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया ॥५॥

हे भगवान् मनुष्यों की अपत्यों (सन्तानों) का जो परममूल स्त्रियां (हैं) उस (सन्तान) का विघात इन्हीं (स्त्रियों की) योनि में आश्रित रोगों के द्वारा किया जाता है। उस कारण से प्रजा पर अनुग्रह करने की कामना से चिकित्सासहित उन (रोगों) की उत्पत्ति, उत्पन्न हुए रोगों के लक्षण सुनने की इच्छा करता हूँ।

वक्तव्य—(४७९) प्राचीन शिक्षा प्रणाली का कितना सुन्दर आदर्श यहां उपस्थित है। गुरु वही पढ़ाता है जो शिष्य पढ़ना चाहता है शिष्य ने जो प्रश्न किया है उसी का उत्तर देना अर्थात् अध्यापन है ऐसी प्राचीन परम्परा थी। गुरु लैक्चर देते थे पर शिष्य की बुद्धि के विकासक्रम के अनुसार। आज इस प्रकार के प्रश्न को अश्लील माना जाता है पर अग्निवेश ने प्रजानुग्रह काम्यया कह कर कितने सौम्यभाव से यह पूछा है इस ओर ध्यान देना ही पड़ेगा।

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः ।
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ॥६॥

इस प्रकार शिष्य के द्वारा पूछे जाने पर अत्रि से उत्पन्न ऋषिश्रेष्ठ बोले। योनि के बीस व्यापद (रोग) रोग संग्रहाध्याय (सूत्रस्थान १९ वें अध्याय) में कहे गये हैं।

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च,

वे व्यापदें स्त्रियों के मिथ्या आचार से तथा आर्तव के दुष्ट होने से, बीजदोष के कारण तथा दैवात् उत्पन्न होती हैं।

वक्तव्य—(४८०) स्त्रियों के सम्पूर्ण योनि सम्बन्धी रोगों के १—मिथ्याचार (misuse of behaviour) २—आर्तवदुष्टि (menstrual disorder) ३—बीजदोष तथा (germinal morbidity) ४—दैवीय दोष (destiny) ये चार कारण दिये हैं। बीसों रोगों में यही चार कारण प्रधानतया देखे जाते हैं। अपने आचरण की अपवित्रता से या मासिकधर्म की खराबी से या बीजोत्पादक यन्त्रों में विकार होने से या प्राक्तनकर्मों के कारण स्त्रीयोनि-रोग उत्पन्न माने जाते हैं।

१—वातला योनिमव्यापत

शृणु ताः पृथक् ॥७॥

वातलाहारचेष्टाया वातलाया समीरणः ।
विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् ॥८॥
स्तम्भं पिपीलिकासुप्तिमिव कर्कशतां तथा ।
करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चपरान् गदान् ॥९॥
सा स्यात्सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवानिलात् ।

उनको अलग अलग (तू) सुन।

वातकारक आहार, वातकारक चेष्टा करने वाली वातप्रकृति वाली स्त्री का बढ़ा हुआ वातदोष योनि

में पहुंच कर योनि में वेदना सहित तोद स्तब्धता, चींटियों के रेंगने की सी प्रतीति, कर्कशता, तथा सुप्ति, थकान तथा अन्य वातज रोगों को करता है। वायु के कारण वह योनि शब्द और पीडा के साथ झागदार पतले और रूक्ष आर्तववाली होती है।

२—पित्तला योनिव्यापत्

व्यापत् कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् ॥१०॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा।
भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता ॥११॥

कटु, अम्ल, लवण, क्षारीय आदि पदार्थों के सेवन करने से पित्तलाव्यापद होवे। दाह, पाक ज्वर और गर्मी से दुखी नीला, काला आर्तव बहाने वाली तथा अत्यन्तगरम शवगन्धी स्राववाली योनि पित्त से दूषित (होती है)।

३—श्लेष्मला योनिव्यापत्

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत्स्त्रियाः।
स कुर्यात्पिच्छिलां शीतां कण्डुग्रस्ताल्पवेदनाम् ॥१२॥
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम्।

अभिष्यन्दी द्रव्यों से अभिवृद्ध कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित करे तो वह (योनि) पिच्छिल (चिपचिपी) शीतल कण्डूग्रस्त (खुजली वाली) मन्द वेदना वाली, पाण्डुवर्ण की तथा पाण्डुपिच्छिल आर्तव बहाने वाली कर देता है।

४—त्रिदोषज योनिव्यापत्

समश्नन्त्या रसान्सर्वान्दूषयित्वा त्रयो मलाः ॥१३॥
योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः।
सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥१४॥

सब रसों का समशन (पथ्यापथ्य मिश्रित भक्षण) करने वाली स्त्री के योनि और गर्भाशय में स्थित तीनों दोष योनि को दूषित करके अपने लक्षणों से युक्त कर देते हैं। (जिससे) वह योनि दाह, शूल से पीड़ा वाली श्वेत पिच्छिल स्राव बहाने वाली होती है।

५—रक्तज योनिव्यापत्

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम्।
अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि सासृजा ॥१५॥

रक्तपित्तकारक द्रव्यों से बढ़े हुए पित्त के द्वारा दुष्ट हुआ नारी का रक्त योनि में अत्यधिक मात्रा में प्रवृत्त होता है। गर्भ की प्राप्ति होने पर भी (योनि मार्ग द्वारा रक्त का स्राव चलता रह सकता है)।

६—अरजस्का योनिव्यापत्

योनिगर्भाशयस्थं चेत्पित्तं संदूषयेदसृक्।
साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम् ॥१६॥

योनि तथा गर्भाशय में स्थित पित्त रक्त को दूषित कर दे तो कृशता तथा विवर्णता को उत्पन्न करने वाली (रजस्राव से रहित) वह अरजस्का (योनि) मानी गई है।

७—अचरणा योनिव्यापत्

योन्यामधावनात्कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः।
सा स्यादचरणा कण्डवा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ॥१७॥

न धोने (शुद्धि न करने) के कारण जन्तु (mycotic growth) उत्पन्न होकर खुजली कर देते हैं वह योनि अचरणा कहलाती है। उस खुजली के कारण स्त्री पुरुष (के साथ मैथुन करने की) अधिक आकांक्षिणी होजाती है।

८—अतिचरणायोनिव्यापत्

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः।
करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ॥१८॥

अति मैथुन से कुपित हुआ वायु स्त्री की योनि में शोथ (Oedema) सुप्ति (numbness) तथा शूल करता है वह (योनिव्यापद्) अतिचरणा माना जाता है।

९—प्राक्चरणा योनिव्यापत्

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवङ्क्षणम्।
रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥१९॥

अतिबाला (minor girl) के मैथुन (करने से) वायु (कुपित होकर उसके) पीठ, कमर, जांघ और वंक्षण प्रदेश को पीडित करता हुआ (उसकी) योनि को दूषित करता है। वह (योनिव्यापत्) प्राक्चरणा (कहलाता है)।

१०—उपप्लुता योनिव्यापत्

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिश्वासविनिग्रहात् ।
वायुः क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥२०॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम् ।
कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता ॥२१॥

गर्भवती स्त्री के कफकारक (पदार्थों के) निरन्तर सेवन से वमन और निश्वास की प्रवृत्ति का निग्रह करने से कुपित हुआ वायु कफ को योनि में लेजा कर दूषित कर देता है। (उसके कारण) तोद युक्त श्वेत आस्राव (discharge) अथवा कफ को स्रवती है। कफ और वात के रोग से व्याप्त वह योनि (व्यापत्) उपप्लुता (कहलाता है)।

११—परिप्लुता योनिव्यापत्

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात् ।
पित्तसंमूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥२२॥
शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवत् ।
श्रोणि वङ्क्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥२३॥

पुरुष सहवास के काल में पित्त प्रकृतिवाली स्त्री के छींक और डकार के निग्रह करने के कारण पित्त से संमूर्च्छित वायु योनि को दूषित कर देता है। सूजनयुक्त योनि स्पर्श सहने में अक्षम(tender)अरति के साथ नीला पीला रक्त स्रवती है। श्रोणि प्रदेश वंक्षण प्रदेश पीठ पीडा तथा ज्वर से आर्त स्त्री परिप्लुता (योनि व्यापत् से पीड़ित होती है)।

१२—उदावर्तिनी योनिव्यापत्

वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः ।
सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्य विमुञ्चति ॥२४॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम् ।
रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥२५॥

वेगों का उदावर्तन करने से (ऊपर की ओर ले जाने से) कुपित वात योनि में उदावर्तन (ऊर्ध्वगति) कर देता है। रुजा से आर्त वह स्त्री उदावृत्त (ऊर्ध्वगामी) आर्तव को कष्टपूर्वक त्यागती है। कहने का अभिप्राय यह है कि गर्भाशय में जो साधारणतया मासिकधर्म के समय एक प्रकार की संकोचनकारिणी तरङ्ग ऊपर से गर्भाशय मुख की ओर जाती हुई अपने साथ आर्तव को लाती है उसकी उस क्रिया में परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण वह तरंग ऊपर से नीचे न आकर नीचे से ऊपर की ओर जाने लगती है आर्तव का स्राव इसके कारण बड़े कष्ट के साथ होता है। आर्तव निकलने से थोड़ा चैन उसे पड़ जाता है। रजस् के ऊर्ध्वगामी होने के कारण बुद्धिमानों द्वारा (उसको) उदावर्तिनी योनि जानना चाहिए।

१३—कर्णिनी योनिव्यापत्

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः ।
कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥२६॥
रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता ।

अकाल में (समय के पूर्व) गर्भ से प्रवाहण करने वाली स्त्री का रुका हुआ वायु श्लेष्मा और रक्त के साथ मिल कर योनि में कर्णिका (जैसा मांसांकुर) उत्पन्न कर देता है आर्तव के मार्ग का अवरोध करने वाला उस कर्णिका के द्वारा वह (योनि व्यापत्) कर्णिनी माना गया है।

१४—पुत्रघ्नी योनिव्यापत्

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ॥२७॥
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ।

रूक्षता के कारण (कुपित) वात जब स्त्री के दुष्ट रक्तजन्य गर्भ को बारबार उत्पन्न होने के बाद नष्ट कर दे तो वह पुत्रघ्नी (योनिव्यापत्) मानी गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि रक्तदुष्टि जिसका प्रमुख कारण फिरङ्ग होता है के कारण गर्भधारण करने के थोड़े काल पश्चात् वायु द्वारा व्याप्त रूक्षता गर्भ को नष्ट करके निकाल दे तो ऐसी योनि व्याधि को पुत्रघ्नी मान लेना चाहिए।

१५—अन्तर्मुखी योनिव्यापत्

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ॥२८॥
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः ।
वक्रयत्याननं योन्याः सास्थिमांसानिलार्तिभि ॥२९॥
भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता ।

अत्यन्त तृप्तिपर्यन्त भोजन करने वाली अङ्ग को मिथ्या स्थिति (विषमासनों में) रखकर व्यवाय (मैथुन) कराने वाली स्त्री का अन्न के कारण कुपित हुआ वात योनि के स्रोतों (मार्ग) में स्थित होकर योनि के मुख को टेढ़ा कर देता है। वह (योनि) अस्थि मांस और वात की पीड़ाओं से अत्यन्त पीड़ायुक्त होकर मैथुन में अत्यन्त अशक्त (होजाती है वह) योनि (व्यापत) अन्तर्मुखी मानी गई है।

१६—सूचीमुखी योनिव्यापत्

गर्भस्यायाःस्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन् ॥३०॥
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात्सूचीमुखीं तु सा।

माता के दोष के कारण गर्भस्थित स्त्री की योनि को रूक्षता के कारण वायु दूषित करता हुआ सूक्ष्म छिद्रयुक्त द्वार (pin-point os) कर देता है। वह तो सूचीमुखी योनि (व्यापत् कहलाता है)।

१७—शुष्का योनिव्यापत्

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान्प्रकुपितोऽनिलः ॥३१॥
कुर्याद्विण्मूत्र सङ्गार्ति शोषं योनिमुखस्य च।

मैथुन के समय पर वेगों को रोकने वाली (स्त्री) का कुपित हुआ वायुदोष मल और मूत्र का सङ्ग (retention of faeces and urine तथा) अरति (पीडा या बेचैनी) तथा योनिमुख का शोष (colpoxerosis) कर देता है।

२७—वामिनी योनिव्यापत्

षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम् ॥३२॥
सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत्सा च वामिनी।

छै दिन पश्चात् या सात रात्रि के पश्चात् गर्भाशय में गया हुआ शुक्र शूल के साथ या बिना शूल के भी स्रवता है वह वामिनी (नामक योनिव्यापत् माना गया है)।

१६—षण्ढी योनिव्यापत्

बीजदोषात्तु गर्भस्यमारुतोपहताशया ॥३३॥
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा।

बीजदोष के कारण तो गर्भस्थ (कुपित) वात से उपहत (आघात प्राप्त) आशयवाली पुरुष (के साथ मैथुन करने) का द्वेष करने वाली और अस्तनी (स्तनों का विकास जिसका बहुत कम होपाया हो) स्त्री षण्ढी होती है। वह असाध्य होती है।

२०—महायोनि

विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात्कुपितोनिलः ॥३४॥
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः।
असंवृतमुखी सार्तिः सफेनार्तववाहिनी ॥३५॥
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववङ्क्षणशूलिनी।

कष्टदायक (मैथुन के समय के) आसनों का विषम मैथुन के कारण कुपित हुआ वात गर्भाशय और योनि के मुख को विस्तृत कर देता है। खुले मुख वाली पीड़ायुक्त, रूक्ष, भागदार रक्त बहाने वाली पर्व और वंक्षण प्रदेश में शूल करने वाली तथा उभरे हुए मांसवाली (वह) महायोनि (होती है)।

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः ॥३६॥

इस प्रकार इन लक्षणों के द्वारा योनि में उत्पन्न होने वाले बीस रोग कहे गये हैं।

वक्तव्य (४८१)—ऊपर चरक ने बीस प्रकार की योनियों के लक्षण और पहचान का खुलासा किया है। अब यदि हम इनका एक साथ विहंगावलोकन करें तो प्रगट होगा कि वातला, पित्तला तथा श्लेष्मला ३ योनिव्यापत्तियां तीनों दोषों का अलग-अलग योनि पर क्या प्रभाव पड़ता है उसे देखकर बतलाई गई हैं। उदाहरण के लिए वातलायोनिव्यापत् वातल आहार और चेष्टाओं के परिणामस्वरूप होता है। योनि में तोद, सुप्ति, कर्कशता, वेदना होती हैं चीटीं सी रेंगती हैं। पित्तलायोनि पित्तल आहार व्यवहार के कारण होती है। दाह पाक ज्वर के साथ-साथ नीला-पीला आर्तव का स्राव और दुर्गन्धयुक्त स्राव का होना विशेषतया देखा जाता है। श्लेष्मला योनि में खुजली बहुत उठती है कफकारक द्रव्य उसके कारक होते हैं। उससे चिपचिपा पाण्डुरवर्ण का आर्तव स्रवता है। त्रिदोषज योनि तीनों का मिश्र रूप है दाह शूलकण्डुयुक्त और श्वेत चिपचिपा स्राव उससे होता है। रक्तज योनि व्याधि पांचवीं है इसमें खूब रक्तस्राव होता है यहां तक कि गर्भस्थापित

होने पर भी मासिकस्राव होता रहता है। छटी योनि व्याधि अरजस्का है पित्त की तेजी के कारण रज का नष्ट होजाना और स्त्री को मासिकधर्म का अभाव होना इसमें मिलता है। रक्त की कमी (anaemia) ही इस रोग का मुख्य उत्पादक है। शास्त्रकार ने कार्कश्य और वैवर्ण्य को उत्पन्न करने वाला इसको इसी कारण बताया है। फिर अचरणा, अतिचरणा और प्राक्चरणा नाम से तीन योनि रोग कहे गये हैं। यौवन प्राप्ति के पूर्व मैथुन सुख में रत रहने वाली स्त्री प्राक्चरणा कहलाती है अत्यधिक मैथुन में सुख लेने वाली तरुणी को अतिचरणा कहते हैं और मैथुन सुख की आकांक्षा के कारण कण्डूमन्तयोनि लेकर हर समय मैथुन कराने की इच्छा रखने वाली स्त्री अचरणायोनि वाली कही जाती है। श्लेष्मला स्त्री के वेगों के धारण करने से उपप्लुता और पित्तला स्त्री के वेगों के धारण करने से परिप्लुता नामक योनि रोग बनते हैं। जब गर्भाशय का उदावर्तन होकर तरंगें ऊर्ध्वगामी बनती हैं तो उदावर्तिनी बनती है। प्रसव के पूर्व अधिक प्रवाहण करने से अंकुरोत्पत्ति जो गर्भाशय ग्रीवा के मुख पर देखी जाती है उससे कर्णिनी बनती है। गर्भाशय में वायु की रूक्षता के कारण और फिरंगादि कारणों से दुष्ट हुए रक्त के प्रभाव से गर्भस्राव की निरन्तर प्रवृत्ति वाली योनिव्याधि पुत्रघ्नी कही गई है। अनुचित रूप में भरपेट खाना खाकर मैथुन में रत स्त्री की योनि वक्र होकर अन्तर्मुखी का निर्माण करती है। सूचीमुखी योनि एक सहज व्याधि है जिसमें माता के गर्भ से ही कन्या की योनि का विकास नहीं होता और गर्भाशय मुख अति सूक्ष्म होता है। शुष्का योनि वायु के कारण बनती है। वामिनी योनि में वीर्य और रजस् का सम्मेलन होता नहीं, छै-छै सात-सात दिन के बाद वीर्य निकल जाता है। षण्ढता भी एक रोग है जो बीजदोष के कारण सहज या जन्मोत्तरकालीन दोनों प्रकार का देखा जाता है। मैथुनातिशय सेवन का परिणाम योनि के विवृत होने में होता है। गर्भाशय नीचे को खिसक जाता है उसका मुख खुल जाता है।

योनि शब्द से जैसा कि उसके रोगों से प्रगट है हम वैजाइना का उतना ग्रहण न कर गर्भोत्पादक अंग गर्भाशय, बीजवाहिनी, उसकी नाल और गर्भाशय मुख को लेते हैं। सूचीमुखी कहने से बाह्य योनिमात्र का सूचीमुख होना न पाया जाकर गर्भाशय का मुख ही इतना सूक्ष्म होता है कि उसमें मैथुन कालीन वीर्य प्रवेश ही नहीं कर पाता और परिणाम यह होता है कि स्त्री गर्भसाधना में असमर्थ रहती है। वामिनी भी बतलाती है कि गर्भाशय में गया हुआ वीर्य कुछ दिन बाद वापस निकल आता है। योनिगत (वैजाइना) वीर्य तो तत्क्षण बाहर आता है पर छै सात दिन बाद वीर्य का लौटना गर्भाशयगत रोग की ही सूचना है।

अतः जिस प्रकार बस्ति कहने से वृक्क गवीनी बस्ति और मूत्रेन्द्रिय का बोध होता है उसी प्रकार योनि कहने से स्त्री के सम्पूर्ण प्रजननाङ्गों को लिया जाता है।

योनिरोगों का अर्थात् स्त्री-प्रजननाङ्गों में होने वाली विकृतियों का जो वर्णन आयुर्वेद ने अभी उपस्थित किया है और जो चिकित्सा आगे लिखी है वह स्वतन्त्रतया अपने आयुर्वेदीय वैज्ञानिकों की मौलिक विचारणा पर अवलम्बित सत्य है। उसे देख कर अरे! ऐसा वे जानते थे यह न कह कर यह कहना आधुनिकों को श्रेयस्कर होगा कि धन्य हैं वे जन जिन्होंने इस विज्ञान में भी इतनी उन्नति की थी कि हम अब तक वहां तक पहुँचने में असमर्थ होरहे हैं। योनिरोगों के इस वर्गीकरण में एक कायचिकित्सक की दृष्टि से आवश्यक सारा तत्त्वज्ञान आगया है।

आधुनिक अपनी दृष्टि से उपरोक्त योनिरोगों को निम्न प्रकार समझते हैं।

(१) रक्तज—Menorrhagia
(२) अरजस्का—Amenorrhoea
(३) अचरणा—Colpitis myocotica
(४) अतिचरणा—Chronic vaginitis
(५) प्राक्चरणा—Deflorative vaginitis
(६) उपप्लुता—Leucorrhoea
(७) परिप्लुता—Acute vaginitis
(८) उदावर्तिनी—Dysmenorrhoea
(९) कर्णिनी—Endocervitis
(१०) पुत्रघ्नी—Tendency towards miscarriage
(११) अन्तर्मुखी—Inversion of uterus

(१२) सूचीमुखी—Pinpoint os or colpo-stenosis or Intantile uterus
(१३) शुष्का—Colpoxerosis
(१४) वामिनी—Profluvium seminis
(१५) षण्ढी—Gynandroid conditios
(१६)महायोनि—prolapse of the uterus

अन्य वैज्ञानिकों ने अपने अन्य मत भी इस सम्बन्ध में प्रकट किए हैं।

न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता।
तस्माद् गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ॥३७॥
गुल्मार्शः प्रदरार्दीश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम्।

इन दोषों से उपद्रुत (आक्रान्त) योनि शुक्र को नहीं धारण करती है उस कारण से स्त्री गर्भ को ग्रहण नहीं करती। गुल्म, अर्श, प्रदरादि अनेकों रोगों को स्त्री प्राप्त करती है तथा वातादि (दोषों) के द्वारा अत्यन्त पीडित होती है।

दोष निरूपण

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे ॥३८॥
परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मके मते।
कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ॥३९॥

इनमें से जो अन्तिम १६ होती हैं उनमें से आदि के दो (अरजस्का और रक्तयोनि) पित्त दोषज हैं, परिप्लुता तथा वामिनी वातपित्तात्मक मानी गई हैं। कर्णिनी, उपप्लुता वात कफ से होती हैं। शेष तो वातज (होती हैं)।

देहं वातादयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि।

वातादि दोष उनके शरीर को अपने अपने लक्षणों से पीडित करते हैं।

योनिरोग चिकित्सासूत्र

स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातलास्वनिलापहम् ॥४०॥
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च।
श्लेष्मलासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः ॥४१॥
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत्।

वातल योनिरोगों में विचक्षण वातनाशक स्नेहन, बस्ति आदि से उपचार करे। तथा पित्तज योनिरोगों में पित्तनाशक शीतल चिकित्सा करे। श्लेष्मज योनिरोगों में रूक्षोष्ण चिकित्सा करे। सन्निपात में तथा द्विदोषज योनिरोगों में मिश्र चिकित्सा करे।

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः ॥४२॥
पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत्पुनः।
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ॥४३॥
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता स्त्रिया मता।

दुःस्थित योनि (displaced uterus) होने पर स्नेहन और स्वेदन करके पुनः उसे अपने स्थान पर स्थापित करे। टेढ़ी योनि को हाथ से नवावे तथा संवृत मुख वाली के लिए वर्धन करे (बाहर निकली हुई योनि को (अन्दर की ओर) प्रविष्ट करे। विवृत (चौड़े मुख वाली) को चारों ओर से घेर कर छोटा करे। क्योंकि अपने स्थान से हटी हुई योनि शल्य रूप मानी गई है।

वक्तव्य—(४८२) ऊपर के श्लोकों में योनि की विविध विकृतियों में जो हस्तकौशल (manipulation) किया जाता है उसे स्पष्ट किया गया है। यह सब कार्य जो आचार्य ने वर्णन किए हैं ये साधारण क्रियाएँ न होकर विशिष्ट प्रणाली और मुख्य पद्धति द्वारा की जाने के लिए हैं सरल वैद्य उसे सहसा न करने लग जाय।

सर्वां व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ॥४४॥
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत्।

योनिरोग से पीडित सब स्त्रियों को स्नेहन स्वेदन कराके मृदु वमन आदि पञ्चकर्मों से ठीक करे।

सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ॥४५॥

(पञ्चकर्मों के द्वारा) सम्पूर्ण रूप से खूब शुद्ध हुई स्त्री का शेष कर्म (आगे) कहा जाता है।

वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदाहितम्।
औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ॥४६॥
सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत्।

वातव्याधिनाशक कर्म वात से पीडित (वातज योनि वालों के लिए) सदैव हितकर (होता है)।

जलीय, आनूपदेशीय मांसों से, तिल और चावलसहित दूधों से वातनाशक औषधों के साथ नाड़ीस्वेद कुम्भी स्वेदों से उपचार करे।

अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः ।
स्विन्ना कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः ॥४७॥

सेंधानमक तथा मीठा तेल मिलाकर (स्त्री की योनि को) चुपड़कर (फिर उसे) अश्म प्रस्तर और संकरस्वेदों से स्विन्न करके (तब) कोष्ण (गुनगुने) जल से शरीर को सींचकर वातनाशक मांसरसों को खिलावे।

नोट—नमक और तैल का लेपन शरीर का है या योनि का इसमें संशय करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि अष्टांग संग्रहकार ने स्वयं इस योग का उल्लेख इस प्रकार किया है—

योनिव्यापदि तु वातिक्यां लवण तैलाक्तां योनिं पिण्ड नाडीकुम्भीप्रभृतिभिः स्वेदयेत् । ततः सुखोष्णाम्बु परिषिक्तसर्वगात्रां जाङ्गलरसैर्भोजयेत् ।

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत् ।
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्षभकजीवकैः ॥४८॥
श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलमाषाख्यपर्णिभिः ।
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च ॥४९॥
पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरसिद्धं पेयं यथाबलम् ।
वातपित्तकृतान् रोगान्हत्वा गर्भं दधाति तत् ॥५०॥

बलादियमक—शालपर्णी, क्षीरविदारी, जीवन्ती, वीरा (काकोली), ऋषभक, जीवक, मुण्डी, पिप्पली, मुद्गपर्णी, पीलुपर्णी (मूर्वा) माषपर्णी, मिश्री, क्षीरकाकोली और काकनासा (इनके) कल्कों से एक आढक घी तथा तैल दो द्रोण बला के क्वाथ में (स्नेह से) चार गुना गोदुग्ध के साथ पकावे। सिद्ध होने पर बल के अनुसार पीना चाहिए। यह वातपैत्तिक रोगों को नष्ट करके गर्भ को धारण करता है।

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः ।
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः ॥५१॥
शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात् ।
साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत् ॥५२॥

काश्मर्यादिघृत—गम्भीरी, त्रिफला, मुनक्का, कसौंदी, फालसों के साथ, पुनर्नवा, दोनों हल्दी, काकनासा (तथा) झिण्टी के साथ शतावरी और गिलोय का एक एक कर्ष कल्क से एक प्रस्थ घी सिद्ध किया हुआ (यह) योनिवातनाशक, परम गर्भद (घृत) पीवे।

पिप्पली कुञ्चिकाजाजी वृषकं सैन्धवं वचाम् ।
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा ॥५३॥
पिष्ट्वा सर्पिषिभृष्टानि पाययेत् प्रसन्नया ।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥५४॥

पिप्पल्यादियोग—पीपलछोटी, कालाजीरा, सफेद जीरा, अडूसा, सेंधानमक, बालवच, यवचार, अजमोद, शकर, तथा चीते की छाल पीसकर घी में भूनकर प्रसन्ना के साथ (आलोडित) करके योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग, गुल्म और अर्श की निवृत्ति के लिए पिलावे।

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम् ।
पिबेत्सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा ॥५५॥

अडूसा, चकोतरा की जड़, मदयन्ती (मेंहदी), पीपलछोटी (तथा) कालाजीरा (इन) को सेंधानमक सहित मद्य के साथ पीवे।

रास्नाश्वदंष्ट्रवृषकैः पिबेच्छूले पयः शृतम् ।
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत् ॥५६॥

रास्ना, गोखुरू, अडूसा (इन) से उबाला दूध (योनिगत) शूल में पीवे। तथा गिलोय, त्रिफला और दन्ती के कषायों से (योनि का) परिषेक करे।

सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च ।
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् ॥५७॥

सैंधवादितैल—सेंधानमक, तगर, कुठकडुआ, बड़ी कटेरी तथा देवदारु (के) बराबर भाग कल्कों से साधित योनिशूलनाशक तैल (योनि में) धारण करना चाहिए।

गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः ।
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः ॥५८॥
तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरं च द्विगुणे पचेत् ।
वातार्तायाः पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः ॥५९॥

गुडूच्यादितैल – गिलोय, मालतीपुष्प, रास्ना, बला, मुलहठी, चित्रक, छोटी कटेरी, देवदारु, जुही इनके एक एक कर्ष (कल्क) से एक प्रस्थ तैल दुगुने गोमूत्र और दुगुने गौदुग्ध (के साथ) पकावे। वात से पीड़ित स्त्रीयोनि में (इस तैल का) पिचु लगावे तत्पश्चात् उत्तरवस्ति का प्रयोग करावे।

वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः।
उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च ॥६०॥

वात से पीडित योनियों का परिषेक अभ्यङ्ग और पिचु लगाना (चाहिए)। उष्ण स्निग्ध तैलों और घृतों को (इसके लिए) प्रयुक्त करना चाहिए।

हिंस्राकल्कं तु वातार्तः कोष्णमभ्यज्य धारयेत्।
पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा ॥६१॥

वातिक योनि रोग से पीडित स्त्री (योनि में) तैल का अभ्यङ्ग करके गुनगुने हींस के कल्क को धारण करे। पित्तज योनिरोग से पीडित पञ्चवल्कल (बरगद गूलर पीपल पिलखुन और वेतस की छालों) के कल्क तथा कफज योनिरोग से पीडित स्त्री श्यामा आदि रोगभिषग्जितीय नामक विमानस्थान के ८ वें अध्याय में वर्णित द्रव्यों के कल्क को धारण करे।

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गं पिचुक्रियाः।
शीताःपित्तहराः कार्याः स्नेहार्थं घृतानि च ॥६२॥

पित्तलयोनियों का परिषेक, अभ्यङ्ग,पिचु (आदि) शीतल, पित्तहारी क्रियाएँ करना चाहिए। तथा स्नेहन के लिए घृतों तथा पित्तनाशक सिद्ध औषधों को प्रयोग करना चाहिए।

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः सम्प्रपीडयेत्।
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत्तेन घृताढकम् ॥६३॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः।
पियालैश्चाक्षकैः पिष्टैर्द्वियष्टिमधुकैः पचेत् ॥६४॥
सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्।
दत्वा दशपलं चात्र सितायास्तद्विमिश्रितम् ॥६५॥
ब्राह्मणान् प्राशयेत्पूर्वं लिह्यात्पाणितलं ततः।
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत् ॥६६॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकं।
कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम्।
उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकान् जयेत् ॥६७॥

बृहच्छतावरीघृत—चार तुला शतावरी की जड़ों को कूटे। (कूटकर निकाले गये) रस के साथ बराबर भाग दूध (मिलाकर उस) से एक आढक घी पकावे। जीवनीयगण के द्रव्य (जीवक, ऋषभक, काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी) शतावरी, मुनक्का फालसा चिरोंजी, जलमुलहठी, स्थलमुलहठी दोनों के एक-एक कर्ष कल्कों से पकावे, घृत सिद्ध होजाने पर मधु ८ पल तथा पिप्पलीचूर्ण ८ पल और १० पल मिश्री का डाल कर पिलावें। उसे पहिले ब्राह्मणों (विद्वज्जनों) को खिलावे, फिर एक कर्ष प्रमाण स्वयं (नित्य)चाटा करे। योनिरक्त शुक्रदोषनाशक,वृष्य तथा पुंसवन करने वाला क्षतक्षीणता, यक्ष्मा, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, विसर्प हृद्ग्रह, शिरोग्रह,उन्माद, अरति,अपस्मार तथा वात-पैत्तिक (रोगों) को जीत लेता है।

एवमेव क्षीरं स पिर्जीवनीयोपसाधितम्।
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद्भिषग्जितम् ॥६८॥

इसी प्रकार जीवनीय द्रव्यों (के कल्क तथा क्वाथ) से साधित दूध से निकाला गया घी गर्भप्रदाता और पित्तलयोनिव्यापदों का औषध होता है।

योन्यां श्लेष्म प्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता।
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता ॥६९॥

कफदोष से प्रदुष्ट योनि में सुअर के पित्त में कई बार भावित कपड़े से बनाई संशोधनी वर्ति हितकर (होती है)।

भावितं पयसार्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम्।
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेच्या सुखाम्बुना ॥७०॥

आक के दूध से भावना दी गई जौ के आटे और सैन्धवनमक से बनाई गई वत्ती बारबार धारण करना चाहिए। तत्पश्चात् सुखोदक से परिषेक करे।

पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वा कुष्ठ सैन्धवैः।
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधिनी ॥७१॥

पीपलछोटी, कालीमिरच, उड़द का आटा, सोया, कूठ, सेंधानमक के द्वारा तर्जनी अंगुली के बराबर मोटी बनाई गई योनि विशोधनी वर्ति धारण करनी चाहिए।

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमब्द्रोणसंयुतम्।
सपञ्चवल्कवकुलकमालतीनिम्बपल्लवम् ॥७२॥
निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च ॥७३॥
पिष्टैः सिद्धस्य तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत्।
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम् ॥७४॥
पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा।
सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति ॥७५॥

पञ्चवल्कल, परवल, मालती तथा नीम के पत्तों के साथ गूलर के शलाटुओं (कच्चे फलों) का एक द्रोण, एक द्रोण (द्रवद्वैगुण्य से दो द्रोण) जल में रात्रि में रखकर उस जल में एक प्रस्थ तैल, लाख, धव, ढाक की छाल, सेमर के गोंद के कल्कों के साथ पकावे। (इस) सिद्ध तैल की पिचु योनि में धारण करे, तत्पश्चात् मिश्री सहित (इन्हीं द्रव्यों के) शीतल क्वाथों से परिषेक करना चाहिए। पिच्छिल, मुंहखुली, चिरकाल से दुष्ट दारुण योनि एक सप्ताह में शुद्ध होकर शीघ्र सन्तान को भी प्राप्त करती है।

उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात्तिलात्।
तैलं क्वाथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत् ॥७६॥

गूलर के दूध से ६ बार भावना दिये तिलों से निकाले तैल को गूलर के क्वाथ से सिद्ध करके पूर्ववत् धारण करना चाहिए।

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः।
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः ॥७७॥
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः।
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥७८॥
तैलप्रस्थं पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः।
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहवस्तिं च दापयेत् ॥७९॥
पिच्छिला स्रावणी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा।
उत्ताना चोन्नता शूना सिध्येत्सस्फोटशूलिनी ॥८०॥

एक-एक कर्ष धाय के फूल, आमले, तेजपत्र, स्रोतोज (जलवेतस या स्रोतांजन) मुलहठी, नीलोफर, जामुन की गुठली, आम की गुठली, कासीस, लोध्र, कायफल, तेंदू की छाल, सुराठी मिट्टी, अनार की छाल, गूलर के कच्चे फलों से एक प्रस्थ तैल दुगुने बकरी के मूत्र तथा दुगुने गोदुग्ध से पकावे। (इसका) योनि में पिचु देवे तत्पश्चात् (इसी की) उत्तरबस्ति दे। कटि, पृष्ठ, त्रिक प्रदेश में अभ्यङ्ग और स्नेहबस्ति देवे। (इससे) पिच्छिल बहुत स्राववाली विप्लुता, उपप्लुता तथा उत्तान, उन्नत, शून, विस्फोटयुक्त शूलवाली योनियां सिद्ध होती हैं।

करीरधवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः।
जिङ्गिनीवृषमूलानां क्वाथैर्माध्वीकशीधुभिः ॥८१॥
सशुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्याम्रावविनाशनम्।
कुर्यात्सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः ॥८२॥

करीर, धव, नीम, आक, बांस, कोशाम्र (ceylon oak), जामुन, मदनमञ्जरी (जिंगिनी), अडूसा (इन) की जड़ों के क्वाथों मधु की मद्य तथा सीधु (इन) के साथ सिरकासहित (सबको) मिलाकर योनिस्रावनाशक धावन (योनिप्रक्षालन—vaginal douche) करे अथवा मट्ठा गोमूत्र और सिरके के साथ त्रिफला स्वरस से (योनि प्रक्षालन करे)।

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः।

पीपल, लोहभस्म, हरड़ का मधु के साथ प्रयोग हितकर होता है।

श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः ॥८३॥
पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः।
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणम् मतम् ॥८४॥

कफज योनिरोग में गोमूत्रसहित कटुद्रव्य-प्रधान बस्तियां हितकर (होती हैं)। पित्तज योनिरोग में मधुरद्रव्य प्रधान और दूधसहित बस्तियां तथा वातज योनिरोग में तैल तथा अम्ल-द्रव्य प्रधान बस्तियां कार्य करती हैं। सन्निपात से उत्पन्न योनिरोग में तीनों दोषों का नाशक साधा-

रण उपचार माना गया है।

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च।
ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम् ॥८५॥

रक्तज योनि में रक्त के वर्णों वाले (दोष के) अनुबन्ध को देखकर तथा वहां दोषानुसार रक्त-स्थापन (haemostatic) औषध देना चाहिए।

तिलचूर्णं दधिघृतं फाणितं शौकरी वसा।
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥८६॥

तिलचूर्ण, दही, घी, राब, सूअर की चर्बी, मधु के साथ मिलाकर वातजन्य रक्तप्रदरनाशक पीनी चाहिए।

वराहस्य रसोमेद्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके।
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि ॥८७॥

वाताधिक रक्तप्रदर में कुलथी के यूष के साथ सुअर के मांस का मेदवर्द्धकरस अथवा शक्कर, शहद, मुलहठी, सोंठ के साथ दही (का प्रयोग करावे)।

पयस्योत्पलशालूकबिसकालीयकाम्बुदम् ।
सपयः शर्कराक्षौद्रं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत् ॥८८॥

पैत्तिक रक्तप्रदर में क्षीरविदारी, नीलोफर, शालूक (कमलकन्द), कमलनाल, पीतचन्दन और मोथा को दूध शक्कर और शहद के साथ पीवे।

पुष्यानुग चूर्ण

पाठाजम्ब्वाम्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम्।
अम्बष्ठां शाल्मलीवेष्टं समङ्गां वत्सकत्वचम् ॥८९॥
वाह्लीकातिविषे बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम्।
कट्फलं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम् ॥९०॥
कट्वङ्गवत्सकानन्तां धातकीं मधुकार्जुनम्।
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥९१॥
तानि क्षौद्रेण संयोज्य पिबेत्तण्डुलवारिणा।
अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥९२॥
दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत्।
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् ॥९३॥
स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत्।
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥९४॥

पाठा, जामुन और आम दोनों की गुठलियाँ, पाषाणभेद, रसौत अम्बष्ठा (पाठाभेद) सेमर का गोंद, मजीठ, कुड़े की छाल, केसर, अतीस, बेलगिरी, मोथा, लोध, गैरिक सहित, कायफल, मरिचकाली, सोंठ, मुनक्का, लालचन्दन, अरलू की छाल, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलहठी, अर्जुन की छाल, (सबको) बराबर-बराबर पुष्यनक्षत्र में उखाड़कर सूक्ष्म चूर्ण बनावे।

अर्श और अतीसारों में जहां रोगी (गुदमार्ग से) रक्त ही निकालता है। उस (चूर्ण) को शहद मिलाकर तण्डुलोदक के साथ पीवे। आत्रेय जी द्वारा प्रशंसित पुष्यानुग नाम वाला यह चूर्ण बालकों के दोषज तथा आगन्तुज जो (रोग होते हैं) उनको नष्ट कर देता है। श्वेत, नीला, पीला, श्याव, अरुण जो (भी योनिदोष या रजोदोष हो उसको यह बलपूर्वक नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—(४८३) स्त्रियों की योनि से कई रंग का स्राव प्रायः देखा जाता है। जिन स्त्रियों को बहुत सन्तान होती है या जिनको अत्यधिक मैथुन करना पड़ता है उनकी योनि से जो विविध प्रकार के स्राव होते हैं उनको रोकने के लिए यह चरकोक्त पुष्यानुग अमोघ औषध का काम देता है। इसमें थोड़ा पाठ भेद भी मिलता है मरिच शुण्ठी मृद्वीका के स्थान पर मधुकं शुण्ठी माचीकम् भी पाठ है। पर क्योंकि मधुक एक स्थान पर और भी आगया है हम मरिच के पक्षपाती हैं मृद्वीका के स्थान पर माचीक (काकमाची) लेना चाहिए। जो लोग माचीक से इन्द्रजौ लेते हैं वे भी ठीक नहीं करते इन्द्रजौ मूल योग में यथावत् बना हुआ है। योगरत्नाकर मूल पाठ के मरिच और मुनक्के का समर्थक होने से मूलपाठ को हम भी स्वीकार करते हैं। वाह्लीक से कश्मीरी केशर ही लेना चाहिए। सहस्रों वर्षों से प्रयुक्त यह योग आज भी उसी प्रशंसात्मक रूप में अपनी स्थिति दृढ़ बनाए हुए है।

तण्डुलीयकमूलं च सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत् ॥९५॥

शहद सहित चौलाई की जड़ तण्डुलोदक के साथ तथा रसौत और लाख को बकरी के दूध के साथ पीवे।

पत्रकल्कौ घृतो भृष्टौ राजादनकपित्थयोः।
पित्तानिलहरौ पेत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित् ॥९६॥
मधुकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु।
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ तु कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ॥९७॥

घी में भूने हुए खिरनी तथा कैथ दोनों के पत्तों का कल्क वातपित्तात्मक (असृग्दर का) हरण करता है। पित्तज रक्तप्रदर में रक्तपित्त को जीतने वाले सभी (योगों का प्रयोग करना चाहिए)। कफज रक्तप्रदर में मुलहठी, हरड़-बहेड़ा-आमला, लोध, मोथा सुराठी मिट्टी, शहद अथवा नीम और गुडूची दोनों को मधु के साथ पीवे।

विरेचनं महातिक्तं पित्तजेऽसृग्दरे पिबेत्।
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ॥९८॥

पैत्तिक रक्तप्रदर में महातिक्त (घृत रूप) विरेचन को पीवे तथा जो गर्भस्राव में (शरीर अ. ८ में) हितकर कहा गया है वह करावे।

काश्मर्यकुटजक्वाथे सिद्धमुत्तरबस्तिना।
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् ॥९९॥

गम्भारी के फल, कुडा की छाल के क्वाथ में सिद्ध घृत उत्तर बस्ति द्वारा देना रक्त योनि, अरजस्का योनिकापद् तथा पुत्रघ्नी योनि में हितकरता है।

मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा।
अरजस्का पिबेत्सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा ॥१००॥

अरजस्का (amenorrhoea) हिरन, बकरी, भेड़, सुअर के रक्त को खट्टे दही, शहद और घी से (सिद्ध करके) अथवा जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध दूध पीवे।

वक्तव्य—(४८४) चरक में यत्र तत्र जो रक्त और मांस का वर्णन मिलता है वह इस बात का स्पष्ट सूचक है कि उस काल में मांसाहार अधिक प्रचलित था और स्त्रियों में भी मांसाहार का प्रचार पर्याप्त था। अध्याय २६ के १५७ वें श्लोक में जो बोधिवृक्षकषायेण शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे पढ़कर इस संहिता को बुद्ध से उत्तरकाल की मानने का जो कुछ विचार लोग कर सकते हैं वह पूर्णतः थोथा प्रतीत होता है। जिस काल में स्त्रियों को भी रक्त और मांस का पथ्य बताया जाता रहा है वह बुद्ध पूर्व ही होसकता है बुद्ध के बाद का नहीं। पर उस काल में मांस का प्रयोग न करने की पक्षधारिणी विदुषियां भी रहती थीं जिनकी दृष्टि से इस सूत्र में दूसरा दुग्ध सम्बन्धी योग कहा गया है। कुछ का यह विचार भी है कि दो योगों में से पहला उत्तर बस्ति रूप में प्रयुक्त करने के लिए है और दूसरा पीने के लिए। वृद्ध वाग्भट इसी का पोषक जान पड़ता है।

कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च।
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरबस्तिना ॥१०१॥

कर्णिनी, अचरणा, शुष्का तथा प्राक्चरणा (नामक) योनिरोगों में तथा (अन्य) कफवातज विकारों में उत्तरबस्ति द्वारा (जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध) तैल प्रदान करना चाहिए।

गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम्।
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् ॥१०२॥
स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोथहरं च तत्।

गाय या मछली के पित्त में २१ बार भावना दिये गये रेशमी वस्त्र को अथवा मधु के साथ किण्व का चूर्ण (योनिपथ में लगा) देना चाहिए। (वह) अचरणानाशक, स्रोतोविशोधक, योनिकण्डू और योनि क्लेद का हरण करता है।

वातघ्नैः शतपाकैस्तु तैलैः प्रागतिचारिणी ॥१०३॥
आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः।
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः ॥१०४॥

प्राक्चरणा नामक योनिरोग में शतपाकी वातनाशक तैलों द्वारा आस्थापन तथा अनुवासन कराना चाहिए। (साथ ही) स्निग्ध पदार्थों, स्निग्ध आहारों और उपनाहों द्वारा युक्तिपूर्वक वातनाशक स्वेदन करना चाहिए।

शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियंगुभिः।
बलाखुपर्णिकाश्याह्वैः संयावो धारणे स्मृतः ॥१०५॥

शताह्वादिसंयाव—सोया, जौ, गेहूं, किण्व, कूठ, प्रियंगुओं से, बला, मूषकपर्णी और गन्धाबैरोजा के संयाव का (योनि में) धारण करना (उत्तम) माना गया है।

वक्तव्य—(४८५) संयाव का अर्थ उत्कारिका अथवा कपड़े या पत्ते में रखकर योनि में सन्धारण किया जाने वाला पदार्थ होता है।

वामिन्याप्लुतयोश्चैव कर्तव्यः स्वेदनोविधिः।

क्रमः कार्यस्ततः स्नेहपि चुस्तता संतर्पणं भवेत् ॥१०६॥

वामिनी तथा उपप्लुता नामक योनिरोगों में स्नेहन स्वेदन आदि उपक्रम करना चाहिए। उसके पश्चात् स्नेह का पिचु धारण करे फिर सन्तर्पण (चिकित्सा) होनी चाहिए।

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः।

कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्याद्विप्लुतापहः ॥१०७॥

शल्लकी, मदनमञ्जरी (जिंगिनी), जामुन, धव (इनकी) छाल, पञ्च (गूलर, बरगद, पीपल, वेतस, पिलखुन) के वल्कल, (इनके) कषायों से सिद्ध स्नेह-पिचु (tempon) विप्लुता (उपप्लुता तथा परिप्लुता नामक योनिरोगों) का नाशक है।

कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः

बस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम् ॥१०८॥

कर्णिनी योनि में कूठ, पिप्पली, आक के पत्तों के अग्रभाग, (तथा) सैन्धवलवण के द्वारा बकरे के मूत्र से निर्मित बत्ती धारण करनी चाहिए तथा सब कफ-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

त्रैवृतं स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः।

दशमूलपयोबस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु ॥१०९॥

त्रैवृते नानुवास्या च बस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः।

एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते ॥११०॥

उदावर्ता तथा वातज योनिव्यापदों में त्रैवृतस्नेह (घृत तैल वसामज्जा निशोथ के काढ़े और कल्क से सिद्ध), स्वेदन, ग्राम्य आनूप और जलज पशुपक्षियों के मांसरस तथा दशमूल द्वारा सिद्ध दुग्ध की वस्तियां देनी चाहिए। त्रैवृतस्नेह द्वारा अनुवासन तथा उत्तर-वस्ति (प्रयोग भी करना चाहिए) (इसीप्रकार) योनिस्रंस और महायोनियों में (भी) यही विधान किया जाता है।

कुलीरशूकरवसा घृतं च मधुरैः शृतम्।

पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात्क्षौमलक्तकैः ॥१११॥

केंकड़े तथा सुअर की चर्बी तथा घृत को मधुर द्रव्यों के कल्क और क्वाथ में सिद्ध करके महायोनि नामक रोग में योनि को (उस घी से) भरकर रेशमी कपड़े का टुकड़ा बांध देना चाहिए।

वक्तव्य—(४८६) कुलीर और शक्कर की वसा के स्थान पर ऋक्ष (रीछ) और सूअर अथवा कुक्कुट और वराह की वसाओं के लेने का पाठभेद भी मिलता है।

प्रस्रस्तां सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च।

बध्नीयाद्वेशवारस्य पिण्डेनाऽऽमूत्रकालतः ॥११२॥

प्रस्रस्ता योनि (जब योनि के बाहर गर्भाशय खिसक आया हो—prolapse of the uterus) को घी से चुपड़ कर दूध से स्विन्न करके भीतर प्रविष्ट करके वेशवार के पिण्ड को पेशाब आने के समय तक बांधना चाहिए। (तत्पश्चात् फिर बांध देना चाहिए)।

वक्तव्य—(४८७) योनिच्युति को सुधारने का कितना सरल और स्पष्ट चित्रण यहां किया गया है।

यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत्।

सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः ॥११३॥

न हि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति।

शमयित्वा तमस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ॥११४॥

सब योनिरोगों में और विशेष रूप से महा-योनि में वातविकारों में जो चिकित्सा कर्म कहा गया है वह करवाना चाहिए।

क्योंकि वात के विना नारियों की योनि दूषित नहीं होती है (इस कारण पहले) उस (वात) को शमन करके तब अन्य दोष की औषध करनी चाहिए।

वक्तव्य—(४८८) आचार्य ने यहां बहुत महत्त्व की बात कहदी है। किसी भी जवान स्त्री से बात कीजिये वह सिर का दर्द, कमर का दर्द और हाथ-पैरों में हड़कल की

शिकायत हर क्षण करती है। उसकी योनि का दर्शन करने से बीसों में से कोई न कोई व्याधि भी अवश्यमेव मिलेगी यदि इनकी तह तक पहुंचा गया तो पता चलेगा कि प्रदर अनार्तव या अत्यार्तव या अन्य कारणों से स्त्री को वात का कोप विशेष होरहा है। अस्तु, वातशामक उपचार करने के बाद तब अन्य किसी दोष की चिकित्सा करने का जो आचार्य का आग्रह है वह वास्तविकता से ओतप्रोत है।

मूलकल्कं तु रोहीतात्पाण्डुरे प्रदरे पिबेत्।
जलेनामलकाद्बीजकल्कं वा ससितामधुम् ॥११५॥

पाण्डुर (श्वेत) प्रदर में रोहीतक की जड़ के कल्क को अथवा आमलों के बीज (की मज्जा) के कल्क को मिश्री मधु के साथ जल से पीवे।

मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्चताम्।
न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् ॥११६॥
आलावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत्।

(श्वेतप्रदर से पीडित) उस स्त्री को शहद तथा आमलकी से (प्राप्त) चूर्ण अथवा रस को चटावे। बरगद की छाल के कषाय से लोध्र कल्क को पीवे। अथवा उसी से भावित रेशमी कपड़ा (योनि से अधिक स्राव होने पर योनि में) धारण करावे।

प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम् ॥११७॥
योन्या स्नेहाक्तया लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य च।

अथवा (श्वेतप्रदर में) पिलखुन की छाल के चूर्ण को शहद के साथ पिण्डित करके धारण करावे (अथवा) लोध्र प्रियंगु तथा मुलहठी के स्नेहाक्त (घी चुपड़े पिण्ड को धारण करावे)।

धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः ॥११८॥
स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद्वा घृताप्लुतैः।
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः ११९॥

अथवा (स्राव को दूर करने के लिये) कषाय द्रव्यों की मधुयुक्त वर्ति सब प्रकार से धारण करे। स्राव को रोकने के लिये (योनि में) स्नेह चुपड़ कर तैल सहित कटु (शफरी) मछलियों से तथा धूप सरल, गूगुल और जौओं से खूब घी मिलाकर (योनि का) धूपन (fumigation) करे।

कासीसं त्रिफला काङ्क्षी समङ्गाम्रास्थिधातकी।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ॥१२०॥

(योनि से) पिच्छिलस्राव होने पर कासीस, त्रिफला, फिटकिरी, लज्जावन्ती, आम की गुठली, धाय के फूल (इन) का चूर्ण शहद मिलाकर (योनि में धारण करने से पिच्छिलता हटाकर (वह) विशदता कर देता है।

पलाशसर्जजम्ब्वत्वक्समङ्गामोचधातकी।
सपिच्छिलापरिक्लिन्नास्तम्भनः कल्क इष्यते ॥१२१॥

ढाक का गोंद, राल, जामुन की छाल, लज्जावन्ती, मोचरस, धाय के फूल (इन) का कल्क पिच्छिलता से युक्त अत्यन्त क्लिन्न (योनिरोग में) स्तम्भन के लिए इष्ट होता है।

वक्तव्य—(४८६) जब योनि से लगातार स्राव बहता हो और उसके बन्द होने के लक्षण कम हो रहे हैं तो उपरोक्त चूर्ण को योनि में भर देने से पर्याप्त सुधार होजाता है।

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम्।
धारयेद्वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा ॥१२२॥

स्तब्ध तथा कर्कश योनिरोगों की मृदुताकारक चिकित्सा करनी चाहिए। तथा वेशवार, खीर या खिचड़ी धारण करना चाहिए।

दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तौवरः कल्क एव च।
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् ॥१२३॥

दुर्गन्धवाली योनि का तुवरक के कल्क वा कषाय से ही अथवा सब गन्धद्रव्यों का चूर्ण पूतिगन्ध का अपकर्षक (होता है)।

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः।
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ॥१२४॥

इस प्रकार योनियों में शुद्धि होने पर प्राकृत तथा अदुष्ट बीज में जीवका संक्रमण होने पर स्त्रियां गर्भधारण करती हैं।

वक्तव्य—(४९०) गर्भ की धारणा के लिए स्त्री की योनि का दुर्गन्ध और विविध स्रावों से रहित शुद्ध और पवित्र होना जितना आवश्यक है उतना ही पुरुष के बीज का

अदुष्ट और प्राकृत होना आवश्यक है। जब तक यह दोनों बातें नहीं होतीं तब तक जीव का प्रवेश नहीं होता। जीव के प्रवेश के बिना गर्भ की धारणा हो ही नहीं सकती। यहां पर आचार्य ने बीज के वर्णन का प्रसङ्ग उपस्थित किया है तथा आगे पुरुष की उन विकृतियों का वर्णन किया जायेगा जो शुक्र से सम्बद्ध होती हैं।

पञ्चकर्म विशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम्।
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ॥१२५॥

पञ्चकर्मों द्वारा शुद्ध किए हुए पुरुष की भी इन्द्रिय (अर्थात् वीर्य) की दोषों के वर्णों द्वारा परीक्षा करके दुष्ट होने पर उसका उन दोषनाशक औषधों से उपचार करे। कहने का तात्पर्य यह है कि पञ्चकर्मों द्वारा शुद्धि होजाने पर भी यह न समझना चाहिए कि पुरुष का वीर्य पूर्णत: स्वस्थ और गर्भधारण में समर्थ होगया है अपि तु उसके वीर्य को निकलवा कर वैद्य को उसके रंग का परीक्षण और शुक्र कीटों की उपस्थिति की जांच करनी चाहिए यदि उसमें कोई दुष्टि मिले तो उसकी यथाविधि चिकित्सा करनी चाहिए।

भवन्ति चात्र

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः।
उक्ता विस्तरशः सम्यक् मुनिना तत्वदर्शिना ॥१२६॥

और यहां (श्लोक) है कि

तत्वदर्शी मुनि के द्वारा लक्षण निदान और चिकित्सा सहित योनि के रोग विस्तारपूर्वक सम्यक्तया कह दिये हैं।

पुनरेवाग्निवेशस्तु प्रच्छ भिषजां वरम्।
आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयानघ! ॥१२७॥
रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः।
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ! दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम् ॥१२८॥
चिकित्सितं च कात्स्न्र्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम्।
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः ॥१२९॥
तेषां निदानं लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः।
समासव्यासभेदेन ब्रूहि नो भिषजांवर! ॥१३०॥

अग्निवेश ने पास जाकर भिषक् श्रेष्ठ आत्रेय को फिर पूछा। हे निष्पाप! तेरे द्वारा सूत्रस्थान अध्याय १९ रोगाध्याय में पुरुषों के आठ शुक्रदोष बतलाये गये हैं। (कृपया) हे भिषक् श्रेष्ठ! अशेषत: (पूर्वरूप से) उनके हेतु, दुष्ट और अदुष्ट वीर्य की आकृति, और सम्पूर्णतया चिकित्सा और जो चार प्रकार की नपुंसकता, तथा योनिरोगों के उपद्रवों में जो प्रदर कहा गया है उनके निदान, लिङ्ग तथा चिकित्सा को हे भिषग्वर! संक्षेप और विस्तारभेद से तत्त्वपूर्वक (यथार्थरूप से) बतलाइये।

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः।
बीजं यस्माद्व्यवाये तु हर्षयोनि समुत्थितं ॥१३१॥
शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु।

मुनिश्रेष्ठ (आत्रेय) ने सुनने की इच्छा रखने वाले उस (अग्निवेश) के लिए कहना आरम्भ किया—

जिस कारण से व्यवाय (मैथुन) करने में हर्ष के कारण उत्पन्न हुआ पौरुष (पुरुष का) शुक्र को बीज ऐसा कहा गया है उस कारण को (मैं) कहूँगा वह (तू) सुन।

यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् ॥१३२॥
न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम्।

जिस प्रकार बीज, अकाल वर्षा, कृमि, कीट तथा अग्नि से दूषित हुआ अंकुरोत्पत्ति (विरोहण) नहीं करता है उसी प्रकार शरीर धारियों का दूषित शुक्र (भी गर्भधारण नहीं करता है)।

शुक्रदुष्टि निदान तथा सम्प्राप्ति

अतिव्यवाद्व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् ॥१३३॥
अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः।
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् ॥१३४॥
नारीणामरसज्ञत्वात् स्त्रवणाज्जरया तथा।
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥१३५॥
भयात्क्रोधादतीसाराद्व्याधिभिः कर्षितस्य च।
वेगाघातात्क्षताच्चापि धातूनां सम्प्रदूषणात् ॥१३६॥

दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु,

अत्यन्त मैथुन से, अत्यधिक परिश्रम करने से, तथा असात्म्य (पदार्थों) के अत्यधिक सेवन करने से, अकाल में (मैथुन करने से) अथवा अयोनि में (मैथुन करने से) तथा (स्त्री पुरुष दोनों जब) मैथुन करने को बिल्कुल नहीं जाते हैं, रूखा, तीता, कषैला (द्रव्य निरन्तर खाने से) अत्यधिक नमकीन, खट्टा (और) गरम (पदार्थ) सेवन करने से, स्त्रियों के मैथुन कर्म में अप्रसन्न होने (आनन्द न लेने) से, वीर्य का स्राव होजाने से, जरा (बुढ़ापे) के कारण तथा, चिन्ता और शोक से, अविश्वास से, शस्त्रकर्म, क्षार-कर्म और अग्निकर्म के विभ्रम (अनुचित प्रयोग) से भय के कारण, क्रोध के कारण, अतीसार के कारण, और रोगों के द्वारा कर्षित होजाने के कारण, वेगों के रोक देने से, चोट लगने के कारण भी तथा धातुओं के खूब दूषित होने के कारण अलग अलग या मिले हुए (प्रकुपित) दोष शुक्रवाही सिराओं को प्राप्त करके शीघ्र शुक्र को दूषित कर देते हैं।

वक्तव्य-(४६१) शुक्र किन कारणों से दूषित हो सकता है ऐसे सब सम्भाव्य कारण आचार्य ने एक स्थान पर संग्रहीत कर दिये हैं। शस्त्रकर्म (आपरेशन) के गलत प्रयोग करने से या क्षार और अग्निकर्म जो चरककालीन भारत में जोर-शोर से प्रचलित थे कभी मिथ्या प्रयोग से व्यक्ति को शक्रदोष होना स्वीकार किया गया है। अनेकों शारीरिक, आंगिक, परिस्थितिजन्य, मनोवैज्ञानिक, शरीरव्यापारजन्य, व्याधिजन्य, वेगरोधजन्य कारण स्पष्टतः यह प्रगट करते हैं कि पहले इस विषय का ठीक ठीक चिन्तन किया गया था।

तद्वक्ष्यामि विभागशः ॥१३७॥

उसको (मैं) विभागपूर्वक (section-wise) कहूंगा।

शुक्र के आठ दोष

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम् ॥१३८॥

शुक्र के निम्नलिखित आठ दोष होते हैं—

१—फेनिल शुक्र (frothy) २—तनुशुक्र (thin) ३—रूक्षशुक्र (dry), ४—विवर्णशुक्र (discoloured) ५—पूतिशुक्र (putrid), ६—पिच्छिलशुक्र (sticky) ७—अन्यधातु से दूषित (contaminated with other dhatus), तथा ८—अवसादीशुक्र (heavier than water)।

वात से दूषित वीर्य

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते ॥१३९॥

१-झागदार, २-पतला, ३-रूखा तथा कष्ट से थोड़ा थोड़ा (निकलने वाला) वायु से उपहत शुक्र होता है। वह गर्भ के लिए असमर्थ होता है।

पित्त से दूषित वीर्य

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥१४०॥

नीलेवर्णसहित अथवा पीला, अत्यन्त उष्ण, तथा पूतिगन्ध वाला मूत्रेन्द्रिय को जलाता हुआ पित्त से दूषित शुक्र को निकालता है।

कफ से दूषित वीर्य

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ।

कफ से अवरुद्ध मार्ग हो तो (वीर्य) अत्यन्त पिच्छिल होता है।

रुधिरान्वित वीर्य

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात्क्षतादपि ॥१४१॥
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ।

स्त्रियों के साथ अत्यन्त समागम करने से, चोट के कारण, तथा (शस्त्र आदि के कारण होने वाले) क्षत के कारण भी मनुष्य का शुक्र प्रायः रुधिर मिला हुआ निकलता है।

अवसादी वीर्य

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि ॥१४२॥
कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम् ।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ॥१४३॥

(वीर्य के) वेग के धारण करने के कारण, मार्ग में वायु के द्वारा अवरुद्ध हुआ शुक्र गांठदार (clotted) होकर कष्ट से बाहर निकलता है। यह वीर्य अवसादी नामक आठवां है।

इस प्रकार शुक्र के आठों दोष लक्षणों के साथ कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—(४६२) बहुधा जो लोग हस्तमैथुन करते हैं उनका शुक्र निकलने के बाद शुक्रपथ तथा मूत्रमार्ग में एक प्रकार का दाह उत्पन्न होता है। कभी कभी वह बहुत असह्य होजाता है। यह शुक्र का पैत्तिक दूषण है। अनेक बार वीर्य स्खलन करने वाले जो अभी पूर्ण वयस्क नहीं होपाये या जो हस्तमैथुन के अभ्यासी हैं या जो अनेक बार स्त्रीगमन करते हैं या बहुस्त्रीगामी हैं उनके वीर्य की राशि घटती और पतली तथा रूक्ष होती हुई चली जाती है। यह वातिक शुक्रदोष के कारण होता है। श्लेष्मा वीर्य को अधिक चिपकने वाला बना देता है। शस्त्रकर्म और चोट यही दो रुधिरयुक्त वीर्य प्रस्रावित करते हैं तथा जब बिना पूर्ण उत्थान के वीर्य का पात होने लगता है अथवा जब किसी स्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के स्पर्श का अवसर आता है और सभ्यता के दायरे में रहना पड़ता है तो ऐसे अनेक व्यक्तियों के मन में दूषण आने से वीर्य की च्युति तो हो जाती है पर वह बाहर आने में देर करता है। इस बीच वायु उसे सुखाकर गठीला बना सकती है यह अवस्था जहां एक ओर शुक्राश्मरी को उत्पन्न करती है दूसरी ओर गाढ़े और जल में डूबने वाले वीर्य को प्रगट कर देती है। देर से धीरे-धीरे निकलने के कारण यह अवस्था भी बहुत कष्ट देने वाली होती है।

शुद्धशुक्र का लक्षण

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥१४४॥

स्निग्ध, घन, पिच्छिल, मधुर, अविदाही, और स्फटिक के समान श्वेत (पारदर्शी) वीर्य को शुद्ध जानना चाहिए।

वक्तव्य—(४६३) शुक्र का स्वाद कुछ नमकीन होता है पर आचार्य ने उसे मधुर बतलाया है। उसके दो ही कारण हैं, एक तो यह कि वीर्य पर चींटे लगते हैं उसे देखकर इसे मधुररस प्रधान लिया गया हो दूसरे इसकी गन्ध मधुर होती है। सुश्रुत ने इसे मधुगन्धि ही माना है—

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।

शुक्रदोषहर चिकित्सा

वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः ।
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा ॥१४५॥
दुष्टं यदा भवेद्रेतस्तदा तत्समुपाचरेत्।

जब शुक्र दुष्ट होवे तब उसकी उन उन उपयोग द्वारा सुख देने वाले हितकर वाजीकरण योगों से तथा रक्तपित्तहर योगों से तथा योनिव्यापद्नाशक योगों से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—(४६४) वाजीकरण योगों से वीर्य की पुष्टि होती है। रक्तपित्त नाशक योग वीर्य के साथ रक्त का अनुबन्ध नष्ट कर देता है तथा योनिव्यापत्तिनाशक योग पुरुष में उत्तम शुक्र करने में समर्थ होते हैं। आधुनिक युग में स्त्री के बीजकोषों को नियन्त्रित करने वाले हारमोनों का उपयोग योनिव्यापदों में किया जाता है। यदि इनका सावधानी और चतुरता के साथ तच्छास्त्रवेत्ता वैद्य करे तो शुक्र का जो प्रकृत लक्षण लिखा गया है उसे बड़ी सरलता से प्राप्त कराया जासकता है। इसके विपरीत पुरुष के वीर्य निर्माण में जो हारमोन्स लाभ देते हैं उन्हें स्त्री के योनिव्यापदों में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च ॥१४६॥
गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति।

जो जीवनीय घृत (है) और (जो) च्यवनप्राश और जो शिलाजीत का प्रयोग (लिखा गया है वह सब) शुक्र दोषों का दूर करता है।

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः ॥१४७॥
अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनं।
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनं ॥१४८॥
कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्भल्लातकस्य च।

वातजन्य शुक्र (दोष) में अनुवासनसहित निरूह वस्तियां हितकर होती हैं तथा पैत्तिक (शुक्रदोष) में

अभयामलकी, रसायन प्रशस्त (होती है) कफ से उत्पन्न शुक्रदोष को पिप्पलीरसायन, आमलकी रसायन, लोह रसायन, त्रिफला रसायन तथा भल्लातक रसायन नष्ट कर देती है।

यदन्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद् वीक्ष्य युक्तितः ॥१४९॥
यथादोषंप्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम्।

जो शुक्र अन्य किसी धातु से संसृष्ट हो उसे युक्ति से (आंख से, माईक्रोस्कोप से या रासायनिक विश्लेषण से) देखकर दोष के अनुसार दोष और धातु दोनों की औषध का प्रयोग करे।

सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः ॥१५०॥
प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु वस्तिकर्म विशेषतः।
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ॥१५१॥

घृत, दूध, मांसरस, शालि, जौ, गेहूँ, साठी (ये सब) शुक्रदोषों में प्रशस्त हैं विशेषरूप से बस्तिकर्म (का बड़ा महत्व है)।

इस प्रकार मुनि ने आठ शुक्रदोषों की चिकित्सा कही है।

क्लैब्य (नपुंसकता)

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्ध्यैव सिध्यति।
ततो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश ! यथातथम् ॥१५२॥

शुक्र के दोष से उत्पन्न क्लैब्य (impotency) जिस कारण से (उसकी) शुद्धि से ही सिद्ध होती है वह हे अग्निवेश ! तेरे लिए (मैं) सम्यक्तया (तथा) तथ्य के अनुसार कहूंगा।

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात्।
क्लैब्यं संपद्यते,

क्लैब्य के भेद—(१) बीज (शुक्र) के उपघात से (due to seminal morbidily) (२) ध्वज (मूत्रेन्द्रिय) उपघात से (due to phallic defects) (३) वृद्धावस्था के कारण (due to old age) तथा (४) शुक्र के क्षय से (due to seminal scaricty) क्लैब्य प्राप्त होता है।

तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥१५३॥
सङ्कल्पप्रवणोनित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम्।
न याति लिङ्गशैथिल्यात्कदाचिद्याति वा यदि ॥१५४॥
श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः।
म्लानशिश्नस्य निर्बीजः स्यादेतत्क्लैब्य लक्षणम् ॥१५५॥
सामान्यलक्षणम् ह्येतद्,

क्लैब्य के लक्षण—उसके (तू) सामान्य लक्षण को सुन। (कामवासना सम्बन्धी) विचारों में तत्पर प्रिय और वश में रहने वाली स्त्री के भी होने से लिंग की शिथिलता के कारण (उसमें) गमन करता है। अथवा यदि कभी गमन करता (भी है तो) सांस फूलने के कारण पीडित और शरीर पसीने से लथपथ, व्यर्थ के संकल्प (कि मैं यों स्त्री-गमन कर उसे सन्तुष्ट करूंगा) और चेष्टावाला, म्लान (शिथिल) शिश्नवाला, बीजरहित (without sperms in the semen) यह क्लीवता का लक्षण (होता है)। यह इसका सामान्य लक्षण है।

१—बीजोपघातज क्लैब्य

विस्तरेण प्रवक्ष्यते।
शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्टविरुद्धासात्म्य भोजनात् ॥१५६॥
शोकचिन्ताभयत्रासात्स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात्।
अभिचारादविस्रम्भाद्रसादीनां च संक्षयात् ॥१५७॥
वातादीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात्।
नारीणामरसज्ञत्वात्पञ्चकर्मापचारतः ॥१५८॥
बीजोपघाताद्भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः।
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ॥१५९॥
हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः।
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ॥१६०॥
बीजोपघातजं क्लैब्यं,

विस्तार के साथ (क्लैब्य के लक्षण को अब हम) कहेंगे—

१—ठण्डा, रूखा, थोड़ा, दूषित, विरुद्ध, अजीर्ण पर भोजन करने से,
२—शोक-चिन्ता-भय (और) त्रास (terror) के कारण,
३—स्त्रियों के अत्यधिक सेवन से,

४—अभिचार के कारण,
५—अविश्वास के कारण या प्रणय के न होने से,
६—रस आदि धातुओं का क्षय होने से,
७—वात आदि दोषों की विषमता से, तथा
८—अनशन करने से,
९—(अधिक) श्रम करने से,
१०—नारियों की अरसज्ञता से, और
११—पञ्चकर्मों के अपचार (मिथ्या प्रयोग) से,
(उत्पन्न होने वाले) बीजोपघात के कारण निम्न (पुरुष में) लक्षण होते हैं-
१—पाण्डुवर्ण (मुख या शरीर की पाण्डुता paleness),
२—अत्यधिक दौर्बल्य,होजाता है। तथा स्त्रियों में पुरुष,
३—अल्पप्राण (low in spirits) तथा
४—अल्पहर्ष (मेहनोत्थान erection की कमी), होजाता है।
५—हृद्रोग, पाण्डुरोग, तमकश्वास, कामला, थकान (इन रोगों) से दुखी,वमन, अतीसार और शूल से व्याकुल और कास तथा ज्वर से विशेष पीडित रहता है।

(यह) शुक्रक्षयजन्य (बीजोपघातज) क्लैव्य (है)।

२—ध्वजभङ्गकृत क्लैव्य

ध्वजभङ्गकृतं शृणु।
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात् ॥१६१॥
अत्यम्बुपानाद्विषमातिपिष्टान्नगुरुभोजनात् ।
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद्व्याधिकर्षणात् ॥१६२॥
कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ।
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ॥१६३॥
दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम्।
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत्कामहर्षितः ॥१६४॥
चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ।
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ॥१६५॥
काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ।
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ॥१६६॥

ध्वजभङ्गजन्य क्लीबता को (तू) सुन।
१—अधिक खट्टे, नमकीन (चाट आदि) खारे, विरुद्ध तथा असात्म्य पदार्थों के सेवन से,
२—अत्यधिक जल पीने से
३—विषम, पिष्टान्न और भारी भोजन करने से,
४—दही, दूध, आनूपदेशीय जीवों का मांस सेवन करने से,
५—व्याधि द्वारा अधिक दुर्बल होजाने के कारण,
६—अल्पवयस्क कन्याओं (virgins) साथ के गमन करने से,
७—अयोनि (गुद, मुख आदि) में मैथुन करने से भी,
८—दीर्घकाल से रोग से पीडित, बहुत काल से छोड़ी हुई तथा रजस्वला स्त्री को,
९—बुरी गन्ध (offensive smell) जिससे आरही हो।
१०—जिसकी योनि दुष्ट हो तथा
११—जिससे खूब स्राव (profuse discharge) हो रहा हो,इस प्रकार की प्रमदा (स्त्री) को जो कामवासना से हर्षित व्यक्ति मोहवश गमन करता है अथवा,
१२—चौपायों (कुत्तिया, बकरी आदि) के साथ गमन करने से,
१३—शेफस् (मूत्रेन्द्रिय) पर चोट लगने से,
१४—मूत्रेन्द्रिय की शुद्धि न करने से,
१५—मेढ्र पर शस्त्र, दन्त या नख का क्षत होने से,
१६—लकड़ी (या लाठी) के प्रहार से,
१७—पिस (या दब) जाने से,
१८—लिङ्ग बढ़ाने के लिए शूकों का अत्यधिक प्रयोग करने से तथा,
१९—प्रवृत्त होते हुए वीर्य का प्रतिघात (अवरोध) करने से,
ध्वजभङ्ग हो जाता है।

भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम्।
श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ॥१६७॥
उस (ध्वजभङ्ग) के जो रूप होते हैं उनको अब

आगे (मैं) कहूँगा। मेढ़् में शोथ (phallitis) वेदना, तथा लाली ही दिखाई देती है।

स्फोटाश्च तीव्राः जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि।

तीव्र स्फोट उत्पन्न होजाते हैं लिङ्ग का पाक भी होजाता है।

मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥१६८॥
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः।
वलयं कुरुते चापि कठिनञ्च परिग्रहे ॥१६९॥

और इसके मांस की वृद्धि होती है। तथा शीघ्र व्रण भी हो जाते हैं। पुलाकोदक (तुच्छधान्य पकाने पर प्राप्त जल के समान मांड) जैसे श्याव अरुण प्रभा वाले स्राव से युक्त होता है। लिंगशिश्न के चारों ओर कठोर वलय बना देता है।

ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छाच्छर्दिश्चास्योपजायते।
रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ॥१७०॥

ज्वर, प्यास, भ्रम, मूर्च्छा, तथा वमन उत्पन्न होजाती है। लाल, काला, नीला, गंदला, लोहित रंग का रक्त निकलता है।

अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः।
वस्तौ वृषणयोर्वापि सीवन्यां वंक्षणेषु च ॥१७१॥
कदाचित्पिच्छिलो वापि पाण्डुस्रावश्च जायते।
श्वयथुश्च भवेन्मन्दस्तिमितोऽल्पपरिस्रवः ॥१७२॥
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते।
जायन्ते कृमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ॥१७३॥
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च।

वस्ति में, वृषणों में, सीवनी में तथा वंक्षण (groin) में अग्नि से जलने के समान वेदना के साथ तीव्र दाह होता है। कभी पिच्छिल, अथवा पाण्डु-वर्ण का स्राव उत्पन्न होजाता है मन्द मन्द शोथ होजाता है, स्तैमित्य तथा थोड़ा थोड़ा (स्राव चलता रहता है) तथा देर से पकता है तथा शीघ्र छूट जाता है। कृमि भी उत्पन्न हो जाते हैं क्लिन्नता उत्पन्न हो जाती है तथा सड़ी बू आती है। लिंग की मणि तथा मेढ़् और वृषण भी झड़ जाया करते हैं।

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत्समुदाहृतम् ॥१७४॥
एतं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्त्यपि।

इस प्रकार ध्वजभंगकृत क्लैब्य को कहा गया है। इसे कई एक पांच प्रकार का ध्वजभङ्ग भी कहते हैं।

जराजन्य क्लैब्य

क्लैब्यं जरासंभवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ॥१७५॥
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते।
अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ॥१७६॥

अब आगे (मैं) बुढ़ापे के कारण उत्पन्न होने वाले क्लैब्य को कहूँगा उसे (तू) सुन—

१—जघन्य (बाल्यावस्था १६ वर्ष तक जब तक शुक्रोत्पत्ति नहीं होती) २-मध्य (६० वर्ष तक जब तक कि शुक्रोत्पत्ति बराबर होती रहती है तथा) ३—प्रवर (६० के बाद वृद्धावस्था) इस प्रकार तीन प्रकार की वयस् कही जाती है। अत्यधिक प्रवयस् होने पर पुरुषों का शुक्र प्रायः करके क्षीण होजाता है।

रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात्।
बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ॥१७७॥
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात्क्लमात्।
जरासंभवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ॥१७८॥
जायते, तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः।
विवर्णो विह्वलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ॥१७९॥
एतज्जरासंभवं हि,

१—रस आदि (सप्तधातुओं के) संक्षय के कारण, तथा २—अवृष्य पदार्थों के सेवन करने के कारण तथा ३—बलवीर्य और इन्द्रियों के क्रमशः परिक्षीण होने के कारण, ४—आयु के भी क्षय के कारण, ५—अनाहार करने से, ६—श्रम करने से, ७—क्लम के कारण,

इस प्रकार (उपरोक्त) इन हेतुओं से मनुष्यों का वृद्धावस्था के कारण क्लैब्य उत्पन्न होजाता है। इससे वह व्यक्ति अत्यधिक क्षीण धातु, बहुत दुर्बल, वर्ण विकृत, विह्वल (निज शरीराङ्गों के धारण करने में भी असमर्थ) शीघ्र रोग को पालेता है।

यह जराजन्य क्लैब्य (है)।

धातुक्षयजन्य क्लैब्य

चतुर्थं क्षयजं शृणु ।
अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद्भयादपि ॥१८०॥
ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान्सदा विशति यो नरः ।
कृशो वा सेवते रूक्षतन्नपानं तथौषधम् ॥१८१॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि ।
असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥१८२॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम् ।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥१८३॥
शुक्रावसानास्तेभ्यो हि शुक्रं धाम परं मतम् ।

(अब) चौथा क्षयज क्लैब्य का वर्णन (तू) सुन १—अत्यधिक चिन्तन करने से, २—शोक से, ३—क्रोध से, ४—भय से, ५—ईर्ष्या,उत्कण्ठा(eagerness) मद तथा उद्वेग के कारण जो नर सदा ग्रस्त रहता है अथवा ६—कृश होकर जो रूक्ष अन्नपान तथा औषध को सेवन करता है और जो ७—प्रकृति से दुर्बल यदि व्यक्ति निराहार(रहता है)८-और असात्म्य भोजन के कारण भी हृदय में जो प्रधान रस धातु व्यवस्थित रहती है वही मनुष्यों की शीघ्र क्षीण होने लगती है। उससे उस शरीरधारी के रक्त आदि अन्य धातुएँ भी शुक्रपर्यन्त क्षीण होने लगती हैं। इन सबमें शुक्र को परमतेज रूप माना गया है।

चेतसो वातहर्षेण व्यवायं सेवितोऽति यः ॥१८४॥
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥१८५॥
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।
एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥१८६॥

चेतस् (मन) के अत्यधिक कामासक्त होने से जो अत्यधिक मैथुन सेवन करता है। उसका शुक्र शीघ्र क्षीण हो जाता है और इससे वह धातुक्षय को प्राप्त करता है। (इसके कारण वह व्यक्ति) घोर व्याधि प्राप्त करता है या मरण को प्राप्त होता है।

इस कारण से आरोग्य की इच्छा करने वाले व्यक्ति को शुक्र की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए।

यह निदान और लक्षण दोनों से चतुर्विध क्लैब्य को कहा गया है।

क्लैब्य—असाध्यलक्षण

केचित्क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।
वदन्ति शफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च ॥१८७॥
मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।
गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्यरेतोवहाः सिराः ॥१८८॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥१८९॥
एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ।

कोई कोई (विद्वान) ध्वजभङ्ग तथा धातुक्षय जन्य दो नपुंसकताओं को असाध्य कहते हैं। तथा मूत्रेन्द्रिय का काटना (amputation of the penis) तथा अण्डकोषों के उत्पाटन (निकाल देने excision of the testes) से (असाध्य नपुंसकता होती है ऐसा भी बताते हैं)।

माता पिता के बीज दोष से, गर्भस्थ अकृतात्मा (पापात्मा) के पूर्वकृत अशुभ कर्मों से जब दोष शुक्रवाहिनी धमनियों में पहुँच कर उनको सुखा देते हैं। तब उनके नाश से शुक्र भी शीघ्र नष्ट होजाता है वहां उसका सर्वाङ्ग पूर्ण होने पर भी वह पुरुष अपुरुष (नपुंसक) हो जाता है। सन्निपात के कोप के कारण उत्पन्न होने वाले असाध्य क्लैब्यों का व्याख्यान कर किया गया है।

क्लैब्य—चिकित्सा

चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु ॥१९०॥
शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयानघ ।
क्लैब्योपशान्तये कुर्यात्क्षीणक्षतहितं च यत् ॥१९१॥

अब आगे (नपुंसकता की) संक्षिप्त विस्तृत चिकित्सा (तू) सुन—

हे निष्पाप! शुक्रदोषों में जो मेरे द्वारा औषध निर्दिष्ट कर दी गई है और जो क्षतक्षीण के लिए हित है (उस सबको) क्लैब्य की शान्ति के लिए प्रयोग करले।

वस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत् ॥१९२॥

समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित् ।

बस्तियां, क्षीरसर्पि, तथा जो वृष्य योग माने गये हैं और रसायन के प्रयोग इनको सबको भेषज कालवेत्ता वैद्य रोगी के देह-दोष अग्नि के बल को देखकर प्रयोग करे ।

व्यवायहेतुजे क्लैब्य कुर्याद्धेतुविपर्ययात् ॥१९३॥
दैवव्यपाश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे ।
समासेनतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्य शान्तये ॥१९४॥

(अत्यधिक) मैथुन के कारण उत्पन्न क्लैब्य में हेतु विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए अभिचारजन्य (क्लैब्य) में दैवव्यापाश्रय चिकित्सा (करनी चाहिए)। यह संक्षेप से क्लैब्य शान्ति के लिए औषध कह दीगई है ।

विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः ।
सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥१९५॥
अन्नासनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः ।
प्रदद्यान्मतिमान्वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ।
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत्ततः ॥१९६॥

अब पुनः (मैं) क्लैब्यों की विस्तारपूर्वक भेषज बतलाऊंगा। शरीर का खूब स्नेहन और आवश्यकतानुसार) स्वेदन करके, स्निग्ध विरेचन (देवे) फिर अन्न का अशन तब फिर ।

आस्थापन करना चाहिए। उसके बाद बुद्धिमान वैद्य ढाक, अरण्डी तथा मोथा आदि द्रव्यों से (फिर) आस्थापन करावे ।

वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ।
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे ॥१९७॥

पहले जो वाजीकरण योग कह दिये गये हैं। बीजोपघातजन्य क्लैब्य में वैद्य के द्वारा उनका प्रयोग होना चाहिए ।

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत्क्रियाम् ।
प्रदेहान्परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम् ॥१९८॥
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम् ।
अनुवासं ततः कुर्यादथवास्थापनम् पुनः ॥१९९॥
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः ।

ध्वजभङ्गजन्य क्लैब्य को जानकर उसकी चिकित्सा करे। प्रलेप, परिषेक, अथवा रक्तमोक्षण करे। स्नेहपान करावे और स्निग्ध विरेचन देवे। तब फिर अनुवासन करावे फिर आस्थापन करे। विचक्षण (कुशल वैद्य) वह सब चिकित्सा व्रणवत् करे ।

जरासम्भवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत् ॥२००॥
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ।

वृद्धावस्था से उत्पन्न क्लैब्य में तथा धातुक्षय जन्य क्लैब्य में (स्नेहन स्वेदन) करावे। स्नेहन स्वेदन किए हुए का स्नेहों के साथ संशोधन हितकर (होता है)।

क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगाः बस्तयश्चैव यापनाः ॥२०१॥
रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ।

क्षीरसर्पि, वृष्ययोग, तथा यापना बस्तियाँ तथा रसायन के प्रयोग (जिनका वर्णन यथा प्रसंग कर दिया गया है) इन दोनों (प्रकार के क्लैब्यों की) भेषज कही जाती हैं।

यह मुझसे क्लैब्यों की विस्तारपूर्वक चिकित्सा कही गई है।

वक्तव्य—(४९५) नपुंसकता के चार कारण बीजदोष, ध्वजभंग, धातुक्षय और जरा का जिसको ज्ञान है उसे अपने पूर्व संचित ज्ञान के आधार पर शुक्रदोषहर, मूत्रेन्द्रिय विकार शामक, वृष्य और वाजीकरण योगों द्वारा तथा क्षतक्षीणता-नाशक उपायों से चिकित्सा की जाया करती है। कौन योग कहां उपयुक्त होगा यह उस रुग्ण विशिष्ट की अवस्था पर निर्भर करता है।

प्रदर—निदान तथा सम्प्राप्ति

विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं मया ॥२०२॥
यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम् ।
याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च ॥२०३॥
कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ।
ग्राम्यौदकानि मेध्यानि कृशरां पायसं दधि ॥२०४॥
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ।
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगता सिराः ॥२०५॥
रजोवहा समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ।

तस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता ॥२०६॥
तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ।
रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरस्तेन स स्मृतः ॥२०७॥
सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ।

जो पहले प्रदर रोग कहा गया है उसको निदान आदि से तो (तू) सुन।

जो नारी अत्यधिक नमकीन, खट्टे और भारी, चरपरे, दाहकारक, चिकने पदार्थ तथा मांसों को सेवन करती है तथा ग्राम्य-जलीय मेदवाले जीवों के मांस, खिचड़ी, खीर, दही, सिरका, दही का पानी, शराब आदि को सेवन करती है (उसका) वातदोष कुपित होकर रक्त को मात्रा से अधिक बढ़ाकर गर्भाशय की रजोवाहिनी सिराओं का आश्रय करके रक्त को लेकर उस आर्तव को शीघ्र बढ़ा देता उस कारण से रस भाव से रक्त के प्रमाण में विमानता (स्वमानाद् विवृद्धमानता) वृद्धि होती है उससे इसे तन्त्रवेत्ता (Gynaecologists) असृग्दर कहते हैं।

जिस कारण से रज (गर्भाशय की प्राचीरों को) विदीर्ण कर करके आता है इस प्रकरण से वह प्रदर (इस नाम से) स्मरण किया गया है। प्रदर के (ये) सामान्य कारण और लक्षण कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—(४६६) ऊपर किस कारण से स्त्री अत्यधिक आर्तव स्राव करने में समर्थ होती है वह बतलाया गया है। इससे भी ज्ञात होता है कि चरक असृग्दर और प्रदर को एक ही मानता है। लोक में वैसा प्रचलित नहीं है। प्रदर अर्थात् श्वेतस्राव, असृग्दर अर्थात् रक्तस्राव। गर्भाशय का प्रदरण करके छोड़ कर जो अतिस्राव होता है इसलिए उसे प्रदर कहते है। असृग्दरण रक्त का फूट फूट कर निकलना भी इसमें होने से वही असृग्दर कहाता है।

चतुर्विध प्रदर

चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपातजः ॥२०८॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ।
रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत् ॥२०९॥
कुपितः प्रदरं कुर्याल्लिङ्गं तस्य च मे शृणु ।
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च ॥२१०॥
किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।
कटी वङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः ॥२११॥
कुरुते वेदनाः तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः ।
अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा ॥२१२॥
पूर्ववत्प्रदरं कुर्यात् पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ।
सनीलमथ वा पीतमत्युष्णमसितं तथा ॥२१३॥
नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरर्यार्तिमत् ।
विदाहरागतृण्मोहज्वरभ्रमसमायुतम् ॥२१४॥
असृग्दरं पैत्तिकं तत् श्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ।
गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत्कुपितः कफः ॥२१५॥
प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ।
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरुस्निग्धं च शीतलम् ॥२१६॥
स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मंदरुजाकरम् ।
छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम् ॥२१७॥
त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यानैकावस्थमसृग्दरम् ।
नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीण शोणिता ॥२१८॥
सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः ।
रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीककरं कफम् ॥२१९॥
दुर्गंधं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ।
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान् ॥२२०॥
सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ।

(और) विस्तारपूर्वक तो वातादि तीन तथा सन्निपात से प्रदर चार प्रकार (का होता है) अब आगे (मैं) उसका हेतु, लक्षण और चिकित्सा कहूँगा।

वातिकप्रदर—रूक्ष आदि कारणों से कुपित हुआ वायु पूर्व कथन के अनुसार रक्त को ग्रहण करके (वातिक) प्रदर कर देता है। उसके लक्षण मुझसे (तू) सुन।

झागदार, पतला, रूखा, तथा श्याव (dark) तथा गुलाबी तथा ढाक के फूलों के से रंगे जल के समान शूलयुक्त या बिना शूल का आर्तव स्राव होता है। वातदोष कटि-वंक्षण-हृदय-पसली-पीठ और श्रोणि (इन भागों) में तीव्र वेदना कर देता है। यह वातात्मक प्रदर जानना चाहिए।

पैत्तिक प्रदर—खट्टे, नमकीन, खारे पदार्थों से जब

पित्त प्रकुपित हो जाता है तो पहले कहे अनुसार पैत्तिक प्रदर कर देता है। उसे लक्षण के अनुसार (तू) सुन—

नीलिमा के साथ, अथवा पीला, अथवा असित (काला) अत्यन्त गरम बिल्कुल रक्त बार बार शूल के साथ स्रवता है। दाह, राग, प्यास, मोह, ज्वर, भ्रम के साथ पैत्तिक असृग्दर होता है।

श्लैष्मिक प्रदर—कफज प्रदर को (आगे) कहा जावेगा। गुरु आदिक हेतुओं से पहले कहे अनुसार कुपित हुआ कफ, प्रदर को उत्पन्न करता है उसके लक्षण को (तू) तत्त्वपूर्वक सुन—

चिपचिपा, पाण्डुवर्ण का, भारी, चिकना तथा ठण्ठा श्लेष्मा से युक्त, घना मन्द-मन्द शूल करने वाला, वमन, अरुचि, मतली, श्वास और कास से युक्त रक्त बहता है।

सान्निपातिक प्रदर—इस अध्याय में क्षीरदोषों का जो सामान्य कारण कहा जावेगा। वही तो त्रिदोषज प्रदर का (भी) कारण (होता है)। भिन्न भिन्न अवस्थाओं वाले (नहीं है एक अवस्था जिसकी इस) प्रदर को तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त जाने।

अत्यन्त कष्ट से पीड़ित रक्त से क्षीण नारी जब सब हेतुओं का सेवन करती है तब अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु प्रत्यनीक बल (हीन बल) होकर पित्त के तेज से विदग्ध पीले, दुर्गन्धपूर्ण, चिपचिपे, कफ को रजोवाही मार्ग द्वारा, निकालता है। जब वेगवान् वायु वसा और मेद को लेकर घी, मज्जा और वसा के समान आस्राव को योनि द्वारा बाहर निकालता है।

शश्वत्स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्वितम् ॥२२१॥
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विवर्जयेत्।

जो निरन्तर (उक्त) स्राव निकालती रहे। तृष्णा दाह और ज्वर से युक्त, रक्त से क्षीण और दुर्बल तथा असाध्या उस (स्त्री को) छोड़ दे (चिकित्सा न करे)।

विशुद्धार्तव

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ॥२२२॥
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्।

पिच्छिलता-दाह और अरति (शूल) से रहित (लगभग) एक मास बीतने पर (बहुधा) पांच रात्रि पर्यन्त रहनेवाला न अत्यधिक और न अत्यल्प (जो) आर्तव (निकलता है वह) शुद्ध कहा जाता है।

गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम् ॥२२३॥
इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत्।

चोंटनी के फल के समान (लाल) या पद्म (के फूल की पँखुडियों के समान गुलाबी) या लाख के रस (अलक्तक) के समान (लाल) अथवा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के सदृश (गहरा लाल) आर्तव शुद्ध कहा जाता है।

वक्तव्य—(४६७) आर्तव (menstrual blood) जो मासिकधर्म के समय किसी भी स्वस्थ स्त्री की योनिमार्ग से उसके बीज की परिपक्वता के प्रमाणस्वरूप प्रगट होता है और जो अपने साथ गर्भोत्पादक तत्व को भी बहाले जाता है गर्भाशय की अन्तश्छद के विदीर्ण होने के कारण शरीरस्थ हार्मोन्स (hormones) की क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है उसके निकलने की अधिकतम मर्यादा ५ दिन की वर्णन की गई है। उसके निकलते समय शूल (वातिक लक्षण) दाह (पैत्तिक लक्षण) और पिच्छिलता (श्लैष्मिक लक्षण) कोई भी नहीं मिलना चाहिए। अर्थात् स्त्री के तीनों दोषों का कोई भी प्रभाव उसके आर्तव में देखा नहीं जाता। जब जो दोष प्रकुपित होगा वही वही उपद्रव आर्तव-स्राव के काल में भी उपस्थित होवावेंगे।

प्रदर चिकित्सा

योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम् ॥२२४॥
चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक्।

वातज आदि योनि (व्यापदों) की जो ओषधि इह (इसी अध्याय में) कही गई है। चारों प्रकार के प्रदरों की (भी) वही सब (चिकित्सा) वैद्य करावे।

रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्।
रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥२२५॥

जो रक्तातिसारियों की तथा जो रक्तपित्तियों की और रक्तार्शवालों की जो भेषज कही गई है उसे

(वैद्य) करावे ।

स्तन्यदोष

धात्रीस्तनस्तन्यसंपदुक्ता विस्तरतः परा ।
स्तन्यसंजननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥२२६॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम् ।
तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः ॥२२७॥
वातादिष्वेव तान्विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषग्वरः ।

(शारीरस्थान जातिसूत्रीय अध्याय में) पहले धात्री (धाय) के स्तन(आंचल)और स्तन्य(दूध) सम्पद् (प्रशस्तता) विस्तारपूर्वक कहा जाचुका है। (साथ ही) स्तन्य सञ्जनन (galactogogue) द्रव्यों तथा स्तन्य का शोधन वातादि दोषों से दूषित(स्तन्य) के लक्षण,क्षीण दुग्ध की चिकित्सा वह सब कह दिया गया है। और जो क्षीर के आठ दोष कहे गये हैं तो शास्त्ररूपी नेत्रों से देखने वाला श्रेष्ठ वैद्य वात आदिकों में ही उनको जाने ।

वक्तव्य—(४६८) सूत्र स्थान अ० १६ में १-वैवर्ण्य २—वैरस्य ३—पैच्छिल्य ४—फेनसंघात ५—रौक्ष्य, ६—गौरव, ७—वैगन्ध तथा ८—अतिस्नेह ये आठ दुग्धदोष बतलाये जा चुके हैं ।

त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥२२८॥

यतः (क्योंकि मन्दबुद्धि, मध्य बुद्धि तथा तीव्र-बुद्धि इस प्रकार) शिष्य ३ प्रकार के (होते हैं उस कारण से) उसे विस्तारपूर्वक (मैं) बतलाऊंगा—

स्तन्य का निदान और सम्प्राप्ति

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥२२६॥
मनः शरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात् ।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्रोक्तोदीरणेन च ॥२३०॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधिमन्दकम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥२३१॥
भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्कर्षणैः ॥२३२॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्यसिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।
कुर्युरष्टविधं भूयः,

अजीर्ण, विषम, असात्म्य, विरुद्ध, अत्यधिक भोजन करने से, नमकीन, खट्टे, चरपरे, खारे गीले पदार्थों के सेवन करने से मन में दुख होने से शरीर में सन्ताप होने से, रात्रि जागरण से, रात में चिन्ता करने से, आये हुए वेग का अवरोध से, और जो वेग अप्राप्त है उसे निकालने से, परमान्न खीर हलुआ आदि गुड, घृत, और मछली खिचड़ी, दही, अभिष्यन्दी ग्राम्य, आनूप, जलीय जीवों के मांस खा खाकर दिन में सोने से, अत्यधिक शराब पीने (अभिचारकर्म से) परिश्रम (चक्की चलाना, मेहनत करना) न करने से (चोट लगने से) रोग के कारण दुर्बल हो जाने से—

क्षीराश्रित कुपित हुए दोष क्षीरवाही सिरा को प्राप्त करके और दूध को दूषित करके आठ प्रकार का क्षीर दोष कर देते हैं। वह (तू) मुझ से सुन ।

नोट—ऊपर जो क्षीर-दोषों का सामान्य कारण दिया गया है वही कारण सन्निपातज प्रदर का हेतु है। ऐसा पूर्व ही लिखा जाचुका है।

आठक्षीर दोष

दोषतस्तन्निबोध मे ॥२३३॥
वैरस्यं फेनसंघातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैवर्ण्यं दौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥२३४॥
कफाद्भवति रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्यरसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥२३५॥
विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत्पिबन् ।
न चास्य स्वेदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥२३६॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
करोति फेनसङ्घातं तत्तु कृच्छ्रात्प्रवर्तते ॥२३७॥
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥२३८॥
पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
रूक्षं तत्पिबतो रौक्ष्याद्बलह्रासः प्रजायते ॥२३६॥
पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम् ।
करोति स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥२४०॥

विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं स्तनम् ॥२४१॥
पूर्ववत्कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति ।
पाण्ड्वामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ॥२४२॥
क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः
स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु ॥२४३॥
छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः ।
नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः ॥२४४॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः ।
अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ॥२४५॥
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तत् पिबञ्छिशुः ।
कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात्क्षीरगौरवम् ॥२४६॥
कुर्य्यात् स्नेहान्वितं पीतं तद्भावात् कफरोगवान् ।
अन्यांश्च विविधान् रोगान् कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान्॥२४७॥

उन (आठों क्षीरदोषों) को दोषानुसार मुझसे (तू) सुन —

दोषानुसार क्षीरदोष—वातात्मक क्षीरदोष में विरसता, फेनसङ्घात और रूक्षता, पित्त में विवर्णता, दुर्गन्धता तथा कफ के कारण अतिस्निग्धता, पिच्छिलता तथा भारीपन होता है।

विरसता--रूक्षादि पदार्थों से वायु अपने प्रकोपक हेतुओं द्वारा, क्रुद्ध होकर क्षीराशय को प्राप्त करके स्तन्य के रस को दूषित कर देता है।

विरस वातसंसृष्ट दुग्ध को पीता हुआ बालक कृश होजाता है। और उसको वह दूध स्वादिष्ट नहीं लगता है तथा बड़ी कठिनाई से शिशु बढ़ता है कहने का तात्पर्य यह है कि जब दूध का स्वाद ही बिगड़ गया है तो उसको पूरी मात्रा में शिशु पी नहीं पाता जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है वह कृश दुर्बल और चिड़चिड़े स्वभाव का होजाता है।

फेनसङ्घात—वही प्रकुपित वायु आंचल के अन्दर ही स्तन्य को विलोडित करता हुआ फेनों की उत्पत्ति कर देता है जिसके कारण वह बड़ा कठिनाई से बाहर निकलता है।

उसके कारण दीनस्वर शिशु (जिसका) मलमूत्र और वात अवरुद्ध (हो जाता है) वातिक शिरोरोग या प्रतिश्याय को वह शिशु प्राप्त करता है।

रूक्षता—पूर्ववत कुपित हुआ वात दूध में स्नेह भाग को सुखा देता है। रूक्ष दूध को पीता हुआ शिशु रूक्षता के कारण उसके बल का ह्रास उत्पन्न हो जाता है।

वैवर्ण्य—उष्णादिक आहार विहारादि से कुपित स्तन्याशय में अभिप्लुत हो (मिल) कर स्तन्य की नील-पीत-असित आदिक विवर्णता को करता है। इस दुग्ध को पीने वाला शिशु के गात्र का वर्ण भी विकृत हो जाता है उसे पर्याप्त स्वेद आता है, प्यास खूब लगती है, मल फटा फटा सा शरीर नित्य गरम रहता है तथा उसको स्तनपान अच्छा नहीं लगता। कहने का तात्पर्य यह है कि वैवर्ण्य पित्तकोप का लक्षण है। पित्त के कोप का परिणाम शिशु पर भी पैत्तिक-विकृतिजन्य ही हुआ करता है इसी कारण उष्ण-शरीर, तृष्णालुता स्वेदाधिक्यादि लक्षण होजाते है।

५—दौर्गन्ध्य—पूर्ववत् पित्त के कुपित होने पर दूध दुर्गन्धित हो जाता है। उस दूध को पीते हुए शिशु को पाण्डु रोग तथा कामला हो जाता है।

६—अतिस्निग्धता—गुर्वादि पदार्थों के द्वारा पूर्ववत् कुपित कफ स्त्री के क्षीराशय (स्तनों) में प्राप्त होकर स्नेह से युक्त होकर वह क्षीर को अति स्निग्ध कर देता है।

उस दूध के सेवन से वमन, कुन्थन, लालायुता (अत्यन्त लालास्राव) उत्पन्न हो जाता है (उसके) स्रोत सदैव कफ से लिप्त रहते हैं निद्रा और क्लम से युक्त श्वास कास से पीडित, प्रसेक और तमक से पीडित वह (होजाता है)। अतिस्निग्धता के इन लक्षणों को ही शिशु का पसली चलना या डब्बा रोग नाम देदिया जाता है।

७—पिच्छिलता—जब स्तन्य को कफ अभिभूत करके पिच्छिल कर देता है तो उसे पीता हुआ शिशु लार टपकाने वाला, मुख और नेत्र सूजे हुए और जड़वत् (motionless) हो जाता है।

८—गौरव -(कुपित) कफ क्षीराशय (स्तनों)में जाकर भारी होने के कारण दूध को भारी कर देता है। स्नेह से युक्त उसके होने के कारण पिया हुआ दुग्ध शिशु को कफरोग युक्त कर देता है। तथा वह अन्य भी बहुत से क्षीरसम्बन्धी रोगों को कर देता है। चक्रपाणि ने गौरव के कारण बालक में हृद्रोग की उत्पत्ति भी बतलाई है।

वक्तव्य—(४६६) माता का दूध स्नेह में अल्प होने से रूक्ष और अधिक होने से स्निग्ध माना जाता है। पिच्छिलता और गौरव भी कफजन्य दोष हैं। बहुधा बच्चों को लार का टपकाना देखा जाता है वैद्य को कफ के कारण होने वाले क्षीरदोषज व्याधियों को समझने में बहुत सतर्क रहना चाहिए। पित्त दूध को अधिक गड़बड़ाता नहीं है यदि कुछ गड़बड़ पड़ती भी है तो वह पाण्डु कामला तृष्णा स्वेद आदि में स्पष्ट हो जाता है। दुर्गन्धित दूध का पता चलना कठिन है क्योंकि दूध माता के स्तन में है और शिशु को उसकी अधिक घृणा नहीं होती। वातिक क्षीरदोष से बलह्रास और रौक्ष्य बढ़ता है। नीचे एक बहुत मार्गदर्शक वाक्य कहा गया है—

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति तदात्मकाः।

वातादि दोषों से अधिक दुष्ट दूध होने पर उस-उस प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यदि मातृदुग्ध वातिकदोषों से दूषित है तो वातिकरोग पैत्तिक से पैत्तिक और श्लैष्मिक से श्लैष्मिकरोग शिशु में देखे जाते हैं।

क्षीरदोषचिकित्सा

तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ॥२४८॥
संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो वमनेनोपपादयेत्।

वहां आदि में स्तन्य की शुद्धि के लिए स्नेहोपपादित (स्नेह चुपड़ी हुई) धात्री को विधि के अनुसार संस्वेदित करके फिर वैद्य वमन देवे।

वचाप्रियंगुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः ॥२४९॥
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत्।

वालवच, प्रियंगु, मुलहठी, मदनफल, इन्द्रजौ, सरसों के कल्कों से तथा नीम और पटोल के लवण सहित क्वाथों से वमन करे।

सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृत संसर्जनां ततः ॥२५०॥
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत्।

भले प्रकार वमन कराये गये और नियमपूर्वक संसर्जन क्रम किए गए उसको दोष-काल-बल की अपेक्षा रखने वाले (वैद्य) को स्नेहन कराकर विरेचन करावे।

त्रिवृतामभयां वापि त्रिफलारससंयुताम् ॥२५१॥
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वापि केवलाम्।
(पाययेन्मूत्र संयुक्तां विरेकार्थं च शास्त्रवित्) ॥२५२॥

त्रिफला के स्वरस के साथ संयुक्ता मधु मिलाई निशोथ या केवल मात्र हरड़ को गोमूत्र के साथ मिलाकर विरेचन के लिए शास्त्रवेत्ता (वैद्य) पिलावे।

अथ सम्यग्विरिक्तां च कृतसंसर्जनां पुनः।
ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥२५३॥

इस प्रकार सम्यक्तया विरेचन किए हुए को फिर संसर्जन क्रम कराके तब अवशिष्ट दोषनाशक अन्न पानादिकों से उपचार करे।

शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिताः।
प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ॥२५४॥

शालि, साठी, सवां, प्रियंगु, कोदों, जौ अथवा बांस के जौ भोजन के लिये हितकर (होते हैं)।

वंशवेत्रकलायाश्च शाकार्थे स्नेह संस्कृताः।

शाक के लिए (कच्चा) बांस, वेत्राग्र, तथा मटर स्नेह (घी या तैल) से छोंककर (संस्कृत करके प्रयोग करने चाहिए)।

मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत् ॥२५५॥

यूष के लिए मूंगों, मसूरों तथा कुलथियों की कल्पना करे।

स्तन्यसंशोधक योग

निम्बवेत्राग्रकुलकवार्ताकामलकैः शृतान्।
सव्योषसैन्धवान्यूषान् पाययेत्स्तन्यशोधनान् ॥२५६॥
शशान् कपिञ्जलानेणान्संस्कृतांश्च प्रदापयेत्।

नीम, वेत्राग्र, करेला, बैंगन, आमलों से त्रिकटु सैन्धव के साथ उबाले हुए यूषों को (अथवा) खर-

गोशों, कपिञ्जलों, एणों (के उचित रूप से तैयार किए गए) मांसों को देवे।

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वग्वस्तगन्धाशृतं जलम् ॥२५७॥
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम्।
अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं चैव सनागरम् ॥२५८॥
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत्।
त्रीनेतान्स्तन्यशुद्धयर्थमिति सामान्यभेषजम् ॥२५९॥
कीर्तितं स्तन्यदोषाणां,

महाकरञ्ज, सप्तपर्ण की त्वचा, अजगंधा (अजमोदा) से उबाले जल को अथवा कटुकी से शृत (उबाले) जल को पिलावे।

१—गिलोय, सप्तपर्ण की छाल का क्वाथ,
२—सोंठसहित गिलोय सप्तपर्ण की छाल का क्वाथ, तथा
३—कड़वे चिरायते का क्वाथ,

इन तीनों श्लोक के पाद (चतुर्थांश) में कहे गये क्वाथों को स्तन्यशुद्धि के लिए पीवे। यह स्तन्य दोषों की सामान्य औषधि कह दी गई है।

अथगन्यं निबोध मे।
पाययेद्विरसक्षीरां द्राक्षामधुकसारिवाः ॥२६०॥
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोडच सुखाम्बुना।
पञ्चकोलकुलत्थश्च पिष्टैरालेपयेत्स्तनौ ॥२६१॥
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्तथा स्तन्यं विशुध्यति।

(अब) अलग अन्य (विशिष्ट चिकित्सा को) मुझ से (तू) सुन।

१—विरसता में—१ विरस हो गया है क्षीर जिसका ऐसी धात्री को मुनक्का, मुलहठी, सारिवा तथा क्षीरकाकोली खूब बारीक पिसी हुई गुनगुने जल में खूब गड़बड़ाकर पिलावे।

२—पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) तथा कुलथी पीसकर उससे दोनों स्तन आलेपित करदे। सूखने पर धोकर (स्तनों को हाथ या ब्रैस्टपम्प द्वारा) दुहलें। ऐसा करने से स्तन्य शुद्ध हो जाता है।

फेनसङ्घातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ॥२६२॥
पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना।

फेनसंघात में—१ जिस स्त्री का फेनसंघातवत् क्षीर हो उसे पाठा, सोंठ, महाकरंज, मूर्वा को गुनगुने जल से पीसकर पिलावे।

अञ्जनं नागरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः ॥२६३॥
स्तनयोः पूर्ववत्कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम्।

२—अंजन, सोंठ, (तगर पाठ होने पर तगर) देवदारु, बेल की जड़, प्रियंगु दोनों स्तनों का पूर्ववत् क्षीरशोधक लेप करना चाहिए।

किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्वाथयेद्भिषक् ॥२६४॥
तं क्वाथं पाययेद्धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम्।

३—चिराइता, सोंठ, गिलोय को वैद्य क्वाथ करले। उस स्तन्यदोषनाशक क्वाथ को धात्री को पिलावे।

स्तनौ चालेपयेत्पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ॥२६५॥

जौं, गेहूं और सरसों पीसकर उससे स्तनों पर लेप करे।

षड्विरेकाश्रितीयोक्तैरोषधैः स्तन्यशोधनैः।
रूक्षक्षीरा पिबेत्क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ॥२६६॥

३—रूक्षक्षीर होने पर—सूत्रस्थान के षड्विरेकाश्रितीय अध्याय में कही गई स्तन्यशोधक औषधि से सिद्ध क्षीर अथवा घृत को रूक्षक्षीर वाली स्त्री पीवे।

पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम्।
स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ॥२६७॥

पहले के समान स्तन्यशोधक जीवक आदि (जीवनीयगण की) औषधियों तथा पञ्चमूलों का सुखोष्ण (गुनगुना) प्रलेप दोनों स्तनों पर करना चाहिए।

यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्धुवारिकाः।
शीताम्बुना पिबेत्कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ॥२६८॥

४—विवर्णता होने पर—१—मुलहठी, क्षीरकाकोली निर्गुण्डी के कल्क को शीतल जल से दूध की विवर्णता के नष्ट करने के लिए पीवे।

द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत्।
प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यातौ पुनः पुनः ॥२६९॥

२—तथा मुनक्का मुलहठी के कल्क से इसके विवर्ण

दूध देने वाली स्त्री) दोनों स्तनों पर लेप करे। (सूख जाने पर) जल से धोकर (हाथ से या पम्प से) दोनों को बार बार दुहले।

विषाणिकाजशृङ्ग्यौ च त्रिफलां रजनीं वचाम्।
पिबेच्छीताम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशनीम् ॥२७०॥

५-दौर्गन्ध्य होने पर -१-मातृदुग्ध की दुर्गन्ध को नष्ट करने वाली काकडासिंगी मेढासिंगी दोनों तथा त्रिफला, हल्दी, बालवच पीसकर शीतल जल के साथ (अथवा गंगाधर कविराज के मत से दूध के जल से) पीवे।

वक्तव्य (५००) विषाणिका से कुछ लोगों ने मूर्वा लिया है जो असङ्गत है काकड़ासिंगी श्वासपित्तास्रनाशनी होने से और दुर्गन्ध पित्तल उपद्रव होने से विषाणिका से काकडासिंगी का लेना अनिवार्यतया सिद्ध होजाता है।

लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकप्लुतम्।
क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा ॥२७१॥

२-अथवा क्षीर की दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिए पथ्य भोजन करने वाली धात्री त्रिकटु के साथ हरड़ के चूर्ण को शहद में ओतप्रोत करके चाटे।

सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातैर्वा सचन्दनैः।
पत्राम्बुचन्दनोशीरैःस्तनौ चास्याःप्रलेपयेत् ॥२७२॥

३-इस (क्षीर में दुर्गन्ध आने वाली धात्री) के दोनों स्तनों पर सारिवा, खस, मजीठ, लहसोड़ा लालचन्दन सहित तेजपत्र, सुगन्धवाला, श्वेतचन्दन खस (के कल्क) से लेप करे।

स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना।
पीत्वा ससैन्धवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥२७३॥

६-अतिस्निग्धक्षीर होने पर-(जिस स्त्री का) दूध अत्यधिक स्निग्ध (हो वह) देवदारु, मोथा, पाठा, सैन्धवलवण के साथ गुनगुने जल के साथ पीकर शीघ्र दुग्ध की शुद्धि प्राप्त करे।

पाययेत्पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम्।
मुस्तानागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ॥२७४॥

७-पिच्छिलक्षीर होने पर-१ पिच्छिलक्षीर (दोष से पीडित स्त्री को) महाकरंज, हरड़, वच को अथवा २-मोथा, सोंठ तथा, पाठा को गुनगुने जल के साथ पिलावे। पीने पर (ये) दुग्ध का शोधन करते हैं।

तक्रारिष्टमपि पिबेदर्शसां यन्निदर्शितम्।
विदारी बिल्व मधुकैः स्तनौ चास्याःप्रलेपयेत् ॥२७५॥

३-अर्श के प्रकरण में जो कहा गया है उस तक्रारिष्ट को भी पीवे ४-अथवा विदारीकन्द, बेलगिरी, और मुलहठी इनके कल्कों से इसके स्तनों पर लेप कर दे।

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाशृतम्।
गुरुक्षीरा पिबेदाशु स्तन्यदोषविशुद्धये ॥२७६॥

८-भारी दूध होने पर-१-त्रायमाण, गिलोय, नीम परवल और त्रिफला से उबाला क्वाथ स्तन्यदोष की विशुद्धि के लिए गुरुक्षीरा (भारी दूध वाली स्त्री) शीघ्र पीवे।

पिबेद्वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम्।
बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत्स्तनौ ॥२७७॥
पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ वास्याः प्रलेपयेत्।

३-अथवा पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ को (क्वाथ करके या कल्क को जल के साथ) पीवे।

४-तथा खरैटी, सोंठ, महाकरंज, मूर्वा, इनसे दोनों स्तनों को प्रलिप्त करे।

५-अथवा पृश्निपर्णी तथा क्षीरकाकोली दोनों (के कल्क से) इसके दोनों स्तनों को प्रलिप्त करे।

अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ॥२७८॥
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः।

ये आठ क्षीरदोष, हेतु-लक्षण तथा चिकित्सा सहित बता दिये (हैं) तथा क्षीरदोष से उत्पन्न होने वाले कई अन्य रोग भी (उसी के साथ साथ) कह दिये गये हैं।

वक्तव्य-(५०१) आठों क्षीर दोषों का जो साङ्गोपाङ्ग सप्रमाण वर्णन आचार्य ने प्रगट किया है वह पौर्वात्य भाव निरूपण-कला का स्पष्ट उदाहरण है। आगे कुछ उन बाल रोगों का सामान्य वर्णन भी कर दिया गया है जो दुष्ट क्षीर के कारण उत्पन्न हुए रहते हैं। बालरोगों का विस्तृत और यथार्थ वर्णन देखने के लिए चौखम्बा

संस्कृत पुस्तकालय काशी से हमारी लिखी 'कौमारभृत्यम् नव्यबालरोग सहितम्' नामक पुस्तक का अवलोकन करना चाहिए।

दुष्टक्षीरजन्य बालरोग चिकित्सा

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ॥२७९॥
त एव सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता।

(वातादि ३) दोष, (रसादि ७) दूष्य, (मल-मूत्रादि) मल और जो बड़ों को व्याधियां (होती हैं) वे ही सब बालकों में भी (पाई जाती हैं) इनकी मात्रा (degree) बड़ों की अपेक्षा अल्पतर मानी गई है।

निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ॥२८०॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्।
भेषजं चाल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ॥२८१॥

बालकों में मृदुता (tenderness), परतन्त्रता (dependency) तथा बोलकर तथा चेष्टा द्वारा भाव प्रकट करने की असमर्थता को देखकर बाल चिकित्सा शास्त्र में पारङ्गत (Paediatrist) व्याधि के अनुसार अल्पमात्रापूर्वक औषध प्रयोग करे। तथा उनको वमनादिक संशोधनकर्म न करावे।

मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च।
प्रयोजयेद्भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः ॥२८२॥

बुद्धिमान वैद्य मधुर कषैली, दूधवाली कोमल औषध को प्रमाद रहित होकर (very cautiously) प्रयोग करे।

अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च।
गुरु चौषधपानान्नमेतद्बालेषु गर्हितम् ॥२८३॥

अत्यधिक चिकनाई के, रूखे, गरम, खट्टे और कटुविपाक वाले तथा भारी औषध, पान, अन्न आदि ये बालकों में (प्रयोग करने की दृष्टि से निन्दित (coatra-indicated) होते हैं।

समासात्सर्वरोगाणामेतद्बालेषु भेषजम्।
निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः प्रविविच्य प्रयोजयेत् ॥२८४॥

बालकों के सब रोगों की संक्षेप में यह औषध कही गई है। उसको शास्त्रवेत्ता वैद्य (दोषकाल देश सात्म्यादि की) विवेचना करके प्रयोग करे।

चरक–संस्करण तथा दृढबल-सम्पूरण

भवन्ति चात्र

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम्।
स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुच्यते ॥२८५॥
अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥२८६॥
तानेतान् कापिलबलः शेषान् दृढबलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ॥२८७॥

यहां (इस विषय में) श्लोक है कि—इस प्रकार सब विकारों की यह चिकित्सा कही गई है। इस तन्त्र का यह (चिकित्सितस्थान) अत्यन्त श्रेष्ठ रहस्य कहा गया है।

चरक के द्वारा प्रतिसंस्कृत इस तन्त्र में (चिकित्सास्थान के) सत्रह अध्याय, कल्पस्थान, और सिद्धि स्थान प्राप्त नहीं होते हैं। महान् अर्थ से युक्त इस तन्त्र की यथा तथा (जैसी की तैसी) पूर्ति के लिए शेष उन भागों को कपिलबल के पुत्र दृढबल ने पूर्ण किया।

वक्तव्य—(५०२) अग्निवेशतन्त्र प्राचीन काल में एक बहुत प्रसिद्ध ज्ञान-ग्रन्थ रहा होगा। चरक ने इसका संस्कार किया था। कालान्तर में चरक प्रति संस्कृत संहिता की प्रति अप्राप्त होने पर कपिलबल के पुत्र दृढबल ने इसे पूर्ण किया। कौन कौन अध्याय इसने पूर्ण किये इनका पृथक उल्लेख न मिलकर यही पता चलता है कि १७ अध्याय चिकित्सा के, १२ अध्याय कल्पस्थान के तथा १२ अध्याय सिद्धिस्थान के कुल ४१ अध्यायों की पूर्ति दृढबल ने की है।

चरक के द्वारा प्रतिसंस्कृत ७९ अध्याय हैं जो इस प्रकार हैं—

३० अध्याय सूत्रस्थान
८ अध्याय निदानस्थान
८ अध्याय विमानस्थान
८ अध्याय शारीरस्थान
१२ अध्याय इन्द्रियस्थान
१३ अध्याय चिकित्सास्थान

यह देखना है कि उपलब्ध चरकसंहिता में कौन कौन अध्याय चिकित्सास्थान में चरक ने रचे और कौन दृढबल ने प्रथम आठ अध्याय रसायन, वाजीकरण, ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म, प्रमेह, कुष्ठ और राजयक्ष्मा के चरकीय हैं। चरक की जो भी प्रतियां उपलब्ध हैं उनमें कुछ में तो अध्यायों का क्रम चिकित्सा स्थान में वही है जो हमने रखा है पर कहीं उसमें व्यतिक्रम भी पाया जाता है। यह व्यतिक्रम अध्याय ९ से २५ तक मिलता है। शेष अन्तिम पांचों अध्याय ज्यों के त्यों हैं। माधव निदान की मधुकोश व्याख्या में २६, २७ तथा २८ वें अध्यायों का कर्ता दृढबल स्वीकार किया गया है इससे ज्ञात होता है कि अन्तिम पांचों अध्याय दृढबल के द्वारा पूरित हैं। और भेद ९ वें से २५ वें अध्याय तक है। विजयरक्षित ने अपनी मधुकोश टीका में पाण्डु, श्वास, तृष्णा और विष के चारों अध्यायों को दृढबल द्वारा पूरित कहा है। जैसे पाण्डु की टीका में—तेन त्वक् मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितम्। हिक्का श्वास प्रकरण में यदाह दृढबलः—कफ वातात्मकावेतौ इत्यादि। तृष्णा में, दृढबलेन तु पंच तृष्णा पठिता। विष प्रकरण में—यदुक्तं दृढबलेन—लघुरूक्षमाशु-विशदं आदि लिखकर इन अध्यायों को दृढबल द्वारा पूरित ही माना है। ग्रहणी भी दृढबल की देन है यह अष्टांग हृदय की इन्दुकृत टीका के इस वाक्य से प्रगट है— दृढबलोऽप्याह-रसाद्रक्तं ततो मांसं आदि।

शेष १२ अध्यायों में अर्श, अतिसार तथा विसर्प नावनीतकम् नामक ग्रन्थ में उद्धृत हैं। यह ग्रन्थ दृढबल से पूर्व का माना जाने के कारण १४, १९ और ११ वें अध्याय चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत यथावत् मान लेने पड़ेंगे।

जेज्जट ने निरन्तर पदव्याख्या नामक टीका में चरकाचार्य संस्कृतश्चायमध्यायः २४ वें मदात्यय को तथा आचार्य प्रणीतश्चायमध्यायः २५ वें द्वि व्रणीय को चरकोक्त लिखा होने से ये दोनों भी चरकीय मान लेने होंगे।

अस्तु आरम्भिक ८ तथा अर्श (१४ वां), अतीसार (१९ वां) विसर्प (२१ वां) मदात्यय (२४ वां) और द्विव्रणीय (२५ वां) इस प्रकार १३ चरक द्वारा तथा शेष १७ उन्माद, अपस्मार क्षतक्षीण, शोथ, उदर, ग्रहणी, पाण्डु, श्वास, कास, छर्दि, तृष्णा, विष, त्रिमर्मीय, ऊरुस्तम्भ, वातव्याधि, वातरक्त और योनिव्यापत् दृढबल द्वारा पूरित अध्याय हैं।

टीकाकर इन्दु ने स्नेहपाकविधिस्तूक्त एवं दृढबलेन तु। चरकोऽर्धकृते शास्त्रे ब्रह्मभूयं गतो यतः॥ जो लिखा है उससे ज्ञात होता है कि चरक ने आधा शास्त्र प्रतिसंस्कार करते करते ब्रह्मलोक को प्रस्थान किया पर दृढबल का 'नाशायन्ते' नहीं उपलब्ध होते हैं ऐसा लिख देना इन्दु की बात को रद्द कर देता है। वास्तव में चरक ने सम्पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार किया था पर दृढबल के काल तक कोई ग्यारह सौ से ऊपर बरस लग जाने से संहिता का कुछ अंश लुप्त होगया जिसे दृढबल ने सम्पूर्ण किया।

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥२८८॥

नाम (तथा) रूप से बहुत होने के कारण जो रोग यहां नहीं कहे गये हैं उनकी भी दोषादि (दोष भेषज देश काल शरीर सत्व प्रकृतिवय) को देखकर यही औषधि होती है।

वक्तव्य—(५०३) इस श्लोक द्वारा आचार्य ने एक मार्ग बतला दिया है कि असंख्य रोग हैं उनका नामोल्लेखपूर्वक चिकित्साक्रम बताना कठिन है फिर भी अगर वैद्य के सामने अनुक्त या नामहीन रोग आजाय तो उसकी चिकित्सा चरक संहिता में वर्णित चिकित्साक्रम में से किसी न किसी के अनुसार ही होनी है। ऐसा जानकर दोष दूष्यादि का विचार कर चिकित्सा का आरम्भ दृढतापूर्वक कर ही देना चाहिए।

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्।
उक्तानुक्तान्गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ॥२८९॥

दोष, दूष्य, और निदान से विपरीत औषध (निश्चित रूप से) हितकर (होती है)। सम्यकया प्रयुक्त औषध उक्त और अनुक्त सभी रोगों को निश्चित रूप से नष्ट करती है।

वक्तव्य—(५०४) रूक्षताकारक निदान के विपरीत स्निग्ध द्रव्य का प्रयोग निदानविपरीत चिकित्सा है। वात रूक्षता जनक है अतः स्नेहवर्द्धक कफकारक औषधि दोष विपरीत भेषज का उदाहरण है।

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चव हि ।
सम्यग्योगोऽन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ॥२९०॥

देश काल (season) प्रमाण (dosage) का, सात्म्य (assimilability) असात्म्य का सम्यग्योग होना आवश्यक है अन्यथा। (इनका विपरीत योग होने पर) पथ्य भी अपथ्य होजाता है।

आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान् ।
गुदात्पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम् ॥२९१॥

मुख से प्रदत्त औषध आमाशयगत रोगों को, नाक से दी गई शिरोगतों को तथा गुद से दी गई पक्वाशयगत रोगों को शीघ्र हरण करती है।

शरीरावयवोत्थेषु वीसर्पपिडकादिषु ।
यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः ॥२९२॥

शरीर के अवयवों में उत्पन्न होने वाले विसर्प पिडका आदि रोगों में यथादेश (यथास्थान) प्रयुक्त प्रदेह (लेपादि) विशेष रूप से उन उन स्थानों के रोगों का शमन करते हैं।

वक्तव्य—(५०५) देश से यहां विचार शरीर पर स्थित रोग के स्थान का विचार है। जिस स्थान पर रोग है वहीं प्रयुक्त औषधि से अधिक लाभ होता है। देश के सम्यग्योग से अभिप्राय ठीक उपयुक्त स्थान पर औषधि प्रयोग से है।

काल विचार

दिनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्ववेक्षणम् ।
कालं विद्यात् दिनापेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा ॥२९३॥
रोग्यवेक्ष्यो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत् ।
भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥२९४॥
भैषज्यकालो भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः ।
सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे दश ॥२९५॥
अपाने विगुणे पूर्वं, समाने मध्यभोजनम् ।
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य तूदाने भोजनोत्तरम् ॥२९६॥
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तरिष्यते ।
श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहः ॥२९७॥
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् ।
सभोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ॥२९८॥
ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम् ।
षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य तु ॥२९९॥
क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम् ।
तदा भेषजमादेयं स्याद्दोषवदतोऽन्यथा ॥३००॥
चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत् ।
ऋताववेक्ष्य तत्कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम् ॥३०१॥

१—दिन २-रोगी, ३-औषध ४-व्याधि, ५-जीर्ण लक्षण, और ६-ऋतु इनके देखने को काल (time) जाने। जैसे १-पूर्वाह्न में वमन कराना चाहिए (यह) दिन का देखना है। २-जैसे बलवान् सवेरे खाली पेट औषध पीवे तथा दुर्बल तो लघु-पथ्यान्न से युक्त औषधि खावे। ३-(औषधापेक्षी काल की दृष्टि से) भोजन के पूर्व (प्राग्भक्त १ या अभक्त २) ४-भोजन के मध्य में (मध्यभक्त ३) अन्तराभक्त ४, भोजन के पश्चात् (पश्चात् भक्त ५) (६) बार बार भोजन करना (मुहःमुहु) भोजन के आदि तथा अन्त में (सामुद्ग ७) भोजन में मिलाकर (सभक्त ८) प्रत्येक ग्रास में (सग्रास ९) दोग्रासों के बीच में (ग्रासान्तर भक्त १०) ये १० औषधि के काल हैं।

१—अपान की विगुणता में भोजन से पूर्व देना (प्राग्भक्त)।

२—समान की विगुणता में भोजन के मध्य में (मध्यभक्त)।

३—व्यान की विगुणता में सबेरे भोजन के अन्त में (प्रातराश)।

४—उदान की विगुणता में भोजन के बाद।

५—प्राणवायु के प्रदुष्ट होने पर (ग्रास, ग्रासान्तर) में देना इष्ट है।

६—श्वास कास प्यास में बार बार (मुहुःमुहुः) औषध देना चाहिए।

७—हिक्का के रोगी को लघ्वन्न के साथ सामुद्ग पहले और बाद में औषधि देनी चाहिए।

८—तथा अरुचि में सभोज्य औषध विविध खाद्य पदार्थों के साथ देना हितकर है।

कहने का अभिप्राय यह है कि भेषज सेवन के निम्न १० काल होते हैं—

(१) अभक्त खाली पेट—on empty stomach
(२) प्रागभक्त भोजन से पूर्व—preprandial
(३) अधोभक्त भोजन के बाद—post prandial
(४) अन्तराभक्त-भोजनों के बीच में—in between the meals.
(५) मध्ये भक्त-भोजन में मिलाकर—in the middle of the food
(६) सभक्त-भोजन में मिलाकर—mixed with the meal
(७) सामुद्ग-भोजन के आरम्भ और अन्त में—in the beginning & at the end of the meal
(८) मुहुमुहु-बार बार—repeatedly
(९) ग्रास-हरकौर पर—with each morsel
(१०) ग्रासान्तर, कौरों के बीच में—in between morsels

रोग के काल को देख कर ज्वर में पेया, कषाय, क्षीर, घृत और विरेचन ६-६ दिन के बाद देना चाहिए।

भूख लगना, वेगों का त्याग, लघुता, डकारों की और हृदय की विशुद्धि ये जीर्णाहार के लक्षण हैं। इस काल पर औषध देनी चाहिए अन्यथा वह दोषकारक हो जाती है।

ऋतु की अपेक्षा से कालविचार—दोषों के चय आदि जिस ऋतु में जो त्याज्य है और जो सेव्य है वे सब ऋत्वपेक्ष कर्म पूर्व (सूत्रस्थान अध्याय ८ में) कह दिये हैं।

उपक्रमाणां करणे प्रतिषेधे च कारणम्।
व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्षणे ॥३०२॥

(लंघनबृंहणीयाध्याय में वर्णित) उपक्रमों के प्रतिषेध में कारण कह दिया गया है तथा दोष को अनेक भेद वाले (विकल्पों) के साथ दुर्बलों की परीक्षा भी कही जा चुकी है।

मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च।
अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सायां न मुह्यति ॥३०३॥

बार-बार रोगों की तथा आतुर की परीक्षा करने वाला वैद्य चिकित्सा कर्म में कभी मोह को प्राप्त नहीं होता है।

इत्येवं षड्विधं कालमनवेक्ष्य भिषग्जितम्।
प्रयुक्तमहिताय स्यात्सस्यस्याकालवर्षवत् ॥३०४॥

इस प्रकार दिन आतुर औषध व्याधि जीर्णलिङ्ग तथा ऋत्वपेक्षी ६ प्रकार के काल को बिना देखे दी हुई औषध उसी प्रकार अहित करने वाली होती है जैसे अनाज के लिए अकाल में हुई वर्षा।

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य तु।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते ॥३०५॥

व्याधि, ऋतु, अहोरात्र, वय, तथा भोजन की विशेष अवस्थाओं में जो भेद किया जाता है वह कालापेक्ष कहा जाता है।

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।
वर्षासु वातजाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥३०६॥

वसन्त में कफज रोग, शरत्काल में पित्तज रोग, वर्षा में वातिक रोग प्रायशः उत्पन्न हुआ करते हैं।

निशान्ते दिवसान्ते च वर्द्धन्ते वातजा गदाः।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजा ॥३०७॥

रात्रि के अन्त में तथा दिन के अन्त में, वातज रोग बढ़ते हैं। प्रभात और रात्रि के आरम्भ में कफज तथा दोनों के बीच में पित्तज (रोग बढ़ा करते हैं)।

वयोन्तमध्यप्रथम वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम् ॥३०८॥

मनुष्यों की आयु की प्रकृति के कारण आयु के अन्तिम, मध्यम और प्रथम भाग में क्रमशः वात, पित्त और कफ बलवान् हुआ ही करते हैं।

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥३०९॥

आहार के जीर्ण होने पर वातज रोग, पच्यमानावस्था में तो पित्तज रोग तथा भोजन करते ही कफज रोग प्रायशः बल को प्राप्त करते हैं।

मात्रा विचार

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम्।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात्सस्यस्यात्युदकं यथा ॥३१०॥
सम्प्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च।
नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥३११॥

जिस प्रकार अल्प जल महान अग्नि को वैसे ही अल्प औषध व्याधि को (भी) नष्ट नहीं करती। और जैसे बहुत अधिक जल अनाज के लिए उसी प्रकार अधिक मात्रा में दीगई औषध दोषवान् (हानिकारक होती है)। इस कारण से रोग के एवं औषध के बल का निश्चय करके न बहुत अधिक न अत्यल्प ओषधि का प्रयोग करना चाहिए।

देशसात्म्य विचार

औचित्यादस्य यत्सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च।
अपथ्यमपि नैकान्तात्त्यजंल्लभते सुखम् ॥३१२॥

जिस देश के पुरुष के लिए अभ्यास के कारण जो सात्म्य हो गया है वह अपथ्य होने पर भी उसका ऐकान्तिक (सर्वथा) त्याग करता हुआ व्यक्ति सुख प्राप्त नहीं करता है।

वाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूम माध्वीक शस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥३१३॥

बलखदेशवासी, पह्लव, चीन देशवासी, शूलीक, यवन (तथा) शक मांस, गेहूँ, शहद की मदिरा शस्त्र और अग्नि के अभ्यासी होते हैं।

मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः।
अश्मकावन्तिकानांतु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥३१४॥

पुरबियों को मत्स्य (मछली) सात्म्य (है)। सिन्धु देशवासियों को दूध सात्म्य (होता है)। अश्मक और अवन्ती वालों को तो तैल और खटाई सात्म्य कहा जाता है।

कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्।
सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ॥३१५॥

मलयवासियों के लिए कन्दमूल और फल सात्म्य (होते हैं)। दक्षिणीयों को पेया तथा पश्चिमोत्तरीय भारत में मन्थ सात्म्य होता है।

मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः।
तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भैषजान्यवचारयेत् ॥३१६॥

मध्यभारत में जौ, गेहूँ और गोदूध सात्म्य होता है। उन उन लोगों का उन उन सात्म्य पदार्थों से युक्त औषध देनी चाहिए।

सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि।

क्योंकि सात्म्य शीघ्र बल धारण कराता है तथा यह अधिक ले लेने पर भी अधिक दोषोत्पत्ति नहीं (करता है)।

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ॥३१७॥

देश आदि को न जानने वाला चिकित्सक केवल योगों द्वारा चिकित्सा करता हुआ अपराधी माना जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वैद्य को विश्व भूगोल (World Geography) का अध्ययन कर लेना परमावश्यक है।

वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः।

क्योंकि वय बल शरीर आदि के (विश्व में) अनेक भेद माने गये हैं।

तथान्तः सन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ॥३१८॥
भवेत्कदाचित्कार्यापि विरुद्धाभिमता क्रिया।

तथा कोष्ठ और सन्धि के मार्गों के गूढ़चारी दोषों की विरुद्ध समझी जाने वाली क्रिया भी किसी समय करनी पड़ती है।

पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ॥३१९॥
नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते।

अन्तर्गत गूढ़ पित्त उष्ण स्वेदन सेक और उपनाहनों से बाहर निकाला जाता है इस प्रकार वे उष्ण क्रियायें उष्ण पित्त को शमन करती हैं।

बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ॥३२०॥
सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं शीतैस्तथा जयेत्।

बाह्य शीतल सेक आदि से पीड़ित हुई ऊष्मा भीतर जाती है वह भीतर छिपे (अन्तर्गूढ) कफ को

नष्ट करती है इस प्रकार शीत को शीत के द्वारा जीते।

श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ॥३२१॥
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः ।

चन्दन का भी बारीक पिसा घना लेप त्वचागत ऊष्मा को रोकने से दाहकारक होता है तथा अगर का अन्यथा (पतला लेप) शीतजनक होता है।

छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्टा मक्षिकैव तु वामयेत् ॥३२२॥
द्रव्येषु स्विन्न जग्धेषु चैवं तेष्वेव विक्रिया ।

मक्खी ही उदर में जाकर वमन कराती है पर मक्खी की बीट उदर में जाकर वमन को दूर करती है। इसी प्रकार अग्नि पर स्विन्न करके खाने पर द्रव्यों में विरुद्ध क्रिया देखी जा सकती है। जैसे व्रीहि स्वयं गुरु और शीतल होने पर भूनने के बाद हलकी और पित्तशामक हो जाती है।

वक्तव्य--(५०६) शीतनाश के लिए शीतोपचार से लाभ होना, उष्ण नाश के लिए उष्ण उपचार कराना चाहिए इस सिद्धान्त का उपयोग होम्योपैथिक चिकित्सा प्रणाली ने खूब किया है।

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दशतत्त्वतः ॥३२३॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलैः ।

इस कारण से दोष, औषधि आदि दस परीक्ष्य भावों की तत्त्वतः परीक्षा करके बुद्धिमान् उपचार करे। केवल योगों से ही इलाज न करे।

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ॥३२४॥
क्षीणे मार्गीकृते देहे शेषः सूक्ष्म इवानलः ।

एक बार कुछ थोड़ा सा दूर हुआ रोग थोड़े से भी कारण से पुनः लौट आता है। जैसे थोड़ी बची हुई अग्नि स्वल्प से भी हेतु से पुनः भड़क उठती है।

तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगेणानपायिना ॥३२५॥
दार्ढ्यार्थं प्राक् प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु ।

इसलिए प्रथम प्रयुक्त की गई सिद्धौषधि के लिए हानि न पहुँचाने वाले प्रयोगों से रोग की कुछ काल तक चिकित्सा करते रहना चाहिए।

काठिन्याद्वन भावाद्वा दोषोऽन्तःकुपितो महान् ॥३२६॥
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत् ।

दोषों के सञ्चय के कारण कठिन होजाने अथवा उनकी अचलरूप न्यूनता होने पर अन्द कुपित महान् दोष जब पथ्यों से मृदु और अल्प क दिया जाता है तब वह मृदुदोष को उत्पन्न करने वाला होजाता है।

पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद्यो व्याधिरुपजायते ॥३२७॥
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवा तस्य कारयेत् ।

इस कारण से पथ्य को भी सेवन करते हुए (जो) रोग उत्पन्न होजाता है उसे इस प्रकार जानकर पथ्य की मात्रा में वृद्धि या (उसका निरन्तर) अभ्यास करना चाहिए।

वक्तव्य—(५०७) यहां भी एक सिद्धान्त का निरूपण किया गया है कि जिस औषधि प्रयोग से रोग की वृद्धि होती है वही ओषधि निरन्तर प्रयोग से उस रोग को नष्ट भी कर सकती है। होमियोपैथी इसी पर अवलम्बित है।

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥३२८॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः ।
मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ॥३२९॥
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षयः ।

सतत अभ्यास (constent use) के कारण अथवा स्वाद के अभाव से (यदि रोगी को उस पथ्य से) घृणा आजावे (तो) उन उन (विविध) कल्पना विधियों (व्यञ्जन निर्माण प्रकारों) से पुनः रुचि को उत्पन्न करावे।

क्योंकि मन के विषयों के अनुकूल होने के कारण, सन्तोष, ऊर्जा (उत्साह), रुचि, बल (और) सुखपूर्वक उपभोग करने की योग्यता होजाती है तथा इससे व्याधि के बल का क्षय (होजाता है)।

लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधेर्वैधर्म्याद्वापि या रुचिः ॥३३०॥
तासु पथ्योपचारः स्याद्योगेनाद्यं विकल्पयेत् ।

(मन के) लौल्य (चांचल्य) के कारण, दोष के क्षीण होने के कारण अथवा व्याधि के वैधर्म्य (विपरीत गुण) के कारण जो रुचि उत्पन्न होती है उसमें पथ्योपचार ही देना चाहिए। (तथा रुचि उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट) योग द्वारा (उस) खाद्य

(पदार्थ) को बनाना चाहिए।

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च ॥३३१॥
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया।
शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृति भेषजैः ॥३३२॥
क्लैब्यानुक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा।
तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम् ॥३३३॥
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः।
रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम् ॥३३४॥
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च।
देशादिगुणशंसा च कालः षड्विध एव च ॥३३५॥
देशे देशे च यत्सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति।
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम् ॥३३६॥

इस विषय में (उपसंहारात्मक) श्लोक (हैं कि)—

(अग्निवेशादि) शिष्यों की हितकामना से योनि के बीस व्यापद् (उनके) निदान और लक्षण तथा चिकित्सा भी कहदी गई है। तथा निदान लक्षण और चिकित्सा सहित आठों शुक्र दोष कह दिए गये हैं। चार क्लैब्य तथा चार (ही) प्रदर उनके निदान लक्षण, तथा चिकित्सा को भी कहा गया है।

और हेतु-लिङ्ग (तथा) भिषग्जित (औषध) के सहित आठों क्षीरदोष तथा शुक्र और आर्तव की शुद्धि का लक्षण भी बतला दिया गया है।

कहे और न कहे (उक्तानुक्त) रोगों की चिकित्सा तथा सम्यग्योग और देशादि गुणों की प्रशंसा और छै प्रकार का काल तथा देश देश में जो सात्म्य और जैसे वैद्य इष्ट सिद्धि नहीं कर पाता तथा गूढचारी दोषों की चिकित्सा भी कही गई है।

यो हि सम्यङ् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च।
न कुर्यात्स क्रियां चित्रनचक्षुरिव चित्रकृत् ॥३३७॥

जो शास्त्र को और शास्त्र के अर्थ को भले प्रकार नहीं जानता है वह चिकित्सा अचक्षु (नेत्र हीन अन्धे) चित्रकार के चित्र बनाने के सदृश (क्रिया) न करे। अर्थात् जैसे अन्धे चित्रकार का चित्र बनाना व्यर्थ है वैसे ही शास्त्र और उसके भाव के ज्ञान से विरहित मूर्ख व्यक्ति चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—(५०८) सम्पूर्ण चरकचिकित्सा और सारा ही आयुर्वेद शास्त्र विद्वानों के निमित्त लिखा गया है जो शास्त्र का ठीक ठीक अर्थ लगा सके और शास्त्र के तात्पर्य को समझ सके वही वैद्य चिकित्सा के कार्य में संलग्न हो। शास्त्र का अर्थ समझने के लिए लौकिक विद्या कितनी लेकर प्रवेश करे, विद्यार्थी की प्रवेश योग्यता क्या हो उसकी ओर भी इङ्गित है शास्त्र की भाषा को समझने योग्य श्लोकों का अर्थ लगाने योग्य क्षमता जिसमें हो और भूगोल, इतिहास, दर्शन, गणित आदि का जो जो वर्णन पीछे आया है उसका अच्छा ज्ञान रखने वाला ही इस ज्ञान की प्राप्ति में यत्न करे। भारत में इस समय भी और दृढबल के काल में भी अनेकों शास्त्रार्थ विहीन व्यक्ति धन और प्रतिष्ठा के लोभ से वैद्यकीय क्षेत्र में चले आते रहे हैं उन्हें वह इस विद्या का अधिकारी नहीं मानता। उसके हाथ में यह विद्या देने से रोगी का देश का और शास्त्र का विनाश ही होगा ऐसा मान कर वह चलता है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने योनिव्यापच्चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

इस प्रकार (भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य) अग्निवेश द्वारा बनाये तन्त्र में चरकप्रतिसंस्कृत (प्रति की) अप्राप्ति होने पर दृढबल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान में योनिव्यापच्चिकित्सित नामक तीसवां अध्याय (समाप्त हुआ)।

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।
चिकित्सितमिदं स्थानं षष्ठं परिसमापितम् ॥

अग्निवेश द्वारा बनाये चरक द्वारा प्रति संस्कृत-तन्त्र में यह छठा चिकित्सास्थान समाप्त हुआ।

पञ्चविभूषणोपेतः काश्यगस्त्याश्रमे स्थितः।
सत्यनारायणःश्रीमान् प्रसीदतु गुरुर्मम ॥१॥

श्रीराजेश्वरदत्तश्च कुलकर्णीश्च विशेषतः।
द्विवेदिनमुपाध्यायं प्रणमामि सप्रश्रयम् ॥२॥

बलवन्तं शिवदत्तञ्च वर्ममिश्रौ तथैव च।
पूरितैषाकृतिस्तावत् गुरुवर्याणां प्रसादतः ॥३॥

देवीशरणयत्नेन धन्वन्तर्यनुकम्पया।
ज्वालाप्रसादसंयोगात् पूरितास्तिकृतिर्मया ॥४॥

एशियायाः महाद्वीपे त्रैलोक्यसुखवर्द्धनः।
विद्यतेऽत्रैकभूखण्डो भारतवर्षनामतः ॥५॥

तस्योत्तरप्रदेशेऽस्मिन् मण्डलेऽलिगढ़े शुभे।
ख्यातः सिकन्दराराऊ ह्युपमण्डलवर्तते ॥६॥

दक्षिणे गाङ्गवाहे च मन्दिरैः परिशोभिते।
तस्मिन् पुर्दिले नगरे ममावासः पुरातनः ॥७॥

मातुः श्री जबोलायाः कुक्षौ जन्म लब्धवान्।
श्री नन्नूमलपुत्रोऽहं पितुर्दर्शनवञ्चितः ॥८॥

पालितोऽहं विशेषेण वंशीधरेण श्रीमता।
कृपया ज्येष्ठभ्रात्रा च द्रौपद्या तस्य भार्यया ॥९॥

श्री भगवानदेव्याश्च भगिन्यन्याः स्नेहवर्द्धितः।
त्रयोऽपि जीवदातारः शैशवे मे दयालवः ॥१०॥

प्रेरितो गुरुवृन्देन केशवस्यानुकम्पया।
प्रेषितो भ्रातृवर्येण काशीं ज्ञान विवर्द्धिनीम् ॥११॥

सुवैद्यस्य कुलेजातः सनाढ्योऽहं भिषग्वरः।
रघुवीरप्रसादोऽहं त्रिवेदीति प्रतिश्रुतः ॥१२॥

भरद्वाजस्य गोत्रे तु ममेदं पाञ्चभौतिकम्।
वर्द्धितं पोषितं विधिवत् कष्टादिकविवर्जितम् ॥१३॥

एकविंशतिवर्षाणि विद्यया, चोपबृंहितम्।
प्राच्यमधीत्यशास्त्रञ्च पौर्वात्यञ्च विशेषतः ॥१४॥

दशवर्षाच्चैव काश्यां तु ह्यायुर्वेदमधीत्य च।
मालवीये शुभस्थाने विश्वविद्यालये शुभे ॥१५॥

लिखित्वा वैद्यग्रन्थानि कृत्वा वैद्यकमेव च।
करोमि वैद्यतोषाय विबुधायाभिकांक्षिता ॥१६॥

चरकस्यविमर्शोयम् टीका ज्ञानप्रकाशिनी।
छात्राणामन्धकारञ्च मार्त्तण्डइवनाशिनी ॥१७॥

नव विज्ञानयुक्ता च शुद्धा च विशेषतः।
वक्तव्यालङ्कृता स्निग्धा सुधीजनानुरञ्जिनी ॥१८॥

अक्षिनभविभुनेत्रे च वैक्रमाब्दे मनोहरे।
वैशाखे कृष्णपञ्चम्यां समाप्ता भौमवासरे ॥१९॥
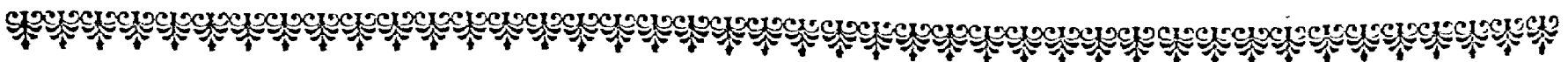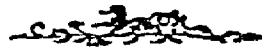
आचार्य त्रिवेदी की अपील

वैद्यगण !! आपको निमन्त्रण !!!

सहकारी औषधि भण्डार

सिकन्दराराऊ

बन्धुगण,

मैंने सिकन्दराराऊ तहसील के वैद्यों को सहकारी औषधि भण्डार बनाने के लिए उत्साहित किया है। उसी दृष्टि से इस पत्रक के द्वारा आपको भी उत्साहित कर रहा हूँ कि आप भी इसे अपना लें और इसके हिस्सेदार बन जावें। दस रुपये का एक शेयर है। एक वैद्य पचीस शेयर तक खरीद सकता है। इस तरह आप कम से कम १०) और अधिक से अधिक २५०) देकर सहकारी औषधि भण्डार के हिस्सेदार बन सकते हैं। इस भण्डार में शास्त्रीय आयुर्वेदिक औषधियां, यूनानी दवाइयां, अंग्रेजी मैडीसिन्स, होम्योपैथिक ड्रग्स, सब प्रकार के जहर, सब लाइसेंस की कच्ची पक्की दवाएँ एकत्र की जारही हैं। इसकी सबसे बड़ी बात यह है कि यह एक मालिक की न होकर सब वैद्य इसके मालिक होंगे तथा लाभ सबमें बराबर-बराबर (जिसका जितना पैसा होगा उसके अनुसार) बांटा जावेगा। इसके डाइरैक्टर्स हिस्सेदार चुनेंगे। यह कोआपरेटिव सोसाइटी के तौर पर रजिस्टर्ड किया जारहा है इस कारण सरकार न केवल रुपये से सहायता करेगी बल्कि सहस्रों रुपये की कच्ची पक्की दवा भी खरीदेगी। अतः आप—

आज ही मनिआर्डर द्वारा

दस रुपये से ढाई सौ रुपये तक

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी,

संयोजक सहकारी औषधि भण्डार, सिकन्दराराऊ (अलीगढ़)

के पते पर भेज दें। वैद्य, उनके कम्पाउण्डर्स और फार्मेसी के अध्यक्ष भी इस सुविधा से लाभ उठा सकते हैं। एक लाख रुपया आजाने पर आगे हिस्सेदार बढ़ाना बन्द कर दिया जावेगा।

जो किसी प्रकार की औषधि मंगाना चाहें या पूछताछ करना चाहें जवाबी कार्ड डालकर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

उच्चकोटि की सच्ची औषधियां समाज को देना ही सहकारी औषधि भण्डार का मूल उद्देश्य है। औषधियां मेरी अपनी देखरेख में तैयार हो रही हैं तथा सप्लाई की जाती हैं।

आपको लाभ उठाने का यह स्वर्ण अवसर है। चूकना न चूकना यह आप पर निर्भर करता है। भेजा हुआ धन असन्तोष होने पर वापस किया जा सकता है।

आपका विश्वासभाजन

रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी,

संयोजक—सहकारी औषधि भण्डार, सिकन्दराराऊ (अलीगढ़)

१८ **चरक संहिता**—चरक रहस्य हिन्दी टीका नवीन वैज्ञानिक वक्तव्य सहित । टीकाकार-आयुर्वेदाचार्य श्रीरामरक्ष पाठक । आज तक की प्रकाशित सभी टीकाओं से श्रेष्ठ । शीघ्र प्रकाशित होगी ।

१९ **चक्रदत्त**—नवीन वैज्ञानिक भावार्थ सन्दीपनी भाषाटीका एवं विविध परिशिष्ट सहित । नवीन टाईप, सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १०)

२० **चिकित्सकहस्तपुस्तिका या अनुपान**—यथा नाम तथा गुण, पुस्तक चिकित्सकों के लिए अत्युपयोगी है । प्रेस में

२१ **जीवाणु विज्ञान**—ले० डा० घाणेकर । इस पुस्तक में तृणाणु (Bacteria) कीटाणु (Protoza) विषाणु (Virus) इत्यादि जीवाणुओं के विभिन्न श्रेणियों का विवरण उनके प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है । मूल्य १०)

२२ **तापमापन (थर्मामीटर)** ले० डा० राजकुमार द्विवेदी । इस पुस्तक में यन्त्र परिचय प्रकार तथा उनका पृथक्-पृथक् वर्णन, निर्माण, व्यवहार, तापक्रम सारिणी, संताप तथा ज्वर, औपसर्गिक ज्वरों में तापक्रम की सारिणी, तापमान के स्थान, तापमापन लगाने की अवधि, ताप ग्रहण के विचारणीय प्रश्न, तापमापक काल, तापमापक वाचन तथा तापमापक वरण आदि विषयों का सम्यक् रीति से वर्णन किया है । मूल्य ।)

२३ **तुलसीविज्ञान**—विविध रोगों पर तुलसी के ४४३ सफल सुलभ प्रयोगों का संग्रह । मूल्य ॥)

२४ **द्रव्य-गुण-मंजूषा**—ले० आचार्य शिवदत्त शुक्ल ए० एम० एस० । शीघ्र प्रकाशित होगी ।

२५ **द्रव्यगुण-विज्ञान**—ले० पं० प्रियव्रत शर्मा एम. ए., ए. एम. एस. । पुस्तक के चार खण्ड हैं । द्रव्य खण्ड, गुण खण्ड, कर्म खण्ड और कल्प खण्ड । द्रव्य खण्ड में द्रव्य का स्वरूप तथा उसका रचनात्मक एवं कर्मात्मक वर्गीकरण प्राचीन एवं नवीन दृष्टिकोणों से किया गया है । गुणखण्ड में गुण, रस, विपाक, वीर्य तथा प्रभाव का विशद एवं तुलनात्मक वर्णन किया गया है । कर्मखण्ड में प्राचीन एवं आधुनिक विज्ञान में वर्णित द्रव्यों के लगभग १५० कर्मों का समन्वयात्मक विवेचन किया गया है । कल्पखण्ड में भैषज्य कल्पना के सैद्धान्तिक पक्ष का स्पष्टीकरण किया गया है । इस प्रकार कुल मिलाकर यह पुस्तक द्रव्यगुण के क्षेत्र में एक अपूर्व और मौलिक देन है । मूल्य ५॥)

२६ **नव परिभाषा**—कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास कृत हिन्दी टीका सहित । मूल्य १॥)

२७ **नव्य रोग निदानम् (माधवनिदान-परिशिष्टम्)**—इसमें माधव-निदानादि ग्रंथों में लिखित रोगों के अतिरिक्त सम्पूर्ण नवीन रोगों का निदान सम्प्राप्ति-पूर्वरूप-लक्षण-साध्यासाध्य आदि का विवेचन है । मूल्य ॥)

२८ **नाड़ी परीक्षा**—श्री ब्रह्मशंकरमिश्र कृत वैद्यप्रिया हिन्दी टीका सहित । मूल्य ।-)

२९ **नाड़ीविज्ञानम्**—आयुर्वेदाचार्य प्रयागदत्त जोशी कृत विबोधिनी विस्तृत हिन्दी टीका सहित । मूल्य ।-)

३० **नीम के उपयोग**—नीम के विविध अंगों का किस प्रकार और कब उपयोग होता है इसमें वर्णित है । मूल्य १)

३१ **लोहा के रोग और उनकी चिकित्सा**—लेखक-कविराज ब्रह्मानन्द चन्द्रवंशी । आयुर्वेदिक, एलोपैथी एवं यूनानी मतानुसार रोग का निदान लक्षण तथा चिकित्सा का सुन्दर वर्णन है । मूल्य ।-)

३२ **परिभाषाप्रबन्ध**—ले० आयुर्वेद बृहस्पति पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल । परिभाषा सम्बन्धि सभी आवश्यक विषयों का प्राच्य तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ में १७ अध्यायों में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है । मूल्य २॥)

३३ **प्रसूति विज्ञान**—ले०-डा० रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस० । यह पुस्तक प्रसूतितंत्र (Midwifery) विषय की निराली एवं बेजोड़ है । २०० से ऊपर चित्रों द्वारा विषय को स्पष्ट बोधगम्य बना दिया है । जो पढ़े वही इस पुस्तक की प्रशंसा करेगा । मूल्य अत्यल्प ६)

३४ **प्रारम्भिकउद्भिद् शास्त्र**—लेखक-वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर बलवंत सिंह एम. एस-सी । आयुर्वेद के विद्यार्थियों एवं वैद्यों को उद्भिद शास्त्र का जितना ज्ञान होना चाहिए वह इस पुस्तक के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । शुद्ध वैज्ञानिक विषयों के अतिरिक्त वर्गीकरण के अध्याय में सभी चिकित्सोपयोगी वनस्पतियों का वर्णन किया गया है । मूल्य ४॥)

३५ **प्रारम्भिक भौतिकी**—लेखक—श्री निहालकरण सेठी । इसमें-वैज्ञानिक नाप-तोल, द्रव्य के सामान्य गुण, गति, जड़त्व और गुरुत्व, वेग संयोग, काम सामर्थ्य एवं शक्ति, तापक्रम, प्रकाश, शब्द, चुम्बक विद्युत, एक्सकिरण आदि विषयों का भौतिक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है । मूल्य ५॥)

३६ **प्रारम्भिक रसायन**—प्रो० श्री फूलदेवसहाय वर्मा । यह उन प्रारम्भिक पुस्तकों में है जिनके द्वारा हिन्दी माध्यम से 'रसायन-विषय' का पठन-पाठन किया जाता है । सभी कालेजों में पढ़ाई जाती है । मूल्य ४॥)

३७ फलसंरक्षण विज्ञान (Fruit Preservation)—लेखक-डा० युगलकिशोर गुप्त आयुर्वेदाचार्य। अपने विषय की उत्तम पुस्तक है। फलों के संरक्षण-क्रिया के अतिरिक्त फलों की चटनी, अचार, मुरब्बा आदि बनाने और सुरक्षित रखने की विधि भी सरलता से समझाई है। मूल्य १)

३८ भारतीय रसपद्धति—लेखक-कविराज अत्रिदेव गुप्त। भारतीय रस शास्त्र में धातुओं आदि का शोधन मारण एक महत्व का विषय है। इस छोटी सी पुस्तिका में यह विषय सरलता के साथ उत्तम प्रकार से समझाया है। इसके सिवा ओज, भावना, पुट आदि संदिग्ध विषय पूर्णतः स्पष्ट कर दिए हैं। मूल्य १॥)

३९ भावप्रकाश—मूल मात्र। मूल्य पूर्वार्द्ध ३) मध्यमोत्तर खण्ड ७) संपूर्ण १०)

४० भावप्रकाश (सम्पूर्ण)—नवीन वैज्ञानिक विद्योतनी भाषा टीका सहित। शारीरिक भाग पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक परिशिष्ट, निघण्टु भाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरण पर प्रत्येक रोगों पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों की समन्वयात्मक विषद टिप्पणी से सुशोभित। कपड़े की पक्की २ जिल्दों में। मूल्य ३०)

४१ भावप्रकाश ज्वराधिकार—नवीन वैज्ञानिक विद्योतिनी भाषा टीका परिशिष्ट सहित। छपाई कागज सभी सुन्दर। मूल्य ४)

४२ भावप्रकाश निघण्टु—सम्पादक-आयुर्वेदाचार्य गंगासहायपाण्डेय ए. एम. एस.। विद्योतनी भाषा टीका एवं बृहद् परिशिष्ट सहित। अपने ढंग की बेजोड़ पुस्तक है। द्वितीय संस्करण मूल्य १०)

४३ भैषज्यरत्नावली—विद्योतनी भाषाटीका विमर्श टिप्पणी परिशिष्ट सहित। टीकाकार—कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस.। प्रयोग निर्माण, मात्रा, गुण, अनुपान के साथ साथ प्रत्येक रोग का पथ्यापथ्य इस संस्करण की विशेषता है। आयुर्वेद के सभी सम्माननीय विद्वानों ने इस टीका की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। सभी कालेजों में यही भैषज्य अब चलती है। उत्तम कागज, सुंदर छपाई, पक्की जिल्द। मूल्य १५)

४४ मधु के उपयोग—असली मधु की पहिचान, गुण, विविध रोगों पर प्रयोग विधि का इसमें वर्णन है। मूल्य १)

४५ मदनपाल निघण्टु—मूल टिप्पणी सहित। मूल्य १)

४६ मर्म-विज्ञान-सचित्र—ले० श्री रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य। मर्मों का वर्णन आयुर्वेद की विशेषता है। लेखक ने आयुर्वेद में वर्णित १०७ मर्मों की सचित्र विस्तृत व्याख्या की है। मूल्य ३॥)

४७ माधव निदानम्—वैद्य उमेशानन्द शास्त्री कृत सुधालहरी संस्कृत टीका सहित। मूल्य १॥)

४८ माधवनिदानम्—मधुकोष संस्कृत तथा विद्योतनी हिन्दी टीका, वैज्ञानिक विमर्श परिशिष्ट सहित। टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शन शास्त्री ए. एम. एस.। इसमें माधव निदान का मूल पाठ, विशद् भाषार्थ, संस्कृत मधुकोष टीका के साथ मधुकोष टीका की हिन्दी व्याख्या तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन रीत्या वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक विवेचन, विशद विमर्श, विभिन्न पाठान्तर मूल में आए हुए श्लोकों का ग्रन्थादि निर्देश एवं नवीन रोगों का परिशिष्ट श्लोकों में भाषार्थ युक्त दिया है। डाक्टर-वैद्यों, छात्रों एवं अध्यापकों सभी के लिए परमोत्तम यही संस्करण है। मूल्य १३)

४९ माधवनिदानम्—मधुकोष संस्कृत व्याख्या मनोरमा हिन्दी टीका सहित। मूल्य ६)

५० माधव-निदानम्—सर्वांग सुन्दरी हिन्दी टीका सहित। टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य लालचन्द्र शास्त्री। उत्तम कागज, सजिल्द उत्तम एवं सस्ता संकरण मूल्य ४॥)

५१ मूत्र के रोग—ले० डा० घाणेकर। (Diseases of urine, urinary system and allied diseases) मूत्र विज्ञान सम्बन्धि सर्वश्रेष्ठ नवीन प्रकाशन। मूल्य ६)

५२ यकृत के रोग और उनकी चिकित्सा—लेखक-वैद्य श्री सभाकान्त झा। इसमें यकृत, उसकी रचना, क्रिया, उसके विकार, विकारों के निदान, पूर्वरूप, सम्प्राप्ति, चिकित्सा, पित्ताशय और उसके विकारों का वर्णन सरल भाषा में किया गया है २)

५३ योग-चिकित्सा—लेखक—अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार। रोग की कौन सी अवस्था में, उसके उपद्रव में कौन-कौन सी औषधियां किस अनुपान से किस समय सफलता पूर्वक व्यवहार की जा सकती हैं यह इस पुस्तक में बड़े ही उपयोगी ढंग से वर्णित है। चिकित्सकों के लिए बड़ी उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ३॥)

५४ योगरत्नाकर—मूल गुटका संस्करण। मूल्य ६)

५५ योगरत्नाकर—विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित। चिकित्सा के उपलब्ध संग्रह ग्रन्थों में योगरत्नाकर सर्वोपरि माना गया है। काय चिकित्सा के लिए जिन-जिन बातों का ज्ञान आवश्यक है उन विषयों की आश्रय निधि इस ग्रन्थ में भरी पड़ी है। ग्रन्थ बहुत सुन्दर नवीन चमकते टाईप में छपा है। मूल्य १८)

५६ रक्त के रोग—ले० डा० घाणेकर। नवीन आवृत्ति। मूल्य १०)

५७ **रसादि परिज्ञान**—लेखक-आयुर्वेद बृहस्पति पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल। षट् रसों के संबन्ध में पूर्ण विवेचन, उसका क्रमिक विकाश सरल भाषा में वयोवृद्ध एवं अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में दिया है। अनेक परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत है। मूल्य २)

५८ **रसरत्न समुच्चय**—मूल टिप्पणी सहित। मूल्य सुलभ संस्करण ३) उत्तम संस्करण ३॥)

५९ **रसरत्नसमुच्चय**—नवीन सुरत्नोज्वला-विस्तृत भाषा टीका परिशिष्ट सहित। टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य श्री अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस। यह टीका छात्रों तथा चिकित्सकों के लिए परमोपयोगी है क्योंकि सभी संदिग्ध स्थलों को उदाहरण देकर समझाया गया है। प्रथम संस्करण हाथो हाथ बिक गया। द्वितीय संस्करण मूल्य १०)

६० **रसाध्याय**—संस्कृत टीका सहित। यह रसशास्त्र का अति प्राचीन छोटा किन्तु उपयोगी अद्भुत ग्रंथ है। मूल्य ॥=)

६१ **रसायन खण्ड—(रसरत्नाकर का चतुर्थ खण्ड)**—इसमें रसायन तथा वाजीकरण इन दो तन्त्रों में बहुत से उपयोगी नूतन योगों का वर्णन किया गया है। मूल्य ॥)

६२ **रसार्णव नाम रसतंत्रम्**—भागीरथी बृहद् टिप्पणी एवं विशेष विवरण से युक्त। कीमियागीरी, पारद के बंधन प्रयोग, यंत्र मूषाओं का वर्णन, पारद के संस्कार, रस-उपरस-महारस-रत्न-धातु-उपधातु का शोधन-मारण आदि बताने वाली प्राचीन पुस्तक है। मूल्य २)

६३ **रसेन्द्रसार संग्रह**—बालबोधिनी-भागीरथी टिप्पणी सहित। मूल्य १॥)

६४ **रसेन्द्रसार संग्रह**—(सचित्र) गूढार्थसंदीपिका संस्कृत टीका सहित। टीकाकार-आयुर्वेदाचार्य अम्बिकादत्त शास्त्री ५)

६५ **रसेन्द्रसारसंग्रह (सचित्र)**—नवीन वैज्ञानिक रसचन्द्रिका भाषा टीका विमर्श परिशिष्ट सहित। टीकाकार—श्री गिरिजादयालु शुक्ल ए. एम. एस। सभी कठिन स्थलों पर टिप्पणी दी गई है। मत-मतान्तरों का उल्लेख व सभी स्थलों पर आधुनिक काल के अनुसार मात्राएं दी गई हैं। विविध परिशिष्ट, नवीन रोगों पर रसों का प्रयोग मान-परिभाषा, मूषा तथा पुटप्रकरण, अनुपानविधि आदि विषय भी दिए हैं। बहुत उत्तम संस्करण है। मूल्य ६)

६६ **राजकीय औषधियोग संग्रह**—ले० आयुर्वेदाचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस। प्रायः सभी प्रमुख आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण और परीक्षा का ज्ञान इस पुस्तक से होता है। यू० पी० सरकार ने अपने सभी सरकारी औषधालयों के लिए इसकी १-१ प्रति खरीदी है। इसी से इसकी उपयोगिता का प्रमाण मिलता है। मूल्य ७)

६७ **राष्ट्रीय चिकित्सा सिद्ध योग संग्रह**—लेखक-आयुर्वेदाचार्य श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.। इसमें सिद्ध कषाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह, गुटिका, रस आदि के गुण, अनुपान और निर्माण का पूर्ण विवरण दिया है। पुस्तक बहुत उपयोगी है। मूल्य १॥)

६८ **रोगनामावलि कोष**—लेखक—डा० दलजीतसिंह आयुर्वेद बृहस्पति। इस ग्रन्थ में सभी आयुर्वेदीय, यूनानी, डाक्टरी रोगों के नाम और परिचय—संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फार्सी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में अकारादि क्रमानुसार संग्रह किया है। जनता, ग्रन्थ लेखक, वैद्य, हकीम, डाक्टर सभी के लिए उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ३॥)

६९ **रोगी परीक्षा (Physical Examinations)**—ले० डा० शिवनाथ खन्ना एम. बी. बी. एस। पुस्तक में नवीन वैज्ञानिकपद्धति के आधारपर रोगी परीक्षा की विधियों का विस्तारपूर्वक चित्रों तथा तालिकाओंद्वारा वर्णन किया है ६)

७० **रोग परिचय (Clinical Medicine)**—ले० डा० शिवनाथ खन्ना एम. बी. बी एस.। इसमें रोगों की व्याख्या वर्णन, कारक, मरक-विज्ञान, निदान, चिकित्सा आदि विषयों का बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है १२॥)

७१ **वनौषधि दर्शिका**—ले० वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर बलवन्त सिंह एम. एस-सी.। इसमें लगभग २०० वनौषधियों का संक्षिप्त वैज्ञानिक विवरण किया गया है। मूल्य २॥)

७२ **वनौषधि चन्द्रोदय**—इस विशाल निघण्टु ग्रन्थ में भारतवर्ष में पैदा होने वाली समस्त वनस्पतियों, खनिज-द्रव्यों, विष-उपविषों के गुण धर्मों का सर्वाङ्गीण विवेचन है। प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न भाषाओं के नाम, उत्पत्ति स्थान आयुर्वेद, यूनानी और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से उनके गुण-धर्मों का वर्णन, भिन्न-भिन्न रोगों पर उसके उपयोग, उस वस्तु के मेल से बनने वाले सिद्ध प्रयोगों का विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा विस्तार से किया है। अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। पृथक्-पृथक् प्रत्येक भाग का मूल्य ५) तथा १-१० भाग सम्पूर्ण ग्रन्थ का मूल्य ४०)

७३ **व्यवहारायुर्वेद-विषविज्ञान-अगदतंत्र**—लेखक—डा० युगल किशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी। हिन्दी में अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, विद्यापीठ, तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि सभी आयुर्वेदिक संस्थाओं की परीक्षाओं के लिए स्वीकृत है। मूल्य ४॥)

७४ **विषविज्ञान और अगदतंत्र**—लेखक—डा० युगलकिशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी। इसमें उन विषैले द्रव्यों का वर्णन है जिनसे प्रायः दुर्घटनायें होती हैं और जिनका आत्महत्या या परहत्या के लिए व्यवहार किया जाता है। पुस्तक हर वैद्य के लिए पठनीय है। मूल्य १।।)

७५ **वैद्यजीवन**—अभिनव सुधा हिन्दी टीका टिप्पणी सहित। टीकाकार—श्री कालिकाचरणशास्त्री ए. एम. एस.। मूल्य १)

७६ **वैद्यक परिभाषा प्रदीप**—टीकाकार—श्री प्रयागदत्त जोषी आयुर्वेदाचार्य। द्वितीय संस्करण। मूल्य १।।)

७७ **वैद्यकीय सुभाषितावली**—लेखक-डा० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता। वेद से लेकर वैद्यजीवन ग्रन्थ तक में आये हुये आयुर्वेदिक सुभाषितों का संग्रह। मूल संस्कृत, अंग्रेजी अनुवाद सहित। मूल्य २)

७८ **शार्ङ्गधरसंहिता**—सुबोधिनी हिन्दी टीका, वैज्ञानिक विमर्श, लक्ष्मी नामक टिप्पणी तथा पथ्यापथ्यादि विविध परिशिष्ट सहित। आज तक के सभी संस्करणों से अति सरल विस्तृत श्रेष्ठ द्वितीय संस्करण मूल्य ६)

७९ **शालाक्य तंत्र (निमितंत्र)**—इस पुस्तक के ५ भागों में क्रमशः नासिका, शिर, कान, मुख एवं आँखों के रोगों के हेतु, निदान, सम्प्राप्ति आदि की विस्तृत विवेचना की गई है। जहां छात्रों के लिए यह पुस्तक पठनीय है वहां आधुनिक चिकित्सा के मर्मज्ञों के लिए यह अध्ययन-मनन योग्य ग्रंथ है। मूल्य सुलभ संस्करण ८) उत्तम संस्करण ९)

८० **स्वस्थवृत्त समुच्चय**—चरकाचार्य श्री राजेश्वरदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीका सहित। ६।।)

८१ **स्वास्थ्य विज्ञान**—ले० डा० घाणेकर। इस तृतीय संस्करण में बहुत से नवीन विषय भी सम्मलित किये गये हैं। मूल्य ६)

८२ **स्वास्थ्य संहिता**—भाषा टीका सहित। रचयिता आयुर्वेदाचार्य कविराज नानकचन्द्र वैद्य शास्त्री। स्वास्थ्य विज्ञान के सभी सम्भावित प्रश्नों का विवेचन इस पुस्तक में स्पष्ट रूपेण दिया है। विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य पठनीय पुस्तक है। मूल्य २।।)

८३ **सिद्धभैषज्य संग्रह**—लेखक-आयुर्वेदाचार्य श्री युगलकिशोर गुप्त। इस पुस्तक में सभी प्रचलित चूर्ण, वटी, घृत, तैल, आसवारिष्ट, सुरा, रस, रसायन, पर्पटी, लौह, मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह, मोदक, पाक, आदि-आदि के शास्त्रीय १००० प्रयोग, भस्मीकरण, शोधनमारण तथा सफल पेटेंट औषधियों से युक्त यह ग्रंथ प्रत्येक चिकित्सक के लिए पठनीय है। मूल्य सुलभ संस्करण ७) उत्तम संस्करण ८) राज संस्करण ९)

८४ **सुश्रुत संहिता**—आयुर्वेद तत्त्व संदीपिका हिन्दी टीका वैज्ञानिक विमर्श सहित। टीकाकार-कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस। टीकाकार ने मूल संहिता के भावों को सरल भाषा में नवीन विज्ञान के साथ तुलना कर विषयों को अधिक स्पष्ट, तर्क सम्मत एवं बुद्धि ग्राह्य बना दिया है, जिससे छात्र, अध्यापक एवं चिकित्सकों के लिए यह सटीक संस्करण समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो गया है। **सूत्र निदान स्थान** छपकर तैयार है मूल्य ७)
उत्तरतन्त्र शीघ्र प्रकाशित होगा। शेष स्थान भी क्रमशः शीघ्र प्रकाशित होंगे।

८५ **सुश्रुत संहिता-सूत्र-निदान-शरीर स्थान**—डा० कविराज अम्बिकादत्त एवं डा० घाणेकर कृत हिन्दी टीका संवलित १-२ भाग। मूल्य १५)

८६ **सुश्रुत संहिता-सूत्र स्थान**—डा० घाणेकर कृत हिन्दी टीका सहित। परिष्कृत संस्करण। मूल्य ९)

८७ **सुश्रुत संहिता-शरीर स्थान**—डा० घाणेकर कृत हिन्दी टीका सहित। इस टीका की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखलाना है। द्वितीय संस्करण। मूल्य ८)

८८ **सुश्रुतसंहिता—शरीरस्थान**—नवीन वैज्ञानिक 'प्रभा'-'दर्पण' विस्तृत भाषा टीका सहित। प्रभा व्याख्या से मूल के वास्तविक अर्थ तथा 'दर्पण' व्याख्या से गूढ अर्थों को विस्तृत रूप से दर्शाया है। मूल्य ३)

८९ **सूची वेध-विज्ञान** (Injection Therapy)—लेखक-डा० राजकुमार द्विवेदी। इञ्जेक्शन सम्बन्धी सभी ज्ञान गागर में सागर सदृश भर दिया है। पुस्तक लघु होने पर भी सर्वोत्तम है। मूल्य १।।)

९० **सौश्रुती**—लेखक-आयुर्वेद बृहस्पति डा० रमानाथ द्विवेदी एम. ए., ए. एस. एस। प्राचीन शल्यतंत्र पर लिखा हुआ यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इस विषय की यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को क्रमबद्ध एवं आधुनिक विज्ञान से आलोकित सरलभाषा में प्रस्तुत किया है। मूल्य सुलभ संस्करण ७।।) उत्तम संस्करण ८।।)

इण्डियन मेडिसिन बोर्ड यू. पी. की प्राणाचार्य परीक्षा में आलोच्य व सहायक स्वीकृत ग्रन्थ—

अभिनव बूटीदर्पण सचित्र

आप लोगों को यह जान कर अत्यन्त हर्ष होगा कि आयुर्वेद जगत में सुविख्यात 'रूपनिघण्टुकार' श्रीयुत् रूपलालजी वैद्य वनस्पति विशेषज्ञ के सम्पादकत्व में अभिनव–बूटीदर्पण नामक ग्रन्थ स्पष्ट सहज में पहचानने योग्य चित्रों के साथ प्रकाशित किया गया है। इसमें आज तक के प्रकाशित जड़ी बूटियों के विषय भली भांति परिमार्जित तथा नवीन अनुभव सम्मिलित करने के साथ २ अन्य सन्दिग्ध बूटियों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है साथ ही इसमें प्रत्येक रोगों पर बूटियों का प्रयोग नम्बर भी बतला दिया है जिससे साधारण जन भी किस रोग पर किन किन बूटियों का कैसे प्रयोग हो सकता है ज्ञात कर प्रयोग द्वारा सफल चिकित्सा कर लाभ उठा सकते हैं। इसकी प्रशंसा स्वयं क्या लिखी जावे, ग्रन्थ हाथ में आनेपर आप स्वयं प्रशंसा किये विना नहीं रहेंगे। आयुर्वेद चिकित्सकों, विद्यार्थियों के बड़े काम की पुस्तक है। मूल्य १०)

सिद्ध-भेषज-संग्रह

लेखक—आयुर्वेदाचार्य श्री **युगल किशोर गुप्त**

संपादक—आयुर्वेदाचार्य श्री **गंगासहाय पाण्डेय**

प्रस्तुत पुस्तक में सभी प्रचलित—चूर्ण, वटी, घृत, तैल, आसव–अरिष्ट, सुरा, रस, रसायन, पर्पटी, लौह, मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह, मोदक, पाक, क्वाथ, लवण, द्राव, क्षार, प्रलेप, अञ्जन, वर्ति, धूम आदि शास्त्री योग तथा श्रेष्ठतम रसायन–शालाओं में जिन योगों का निर्माण होता है उन अनुभूतसिद्ध, एवं वर्तमान समय में सिद्धहस्त चिकित्सक नित्यप्रति जिन योगों का प्रयोग करते हैं उन १००० सहस्र सिद्ध योगों का संग्रह तथा भस्म एवं शोधन–मारण की अनुभवसिद्ध, गुणकारी सरल विधियों का भी संकलन किया गया है। प्रत्येक योग के वर्णन में ग्रंथ निर्देश, अधिकार, संयोगी द्रव्य, निर्माणप्रकार, अनुपान एवं गुणधर्म तथा उपायोगिता आदि आठ विभाग रखे गये हैं। विशिष्ट स्थलों पर प्रायः सर्वत्र ही विशेष वक्तव्य और नोट्स में संदिग्ध विषय को विस्तार के साथ प्रतिपादन कर दिया गया है। सर्वसाधारण चिकित्सकों को, विशेषतया नवीन चिकित्सकों को सर्वविध ओषधि–निर्माण तथा चिकित्सा के बारे में पूर्ण जानकारी एक ही ग्रंथ से हो जाय, यह इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता है। यह अभिनव संस्करण प्रत्येक चिकित्सक के लिए संग्रह करने योग्य है। पृष्ठ संख्या ७६०, छपाई, कागज, गेट अप सभी आकर्षक एवं मनोहर है। मूल्य राज संस्करण ६) उत्तम संस्करण ८) सुलभसंस्करण ७)

यू० पी० सरकार के समस्त औषधालयों में इसी ग्रन्थ के आधार पर चिकित्सा होती है।

राजकीय ओषधियोग सङ्ग्रह

लेखक—**आयुर्वेदाचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी,** ए. एम. एस.

कौन ऐसी प्रमुख आयुर्वेदीय ओषधि है जिसके निर्माण और परीक्षा का पूर्ण ज्ञान इस ग्रन्थ से न होता हो। आसव–अरिष्ट, तैल, घृत, चूर्ण, पाक, खरलीयरसायन, कूपीपक्व-रसायन आदि आदि सभी का स्वानुभव से शास्त्रोक्त विधि में आने वाली कठिनाइयों का समाधान करते हुए इस ग्रन्थ में सीधी सरल भाषा में प्रक्रियाएं लिखी गई हैं।

योग का निर्माण कर उसकी परीक्षा का साधन बतला कर फिर उसकी क्रिया शरीर के प्रत्येक भाग पर कैसे होती है इसका सोपत्तिक और वैज्ञानिक विवरण सम्पूर्णरूपेण सब से प्रथम इसी ग्रन्थ में प्रगट हुआ है जिसके कारण कल्पविज्ञान-शास्त्र की यह एक अपूर्व पुस्तक बन गई है।

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा करने में कौन सूत्र, सिद्धान्त एवं तत्वों का विवेचन करना है, क्या पथ्य देना है। कौन अपथ्य है तथा और कौन कौन महत्व के योग हो सकते हैं इसका विशद वर्णन इस ग्रन्थ में वैद्यों, फार्मेसिष्टों, छात्रों तथा चिकित्सकों को मुग्ध कर लेता है।

प्रमाण स्वरूप यू० पी० का आज कोई ऐसा सरकारी ओषधालय नहीं है जहाँ सरकार ने अपने पैसे से खरीद कर इसे मुफ्त न पहुंचाया हो। पुस्तक उपादेय, सर्वाङ्गपूर्ण और संग्रहणीय होने पर भी मूल्य अत्यल्प ७) है

रसरत्नसमुच्चयः

नवीन सुरलोज्ज्वला-विस्तृत भाषाटीका, विमर्श, परिशिष्ट सहित।

इस ग्रन्थ के आदेशानुसार पारद तथा अन्य धातु, उपधातु, रत्न आदि खनिजों की शुद्धि (संस्कार) कर के निर्मित किये हुए योगों से चिकित्साकार्य में अद्भुत चमत्कार हो सकता है। इस लिए आयुर्वेदाचार्य श्री अम्बिकादत्त-शास्त्रीजी ए. एम. एस. ने इस ग्रन्थ की सुरलोज्ज्वला नामक भाषा टीका लिखी है। शास्त्रीजी डाक्टरी तथा वैद्यक में परम निष्णात हैं और विशेषतया खनिज शास्त्र के भी विशेषज्ञ होने के कारण पारद, गन्धक, अभ्रक आदि खनिजों की उत्पत्ति, भेद, स्वरूप का विस्तृत वर्णन तथा उनको कहां से संग्रह करना चाहिये और आधुनिक वैज्ञानिक खनिजान्वेषण का प्राचीन पद्धति से वर्णित उत्पत्ति के साथ समन्वय तथा भेद का अच्छा दिग्दर्शन किया है। प्रत्येक योग के निर्माण

का सुन्दर व्याख्यान तथा प्रत्येक रोग की चिकित्सा के अन्त में पथ्यापथ्य का सम्यग् विवेचन किया है। जिनसे नव्य-चिकित्सकों को किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह सकेगा। यह टीका छात्रों तथा चिकित्सकों के लिए परम उपकारिणी है—क्योंकि सभी सन्दिग्ध स्थलों को ठीक तरह से उदाहरणादि देकर समझाया है। **प्रथम संस्करण** छपते ही अल्प समय में समाप्त हो गया। नए सजधज के साथ यह **द्वितीय संस्करण** प्रकाशित हुआ है। छपाई सफाई आदि अत्यन्त सुन्दर है। मूल्य १०)

रसेन्द्रसारसंग्रहः—सचित्र

नवीन वैज्ञानिक 'रसचन्द्रिका' भाषाटीका विमर्श परिशिष्ट सहित

संपादक—**आयुर्वेदाचार्य श्री गिरिजादयालु शुक्ल**

यह रसचन्द्रिका टीका आज कल की सभी प्रकाशित हिन्दी टीका से सुविस्तृत सरल हुई है। सभी कठिन स्थलों पर टिप्पणियां दी गई हैं। मत-मतान्तरोंका उल्लेख व सभी स्थलों पर आधुनिक काल के अनुसार उपयुक्त मात्रायें भी दी गई हैं। इस भांति विमर्श में प्रत्येक प्रयोगों की विशेषता का सुन्दर विवेचन भी किया है। परिशिष्ट में नवीन रोगों पर रसों का प्रयोग, मानपरिभाषा, मूषा तथा पुटप्रकरण, अनुपान विधि तथा औषध बनाने के नियम आदि भी देकर टीकाकार ने इस ग्रन्थ को एक सम्पूर्ण रस ग्रन्थ ही बना दिया है। यन्त्रों के चित्र वर्णन सहित देकर स्पष्ट कर दिये गये हैं। तृ० संस्करण बहुत ही सुन्दर छपा है। मूल्य ६)

शार्ङ्गधरसंहिता

वैज्ञानिक विमर्शोपेत 'सुबोधिनी' हिन्दी टीका 'लक्ष्मी'—नामक टिप्पणी तथा पथ्यापथ्यादि विविध परिशिष्ट सहित।

इस अभिनव संस्करण के 'सुबोधिनी' टीका व लक्ष्मी टिप्पनी में विमर्श द्वारा ग्रन्थ के कठिन भावों को वैज्ञानिक ढंग से सरलता पूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है एवं रोगगणनाध्याय में प्रत्येक रोगों का निदान, लक्षण आदि का वर्णन कर के अन्त के परिशिष्टों में ग्रन्थायुक्त रोगों का भी निदान, लक्षण, चिकित्सा तथा प्रत्येक रोगों का पथ्यापथ्य निर्देश एवं आकारादिक्रम से प्रत्येक रोगों के एकत्र स्वरस चूर्ण, आसव, घृत, तैल, रस, लेप आदिकी सूची भी दीगयी है। सभी संस्करणों से अतिसरल विस्तृत श्रेष्ठ **द्वितीय संस्करण** मूल्य ६)

अभिनव संस्करण! प्रकाशित हो गया !!

विविध विशेषताओं से युक्त !!!

चिकित्सक अध्यापक एवं छात्रों के लिये परमोपयोगी संस्करण

माधवनिदानम्

'मधुकोष' संस्कृत तथा 'विद्योतिनी' भाषा टीका, वैज्ञानिक विमर्श सहित

टीकाकारः—**आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शन शास्त्री,**

अध्यापक—ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरद्वार

सम्पादकः—**आयुर्वेदाचार्य वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय,**

चिकित्सक एवं अध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तुत संस्करण में माधव निदान के मूल पाठ, विशद् भाषार्थ, संस्कृत मधुकोष' टीका के साथ हिन्दी में मधुकोष की हिन्दी व्याख्या तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन रीति से वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक विवेचन सहित विशद विमर्श, विभिन्न पाठान्तर, मूल में आये हुए श्लोकों का ग्रन्थादि निर्देश एवं नवीन रोगों का परिशिष्ट श्लोकों में भाषार्थ युक्त दिया गया है। अपने ढंग का यह चिकित्सकों (डाक्टरों, वैद्यों) अध्यापकों एवं छात्रों के लिए परमोत्तम संस्करण है। आधुनिक युग के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों में एकरूपता स्थापित करने के प्रयास में यह संस्करण अद्भुत रूप से सहायक प्रमाणिक होगा। छपते छपते ही इसकी सैकड़ों प्रतियों के अग्रिम ग्राहक बन गये थे, यही इसकी उपयोगिता का ज्वलन्त प्रमाण है। सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़े साईज के लगभग एक हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। छपाई, कागज, जिल्द आदि सभी बहुत सुन्दर है। मूल्य सम्पूर्ण ग्रन्थ १२)

आयुर्वेद द्रव्यगुण-शास्त्रका एक अपूर्व नवीन प्रकाशन

द्रव्यगुण-विज्ञान

लेखक—**वैद्य प्रियव्रत शर्मा** एम० ए०, ए० एम० एस०

अध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय

पुस्तक में चार खण्ड हैं—द्रव्यखण्ड, गुणखण्ड, कर्मखण्ड और कल्पखण्ड। द्रव्यखण्ड में द्रव्य का स्वरूप तथा उसका रचनात्मक एवं कर्मात्मक वर्गीकरण-प्राचीन एवं नवीन दोनों दृष्टिकोणों से दिया गया है। साथ ही इस दिशा में चरक और सुश्रुत के मान्यताओं की तुलनात्मक समीक्षा भी की गई है। गुण खण्ड में गुण, रस, विपाक, वीर्य तथा प्रभाव का विशद एवं तुलनात्मक वर्णन किया गया है। कर्मखण्ड में प्राचीन एवं आधुनिक विज्ञान में वर्णित द्रव्यों के लगभग १५० कर्मों का समन्वयात्मक विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में प्रत्येक कर्म को पञ्चमहाभूतवाद त्रिदोषवाद एवं रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव के सिद्धान्तों के अनुसार वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। कल्पखण्ड में भैषज्य कल्पना के सैद्धान्तिक पक्ष का स्पष्टीकरण है। इस प्रकार कुल मिलाकर यह पुस्तक द्रव्यगुण के क्षेत्रमें एक अपूर्व और मौलिक देन है। मूल्य ५॥)

रिकार्ड सिरिंज २ c.c. ७) ५ c.c. १२) १० c.c. १५)
थर्मामीटर— जील का ३॥) जापानी १॥)
एनीमा सिरिंज— देशी ३॥) जर्मनी ५॥)
रबड़ के दस्ताने १॥)
गर्म पानी की थैली ४)
बर्फ की थैली २)
दवा नापने का ग्लास—
२ ड्राम ॥) १औंस ॥–) ३ औंस ।॥) ४ औंस १)
स्टेथस्कोप–बढ़िया ११) सादा ८)
सुजाक की पिचकारी कांच की— मर्दानी ।=)
जनानी ।≡)
मूत्र निकालने की रबड़ की नली ॥) जनानी ।॥=)
मोतीझला देखने का शीशा बड़ा बढ़िया २।)
स्प्रिट लैम्प धातु की ।॥=)

आंख में दवा डालने की पिचकारी ॥) दर्जन
दर्द में लगाने के कांच के ग्लास—
बड़ा १॥) बीचका १) छोटा ।॥)
नपुंसकता निवारक यंत्र १४)
कांटा विलायती मय बांट ६)
सिरिंज केस २ c.c. का १।॥) ५ c.c. का २।)
पीप (फूल) ।–)
ग्लेसरीन की पिचकारी १ औंस ३।) २ औंस ४।॥)
दान्त निकालने का जमूड़ा ५)
मलहम बनाने की प्लेट व छुरी दोनों १॥)
थर्मामीटर केस १)
नमक का पानी चढ़ाने का यंत्र १२)
स्टेथस्कोप रखने का थैला १)
स्क्रू (कार्क निकालने का) बढ़िया ।॥) सादा –)॥

प्रवाल शाखा नं० १	१ सेर १५)	उलट कम्बल	१ सेर ३)	सर्पगन्धा	१ सेर १४)
प्रवाल शाखा नं० २	१ सेर १०)	शिलाजीत पत्थर	१ सेर ४)	अर्जुन छाल	१ सेर ॥)
माण्डूर पुराना	१ सेर ॥)	रौप्यमाक्षिक	१ सेर ६)	अनन्तमूल	१ सेर १)
लोहचूर्ण फौलाद	१ सेर २॥)	मोती	१ तोला ५०)–७०)	इन्द्रायन की जड़	१ सेर १।॥)
वज्राभ्रक	१ सेर २)	अम्बर	१ तोला २५)	कालमेघ	१ सेर १)
कपर्द (कौड़ी) पीली	१ सेर २)	केसर	१ तोला ६)	खदिरछाल	१ सेर ।॥)
मोती सीप	१ सेर ४)	कस्तूरी	१ तोला ३२)	नागकेसर असली	१ सेर ५)
स्वर्ण माक्षिक	१ सेर ८)	गौलोचन	१ तोला ३५)	मुद्गपर्णी	१ सेर १)
अकीक	१ सेर ६)	स्वर्ण वर्क	१ तोला ११०)	माषपर्णी	१ सेर १)
गोदन्ती	१ सेर १।)	रौप्यवर्क	१ तोला ७)	रोहतक छाल	१ सेर १)
शंख टुकड़े	१ सेर ।॥)	गन्धक आंवलासार	१ सेर २)	सोमकल्प	१ सेर २)
सावरश्रृङ्ग	१ सेर १।)	शिलाजीत नं० १	१ सेर ३५)	वाराहीकन्द	१ सेर १)
यशद	१ सेर ३)	गुलकन्द	१ सेर २)	शङ्खपुष्पी	१ सेर १)
नाग	१ सेर ३)	गुलाबजल	१ बोतल ४)	अष्टवर्ग	१ सेर ८)
ताम्रचूर्ण	१ सेर ६॥)	हिंगुल	१ सेर ४०)	तालीसपत्र	१ सेर २॥)
जवाहरमोहरा	१ सेर ८)	पिपरमेंट	१ तोला १)	असली मूर्वा	१ सेर २)
कहरवा	१ सेर १०)	कल्बुलहिज्र	१ तोला २)	वंसलोचन असली	१ सेर २०)
वङ्ग	१ सेर ११)	ब्राह्मी सूखी	१ सेर १॥)	धतूरे के बीज	१ सेर ३)
कांतलोह	१ सेर ४)	अशोक छाल	१ सेर १)		

१—आर्डर के साथ चौथाई पेशगी अवश्य भेजिये अन्यथा आर्डर सप्लाई नहीं किया जायगा।
२—वजनी चीजें रेल पार्सल से मंगाइये। पोस्ट से व्यय अधिक पड़ता है।
३—ये भाव कम से कम हैं इस पर किसी भी प्रकार की रियायत सम्भव नहीं।
४—पैकिंग, बारदाना, स्टेशन पहुंचाई, पोस्ट-व्यय आदि सभी व्यय पृथक देने होंगे।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

धन्वन्तरि
के
ग्राहक बनाइये

★

यदि आप चाहते हैं कि धन्वन्तरि इसी प्रकार शान-बान के साथ प्रकाशित होकर आपकी सेवा करता रहे तथा भविष्य में भी उत्तम से उत्तम साहित्य इतने कम मूल्य में आपको देता रहे तो सभी ग्राहकों को कम से कम २ नवीन ग्राहक बनाकर हमारी सहायता अवश्य करना चाहिए। यह कार्य आपके लिए कठिन नहीं है, यदि आप इसे आवश्यक और उचित समझते हैं तो निश्चय ही आप दो ग्राहक बना सकते हैं। अपने परिचित चिकित्सकों, आयुर्वेद-प्रेमियों को धन्वन्तरि का यह विशेषांक दिखाइये, और उनको ग्राहक बन जाने के लिए उत्साहित कीजिये हमको विश्वास है कि शायद ही कोई ऐसा वैद्य या आयुर्वेद प्रेमी होगा जो धन्वन्तरि का ग्राहक बनना स्वीकार न करे।

● धन्वन्तरि के ग्राहक बढ़ाने में सहयोग देना आपका कर्त्तव्य है।

उत्तम से उत्तम साहित्य देना हमारा कर्त्तव्य है।

हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है

अब आपकी बारी है।

यदि किसी बहिन को पचास वर्ष की कम आयु में या किसी रोग के कारण मासिकधर्म (महावारी) का होना बन्द होगया है अथवा खुलकर नहीं होता या प्रतिमास ठीक समय पर न होकर आगे पीछे होता है तो ऐसी हालत में आप मेरी सौ फीसदी आजमाई हुई औषधि मासिक संजीवनी धारा मंगवाकर सेवन करें।

औषधि की केवल एक ही खुराक से महीनों का रुका हुआ मासिकधर्म बिना किसी कष्ट के चालू हो जाता है और तीन खुराक से मासिकधर्म बिगड़ने से पैदा हुई सब अन्दर की खराबियां दूर होकर मासिकधर्म ठीक समय पर नेम अनुसार आने लग जाता है। मू० तीन खुराक तीन रुपये छः आने ३।=) डाक पैकिङ्ग अलग।

खबरदार—गर्भवती बहिनें इसे सेवन न करें क्योंकि इससे गर्भपात होजाता है।

गर्भरोक—यदि आप बीमारी या कमजोरी के कारण सन्तान पैदा होने के समय के कष्टों को सहन न कर सकें तो आप यह औषधि सेवन करें, इसकी एक खुराक से दो वर्ष के लिए और तीन खुराक से सदा के लिए गर्भ का रहना बन्द होजाता है। मूल्य एक खुराक पांच रुपया ५) रुपया तीन खुराक दस रुपया १०) रुपया डाक पैकिङ्ग खर्च अलग। इस औषधि के सेवन से स्त्री के मासिकधर्म तथा स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं होती।

जरूरी सूचना—पत्र लिखते समय अपना पूरा पता साफ और सुन्दर लेख में लिखें।

पता—राजकुमारी अग्रवाल (नं० ५५५) टोहाना, जिला हिसार (ईस्ट पंजाब)

"इच्छाशक्ति"—WILL-POWER

इस पुस्तक में शारीरिक, वैषयिक, आध्यात्मिक उन्नति तथा मानसिक रोगादि के चिकित्सा-उपचार सम्बन्धी अनुभवपूर्ण विवेचन किया गया है। मनुष्य के अन्दर इच्छाशक्ति जो छिपी हुई हालत में वर्तमान है उसे जाग्रत करके कर्म जीवन को समधिक सफल बनाने का विज्ञानानुमोदित अनुशीलनादि तथा इसी प्रकार की साधना द्वारा अभीष्ट प्राप्ति का सरल तरीकों के बारे में विशद वर्णन पुस्तक का विषय है। चरित्र संगठन तथा आत्म-शक्ति के विकासार्थ इच्छाशक्ति का पठन-पाठन अत्यावश्यक है। चिकित्सा क्षेत्र में धन, यश, प्रतिष्ठाप्राप्ति के साथ साथ सफल चिकित्सक बनने के अभिलाषी तथा मनोवैज्ञान के प्रेमी को "इच्छाशक्ति" से लाभ उठाने का यह एक अच्छा मौका है। पुस्तक का मूल्य केवल १।) है।

प्राप्ति स्थान—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

आवश्यक सूचना

यदि आपने अपने अनुभव एवं परिश्रम से कोई वस्तु (पेटेन्ट औषधि) तैयार की है या फार्मेसी, औषधालय या कम्पनी खोल रक्खी है और आप चाहते हैं कि उसका लाभ आप और आपकी संतान ही लेती रहे, नक्काल शत्रुओं से रक्षा होती रहे तो अपनी प्रसिद्ध वस्तु (औषधि) या फार्मेसी को ट्रेडमार्क एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड करा लीजियेगा। रजिष्ट्री कार्य के लिए हमारी सेवाऐं प्राप्त कीजिये।

पता—

नेशनल एडवरटाइजिंग एजेंसी

बिजयगढ़ (अलीगढ़)

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ (अलीगढ़)

का

थोक-भाव

का

सूचीपत्र

वैद्य, हकीम, औषधि-विक्रेता, धर्मार्थ एवं सरकारी औषधालयों तथा खरीदारों के लिये ये भाव निश्चित किये गये हैं।

संस्थापित १८६८

——आवश्यक नियम——

१—इस सूची में थोक भाव दिये गये हैं, ये केवल वैद्यों, धर्मार्थ तथा सरकारी अस्पतालों और थोक-खरीदारों के लिए कम से कम निश्चित किये गये हैं। आम-जनता के लिये खेरीज भाव प्रथक हैं।

२—थोक भाव पर दवा उसी हालत में भेजी जाती हैं जब दवा का मूल्य कम से कम २०) हो। एक बार २०) की दवा मंगा लेने पर बाद में कम मूल्य की दवा भी थोक भाव पर भेजी जासकती हैं। लेकिन प्रथम बार २०) की औषधियां मंगाना आवश्यक है।

३—हर पत्र में अपना पता स्पष्ट और पूरा लिखें। आर्डर देते समय रेलवे स्टेशन और पोस्ट-आफिस का नाम स्पष्ट और अवश्य लिखना चाहिए। ५ सेर से अधिक वजन की पार्सल (दवा व पार्सल आदि सभी मिलाकर) रेल से भेजी जायगी।

४—रेलवे द्वारा औषधियां मंगाते समय आर्डर के साथ कम से कम ५) एडवांस अवश्य भेजदें।

५—१) से कम मूल्य की दवा या पुस्तक वी. पी. से नहीं भेजी जाती।

६—दवा भेजते समय पैकिंग करने में पूर्ण सावधानी रखी जाती है और प्रायः टूट-फूट नहीं होती। किन्तु यदि किसी प्रकार कोई टूट-फूट होजाय तो कार्यालय उत्तरदायी नहीं है। पार्सल से सामान निकालते समय फूंस अच्छी तरह देख लेना चाहिये, क्योंकि छोटे पैक कभी-कभी उसके साथ ही फेंक दिये जाते हैं। पार्सल खोलते ही बिल से मिलान भी कर लेना चाहिए।

७—पार्सल मंगाकर वी० पी० लौटाना उचित नहीं क्योंकि वी० पी० लौटाने से कार्यालय की व्यर्थ हानि होती है और एक बार वी० पी० वापिस मिलने पर फिर वी० पी० से दवा उस पते पर नहीं भेजी जाती है। यदि कोई भूल हो तो बिल नम्बर आदि का हवाला देकर लिखें, भूल सुधार दी जायगी।

८—हमारे यहां ८० तोले का १ सेर, ४० सेर का १ मन माना जाता है। द्रव (पतली) औषधि २ औंस की शीशी में १ छटांक मानी जाती है।

९—केवल रस रसायन एवं कूपीपक औषधि ५०) से अधिक मूल्य की एक साथ मंगाने पर पोस्ट-पैकिंग आदि व्यय ग्राहक से नहीं लिया जाता है।

१०—ग्राहकों को रेल पार्सल का बारदाना, पैकिंग, स्टेशन पहुँचाई और अन्य खर्च भी देने होते हैं।

११—हमारे बिक्री केन्द्रों या किसी भी श्रेणी के एजेंट से दवा खरीदने वालों को सूची में लिखे मूल्य के अलावा प्रति रुपया एक आना खर्च का अधिक देना होता है। यानी म्युनिस्पैल्टी में लगने वाली चुङ्गी, स्टेशन से माल ढुलाई, रास्ते की नुकसानी, सवारी गाड़ी (पेसेंजर) का किराया आदि सब खर्च मिलाकर १ आना प्रति रुपया लिखे मूल्य से अधिक लिया जा सकता है। २० रुपये से कम मूल्य की औषधियां खरीदने वाले को हमारे खेरीज भाव के सूची में लिखे दर से औषधियां एजेण्टों या बिक्री केन्द्रों से मिल सकेंगी। खेरीज दर पर –) प्रति रुपया अधिक लेने का नियम लागू नहीं होगा।

१२—धन्वन्तरि कार्यालय के किसी विभाग विषयक कोई भी झगड़ा अलीगढ़ की अदालत में तय होगा।

१३—तार का पता 'धन्वन्तरि' सासनी N. Ry. है।

१४—नियमों एवं भावों में किसी भी समय सूचना दिये विना परिवर्तन करने का कार्यालय को पूरा अधिकार है।

—व्यवस्थापक।

५६ वर्ष का विश्वस्त वा विशाल कारखाना

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

के

थोक (व्यापारी) भाव

★ कूपीपक्क रसायन ★

हमने कूपीपक्क रसायन बनाने में एक लम्बे समय में जो अनुभव प्राप्त किया है तथा इसकी बारीकियों को जितना हम जानते हैं वह अन्य अनेकों नवीन फ़ार्मेसी वाले कदापि नहीं जान सकते। हम विशेष अनुभव के आधार पर सर्वोत्तम रसायन निर्माण करते हैं और इसी कारण उनकी उत्तमता का दावा कर सकते हैं। अधिक न लिखते हुए आपसे परीक्षा करने का आग्रह करते हैं।

सिद्ध मकरध्वज नं० १ (भैषज्य) संस्कारित पारद द्वारा निर्मित, स्वर्ण घटित, षट्गुणगन्धक जारित अन्तर्धूम विपाचित सर्वोत्तम।

मू०—१ तोला ३२) १ माशे २॥=)

सिद्ध मकरध्वज नं० २ (भैषज्य) संस्कारित पारद द्वारा निर्मित, स्वर्ण घटित, षट्गुण वलि जारित, बहिर्धूम विपाचित, मू० १ तोला २०) १ माशा १॥।)

सिद्धमकरध्वज नं ३ (भैषज्य) हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित स्वर्ण घटित षट्गुण गंधक जारित अन्तर्धूम विपाचित। मू० १ तो. १५) १ माशे १।)

सिद्ध मकरध्वज नं० ४	१ तोला १८)	१ माशे १॥)
सिद्ध मकरध्वज नं० ५	१ तोला १२)	१ माशे १)
सिद्ध मकरध्वज नं० ६	१ तोला ६)	१ माशे ।॥)
रस सिंदूर नं० १	१ तोला ८)	३ माशे २–)
रस सिंदूर नं० २	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
रससिंदूर नं० ३	१ तोला ४)	३ माशे १–)
मल्लचन्द्रोदय	१ तोला ३२)	१ माशे २॥=)
मल्लसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
तालसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
ताम्रसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
स्वर्णवङ्गभस्म	१ तोला २॥)	३ मा. ॥=)
मृतसंजीवनी रस	१ तोला २॥)	३ माशा ॥=)
रसकर्पूर (उपदंशरोगे)	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
रसमाणिक्य	१ तोला २॥)	३ माशा ॥=)
समीरपन्नग रस नं०१	१ तोला २०)	१ माशा १॥।)
समीरपन्नगरस नं०२	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
पंचसूतरस	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
स्वर्णभूपति रस	१ तो० २०)	१ माशा १॥।)
व्याधिहरणरस	१ तो० १०)	१ माशा ।॥=)
शिलासिंदूर	१ तो० ६)	३ माशा १॥–)

कूपीपक्क-रसायन—इस पुस्तक में उपर्युक्त सभी रसायनों के गुण, विविध रोगों पर सेवन विधि आदि सविस्तार वर्णित है। मूल्य –) मात्र।

★ भस्में ★

धातु उपधातुओं की भस्में वही उत्तम होती हैं जो अच्छी प्रकार शोधन करने के पश्चात् भस्म की गई हों तथा जो निरुत्थ हों। आयुर्वेद में ऐसी भस्में जो पारद, हिंगुल, हरताल, मंसिल द्वारा भस्म की गई हों और जो पुनः जीवित न हों, सर्वोत्तम मानी गई हैं तथा जड़ी बूटियों से की गई भस्में मध्यम।

भस्में आयुर्वेदीय शास्त्र के अनुसार [शोधन करने के बाद] किन्तु अपनी विशेश क्रिया द्वारा बनाई

जाती हैं। इसलिये जिन्हें इस निर्माण कार्य में अधिक समय व्यतीत हो चुका हैं वही उत्तम भस्में बना सकते हैं। इसी प्रकार भस्मों में जितने अधिक पुट लगाये जाते हैं वह उतनी ही अधिक उपयोगी होती हैं। अन्य नवीन फार्मेसी वाले केवल वनौषधि द्वारा बहुत ही कम पुट देकर साधारण भस्में बना लेते हैं। इस लिये यह हमारी भस्मों के समान लाभप्रद सिद्ध नहीं होती हैं।

	५ तो०	१ तो०	३ मा०
अभ्रकभस्म नं० १	१२०)	२४)	६−)
अभ्रकभस्म नं० २	७॥)	१॥−)	।≡)
अभ्रकभस्म नं० ३	३॥।)	॥।−)	।)
अकीकभस्म	१२)	२॥)	॥≡)
कपर्दभस्म	१)॥	।)	=)
कान्तलौहभस्म	५)	१)	।−)
गौदन्तीहरतालभस्म (श्वेत)	॥।=)	।)	=)
जहरमोहराभस्म	८)	१॥=)	।≡)
तबकीहरतालभस्म श्वेत		६)	१॥−)
ताम्रभस्म नं० १		३)	॥।−)
ताम्रभस्म नं० २	७॥)	१॥−)	।≡)
ताम्रभस्म नं० ३	४)	॥।=)॥	।)
नागभस्म नं० १	७॥)	१॥−)	।≡)
नागभस्म नं० २	३)	॥=)	≡)
प्रवालभस्म नं० १	२०)	४)	१−)
प्रवालभस्म नं० २	८)	१॥=)	।≡)
प्रवालभस्म नं० ३		१॥=)	।≡)
प्रवालभस्म नं० ४	५)	१−)	।−)
प्रवालभस्म (चन्द्रपुटी)	५)	१−)	।−)
बंगभस्म नं० १	६।)	१।−)॥	।−)॥
बंगभस्म नं० २	२॥)	॥−)	≡)
वैक्रान्तभस्म	२४)	५)	१।−)
मल्लभस्म (संखिया) भस्म	२०)	४)	१−)
मृगशृङ्गभस्म (श्वेत)	१॥−)	।−)॥	—
माणिक्य भस्म	४५)	१०)	२॥−)
माण्डूर(कीट)भस्म नं०१	१॥।)	।=)	=)॥
माण्डूरभस्म नं० २	१।)	।−)	=)
मुक्ताभस्म नं० १	+	७०)	२०−)
मुक्ताभस्म नं० २	+	६६)	१६॥−)
यशदभस्म	५)	१−)	।−)
रौप्यभस्म नं० १	३५)	८)	२−)
रौप्यभस्म नं० २	२८)	६)	१॥−)
लोहभस्म नं० १	२०)	४॥)	१≡)
लोहभस्म नं० २	४)	॥।−)	।)
लोहभस्म नं० ३	२)	।≡)	=)॥
स्वर्णभस्म (कज्जली द्वारा)	—	१३२)	३३−)
स्वर्णमाक्षिकभस्म	५)	१−)	।)
शंखभस्म	१)	।)	=)
शंकरलोहभस्म	१४)	३)	॥।−)
शुक्ति (मोतीसीप) भस्म	१।)	।−)॥	=)
संगजराहभस्म	२॥)	॥)॥	≡)
त्रिवंगभस्म नं० १	१५)	३)	॥।−)
त्रिवंगभस्म नं० २	२॥)	॥−)	≡)

☆ पिष्टी ☆

प्रवाल पिष्टी	१ तोला	१)	३ माशा	।−)
मुक्ता पिष्टी	१ तोला	६०)	१ माशा	५−)
अकीक पिष्टी	५ तोला	७॥)	१ तोला	१॥−)
जहरमोहरा पिष्टी	१ तोला	१॥)	३ माशा	।=)॥
कहरवा पिष्टी	१ तोला	६)	३ माशा	१॥)॥
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	१० तोला	२)	१ तोला	।)॥

शोधित द्रव्य

ये द्रव्य शास्त्रोक्त विधि से शोधित हैं। अतः औषधि निर्माण में निःसंकोच व्यवहार कीजियेगा। इनके द्वारा निर्माण की गई औषधियां पूर्ण प्रभावशाली प्रमाणित होंगी।

कज्जली नं० १ १० तोला ७॥) १ तोला ।।।–)
गंधक आंवलासार शु० १० तोला ४) १ तो. ।≡)
जयपाल शुद्ध १० तोला ३) १ तो. ।–)॥
ताल [हरताल] शुद्ध १० तोला ७॥) १ तोला ।।।–)
ताम्र चूर्ण शुद्ध १ सेर १०)
धान्याभ्रक शुद्ध [वज्राभ्रक] १ सेर ४)
शुद्ध पारद हिंगुलोत्थ १० तोला १०) १ तोला १–)
पारद विशेष शुद्ध १ तोला ४)
पारद [संस्कारित] १ तोला १०)
वच्छनाग शुद्ध १० तोला ४) १ तोला ।≡)
विषबीज [वस्त्रपूत] १० तोला ५) १ तोला ॥–)
विषबीज[यवकुटशु०] १० तोला ३) १ तोला ।–)
शुद्ध मल्ल [संखियां] ५ तोला ५) १ तोला १–)
भल्लातक शुद्ध १० तोला ३) १ तोला ।–)॥
लोह चूर्ण शुद्ध १ सेर ४॥)
शिला [मंशिल] शुद्ध १० तोला ८) १ तोला ।।।–)॥
हिंगुल शुद्ध [हंसपदी] १० तोला ७॥) १ तोला ॥–)
मांडूर शुद्ध १ सेर १॥)
शुद्ध धत्तर बीज ५ तोला १।) १ तोला ।)॥

नोट—इनके भाव बाजार की वर्तमान स्थिति के अनुसार दिये गये हैं। आर्डर सप्लाई करते समय यदि कोई घटा-बढ़ी हुई तो उसी के अनुसार मूल्य लगाया जायगा।

☆ पर्पटी ☆

आयुर्वेदिक औषधियों में पर्पटी का स्थान बहुत ऊँचा है, किन्तु इनको जितने उत्तम पारद से तैयार किया जायगा, ये उतनी ही अधिक गुणप्रद होंगी। हम विशेष रीति से पारद को तैयार करके फिर पर्पटी तैयार करते हैं, इसलिये वे बहुत गुण करती हैं।

एक बार नं० १ की पर्पटी व्यवहार कर उसके चमत्कारिक प्रभाव को देखें। सभी के सुभीते के लिए दोनों प्रकार की पर्पटी तैयार करते हैं।

ताम्रपर्पटी नं० १ (वृ० निघन्टु सुन्दर० योग०) विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित, १ तो. ५) १ मा. ।≡)॥
ताम्रपर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)॥
पञ्चामृत पर्पपटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित १ तोला ५) १ माशा ।≡)॥
पञ्चामृत पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २॥) १ माशा ।)
विजय पर्पटी—विशेष पारद द्वारा निर्मित व स्वर्ण-मुक्ता घटित १ तोला २१) १ माशा १।॥)
बोल पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित १ तोला ५) १ माशा ।≡)॥
बोल पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)॥
रस पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित, १ तोला ४॥) १ माशा ।=)॥
रस पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २) १ माशा ≡)
लोह पर्पटी नं० १ विशेष पारद द्वारा निर्मित, १ तोला ५) १ माशा ।≡)॥
लोह पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)॥
श्वेत पर्पटी १० तोला २॥) १ तोला ।)॥
स्वर्ण पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद और स्वर्ण भस्म द्वारा निर्मित १ तोला २१) १ माशा १।।।–)
स्वर्ण पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ, पारद एवं स्वर्ण वर्क द्वारा निर्मित १ तोला १४) १ माशा १≡)

★ बहुमूल्य रस-रसायन-गुटिका ★

(स्वर्ण, मुक्ता एवं कस्तूरी मिश्रित)

ये औषधियां स्वयं अपनी देख-रेख में सर्वोत्तम स्वर्णवर्क, मुक्ता, कस्तूरी आदि बहुमूल्य द्रव्य डालकर बनाई जाती हैं। इनकी प्रमाणिकता में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं।

	१ तोला	१ माशा
आमवातेश्वर रस [भैषज्य]	१०।।)	।।।≡)
वृ० कस्तूरी भैरव रस [भैष]	१४)	१≡)
कस्तूरी भैरव रस [भैषज्य]	१२)	१—)
कस्तूरी भूषण रस [भैषज्य]	१२)	१—)
कामदुधा रस [मौक्तिक युक्त] [र. यो. सा.]	५)	।।)
वृ० कामचूरामणि रस [भैषज्य]	६)	।।।—)
कामिनी विद्रावण रस [भैषज्य]	४)	।=)
कुमारकल्याण रस [भैषज्य]	२७)	२।)
कृष्णचतुर्मुख रस [आयुर्वेद-संग्रह]	१०।।)	।।।=)।।
चतुर्मुख चिंतामणि रस	१६)	१।=)
जयमंगल रस (स्वर्ण युक्त)	२५)	२=)
प्रवालपञ्चामृत रस	१०)	।।।=)
पुटपक्व विषमज्वरांतक लोह	१२)	१—)
वृ० पूर्णचन्द्र रस	१८)	१।।)
बसन्तकुसमाकर रस	२१)	१।।।)
वृ० वातचिंतामणि रस	२१)	१।।।)
मृगांकपोटली रस	७२)	६)
मधुमेहान्तक रस	५० गोली	८)

	१ तोला	१ माशा
मन्मथाभ्र रस	७।।)	।।=)।।
महाराज नृपतिबल्लभ रस	६)	।।)।।
महालक्ष्मीविलास रस	६)	।।)।।
महाराज वङ्ग भस्म	६)	।।)।।
योगेन्द्र रस	३६)	३)
रसराज रस	१८)	१।।)
राजमृगांक	२४)	२)
लोकनाथ रस वृ०	३)	।।।—)
श्वासचिंतामणि रस	१२)	१)।।
स्वर्णवसन्त मालती नं० १ हिंगुल के स्थान पर सिद्ध मकरध्वज नं० १ तथा स्वर्णवर्क के स्थान पर स्वर्णभस्म डालकर बनाई हुई अत्युत्तम व परीक्षित—	२१)	१।।।)
स्वर्णवसन्त मालती नं० २	२१)	१)।।
सर्वाङ्ग सुन्दर रस	१२)	१)।।
संग्रहणी कपाट रस नं० १	२५)	२=)
सूतशेखर रस नं० १	१०)	।।।=)
हेमगर्भ रस	२४)	२)
हिरण्यगर्भ पोटली रस	२१)	१।।।)

★ रसायन गुटिका ★

	५ तोला	१ तोला
अग्निकुमार रस [योग]	१।।।)	।=)
अजीर्ण कंटक [रसयोग]	२।।)	।।)।।
अर्शान्तक वटी [भैषज्य]	२।।।)	।।)
अम्लपित्तांतक लौह [भैषज्य]	३।।।)	।।।)।।
अग्नितुण्डी वटी [रसेन्द्र]	२)	।≡)
आनन्द भैरव रस (लाल)	२)	।≡)
आनन्दोदय रस [भैषज्य]	६)	१≡)।।

	१ तोला	१ तोला
आदित्य रस [भैषज्य]	४)	।।।—)
आरोग्यवर्धिनी वटी [रसायन]	२।।)	।।)।।
इच्छाभेदी रस (वृ० नि०)	२।।)	।।)।।
इच्छाभेदी वटी [गोली]	३)	।।=)
उपदंशकुठार रस [वृ० नि०]	२।।)	।।)।।
उष्णवातान्न वटी [धन्वन्तरि]	६।)	१।)।।
एकांगवीर रस [रसतन्त्रसार]	१५)	३—)

	५ तोला	१ तोला
एलादि वटी [भाव०]	१)	≡)॥
एलुआदि वटी [यो० चि०]	१)	≡)॥
कर्पूर रस [अतिसार]	५॥=)	१=)॥
कनकसुन्दर रस [रसेन्द्र०]	२।)	॥)
कफकुठार रस [र० रसेन्द्र०]	४)	॥।-)
कफकेतु रस [रसेन्द्र]	२)	।=)॥
करंजादिवटी ५०० गोली ४)	५० गोली	।≡)॥
कामाग्निसंदीपनमोदक ५ तोला १।)	१ तोला	।-)
कामधेनु रस (भैषज्य)	७।)	१॥-)
कामदुधा रस नं० २ (मौक्तिक रहित)	८)	१॥)
कांकायन गुटिका (योग०)	१=)	।)
कीटमर्द रस (भैष०)	१॥=)	।-)॥
क्रव्यादि रस (वृ०) (भैष)	१०)	२॥)
कृमिकुठार रस (भि० र० चं०)	३)	॥=)
खैरसारवटी (वृहन्निघण्टु)	॥≡)	।)
गङ्गाधर रस	५)	१-)
गन्धक वटी (धन्व.)	१=)	।)
गंधक रसायन (रसतन्त्रसार)	५)	१-)
गर्भविनोद रस (रसेन्द्र)	२)	।≡)
गर्भपाल रस (वैद्यसार)	५।)	१-)
गर्भचिन्तामणि रस (भैष० ध० र०)	११।)	२।-)
गुल्मकुठार रस (योग०)	४)	॥।-)
गुल्मकालानल रस (भैषज्य)	३॥)	॥)॥
गुड़पिप्पली (भैष)	१।=)	।-)
गुड़मार वटी (धन्वन्तरि)	१=)	।)
ग्रहणीगजेन्द्र रस (धन्व०)	७।)	१॥-)
ग्रहणीकपाट रस नं० २ (धन्व)	२॥)	।=)
ग्रहणीकपाट रस [लाल] [धन्व०]	४।)	॥=)
घोड़ाचोली (अश्वचोली) रस	१॥)	।=)
चन्द्रप्रभावटी [शार्ङ्गधर.]	२।)	॥)॥
चन्द्रोदय वर्ति [भावप्रकाश]	२।)	॥)
चन्द्रकला रस	४।)	॥≡)
चन्द्रामृत रस [भैष०]	३)	॥=)
चन्द्रांशु रस [भैष०]	३)	॥=)
चित्रकादि वटी [भैष०]	१=)	।)
ज्वरांकुश रस [महा] [भैष०]	२।)	॥)॥

	५ तोला	१ तोला
जयवटी (रसायनसार)	६।)	१।)
जलोदरि वटी (वृ० नि० र०)	२॥)	॥-)
जातीफल रस (भैषज्य)	२॥)	॥-)
तक्रवटी (भैषज्य)	२॥)	॥-)
दुर्जलजेता रस	२।)	।≡)॥
दुग्धवटी नं० १	१२॥)	२॥-)
,, वटी नं० २ (सुन्दर)	२।)	।≡)॥
नवज्वरहर वटी (भाव)	२।)	।≡)॥
नष्टपुष्पान्तक रस (र. च.)	१०)	२-)
नृपतिवल्लभ रस (भै० र०)	४॥)	१)
नाराच रस (भैषज्य)	२।)	॥)॥
नित्यानन्द रस (भैषज्य)	३)	॥=)
प्रतापलंकेश्वर रस (शार्ङ्ग०)	२।)	॥)॥
प्रदरारि रस (यो० र०)	२।)	।≡)॥
प्रदरांतक रस	५।)	१=)
प्लीहारि रस (भै. र. र. यो)	८।)	॥)॥
प्राणेश्वर रस (सुन्दर)	१०)	२-)
प्राणदा गुटिका (भैष.)	२)	।≡)
पंचामृत रस नं० १	२।)	॥)॥
पंचामृत रस नं० २ (शोथ-रोगे)	२।)	॥)॥
पाशुपत रस (रसेन्द्र)	३।)	॥≡)
पीपल ६४ पहरा (धन्वन्तरि)	१२)	२।)
वृ० शङ्खवटी [भाव]	२)	।≡)
वृ० नायकादि रस [भैष०]	१=)	।)
वृद्धि बाधिका वटी [भाव०]	६।)	१।-)
बहुमूत्रांतक रस [भैष०]	५।)	१=)
बहुशाल गुड़ [शार्ङ्ग०]	१॥=)	।=)
बालामृत रस (धन्वन्तरि)	५॥=)	१≡)

रस-रस-रसायन-गुटिका-गूगल—इस पुस्तिका में धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक वैद्य देवीशरण गर्ग ने रस-रसायन गुटिका-गूगल (जो हमारे यहां निर्माण होते हैं) के गुण मात्रा अनुपानादि विस्तार के साथ लिखे हैं। आपने अपने अनुभव भी दिये हैं। मूल्य ।) मात्र।

	५ तोला	१ तोला
वातगजांकुशरस वृ० [र.,सु.,र.,सं.]	५)	१)॥
विषमुष्टिका वटी [सुन्दर]	२।)	।≡)॥
वैताल रस [भैषज्य]	१०)	२—)
व्योषादि वटी [शार्ङ्ग०]	॥।≈)	।)
मृत्युञ्जय रस [भैषज्य]	२॥।)	॥—)
मृत्युञ्जय रस (कृष्ण) [भैषज्य]	३)	॥≈)
मकरध्वज वटी (प्रमेहरोग नाशक)	५०० गोली	२०)
मरिच्यादि वटी [शार्ङ्ग०]	१।)	।)॥
महागन्धक रस [भैषज्य०]	२॥)	॥)॥
महाशूलहर रस [निघण्टु]	४।)	॥।≈)
मदनानन्द मोदक	१)	।)
महावातविध्वंस रस	१०)	२—)
मार्कण्डेय रस [भैषज्य]	२।)	।≡)
मूत्रकृच्छ्रांतक रस [र., सं., र. सु.]	१०)	२—)
मेहमुद्गर रस [भैष०]	३)	॥≈)
रजप्रवर्तक वटी [धन्वन्तरि]	३॥।)	॥।—)
रक्तपित्तांतक रस [रसेन्द्र०]	३॥।)	॥।—)
रामबाण रस [भैष०]	२॥।)	॥—)
लशुनादि वटी [भैष०]	१।)	।)॥
लघुमालती बसन्त [धन्व०]	७)	१॥)
लक्ष्मीविलास रस [भैषज्य रसायनाधिकार]	५)	१—)
लक्ष्मीनारायण रस [भैष०]	७॥)	१॥।)
लाई (रस) चूर्ण [सुन्दर.]	२।)	॥)
लीलावती गुटिका [वृ० निघण्टु]	१॥।≈)	।≈)॥

	५ तोला	१ तोला
लीलाविलास रस [सुन्दर, रसेन्द्र]	४।)	॥।≈)
लोकनाथ रस [भैषज्य]	५)	१—)
श्वासकुठार रस (वृ० निघण्टु]	२।)	॥)
शंखवटी (सुन्दर, भैषज्य)	१॥)	।—)
शंशमनी वटी (रसतंत्रसार)	४)	॥।—)
शिरोवज्र रस (भैषज्य)	२॥।)	॥।—)
शिलाजीत वटी (धन्वन्तरि)	२॥।)	॥—)
शीतभंजी रस (रसतंत्रसार)	६)	१।)
शूलवज्रिणी वटी [भैषज्य]	२।)	॥)
शूलगज केशरी [भैष०]	६।)	१।—)
श्रृङ्गाराभ्रक रस [भैष०]	५)	१—)
स्मृतिसागर रस [योग रत्ना०]	१०)	२—)
संजीवनी वटी [यो. त., शा. स.]	१॥।)	।≈)
सर्पगन्धा वटी (रसतंसार)	३)	॥≈)
समीरगजकेशरी [र. रा., वृ. नि. र.]	८)	१॥।)
सिद्ध प्राणेश्वर रस [भैष०]	२॥।)	॥—)
सूतशेखर रस [स्वर्ण रहित]	१०)	२—)
सूरणमोदक वृ० [धन्वन्तरि]	॥।≈)	≡)॥
सौभाग्य वटी [र, रा. सु.]	२॥)	॥)॥
हिंग्वादि वटी	१॥।)	≡)॥
हृदयार्णवरस [भैष०]	६।)	१।—)
त्रिपुरभैरव रस [भैष०]	२॥।)	॥—)
त्रिभुवन कीर्ति रस [र. च., र. र.]	२॥)	॥)॥
त्रिविक्रम रस [शा., यो. त.)	१०)	२—)

★ लोह-मण्डूर ★

	५ तोला	१ तोला
अम्ल पित्तान्तक लोह	३॥।)	॥।)॥
चन्दनादि लोह [ज्वर नाशक]	५)	१—)
,, ,, [प्रमेह नाशक]	६।)	१।—)
ताप्यादि लोह	१२॥)	२॥—)
धात्री लोह	३॥।)	॥।)॥
नवायस लोह	४।)	।≡)
प्रदरारि लोह	५)	१—)

	५ तोला	१ तोला
प्रदरान्तक लोह	६।)	१।—)
पुनर्नवादि मण्डूर	१॥।≈)	।≈)॥
विषमज्वरान्तक लोह	५)	१—)
यकृतहर लोह	३॥)	॥।)
शोथोदरारि लोह	६)	१।—)
सर्वज्वरहर लोह	३।)	॥≡)

★ गुग्गुल ★

	२० तोला	५ तोला	१ तोला
अमृता गुग्गुल	५)	१-)	।)।।
कांचनार गुग्गुल	३।।।)	१)	≡)।।
किशोर गूगल	३।।।)	१)	≡)।।
गोक्षुरादि गूगल	४।।)	१≡)	।)
रसाभ्र गूगल	१६)	४-)	।।।-)।।
बृ० योगराज गूगल	१२।।)	३≡)	।।≡)
योगराज गूगल	३।।।)	१)	≡)।।
सिंहनाद गूगल	६)	१।।-)	।-)।।
त्रियोदशांग गूगल	५)	१।-)	।)।।
त्रिफला गूगल	४।।)	१।।-)	।)।।

★ अरिष्ट आसव ★

	१ बोतल	१ पौंड	८ औंस
अमृतारिष्ट	१।।।-)	१।।)	।।।-)
अर्जुनारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
अरविन्दासव	२)	१।।=)	।।।=)
अशोकारिष्ट	१।।=)	१।=)	।।।)
अभयारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
अहिफेनासव	१२।।)	१०)	½ औं. ।=)
अश्वगन्धारिष्ट	१।।।≡)	१।।=)	।।।=)
उसीरासव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
कनकासव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
कनकसुन्दरासव	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
कर्पूरासव	१२।।)	१०)	½ औं. ।=)
कुमारी आसव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
कुटजारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
खदिरारिष्ट	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
चन्दनासव	१।=)	१=)	।।=)
दशमूलारिष्ट नं० १ (कस्तूरी युक्त) सूतिका रोग जीर्णज्वर	४)	३।)	१।।≡)
दशमूलारिष्ट नं. २ (कस्तूरी रहित)	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
बृ० द्राक्षासव	४)	३।)	१।।≡)
द्राक्षासव [खिंचा]	२)	१।।=)	।।।=)
द्राक्षासव [विना खिंचा]	१।।=)	१।=)	।।।)
द्राक्षारिष्ट	१।।=)	१।=)	।।।)
देवदार्व्यारिष्ट	१।।।≡)	१।।=)	।।।=)
पत्रांगासव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
पिपल्यासव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
पुनर्नवासव	१।=)	१=)	।।=)
वल्लभारिष्ट	२=)	१।।।)	।।।≡)
बबूलारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
बांसारिष्ट	४।)	३।।।≡)	२)
बालरोगांतकारिष्ट	१।।=)	१।=)	।।।)
मृगमदासव	१ पाव ८)	२ औंस	२-)
		½ औंस	।।)।।
रक्तशोधकारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
रोहितकारिष्ट	१।।)	१।-)	।।≡)।।
लोहासव	१।।)	१।-)	।।≡)।।
सारस्वतारिष्ट नं. १ [स्वर्ण युक्त]	१ पा. ५)	२औं.	१।-)
सारस्वतारिष्ट नं. २	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
सारिवाद्यासव	२)	१।।=)	।।)

★ अर्क ★

	१ बोतल	१ पौंड	१ पाव
अर्क उसवा	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
दशमूल अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
द्राक्षादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
महामंजिष्ठादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
रास्नादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
सुदर्शन अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।

	१ बोतल	१ पौंड	१ पाव
अर्क सौंफ	१।)	१।)	।।−)
अर्क अजवाइन	१।।)	१।−)	।।≡)।।
अर्क पोदीना	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
मृतसंजीवनी अर्क	२।।)	२)	१−)

★ क्वाथ ★

दशमूल क्वाथ	१ मन ३५)	१ सेर १)
२-२ तोले की १०० पुड़िया		४)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१)
दार्व्यादि क्वाथ		१ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१।।।)
देवदार्व्यादि क्वाथ		१ सेर १)
१०-१० तोले की पुड़िया		१)
द्राक्षादि क्वाथ		१ सेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१)
बलादि क्वाथ		१ सेर १।)
१०-१० तोले की पुड़िया		१।।)
महामंजिष्ठादि क्वाथ		१ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१।।।)
महारास्नादि क्वाथ		१ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१।।।)
त्रिफलादि क्वाथ		१ सेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया		१)

★ चूर्ण ★

	१ सेर डिब्बा में	५ तोला डिब्बामें	५ तोला शीशीमें
अग्निमुख चूर्ण	८)	।।−)	।।−)।।
अविपत्तिकर चूर्ण	७)	।।)	।।)।।
अशोक पानक चूर्ण	६)	।।−)।।	।।=)
अग्निवल्लभक्षार	१०)	।।≡)	।।।)
उदरभास्कर चूर्ण	७)	।।)	।।)।।
एलादि चूर्ण	७।।)	।।)।।	।।−)
कपित्थाष्टक चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
कामदेव चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
कुंकुमादि चूर्ण		१।।) २।। तो.	।।।−)
गंगाधर चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
चन्दनादि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
ज्वरभैरव चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
जातीफलादि चूर्ण	१०)	।।=)।।	।।≡)
तालीसादि चूर्ण	७।।)	।।)	।।)।।
दशनसंस्कार चूर्ण	७)	।।)	।।)।।
धातुस्रावहर चूर्ण	१२)	।।।)।।	।।−)
नारायण चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
निम्बादि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
प्रदरान्तक चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
पंचसकार चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
प्रदरारि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
पुष्यानुग चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
यवानीखांडव	६)	।≡)	।।≡)
लवंगादि चूर्ण	१०)	।।=)।।	।।≡)
लवणभास्कर चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
स्वप्नप्रमेहहर चूर्ण	१२)	।।।)।।	।।।−)
सारस्वत चूर्ण	५)	।=)	।=)।।
सामुद्रादि चूर्ण	७)	।≡)।।	।।)
शृंग्यादि चूर्ण	७)	।≡)।।	।।)
सितोफलादि चूर्ण—असली वंशलोचन से बना	१६)	१)।। २।। तो.	।।−)
सुदर्शन चूर्ण	६)	।≡)	।।)
हिंग्वाष्टक चूर्ण	७।।)	।।)।।	।।−)
त्रिफलादि चूर्ण	४)	।−)	।−)।।

तैल

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
आंवला तैल	४)	१)	॥–)
इरमेदादि तैल	५)	१।–)	॥≡)
कर्पूरादि तैल	६)	१॥)	॥।–)
कटफलादि तैल	४)	१–)	॥–)
कन्दर्पसुन्दर तैल	६)	१॥)	॥।–)
काशीसादि तैल	४)	१–)	॥–)
किरातादि तैल	३॥)	॥।≡)	॥)
कुमारी तैल	४)	१–)	॥–)
ग्रहणी मिहिर तैल	४)	१–)	॥–)
गुडुच्यादि तैल	४)	१–)	॥–)
चन्दनादि तैल	५)	१।–)	॥≡)
चन्दनबलालाक्षादि तैल	५)	१।–)	॥≡)
जात्यादि तैल	४)	१–)	॥–)
दशमूल तैल	४)	१–)	॥–)
दार्व्यादि तैल	३॥)	॥।≡)	॥)
महानारायण तैल	४)	१–)	॥–)
पानीनाशक तिला	+	५)	२॥)
पिपल्यादि तैल	३॥)	॥।≡)	॥)
पिंड तैल [योगरत्नाकर]	४॥)	१≡)	॥=)
पुनर्नवादि तैल	४)	१–)	॥–)
ब्राह्मी तैल	५)	१।–)	॥=)
बिल्व तैल [भैषज्य]	६)	१॥)	॥।–)
विषगर्भ तैल	३)	॥।–)	।≡)
भृङ्गराज तैल [भैषज्य]	४)	१–)	॥–)
महाविषगर्भ तैल	४)	१–)	॥–)
बैरोजा का तैल	४॥)	१≡)	॥=)
महामरिच्यादि तैल	३॥)	॥।≡)	॥)
महामाष तैल [भैषज्य]	३॥)	॥।≡)	॥)
मोम का तैल [धन्वन्तरि]	७)	१॥।=)	॥।≡)॥
राल का तैल [धन्वन्तरि]	५)	१।)	॥≡)
लाक्षादि तैल (गद० वंग)	४)	१–)	॥–)
शुष्कमूलादि तैल (चक्र)	४)	१–)	॥–)
षट्विन्दु तैल [चक्र]	४)	१–)	॥–)
हिमसागर तैल (भैषज्य)	४॥)	१≡)	॥=)
क्षार तैल (भैषज्य)	५)	१।–)	॥≡)

घृत

	एक सेर	४ औंस
अर्जुन घृत	१२)	१॥–)
अशोक घृत (भैषज्य)	१२)	१॥–)
[illegible]न घृत (चक्र, बङ्ग)	१०)	१।–)
कदली घृत (भैषज्य)	१४)	१॥।–)
कामदेव घृत (भैषज्य)	१५)	१॥।≡)
दूर्वादि घृत (भैषज्य)	१०)	१।–)
धात्री घृत (भैषज्य)	१०)	१।–)
पंचतिक्त घृत	१०)	१।–)
फल घृत (भैषज्य)	११)	१।≡)
ब्राह्मी घृत (वाग्भट)	११)	१।≡)
बिन्दु घृत (योग)	१२)	१॥–)
महात्रिफलादि घृत	१३)	१॥≡)
शृङ्गीगुड़ घृत	६)	१≡)
सारस्वत घृत	१०)	१।–)

मलहम

जात्यादि मलहम	२० तोला	२)
पारदादि मलहम (योगरत्नाकर)	२० तोला	२॥)
निम्बादि मलहम (धन्वन्तरि)	२० तोला	२॥)
दशांग लेप (रसतंत्रसार)	२० तोला	१॥)
अग्निदग्ध व्रणहर मलहम	२० तोला	१॥)

★ क्षार सत्व द्राव ★

	१० तोला	२॥ तोला	१ तोला
वज्रक्षार चूर्ण [रसेन्द्र]	२)	॥)॥	।)
अपामार्ग क्षार	२)	॥)॥	।)
बांसाक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
कटेरीक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
कदली क्षार	२॥)	॥=)॥	।)॥
इमली क्षार	२)	॥)॥	।)
तिलक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
मूलीक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
ढाकक्षार	२)	॥)॥	।)
आकक्षार	२)	॥)॥	।)

	१० तोला	२॥ तोला	१ तोला
केतकीक्षार	२)	॥)॥	।)
चना [चणक] क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
नाड़ी क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥

शंखद्राव ४ औंस ६) १ औंस १॥=)
१/२ औंस ॥।–)
नेत्रबिंदु पाव भर ७॥) ½ औं. ॥) ¼ औं. ।)।
यवक्षार १ तोला =) १ सेर १०)
शहद १ सेर ३॥) १ औंस ।=)
भीमसैनी कपूर १ तोला ३)
गिलोय सत्व १ सेर २०)

☆ अवलेह पाक ★

च्यवनप्राश्यावलेह [च० भै० बङ्ग० वृन्द] [अष्टवर्ग-युक्त, असलीवंशलोचन व सर्वोत्तम मिश्रीसे बनाया हुआ] २० सेर कनस्तर में ७५) १ सेर डिब्बा में ४)
आधा सेर शीशी में २।) १ पाव शीशी में १=)
१० तोला शीशी में ॥=) १ पाव डिब्बा में १–)

कुटजावलेह १ सेर ५) १ पाव शीशी में १।=)
कण्टकारी अवलेह ५॥) १ पाव शीशी में १॥)
कुशावलेह १ सेर ५) १ पाव शीशी में १।=)
बांसावलेह ,, ५) १ पाव शीशी में १।=)

अद्रक खण्ड १ सेर ५) १ पाव शीशी में १।=)
विषमुष्टिकावलेह (वातरोग नाशक) ५ तोला ५)
मधुकाद्यावलेह [प्रदररोग नाशक] १५ तोला २॥=)
कन्दर्पसुन्दर पाक १ सेर ८) आध पाव की शी. १=)
बादाम पाक १ सेर १०) १० तो. शी० में १।=)
मूसली पाक १ सेर १०) ,, १।=)
सुपारी पाक ,, ८) ,, १=)
सौभाग्यसुण्ठी पाक ,, ८) ,, १=)
एरण्ड पाक ,, ८) ,, १=)

☆ कतिपय मुख्य वस्तुयें ★

शिलाजीत सूर्यतापी	१ सेर ४५)
शिलाजीत अग्नितापी	१ सेर २५)
अष्टवर्ग (अत्युत्तम)	,, १०)
यवक्षार	,, १०)
गिलोयसत्व असली	,, २०)
असली मुलहठी सत्व स्वयं निकाला हुआ	१ सेर १२)
असली ब्राह्मी	१ सेर २)
असली दशमूल	१ मन ३५)
असली तालीसपत्र	१ सेर २)
सर्पगन्धा	१ सेर २०)
सोमकल्प [सोमकला]	१ सेर २॥)
अशोक छाल	,, १॥)
रोहतक छाल	,, १।)
असली वंशलोचन	,, ३०)
हिंगुल रूमी	,, ४५)
मूंगा की सांखा	,, २०)
दशमूल सत्व	,, १५)
उलट कम्बल	,, ६)

—शेष पेटेण्ट औषधियों के बाद देखें।

अनुभूत एवं सफल

पेटेंट-औषधियां

आवश्यक नोट—ये औषधियां ५६ वर्ष से वैद्यों, कविराजों तथा धर्मार्थ औषधालयों में सफलता के साथ व्यवहार होती आई हैं तथा इनकी उत्तमता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिये। इन औषधियों के यहां खेरीज भाव दिये गए हैं। २५ प्रतिशत कमीशन कम करके इनके थोक भाव मान लेना चाहिये।

(अर्थात निराशबन्धु)

आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति में सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं चमत्कारिक महौषधि सिद्ध मकरध्वज नं. १ × अर्थात् चन्द्रोदय है। इसी अनुपम रसायन द्वारा इन गोलियों का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य मूल्यवान एवं प्रभावशाली द्रव्यों को भी इसमें डाला जाता है। व्यवहार करने से बीसों प्रकार के प्रमेह, वीर्य का पतलापन, मूत्र के साथ या स्वप्नावस्था में वीर्य का जाना, दुर्बलता, नपुंसकता, स्तम्भन शक्ति में कमी होना, आंखों के सामने अंधेरा होना, शिर:शूल, दस्त साफ न होना, किसी काम में मन न लगना, नशों की कमजोरी, स्त्री का प्रदर रोग, मूत्रकृच्छ्र, सुजाक, मूत्रनली का दर्द, पेशाब का बार-बार आना, आदि विकार दूर होते हैं। वे गोलियां भोजन पचाकर रस-रक्त आदि सप्तधातुओं को क्रमश: सुधारती हुई शुद्ध वीर्य का निर्माण करती और शरीर में नव-जीवन व नव-स्फूर्ति भर देती हैं। जो व्यक्ति चन्द्रोदय के गुणों को जानते हैं वे इसके प्रभाव में संदेह नहीं कर सकते। अनुपान भेद से अनेक रोगों को दूर कर सकती हैं। प्रमेह के साथ होने वाली खांसी, जुकाम, सर्दी, कमर का दर्द, मन्दाग्नि, स्मरण शक्ति का नाश आदि व्याधियां भी दूर होती हैं। क्षुधा बढ़ती है, शरीर हृष्ट-पुष्ट और निरोग बनता है। जो व्यक्ति अनेक औषधियां सेवन कर निराश होगए हैं उन निराश पुरुषों को यह औषधि बन्धु तुल्य सुख देती है, इसी लिये इसका दूसरा नाम 'निराश बन्धु' है।

४० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य को अपने में एक प्रकार की कमी और शिथिलता का अनुभव होता है। यह रोग-प्रतिरोधक शक्ति (जो हरेक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है) में कमी आ जाने के फल स्वरूप होती है। मकरध्वज वटी इस शक्ति को पुन: उत्तेजित करती है और मनुष्य को सबल व स्वस्थ बनाए रखती है।

मूल्य—१ शीशी (४१ गोलियों की) २॥=)

छोटी शीशी [२१ गोलियों की] १।≡)

१२ शीशी या अधिक एक साथ मंगाने पर

× सिद्ध मकरध्वज नं० १—हम गत ५० वर्षों से निर्माण कर रहे हैं तथा अपनी विशेष प्रक्रिया द्वारा सर्वोत्तम मकरध्वज का निर्माण करते हैं। इसका तथा अन्य कूपी पक्व औषधियों का विस्तृत वर्णन व सेवन विधि "कापी पक्व रसायन" पुस्तक मंगाकर पढ़िएगा। मूल्य ~) मात्र।

रियायती थोक भाव १२ शीशी [४१ गोलियों वाली] का २०।।) सेट ।

कामदीपक तिला

जिन रोगियों को हस्तमैथुन एवं बहुमैथुन आदि निन्दनीय कर्मों से नसों में कमजोरी, निर्बलता, लिंगेन्द्रिय का पतलापन, टेढ़ापन, शिथिलता आदि विकार हों उन्हें यह कामदीपक तिला अवश्य लगाना चाहिये। इससे उपरोक्त सब विकार दूर होकर काम शक्ति प्रज्वलित होती है। इसके साथ साथ सिद्ध मकरध्वज और कनकसुन्दरासव अथवा मकरध्वज वटी का सेवन करना बहुत ही लाभदायक है। मूल्य—१ शीशी (आध औंस) २।।)

क्लीबत्वहर पोटली

इन पोटलियों के सेंक करने से हस्तमैथुन, गुदामैथुन, वहुमैथुन, आदि के द्वारा उत्पन्न हुई नपुंसकता दूर हो जाती है। रग-पुट्ठे मजबूत हो जाते हैं। इन्द्री सहज ही शिथिल नहीं होती। १० पोटली की दवा का डिब्बा २)

नपुन्सकत्वहर सैट

मकरध्वज वटी, कामदीपक तिला, क्लीवत्वहर पोटली, इन तीनों को ही "नपुन्सकत्वहर सैट" कहते हैं। इन तीनों को एक साथ व्यवहार करने से कैसा ही नपुन्सक हो मर्द हो जाता है। जो रोगी निराश हो गये थे आत्मघात करने को तैयार थे, घर गृहस्थी के कुछ भी काम के न थे वह इनकी बदौलत आज कई बाल-बच्चों के पिता बन, बड़े आनन्दपूर्वक गृहस्थ का सुख भोग रहे हैं। २० दिन की तीनों दवाओं के सैट का मूल्य ६) पोस्ट-पैकिंग व्यय १।।=)

ज्वरारि

सस्ती व उत्तम आयुर्वेदिक औषधि ज्वरारि के व्यवहार से जूड़ी और ज्वर शीघ्र ही जाता रहता है। इसमें कुनन नहीं है, अतः गरमी नहीं करती है। यह इसमें विशेषता है कि इसके सेवन के बाद यदि जूड़ी आ भी जाय तो उसके उपद्रव कै, प्यास लगना आदि को दूर करती है। मूल्य १ शीशी १० मात्रा (४ औंस) १) बड़ी शीशी २० मात्रा [८ औंस] १।।।), २० औंस की पूरी बोतल ५० मात्रा ३।)

कासारि

हर व्यक्ति की हर प्रकार की खांसी दूर करने के लिये अद्वितीय महौषधि है। जब खांसते-खांसते रोगी परेशान हो जाता है, कफ नहीं निकलता, उस अवस्था में इसकी २-४ मात्रा कफ पतला कर, रोगी के कष्ट को दूर करती हैं। जिस रोगी के कफ अधिक निकलता है उसका कफ नष्ट कर खांसी दूर करती है। हर ऋतु में इसका उत्तम प्रभाव होता है। मूल्य १ शीशी (४ औंस २० मात्रा) १), छोटी शीशी (५ मात्रा) ।=) १ पौंड ३।।)

प्रदर हर सैट

इस सैट में २ औषधियां होती हैं। १-स्त्रीसुधा तथा २-मधुकाद्यावलेह। दोनों औषधियों को सेवन करने से हर प्रकार के प्रदर, गर्भाशय विकृति, मासिक धर्म विकृति, कटिशूल तथा अन्य तत्सम रोग नष्ट होते हैं। सैकड़ों हजारों चिकित्सक अपने रोगियों को सफलता के साथ व्यवहार कराते हैं। आप भी परीक्षा कीजिये।

स्त्री-सुधा

भारतवर्ष की स्त्रियां प्रायः अशिक्षित होती हैं। वह अपने स्वास्थ्य की चिन्ता ही नहीं करतीं। पर अन्त में जब अत्यन्त दुर्बल एवं असहाय हो जाती हैं तब उन्हें चिन्ता होती है। मनुष्य को तो कभी चिंता ही नहीं। हां जब मनुष्य के कार्य में अव्यवस्था हो जाती है। उस समय जल्दी आराम कराने के लिये यह जादू-टोने एवं अन्य अशुद्ध औषधियां उन्हें देते हैं, जिनसे उनकी स्थिति सुधरने के स्थान पर अधिक बुरी होती जाती है। उस समय वे भागे-

भागे घूमते हैं। परन्तु जब रोग असाध्य होगया, तब फिर आराम कैसे हो ?

हमने इस औषधि को इसी समय के लिये निर्माण किया है। यह प्रदर, योनि शूल, कुक्षि शूल, मासिक धर्म की अव्यवस्था आदि सभी विकारों के लिये सर्वोत्तम प्रमाणित हुई है। प्रदर और गर्भाशय के समस्त विकारों के लिये रामबाण है। मूल्य १ बोतल (२० औंस) ३॥) १ शीशी (८ औंस सुन्दर दुरंगा कार्डबक्स का पैकिंग) १॥)

मधुकाद्यावलेह

यह प्रदर रोग की शास्त्रीय अत्युत्तम औषधि है। अपने चिकित्सा काल में हमने यह अनुभव किया है कि स्त्रीसुधा के साथ-साथ यदि इसका व्यवहार भी कराया जाय तो चमत्कारिक लाभ होता है। अतः स्त्रीसुधा के साथ-साथ इसका व्यवहार अवश्य कराना चाहिये। मूल्य १ शीशी (१५ तोला) ३॥)

नोट—इन दोनों औषधियों को एक साथ सेवन करने से प्रदर एवं स्त्रियों के अन्य विशेष रोग शीघ्र नष्ट होते हैं। इन दोनों को मिलाकर ही "प्रदरहर सैट" कहते हैं। मू० दोनों का ६)

श्वेतकुष्ठहर सैट

(श्वेतकुष्ठहर अवलेह, वटी और घृत)

इसमें तीन औषधियां १५ दिन सेवन करने योग्य हैं। १-श्वेतकुष्ठारि अवलेह, २-श्वेतकुष्ठारि घृत एवं ३-श्वेतकुष्ठारि- वटी। इन तीन औषधियों के नियमित सेवन करने से कुछ समय में सफेद दागों की कष्टसाध्य व्याधि नष्ट हो जाती है। यह रोग बड़ा पाजी है और आसानी से नहीं जाता। हम भी यह दावा नहीं करते कि इन तीन औषधियों के व्यवहार से यह रोग १०-५ दिन में ही छूमंतर होजायगा, लेकिन हम यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति धैर्य के साथ कुछ अधिक दिन तक सेवन करेगा वह इस रोग से अवश्य छुटकारा पाएगा। ये तीनों औषधियां आन्तरिक विकृति को क्रमशः सुधार कर रोग का मूल कारण नष्ट करती हुई रोग को दूर करती हैं, अतएव स्थाई लाभ होता है।

श्वेतकुष्ठहर अवलेह	१ डिब्बा	(३० तोला)	३)
,, ,, घृत	१ शीशी	(१ औंस)	१।)
,, ,, वटी	१ शीशी	(३२ गोली)	१।।।)

१५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियां का मूल्य (१ सैट का) ५)

हिस्टेरियाहर सैट

(योषापस्मारहर वटी, क्षार, आसव)

इन तीनों औषधियों के सेवन से स्त्रियों में बहु-प्रचलित हिस्टेरिया (योषापस्मार) रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है। अनेकों वैद्य तथा चिकित्सकों ने इन औषधियों को अपने रोगियों पर सफलता-पूर्वक प्रयोग किया है। १५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियों का मूल्य ७) पोस्ट व्यय पृथक।

हिस्टेरियाहर वटी	१ शीशी	(३० गोली)	२॥)
,, ,, आसव	१ बोतल	[२० औंस]	४)
,, ,, क्षार	१ शीशी	[½ औंस]	१॥)

रक्तदोषहर सैट

इसमें भी तीन औषधियां—धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसापरेला, तालकेश्वर रस तथा इन्द्रवारुणादि क्वाथ हैं। इन औषधियों के सेवन से कैसा ही रक्त या चर्म विकार हो, अवश्य नष्ट हो जाता है। उपदंश व सुजाक जन्य विकार, वातरक्त, श्लीपद, खाज, फोड़े-फुन्सी सभी रोग नष्ट हो शरीर सुन्दर व सुडौल हो जाता है।

मूल्य—१५ दिन सेवन योग्य ६) पोस्ट व्यय ४॥)

धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसापरेला – १ बोतल [२० औंस] ४)

सुन्दर कार्ड बक्स में १ शीशी [८ औंस] १॥।)

तालकेश्वर रस – १ शीशी [६ माशे] ४)

इन्द्रवारुणादि क्वाथ—इसके सेवन से चिरसंग्रहीत आंव दस्त होकर निकलती है, उस समय रोगी के पेट में मरोड़, कभी-कभी उल्टी और अन्य

हो जायगा और सभी कष्ट दूर होंगे। पुराने शिर दर्द में पथ्यादि क्वाथ व शिरोवज्ररस भी साथ सेवन कराने से शीघ्र लाभ होता है। १ माशे की शीशी।=)

स्तम्भन वटी—

यह स्तम्भन शक्ति बढ़ाने के लिये सर्वोत्तम एवं निरापद है। बजार में प्रचलित औषधियां सविष एवं क्षणिक उत्तेजना करने वाली होती हैं जो बाद में रही-सही शक्ति को भी नष्ट कर देती हैं। किन्तु इन गोलियों के कुछ दिन के व्यवहार से आंतरिक विकृति नष्ट होकर स्थाई लाभ होता है। मूल्य १ शी० [३२ गोली] १।)

नोट—विषय-भोग से प्रथक रहते हुये १ माह तक नियमित सेवन करते रहने से सभी विकृतियां अवश्य नष्ट होकर मनुष्य में नवजीवन उत्पन्न होता है।

करंजादि वटी—

'करञ्ज' [मलेरिया] के लिये सर्व प्रसिद्ध है। इसके संयोग से बनी ये गोलियां प्राकृतिक ज्वर [मलेरिया] के लिए उत्तम प्रमाणित हुई हैं। सस्ती भी हैं। १ शीशी [५० गोली] ॥=)

कासहर वटी—

हर प्रकार की खांसी के लिये सस्ती व उत्तम गोलियां हैं। दिन में ५-७ बार अथवा जिस समय खांसी अधिक आ रही हो १-१ गोली मुंह में डाल रस चूंसे, गला व श्वास-नली साफ होती है। कफ बन्द हो जाता है। मूल्य १ शीशी १ तोला।–) २० तोला ५)

निम्बादि मलहम—

नीम रक्त-शोधक व चर्म रोग नाशक है। इसी के संयोग से बनी यह मलहम फोड़ा-फुन्सी व घावों के लिये अत्युत्तम है। निम्ब क्वाथ से घाव या फोड़ों को साफ कर इस मलहम को लगाने से वे शीघ्र ही भरते हैं। नासूर तक को भरने की इसमें शक्ति है। मूल्य १ शीशी आध औंस।) २० तोले का टैक ३॥)

बल्लभ रसायन—

किसी भी रोग से किसी भी प्रकार का रक्तश्राव होता हो यह विशेष लाभ करता है। रक्त को बन्द करने के लिये अव्यर्थ औषधि है। अर्श, रक्तातिसार, राजयक्ष्मा आदि सब रोगों में इसका उपयोग होता है। १ शीशी [२ औंस] १)

रक्तबल्लभ रसायन—

इसके सेवन से ज्वर को दूर करने और रक्तश्राव बन्द होता है। ज्वर को दूर करने और रक्त को बन्द करने के लिए उत्तम है। १ शीशी १)

सरलभेदी वटिका—

कब्ज रोग तो आजकल इतना फैला हुआ है कि प्रत्येक घर में छोटे बच्चों, जवानों, बूढ़ों सभी को शिकायत बनी रहती है कि दस्त साफ नहीं होता जिसके कारण भूख भी नहीं लगती, तबियत भी उदास रहती है। कब्ज रहते-रहते फिर अनेक रोग आदमी को आ घेरते हैं, वास्तव में रोगों का घर पेट नित्य साफ न होना ही है। जिस मनुष्य को नित्य प्रातः साफ दस्त होजाता है उसे कोई रोग नहीं होने पाता। हमने यह दवा उन लोगों के लिए बनाई है जिनको नित्य ही कब्ज की शिकायत रहती हो और कई-कई बार दस्त जाना पड़ता हो, वे लोग हमारी इस दवा का सेवन करें। इसका रात्रि में सेवन करने से नित्य प्रातः साफ दस्त होता है। मूल्य १ शीशी [४१ गोली] १)

गोपाल चूर्ण—

जिनकी प्रकृति पित्त की हो इन्हें इसके सेवन से दस्त साफ होता है। जिनको मलावरोध हो उन्हें इसमें से तीन माशे रात को सोते समय गुनगुने जल के साथ फंका देने से सुबह साफ दस्त हो जाता है। १ शीशी (२ औंस) ॥=)

मृदु विरेचन चूर्ण—

यह मृदुविरेचक है किंतु जिन्हें मलावरोध रहता हो और अनेक औषधियों से न गया हो उन्हें भोज-

नोपरांत तीन-तीन माशे गुनगुने पानी से फंकायें। यदि पेट में खुरचन सी मालूम पड़े तो थोड़ी सौंफ चबालें। इसके १ महीने के सेवन से मलावरोध नष्ट होजाता है। मूल्य-१ शीशी (२ औंस) ||≡)

आंव निस्सारक वटी—

प्रातःकाल गुनगुने जल के साथ एक से तीन गोली तक सेवन कराने से गुदा के द्वारा आंव निकलने लगती है, रोगियों को आंव का विकार हो या आमवात का रोग हो तो उन्हें इसके सेवन से विशेष लाभ होता है। आंव निकालने के लिये यह एक ही वस्तु है। यदि पेट में दर्द या ऐंठा करे तब चिन्ता नहीं करें क्योंकि आंव निकलने के कारण कभी-कभी ऐसा होजाता है। मूल्य १ शीशी (१ तोला) १)

गुलाब मोदक—

रक्तविकार के रोगियों को रक्तशोधक औषधियां सेवन करना परम आवश्यक है और यह गुलाब मोदक पित्त प्रकृति वाले रक्त-विकार के रोगियों को दस्त कराने के लिये सर्वोत्तम हलका जुलाब है। मूल्य-१२ मोदक १)

धन्वन्तरि सुधा

अर्थात्

देशी क्लोरोडीन

आजकल सर्वरोग नाशक औषधियों का प्रचार बहुत अधिक बढ़ रहा है और व्यापारी सुधासिन्धु, पीयूष सिन्धु, अमृतधारा, पीयूष बिन्दु आदि अनेक नामों वाली औषधि बेच रहे हैं। विलायत वाले औषधि कह कर क्लोरोडीन नामक औषधि की बिक्री कर रहे हैं। हमने यही देख आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार यह औषधि बनाई है। यह उन सब औषधियों से उत्तम और देशी औषधियों से निर्माण की गई है। आजकल की तरह यह नहीं किया गया कि वही विलायती औषधियां लेकर और और देशी नाम रखकर आविष्कारक बन गये। साथ ही हमें यह कहने में भी संकोच नहीं, कि यह समस्त रोगों को नष्ट करने वाली नहीं और न आजकल की बिकने वाली अन्य औषधियां ही हैं। यह भी सिर्फ सामयिक रोगों में जो प्रायःतत्काल होते हैं लाभकारी होती हैं और यह भी उनकी समस्त दशाओं में तत्काल लाभकारी है, जैसे अजीर्ण, पेट का दर्द, अजीर्ण के दस्त, जी मिचलाना, कै होना (विशूचिका हैजा) संग्रहणी के दौरे के समय कफ, खांसी, श्वास के वेग के समय, आंव लोहू के दस्त, बालकों के हरे-पीले दस्त, दूध पलटना, शिर दर्द, कमर का दर्द, चोट लग जाने और अस्त्र से कट जाने तथा विषैले जानवरों के काटे पर भी लाभ करने वाली है। १शी. (आध औंस) ||)

रजःप्रवर्तक वटी—

जिन स्त्रियों को मासिक धर्म नहीं होता अथवा थोड़ा-थोड़ा होता है अर्थात् साफ नहीं होता या मासिक धर्म के समय दर्द होता है उनके लिये ही यह बनाई गई है. हमने अनेक स्त्रियों को इसके द्वारा आरोग्य कर लाभ उठाया है। १ शी. (२१ गोली) १)

स्वप्नप्रमेहहर वटी—

यह स्वप्नप्रमेह के लिये प्रसिद्ध औषधि है, यदि इसके साथ चन्दनासव और कुशावलेह भी सेवन किया जाय तब कितना ही कठिन और पुराना स्वप्नदोष हो नष्ट हो जाता है। १ शीशी २)

मुख के छालों की दवा—

गर्मी से, अथवा मलावरोध किसी भी कारण से मुंह में छाले हो जांय, इसको छालों पर बुरक कर मुंह नीचे करदें। लार गिरने लगेगी। छाले दिन-रात में नष्ट हो जायेंगे। मूल्य १शीशी (आध औंस) ||-)

कर्णामृत तैल—

कान में सांय-सांय शब्द होना, दर्द होना, कानसे मवाद बहना आदि कर्ण रोगों के लिये उत्तम तैल है। कान को पिचकारी से स्वच्छ करने के बाद इस तैल की २-३ बूंद दिन में २-३ बार डालें। १ शीशी (आध औंस) ||-)

बालापस्मारहर वटी—

बालकों को आजकल अपस्मार रोग अधिक देखने में आता है। बालक बेहोश होजाता है, हाथ पैर ऐंठ

जाते हैं मुख से लार (झाग) देने लगता है, दांती बन्द होजाती है बालक की ऐसी हालत देखकर प्राय: स्त्रियां भूत-बाधा समझ झाड़-फूंक में लग जाती हैं। और बालक का रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है, हमने यह दवा बड़े परिश्रम से बनाई है. एक बार वैद्यों से व्यवहार करने का अनुरोध करते हैं। मूल्य १ शीशी २)

मधुमेहान्तक रस—

मधुमेह जिसे डाक्टरी में डायबिटीज कहते हैं इसकी यह अव्यर्थ महौषधि है। बहुमूल्य व सोमरोग में भी विशेष लाभप्रद है। डाक्टर इस रोग को नष्ट करने में असमर्थ होते हैं वहां आयुर्वेद की यह एक ही औषधि रोग नष्ट कर डाक्टर साहब को चकित कर देती है। वैद्यों एवं मधुमेह रोगियों से अनुरोध है कि वे इसका व्यवहार कर हमारे परिश्रम को सफल करें! मूल्य १० गोली २।)

वृहद् द्राक्षासव—

आजकल द्राक्षासव का प्रचार अधिक है और हमारे यहां भी बनता है पर वृहत् द्राक्षासव विजयगढ़ के नामी प्रतिष्ठित विद्वान् सिद्धहस्त चिकित्सकों के अनुभव का फल है। इसमें उन्होंने अनेक बलवर्धक, पाचन, दीपन औषधियों का समावेश कर दिया है तथा सेव, अनार सन्तरा अंगूर प्रभृति अनेक फलों का रस भी डालने का विधान है। यह इन्हीं सब औषधियों के द्वारा बनाया जाता है और क्षय, उर:क्षत, कफ, खांसी को नष्ट करने एवं बल बढ़ाने के लिए अति उत्तम औषधि है, २-४ दिन के सेवन से ही बल प्राप्त होने लगता है, भूख लगने लगती है। कफ खांसी कम होजाती है। १ बोतल ५।)

अग्निबल्लभ क्षार—

सम्पूर्ण चिकित्सा का सार यही है कि जठराग्नि की रक्षा जाय चाहे सैकड़ों दोष कुपित क्यों न हों, हजारों रोग शरीर में क्यों न भरे पड़े हों परन्तु उनकी परवा न करके एक जठराग्नि की रक्षा करता हुआ मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करे। जब जठराग्नि द्वारा आहार पच जाता है तब ही रस रक्तादि शारीरिक धातु बनकर शरीर को बलवान करते हैं। लेकिन आज जिधर देखिये उधर यही शिकायत सुनने में आती है कि हमारी अग्नि कमजोर है, खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि-इत्यादि। अग्निबल्लभक्षार के सेवन से अग्नि प्रज्वलित होती है। खाना खाया हुआ हज़म होता है, भूक न लगना, दस्त साफ न न होना, खट्टी-डकारों का आना, पेट में दर्द तथा भारीपन होना, तबियत मिचलाना, अपान वायु का बिगड़ना इत्यादि सामयिक शिकायतें दूर होती हैं। परदेश में रहकर सेवन करने वालों को जलदोष नहीं सताता, गृहस्थों के लिए संग्रह करने योग्य महौषधि है। क्योंकि जब किसी तरह की शिकायत देखी, चट अग्निबल्लभक्षार सेवन करने से उसी समय तबियत साफ होजाती है। १ शीशी (२ औंस) ।।।)

ग्रहणी रिपु—

हमने इसे बड़े परिश्रम से बनाया है। यह गृहणी (Sprue) रोग के लिए अव्यर्थ है। हजारों रोगियों पर परीक्षा कर हमने इसे अब वैद्यों के सामने रक्खा है। एक बार परीक्षा कर देखिये, पुराने दस्तों के लिये चुनी हुई एक ही औषधि है। पाचन शक्ति को बढ़ाने के लिये इसके समान दूसरी औषधि नहीं है। १ शीशी आध औंस ३।।)

खाजरिपु—

खाज बहुत ही परेशान करने वाला तथा घृणित रोग है। जिस मनुष्य को यह होता है वह परेशान हो जाता है और उसे कोई पास नहीं बैठने देता। अनेक रोगियों पर भली प्रकार परीक्षा करने के बाद 'खाजरिपु' नामक तैल को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। अब तो इसे व्यवहार करने वाले इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। गीली तथा सूखी दोनों प्रकार की खाज के लिए यह अकसीर प्रमाणित हुआ है। मूल्य १ शीशी १) छोटी शीशी ।।—)

दाद की दवा—

यह दाद की अकसीर दवा है। दाद को साफ करके किसी मोटे वस्त्र से खुजला कर दवा की मालिश

करें। स्नान करने के बाद रोजाना वस्त्र से अच्छी प्रकार पोंछ लिया करें। १ शीशी ॥)

अण्डवृद्धिहर लेप

इतना बड़ा कपड़ा लें जो बढ़े हुये फोते को ढंक सकें और उस पर उक्त लेप लगा कर आग के कोयलों पर सेंक कर सुहाता-सुहाता फोते पर चिपकावें। दिन रात में एक बार लगावें, लेकिन २-३ बार रुई के फाहे से सेंक दिया करें। फोतों को ढीले लंगोट से सोधे रहें। लटके रहने पर सूजन बढ़ने का डर रहता है। इस लेप के कुछ दिन के व्यवहार से फोते प्राकृतिक दशा को प्राप्त होते हैं। १ शीशी आध औंस १)

पायरिया मञ्जन

पायरिया रोग बहु-प्रचलित है। यह अन्य अनेक रोगों को भी पैदा करता है। हर व्यक्ति को चाहिए कि इस रोग की थोड़ी सी भी उपेक्षा न करें। इस मंजन के नित्य व्यवहार करने से दांत चमकीले होते हैं और दांतों से खून जाना, मवाद जाना, टीस मारना, पानी लगना आदि सभी कष्ट दूर होते हैं। १ शीशी ॥)

धन्वन्तरि बाम

यह शीतल, सुगन्धित तथा मनमोहक मलहम शिर पर लगाते ही चित्त प्रसन्न करती है। शिर दर्द तुरन्त दूर हो जाता है। गर्मी के कारण परेशान, दिमागी कार्य करने वालों के लिये शीघ्र शांतिदायक है। मूल्य १ शीशी ॥)

नयनामृत सुरमा

नेत्र रोगों के लिये उपयोगी सुरमा है। चांदी या कांच की सलाई से दिन में एक बार रोजाना लगाने से धुंधला दीखना, पानी निकलना, खुजली चलना आदि शीघ्र नष्ट होते हैं। १ शीशी ३ माशे ॥)

अग्निसंदीपन चूर्ण

अग्नि को उत्तेजित करने वाला मीठा व पाचक स्वादिष्ट चूर्ण है। भोजन के बाद २-३ माशे लीजिए कब्ज दूर होगा तथा रुचि बढ़ेगी। १ शीशी (२ औंस) ॥)

मनोरम चूर्ण

स्वादिष्ट, शीतल व पाचक चूर्ण है। एक बार चख लेने पर शीशी खतम होने तक आप खाते ही रहेंगे। गुण और स्वादिष्ट दोनों में लाजवाब है। १ शीशी (२ औंस) ॥) छोटी १ औंस ।-)

स्वप्नप्रमेहहर चूर्ण

स्वप्न-दोष की आंतरिक विकृतियों को ठीक करते हुये इस भीषण रोग से छुटकारा दिलाता है। प्रातः सायं ३-३ माशे जल के साथ अथवा दूध के साथ लें। १ शीशी (४ औंस) २)

धातुस्रावहर चूर्ण

मूत्र के साथ धातु आती हो, पानी के समान पतली हो गई हो, इसके कुछ दिन सेवन करने से वीर्य (धातु) गाढ़ा हो जाता है। बल बढ़ता है। प्रमेह, मधुमेह एवं स्वप्नदोष के लिये भी उपयोगी है।

मात्रा—३-३ माशा, प्रातः सायं जल या दूध के साथ लें। १ शीशी (४ औंस) २)

☆ भस्मार्थ द्रव्य ☆

ताम्र चूर्ण [अशोधित]	१ सेर ७)	वज्राभ्रक	१ सेर ३)
फौलाद चूर्ण अशोधित	१ सेर ३)	धान्याभ्रक	१ सेर ४)
फौलाद चूर्ण शुद्ध	१ सेर ४)	शंख टुकड़े	१ सेर १।)
अशोधित जस्ता	१ सेर ६)	मोती सीप	१ सेर ५)
शुद्ध जस्ता	१ सेर ८)	पीली कौड़ी	१ सेर ३)
शुद्ध बङ्ग	१ सेर २०)		

धन्वन्तरि

के

विशेषांक

धन्वन्तरि का विशेषांक अपने विषय का अद्वितीय, सर्वाङ्गपूर्ण विशाल एवं सचित्र साहित्य होता है। धन्वन्तरि के विशेषांकों ने आयुर्वेद साहित्य सृजन में एक नवीन युग प्रारम्भ किया, यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है। आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान, वयोवृद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों से लेकर साधारण पठित समाज तक इसके विशेषांकों को ध्यानपूर्वक पढ़ता, मनन करता और लाभ उठता हुआ इनकी प्रसंशा खुले दिल से करता है। इतना सब कुछ होते हुए भी इनका मूल्य लागत मात्र क्या, लागत से भी कम है। धन्वन्तरि अभी तक लगभग ४५ विशेषांक प्रकाशित कर चुका है। किन्तु इस समय केवल १८ विशेषांक प्राप्य हैं इनमें भी ४ विशेषांक पहले समाप्त हो गये थे और बढ़ती हुई मांग के कारण उनका दूसरा संस्करण तैयार किया गया है। इसके विशेषांकों का शीघ्र समाप्त हो जाना तथा उनका पुनर्मुद्रण यह प्रमाणित करता है कि धन्वन्तरि के विशेषांक हर वैद्य, डाक्टर हकीम एवं चिकित्सा-प्रेमी व्यक्तियों के लिये संग्रहणीय एवं पठनीय हैं। प्राप्य विशेषांकों का संक्षिप्त विवरण नीचे दे रहे हैं। इनकी थोड़ी-थोड़ी प्रतियां शेष हैं अतएव निवेदन है कि आप भी इनको शीघ्र मंगाकर संग्रह एवं मनन करें। आप विश्वास रखें आपको इन विशेषांकों के मंगाने पर प्रसन्नता होगी, निराशा नहीं।

नारीरोगाङ्क (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ संख्या ३७२। आयुर्वेद सम्मेलनाध्यक्ष श्री० पं० शिवशर्मा बम्बई, आयुर्वेदवृहस्पति श्री. पं० गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी, साहित्यायुर्वेदाचार्य पं० घनानन्द जी पन्त, कविराज वैद्यरत्न प्रतापसिंह जी, श्री० पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल आयुर्वेद पञ्चानन, आयुर्वेद महामहोपाध्याय पं० भागीरथ जी स्वामी आयुर्वेदाचार्य कलकत्ता आदि ८७ भारत के प्रसिद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा प्रेषित समस्त स्त्री-रोगों पर विवेचन एवं अनुभवपूर्ण लेख इस विशेषांक में प्रकाशित किये गये हैं। अनेकों रङ्गीन तथा सादा चित्रों द्वारा विषय को सुबोध-सरल बनाने का सफल प्रयत्न किया है। प्रदर, हिस्टेरिया, बन्ध्यापन, गर्भस्राव, गर्भपात एवं अकाल प्रसव, सोमरोग, मूत्रातिसार-कष्टार्तव अतिआर्तव, प्रसूतिज्वर, गर्भजन्य आक्षेप, गर्भाशय विकृति पर ८ प्रकरणों में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त भी इसमें स्त्रियों के सभी विशेष रोगों पर आपको विवरण और सफल चिकित्सा-विधि मिलेगी। यह विशेषांक वैद्यों चिकित्सकों के लिये तो उपयोगी है ही, यदि पढ़ी-लिखी स्त्रियां इसको मंगाकर पढ़ें तो अपने तथा पड़ौस में रहने वाली स्त्रियों के बहुत से रोगों का इलाज स्वयं कर सकती हैं, द्वितीय संस्करण की भी थोड़ी प्रति शेष रह गई हैं। मूल्य ६)

बालरोगाङ्क (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ ३२४। १५ वर्ष पहिले चिकित्सा-चन्द्रोदय के यशस्वी लेखक स्वर्गीय बा० हरिदास वैद्यराज के सम्पादकत्व में यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था। यह विशेषांक धन्वन्तरि के उस समय के ग्राहकों द्वारा इतना अधिक पसंद किया गया कि वह शीघ्र समाप्त हो गया। जिसने चिकित्सा-चन्द्रोदय पुस्तक को पढ़ा है वे समझते हैं कि बा० हरिदास जी की लेखनी में क्या शक्ति थी। उन्होंने इस विशेषांक को सुन्दर तथा उपयोगी बनाने में कठिन परिश्रम किया

था। बाल-रोगों के विस्तृत लक्षण, अनुभवपूर्ण चिकित्सा, सफल प्रयोगों का विशाल संग्रह इस विशेषांक में है। इसमें लेखकों ने अपने अनुभवों को दिल खोल कर रख दिया है। मन्थर ज्वर, उदर कृमि, रोहिणी (डिप्थीरिया) बालशोष (सूखा रोग), शीतला (माता), खसरा (रोमान्तिका), डब्बा (पसली चलना) बालग्रह आदि रोगों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। मूल्य ६)

पुरुषरोगांक (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ २८८। लगभग १४ वर्ष पूर्व, अमृतधारा आविष्कारक कविविनोद पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा वैद्य के सम्पादकत्व में यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था। इस विशेषांक में भारतवर्ष के प्रसिद्ध ५६ चिकित्सकों के पुरुषों के विशेष रोगों पर अनुभवपूर्ण लेख, सफल चिकित्सा एवं प्रयोगादि वर्णित हैं। नपुंसकता, प्रमेह, मधुमेह, स्वप्नदोष, अण्डवृद्धि आदि रोगों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन अधिकारी लेखकों द्वारा लिखित प्रकाशित किया गया है। बा० हरिदास जी वैद्य, प्राणाचार्य पं० गोवर्धन जी छांगाणी, श्री. रामेशवेदी, कविराज अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार, कविराज हरिदयाल जी गुप्त वैद्य वाचस्पति जैसे प्रसिद्ध एवं अनुभवी लेखकों के लेखों को पठन एवं मनन कर पुरुष-रोगों के विशेषज्ञ आप बन सकेंगे। इस समय जनता में ये रोग अधिक प्रचलित हैं, अतएव चिकित्सकों को इस विशेषांक को अवश्य पढ़ना चाहिए। इनमें सैकड़ों अनुभवपूर्ण प्रयोग हैं जिनको आप सफलता-पूर्वक अपने रोगियों को व्यवहार करा सकेंगे। इस विशेषांक की १-१ लाइन पठनीय है। गागर में सागर भर दिया है। मूल्य ६)

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ २६६। यह वह विशेषांक है जिसके प्रकाशन से धन्वन्तरि की ग्राहक संख्या उसी वर्ष दूनी हो गई थी। इतना अधिक पसंद किया गया था कि एक वर्ष में दो बार छापना पड़ा फिर भी वर्ष के अन्त में समाप्त हो गया। इसमें भारत के अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त २१३ चिकित्सकों के ५०० सफल एवं सरल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह प्रकाशित किया गया है। इसका १-१ प्रयोग अनुभव की कसौटी पर कसा गया है। प्रयोगों को रोग की किस अवस्था में किस प्रकार व्यवहार कराना चाहिए यह स्पष्ट उल्लेख किया है। पूज्यपाद आचार्य यादव जी त्रिकम जी, स्वामी जयरामदास जी, श्री० पं० मस्तराम जी, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं० गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी, पं० रघुवरदयाल जी भट्ट आदि ख्याति प्राप्त एवं अनुभवी २१६ विद्वानों के उत्तमोत्तम प्रयोगरत्न इसमें प्रकाशित हैं। हर छोटे-बड़े रोग पर २-४ सफल प्रयोग आप इनमें प्राप्त कर सकेंगे। हर चिकित्सक को सदैव पास रखने योग्य ग्रन्थ है।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक [द्वितीय भाग]—

इसमें ८० प्रसिद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों के २५० सफल प्रयोगों का संग्रह है। १-१ प्रयोग समय पड़ने पर सैकड़ों रुपयों का कार्य देगा। बड़े आग्रह करके सरल-सफल प्रयोगों को प्राप्त कर प्रकाशित किया है। मूल्य २)

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)—

इसमें ७० प्रसिद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों के लगभग २०० प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह है। मूल्य २)

नोट—गुप्तसिद्ध प्रयोगांक तीनों भाग एक साथ मंगाने पर मूल्य ६) होगा। पोस्ट-व्यय पृथक् होगा।

भैषज्य कल्पनांक—

इसके सम्पादक आचार्य पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी A. M. S. ने ३६२ पृष्ठों में वह साहित्य प्रस्तुत किया है जो आप अन्यत्र १००० पृष्ठों में भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। १७२ परिभाषायें, १८ मूषायें, १० पुट, ३६ यंत्र २०० कषाय, ११० चूर्ण, ८८ गग्गुल, १२ पाकावलेह, ३४ पानक, १२६ आसवारिष्ट, ७६ घृत ३४ तैल के योग निर्माण विधि, गुण आदि वर्णित हैं। इस विशेषांक में १३ प्रकरण, ४६ लेखों का शृङ्खलाबद्ध एवं वैज्ञानिक रूपेण समावेश किया गया है। ६८ चित्रों द्वारा विषय

को सुबोध बनाया गया है। यह विशेषांक वैद्य, निर्माणशालाओं के व्यवस्थापकों के लिये अवश्य संग्रहणीय है। मूल्य ४)

भैषज्य कल्पनांक (परिशिष्टांक)—

इसमें धातु-शोधन-मारण भस्मीकरण; परीक्षा आदि भलीभांति समझाई हैं। मूल्य १) मात्र। भैषज्यकल्पनांक तथा परिशिष्टांक एक साथ मंगाने पर दोनों का मूल्य ४॥)

संक्रामक रोगांक—

पृष्ठ संख्या ३२०। इस विशेषांक का सम्पादन कविराज मदनगोपाल जी A. M. S., M. L. A. ने बड़े परिश्रम से किया है। अधिकांश वैद्य संक्रामक रोगी के बुलाने पर नहीं जाते, क्योंकि वे उसके विषय में अनभिज्ञ होते हैं तथा स्वयं संक्रमित न हो जांय इसका भी डर लगता है। इस विशेषांक को पढ़ने पर चिकित्सकों को संक्रामक रोगों से बचने के उपाय, रोगी की सफल चिकित्सा-विधि, शास्त्रीय विवेचन सभी कुछ का ज्ञान प्राप्त हो जायगा। आप हैजा, प्लेग, चेचक मलेरिया प्रभृति भीषण रोगों का प्रतिकार सफलता-पूर्वक करते हुए सफल एवं प्रसिद्ध चिकित्सक बन जाने की क्षमता प्राप्त करेंगे। मूल्य ४) पोस्ट व्यय प्रथक।

कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक—

पृष्ठ-संख्या ३०४। इस विशेषांक का सम्पादन तिब्बिया कालेज देहली के प्रोफेसर कविराज उपेन्द्र-नाथदास जी ने बड़े परिश्रम से किया है। "पंचकर्म" एवं "कल्प" आयुर्वेद की प्राचीन एवं सर्वोपरि चिकित्सा-विधियां हैं। इन चिकित्साओं द्वारा आयु-र्वेद के अनुभवी चिकित्सक भीषण रोगों से पीड़ित असाध्य रोगियों को भी काल के गाल से खींच लाते और उनको स्वस्थ-सुन्दर बनाकर चमत्कार दिखाते हैं। इस विशेषांक में भी अनुभवी व्यक्तियों द्वारा इन कल्पों तथा पंचकर्म विधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। श्री० पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी B. A. आयुर्वेदाचार्य का ६० पृष्ठ का "पंचकर्म" शीर्षक लेख अत्यधिक उपयोगी एवं मननीय है। २२० पृष्ठों में विविध कल्पों का विस्तृत वर्णन है। आप इस विशेषांक को पढ़कर आयुर्वेद की महानता एवं वैज्ञानिकता अवश्य स्वीकार करेंगे। हर चिकि-त्सक के लिये अवश्य पठनीय है। मूल्य ४) मात्र।

सिद्ध चिकित्सांक—

इस विशेषांक की जितनी प्रसंशा की जाय उतनी ही कम है ग्लेज कागज पर सुन्दर छपाई में ३६४ पृष्ठों में ६३ चिकित्सकों की विशेष रोगों पर सफल चिकित्सा-विधि प्राप्त कर प्रकाशित की गई है। शीतांग सन्निपात, राजयक्ष्मा, विद्रधि, प्रायरिया, वीर्य-विकार, स्वप्नदोष, मन्थर ज्वर, निमोनियां, अधिमन्थ आदि भीषण रोगों की सफल चिकित्सा इस विशेषांक में आपको मिलेगी। विद्वान वैद्यों को भी सफल चिकित्सक बनने के लिये इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। मूल्य ४) पोस्ट-व्यय प्रथक।

इन्जेक्शन विज्ञानांक (दो भाग)—

श्री. चौधरी तेजबहादुर सिंह D. I. M. B. I. M. S. ने इंजेक्शन विषयक सम्पूर्ण साहित्य पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है। अनेकों सुन्दर सुबोध चित्रों द्वारा इन्जेक्शन विषय को स्पष्ट समझाया है। इसमें इंजेक्शन विषयक जो साहित्य आपको मिलेगा वह हिन्दी की अन्य किसी पुस्तक में नहीं मिलेगा, यह हम दावे के साथ कहते हैं। अपने विषय का हिन्दी में अद्वितीय साहित्य है। दोनों भागों की पृष्ठ संख्या ३२५ मूल्य ४) पोस्ट-व्यय प्रथक।

विष-चिकित्सांक—

श्री. पं. ताराशंकर जी मिश्र आयुर्वेदाचार्य द्वारा सम्पादित एवं आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वानों एवं अनु-भवी चिकित्सकों का सहयोग प्राप्त अष्टांगायुर्वेद के अगद तन्त्र पर सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य है। "विष की चिकित्सा एवं विष द्वारा चिकित्सा" इस विशेषांक का मूल उद्देश्य रहा है। यह विशेषांक भीषण संकट के समय में काम आने वाले उपयोगी साहित्य से लबालब है। हर पठित व्यक्ति स्वयं लाभ उठा सकता है तथा पड़ौसियों को लाभ पहुंचा सकता है, अतएव इसकी १-१ प्रति हर चिकित्सक तथा पढ़े-लिखे को रखना चाहिये। ३६४ पृष्ठों में स्थावर जंगम सम्पूर्ण विषों के विषय में सारपूर्ण क्रमबद्ध साहित्य सकलित

किया गया है। मूल्य-प्रथम भाग २) द्वितीय भाग २) पोस्ट-व्यय प्रथक्।

यकृत्प्लीहारोगांक—

यकृत् और प्लीहा मानव शरीर के महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। इनमें विकृति होने से मनुष्य को भीषण कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसके विविध रोगों के यदि आप सफल चिकित्सक बनना चाहते हैं तो आपको इस विशेषांक की एक प्रति अवश्य मंगा लेनी चाहिए। पृष्ठ १६४, अनेकों चित्रों से सुसज्जित, मूल्य-२) मात्र। पोस्ट-व्यय प्रथक्।

चिकित्सा समन्वयांक प्रथम भाग —

इसके सम्पादक हैं- पं० ताराशङ्कर जी मिश्र आयुर्वेदाचार्य। इसमें आयुर्वेद एवं एलोपेथी का समन्वय किस प्रकार हो सकता है उससे लाभ क्या है तथा हानि क्या है यह सभी विषय अधिकारी लेखकों के द्वारा वर्णित हैं। इसके पश्चात् ज्वर, (पित्तज्वर, वातज्वर, श्लेष्म ज्वर-इन्फ्लुञ्जा, बैरी-बैरी, कालाज्वर, विषम ज्वर आदि) अतिसार, अर्श, कृमि-रोग, विशूचिका, अम्लपित्त, पाण्डुरोग, कामला, वमन, यकृद्दाल्युदर तथा प्लीहोदर, जलोदर, फुफ्फुस-राजयक्ष्मा, क्षय, कास. तमक श्वास, श्वसनक ज्वर, हृद्रोग, मदात्यय, उन्माद अपस्मार मृगी, अतत्वाभि-निवेश, प्रज्ञापराध रोगों की आयुर्वेद एवं एलोपैथी मिश्रित चिकित्सा से किस प्रकार सफलतापूर्वक चिकि-त्सा की जा सकती है यह वर्णित है। इस विशेषांक के निर्माण में—डा० प्राणजीवन मेहता, पूज्य यादव जी महाराज, पं० सत्यनारायण जी पं० शिवशर्मा जी, कविराज सतीन्द्रनाथ वसु, कविराज हरिनारायण शर्मा, श्री० अत्रिदेव आयुर्वेदालङ्कार आदि ५५ विद्वानों ने सहयोग दिया है। पृष्ठ संख्या ३६४। अनेकों रङ्गीन एवं सादे चित्र। मूल्य ४)

चिकित्सा समन्वयांक द्वितीय भाग —

इसमें १५२ पृष्ठों में—आक्षेपक, धनुस्तम्भ, अर्दित, गृध्रसी, ऊरुस्तम्भ, अश्मरी और शर्करा, फिरङ्ग, नपुं-सकता, शीतपित्त, रक्तपित्त, कुष्ठ, आर्तवादर्शन, श्वेत-प्रदर, उन्माद, फक्करोग, बालापस्मार, डिप्थीरिया आदि कष्टसाध्य रोगों की मिश्रित सफल चिकित्सा-विधि वर्णित है। मूल्य २)

नोट—दोनों भाग एक साथ मंगाने पर मूल्य ५) पोस्ट-व्यय प्रथक्।

☆ धन्वन्तरि की फायलें ☆

वर्ष २१ की फायल—इसमें रक्तरोगांक विशेषांक है। मूल्य ५)

वर्ष २३ की फायल—इसमें कल्प एवं पञ्चकर्म चिकि-त्सांक तथा गुप्तसिद्ध प्रयोगांक द्वितीय भाग दो विशेषांक तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५)

वर्ष २४ की फायल—इसमें संक्रामकरोगांक तथा गुप्त-सिद्धप्रयोगांक तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५)

वर्ष २५ की फायल—इसमें सिद्ध चिकित्सांक तथा इंजे-क्शन विज्ञानांक [प्र० भा०] दो विशेषांक तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५)

वर्ष २६ की फायल—इसमें भैषज्यकल्पनांक तथा इन्जे-क्शन विज्ञानांक द्वितीय भाग तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५)

वर्ष २७ की फायल—इसमें विषचिकित्सांक तथा यकृ-त्प्लीहारोगांक दो विशेषांक हैं। ६ साधारण अङ्क हैं, विशेषांक तथा अन्य अङ्कों में बड़ा ही उप-योगी साहित्य है। मूल्य ५) पोस्ट व्यय प्रथक्।

वर्ष २८ की फाइल - इसमें चिकित्सा समन्वयांक दो भाग है। २ अङ्कों में श्री. पं० कृष्णप्रसाद जी द्वारा लिखित ज्वर-प्रश्नोत्तरी (सम्पूर्ण ज्वरों पर विस्तृत वर्णन और सफल चिकित्सा विधि) है। मूल्य ५) पोस्ट-व्यय प्रथक्।

☆ शारीरिक चित्र सैट ★

इसमें ५ तैल चित्र हैं। चिकने व मजबूत कागज पर तिरंगे छपे हुये, कपड़े पर सुन्दरता से लगे हुए, ऊपर नीचे गोल लकड़ी लगी हुई, दीवाल पर टांगने के लिये बड़े ही आकर्षक चित्र हैं। विवरण निम्न प्रकार है। पांचों चित्रों के पूरे सैट का मूल्य २०) पोस्ट-व्यय पृथक्।

१—मानव शरीर की अन्तर्बाह्य रचना—इसमें शरीर की पूरी ठठरी दी है। चित्र से यह स्पष्ट समझ में आजाता है कि कौन सी हड्डी कहां पर है। ठठरी के प्रमुख भाग पृथक भी दिये हैं। नेत्र रचना, कर्णेन्द्रिय, फुफ्फुस व स्वरयंत्र, उदरावयव—आमाशय, पित्ताशय, यकृत, बड़ी व छोटी आंत, मलाशयादि, चर्म—रचना दर्शक चित्र, हृदय से रक्त आने-जाने का चित्र, सुन्दर ढंग से दिये हैं। साइज २० इञ्च चौड़ा ३३ इञ्च लम्बा ऊपर नीचे लकड़ी लगी है। कपड़े से मढ़ा है। मूल्य ६)

-ज्ञानेन्द्रिय रचना दर्शक चित्र—मस्तिष्क, नेत्र, कर्ण एवं घ्राणेन्द्रिय (नाक) की वाह्य एवं आंतरिक रचना को स्पष्टतया समझने वाला सुन्दर तिरंगा चित्र। साइज २० इञ्च चौड़ा व ३३ इञ्च लम्बा ऊपर नीचे लकड़ी लगी है। कपड़े पर मढ़ा है। मूल्य ६)

—शरीर के अवयव और रक्त वाहक नाड़ियां और ज्ञानतन्तु—मनुष्य शरीर की शुद्ध रक्त-वाहक नाड़ियां [लाल रङ्ग में] अशुद्ध रक्त-वाहक नाड़ियां [नीले रङ्ग में] तथा ज्ञानतन्तुओं को [पीले रङ्ग में] स्पष्टतया दर्शाये हैं। अग्न्याशय छोटी-बड़ी अन्तड़ियां, मूत्राशय, पित्ताशय एवं फैंफड़े व हृदय के वाह्य रूप में विभाजित करके बड़े ही सुन्दर ढंग से दर्शाये हैं। साइज १५ इञ्च चौड़ाई २२ इञ्च लम्बाई, नीचे ऊपर लकड़ी लगी हुई, कपड़े पर मढ़ा हुआ, स्थाई और सुन्दर चित्र है। मूल्य ४)

४—इस चित्र के दो भाग हैं, एक भाग में मनुष्य सामने की ओर मुंह किये खड़ा है। गले से कमर तक का चमड़ा और पसलियां हटा दी हैं। पसलियों के नीचे के अङ्ग और उदर गह्वर के सभी अङ्ग यथा स्थान दर्शाये हैं, धमनी, शिरायें तथा स्नायु-तन्तु सभी स्पष्ट दीखते हैं। दूसरे भाग में मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर से चमड़ा हटा कर मांसपेशियां तथा उनका स्नायुओं से सम्बन्ध दर्शाया है। नीचे इस चित्र का पूरा विस्तृत वर्णन भी दिया है। साइज १५ इञ्च चौड़ाई २८ इंच लम्बाई, ऊपर नीचे लकड़ी लगी कपड़े पर मढ़ा है। मूल्य ४)

५ प्राथमिक उपचार (First Aid)—इसमें हाथ पैर, पंजे, कोहनी आदि में पट्टी बांधना, हड्डी टूटने पर तख्ते पर बांधना दिखलाया है। रोगी को घटना स्थल से चिकित्सक के पास तक किस प्रकार लेजाना चाहिये, मुख के जख्म से खून बहने पर किस स्थान पर दबाव देना चाहिये, आदि विषय स्पष्ट रूप से दिखाये हैं। चित्र बड़ा उपयोगी और सुन्दर है। साइज २० इञ्च चौड़ाई ३४ इञ्च लम्बाई, तिरङ्गा, कपड़े पर मढ़ा और लकड़ी पर लगा आकर्षक चित्र है। मूल्य ४)

ये पांचों चित्र हर चिकित्सक को अपने पास अवश्य रखने चाहिये। डिस्पेन्सरी में लगा देने से उनकी शोभा दूनी हो जायगी, शारीरिक हर विषय को इन चित्रों के सहारे भली प्रकार समझा जासकता है। ये चित्र इतने आकर्षक और उपयोगी हैं कि हर एक चिकित्सक देख कर इनको अवश्य प्राप्त करना चाहेंगे। पूरा सैट का मू० २०) पोस्ट-व्यय १ चित्र पर ॥।), २ चित्रों पर १=), ३ से ५ चित्रों पर १॥=)

चिकित्सकों के लिये

★ उपयोगी सामिग्री ★

आजकल वैज्ञानिक युग में अनेक ऐसे यन्त्रादि चल पड़े हैं जिनके व्यवहार से चिकित्सा में बड़ी सुविधा होती है तथा इन उपकरणों के विना चिकित्सक अधूरा तथा निकम्मा समझा जाता है। चिकित्सकों को इन वस्तुओं को मंगा तथा व्यवहार में लाकर लाभ उठाना चाहिये।

१—आंख धोने का ग्लास—किसी वस्तु का कण या उड़ता हुआ कोई छोटा सा कीड़ा आंख में पड़ जाने पर निकलना कठिन हो जाता है और वह बड़ा कष्ट देता है। इस ग्लास में जल भर कर आंख से लगा धोने पर आसानी से निकल जाता है। मूल्य ।॥)

२—गले व जबान देखने की जीबी—(Tongue Depressure) गला देखने के लिये जब रोगी मुँह खोलता है तब जीभ (जिह्वा) का उठाव गले को ढँक लेता है और गले में क्या व्यथा है चिकित्सक नहीं देख पाता। इस यन्त्र से जीव दबाकर मुंह खोलने पर गला तथा अन्दर की जीभ स्पष्ट दीख जाती है। मू० १।॥)

३—दूध निकालने का यन्त्र—स्त्री के स्तन में पकाव या फोड़ा हो जाने पर अथवा नवजात शिशु की मृत्यु हो जाने पर स्तनों में भरा हुआ दूध बड़ा परेशान करता है। इस यन्त्र से दूध आसानी से निकाला जा सकता है। मू० २)

४—डूस—इससे फोड़ा आदि धोने में बड़ी सुविधा रहती है। मू० रबड़ की नली व टोंटनी आदि से पूर्ण-२ पिंट का ५) तथा ४ पिंट का ७॥)

५—कान धोने की पिचकारी—धातु की १ औंस की ५), २ औंस की ७), ४ औंस की ८॥)

६—कान देखने का आला—कान में फुन्सी है, सूजन है या किसी अनाज का दाना पड़ गया है। और वह फूलकर कष्ट दे रहा है देखना कठिन हो जाता है। इस आले (यन्त्र) से कान के अन्दर का दृश्य स्पष्ट दीख पड़ता है। मू० १५)

७—इन्जेक्शन सिरिंज (कम्पलीट)—
सम्पूर्ण कांच की—२ सी. सी. २॥), ५ सी. सी. ४)
१० सी.सी. ६), २० सी.सी. ७),
५० सी.सी. १५)

रेकार्ड सिरिंज अत्युत्तम—२ सी. सी. ८),
५ सी. सी. १४), १० सी. सी. २०)

८—थर्मामीटर—(तापमापक यन्त्र) जापानी २)
जील का सर्वोत्तम ३॥)

९—एनीमा सिरिंज (वस्ति यन्त्र)—इस यन्त्र से जल या औषधि द्रव गुदा में आसानी से चढ़ाया जा सकता है। मूल्य—रबड़ का जर्मनी ६) भारतीय उत्तम ५)

१०—रबड़ के दस्ताने—चीड़-फाड़ करते समय संक्रमण से रोगी को और अपने को बचाने के लिए चिकित्सक इन दस्तानों को हाथ में पहिन लेते हैं। मूल्य—१ जोड़ी २)

११—गरम पानी की थैली—उदर पीड़ा, शोथ या अन्य आवश्यक स्थानों पर इस थैली में गरम पानी भर कर सुगमता से सिकाई की जा सकती है। मूल्य ५)

१२—बरफ की थैली—तेज बुखार, प्रलापावस्था, सिर पीड़ा या अन्य व्याधियों में चिकित्सक शिर पर बरफ रखवाते हैं। इस थैली में बरफ भर कर

रखने में सुविधा रहती है। रोगी को इसकी ठंडक पहुंचती है किन्तु उसके जल से वह भीगता नहीं है। मूल्य २॥)

१३—दवा नापने का ग्लास—(Mesaure Glass) कम्पाउण्डर अनुमान से दवा देकर कभी-कभी बड़ा अनर्थ कर डालते हैं। अतएव हर चिकित्सक को इन ग्लासों को अवश्य मँगाकर रखना चाहिए। गलती भी न होगी तथा सुविधा भी रहेगी। मूल्य—२ ड्राम का (बूंद नापने के काम आता है) ॥=), १ औंस का ॥।=), २ औंस का १), ४ औंस का १।)

१४—स्टेथस्कोप (वक्ष परीक्षा यन्त्र)—चिकित्सक ठेपन (अंगुलिताड़न) से वक्ष-परीक्षा करते हैं किन्तु वह अधिक अभ्यास से ही समझ में आसकती है। इस यन्त्र से सुविधा रहती है। साथ ही आजकल के युग में चिकित्सक का सम्मान भी इसी में है कि वे इस प्रकार के यन्त्रों को व्यवहार में लाते हुए रोगियों पर अपनी धाक जमायें। मूल्य बढ़िया १५), साधारण १०)

१५—चीनी का गोल खरल—ये खरल दवा मिलाने-घोटने के लिये उपयोगी हैं। मूल्य—२॥ इंची १॥), ३ इंची २), ४ इंची २॥),

१६—सुजाक की पिचकारी—सुजाक में जो मवाद निकलता है वह मूत्र नली में अन्दर चिपक कर घाव पैदा कर देता है। जब तक वह नली अन्दर से साफ नहीं होती, रोग का नष्ट होना कठिन हो जाता है। इस पिचकारी से आप अन्दर दवा पहुंचा कर आसानी से सफाई कर सकते हैं। मूल्य—मनुष्य के लिये ॥), जनानी ॥—)

१७—मूत्र कराने की रबड़ की नली—(कैथीटर) मूत्र रुकने से रोगी को महान कष्ट होता है, कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। इस नली की सहायता से मूत्र आसानी से निकाला जा सकता है। मूल्य ॥।). कैथीटर—स्त्रियों के लिए धातु की—१।)

१८—मोतीझला देखने का शीशा—मोतीझला Typh id के दाने बहुत सूक्ष्म होने के कारण देखने में नहीं आते और इसीलिए कभी-कभी निदान करने में बड़ी भूल हो जाती है। इस शीशा के द्वारा वे दाने बड़े दीख पड़ते हैं तथा आप आसानी से देख सकते हैं। हर चिकित्सक को अपने पास एक शीशा अवश्य रखना चाहिये। मूल्य—१), बढ़िया बड़ा ३), छोटा बढ़िया २)

१९—स्प्रिट लैम्प—थोड़ी दवा गरम करनी हो, अथवा सूखी दवा से इन्जेक्शन के लिए दवा तैयार करनी हो तब इस लैम्प की सहायता लेनी पड़ती है। मूल्य—कांच की २), धातु की २ औंस की ३॥), ४ औंस की ४॥)

२०—आंख में दवा डालने की पिचकारी—१ दर्जन ॥।=) एक पिचकारी —)॥

२१—दर्द में लगाने के कांच के ग्लास—Couping Glass बड़ा १॥।), बीच का १॥), छोटा १)

२२—नपुंसकता निवारक यन्त्र—(Organ Developing Instrument) इसके व्यवहार करने से इन्द्री की शिथिलता नष्ट होती है। इन्द्री छोटी हो तो बढ़ जाती है। इस यन्त्र में २ हिस्से हैं। एक कांच का गोल ग्लास जैसा होता है जिसमें इन्द्री रखली जाती है, ऊपर टोंटनी होती है उसमें सक्सन पंप (इस यन्त्र का दूसरा हिस्सा) रबड़ नली के द्वारा लगाकर पम्प चालू करने से ग्लास के अन्दर की हवा खिंच आती है और इन्द्री फूलने लगती है। इस प्रकार फूलने से ताजा रक्त इन्द्री की ओर दौड़ता है और उसमें कड़ापन आता है। इसी प्रकार १-१॥ माह ५-५, १०-१० मिनट करने से इन्द्री की शिथिलता नष्ट होजाती है। चिकित्सकों को चाहिए कि वे अपने रोगियों पर औषधि प्रयोग के साथ-साथ इसका व्यवहार भी अवश्य करायें—उनको शीघ्र सफलता मिलेगी। मूल्य—१८)

२३—कांटे—(Scales) अंग्रेजी तरह के बेलेंस कीमती दवाओं को सही व आसानी से तोलने के लिये व्यवहार में लाना चाहिए। निकिल पोलिश लकड़ी के बक्स के अन्दर रखे हैं। मूल्य ८)

पुस्तक सूची

☆ स्वप्रकाशित पुस्तकें। ☆

१—बृ० पाकसंग्रह

लेखक—श्री० पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी. ए. आयुर्वेदाचार्य। श्री त्रिवेदी जी की संकलन योग्यता से जो पाठक परिचित हैं वे तो इस पुस्तक को अत्युपयोगी समझेंगे ही। इस पुस्तक में ४०० से अधिक 'पाकों' का संग्रह प्रकाशित है। हर पाक की निर्माण विधि, मात्रा, सेवनविधि, गुण आदि दिये हैं। प्रयोग कहां से प्राप्त किया यह भी सप्रमाण दिया है। रोगी रोग-मुक्ति के पश्चात् रोगजन्य निर्बलता निवारणार्थ कोई ऐसी वस्तु पाने का अभिलाषी होता है जो औषधि होते हुए भी रुचिकर हो तथा निर्बलता एवं रोग निवारण कर सके। ऐसे समय में चिकित्सकों को उस रोग में उपयोगी पाक निर्माण कर उसे देना चाहिये। प्राय: सभी रोगों पर २-४ पाकों के प्रयोग इस पुस्तक में आपको मिलेंगे। ग्रहस्थ स्वयं पाक निर्माण कर स्वादिष्ट भोजन के साथ रोग निवारण कर सकते है। पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर व उपयोगी है। मूल्य सजिल्द ४) अजिल्द ३।।)

२—बालरोग चिकित्सा (द्वितीय संस्करण)

इस पुस्तक में दूषित दुग्धपान के लक्षण, दुग्ध-शुद्धि के लिये स्तन रोग चिकित्सा, घृतपान, उबटन, और स्नान, औषधि मात्रा परिज्ञान, उपयोगी नियम, पारिगर्भिक रोग, मृत्यु के लक्षण तथा बालकों के समस्त रोगों का वर्णन, निदान, लक्षण और उसकी परीक्षित चिकित्सा लिखी गई है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्येक ग्रहस्थ में रखने योग्य है। अधिकांश प्रयोग हमारे स्वयं परीक्षित हैं। इस नवीन संस्करण में हमने अपने निजी अनुभवपूर्ण बालरोग नाशक प्रयोग भी दिये हैं।। कुमारकल्याण घुटी जो सर्व बालरोगों पर चमत्कारिक लाभप्रद है उसका प्रयोग भी स्पष्ट दे दिया है। मूल्य १) मात्र।

३—सूर्यरश्मि चिकित्सा (नवीन संस्करण)

सूर्यरश्मि चिकित्सा को अंग्रेजी में क्रोमोपैथी [Chromopathy] कहते हैं। अंग्रेज इस चिकित्सा के आविष्कर्ता अमेरिका के डाक्टरों को मानते हैं। पर वास्तव में यह चिकित्सा अति प्राचीन और हमारे शास्त्रों में यहां तक कि वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसको पढ़ कर पाठक देखेंगे कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें हमारे शरीर को कितनी लाभदायक हैं और इसके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं। पुस्तक अपने विषय की पहली ही है। अनेक रङ्गीन चित्र हैं। मू० ।।।)

४—उपदंश विज्ञान (द्वितीय संस्करण)

ले०—कवि. पं. बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य इस पुस्तक में उपदंश [गरमी चांदी] रोग का वैज्ञानिक कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा का वर्णन किया है। पुस्तक के कुछ शीर्षक यह हैं-उपदंश परिचय, प्राच्य पाश्चात्य का साम्यवाद, संक्रमण, निदान, सिफलिस के भेद, उपदंश, प्राथमिक कील, लिङ्गार्श औपसर्गिक सकल रोग, उपदंश विकृतियां, मस्तिष्क-विकार, फिरंग चिकित्सा, पारद प्रयोग पथ्यापथ्य आदि-आदि, उपदंश सम्बन्धी सभी विषय इसमें वर्णित हैं। कोई भी आवश्यक विषय छूटने नहीं पाया है। मू० १)

५—प्रयोग पुष्पावली (प्रथम भाग)

इसका पहिले दो संस्करण लगभग १५ वर्ष पूर्व ही समाप्त हो गया था मांग बराबर बनी रही किन्तु कतिपय कारणों से इच्छा रहते हुए भी इसका नवीन संस्करण शीघ्र प्रकाशित नहीं किया जा सका। संक्षिप्त रूपेण अनेकों सामान्य एवं आश्चर्यजनक वस्तुयें निर्माण करने की विधियां इस पुस्तक में प्रकाशित हैं। प्रारम्भ में प्रकाशित सफल प्रयोग संग्रह के १-१ प्रयोग से पाठक इस पुस्तक का मूल्य वसूल समझें। ये प्रयोग बहुत समय से परीक्षित और सफल प्रमाणित हो चुके हैं। अनेकों उद्योग धन्धों का संकेत इसमें मिलेगा, जिससे पाठक बहुत लाभ उठा सकते हैं। समष्टि रूप में पुस्तक बेकार मनुष्यों को व्यवसाय की ओर झुकाने वाली है, गृहस्थियों के लिए नवीन और उपयोगी बातों का भाण्डार है जिससे वे अपने दैनिक जीवन में पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहिले दो संस्करण शीघ्र समाप्त हो जाना इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ११२। मूल्य १।)

६—रसायन संहिता (भाषा—टीका सहित)

आयुर्वेद साहित्य के अनमोल रत्न अपनी अलौकिक प्रतिभा के साथ-साथ अन्धकार के आवरण से ढंके हुए हैं, अमूल्य पुस्तकें यत्र-तत्र पड़ी हुई हैं, जिनके प्रकाशन का आवश्यकता है।

यह पुस्तक एक ऐसा ही रत्न है। अनुभवी और विचारशील लेखक महोदय ने हिमालय पर्यटन के परिश्रम से इसकी खोज की है। उन्हीं के प्रशंसनीय उद्योग से यह पुस्तक वैद्य समुदाय की सेवा में उपस्थित कर सके हैं। इसमें अनेक अव्यर्थ प्रयोग, सत्व प्रस्तुत विधि, उपधातु का शोधन-मारण प्रभृति अनेक विषय दिये गये हैं। मूल्य १)

७—कुचिमार तन्त्र (भाषा टीका)

श्रीमद् कुचिमार मुनि प्रणीत। प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन और अत्यन्त गोपनीय है। इसमें इन्द्रिय वृद्धि, स्थूलीकरण, कामोद्दीपन, लेप, वाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन, संकोचन व केशपात, गर्भाधान, सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भली-भांति बताये गये हैं। इस नवीन संस्करण में प्रमेह, नपुंसकता, मधुमेह आदि रोगों पर स्वानुभूत प्रयोगों का एक छोटा संग्रह भी दिया गया है। मूल्य ।।) मात्र।

८—दशमूल (सचित्र)

लेखक—स्वर्गीय लाला रूपलाल जी वैश्य, बूटी विशेषज्ञ। दशमूल किसे कहते हैं? किन-किन औषधियों से बनता है। उन औषधियों की आकृति कैसी है। यह विरले ही जानते हैं। इस पुस्तक में दशमूल की दस औषधियों का सचित्र वर्णन है। साथ ही उनके पर्याय नाम, गुण और प्रयोग भी बताये गये हैं। तथा दशमूल, पञ्चमूल, से बनने वाले अनेक योगों की विधियां भी दी गई हैं, चित्र इतने स्पष्ट हैं कि देखते ही झट पहिचान सकते हैं। मूल्य ।।) मात्र।

९—शल्यतन्त्रम्

लेखक—आयुर्वेदाचार्य श्री. पं० धर्मदत्त जी शास्त्री। शल्यक्रिया में ही वैद्य-समाज को पाश्चात्पद बताया जाता है, पर इस ग्रन्थ को देखने से प्रकट होता है कि इस ओर भी आयुर्वेद कितना पूर्ण था। इसमें शल्य, व्रण, शोथ की सामान्य और दूषित सभी अवस्थाओं के लक्षण और उपचार, बन्धन, छेदन, भेदन, विलियन, पाचन, रक्तमोक्षण, स्वेदन, लेखन, पेक्षण, आहारण, सीवन, पीड़न, निर्वासन, शोधन, रोपण-कर्म, प्रतिसारण, लोमोत्पादन, कृमिनाश सबका वर्णन है।

आंत निकलना, अण्डकोष फटना, गोली लगना, विषज व्रण उनकी व्याप्ति, उपद्रव, लक्षण और चिकित्सा में काम आने वाले पचासों शस्त्रों का सचित्र वर्णन और प्रयोगों की विधि बड़ी अच्छी समझाई है। प्रत्येक चिकित्सक को पास रखने योग्य ग्रन्थ है। मूल्य २।।)

१०—दन्त विज्ञान [द्वितीय संस्करण]

यह भिषगरत्न स्वर्गीय गोपीनाथ जी गुप्त की सारपूर्ण रचना है, इसमें दांतों की रचना, आंतरिक दशा, रक्षा के उपाय, अनेक दन्त रोगों के भेद, वर्णन और सरल चमत्कारी उपचार दिये हुये हैं, चार चित्र भी हैं। मूल्य ।≈) मात्र।

११--न्यूमोनियां प्रकाश [द्वितीय संस्करण]

आयुर्वेद मनीषी स्वर्गीय पं० देवकरण जी वाजपेयी की यही उत्तम रचना है जिस पर धन्वन्तरि पदक मिला और निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन से सम्मान पत्र और पदक प्राप्त कर चुकी है। न्यूमोनियां की शास्त्रीय व्युत्पत्ति, कारण, निदान, परिणाम, चिकित्सा आदि सभी बातें एक ही पुस्तक में भलीभांति वर्णित हैं। मूल्य ।=)

१२—प्राकृतिक ज्वर —

लेखक-स्वर्गीय लाला राधाबल्लभ जी वैद्यराज। मलेरिया [फसली बुखार] का पूर्ण विवेचन है, आयुर्वेदीय मत से मलेरिया कैसे पैदा होता है उनके दूर करने के आयुर्वेदीय प्रयोग, किनाइन से हानियां आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। पुस्तक स्वानुभव के आधार पर लिखी होने के कारण महत्वपूर्ण है। मूल्य ।–)

१३--नारू रोग—

नारू बड़ा भयङ्कर रोग है, इसमें नारू का सम्पूर्ण वर्णन, भेद निदान अपनी तथा अन्य वैद्यराजों की ऐसी अनुभूत चिकित्सायें दी हैं, जिससे बिना कष्ट के नारू निकल आता है। मूल्य ।)

१४--वैद्यराज जी की जीवनी—

स्वर्गीय श्री. लाला राधावल्लभ जी की जीवनी बड़ी ओजस्विनी भाषा में लिखी है। इसके पढ़ने से आलसी पुरुष भी उद्योगी और परिश्रमी बनने की इच्छा करता है। मूल्य ≡)

१५—मरणोन्मुखी आर्य चिकित्सा—

लेखक—स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। इस निबन्ध में आयुर्वेदीय चिकित्सा की जो दुर्दशा है उसका ओजस्विनी भाषा में वर्णन है। इनमें साहित्य पठनपाठन, ज्ञानोपार्जन, कर्तव्य निरूपण, सामिग्री-सम्पादन. प्रतिष्ठा-स्थापन, शक्ति-संगठन शीर्षक विचारपूर्ण लेख हैं। मूल्य ।)

१६—वेदों में वैद्यक ज्ञान —

लेखक-स्वर्गीय ला०राधावल्लभ जी वैद्यराज। वेदों के मन्त्र जिनमें आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन है तथा जिससे आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है, शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित दिये हैं। पृष्ठ ४६ मूल्य ≡)

१७—कूपीपक्व रसायन—

लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्रधान सम्पादक धन्वन्तरि। धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाले कूपीपक रसायनों के गुण मात्रा, अनुपान,सेवन-विधि आदि विस्तृत रूप से वर्णित हैं। मूल्य प्रचारार्थ –)

१८—भस्म पर्पटी—

लेखक वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्रधान सम्पादक धन्वन्तरि। इसमें धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाली सम्पूर्ण भस्मों और पर्पटियों का विस्तृत रूप से वर्णन है। रोग के लक्षणानुसार इन औषधियों को किस प्रकार सफलता के साथ व्यवहार किया जा सकता है यह आप इस पुस्तिका से जान सकेंगे। मूल्य –) मात्र।

१९—रस रसायन गुटिका गूगल—

धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक एवं अनुभवी चिकित्सक वैद्य देवीशरण जी गर्ग ने इस पुस्तक में धन्वन्तरि कार्यालय में निर्मित रस रसायन गुटिका-गूगल के गुण-मात्रा-अनुपान-व्यवहार विधि बड़ी ही उपयोगी ढंग से लिखी हैं। चिकित्सकों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी बनी है, क्योंकि लेखक ने अपने २५ वर्ष के चिकित्सानुभव का निचोड़ इसमें रख दिया है। मूल्य ।) मात्र।

२०-रक्त (Blood)

इसमें धन्वन्तरि कार्यालय के संस्थापक श्री वैद्यराज राधावल्लभ जी ने रक्त की बनावट, उपयोगिता एवं रक्त सम्बन्धी सभी मोटी-मोटी बातें आयुर्वेद एवं एलोपैथी उभय पद्धतियों से सरल हिन्दी भाषा में समझाकर लिखी हैं। मूल्य ।) मात्र।

अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें

आयुर्वेद के उत्तमोत्तम पठनीय ग्रंथ

प्रत्येक ग्रंथ आयुर्वेद के उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा संपादित हैं। वैद्यों तथा चिकित्सक समुदाय को चाहिए कि इन ग्रंथों की एक-एक प्रति मंगवा कर अवकाश के समय उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अपने चिकित्सा व्यवसाय में भी पूर्ण उन्नति कर धन तथा यश के भागी बनें। प्रत्येक ग्रंथ पर भारत के आयुर्वेद मर्मज्ञ विशिष्ट विद्वानों, पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षण संस्थाओं द्वारा अनेकानेक उत्तम-उत्तम सम्मतियां भी प्राप्त हुई हैं।

अगदतंत्र—डा० रमानाथ द्विवेदी एम. ए., ए. एम. एस.। इस छोटी सी पुस्तिका में लेखक ने विस्तृत ज्ञान भर दिया है। वैद्यों तथा विद्यार्थियों के लिए पठनीय है। सब कालेज के कोर्स में है। मूल्य ॥।)

अञ्जन निदानम्—सान्वय विद्योतनी हिन्दी टीका सहित। आयुर्वेद शास्त्र में निदान के लिये श्रेष्ठ ग्रन्थ है। मूल्य १)

अभिनव बूटी दर्पण (सचित्र)—लेखक वनस्पति विशेषज्ञ सुविख्यात रूप-निघण्टुकार श्री रूपलाल वैश्य। इसमें आजतक के प्रकाशित सभी जड़ी-बूटियों के विषय भलीभांति परिमार्जित तथा नवीन अनुभव सम्मिलित करने के साथ-साथ संदिग्ध बूटियां पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। मू० १०)

अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान (सचित्र)—लेखक—श्री प्रियव्रत शर्मा एम. ए., ए. एम. एस.। इस विषय की कोई ऐसी पुस्तक हिन्दी में नहीं थी जिसमें आधुनिक शरीर क्रियाविज्ञान के सम्पूर्ण विषयों का वैज्ञानिक शैली से संकलन किया गया हो। प्रस्तुत पुस्तक इस विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। विद्यार्थियों के लिये तो बहुत ही उपयोगी संस्करण है। मूल्य ७॥)

अष्टाङ्गसंग्रह—टीकाकार आयुर्वेद बृहस्पति श्री गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी। छांगाणी जी की विद्वत्ता आयुर्वेद जगत में प्रसिद्ध है। अतः उनकी टीका तो सर्वोत्तम होनी ही है। टीका के साथ-साथ विशेष वक्तव्य में छांगाणी जी ने स्वानुभूत योगों का भी प्रायः उल्लेख किया है। मू० सूत्रस्थान ८)

अष्टांगहृदयम्—विद्योतनी हिन्दी टीका विमर्श सहित। टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यालङ्कार। टीकाकार ने सर्वाङ्गसुन्दरी आयुर्वेद रसायन, तत्वबोध, पदार्थ चन्द्रिका आदि मुद्रित-अमुद्रित अनेक टीकाओं के आधार पर इस सुविस्तृत टीका की रचना की है। सभी विद्वानों ने इस टीका की प्रशंसा की है। मूल्य १६)

आयुर्वेद विज्ञान—विद्योतिनी हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित। मूल्य १॥)

आयुर्वेदीय परिभाषा—टीकाकार-आयुर्वेदाचार्य श्री गिरिजादयालुशुक्ल ए. एम एस. अभिनव प्रकाशिका हिन्दी टीका विस्तृत परिशिष्ट सहित। मूल्य १।)

औपसर्गिक रोग—ले० डा० घाणेकर। इस नई आवृत्ति में अनेक नये रोग समाविष्ट किये गए हैं। विषयों तथा रोगों का विवरण तथा प्रतिपादन बहुत अधिक विस्तार के साथ किया है। मूल्य प्रथम भाग १०) द्वितीय भाग १०)

काकचण्डीश्वर कल्पतंत्रम्—इस पुस्तक में वर्णित विविध कल्पों द्वारा अनेकानेक कष्टसाध्य रोगों को दूर किया जा सकता है। इसमें मंत्रादि द्वारा औषधियों को सिद्धदायक बनाने के विविध मंत्रों का भी उल्लेख है। मूल्य १)

काश्यप संहिता—श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार कृत विद्योतनी भाषा टीका, एवं राजगुरु हेमराज जी कृत संस्कृत-हिन्दी विस्तृत उपोद्घात सहित। इस ग्रन्थ

की प्रमाणिकता चरक तथा सुश्रुत के समान है। आयुर्वेद में कौमारभृत्य विषयक यही एक मात्र प्राचीन ग्रन्थ है। आयुर्वेद विद्वानों एवं चिकित्सकों के लिए संग्रहणीय एवं पठनीय है। मू० १६)

काथमणिमाला—हिन्दी टीका सहित। आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध समस्त काथों का परिश्रम पूर्वक संग्रह किया गया है। प्राकृत चिकित्सक तथा केवल काष्ठ औषधियों द्वारा चिकित्सा करने वालों के लिये उत्तम पुस्तक है। मूल्य १॥)

कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहित)—लेखक-श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०। समस्त बालरोगों पर प्राच्य-पाश्चात्यचिकित्सा विज्ञान पर आधारित सर्वाङ्गपूर्ण एवं विशाल ग्रन्थ। अनेक शिक्षा संस्थाओं द्वारा स्वीकृत। मूल्य ९)

गूलर गुण विकाशः---वैद्यभूषण श्री चन्द्रशेखरधर मिश्र लिखित गूलर के विविध चमत्कारिक गुणों के वर्णन युक्त अनुपम पुस्तक जिसकी प्रशंसा भारत के राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने भी की है। १३ वां संस्करण। मूल्य १)

चक्रदत्त—नवीन वैज्ञानिक भावार्थ सन्दीपनी भाषाटीका एवं विविध परिशिष्ट सहित। नवीन टाईप, सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १०)

जीवाणु विज्ञान—लें० डा० घाणेकर। इस पुस्तक में तृणाणु (Bacteria) कीटाणु (Protoza) विषाणु (Virus) इत्यादि जीवाणुओं के विभिन्न श्रेणियों का विवरण उनके प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है। मू. १०)

तापमान (थर्मामीटर) ले० डा. राजकुमार द्विवेदी। मू० ।)

तुलसीविज्ञान—विविध रोगों पर तुलसी के ४४३ सफल सुलभ प्रयोगों का संग्रह। मूल्य ।।)

द्रव्यगुण-विज्ञान—ले० पं० प्रियव्रत शर्मा एम. ए. ए. एम. एस.। पुस्तक के चार खण्ड हैं। द्रव्य खण्ड, गुण खण्ड, कर्मखण्ड, कल्प खण्ड। द्रव्य खण्ड में द्रव्य का स्वरूप तथा उसका रचनात्मक एवं कर्मात्मक वर्गीकरण प्राचीन एवं नवीन दृष्टिकोणों से किया गया है। गुणखण्ड में गुण, रस, विपाक, वीर्य तथा प्रभाव का विशद एवं तुलनात्मक वर्णन किया गया है। कर्मखण्ड में प्राचीन एवं आधुनिक विज्ञान में वर्णित द्रव्यों के लगभग १५० कर्मों का समन्वयात्मक विवेचन किया गया है। कल्पखण्ड में भैषज्य कल्पना के सैद्धान्तिक पक्ष का स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर यह पुस्तक द्रव्यगुण के क्षेत्र में एक अपूर्व और मौलिक देन है। मूल्य ६)

नव परिभाषा कविराज श्री उपेन्द्रदासनाथ कृत हिन्दी टीका सहित। मूल्य १॥)

प्रसूति विज्ञान—ले० डा० रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०। यह पुस्तक प्रसूतितंत्र (Midwifery) विषय की निराली एवं बेजोड़ है। २०० से ऊपर चित्रों द्वारा विषय को स्पष्ट बोधगम्य बना दिया है। जो पढ़ेगा वही इस पुस्तक की प्रशंसा करेगा। मूल्य ९)

फल संरक्षण विज्ञान (Fruit Preservation)—लेखक डा० युगलकिशोर गुप्त आयुर्वेदाचार्य। अपने विषय की उत्तम पुस्तक है। फलों के संरक्षण-क्रिया के अतिरिक्त फलों की चटनी, मुरब्बा आदि बनाने और सुरक्षित रखने की विधि भी सरलता से समझाई है। मू० १)

भारतीय रसपद्धति—लेखक कविराज अत्रिदेव गुप्त। भारतीय रस शास्त्र में धातुओं आदि का शोधन-मारण एक महत्व का विषय है। इस छोटी सी पुस्तिका में यह विषय सरलता के साथ उत्तम प्रकार से समझाया है। इसके सिवा ओज, भावना, पुट आदि संदिग्ध विषय पूर्णतः स्पष्ट कर दिए हैं। मूल्य १॥)

भावप्रकाश (सम्पूर्ण)—नवीन वैज्ञानिक विद्योतनी भाषा टीका सहित। शारीरिक भाग पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक परिशिष्ट, निघण्टु भाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरण पर प्रत्येक रोगों पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों की समन्वयात्मक विषद टिप्पणी से सुशोभित। कपड़े की पक्की दो जिल्दों में। मूल्य ३०)

भावप्रकाश ज्वराधिकार—नवीन वैज्ञानिक विद्योतनी भाषा टीका परिशिष्ट सहित। मूल्य ४)

भावप्रकाश निघण्टु—सम्पादक—आयुर्वेदाचार्य गंगासहाय पाण्डेय ए. एम. एस.। विद्योतनी भाषा टीका एवं बृहद् परिशिष्ट सहित। अपने ढङ्ग की बेजोड़ पुस्तक है। द्वितीय संस्करण मूल्य ८)

भैषज्यरत्नावली—विद्योतनी भाषा टीका विमर्श टिप्पणी परिशिष्ट सहित। टीकाकार--कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस.। प्रयोग निर्माण, मात्रा, गुण, अनुपान के साथ-साथ प्रत्येक रोग का पथ्यापथ्य इस संस्करण की विशेषता है। आयुर्वेद के सभी सम्माननीय विद्वानों ने इस टीका की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मूल्य १५)

मर्म-विज्ञान-सचित्र-ले० श्री रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य। मर्मों का वर्णन आयुर्वेद की विशेषता है। लेखक ने आयुर्वेद में वर्णित १०७ मर्मों की सचित्र विस्तृत व्याख्या की है। मू० ३॥)

माधवनिदानम्—मधुकोष संस्कृत तथा विद्योतनी हिन्दी टीका, वैज्ञानिक विमर्श परिशिष्ट सहित। टीकाकार--आयुर्वेदाचार्य श्री० सुदर्शन शास्त्री ए. एम. एस.। इसमें माधव निदान का मूल पाठ, विशद् भाषार्थ, संस्कृत मधुकोष टीका के साथ मधुकोष टीका की हिन्दी व्याख्या तथा प्रचीन एवं अर्वाचीन रीत्या वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक विवेचन, विशद् विमर्श, विभिन्न पाठान्तर मूल में आए हुए श्लोकों का अन्थादि निर्देश एवं नवीन रोगों का परिशिष्ट श्लोकों में भाषार्थ युक्त दिया है। डाक्टर, वैद्यों, छात्रों एवं अध्यापकों सभी के लिए परमोत्तम यही संस्करण है। मूल्य १३)

माधव-निदानम्—सर्वाङ्ग सुन्दरी हिन्दी टीका सहित। टीकाकार-.आयुर्वेदाचार्य लालचन्द शास्त्री। उत्तम कागज, सजिल्द मूल्य ४॥)

मूत्र के रोग—ले० डा० घाणेकर। (Diseases of urine, urinary system and allied diseases) मूत्र विज्ञान सम्बन्धि सर्वश्रेष्ठ नवीन प्रकाशन। मूल्य ६)

यकृत के रोग और उनकी चिकित्सा—लेखक वैद्य श्री सभाकान्त झा। इसमें यकृत, उसकी रचना, क्रिया, उसके विकार, विकारों के निदान, पूर्वरूप, सम्प्राप्ति, चिकित्सा, पित्ताशय और उसके विकारों का वर्णन सरल भाषा में किया गया है। मू० २)

रोग चिकित्सा—लेखक अत्रिदेव गुप्त विद्यालङ्कार। रोग की कौनसी अवस्था में, उसके उपद्रव में कौन-कौनसी औषधियां किस अनुपान से किस समय सफलतापूर्वक व्यवहार की जा सकती हैं यह इस पुस्तक में बड़े ही उपयोगी ढङ्ग से वर्णित है। चिकित्सकों के लिए बड़ी उपयोगी पुस्तक है। मू० ३॥)

रसरत्नसमुच्चय—नवीन सुरत्नोज्वला-विस्तृत भाषा टीका परिशिष्ट सहित। टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य श्री अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस.। यह टीका छात्रों तथा चिकित्सकों के लिये परमोपयोगी है क्योंकि सभी संदिग्ध स्थलों को उदाहरण देकर समझाया गया है। मूल्य १०)

रसाध्याय—संस्कृत टीका सहित। यह रसशास्त्र का अति प्राचीन छोटा किन्तु उपयोगी अद्भुत ग्रन्थ है। मूल्य ॥≈)

रसायन खण्ड—(रसरत्नाकर का चतुर्थ खण्ड)—इसमें रसायन तथा वाजीकरण इन दो तन्त्रों में बहुत से उपयोगी नूतन योगों का वर्णन किया गया है। मूल्य ॥)

रसार्णव नाम रसतंत्रम्--भागीरथी बृहद् टिप्पणी एवं विशेष विवरण से युक्त। कीमियागिरी, पारद के बन्धन, प्रयोग, यन्त्र मूषाओं का वर्णन, पारद के संस्कार, रस-उपरस-महारस रत्न-धातु-उपधातु का शोधन-मारण आदि बताने वाली प्राचीन पुस्तक है। मूल्य २)

रसेन्द्रसार संग्रह (सचित्र)—नवीन वैज्ञानिक रसचन्द्रिका भाषा टीका विमर्श परिशिष्ट सहित। टीकाकार श्री. गिरिजादयालु शुक्ल ए. एम. एस.। सभी कठिन स्थलों पर टिप्पणी दी गई है। मत-मतान्तरों का उल्लेख व सभी स्थलों पर आधुनिक काल के अनुसार मात्राएं दी गई हैं। विविध परिशिष्ट, नवीन

रोगों पर रसों का प्रयोग, मान-परिभाषा, मूषा तथा पुट प्रकरण, अनुपान विधि आदि विषय भी दिए हैं। बहुत उत्तम संस्करण है। मू० ६)

राजकीय औषधियोग संग्रह–ले० आयुर्वेदाचार्य रघुवीर-प्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०। प्रायः सभी प्रमुख आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण और परीक्षा का ज्ञान इस पुस्तक से होता है। यू० पी० सरकार ने अपने सभी सरकारी औषधालयों के लिए इसकी १-१ प्रति खरीदी है। इसी से इसकी उपयोगिता का प्रमाण मिलता है। मू० ७)

राष्ट्रीय चिकित्सा सिद्ध योग संग्रह–ले० आयुर्वेदाचार्य श्री० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.। इसमें सिद्ध कषाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह, गुटिका, रस आदि के गुण, अनुपान और निर्माण का पूर्ण विवरण दिया है। पुस्तक बहुत उपयोगी है। मू० १॥)

रोगनामावलि कोष–ले० डा० दलजीतसिंह आयुर्वेद बृहस्पति। इन ग्रंथ में सभी आयुर्वेदीय, यूनानी, डाक्टरी रोगों के नाम और परिचय-संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फार्सी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में अकरादि क्रमानुसार संग्रह किया है। जनता, ग्रन्थ लेखक, वैद्य, हकीम, डाक्टर सभी के लिये उपयोगी पुस्तक है। मू० ३॥)

रोगी परीक्षा–ले० डा. शिवनाथ खन्ना एम. बी. बी. एस। पुस्तक में नवीन वैज्ञानिकपद्धति के आधार पर रोगी परीक्षा की विधियों का चित्रों तथा तालिकाओं द्वारा वर्णन किया है। मू० ६)

रोग परिचय–(Clinical Medicine)–ले० डा० शिवनाथ खन्ना एम. बी. बी. एस.। इसमें रोगों की व्याख्या, वर्णन, कारण, मरक-विज्ञान, निदान; चिकित्सा आदि विषयों का बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। मू० १२॥)

वनौषधि चन्द्रोदय–इस विशाल निघण्टु ग्रन्थ में भारतवर्ष में पैदा होने वाली समस्त वनस्पतियों, खनिज-द्रव्यों, विष-उपविषों के गुण, धर्मों का सर्वाङ्गीण विवेचन है। प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न भाषाओं के नाम, उत्पत्ति स्थान, आयुर्वेद, यूनानी और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से उनके गुण, धर्मों का वर्णन, भिन्न-भिन्न रोगों पर उसके उपयोग, उस वस्तु के मेल से बनने वाले सिद्ध प्रयोगों का विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा विस्तार से किया है अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। पृथक्-पृथक् प्रत्येक भाग का मू० ५) तथा १ से १० भाग सम्पूर्ण ग्रन्थ का मू० ४०)

व्यवहारायुर्वेद–विषविज्ञान अगदतन्त्र–ले० डा० युगलकिशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी। हिन्दी में अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। इण्डियन मेडीसन बोर्ड, विद्यापीठ तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि सभी आयुर्वेदिक संस्थाओं की परीक्षाओं के लिए स्वीकृत है। मू० ४॥)

वैद्य जीवन—अभिनव सुधा हिन्दी टीका टिप्पणी सहित। मूल्य १)

वैद्यक परिभाषा प्रदीप—टीकाकार—श्री प्रयागदत्त जोषी आयुर्वेदाचार्य। द्वितीय संस्करण। मूल्य १॥)

शार्ङ्गधर संहिता—सुबोधनी हिन्दी टीका, वैज्ञानिक विमर्श, लक्ष्मी नामक टिप्पणी तथा पथ्यापथ्यादि विविध परिशिष्ट सहित। आजतक के सभी संस्करणों से अति सरल विस्तृत श्रेष्ठ। मूल्य ६)

शालाक्य तंत्र (निमितंत्र)—इस पुस्तक के ५ भागों में क्रमशः नासिका, शिर, कान, मुख एवं आंखों के रोगों के हेतु, निदान, सम्प्राप्ति आदि का विस्तृत विवेचना की गई है। जहां छात्रों के लिये यह पुस्तक पठनीय है वहां आधुनिक चिकित्सा के मर्मज्ञों के लिए यह अध्ययन-मनन योग्य ग्रन्थ है। मूल्य, सुलभ संस्करण ८)

स्वास्थ्य विज्ञान—ले० डा० घाणेकर। इस तृतीय संस्करण में बहुत से नवीन विषय भी सम्मलित किये गये हैं। मूल्य ६)

स्वास्थ्य संहिता—भाषा टीका सहित। रचियता आयुर्वेदाचार्य कविराज नानकचन्द्र वैद्यशास्त्री। स्वास्थ्य विज्ञान के सभी सम्भावित प्रश्नों का विवेचन इस पुस्तक में स्पष्ट रूपेण दिया है। विद्यार्थियों के लिए पठनीय पुस्तक है। मूल्य २॥)

सिद्धभैषज्य संग्रह—लेखक–आयुर्वेदाचार्य श्री युगल–

किशोर गुप्त। इस पुस्तक में सभी प्रचलित चूर्ण, वटी, घृत, तैल, आसवारिष्ट, सुरा, रस, रसायन, पर्पटी, लौह, मण्डूर, गुग्गुल, अवलेह, मोदक, पाक, आदि-आदि के शास्त्रीय १००० प्रयोग, भस्मीकरण, शोधनमारण तथा सफल पेटेंट औषधियों से युक्त यह ग्रंथ प्रत्येक चिकित्सक के लिए पठनीय है। मूल्य सुलभ संस्करण ७)

सूचीवेध---विज्ञान—(Injectin Therapy)—डा० राजकुमार द्विवेदी। इञ्जेक्शन सम्बन्धी सभी ज्ञान गागर में सागर सदृश भर दिया है। पुस्तक लघु होने पर भी सर्वोत्तम है। मुल्य १।।)

सौश्रुती—लेखक आयुर्वेद बृहस्पति डा० रमानाथ द्विवेदी एम. ए., ए. एम. एस। प्राचीन शल्यतंत्र पर लिखा हुआ यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इस विषय की यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को क्रमबद्ध एवं आधुनिक विज्ञान से आलोकित सरलभाषा में प्रस्तुत किया है। मूल्य सुलभ संस्करण ७।।)

चरक-संहिता [सम्पूर्ण]—श्री. जयदेव विद्यालंकार द्वारा सरल सुविस्तृत भाषा टीकायुक्त, दो जल्दों में चतुर्थ संस्करण, मू० २५)

सुश्रुत संहिता (सम्पूर्ण)—सरल हिन्दी टीका सहित। टीकाकार श्री. अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार। सरल भाषा में यह अनुवाद सभी वैद्यों तथा विद्यार्थियों के लिए पठनीय है। पक्की कपड़े की जिल्द मु० २०)

रसेन्द्रसार संग्रह (तीन भागों में)—आयुर्वेद बृहस्पति पं० घनानन्द जी पन्त द्वारा संस्कृत टीका और हिन्दी भाषा सहित वैद्यों, विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ११५० मू० ११)

भैषज्यरत्नावली (भाषा टीका) (छटा संस्करण)—टीकाकार—श्री० पं० जयदेव विद्यालङ्कार। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध प्रयोग संग्रह है। इसके सभी प्रयोग पूर्ण परिचित है तथा भारत के सभी वैद्यों द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं। इसमें दिये चिकित्सा संकेतों से भी चिकित्सक लाभ उठा सकेंगे। यह संस्करण पहिले सभी संस्करणों से उत्तम प्रकाशित हुआ है। कागज, छपाई और जिल्द भी उत्तम है। यह टीका सर्वत्र प्रसंशित और प्रसिद्ध है। मू० १०।।)

नाड़ी तत्व दर्शनम्—रावणीय-नाड़ी विकृति-विमर्श सहितम्। श्री० सत्यदेव वासिष्ठः विरचित। नाड़ी विषय यद्यपि प्राचीन है पर स्वतन्त्र रूप से कणाद की नाड़ी विज्ञान और रावणकृत नाड़ी परीक्षा जैसी संक्षिप्त पुस्तिकाओं के सिवाय बहुत ही कम रचनायें हैं। इस वैज्ञानिक युग में लेखक ने यह विस्तृत एवं युक्ति-युक्त पुस्तक लिखकर इस कमी को पूरा किया है। शिक्षित वैद्यों के लिये मनन योग्य पुस्तक है। मूल्य ५) मात्र।

रसायनसार—श्री. पं० श्यामसुन्दराचार्य के बीसियों वर्षों के कठिन परिश्रम से प्राप्त प्रत्यक्षानुभव के आधार पर लिखित अपूर्व रसग्रन्थ। मूल्य ८)

रसतरंगिणी—चतुर्थ संस्करण। भाषा-टीका सहित। रसनिर्माण, धातु-उपधातुओं का शोधन मारण युक्त यह अनुपम ग्रन्थ है। कविराज श्री नरेन्द्रनाथ मित्र व प्राणाचार्य सदानन्द जी ने स्वानुभव के आधार पर संस्कृत श्लोकों में इस पुस्तक को निर्माण किया तथा श्री. धर्मानन्द जी ने सरल हिन्दी में अनुवाद किया है। मूल्य १०)

माधव निदान—मूलपाठ, मूलपाठ की सरल हिन्दी व्याख्या, मधुकोष संस्कृत व्याख्या और उसका सरल अनुवाद, वक्तव्य एवं टिप्पणी युक्त यह ग्रन्थ विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। पृष्ठ संख्या १०१८। दो भागों में मू. १२)

भावप्रकाश निघण्टु—विद्योतनी भाषाटीका एवं बृहद परिशिष्ट सहित मूल्य ८) हरीतक्यादि वर्ग ले० विश्वनाथ द्विवेदी मूल्य ७)

रसराज महोदधि—पांचों भाग, वस्तुतः यह आयुर्वेदीय रसों का सागर ही है, प्राचीन ग्रन्थ है तथा सरल भाषा में लिखा उपयोगी रस ग्रन्थ है। नवीन सजिल्द संस्करण मू० १०)

गंगयति निदान—मूल लेखक पंजाब निवासी जैनयति गङ्गाराम जी। हिन्दी अनुवादकर्त्ता आयुर्वेदाचार्य श्री नरेन्द्रनाथ जी शास्त्री। पक्की जिल्द मूल्य ६)

२—एलोपैथिक पुस्तकें हिन्दी में—

एलोपैथिक गाइड--[पञ्चम संस्करण] लेखक—डा० रामनाथ वर्मा। हिन्दी में एलोपैथिक चिकित्सा की सर्वोत्तम पुस्तक। चार संस्करण केवल ५-६ वर्ष में निकल जाना ही इसकी उपयोगिता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ५६८। मूल्य १०)

एलोपैथिक निघण्टु—डा० वर्मा जी की द्वितीय कृति। इसमें २००० से अधिक पेटेन्ट तथा साधारण औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त सैकड़ों नुस्खे तथा अन्य उपयोगी बातों पर प्रकाश डाला गया है। एलोपैथी औषधियों से जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक इसे अवश्य अवश्य पढ़ें। पृष्ठ संख्या ५७०, मू. १०॥)

वर्मा एलोपैथिक चिकित्सा-एलोपैथिक गाइड और निघन्टु के ख्याति-प्राप्त लेखक ही की यह कृति है। पुस्तक उपयोगी और पठनीय है। छपाई कागज जिल्द आदि सर्वोत्तम है। एलोपैथिक चिकित्सा को जानने के अभिलाषी वैद्यों विद्यार्थियों को पुस्तक अवश्य मंगानी चाहिये। इसमें सभी रोगों की परिभाषा-[illegible], कारण, चिकित्सा, प्रयोगादि डाक्टरी मतानुसार वर्णित हैं। मूल्य १२)

एलोपैथिक सार संग्रह—विषय नाम से स्पष्ट है। अपने विषय की उत्तम पुस्तक है। पृष्ठ संख्या ५०० सजिल्द मू० ६) मात्र।

नेत्र रोग विज्ञान—कृष्णगोपाल धर्मा० औष० द्वारा प्रकाशित अपने विषय की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। सैकड़ों चित्रों सहित; सजिल्द मू० १५)

सचित्र नेत्ररोग विज्ञान—लेखक डा० शिवदयाल गुप्त A. M. S.। पृष्ठ संख्या ५६८ चित्र संख्या १३० मूल्य ८)

हमारे शरीर की रचना—लेखक—डा० त्रिलोकीनाथ जी वर्मा, पाश्चात् विज्ञान की शारीर विषयक प्रसिद्ध व प्रमाणिक पुस्तक। चित्रों की भरमार है। छपाई कागज जिल्द सर्वोत्तम। प्रथम भाग १०=) मू०-द्वितीय भाग १५॥)

मिक्चर—पंचम संस्करण। इसमें १२२ पृष्ठों तक लगभग ६२ रोगों पर सुपरीक्षित सैकड़ों एलोपैथिक मिक्चर लिए हैं। १२३ से १५० पृष्ठ तक ५० पेटेंट औषधियों के प्रयोग हैं। १५१ पृष्ठ से १६३ तक देशी औषधियों के अंग्रेजी नाम तथा १६५ से १७२ पृष्ठ में विविध इन्जेक्शनों का विवरण है। १७२ पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक मू० २।)

एलोपैथिक प्रेक्टिस—हिन्दी में अपने ढङ्ग का अद्वितीय ग्रन्थ है। साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी इसे पढ़कर जटिल से जटिल रोगों की चिकित्सा सफलतापूर्वक कर सकेगा। चिकित्सकों और विद्यार्थियों के लिये समान रूप से उपयुक्त है। इस ग्रन्थ में आधुनिकतम खोजों को सरलतम भाषा में प्रस्तुत किया गया है। रोगों का निदान और उनकी चिकित्सा विस्तार से समझाकर लिखी है। ६१२ पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का मू० केवल ७॥)

एलोपैथिक मटेरिया मैडिका (पाश्चात्य द्रव्य गुण विज्ञान)—लेखक—कविराज रामसुशीलासिंह शास्त्री A. M. S. यह पुस्तक अपने विषय की सर्व श्रेष्ठ है। लेखक आयुर्वेद एलपैथी तथा यूनानी तीनों चिकित्सा-विज्ञानों के विद्वान तथा हिन्दी-संस्कृत अंग्रेजी-उर्दू व अरबी भाषाओं के ज्ञाता होने कारण विषय को आयुर्वेद चिकित्सकों तथा विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। धुरन्धर विद्वानों ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है। मूल्य सजिल्द का १२)

मल मूत्र रक्तादि परीक्षा—लेखक डा० शिवदयाल जी गुप्त A. M. S. अपने विषयक की सर्वाङ्गपूर्ण सचित्र और वैद्यों के बड़े काम की पुस्तक है। मू० २॥)

पेनेसिलीन व स्ट्रेप्टोमाइसिन विज्ञान तथा मूत्र परीक्षा—वैद्यों को एलोपैथिक औषधियों के विषय में अध्ययन करना चाहिये तथा उनसे लाभ उठाना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक में उक्त दोनों बहुप्रचलित एलोपैथिक औषधियों का विवरण तथा आयुर्वेदिक मूत्र परीक्षा पद्धति वर्णित है। मू० १)

सल्फोनामाइड पद्धति—'सल्फा' औषधियों का प्रचार आजकल डाक्टरों द्वारा तो अन्धाधुन्ध किया ही जारहा है लेकिन अन्य चिकित्सक एवं जनता भी इन औषधियों को उपयोग करने लगी है। इन औषधियों का सरल हिन्दी भाषा में विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में पढ़िये। मूल्य २॥)

इन्जेक्शन (चतुर्थ संस्करण)—अपने विषय की हिन्दी में सर्वोत्तम सचित्र पुस्तक है। थोड़े समय में ४ संस्करण होजाना ही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ७६४ सजिल्द मू० १०)

मलेरिया (एलोपैथिक)—ले० डा० मनमोहन धूम L. S. M. F. अपने विषय की हिन्दी में उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २)

मलेरिया एवं कालाजार चिकित्सा—एलोपैथिक एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा के आधार पर लिखित उपयोगी पुस्तक। मू० १॥)

फुफ्फुस परीक्षा—मूल्य १) थर्मामीटर ।)

एनीमा कैथीटर—मूल्य ।=) छाती परीक्षा ॥)

कम्पाउण्डरी—शिक्षा—सजिल्द मूल्य २॥)

३—सरल सिद्ध प्रयोगों का भंडार—

गुप्तसिद्ध प्रयोगाङ्क—द्वितीय संस्करण पृष्ठ २९६। इसमें भारत के अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त २१६ चिकित्सकों के ५०० सफल एवं सरल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह प्रकाशित किया गया है। इसका १,१ प्रयोग अनुभव की कसौटी पर कसा गया है। प्रयोगों को रोग की किस अवस्था में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, यह स्पष्ट उल्लेख किया है। हर छोटे-बड़े रोग पर २-४ सफल प्रयोग आप इसमें प्राप्त कर सकेंगे। हर चिकित्सक को सदैव पास रखने योग्य ग्रन्थ है। मूल्य ६)

गुप्तसिद्ध प्रयोगाङ्क (द्वितीय भाग)—यह धन्वन्तरि का विशेषांक है। एक-एक सफल चिकित्सक से २ या ३ सरल व सफल प्रयोग बड़े आग्रह से प्राप्त कर संग्रह कर प्रकाशित किये गये हैं। लगभग २५० प्रयोगों का उपयोगी संग्रह है। मल्य २)

गुप्तसिद्ध प्रयोगाङ्क (तृतीय भाग)—द्वितीय भाग के समान ही इसमें भी उत्तमोत्तम सफल प्रयोगों का संग्रह दिया है। मूल्य २)

सिद्धयोग संग्रह—आयुर्वेद मार्तण्ड माननीय यादव जी त्रिक्रम जी द्वारा अनुभूत सफल प्रयोगों का संग्रह, हर चिकित्सक के लिये उपयोगी पुस्तक है। इसके सभी प्रयोग पूर्ण परीक्षित और सद्यः लाभप्रद हैं। मू० २॥)

अनुभूत योग चिन्तामणि—प्रथम भाग में ४३० सफल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह है। लेखक-डा० गणपतिसिंह वर्मा पृष्ठ संख्या ४०६ मू० ४) द्वितीय भाग-में २५१ अनुभूत प्रयोग हैं। मू० ४)

अनुभूतयोग प्रकाश—डा० जी० एस० वर्मा द्वारा १५ वर्ष के परिश्रम से प्राप्त अनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। प्रायः सभी रोगों पर आपको सफल प्रयोग इस पुस्तक में मिलेंगे। दो भागों में मू० ६)

पेटेण्ट औषधि और भारतवर्ष—बरालोकपुर से प्रकाशित देशी विदेशी पेटेण्ट औषधियों का भण्डाफोड़ किया है। उनके प्रयोग इसमें दिये हैं। २ भागों में, मूल्य १॥)

पेटेण्ट औषधि और भारतवर्ष—लेखक-डा० गणपतिसिंह इसमें ५११ पेटेण्ट औषधियों के प्रयोगों का स्पष्ट वर्णन किया है। दो भाग हैं। मू. ३=)

पैसे-पैसे के चुटकुले—सरल, सस्ते तथा सफल प्रयोगों का संग्रह। मू० ३)

यूनानी सिद्ध योग संग्रह—श्री० दलजीतसिंह जी द्वारा संकलित यूनानी पद्धति के सफल प्रयोगों का उपयोगी संग्रह हैं। मू० २॥)

अनुभूत प्रयोग—श्री० श्यामसुन्दराचार्य जी वैश्य के सफल प्रयोगों का उपयोगी संग्रह। २ भागों में मू. २)

रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह—(प्रथम भाग) इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी प्रसिद्ध एवं परीक्षित प्रयोगों का उपयोगी संग्रह है। उनकी विस्तृत निर्माण-

विधि, गुण, सेवन विधि आदि दी है। सातवां संस्करण, पृष्ठ संख्या ६०० । पुस्तक हर वैद्य के लिये पठनीय है। मू० ६।।) दूसरा भाग ६)

वृ० पाक संग्रह—इसमें ४०० से अधिक पाकों के प्रयोगों का उपयोगी संग्रह है। चिकित्सक एवं रोगी इसे मंगाकर लाभ उठावें। मू० ३।।)

सिद्धौषधि प्रकाश—२८० पृष्ठों में प्रायः सभी रोगों में संक्षिप्त वर्णन के साथ-साथ उन रोगों को सफलता-पूर्वक नष्ट करने वाले सिद्ध प्रयोगों का उपयोगी संग्रह दिया है। तृतीय संस्करण मू० १।।)

एकौषधि गुण विधान—लेखक डा० गणपतिसिंह वर्मा १-१ औषधि के व्यवहार से भयंकर व्याधियों की सफल चिकित्सा इसमें पढ़िये। ग्रामीण, साधन-हीन चिकित्सकों को अत्युपयोगी पुस्तक है। मू० १।।।=)

सिद्धमृत्यु जय योग—इस पुस्तक में ५३ सफल प्रयोगों का वर्णन है। प्रयोग, मात्रा, सेवन-विधि, गुण आदि देकर यह भी स्पष्ट लिख दिया है कि प्रयोग किस प्रकार प्राप्त हुआ तथा वह कहां सफलता के साथ व्यवहृत हुआ है। चिकित्सकों के लिये उपयोगी है मूल्य १)

चिकित्सा भास्कर—२६५ पृष्ठों में रोगानुसार सफल शास्त्रोक्त एवं पेटेन्ट प्रयोगों का संग्रह किया गया है। संग्रह कर्त्ता चौधरी हरिसिंह जी वैद्य एक वयोवृद्ध, सिद्धहस्त एवं कुशल चिकित्सक हैं। उन्होंने अपने ३५ वर्षों के चिकित्सानुभव का निचोड़ इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। इसमें वर्णित सभी प्रयोग सरल, सुलभ साध्य तथा अनुभूत हैं अतएव यह पुस्तक चिकित्सकों के बड़े काम की है। मूल्य भी प्रचारार्थ बहुत ही कम, केवल २) रखा गया है।

☆ धन्वन्तरि ☆

के

ग्राहक बनने के नियम

१—धन्वन्तरि का वर्ष जनवरी से प्रारम्भ होता है, दिसम्बर में समाप्त होता है। हर वर्ष जनवरी और फरवरी का संयुक्तांक विशेषांक के रूप में प्रकाशित होता है।

२—धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य ५।।) अग्रिम है। इसी मूल्य में उस वर्ष का विशाल विशेषांक भी दिया जाता है।

३—धन्वन्तरि के ग्राहक जिस किसी भी महीने से नहीं बनाये जाते हैं। जब चाहें उसी समय ५।।) वार्षिक मूल्य भेजकर ग्राहक बन सकते हैं, लेकिन जनवरी से उस समय तक के प्रकाशित विशेषांक और साधारण अङ्क भेजकर उनको भी वर्षारम्भ यानी जनवरी से ही ग्राहक बना लिया जाता है और वार्षिक मूल्य में दिसम्बर माह तक के अङ्क भेजे जाते हैं।

यदि आप ग्राहक नहीं हैं तो आज ही ५।।) मनियार्डर से भेज कर इसके ग्राहक बन जाइये। आयुर्वेद चिकित्सकों, आयुर्वेद प्रेमियों को इसका ग्राहक अवश्य ही बनाना चाहिए। इसके ग्राहक बनने से दो लाभ हैं—

१—आयुर्वेद-संसार में क्या हो रहा है। आप हर समय यह जानते रहेंगे, अन्य विद्वान वैद्यों के अनुभव एवं विद्वत्ता पूर्ण लेखों से आपका आयुर्वेद ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा।

२—धन्वन्तरि के जितने अधिक ग्राहक बन जांयगे आयुर्वेद उत्थान में उतना ही अधिक हाथ बँटा सकेगा, अतः आपका कर्त्तव्य है कि आप ग्राहक बन कर हमें उत्साहित करें।

हमारे यहां प्राप्त होने वाली सभी पुस्तकों का 'अ'कारादिक्रम से नाम, लेखक टीकाकार या सम्पादक का नाम, पृष्ठ-संख्या एवं मूल्य दिया गया है। प्राय: ग्राहक यह मालूम करने के लिये पत्र डालते रहते थे अतएव यह सूची प्रकाशित की गई हैं। पृष्ठ-संख्या और मूल्य की तुलना करके पुस्तक की उपयोगिता मालूम नहीं हो सकती है। कतिपय पुस्तकें ऐसी हैं जिनके पृष्ठ का साइज बड़ा है, और कागज छपाई उसका साहित्य अत्यधिक उपयोगी सारपूर्ण है ये पुस्तकें मूल्य में पृष्ठ संख्या के अनुपात से अधिक मालूम देंगी। कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनका साइज बहुत छोटा है तथा कागज सस्ता है तो वह वे मूल्य में सस्ती मालूम देंगी। असल में पुस्तक का अच्छापन उसके लेखक, उसके विषय की उपयोगिता से लगाना चाहिए। आपको जिन पुस्तकों की आवश्यकता हो हमसे ही मंगाइयेगा।

हमको विश्वास है कि वैद्य समाज हमारे पुस्तक बिक्री विभाग से समय-समय पर आवश्यकतानुसार पुस्तकें मंगाकर लाभ उठाता रहेगा। हम भी नई-नई पुस्तकों को अधिक से अधिक संख्या में मंगाकर विक्रियार्थ रखने का प्रयत्न करते रहेंगे, जिससे कि हमारे ग्राहकों को सभी पुस्तकें एक ही स्थान से मिलने की सुविधा रहे।

पुस्तक	लेखक / टीकाकार	पृष्ठ	मूल्य
अष्टांग हृदय [वाग्भट्ट]	भाषा-टीका टीकाकार-अत्रिदेव	५८४	१६)
अष्टांग-संग्रह [सूत्रस्थान]	व्याख्याकार श्री गोवर्द्धन छांगाणी	३३२	८)
	पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी B. A.	५६	॥)
अर्शरोग चिकित्सा		१२८	१॥)
अर्क (आक) गुण विधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	४४५	६।)
अनुभूत योग प्रकाश	,, ,,	१४२	२)
अनुभूत प्रयोग [दोनों भाग]	पं. श्यामसुन्दराचार्य वैश्य	५८६	८।)
अनुभूत योगचिंतामणि [दो भाग]	डा. गणपतिसिंह वर्मा	४४	॥)
अरिष्टक गुण विधान	,, ,,		७॥)
अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान	श्री प्रियव्रत शर्मा M. A., A. M. S.	६७७	१०)
अभिनव वूटीदर्पण [सचित्र]	वैद्य रूपलाल वनस्पति विशेषज्ञ		१)
अंजन निदानम्	सान्वय विद्योतनी हिन्दी टीका		१)
	श्री. रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार	८६	
अंजीर			२॥)
	पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१६४	
अनुपान कल्पतरु			॥)
अगद तंत्र [विष विज्ञान]	श्री रमानाथ द्वि. M. A, A., M. S.	७०	
अनुपान विधि	पं. श्यामसुन्दराचार्य वैश्य	५५	॥)
	हिन्दीभाषान्तरकार पं. शारसराम जी	३०	८)
अमृतसागर [नूतन]	वैद्य पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी. ए.	४८	।=)
अण्ड तथा अन्त्रवृद्धि		६२	।॥)
अपना इलाज आप करें	डा. युगलकिशोर चौधरी	१०४	२॥)
आयुर्वेदिक इन्जेक्शन चि.	डा. श्यामसुन्दर शर्मा		७)
आयुर्वेद सार संग्रह	आयु औषधों का प्रयोग गुणधर्मादि	६०८	१॥)
		१२०	
आयुर्वेद विज्ञान सार	पं. श्री युगेश्वर झा शर्मा	८६६	८)
आयुर्वेद एवं एलोपैथिक गाइड	डा. राजकुमार द्वि.		११)
	श्री. रणजितराय आयुर्वेदालंकार	८८७	
आयुर्वेद क्रिया शारीर			२॥)
आयुर्वेदिक सिद्ध भैषज्यमणिमाला	पं. वेदव्रत शर्मा शास्त्री	१८०	२)
आयुर्वेदिक प्रश्नोत्तरावली द्वि. भा.	पं. सोमदेव शर्मा शास्त्री	११४	१)
आयुर्वेदीय परिभाषा	श्री गिरिजा दयालु शुक्ल A. M. S.		५)
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान	वैद्य रणजीतराय आयुर्वेदालंकार	४४०	३॥)
आरोग्यामृतविन्दु (शीतला परिहार)	श्री. जियालाल जी	१८०	

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
आत्म सर्वस्व	स्वामी भागीरथ जी (गुप्त योगप्रकाश)	३६०	५।)
आंखों का अचूक इलाज	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१५३	२।)
आम्रगुणविधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	८४	१।)
आम और उसके १०० उपयोग	श्री गंगाप्रसाद गांगेय	४०	।=)
आरोग्य संदिर	डा. युगलकिशोर चौधरी	१३०	१।)
आर्गेनन	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	३३८	४)
आर्गेनन	डा. भोलानाथ टंडन M. D. S.	२२८	२।।)
आरोग्य प्रकाश	पं. रामनारायण वैद्य	४३३	२)
आयुर्वेद प्रकाश [प्रथम भाग]	प्रोफेसर सोमदेव शर्मा शास्त्री	६५३	५)
आयुर्वेदीय परिभाषा	पं. गिरिजादयालु शुक्ल शास्त्री	८८	१।)
आसवारिष्ट संग्रह [बृ.] [दो भाग]	पं. कृष्णप्रसाद त्रि.B A.	५६१	६।।)
आयुर्वेदीय औषधि संशोधन	वै. पु. व. धामणकर	६६	१)
आहार सूत्रावली	पं. केदारनाथ पाठक रासायनिक	४४	।।)
इलाजुलगुर्वा	बाबू ब्रजवल्लभप्रसाद	३६७	५)
इन्द्रायण गुण विधान	डा. गणपति सिंह वर्मा	४०	।।=)
इन्जेक्शन (चतुर्थ संस्करण)	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	७०८	१०)
इन्जेक्शन तत्व प्रदीप	डा. गणपतिसिंह वर्मा	३७२	५)
इन्जेक्शन विज्ञानांक (२ भाग)	डा. तेजबहादुरसिंहचौधरी	३२८	४)
इन्जेक्शन चिकित्सा	बी. पी. श्रीवास्तव	२४०	३)
उपदंश विज्ञान [द्वि. संस्क.]	प्रोफेसर बालकराम शुक्ल शास्त्री	६१	१)
उपवास और फलाहार	डा. युगलकिशोर चौधरी	८०	।।।)
ऊषःपान	पं. लल्लीप्रसाद पाण्डेय	४०	।।।)
एलोपैथिक गाइड	डा. रामनाथ वर्मा	५६८	१०)
एलोपैथिक निघंटु	,, ,,	५७०	१०।।)
एलोपैथिक पाकट गाइड	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	३१४	२।।)
एलोपैथिक चिकित्सा (वर्मा)	डा० रामनाथ वर्मा	५४०	१२)
एलोपैथिक चिकित्सा	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	८२३	८)
एलोपैथिक पेटेण्ट मैडीसंस	डा० अयोध्यानाथ पाण्डेय	३२४	३।)
एलोपैथिक प्रेक्टिस	डा० भवानीप्रसाद M. D. S.	६६२	७।।)
एलोपैथिक सार संग्रह	डा० मदनमोहन शर्मा एवं डा० डी. के. जैन	५००	६)
एनीमा और कैथीटर	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	२७	।=)
एकौषधि गुण विधान	डा० गणपतिसिंह वर्मा	१८६	१।।।=)
औषधि गुण धर्म विवेचन २ भाग	वैद्य कृष्णप्रसाद त्रिवेदी	२४०	२)
आयु. औषधि गुण धर्म शास्त्र प्र.भाग	वै. पंचानन गंगाधर	१३२	३)
औषधि गुण धर्म विवेचन	कालेड़ा से प्रकाशित	३०८	३)
औपसर्गिक रोग (दो भाग)	श्री० भास्कर गोविंद घाणेकर	१३०८	२०)
औषधि विज्ञान	पं० धर्मदत्त विद्यालंकार	५६	।।)
क्या खूब डिबिया	चौबे क्या खूब जी हकीम	८४	।।।=)
करावादीन सिफाई	पं० जगन्नाथप्रसाद	१६२	२)
कपड़ा और तन्दरुस्ती	डा० युगलकिशोर चौधरी	४४	।।-)
कर्ण रोग विज्ञान	पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१७०	२)
कम्पाउण्डरी शिक्षा	डा० राजेन्द्र 'दीक्षित'	२४८	२।।)
कपिंग ग्लास मैन्युअल	डा० रघुवीर सहाय भार्गव	१५	≡)
काश्यप संहिता	टीकाकार—आयु. श्री सत्यपाल भिषगा.	३७४	१६)
कैथीटर गाइड	डा० रघुवीर सहाय भार्गव	३२	।)
कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक	धन्वन्तरि का विशेषांक	३०४	४)
कब्ज एवं मलावरोध	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	३२	।।)
कब्ज का इलाज या मलावरोध	डा०युगलकिशोर चौधरी	७८	१)
काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम्	पं० रामकृष्ण शर्मा	६२	१)
क्वाथ मणिमाला(भाषा-टीका)	टीका-पं. काशीनाथ शास्त्री	६२	१।।)
किशोर रक्षा व ब्रह्मचर्य	पं० रवीन्द्र शास्त्री आयुर्वेदा०	११४	।।।)
कुचिमारतंत्र (तृ. संस्क.)	टीकाकार-पं० रामप्रसाद मिश्र राजवैद्य	६२	।।)
कूपीपक्व रस निर्माण	स्वामी हरिशरणानन्द जी	३७८	५)
कूपीपक्व रसायन	वै. देवीशरण गर्ग सं. 'धन्वन्तरि'	१६	-)
[illegible]कसार	पं. लक्ष्मीनारायण कौशिक	८७	।।)

पुस्तक	लेखक / विवरण	पृष्ठ	मूल्य
कौमारभृत्य (बालचि०)	राजवैद्य पं. किशोरीदत्त शास्त्री	१२८	१॥)
कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहि.)	पं. रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी	६०८	६)
गंगयति निदान	भाष्यकर्ता—कवि. नरेन्द्रनाथ शास्त्री	५३२	५॥)
ग्रहविज्ञान एवं व्यवहारिक प्रयोग	श्री. दुर्गाप्रसाद शास्त्री	१००	॥)
ग्राम्य चिकित्सा	पं. केदारनाथ पाठक रासायनिक	४८	॥=)
ग्रह चिकित्सा विज्ञान [नाड़ी-परीक्षा एवं सूर्य चिकित्सा]	पं० बाबूराम शर्मा	६४	॥।)
ग्रह वस्तु चिकित्सा	पं. किशोरीदत्त शास्त्री	८५	१)
ग्रह चिकित्सा [होम्यो.]	डा. बी. एन. टण्डन (तृतीय संस्करण)	२३४	१॥)
गांवों में औषधिरत्न [दो भाग]	कालेड़ा से प्रकाशित	२६४ + ३५१	५॥)
गुप्त प्रयोग रत्नावली	डा. नरेन्द्रसिंह नेगी	२३६	२॥)
गुप्तसिद्धप्रयोगांक (तीन भाग)	धन्वन्तरि के विशेषांक लगभग १००० प्रयोग	५१२	६)
गूगर गुण प्रकाश	पं० चन्द्रशेखरधर शर्मा मिश्र	६८	१)
ग्रन्थि और ग्रन्थि प्रणाली के रोग	महेन्द्रनाथ पाण्डेय	६४	१)
गौरक्षादि औषधि	पं० शंकरदा जी शास्त्री पदे	१५	=)
घृत चिकित्सा	पं. रामदेव त्रि. सं० पं. किशोरीदत्त शा.	११६	॥=)
घृत गुण विधान	डा० गणपतिसिंह वर्मा	४४	॥)
घर में वैद्य	अर्थात् सब रोगों की बेदाम औषधियां	६६	॥=)
घाव की चिकित्सा (होम्यो०)	डा० श्यामसुन्दर शर्मा	६६	१)
चरकसंहिता (भाषा टीका)	टीकाकार जयदेव विद्या० दो भाग		२५)
चरक-संहिता	मूल एवं भागीरथी टिप्पणी सहित	६२६	७)
चक्रदत्त (भाषाटीका)	टी. पं. जगदीश्वर प्रसाद त्रि. धन्व.बाइज	३५८	१०)
चिकित्सक व्यवहार विज्ञान	श्री सूर्यनारायण वैद्य	६४	॥)
चिकित्सा तत्व प्रदीप (दो भाग)	कालेड़ा से प्रकाशित	१५७६	१७॥)
चिकित्सक हस्त पुस्तिका या अनुपान	कवि. रामविहारी शुक्ल	२११	१)
चूर्ण चिकित्सा	पं. रामदेव त्रि.सं.पं. किशोरीदत्त शा.	१२०	॥=)
जन्मनिरोध	ए० ए० खान, एम. एस-सी.	४१५	६)
ज्वरमीमांसा	स्वामी हरिशरणानन्द जी	३३६	१॥)
ज्वर विज्ञान	कालेड़ा से प्रकाशित	४००	३)
जर्राही प्रकाश	श्री कृष्णलाल जी	२२८	३॥)
जल चिकित्सा (पानी का इलाज)	डा० युगलकिशोर चौधरी	८०	१)
जीवन तत्व	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	११६	१॥)
जीवाणु विज्ञान	श्री. भास्कर गोविंद घाणेकर	८३४	१०)
जुकाम	कवि. महेन्द्रनाथ पाण्डेय	११२	१॥।)
टोटका विज्ञान	पं. केदारनाथ पाठक 'रासायनिक'	२४	।=)
तपेदिक	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१६८	४)
तम्बाकू जहर है	डा० युगलकिशोर चौधरी	४०	।=)
तिब्ब अकबर	मुंशी देवीप्रसाद द्वारा अनुवादित	६४४	१०)
तापमापन (थर्मामीटर)	डा० राजकुमार द्विवेदी		।)
ताक़त की दवाइयां	(गुप्त रोगों का इलाज)	६८	॥।)
तुलसी	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	१७८	२)
तुलसी विज्ञान	४४३ प्रयोग श्री लक्ष्मीपति त्रिपाठी H.M.B.	४६	॥)
तैल संग्रह	श्री. पं० विश्वनाथ द्विवेदी	२५१	२)
तैल चिकित्सा	प. ज्ञानेन्द्रदत्तत्रिपाठी सम्पा.-पं० किशोरीदत्तशास्त्री	७८	॥=)
थर्मामीटर	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	२४	।)
थर्मामीटर मास्टर	डा० रघुवीरसहाय भार्गव	३२	।)
दद्रु चिकित्सा	पं. गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र'	६८	॥)
दशमूल (सचित्र)	बूटी-विशेषज्ञ रूपलाल जी वैश्य	७६	॥)
दमा श्वास खांसी	डा० युगलकिशोर चौधरी	२८	।=)
दन्तरोग चिकित्सा	वै. वि० गोपीनाथ गु. भिषगरत्न	४६	।=)
दीर्घ जीवन	पं० विश्वेश्वरदयालु जी वैद्यराज	१७८	१)
दुग्धकल्प व दुग्ध चिकित्सा	चौधरी युगलकिशोर जी	१८४	२।)
दुग्ध गुण विधान	डा० गणपतिसिंह वर्मा	८२	१)
दुग्ध चिकित्सा	डा० महेन्द्रनाथ पाण्डेय	४८२	४)
दुग्ध से सब रोगों का इलाज	डा० युगलकिशोर चौधरी	६०	॥।)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
दुग्धकल्प	श्री विट्ठलदास मोदी	२५	।)
देहाती इलाज	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	६०	१)
देहातियों की तन्दुरुस्ती	श्री. केदारनाथ पाठक रासायनिक	६८	।।।)
दैनन्दिन रोगों की प्रा.चिकित्सा	श्री. कुलरंजन मुखर्जी	२५०	३)
द्रव्यगुण विज्ञान	वै. यादव जी त्रिकम जी आचार्य	१६०	५)
,, ,,	पं. प्रियव्रत शर्मा		६)
धन्वन्तरि परिचय	पं० रघुवीरशरण शर्मा वैद्य	२०६	२।।)
धन्वन्तरि वृतकल्प कथा	सम्पादक पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	५७	।=)
धतूरागुणविधान	हकीम मोहम्मद अब्दुल्ला	५४	।।।)
नपुंसक अमृतार्णव	भाषाटीका सहित पं० रामप्रसाद जी राजवैद्य	१५२	२।।)
नाड़ीपरीक्षा	डा० बी. एन. टण्डन M. D. S.	७७	।।।)
नवपरिभाषा	कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास	१४८	१।।।)
नपुंसक चिकित्सा	डा. गणपतिसिंह वर्मा	१७६	३)
नमक	पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज	५२	।।=)
नव्यरोगविज्ञान–माधव निदान परिशिष्ट	सम्पा. श्री ब्रह्मदत्त शास्त्री	८४	।।।)
न्यूमोनिया प्रकाश	पं० देवकरणजी वाजपेयी वै. शास्त्री	७२	।=)
न्यू मदर टिंचर मटेरिया मै.	डा. भवानीप्रसाद M. D. S.	३२	।।।)
नारूरोग	पं. रामजीवन त्रिपाठी साहित्यरत्न	२२	।)
नाड़ी विज्ञान	टीकाकार पं. प्रयागदत्त जोशी आयु.	३४	।–)
नाड़ी परीक्षा	श्रीरावणकृत-वै.प्रिया भाषाटीका सहित	२२	।–)
नाड़ीज्ञान तरंगिणी भाषाटीका	टीकाकार श्रीरघुनाथदास शर्मा	१६७	१।।)
नासारोग विज्ञान	श्री. पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१६६	२)
नारीरोगांक (द्वि. संस्करण)	धन्वन्तरि विशेषांक	३७२	६)
नाड़ी तत्व दर्शनम्	श्री. सत्यदेव वाशिष्ठ	२५५	५)
निघण्टु सार संग्रह	पं. ब्रह्मशंकर शास्त्री	२८२	१।।)
नीमगुण विज्ञान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	७६	।।।=)
नीम के उपयोग	पं. केदारनाथ पाठक रासायनिक	१०८	१)
नीबू गुण विधान	डा. गणपति वर्मा	६४	।।।)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
नेत्र रक्षा व नेत्र रोग चि.	डा. युगलकिशोर चौधरी	६४	।।।)
नेत्र रोग विज्ञान (कालेड़ा)	डा. जादवजी हंसराज वैद्य	६७३	१५)
नेत्र रोग विज्ञान (सचित्र)	डा. शिवदयाल गुप्त A. M. S.	५६८	८)
नैसर्गिक आरोग्य	वैद्य जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१७३	२)
पाक संग्रह (बृहद्)	पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी B. A.	३१५	३।।)
प्रमेह विवेचन	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१८०	२)
प्रति संस्कृत निदानम् (तीन भाग)	पं. घनानन्द जी पंत	२०४	२)
प्रारम्भिक उद्भिद शास्त्र	डा. बलवन्तसिंह M. Sc.	३१४	४।।)
प्रारम्भिक भौतिक	निहालकरण सेठी प्रिंसीपलआगरा कालेज	४७२	८)
प्रारम्भिक रसायन	फूलदेव सहाय वर्मा	४५०	४।।)
प्रयोग शतक	पं. भागीरथ स्वामी आयुर्वेदाचार्य	३६	।–)
प्रयोग मंजूषा	श्री कृष्ण बलवन्त रिषबुड	११२	।।।≡)
प्रसूतितंत्रम् (धात्री विद्या)	डा. काशीनाथ नारायण गोखले	३६१	३।।)
प्राणिज औषधि	पं. शंकरदा शास्त्री पदे	२८	।)
प्राकृतिक ज्वर	स्वर्गीय लाला राधावल्लभजी वैद्यराज	५४	।)
प्राकृतिक चि. प्रश्नोत्तरी	डा. युगलकिशोर चौधुरी	६४	।।)
पथ्यापथ्य निरूपण	पं. जगनाथ प्रसाद जी शुक्ल	६४	।।=)
पशु चिकित्सा (बृ.)	श्री. बालमुकन्द भरतिया	२४८	४)
पशु चिकित्सा (होमियो)	डा. गंगाधर मिश्र	११४	२)
पदार्थ विज्ञान	श्री. रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य	२५०	३।।)
पदार्थ विज्ञान	पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल वैद्य पंचानन		
इसके पांच भाग हैं–प्रमाण विज्ञान	,, ,,	२३२	२।।)
पदार्थ विज्ञान	,, ,,	७५	१।)
द्रव्य गुणविज्ञान	,, ,,	८४	१।)
गुण विज्ञान	,, ,,	२४०	२।।)
पुरुष विज्ञान	,, ,,	६७४	७)
पंचभूत विज्ञानम्	कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास मिश्र.	३०८	३)

पारिवारिक चिकित्सा (होमियो.)-डा० सुरेशप्रसाद शर्मा ६०७ ५)
पाकेट गाइड (होम्यो.)-डा० सुरेशप्रसाद शर्मा १६२ १)
पाचन प्रणाली के रोग-कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय १४० २।)
प्लीहा के रोग और उनकी चिकि.-श्री० ब्रह्मानन्द चन्द्रवंशी १६ ।-)
प्लीहा रोग चिकित्सा-वैद्य ज्ञानचन्द जी वैद्यभूषण ४८ ।)
प्रिंसमटेरिया मैडिका (होमियो)-डा. सुरेशप्रसादशर्मा १२१८ ८)
प्रसूति विज्ञान डा. रमानाथ द्विवेदी ६)
पीपल गुण विधान डा. गणपतिसिंह वर्मा ३६ ।।)
पुरुष रोगांक (द्वि. संस्क.) धन्वन्तरि का विशेषांक २८८ ६)
पूर्ण सुलभ चिकित्सासार हकीम डा. एम. ए. माजिद ४४ ।।)
पेनिसिलिन व स्ट्रेप्टो माइसीन पं. राजकुमार द्विवेदी ४८ १)
विज्ञान तथा मूत्र परीक्षा डा. गणपतिसिंह वर्मा २७१ ३≡)
पेटेन्ट औषधि एवं भारतवर्ष-बरालेकपुर से प्रका. डा. रामकृष्ण १७२ १।।)
पेटेन्ट औषधि एवं भारतवर्ष डा० गणपतिसिंह वर्मा २२० ३)
पैसे-पैसे के चुटकले कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय २३८ २।।।)
फलाहार चिकित्सा कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय १६६ २।।)
फल संरक्षण-डा. गोरखप्रसाद D. Sc. एवं वीरेन्द्रनरायणसिंह ४६ १)
फल संरक्षण विज्ञान कविराज युगलकिशोर गुप्त १३६ ।≡)
फिटकरी श्री विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज ६० १।।)
फिटकरी गुण विधान हकीम मौ. मौहम्मदअब्दुल्ला ८० १।)
फुप्फुस परीक्षा आचार्य रमेशचन्द्र वर्मा २३३ २।।≡)
फुप्फुस सन्निपात चिकित्सा वै. वा. हनुमानप्रसादजोशी २६० ४)
व्रणबन्धन डा. भवनीप्रसाद M. D. S. ६६ ।।)
व्रणोपचार पद्धति पं. महावीरप्रसाद 'मालवीय' ८२ १)
ब्रह्मचर्य के अनुभव जगतपूज्य महात्मा गांधी ७० ।।।)
बच्चों का पालन और उनकी चि. डा. युगलकिशोर चौधरी ६८४ ८।।)
वसवराजीवम् (दो भाग)-अनु. पं. शिवकरण शर्मा छांगाणी

बबूल गुण विधान हकीम मौलवीमहोम्मदअब्दुल्ला ३१ ।।)
व्याधिविज्ञान श्री आशानन्द पञ्चानन दो भाग १८)
बबूल पं. विश्वेश्वरदयालु वैद्यराज २४ ।≡)
बच्चों के रोग और उनका इलाज कविराजमहेन्द्रनाथ पाण्डेय १२८ २)
वटिका चिकित्सा पं. रामदेव त्रिपाठी १०४ ।।≡)
वनस्पति गुणादर्श वै. हिरामल मोतीराम जंगले १३६ २)
वनोषधि दर्शिका डा. बलवन्तसिंह M. Sc. २५४ २।।)
बालरोग चिकित्सा पं. महावीरप्रसाद मालवीय १०८ १)
वायोकैमिक चिकित्सा डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ४४६ ४)
वायोकैमिक मिक्चर डा. एस. ए. माजिद २८ ।-)
वायोकैमिक पाकेट गाइड डा. सुरेशप्रसाद शर्मा १८२ १)
वायोकैमिक रहस्य-सप्तम संस्करण डा. श्योसहाय भार्गव २६६ २।।।)
व्यायाम और शारीरिक विकाश श्री अशोककुमार सिंह १६५ २।।)
बुखार का अचूक इलाज डा. युगलकिशोर चौधरी ५८ ।।।)
बुढ़ापा और बीमारी से बचने के उपाय-„ „ ६२ ।।।)
बूटीप्रचार (ब्र.) श्री. कृष्णलाल जी २६६ २)
वैद्यजीवन सम्पादक किशोरीदत्तशास्त्री १३५ ।।।)
आयु. पं. कालिकाचरण पाण्डेय ७२३ १)
„ „ वैद्यराज प्रो० वंसरीलाल साहनी ७६५ प्रयोग२७३ १)
वैद्यबाबा का बस्ता-वैद्यराज प्रो० वंसरीलाल साहनी १४४ १।।)
वैद्यक परिभाषा प्रदीप पं. प्रयागदत्त जी ३२ -)
भस्म-पर्पटी वैद्य देवीशरण गर्ग सम्पा. धन्वन्तरि ७२ १।।)
भारतीय रसपद्धति कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त ११६ १।।)
भारतीय जीवाणु विज्ञान-श्री रघुवीरशरण शर्मा वैद्य ४३२ ५।।)
भारतीय जड़ी-बूटियां—(दो भाग) डा० गणपतिसिंह वर्मा १०८ ।।)
भारतीय भौतिक विज्ञान-पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल राजवैद्य ७२ ।।)
भारतीय भौतिक विज्ञान— पं. विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज

भारतीय औषधावलि तथा होम्यो पेटेन्ट मैडीसंस — डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ९० १॥)
भावप्रकाश (संपूर्ण) भाषाटीका-श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री दो भाग १४४६ ३०)
" " (मूलमात्र) १०)
भाव प्रकाश निघण्टु टी. पं० गंगासहाय पाण्डेय, ७२३ ८)
भावप्रकाश निघण्टु—टी. पं. विश्वनाथ द्विवेदी ६६३ ७)
भावप्रकाश (बम्बई) टीकाकार—ला० शालिग्राम वैश्य ११२६ २५)
भावप्रकाश (ज्वराधिकार) टीकाकार-श्री ब्रह्मशंकर मिश्र १६२ ४)
भिन्न-भिन्न रोगों का प्राकृतिक चिकित्सा — डा० युगलकिशोर चौधरी ७७ ॥)
भैषज्यसार — डा० सुरेशप्रसाद शर्मा २६० २)
भैषज्यरहस्य (मेटी. मैडिका) होमियो-डा० बी. एन. टण्डन ४८३ ३॥)
भैषज्य कल्पनांक — धन्वन्तरि का विशेषांक ३६२ ४)
" " परिशिष्टांक ७२ १)
भैषज्य रत्नावली (विद्योतनी भाषाटीका) टीकाकार-अम्बिकादत्त शास्त्री ८८२ १५)
भैषज्यरत्नावली टीकाकार-श्री जयदेव विद्यालंकार ७६४ १०॥)
भोजन ही अमृत है—कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय आयु.विशा. १३४ १॥)
भोजन विधि — पं. केदारनाथ पाठक रासायनिक २४० २)
मृत्यु परीक्षा — ज्योतिस्वरूप शर्मा ३२ ।-)
मलेरिया एवं कालाजार—डा. राधाचन्द्रभट्ट. A.M.S १४० १॥)
मलेरिया, मोतीझरा, निमोनिया-डा. युगलकिशोर चौधरी ६६ ॥)
मलेरिया — आचार्य उमाशंकर वैद्य ३२ ॥)
मलेरिया (एलोपैथिक)—डा० मनमोहन धूप L. S. M. F. १६७ २।)
मकरध्वज — श्रीयुत विवेचक ३५ ॥=)
मधुमेह चिकित्सा — कविराज महेन्द्रनाथ पांडेय ३२ ।=)
मधुमेह — पं. परशुराम शास्त्री ११० ॥)

मधु गुण विधान — डा० गणपतिसिंह वर्मा १०४ १॥)
मधु के उपयोग — पं० केदारनाथ रासायनिक १२८ १)
मर्णोन्मुखी आर्य (चिकित्सा)— वैद्यराज ला. राधावल्लभ जी ३६ ।)
मर्मविज्ञान — पं० रामरक्षपाठक (अनेकों रंगीन चित्र) १०६ ३॥)
मनुष्य का आहार — वैद्य गोपीनाथ गुप्त १३४ ।=)
मदनपाल निघण्टु (संस्कृत) श्री. नन्दकिशोर शास्त्री १७२ १)
मट्ठा या छाछ का उपयोग—श्री. प्रवासीलाल वर्मा मालवीय ७४ १)
मट्ठा — कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय ६४ ॥=)
माधव निदान (भाषाटीका)—टीकाकार श्री. हरिनारायण ५१२ ४)
" " " पं. लालचन्द वै. शास्त्री ४३६ ४॥)
माधव निदान (विस्तृत टीका युक्त)-पं. पूर्णानन्दशर्मा शास्त्री १०१८ १२)
माधवनिदान परिशिष्ट — श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री ८४ ॥)
माधव निदान (दो भाग)—हिन्दी टीका, मधुकोषहिन्दीटीका — आयु. सुदर्शनशास्त्री ८५६ १६)
मानव सन्तति — कविराजबलवन्तसिंह मोहन वै. वा. १५२ १॥)
मानसिक रोग विज्ञान श्री जगनाथ प्रसाद शुक्ल वैद्य ४०६ ४)
मानस रोग विज्ञान डा. बालकृष्ण अमर जी पाठक ३५१ ५॥)
मिर्च — श्री. रामशवेदी आयुर्वेदालंकार ९० १)
मिक्चर — डा. सुरेशप्रसाद शर्मा २१७ २।)
मिट्टीस भी रोगों की दवा डा. युगलकिशोर चौधरी ५० ॥)
मुखरोग विज्ञान — श्री. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल १८८ २॥)
मूत्र परीक्षा — डा. बी. एन. टंडन ६६ ॥)
मेघ विनोद — भाष्यकर्ता कविराज नरेन्द्रनाथ शास्त्री ७५२ ६)
मोटापा दूर करने के उपाय पं प्रभुनारायन त्रिपाठी 'सुशील' ६० १)
यकृत के रोग और चि. वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री ११४ २)
यन्त्रशस्त्र परिचय — आचार्य सुरेन्द्रमोहन बी. ए. १२८ १॥)
यौन मनोविकार — डा० सुरेन्द्रनाथ १६ ॥)

यूनानी चिकित्सासार वैद्यराज हकीम दलजीतसिंह ४४२ ४।)
यूनानी चिकित्सा-विधि हकीम मंसाराम शुक्ल ३८७ ५)
यूनानी चिकित्सासार हकीम मंसाराम शुक्ल ५२६ १०)
यूनानी द्रव्य गुण विधान वैद्यराज बा० दलजीतसिंह जी वैद्य ५६४ २२)
यूनानी वैदिक के आधर भूत सिद्धान्त कुल्लियात—
ठा० दलजीतसिंह ७६ १।)
यूनानी सिद्ध योग संग्रह—बा. दलजीत सिंह वैद्यराज २३५ २।।)
यूनानी चिकित्सा विज्ञान ,, ,, ,, ६६६ ८।।)
योगचिन्तामणि पं. बुधसीताराम शर्मा कृत भाषाटीका ३४० ५।-)।।
योग चिकित्सा कविराज अत्रिदेव गुप्त आयुर्वेदलंकार २६० ३।।)
रसायनसार रसायन शास्त्री पं. श्यामसुन्दराचार्य वैश्य ६०० ८)
रसतंत्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह प्रथम भाग कालेड़ा से प्रकाशित,
सातवां संस्करण ८४० ६।।)
,, ,, द्वितीय भाग दूसरा संस्करण ५३८ ६)
रसेन्द्रसार संग्रह टीकाकार पं. प्रयागदत्त शास्त्री ४६५ ६)
रसेन्द्रसार संग्रह [तीन भाग] पं. घनानन्द जी पंत विद्यार्णव ११५० ११)
रसादि परिज्ञान श्री० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य १६५ २)
रस-रसायन-गुटिका-गूगल वैद्य देवीशरण गर्ग सम्पा. 'धन्वन्तरि' ८३ ।)
रसरत्न समुच्चय टीकाकार पं. अम्बिकादत्त शास्त्री आयु० ५४४ १०)
रसायन खण्ड श्री यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य ७८ ।।)
रसाध्याय पं० रामकृष्ण शर्मा ६८ ।।=)
रसामृत वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य १५२ ५)
रसार्णव नाम रसतंत्रम् पं. तारादत्त पन्त २७८ २)
रसराज सुन्दर (बृहद्) पं० दत्तराम चौबे मथुरा ५५२ १०)
रसराज महोदधि [पांच भाग] पं. नारायणप्रसाद, सीताराम मिश्र ६०१ १०)
रसतरंगिणी टीकाकार– पं० धर्मानन्द शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ७७३ १०)
रक्त के रोग भास्करगोविन्द घाणेकर ५७६ १०)

पं. विश्वेश्वरदयाल जी वैद्यराज ।।)
राजयक्ष्मा पं. विश्वेश्वरदयाल जी वैद्यराज ७४ ।।)
राष्ट्रीय चिकित्सा सिद्ध योग संग्रह–पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी १६ १।।)
राजकीय औषधि योग संग्रह— ,, ,, १६२ ७)
रिलेशनशिप डा० श्यामसुन्दर शर्मा एम. डी. १६४ २)
रुग्णपरिचर्य्या डा० कु० श्री० म्हसकर एम. ए. एम. डी. ४६६ ३।।)
रोग विज्ञानम् कविराज सुरेन्द्रकुमार शर्मा १६६ ।।)
रोग नामावलि कोष–हकीम ठा० दलजीतसिंह वैद्यराज २६८ ३।।)
रोग निदान चिकित्सा–डा० श्यामसुन्दर शर्मा एम० डी० १४१ २)
रोगी परीक्षा डा० शिवनाथ खन्ना एम० बी० बी० एस०, ३२० ६)
रोगी की सेवा और पथ्य डा० सुरेशप्रसाद शर्मा २३४ ३)
लवण गुण विधान हकीम मौलवी महोम्मदअब्दुल्ला १५ ।)
लहसुन और प्याज श्री० रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार २२२ २।।)
लघु द्रव्य गुणादर्श कविराज महेन्द्रनाथ शास्त्री बम्बई १८० २।।)
लेडी डाक्टर डा० श्योसहाय भार्गव १७७ १)
शल्यतन्त्रम् कविराज पं० धर्मानन्द शास्त्री ३६० २।।)
श्वासरोग चिकित्सा प्रजावैद्य गोकुलप्रसाद स्वर्णकार ४५ ।=)
शंकर निघण्टु पं० शंकरदत्त गौड़ राजवैद्य ४४० ७)
शरीर रचना डा० भोलानाथ टंडन एम० डी० एस० १७५ २।।)
शहद के गुण और इसके उपयोग–कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय ५६ ।।।)
शहद रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार २१२ ३)
शारीरिकोन्नति पं० ठाकुरदत्त शर्मा 'अमृतधारा' १६५ २)
शालाक्य तंत्रम् (निमितंत्रम्)– श्री रमानाथ द्विवेदी ६५४ ८)
शारङ्गधर संहिता टीकाकार-पं. प्रयागदत्त शर्मा ६७२ ६)
शालहोत्र बड़ा पं० जनकप्रसाद बाजपेयी १३५ २)
शिशुपालन श्री मुरलीधर शर्मा बौड़ाई १४३ ४)
शिफाउल असराज अनु.–पं. जगन्नाथप्रसाद शर्मा २ भाग ३२० २।।)
सरल व्यवहार एवं कानूनी वैद्यक–पं० कृष्णबलवन्त रिसबूड ३६४ ३।।)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
सन्तति निग्रह	डा० शिवदयाल गुप्त	५५	।।।)
सन्तान शास्त्र	पं. गणेशदत्त 'इन्द्र'	४४८	५)
सरल रोग विज्ञान	राजवैद्य पं.रवीन्द्रशास्त्री	४३७	५)
सरल व्यवहारायुर्वेद और विषविज्ञान	कविराजयुगलकिशोर	३६०	४।।)
सरल होमियो चिकित्सासार	डा. श्योसहाय भार्गव	३६०	४।।)
सरल विष विज्ञान	कविराज युगलकिशोर गुप्त	१४०	१।।।)
सन्तरा गुणविधान	हकीम मौलाना मोहम्मद अब्दुल्ला	१५	।=)
संक्षिप्त औषधि परिचय	कालेड़ा से प्रकाशित	१२२	।।=)
सर्पविष विज्ञान	ठा. दलजीतसिंह जी वैद्यराज	१०४	१।)
सल्फोनामाइड पद्धति	साहित्याचार्य कवि देवकीनन्दनशर्मा	१००	२।।)
स्वस्थवृत्त समुच्चय	राजेश्वरदत्तशास्त्री		६।।)
स्वास्थ्य और सद्वृत्त	कविराज अत्रिदेव गुप्त	१४१	२)
स्वास्थ्य संहिता	नानकचन्द वैद्यशास्त्री	१८२	२।।)
स्वास्थ्य विज्ञान	भास्करगोविन्द घाणेकर	६३६	६)
स्वास्थ्य के लिए शाकतरकारियां	कविराज महेन्द्रनाथपाण्डेय	१४४	२)
स्वर्णक्षीरी गुणविधान	डा. गणपतिसिंह	५२	।।।)
स्टेथिस्कोप विज्ञान (छाती परीक्षा)	डा. भोलानाथ टंडन	५०	।।)
स्वप्नदोष विज्ञान	पं. गणेशदत्त 'इन्द्र'	१४०	२)
स्टेथिस्कोप विज्ञान	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	८०	१)
„ शिक्षक	डा. श्योसहाय भार्गव	८०	।।।=)
स्त्री रोग चिकित्सा	डा. युगलकिशोर चौधरी	७१	।।।)
स्त्री रोग चिकित्सा	पं. विश्वेश्वरदयालु वै.	१०४	१)
स्त्री रोग चिकि. (सचित्र)	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	४४७	४।।)
स्त्री रोग चिकित्सा	डा. भोलानाथ टंडन	२५४	२।।)
सुश्रुत संहिता सम्पूर्ण (भाषाटीका)	कविराज अत्रिदेव गुप्त	७८४	२०)
„ „ शरीर स्थान	डा० भास्कर गोविंद घाणेकर	३०७	८)
„ „ „	पं. नीलकण्ठ देवराव देशपाण्डेय	२२६	३)
„ „ सूत्र स्थान	डा. भास्कर गोविंद घाणेकर		

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
सुश्रुत संहिता सूत्रनिदान स्थान	कवि० अम्बिकादत्त शास्त्री	३००	७)
सिद्धभैषज्य संग्रह	कविराज युगलकिशोर गुप्त	७३२	७)
सिद्धौषधि प्रकाश	पं० बालमुकन्द वैद्यशास्त्री	२८०	१।।)
सिद्धयोगसंग्रह	वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य	१५६	२।।।)
सिद्ध प्रयोग (२ भाग)	विश्वेश्वरदयाल जी वैद्यराज	१७६	१।।)
सिद्ध मृत्युञ्जय योग	पं० केदारनाथ पाठक रासायनिक	५७	१)
सिद्ध परीक्षापद्धति	कालेड़ा से प्रकाशित	६२४	८)
सिद्ध चिकित्सांक	धन्वन्तरि का महत्वपूर्ण चिकित्सा विशेषांक	३६४	४)
„ „ (परिशिष्ट) स्त्रीपुरुषों के जननेन्द्रिय रोग चि.		५४	१)
सुगन्धित तैल	पं० प्रभूदयाल शर्मा वैद्य	८७	।।।)
सुगन्धित व्यापार	डा०गणपतिसिंह वर्मा	८२	१)
सुखी ग्रहणी	श्री हनुमानप्रसाद शर्मा वैद्य शास्त्री	१७१	१।।)
सुखी जीवन	श्री विजयबहादुरसिंह बी. ए.	१७८	१।।)
सूर्यरश्मि चिकित्सा	वैद्य बांकेलाल गुप्त	६४	।।।)
सूर्यकिरण चिकित्सा	डा० युगलकिशोर चौधरी	८०	।।।)
सूचीवेध विज्ञान	श्री राजकुमार द्विवेदी	१०८	१।।)
„ „ (दो भाग)	श्री रमेशचन्द्र वर्मा	५८०	८)
सोंठ	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालङ्कार	१४६	१।।)
सौश्रुती (प्राचीन शल्य तंत्र)	श्री० रमानाथ द्विवेदी	५५८	७।।)
हरिधारित ग्रंथरत्न	पं० वासुदेव शर्मा वैद्य	४८	।=)
हमारा भोजन	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	२७१	४)
हमें क्या खाना चाहिए	डा० युगलकिशोर चौधरी	६४	।।)
हमारे शरीर की रचना	डा. त्रिलोकीनाथ वर्मा	दो भाग	२५।।।)
हमारा स्वर मधुर कैसे हो	श्री रामरत्नाचार्य	५०	।=)
हमारे बच्चे	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१५२	१।।।)
होमियो मटेरिया मैडिका	डा० श्योसहाय भार्गव M. D		

वैद्यों, विद्यार्थियों और आयुर्वेद-विद्वानों के लिये संग्रहणीय

शारीरिक-चित्रावली

प्रत्यक्ष-बहुरंगी
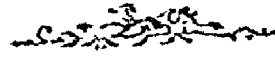
यह शारीरिक चित्रावली २० वर्ष पूर्व इंगलैंड की प्रसिद्ध फर्म से तैयार कराकर मंगाई गई थी और उसका विवरण बड़े परिश्रम के साथ हिन्दी और इंगलिश में तैयार करके प्रकाशित किया गया था। बहुत प्रयत्न करने के पश्चात् २० वर्ष पश्चात् हम पुनः इसे विलायत से तैयार करा कर मंगा सके हैं—हमारा यह सर्वथा नया प्रयास है और हमारा विश्वास है कि जो भी इसे देखेगा वह मुग्ध हो जायगा।

इसमें प्रथम एक सुन्दरी स्त्री का २० इञ्च लम्बा पूर्ण चित्र है। उसका ग्रीवा से कटि तक का भाग ऐसा कटा हुआ है कि ऊपर को पलट जाता है और छाती तथा पेट के अन्दर के सब अङ्ग दीखते हैं तथा उनके ऊपर की मांस-पेशियां अलग दीखती हैं।

अब यह चित्र बाईं ओर को पलट जाता है और इसके पृष्ठ पर एड़ी से चोटी तक की समस्त रक्त-वाहिनी धमनियां-शिरायें और केशिका जाल तथा हृदय और गुर्दे चित्रित हैं, देखते ही समझ में आजाता है कि रक्त कैसे-कैसे घूमता है।

इसके नीचे जो चित्र निकला वह समस्त शरीर की बड़ी-बड़ी स्नायुयें और कण्डरायें दिखाता है, मानों शरीर पर से त्वचा उतार दी गई हो। इसका ग्रीवा से कमर तक का भाग फिर वैसे ही पलट कर अन्दर पेट की मांस-पेशियां और पसलियों के बीच की सब पेशियां दृष्टि आती हैं।

इसके नीचे का भाग तो अत्यन्त अद्भुत है। इसमें अपने-अपने ठीक स्थान पर ठीक-ठीक ही आकार-प्रकार में हृदय, दोनों फुफ्फुस, आमाशय, यकृत, छोटी आंत, बड़ी आंत, मूत्राशय, मलाशय, तथा गर्भाशय, गुर्दे, प्लीहा, पित्ताशय, अग्न्याशय, आदि समस्त अङ्गों की उसी रङ्ग के चित्र लगाये हुए हैं, और वे इस प्रकार कि हर एक अपने स्थान पर ठीक-ठीक उलट-पलट जाता है, और हर एक चित्र बीच में से दो पर्त होकर अङ्ग के अन्दर की दशा भी दिखलाता है। अर्थात् २-४ शव चीरने फाड़ने पर अङ्गों की जो दशा विदित होती है, वही इस चित्र जाल के भली-भांति उलट-पलट कर देखने से प्रत्यक्ष की भांति समझ में आजाती है। हर एक आंतरिक अवयव का चित्र, उसी रङ्ग का उसी रूप और आकृति का छाप कर उसी स्थान पर लगाया गया है जहां जैसे वह शरीर के अन्दर का भाग है। इन अङ्गों के साथ में अन्नवाही नली और रक्त-वाहिनी प्रणालियां भी यथा स्थान चित्रित हैं।

यह सब चित्र-जाल फिर बाईं ओर पलट जाता है और इसकी पीठ पर शरीर की समस्त मांस-पेशियों का ज्यों का त्यों चित्र अङ्कित है। नीचे जो चित्र निकला उस पर सम्मुख की ओर से दिखाई देने वाला अस्थि कङ्काल (Skeleton) देखने और उसी की पीठ पर, पीठ की ओर से दीखने वाली (अर्थात

पीछे की) हड्डियों का सम्पूर्ण ढांचा यथास्थान और उसी रूप रङ्ग में चित्रित है।

अभी यह चित्र भी दाहिनी ओर पलट जाता है, और नीचे जो निकला है वह समस्त शरीर का नाड़ी-जाल हमारे शरीर की ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क को ज्ञान पहुंचाने वाली, वहां से कर्मेन्द्रियों को आज्ञा लाने वाली, और शरीर के आंतरिक अङ्गों के समस्त कार्य कराने वाली नाड़ियों का भारी जाल सुषुम्ना, इड़ा और पिंगल नाड़ियां तथा उनके क्षेत्र और केन्द्र ये सब अपने-अपने असली रूप में नेत्रों के सन्मुख आजाते हैं। इस प्रकार मानव शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग का अन्दर-बाहर का दृश्य दिखाने वाले ये प्रत्यक्ष चित्र, फिर एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार तह हो जाते हैं कि सब मिलाकर एक ही मोटा चित्र बन जाता है।

इन सबके अतिरिक्त एक छोटा चित्र बाईं ओर और लगाया गया है जिसमें अगल बगल की ओर से दीखने वाली पेशियां और अस्थियों का चित्र है और उसके भी पलटने पर नीचे शव को बीचों बीच से—दो खंड चीरने पर जो दृश्य दीखता है वही चित्रित है। गर्भाशय में पड़ा बच्चा किस प्रकार रहता है और गर्भ-प्रसव कैसे होता है यह भी इसमें प्रत्यक्ष दृष्टि आता है। और इस प्रकार शरीर का पूर्ण ज्ञान इस महा चित्र जाल से सहज ही होजाता है।

इस शारीरिक ज्ञान के लिये कई वैद्यजन स्वयं शवच्छेदन करते थे और अनेकों इससे ग्लानि करते हुये इस अतिआवश्यक ज्ञान से वञ्चित ही रहते थे। चिकित्सा के लिये (अर्थात् मानव शरीर के विकार ठीक करने के लिये) शरीर की पूरी रचना जानना कितना आवश्यक और लाभदायक है, यह आप जानते ही हैं। परन्तु उसका कोई सुगम उपाय न था, और जैसा यह चित्र बना है, यह काम कोई आसान न था। हमने भी वर्षों इनका प्रयत्न किया था। भारत के कई बड़े-बड़े चिकित्सकों, प्रकाशकों और प्रेसों से इसे तैयार कराने की चेष्टा करते रहे थे, परन्तु जब असफल रहे तब विवश होकर और खास प्रबंध करके इङ्गलेंड के मैसर्स ज्यौर्ज फिलिप ऐंड संस नामक फर्म से प्रचुर धन व्यय करके ये चित्र तैयार कराये गये। जिनमें उपर्युक्त बड़े-बड़े २० इञ्च लम्बे अनेकों पूर्ण रङ्गीन आदर्श चित्रों के साथ ही हिन्दी भाषा में प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का परिचय और वर्णन भी है, जिससे आप स्वयं ही शारीरिक शास्त्र का ज्ञान भली-भांति प्राप्त कर लेंगे। २० इञ्च लम्बा साइज, सचित्र सुन्दर जिल्द।

हमारे कार्यालय द्वारा निर्मित
सन्दली, इत्र गुलाब, केवड़ा, खस, हिना, मोतिया,
पानड़ी और हर प्रकार के तेल, सेन्ट, अर्क, तम्बाकू,
पान के मसाले, इत्र दान, श्रृंगार दान आदि
किफायत से मिलते है।
गुलकन्द, मुरब्बा, शहद,
गुलाबजल, केवडा जल
गुलाब जल
मुरब्बा
गुलकन्द
तेल
केवड़ा
माखन लाल चैनसुखदास
कन्नौज, उ॰ प्र॰

धन्वन्तरि
मकरध्वज
वटी
का
शरीर के
विभिन्न अङ्गो
पर
होने
पाकस्थली
निर्माता
धन्वन्तरि - कार्यालय
(अलिगढ़)
सभी प्रकार की आयुर्वेदिक औषधियाँ
निर्माण करने वाली ५२ बावन वर्ष
पुरानी विश्वस्त संस्था